

DUE DATE SLIP**GOVT. COLLEGE, LIBRARY**

KOTA (Raj)

Students can retain library books only for two weeks at the most

BORROWER'S No	DUE DATE	SIGNATURE

॥ श्रीः ॥

हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला



श्रीवरदराजाचार्यविरचिता

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

‘सुधा’ ‘इन्दुमती’ संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेता

संस्कृतव्याख्याकारः

व्याकरणाचार्य-साहित्योपाध्याय-

पण्डित श्रीसदाशिवशास्त्री जोशी

हिन्दीव्याख्याकारः

पण्डित श्रीरामचन्द्रज्ञा व्याकरणाचार्यः



चैतन्य प्रकाशन अमरभारती

पत्रमञ्जूषा-संख्या ११३८

वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)

Chaukhamba Amarabharati Prakashan

Post Box No. 1138

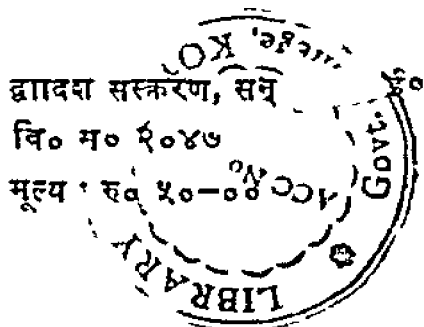
K. 37/130, Gopal Mandir Lane

Varanasi-221 001 (India)

Phone - 65744

© चौखम्बा अमरभारती प्रकाशन, वाराणसी-२२१ ००१

96267



अन्य प्राप्तिस्थान

चौखम्बा संस्कृत पुस्तकालय

कचौडी गली

वाराणसी-२२१ ००१

मुद्रक—श्रीगोकुल मुद्रणालय, गोपाल मन्दिर लेन, वाराणसी-२२१ ००१

प्रस्तावना

संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः' (काव्यादर्श)
संस्कृत भाषाका ही दूसरा नाम देववाणी है । विश्वकी विविध भाषाओं में यही एक भाषा है जो वस्तुतः स्वर्ग से अवतीर्ण हुई है क्योंकि विश्ववाङ्मय का सबसे पुराना अनादि ग्रन्थ वेदका सृजन भगवान् ने सर्वप्रथम इसी भाषा में किया है—

अनादिनिघना नित्या वागुत्सृष्टा स्वयम्भुवा ।

आदौ वेदमयी दिव्या यतः सर्वाः प्रवृत्तयः ॥ (ऋ० द्व० भाष्य)

तत्पश्चान् आर्षयुग के साक्षात्कृतधर्मा महर्षियों के अपरोक्ष अनुभवसे लेकर आधुनिक कालके बड़े-बड़े भारतीय मनीषियोंके सद्विचारोंसे ओत-प्रोत होने के कारण संस्कृतवाङ्मयका महत्त्व लोकोत्तर हो गया है । भारतीय पुरा-तत्त्वके त्रिपय में पूर्ण और यथार्थ ज्ञानके लिए संस्कृत ही एकमात्र अनन्य-साधारण साधन है । अतः स्वतंत्र भारतकी लोकसभा यदि विवेक से विचार करती तो राष्ट्रभाषाका राजमुकुट भगवती सुरभारतीको ही पहनना चाहिये था । क्योंकि इस देशकी समूची संस्कृति, सारा इतिहास और समस्त ज्ञान-विज्ञान सब संस्कृत में ही भरे पड़े हैं । किंवदुना ऋग्वेद जैसे विज्ञान-कोश का रत्नाकर ग्रन्थ भी संस्कृतवाङ्मय है और यही कारण है कि अन्यान्य देशोंके विमर्शक-विद्वान् संस्कृतवाङ्मयके प्रत्येक अङ्गका अध्ययन और अनुसन्धान बड़े मनोयोगसे करते हैं पर वहाँके लोग अँगरेजोंके शासनकालमें इसे मृत भाषा कहने लगे थे और आज भी अँगरेजी रङ्गसे रंगे मस्तिष्कवाले उभी दृष्टिसे इसे देखते हैं । यह तो सोचते हैं कि भारतकी शासनव्यवस्था संस्कृत राष्ट्रभाषा होनेसे नहीं चल सकती । किन्तु इस बातपर विचार नहीं करते कि विदेशियोंने अपने-अपने शासनकाल में उर्दू और अंग्रेजीको बलात् भारतकी राष्ट्रभाषा घोषित करके ही शासनको संभाला और आज भी पाकिस्तान उसी रूपमें सम्हाले हुए है । तात्पर्य यह कि संस्कृतकी संस्कृतिमें पले भारतका शासनसूत्र संस्कृतके राष्ट्रभाषा होनेसे जितना अक्षुण्ण बना रह सकता है उतना किसी अन्य भाषाके राष्ट्र-भाषा होनेसे नहीं ।

भारत में आज अपनी-अपनी प्रान्तीय भाषाओंको राजभाषा बनानेमें जो लोग व्यस्त हो रहे हैं, उसका एकमात्र निदान हिन्दीका राष्ट्रभाषा

होना ही है निष्पक्षभावसे विचार किया जाय तो उत्तर प्रदेश या पश्चिम विहारके कुछ ही अंशको छोड़कर बङ्गाल, मिथिला, गुजरात, महाराष्ट्र, आदि प्रदेशोंकी राष्ट्रभाषा हिन्दीसे जितनी कठिनाईकी समावना है उतनी मस्कृत से नहीं, क्योंकि बङ्गला, मैथिली, मराठी, गुजराती आदि भाषाओं में नब्बे प्रतिशत सस्कृत शब्दोंका ही प्रयोग होता है तथा हिन्दीको भी धन-धाम और सौन्दर्य सस्कृतसे ही मिल रहा है। ऐसी स्थितिमें भारतकी राष्ट्रभाषा यदि सस्कृत होनी तो भारतमाताकी तरह गीर्वाणवाणी भगवती सुरभारतीके मुखमें शताब्दियोंसे लगा हुआ ताला टूट जाता और एक स्वरसे सम्पूर्ण भारत उस राष्ट्रभाषाका अभिनन्दन करने लगता।

किसी भी देशकी राष्ट्रभाषा तभी जीवित रह सकती है जबकि वह उस देशकी मातृभाषामें परिणत हो जाय।

आचार्य वरदराजविरचित प्रस्तुत ग्रन्थ सस्कृत भाषाका भास्कर है। यह ग्रन्थ यदि भारतकी प्रत्येक शिक्षा संस्थाओंमें अनिवार्यरूपसे पढाया जाय तो अल्प समय में ही इस ग्रन्थके आलोकमें नवनिमित्त स्वतन्त्र भारतमें पुनः महाराज भोजका युग उदित हो जायगा।

कथानक इस प्रकार है—किसी समय एक ब्राह्मणको इन्धनके भारसे अनिर्वात होते हुए देख महाराज भोजने पूछा—

‘भूरिभारभराक्रान्तस्तत्र स्कन्धो न वाधति?’

ब्राह्मणने उत्तर दिया—

न तथा वाधते राजन् । यथा ‘वाधति’ वाधते ।

व्याकरण

व्यात्रियन्ते=व्युत्पाद्यन्ते शब्दा अनेनेति-शब्दज्ञानजनक ‘व्याकरणम्’ जिससे साधु शब्दका ज्ञान हो उसीका नाम व्याकरण है। व्याकरणका ही दूसरा नाम महाभाष्यकारने ‘शब्दानुशासन’ रखा है (अनुशिष्यन्ते=अपशब्देभ्यो विविच्य कथ्यन्ते साधु शब्दा अनेनेत्यनुशासन नाम—सूत्रवार्तिकभाष्यव्याख्यानादिरूप शास्त्रम्)। सस्कृतवाङ्मयमें व्याकरण शास्त्रका स्थान सबसे ऊँचा है। क्योंकि व्याकरण शास्त्र के ज्ञानके बिना वेदार्थ या स्मृति

पुराण, इतिहास, काव्य कोश आदि किसी भी शास्त्रान्तरका ज्ञान हो ही नहीं सकता । कहा भी है—

यो वेदवदनं सदनं हि सम्यग्
 ब्राह्मणाः स वेदमपि वेद किमन्यशास्त्रम् ।
 यस्मादतः प्रथममेतदधीत्य विद्वान्
 शास्त्रान्तरस्य भवति श्रवणोऽधिकारी ॥ (नास्कराचार्य)

शिक्षा, कल्प, व्याकरण निष्कृत, छन्द और ज्योतिष इन पदङ्गोंमें व्याकरण वेदका मुखरूप प्रधान अङ्ग है । जैसा कि कहा है—

मुखं व्याकरणं तस्य ज्योतिषं नेत्रमुच्यते ।
 निरुक्तं श्रोत्रमुद्दिष्टं छन्दसां विचितिः पदे ॥
 शिक्षा प्राणं तु वेदस्य हस्तौ कल्पान् प्रवक्षते ।

किं बहुना 'ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः पदङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्च' इस आगमोक्त वचनका उद्धरण देते हुए भगवान् पतञ्जलिने कहा है— 'पदस्वङ्गेषु प्रधानं व्याकरणं, प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान् भवति' । इत्यादि उक्तिसे भी सिद्ध होता है कि संस्कृतसाहित्य मात्रके लिये मुख्यतः व्याकरणशास्त्रका ज्ञान सर्वप्रथम नितान्त आवश्यक है ।

व्याकरणका प्रथम प्रवक्ता

व्याकरणवाङ्मयमें ऐन्द्र तन्त्र सबसे पुराना है । बृहस्पतिने सर्वप्रथम एक हजार वर्ष निरन्तर भगवान् इन्द्रको प्रतिपदपाठद्वारा शब्दोपदेश किया था, जैसा कि महाभाष्यमें लिखा है—

'बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं प्रोवाच'

सोपदेवने भी निम्नोक्त आठ शाब्दिकोंमें सबसे पहले इन्द्रका ही नाम लिया है—

इन्द्रश्चान्द्रः काशकृत्स्नापिशाली शाफ्टावनः ।
 पाणिन्यमरजैनेन्द्राः जयन्त्यद्यादिद्याभिकाः ॥

पाणिनीय व्याकरण

संस्कृतवाङ्मयके व्याकरणोंमें सम्प्रति पाणिनीय व्याकरण ही एकमात्र सांगो-पांग उपलब्ध होता है। इसकी सुन्दर और सुबद्ध रचनाकी प्रशंसा विद्वका प्रत्येक विद्वान् मुक्तकण्ठसे करता है। अभीतक किसी भी भाषाका व्याकरण इतना सरल और सुपरिष्कृत नहीं बनसका है। यह व्याकरण 'त्रिमुनिव्याकरण' नामसे प्रसिद्ध है और इन त्रिमुनियोंमें पाणिनि, कात्यायन और पतञ्जलि यथाक्रमसे हुए हैं।

(१) महामुनि पाणिनि

पाणिनिकी अष्टाध्यायीमें 'श्रवण' और 'यवन' शब्दको देखकर पाणिनिकी कोई छुट्टसे और कोई यवनसे उत्तरवर्ती मानते हैं। इसका समुचित समाधान शुद्धिर्षि श्रीमांसकने अपने इतिहास (पृ० १३६) में किया है। श्रीमांसकजीने पाणिनिकी विक्रमसे लगभग २८०० सौ वर्ष प्राचीन सिद्ध किया है। गणतन्त्र-महोदधिमें 'शालातुरो नाम ग्राम सोऽभिजनोऽस्यास्तीति शालातुरीय'; तत्र भवान् पाणिनि' इस व्युत्पत्तिसे शालातुर नामक ग्राम पाणिनिका धम्मस्थान लिखा है—जो अद्युना पाकिस्तानमें 'लाहौर' नामसे प्रसिद्ध है। पाणिनिके पिताका नाम महर्षि पाणि और माताका नाम दाक्षी था। भगवान् पतञ्जलिने भी लिखा है—'टाक्षीपुत्रस्य पाणिने' पाणिनिके गुरुका नाम उपवर्षाचार्य था जो नन्दराजके राज्यकालमें नालन्दा विश्वविद्यालय (बिहारराज्य) के सुप्रसिद्ध आचार्य कहे जाते थे। पाणिनिने अध्ययनास्पदमें ही अपनी घोर तपस्यासे आशुतोष भगवान् वाङ्मयको प्रसन्नकर उनके उपदेश और आदेशसे गुरुके आश्रम (पाटलिपुत्र) में ही अष्टाध्यायी, सूत्रपाठ, पातुपाठ, गणपाठ, लिङ्गानुशासन आदिकी रचना की थी। आचार्योंने कहा भी है—

येनाक्षरसमाप्तायमधिगम्य महेश्वरात् ।
कृत्स्नं व्याकरणं प्रोक्त तस्मै पाणिनये नमः ॥

(२) महामुनि कात्यायन

कात्यायन और पाणिनि दोनों समकालिक सतीर्थ्यं थे। पूर्वार्धामेनि कात्यायनकी महर्षि शाश्वतस्वयका आत्मज्ञ भागा है। उनके बचसे स्मृतिकार और शक्तिरकार दोनों एक ही कात्यायन हैं। 'प्रियतञ्जिता दाक्षिणात्या' इस महामाष्यसे सिद्ध

होता है कि कात्यायन दाक्षिणात्य थे । पर उसकी पुष्टि निम्न लिखित रीति से स्कन्दपुराणके बचनका समन्वय करनेपर ही हो सकती है ।

स्कन्दपुराणमें लिखा है—‘मिथिलाके ब्रह्मर्षि याज्ञवल्क्यका एक आश्रम (पीठ) आनतं (गुजरात) प्रदेशमें भी था’ संभव है उसीप्रकार महामुनि कात्यायनका भी कोई आश्रम महाराष्ट्र प्रदेशमें रहा होगा और वही पर उनका अधिक समय व्यतीत होनेसे लोकमें वे दाक्षिणात्येन व्यवहृत हो गये होंगे ।

वातिककारोंमें महामुनि कात्यायन सबसे श्रेष्ठ हुए । उनके वातिक निम्न वातिक लक्षणोंसे सर्वथा पूर्ण है—

उक्ताऽनुक्तदुरुक्तानां चिन्ता यत्र प्रवर्तते ।

तं ग्रन्थं वार्तिकं प्राहुर्वार्तिकज्ञा मनीषिणः ॥

कात्यायनका वातिकपाठ पाणिनिव्याकरणका एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण अंग है । इसके बिना पाणिनीय व्याकरण अपूर्ण ही रह जाता और यही कारण है कि अब पाणिनीय व्याकरणके आलोकमें अन्य कोई भी व्याकरण बन नहीं सका है । महामुनि कात्यायनका ही दूसरा नाम ‘वररुचि’ है । ये स्मृतिकार और वातिककार ही नहीं, अपितु महाकवि भी थे । इनके ‘स्वर्गारोहण’ नामक काव्यकी प्रशंसा अनेक ग्रन्थोंमें की गयी है । जैसा कि लिखा है—

यः स्वर्गारोहणं कृत्वा स्वर्गमानीतवान् भुवि ।

काव्येन रुचिरैणैव ख्यातो वररुचिः कविः ॥

न केवलं व्याकरणं पुषोष दाक्षीमुतस्येरितवार्तिकैर्यैः ।

काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः ॥

(३) शेषावतार भगवान् पतञ्जलि

शेषावतार कथयान् पतञ्जलिका महाभाष्य व्याकरणका सबसे प्रामाणिक ग्रन्थ माना जाता है । सभी व्याकरण इसके सामने नतमस्तक हो जाते हैं । वस्तुतः यह ग्रन्थ न केवल व्याकरण शास्त्रका ही प्रामाणिक ग्रन्थ है, अपितु समस्त संस्कृतवाङ्मयका आकर ग्रन्थ है । भर्तृहरिने अपने वाक्यपदीपमें लिखा है—

कृतेऽथ पतञ्जलिना गुरुणा तीर्थदर्शिना ।

सर्वेषां न्यायबीजानां महाभाष्ये निबन्धने ॥

भगवान् पतञ्जलिने मनोवाक्यदोषनिरसनार्थं पाठप्रयोगसूत्र, पाणिनीय महाभाष्य और चरकसंहिता—इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना की, जैसा कि कैयटने अपनी महाभाष्यकी टीकाके मङ्गलाचरणमें लिखा है—

योगेन चित्तस्य पदेन याथा मल शरीरस्य च वैद्यकेन ।

योऽपाकरोत्तं प्रवरं मुनीनां पतञ्जलिं प्राञ्जलिरानतोस्मि ॥

भगवान् पतञ्जलिके विषयमें निम्न इतिवृत्त प्रसिद्ध है—

आचार्योका कहना है कि पाणिनि और कार्यायन दोनों उपवर्षाचार्य नामक एक ही गुरुके शिष्य थे। अध्ययनके समय कार्यायनकी प्रखर बुद्धिके सामने बहुधा पाणिनिकी हतप्रभ हो जाना पड़ता था। अतः पाणिनि तीर्थराज प्रयागमें अक्षयवटके नीचे—जहाँ सनकादि ऋषिगण तप कर रहे थे, वहाँ जाकर घोर तपस्या करने लगे। कुछ दिनोंके पश्चात् उन लोगोंकी विकट तपस्वयत्ति प्रसन्न होकर भारुद्रीव भगवान् संकरने छाष्व नृत्य करते हुए उन लोगोंको दर्शन दिया और १४ बार अपना डमरु बजाकर उन तपस्वियोंका अभीष्ट सिद्ध किया जैसा कि मन्दिकेश्वरविरचित काशिकामें लिखा है—

नृत्तावसाने नटराजराजो ननाद् दृष्ट्वा नय पञ्चधारम् ।

चतुर्लोकामः सनकादिसिद्धानेतद्विमर्शो शिष्यसूत्रजालम् ॥

पाणिनिकी उसी डमरुके शब्दोंसे चतुर्दश माहेश्वरसूत्र उपलब्ध हुए और उन्हीं सूत्रोंके आधारपर पाणिनिने सुबद्ध अष्टाध्यायीकी रचना की, जिसे देखकर कार्यायन अस्मित ही उठे और तत्क्षण ही उन्होंने अष्टाध्यायीमें दोष निकालनेकी प्रतिज्ञा कर ली। भगवान् महेश्वरकी तपस्वयत्ति उन्होंने भी अष्टाध्यायीके अनुक्त-तदुक्त-पुनरुक्तादि दोषोंके उद्घरणस्वरूप पा० व्याकरणपर वातिका एक दिनालम्ब ही रच डाला। पाणिनिकी कार्यायनका यह द्वेष असह्य ही उठा। उन्होंने आदेशमें आकर कार्यायनकी तत्क्षण दिवगत हो जानेका शाप दे दिया। कार्यायन भी इसे सह न सके। उन्होंने भी तमककर आचार्य पाणिनिकी सूर्योदयसे पहले सिंहाद्वारा प्रतिष्ठित हो जानेका महाशाप दे दिया। फलस्वरूप दोनों आचार्य उसी दिन त्रयोदशीको गन्धशोक प्रस्थान कर गये (इसीलिये बैषाकरण लोग त्रयोदशीको अनध्याय मानते हैं)

१ पञ्चतन्त्रमें लिखा है—

सिंहो व्याकरणस्य कर्तुंहरत् प्राणान् गियान् पाणिने,

महामुनि पाणिनि और कात्यायनके निघनके पश्चात् शनैः शनैः पाणिनीय व्याकरण लुप्तप्राय होने लगा और उधकी जगह मुकुटाचार्य अपने एक नये ही व्याकरणका सृजन करने लगे ।

आशुतोष भगवान् शंकरको गणना अक्षरसमाम्नाय अत्यन्त प्रिय है (अभी भी प्राचीन आचार्य चतुर्दश सूत्रोंसे भगवान् शंकरका स्तनपन करते हैं) उन्होंने पाणिनिके शब्दानुशासनको नष्ट होते हुए देख शेषशायी भगवान्मे प्रार्थना की कि शेषनाग पा० व्याकरणपर महाभाष्य करनेके लिये भूतलपर चिदम्बरम् में अवतार ग्रहण करें ।

उस समय चिदम्बरं प्रदेशमे 'गोणिका' नामकी महासती प्राप्त पुत्रकी कामना से महेश्वरकी आराधना कर रही थी । एक दिन तपस्विनी माता गोणिका भगवान् सूर्यको अर्घ्य दे रही थी कि गोणिकाकी अञ्जलिमें भगवान् शेष अवतीर्ण हो गये । सर्पके रूपमें उन्हें देखते ही घल्लाकर माता गोणिकाने पूछा—

१. गोणिका—कोर्भवान् ?

३. गोणिका—रेफः क्व गतः ?

२. शेष—मत्पोहम् ,

४. शेष—त्वयाऽपहृतः,

यह सुन माता गोणिका आनन्दसे विभोर हो उठी । अनन्तर ही उसने भगवान् शेषको हँसते हुए बालकके रूपमें पाया और उसी दिन उस (शेषावतार) का नाम 'पतञ्जलि' रखदिया । कुछ ही दिनोंमें वे पतञ्जलि महेश्वरके अनुग्रहसे व्याकरण शास्त्रमें पारङ्गत होकर विश्वकी विभूति बन गये । दिनप्रति हजारोंकी संख्यामें आ-आकर शिष्य गण उनसे पाणिनीय व्याकरण पढ़ने लगे ।

एक दिन पतञ्जलिने अपने शिष्योंसे कहा—'आज य(ज)वनिकाके अन्दरसे मैं पाणिनिकी अष्टाध्यायी और कात्यायनके वार्तिकोंके ऊपर एकसाथ ही महाभाष्यकी रचना करूँगा, आपलोग ध्यानसे सुनें और खिलते जायें । पर यह बात स्मरण रहे कि आपमेसे कोई भी व्यक्ति प्रवचनके समय मुझे यवनिकाके भीतर देखनेका दुःसाहम न करें, अन्यथा महान् अनिष्ट होगा ।' इतना कहकर पतञ्जलिने यवनिकाके भीतर शेषका रूप धारणकर अपने सहस्र मुखोंसे एक ही साथ 'तत्तर्हि, वक्तव्यम्, न वक्तव्यम् ?' इत्यादिरूपेण महाभाष्यका प्रवचन

नीमांसाकृतमुन्ममाय सहसा हस्ती मुनि जैमिनिम् ।

छन्दोशाननिधिं अघान मरुतो घेलातटे पिङ्गलम्,

पशानाकृतचेतसामतिरुषां कोऽर्धस्तिरश्वां गुणैः ॥

आरंभ कर दिया और उनके शिष्यगण लिखने लगे। 'कृदतिङ्' सूत्रका महाभाष्य पूर्ण हो ही रहा था कि एक शिष्य कीतृहलसे यवनिका के अन्दर भगवान् पतञ्जलिको झकनेका दुःसाहस करने लगा और खरित् ही सहस्र-फणामण्डल-मण्डित भगवान् शेषके अत्युग्र विपकी ज्वालासे सभी शिष्यगण एक ही साथ भस्मसात् हो गये।

द्वैतवशा उस विप्लवके समयसे कुछ ही पूर्व एक शिष्य अत्यन्त तृपार्त होकर जल पीनेके लिए आश्रमसे बाहर नदी तटपर चला गया था, अतः विप्लवके पश्चात् वह पुन उपस्थित हुआ। उसे देख पतञ्जलिने अपूर्ण पाठके मध्यसे उठ जानेके अपराधमें उसे ब्रह्मपिशाच होनेका शाप दे दिया। पतञ्जलिके शापसे वह शिष्य अत्यन्त घबड़ाया और गुरुके चरणोंपर गिरकर क्षमाप्रार्थना करने लगा। अन्तमें पतञ्जलिने कहा—'घबड़ाओ मत' देखो, इस बट-बुझके ऊपर तुम निवास करना और इस बुझके नीचेसे जो चले उससे 'पचेर्निष्ठाया किं रूपम्' ? ऐसा प्रश्न करना। इसके उत्तरमें जो व्यक्ति 'पक्षम्' ऐसा कहे, उसीकी मेरा महाभाष्य पढ़ा देना। बस, उसी दिन तुम इस शापसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त कर लीगे। इतना कहकर भगवान् पतञ्जलि वहाँ प्रस्थान कर गये और वह ब्रह्मपिशाच वहाँ रहने लगा।

एकाएक भगवान् पतञ्जलिके अन्तर्हित हो जानेसे पाणिनीय व्याकरण शास्त्र पुन ऐसा दुष्ट होगया कि सभी लोग उस ब्रह्मपिशाचके प्रश्नके उत्तरमें 'पक्षम्' (अशुद्ध) कहने लगे।

बहुत दिनोंके पश्चात् पा० व्याकरणका एकमात्र जिज्ञासु चन्द्रगुप्त नामका पण्डित इतस्ततः भगवान् पतञ्जलिका अन्वेषण करता हुआ उस बट-बुझके नीचे था पहुँचा और उसने ब्रह्मपिशाचके प्रश्नका सटीक उत्तर (पक्षम्) दे दिया। उसका उत्तर सुनते ही ब्रह्मपिशाच अपने गुरु भगवान् पतञ्जलिका वचन स्मरणकर बोल उठा—अहो ! तुम पा० व्याकरण मालूम पड़ते हो, क्या तुम्हें पातञ्जलमहाभाष्य पढ़ने की इच्छा है ? यह सुन पण्डित चन्द्रगुप्त अतिप्रसन्न हुआ और आसन लगाकर उस बुझके नीचे बैठ गया। तदनन्तर वह ब्रह्मपिशाच बट पत्रके ऊपर अपने नखाग्रसे महाभाष्य लिख-लिखकर गिराने लगा और चन्द्रगुप्त उसे बटोरने लगा, इतनेमें एक बकरी आकर इधर-उधर बिस्तरे हुए कुछ बट पत्रोंकी खा गयी। इसीलिए महाभाष्यमें मन्त्र-मन्त्र 'अजामस्त्रिनमेतत्' ऐसा लिखा है। महाकवि श्रीहर्षने भी महाभाष्यके विषयमें निम्न पद्य गाया है—

परिखावल्यच्छलेन या न परेषां भ्रह्णस्य गोचरा ।
'फणिभाषितभाष्यफक्किः' विपमा कुण्डलनामवापिता ॥

अष्टाध्यायीके टीकाकार

पाणिनीय अष्टाध्यायीके ऊपर आचार्य कुणि, आचार्य व्याट्टि आदि कतिपय प्राचीनाचार्योंने भिन्न-भिन्न प्रकारकी टीका की रचना की है, परन्तु 'त्रिमुनि-व्याकरणम्' सिद्ध हो जानेके पश्चात् सर्वप्रथम महापण्डित जयादित्य और वामनने वि० सं० ६५०-७०० के मध्य 'काशिकावृत्ति' लिखी । परन्तु उससे बालकोंकी व्याकरणका ज्ञान सरलतया नहीं हो पाता था, अतः वि० सं० १४०० में आठो व्याकरणके ज्ञाता पं० रामचन्द्राचार्यने 'प्रक्रियाकौमुदी' की रचना की । किन्तु उसमें भी अष्टाध्यायीके समस्त सूत्रोंका सन्निवेश नहीं था । इस न्यूनताको पूर्ण करनेके लिये वि० सं० १५१०-१५७५ के मध्यवर्ती भट्टोजिदीक्षितने सम्पूर्ण अष्टाध्यायीके सहित उणादिसूत्र, फिट्सूत्र, लिङ्गानुशासन, गणपाठ और धातुपाठसे सर्वाङ्गपूर्ण 'सिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थ रचा । इसकी मुललित और सुवद्ध रचनाशैलीको देखकर समस्त आर्यावर्त मुग्ध हो उठा और कुछ लोग इस ग्रन्थकी स्तुति निम्नरीतिसे करने लगे—

कौमुदी यदि नायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः ।

कौमुदी यदि चायाति वृथा भाष्ये परिश्रमः ॥

आचार्य वरदराज

आचार्य वरदराज दक्षिणात्य ब्राह्मण थे । उनके पूज्य पिता दुर्गातिनय और गुरु श्री भट्टोजिदीक्षित थे । आचार्य वरदराजने अध्ययन के पश्चात् अपने गुरुकी आज्ञासे सिद्धान्तकौमुदीका पथप्रदर्शक 'लघुसिद्धान्तकौमुदी' नामक मनोनीत ग्रन्थकी रचना की । वरदराजका यह प्रथम प्रयास प्रारंभिक छात्रोंके लिये संस्कृतका सबसे उत्तम सोपान सिद्ध हुआ । इसकी जितनी प्रशंसा की जाय थोड़ी होगी ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

लघुकौमुदीकी रचनाके पश्चात् वि० सं० १६५० में आचार्य वरदराज अपने गुरुकी 'सिद्धान्तकौमुदी'को लघुरूपमें संकलितकर 'मध्यकौमुदी'का सफल ग्रन्थकार हुए । मध्यकौमुदीके अन्तमें वरदराजने निम्न पद्य लिखा है—

कृतिर्यदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।

तस्या सख्या तु विज्ञेया रक्षणकरयद्भिः ॥ (३२५०)

आचार्य वरदराजकी 'मध्यकौमुदी' की रचनाको देखकर श्री भट्टोजिदीक्षित सुग्ध हो उठे । उन्होंने वरदराजकी इस कृतिसे अपनी सिद्धान्तकौमुदीका ह्रास होना अवश्यमानकी समझकर मध्यकौमुदीके विकारापर धाप दे दिया, जिससे सि० कौमुदीकी अपेक्षा अत्यन्त सरल, सुबोध और उपादेय होनेपर भी उस समय मध्यकौमुदी ग्रन्थ खद्योतके समान अप्रतिभ हो गया—लोकप्रिय न हो सका ।

कुछ भी हो आजका युग अब पहलेका युग न रहा, यदि स्वल्पर राष्ट्र संस्कृतका स्तर ऊँचा करना चाहे तो उसे वरदराजकी स्तुति करनी होगी । संस्कृतव्याकरणका त्वरित् और पूर्ण ज्ञान करानेमें वरदराजकी मध्यकौमुदीके समान कोई भी अन्य ग्रन्थ वर्तमान संस्कृत-संसारमें उपलब्ध नहीं होता और न हो सकता है । यह सूर्यके समान प्रखर है ।

मध्यकौमुदीका प्रचलित रूप

मध्यकौमुदीका संपादन करते समय मैंने प्राचीन मवीन हस्तलिखित व प्रकाशित अनेक संस्करणोंका एकीकरण किया पर मेरी समीक्षामें यह स्थिर न होसका कि वस्तुतः वरदराजकी वास्तविक रचना कौनसी है । लेखक व संपादकके भेदसे कोई भी संस्करण एक दूसरेसे मिल न सका । काशिका, सिद्धान्तकौमुदी, धालमनोरमा, तत्त्वबोधिनी आदिसे वृत्ति पद ले-लेकर जहाँ तक बन पड़ा है मध्यकौमुदीके आकार प्रकारको लोग सुविस्तृत करते गये हैं । जिससे मध्यकौमुदी दिनप्रतिदिन सरल तो अवश्य होती जा रही है, पर गम्भव है युगधर्ममें श्री भट्टोजिदीक्षित की शब्दा भी साकार हो जायगी—सिद्धान्तकौमुदीका ह्रास हो जायगा ।

इस संस्करणमें मैंने आचार्य प० श्री नीताराम जी शास्त्रीका सुसंपादित और सुपरिष्कृत संस्करणकी विशेष सहायता ली है, तदर्थ मैं आचार्यजीका अतिशय आभारी हूँ ।

प्रस्तुत संस्करणकी टीकाके विषयमें गुण दोषोंका विवेचन करना मैं पाठकके ऊपर ही छोड़ता हूँ । टीका पाठकके समक्ष है, टीर-नीरविवेकी पाठक स्वयं इसका अनुभव करेंगे । इत्यलयाधिकेन ।

प्रथम संस्करण
रामनबमी, सं० २००८

विनीत—
—रामचन्द्र शा

प्रकरणादिसूची

विषयाः	पृष्ठाङ्काः	विषयाः	पृष्ठाङ्काः
संज्ञाप्रकरणम्	१	नामपातु—प्रकरणम्	३४७
सुप्सन्धि—प्रकरणम्	१२	कण्ठ्यादि	३५४
प्रकृतिभाव	२७	आत्मनेपद	३५५
हल्सन्धि	३१	परस्मैपद	३६६
विसर्गसन्धि	४६	भावकर्म	३६९
स्वाहिसन्धि	४७	कर्मकर्तृ	३७५
अजन्तपुंसिङ्ग	५४	लकारार्थं	३७८
अजन्तस्त्रीलिङ्ग	८४	पूर्वकृदन्त	३८५
अजन्तनपुंसक०	९१	उणादि	४३५
हलन्तपुंसिङ्ग	९७	उत्तरकृदन्त	४५०
हलन्तस्त्रीलिङ्ग	१२९	कारक	४६०
हलन्तनपुंसक०	१३२	समास	४७८
अव्यय	१३७	समासान्त	५३५
भ्वादि	१४१	समासाश्रय	५४३
ब्दादि	२२७	तद्धित	५५४
जुहोत्यादि	२७२	स्त्रीप्रत्यय	६३८
दिवादि	२८३	वैदिक	६५८
स्वादि	२९७	स्वर	६६६
तदादि	३०२	लिङ्गानुशासन	६६९
रुधादि	३१२	परिशिष्ट	६८२
तनादि	३१७	गणपाठः	६९४
ऋघदि	३०५	अष्टाध्यायीसूत्रसूची	७१३
धुरादि	३१०	उणादिसूत्रसूची	७१४
ण्यन्त	३२०	वात्तिकादिसूची	७१९
सनन्त	३२८	धातुसूची	७२७
यङन्त	३३७	प्रश्नोत्तरलेखनप्रकार	७३९
यङ्लुगन्त	३४३	प्रश्नपत्राणि	

शिषसूत्र-प्रत्याहाराः

स्यादेको ङप्रणवटै , पेण द्वौ, त्रय इह कणमैश्च ।
चत्वारश्च चयाभ्यां, पञ्च रेफेण, शलाभ्यां षट् ॥

अक्—अ, इ, उ, ऋ, लृ ।
 अच्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ ।
 अण्—अ, इ, उ ।
 अट्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र ।
 अण्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ औ, ह, य, व, र, ल ।
 अम्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, म, न, ङ, ण, न ।
 अल्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, म, न, ङ, ण, न, ष, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, य, स, ह ।
 अश्—अ, इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल, म, न, ङ, ण, न, ष, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द ।
 इक्—इ, उ, ऋ, लृ ।
 इच्—इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ ।
 इण्—इ, उ, ऋ, लृ, ए, ओ, ऐ, औ, ह, य, व, र, ल ।
 उक्—उ, ऋ, लृ ।
 एक्—ए, औ ।

एच्—ए, ओ, ऐ, औ ।
 ऐच्—ऐ, औ ।
 खय्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।
 खर्—ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, य, स ।
 छम्—छ, ण, न ।
 चय्—च, ट, त, क, प ।
 चर्—च, ट, त, क, प, श, य, स ।
 छय्—छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।
 जश्—ज, ब, ग, ङ, द ।
 झय्—झ, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प ।
 झर्—झ, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, य, स ।
 शल्—श, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, द, ख, फ, छ, ठ, थ, च, ट, त, क, प, श, य, स, ह ।
 शश्—श, म, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द ।
 शप्—श, म, घ, ढ, ध ।
 बश्—ब, ग, ङ, द ।
 भय्—भ, व, ङ, द, य, ।

मय्—म, ङ, ण, न, झ, भ, घ, ढ, ध,
ज, ब, ग, ङ, द, ख, फ, छ, ठ,
य, च, ट, त, क, प ।

यञ्—य, व, र, ल, ज, म, ङ, ण, न,
झ, भ ।

यण्—य, व, र, ल ।

यम्—य, व, र, ल, ज, म, ङ, ण, न ।

यर्—य, व, र, ल, ज, म, ङ, ण, न,
झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ,
द, ख, फ, छ, ठ, य, च, ट, त,
क, प, श, ष, स ।

रल्—र, ल, ज, म, ङ, ण, न, झ, भ,
घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द, ख,
फ, छ, ठ, य, च, ट, त, क, प,
श, ष, स, ह ।

घल्—घ, र, ल, ज, म, ङ, ण, न, झ,
भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द,
ख, फ, छ, ठ, य, च, ट, त, क,
प, श, ष, स, ह ।

वश्—व, र, ल, ज, म, ङ, ण, न, झ,
भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द ।

शर्—श, ष, स ।

शल्ल्—श, ष, स, ह ।

हल्—ह, य, व, र, ल, ज, म, ङ, ण,
न, झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग,
ङ, द, ख, फ, छ, ठ, य, च, ट,
त, क, प, श, ष, स, ह ।

हश्—ह, य, व, र, ल, ज, म, ङ, ण, न,
झ, भ, घ, ढ, ध, ज, ब, ग, ङ, द ।

स्वरों का अष्टादश भेदज्ञापक चक्र

अ इ उ ऋ लृ	अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ	अ इ उ ऋ लृ ए ओ ऐ औ
ह्रस्वभेद	दीर्घभेद	प्लुतभेद
१ ह्रस्व उदात्तानुनासिक	७ दीर्घ उदात्तानुनासिक	१३ प्लुत उदात्तानुनासिक
२ " उदात्तानुनासिक	८ " उदात्तानुनासिक	१४ " उदात्तानुनासिक
३ " अनुदात्तानुनासिक	९ " अनुदात्तानुनासिक	१५ " अनुदात्तानुनासिक
४ " अनुदात्तानुनासिक	१० " अनुदात्तानुनासिक	१६ " अनुदात्तानुनासिक
५ " स्वरितानुनासिक	११ " स्वरितानुनासिक	१७ " स्वरितानुनासिक
६ " स्वरितानुनासिक	१२ " स्वरितानुनासिक	१८ " स्वरितानुनासिक

बर्णोद्भवस्थानज्ञापक चक्र

वट	तालु	मूर्धा	दन्त	श्रोष्ठ	नासिका	क	ता.	क	श्रो	द	श्रो	जि, मू	नासिका
अ	इ	ऋ	ऌ	उ	अ	ए	ओ	ओ	व	ॠ	ॡ		
क	च	ट	ठ	प	म	ऐ	औ						
ख	छ	ठ	ड	फ	ब								
ग	ज	ड	ध	ब	भ	ण							अनुस्वार
घ	झ	ढ	न	म	म								
ङ	ञ	ण	त	ॠ	ॡ								
च	ज	ट	ठ	प	म								
छ	झ	ड	ध	ब	भ	ण							
ज	झ	ड	ध	ब	भ	ण							
झ	ञ	ण	त	ॠ	ॡ								
ञ	ञ	ण	त	ॠ	ॡ								

आभ्यन्तर और बाह्यप्रयत्नज्ञापक चक्र

आभ्यन्तर- प्रयत्न	सृष्ट					ईपरसृष्ट	ईपरद्विभूत	विभूत	संभूत			
संज्ञा	स्पर्श					अन्त- स्य	ऊष्मा	स्वर उदात्त, अनु- दात्त, स्वरित				
व्यञ्जन, स्वर	क	ख	ग	घ	च	य	श	अ	इ	ए	ॠ	ॡ
	प	फ	ब	भ	म	व	ष	उ	ओ			
	य	र	ज	झ	झ	र	स	ऋ	ॠ	ऐ		
	ट	ठ	ड	ध	ड	ल	ह	ए	औ			
	त	थ	द	न	ध			ऌ	ॡ			
बाह्यप्रयत्न	अ	प्रा.म.प्रा	अल्प	प्रा	म	प्रा	म	प्रा	अल्प	प्राण	अल्प	संवार
	विवार	संवार	संवार	संवार	संवार	विचार	स.	संवार	संवार	नाद	नाद	नाद
	श्याम	नाद	नाद	नाद	नाद	श्याम	ना	नाद	नाद	धीय	धीय	धीय
	अधीय	धीय	धीय	धीय	धीय	अधीय	धी	धीय	धीय	धीय	धीय	धीय

॥ श्रीः ॥

मध्यसिद्धान्तकौमुदी

सुधा-इन्दुमती-संस्कृत-हिन्दीटीकोपेता



अथ संज्ञाप्रकरणम्

नत्वा वरदराजः श्रीगुरुन् भट्टोजिदीक्षितान् ।

करोति पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदीम् ॥

अ३उण् । १ । ऋलृक् । २ । एओच् । ३ । ऐऔच् । ४ । ह्यघट् । ५ ।

नत्वेति । अञ्जलिशिरःसंयोगादिव्यापारेण तोपयित्वेत्यर्थः । वरदराजः— प्रकृत-
ग्रन्थकर्ता । 'नास्ति सत्त्वं गुरोः परम्' इत्याद्युक्त्या गुरोरेष परमपदार्थत्वादात्— गुरु-
निति । भट्टोजिदीक्षितान्— शब्दकौस्तुभमनोरमादिग्रन्थकर्त॑न् । पाणिनीयानाम्— पाणि-
निना प्रोक्तं पाणिनीयं, तद्वक्षीते विदन्ति वा पाणिनीयास्तेषाम् । मध्यसिद्धान्तकौमुदी-
मिति । अत्यल्पाऽशेषाम्यामन्ये मध्यभूताः सिद्धान्तास्तेषां प्रकाशिकामिति यावत् ।
करोतीति । द्बृकृञ्करणे अस्माकत्तरि लटि रूपम् । उत्पत्यनुकूलव्यापारो हि कृषात्वर्थः ।
वरदराजनिष्ठमध्यसिद्धान्तकौमुदीविषयकोत्पत्यनुकूलव्यापार इति बोधः ।

अ ३ उ ण् इति । संहिताया अविषयया नात्र सन्धिकार्यम् । सौत्रवाञ्छैतेभ्यो
विभक्त्युरपत्तिः । कारप्रत्ययोऽपि न 'वर्णाकार' इत्यत्र घट्टुलमित्यनुवर्तनात् । इयत्-
रडिति । अट् अश् हश् इण् प्रत्याहारेषु हकारग्रहणार्थोऽत्र हकारोपदेश आवश्यकः ।
अटि हकारोपदेशप्रयोजनं तु— अहेंण इत्यत्र अढव्यवायेऽपि णत्वार्थम् । अशि हकार-

रामचन्द्रं नमस्कृत्य रामचन्द्रेण धीमता ।

मनसीन्दुमती, ध्यात्वा रचितेन्दुमती सुधा ॥

नत्वा—मै वरदराज भट्टाचार्य अपने श्री गुरु भट्टोजिदीक्षितकी प्रणाम करके पाणिनि
मुनि-विरचित ग्रन्थमें प्रवेशके लिये 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' नामक ग्रन्थकी रचनाता हूँ ॥

अ३उण्— मशेवर (भगवान् गंगावर) की कृपासे प्राप्त ये चतुर्दश (१४) सूत्र अण्
अक् आदि संज्ञा (प्रत्याहार) सिद्धिके लिये हैं ।

बोधाः—महर्षि पाणिनिकी तपस्वासे प्रसन्न होकर भगवान् चन्द्रने संस्कृतभाषापर
रचनाके लिये इन्हीं १४ सूत्रोंका उपदेश किया था । इन्हीं सूत्रोंके आधार पर रचिते

एव ॥६॥ अमरुजानम् ॥७॥ इमन् ॥८॥ घटवष् ॥९॥ जवगवद् ॥१०॥
 लाफळठयघटतष् ॥११॥ कपय् ॥१२॥ शपसर् ॥१३॥ इल् ॥१४॥ इति माहे-
 रपरणि सूत्राण्यणादिसंज्ञार्थानि ॥ एयामन्त्या इतः ।

हकारादिभ्यकार उचचारणार्थः । ङण्मध्ये स्विस्संज्ञकः ॥ हकारो द्वितपा-

प्रयोजनम्—देवा हसन्ति इत्यत्र 'भो भगो' इति अदानिमित्तकं रोप्यत्वार्यम् । इषि
 हकारप्रयोजनम्—देवो हसति इत्यत्र 'हसि च' इत्युत्वार्यम् । इणि हकारप्रयोजनम्—
 छिलिहिव्ये-छिलिहिव्ये इत्यत्र 'विमापेट' इत्यनेन वैकल्पिकत्वार्यम् ॥ ङणिति ।
 गनु 'अइङण्' इत्यत्र ङकारानुबन्धेनैवाणाविप्रत्याहारसिद्धौ पुनरिह ङकारानुबन्ध-
 ग्रहणं व्यर्थमिति चेद्, न । 'व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्वेहाइङणम्' इति
 परिभाषाज्ञापकत्वेन तस्य साफल्यात् ॥ इति । 'हयवरट्' इत्यत्र हकारोपदेशोऽनैव
 सिद्धौ पुनरिह हकारोपदेशो व्यर्थ इति न च शाङ्खम् । वल्, रल्, शल्, षल्,
 प्रत्याहारेषु हकारग्रहणाय तत्र हकारोपदेशस्य सार्यवयात् । तथाहि—वलि हकारोप-
 देशमन्तोवचक-इदिहि स्वपिदि अत्र 'रुद्रादिभ्यः' सार्वधातुके' इति षष्ठाद्विङ्गनेऽङामा-
 र्थम् । इति हकारोपदेशप्रयोजनम्—स्निहित्वा-स्नेहित्वा इत्यत्र 'रलो ऽपुपचात्' इति
 कित्त्वार्यम् । छलि-अद्याप्याश्च इत्यत्र षस्यासिद्धत्वेन हकारस्य क्लृप्त्वात् 'छलो छलि' इति
 सकारलोपार्यम् । छलि-अलिषदित्यत्र 'शल इगुपचादिति' वस' इति ष्ठेः वसादेवार्थम् ।
 गनु इमानि सूत्राणि मुनिप्रयत्नव्यवहित्मृतत्वाद्यप्रमाणमिष्यत आह—इति माहेभराणि
 सूत्राणीति । महेभराद्यागतानि माहेभराणि 'तत आगता' इत्यण् । महेभराप्यासानीति
 पावत् । गनु महेभरमणीतसूत्राणामेषां वैयाकरणसिद्धान्तप्रकाशने उपयोगा-
 भावादिह तदुपन्यासो व्यर्थ इत्यत आह—अणादिसंज्ञार्थानीति । अण् आदिर्षार्था
 ताः अणादयः, अणादयश्च ताः संज्ञाश्च अणादिसंज्ञा ता अर्थः प्रयोजनं येषां तानि
 अणादिसंज्ञार्थानि । एषां सूत्राणामणादिसंज्ञाद्वारा व्याकरणशास्त्रे ङपयोगाज्ञानव्य-
 ययमिति भावः । हकारादिभ्यिति । हकारादीनां सुलोचचारणार्थं पुनःपुनरकारपाठ
 इत्यर्थः । अन्त्या 'हृष्' इत्येवं द्विष्टोच्चारणापत्तेरिति भावः । ङण्मध्ये स्वििति ।
 ङण्मध्ये ङकार इत्यंज्ञकः, इत्याहारासिद्धव्यर्थमिति भावः ॥ तेन 'उरण् रपर'

उपरत आकारण्यौ समौ शते सरळरुणेन छेपेपने—करी है । जत सपते पहे छेपयुंत्
 सूते के हए प्रत्याहारीको कठल करकेना विचारिबोके किने परम विज्जर है ।

एयाम्—यह प्रतिकाचार्य है । इन चतुर्दश सूत्रोंके अन्तिम वर्ण (न्, ङ् आदि)
 उत्तरकारण हैं—किसीको 'इङ्गणम्' सूत्रके इकी उत्तरवा हो जाती है ।

हकारादि—हकारादि वर्णोंमें संश्लिष्ट को नकार है ये केवल वर्णोच्चारण करकेके
 किने हैं—उत्तरवाके किने धरी ।

ङण्मध्ये—'ङण्' सूत्रके ङण्में (उकारोत्तरवती) को नकार है न् उत्तरवत् है—

सोयमटि शल्यपि धाञ्छता । अर्हेणाधुक्षदित्यत्र द्वयं सिद्धं भविष्यति ॥
 हलन्त्यम् । १ । ३ । ३ । उपदेशोऽन्त्यं हलित्स्यात् । उपदेश आद्योच्चारणम् ।
 सूत्रेष्वष्टमं पदं सूत्रान्तरादनुवर्तनीयं सर्वत्र ॥ अदर्शनं लोपः । १ । १ । ६० ।
 प्रसक्तस्यादर्शनं लोपसंज्ञं स्यात् ॥ तस्य लोपः । १ । ३ । ९ । तस्येति लोपः
 स्यात् । णादयोऽणाद्यर्थाः ॥ आदिरन्त्येन सहेता । १ । १ । ७१ । अन्त्येनेता

इति सूत्रस्यरप्रत्याहारेण रलयोर्ग्रहणमिति यावत् । अटि शस्यपीति । अटप्रत्याहारे
 हकारग्रहणार्थम्, शल्यप्रत्याहारेऽपि हकारस्य ग्रहणार्थं हकारः द्विवारं पठितेः । अटि
 हकारस्य प्रयोजनमाह—अर्हेणिति । 'अटकुश्वाह' इति अङ्गव्याये णत्वम् । अटि
 पाठस्य प्रयोजनमाह—अधुक्षदिति । 'शल्य इगुपधात्' इत्यनेन ष्टेः वसादेशः । उपदेशे-
 ऽन्त्यमिति । आद्योच्चारणविषयीभूतो अः शब्दस्तस्यान्त्यं हल् इत्संज्ञकः स्यादिति फकि-
 तोऽर्थः । आद्योच्चारणमिति । आद्यानां शिवपाणिनिप्रभृतीनामाद्यसुच्चारणमुपदेशः ।
 यद्वा आद्यश्च तदुच्चारणस्येवाद्योच्चारणम्, प्रथमसुच्चारणमित्यर्थः । शिवपाणिनिप्रभृ-
 तीनामाद्यसुच्चारणमुपदेशः । केचित्तु—'घातुसूत्राणोणादिव्याक्यलिङ्गानुशासनम् ।
 आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः' ॥ इत्याहुः । प्रसक्त्येति । शास्त्रतोऽर्थतत्त्व
 प्रसक्तस्य प्राप्तोच्चारणस्येत्यर्थः । इतिज्ञानसामान्यार्थकत्वात्तस्य च निषेधाऽस्मभवाद्दु-
 च्चारणसत्ताया पत्र निषेध इति भावः ॥ णादयोऽणाद्यर्था इति । अण् आदिर्येषां तेऽणा-
 द्यस्तेऽर्थाः प्रयोजनं येषान्तेऽणाद्यर्थाः । णादयः—ण् कृष् प्रभृतयः इत्संज्ञा वर्णाः
 अणादिप्रत्याहारप्रयोजनकाः इति यावत् ॥ आदिरन्त्येन सहेतेति । अन्ते भवः जन्त्यः ।
 तेन हता सहोच्चार्यमाण आदिः अण् अच् इत्यादिरूपः संज्ञेत्यर्थः । यस्मात्पूर्वं नास्ति

उच्चारण मात्रके लिये नहीं । क्योंकि उससे 'र' प्रत्याहारकी सिद्धि होती है ।
 हलन्त्यम्—उपदेश अवस्थामें जो अन्य हल् (व्यञ्जन वर्ण) उनकी इत्संज्ञा हो ।
 उपदेश आद्योच्चारणम्—अद्य (प्रथम) उच्चारणको 'उपदेश' कहते हैं ।
 नोटः—व्याकरणशास्त्रके प्रवर्तक पाणिनि, कात्यायन, पतञ्जलि मुनिका जो आद्योच्चा-
 रण है उसीका नाम 'उपदेश' है । कहा भी है—
 घातु-सूत्र-नाणोणादि-व्याक्य-लिङ्गानुशासनम् । आगमप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥
 सूत्रेष्वष्टमं—सूत्रोंमें जो पद नहीं दिखकारे पढ़े उसे दूसरे सूत्रोंसे अनुवर्तन (अन्वा-
 हार) करलेना चाहिये ।
 अदर्शनम्—प्रसक्त (शाब्दिक, अर्थात् विषयानु—प्राप्तोच्चारण) का जो अदर्शन
 (अवगमन) वह लोपसंज्ञक होता है—किस अवगमको लोप कहते हैं ।
 तस्य लोपः—किसकी अवगम होती है उसका लोप ही लोप है ।
 आदिरन्त्येन—अन्त्य इत्संज्ञक वर्णके लिये अन्त्येन आदिर्येषां लोपे तथा मध्यवर्ती
 वर्णोंका भी लोपक हो ।

सहित आदिर्मध्यगानां स्वस्य च संज्ञा स्यात् । यथा अण् इति अस्तवर्णानां संज्ञा । एवम् अच्, इच्, अल्, इत्यादयः ॥ ऊकालोऽच्छस्वदीर्घप्लुतः । १ । २ । २७ । तस्य लक्ष्य ऊश्च वः । वां काल इव कालो यस्य घोऽच् क्रमाद्धस्वदीर्घप्लुत-
पक्षः स्यात् । स प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन त्रिधा । उच्चैरुदात्तः । १ । २ । २९ ।

परञ्चारित स आदि । यस्मात्पर नास्ति पूर्वञ्चारित सोऽन्तः । इहाद्यन्ताभ्यामवयवत्वेन योषकाम्या शब्दाभ्यां मध्यगा आक्षिप्यन्ते । अतस्तेषां सञ्ज्ञेति लभ्यते । स्व रूप-
मिति पूर्वसुत्रात्स्वमित्यनुवर्तते । तच्च पृथगन्ततया विपरिणम्यते तदेतद्वाह—मन्त्ये
नेत्रेत्यादि । त्वस्य चेति । अत्र च स्वशब्देन सञ्ज्ञाकोटिप्रविष्ट आक्षिरेव पराच्यरयते इति
भावः । ऊकाळ इति । इस्वदीर्घप्लुत इति समाहारद्वन्द्वं सौत्रं पुस्त्वम् । एकद्वित्रि-
मात्रिकोकाराणामुच्चारणकालसदृशोच्चारणकालविशिष्टोऽच् क्रमशो इस्वदीर्घप्लुत
र-श्चको भवतीति सूत्रार्थः । प्राथम्यादकारोच्चारणमेव युक्तमिति न च शङ्क्यम् । कुक्कु-
दन्ते उकारे एकद्वित्रिमात्रत्वप्रसिद्धेकारस्यानुक्तेः । वां काल इति । घः इति उच्चारणस्य
प्रथमाचट्टवचनम् । वामिति षष्ठीषट्ठवचनम् । वां काल इव कालो यस्येति
फलितार्थकपनमिति यावत् । एकमात्रात्मकोकारोच्चारणकालसदृशोच्चारणका-
लिको योऽच् स इस्वसञ्ज्ञको भवति । एवं द्विमात्रात्मकोकारोच्चारणकाल-
सदृश उच्चारणकालो यस्याच स दीर्घसञ्ज्ञको भवति । एवं त्रिमात्रात्मकोका-
रोच्चारणकालसदृशोच्चारणकालिको योऽच् स प्लुतसञ्ज्ञको भवति । स प्रत्ये-

उदाहरण—‘अ इ ए ण्’ सूत्रघटक ‘अण्’ प्रत्याहारमें अन्य इष्ट ‘ण्’ के सहित उच्चारित
आदिर्घर्ण ‘अण्’ हुआ । इसके श्चमें जो इ, उ है, इनकी तथा अपनी भी अर्थात् ‘अ’ की
भी संज्ञा ‘अण्’ हुई (एवम् अन्यत्रापि) ।

अण् इति—यदा ‘अण्’ प्रत्याहार अ, इ, उ वर्णोंका समाशोषक है, तथा अच्, इच्
आदि प्रत्याहारोंको भी ध्यानना चाहिये ।

ऊकालो—ऊकाळ, ऊकाळ, ऊश्चकाल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक) के समान
उच्चारण कालके बराबर उच्चारण काल हो जिसका वह ‘अच्’ क्रमसे हस्व, दीर्घ,
प्लुत सहावाला हो ।

नोट—‘मात्रा’ कालकी करते हैं । गुणांका उच्चर ‘कु-कु-कु इ’ में एक, दो, तीन
मात्राओंका उरवच क्रमिक स्पष्ट प्रतीत होता है, अत उकार ही इष्टान्त रूपमें दिया गया है ।

हत्यादि का लक्षण—एकमात्रो भयेद्धस्वो द्विमात्रो दीर्घ उच्यते ।

त्रिमात्रसु प्लुतो ज्यो इत्यङ्गन चार्धमात्रिकम् ॥

स प्रत्येक—इ (इच्, दीर्घ, प्लुतसहक) प्रत्येक ‘अच्’ उच्चारण, अनुच्चारण, स्वरित
वर्गविकेच है तीन उच्चारणका होता है ।

उच्चैरुदात्तः—उच्च आदि स्वामीके कर्म्म मागमें उच्चारित को ‘अच्’ वह ‘उच्चारण’

तात्वादिषु समागेषु स्थानेषूर्वभागे निष्पन्नोऽनुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥ नीचैरनुदात्तः
 ११२३०। तात्वादिषु समागेषु स्थानेष्वधोभागे निष्पन्नोऽधुदात्तसंज्ञः स्यात् ॥
 समाहारः स्वरितः ११२३१ उदात्तानुदात्तत्वे वर्णपर्यं समाह्रियेते अस्मिन्
 चोऽच् स्वरितसंज्ञः स्यात् । स नवविधोऽपि प्रत्येकमनुनासिकाननुनासिकत्वाभ्यां
 द्विधा ॥ मुखनासिकावचनोऽनुनासिकः १११८। मुखसहितनासिकयोश्चार्थ-

कर्मित । सः (लघ्वहस्यादिसंज्ञकः) ह्रस्वः, दीर्घः, प्लुतश्च अच प्रत्येकमुदात्तादिभेदेन
 उदात्तत्वेन, अनुदात्तत्वेन, स्वरितत्वेन च धर्मविशेषेण त्रिधा त्रिभिः प्रकारैर्दत्तं ह्रस्व-
 र्थः । उदात्तसंज्ञामाह—उच्चैरुदात्त इति । नावधर्मविशेषः, उच्चैस्त्वन्निवह न विवधि-
 तम् । उपांशुच्चार्यमाणे अव्याप्तेः । किन्तु उच्चैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः ऊर्ध्व-
 भागे ह्रस्वर्यं वर्तते । ऊर्ध्वोऽच् ह्रस्वतः अच् ह्रस्वनुवर्तते, तदेतदाह—तात्वादिष्विषा-
 दिना । समागेष्विति । तात्वादीनां सावयवत्वकथनं ऊर्ध्वभागे ह्रस्वस्योपपादनार्थम् ।
 तेषामखण्डत्वे ऊर्ध्वभागे ह्रस्वनुपपत्तेः ॥ नीचैःशब्दः अधिकरणशक्तिप्रधानः, अधो-
 भागे ह्रस्वर्यं वर्तते, तदाह—नीचैरिति । समाहारः स्वरित इति । पूर्वसूत्राभ्यां उदात्ता-
 नुदात्तपदे अनुवृत्ते व्याख्यानात् धर्मप्रधाने पृथगन्ततया च विपरिणम्येते । यस्मिन्
 समाहरणं स समाहारः । अधिकरणे घञ् । ततश्च उदात्तत्वानुदात्तत्वयोर्धर्मयोर्यस्मिन्
 चि मेलनं सोऽच् स्वरितसंज्ञक ह्रस्वर्यः । तदेतत्कलितमाह—उदात्तानुदात्तत्वे इति ।
 स नवविधोऽपीति । १ उदात्तह्रस्वः, २ अनुदात्तह्रस्वः, ३ स्वरितह्रस्वः, ४ उदात्तदीर्घः,
 ५ अनुदात्तदीर्घः, ६ स्वरितदीर्घः, ७ उदात्तप्लुतः, ८ अनुदात्तप्लुतः, ९ स्वरितप्लुतः,
 इति रीत्या य एकैकः अच् नवविधः स्थितः स प्रत्येकमनुनासिकत्वेन धमनुनासिकत्वेन
 च द्विधा द्व्याभ्यां प्रकाराभ्यां वर्तत ह्रस्वर्यः । मुखनासिकेति । मुखद्वितीया नासिका मुख-
 नासिकेति शाकपायिवादिवाङ्मत्तरपदलोपः । उच्यतेऽसौ वचनः 'कर्मणि ह्युट्' । मुख-
 नासिकया वचनः मुखनासिकावचन इति । ननु अष्टादशभेदाः किं सर्वेषामधामवि-

कङ्कता है ।

नीचैरनुदात्तः—तालु आदि स्थानोंके अधोभागमें उच्चारित जो 'अच्' वह 'अनु-
 दात्त' कहलाता है ।

नोटः—उच्चैः, नीचैः शब्द अधिकरण शक्तिप्रधानक अभ्यय हैं । अतः ऊर्ध्वभाग
 और अधोभागमें ऐसा अर्थ हुआ ।

समाहारः—उदात्त और अनुदात्त जिस स्वरमें सम्मिलित हों उसे 'स्वरित' कहते हैं ।
 स नवविधोऽपि—वह (उदात्त-अनुदात्त-स्वरितभेदेन) नौ प्रकारका ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत
 संज्ञक 'अच्' पुनः अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे दो २ प्रकारका होता है ।

मुखनासिका—मुख और नासिका (तमय) से जिस वर्णका उच्चारण हो वह अनु-
 नासिक संज्ञक वर्ण कहलाता है ।

मूर्धा । कृतुभ्रानां दन्ताः । उपपञ्चानीमानामोष्ठौ । अमङ्गनानां नासिका च ।
एदौतोः कण्ठतालु । ओदौतोः कण्ठोष्ठम् । वकारस्य दन्तोष्ठम् । जिह्वामूर्ध्वीयस्य

अक्ष कुक्ष ह्रस्व विसर्जनीयश्चेति विग्रहः । विसर्जनीयशब्दोऽपि विसर्गपक्षाधिः ।
रजुयशेति । 'इ' इत्यष्टादश भेदाः । 'उ' इति षवर्गः । इत्य उभय पक्ष शब्देति विग्रहः ।
ऋट्टरपेति । 'ऋ' इत्यष्टादश भेदाः । 'ट्ट' इति षवर्गः । आ च द्वय रश्च शब्देति विग्रहः ।
'ऋ' शब्दस्य आ इति प्रथमैकवचनान्तस्य, घाता इतिषत् । लृट्टशेति । 'लृ' इत्यस्य
इत्यस्य द्वावश भेदाः । 'लृ' इति तवर्गः । आ च पुत्र लभ्य सद्येति विग्रहः । लृट्ट-
म्यस्यापि आ इत्येव प्रथमैकवचनान्तम् । आ, अकौ, अलः इति । उभयशब्देभ्य
दन्तमूलप्रदेशो विवक्षितः । अन्यथा भग्नदन्तस्य तदुच्चारणानुपपत्तेः । कूपेति ।
'उ' इत्यष्टादश भेदाः । 'उ' इति षवर्गः । उभय पुत्र उपपञ्चानीयश्चेति विग्रहः । उपपञ्चा-
नीयशब्दस्य श्याबयानमनुपपद्येव मूले स्पष्टं भविष्यति । अमङ्गनेति । अक्ष इत्य
अक्ष णस्य शब्देति विग्रहः । चकारेण स्वस्ववर्गीयस्यानसमुच्चयः । एदौतीरिति ।
एद्वच ऐद्वच एद्वैतौ । तपरकरणमसन्देहार्थम् । ओदौतीरिति । ओप्य जीप्य ओदौतीरौ ।
तपरकरणं पूर्ववदसन्देहार्थमेव । जिह्वामूर्ध्वीयस्येति । ऋट्टश्च इति उच्चारणार्थं

ताकभ्य वर्णं कर्ते है ।

ऋट्टु—ऋ-ऋकार, ट्ट-ट्टवर्ग, 'र' धार 'व' का उच्चारण स्थान 'मूर्धा' है—अतः
इनको मूर्धन्य वर्णं कर्ते है ।

लृट्टु—लृ-लृकार, लृ-लृवर्ग, 'क' और 'स' का उच्चारण स्थान 'दन्त' है—अतः
इनको दन्त्य वर्णं कर्ते है ।

उपु—उ-उकार, पु-पवर्ग और उपपञ्चानीय (ऋ ऋ) का उच्चारण स्थान
'ओष्ठ' है—अतः इनको ओष्ठ्य वर्णं कर्ते है ।

अमङ्ग—अ-म-ङ-ण-न' का उच्चारण स्थान 'नासिका' तथा 'कंठ-तालु-मूर्धा-
दन्त-ओष्ठ' भी है—अतः इनको नासिका तथा कंठ्य, तालुभ्य, मूर्धन्य, दन्त्य और ओष्ठ्य
वर्णं भी कर्ते है ।

एदौतोः—एकार-ऐकारका उच्चारण स्थान कंठ तालु है—अतः इनको कण्ठ्य, तालुभ्य
दोनों कर्ते है ।

ओदौतोः—ओकार-औकारका उच्चारण स्थान कंठ और ओष्ठ है—अतः इनको
'कण्ठओष्ठ्य' वर्णं कर्ते है ।

वकारस्य—वकार का उच्चारणस्थान दन्त तथा ओष्ठ है—अतः इनको 'दन्तोष्ठ्य'
वर्णं कर्ते है ।

जिह्वामूर्ध्वीयस्य—जिह्वामूर्ध्वीय (ऋ ऋ) का उच्चारणस्थान जीह्वामूर्ध्वीय (ऋ ऋ)
'कण्ठतालु' है—अतः इनको जिह्वामूर्ध्वीय कर्ते है ।

जिह्वामूलम् । नासिकाऽनुस्वारस्य । इति स्थानानिति ॥ यज्ञो द्विधा । आभ्यन्तरो
बाह्य । आद्य' पञ्चधा । स्पृष्टेष्वस्पर्ष्टेष्वद्विवृतविहृतसंघृतभेदात् । तत्र स्पृष्टं प्रयत्नं
स्पर्शानाम् । ईषस्स्पृष्टमन्त स्थानाम् । ईषद्विघृतनगूभणाम् । विघृत स्वराणाम् ।
इत्थस्यावर्णस्य प्रयोगे संघृतम् । प्रकियादशायाम् तु विघृतमेव । बाह्यप्रयत्नस्वेका-

प्रागर्ध्वविसर्गसहस्रो जिह्वामूलीय इति अग्रे मले एव उक्तम् । अनुस्वारस्येति । स्थानमिति
दीप । अनुस्वारस्य नासिकास्थानमस्तीति भावः । यज्ञो द्विधेति । यज्ञानामाभ्यन्तरार्धं
बाह्यत्वं च वर्णोत्पत्तेः प्रागूर्ध्वभाविष्यमिति पाणिन्याद्विशिष्यासु स्पष्टम् । यत्न इति ।
यत्ननाम्नोऽत्र प्रयत्नपरः । आद्य इति । आभ्यन्तरप्रयत्न इत्यर्थः । कथं पञ्चधा इत्यत
आह—स्पृष्टेत्यादिना । तत्रेति । स्पृष्ट, ईषस्स्पृष्ट, ईषद्विघृत, विघृत, संघृतेषु मन्थे
इत्यर्थः । प्रयत्नमिति । प्रयत्न इत्यर्थः । स्पर्शानामिति । स्पर्शवर्णानामित्यर्थः । के ते
वर्णा इति मूले स्फुटीभवित्यति । तथापि निर्दिश्यते अप्रापि-क ख ग घ ङ, च छ
ज झ ञ, ट ठ ड ढ ण, त थ द ध न, प फ ब भ म, कर्णोद्धारम्य मवर्णपर्यन्तम् ।
अन्त स्थानामिति । अरल्लवानामित्यर्थः । ऊभणामिति । दा प स ह इत्येतेषामित्यर्थः ।
स्वराणामिति । अ इ उ ऋ ए ओ ऐ औ इत्येतेषामित्यर्थः । प्रयोगे इति । शास्त्री-

नासिका—अनुस्वार () का उच्चारणस्थान नासिका है ।

यज्ञो द्विधा—यत्न (प्रयत्न) दो प्रकारका होता है—आभ्यन्तर और बाह्य ।

नोटः—'प्रकृतो यत्न प्रयत्न' अर्थात् वर्णोच्चारणके पूर्व हृदयमें जो यत्न करना
पड़ता है, उसी प्रयत्नको 'आभ्यन्तर प्रयत्न' कहते हैं । इसका अनुभव उच्चारण करने
वाले को ही होता है ।

दूसरा प्रयत्न मुख्यसे वर्ण निकलते समय होता है । इसका अनुभव घुनने वालेको भी
होता है, अतः वह 'बाह्यप्रयत्न' कहा जाता है । इसका उपयोग सवर्णसंज्ञामें नहीं होता,
किन्तु आन्तरतन्त्रपरिज्ञा अर्थात् कई वर्णोंमें परस्पर अल्पमत्त समानताका अन्वेषण करनेके
समयमें इसकी आवश्यकता पड़ती है ।

आद्य पञ्चधा—पहला—आभ्यन्तर प्रयत्न, पाँच प्रकारका है—१ स्पृष्ट, २. ईषस्स्पृष्ट,
३. ईषद्विघृत, ४ विघृत, ५. संघृत—इस भेदसे ।

तत्र स्पृष्ट—त्र (३२ वर्णोंमें) स्पृष्ट प्रयत्न स्पर्शका—'क' से 'म' पर्यन्त वर्णों का है ।

ईषस्स्पृष्ट—प्रयत्न अन्तःस्थोका—य व र ल ञ वर्णोंका, है ।

ईषद्विघृत—प्रयत्न ऊभणका—शुक्ल वर्णोंका है ।

विघृत—प्रयत्न स्वराका—अक्षरका है ।

संघृत—प्रयत्न उच्च अकारका प्रयोगवस्थामें—वर्तनिक्रिय सिद्धरूपमें, होता है ।

किन्तु प्रकियादशा—साधनिकावस्थामें, विघृत ही रहता है ।

बाह्यप्रयत्नस्तु—बाह्य प्रयत्न दो प्रकारके होते हैं—१ विहार, २. सवार,

दशधा । विवारः संवारः श्वासो नादो घोषोऽधोषोऽल्पप्राणो महाप्राण उदात्तोऽनु-
दात्तः स्वरितश्चेति । खरो विवाराः श्वासा अधोषाथ । इशः संवारा नादा घोषाथ ।
वर्गाणां प्रथमतृतीयपञ्चमा यणश्चारूपप्राणाः । वर्गाणां द्वितीयचतुर्थी शब्द महा-
प्राणाः । कादयो मावसानाः स्पर्शाः । यणोऽन्तःस्थाः । शपसहा ऊष्माणः । अचः

प्रक्रियाभिः परिनिष्ठितानां रामः कृष्णः इत्यादिशब्दानां प्रयोगे क्रियमाणे एव ह्रस्व-
स्यावर्णस्य संबृत्तत्वमित्यर्थः । प्रक्रियेति । शास्त्रीयकार्यप्रवृत्तिसमये दण्ड-आडक-
मित्यादौ सवर्णदीर्घादिकर्तव्ये तु विवृत्तत्वमेव । तेन सन्धिकार्यं निर्वाधमेव । एतत्सर्वं
'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन ज्ञापितमिति सिद्धान्तकौमुद्यां स्पष्टम् ॥ बाधेति । वर्णोऽप-
त्यनन्तरजातो यद्वो घाद्यप्रयत्न इत्युच्यते । खर इति । ख फ छ ठ थ च ट त क प
श ष स इति वर्णाः । विवारा इति । विवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । इश इति । इ य
व र ल ञ म ङ ण न ष्ट भ घ ड ध ज व ग ङ द इति वर्णा इत्यर्थः । संवारा इति ।
संवारादिप्रयत्नवन्त इत्यर्थः । अल्पप्राणा इति । कगळ, चजज, टहण, तद्न, पवम,
यरलव इत्येतेषां वर्णानाम् अल्पप्राण इति भावः । खष, छक्ष, ठठ, थध, फभ, शपसह
इत्येतेषां महाप्राण इत्यपि ज्ञेयम् । कादय इति । कख इत्यादिमपर्यन्तमिति पूर्व-
मुक्त्वा वर्णा इत्यर्थः । क आदिर्येषां ते कादयः, मः अवसानेयेषान्ते मावसाना इति ।

३. श्वास, ४. नाद, ५. घोष, ६. अधोष, ७. अल्पप्राण, ८. महाप्राण, ९. उदात्त,
१०. अनुदात्त, ११. स्वरित—इस भेदसे ।

नोटः—जिन वर्णोंका उच्चारण करते समय कंठका विकास हो, उनको 'विवार'
तदतिरिक्तको 'संवार' एवं जिन वर्णोंका उच्चारण करते समय श्वास चरुता हो उनको
'श्वास' जिनका उच्चारण नादसे हो उनको 'नाद' तथा जिन वर्णोंका उच्चारण करनेपर
गुंज होता हो उनको 'घोष' तदतिरिक्तको 'अधोष' एवं जिनके उच्चारण करनेमें प्राणनायु-
का अल्प उपयोग हो उन्हें 'अल्पप्राण' और अधिक उपयोग हो उन्हें महाप्राण कहते हैं ।

खर्—प्रत्याहारका विवार, श्वास और अधोष प्रयत्न है ।

इश—प्रत्याहारका संवार, नाद और घोष प्रयत्न है ।

वर्गाणां—वर्णोंके प्रथम (क व ट त प), तृतीय (ग ङ ड द ष), पञ्चम (छ ञ ण
न म) तथा यण (य व र ल) का अल्पप्राण प्रयत्न है ।

एवं वर्णोंके द्वितीय (ख छ ठ थ फ), चतुर्थ (घ क्ष ढ ध भ) तथा 'शल्' प्रत्याहार-
का महाप्राण प्रयत्न है ।

कादयो—'क'से'म'पर्यन्त (कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग) वर्ण स्पर्श कहलाते हैं ।

नोटः—जीमके अग्र (चोटी), उपाग्र (अग्रके समीपस्थ प्रदेश), मध्य (बीच) और
मूळ (आदि) भाग द्वारा कंठ, तालु प्रभृति स्थानोंको स्पर्श करके कवर्गादि वर्णोंका उच्चा-
रण होता है अतः इनका नाम स्पर्श वर्ण है ।

यण्—(य व र ल) अन्तःस्थ कहलाते हैं ।

स्वराः । ५६५ इति क्त्वाभ्यां प्रागर्धविसर्गघट्टशो जिह्वामूलीयः । ५६६ इति पक्त्वाभ्यां प्रागर्धविसर्गघट्टश उपभ्रमानीयः । अ अ इत्यच परावजुस्वारविसर्गौ ॥ अणुद्विरसवर्गस्य चाप्रत्ययः । १।१।६९। अविधीयमानोऽणु उद्विच सवर्णस्य संज्ञा स्यात् । अत्रैवाण परेण णकारेण । कुबुदुतुपृ एते उद्वितः । तदेवम् अ इत्यथा

यग इति । यणप्रत्याहारात्तर्गतवर्णाः 'यरलवा' इत्यर्थः । उपसहा इति । क्लृप्प्रत्याहारात्तर्गतवर्णाः स्वरा इति । स्वेन राजन्त इति स्वरा 'अ इ उ आ ऋ ए ओ ऐ औ' इति वर्णा इत्यर्थः । अणुद्विदिति । अणु अविधीयमानः सवर्णबोधक, उद्विच विधीयमानोऽपि सवर्णबोधको भवतीत्यर्थः । तेन 'अत उव' इत्यादी विधीयमाने इति न सवर्णग्रहणम् । 'कुहोरचुः' 'ओः कुः' इत्यादी विधीयमानेऽपि सवर्णग्रहणमिति भावः । अत्रैवेति । अस्मिन्नेव सूत्रे इत्यर्थः । अन्यत्र तु 'अणोऽप्रगृह्य' इत्यादी पूर्वणकारेण साह प्रत्याहारः । अत्र इत्याख्यातमेव शरणम् । 'पूर्वणवाणग्रहाः सर्वे परेणैव ग्रहा भवताः । अतोऽणुद्विरसवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥' इति भाष्यकारेणोक्तम् । उद्वित इति । उद्विचैव रूपेण बोधक । तदेवमिति । तत् 'अणुद्विच' सूत्रम्, एवं वच्यमाणप्रकारेण पठतीत्यर्थः । अत्राद्यानामिति । (१) इहोदात्तानुगासिक । (२) इह उदात्तानु० ।

मोटः—अन्त्यका मणव दे बीचवाळा । 'य व र ल' वर्ण स्वर और अक्षरके बीचके हैं अत ये अन्त्य कहलाते हैं ।

पाठ—(उ व स ह) क्यमा कहलाते हैं—इन वर्णोंके उच्चारणमें गर्भ वायुका प्राधान्य हो उन्हें क्यम वर्ण कहते हैं ।

अच—(अ इ उ आ ऋ ए ओ) स्वर कहलाते हैं ।

५६५—यहाँ पर ककार, खकारसे पूर्व विसर्गार्ध (५) के समान जो अक्षर है वह जिह्वामूलीय है ।

५६६—यहाँ पर पकार, फकारसे पूर्व विसर्गार्धके समान जो अक्षर है वह उपभ्रमानीय है ।

अं अ—यहाँ पर अकारसे परमें जो अक्षर है वह कमसे अनुस्वार, विसर्ग वाचक है ।

मोट—'न्' और 'म्' के स्थानमें अनुस्वार तथा 'रेफ' और 'स्' के स्थानमें विसर्ग होता है अत अनुस्वार-विसर्ग पृथक् वर्णों में नहीं गिने जाते ।

अणुद्विरसवर्णस्य—(जो विधान किया जाय वह प्रत्यय और उद्विच अथवा अच का है । इनके सूत्रार्थ यह हुआ कि)—

विसर्गक विधान किया गया हो ऐसा 'अणु' (प्रत्याहार) और उद्विच (कु बु द उ पृ) अथवा सवर्णके बोधक हों ।

अद्याम्—कैरक इती (अणुद्विच) सूत्रमें 'अणु' प्रत्याहार पर ('अणु' सूत्रमें) अकारसे समान, वाच्ये ।

दशानां संज्ञा । तथेकारोकारौ । ऋकारत्रिंशतः । एवं लृकारोऽपि । एचो षादशा-
नाम् । अनुनासिकाननुनासिकभेदेन ययला द्विधा । तेनाननुनासिकास्ते द्वयोर्द्वयोः
संज्ञा ॥ परः सन्निकर्षः संहिता । १ । ४ । १०९ । वर्णानामतिशयितः संनिधिः
संहितासंज्ञः स्यात् ॥ हलोऽनन्तराः संयोगः । १।१।७। अजिमरव्यवहिता हलः

(३) ह० अनुदा० अजु० । (४) ह० अनु० अननु० (५) ह० स्व० अ० । (६) ह० स्व०
अननु० । (७) दीर्घं उ० अ० । (८) दी० उ० अननु० । (९) दी० अ० अननु० । (१०) दी०
अ० अननु० । (११) दी० स्व० अ० । (१२) दी० स्व० अननु० । (१३) प्लुतउ० अ० । (१४) प्लु०
उ० अननु० । (१५) प्लु० अ० अननु० । (१६) प्लु० अ० अननु० । (१७) प्लु० स्व० अ० । (१८) प्लु०
स्व० अननु० । इत्येतेषामित्यर्थः ॥ तथेति । अनया रीत्या इकार-उकारयोरपि बोध्यम् ।
ऋकार इति । अनेन प्रकारेण ऋकारस्य अष्टादश । लृकारस्य दीर्घाभावात्, लृकारदीर्घ-
पटकं विहाय द्वादश । ऋकारलृकारयोः सावर्ण्यात् मिळित्वा त्रिंशत् इति भावः ॥ एव-
मिति । पूर्वोक्तप्रकारेणैव ॥ एच इति । द्वादशानां बोधकाः । तदेवम्-ए, ओ, ऐ, औ, इति
प्रत्येकं द्वादश इति भावः । ननु स्थानप्रयत्नयोस्तु खरवात् सावर्ण्येन ए ऐकारस्य, ओ
औकारस्य बोधकस्तेन षतुर्विंशतेः संज्ञकः एकारः, एवमोकारः स्यादिति चेद्, न ।
'एऔच्' इति पृथक्सूत्रत्वेन तयोः सावर्ण्याभावज्ञापकत्वात् । तेनेति । चवलाणां
प्रकारद्वयेन । परः सन्निकर्ष इति । परः अतिशयितः, सन्निकर्षः सामीप्यमर्धमात्रा-
सिककालम्यवधानाभावः । अर्धमात्राकालम्यवधानस्य असर्जनीयरवात् । तदेतदभि-
प्रेत्याह-अतिशयित इत्यादिना संहितेति । स्वभावसिद्धार्धमात्रातिरिक्तकालम्यवायशून्यः
संहिता इति भावः । संयोग इति । स्वरसंज्ञकवर्णैर्व्यवधानशून्या हलवर्णाः संयोगसंज्ञका
इत्यर्थः । इतिशक्ति । 'स्वौजसमौट्' इति सूत्रे सु इत्यारभ्य सुपः पकारेण प्रत्याहारः ।
न तु सप्तमीबहुवचनस्यैवात्र ग्रहणम्, व्याख्यानात् ॥ 'तिस्रसिं०' इति सूत्रे

हरिकारिका—परेणैवेण्प्रहाः सर्वे पूर्वैणैवाण्प्रहा मताः ।

ऋतेऽणुदित्सवर्णस्येत्येतदेकं परेण तु ॥

कुञ्जु—'कु' चु ड तु पु' ये उदित् कृष्णते है ।

तदेवं—तस्मात् इत् प्रकारसे यया 'अ' अष्टादश (१८) का संज्ञाबोधक है तथा इकार,
उकार भी अष्टादशका संज्ञाबोधक है । ऋकार (लृकारके सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञा-
बोधक है । एवं लृकार भी (ऋके सवर्ण होनेसे) तीसका संज्ञाबोधक है और एच् ('ए
ओ ऐ औ') ह्रस्व न होनेसे चारहका संज्ञाबोधक है ।

अनुनासिक—अनुनासिक और अननुनासिक भेदसे 'ब ब ङ' दो २ प्रकार के होते
हैं । इत्यर्थे अनुनासिक 'ब ब ङ' अनुनासिक, निरनुनासिक दोनोंका संज्ञाबोधक है ।

परः सन्निकर्षः—दनोंकी अत्यन्त सन्निकर्षी संहितासंज्ञा हो ।

हलोऽनन्तराः—'अच्' वर्णके अन्वयानसे रहित व्यंजन वर्णोंकी संयोगसंज्ञा हो ।

सयोगसंज्ञा' स्युः ॥ सुसिद्धन्तं पदम् ॥ १॥ १४॥ सुबन्तं तिष्ठन्त च पदसंज्ञं स्यात् ॥
इति सन्ध्युपयोगि सज्ञाप्रकरणम् ॥ १ ॥

अथ अचसन्धिः

इको यणचि । ६ । १ । ७७ । इक स्थाने यण स्यादचि संहितायां विषये ।
सुधी उपास्य इति स्थिते ॥ तस्मिन्निति निर्दिष्टे पूर्वस्य । १ । १ । ६६ । सप्तमी

ति इष्यारभ्य महिष्ठो लकारेण प्रत्याहार । सुप् च तिङ् च सुसिद्धौ, तावन्ते यस्य
तव सुसिद्धन्त शब्दस्वरूपम् इति शब्दशास्त्रप्रस्तावाश्रम्यते । अन्तशब्दश्च प्रत्येक
सम्बध्यते तदेतदभिप्रेत्याह—सुबन्तमित्यादिना । इति सज्ञाप्रकरणम् ।

इक स्थान इति । इक इति षष्ठी, 'षष्ठी स्थाने योगा' इति सूत्रेण स्थान इति
लभ्यते । स्थानञ्च प्रसङ्ग । तथाहि—इकामुच्चारणप्रसङ्गे यणामुच्चारणं कर्तव्य
मित्यर्थं ॥ सुधी इति । अचि चिन्तायामिति धातो 'प्यायते' सम्प्रसारणञ्च इति क्विपि
यकारस्य सम्प्रसारणे इकारे पूर्वरूपे 'हलश्च' इति दीर्घे धीशब्दो निष्पन्नः । शोभता
धीर्घेपान्ते सुधिय । सुधीभि उपास्य, सुध्युपास्य ॥ अथ सुधी उपास्य इति स्थिते ।
तस्मिन्निति निर्दिष्टे । तस्मिन्निति सूत्रगतसप्तम्यन्तस्यानुकरणम् । निरु हायस्य नैरन्तर्य
मर्थं । द्विद्वारश्रोत्राचारणार्थं । तेनायमर्थ—अचि यण् भवतीत्युक्ते भ्यवहितेऽभ्यवहिते

सुसिद्धन्तम्—सुबन्त भोर तिङन्तकी पदसंज्ञा हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें सज्ञाप्रकरण समाप्त हुआ ।

इको यणचि—'इक्' के स्थानमें 'यण्' आदेश हो 'अच' पर रहने पर-सहितके
विषयमें ।

नोट—(क) 'इ' के बाद इभिन्न स्वर वर्ण रहने पर इके स्थानमें 'य' होता है ।

(ख) 'उ' के बाद उभिन्न स्वर वर्ण रहने पर उके स्थानमें 'व' होता है ।

(ग) 'ऋ' के बाद ऋभिन्न स्वर वर्ण रहने पर ऋके स्थानमें ऐक होता है और
वह पर वर्णमें युक्त हो जाता है ।

(घ) 'ल' के बाद लभिन्न स्वर वर्ण पर रहनेपर लके स्थानमें 'ल्' हो जाता है ।

सहिता विषय—सहिता सञ्ज्ञाविषयक सूत्र कह चुके हैं । वह सहिता सर्वत्र नित्य
होती है । केवल वाक्यमें वक्ताकी इच्छा पर रहता है । कहा भी है—

सहितैकपदे नित्या नित्या भावूपसर्गयो । नित्यासमासे वाक्ये तु सा विवक्षामयेवते ॥

तस्मिन्निति—सप्तम्यन्त पदका उच्चारण करके विधीयमान ओ कार्य वह वाच्यरते
अभ्यवहित पूर्वके स्थानमें हो ।

निर्देशेन विधीयमानं कार्यं वर्णान्तरेणान्यवहितस्व पूर्वस्य हेयम् ॥ स्थानेऽन्तर-
तमः । १।१।५०। प्रसङ्गं सति सदृशतम आदेशः स्यात् । सुधूय् उपास्य इति जाते ॥
अनचि च । ८।४।४७। अचः परस्य यरो द्वे वा स्तो न त्वचि । इति घस्य
द्वित्वम् ॥ झलां जश् झशि । ८।४।५३। झलां जश् स्यात् झशि परे । इति पूर्वध-
स्य दः ॥ संयोगान्तस्य लोपः । ८।२।२३। संयोगान्तं यत्पदं तस्य लोपः स्यात् ॥
अलोऽन्त्यस्य । १।१।५२। पष्ठीनिर्दिष्टोऽन्त्यस्याल आदेशः स्यात् । इति यलोपे
प्राप्ते । (यणः प्रतिषेधो चाच्यः) । सुद्धपुपास्यः । मद्ध्वरिः । घात्रंशः । लाकृतिः ॥

ऽप्यचि प्राप्तेऽप्यवहितं प्वेति नियम्यते । स्थानेऽन्तरतमः । स्थानं प्रसङ्गः इत्थुक्त्म् ।
अन्तरशब्दोऽत्र सदृशपर्यायः । अतिशयोऽन्तरः अन्तरतमः तदाह—प्रसङ्गे सतीत्या-
दिना । प्रसङ्गः शास्त्रप्रसक्तिः । अनचि च । 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा' इत्यतो
यरः इति वा इति चानुवर्तते । 'अधो रहाम्यां द्वे' इत्यतः अच इति द्वे इति चानुवर्तते ।
अनचि इति न पर्युदासः, तथासति अजिमन्ने हलीत्यर्थः श्यात् तदाह—अचः परस्येत्या-
दिना । संयोगान्तस्य । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । संयोगः अन्तो यस्येति विग्रहः । संयोगा-
न्तस्य पदस्य लोप इत्यन्वयः । अलोऽन्त्यस्य । अलिति प्रत्याहारः । अल इति पष्ठयन्त-
म् । 'पष्ठी स्थाने योगा' इत्यतः पष्ठी स्थाने इत्यनुवर्तते । तच्च पष्ठीति प्रथमान्तवृत्ती-
यान्ततया विपरिणम्यते । निर्दिष्टस्येति शेषः । स्थाने इत्यनन्तरं विधीयमान इति
शेषः । स्थाने विधीयमान आदेशः पष्ठीनिर्दिष्टस्य यः अन्यः अल् तस्य स्यादित्यर्थः ।
तदाह—पष्ठीत्यादिना । यणः प्रतिषेध इति । यणः संयोगान्तलोपप्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः ।
'इको यणचि' इति सूत्रेण अजव्यवहितपूर्व इक्-धकारोत्तरवर्ती ईः तस्य स्थाने 'स्था-
नेऽन्तरतमः' इति सूत्रेण 'य्' न तु 'वरलाः' आन्तरतम्याभावात् । 'सुधूय् उपास्य' इति
जाते 'अनचि च' इति सूत्रेण धकारस्य द्वित्वे 'झलांजश् झशि' इति सूत्रेण प्रथमध-

स्थाने—प्रसङ्ग रहनेपर सदृशतम आदेश हो—अर्थात् एक स्थानोके स्थान पर एक ही
साय कई आदेशोंकी प्राप्ति होनेसे उनमें जो सबसे अधिक स्थानोके सदृश हो वही आदेश हो ।

अनचि च --अन्ते परे यर् को विकल्पसे द्वित्व हो । परन्तु उसी यर् के परे यदि अच्
भी रहे तो द्वित्व नहीं हो ।

झलां जश्— झलांके स्थानमें जश् आदेश हो झश् परे रहने पर ।

संयोगान्तस्य—जिस पदके अन्तमें संयोग (संयुक्त अक्षर) हो उसके अन्य अक्षरका
लोप हो ।

अलोऽन्त्यस्य—पष्ठीनिर्देशसे विधीयमान जो कार्य वह अन्य 'अल्' के स्थानमें हो-
अर्थात् पष्ठयन्तका निर्देश कर अहाँ (जिस उदाहरणमें) आदेशका विधान किया गया हो
वहाँ अन्य वर्णको आदेश हो ।

एचोऽयवायाघ ।६।१।७८। एचः क्मात् अच्, अच्, आच्, आच्, एते
सुरवि ॥ यथासंख्यमनुदेशः समानाम् ।१।३।१०। समसम्बन्धी विधियया
सह्य स्यात् । हरये । विष्णवे । नायक । पाषक ॥ घान्तो यि प्रत्यये ।६।१।७९।

कारस्य दकारे सुद्धम् उपास्य इत्यवस्थायां 'सयोगान्तस्य लोप' इति सूत्रेण यका
रस्य लोपे प्राप्ते 'यण' प्रतिषेधो वाच्य' इति वार्तिकेन यलोपनिषेधे सति सुद्ध-
पास्य इति रूप सिद्धम् ॥ मद्धरि इति ॥ मधो अरि मद्धरि । मधुनामकद्वैपस्य
अरि-शत्रु-श्रीकृष्ण इत्यर्थः ॥ अत्र सात्प्रते-अधु अरि इति स्थिते 'इको यणचि' इति
सूत्रेण अत्रम्यवहितपूर्वावविशिष्ट इकू चकारोत्तरवर्ती 'उ' तस्य स्थाने 'स्थानेऽन्त-
रतम' इति परिभाषया (वकारस्य दन्त्योत्पन्न-उपपन्नाभीभाजामोहो उभयो
उकारवकारयो स्थानसाभ्यात्) 'व' जाते 'मध् व अरि' इत्यवस्थायाम् 'अमचि च'
इत्यनेन द्वित्वे 'सलां जज्ञ क्षणि' इत्यनेन चकारस्य दकारे 'सयोगान्तस्य लोप'
इति सूत्रेण लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्य' इत्यनेन निषिद्धे सति मद्धरि, इति
रूप सिद्धम् । घात्रु इति । घातु अक्ष घात्रुषः । घातु अक्ष इति स्थिते 'इको
यणचि' इत्यनेन अत्र स्थाने स्थानेऽन्तरतमपरिभाषया रूकृत । अत्रापि 'सयोगान्तस्य
लोप' इति लोपे प्राप्ते 'यणः प्रतिषेधो वाच्य' इत्यनेन निषिद्धे 'घात्रुः' इति
सिद्धमवति ॥ आकृतिरिति । लुरिच आकृति यस्य स इति विग्रह इति भाष । लृ
आकृति इत्यत्र 'इको यणचि' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यात् लृ इत्यस्य स्थाने लृ इति,
अत्रापि लोपे प्राप्ते निषिद्धे सति अक्षीर्णं परेण संयोज्य लाकृतिः इति रूपं सिद्धम् ॥
एचोऽयवायाघ । अच् च अच् च आच् च आच् चेति विग्रह । 'इको यणचि' इत्यतोऽ-
धीत्यनुवर्तते । यथामेकपरिभाषया एकारस्य अच् ओकारस्य अच् ऐकारस्य आच्
औकारस्य आव इति लभ्यते । तदाह-एच क्मादिति । समसम्बन्धीति ॥ समानामिति
यदि कर्मणि षष्ठी तर्हि स्थान्यादिभि समसक्यानां यत्र विधानं तत्रैव यथासक्य-
मित्यस्य प्रवृत्तिः, यथा-एचोऽयवायाघ' इत्यत्र, न तु 'समूहाकृतजीवेषु हन् कृञ्-
प्रह' इत्यत्र । तत्र विधेयस्य 'णमुळ' इत्यस्य पक्षत्वात् । अतः समानामिति
सम्बन्धे षष्ठी इति भावः ॥ हरये इति । हरे-ए इति स्थिते 'एचोऽयवायाघ' इत्यनेन

यण- 'सयोगान्तस्य लोप' इति सूत्रेण एह वार्तिके हे, अत एतका अर्थ एह होता है कि-
सयोगान्त पदके अन्तिम वर्ग यन्के लोपका प्रतिषेध कदना चाहिये-अर्थात् एतका
लोप नहीं हो ।

एचो-एच्के परे अच् रहे तो एच्के स्थानमें क्यते अच्, अच्, आच्, आच्
जादेइ हो ।

यथासक्य-समसम्बन्धी विधि संस्वानुसार हो ।

लोपः-स्थानो लोप कदरेकको समाप्त लक्षणा होने पर जादेइको प्रकृति कर्मते

अर्थात् प्रकर्मको प्रथम, द्वितीयको द्वितीय, तृतीयको तृतीय इति प्रकारसे होती है ।

घान्तो-वकारादि प्रत्ययके परे 'घोत-भौत' को घान्त (अच् आच्) जादेइ हो ।

यादौ प्रत्यये परे ओदौतोरवाभौ स्तः । गम्यम् । नाव्यम् । (अध्वपरिमाणे च) ।
गम्यूतिः ॥ धातोस्तत्रिमित्तस्यैव । ६।१।८०। यादौ प्रत्यये परे धातोरेषध्वेदान्ता-
देशस्तर्हि तत्रिमित्तस्यैव नान्यस्य । लव्यम् । अवश्यकत्वम् । तत्रिमित्तस्य किम् ।

पृच्प्रत्याहारघटको हरे इत्यत्र रेफोत्तरवर्ती एकारः तस्य स्थाने अच् आदेशो जातः
अच्प्रत्याहारघटक प्रकारे परे । तेन 'हरय् प्' इति जाते अच्चीनं परेण संयोज्यम्,
हरये इति सिद्धम् ॥ विष्णवे इति । विष्णो प् इति स्थिते 'पृचोऽयवायावः' इत्यनेन
अचि प्रकारे परे 'विष्णो' अत्रस्यो य ओकारः तस्य स्थाने अच् आदेशः कृतः ॥
विष्णव् प् इति जाते मिलित्वा विष्णवे इति रूपं सिद्धम् ॥ नायक इति । नै-अकः अत्र
आय् आदेशः, पौ-अकः अत्र आय् आदेशः 'पृचोऽयवायावः' इत्यनेन इति भावः ॥
यकारादाविति । 'यस्मिन्विधित्तदादावल्ग्रहणे' इति परिभाषया तदाविलाभेन यका-
रादौ इत्यर्थस्य लाभ इति भावः ॥ गम्यमिति । गोशब्दात् 'गोपयसौर्यत्' इत्यनेन
विकारायं यति प्रत्यये रूपम् ॥ अत्र गो-यम् इति स्थितौ ओकारस्य अध्वपरकत्वाभा-
वात् 'पृचोऽयवायावः' इत्यनेन अवादेशाप्राप्ती 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यादि-
प्रत्ययः-य इति, तस्मिन् परे 'अच्' आदेशो कृते गम्यम् इति रूपं सिद्धम् ॥ नाव्य-
मिति । 'नौ-यम्' इति स्थिते 'वान्तो यि प्रत्यये' इत्यनेन यकारादौ प्रत्यये परे अच्
आदेशो कृते 'नाव्यम्' इति भवति । प्राचा तार्यं नाव्यमित्यर्थः ॥ अध्वपरिमाणे चेति ॥
मार्गपरिमाणे अर्धे गम्यमाने ओकारस्य स्थाने अच् आदेशो भवति यूतिशब्दे परे ।
यथा-नो-यूतिः इत्यत्र 'अध्वपरिमाणे च' इत्यनेन अवादेशेन गम्यूतिः इति रूपं
सिद्धम् ॥ 'गम्यूतिः स्त्री क्रोशयुगम्' इत्यमरः । क्रोशयुगस्य संज्ञैवेति भावः । ननु
ओयते औयत इत्यत्रापि ओकारस्य औकारस्य च 'यान्तो यि' इति वान्तादेशः
स्यादित्याशङ्क्य 'वान्तो यि' इति सूत्रं नियमयति-धातोस्तत्रिमित्तस्यैवेति । पृच् इति
वान्तो यि प्रत्यय, इति चानुवर्तते । सः यादिप्रत्ययः निमित्तं यस्य सः तत्रिमित्तः ।
यादिप्रत्यये परे धातोरेचो भवन् वान्तादेशः यादिप्रत्ययनिमित्तकस्यैव पृचो भवति
नान्यस्येत्यर्थः । तदाह-यादौ प्रत्यय इत्यादिना । लव्यमिति । लृञ् छेदने । 'अचो यत्'
इति यति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्युकारस्य गुणः ओकारः, तस्य धारवचय-
वत्त्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । अवश्यकत्वमिति । 'ओरवश्यके'
इति लृञो ण्यत् । 'अचो ष्णिति' इति इत्युकारस्य वृद्धिः औकारः । अत्र औकारस्य
आत्वचयवत्त्वात् यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वाच्च वान्तादेशः । तत्रिमित्तस्यैवेति किमिति ।

अध्व-अध्व मार्ग, उसका परिमाण (नाप) वाच्य हो तो मोहभ्रमको यूति शब्दके
परे वाच्य आदेश हो ।

धातोः-यकारादि प्रत्ययके परे धातुसम्बन्धी एचको कति वाच्य आदेश हो तो यका-
रादि प्रत्ययनिमित्तक एचको ही हो-इसारे को नहीं ।

श्रोयते । श्रोयत ॥ श्रय्यज्यौ शक्यार्थे । १।१।८१। यान्तादेशनिपातनार्थमिदम् ।
 श्रय्यम् । अच्यम् । शक्यार्थे किम् । चेत्तु जेतु योयं श्रेय पाप लेय मन ॥ श्रय्य-
 स्तदर्थं । ३।१।८२। तस्मै प्रकृत्यप्यदिदं तदर्थम् । अन्तारः क्रीणीगुरिति बुद्ध्या आपणे
 प्रसारितं श्रय्यम् । श्रेयमन्यत् । श्रेयणार्हमित्यर्थ ॥ अदेङ् गुणः । १।१।२। अदेङ् अ गुणसङ्ग
 स्यात् ॥ तपरस्तत्कालस्य । १।१।७०। तः परो यस्मात् तात्पर्यो वा उच्चार्यमाणो
 वर्णः समकालस्यैव सहा स्यात् ॥ आद् गुण । ६।१।८७। अवनोदपि परे पूर्वपरयो
 रेको गुणादेश स्यात् । उपेन्द्र । रमेश । गङ्गोदकम् ॥ उपदेशोऽञ्जनुनासिक

नियमस्य किं प्रयोजनमित्यर्थः । श्रोयत इति । आङ्पूर्वाद् वेञ् कर्मणि लट्, यगात्पते
 पदे यज्ञादित्वात्सम्प्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृत्' इति दीर्घः । आद्गुणस्य परादिवच्चावेन
 धातोरेच्चेऽपि यादिप्रत्ययनिमित्तकत्वं नास्तीति भावः । श्रोयत इति । वेञ् कर्मणि लट्,
 यगादि प्राग्वत् । 'आङ्जादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धिः । श्रय्यमिति । 'शक्ति लिङ्
 च' इति यत् आङ्गत्याः । श्रेयमिति । 'अहं हृयत्तुचञ्च' इति यत् । प्रकृत्यर्थमिति । प्रकृ-
 त्यर्थो द्रव्यविनिमयः । श्रेयमन्यदिति । गृह्णावौ भोजनाद्यर्थं संगृहीतं धान्यादीत्यर्थः ।
 अदेङ् गुणः । सहाभिरतावात् सन्नेति लभ्यते । अच्यपृच्चेति समाहारइन्द्रः । तदाह-
 अदेङ् चेत्यादिना । त पर इति । तपरपदे बहुमीहितत्पुण्यसमासद्वयं व्यापयानादतो
 मृत्तावाह-य परो यस्मात्तात्पर्येति । आद्गुण इति । 'इको यणचि' इत्यतो अचि इति
 'एक' पूर्वपरयो' इति सम्पूर्णसूत्रमनुवर्तते अत आह-अचि परे पूर्वपरयोरिति ॥ उपेन्द्र
 इति । उपेन्द्रः इति स्थिते अत्र 'आद्गुण' इति सूत्रेण पूर्वपरयो अकार-इकारयो-
 रेषाने गुणसङ्गक कण्ठतालुस्थानक एकारो ज्ञातः । तेन 'उपेन्द्रः' इति रूप सिद्धम् ।
 गङ्गोदकमिति ॥ गङ्गा-उदकम् इति स्थिते 'आद्गुण' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयो

श्रय्य—शक्यार्थेने श्रय्य अच्य निपातन हो ।

श्रय्य—प्रादक खरीदे इस बुद्धिसे जो वस्तु बाजार में फैलाकर रखी जाय, वह यदि
 वाच्य हो तो 'श्रय्य' निपातन हो ।

अदेङ्—इस अकार और ए-भोको गुणसङ्ग हो ।

तपर—त रहे परमें अपन ठकार से पूर्व उच्चार्यमाण जो स्वर वर्ण वह अपने सम
 कालका सहायोक्त हो ।

जोड—इस श्रुत्यपिसे 'त परो यस्मात्' तपर और 'तात्पर' तपर दो अर्थ निकलते हैं
 अत्र श्रुतिमें 'वा' कथा गथा है । शीमोका उदाहरण इसी सूत्रमें 'अच्य-एङ्' है । यहाँ अकारसे
 परे ठकार है अतः इस 'अ' को तथा ठकारसे परे 'एङ्' है अतः एङ्से 'य' को मात्राकी गु-
 ण सहा होटी है—न कि मा और ए को ही ।

आद्गुण—अवने से परे अच् हो तो पूर्व-पर के स्थानमें एक गुण आदेङ् हो ।

उपदेशो—उपदेशावस्थामें अनुनासिकविकृष्टि जो अच् वह इसलिये हो ।

द्वत् १।३।२। उपदेशेऽनुनासिकोऽजितसंज्ञः स्यात् । प्रतिष्ठानुनासिक्याः पाणिनीयाः ।
 लण्प्रत्ययावर्णने षहोच्चार्यमाणो रेफो रलयोः संज्ञाः ॥ उरण् रपरः । १।१।५१।
 ऋ इति त्रिशतः संज्ञेत्युक्तं तत्स्थाने योऽण् ष रपरः सन्नेह प्रवर्तते । कृष्णद्विः ।

आकार-उकारयोः स्थाने ओकारे कृते गङ्गोदकमिति सिद्धम् । उपदेशेऽजित् । उपलब्ध
 आद्यर्थकः । द्विशिखारणक्रियायाम् । भावे घञिति भावः । एतच्च 'आदेच ष-
 देशे' इत्यादिसूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । 'धातुसूत्रगणोणादिवाक्यलिङ्गानुशासनम् । आग-
 मप्रत्ययादेशा उपदेशाः प्रकीर्तिताः ॥' इति प्राचीनकारिका तु प्रौढमनोरमायां बहुधा
 दूषिता । सूत्रे अजिति कुरवाभावः भार्गवः । अजिसंज्ञः स्यादिति विवरणे कृत्वाभापो-
 ऽसंदेहायः । प्रतिशति । प्रतिज्ञायते इति प्रतिज्ञा । अनुनासिकस्य भावः आनुनासिक्यश्च ।
 प्रतिज्ञा आनुनासिक्यं येषान्ते प्रतिष्ठानुनासिक्याः । लण्प्रत्ययेति । 'लण्'सूत्रे
 तिष्ठतीति लण्प्रत्ययः स चाऽसौ अवर्णश्च लण्प्रत्ययावर्णः तत्र सहोच्चार्यमाणो
 रेफः 'र' इत्येवंरूपः रेफलकारयोः संज्ञेत्यर्थः । उरणि । उः इति 'ऋ' इत्यस्य षट्-
 कवचनम् । त्रिशत इति । 'अणुद्विसवर्णस्य चाप्रत्ययः' इत्यनेनेति भावः । तत्स्थाने
 इति । 'स्थानेऽन्तरत्तमः' इत्यतः स्थानेऽप्रहणमनुवर्तते । 'विधौ परिभाषोपतिष्ठते
 नानुवादे' इति परिभाषया 'उरण् रपरः' इत्यत्र 'पठोस्थाने योगा' इति परिभाषा
 नोपतिष्ठते इति भावः । रपरः सन्नेवेति । अत्र 'र' इति प्रत्याहारो ब्राह्मणः । तेन रेफशि-
 रस्कः लकारपरकश्च प्रवर्तते । कृष्णद्विरिति । कृष्ण-ऋद्धिः इति स्थिते अत्र 'आद्य-
 गुणः' इति सूत्रेण कृष्ण इत्यस्य णकारोत्तरवर्ती अकारः तस्मात् अचि परे-
 ष्टकारे परे पूर्वपरयोः-अकारऋकारयोः स्थाने गुणे प्राप्ते-गुणसंज्ञकाश्च 'अदेऋणः'

प्रतिज्ञा—गणिनिके कहे हुए वर्णोंका अनुनासिक होना उनकी प्रतिज्ञा (सूत्रनिर्देश)
 से जानना चाहिये ।

नोटः—'सु' का उकार और 'सुप्' का पकार अनुनासिक है, इसका निश्चय 'प्रत्ययः
 परश्च' बहुषु बहुवचनम्, इत्यादि स्थलों में प्रथमैकवचनान्त और सप्तम्यैकवचनान्त पद-
 निर्देश से होता है ।

लण्प्रत्यय—'लण्' सूत्रस्य ज्ञे अवर्ण, तत्सदित उच्चार्यमाण जो रेफ वह र-उक्ता
 संज्ञाबोधक हो ।

नोटः—इकारादिभ्रकार उच्चारणार्थः, लण्मध्ये विरसंज्ञकः, ऐसा कहा जा चुका है ।
 अतः इयवरट् सूत्रके 'र' तथा 'लण्' सूत्रके लकारोत्तर 'अ' को लेकर र् + थ = 'र' प्रत्याहार
 बनता है । यह भी अणादि प्रत्याहारके समान ही अपने मध्य वर्ण लकारका तथा षषवा
 भी बोधक है । इसीलिये आगेके सूत्रमें रपरसे लपर भी लिया जायगा ।

उरण—(तीस प्रकारके संज्ञाप्रकरणोंके) ऋ ल के स्थानमें क्वापमान धो धप्
 (क्वादेः) वह क्वासंज्ञक रपर और लपर होकर ही प्रकृत हो ।

तत्कारः ॥ लोपः शाकश्यस्य । ८।३।१५। अक्षरपूर्वस्यो पदान्तयोर्भवोर्षा
लोपोऽपि परे ॥ पूर्वत्रासिद्धम् । ८।३।१। अधिकारोऽयम् । तेन सपादसप्तम्याधी
प्रति त्रिपाद्यसिद्धा त्रिपाद्यामपि पूर्व प्रति परं शाक्यमसिद्धम् । हर इह । विष्ण इह ।

इति सूत्रेण अ ए ओ इति । एषां त्रयाणां मध्ये क. कर्तव्य ? एकारस्य तु कण्ठतालु-
स्थानमोकारस्य कण्ठ-ओष्ठस्थान पृथो ए ओ इति न भवत. आन्तरम्याभावात् ।
किन्तु परिशेषात् अ एव भवति । स च 'उरण् रपर' इति सूत्रेण रपर (रेफक्षि-
रः) सन् भवति । तेन कृष्णसिद्धि इति रूपम् ॥ तत्कार इति । 'तव-लकार.' इति
स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इति सूत्रेण षकारोऽपरवर्त्ती अकारः, तस्य लकारस्य च उभयो-
र्याने अरूपगुणे 'उरण् रपरः' इति सूत्रेण लपरे च कृते तत्कार इति रूपम्-
इति ॥ लोपः शाक्यस्येति । 'ओ भग्ने' इत्यत अपूर्वस्येति जशीति चानुवर्तते ।
'भ्योर्लघुप्रथम' इत्यत भ्योरित्यनुवर्तते अत आह-अवर्गेति । पूर्वत्रासिद्धमिति ।
याग्निप्रणीता अष्टाध्यायी तत्र अष्टमाध्याये द्वितीयपादस्येदमादिमं सूत्रम् । इत
प्राक्तनं कृत्स्नं सूत्रत्राळं सपादसप्तम्याधीति व्यवहियते । उपरितनन्तु कृत्स्नं सूत्रत्राळ
त्रिपादीति व्यवहियते इति भावः । हर इह इति ॥ हरे इह इति स्थिते 'पृचोऽयथा-
बावा' इत्यनेन अयादेनो कृते 'हरय इह' इति वशापायम् 'लोपः शाक्यस्य' इत्यनेन
अक्षरपूर्वकपदान्ते वर्तमानस्य 'य' हरयस्य विकल्पेन लोपः अचि 'ह' इति परे । तेन
हर इह इति ज्ञाते । अत्र शकृते-लोपानन्तरम् 'हर इह' इत्यत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन
गुणः कथं न भवति ? उत्तरम्-'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन सूत्रेण सपादसप्तम्या-
धीत्य 'आद्गुणः' इति सूत्रदृष्ट्या त्रिपाद्यो 'लोपः शाक्यस्य' इति
लोपोऽसिद्धः । तत्र चलोपे ज्ञातेऽपि चलोपोऽस्तीति भावनया 'आद्गुणः' इति
सूत्रार्थो न घटते इति भावः । लोपमावयचे-'हरयिह' इति । एवमेव 'विष्ण इह,

लोपः—अक्षरपूर्वक पदान्त एकार वकार का लोप हो, विकल्पसे, अशुके परे ।

नोट.—अकारमिन्न अक्षर वर्ण परे रहनेपर पदके अन्तमें विद्यमान 'ए'के स्थानमें और सामान्यतया स्वर वर्ण परे रहनेपर 'ए'के स्थानमें क्रमसे अय, अव, आद्, आव, होने पर एकार-वकार का विकल्पसे लोप होता है और लोप होनेपर पुन स्वरसन्धि नहीं होती ।

पूर्वत्रा—सपादसप्तम्याधीत्य सूत्र (शाक्य) के प्रति त्रिपादीत्य सूत्र असिद्ध हो और त्रिपादीमें भी पूर्वके प्रति पर सूत्र असिद्ध हो ।

नोटः—प्रथमसे अष्टम अध्यायके प्रथम पाद तक सपादसप्तम्याधी और अष्टम अध्यायके द्वितीय, तृतीय, चतुर्थ पादमात्र त्रिपादी हैं ।

हरयिह । विष्णविह ॥ वृद्धिरादैच् ॥ १११११ ॥ आदैश्च वृद्धिसंज्ञः स्यात् । वृद्धि-
रेचि ॥ ६।१।८८। आदैश्च परे वृद्धिरेकादेशः । गुणापवादः । कृष्णैकत्वम् । गङ्गोपः ।
देवैश्वर्यम् । कृष्णौत्कण्ठ्यम् ॥ पत्येषत्पूठ्सु ॥ ६।१।८९। अचर्णादिनायोरेत्येपत्यो-

विष्णविह' इत्यग्रापि बोध्यम् । वृद्धिरादैच् । आच्च ऐच्चेति इतरेतरयोगह्यङ्गः ।
'सुपां सुलुक्' इति औष्ठः सुलुग्वा । यद्वा समाहारह्यङ्गः । वृद्धिरेचि । 'आद्गुणः'
इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । तदाह—
आदेचोत्यादिना । गुणापवाद इति । 'आद्गुणः' इति प्राप्तावेतदारम्भादिति भावः ।
कृष्णैकत्वमिति । 'कृष्ण-एकत्वम्' इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन अवर्णात्-कृष्ण-
घटकणकारोत्तरवर्ति-अवर्णात्, एचि-एचप्रत्याहारवटक-एकारे-एकत्वम्' इति
रूपस्थाधैकारे परे पूर्वपरयोः-अ-ए, इत्यत्र वृद्धिसंज्ञकः-वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण
वृद्धिसंज्ञकेषु 'आ ऐ औ' इत्येतेषु 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन कण्ठस्थानिकाकारस्य
कण्ठतालुस्थानीयकारस्य च स्थाने कण्ठतालुसंज्ञकः आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः,
तेन कृष्णैकत्वमिति सिद्धम् । अनेनैव प्रकारेण गङ्गोपः, देवैश्वर्यम्, कृष्णौत्कण्ठ्यम्
इति बोध्यम् । सल्लुच्पस्तु गङ्गा-ओवः इति स्थिते अत्र 'वृद्धिरादैच्' इति सूत्रेण पूर्व-
परयोः आकारस्य ओकारस्य च स्थाने वृद्धिसंज्ञकः आन्तरतम्यः औ आदेशः । तेन
गङ्गोपः इति जायते । 'देव-ऐश्वर्यम्' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने ऐ आदेशे 'देवैश्वर्यम्'
इति । कृष्ण-औत्कण्ठ्यम् इति स्थिते अत्र पूर्वपरयोः स्थाने औ आदेशे 'कृष्णौत्कण्ठ्य-
म्' इति सिद्धमवति ॥ पत्येषत्पूठ्सु । पतिश्च पघतिश्च ऊठ् चेति विग्रहः । एतीति
पघतीति च 'इक्श्चित्पौ धातुनिर्देशे' इति श्रितपा निर्देशः । इण् गताविति, एष
वृद्धाविति च धातू विवक्षितौ । एचीत्यनुवर्तते । 'यस्मिन्विधिः' इति तदादिग्रहणम् ।
एजादाविति लभ्यते । तच्च एत्येषत्पूठ्सु विशेषणम् । न तु ऊठः असंभवात् । 'एकः
पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् । 'आद्गुणः' इत्यतः आदिति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह-

वृद्धिरादैच्-आत् (आ), ऐच् (ऐ औ) की वृद्धिसंज्ञा हो ।

वृद्धिरेचि-अवर्णोत्तरे परे 'एच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

गुणापवादः-यह सूत्र गुणका अपवादक है ।

नोटः-जहाँ २ वृद्धि की प्राप्ति होती है वहाँ २ 'आद्गुणः' की भी प्राप्ति होती है ऐसी
स्थिति में यदि गुण हो जाय तो वृद्धिविधान व्यर्थ हो जायगा । गुणविधान 'वपेन्द्रः' में
चरितार्थ है, इसलिये गुणका अपवाद 'वृद्धिरेचि' सूत्र हुआ । 'निरवकाशो विधि-
रपवादः' ।

पत्ये-अवर्णोत्तरे एजादि इण् धातु (पति), एष धातु (पघति) और ऊठ् परे हो तो
पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो ।

एठि च परे वृद्धिरेकादेशः स्यात् । पररूपगुणापवादः । उपैति । उपैषते । प्रधौह ।
 एजाद्योः ङिम् । उपेत । मा मवान्प्रदिषत् । (स्वादीरेरिणोः) स्वैरम् । स्वैरी ।
 स्वैरिणी । (अक्षादृहिन्यामुपसंख्यानम्) । अक्षौहिणी सेना । (प्रादूहोडोडये-
 द्यैष्येषु) प्रौह । प्रौठि । प्रौठि । प्रैष । प्रैष्य । (ऋते च तृतीयासमासे) ।

अवर्णादिर्यादिना । उपैतीति । उप-वृत्ति इति स्थिते अत्र 'एष्येधायूट्सु' इत्यनेन अव-
 र्णादेजादि इण् घातु-एष घातु-ऊट्सु परेषु पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवती-
 त्पर्यन्तेन, अवर्णात्-उप इत्यत्र एकारोत्तरवृत्ति-अवर्णात्, एजादि' इण् घातु'—एठि
 इति, तत्र परे पूर्वपरयोः 'अ-ए' इत्यत्र वृद्धिसञ्ज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशो जातः,
 तेन उपैति इति भवति । अत्र 'एठि पररूपम्' इत्यनेन पररूपस्य प्राप्तिरासीत्, पर
 ताम्भ्रमपवादात्स्यात् 'एष्येधायूट्सु' इत्यनेन थाप्यते । एवम्-'उप एषते' इति
 स्थितौ 'एष्येधायूट्सु' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम् 'उपैषते' इति रूपम् । 'प्रष्ट-ऊह'
 इति स्थिते अत्र 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'एष्येधायूट्सु' इत्यनेन त प्रथाप्य
 वृद्धौ सत्यां रूपम् । 'उप-इत, मा मवान् प्र इविषत्' इत्यत्र एजादिपरत्वाभावात्
 वृद्धिः, किन्तु 'आद्गुण' इत्यनेन गुणे रूपम्-'उपेत' इति, 'प्रैदिषत्' इति च ।
 अक्षौहिणीति अत्र अच-ऊहिनीति दशायाम् 'आद्गुण' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'अक्षा
 दृहिन्यामुपसंख्यानम्' 'अक्षशब्दादृहिनीशब्दे परे वृद्धिः स्यात्' इत्यर्थकवार्तिकेन
 वृद्धौ-'अक्षौहिणी' इति । प्रादूहोदेति । प्रशब्दात् ऊह-ऊट-ऊठि-एष-एष्यशब्दे परे
 पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धिरूपैकादेशो भवति । तथाहि-प्र-ऊहः, प्र-ऊठि, प्र-ऊटि, इत्यत्र
 पूर्वपरयोः स्थाने आन्तरतमो वृद्धिसञ्ज्ञक ओकारो जातस्तेन प्रौह, प्रौठ, प्रौठि,
 इति । प्र-एषः, प्र-एष्य, इत्यत्र वृद्धिसञ्ज्ञक आन्तरतम्य ऐ आदेशः । तेन प्रैष, प्रैष्य-
 इति रूपम् । अत्र पूर्वोक्तरूपत्रये 'आद्गुण' इत्यस्य; प्र-एष, प्र-एष्य, इत्यत्र च
 'एठि पररूपम्' इत्यस्य प्राप्तिरासीत्, तस्य चाधनाय 'प्रादूहोड' इति वार्तिक-
 मिति भावः । ऋते चेति । तृतीयासमासघटकावर्णात् ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने

पररूप-वह सून 'एठि पररूपम्' और 'आद्गुण' का अपवादक है ।

स्वादी—त्वञ्शब्दावयव अवर्णसे पर ईर और ईरिन् शब्दावयव अच् हो तो पूर्व-पर-
 के स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो ।

अक्षा—अक्षशब्दावयव अवर्णसे पर ऊहिनीशब्दावयव 'अच्' हो तो पूर्व-परके स्थानमें
 वृद्धिरूप एकादेश हो । (वह सून गुणका अपवादक है)

प्रादू—प्रशब्दावयव अवर्णसे पर ऊह, ऊट, ऊठि, एष, एष्य शब्दावयव अच् परमें हो
 तो पूर्व परके स्थानमें वृद्धिरूप एकादेश हो । (वह सून गुण और पररूपका वाक्य है)

ऋते च—अवर्णसे ऋतशब्दावयव अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धिरूप एक
 आदेश हो—एठीया समासमें । (वह गुणका वाक्य है)

सुखेन ऋतः सुखार्तः । तृतीयेति किम् । परमर्तः । (प्रवत्सतरकम्बलवसनार्णव-
शानामृणे) । प्रार्णमित्यादि ॥ उपसर्गाः क्रियायोगे । १।४।५९। प्रादयः क्रियायोगे
उपसर्गसंज्ञाः स्युः । प्र । परा । अप । सम् । अनु । अव । निम् । निर् । दुष् । दुर् ।
वि । आह् । नि । अधि । अपि । अति । सु । उत् । अमि । प्रति । परि । उप
एते प्रादयः ॥ भूषादयो घातवः । १।३।१। क्रियावाचिनो भ्वादयो घातुसंज्ञाः
स्युः ॥ उपसर्गादिति घातौ । ६।१।९१। अर्णान्तादुपसर्गादकारादौ घातौ परे
वृद्धिरेकादेशः स्यात् । प्राच्छति ॥ घा सुप्यापिशलेः । ६।१।९२। आहुपसर्गा-

वृद्धिरित्यर्थः । 'सुख-ऋतः' इति स्थिते अवर्णात्-सुख इत्यत्र स्वकारोत्तरवर्ति-अवर्णाद्
ऋतशब्दे परे पूर्वपरयोः 'अ ऋ' इत्यत्र वृद्धिसंज्ञके आकारे 'उरण रपरः' इत्यनेन
रपरे सति प्रवृत्ते 'सुखार्तः' इति सिद्धम् । परमर्त इति । 'परम ऋतः' इति स्थितेऽत्र
तृतीयासमासाभावात् न वृद्धिः किन्तु 'आद्गुणः' इति गुणे रपरे च रूपम् । प्रवत्सतरति ।
प्र-वत्सतर-कम्बल-वसन-ऋण-दश शब्दघटकाकाराद् ऋणशब्दे परे पूर्वपरयोः स्थाने
वृद्धिरूपैकादेशो भवतीत्यर्थः । प्र-ऋणं, वत्सतर-ऋणं, कम्बल-ऋणं, वसन-ऋणम्,
ऋण-ऋणं, दश-ऋणमिति स्थिते पूर्वपरयोः स्थाने आकाररूपवृद्धौ रपरे च प्रार्णव्,
वत्सतरार्णम्, कम्बलार्णम्, वसनार्णम्, ऋणार्णम्, दशार्णम् इति भवन्तीत्यर्थः । उप-
सर्गाः इति । क्रियया भन्वये सतीत्यर्थः । भूषादय इति । भूष्य वाक्ष्य भूषौ । आदिश्च आदिषु
आदी । भूषौ आदी येषान्त इति विग्रहः । भूप्रमृत्तयो घासदशा ये, ते घातवः इत्यर्थः ।
उपसर्गादिति घातौ । 'आद्गुणः' इत्यतः पञ्चम्यन्वस्याऽऽतोऽनुवर्तमानस्य च विशेषणत्वे-
न तदन्तविधौ लकारान्तात् इत्युपलब्धिः । ऋतीति तु यस्मिन्विधिरिति घातोर्विशेषणं
तेन च 'ऋकारात्' इत्युपस्थितिः । 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति अनुवृत्तिः । 'पृङ्
पूर्वपरयोः' इत्यधिकारस्याऽधिहृतत्वादेकादेश इत्यस्य लाभः । तेन अवर्णान्तादुपस-
र्गादकारादौ घातौ परे वृद्धिरेकादेश इति फलितोऽर्थः । प्राच्छतीति । 'प्र ऋच्छति' इति
स्थितेऽत्र ऋच्छतीत्यस्य क्रियावाचकत्वाद् 'भूषादयो घातवः' इत्यनेन घातुसंज्ञायाञ्च

प्रवत्सत-प्रशब्दावयव, वत्सतरशब्दावयव, कम्बलशब्दावयव, वसनशब्दावयव, ऋण-
शब्दावयव, दशशब्दावयव-अवर्णसंज्ञे परे ऋणशब्दावयव अच् हो तो पूर्व-परके स्थानमें वृद्धि-
रूप एकादेश हो । (यह गुणका बाधक है)

उपसर्गाः—क्रियाके योगमें प्रादिकी उपसर्गसंज्ञा हो । (प्रादि २२ हैं)

भूषादयो—क्रियावाचक भू आदिकी घातुसंज्ञा हो ।

उपसर्गा—अवर्णान्त उपसर्गसंज्ञे ऋकारादि घातवयव अच् पर में हो तो पूर्व-परके स्थान
में वृद्धिरूप एकादेश हो ।

घा सुप्या—अवर्णान्त उपसर्गसंज्ञे ऋकारादि सुधात् (नामधातु) पर में हो तो वृद्धि-
रूप एकादेश हो—विकल्पिते ।

रक्षारदौ सुञ्जातौ परे वृद्धिर्वा । आपिशक्तिप्रहण पूजार्थम् ॥ अचो रक्षार्थ्यां द्वे । १।८।४।४६। अच परान्यां रेफहकाराभ्यां परस्य यरो द्वे वा स्तः । इति प्राप्ते ॥ शरोऽचि । १।८।४।४९। द्वे न । प्रार्थमीयति । प्रथमीयति ॥ एङि पररूपम् । ६।१।२४। आहुपसर्गादेशदौ धातौ परे पररूपमेकादेशः । प्रेञ्जते । उपोपति ॥ अचोऽन्त्यादि ङि । १।१।६४। अचां मध्ये योऽन्त्यः स आदिर्बस्य तद्विचङ्ग स्यात् ।

'प्र' इत्यस्य क्रियायोगात् 'उपसर्गा' क्रियायोगे' इत्यनेन उपसर्गासञ्ज्ञायाम् 'उपसर्गा' इति धातौ' इत्यनेन पूर्वपरयोः स्थाने आरूपवृद्धौ परे च प्राप्स्यतीति सिद्धयति । वा ह्यपीति । 'उपसर्गा' इति धाता' इति पूर्वसुत्र सर्वमनुवर्तते । 'आहुणः' इत्यत आदिति 'वृद्धिरेचि' इत्यतो वृद्धिरिति चानुवर्तते । आदिश्यस्योपसर्गास्य विशेषणत्वेन तदन्तविधिः । प्रथयप्रहणेन तदन्तानां ग्रहणात् सुवित्यनेन सुबन्तप्रकृतिको धातुरिति विवक्ष्यते । अचो रक्षाम्यामिति । 'यरोऽनुनासिक' इत्यतो पर इत्यनुवर्तते । अच इति द्वियोगे पञ्चमी । अन्यतरत् स्पष्टमेव । शरोऽचि । अचि परे शरो न द्वित्वमित्यर्थः । प्रार्थमीयति । अचप्रमायन इच्छतीत्यर्थे 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि 'क्यचि च' इति सूत्रेणोत्प्रे कृति तिपि अचि पररूपे 'अपमीयति' इति रूपम् । तदनु 'प्र+अपमीयति' अत्रान्त्यायां पूर्वसुत्रेण वृद्धौ प्राप्तायां 'वा सुञ्जा' इत्यादिना वैकल्पिकवृद्धौ 'उरण् परत्' इति परत्त्वे 'प्रार्थमीयति' इत्यस्य सिद्धिः । वृद्धयभावे गुणे परत्त्वे 'प्रथमीयति' इत्यपि साधु । अत्रापि परो रक्षार' उत्परो यर् प्रकारस्तस्य द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति निषेधाच्च अयतीति समाधानम् । एङि पररूपम् । 'उपसर्गात्' इति 'धातौ' इति चाहु-वर्तते । आदिश्यस्य, उपसर्गादित्यनेन विशेषणत्वात्तदन्तविधिः । परिमन्त्रिधिरिति परिमापावताच्छदादिछासः । 'एक पूर्वपरयो' इत्यधिकारादेकादेशछासः । एवं चाव-र्णान्ताहुपसर्गादिधातौ धातौ परे पूर्वपरयो पररूपेकादेश इति निर्णयितोऽर्थः । प्रेञ्जते इति । 'प्र-पञ्जते' इति रिचते अत्र 'वृद्धिर्वाङ्' इत्यनेन वृद्धौ प्राप्तायां तां प्रबाध्य 'एङि पररूपम्' इत्यनेन पूर्वपरयो स्थाने पररूपेकादेशे 'ध' इत्याकारे कृते 'प्रेञ्जते' इति रूपम् । एवम् 'उप-ओचति' इत्यत्रापि पूर्वपरयो स्थाने पररूपे सति 'उपोपति' इति रूपं सिद्धमवति । अचोन्त्यादीति । अच इति निर्वर्तनी पञ्ची । अन्ते अच अन्यत् ।

अचो रक्ष—अचत् परे चो रेफ-रक्षार उत्परे परे चो यर् उत्परे द्वित्वे हो—विकल्पते । शरोऽचि—अचत् परे शर्को द्वित्वे नही हो ।

एङि—अचर्गन्त उपसर्गि रेफदि वाचकत्वात् अच् परमे हो तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो ।

नोऽ—पररूप होनेपर पूर्व वर्णका पर वर्णके समान रूप हो, याने पूर्व वर्ण (अ) का वृद्धन्त्यामाह हो वाच ।

अचो-अचोके मध्यमें चो अन्त अच् वृद्धि आद्य किछके अच सुहृदावली टिचंका हो ।

(शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्) तच्च टेः । शकन्धुः । कर्कन्धुः । कुष्ठटा । सीमन्तः केशवेशे । सीमान्तोऽन्यः । मनीषा । हृषीषा । लाङ्गलीषा । पतञ्जलिः । सारङ्गः पशुपक्षिणोः । साराङ्गोऽन्यः । आकृतिगणोऽयम् । (एवे चानियोगे) । क्षय

अन्य आदिर्यस्य तदन्त्यादीति विग्रहः । 'शकन्ध्वादिष्विति । शकन्ध्वादिषु शिन्धे तस्तिद्धपर्यं पूर्वपरयोः पररूपमित्यर्थः । तच्च टेः । तत्पररूपं टेर्भवतीत्यर्थः । शकन्धुरिति । 'शक-अन्धुः' इति स्थिते अत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घ प्राप्ते तं वाधित्वा 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे प्राप्ते एव पररूपं टेः—टिसंज्ञकस्य भवति । टिसंज्ञा च 'अचोऽन्यादि टि' इत्यनेन कञ्चोऽन्तवर्ति—अकारस्य भवति । एवञ्च 'शक-अन्धुः' इत्यत्र पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे सति 'शकन्धुः' इति भवतीति भावः । एवमेव 'कर्क-अन्धुः' इत्यत्र 'अचोऽन्यादि टि' इत्यनेन टिसंज्ञायाम् 'शकन्ध्वादिषु पररूपं वाच्यम्' इत्यनेन पररूपे 'कर्कन्धुः' इति भवति । 'मनस्-ईषा' इति स्थितेऽत्र 'अचोऽन्यादि टि' इत्यनेन सूत्रेण 'अस्' इत्यस्य टिसंज्ञायाम् पररूपे च 'मनीषा' इति सिद्धयति । 'मार्त-अण्डः' इति स्थिते प्रकृतपार्तिकेन पररूपे 'मार्तण्डः' इति जायते । कुलटैति । कुलानाम् अटैति विग्रहः । 'कुल+अटा' इति स्थिते 'शकन्ध्वादिषु' पाठपररूपे कुलटैति सिद्धिः । कुलानि अटतीति तु न विग्रहः । तथा सति कर्मणि षण् भवेत्तेन च 'टिडट्टाणञ्' ङीयापत्तिः । सीमन्त इति । केशवेशार्थं गम्ये 'सीमन्+अन्त' अत्रान्तः पररूपं भवतीत्यर्थः । अन्यथा तु सीमान्त इति । हृषीषा । हृलस्येति विग्रहः । लाङ्गलीषा । लाङ्गलस्येति विग्रहे पररूपम् । पतञ्जलिः । पतञ्+अञ्जलिः इत्यवस्थायार्थां पररूपे रूपसिद्धिः । सारङ्ग इति । 'सार-अङ्ग' इत्यवस्थायार्थां पशुपक्षयर्थं गम्ये पररूपं भवतीति वार्तिकार्थः । एवे चेति । नियोगोऽवधारणम् । अवधारणार्थं चाऽन्ययोगान्त्वस्यित्त्वम् । केवेति । अत्रेति न निश्चिनुमः । 'क+एव' इति वृद्धौ प्राप्तायां वार्तिक-

नोटः—'शक+अन्धुः' यहाँ पर 'शक' में जो ककारोच्चरवर्ती अकार है वह किसी के आदिमें नहीं है । इसलिये व्यपदेशिवद्भावसे यहाँ 'अ'की टिसंज्ञा होगी । परन्तु 'मनस्+ईषा' यहाँ पर मनस् में जो नकारोच्चरवर्ती 'अ' है, वह 'स्'के आदिमें है । अतः वहाँ 'अस्' की टिसंज्ञा होगी ।

शकन्ध्वादिषु—शकन्ध्वादि गणपठित शब्दोंकी सिद्धिके लिए पूर्व-परके स्थानमें पररूप एकादेश हो और वह पररूप टिको हो—ऐसा कहना चाहिये ।

सीमन्तः—केशका सन्निवेशविशेष वाच्य हो तो 'सीमन्तः' यह पररूपवदित निपातन हो ।

सारङ्गः—पशु-पक्षी वाच्य हो तो 'सारङ्गः' यह पररूपवदित निपातन हो ।

एवे—अवर्णसे पर 'एव' शब्द रहे तो पूर्व-परके स्थानमें पररूप प्रकृ बाधेस हो, अनिश्चय अपेमें ।

भोक्ष्यसे । अनियोगे किम् । तवैव । (ओत्वोष्ठयोः समासे वा) । स्पृजोतु ।
 स्पृजोतु । विम्बोष्ठ । विम्बोष्ठ । समासे किम् । तवोष्ठ ॥ ओमाहोश्च । ६।१।
 ६५। ओमि आङि चात् परे पररूपमेकादेशः स्यात् । शिवायोनम । शिव आ इहि
 इति स्थिते । शिव एहि । शिवेहि ॥ अक सवर्णे दीर्घः । ६।१।१०१। अक
 षवर्णेऽचि परे दीर्घ एकादेशः स्यात् । दैत्यारिः । श्रीश । विष्णुद्वय । (अति

बलात् तं बाधित्वा पररूपम् । 'ओत्वोष्ठयोरिति' । ओत्वोष्ठयोः शब्दयोः परत
 समास एव पररूप भवति । तच्च वैकल्पिकमेव । स्पृजोत्तरिति । स्पृजोत्तरासी
 ओत्तरपेति विग्रहः । वृद्धि बाधित्वा परत्वाद्द्विभेदविहितत्वाच्च वैभाषिके पररूपे कृते
 षष्ठरूपसिद्धिः । तदभावे वृद्धौ कृतायां स्पृजोत्तरिति सिध्यति । विम्बोष्ठ । विम्ब-
 म्बिब ओष्ठो यस्येति विग्रहे 'विम्ब + ओष्ठ' इति स्थितौ वृद्धि प्रदाप्य 'ओत्वोष्ठयोः'-
 रित्यनेन पररूपे सति स्पष्ट रूपसिद्धिः । तस्य वैकल्पिकत्वेन पररूपाभावे वृद्धौ
 एतायां विम्बोष्ठ इत्यपि ससिध्यति । शिवायो नम इति । 'शिवाय-ओ नम' अत्र
 'ओमाहोश्च' इत्यनेन अवर्णात् ओमि परे पूर्वपरयोः स्थाने पररूपे 'शिवायो
 नम' इति भवति । शिवेहीति । 'शिव=आ-इहि-इति स्थिते अत्र 'आदूप
 सर्गयोः' कार्यमन्तरङ्गम्' इति परिभाषया पूर्वम् 'आ-इहि' इत्यत्र 'आदुगुणः'
 इत्यनेन गुणे पृथीति जाते तत्र 'अन्तादिषु' इत्यनेन सूत्रेण अन्तवद्भावमादाय
 'ओमाहोश्च' इत्यनेन पररूपे कृते सति 'शिवेहि' इति रूपसिद्धिर्योष्या । 'अक सवर्णे'
 इति । अक इति पद्यमी । 'इको षवर्णाच्च' इत्यतोऽचीर्यनुवर्तते । 'एक पूर्वपरयोः'
 रित्यधिकारः । सावर्ण्यं च स्थानतः प्रयतनतश्च । 'अकोऽकि दीर्घ' इत्येव सुलक्षम् ।
 दैत्यारिरिति । दैत्यानाममुराणाम्, हरिः— शत्रुरिति विग्रहः । सिद्धिप्रकारस्तु—'दैत्य-
 हरि' इति स्थिते अत्र 'अक सवर्णे दीर्घ' इत्यनेन सूत्रेण सवर्णेऽचि-अकारे परे
 पूर्वपरयोः स्थाने सवर्णदीर्घादेशे कृते सति 'दैत्यारि' इति भवति । 'श्री-ईष्'
 अत्रापि 'अक सवर्णे दीर्घ' इत्यनेन पूर्वपरयोः—'ई-ई' इति स्थाने सवर्णदीर्घादेशे
 'श्रीश्च' इति भवति । एवमेव 'विष्णु-उद्वय' इति स्थिते प्रकृतसूत्रेण सवर्णदीर्घादेशे
 'विष्णुद्वय' इति रूपम् । अति सवर्ण इति । 'अक' इत्यनुवर्तते । एक पूर्वपरयो

ओत्वो—अवर्णसे पर 'ओत्' वा 'ओष्ठ' सम्भावयत 'अच्' परमे हो तो पूर्व परके
 स्थानमें विकल्पसे पररूप एक आदेश हो— समासमें ।

ओमा—अवर्णसे पर ओम् वा 'आष्' हो तो पूर्व परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।

अकः—'अच्' पर सवर्ण 'अच्' रहे तो पूर्व परके स्थानमें सवर्ण दीर्घ एक आदेश हो ।

अति—'अच्' से पर सवर्ण 'अच्' रहे तो पूर्व परके स्थानमें (अजगत्सिमाय विद्वज्ज
 इत्य) अच् आदेश हो—विकल्पसे ।

सवर्णे ऋ वा) । होतृकारः । होतृकारः ॥ पृष्ठः पदान्तादिति । ६।१।१०९। पदान्तादेशोऽति परे पूर्वरूपमेकादेशः स्यात् । हरेऽव । विष्णोऽव ॥ सर्वत्र विभाषा गोः । ६।१।१२२। लोके वेदे चैवन्तस्य गोरिति वा प्रकृतिभावः पदान्ते । गो अग्रम् । गोऽग्रम् । एवन्तस्य किम् । चित्रग्वग्रम् । पदान्ते किम् । गोः ॥ अनेकाल् शित्

रिति च । अकः सवर्णे ऋति परे पूर्वपरयोः ऋ इत्येकादेशः स्यादित्यर्थः । होतृकारः । होतृ + ऋकार इति स्थितिः । सवर्णदीर्घं वाधित्वा वार्तिकघलात् पूर्वपरयोः 'ऋ' इत्यादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अयं च पररूपादेशः पाक्षिकः । तेन तदभावे सवर्णदीर्घं कृते 'होतृकारः' इति सिद्धमेव । पृष्ठः पदान्तादतीति । 'अभि पूर्वः' इत्यतः पूर्व इत्यनुपपद्यते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिकृतम् । पदान्तादेशोऽतिपरे पररूपमित्यर्थः । तच्च पूर्वपरयोरित्येवेति भावः । हरेऽवेति । 'हरे-अव' इति स्थिते अत्र 'पृष्ठः पदान्तादति' को वात्र पदान्ते पृष्ठः ? रेफान्तःपात्येकारः पदान्ते पृष्ठः, ततः परः को वा अत् ? अवेत्यस्याकारः, अत्र पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपादेशः प्राप्तः । को वा पूर्वः ? एकारः, तस्मिन् जाते सति 'हरेऽव' इति रूपमभवति । एवमेव 'विष्णो-अव' इति स्थिते अत्र 'पृष्ठः पदान्तादति' इत्यनेन सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वरूपैकादेशे सति 'विष्णोऽव' इति रूपम् । सर्वत्र विभाषेति । पदान्तादित्यनुवर्तते । 'प्रहृत्यान्तः पाद'मित्यतः प्रहृत्येत्यनुवर्तते । प्रहृत्या स्वभावेन निर्विकारस्वरूपेणाऽवतिष्ठत इत्यर्थः । यजु-स्युरः' इत्यतो गलुपीति निवृत्तं तत्सूचनाय सर्वत्रेत्युपात्तम् । तेन लोके वेदे चेत्यस्य लाभः फलितः । स च प्रकृतिभावः पदान्तविषयकः । गो अग्रमिति । 'गो-अग्रम्' इति स्थिते अत्र 'सर्वत्र विभाषा गोः' इत्यनेन पदान्ते विद्यमानस्य एवन्तस्य गोशब्दस्य अति परे विकल्पेन प्रकृतिभावे सति 'गोऽग्रम्' इति रूपम् । विभाषाग्रहणापर्यन्ते 'पृष्ठः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपैकादेशे कृते 'गोऽग्रम्' इति रूपम् । चित्रग्वग्रमिति । 'चित्रगु-अग्रम्' इति दशायां तत्र पृष्ठन्तत्वाभावात् न पूर्वरूपम् । नापि प्रकृतिभावः, किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन यणि रूपम् । पदान्ते किमिति । गोशब्दात् छसि प्रत्यये कृते छकारेकारयोर्लोपे 'गो-अस्' इति दशायां पदान्तत्वाभावात् न प्रकृतिभाव इति भावः । सूत्रे पदान्तत्वानाश्रयणे तु प्रकृते प्रकृतिभाव आपद्येतेति भावः । प्रकृति 'गो अस्' इत्यत्र 'छसिछसोश्' इत्यनेन पूर्वरूपादेशे सति 'गोः' इति रूपम् । अनेकालिति । न एकः, अनेकः, श इत्यस्य स षित् । अनेकालिति सिद्धिति च भिद्यपदा-

पृष्ठः—पदान्त 'पृष्ठ'से पर अत् रश्चे तो पूर्वरूप एक आदेश हो ।

सर्वत्र—लोके वा वेदमें (सर्वत्र) 'गो' शब्दको 'अव' के परे विकल्पसे प्रकृतिभाव हो ।

अनेकाल्—अनेकाल् आदेश और शिथ आदेश सम्पूर्ण स्थानीके स्थापने ही ।

न्वर्धस्य । १।१।५५। इति प्राप्ते ॥ डिच्च । १।१।५३। डिच्नेकाल्प्यन्त्यस्यैव स्यात् ॥
 अवह् स्फोटायनस्य । ६।१।२३। पदान्ते एङन्तस्य गोरवच् वा स्याद्वि ।
 गवाप्रम् । पदान्ते किम् । गवि ॥ इन्द्रे च । ६।१।२४। गोरवच्चिन्द्रे । गवेन्द्र ।
 व्यवस्थितविभाषया । गवाक्षः ॥ दूराद्धूते च । ८।२।८४। दूरान्सम्बोधने वाक्यस्य
 टेः प्लुतो वा ॥

ङीकारो न तु समाहारद्वन्द्वाश्रयणम् । भिन्नापदेनेषु निबद्धि सिद्धेतस्य समाहारद्वन्द्वा-
 श्रयणे गौरवात् । 'छिच' । ङकार इषस्य स डित् । अलोन्त्यस्येत्यनुवर्तते । अय
 डिच्पि अन्त्यस्यैवादेश इति भावः । न च अलोन्त्यस्येत्यनेनैव सिद्धेरिव सूत्रस्य
 शक्यमिति शङ्क्यम्, अवह् तात्हादीनामनेकाक्षत्वेन 'अनेकाल्पित्' इति सर्वादेशवा-
 धनार्थस्य आवरणकत्वात् । 'अवह् स्फोटायनस्य' । अत्र पदान्तादिति गोरिति अक्षीति
 चानुवर्तते स्फोटायनमहर्षमेतेनाऽवह् आदेश इत्यर्थः । अन्यमते तु न । तेनाऽस्यावह्
 पाचिकरव सिद्धम् । अतिपदन्तु नानुपगम्यते, व्याख्यानात् । स्फोटायनमतेन पदान्ते
 गो परतोऽचि सति भवत्यवहादेश इति भावः । 'गवाप्रमिति' । 'गो-अप्रम्' इति
 दशायाम् 'अवह् स्फोटायनस्य' इति पदान्ते विद्यमानस्य एङन्तस्य 'गो' इत्यस्य
 अवहादेशः प्राप्तः । अचि-अप्रमेतद्धटकाकारे परे । स अवहादेशः कुत्र स्यात् ? अवह्
 अनेकाल्पत्वात् 'अनेकाल्पित् सर्वस्य' इत्यनेन सर्वादेशे प्राप्ते 'डिच्च' इत्यनेन
 डिच्देशस्याऽनेकाल्पत्वेऽपि अस्यादेश इति गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्ति-ओकारस्य
 अनुबन्धलोपपूर्वके अवहादेशो 'गव-अप्रम्' इति जाते 'अक. सर्वणं वृषि' इत्यनेन
 वीच 'गवाप्रम्' इत्यपि रूपम्भवति । अधाय विचारः—'सर्वत्र विभाषा गो' इत्यनेन
 प्रवृत्तिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे अवहादेशो विकल्पेन । तदभावे च पूर्वरूप
 मिति गो अप्रम्, गवाप्रम्, गोप्रम् इति रूपत्रयम् । व्यवस्थितविभाषयैति । क्वचिद्-
 वतीत्यशः प्रवर्तते । क्वचित्तु न भवतीत्यश एव । क्वचिद्धोमयमेव लक्षयानुसारेण व्यव-
 स्थायां प्रवृत्ता विभाषा व्यवस्थितविभाषा कल्पते । सा च 'गवाप्र' इत्यत्र आधीयते ।
 तेन गो परत्वं अक्षपदे सति नित्यमवह् भवति, भवति च गवाप्ररूपसिद्धिः । इन्द्रे च ।
 गोशब्दादिद्वन्द्वशब्दे परतो नित्यमवह्, इति सव्यम् । गवेन्द्र इति । 'गो-इन्द्र' इति
 स्थितेऽग्र 'इन्द्रे च' इत्यनेन गोशब्दस्य गकारोत्तरवर्त्यकारस्य अवहादेशो गुणे च
 सति रूपम् । 'दूराद्धूते च' । यत्र प्रदेशे स्थितस्य प्रयानोच्चारित शब्द बोध्यमानो न

- डिच्च—छिच आदेश यदि अनेकाल्पि हो तो अत्यन्त स्थानमें ही हो ।
- अवह्—पदान्तमें एङन्त गोशब्दको अवह् परे विकल्पसे अवह् आदेश हो ।
- इन्द्रे—गो शब्दको अवह् आदेश हो इन्द्र शब्दके परे ।
- दूरात्—दूरसे सम्बोधनविषयक जो वाक्य, तदाक्यावयव जो 'टि' वह विकल्पसे प्लुतसङ्क हो ।

अथ प्रकृतिभावः । प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम् । ६।१।१२५। एतेऽचि प्रकृत्या स्युः । आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्ररति ॥ ह्रस्वं लघु । १।४।१०। संयोगे गुरु । १।४।११। संयोगे परे ह्रस्वं गुरुसंज्ञं स्यात् ॥ दीर्घं च । १ । ४ । १२ । गुरु स्यात् ॥ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् । ८।२।८६। प्लुतो वा । देशदत्त ३ । गुरोः क्त्विम् । वकारादकारस्य मा भूत् । अनृतः क्त्विम् । कृष्ण ३ । एकैकप्रहणं पर्यायार्थम् ॥ ईदूदेद्विचचनं प्रगृह्यम् १ । १ । ११ । ईदूदेदन्तं

गृह्णाति (शृणोति) किन्तु, अधिकं प्रयत्नमपेक्षते तद्दूरम् । हृतमाह्वानं भावे क्तः तच्च सम्बोधनं तदेवेह विवक्षितम् । सम्बोधनत्वं च, अन्यत्र विषये लग्नचित्तस्य स्वप्रतिपाद्ये विषये चित्तवृत्तेराकर्षणम् । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः, इति अधि-कृतम्' अत एवाह—वाक्यस्य टेरिति ।

प्लुतप्रगृह्याः । 'प्रकृत्यान्तः पादम्' इत्यतः प्रकृत्येत्यनुवृत्तेरिति भावः । कृष्ण ३ अत्रेति । 'दूराद्भूते च' इति णकारादकारः प्लुतः । तस्य अकारे न सवर्णदीर्घः । ह्रस्वं लघु । ह्रस्वं लघुसंज्ञं स्यात् । संयोगे गुरु । ह्रस्वमित्यनुवर्तते । तदाह—संयोगे पर इत्यादिना । दीर्घं च । संयोग इति नानुवर्तते । दीर्घमपि गुरुसंज्ञकमित्यर्थः । आगच्छ कृष्ण इति । 'आगच्छ कृष्णश्च अत्र गौश्ररति' इति वाक्ये 'कृष्णश्च-अत्र' इत्यत्र 'दूराद्भूते च' इत्यनेन सूत्रेण टिसंज्ञकस्य णकारोत्तरवर्त्यकारस्य प्लुतत्वं विधाय 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'आगच्छ कृष्ण ३ अत्र गौश्ररति' इति सिद्धयति । गुरोरनृतोऽनन्त्यस्येति । 'दूराद्भूते चे'त्यनुवर्तते । 'वाक्यस्य टेः प्लुत उदात्तः' इत्याधिकृतम् । दूरात्सम्बोधने यद्वाक्यं तत्र सम्बोध्यमानं यत् पदं तदवयवस्य श्रकारभिस्य अनन्त्यस्य गुरोः प्लुतः स्यात् । अनन्त्यस्य तु गुरोरगुरोश्च स्यादित्यर्थः, टेः अपिना समुच्चयात् । पर्यायार्थमिति । अन्यथा सर्वेषां गुरुणां युगपत् प्लुतः स्यादिति भावः । ईदूदेद्विचचनम् । ईच्च ऊच्च एष्येति समाहारद्वन्द्वः । ईदूदेद्विति द्विवचनविशेषणरवात्तदन्तविधिः । द्विवचनमित्यनेन तु प्रत्ययस्वेऽपि न तदन्तं गृह्यते संज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्तीति तन्निषेधात् । तदाह—ईदूदेदन्तमित्यादिना । इरीयता-

प्लुत—प्लुतसंज्ञक और प्रगृह्यसंज्ञकको प्रकृतिभाव हो, अच् के परे ।

ह्रस्वं—ह्रस्व 'अच्' की लघु संज्ञा हो । संयोगे—संयोगके परे ह्रस्वकी गुरुसंज्ञा हो ।

दीर्घं—दीर्घ अच् की भी गुरु संज्ञा हो ।

गुरो—दूरसे संबोधनविषयक जो वाक्य, तद्वाक्यावयव जो सम्बोध्यमान वाचक पद, तदवयव जो श्रकारभिस्य अनन्त्य गुरु वद् पर्यायसे प्लुतसंज्ञक हो—विकल्प करके तथा अन्य जो श्रङ्गिण गुरु या अगुरु यद् भी विकल्पसे प्लुतसंज्ञक हो ।

ईदू—ईदन्त और दूदन्त द्विवचनकी प्रगृह्य संज्ञा हो ।

द्विवचन प्रगृह्यं स्यात् । हरी एतौ । विष्णु इमौ । गङ्गे अम् । मणीवोप्लूमेति तु
 इवायं वशब्दो वाशब्दो वा बोध्य ॥ अदसो मात् ॥ ११११२॥ अस्मात्परावोदो
 ऽगृह्यौ स्त । अमी ईशा । रामकृष्णावम् आसाते । मात्किम् । अमुकेऽत्र । अस्मि
 मादप्रहण एकारोऽप्यनुवर्तते ॥ चादयोऽसस्त्वे ॥ १११५७॥ अद्रव्यायोवाद्यो निपात
 सभा ष्यु ॥ प्रादय ॥ १११५८॥ एतेऽपि तथा । वस्तूपलक्षणं यत्र सर्वनाम
 प्रयुज्यते । द्रव्यमित्युच्यते सोऽर्थो भेद्यत्वेन विवक्षितः ॥ किङ्गसखान्व
 ययोग्यद्रव्यम् ॥ निपात एकाजनाह् ॥ ११११४॥ एकोऽज् निपात आक्वर्जः प्रगृह्य-
 संज्ञ स्यात् । इ इत् । उ उमेश ॥ ईपदर्थं क्रियायोगे मर्मावाऽभिधिषी च

त्रिति । 'हरी-एतौ' इत्यत्र 'ईदृदेद् द्विवचन प्रगृह्यम्' इत्यनेन सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायाम्
 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'हरी एतौ' इति निष्पद्यम् । एवमेव
 'विष्णु-इमौ' गङ्गे-अम्' इत्यत्र क्रमेण अकारान्तकारान्तद्विवचनत्वाद् 'ईदृदेद् द्विव-
 चनम्' इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायाम् प्रकृतिभावे च 'विष्णु इमौ' 'गङ्गे अम्' इति भवति ।
 ननु 'मणीवोप्लूमेति प्रियौ वासतरौ मम' इति भारतरलोके मणी इवेति ईकारस्य
 प्रगृह्यत्वे सति प्रकृतिभावे सवर्णदीर्घो न स्यादित्यत आह— मणीवोप्लूमेत्यादिना ।
 'य वा यया तथैवैव साम्य' इत्यमर । अदसो मादिति । अदस- इत्यप्यपवपट्टी, तेन
 अदरशब्दावयवमकारान्परावीदुतौ प्रगृह्यसंज्ञौ स्त । 'अमी-ईशा' इत्यत्र अदरशब्दा-
 वयवमकारान्पराव्येकारस्य सत्त्वात्प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्य-
 नेन प्रकृतिभावे 'अमी ईशा' इति रूपम् । एवमेव 'रामकृष्णावम्-आसाते' इत्यप्यपि
 प्रगृह्यसंज्ञां कृत्वा प्रकृतिभावो विधेयः । मात् किमिति । अस्मि मादप्रहणे एकारोऽप्य-
 अनुवर्तते । तेन च 'अमुकेऽत्र' अत्र प्रगृह्यसंज्ञापूर्वकप्रकृतिभाव आपद्येत इति भावः ।
 वस्तूपलक्षणमिति । अत्रोपलक्षणशब्दायं वक्षस्यांशकदेसोच्चारणम्, ननु अचिद्यमान
 सत् स्यावर्तकमिति । 'भू सत्तायाम्' सत्ताधर्मनिर्देशानूपलक्षणमित्यादावप्येव
 मेवार्थो बोध्यः । निपात एकाज् । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते पुंलिङ्गतया च विपरिणम्यते ।
 एकाज्मावश्चेति कर्मधारय । सदाह— एकोऽभिध्यादिना । इ इन्द इति । 'इ इन्द्र'

अदसो—अदस् शब्द सम्बन्धी मकारस्य परे इत्-उत्पत्तौ प्रगृह्यसंज्ञा हो ।

चादयो—अद्रव्यार्थवाचो ('किङ्गसखान्वयित्वं इत्यस्य, ताङ्गप्रवाधी' अर्थात् अन्वय-
 वाचो) वादि (च वा इ वादि) की निपात सज्ञा हो ।

प्रादय—अद्रव्यार्थक प्रादिको भी निपातसज्ञा हो ।

निपात—'आक्' शक्ति एकाज् निपातकी प्रगृह्यसंज्ञा हो । अर्थात् आक्शक्ति एक
 स्वरभाव अन्वयकी सन्धि नहीं हो ।

ईप—ईपत् अर्थात्, क्रियाके योषे, मर्मांशमे पीर भाग्यदिधि चर्मे यो 'आ' वसे चिद

यः । एतमातं ङितं विद्याद् वाक्यस्मरणयोरङित् । आ एवं नु मन्यसे ।
आ एवं किल तत् । आ एवं सर्ववेदार्यः । आ एवं यद्गो हरेः । पूर्व नैवंमस्या इदा-
तीन्त्वेवं मन्यसे इत्यर्थः । अन्यत्र ङित् । ईपदुणम् । ओष्णम् ॥ ओत् ॥ ११११५ ॥
ओदन्तो निपातः प्रगृह्यः स्यात् । अहो ईशाः ॥ संवुद्धौ शाकल्यस्येतावन्तार्थे
॥ ११११६ ॥ संवुद्धिनिमित्तक ओकारो वा प्रगृह्याऽवैदिके इती परे । विष्णो इति ।

इत्यत्र इकारस्य 'चादयोऽसत्वे' इत्यनेन निपातसंज्ञायाम् 'निपात एकाजनाद्'
इत्यनेन प्रगृह्यसंज्ञायाम् 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे 'इ इन्द्र'
इति भवति । स एव प्रकारो 'उ-उमेशः' इत्यत्र विज्ञेयः । आ एवमिति । 'ईपदर्थे
क्रियायोगे मर्यादाभिविधौ च यः । एतमातं ङितं विद्याद्वाक्यस्मरणयोरङित् ॥ इति ।
प्रकृते 'आ एवं नु मन्यसे' इत्यस्य वाक्यार्थत्वात् 'आ एवं किल तत्' इत्यस्य स्मरणा-
र्थकत्वाच्च अङित्वेन 'निपात एकाजनाद्' इति आ इत्यस्य प्रगृह्यत्वे 'प्लुतप्रगृह्या अचि
नित्यम्' इति प्रकृतिभावे सति रूपम् । अन्यत्रेति । वाक्यस्मरणार्थकभिन्ने इत्यर्थः ।
तेन ईपदर्थक-'आ' इत्यस्य ङित्त्वात् प्रगृह्यसंज्ञाभावे प्रकृतिभावाभावेन 'आद्गुणः'
इति गुणे 'आ-ईपद्, उष्णम्' ओष्णमिति जायते । ओत् । निपात इत्यनुवर्तते । ओदिति
तस्य विशेषणम् । अतस्तदन्तविधिः । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते । पुँल्लिङ्गत्वात् च विपरिण-
म्यते । तदाह - ओदन्त इत्यादिना । अहो ईशा इति । अत्र 'ओत्' इति सूत्रेण प्रगृह्य-
संज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति 'अहो ईशा'
इति भवति । सम्बुद्धौ शाकल्यस्य । सम्बुद्धाविति निमित्तसप्तमी ओदित्यनु-
त्तेन अन्वेति । प्रगृह्यमित्यनुवर्तते, पुँल्लिङ्गत्वात् च विपरिणम्यते । ऋषिर्वेदः, तदुक्तमृषिणे-
त्यादौ तथा दर्शनात् । ऋषौ भवः आपः, न आपः, अनापः, अवैदिके इति शब्दे
परत इत्यर्थः । शाकल्यग्रहणाद्विकल्पः । तदाह - सम्बुद्धिनिमित्तक इत्यादिना ।
विष्णो इतीति । 'विष्णो-इति' इति श्रियताचत्र 'संवुद्धौ शाकल्यस्येतावन्तार्थे' इत्यनेन
सम्बुद्धिनिमित्तकस्य ओकारस्य अवैदिके इती परे प्रगृह्यसंज्ञायां 'प्लुतप्रगृह्या अचि

(आठ्पटक-आ) जानना और वाक्य तथा स्मरण अर्थमें जो 'आ' उसे अङित (केवल आ)
जानना चाहिये ।

नोटः—ईपत् (अत्यल्प) अर्थमें—आ + उष्णम् = ओष्णम् (किञ्चित् गर्म) । क्रिया
के योगमें—आ + इहि = एहि (यहाँ आओ) । मर्यादा (सीमा) अर्थमें—आ + अशुभेः =
आशुभेः (समुद्रपर्यन्त) । अभिविधि (मर्यादाका प्रभेद = स्वासि) अर्थमें—आ + एकदेशात् =
एकदेशात् (एकदेशस्यापकर) ।

ओत्—ओदन्त निपातको प्रगृह्यसंज्ञा हो ।
सम्बु-संवुद्धिनिमित्तक ओकारको विकल्पसे प्रगृह्यसंज्ञा हो, अवैदिक 'इति' शब्दके परे ।

विष्ण इति । विष्णविति । अनापे इति किं प्रह्वणववित्यत्रवीत् । मय उवो वो
 वा । ८।३।३३। मय परस्य उवो वो वा स्यादधि । किमु उक्तम् । किमुक्तम् ।
 इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च । ६।१।१२७। पदान्ता इको ह्रस्वा प्रकृत्या
 च वा स्युरसवर्णेऽधि । ह्रस्वविधिसामर्थ्यान्न स्वरसन्धिः । चकि अत्र । चक्यत्र ।
 पदान्ता किम् । गौरी । (न समासे) । बाप्यश्च ॥ ऋत्पफः । ६।१।१२८।

नित्यम्' इत्यनेन प्रकृतिभावे च सति 'विष्णो इति' इति रूप सिद्धयति । स च
 प्रकृतिभावो विकल्पेन भवति । तदभावे 'एषोऽयवापाव' इत्यनेन अवादेन 'लोप
 शाकल्यस्य' इत्यनेन विकल्पेन लोपे 'विष्ण इति' इति रूपम् । वलोपभावे च
 'विष्णविति' इति रूपम् । मय उवो वो वा । मय इति पञ्चमी उत्र इति षष्ठी 'कमो
 ह्रस्वादधि' इत्यत अचीत्यनुवर्तते । उदाह- मय परस्येत्यादिना । किमुक्तमिति ।
 'किम् उ उक्तम्' इत्यवस्थायाम् 'मय उवो वो वा' इत्यनेन सूत्रेण मयः परस्य
 उत्र- 'उ' इत्यस्य 'व' आदेशो भवति, अचि- 'उक्तम्' घटकोकारे परे, तेन 'किम् उ
 उक्तम्' इति जाते 'अञ्जीन परेण सयोरप्यम्' 'किमुक्तम्' इति निष्पन्नम् । व आदेशो
 विकल्पेन भवति तदभावे च 'निपात एकाजभाङ्' इत्यनेन प्रगृह्यसञ्चार्या प्रकृति-
 भावे च 'किमु उक्तम्' इति जायते । इकोऽसवर्णे । इक इति षष्ठी । 'पृष्ट पदान्तात्'
 इत्यत पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्च पठपन्ततया विपरिणम्यते । अचीति चानुवर्तते ।
 ततश्च पदान्तस्येक असवर्णेऽधि परे ह्रस्व' स्यादित्येक वाक्यम् । चकारात् 'प्रकृत्या-
 न्तपादम्' इत्यत प्रकृत्योरप्यनुकृत्यते । ह्रस्व इति तत्रापि सम्भव्यते । ततश्च उक्तो
 ह्रस्व' प्रकृत्या—स्वभावेन अवतिष्ठत इति वाक्यान्तर सम्पद्यते । फलितमाह—पदा
 न्ता इह इत्यादिना । चकि अत्रेति । 'चकि-अत्र' इत्यत्र 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य
 ह्रस्वश्च' इत्यनेन विकल्पेन ह्रस्वे कृते 'चकि अत्र' इति भवति । तदभावे च 'इको
 यणधि' इत्यनेन यणि 'चक्यत्र' इति जायते । पदान्ता इति किमिति । पदान्ता इति
 पदाचार्या नापठिष्यन् तदा 'गौरी-औ' इत्यत्रापि 'इकोऽसवर्णे शाकल्यस्य ह्रस्वश्च'
 इत्यनेन ह्रस्वसमुच्चितप्रकृतिभावोऽभविष्यत्, तन्निवारणाय 'पदान्ता' इत्युक्तम् ।
 अत्र पदान्ताभावात् न ह्रस्वात्, किन्तु 'इको यणधि' इत्यनेन यणि 'अचो रद्धान्या
 द्वे' इत्यनेन विकल्पेन यद्विद्ये 'गौरी' इति । परे—द्विवाभावे 'गौरी' इति ।
 न समासे इति । वार्तिकमेतत् । समासे उक्तशाकल्यविधिर्न भवतीत्यर्थः । बाप्यश्च इति ।

मय—'मय' से पर 'उम्' के उकारको 'व' आदेश हो-अचके परे ।

इको—पदान्त 'इक्' को अचके परे युगपत् ह्रस्व और प्रकृतिभाव हो, विकल्पसे ।

न समा—समासमें पदान्त इक्की ह्रस्व और प्रकृतिभाव कुछ भी नहीं हो ।

आह—'अह' परमें हो तो पदान्त 'अक्' को ह्रस्व और प्रकृतिभाव विकल्पसे हो ।

ऋति परे पदान्ता अकः प्राग्वत् । ब्रह्म ऋषिः । ब्रह्मर्षिः । पदान्ताः किम् ?
आच्छत् ॥ इति स्थरसन्धिः ॥

अथ हल्सन्धिः

स्तोः श्चुना श्चुः । ८।४ ४०। सकारतवर्गयोः शकारचवर्गाभ्यां योगे शका-

वाप्यामश्वः वाप्यश्वः, 'वापी-अश्व' इति दशायां 'इकोऽसवर्णे' शाकश्यस्य ह्रस्वश्च
इत्यनेन ह्रस्वे प्राप्ते 'न समासे' इति वार्तिकेन निषिध्यते । अतोऽत्र न प्रकृतिभावः,
किन्तु 'इको यणचि' इत्यनेन अणि 'वाप्यश्वः' इति रूपम् । ऋत्यकः । अक इति
पठ्ये । शाकश्यस्य ह्रस्वश्चेत्यनुवर्तते । असवर्ण इति निवृत्तम् । एरुः पदान्तादित्य-
तः पदान्तादित्यनुवर्तते । तच्चप एष्यन्ततया विपरिण्यते । ततश्च वाक्यद्वयं निष्पद्य-
ते । पदान्तस्याकं ऋति ह्रस्वो वेत्येकम् । प्रतिपादितो ह्रस्वः प्रकृतिभावमातिष्ठत इति
द्वितीयम् । ब्रह्म ऋषिरिति । 'ब्रह्मा ऋषिः' इति स्थितौ 'ऋत्यकः' इत्यनेन पदान्तस्य
अकप्रत्याहारान्तर्गतमकारोत्तरवर्तिन आकारस्य ह्रस्वस्वे कृते ब्रह्म ऋषिरिति जायते ।
पक्षे 'आद्गुणः' इति पूर्वपरयोः स्थाने गुणे रपरे च कृते 'ब्रह्मर्षि'रिति रूपम्भवति ।
पदान्ताः किमिति । अत्र 'पदान्ताः' इत्यस्याग्रहणे तु 'आ अच्छत्' इत्यत्र ह्रस्वत्वमा-
पद्येत । तन्मा भूदेतदर्थं 'पदान्ताः' इति । तेनात्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ सत्याम्
'आच्छत्' इति सिद्धयतीति दिक् । इत्यत्सन्धिः ॥

सकारतवर्गयोरिति । अत्र स्यान्त्यादेशयोर्यथासंख्यम्, निमित्तकार्यिणोस्तु न,

सन्धि करो—पितृ + ऋणम् । शुभ्र + ऋषिः । सुखस्य + औपयिकम् । अव + पति ।
उव + अच्छत् । प्र + ओषति । राम + एहि । इन्दुमती + उवाच । मृद् + औदनः । मातृ +
इच्छा । लृ + आनय । ने + अनम् । कर्म + इदम् । मो + अनम् । मो + इष्यति । ते +
आगताः । रामः + अस्मि । गो + अक्षः । आगच्छ सखे + अत्र क्रीडेम । वटू + उच्छलतः ।
अमू + अशनीती । अदो + इदम् । उ + उद्ववः ।

विच्छेद् करो—गुरुः । महर्कारः । महौचित्यम् । अवैषते । उपापॉति । प्रेषयति ।
अवेदि । अत्यौदरिकः । तन्वङ्गी । प्रशास्त्रध्वम् । कानय ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अत्सन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

स्तोः—सकार-तवर्गके स्थानमें शकार अथवा चवर्गका (पूर्व या परमें) योग रहनेपर
सकारके स्थानमें शकार और तवर्गके स्थानमें चवर्ग हो ।

नोटः—यहाँ स्थानी और आदेशमें यथासंख्य अपेक्षित नहीं है—ऐसा होने पर आगे-
का 'शाट्' सूत्र ही व्यर्थ हो जायगा । (पुस्तकमें भी ऐसा समझना चाहिये)

रत्वर्गो ष्ट । हरिश्चोते । रामश्चिनोति । रुचिचत् । शार्ङ्गिज्य ॥ शात् । ८।४।
 ४४। शात्परस्योक्त न रथात् । विश्व । प्रश्न ॥ ष्टुना ष्टुः । ८।४।४१। र्तो
 ष्टुना योगे ष्टुः स्यात् । रामप्यष्ट । रामष्टीकृते । पेष्ट । तष्टीका । चक्रिष्ठीकृसे ॥
 न पदान्ताष्टोरनाम् । ८।४।४२। 'भना' मिति लुप्तश्लोकम्पदम् । पदा-ताद्वर्गात्

शात्' इति ज्ञापकात् । रामश्चेन इति । 'रामस् शोते' इति स्थितौ 'स्तो र्तुना र्तु'
 इत्यनेन सूत्रेण सकारस्य शकारेण सहाय्य योगे सति सकारस्य शकारादेशे 'राम
 शोते' इति रूपम्भवति । एव 'रामस्-चिनोति' इत्यत्र चयोगे सकारस्य शकारादेशे
 'रामश्चिनोति' इति जायते । 'सत्-चित्' इत्यवस्थायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'च्'
 इत्यादेशे 'सच्चित्' इति रूपम् । 'शार्ङ्गिन् ज्य' इत्यत्र 'र्तो र्तुना र्तु' इत्यनेन
 'न्' इत्यस्य स्थाने 'ञ्' इत्यादेशे 'शार्ङ्गिन्-ज्य' इति रूपम् । शादिति । शकारात्परस्य
 तवर्गावयवर्णस्य र्तुत्वं न भवति । शादिति द्विग्यांमे पञ्चमी । 'न पदान्तात्' इत्यतो
 नेत्यनुवर्तते । र्तो र्तुना र्तुरित्यतो र्तुरिति छन्द्यते । न तु सकारशकारौ शादिति
 न्यासकरणात् । विश्व इति । 'विश्व-न' 'प्रश्न-न' इत्यत्र पूर्वसूत्रेण नकारस्य चुत्वं
 प्राप्ते 'शात्' इत्यनेन शात्परस्य तवर्गस्य-न' इत्यस्य चुत्वं निषिष्यते । तेनात्र
 'न' इत्यस्यांन 'ञ्' इत्यादेश इति भाव । प्रश्न इति । प्रच्छ शीप्सायाम् । अस्मात्
 'यजयाच्यत' इत्यादिना नञि 'ष्टो शूडनुनासिके च' इत्यनेन सनुवद्धकारे षादेशे
 'प्रश्न-न' इति स्थिते 'स्तो' इत्यनेन र्तुत्वं प्राप्त त थाधिरत्वा 'शात्' इति निषेधे
 परेण सयोगे रूपम् । न चात्र महिज्या इति सम्प्रसारण स्यादिति दाहक्यम् । 'प्रश्न
 चामश्कारे' इत्यादिनिर्देशबलात् । ष्टुना ष्टुरिति । अत्र 'र्तो' इत्यनुवर्तते । पूर्ववद-
 प्रापि कार्त्विनिमित्तयोर्भयामस्य न भवति । 'तो चि' इति ज्ञापकात् । 'रामस्-
 प्यष्ट' अत्र 'ष्टुना ष्टु' इति सकारस्य पकारयोगेन सकारस्य पकारादेशे 'रामप्यष्ट'
 इति । एव 'रामस् टीकृते' इत्यत्र टकारेण योगे सकारस्य पकारादेशे 'रामष्टीकृते'
 इति रूपम् । 'पेष्ट-ता' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टु' इत्यनेन सकारस्य ष्टुत्वे 'पेष्टा' इति
 जायते । 'तट्ट टीका' इति दशायां प्रकृतसूत्रेण 'त्' इत्यस्य 'ट' इत्यादेशे 'तट्टी' इति
 रूपम् । 'चक्रिन्-वीकृसे' इत्यत्र 'ष्टुना ष्टु' इत्यनेन 'ञ्' इत्यस्य 'ण' इत्यादेशे
 'चक्रिष्ठीकृसे' इति रूपम्भवति । न पदान्तादिति । 'षट्-सन्त.' 'षट्-ते' इत्यत्र

शात्—शकारसे परे तवर्गके स्थानमें र्तुत्व (चवर्ग) नहीं हो ।

ष्टुना—सकार तवर्गके स्थानमें पकार-त्वर्गका (पूर्व या परमें) योग रहने पर सकारके
 स्थानमें पकार और तवर्गके स्थानमें तवर्ग कादेश हो ।

न पदान्ता—पदान्त तवर्गके पर नाम् (अवयव) भिन्न सकार और तवर्गके स्थानमें
 ष्टुत्व (पकार-त्वर्ग) नहीं हो ।

परस्याऽनामः स्तोः ष्टुर्न स्यात् । षट् मन्तः । षट् ते । पदान्तात्किम् ? ईद्रे ।
 टोः किम् ? सर्पिष्टमम् । अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम् । षण्णाम् । षण्ण-
 वतिः । षण्णगर्ग्यः ॥ तोः पि । ८।४।४३। तवर्गस्य प्रकारे परे न ष्टुत्वम् । सन्-
 षट् । झलां जशोऽन्ते । ८।२।३९। पदान्ते झलां जशः स्युः । वागीशः ।
 चिद्रूपम् ॥ यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको वा । ८।४।४४। यरः पदान्तस्याऽनुना-
 सिके परेऽनुनासिको वा स्यात् । एतन्मुरारिः । स्थानप्रयत्नाभ्यामन्तरतमे स्पर्शे चरि-

टवर्गस्य पदान्ते वतमान्वात् ष्टुत्वम् । पदान्तादित्यस्यास्वीकारे 'ईट्-ते' द्वापत्रापि
 निषेध आपद्येन । अतः सूत्रे तन्निषेध आवश्यकः । टोः किमिति । ननु 'सर्पिष्-तमम्'
 इत्यत्र 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इत्यनेन पदसंज्ञायामत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन
 जरत्वे स्यादिति चेत् ? न । हन्वात्ताद्रीं तद्धिते' इत्यनेन कृतस्य पत्वस्य जरत्वे-
 दृष्ट्याऽसिद्धत्वात् । टोर्ग्रहणाभावे प्रकारोऽप्यनुवर्तते । तेन प्रकृतेऽपि निषेधः स्यात्-
 न्मा भूदिति टोर्ग्रहणम् । 'अनाम्नेति' । ष्टुत्वप्रतिषेधे नाम एव न पर्युदास्यते । किन्तु
 नवतिनगरीणामिति नकारविद्यमानस्याऽपि पर्युदासो वक्तव्य इत्यर्थः । षण्णामिति ।
 'पप्-नाम्' इत्यवस्थायां 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जरत्वे 'पट्-नाम्' इति स्थितौ
 'अनाम्नवतिनगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् (निषेधस्य निषेधात्)
 ष्टुत्वे 'पट्-णाम्' इति जाते 'प्रत्यये नापायां नित्यम्' इति वार्तिकेन 'ट्' इत्यस्य
 नित्यानुनासिकं सति 'षण्णाम्' इति रूपबोधयम् । षण्णवतिरिति । पठधिका नवति-
 रिति विग्रहः । 'पट्-नवतिः' इत्यत्र 'न पदान्तात्' इति निषेधे प्राप्ते 'अनाम्नवति-
 नगरीणामिति वाच्यम्' इत्यनेन पर्युदासात् ष्टुत्वे जाते 'यरोऽनुनासिकेऽनुनासिको
 वा' इत्यनेन पूर्वस्य 'ट्' इत्यस्यानुनासिके 'षण्णवतिः' इति रूपम् । एवमेव 'षण्णगर्ग्यः'
 इत्यत्रापि बोध्यम् । तोः पीति । तवर्गस्य प्रकारे परे न ष्टुत्वम् । तेन 'सन्-षट्' इत्यत्र
 तवर्गान्तःपातिनो नकारस्य प्रकारे परे न ष्टुत्वम् । झलामिति । पदस्यैत्यधिकृतम् ।
 तच्चान्त इत्यस्य विशेषणम् । पदस्यान्ते झल प्रयाहारिकाणां स्थाने जशप्रयाहारिका
 इति फलितोऽर्थः । वागीश इति । 'वाक्-ईशः' अत्र 'झलां जशोऽन्ते' इति 'क्' स्थाने
 'स्थानेऽन्तरतमः' इति कण्ठस्थानीयो गकारादेशो जायते; तेन 'वागीशः' इति ।
 स्थानप्रयत्नाभ्यामिति । एतन्मुरारिरित्यादौ प्रयत्नतश्चान्तरतमे स्पर्शे चरितार्थे लब्ध-

अनाम्न—पदान्त टवर्गसि पर नाम्, नवति, नगरी—मिन्न सकार—तवर्ग को ष्टुत्व नहीं
 हो—ऐसा कहना चाहिये ।

तोः पि—तवर्गको प्रकारके परे ष्टुत्व नहीं हो । (उदाहरण—वसन्तात् षट्पदाः
 षुन्वन्ति) ।

झलां—पदान्त झलके स्थानमें जश आदेश हो ।

यरो—पदान्त यरको अनुनासिक परे रद्धते अनुनासिक आदेश हो, विकल्पते ।

तायो विधिरय रेके न प्रवर्तते । चतुर्मुखः । प्रत्यये भाषायां नित्यम् । तन्मा-
त्रम् । चिन्मयम् ॥ तोळि १८।४।६०। तवर्गस्य लकारे परे परसवर्ण
स्यात् । तल्लय । विद्वाँल्लिखति । नस्याऽनुनासिको कः ॥ छद् स्या-
स्तम्भोः पूर्वस्य १८।४।६१। उद् परस्यो श्यास्तम्भो पूर्वसवर्ण स्यात् ॥
तस्मादित्युत्तरस्य ११।१।६७। पञ्चमीनिर्देशेन क्रियमाणं कार्यं वर्णान्तरेणा-
भ्यवहितस्य परस्य ज्ञेयम् ॥ आदेः परस्य ११।१।५४। परस्य यद्विहितं तत्तस्या

प्रयोजनोऽयमनुनासिकविधिः । स्थानमात्रेणाऽऽन्तर्यमादाय रेके प्रवृत्तिं न छमत
ह्यर्थम् । 'यूनि छन्दे तु युवतिर्जरठे रमते कथमिति न्यायात् । चतुर्मुख इति ।
चत्वारि मुखाणि यस्येति व्यासवाक्यम् । 'चतुर्-मुख' इति स्थिते 'यरोऽनु' इत्यादिना
वैकल्पिकेऽनुनासिके प्राप्ते रेके स्थानमात्रमात्र्यंमादायानुनासिकविधिर्न प्रवर्तते इति
स्पष्टीकरणादनुनासिकामावे 'चतुर्मुख' इत्यस्य सिद्धिः । प्रत्यये भाषायामिति । प्रत्यये
अनुनासिकारम्भके परे लोके नित्यमनुनासिक इत्यादित्यर्थः । तन्मात्रमिति । तत्प्रमाण-
मस्येति तन्मात्रम्, 'प्रमाणे ह्यसज्जद्वनभमात्रच' इत्यनेन मात्रप्रत्ययः । 'तद्-
मात्रम्' इत्यवश्यायाम् 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इत्यनेन स्थानत आन्तर्यमाश्रय
लकारस्य स्थाने नकारे जाते 'तन्मात्रम्' इति निष्पन्नम् । चिन्मयमिति । चिदेव
'चिन्मात्रम्' अत्र 'निरय वृद्धशरादिभ्य' इत्यत्र नित्यमिति योगविभागात्तादृष्ये
मयट् । प्रक्रिया तु पूर्ववद् बोध्यम् । तोळिति । 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण' इत्यत
परसवर्ण इत्यनुवर्तते तदाह—परसवर्ण इति । 'तद्-लयः' इत्यत्र 'तोळि' इत्यनेन
तवर्गान्त पाठिनो दस्य स्थाने परसवर्ण —परनिमित्तभूतलकारसवर्णो ल एव जातः ।
तेन 'तद्वलयः' इति सिद्धम् । तस्व लय तल्लय इति विग्रहोऽत्र बोध्यः । विद्वाँल्लिख
तोळि । 'विद्वाँ-लिखति' इति स्थिते नकारस्य स्थानिनोऽनुनासिकस्य परसवर्णो
लकारो भवन् आन्तर्यादनुनासिक एव लकारो जातस्तेन 'विद्वाँल्लिखति' इति सिद्धम् ।

प्रत्यये—अनुनासिकादि प्रत्यय परमे रहनेपर भाषा (लोक प्रयोग) में पदान्त परके
स्थानमें नित्य अनुनासिक आदेश हो ।

तोळि—तवर्गको लकार के परे परसवर्ण हो ।

तोट—परसवर्ण करने से विशेषता यही होती है कि नकारके स्थान में तावर्णों अनु-
नासिक विशेष लकार आदेश होता है । यथा—विद्वाँ + लिखति=विद्वाँल्लिखति ।

उद्—'उद्' से पर स्या और स्तम्भके स्थानमें पूर्वसवर्ण आदेश हो ।

तस्मा—पञ्चम्यन्त परनिर्दिष्ट विधीयमान जो कार्य वह वर्णान्तर से अभ्यवहित परवर्णके
स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

आदेः—परके स्थानमें विधीयमान (कहा गया) जो कार्य वह परके आदि वर्णके
स्थानमें हो—ऐसा समझना चाहिये ।

ऽऽदेवोऽयम् । अत्राऽघोषस्य महाप्राणस्य विवारस्य स्वास्य सस्य तादृश एव यः, इति सस्य यः ॥ झरो झरि सवर्णे । ८।४।६५। हलः परस्य झरो लोपो वा स्यात्सवर्णे झरि ॥ झरि च । ८।४।५५। खरि परे झलां चरः स्युः । इत्युदो दस्य तः । उत्थानम् । उत्तमनम् ॥ भ्रयो होऽन्यतरस्याम् । ८।४।६२। झयः परस्मद्दस्य वा पूर्वसवर्णः स्यात् । नादस्य घोषस्य संवारस्य महाप्राणस्य हस्य तादृशो वर्गचतुर्थ एवादेशः । वाग्घरिः । वाग्हरिः ॥ शश्छोऽटि । ८।४।६३। पदान्ताज्जयः परस्य शस्य छो वा स्यादटि । नञ्ऽवः । नञ्ऽशिवः । पदान्ताज्जिम् । विरण्शम् ।

'उद् स्थानम्' 'उद्-स्तम्भनम्' इति स्थिते । अत्र उद्ः परयोः । 'स्या' इत्यस्य 'स्तम्भ' इत्यस्य च पूर्वसवर्णः-दकारसवर्णः प्राप्तः । तत्र 'आदेः परस्य' इति परिभाषया स्यास्तम्भोराद्यायवस्य सकारस्यैव भवति । तत्र पूर्वदकारसवर्णाश्च-तथ द ध नाः पञ्चैव । दन्तस्थानसाम्यात्, सृष्टप्रयःनसाम्याच्च । न तु लृकारः सकारश्च । तयोः स्थानसाम्येऽपि विवृतप्रयत्नत्वात् । नापि लकारः ईपत्सृष्टत्वात् । एनदतिरिक्ताश्च सर्वे वर्णाः भिन्नस्थानकत्वात् दकारसवर्णाः । एवञ्च पूर्वनिमित्तभूतदकारसवर्णाः 'तथ द ध नाः'पञ्चापि सकारस्य प्राप्ताः । तत्र सकारस्य विवारश्चासाघोषमहाप्राणवतः सादृश्यात् तस्थाने तादृक् विवारश्वासाघोषमहाप्राणवान् 'थ्' एव लभ्यते । तेन सस्य थकारादेशे 'उद् थ् थानम्' 'उद् थ् तम्भनमि'ति जाते 'झरो झरि सवर्णे' इत्यनेन दकारोत्तरवर्तिनः थकारस्य विकल्पेन लोपे 'खरि च' इत्यनेन दकारस्य चत्वं 'उत्थानम्' 'उत्तमनम्' इति भवतः । पक्षे 'उत्थानम्' 'उत्थतम्भनम्' इत्येव न तु थकारस्य चत्वंम् । चत्वं प्रति थकारस्यासिद्धत्वात् । वाग्घरिरिति । 'वाक् हरिः' इति स्थिते । अत्र 'झलां जशोऽन्ते' इत्यनेन जश्त्वे गकारे कृते झजप्रत्याहारान्तःपातिनो गकारात् परस्य हकारस्य पूर्वसवर्णः-गकारसवर्णाः, क ख ग घ ङ इति प्राप्ताः । तत्र हकारेण संवारनादघोषमहाप्राणवता तुल्यः-संवारनादघोषमहाप्राणवान् घकारो विकल्पेन हकारस्य स्थाने जातः । तेन वाग्घरिरिति रूपं जायते । पक्षे वाग्हरिरिति भवति । 'नञ् शिवः' इति स्थितेऽत्र दकारस्य 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन सूत्रेण श्चुत्वे-अकारे कृते तस्य जकारस्य 'खरि च' इत्यनेन चकारे कृते 'तच्-शिवः' इति जाते तद्वन्तरम् 'शश्छोऽटि' इत्यनेन सञ्जन्तःपातिनश्चकारात्परस्य

झरो झरि—इत्से पर-झरका विकल्पसे लोप हो, सवर्ण झरके परे ।

खरि च—खर् परमें हो तो झलके स्थानमें चर् आदेश हो ।

झयो हो—झ से पर जो हकार उसके पूर्वसवर्ण हो, विकल्पसे ।

नोटः—नाद, घोष, संवार और महाप्राण-प्रयत्नवान् जो हकार उसके स्थानमें तादृश प्रयत्नवान् चतुर्थ वर्ण आदेश हो ।

छुत्वममीति घाच्यम् । तच्छ्लोकेन । तच् श्लोकेन । अमि किं वाक्श्रोत्रि ।
 मोऽनुस्वारः । ८।३।२३। मान्तस्य पदस्याऽनुस्वारः स्यादिति । हरिं वदे ।
 पदस्य किम् ? गम्यते ॥ नञ्चाऽपदान्तस्य झलि ८।३।२४। नस्य मस्य चाऽप-
 दान्तस्य झल्यनुस्वार स्यात् । यशासि । आक्रस्यते । झलि किम् ? गम्यते ॥
 अनुस्वारस्य ययि परसवर्ण ८।४।५८। चङ्कित । अक्षिणः । शान्तः ।
 शुम्भिकः । वा पदान्तस्य ८।४।५९। पदान्तस्याऽनुस्वारस्य ययि(परे)परसवर्णो

दास्य अटप्रत्याहारान्त पातिनि शकारोत्तरवर्तिनीकारे परे ध्रुवे च विहिते-‘त-
 च्छिव’ इति निष्पद्यम् । ध्रुवामावे ‘तच्छिव’ इति भवति । पदान्तात्मिकमिति ।
 ‘शरछोटीति’ सूत्रे पदान्तादित्यननुवृत्तौ ‘विरपूशम्’ अत्र शकारे ध्रुवापनि-
 प्रसङ्ग । पकारस्य झयप्रत्याहारगतत्वेन तस्य झयूवास्तत्परश्च शकारोपस्थिते स
 स्वात् । पदान्तादियनुवृत्तौ तु विरपूशम् इत्यस्यैरुपदेशेन पकारस्य पदान्तेऽस्त्येन
 ध्रुवाप्राप्ती दोषप्रसङ्गनिवास । छत्वममीति । ‘शरछोष्टि’ इति सूत्रे अटीति विहाय
 अमिति यत्तन्मिथ्यम् । ‘शरछोऽमि’ इति सूत्रे षठनीयमिति यावत् । तच्छ्लो-
 केनेति । ‘तद्-श्लोकेन’ इत्यत्र ‘सो रचुना रचुः’ इत्यनेन दकारस्ये जकारे कृते
 ‘सरि . च’ इत्यनेन घकारे ‘नच्-श्लोकेन’ इत्यवस्थाया ‘छुत्वममीति वाच्यम्’
 इति धातुिकेन दास्य ध्रुवे च कृते ‘तच्छ्लोकेन’ इति सिद्धयति । पक्षे—‘तच्छ्लोकेन’
 इति । यशासीति ‘यशान्-सि’ इत्यत्र ‘नञ्चापदान्तस्य झलि’ इत्यनेन पदा-
 न्तरहितस्य नकारस्य अटप्रत्याहारान्त पातिनि मकारे परे नस्यानुस्वारे कृते ‘द-
 नासि’ इति । ‘आक्रस्स्यते’ इत्यवस्थाया मकारस्य अपदान्तत्वात् ‘नञ्चापदान्तस्य
 झलि’ इत्यनेनैव झलि परे मस्यानुस्वारे विहिते-‘आक्रस्यते’ इति ‘त्वम् करोषि’ इति
 स्थिते ‘मोऽनुस्वार’ इत्यनेन पदान्तस्य मस्यानुस्वारे विहिते सति तस्य स्थाने
 ‘वा पदान्तस्य’ इत्यनेन विकल्पेन परस्य ककारस्य सवर्णे क झ ग घ ङ इति

शरछोष्टि-पदान्त शयसे पर शकारके स्थानमें छकार आदेश हो, विकल्पमें, अटके परे ।
 नोट—शकारके पूर्व तवर्ग होनेपर पदके तवर्गको अनुस्र होकर दोशकारको छकार हो ।
 छुत्वममीति—पदान्त शयसे पर शकारके स्थानमें छकार हो, विकल्पमें, अमके परे ।
 मोऽनु—मान्त पदके स्थानमें अनुस्वार हो, हल्के पर ।
 नञ्चा—अपदान्त नकार-मकारके स्थानमें अनुस्वार हो, हल्के परे ।
 अनुस्वारस्य—अपदान्त अनुस्वारके स्थानमें परसवर्ण आदेश हो, ययके परे ।
 नोट—पदके मध्यमें स्थित अनुस्वारके बाद जिस वर्गका वर्ण रहता है, अनुस्वारके
 स्थानमें उसी वर्गका पञ्चम वर्ण हो जाता है ।
 वा पदा—पदान्त अनुस्वारके स्थानमें विकल्पसे परसवर्ण आदेश हो, ययके परे ।

वा स्यात् । त्वङ्करोपि । त्वं करोपि ॥ त्वन्तनोपि । त्वं तनोपि । संवत्सरः । संवत्सरः । यँल्लोकम् । यँल्लोकम् । अनुस्वारस्य पक्षे अनुनासिका यवलाः । मो राजि समः कौ । ८।३।२५। किवन्ते राजती परे समो मस्य म एव स्यात् । सम्राट् ॥ हे मपरे वा । ८।३।२६। मपरे हकारे मस्य मो वा स्यात् । किम् हल्यति । किं हल्यति । यवलपरे यवला वेति वक्तव्यम् । कियँ ह्यः । किं ह्यः । किवँ हल्यति ।

सवरिमन् प्राप्ते 'स्थानेऽन्तरतमः' इत्यनेन अनुस्वारस्य नासिकास्थानत्वात् तत्स्थानतुल्यो ङकारो जातः । तेन 'त्वङ्करोपि' इति भवति । पक्षे—अनुस्वारात्मकम्—'स्वं करोपि' इति रूपम् । मो राजीति । म इति प्रथमान्तम् । 'मोऽनुस्वारः' इत्यतो म इति स्थानपष्ठयन्तमनुवर्तते । समः ह्रस्ववयवपष्ठौ । प्रत्ययग्रहणपरिभाषया किप्रहणेन किप्रत्ययान्तलाभः । तदाह—किन्त इत्यादिना । 'सम्राट्' इति स्थितेऽत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेन मकारस्य स्थाने अनुस्वारे प्राप्ते तं वाधित्वा 'मो राजि समः कौ' इत्यनेन मकारस्य स्थाने म एव विधीयते । तेन 'सम्राट्' इति भवति । मकारस्य स्थाने मकारविधानमनुस्वारनिवृत्त्यर्थमिति भावः । हे मपर इति । 'मोऽनुस्वारः' इत्यतः म इति पष्ठयन्तमनुवर्तते । 'मो राजि समः कौ' इत्यतः म इति प्रथमान्तमनुवर्तते । मः परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह—मपरे इत्यादिना । 'किम्-हल्यति' इत्यत्र 'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे प्राप्ते तं प्रवाध्य 'हे मपरे वा' इत्यनेन मस्य मत्वे कृते । 'किम् हल्यति' इति भवति । पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं हल्यति' इति भवति । यवलपरे इति । यवलाः परे यस्मादिति विग्रहः । यवलपरके हकारे परे अस्य क्रमेण यवला एव वा स्युरित्यर्थः । कियँ ह्य इति । 'किम्-ह्यः' इत्यत्र 'यवलपरे यवला वा' इत्यनेन वा-र्तिकेन यपरके हकारे परे 'मोऽनुस्वारः' इति प्राप्तमनुस्वारं वाधित्वा मकारस्यानुनासिके यकारे विकल्पेन विहिते कियँ ह्यः इति भवति । पक्षे—अनुस्वारे 'किं ह्यः' इति । एवमेव—'किम्-हल्यति' 'किम्-ह्लादयति' इत्यत्र वपरके वँ इति लपरके लँ इति चानुनासिके कृते 'किवँ हल्यति' इति 'किलँ ह्लादयति' इति; च भवतः । पक्षे—'मोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'किं हल्यति' 'किं ह्लादयति' च जायेते ।

मो राजि—किवन्त राज् धातुके परे र्तमके मकारके स्थानमें मकार ही आदेश हो—अनुस्वार नहीं हो ।

हे मपरे—मकारपरक हकारके परे, मकारके स्थानमें मकार ही हो, विकल्पसे ।

यवलपरे—य-व-ल परक हकारके परे मकारके स्थानमें यथाक्रमसे अनुनासिक विशिष्ट यँ वँ लँ आदेश हो, विकल्पसे, (पक्षे अनुस्वारः) ।

किं हलयति । किल् ह्रादयति । किं ह्रादयति ॥ नपरे न । ८।३।२७। नपरे हकारे
 मस्य नो वा । किन् हनुते । किं हनुते ॥ इत् सि धुट् । ८।३।२९। आद्यस्य षस्य
 युट् वा ॥ आद्यन्तौ टकितौ । १।१।४६। टिकितौ यस्योक्तौ तस्य कमादायन्ताऽव
 यवौ स्त । पटसन्तः । पट सन्त ॥ हृणो कुक्कुट्कारि । ८।३।२८। उकारण-
 कारयो कुक्कुटावागमौ वा स्त शरिः । कुक्कुटोरपिद्धावाज्ज अस्त्वम् । चयो
 द्वितीयाः शरिः पौष्करसादेरिति याच्यम् । प्राहृष्यष्ट । प्राहृष्यष्ट । प्राहृ

नपरे न इति । हे इति चेति म इति चानुवर्तते । न परो षश्मादिति विग्रहस्त-
 दाह—नपरे हकारे षस्यदिना । किन्हुने इति । 'किम् हुते' इत्यत्र 'नपरे न'
 इत्यनेन मूत्रेण नपरे हकारे परो मस्य नपरे हुते 'किम् हुते' इति रूपम् । पठे-
 मस्यानुस्वार 'किं हुते' इति । पटसन्त इति । 'पट-सन्त' इत्यत्र 'ह सि
 धुट्' इत्यनेन बाल् परस्य धुट्प्राप्तिः, स क म्यादित्याशङ्क्यामाह—'आद्यन्तौ टकितौ'
 इति शिवात्मस्यादां धुटि जाते 'पट् धुट् सन्त' इति जातम् । अत्र तस्य 'हल-
 न्यम्' इत्यनेनेसजाया घकारात्तरवर्तिने उकारस्य च 'उपदेशेऽजनुनासिक इव'
 इत्यनेनेसजायां 'तस्य लोप' इत्यनेन लोपे च कृते 'पट् थ सन्त' इति भूतम् ।
 अत्र 'शरि च' इत्यनेन घस्य तकार उकारस्य टकारे च कृते 'पट् सन्त' इति जातम् ।
 धुट्मावपचे—'शरि च' इति ङस्य चार्थे टङ्गे कृते 'पट् सन्त' इति जायते । अत्र
 'पुना पु' इत्यनेन पुङ्गव न नङ्गवम् । 'न पदान्तादोरनाम्' इति निषेधात् ।
 घृण कुर्णिति । 'हे मपरे वा' इत्यनेन वेत्यनुवर्तते । कुक्कु च कुक्कु चेति समाहार-
 द्वेद् । उकारणकारयो कुक्कुटावागमौ वा स्त शरिः इत्यर्थः । उभयत्र कदापि
 ह्रासञ्ज । उकार उच्चारणार्थः । 'प्राहृष्यष्ट' इति सिचते, अत्र 'हृणो कुक्कुट्
 कारि' इत्यनेन उकारस्य जुगागम 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन उकारस्यान्ते जाते
 'प्राहृष्यष्ट' इति निष्पन्ने मति 'क्' इत्यस्य 'हलन्यम्' इत्यनेनेसजायां
 'तस्य लोप' इत्यनेन लोपे च 'प्राहृष्यष्ट' इति जाते तत्र विकल्पेन 'चयो
 द्वितीया शरिः पौष्करसादेरिति याच्यम्' इति वार्तिकेन मन्वे विहिते 'प्राहृष्यष्ट

नपरे न नकारपरक हकारके परो मकारके स्थानमें नकार आदेश हो, निश्चयसे ।
 (उभे अनुगा) इ-र- उकारपर मकारके स्थानमें धुट्का भागम हो, निश्चयसे ।

आद्यन्तौ—प्रसङ्गे स्थानमें टिप्प भागम कहा गया हो वह टिप्प उतके आधावध (पूने)
 में और टिप्प अन्वयवध (पर) में हो ।

हृणो—उकारण-कारको कुक्कुट्का भागम हो, विकल्पसे, शरुके पर ।

चयो—चय (वर्गके प्रथम अक्षर) के स्थानमें द्वितीय अक्षर हो 'पौष्करसादि'
 आनन्दके अन्वये—अप्यं विकल्पसे ।

पठः । सुगण्ट्पठः । सुगण्ट्पठः । सुगण्पठः ॥ नश्च । ८।३।३०। नान्तात्परस्य
सस्य धुट् वा । सन्त्सः । सन्सः ॥ शि तुक् । ८।३।३१। पदान्तस्य नस्य शे परे तुग्
वा । सञ्छम्भुः । सञ्छम्भुः । सञ्छम्भुः । सञ्छम्भुः । अछौ जचछा जचशा

इत्यभवत् । द्वितीयाक्षराभावे क्पसंयोगे 'प्राङ्पठः' इति भवति । कुगागमाभावे
'प्राङ्पठः' इति । एवम् 'सुगण-पठः' इति दशायां 'रुणोः कुकटुकुशरि' इत्यनेन
णकारस्य दुगागमे 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवे जाते 'सुगण-ट्क्
पठः' इति जाते उकारे निवृत्ते ककारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सुगण्ट् पठः' इति ।
तत्र 'अचो द्वितीयाः शरि पौष्करसादेरिति वाच्यम्' इत्यनेन द्वितीयाक्षरे ठकारे
विकल्पेन जाते 'सुगण्ट् पठः' इत्यभवत् । द्वितीयाक्षराभावे 'सुगण्ट् पठः' इति
भवति । दुगागमाभावे 'सुगण पठः' इति । सन्त्स इति । 'सन्-त्स'
इत्यवस्थायां 'नश्च' इति सूत्रेण धुटि विहिते क भवति इति शङ्कायाम् 'आ-
द्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन सत्याधावयवे 'सन् धुट् स' इति जाते । तत्र उकारस्य
निवृत्तिः । टकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे च
'सन् ध् स' इति जाते । तत्र 'खरि च' इत्यनेन धकारस्य चत्वेन तकारे कृते सति
'सन्त्सः' इति जायते । धुटागमाभावे 'सन्त्स' इति भवति । शि तुगिति । पूर्वसूत्रात्
न इति पञ्चम्यन्तमनुवृत्तमिह पठयन्तमाश्रीयतेः शब्दाधिकाराश्रयणात् । 'पदस्य'
इत्यधिकृतम् अवयवपठयन्तमाश्रीयते । 'हे मपरे वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते तदाह-
पदान्तस्य नस्येत्यादिना । 'सन्-शम्भुः' इत्यत्र कस्य सूत्रस्य प्राप्तिः ? 'तुक्' इत्य-
स्य, तेन पदान्तनस्य तुकि कृते 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन नस्यान्तावयवे कृते 'सन्
तुक् शम्भुः' इति जाते अत्र 'हलन्त्यम्' इत्यनेन कस्येत्संज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्य-
नेन लोपे उकारनिवृत्तौ सत्याम् 'सन् व शंभुः' इति जाते 'शरुञ्छोऽटि' इत्यनेन शंभु-
रित्यस्य शस्य छत्वे कृते 'सन् व छम्भुः' इति जाते 'स्तोः रचुना रचुः' इति तस्य
चत्वे पुनः 'स्तोः रचुना रचुः' इति नस्य अत्वे च विहिते 'सञ्छम्भुः' इति जायते ।
अत्र 'क्षरो क्षरि सक्षर्णे' इति वैकल्पिकचलोपः, तत्र 'सञ्छम्भुः' इति । चलोपाभावे
च 'सञ्छम्भुः' इति । शरुञ्छोऽटि छत्वाभावे 'स्तोः रचुना रचुः' इति तस्य
चत्वे पुनः 'स्तोः रचुना रचुः' इत्यनेन नस्य अत्वे च विहिते 'सञ्च शम्भुः' इति

नश्च - नान्त पदसे पर सकारको धुट्का आगम् (सकार से पूर्व) हो, विकल्पसे ।

शि तुक् - पदान्त नकारको शकारके परे तुक् का आगम (नकारसे आगे) हो, विकल्पसे ।

नोट - सन् + शम्भुः इस स्थितिमें नको तुक् होनेपर 'सन् व शम्भुः' ऐसी स्थितिमें
तकारको रचुत्व 'च्' और नकारको रचुत्व 'ञ्' होता है । तदुपरान्त शकारको विकल्पसे
छत्वं होनेपर 'क्षरो क्षरि' से चकारका विकल्पसे लोप हो जाता है । इसीको मूलकारने कहा
है - 'अछौ' इत्यादि ।

अज्ञाविति चतुष्टयम् । रूपाणामिह तु यद्दृष्टवन्तोपानां विकल्पनात् ॥
 ङमो ह्रस्वाच्चि उमुणितयम् ।।३।३।। ह्रस्वात्परो यो ङम्, तदन्त यत्पद,
 तस्मात्परस्याऽचो नित्य उमुदागम स्यात् । प्रत्यङ्ङात्मा सुगण्णीशः । सप्तच्युत ॥
 सप्त, स्रुष्टि ।।३।५।। ममो ङ स्यात्स्रुष्टि ॥ अत्रानुनासिकः पूर्वम्य तु षा
 ।।३।२।। अत्र ऋप्रकरणे रो पूर्वस्यानुनासिको वा स्यात् । अनुनासिकात्परोऽ-
 नुस्वार ।।३।३।। अनुनासिकं विहाय रो पूर्वमात्परोऽनुस्वारगम स्यात् । अर-

तुकश्रामावे नस्य रशुये च हृते 'सप्तशम्भु' इति रूपचतुष्टयमत्र योज्यम् । तथाहि
 सप्तशब्द—अद्यी अचक्षा अचक्षा अज्ञाविति चतुष्टयम् । रूपाणामिह तु यद्दृष्टवन्तो
 पानां विकल्पनात् । इति ङमो ह्रस्वादिति । ङम् प्रत्याहारः । ङम् इति पञ्चम्य-
 न्तम् । तद्विशेषणाच्चापद्रव्येऽप्यधिकृत पञ्चम्यन्ततया विपरिणम्यते । ङम् इति च
 ह्रस्वादिति विशेषणसम्बन्धमनुभूय पदविशेषणात् भजत् तदन्तपरम् । ङम् इति
 पञ्चमीशलात् अचीति मसमी पठ्यर्थे । तदाह—ह्रस्वात्पर स्यादिति । प्रत्यङ्ङात्मा ।
 'प्रत्यङ्ङात्मा' इत्यत्र 'ङमो ह्रस्वाच्चि उमुण् नित्यम्' इत्यनेन ह्रस्वात्परस्य
 ङमप्रत्याहारान्त पातिनो टकारात्परस्याद्यप्रत्याहारान्तवर्तिन आकारस्य टिवादादी
 ह्रमुष्टि जाते प्रत्यङ्ङु टुट् आत्मेति जातम्, उकाररयोश्चकारणात्प्राप्तश्चिनुसौ टकारस्ये-
 त्तंजायां लोपे च 'प्रत्यङ्ङु आत्मा' इति तत्र सर्वसिन्नु मयुक्ते 'प्रत्यङ्ङात्मा' इति
 रूपमभवति । एत 'सुगण्-ईश' इत्यत्र 'ङमो ह्रस्वाच्चि उमुणितयम्' इत्यनेन 'ई'
 इत्यस्य शुदागमे उकारस्यानुबन्धस्य च निवृत्तौ सयोगे च सति 'सुगण्णीश'
 इति भवति । एतमेव 'सन्-अभ्युत्' इति दशम्यां 'ङमो ह्रस्वाच्चि०' इत्यनेन

ङमो—ह्रस्व जो ङम्, तदन्त जो पद, तमसे पर जो अच् उपको नित्य उमुदाग
 आगम (अच्के बाद) हो ।

नोट—दीर्घ स्वरके बाद 'मदानात्मा' इत्यादि स्वर्गमें कहीं भी उमुट् का आगम नहीं
 होगा, पर ह्रस्व स्वरके बाद भी कचित् उमुदागमाव देखा जाय (वह गण्ण) है जैसे—
 सन् + भादि = सनादि, मन् + ह्यते सनिभ्यत्रे इत्यादि । सुसिद्ध + अन्तम् = सुसिद्धन्तम् ।
 इको यन् + अचि = 'इको यणचि' यहा तो आपत्त्यात् उमुदागमाव समझना चाहिये ।

सप्त—मम्के मकारके स्थानमें ङ आदेश हो स्रुष्टके परे ।

अत्रानु—इम ऋप्रकरणमें (समसुषो क से विहित 'क' को छोड़कर) 'क' से पूर्व वर्ग
 को अनुनासिक आदेश हो, विकल्पसे ।

अनुना—अनुनासिकको छोड़कर कसे पूर्व वर्गके परे अनुस्वारका आगम हो ।

अर—अवसानमें रेफ हो अथवा पदान्त रेफके बाद र् (वर्गके प्रथम-द्वितीय अक्षर
 तथा च व स का) कोरं भी र्नी हो तो रेफके स्थानमें विसर्ग हो ।

वसानयोर्विसर्जनीयः । ८।३।१५। सरि श्रवसाने च पदान्तस्य रेफस्य विसर्गः
स्थात् । इति प्राप्ते । संपुंकानां सो वक्तव्यः । संस्कृता । संस्कृता ॥ पुमः
स्वर्यम्परे । ८।३।६। अम्परे खयि पुमो रु स्यात् । पुँस्कोकिलः ॥ पुँस्कोकिलः ।
पुँस्पुत्रः । पुँस्पुत्रः । अम्परे किं ? पुँशोरम् । खयि किं ? पुँदासः । पुँसः संयोगान्त-

पूर्वचत् नुटि 'सन्नच्युतः' इति सिद्धयति । संस्कृतेति । 'सम्-कर्ता' इत्यत्र
'सम्परिभ्यां करोती भूषणे' इति सूत्रेण सुडागमेऽनुबन्धलोपे सन्नि, 'सम् स्-
कर्ता' इति जाते अत्र 'समः नुटि' इति सुट्सम्बन्धिनि सकारे परे सर्वस्य 'स
रुवे प्राप्ते 'अलोऽन्यस्य' इति योगेनान्यस्य मस्य रुत्वे उकारलोपे च विहिते 'स
रु स् कर्ता' इति भूते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके
जाते 'सं रु स् कर्ता' इति जाते, यस्मिन् पक्षे वात्रहणादनुनासिको नाभूत् अस्मिन् पक्षे
'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति योगेनानुस्वारे कृते 'सं रु स् कर्ता' इति जाते अत्र
'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इत्यनेन खन्प्रत्याहारान्तःपातिनि सकारे परे रेफस्य
विसर्गे विहिते संस्कृता, संस्कृता, इति जाते अत्र 'विसर्जनीयस्य सः' इति विसर्ग-
नीयस्य सत्वे प्राप्ते 'वा शरि' इति विसर्जनीयस्य विसर्जनीयत्वं च लब्धे इहोभय-
मपि प्रवाध्य, संपुंकानां सो वक्तव्यः' इति वार्तिकेन विसर्गस्य सत्वे कृते 'संस्कृता'
इति 'संस्कृता' इति च रूपद्वयं सिद्धयति । पुमः स्वयम्पर इति । 'मतुवसा रुः
सम्बुद्धौ' इत्यतो रुग्रहणमनुवर्तते । अम् परो यस्मादिति विग्रहस्तदाह-अम्परे खयाति ।
पुँस्कोकिल इति । पुमांश्चासौ कोकिलश्चेति कर्मधारयसमासः । 'पुम्-कोकिलः' इत्यत्र
'पुमः खय्यम्परे' इत्यनेन पुमो मस्य रुत्वे रेफोत्तरवर्ग्युकारलोपे 'पुर् कोकिल' इति
जाते 'अत्रानुनासिकः पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके पुँरकोकिलः, पक्षे—'अनुनासि-
कात्परोऽनुस्वारः' इत्यनेनानुस्वारे 'पुँर कोकिल' इति भूते अत्र 'खरवसानयोर्विसर्ज-
नीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वं 'कुप्वोऽकःपौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते तं
वाधित्वा 'सम्पुंकानां सो वक्तव्यः' इति विसर्गस्य सत्वे कृते 'पुँस्कोकिलः' 'पुँस्को-

संपुङ्गानां—सम्-पुम-आन् इनके विसर्गके स्थानमें सकार ही हो-पैसा कहना चाहिये ।

नोटः—संस्कृता-संस्कृता-कृषातुके पद परमें होनेसे 'सम्' उपसर्गके बाद 'सम्प-
ग्भ्यां करोती भूषणे' इम सूत्रसे सुट होकर 'सम् स्कर्ता' पैसा बनता है; तदुपरान्त उस
सुटके परे सम्के मकारको रुत्व और सकारको अनुनासिक अथवा अनुस्वार तथा रुत्वके
रेफ को विसर्ग होकर सत्व हो जाता है ।

पुमः—अम् परक खय परमें होनेसे पुम्के स्थानमें रु आदेश हो ।

नोटः—सम्भावना रहने पर कहीं श्चुत्व और कहीं टुत्व भी होता है । यथा—
पुम् + चरित्रम् = पुँश्चरित्रम् । पुम् + टीका = पुँटीका ।

लोपेऽवशिष्टमागस्येदमनुकरणम् । खयाप्रादेशे न । पुंल्लयानम् ॥ न श्लक्ष्ण्यप्रशान्
 ॥८३॥ अम्परे छवि नान्तस्य पदस्य क् ॥ विसर्जनीयस्य सः ॥८३३॥ छवि
 परे विसर्जनीयस्य सः स्यात् । चर्किंछायस्व । चर्किंछायस्व । अप्रशान् किम् ।
 प्रशान्तोति । पदस्य किम् ? हन्ति । अम्परे किम् ? सन्सकः खड्गमुष्टि ॥ नन्वे
 ॥८३३॥ नन्वित्यस्य र्वां पे ॥ कुप्वोऽकऽपौ च ॥८३३॥ क्वर्गो, पवर्गो
 च परे विसर्गस्यऽकऽपौ स्त । चाद्विसर्गः । नूऽपाहि । नूऽपाहि । नू पाहि ।
 नू पाहि । नूपाहि ॥ सोऽपदादौ ॥८३३॥ विसर्गस्य सः स्यादपदायोः कुप्वोः ।

किल ' हति । चर्किंछायस्वेति । 'चर्किन्-त्रायस्व' इति स्थिते 'नरक्ष्ण्यप्रशान्' इति
 नान्तस्य पदस्य चर्किन् इत्यस्य रूपे प्राप्ते 'अलोऽस्यस्य' इति 'नू' इत्यस्य स्थाने
 कृते अम्परकक्ष्ण्यप्रयाहारा त पातिनि ककारे परे । तदा 'चर्कि र्त्रायस्व' इति जाते
 रेफोत्तरवर्त्युकारस्येत्सज्ञाया लोपे च 'चर्कि र्त्रायस्व' इति जाते । अत्र 'अप्रानुनासिक'
 पूर्वस्य तु वा' इति अनुनासिके, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वार' इत्यनुस्वारे च
 'चर्कि र्त्रायस्व' 'चर्कि र्त्रायस्व इति जाते 'खरवसानयोर्विसर्जनीय' इति उभयत्र
 रेफस्य विसर्गे 'विसर्जनीयस्य स' इति विसर्गस्य सत्वे 'चर्किंछायस्व' 'चर्किंछा-
 यस्व' इति । नूऽपादौति । 'नू-पाहि' इत्यत्र 'नू पे' इत्यनेन नस्य रूपे उकारलोपे
 'अप्रानुनासिक' पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके, पक्षे—'अनुनासिकात्परोऽनुस्वार'
 इत्यनुस्वारे 'खरवसानयोर्विसर्जनीय' इति विसर्गे—'कुप्वोऽकऽपौ च' इत्युप-
 ध्यानीये च नूऽपाहि, नूऽपाहि, इति । उपध्यानीयाभावे सति विसर्गे नूः पाहि
 'नू पाहि' । पक्षे—'नूपाहि' इति पञ्च रूपाणि । मूत्रे पे इत्यत्राकार उच्चारणार्थं । तेन
 'नू पुनाति' इत्यादावपि पञ्च रूपाणि बोध्यानि । सोऽपदादौति । कुप्वोरित्यनुचर्तते ।
 तस्याऽपदादौति विशेषणम् । द्विरपे एकत्र -नभात् प्रत्येकाऽभिप्राय वेदवचनम् ।
 विसर्जनीयस्येत्यप्यनुचर्तते । कुप्वोरित्यस्याऽपवादः । पयःपाशमिति । कुप्सित पय
 इत्यर्थे 'याप्ये पाशप्' इत्यनेन पयस्शब्दात्पाशप्रत्यये । 'पयस्-पाशम्' इति
 स्थिते सप्तह्रस्वरित्यनेन रूपे उकारस्येत्सज्ञाया लोपे 'खरवसानयो' इत्यादिना
 स्य विसर्गे 'पयः पाशम्' इति जाते कुप्वोऽकऽपौ चेत्यनेनोपध्यानीय प्राप्ते च

नरक्ष्ण-अन् परक छत्र परमे होने पर प्रशान् भिन्न नान्त पदके स्थानमें व आदेश हो ।

विसर्ज—सर् परमे होने पर विसर्गके स्थानमें स् आदेश हो ।

नन्वे—नून्के नकारके स्थानमें व हो पकारके परे, विकरमे ।

कुप्वो—क्वर्ग-पवर्गके परे विसर्गके स्थानमें क्रममे त्रिहामुलोप, उपध्यानीय अथवा

चकारात् विसर्ग हो हो । (क्वर्ग परका वडाहरण विसर्गसन्निभे देखो) ।

सोऽप—विसर्गके स्थानमें 'स्' आदेश हो, अथवादि क्वर्ग-पवर्गके परे ।

पयस्पाठम् । पयस्कल्पम् । यशस्कम् । यशस्काम्यति । अनव्ययस्येति वाच्यम् ।
 प्रातःकल्पम् । काम्ये रोरेवेति वाच्यम् । नेह-गीः काम्यति । इणः पः । ८।३।३९।
 इणः परस्य विसर्गस्य षः स्यात् पूर्वविषये । सर्पिकल्पम् । सर्पिष्पाशम् । सर्पिकम् ।
 सर्पिकाम्यति ॥ कस्कादिषु च । ८।३।४८। एविण उत्तरस्य विसर्गस्य षः स्याद-
 न्यस्य तु सः । कस्कः । कौतस्कृतः । सर्पिकुण्डिका । घनुष्कपालमित्यादि । आकृति-

वाधित्वा 'सोऽपदादौ' इत्यनेन विसर्गस्य सकारे प्रोक्तरूपसिद्धिः । यशस्कल्पमिति ।
 ईपदसमाप्तं यश इत्यर्थे । यशसशब्दात् 'ईपदसमाप्तौ कल्पय् देरयदेशीयरी' इति
 कल्पप प्रत्यये रुत्वे विसर्गं जिह्वामूलीयं प्रवार्य 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सकारे सति
 रूपसिद्धिः । यशस्काम्यतीति । यश आत्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्च' इति यशसशब्दात्
 काम्यच् प्रत्यये रुत्वे विसर्गं 'सोऽपदादौ' इति नित्यं सत्वे सत्युक्तरूपसिद्धिः । अनव्य-
 यस्येति । सोऽपदादाविति विधिरनव्यस्य न भवतीत्यर्थः । प्रातःकल्पमिति । ईपदस-
 माप्तं प्रातः प्रातःकल्पम् । प्रातःशब्दात् 'ईपदसमाप्तौ कल्पय् देरयदेशीयरी' इत्यनेन
 कल्पपि 'प्रातः-कल्पम्' इति जाते रस्य 'खरवसानयोरिति विसर्गं 'सोऽपदादौ' इति
 नित्यं विसर्गस्य सत्वे प्राप्ते तं वाधित्वा 'अनव्ययस्येति वाच्यमिति' चार्तिकेन
 विसर्गं सकाराभावे च जाते प्रातःकल्पमित्यस्य सिद्धिः । काम्ये रोरिति । काम्यप्रत्यये
 परतो रुस्थानिकस्यैव विसर्गस्य स्थाने 'सोपदादौ' इत्यनेन सकारो भवतीत्यर्थः ।
 गीः काम्यतीति । गिरमात्मन इच्छतीत्यर्थे 'काम्यच्च' इति काम्यचि । 'गीर् काम्यति'
 इति जाते रेफस्य विसर्गं 'सोऽपदादौ' इत्यनेन नित्यं सत्वे प्राप्ते 'काम्ये रोरेवे'ति
 चार्तिकबलात् विसर्गं गीः काम्यतीति । इणः पः इति । अत्र कुप्चोरिति, अपदादाविति,
 अनव्ययस्येति, काम्ये रोरेवेति च सम्बध्यते । परस्येत्यध्याहार्यम् । विसर्जनीय-
 स्येत्यनुवर्तते । सर्पिकमिति । 'सर्पिस्-कम्' इत्यवस्थायां सस्य रुत्वे विसर्गं 'सर्पि-
 कम्' 'कुप्चोःक-पौ च' इत्यनेन प्राप्तं जिह्वामूलीयं प्रवार्य 'इणः पः' इत्यनेन परत्वे
 सति 'सर्पिकम्' इत्यस्य साधुत्वम् । सर्पिष्पाशमिति । कुस्ति तं सर्पिरिति विप्रहं
 'वाप्ये पाशप्' इति पाशप् प्रत्यये । सर्पिस् + पाशप् इति स्थितौ सस्य रुत्वे विसर्गं
 'कुप्चोः' इति प्राप्तमुपध्मानीयं वैकल्पिकं विसर्गं च वाधित्वा 'इणः पः' इति विसर्गस्य
 सत्वे 'सर्पिकम्' इति । कस्कादिष्विति । 'इणः पः' इत्यत्र इणः इति विसर्जनीयस्य सः
 इत्यतो विसर्जनीयस्येति । सोऽपदादावित्यस्य । इति प्रथमान्तमनुवर्तते । इण इति
 पञ्चम्यन्तम् । कस्कादिष्विति विषयसप्तमी । तेन कस्कादिगणे इणः परस्य विसर्गस्य

अनव्यय—अव्यय मित्त्वं विसर्गके स्थानमे (सोऽपदादौ से) सकार हो—देना करे ।
 काम्ये—काम्यच् प्रत्ययके परे रुस्थानिक विसर्गको ही (सोऽपदादौ से) सत्व हो ऐसा करे ।
 इणः—इण्से परे जो विसर्ग उसके स्थानमे 'प' आदेश हो, अपदादि कर्ग पवर्गके परे ।
 कस्कादि—कस्कादिगण पठित जो शब्द उनमें इण्से उत्तर को विसर्ग उसके स्थानमें
 'प' आदेश हो और अन्यत्र (इण्से अनुत्तर विसर्गके स्थानमें) 'स' आदेश हो ।

गणोऽयम् ॥ इदुदुपघस्य ष्वाऽप्रत्ययस्य । ८।३।४१। इकारोकारोपघस्याऽप्रत्ययस्य
 विसर्गस्य प स्यात्कृत्वो परयो । निष्प्रव्यूहम् । अलिङ्गितम् । दुष्कृतम् । अप्रत्ययस्य
 किम् ? अग्नि करोति । एकादेशशाऽनिमित्तकस्य न पत्वम् , कश्कादिषु भ्रातृपुत्र
 शब्दपाठान् । तेनेह न—मातुः कृपा । तस्य परमाश्लेषितम् । ८।१।२। द्विरुक्तस्य
 परमाश्लेषितं स्यात् ॥ कानाश्लेषिते । ८।३।२। कालकारस्य क न्यादाश्लेषिते ।
 कौस्कान् । कौस्कान् । छे च । ८।१।७३। ह्रस्वस्य छे तुक् । स्वच्छाया । शिव,

स स्यादियर्थं फलित । 'सोऽपदादावित्यत स इति प्रथमात्तस्याऽनुकर्षणत् ।
 कश्कादिषु अनिण परस्य विसर्जनीयस्य सत्त्वं स्यादित्यर्थः । तदेव वाक्यद्वयस्य
 निष्पत्तिश्च सम्यक्ते । कश्कादिषु तादृशानामेव कृतपत्वसत्वानां निर्देशेनाऽय
 वेर्थाधिक्यभाग इति भावः । 'क क' इति वीप्सायां द्विर्वचने पूर्वस्वरेऽकारोपरस्य
 विसर्जनीयस्य 'कश्कादिषु च' इत्यनेन सकारे पर्युत्तरूपस्य 'कश्क' इत्यस्य माधु-
 स्यम् । कं तरङ्ग इति । वाप्सायां द्विर्वचने कुत कुत आगम्यते इत्यर्थे 'तत आगत'
 इत्यण प्रत्यये 'तद्विधेः चामादे' इत्यादिदृष्ट्वा टिलोपे 'कश्कादिषु च' इति पूर्वाकारवर्तिनो
 विसर्गस्य सत्त्वं । 'कौतस्कुत' इति साधु । कानाश्लेषित इति । कानिति
 द्वितीयाभ्त शब्दस्वरूपपर पठ्यन्तम् । पठ्याश्च सौत्रो लुरु । नलोपाभायोऽपि सौत्र
 एव । 'अलोऽस्यस्य' इति परिभाषया कान्शब्दान्तमेति लभ्यते । स इत्यनु-
 वर्तते । तदाह—काश्कारस्येत्यादिना । कान् इत्यस्य वीप्सायां द्विर्वचने 'कान्-
 कान्' इति स्थिते प्रथमकारस्य 'कानाश्लेषिते' इत्यनेन रूपे उकारलोपे
 'अप्रानुनासिके पूर्वस्य तु वा' इत्यनुनासिके 'कौर् कान्' इति जाते पक्षे—'अनुना-
 सिकारोऽनुस्वारे' इत्यनुस्वारे 'कौर् कान्' इति भूते अत्र 'स्वरवसानयोर्विसर्ज-
 नीय' इति रेफस्य विसर्गे 'कुप्योऽफःपौ च' इत्यनेन जिह्वामूलीये प्राप्ते स प्रथम्य
 'सम्पूकानां सो वक्षस्य' इति धातुकेन सत्त्वं च इति 'कौस्कान्' 'काश्कान्' इति ।
 छे चेति । 'ह्रस्वस्य पिति कृति तुक्' इत्यसौ ह्रस्वस्येति तुमिति कानुवर्तते । सहित-
 यामित्यधिकृतम् । तदाह—उपरयेत्यादिना । स्वच्छामेति । स्वस्य क्षायेति पृष्टीतमासे

इदुदु—इकार-उकार द्वे उपायैरे जिमके ऐमा औ अप्रत्ययादयश्च विसर्गं उसके स्थानमे
 पश्य हो, कर्वा-पवर्गके परे ।

सस्य—ओ दो बार कहा गया हो उसके द्वितीय भागोक्तकी आश्लेषित सञा हो ।

काना—कान्के नकारके स्थानमे क आदेश हो, आश्लेषितसदृशके परे ।

छे—ह्रस्व वर्गकी तुक्का आगम (ह्रस्व वर्गके बाद) हो, छकारके परे ।

नोट—तुक् होनेपर लकारका अन्व होकर दकार औट दकारका इत्थन होकर अकार
 १)नेपर चत्संज्ञकाट हो जग है ।

च्छाया ॥ आङ्माङोश्च । ६।१।७४। तुक् छे । आच्छादयति । माच्छिदत् ॥
दीर्घात् । ६।१।७५। तुक् छे । म्लेच्छति ॥ पदान्ताद्वा । ६।१।७६। दीर्घात्पदा-
न्ताच्चे तुग्वा स्यात् । लक्ष्मीच्छाया । लक्ष्मीछाया ॥ इति हल्सन्धिः ॥ ३ ॥

सुब्लुकि 'स्व-छाया इति स्थितौ 'छे च' इति तुगागमे तस्य कित्त्वेन स्वेत्यस्याऽन्त्या-
वयवे स्वत् छायेति जाते 'सलां जश् सशि' इति जश्चदृष्ट्या 'स्तोः' इति चुत्वस्या-
ऽसिद्धत्वेन पूर्व जश्त्वेन तस्य दत्त्वे तदनु 'स्तोः' इति रचुत्वापेक्षया च 'खरि चेति'
चर्त्त्वस्यासिद्धतया ततः पूर्व 'स्तोः' इत्यनेन दकारस्य जकारे ततः परं 'खरि च' इति
चर्त्त्वेन चकारे च कृते 'स्वच्छाया' इति सिद्धं भवति । न च 'स्वच्छाया' इति दशा-
यामन्तर्वर्तिनीं विभक्तिमाश्रित्य चकारस्य पदान्तरत्वं प्रकल्प्य 'चोः कुः' इति कुत्वं
नाङ्क्यम् । कुत्वदृष्ट्या श्रुत्वस्याऽसिद्धत्वाद् इति भावः । शिवच्छायेति 'शिव-छाया'
इत्यवस्थायां 'छे च' इति सूत्रेण ह्रस्वस्य 'शिव' इत्यग्रस्यवकारोत्तरवर्त्यकारस्य
तुक् प्राप्तेः छे परे सति । स च किंवाद् 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्यनेन अन्तावयवो
जातः । तत्र 'हृद्यन्त्यम्' इत्यनेन ककारस्येऽसंज्ञायाम् 'तस्य लोपः' इत्यनेन लोपे
उकारस्य निवृत्तौ 'शिव त् छाया' इति जाते । इह 'स्तोः रचुना रचुः' इत्यनेन
तकारस्य चर्त्त्वे विहिते 'शिवच्छाया' इति सिद्धम् । एवमेव स्वच्छायेत्यत्र बोध्यम् ।
म्लेच्छतीति । म्ले इति दीर्घात्परस्य जकारस्य सत्त्वात्तुगागमप्राप्तौ जश्त्वे रचुत्वे,
चर्त्त्वे च कृते 'म्लेच्छति' इत्यस्य सिद्धिः फलति । न च 'दीर्घादि'त्यत्र दीर्घादि-
त्यस्य पंचम्यन्तत्वेन 'उभयनिर्देशे पंचमीनिर्देशो बलीयान्' इति छकारस्यान्तावयवो-
ऽयं तुक् न तु दीर्घस्येति चेन्न । तथा सति चेच्छ्रुते इत्यादौ छकारात्तुगागमापत्तेः ।
'सेनासुराच्छाया' इत्यादिसूत्रे दीर्घस्यैव तुगागमस्य ज्ञापितत्वेन दीर्घस्यैव तुग्भव-
तीति व्याख्यानात् । तेन म्लेच्छतीत्यत्रापि दीर्घस्यैव तुग्विधानं न तु छकारस्येति
सुस्पष्टमेवेति द्विक् । पदान्तादेति । तुक्, छे, दीर्घात्, इत्यनुवर्तते तद्वाह—दीर्घात्पदा-
न्तादित्यादिना । अत्र दीर्घस्यैवायं तुक् बोध्यः । न च 'उभयनिर्देशे पञ्चमीनिर्देशो
बलीयान्' इति परिभाषया छकारस्यान्तावयवस्तुक् स्यादिति हास्यम् । 'सेनासुरा-

आङ्—आङ् माङ्को तुक्का आगम हो, धकारके परे ।

दीर्घात्—दीर्घको तुगागम हो, धकारके परे ।

पदा—पदान्त दीर्घको तुगागम हो, धकारके परे, विकल्पते ।

सन्धि करोः—तपस् + चिनोति । त्रयस् + पट्पदाः । पट् + दर्शनम् । सम्पत् + हर्षः ।

वद् + स्थापयति । पत् + लीला । अप + नामकः । दिव्यम् + सरः । वृन् + हितम् । कथं +
कृतम् । इदं + चित्रम् । केशान् + छिनत्ति । धनवान् + स्वपिति । अप्रहासान् + शत्रुः । नृन् +
पाठय । सम् + स्तुतम् । पुन् + छविः । हसन् + आगतः । स्वत् + शशुरः । आं + छाद्यम् ।

विच्छेद करोः—प्यश्शीतम् । महाण्डामरः । अग्नागनम् । तद्देयम् । उक्तमते ।

अथ विसर्गसन्धिः

विमर्जनीयस्य स. । ८।३।३४। खरि परं विमर्जनीयस्य च । शर्परे विसर्जनीय' । ८।३।३५। शर्परे खरि विसर्गस्य विप्रगो, न स्वन्मत् । क' स्वहा । 'घना घन क्षोभण' ॥ वा खरि । ८।३।३६। खरि परं विसर्गस्य विसर्गो वा स्यात् ।

'छाया' इति पाणिनीयस्य निर्देशेन तस्या प्रवाधनात् । छस्मीच्छायेति । 'छस्मी छाया' ह्रास्वस्थापाम् 'पदान्ताद्वा' ह्रास्वनेन / मुक्ति उक्ती लोपे 'स्तो रशुना रशु' ह्रास्वनेन तस्य चादे 'छस्मीच्छाया' इति निष्पद्यम् । तुगभावे च 'छस्मीच्छाया' इति ॥

इति ह्रस्वविभक्तकरणम् ।



विसर्जनादन्वयि । म्ब्रह्मसानयोरियतो मण्डूकप्लुत्या खरीत्यनुपपद्यते । एकदेशे खरितत्त्वस्य प्रतिज्ञानात् । तद्वाह—विसर्जनीयस्य खरि स इति । विसर्गविधानञ्च तस्य सन्वपरिसङ्घानार्थम् । वाप्रहणारञ्च सावपरिसङ्घान् ५.३.३६ तदाह—

प्रत्याह्वाति । ककुम्भायक । मात्यादि । स्वस्थने, द्यन्तस्यम् । मधुरञ्च यति । मास्वाथन्द । विज्ञानइते । शिशुच्छाययति । नून् प्रतिकरोति । संस्करोति । पुंश्रमत्कार । एकस्मिन्नहनि । यावच्छस्यम् । वृशुच्छाया ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें इत्सुविभक्तकरण समाप्त हुआ ।



विस—विसर्गके स्थानमें सकार आदेश हो, खरके परे ।

नोट—विसर्ग दो प्रकारका होता है—सनात और रभात ।

(क) शब्द, विभक्ति (ह्रस्व तिङ्) अथवा प्रारभ्य मन्वन्धी सकारके स्थानमें रेफ होकर जो विसर्ग होता है उसे 'सनात' विसर्ग कहते हैं । यथा—(१) शब्द-निम् = नि । दुस् = दु । शनेम् = शने । उच्येम् = उच्ये । नोच्येम् = नोच्ये । (२) विभक्ति—रामस् = राम । इविस् = इविः । पठावस् = पठाव । (३) प्रत्यय—एकशम् = एकश । बहुशस् = बहुश ।

(कही मूर्धन्य सकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—मजुव् = मजु ।)

(ख) स्वामाधिक अथवा ऋकारस्थानिक रेफके स्थानमें जो विसर्ग हाशुके वसे रभात विसर्ग कहते हैं यथा—(१) स्वामाधिक—स्वर् = स्व । अन्तर् = अन्त । प्रातर् = प्रात । पुनर् = पुन । निर् = नि । इर् = इ । गिर् = गी । पूर् = पू । पूर् = पू । (२) ऋकारस्थानिक—मातर् = मात । वितर् = वित । ज्ञातर् = ज्ञात । इदितर् = इदिग । कामातर् = कामात । वातर् = वात ।

(कहीं नकारके स्थानमें भी रेफ होकर विसर्ग होता है । यथा—महन् = मह) ।

शर्परे—'शर्' परक 'सर्' परमें रहनेपर विसर्गके स्थान विसर्ग ही हो ।

वा खरि—'खर्', के परे विसर्गके स्थानमें विसर्ग आदेश हो, विह्वरसे ।

हरिः श्येते । हरिश्शेते । खर्परे शरि षा विसर्गलोपो घक्तव्यः ॥ हरि स्फुरति ।
हरिः स्फुरति ॥ इति विसर्गसन्धिः ॥ ४ ॥

—

अथ स्वादिसन्धिः

ससजुपो रुः । टारिदिदि । पदान्तस्य सस्य, सजुपशब्दस्य च रुः स्यात् ॥ अतो
रोरप्लुतादप्लुते । टारिदिदि । अप्लुतादतः परस्य रोः स्यादप्लुतेऽति । शिवोऽ-

परे इत्यादिना । हरिः श्येते इति । 'हरिः-श्येते' इत्यत्र 'वा शरि' इति सूत्रेण शर्प्रथ्या-
हारान्तःपातिनि शकारे परे सति विसर्गस्य विसर्गं विहिते 'हरिः श्येते' इति रूपम् ।
पक्षे-'विसर्जनीयस्य सः' इत्यनेन विसर्गस्य सत्वे विहिते हरिस् श्येते इति जाते,
तत्र 'स्तोः श्रुना श्रुः' इत्यनेन सकारस्य शकारे च कृते 'हरिश्श्येते' इति रूपम् ।
खर्परे शरीति । खर् परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । शर् विशेष्यम् । खर्परके शरि परे
विसर्गस्य लोपविकल्पो घक्तव्य इत्यर्थः । लोपाभावे वा शरीत्यस्य प्रवृत्तिः । हरिः
स्फुरतीति । अत्र विसर्गस्य खर्परकशर्परत्वात् विसर्गस्य पाक्षिके लोपेऽविसर्गरूप-
मेकम् । तथा षाऽसति विसर्गलोपे 'वा शरि' इति प्रवृत्त्या सविसर्गं द्वितीयं रूपम् ।
असति च विसर्गं विसर्जनीयस्य सकारेण द्विसकारारम्भकं तृतीयं रूपमिति त्रीणि
रूपाणि विसर्गलोपाऽलोपसकार-संकलितानि भवन्तीति निर्णयः । इति विसर्गसन्धिः ।

ससजुष इति । पदस्येत्यधिकृतं सकारेण सजुपशब्देन च विशेष्यते ।
अतस्तदन्तविधिः । सकारान्तं सजुपशब्दन्तं च यत्पदं तस्य रुः स्यादिति ।
ए च 'अलोऽन्त्य' इति परिभाषया अन्त्यस्य भवति । ततश्च फलितमाह—पदा
तस्य सस्येत्यादिना । अतो रोरिति । 'श्रुत उव्' इत्यतः उदिश्यनुवर्तते । अत इति
पञ्चमी । 'पृः पदान्तादति' इत्यतोऽतीत्यनुवर्तते तदाह—अप्लुतादित्यादिना ।
शिवोऽर्च्य इति । 'शिवस-अर्च्यः' इत्यवस्थायां 'ससजुपो रुः' इति सस्य स्रवे 'अतो
रोरप्लुतादप्लुते' इति सूत्रेण रोस्त्वे 'शिव उ अर्च्यः' इति जाते तत्र 'आद्गुणः'
इति सूत्रेण पूर्वपरयोः स्थाने गुणे विहिते 'शिवो अर्च्यः' इति जाते 'पृः पदान्ता-
दति' इति सूत्रेणार्च्य इत्यस्याकारस्य, पूर्वरूपादेशे च विहिते 'शिवोऽर्च्यः' इति

खर्परे—'खर्' परक 'शर्' परमे रहनेपर विसर्गका लोप हो, विकल्पसे ।

इसप्रकार इन्दुमती टीकामें विसर्गसन्धि प्रकरण समाप्त हुआ ।

ससजुपो—पदान्त सकार और सजुप शब्दके षकारके स्थानमें 'रु' आदेश हो ।
अतो—अप्लुत 'अत्' पर ससम्बन्धी रेफके स्थानमें 'उव्' हो, अप्लुत अवके परे ।
नोटः—रुव-उव् होनेपर पूर्व अकार और सकार मिकके गुण 'ओ' हो जाता है ।
और तदनन्तर 'पृः पदान्तादति' से पर अकारका पूर्वरूप हो जाता है ।

र्ये । अत कि ? देवा अत्र । अति कि ? रव आगन्ता । अप्लुतादिम् ? एदि सुस्रोत ३ अत्र स्नादि । प्लुतस्याऽसिद्ध वादत परोऽयम् । अप्लुतादिति विशेषणं तु तन्नामध्यांसाऽसिद्धत्वम् । तपरकरणस्य तु न कामर्थ्यं, दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वात् अप्लुते इति कि ? निष्ठु पय अग्निदत्त ॥ दृशि च । ६।१।११।४ अप्लु-

मिद्धम् । अत किमिति । 'अतो रो.' इति सूत्रेऽन इति तपरकरणात् 'देवाम् अत्र इत्यत्र सकारस्य रुवे सति इवस्य उकारादेशापत्त्या देवा अत्र इति, रूप्य न सति मविभ्यनि अत' सूत्रे 'अत' इति तपरकरण कर्णीयमन्वया दीर्घाकारापरस्याऽर्था रो स्थान उकारापत्ति सम्भवेत् । सति चात इति च तपरकरणे 'देवा रु अ' इत्य वस्थायां 'रो' इत्वाकारपरत्वाभावेन नोकारस्य प्राप्ति, किन्तु 'ओ भगो रिरादिन रोर्वाथे यलोपे 'देवा अत्र' इति प्रयोगस्य सिद्धि । अनाति किमिति । 'अतो रो री' सूत्रे अतीति तपरकरणामावे दीर्घेऽप्याकारे परतो रोत्वापत्तिर्भवेत्, तेन 'श्वस अ गन्ता' अत्र सस्य रुवे हृते रोर्हत्वाकारापरत्वन रो स्थान उवापत्ति स्पष्टेवात् सूत्रेऽतीति पदस्य नितान्तमावश्यकता । सति चानीतिप्रहणे तस्य तपररते द्वय स्वैवाकारस्य रो परत्वेन स्थित्यापत्ति स्यात् । तथा सति च आगन्ता, अत्र रा परमाकारस्य सत्वेनाप्यप्राप्तेर्नाशइति भाव । अधुगादिति किमिति । अतो रो री' सूत्रे अप्लुतात् इति अत इत्यस्य विशेषणोभूतस्य पदाभावे प्लुतावयुक्तादप्यत् परस्य रो स्थान उर्य स्यात् तत्परोऽकारे सति । तथा सति एदि सुस्रोत अत्र स्नादीत्यत्र 'सुस्रोतम् + अत्र' इत्यवस्थाया सस्य रुवे सति तत्पूर्व परे' इत्वाकारस्य सत्वेनोत्वापत्ति स्पष्टेवेति तद्वाधनार्थम् अप्लुतादिस्यस्यावश्यकता तेन प्लुतसञ्ज्ञामात्र परस्य रोर्नोत्वम्' इति भाव । न च रो-पूर्वमत इति तपरकरण द्विविधस्यैव प्लुतनिरासेऽप्यप्लुतप्रहण व्यर्थमिति चेन्न । उर्ये कर्तव्ये प्लुतस्वाऽसिद्धत्वात् रो पूर्व इत्याकारस्य सत्वेनोत्वापत्तेर्दुर्वारत्वात् । ननु हृतेऽप्लुतादिति प्रह उर्यवस्था प्लुतस्याऽसिद्धतयोर्वचस्य दुर्वारत्वेन दोषस्य तादवस्यमेवेति चेन्न अप्लुतादिनि विशेषणप्रहणे तु प्रहणमामध्यांशेव प्लुतस्योत्वावस्था नासिद्धत्वमिति भाव । यदि उर्ये कर्तव्ये प्लुतस्यासिद्धत्वम्, तर्हि अप्लुतादिनि विशेषणस्यैव व्यर्थमेव, दत्तेऽपि विशेषणे प्लुतस्यासिद्धत्वाऽप्लुतापरस्य रोत्वापत्तिदोषत्वात् स्यात् । अतोऽप्लुतादिति विशेषणमामध्यांशे प्लुतस्य नासिद्धत्वमित्यर्थ । तत्पर करणस्य तु देवा अत्र इत्यादौ दीर्घनिवृत्त्या चरितार्थत्वेन पुनस्तस्य प्लुतवारणेऽप्य मध्यमाप्लुतादिति प्रहणस्य आवश्यकत्वमेवेति भाव । अप्लुते इति किमिति । सूत्रेऽप्लुते इति पदामात्रे प्लुतमशुकेऽकारे परतोऽपि उवापत्ति स्यात् । उर्यवस्था

दृशि च—अप्लुत 'अत' से पर बसन्तव्यो' रेफके स्थानमे 'अत' रो, इत् (अतो एतीव, चतुर्थ, पञ्चम कां और 'य व र ल') परमे रदने से ।

(ACC No.....)

तादतः परस्य रोरुः स्यादशिशिवो वन्यः ॥ भोभगोअघो अपूर्वस्य योऽशि
। ८।३।१७। एतत्पूर्वस्य रोर्थादेशः स्योदशि । देवा इह । देवायिह । 'भोष्' 'भगोष्'
'अघोष्' इति शान्ता निपाताः । तेषु ह्येतेषु च कृते—व्योर्लघुप्रयत्नतरः
शाकटायनस्य । ८।३।१८। पदान्तयोयकारवकारयोर्लघुच्चारणौ घर्षौ वास्तोऽशि परे ।
यस्योच्चारणे किङ्कारोपाप्रमध्यमूकानां शैथिल्यं जायते स लघुच्चारणः ॥ ओतो

प्लुतस्य असिद्धत्वात् । न च कृतेऽपि अप्लुते इति ग्रहणे उक्तस्याऽपेक्षया प्लुतस्या-
सिद्धत्वेनोक्तस्य दुर्वास्त्वमेवेति शंभयम् अप्लुत इति ग्रहणसाध्यात् उक्तप्राप्तिदृष्ट्या
प्लुतस्य असिद्धत्वाभावात् । तेन च 'तिष्ठतु पय अग्निदत्त' इत्यत्र रोः परस्या-
ऽकारस्य 'गुरोरनृ' इत्यादिन्त प्लुतत्वेन नोत्वमिति भावः । एशि चेति । अतो
रोरप्लुतादिति पदत्रयमनुवर्तते । अत उदिरयत उदिति चानुवर्तते । 'अप्लु-
तादतः' परस्य रोरुः स्यादशिशिवो वन्यः इति तदर्थः । शिवो वन्य इति । 'शिवस-वन्यः'
इत्यत्र 'ससजुपो रुः' इत्यनेन सस्य रत्वे 'इशि च' इत्यनेन ह्यश्रुत्याहा-
रान्तःपातिनि वन्यघटकवकारे परे रोरुत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः
स्याने गुणे च कृते 'शिवो वन्यः' इति रूपम् । भो भगो इति । 'रोः सुपि' इत्यतो
रोरित्यनुवर्तते । भो भगो अघो अ इत्येतेषां द्वन्द्वः । एते पूर्वं यस्मादिति बहुनीहिः ।
पूर्वशब्दश्च प्रत्येकं सम्बन्ध्यते 'द्वन्द्वान्ते श्रयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बन्ध्यते' इति
नियमात् । तेन भोपूर्वकस्य, भगोपूर्वकस्य, अघोपूर्वकस्य, अवर्णपूर्वकस्य च रोर्थादेशः
स्यादशि इति सूत्रार्थः । देवा इति । 'देवास इह' इति दशायां 'ससजुपो रुः' इति
सूत्रेण सस्य रत्वे 'भोभगोअघोअपूर्वस्य योऽशि' इति सूत्रेण रोर्थादेशे 'देवा इह'
इति जाते, तत्र 'लोपः शाकल्यस्य' इत्यनेन यलोपे 'देवा इह' इति जायते ।
शाकल्यग्रहणारपद्धे 'देवायिह' इति । व्योर्लघुप्रयत्नेति । च य च व्यौतयोरिति विग्रहः ।
पदरथेत्यधिकृतम् । तच्च वकारवकाराभ्यां विशेष्यते तदन्तविधिना च वान्तस्य
यान्तस्येति च लभ्यते । 'अलोऽन्यस्य' इत्यनेनैतस्याऽन्ते प्रवृत्तिः । तेन पदान्तयो-
र्यवयोरिति लब्धम् । लघुः प्रयत्नो यस्योच्चारणे स लघुप्रयत्नः । अतिशयितः
लघुप्रयत्नः लघुप्रयत्नतरः । अन्यपदार्थस्य च वर्तिपदार्थप्रकर्षापेक्षः प्रकर्षः ।
लघुतरप्रयत्नक इत्यर्थः । अवयवार्थातिशये तरवृत्तव्यः । सूक्ष्मवद्यतरार्थ इति
वार्तिकेन लघुत्वरूपस्याऽवयवार्थस्याऽतिशये लघुप्रयत्न इति समुदायात्तरप ।
आन्तर्यात् यस्य यः वस्य च वः । शाकटायनमुनिवचनाद्विकल्पसिद्धिः । ओतो गार्थ-

भोभगो—भो, भगो, अघो और अवर्णपूर्वक हसन्बन्धी रेफके स्थानमें यत्न हो, अशुके
परं । व्योर्लघु—पदान्त यकार-वकारके स्थानमें लघुच्चारण 'य' और 'व' आदेश हो,
अशुके परे ।

ओतो—ओकारसे पर ओ पदान्त अलघुप्रयत्न वकार उसका नित्यलोप ही हो ।

गार्ग्यस्य । ८।३।२०। ओकारात्परस्य पदान्तस्याऽलघुप्रयत्नस्य यस्य नित्य लोपः
 स्यात् । गार्ग्यप्रहणम्पूजायम् । ओ अच्युत । लघुप्रयत्नपक्षे—मोच्युत । पदान्तस्य
 किम् ? तीयम् ॥ हलि सर्वेषाम् । ८।३।२२। ओमगोअघोअपूर्वस्य हल्परत्वात्
 रणस्य यस्य नित्य लोपः स्यादहलि । ओ देवा । मगो नमस्ते । अघो याहि । देवा
 यान्ति ॥ रोऽसुपि । ८।३।२९। अहो रेफादेशो, न तु सुपि । अहरहः । अह-

स्येति । लोप इति पञ्चमी व्योमित्यतो यमहणस्यानुवृत्तिः ननु यकारस्य, ओतः परस्य
 तस्याऽसम्भवात् । पदस्येत्पधिकृतम् । तच्च यकारेण विशेष्यते । तदन्तविधिना
 ओकारात्परो यो यकारस्तदन्तस्येति लभ्यते । अलोभ्यपरिभाषया च पदान्तस्य
 यकारस्येति फलितम् । ओमगोरित्यतोऽशीत्यनुवर्तते । लोपः शाकस्यस्येत्यत लोप
 इत्यनुवर्तते । स च पूर्वविहितलघुप्रयत्नकस्य न भवति, विधानसामर्थ्यात् । गार्ग्य
 प्रहणस्य पूजायत्वेन लोपस्य नित्यत्वं बोध्यम् । ओ अच्युतेति । ओस् इत्यस्य सकारस्य
 ह्रस्वे ओमगोरित्यादिना रोयत्वे यकारस्य 'ओतो गार्ग्यस्य' इति नित्य लोपे
 सति प्रोवत्तरूपस्य सिद्धिः । यकारलोपस्याऽसिद्धत्वात् नावादेशलोपो । लघुप्रयत्न-
 पक्षे तु यकारलोपाभावे सति मोच्युतेति द्वितीयं रूपं भवति । पदान्तस्य किमिति ।
 सूत्रे पदान्तस्य यकारस्य लोपो भवतीत्यर्थाभावे 'लोपम्' अत्राप्यदान्तस्य यकारस्य
 लोपो प्रसज्येत । तद्वारणाय पदान्तस्येति देयम् । हलि सर्वेषामिति । ओमगोअघोअपूर्व-
 स्येत्यनुवर्तते व्योर्लघुप्रयत्नेत्यतः यकारप्रहणमनुवर्तते । सर्वाचार्यसम्मततथा अय
 नित्यो लोप इति भावः । ओ देवा इति । अत्र ओस् इति सकारस्य 'ससञ्जो क
 इति रुवे 'मोमगो' इति रोयत्वे 'हलि सर्वेषाम्' इति यकारस्य हल्परत्वात् ओका-
 रपरत्वाच्च लोपे 'ओ देवा' इति सिध्यति । तथैव मगो नमस्ते अघो याहि देवा
 यान्ति । इत्यादिषु योगेषु यकारस्य 'हलि सर्वेषाम्' इति लोप इति भावः । रोऽसु
 पिति । २. असुपोति छेदः । 'अहन्' इति सूत्रमनुवर्तते । तच्च लुप्तपट्टीक पदम् ।
 उदाह—'अहो रेफादेश इत्यादिना । अहरह इति । 'नित्यवीप्सपोः' इति द्विवचनम् ।
 'अहन् अहन्' इति स्थिते 'रोऽसुपि' इत्यनेन सर्वस्याहन्तत्त्वस्य रेफादेशो प्राप्ते
 'शलोऽन्यस्य' इति परिभाषया वचनशास्त्रस्य नस्य जाते अहर अहर इति जाते
 तत्र 'परवसानपोर्विसर्जनीयः' इत्यन्यस्य विसर्गे, कृते च सयोगे 'अहरहः' इति

हलि—मो, मगो, अघो और अर्वापूर्वक यकारका लोप, हो, हल्के परे—समीचे
 मगले अर्थात् नित्य ही ।

मोट—'हन्' के परे अर्वापूर्वक यकारका लोप होने पर पुनः दूसरी सर्व नहीं होती।
 रोऽसुपि—अहन्नाम्के नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, किन्तु अह् (सप्तमीपद
 वचन) के परे नहीं हो ।

गणः । असुपि किम् ? अहोभ्याम् । अत्र 'अहन्' इति रुत्वम् । (रूपरात्रिरथन्तरेषु रुत्वं वाच्यम्) । अहो रूपम् । गतमहो रात्रिरेषा । एकदेशविकृतन्यायेन-अहो रात्रः । अहो रथन्तरम् । (अहरादीनां पत्यादिषु घा रेफः) विसर्गापवादः । अहोर्पतिः ॥ गोर्पतिः । घूर्पतिः । अहोर्पतिः । अहोऽपतिः । पक्षे-विसर्गापवधानीयौ ॥ रो रि । ८।३।१४। रेफस्य रेफे परे लोपः स्यात् ॥ ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः । ६।३।१२१। ढरेफयोर्लोपनिमित्तयोः पूर्वस्याऽणो दीर्घः स्यात् । पुना रमते । हरा रम्यः । शम्भू राजते । ढो ढे लोपः ८।३।१३। ढोढः ।

भवति । 'अहन्-गणः' अत्र 'रोऽसुपि' इति सर्वस्य रेफादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इति परिभाषया अन्त्यस्य विहिते संयुक्ते च कृते 'अहर्गणः' इति रूपम् । रूपरात्रोति । अहन्शब्दस्येति शेषः । रोऽसुपीति रत्वस्यापवादः । रूपरात्रिरथन्तरेषु शब्देषु परेषु सत्सु अहश्चकारस्य रुत्वं वाच्यमिति फलितोऽर्थः । पुना रमते इति । 'पुनर्-रमते' इति स्थिते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'पुन रमते' इति जाते, अत्र 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति सूत्रेणात्र लोपनिमित्ते रेफे परे पूर्वाणरूपस्य नकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्य दीर्घे च विहिते 'पुना रमते' इति सिद्धम् । 'हरिस्-रम्यः' इत्यत्र 'ससजुपो रुः' इत्यनेन सस्य रुत्वे अनुबन्धलोपे 'हरिर् रम्यः' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेन दीर्घे च कृते 'हरी रम्यः' इति सिद्धम् । 'शम्भुस्-राजते' अत्र 'ससजुपो रुः' इत्यनेन रुत्वे उकारस्योत्संज्ञायां लोपे च 'शम्भुर् राजते' इति जाते तत्र 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यनेनोकारस्य दीर्घे 'शम्भू राजते' इति भवति । ढो ढे लोप इति ढो, इति ढ शब्दस्य षष्ठीतेन ढकारस्येति लब्धम् । ढकारे परे ढस्य लोपः इत्यर्थः फलितः । तेन पूर्वढकारस्य लोपस्य बोधः । तेन प्रक्रियायां ढकारद्वयस्य सिद्धिः । वृहृ हिंसायाम् , वृहृ उद्यमने; आभ्यां कप्रत्यये 'हो ढः' इति ढत्वे 'क्षपस्तथोः' इति तकारस्य भत्वे तस्य ष्ट्वेन ढकारे 'वृढ ढ' 'वृढ ढ' इति जाते अत्र 'ढो ढे लोपः' इत्यनेन पूर्वढस्य लोपे सति 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इत्यस्मिन् सूत्रे अणग्रहणामावे ढलोपनिमित्ते ढकारे परे पूर्वस्य ञकारस्य दीर्घे प्राप्ते तन्मा भूत् इति 'अण्' अणमत्र कृतम् ।

रूपरात्रि—रूप, रात्रि और रथन्तर शब्दके परे अहन् शब्दके नकारके स्थानमें रेफ आदेश हो ।

अहरा—पत्यादि शब्दके परे अहरादिका विसर्गापवाद रेफ आदेश हो, विकल्पसे ।

रो रि—रेफका लोप हो रेफके परे ।

ढलोपे—ढकारलोप और रेफलोप निमित्तक जो ढकार, रेफ उनके परे पूर्व अणको दीर्घ हो ।

ढो ढे—ढकार के परे ढकारका लोप हो ।

द्यः किम् ? तुम् । वृद्धः । 'मनस्-रय' इत्यत्र इत्वे कृते, 'हशि च' इत्युत्वे 'रोरी' ति
 छोपे च प्राप्ते । विप्रतिषेधे परं कार्यम् । १।१।२। तुल्यवचविरोधे परं कार्यं स्यात् ।
 इति छोपे प्राप्ते । 'पूर्वत्रासिद्ध' मिति 'रो' रीत्यस्याऽसिद्धत्वात्त्वमेव—मनोरय ॥
 एतत्तदो सुलोपोऽङ्कोरनञ्समासे हलि । ६।१।१३२। अकारयोरेतत्तदीय-
 सुस्तस्य छोपो हलि, ननु नञ्समासे । एव विष्णु । च शम्भुः । अको किम् ?

तेनात्र न दीर्घतदेवाह—अण किम् ? तुम् वृद्ध इति । विप्रतिषेध इति ।
 मनोरय इति । 'मनस्-रय' इति स्थितेऽत्र 'सप्ततुपो ह' इत्यनेन पदान्तस्य सस्य इत्वे
 विहिते 'हशि च' इत्यनेन रोक्ष्ये प्राप्ते 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य छोपे च प्राप्ते तर्हि
 प्राक् केन भाष्यमिति दाढ्यापाम् 'विप्रतिषेधे पर कार्यम्' इति सूत्रेण पर कर्त्तव्यम् ।
 अत्र 'हशि च' इति सूत्रं पद्याभ्यावस्यं 'रोरि' इति व्याप्तमाभ्यावस्यम् इति 'हशि
 च' इत्यपेक्षया 'रो रि' इत्यस्य परत्वम्, इति 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य छोपे प्राप्ते,
 अत्र 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यधिकारसूत्रेण सपादसप्ताभ्याधीत्यसूत्रदृष्ट्या प्रैपादिकस्य
 'रो रि' इत्यस्यासिद्धत्वप्रतिपादनात् न 'रो रि' इत्यनेन रेफस्य छोपः, किन्तु
 'हशि च' इत्यनेन रोक्ष्ये 'मन उ रय' इति जाते 'धाद्गुणः' इत्यनेन पूर्वपरयोः
 स्थाने अकाररूपे गुणे कृते 'मनोरयः' इति सिद्धमिति । एतत्तदोरिति । एतत्तद्वृद्ध-
 चोरनुकरणत्वेन सम्प्रसारणम् । अतः सूत्रे नैकशेषः । 'सु' इति लुप्तपट्टीक पदम् एत-
 त्तदोरित्यनेनान्वेति—एतत्तदोः सकारस्येति । अत एव 'सोर्लोप' सुलोप' इति न पट्टी
 समासः, असामर्थ्यात् । अविद्यमानः ककारः ययोस्तौ अको तपोः अकोरिति बहु-
 षीद्विस्तदाह—अकारदोरित्यादिना । एव विष्णुरिति । 'एतद्-सु विष्णु' इति दशार्था-
 'एवार्थीनाम्' इत्यनेन अकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'तदोः स-साव-
 मन्ययो' इत्यनेन एव सत्वे सस्य च एत्वे 'एव सु विष्णु' इति जाते, अत्र 'एत-
 त्तदोः सुलोपोऽङ्कोरनञ्समासे हलि' इति सूत्रेण सोर्लोपे विहिते सति 'एव विष्णु'
 इति सम्प्रपत्ते । अको किमिति । न च अकश्चि सति दाढ्यान्तरत्वात् प्रकृते
 प्राप्तिरेव नास्तीति वाच्यम् । 'तन्मध्यपतितत्त्वद्रूपद्वयेन गृह्यते' इति परिभाष-
 यात्र प्राप्ते सत्वात् । प्रकृतपरिभाषायामिदमेव ज्ञापकं धोष्यम् । 'एवकस्-इत्' अत्र
 एतद्वृद्धस्य सकारात्वात् सुलोपः; किन्तु 'सप्ततुपो ह' इत्यनेन इत्वे 'हशि च'

विप्रतिषेध—विप्रतिषेध (तुल्यवचविरोध) होनेपर परकार्यं हो ।

नोट—परस्परतन्भावकाशयोरैकत्र कश्चि समादेशस्तुल्यवचविरोधः । अर्थात् अनेन
 कश्चिनेन विप्रतिषेधे दो तृतीया (अविद्य) एक कश्चिने समादेशहोनेको 'तुल्यवचविरोध' कहते हैं ।

एतत्तदो—ककारादित्थं चो एतत्तदो एतत्तदो शब्दसम्बन्धी 'सु' लोपका छोप हो, इत्वे
 परे । किन्तु 'नञ्' समासमें नहीं हो ।

एषको रुद्रः । अनञ्समासे किम् ? असः शिवः । हलि किम् ? एषोऽत्र ॥ सोऽचि लोपे चेत्पादपूरणम् । ६।१।१३६। 'स' इत्यस्य सोर्लोपः स्यादचि, पादश्चेत्लोपे सन्त्येव पूर्येत । 'सेमामविट्ठि प्रभृतिम्' । 'सैष दाशरथी रामः' ॥ इति स्यादिसन्धिः ।

॥ इति पञ्चसन्धिः ॥



इत्युत्वे 'आद्गुणः' इति गुणे 'एषको रुद्रः' इति रूपम् । अत्र 'सको रुद्रः' इत्यपि । अनञ्समासे किमिति । अनञ्समासे इति न पर्युदासः, किन्तु प्रसज्यप्रतिषेधः । प्रकृत्ये 'अस सु शिव' इत्यत्र नञ्समासत्वात् 'एतत्तदोः' इति सूत्रस्याप्राप्तौ 'ससञ्जुषो रुः' इति सस्य रुत्वे 'खरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गत्वे 'असः शिवः' प्रत्युदाहरणम्योध्यम् । एषोऽत्रेति । 'एष सु अत्र' इत्यत्र हल्परत्वाभावाद् 'एतत्तदोः सुलोपोऽकीरनञ्समासे हलि' इत्यस्याप्राप्तौ सस्य 'ससञ्जुषो रुः' इत्यनेन रुत्वे 'अतो रोरप्ठुतादप्ठुते' इत्यनेन उत्वे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे 'एः पदान्तादति' इत्यनेन पूर्वरूपे च कृते 'एषोऽत्र' इति जायते । सोचि लोप इति । स इति प्रथमैकवचनान्तं स्वरूपपरम् । ततः पठथा लुक् । सस् शब्दस्येति लभ्यते । सुलोप इत्यनुवर्तते; तदाह-स इत्यस्येत्यादिना । 'सस् इमामविट्ठिप्रभृतिम्' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इति सकारलोपामावे पादोऽत्र न पूर्यते अतोऽनेन सकारलोपे 'आद्गुणः' इत्यनेन गुणे सति 'सेमामविट्ठिप्रभृतिम्' इति सिद्धम् । एवञ्च- 'सस्-एष दाशरथी रामः' इत्यत्र 'सोचि लोपे चेत्पादपूरणम्' इत्यनेन पादपूरणार्थं

सोऽचि—लोप होनेसे यदि पादकी पूर्ति होती हो तो अच्के स (तत् शब्द) सम्बन्धी सुधा लोप हो । सैष—सम्पूर्ण श्लोक इस प्रकारका है:—

'सैष दाशरथी रामः, सैष राजा युधिष्ठिरः । सैष कर्णो महारथाम्नी, सैष भीमो महाबलः ॥'

यह श्लोक 'अनुष्टुप्' छन्दमें है । इसके प्रतिपादमें आठ २ अक्षर होते हैं । यहाँ पर यदि सुलोप नहीं होता तो 'सस् + एष' ऐसी स्थितिमें रुक्-यरक्-यलोप होकर 'स एषः' ऐसा हो जाता और प्रत्येक पादमें एक अक्षर बढ़ जानेसे पादकी पूर्ति नहीं होती ।

(सुलोप होनेपर 'पूर्वप्राऽसिद्धम्' लगता नहीं, अतः वृद्धि होकर 'सैषः' बनता है) ।

शुद्ध कंठोः—ब्रह्मीर्मयः । केशवौर्ध्वम् । तवैदम् । स्वेरः । दिवोकसः । उपेति । प्रैषयति । रामैहि । उपरोक्तः । गवीघानम् । सखैक्षामच्छ । कंव्यागच्छतः । अम्रततः । रामश्शेते । तत्छविः । अधिस्थाता । देवो षष्ठः । दिगेशः । ददत्तसति । महाश्नात्मा । विपयान्नाह जगरनायकः । संचितः । यम्लोकम् । गच्छंचकोरः । मतिमाच्छन्तः । पुष्टुखनित्रम् । वाच्यूरः । वाक्मात्रेण । वृक्षछाया । रामोक्नुष्यति । मनोक्लामना । अहोगतः । सो रामः । एषो दाठः । बालो चकति । प्रातो गमनम् । अशो इन्द्रः । एषो विष्णुः । सूर्यो सदैव । इतो शत्रुः । मनो

अथाऽजन्ताः पुँल्लिङ्गाः

अर्थवद्घातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम् । १।२।४५। घातु, प्रत्यय प्रत्ययान्त च
 दर्शयित्वाऽर्थवच्छब्दस्वरूप प्रातिपदिकसङ्ग स्थात ॥ कृत्तद्धितसमासाश्च । १।२।४६।
 कृत्तद्धितात्तौ, समासाश्च न वा स्यु ॥ स्वौजसमौट्छष्टाभ्याम्भिस्ङेभ्याम्भ्यस्-

सङ्घोषे विहिते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धौ 'सैष दाशरथी राम' इति पाठपरणसिद्धिः ।
 इति स्वादिसन्धिप्रकरणम् ।

'स्वौजस' इत्यादिना स्वादिप्रत्ययान्त्वस्यति । तत्र 'इयात्प्रातिपदिकात्' इत्य-
 धिभूतम् । किं सः प्रातिपदिकमिति जिज्ञासायामाह—अर्थवदिति । अर्थोऽस्यास्तीति
 अर्थवत् । नपुंसकलिङ्गनिर्देशानुसारात् शब्दस्वरूपमिति विशेष्यमप्याहार्यम् । अघा-
 तुरिति, अप्रत्यय इति च तद्वित्तेयम् । न घातुरघातुरिति नञतत्पुरुष । 'परवर्षिर्ह
 इन्द्रतत्पुरुषयोः' इति पुस्त्वम् । अप्रत्यय इत्यावर्तते । प्रत्ययमिच्छ प्रत्ययान्तमिच्छ च
 विवक्षितम् । न चात्र 'सञ्ज्ञाविधौ प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणं नास्ति' इति परिभाषया
 तदन्तविषयभाव इति शक्यम् । प्रत्ययस्य पर सञ्ज्ञा तत्रैव तद्विषयात् । तदाह—
 घातु प्रत्ययमित्यादिना । कृत्तद्धितेति । कृत्तद्धितश्च समासरचेति विग्रहः । पूर्वसूत्रात्
 प्रातिपदिकमित्यनुवर्तते, बहुवचनान्ततया विपरिणाम्यते । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता
 प्राद्या' इति परिभाषया कृत्तद्धितेति तदन्तग्रहणन्तदाह—कृत्तद्धितात्तौ-इत्यादिना ।
 स्वौजसमौटिति । सु, औ, लस्-अम्, औट्, षस्-टा, म्याम्, भिस्-ङे, भ्यां, भ्यस्-

सुप्तम् । देवा इत्यन्ति । अन्तराधिय । प्रातो रमय ।
 इति प्रकारेण इन्वृत्तौ टीकायै स्वादिसन्धि प्रकरण समाप्तं हुआ ।

अर्थ—घातु, प्रत्यय और प्रत्ययान्त मिला अर्थवान् शब्दस्वरूप प्रातिपदिक सङ्घ हो ।
 मौट्—घातुमित्र कहनेसे, 'अहन्' की प्रातिपदिक सङ्घा होकर नलोप नहीं हुआ ।
 प्रत्यय मिला कहनेसे 'रामेभ्यु' और 'तनोषि' में 'सुप्, सिप्' की प्रातिपदिक सङ्घा होकर
 'घातुशायो' से शक्यता निषेध नहीं हुआ । प्रत्ययान्तमिला कहनेसे 'रामेभ्यु' इस सम-
 वायकी प्रातिपदिक सङ्घा होकर 'सुपो घातुप्रातिपदिकयो' से सङ्घा कोप नहीं हुआ ।
 कृत्तद्धि—कृत्तद्धित, तद्धितान्त और समासकी यो प्रातिपदिक सङ्घा हो ।
 स्वौजसु—(इस सूत्रका अर्थ 'उयात्' सूत्रके साथ भागे देखो ।)
 मौट्—'विमलित्थ' से सुप्-लिङ्गकी विभक्ति सङ्घा होती है । 'सुप्ते पराशार डिपा
 कारेण और वर पराशार इमी सूत्रके आदि वर्ण—'सु'से छेकर अन्तिम 'सुप'के 'पु' तकसे
 बनता है । 'सुप्' से सु, औ, वस् आदि इहोस विभक्तियों की जाती है ।
 छेरे उकारका 'अदेरेरेऽनुनासिक इप्' से, अस्से उकार और टासे उकारका 'नुट्' से,

हसिभ्यांभ्यस्-हसोसाम्-हसोस्सुप् । ४।१।२। सु औ हस् इति प्रथमा । भस्
 औट् शस्-द्वितीया । टा भ्यां भिस्-तृतीया । हे भ्यां भ्यस्-चतुर्थी । हसि
 भ्यां भ्यस्-पञ्चमी । हस् औस् आम्-षष्ठी । ङि औस् सुप्-सप्तमी । प्रत्ययः
 । ३।१।१। आ पद्ममसमाप्तेरधिकारोऽयम् । परश्च । ३।१।२। अयमपि तथा ।
 ह्याप्रातिपदिकात् ४।१।१। ह्यन्तादायन्ताप्रातिपदिकाद्य परे स्वादयः प्रत्ययाः
 स्युः ॥ सुपः । १।४।१०३। सुपस्त्रीणि त्रीणि वचनान्येकश्च एकवचन-द्विवचन-बहुवच-
 नसंज्ञानि स्युः ॥ द्व्येकयोर्द्विवचनैकवचने । १।४।२२। द्वित्वैकत्वयोरेते स्तः ॥
 विरामोऽवसानम् । १।४।११०। वर्णानामभावोऽवसानसंज्ञः स्यात् । इत्य-विसर्गौ ।

हसि, भ्यां, भ्यस्-हस्, ओस्, आम्—ङि, ओस्, सुप्, इत्येकविंशतिः स्वादयः ।
 समाहारद्वन्द्वो वा इतरेतरयोगद्वन्द्वस्तेन सौत्रमेकवचनम् । ह्याप्रातिपदिकादित्य-
 धिकृतं प्रत्ययः, परश्चेति च । यथायथं च विपरिणयते । ह्याप्रातिपदिकादिति ।
 ही च आप् च प्रातिपदिकञ्चेति समाहारद्वन्द्वः । ही इत्यनेन हीप्-हीप्-हीनां सामा-
 न्येन ग्रहणम् । आप् इत्यनेन टाप्-टाप्-चापां च सामान्येन ग्रहणम् । प्रत्ययग्रहणपरि-
 भापया तदन्तग्रहणम् । तदेतदाह—ह्यन्तादित्यादिना । सुप इति । सुपप्रत्याहारः,
 षष्ठ्येकवचनम् । 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकश्च' इति सूत्रं तानीति वर्ज-
 मनुवर्तते । 'तिङ्-स्त्रीणि त्रीणि' इत्यतः त्रीणीत्यनुवर्तते तदाह—सुपस्त्रीणीर्यादिना ।
 द्व्येकयोरिति । द्व्येकयोरिति भावप्रधाननिर्देशः । अन्यथा द्व्येकेष्विति त्यादित्यभिप्रे-
 त्याह—द्वित्वैकत्वयोरिति । विरामोऽवसानमिति । विरम्यते अस्मिन्निति विरामः सान्नी-

औट्में टकार और सुपमें पकारका 'इलन्यम्' से 'शस्'में शकार तथा ऐ, हसि, हस् और
 ङिमें छकारका 'लशकत्रद्विते'से इत्संज्ञा होकर 'तस्य लोपः' से लोप (श्रवणामाव) हो
 जाता है । याद रहे कि विभक्तियोंके अन्तिम सकार-मकारको इत्संज्ञा इत्सलिये नहीं होती
 कि 'न विभक्तौ तुस्माः' (आगे पृ० देखो) निषेध कर देगा ।

प्रत्ययः—परश्च-ह्याप-ये तीनों सूत्र अधिकार सूत्र हैं इन तीनोंका 'स्वौजसु०'
 सूत्रमें अधिकार होकर 'स्वौजसु०' सूत्रका विशिष्ट अर्थ निम्नलिखित होता हैः—

ह्यन्त-आवन्त-प्रातिपदिकते पर स्वादि प्रत्यय हो ।

नोटः—अधिकार सूत्रका लक्षण—'स्वदेशे वाक्यार्थशून्यत्वे सति परदेशे वाक्यार्थबोधज-
 नकत्वम्' अर्थात् अपनी जगह पर स्वार्थबोध नहीं होकर अन्य सूत्रोंके साथ अर्थबोध होना ।

सुपः—सुपके जो तीन २ वचन बहु प्रत्येक क्रमशः एकवचन-द्विवचन बहुवचन संज्ञक हो ।

द्व्येकयोः—द्वित्वकी विवक्षामें द्विवचन और एकत्वकी विवक्षामें एकवचन हो ।

विरामो—वर्णोंका अभाव अवसान संज्ञक हो ।

नोटः—जिस वर्णके आगे कोई दूसरा वर्ण नहीं हो वह अवसान वर्ण कहलाता है ।

रास । (अयोगवाहानामकारस्योपरि, शर्तुं चेति वाच्यम् ।) यमाऽनु-
स्वार विधर्गन-प्रहामूलीयो यष्मानीया अयोगवाहाः । तेनेह विधर्गस्य यत्त्वादनचि
चेति द्वित्वपक्षे-राम ः सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ । १।२।६४। एकविभक्तौ
यानि सरूपाण्येव दृष्टानि तेषामेक एव शिष्यते, अन्ये तु लुप्यन्ते । यः शिष्यते स

पिच्छेऽधिकरणे घञ् । विरमणम्—क्रियाया अभावः । स च वाच्यशास्त्रप्रस्तावाद् घणा-
पामुच्चारणामावात्मक इति लभ्यते । तदेतदाह—वर्णानामभाव इत्यादिना । राम
घति । 'रमन्ते योगिनोऽनन्ते स्यामन्वे चिदात्मनि । इति रामपदेनासौ पर प्रह्ला-
मिधीयते ः' इति ध्रुति । अत्रैव यदि यौगिको रामशब्द आधीयते, तदा 'कृतद्वित-
समासाश्च' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । यदि च रूढो दक्षरधारमजो रामशब्दस्तदा
'अर्थवद्घातुरप्रत्यय प्रातिपदिकम्' इत्यनेन प्रातिपदिकसंज्ञा । तस्यां कृत्यायां
'द्वयात्प्रातिपदिकात्' इति सूत्रेण प्रातिपदिकसंज्ञकरामशब्दात् 'एते कपोतन्यायेन
स्ये स्वादयः प्राहा, स्य 'सुप' इत्यनेन प्रथमादिसप्तम्यन्तत्रिके प्रत्येकम् एकद्वि-
बहुवचनमशाः विहिता । तेषु प्रथमायाः एकवचनविधवायां रामशब्दात् सुप्रत्यये
'राम सु' इति प्राप्ते सकारोत्तरवर्त्युकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यस्तशा-
याम् 'तस्य ङोप' इति ङोपे 'राम स्' अत्र 'ससञ्चयो ङ' इत्यनेन ङवे रेकोत्तर-
मन्त्रिन सकारस्योत्तरायां ङोपे च 'सरपसानयोर्विसर्जनीय' इति विसर्गे 'राम'
इति रूपम् । रामशब्दात् द्विवचनविधवायां प्रथमाया द्विवचने औ इति समागते 'राम
राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकरामस्य शेषे सनि 'प्रथमयोः
पूर्वस्यर्गः' इति पूर्वस्यर्गदीर्घे प्राप्ते 'नादिचि' इत्यनेन तस्य निषेधे 'वृद्धिरेपि'
इति वृद्धौ—'रामो' रनि । सरूपाणामिति । एकविभक्ताविति सरूपाणामिदमप्रान्वेति ।
समान रूप येषां तानि सरूपाणि । उपोतिर्जनपदेषादिना 'समानस्य समावः ।
पृथो सूत्रेषुत्तरसूत्रादेवेत्यपकृत्यते । शिष्यत इति शेष । कर्मणि घञ् । एकधासौ
शेषमेति पूर्वकालैकेति समासः । एकरस्यां विभक्तौ परत सरूपाणामेव दृष्टानां मध्ये

अर्थवद्घाहानाम्—अयोगवाहोका अशर समान्तायमे अकारके भागे तथा उपप्रत्ययार-
धे औ उपसर्गान कृत्वा (पाठ समसना) चाहिये ।

नोट—अनुस्वार, विसर्ग, प्रिहामूलीय, उष्मानीय और यर्गोको अयोगवाह कहते हैं ।

सरूपाणाम्—एक (स.पारण वावे यावत्) विभक्तिमें वहाँ सधान ही रूप देखे गये
हो वहाँ वतमैस एक ही शेष हो (वने) और अन्यका शेष हो जाय ।

नोट—एस सूत्रमें यह नियम निक होजा है कि दो या बहुत अर्थ शेष करानेमें औ
उभरका एक ही शर उच्चारण होना चाहिये । 'एक' उभरका भाठ अर्थ होजा है
वहाँ एकका उच्चारण (वावत्) अर्थ दिया गया है । कदा यी है —

पृथोऽन्वार्थे प्रधाने च प्रथमे केवळे तथा ।
साधारणे समानेऽप्ये सदयापाश्च प्रयुज्यते ॥

लुप्यमानार्थाऽभिधायो । प्रथमयोः पूर्वसवर्णः । ६।१।१०२। अकः प्रथमाद्वितीययो-
रचि परे पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेशः स्यात् । इति प्राते । नादिचि । ६।१।१०४।
आदिचि न पूर्वसवर्णदीर्घः । वृद्धिरेचि । रामौ । बहुषु बहुवचनम् । १।४।२१।
बहुत्वविवक्षायां बहुवचनं स्यात् ॥ सुट् । १।३।७। प्रत्ययाद्यौ सुट् इतो स्तः ॥
विभक्तिश्च १।४।१०४। सुप्तिषौ विभक्तिसंज्ञौ स्तः ॥ न विभक्तौ तुस्माः
। १।३।४। विभक्तिस्तुस्मा नेतः । इति अस्य नेत्वम् । रामाः ॥ एकवचनं
सम्बुद्धिः । २।३।४२। सम्बोधने प्रथमाया एकवचनं 'सम्बुद्धि'संज्ञं स्यात् ॥ यस्मा-
त्प्रत्ययविधिविस्तदादि प्रत्ययेऽङ्गम् । १।४।१३। यः प्रत्ययो यस्मात्क्रियते तदादि

एकः शिष्यत इति फलितोऽर्थः । प्रथमयोरिति । 'अकः सवर्णं' इत्यतोऽकः इति । प्रथ-
मयोरिति अवयवपट्टी । प्रथमाद्वितीये सुबुद्धिभक्ती विवक्षिते । अचि, इति 'इको
यणचि' इत्यतोऽनुचर्तते । एकः पूर्वपरयोरित्यधिक्रियते । नादिचोति । न, आत्, इति
रामा इति । रामशब्दात् प्रथमात्रबहुवचने जसि कृते 'राम राम राम जस्' इति जाते
तत्र 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' इति एकराम अवशिष्टे 'राम जस्' अत्र
'सुट्' इत्यनेन प्रथमस्यादिभूतस्य जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इत्यनेन
लोपे 'राम अस' इति दशायाम् अकारोत्तरवर्तिसकारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेनेत्संज्ञा
प्राप्ता, सा 'विभक्तिश्च' इति विभक्तिसंज्ञायां 'न विभक्तौ तुस्माः' इत्यनेन निष्पि-
द्धा । अथ च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वपरयोः पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते
'रामास्' इति मृते 'सत्सुपो रुः' इति अस्य स्त्वे अनुबन्धलोपे 'खरवसान-

प्रथमयोः—'अक' से प्रथमा और द्वितीया सम्बन्धी अच् परमें हो तो पूर्व-परके स्थानमें
पूर्वसवर्णदीर्घ एकादेश हो । नादिचि—अवर्णसे पर 'इच्' हो तो पूर्वसवर्णदीर्घ नहीं हो ।

बहुषु—बहुत्वकी विवक्षामें बहुवचन हो ।

सुट्—प्रथमके आदि चवर्ग और टवर्गका इत्संज्ञा हो । विभक्तिश्च—सुप्-तिङ्को
विभक्ति संज्ञा हो ।

नोटः—'सुप्' से सुप् प्रत्याहार लिया जाता है । (पृ० २४ देखो) । 'तिङ्' से—'तिप्
त्सु क्षि सिप् थस् थ मिप् वस् मस् त आताम् क्ष धास् आथान् ध्वम् इड् वहि मदि' ये
नटारण लिप जाते हैं (तिङन्तप्रकरणमें देखो) ।

न विभक्तौ—विभक्तिस्थित तवर्ग, सकार और मकारकी इत्संज्ञा नहीं हो ।

एकवच—सम्बोधनमें प्रथमाका एकवचन (सु) की सम्बुद्धि संज्ञा हो ।

यस्मात्—जो प्रत्यय भिस (शब्द) से विधान किया जाय तदादि (वह हैं आदिमें
भिस समुदायके वह) शब्दस्वरूप उस प्रत्ययके परे भाङ्गसंज्ञक हो ।

शब्दस्वरूपं तस्मिन्प्रत्यये परेऽङ्गसङ्गत्वात् ॥ एङ्ङुस्वात्समुद्धेः । ६।१।६३।
 एङ्ङुस्वात्समुद्धेः । हे राम । हे रामो । हे रामा ॥
 अस्मि पूर्वं । ६।१।१०७। अङ्ङोऽभ्यन्त्रि पूर्वस्वरूपमेकादेशः स्यात् । रामम् । रामो ॥
 लशकृतद्धिते । १।३।८। तद्धितवर्जप्रत्ययाया शशकवर्गा इत् स्यु ॥ तस्माच्छसो
 नः पुंसि । ६।१।१०३। पूर्वस्वर्णदीर्घान्तरो याः शसः सस्तस्य न' स्यात्पुंसि ॥
 अट्कुप्वाङ्नुम्व्यघायेऽपि । ८।४।२। अट् कवर्गं षवर्गं आङ् नुम्- एतैर्य्य-
 स्तैर्घ्यासम्भव मिलितैश्च व्यघघानेऽपि रघाभ्यां परस्य नस्य णः स्यात् समानपदे ।

योर्विसर्जनीय' इति रेफस्य विसर्गे 'रामा' इति रूप सिद्धम् । हे राम इति ।
 रामशब्दात्सम्योघनार्थकप्रथमैकवचनविषयायां सौ कृते 'राम सु' इति जाते
 'एकवचन समुद्धि' इति सो. समुद्धिसंज्ञायामनुबन्धलोपे सति 'यस्मात्प्र-
 त्ययविधित्तदादिप्रायवेऽङ्गम्' इत्यनेन रामशब्दस्याङ्गत्वे 'एङ्ङुस्वात्समुद्धेः' इत्यनेन
 समुद्धिसम्बन्धिनि हल्रूपे सकारे लुप्ते सम्योघनस्योत्तक हे इत्यस्य पूर्वयोगे कृते 'हे
 राम' इति । अस्मि पूर्वं इति । 'अक. सवर्णे दीर्घ' इत्यतो अक इति पञ्चम्यन्तमनु-
 वर्तते । 'एक पूर्वपरयो' इत्यधिकार । 'इको षणचि' इत्यतोऽपि इत्यनुवर्तते
 तदाह—अङ्ङोऽभ्यन्त्रोऽद्यादिना । रामानिति । रामशब्दात् द्वितीयाया द्विवचनविषया-
 याम् 'औटि' कृते 'राम राम औ' अत्र 'सरूपाणामेकनोप एकविमत्तौ' इति एकराम
 अवशिष्टे 'सति' रेफस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धी प्राप्तायां ताभ्या-
 धित्वा 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण.' इत्यनेन पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तस्य 'नाविचि' इत्यनेन
 निषेधे कृते 'वृद्धिरेचि' इत्यनेन वृद्धी कृतायाम् 'रामो' इति सिद्धयति । अट्कुप्वाङ्
 इति । 'रघाभ्यां नो ण समानपदे' इति सम्पूर्णं सूत्रमनुवर्तते । रघाभ्यामिति पञ्च-
 मीनिर्देशाद्भवदितस्याप्राप्ती यचनमिदम् । तत्र सर्वेभ्यंवायोऽसम्भवो । एकैकमाय
 भ्यवाय इत्यपि नार्थ, शुभ्नादिषु शुभ्नाशब्दपाठसामर्थ्यात्सरूपागामित्यादिनिर्देशाच्चे-
 त्यमिमेत्याह—यस्यैर्यथासम्भवादिना । रामानिति । रामशब्दात् द्वितीयायाद्विवचन-
 विषयायां शसि समागते 'लशकृतद्धिते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'राम अस्' इत्य

- एङ्ङु—एङ्ङुत्त और इस्वात् अङ्गसे पर सम्भुव्ययव हल्का लोप हो ।
- अस्मि—अकमे अमसम्बन्धी अच् परमें रहनेसे पूर्व-परके स्थानमें पूर्वस्वर एकादेश हो ।
- लश—तद्धितको छोड़कर प्रायसके आदि अकार, उच्चार और कवर्गकी इत्सङ्गा हो ।
- तस्मा—पूर्वस्वर्णदीर्घ पर शसु सम्बन्धीसकारके स्थानमें नकार आदेश हो, पुंलिङ्गमें ।
- अट्कु—अट्-कवर्ग-षवर्ग-आङ्-नुम् (नुमस्थानिक अनुस्वार)—इनके अस्त (पृथक् पृथक्) व्यवधान रहनेपर अकार षणसम्भर मिलित (पक्षसे अचिक वा सरबा मी) व्यवधान रहनेपर रेफ-नकारसे पर नकारको जत्व हो, समान (एक) परमें ।

इति प्राप्ते । पदान्तस्य । ट।।।३। नस्य णो न । रामान् ॥ टाडसिङ्गसामि-
नात्स्याः । ७।१।१२। अदन्ताद्यादीनामिनादयः क्रमात् स्युः । णत्वम् । रामेण ॥
सुपि च । ७।३।१०२। यघादौ सुप्यतोऽङ्गस्य दीर्घः स्यात् । रामाभ्याम् ॥ अतो
भिस ऐस् । ७।१।१२। अतोऽङ्गात्परस्य भिस ऐस् स्यात् । 'अनेकाल्शिस्सर्वस्य' ।
रामैः ॥ छेर्यः । ७।१।१३। अतोऽङ्गात्परस्य हेर्यदेशः स्यात् ॥ स्थानिवदादेशो-

वशिष्टे, अत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे विहिते 'रामास्' इति
जाते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य नखे कृते 'रामान्' इति रूपम् । अत्र 'अट्-
कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि' इति नस्य णत्वे प्राप्ते 'पदान्तस्य' इति निषिद्धे सति णत्वा-
भावेन 'रामान्' इति जायते । रामेणेति । रामशब्दात् तृतीयैकवचनविवक्षायां टा-
समागते 'राम टा' अत्र 'टाडसिङ्गसामिनात्स्याः' इति टास्थाने इनादेशे कृते
'आद्गुणः' इति गुणे च विहिते 'अट्कुप्वाङ्नुम्वयवायेऽपि' इति नस्य णत्वे 'रामेण'
इति । रामाभ्यामिति । रामशब्दात् तृतीयाद्विवचनविवक्षायां भ्यामि प्रत्यये 'राम
भ्याम्' इति दशायां 'सुपि च' इति यञादिसुवन्तःपातिनि भ्यामि परे अदन्ताङ्गस्य
राम इत्यस्य दीर्घं प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनाकारस्य दीर्घं 'रामाभ्याम्' इति ।
रामैरिति । रामशब्दात् तृतीयावहुवचनविवक्षायां भिसि प्रत्यये 'राम भिस्' इति जाते
अत्र 'अतो भिस ऐस्' इति भिस ऐसादेशे प्राप्ते क्व स्यादिति जिज्ञासायाम् 'अने-
काल्शिस्सर्वस्य' इति परिभाषया अनेकाल्त्वात्सर्वादेशे 'राम ऐस्' इति भूते अत्र
वृद्धिरेचि इति वृद्धौ सस्य खवे विसर्गे च 'रामैः' इति । स्थानिवदिति । गुरुस्थाना-
पन्ने गुरुपुत्रादौ स्थानापत्त्या तद्धर्मलाभो लोकतः सिद्धः । कुशादिस्थानापन्नेषु शरा-
दिषु च वैदिकन्यायसिद्धः । इह तु शास्त्रे स्वं रूपं शब्दस्येति वचनात् स्थानिधर्माः

पदान्त—पदान्त नकारको णकार नहीं हो ।

नोटः—णत्वविधायक और तन्निषेधक अनेक सूत्र हैं । पर उन सबोंके निष्कर्ष 'सुट्ट-
तुलशर्व्यवाये न' यह भाष्यवार्तिक स्मरण रखने योग्य है ।

फकित यह हुआ कि एक पदमें ऋकार, पकार, और रेफसे पर चवर्ग टवर्ग, तवर्ग
और ल तथा शर् (श प स) वर्णसे भिन्न एक, दो या अनेक वर्ण व्यवधान रहने-
पर भी पदान्त भिन्न नकारके स्थानमें णत्व हो । इतना याद रहनेपर वार्तिकेन
आदिमें णत्व प्राप्तिकी शङ्का ही नहीं उठती ।

टाडसि—अदन्त अङ्गसे पर टा डसि ङस्के स्थानमें क्रमसे इन-आत्-स्य आदेश हों ।

सुपि—यञादि सुपके परे अदन्त अङ्गको दीर्घ हो । अतो—अदन्त अङ्गसे पर भिस्के
स्थानमें ऐस् आदेश हो । छेर्यः—अदन्त अङ्गसे पर छेके स्थानमें 'य' आदेश हो ।।

स्थानि—आदेश स्थानिवत् (स्थानिधर्मवत्) हो, परन्तु स्थानिवृत्ति जो अल् तदाश्रय
विधि कर्तव्यमें नहीं हो, (अर्थात् अलाश्रय विधि कर्तव्यमें स्थानिवद्भाव नहीं हो) ।

ऽनख्यिघौ । १।१।५६। आदेश स्यानिवत्स्यान्न तु स्यान्वलाश्रयविधौ । वर्णमाधितो विधिरिविधि । आदेशोऽलाश्रयविधौ तु स्वादेव । इति स्यानिवत्स्यात्सुपि चेति दीर्घः । रामाय । रामान्याम् ॥ बहुवचने झल्येत् । ७।३।१०३। अलादौ बहुवचने सुप्य लोऽङ्गस्यैकारः । रामेभ्यः । सुपि किं ? पचम्भम् । साऽघसाने । ८।४।५६। अघसाने झलं चरो वा स्युः । रामात् । रामाद् । रामाभ्याम् । रामेभ्यः । रामस्य ॥ झोसि

आदेशेषु न प्राप्नुयुरिति तत्प्राप्यर्थं स्यानिवदिति सूत्रारम्भः । स्थानं च प्रसङ्ग इत्यु-
क्तम् । यस्य स्थानेऽन्यद् विधीयते तत् स्यानि । येन विधीयमानेन अन्यत् प्रसङ्ग
निवर्तते स आदेशः । स्यानिना तुल्यः स्यानिवत् । 'तेन तुल्यम्' इति वतिप्रत्ययः ।
आदेशः स्यानिना तुल्यो भवति स्यानिघर्मको भवतीति यत्नम् । शक्तिं वर्णपर्यायः ।
विधीयत इति विधिः कार्यम् । अलाश्रयो विधिः अख्यविधिः । न अख्यविधि अन-
ख्यविधि । अलाश्रयमिन्ने कार्यं कर्तव्यं इति प्रतीयमानोऽर्थः । अलाश्रयमिन्ने कार्यं
कर्तव्यं स्यानिवन्न भवतीति फलितम् । 'अनख्यविधौ' इत्यस्य निकृष्टार्थस्तु स्यान्व-
यवात्प्राप्तिः अल्मात्रवृत्तिर्यो घर्मं तददितघर्मनिमित्तके कार्यं कर्तव्यं न स्यानिघ-
दिति । रामायेति । रामशब्दात् चतुर्थीकवचनविधवायां छे विहिते 'राम छे' इति
जाते तत्र 'क्षेयं' इत्यनेन छे इत्यस्य स्थाने प्रकारादेशे ह्ये 'राम य' इति । अत्र
यकारे 'स्यानिवदादेशोऽख्यविधौ' इति स्यानिवद्भावेन सुप्यवमानीय 'सुपि च'
इत्यनेनादस्ताङ्गस्य दीर्घं 'अलोऽन्यस्य' इत्यनेन अन्यस्यालो जाते 'रामाय'
इति रूपं सिद्धम् । रामेभ्य एति । रामशब्दात् चतुर्थीकवचनविधवायां म्यसि
प्रत्यये विहिते 'राम म्यस' इति जाते, तत्र यकारादिसुपवाच 'सुपि च'
इत्यनेन दीर्घं प्राप्ते तन्माधितवा 'बहुवचने झल्येत्' इत्यनेन प्रकारे विहिते 'अलो-
ऽन्यस्य' इत्यनेनान्यस्य मकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैव सस्य ह्ये अनुपम्यलोपे
रेषस्य विसर्गं च ह्ये 'रामेभ्य' इति रूपम् । सुपि किमिति । 'बहुवचने झल्येत्'
अस्मिन् ध्रुवे पूर्वसुप्रतो षड् सुपीति नान्यवर्तिष्यत तदा 'पचम्भम्' इत्यत्र झला
विबहुवचने ध्वनि परे अदस्ताङ्गस्य दीर्घोऽभविष्यत् । तन्मान्दिति सुपीयनुवर्तन-
मापरयकम् । रामादिति । रामशब्दात् पञ्चम्येकवचनविधवायां छसौ समागते
'राम छसि' इत्यत्र 'टाङ्गसिहस्तामिनास्या' इति ह्येरेवादेशे ह्ये 'अकः सवर्णे
दीर्घः' इति दीर्घे 'झलां जसोऽन्ते' इति तस्य ह्ये 'वाऽवसाने' इति ह्यस्य
विकल्पेन तस्ये 'रामात्' इति । पठे—'रामाद्' इति । रामस्येति । रामशब्दात् पञ्चमे
कवचनविधवायां छसि 'राम छत्' अत्र 'टाङ्गसिहस्तामिनास्या' इति छस-

बहु—ताङ्गसि बहुवचन झल्येके परे अदन्त अङ्गके स्थानमें पठत हो ।

वाऽव—अदन्तमें विद्यमान झल्येके स्थानमें चर् आदेश हो, विकल्पते ।

झोनि—अदन्त अङ्गको पठत हो, झोस्येके परे ।

च । ७।३।१०४। अतोऽह्रस्वैकारः स्यात् । रामयोः ॥ ह्रस्वनद्यापो नुट् । ७।३।५४।
ह्रस्वान्तास्यन्तादावन्ताप्याङ्गात्परस्याऽऽमो नुडागमः ॥ नामि । ६।४।३। नामि परे
अजन्ताह्रस्व दीर्घः । रामाणाम् । रामे । रामयोः । सुपि एत्वे कृते ॥ अपदान्तस्य
मूर्धन्यः । ८।३।५५। आ पादपरिचमातेरधिकारोऽयम् । इण्कोः । ८।३।५७। इत्य-
धिकृत्य । आदेशप्रत्यययोः । ८।३।५९। इण्कृभ्यां परस्याऽपदान्तस्याऽऽदेशःप्रत्य-
यावयवश्च यः सस्तस्य मूर्धन्यादेशः । ईषद्विद्वृतस्य सस्य तादृश एव षः । रामेषु । एवं
कृष्णादयोऽप्यदन्ताः । सर्वादीनि सर्वनामानि । १।१।२७। सर्वादीनि शब्दरूपाणि

स्यादेशे 'रामस्य' इति रूपम् । रामयोरिति । रामशब्दात् षष्ठीद्विवचनविवक्षायाश्च
षोडशि 'राम षोस्' अत्र 'षोसि च' इत्यनेन अदन्ताङ्गस्यैकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य'
इत्यनेनाकारस्य जाते 'रामे षोस्' अत्र 'पृचोऽयवायावः' इत्यनेन अयादेशे संयुक्ते
भूते 'रामयोस्' इति तत्र सस्य षत्वे विसर्गे च 'रामयोः' इति रूपम् । रामाणा-
मिति । रामशब्दात् षष्ठीबहुवचनविवक्षायाम् आमि 'राम आम्' अत्र 'ह्रस्वनद्यापो
नुट्' इति नुटि द्वित्वादायावयवे उकारटकारयोरित्संज्ञायां लोपे च 'राम नाम्'
इति जाते 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवावेऽपि' इति णत्वे 'रामाणाश्च'
इति । रामेष्विति । रामश्चब्दात् सुपि 'राम सुप्' इति । तत्र पकारस्य 'ह्रस्वमन्' इति
हतीत्संज्ञायाश्च 'तय लोपः' इति लोपे 'बहुवचने सत्वयेत्' इत्येकारे 'रामेषु' इति
जाते तत्र 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे विहिते 'रामेषु' इति सिद्धम् । अयं
सर्वादिशब्देषु सर्वनामकार्यं विधास्यन् सर्वनामसंज्ञामाह—सर्वादीनीति । सर्वः
आदिः प्रथमादयवो येषां तानि सर्वादीनि । नपुंसकवशात् शब्दरूपाणीति विशेष्य-

ह्रस्व—ह्रस्वान्त, नघन्त और आवन्त अङ्गसे पर जो आम् उसको नुट्का आगम हो ।

नामि—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, नाम्के परे ।

अपदान्त—अष्टम अध्यायके तृतीय पादकी समाप्ति पर्यन्त 'अपदान्त'का अधिकार है ।

इण्कोः—यह भी उसी प्रकार अधिकार सूत्र है ।

आदेश—इण् और कवर्गसे पर जो अपदान्त आदेश स्वरूप सकार और प्रत्ययावयव
सकार उसके स्थानमें मूर्धन्य (पकार) आदेश हो ।

सर्वा—सर्वादि गणपठित शब्द सर्वनामसंज्ञक हैं ।

नोटः—सर्वादिशब्द पञ्चत्रिंशत् (३५)—सर्व, विश्व, उभ, उभय, इतर (प्रत्ययान्त),
इतम (प्रत्ययान्त), अन्य, अन्यतर, इतर, त्वत्, स्व, नेम (आधा), सम (सभी), सिम
(सभी), पूर्व, पर, अवर (पश्चिम), दक्षिण, उत्तर, अपर (पश्चिम, आगे), अधर,
(नीचे), स्व, (आत्मा, आत्मीय), अन्तर (बाह्य, परिधानीय), त्यद्, तद्, यद्,
एतद्, इदम्, अद्, अद्, द्वि, भवतु, किम् ।

सर्वनामसंज्ञानि स्युः । सर्वं । विश्व । उभ । उभय । इतर । इतम । अन्य । अन्य-
तर । इतर । त्वत् । त्व । नेम । सम । तिम । पूर्वपराऽघटदक्षिणोत्तराऽप-
राऽधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । स्वमहातिघनाख्यायाम् । अन्तरं
बहिर्योगोपसंख्यानयोः । त्वद् । तद् । यद् । एतद् । इदम् । अदस् । एक । द्वि ।
तुम् । अमद् । मवत् । किम् ॥ ३५ ॥ एते पञ्चत्रिंशत्छन्दा सर्वादयः ॥
अज्ञाः षी । ७।१।१७। अदन्तारसर्वनाम्नी जस शी स्यात् । अनेकात्कारसर्वादेशः ॥
सर्वे ॥ सर्वनाम्नः स्मै । ७।१।१४। अत सर्वनाम्नी हे स्मै । सर्वस्मै । ङसिङयोः
स्मात्स्मिनौ । ७।१।१५। अतः सर्वनाम्न एतयोरेतौ स्त । सर्वस्मात् । सर्वस्माद् ।

मध्याहार्यम् । तेन सर्वादीनि शब्दस्वरूपाणि सर्वनामसंज्ञानि स्युनिरर्थम् । सर्वं
इति । अत्र प्रथमाया एकवचनद्विवचनम् रामशब्दवत् 'सर्वं, सर्वौ' इति ज्ञेयम् ।
सर्वशब्दात् प्रथमायद्विवचनविषयायां अस्ति समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि'
इति सर्वशब्दस्य सर्वनामसंज्ञायाम् 'जस षी' इति जस स्थाने 'अनेकात्कारस-
र्वस्य' इत्यनेकात्कारासर्वादेशे 'सर्वं षी' इति आते 'लडाकृतञित' इतीसेज्ञायां
टोपे च 'आद्गुण' इति गुणे 'सर्वे' इति रूपम् । 'सर्वस्मै' इति । सर्वशब्दात्
चतुर्थ्येकवचनविषयायां हे समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामस-
ज्ञायाम् 'हेर्ष' इति आदेशे प्राप्ते सम्भाषित्वा 'सर्वनाम्नः स्मै' इत्यनेन 'हे'
इत्यस्य स्थाने स्मै आदेशे 'सर्वस्मै' इति रूपम् । रामशब्दवत् चतुर्थ्यद्विवचनं
चतुर्थ्येकवचनस्य 'सर्वाभ्यां सर्वेभ्यां' इति बोध्यम् । सर्वस्मादिति । सर्वशब्दात्पञ्चम्येक-
वचनविषयायां ङसौ विहिते 'सर्व-ङिति' अत्र 'ङसिङयोः स्मात्स्मिनौ' इति ङसे-
स्थाने 'स्मात्' आदेशे कृते 'सर्वस्मात्' इति रूपम् । द्विवचनचतुर्थ्येकवचनम्
वत्-सर्वाभ्याम्, सर्वेभ्यः, इति बोध्यम् । यद्यथा एकवचन द्विवचनमपि रामश-

पूर्वपरा—पूर्व, पर, अवर, दक्षिण, उत्तर, अवर, अवर—इन सातोंकी व्यवस्था (निय-
मसे अवधि आकाशा) में और अमहामें सर्वनाम सदा हो ।

स्वम—आदि (वाच्य) और वनवाचीसे मित्र जो—आत्मा—आत्मीयवाची अर्थ
इसमें 'स्व' शब्दकी सर्वनाम सदा हो । अन्तर—बहिर्योग (बाह्य) और वरसभ्यान्
(परिधानीय) अर्थमें 'अन्तर' शब्दकी सर्वनामसदा हो । अज्ञा—अदन्त सर्वनामसे पर
अज्ञ के स्थानमें षी आदेश हो ।

नोर—'शी' में शकार, ईकार ये दो अक्षर हैं अथ अनेकात्० सूत्रसे (पृ० ३३ देखो)
शी आदेश अक्षरों सम्पूर्ण स्थानमें होना दे ।

सर्वना—अदन्त सर्वनामसे पर 'हे' के स्थानमें स्मै आदेश हो । ङसिङयोः—अदन्त
सर्वनामसे अ 'ङिति' और 'ङि'के स्थानमें यवप्राप्त क्रमसे स्मात् स्मिन् आदेश हो ।

आमि सर्वनाम्नः सुट् । ७।१।५२। अवर्णान्तात्परस्य, सर्वनाम्नो विहितस्याऽऽमः सुहागमः स्यात् । एत्वपत्वे । सर्वेषाम् । सर्वस्मिन् । शेषं रामवत् । एवं विश्वाद्योऽप्यदन्ताः । उभशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । उमौ २ । उभाभ्याम् ३ । उभयोः २ । तस्येह पाठोऽकजर्थः । इतरइतमौ—प्रत्ययौ । 'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहण'मिति तदन्ता प्राणाः । नेम-इत्यर्थे । समः-सर्व-

वदवत्-सर्वस्य, सर्वयोः' इति । सर्वेषामिति । सर्वशब्दात् पठ्योवहुवचनविवक्षायाम् आमि 'सर्व-आम्' इति स्थिते 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटि उटो लोपे, टित्वादाद्यावयवे 'सर्व स आम्' इति जाते 'बहुवचने षट्त्वे' इत्यनेन वकारोत्तरवर्तिनोऽकारस्यैत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे च 'सर्वेषाम्' इति रूपम् । सर्वस्मिन्निति । सर्वशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां लौ सति तस्य स्थाने 'इति-इत्योः स्मारिस्मिनौ' इति स्मिन्नादेशे कृते सर्वस्मिन् इति रूपम् । तस्येह पाठोऽकजर्थ इति । उभशब्दो द्वित्वविशिष्टस्य वाचकः, अत एव नित्यं द्विवचनान्तः । ननु एवं सति 'जसः शी' 'सर्वनाम्नः स्मै' 'इति-इत्योः स्मारिस्मिनौ' 'आमि सर्वनाम्नः सुट्' इत्युक्तानां सर्वनामप्रयुक्तकार्याणां द्विवचने अभावादुभशब्दस्य सर्वादिगणे पाठो व्यर्थ इति चेद्, न । 'अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राकृटेः' इति अकजर्थ सर्वादिगणे तस्य पाठस्यावरयकत्वात् । यद्यत्र पाठो न क्रियेत; तर्हि सर्वनामसंज्ञा न स्यात्, सर्वनामसंज्ञाऽभावे तु नाकच् । तेन 'उभकौ' इति न सिद्धयेदिति भावः । इतरइतमाविति । अत्र 'प्रत्ययग्रहणे तदन्ता ग्राह्याः' इति परिभाषया इतरान्तदन्तान्तौ ग्राह्यौ । केवलयोः तयोः संज्ञायाः प्रयोजनाभावात् । प्रत्ययाविति । 'किं यत्तदो-निर्घारणे द्वयोरेकस्य इतरच्' 'वा बहूनां जातिपरिप्रश्ने इतमच्' 'एकाच्च प्राचाम्' इति विहितौ । तदन्ता ग्राह्या इति । इतरग्रहणेन कतरादिशब्दानाम्, इतमग्रहणेन कतमादिशब्दानाञ्च ग्रहणमिति भावः । नेम इत्यर्थे इति । 'प्र नेमस्मिन् दृश्ये सोमो

आमि—अवर्णान्त अक्षरे पर सर्वनामसे विहित जो 'आम्' उसको सुहागम हो ।

उभशब्दो—'उभ' शब्द दोका वाचक है इसलिये नित्य द्विवचनान्त है (एकवचन-बहुवचनमें इसका प्रयोग नहीं होता । तस्येह—'उभ' शब्दका सर्वादिगणमें पाठ सिर्फ अकच् प्रत्यय-सिद्धिके लिये है सर्वनाम होनेसे 'उभकौ' में 'अव्ययसर्वनाम्ना०' से (प्राग्वीथ प्रकरण देखो) अकच् होगा ।

इतर—सर्वादि गणमें इतर-इतम प्रत्यय हैं—'प्रत्ययग्रहणे तदन्तग्रहणम्' । (प्रत्ययके ग्रहण में तदन्तका ग्रहण हो) इस परिभाषासे तदन्तविधि होकर इतरान्त और इतमान्त लिये जाते हैं । नेम—सर्वादि गणमें अर्थपर्यायवाची 'नेम' शब्द है । समः—सर्वादि गणमें सर्वपर्यायवाची 'सम' शब्द है—तुल्यपर्यायवाची नहीं है । अत एव 'यथासंख्य' सूत्रमें तुल्यपर्यायवाची 'समानाम्' पदमें सुट् होकर 'समेषाम्' नहीं हुआ ।

पर्याय । तुल्यपर्यायस्तु नेह—'यथासङ्कपमनुदेशः 'समानामिति' ङापकात् ॥
 पूर्वपरावरदक्षिणोत्तरापराधराणि व्यवस्थायामसंज्ञायाम् । १।१।३५।
 एषा व्यवस्थायामसंज्ञया सर्वनामसंज्ञा गणपाठात्सर्वत्र या प्राप्ता सा असि वा स्यात् ।
 पूर्वे । पूर्वा । स्वाभिधेयाऽपेक्षाऽवधिनियमो व्यवस्थायाम् । व्यवस्थायाम् किम् ? दक्षिणा
 गापका । कुशला इत्यर्थः । असंज्ञायाम् किम् ? उत्तराः कुरव ॥ स्वमस्यतिघना-

अन्त 'ह्रस्वसि तया दर्शनादिति भावः । सम सर्वपर्याय इति । सर्वशब्दसमानार्थक-
 समशब्द-सर्वादिगणे पठित ह्रस्वर्थः । तुल्यपर्यायस्त्विति । तुल्यपरावदसमानार्थक ह्रस्वर्थः ।
 ङापकादिति । अन्यथा सत्र समेषामिति निर्दिशेदिति भावः । पूर्वे पूर्वा इति । पूर्वशब्दा
 व्ययमासद्वयवचने जसि समागते 'सर्वादीनि सर्वनामानि' इति सर्वनामसंज्ञा निरया
 प्राप्ता, तां प्रयाप्य 'पूर्वपरावर' इति सूत्रेण जसि विकल्पेन तां विधाय 'जस्य षी'
 इति अस्स स्थाने श्यादेशे शस्येसंज्ञायां छोपे च 'पूर्वं ई' इति शाते 'आद्युग' इत्य-
 नेन पूर्वपरयोः स्थाने गुणे कृते 'पूर्वे' इति रूपम् । सर्वनामसंज्ञाऽभावे तु पूर्वसवर्णदी-
 र्घादेशे रुये विसर्गे च 'पूर्वा' इति रूपम् । असंज्ञायाम् किमिति । 'सञ्ज्ञोपसर्जनीभूतास्तु
 न सर्वाव्ययः' इति वक्ष्यमाणतया संज्ञायां सर्वनामत्वस्याप्रसङ्गेरिति प्रश्नः । उत्तरा
 कुरव इति । कुशलादौ देशादिदेशे नित्य बहुवचनान्तः । सुमेधमाधीकृत्य तत्रोत्तरशब्दो
 वर्तते इत्यस्तीह व्यवस्था, किन्तु तज्ज्ञाशब्दस्थान्नास्य सर्वनामता । पूर्वादिशब्दानां तु
 विष्णु अनादिस्सकेष इति न ते संज्ञानाश्चाः । कुशतु सूत्रशब्दस्थायुनिकस्सङ्घेय इति
 भवत्यस्य संज्ञाशब्द इति । स्वाभिधेयेति । अपेक्षयत इत्यपेक्षः । स्वस्य-पूर्वादिशब्दस्थान-
 विधेयम्-वाच्यम्, तेन अपेक्षयन्-अपेक्षयमाणस्य अवधेर्नियमः, व्यवस्थाशब्देन

पूर्वपरा—पूर्वादि सात्रोक्ते पूर्वनिर्दिष्ट एसी प्रकारके गणसूत्रसे सर्वत्र (सभी विम-
 लिचोने) प्राप्त को सर्वनामसंज्ञा बहु व्यवस्था और अमहा अर्थमें अस्तुके परे विकल्पसे हो ।

जोट—'पूर्वपरा' सूत्रका निष्कृत अर्थ यह है कि—'नियमेन अवधिसापेक्षार्थे
 संज्ञाभिन्नार्थे च वर्तमानानां पूर्वादीनां (संज्ञानां) जसि सर्वनामसंज्ञा विकल्पो
 न त्वन्वय' अर्थात् जहाँ पर वह संज्ञा पूर्व है, पर है, अवर है, दक्षिण है, उत्तर है, अपर
 है वा अवर है, इस अवधिके नियम (व्यवस्था) को आकांक्षा हो जहाँ पर और संज्ञासे
 भिन्न अर्थमें प्रयुक्त इन पूर्वादि शब्दोंकी अस्तुके परे सर्वनामसंज्ञा होती है । एसीकिये—
 'दक्षिणा गापका' (गापका = गानेवाले, दक्षिणा = कुशला —चतुर है) यहाँ पर दक्षिणा
 शब्दका प्रयुक्त अर्थ है अतः अवधिकी आकांक्षा नहीं होनेसे सर्वनामसंज्ञा नहीं दूरे ।
 'असंज्ञायाम्' का प्रयुक्त अर्थ—'उत्तरा कुरव' है । यहाँ उत्तर शब्द 'उत्तर कुशला' की
 संज्ञा है । एसीकिये सर्वनामसंज्ञा नहीं दूरे ।

स्वमहा—इति वचन वाच्येति भिन्न को आत्मा-आत्मीयवाची 'त्व' शब्द इनको गण

ख्यायाम् । १।१।३५। ज्ञातिघनान्यवाचिनः स्वशब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा ।
स्वे । श्वाः । आत्मीयाः, आत्मान इति वा । ज्ञातिघनवाचिनस्तु स्वाः । ज्ञातयोऽर्था
वा ॥ अन्तरं वह्निर्योगोपसंव्यानयोः । १।१।३६। नाद्ये परिधानीये चार्थेऽन्तर-
शब्दस्य प्राप्ता संज्ञा जसि वा । अन्तरे अन्तरा वा गृह्याः । याद्या इत्यर्थः ।
अन्तरे अन्तरा वा शाटकाः । परिधानीया इत्यर्थः ॥ पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा
। ७।१।३६। एभ्यो ङसिद्योः स्मास्मिन्ना वा स्तः । पूर्वस्मात्—पूर्वात् । पूर्वस्मिन्-
पूर्वे । एवं परादीनामपि । शेषं सर्ववत् । एकशब्दः संख्यायां नित्यैकवचनान्तः ।

विवक्षित इत्यर्थः । ततश्च नियमेनावधिसापेक्षार्थं वर्तमानानां पूर्वादिशब्दानां जसि
सर्वनामसंज्ञाविकल्प इति फलति । व्यवस्थायां किमिति । पूर्वादिशब्दानां नियमेनाव-
धिसापेक्षे एवार्थे विद्यमानत्वादिति प्रश्नः । दक्षिणा गायका इति । अत्र दक्षिणशब्दो
नावध्यपेक्ष इति भावः । न्वे स्त्राः इति । स्वशब्दाज्जसि 'स्वमज्ञातिघनाख्यायात्'
इत्यनेन स्वशब्दस्य विकल्पेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति श्यादेशेऽनुबन्धलोपे
गुणे च 'स्वे' इति । पक्षे पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'स्वाः' इति । आत्मीया आत्मान इति वेति ।
आत्मा, आत्मीयं, ज्ञातिः, धनञ्चेति स्वशब्दस्य चत्वारोऽर्थाः । 'स्वो ज्ञातावात्मनि स्वं
त्रिप्लात्मीये स्वोऽस्त्रियां धने' इत्यमरः, 'स्वः स्यात् पुंस्त्वात्मनि ज्ञातौ, त्रिप्लात्मीये
धनेऽस्त्रियां' इति मेदिनीकोशः । तत्र ज्ञातिघनयोः पर्युदासात् आत्मनि, आत्मीये
च सर्वनामत्वं जसि विकल्प इति भावः । ज्ञातिघनपर्युदासस्य प्रयोजनसाह-
ज्ञातिघनवाचिनस्त्विति । ज्ञातिवाचिनः धनवाचिनश्च सर्वनामत्वं पर्युदासात् जसि 'स्वाः'
इत्येव रूपमित्यर्थः । अन्तरमिति । अत्रापि सर्वनामानीति विभाषा जसीति चानुवर्तते ।
वह्निः—अनावृतप्रदेशः, तेन योगः—सम्बन्धो यस्य स वह्निर्योगः, वह्निर्विद्यमानोऽर्थः इति
यावत् । उपसंवीयते—परिधीयते इति उपसंख्यानम् अन्तरीयं वस्त्रम् । तदाह—
वाद्य इत्यादिना । अन्तरे अन्तरा वेति । अन्तरशब्दाज्जसि 'अन्तरं वह्निर्योगोपसंव्या-
नयोः' इत्यनेन सर्वनामसंज्ञायां 'जसः शी' इति जसः स्थाने श्यादेशे 'लशक्तद्धिते'
हृत्तीसंज्ञायां लोपे च 'अन्तर ई' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'अन्तरे' इति ।
सर्वनामत्वाभावे 'अन्तरा' इति । पूर्वस्मादिति । पूर्वशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां
ङसौ समागते 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति वैकल्पिके ङसेः स्थाने स्मादित्यादेशे
'पूर्वस्मात्' इति, पक्षे 'पूर्वात्' इति । पूर्वस्मिन्, पूर्वे इति । पूर्वशब्दात् सप्तम्येक-
वचनविवक्षायां ङौ समागते तस्य स्थाने 'पूर्वादिभ्यो नवभ्यो वा' इति स्मिन्नादेशे
ङ्ङते 'पूर्वस्मिन्' इति, पक्षे—'पूर्वे' इति । संज्ञोपसर्जनीति । आधुनिकसंकेतः संज्ञा

सूत्रे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह् अङ्के परे विकल्पसे हो । अन्तरं—वाद्य और परिधानीय
अर्थमें गणसूत्रसे प्राप्त जो सर्वनामसंज्ञा वह् अङ्के परे विकल्प से हो । पूर्वादिभ्यो—पूर्वादि

सहोत्सर्जनीभूतास्तु न सर्वाद्य । सर्वो नाम कश्चित्स्मै सर्वाय देहि । अतिक्रान्तः
 सर्वमतिर्घर्षस्तस्मै—प्रतिसर्वावा । तदन्तस्यापीय स्रष्टा, 'द्वन्द्वे चे'ति ज्ञापकात् । 'अन्तर
 बहियोगि'ति गणसूत्रे—अपुरीति घक्तव्यम् । अन्तरापी पुरि । तृतीयासमासे
 ।१।१।३०। अत्र सर्वनामता न । मासपूर्वाय । तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि न—मासेन
 पूर्वाय ॥ द्वन्द्वे च ।१।१।३१। द्वन्द्वे उक्ता सहा न । वर्गाधमेतराणाम् ॥ विभाषा

अन्यविशेषगत्वेन स्त्रायोपस्थापकमुपसर्जनम् । न सर्वाद्य इति । सर्वादिगणे तेषां
 नान्तर्गाव इति भाव । टिपुभादिबद्धेकाक्षरसज्ञाभ्ररणयलात्, सर्वेषां नामानीत्यन्व-
 र्पसज्ञाकरणयलाच्च प्राधान्येनोपरिघतस्वीयसर्वायंवाचकत्वस्य सर्वनामशब्दप्रवृत्ति-
 निमित्तत्वमिति अवगततया तथाविधानामेव सर्वादिगणे पाठकरणात् । सर्वनामेति
 महासज्ञाकरणयलात् तदनुगुणानामेव गणे सञ्चिद्येन संश्लेषसर्जनानां न सङ्ग ।
 अतः सज्ञाकार्यमन्तर्गणकार्यं च तेषां न अवतीत्यर्थः । सर्वो नामेति । सर्व इति वक्ष्य-
 चिन्नामधेय चेत् । तादृशावस्थायांमन्त्रस्यसर्वशब्दस्य सर्वायंभिषावेन संज्ञावाच्य
 'तस्मै' अतुष्यैक्यघने सर्वनाम्न रस्मै इति स्मै आदेशो न स्यात्, सज्ञाकार्यत्वात् ।
 तथा सति 'द्वेषं' यकारे सुपि चेति दीर्घे सर्वाय इति । तद्वत् 'अन्तिसर्वं' तस्मै
 इत्यर्थेऽपि न सज्ञा । सर्वशब्दस्य समामे उपसर्जनीभूतत्वात् । अन्तरगिने सूत्रे इति ।
 पार्त्तिकमेतत् । 'अन्तर बहियोगोपसम्पानयोरिति सूत्रेऽपि इति वक्ष्यमित्यर्थं तेन
 पुरिदाभ्येन सम्बन्धे सति अन्तरशब्दस्य सर्वनामत्वमेति फलितोऽर्थः । तेन 'अन्त-
 रापी पुरि'अत्र प्रयोगे,स्याङ्गामोनेति भाव । तृतीयासमास इति।सर्वादीनीत्यत सर्व-
 नामप्रहणम्, न बहुमीहाश्रित्यतोनेत्यनुवर्तते । तेन सर्वादिगणपठितानां तृतीयान्त-
 पर् मांक समासे सति तेषां सर्वनामत्वावच्छिन्नकार्यं न भवति । तेन मासेन पूर्व-
 स्तस्मै 'मासपूर्वाय'अत्र हे' स्थाने यकारादेशेनैव भाष्य न तु समायादेशेनेति भाव ।
 तृतीयासमासार्थवाक्येति । 'विभाषा दिक्समासे बहुमीहौ' इत्यत एव तृतीयासमासे-
 ऽत्र सूत्रेऽनुवृत्ते सम्भवात्पुनश्च समामप्रहणं ज्ञापयति—तृतीयासमासार्थवाक्येऽपि
 सर्वादिगणपठितानां दाशानां सर्वनामता नेति । तेन मामेन पूर्वाय इति तृतीया-
 समामार्थवाक्येऽपि पूर्वशब्दस्य सर्वनामताऽभावात् समायादेशो नेति भाव ।
 द्वन्द्वे चेति । द्वन्द्वसमामेऽपि सर्वादिगणपठितानां सर्वनामता नेति भावः ।
 वर्गाधमेतराणामिति । अत्र वर्गाश्च थाप्रमाश्च इती चेति इतीतरद्वन्द्वः । अत्र

नर दृष्टीमे पर 'असि'अौर 'अ' के स्थानमे दशकनते रमाद-रिभन् आदेश हो । तृतीया-
 दृष्टीवा समासमे ददा तृतीया समामार्थ वाक्यमे भी सर्वादिद्वी सर्नामसहा नही हो ।

द्वन्द्वे च—द्वन्द्वे सर्वनामसहा नही हो ।

विभाषा—वक्ष्य विक दीर्घ कर्त्तव्य हो वो द्वन्द्वे सर्वनामसहा विकरपते हा ।

जसि । १।१।३३। जसाधारं शीमावाह्यं यत्कार्यं तत्र कर्तव्ये इन्द्रे उक्ता सव्या या स्यात् । वर्णाश्रमेतरे—वर्णाश्रमेतराः ॥ प्रथमचरमतयाऽल्पावकृतिपयनेमाश्च । १।१।३३। एते जस्युक्तसंज्ञा वा स्युः । प्रथमे—प्रथमाः । तयः—तययः । द्वितये—द्वितयाः । शेषं रामवत् । नेमे—नेमाः । शेषं सर्ववत् । (तीयस्य छित्सु वा चाच्या ।) तीयप्रत्ययान्तस्य छिद्वचनेषु सर्वनामसव्या वा स्यात् । द्वितीयस्मै—द्वितीयायेत्यादि । एवं तृतीयः । निर्जरः ॥ जरायः जरसन्यतरस्याम्

समासे इतरशब्दस्य सर्वनामत्वाभावात् 'आनि सर्वनाम्नः सुडि'ति सुडागमो नेति भावः । तेन नुटः सिद्धिः फलिता । विभाषा जसि इति । इन्द्रेऽप्राप्ता सर्वनामता जसि वा स्यादिति तदर्थः । तेन 'वर्णाश्रमेतरे' इत्यत्र श्यादेशेन रूपसिद्धिः । तयभावे तु जसि वर्णाश्रमेतरा इत्येष रूपप्रिति निष्कर्षः । शेषं रामवदिति । तथा द्वि-नेम-शब्दस्य जसि सर्वनामसंज्ञा गणे पठितत्वान्निरया प्राप्ता । तद्विकल्पोऽत्र विधीयते । नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानान्तु गणे पाठाभावादप्राप्तैव सर्वनामसंज्ञा जसि विकल्पेन विधीयते । अतो नेमशब्दव्यतिरिक्तानां प्रथमादिशब्दानां जसोऽन्यत्र न सर्वनामकार्यमित्याह-शेषं रामवदिति । नेमे, नेमा इति । नेमशब्दात् जसि 'सर्वादीनि' इति प्राप्तां सर्वनामसंज्ञां विकल्पेन प्रवाध्य 'प्रथमचरमतय' इति विकल्पेन जातायां तस्यां 'जसश्री' इति श्यादेशोऽनुयन्धलोपे गणे च 'नेमे' इति । पक्षे नेमाः इति । शेषं सर्ववदिति । नेमशब्दस्य सर्वादिगणे पठितत्वादिति भावः । निर्जर इति । जरायाः निष्क्रान्तो निर्जरः । 'निरादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः ।

प्रथम—प्रथम, चरम, तयप्रत्ययान्त, अथ, अर्थ, कतिपय और नेम शब्दोंकी सर्वनामसंज्ञा हो. अस्के परे विकल्प से ।

तीयस्य—तीय-प्रत्ययान्तकी सर्वनामसंज्ञा हो, छित् प्रत्ययके परे विकल्पसे ।

जराया—'जरा' शब्दके स्थानमें 'जरस्' आदेश हो, अजादि विभक्तिके परे विकल्पसे ।

नोटः—सु, न्याम्, भिस्, भ्यस् और स्रप् विभक्तिको छोड़कर निर्जर शब्दको सर्वत्र जरसादेश विकल्पसे होता है तथा च—

जरसादेश पक्षमें—

अभाव पक्षमें (रामवत्)—

निर्जरः	निर्जरसौ	निर्जरसः	निर्जरः	निर्जरी	निर्जराः
निर्जरसम्	"	"	निर्जरम्	"	निर्जरान्
निर्जरसा	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः	निर्जरेण	निर्जराभ्याम्	निर्जरैः
निर्जरसे	"	निर्जरैभ्यः	निर्जराय	"	निर्जरैभ्यः
निर्जरसः	"	"	निर्जरात्	"	"
"	निर्जरसोः	निर्जरसाम्	निर्जरस्य	निर्जरयोः	निर्जराणाम्
निर्जरसि	"	निर्जरेषु	निर्जरे	"	निर्जरेषु

।उ०।११। अराया अरस् वा स्यादजादौ विभक्तौ । पदाङ्गाधिकारे तस्य च, तदन्तस्य च । निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति । अनेकार्त्वात्पदादेशे प्राप्ते । एकदेशविहितस्याऽनन्यत्वाच्चरशब्दस्य अरम् । निर्जरसौ । निर्जरौ । निर्जरषः— इत्यादि । उपजीव्यविरोधात् अरस । निर्जरै — इत्यादि । पञ्चे हलादौ च रामवत् ।

'गोस्त्रियो.' इति इत्यन्तम् । निर्गता जरा यस्मादिति बहुव्रीहिर्वा । निर्जरशब्दस्य 'कृतद्विगसमासाश्च' इति समास'वाप्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचने सौ अनुबन्धलोपे तस्य रूपे रेकस्य तिसर्गा'वे च रूपम् । निर्दिश्यमानस्येति । प्रत्ययनिर्दिश्यमानस्यैऽन्यथै । अनया परिभाषया जराशब्दस्यैव अरस् । अराशब्दं पृथक् स्यातीत्यस्य निदिष्टम् । जराशब्दान्तस्य तु निर्देशस्तदन्तविधिलम्प्यत्वाद् आनुमानिक इति भावः । ननु निर्जरशब्दस्य जराशब्दान्तवाभावात् कथमिह अरसादेश इत्यस्य आह—एकदेशेति । 'द्विन्नेऽपि पुष्टे चा श्वैच, न चाधो, न च गर्धम' इति छौटिहिन्यायादित्यर्थः । निर्जरमात्रेण निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'जराया अरसन्त्यतरस्माम्' इति अरसादेशे लब्धे, सूत्रे अराशब्दस्य अरसादेश-प्रोक्तौ न तु निर्जरशब्दस्य, इति कथमत्र अरसादेश इति शङ्कायां 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति, अत्राङ्गाधिकारात् तदन्तस्यापि स्यादिति प्राप्ते 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति' इत्यनया परिभाषया जराशब्दस्यैव अरसादेश स्यात् इति कथमत्र जराशब्दस्य 'अरस्' इति शङ्कायाम् एकदेशविहितमन्यवत्' इति अरसादेशो परेणाद्या युक्ते 'निर्जरसौ' इति । निर्जरैरिति । निर्जरशब्दात् मित्ति निर्जर-शब्दरपाकारान्तरत्वात् 'अतो भिस् पेस्' इत्यकारान्तमङ्ग निमित्तीकृत्य भिस् पेसा-देशो युक्तौ तस्य रूपे तिसर्गां च वृत्ते निर्जरैरिति सिध्यति । य चाग्रैसः परत्वेन अरसा-देशो तस्य उपजीव्यविरोधात्, अकारान्तमङ्ग निमित्तीकृत्य जायमान पेसादेशः स अरसादेशाद्वा तास्य जातस्य सतिपाठपरिभाषया न प्रभवतीति भावः । पञ्चे हलादौ च रामवदिति । अङ्गादिविभक्तौ परे विद्यमेव अरसादेशे सति रूपाण्युक्तानि । अर-सादेशाभावे रामशब्दवत् रूपाणि । हलादौ तु अरसादेशाभावात् इति हलादौ विभक्तौ

पदायि—पदाधिकार जीट अङ्गाधिकारसे त्रिपको को जादेश विधान किया गया है, यह आदेश हमको तथा अन्त (यह है अन्तमें जिसके वस) को भी हो ।

नोट—अरसादेश अङ्गाधिकारमें विहित है अथ यह अरसादेश 'अरा' शब्दको जीट अन्त ('निर्जर' शब्द) को भी होता है ।

निर्दिश्य—निर्दिश्यमान (सूत्रोक्तार्थान्) को आदेश हो (यही प्रकृतिसम्बन्ध-प्रतिपदिकसंज्ञाप्रकारतः निर्दिश्यमानत्वम्) । एकदेश—'एकदेशविहितमन्यवत्' (शेषेणा)—अरशब्दे एकदेश विहित होने पर भी अरशब्दी अन्य नहीं आता । अथ

पद्मोमासहृद्विशसन्यूपन्दोपन्यकञ्चकञ्चुद्ग्रासप्लस्रप्रभृतिषुदा । ६३।
पाद इन्त नासिका मास हृदय निशा असृज् यूष दोष यकृत् शकृत् उदक शास्य-
एषां पदादय आदेशाः स्युः शसादौ वा । यत्तु 'आसनशब्दस्याससादेश' इति
काशिकायामुक्तं तत्प्रामादिकमेव । पादः । पादौ । पादाः । पादम् । पादौ । पदः-
पादान् । पदा-पादेन । इत्यादि । विश्वपाः ॥ दीर्घाद्धसि च । ३।१।१०५।

परे रामशब्दवत् रूपाणीति भावः । पद्मो इति । पद्-इत्-नल्-मास्-हृत्-
निश्-असन्-यूपन्-दोषन्-यकृन्-शकृन्-उवन्-आसन्-इत्येतेषां समाहारइन्द्र ।
शस् द्वितीयावहुवचनं प्रभृतिः आदिर्येषामिति तद्गुणसन्निधानो बहुव्रीहिः । 'अहु-
दात्तस्य चर्दुपद्यस्यान्यतरस्याम्' इत्यतोऽन्यतरस्यामिन्दुवर्तते । शसादिषु परेऽपि
पदादय आदेशा वा स्युरित्यर्थः । पदाद्यादेशैश्च स्वानुरूपा ल्यानिनः आक्षिप्यन्ते ।
यथासंख्यपरिभाषया पादादीनां पदादय आदेशाः प्रत्येतव्याः । यत्त्वासनशब्दत्वेति ।
प्रामादिकं प्रमादाद्वागतं जातं वा प्रामादिकम् । 'ह्रस्वा जुह्वान् आसन्ति, इति मन्त्रे
आसन्न्यं प्राणमूचुः इत्यादौ च आस्यार्थकत्वस्यैव दर्शनाद् आसनशब्दस्य स्थाने
आसन्नादेश इति काशिकोक्तं अममूलकमेव, आसन्नादेशस्य आस्यशब्दे एव ह्रस्वमास-
त्वात् । पादः पादाविति । पादः इति प्रथमैकवचनमारभ्य पादाविति द्वितीयादिवच-
नान्तं यावत् । रामशब्दवदेव रूपाणि । पादशब्दस्याऽकारान्तरत्वेन शसः प्रागधिरो-
पाच्च । मद इति । पादशब्दाच्छक्ति पादस्थाने 'पद्मन्तो' इत्यादिना पदादेशे 'कृष्-
क्वेति' अकारस्येत्संज्ञायां लोपे पद् अस् इति ज्ञाते परेण संयोगे सस्य कृत्वे विसर्गे
पद् इति सिध्यति, तदभावे पादानिति रामान् इतिवत् द्वितीयं रूपं भवति । पदेति ।
पादशब्दात्तृतीयैकवचने टाप्रत्यये टकारस्येत्संज्ञायां लोपे परत्वात्प्राप्तमपि इनादेशं
आक्षित्वा अपवाद्स्वारपूर्वं 'पद्मन्तो' इति पदादेशे परेण संयोगे पदा इति सिध्यति,
असति च पदादेशे पादेन इति रामेण इतिवत् सिध्यतीति तत्प्राधान्यलेशो व्यर्थः ।
विश्वपा इति । विश्वं पाति रक्षतीत्यर्थे 'आतोऽनुपसर्गे कः' इति प्राप्ते दास्यरूप-
न्यायेन 'आतो मनिनृकनिवृन्निपश्च' इति चकारात् विच तस्य तर्वापहारे हृदन्त-
स्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे 'सस्युपो
रुः' इति रुवे उकारस्येत्संज्ञायाम् 'सरवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे च
कृते 'विश्वपाः' इति रूपम् । विश्वपाः इति । द्विधयाशब्दाज्जिति 'जुह्व' इति
जसो जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'विश्वपा अस्'

प्रकृतिर्मे 'निर्जर' शब्दघटक 'जर' शब्दको भौ जरसादेश हुणा । पद्मो-पाद, दन्त,
नासिका, मास, हृदय, निशा, असृज्, यूष, दोष, यकृत्, शकृत्, उदक, आस्य-इन्द्र
स्थानमे ययाक्रमसे पद्, दत्, नस्, मास्, हृद्, निश्, असन्, यूषन्, दोषन्, यकृन्,
शकृन्, उदन्, आसन् आदेश हो, शसादि विभक्तिके परे, विकल्पते । दीर्घा-दीर्घे पर

दीर्घाञ्जसि, इति च न पूर्वसवर्णदीर्घं । वृद्धिः । विद्यपौ । विद्यपा । हे विद्यपा । हे विद्यपौ । हे विद्यपा । सुहनपुंसकस्य ।१।१।४३। स्वादिपञ्चवचनानि सर्वनामस्थानसंज्ञानि स्युरवन्तीत्यस्य ॥ सुञिति प्रत्याहारः । स्वादिपञ्चसर्वनामस्थाने ।१।४।१७। कप्रत्ययावधिषु स्वादिपञ्चसर्वनामस्थानेषु परतः पूर्व पदं स्यात् ॥ यच्च भम् ।१।४।१८। यादिपञ्चत्रादिषु च कप्रत्ययावधिषु स्वादिपञ्चसर्वनामस्थानेषु पूर्व भ स्यात् ॥ आ ककारादेका संज्ञा ।१।४।१। इत ऊर्ध्वं 'ककारा कर्मधारये' ।१।१।२८ इत्यतः प्रागेकस्यैकेव सज्ञा ज्ञेया । या पराऽनवकारा च । तेन राशादावधि भसज्ञैव, न पदम्भम् ॥ आतो घातो ।१।४।१७०। आकारातो यो घानुस्वदन्तरस्य भस्या हस्य लोपा स्यात् । अलोऽन्त्यस्य । विश्वप विश्वपा । विश्वपाभ्यामित्यादि ॥

इति दशायां 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'दीर्घाञ्जसि च' इति सूत्रेण पूर्वसवर्णदीर्घनियेधे जाते 'अक सवर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे सति सस्य रूपे रस्य विसर्गे च कृते 'विद्यपात्' इति रूपम् । अलोऽन्त्यस्येति । अन्तस्थाकारस्य लोप इति शेषः । विद्यपः । विद्यपाशब्दात् शसि 'लृञ्जसिदिते' इति शसः शकारस्येस्तज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च कृते 'विद्यपा-अस' इति स्थितेऽत्र 'सुहनपुंसकस्य' इत्यनेन 'सु औ-लृप्, भम्-औट्' इत्येतेषां सर्वनामस्थानसंज्ञाविहितत्वात् शसो न सर्वनामस्थानसंज्ञा, तेन 'स्वादिपञ्चसर्वनामस्थाने' इत्यनेन सर्वनामस्थानमिन्नस्वादिषु शसादिषु परेषु पूर्वस्य विद्यपाशब्दस्य पदसंज्ञायां प्राप्तायां 'यच्च भम्' इत्यनेन च सर्वनामस्थानमिन्नपञ्चादिषु स्वादिषु परेषु भसज्ञायां प्राप्तायां किमत्र विधेयम् ? इति दाहापाय् 'आककारादेका संज्ञा' इत्यनेन एकैव संज्ञा भवतीति नियमात् परावादनवकादात्वात् च अत्र भसज्ञैव ज्ञाना लस्यां ज्ञातायाम् 'आतो घातो' इति सूत्रेण पाञ्चदस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेन पकारोत्तरदर्पाकारस्य लोपे कृते पकारस्थाकारेण सह सयोगे स इत्यस्य

'भम्' अथवा 'इच्' रहे तो पूर्वसवर्ण दीर्घ नहीं हो । सुहन—स्वादि पञ्चवचन (सु-औ-लृप्-भम्-औट्) को सर्वनामस्थानसंज्ञा हो, नपुंसकविभक्तो लोटकर ।

औट्—दाद रह कि नपुंसकविभक्तवै भम्-लृप् स्थानिक 'कि' मात्रही सर्वनामस्थान संज्ञा होती है ('इति सर्वनामस्थानम्' अवन्तनपुंसक विभक्त देते)

स्वादिपञ्च—'सु' प्रायवृत्ते केकर 'कप्' प्रायवचनस्य सर्वनामस्थानमिन्न प्रत्यय, परते रहनेसे पूर्वकी पदसंज्ञा हो । यच्च भम्—यादि 'कप्' प्रायवचनवि प्रत्यय और भवदि को स्वरि भवनामस्थान बनने परे पूर्वकी पदसंज्ञा हो । आककारा-यज्ञेति (प्रथम ज्ञया पदे यदुपे लृप्ते केकर भाग्ये) 'ककारा-कर्मधारये' ।१।१।२८ सूत्रसे पूर्व तक पदको पद ही संज्ञा हो (जो अकारादीके अन्त्य पर हो वा अन्तरकाठ हो) । आतो—आकारान्त को

एवं शङ्खभादयः । धातोः किम् ? हाहान् । 'आत्' इति योगविभागाद्धातोर्प्या-
कारलोपः क्वचित् । कत्वः । रन् । हरिः । हरे । ॥ जसि च ॥ ७३११०९ ॥ ह्रस्वान्त-
स्याहस्य गुणः स्याज्जसि परे । हरयः ॥ ह्रस्वस्य गुणः । ७३११०८ ॥ ह्रस्वस्य
गुणः स्यात् सम्बुद्धौ । हे हरे । हरिम् । हरी । हरीन् ॥ शेषो ष्यसक्ति । १॥ ७३१०
'शेष' इति स्पष्टार्थम् । अनदीसंज्ञौ ह्रस्वौ याविदुतौ तदन्तं सखिवर्जं घिसंज्ञं स्यात् ॥
आत्ते ऋऽस्त्रियाम् । ७३११२० ॥ वेः परस्याऽऽने ना स्यादस्त्रियाम् । 'आ' इति

रुवे अनुबन्धलोपे रेफस्य विसर्गे च 'विश्वपः' इति रूपम् । एवं शङ्खभादय इति ।
शङ्खं घमतीति शङ्खभा । 'ध्मा शब्दाग्निसंयोगयोः' इति धातोः 'क्विप् च' इति क्विप् ।
धादिना सोमं पिबतीति सोमपाः, मधु पिबतीति मधुपाः इत्यादयो ग्राह्याः ।
दाशानिति । हाहा इति गन्धर्वविशेषवाचकमध्युत्पन्नप्रातिपदिकमेतत् । 'हाहा ह्रह्रश्चै-
वमाद्या गन्धर्वास्त्रिदिवौकसः' इत्यमरः । सुटि विश्वपावत् । हाहाशब्दात् शसि,
अनुबन्धलोपे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'तस्माच्छसो
नः पुंसि' इति सकारस्य नकारादेशे 'हाहान्' इति । आत् इति योगविभागादिति—
'आत्ते धातोः' इति धातोरेवाकारलोपनियमनेन कत्वः, रन्ः, इत्यादीनां सूत्रोक्तानां
प्रयोगाणां सिद्धिर्न स्यात्तेषामधातुरवेनाऽऽकारलोपाऽनापत्तेः । अतः 'धातो धातोः'
इत्यत्र 'आत्ः' इति योगविभागः क्रियते । तेन धातुभिन्नस्याप्याकालन्तस्य क्वचिहोपः
सिद्ध्यतीति प्रोक्तरूपाणां सिद्धिर्निर्वाधेति भावः । हरिः । हरिशब्दात् प्रथमैकवचन-
विवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हरि स' इति जाते सस्य रुवे रेफस्य
विसर्गे च 'हरिः' इति रूपम् । हरय इति । हरिशब्दाज्जसि समागतेऽनुबन्धलोपे 'हरि-
भस्' इति स्थिते पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं प्रधाप्य 'जसि च' इति गुणे प्राप्ते 'अलो-
ऽन्यस्य' इति परिभाषयाऽन्यस्य जाते 'हरे-जस्' इति भूते 'पुञोऽयवायावः' इति
अथादेशे सस्य रुवे विसर्गे च कृते 'हरयः' इति रूपम् । हे हरे इति । हरिशब्दा-
त्सम्बोधनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुसमागते अनुबन्धलोपे, तस्य 'पूकवचनं सम्बुद्धिः'
इति सम्बुद्धिसंज्ञायां ह्रस्वस्य गुणः' इति गुणे 'हरे-स' इति जाते 'पूः ह्रस्वात्सम्बुद्धेः'
इति सलोपे 'हे हरे' इति रूपम् । हरीन् इति । हरिशब्दात् शसि शसः शकारस्येत्संज्ञायां
लोपे च 'हरि-भस्' इति स्थितेऽत्र 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसवर्णदीर्घादेशे
कृते 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति स् इत्यस्य नकारादेशे सति 'हरीन्' इति रूपम् ।

धातु, तदन्त जो मसंज्ञक अङ्ग उसका लोप हो । जसि च—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो, सलोपे
परे । ह्रस्वस्य—ह्रस्वान्त अङ्गको गुण हो सम्बुद्धि 'पु' के परे । शेषो—नदीसंज्ञकते सिद्ध लो
ह्रस्व इकार-उकार तदन्त जो सस्त्रि-भिन्न अङ्ग, वह विसंज्ञक हो (सुप्रमें शेषप्रश्न स्पष्टार्थ
है) । आत्ते—विसंज्ञकते पर 'आत्' (टा विभक्ति) को 'ना' आदेश हो, सीकृशको लोप-

टासना प्राचाम् । हरिणा । हरिम्याम् ३ । हरिमि । घेडिति । ७ ३।१११। पिप्लस्य
 षिति षुरि गुण स्यात् । हरये । हरिभ्य २ । गुणे कृते ॥ कसिद्धसोश्च
 । ६।१।११०। एषो कसिद्धोरति परे पूर्वह्रस्वकादेश स्यात् । हरेः २ । ह्ययो २ ।
 हरीणाम् ॥ अथ घे । ७।३।११९। इदुद- ॥ गुणस्य षेरीत् पेश्त् स्यात् । हरी ।
 ह्ययो । हरिषु । एव षष्ठादथ अनङ् सौ । ७।१।६।३। पस्युरङ्स्याऽनकादे
 नोऽधम्बुदौ षौ ॥ अलोऽन्त्यात्पूर्व उपधा । १।१।६।५। भन्त्यादथ पूर्वो वर्ण
 सपथाम्भ्र स्यात् ॥ सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ । ६।७।८। नान्नस्योरथाया
 दीर्घोऽधम्बुदौ सर्वनामस्थाने । अपृक्त एकाल प्रत्यथ । १।२।४१। एकाम्प्रथयो
 य मोऽपृषण्ड स्यात् । इच्छयाभ्यो दीर्घात्सुतिस्यपृक्तं हल् । ६।१।६।८।

हरिणा । हरिशब्दात् हृनीयैकवचनविषयायां टासमागते 'शेषो ष्यसति' हायनेन
 हरिशब्दात् घिसञ्ज्ञायाम् 'आहो नाऽस्त्रियाम्' हायनेन घिसञ्ज्ञकात् हरिशब्दात्
 परस्य आठ टाहायस्य नादेशे कृते 'हरिना' इति जाते 'अट्कुप्वाङुगुम्यवायेऽपि'
 हायनेन नाये 'हरिणा' इति रूपम् । हरय । हरिशब्दात् क्कृते 'लनाफतदिते' इति
 कस्ये'सञ्ज्ञायां लोपे च 'शेषो ष्यसति' इति घिसञ्ज्ञायां 'घेडिति' इति गुणे 'एषो
 ष्यवायाव' इति अयादेशे 'हस्ये' इति । हरे । हरिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविषयायां
 च्चनौ भमागते ट्कारस्येकारस्य घेसंज्ञाया लोपे च 'हरि-अस्' इति जाते 'शेषो
 ष्यसति' इति घिसञ्ज्ञायां 'घेडिति' इति गुणे कृते 'कसिद्धसोश्च' इति पूर्वरूपे ह्रस्वे
 विसर्गे च 'हरे' इति । हरीणाम् । 'हरि-आम्' इति स्थिते 'इत्वनघायो जुट्' इति
 मुटि 'नामि' इति दीर्घादेशे 'अट्कुप्वाङुगुम्यवायेऽपि' इति नाये 'हरीणाम्' इति ।
 हरी । हरिशब्दात् सप्तम्येकवचने टिसमागते क्तयोऽसञ्ज्ञायां लोपे च 'हरि-ह' इति
 स्थिते 'शेषो ष्यसति' इति घिसञ्ज्ञायाम् 'अथ घे' हायनेन क्कृते स्थाने 'ओकारे,
 घिसञ्ज्ञस्य—'हरि' हायस्य स्थाने अकारे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' हायनेन रेफोत्तरव
 तिन इकारस्य स्थानेष्कारे च विहिते 'हर-ओ' इति जाते 'मुद्धिरेषि' इति घृदौ
 'हरी' इति रूपम् । कर्मभेदे । एकाङ्किते कर्मधारयः । अथैकशब्दोऽसहाधी । 'एक'

कर । घेडिति—घिसञ्ज्ञायां टा सो, कित्-मुप् किमङ्किते परे । कसि—पठते पर कसि-कम्
 सम्बन्धो अकारको पूर्वकन एक कारेण हो । अथ—ह्रस्व इकार-उदात्ते पर 'लि' को अर्थ
 कारेण हो और पिप्लस्यको एकारान्त आदेश हो । अनङ्सी—मस्त्रिकी अङ्को अनङ्
 कारेण हो, सम्बुद्धिदित्र कृते परे । अलोऽन्त्यात्—अन्त्य अङ्के पूर्व वर्णको उपधामशा हो ।
 सर्वनाम—नाम्नको उपधाको दीर्घ हो, सम्बुद्धिदित्र सर्वनामस्थानके परे । अपृक्त—एक
 'अट्' अङ्केको प्रत्यथ पर आठ सञ्ज्ञ हो । इच्छया—इच्छाये पर को 'सु-ति-नि'
 सम्बन्धो अङ्ककारेण इङ् और दीर्घको लो-नाप्ठदन्ते पर को 'सु' सम्बन्धी कर्तृ

हकन्तात्परं, दीर्घो यो स्यापो तदन्ताच्च परं— सुतिस्ती'त्येतदपृक्तं हस्तुप्यते । प्रत्ययलोपे प्रत्ययसङ्क्षणम् । १।१।६२। प्रत्यये लुप्तेऽपि तदाश्रितं कार्यं स्यात् ॥ न लोपः प्रातिपदिकान्तस्य । ८।२।७। प्रातिपदिकसङ्घं यत्पदं तदन्तस्य नस्य लोपः । सखा ॥ सख्युरसम्बुद्धौ । ७।१।९२। सख्युरन्तात्परं सम्बुद्धिबज्जं सर्वनामस्थानं णिहत्स्यात् ॥ अचोऽङ्घ्रिणिति । ७।२।११५। अजन्ताङ्घ्रस्य वृद्धिर्णिति णिति च । सखायौ । सखायः । हे सखे । सखायम् । सखायौ । सखीन् । सख्या । सखिभ्याम् । सखिभिः । सख्ये ॥ ख्यत्यात्परस्य । ६।१।११२। खितिशब्दाभ्यां, खीतीशब्दाभ्यां कृतयणादेशाभ्यां परस्य षष्ठिबधोरत उः । सख्युः २ ॥ औत् । ७।३।११८। इतः परस्य हेरात् । सख्यौ । शेषं हरिषत् ॥ पतिः समास एव । १।४।८। पतिः

मुख्यान्यकेवलाः' इत्यमरोक्तत्वात् । सखा । सखिशब्दात् सौ उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि स' इति स्थिते 'अनङ् सौ' इति अनङादेशे प्राप्ते क स्यात् इति शङ्कायाम् 'अनेकाल् शिरसर्वस्य' इति परिभाषया सर्वस्य स्थाने प्राप्ते परम् 'किञ्च' इत्यनेन तं प्रयोग्य अन्यस्य-लकारोत्तरवर्तिन इकारस्य स्थानेऽनङादेशे जाते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखीन् स' इति जाते 'अलोऽन्यापूर्वं उपधा' इति उपधासंज्ञात्वे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्य पदस्योपधाया दीर्घं विहिते सखीन् स इत्यवस्थायाम् 'अपृक्त एकाल् प्रत्ययः' इति सस्यापृक्तसंज्ञायां कृतायाम् 'हल्ङ्घान्भ्यो दीर्घात् सुतिस्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे 'सखीन्' इत्यवशिष्टे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'सखा' इति रूपम् । सखीन् । 'सखि-शस' अत्र शसः दाकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वपरयोः स्थाने पूर्वसवर्णदीर्घादेशे कृते 'वस्माच्छसो नः पुंसि' इति शसः सकारस्य नकारादेशे 'सखीन्' इति । सख्या । 'सखि आ' अत्र 'असखि' इति पर्युदासात् घिसंज्ञा नः किन्तु 'इको यणचि' इति यणि 'सख्या' इति । सख्युः । सखिशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सखि अस्' इति स्थिते 'इको यणचि' इति यणादेशे सख् य् अस् इति जाते तत्र 'ख्यत्यात्परस्य' इत्यनेन असोऽकारस्य उत्वे 'सख्युस्' इति, तत्र सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'सख्युः' इति रूपम् । सख्यौ । सखिशब्दात्

संशक इल् उगका लोप हो । प्रत्यय-प्रत्ययका लोप होने पर भी प्रत्याश्रित कार्य हो । न लोपः-प्रातिपदिकसङ्घक जो पद, तदन्त जो नकार उसका लोप हो । सख्यु-सखिरूप अङ्गसे पर जो संबुद्धिमित्र सर्वनामस्थान, वह णिहत् हो । (अर्थात् 'णित्' के परे जो वृद्ध्यादि कार्य होता है, वह उसके परे भी हो) । अचो-अनन्त अङ्गको वृद्धि हो, 'चित्-णित्' प्रत्ययके परे । ख्यत्यात्-कृत यणादेशक जो हस्व 'खि' शब्द, 'ति' शब्द और दीर्घ 'खी' शब्द 'ती' शब्द उससे पर जो ङसि-ङस् सम्बन्धी अकार उसके स्थानमें उकार आदेश हो । औत्-उत्स हकार-उकारसे पर 'कि'को औत् आदेश हो । पतिः समास-पति शब्द समासमें ही

समास एव विषयः । परये । पर्युः १ । पर्यौ । शेष हरिवद । समासे तु-भूपतये ।
 कतिशब्दो नित्यं बहुवचनान्त ॥ बहुगणधनुदति संखया ११।१।२३। एते
 चङ्गापञ्चाः स्युः । कति च ११।१।२५। इत्यन्ता सङ्ख्या पदसंज्ञा स्यात् ॥
 पदस्यो लुक् ७।१।२२। अरशो । प्रत्यमलोपे 'अधि' चो'ति गुणे प्राप्ते । प्रत्य-
 यस्य लुक् श्लुल्लुपः । १।१।६७। लुक् श्लुल्लुपश्चै क्लं प्रत्ययाऽदर्शनं कमात्तत्सङ्घं
 स्यात् ॥ न ह्यमताहस्य १।१।६३। लुक् श्लु लुप् एते-लुमन्तः । लुमन्ता
 शब्देन स्मृते तन्निमित्तमत्राद्ये न स्यात् । कतिमि । कतिभ्य । कतिभ्यः । कती-

सप्तम्येकवचनविवक्षायां क्षिप्रमागते ङकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'सति-इ' इति
 जाते तत्र ङकारस्य स्थाने 'धौव' इति 'औ' आदेशो 'इको यणचि' इति
 यणि सङ्घौ इति रूपम् । अथा । पतिशब्दात् दासमागते 'धुट्ट' इति टकारस्ये-
 त्सञ्ज्ञायां 'तस्य लोप' इति लोपे 'इको यणचि' इति यणि 'पया' इति रूपम् ।
 पदे । पतिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङविभक्तौ समागतायां ङकारास्येत्सञ्ज्ञायां
 लोपे च 'पति-ए' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'पये' इति रूपम् । द्विव-
 चनचतुर्वचने-पतिभ्यां पतिभ्य इति । पर्युः । पतिशब्दात्पञ्चम्येकवचनविव-
 क्षायां 'हसौ' कृतेऽनुपपन्नलोपे 'पति-अस' इति स्थिते 'इको यणचि' इति
 यणि 'व्यत्यापरस्य' इति हसौऽङ्कारस्योत्त्वे 'पयु' इति रूपम् । समासे तु भूपतये
 इत्यादिकृपाणि हरिनाम्बद्धसौभ्यानि । कति । कतिशब्दस्य बहुवचनविवक्षा-
 यान् प्रथमापञ्चम्येकवचने जसि कृते 'बहुगणधनुदतिसङ्ख्या' इत्यनेन ह्यपन्तावात्
 कतिशब्दस्य संख्यासञ्ज्ञायां सप्याम् 'कति च' इति पदमज्ञा जाता । 'कति जश्'
 इत्यवस्थायां 'पदस्यो लुक्' इति असौ लुकि सति 'प्रात्ययलोपे प्रात्ययलक्षणम्'
 इत्यनेन प्रात्ययलक्षणा मरवा 'जसि च' इति कतिशब्दस्येकारस्य गुणे प्राप्ते 'न
 लुमन्ताहस्य' इत्यनेन अङ्कारस्य गुणस्य निरर्थे विहिते सति 'कति' इति रूपम् ।

विशदक हो । (कदाचि' केवत्र पति शब्दको विषयता नही हो)

बहुगण-बहु संख, ता शब्द तथा बहुवचनान्त, कतिशब्दवाच्यको संख्यासंज्ञा हो ।
 मोट-ननुप्रात्ययान्त-तस्येभ्य परिमार्तो बहुप्' एत सूत्रसे निष्पन्न 'मावत्' आदि
 और कतिशब्दवाच्यमे 'द्विप सम्पदापरिमाणे कति च' इति सूत्रसे निष्पन्न 'कति' शब्द द्विपे
 कते है । (कति शब्दका प्रयोग बहुवचन में ही होगा है)
 कति च-(कति-नाम्न शब्दके समान) इत्यन्त सवशावाचक शब्द को बहुवचनक हो ।
 पदस्यो-पदस्येकवचने पर कप् शब्दका लुक् (अदर्शन) हो । प्रात्ययस्य-लुक् श्लु-ल्लुप्
 शब्दसे कतिवा हुमा को प्रात्ययका अदर्शन वद् 'लुक्-ल्लु ल्लुप्' सबक हो । अ लुमन्ता-लुक्-
 श्लु-ल्लु शब्दसे अत्यवका लोप (अदर्शन) होने पर (प्रात्यय स्यमागे) ह्यविभक्त अङ्कारसे

नाम् । कतिपु । युष्मदस्मत्पट्संज्ञकास्त्रिषु सरूपाः । त्रिशब्दो नित्यं बहुवचनान्तः ।
 त्रयः । त्रीन् । त्रिभिः । त्रिभ्यः २ । त्रैस्त्रयः ॥ ७ ॥ १ ॥ ५ ॥ ३ ॥ आमि । त्रयाणाम् । त्रिषु ।
 गौणत्वेऽपि—त्रियत्रयाणाम् ॥ द्विशब्दो नित्यं द्विवचनान्तः ॥ त्यदादीनामः ।
 ७ ॥ २ ॥ १ ० ॥ २ ॥ एषामकारो विभर्त्ता । (द्विपर्यन्तानामेवेष्टिः) द्वौ २ । द्वाभ्याम् ३ ।
 द्वयोः २ । द्विपर्यन्तानां किम् ? भवान् । भवन्तौ । पाति लोकमिति पपीः—सूर्यः ।

सल्मा इति । समानानि रूपाणि येषामित्यर्थः । त्रयः । त्रिशब्दस्य बहुत्ववाचकत्वात्
 प्रथमाद्बहुवचने जसि कृते 'जुष्ट' इति जसो जकारस्येसंज्ञायां लोपे च 'त्रि'
 जस् इति स्थिते 'जसि च' इति गुणे 'एचोऽप्यवायावः' इत्ययादेशे स्त्वे विसर्गे
 च 'त्रयः' इति रूपम् । त्रयाणाम् । त्रिशब्दात् पष्ठीवद्विवचनविवक्षायां आमि कृते
 सति 'त्रि-आम्' इति स्थिते 'त्रैस्त्रयः' इति त्रिशब्दस्य त्रयादेशे कृते 'इत्वनघापो
 जुष्ट' इति जुष्टि 'नामि' इति दीर्घे 'अट्कृष्वाह्लुङ्ग्यदायेऽपि' इति णत्वे
 'त्रयाणाञ्च' इति रूपम् । गौणत्वेऽपि त्रियत्रयाणामिति । नेनु जस 'गौणमुत्पयोर्मुख्ये
 कार्यसम्प्रत्ययः' इति न्यायात् त्रिशब्दस्याऽन्यपदार्थे विशेषणत्वेन गौणत्वात् त्रियत्र-
 याणामित्यत्र 'त्रैस्त्रयः' इति त्रयादेशो न स्यादिति चेद्, न । तस्य पदकार्ये एव
 प्रवृत्तेः । अत एव 'उपेसर्जनानां सर्वनामत्वप्रतिषेध आरब्धो वार्तिककृतेति सङ्ग-
 च्छ्रुत इति दिक् । द्विपर्यन्तानामिति । सर्वादिगणे ये त्यदादयः पठिताः तेषामिह द्विप-
 र्यन्तानामेव ग्रहणे भाष्यकारस्येच्छेत्यर्थः । द्वौ । द्विशब्दस्य द्वित्वनियतत्वात् 'द्वि'
 शब्दो नित्यं द्विवचनान्तः । अतो द्विशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'द्वि औ'
 इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति पूर्वसव-
 र्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निषिद्धे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां सत्यां
 'ह्रौ' इति रूपम् । पपीः । पा रचने इति घातोः औणाविक- 'यापोः किद् द्वे च' इति
 सूत्रेण ईप्रत्यये द्वित्वे अभ्यासकार्ये ईप्रत्ययस्य कित्त्वात् 'आतो लोप इटि च' इत्या-

नहीं हो । युष्मदस्मद्—युष्मत्—अस्मद् और पट्संज्ञक शब्दोंके तीनों लिंगोंमें समानरूप
 हो । त्रिशब्दो—त्रिशब्द बहुत्व सख्याका वाचक है, अतः नित्य बहुवचनान्त है ।

त्रैस्त्रयः—त्रिशब्दको त्रय आदेश हो, आम्के परे ।

गौणत्वेऽपि—अर्थ भावः, 'प्रियाजयो यस्य' इस विग्रह में—'इतरपदार्थनिष्ठविशेष्यत-
 चिरूपितप्रकारताश्रयत्वं-गौणत्वम्' अथवा 'स्वान्तसमुदायपर्याप्तशक्तिनिरूपकार्थनिष्ठविशे-
 ष्यतानिरूपितप्रकारतावच्छेदकताप्रयोजकत्वम्' इस लक्षण से प्रियत्रिशब्द 'त्रि' को गौण होने
 पर भी 'गौणमुत्पयोर्मुख्ये कार्यसम्प्रत्ययः' इस न्यायसे 'त्रियत्रयाणाम्' यहाँ पर निषेध नहीं
 हुआ, क्योंकि इस न्यायकी प्रवृत्ति पदकार्यमें ही होती है—पेसा आचार्योंका सिद्धान्त है ।

त्यदा—त्यदादिको अकारान्त आदेश हो, विभक्तिके परे ।

द्विप—सर्वादिगणपठित जो त्यदादि है उनमें 'त्यद्' से केकर 'द्वि' शब्दपर्यन्त

पप्यौ । पप्य । हे पपा । पपीम् । पप्यौ । पपीन् । पप्या । पपीभ्याम् ३ ।
 पपीभिः । पप्ये । पपीभ्यः २ । पप्यः । पप्यो २ । पप्याम् । कौ व—पपी ।
 पपीन् । एव वातपप्यादय । बहुष्य श्रेयस्यो वस्य स बहुश्रेयसी दीर्घवन्तत्वाद्-
 षष्पाविति सुतापः ॥ यू रूयाद्यौ नदी । १।४।३। ईदृन्ती नित्यस्त्रीलिङ्गो नदीर्घश्री
 स्त । (प्रथमस्त्रिङ्गप्रहणं च) पूर्व इत्याख्यस्योपवर्जनत्वेऽपि नदीर्घ षष्पाविति-
 त्यर्थः ॥ अम्भार्यनघोर्हस्वः । ७।३।१०७। अम्भार्यानां, नघन्तानां च ह्रस्वः
 स्यात्सम्बुद्धौ । हे बहुश्रेयसि । आण नद्याः । ७।३।१२। नघन्तात्परेषां ङितामा
 ङागम ॥ आटश्च । ६।१।१०। आटोऽचि परे ष्टिरेकादेशः स्यात् । बहुश्रेयस्यै ।

कारलोपे निष्पन्नपपीशब्दस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां प्रथमैकवचनसुप्रत्यये
 समागते 'पपी-सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ससञ्जयो ष' इति सस्य
 रूपे अनुबन्धलोपे रेफस्य 'न्रत्पसानयोर्विसर्जनीय' इति विसर्गो सति रूपम् ।
 वागन्तवाद्य इति । वातप्रसी नि श्रुत्वा भृगाकृतिः पशुरिति 'ईदृत्तौ च ससन्त्यर्थे' इति
 सूत्रे कौस्तुभे । आदिना यान्यनेनेति ययां मार्गः इति प्राहम् । बहुश्रेयसी । 'ई-
 यसो बहुमीहेर्न' इति निषेधादुपसर्जनहस्यो न । समासत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां
 प्रथमैकवचने सौ समागते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते
 षष्पन्तत्वात् 'दृल्लक्ष्याम्यो षीर्षास्तुतिरप्युक्त हल' इति सुसम्बन्धि-अपृक्तसप्तक
 स इत्यस्य लोपे 'बहुश्रेयसी' इति रूपम् । पूर्वमित्यादि । समासाद्विभृतिप्रवृत्ते पूर्व-
 स्त्रीलिङ्गस्य सतः षुत्तिद्विधायासुपमर्जनतया ऋलिङ्गत्वाभावेऽपि नर्हीत्य षष्पन्त्वमिति
 वार्तिककार्यं । अन्वार्थेति । 'सम्बुद्धौ च' इत्यस्य सम्बुद्धावित्यनुवर्तते । अम्भार्यानां
 नघन्तानां च ह्रस्वः स्यात्सम्बुद्धौ इत्यर्थः । हे बहुश्रेयसि । बहुश्रेयसीशब्दात् सम्बो-
 धनप्रथमैकवचनविवक्षायां सुप्रत्यये उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'यूस्याद्यौ नदी'
 इति नदीसंज्ञायां 'बहुश्रेयसी स' इति स्थिते 'अम्भार्यनघोर्हस्व' इति ह्रस्वे
 'पृक्वचनसम्बुद्धि' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'पृक्वस्वारसम्बुद्धे' इति सलोपे सति
 'हे बहुश्रेयसि' इति रूपम् । द्विवचनबहुवचने बहुश्रेयस्यौ, बहुश्रेयस्य । द्वितीया-
 बहुश्रेयसीम्, बहुश्रेयसी, बहुश्रेयस्यः । तृतीया—बहुश्रेयस्या, बहुश्रेयसीभ्यां,
 बहुश्रेयसीभिः । बहुश्रेयस्ये । बहुश्रेयसीशब्दात्पुष्पैकवचनविवक्षायां द्वेसमागते

'पदादि' से माध्यकारको हल है । यू रूया — ईदृन्त, ऊदृन्त को नित्यस्त्रीलिङ्ग बहु नदीशब्द
 को । प्रथम—को ह्रस्व पहले नित्यस्त्रीलिङ्ग को और बादमें समास आदि वृत्ति होने पर
 नित्यस्त्रीलिङ्ग नदी को रहे तां कमकी नदीशब्द को—देना कहना चाहिये । अम्भा—अम्भा
 (माय) शब्द ह्रस्व और नघन्त शब्दको ह्रस्व हो, सम्बुद्धि के परे । आण—नघन्तसे पर
 ष्टिचन (षष्पन्त) को 'आट्' का आगम हो । आटश्च—'आट्' से पर अच् हो तो पूर्व पर

बहुश्रेयस्याः २ । बहुश्रेयसीनाम् ॥ हेराम्नद्याम्नीभ्यः । ७।३।११६। नद्यन्तादाय-
न्तान्नोशब्दाच्च परस्य हेराम् स्यात् । इह परत्वादाटा नुट् बाध्यते । 'सकृद्गतौ
विप्रतिषेधे यद्वाधितं तद्बाधितमेव' । बहुश्रेयस्याम् । शेषं पपीवत् ॥ अद्यन्तत्वान्न
सुलोपः । अतिलक्ष्मीः । शेषं बहुश्रेयसीवत् ॥ प्रधीः ॥ अचि श्लुघातुभ्रुवां
य्वोरियङुवडौ । ६।४।७७। श्लुप्रत्ययान्तस्येवर्णोवर्णान्तस्य घातोर्भ्रू इत्येनस्य चाङ्-
स्येयङुवडौ स्तोऽजादौ प्रत्यये परे । इति प्राप्ते ॥ परनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य

'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति बहुश्रेयसीशब्दस्य तृतीसंज्ञायाम् 'आप्नद्याः' इति हे-
राडागमे टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'आद्यन्तौ टकितौ' इत्याद्यावयवे भूते टकारस्ये-
त्संज्ञायां लोपे च 'बहुश्रेयसी आ ए' इति स्थिते 'आटश्च' इति पूर्वपरयोः स्थाने
वृद्धौ कृतायां 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्यै' इति रूपम् । बहुश्रेयसीभ्यां, बहु-
श्रेयसीभ्यः चतुर्थी । बहुश्रेयस्याः । बहुश्रेयसीशब्दात् पञ्चम्येकवचनविवक्षायां ङसौ
समागते टकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्च' इति नदीसंज्ञायां
'आप्नद्याः' इत्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ यणि रुत्वे विसर्गे च 'बहुश्रेयस्याः' इति
रूपम् । बहुश्रेयसीभ्याम्, बहुश्रेयसीभ्यः, पञ्चमी । 'बहुश्रेयसी-आम्' इति स्थिते नदी-
संज्ञायाम् 'ह्रस्वनद्यापो नुट्' इति नदीसंज्ञकारपरस्यामो नुडागमे टित्वादाद्यावयवे
जाते उकारटङ्कारोरित्संज्ञायां लोपे च कृते परेण संयोज्य—'बहुश्रेयसीनाम् । इति
रूपम् । बहुश्रेयस्याम् । बहुश्रेयसीशब्दात् सप्तम्येकवचने ङौ समागते 'हेराम्नद्या-
म्नीभ्यः' इति हेरामि कृते नदीसंज्ञायां सप्त्यां स्थानिवद्भावेन द्वित्वमानीय 'आ-
प्नद्याः' इत्याडागमे टित्वादाद्यावयवे 'बहुश्रेयसी-आ आम्' इति जाते 'आटश्च' इति
वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'बहुश्रेयस्याम्' इति रूपम् । अद्यन्तत्वादिति ।
औणादिकप्रत्ययान्तत्वादिति भावः । तथा ह्यत्र सङ्ग्रहः—'अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-
धी-ही-श्रीणामुणादिषु । सप्तस्त्रीलिङ्गशब्दानां सुलोपो न कदाचन' ॥ अतिलक्ष्मीः ।
लक्ष्मीमतिक्रान्त इति विग्रहे 'अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे' इति समासः । अस्त्रीप्रत्य-
यान्तत्वान्नोपसर्जनह्रस्वः । 'अतिलक्ष्मी-सु' अप्रानुवन्धलोपे सस्य रुत्वे विसर्गत्वे
च रूपम् । प्रधीः । प्रध्यायतीति प्रधीः । 'ध्यायतेः सम्प्रसारणञ्च' इति क्तिप् ।
यकारस्य सम्प्रसारणमिकारः । 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम् । 'हलः' इति
दीर्घः । कृदन्तत्वेन प्रातिपदिकत्वात् सुयुत्पत्तिः । अद्यन्तत्वान्न सुलोपः । ह्रस्व-
विसर्गौ 'प्रधीः' इति रूपम् । इति प्राप्ते इति । 'प्रधी-भौ' इत्यादाविति शेषः ।

के स्थानमें वृद्धिरूप एक आदेश हो । हेरा—नद्यन्त, आद्यन्त और 'नी' शब्दसे पर जो 'ङि'
उसको आम् आदेश हो । अचिरञ्जु—'श्लु' प्रत्ययान्त और इवर्णान्त-उवर्णान्त जो षाट्
पचा 'भ्रू' रूप जो अङ्ग-उनको इयङ्, उवङ् आदेश हो, अच्चादि प्रत्ययके परे । परने—वात्-

।६।५।८२। धात्ववयवसयोगपूर्वो न भवति य इवर्णस्तदन्तो यो धातुस्तदन्तस्यानेका
 वोऽङ्गस्य यण् स्वादभादौ प्रत्यये परे । प्रथो । प्रथः । प्रथम् । प्रथो । प्रथ्य ।
 प्रथि । शेष पधीवत् ॥ एवं—प्रामणीः । औ तु—प्रामण्याम् ॥ गतिश्च ।१।५।६०।
 प्रादय क्रियायोगे गतिसहा' स्युः ५ (गतिक्ताक्केतरपूर्वपदस्य यणनेष्यते) ।
 शुद्धधियो । शुद्धधिय । न मूसुधियो । ।६।५।८५। एतयोरचि सुधि यण् ।
 सुधो । सुधियो । सुधिय,—इत्यादि ॥ सुधमिच्छतीति—सुन्धी । सुती ।
 सुस्युः१ । सुस्युः २ । शेष प्रधीवत् । शम्भुर्हरिवत् । एव मान्वादय ॥ सुज्वरकोट्ट'

परनेकाच इति । 'इको यण्' इत्यतो यण् इति 'अचि रनुधातु' इत्यतो धातु
 रिप्यनुवर्तते, तस्यैवावर्तते । तस्मादेव सूत्रात् अधीति चानुवर्तते । अङ्गस्येयधि-
 क्तनम् । ततश्च प्रत्यये परत इति लभ्यते । अधीति तद्विनोपगम् । तदादिविधि ।
 सदाह—धात्ववयवदेत्यादिना । प्रथो । 'प्रधी-धौ' इति स्थिते, अत्र 'प्रथमयो
 पूर्वसवर्णः' इति प्राप्ते 'दीर्घाऽङ्गलि च' इति निषिद्धे 'इको यणचि' इति यणि
 प्राप्ते तं प्रयाप्य 'अचि रनुधातुभ्रुवां यञोरिषङ्गवली' इति प्राप्ते त याधिरवा 'प्र-
 नेकाचोऽस्ययोगपूर्वस्य' इति यणि कृते 'प्रथ् य् औ' इति जाते अङ्गाने परेण स्युके
 'प्रथो' इति रूपम् । 'प्रधी-अस' इति स्थिते, अत्र 'सुट्ट' इत्यनेन अकारस्येयम
 शायं 'तस्य लोप' इति लोपे कृते सति 'इको यणचि' इति यणि प्राप्ते त
 याधिरवा 'अचि रनुधातु' इतीपङ्क्ति प्राप्ते तं प्रयाप्य 'परनेकाचोऽस्ययोगपूर्वस्य'
 इति यणि कृते सकारस्य ऋये रेफस्य विसर्गो च 'प्रथ्य' इति रूपम् । 'सम्बोधने-
 हे प्रधी, हे प्रथ्यो, हे प्रथ्य, इति । अत्र प्रक्रिया प्रथमाविभक्तिवञ्जेषा । एव प्राग
 गीरिति । प्राग भवति-नियमद्वितीति प्रामणीः । 'अग्रप्रामण्यां गयतेर्गो वाच्य'
 इति ण्यम् । सप्तम्येकवचन विहाय एवमेव प्रधीशब्दवत् प्रामणीशब्दस्य
 रूपाण्यूहनीयानि । प्रथमैकवचने—अङ्गवन्तवाश्च सुलोप । अजात्री सवर्ग
 'परनेकाच' इति यण्येव । अङ्गीत्वान्नदीकार्यं न । शुद्धधियो । शुद्धा धीर्यस्येति
 विग्रहः । अत्र शुद्धपदस्य गतिकारकेतरत्वात् तत्पूर्वकस्य न यमिति भाव । शुद्धधी-
 शब्दस्य रूपाणि सुधीशब्दवद्भेदेष्यानि । सुधियाविधि । 'सुधो धौ' इत्यत्र 'गतिश्च' इति
 गतिसहा' कृत्या 'परनेकाचो' इति यणि प्राप्ते 'न मूसुधियो' इति यणादेशान्भावे
 'मधि रनु' इतीपङ्क्ति विहिते 'सुधियो' । एव 'सुधिया' इत्यादि बोध्यम् । सुस्युः ।

वदस्ययोग पूर्वमे न हो, ऐसा हो इतने, वदन्त को धातु, तदन्त को अनेकान् अङ्ग, वसको
 यण् हो, अङ्गादि प्रत्ययके परे । गति—गति (प्र, परा आदि) को क्रियाके योगमें गति
 मंहा हो । गति—गति एव कारकमे इतर (मित्र) पूर्वपदको द्वाङ्ग नहीं—ऐसा सूत्र
 कारका मत्र है । न मू—मू उभर और सुधो सुधको यण् नहीं हो—अङ्गादि 'सुप्' के परे ।
 मूसुधयो—मूसुधो द्वे सर्वनामपदानके पर कौट्ट सुधको तुञ्जवत् रूप हो, अर्थात् कौट्ट सुधके

।७।१।२५। अष्टम्युद्धौ सर्वनामस्थाने 'क्रोष्टु' इत्यस्य स्थाने 'क्रोष्टु' प्रयोक्तव्यमित्यर्थः । ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः ।७।३।११०। ऋतोऽङ्गस्य गुणः स्थान्तौ, सर्वनामस्थाने च । इति प्राप्ते । ऋदुशनस्त्पुरुदंसोऽनेहसां च ।७।१।२४। ऋदन्तानामुशानादीनां वाऽनङ् स्यादसम्बुद्धौ सौ ॥ अप्तुन्त्त्स्वत्नप्तुनेष्टु-त्वष्टुक्षत्तृहोत्पोत्प्रशास्तुणाम् ।६।४।११। अबादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ सर्वनामस्थाने । क्रोष्टा । क्रोष्टारौ । क्रोष्टारः । क्रोष्टारम् । क्रौष्टारौ । क्रोष्टून् ॥ विभाषा तृतीयादिष्वचि ।७।१।२।७। तृतीयादिष्वजादिषु क्रोष्टुर्वा तृज्वत् ।

अत्ररिति । सुखीशब्दात् सुतीशब्दाच्च पञ्चम्येकवचनविचक्षायां ङसि अनुपन्धकार्ये लोपे च 'सुखी + अस्' 'सुती + अस्' इति द्विधेते 'पुत्रनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'ह्यत्यात्परस्य' इति ङसिसम्बन्धिनोऽकारस्योकारादेशे कृते सस्य रुवे विसर्गे च 'सुख्युः, सुत्युः' इति रूपे स्तः । शम्भुर्इतिवदिनि । तत्र पूर्वसवर्णदीर्घः-उकारः, गुणस्तु-ओकारः, अच् इत्यादयो विशेषाः, आन्तरतेभ्याद् चोऽध्या इति यावत् । क्रोष्टा । क्रोष्टुशब्दात्प्रथमैकवचने सावागते तस्य सर्वनामस्थानत्वात् 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे विहिते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति सर्वनामस्थानपरत्वाद् गुणे प्राप्ते परन्वचन 'विप्रतिषेधे परं कार्यम्' इत्यस्मिन् सूत्रे 'इष्टवाची परशब्द' इति भाष्ये ष्वनितत्वात्पूर्वविप्रतिषेधं भव्या 'ऋदुशनस्त्पुरुदंसोऽनेहसां च' इत्यनङि प्राप्ते 'ङिश्च' इत्यन्तादेशे विहिते ङकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'क्रोष्टु + सु' इति जाते 'ह्रस्व्याभ्यो दीर्घात्' इति सस्य लोपे 'अप्तुन्त्त्स्व' इति सम्बुद्धिभिन्नसर्वनामस्थानपरत्वाद्दुपधादीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च कृते 'क्रोष्टा' इति रूपम् । क्रोष्टारौ २ । 'क्रोष्टु + औ' इत्यत्र 'तृज्वत्क्रोष्टुः' इति तृज्वद्भावे कृते 'ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणेन अकारे, तस्य 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'क्रोष्टर् औ' इति जाते 'अप्तुन्त्त्स्व' इत्यनेनोपधाया दीर्घत्वे संयोगे च विहिते 'क्रोष्टारौ' इति रूपम् । एवमेव क्रोष्टारः इति । क्रोष्टून् इति । क्रोष्टुशब्दाच्छसि समागते शसोऽसर्वनामस्थानत्वात् क्रोष्टुशब्दस्य तृज्वद्भावभावे शसः शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'प्रथमयोः पूर्वसवर्णः' इति-पूर्वसवर्णदीर्घादेशे 'तस्माच्छसो नः पुंसि' इति सस्य

स्थानर्मे 'क्रोष्टु' आदेश हो । ऋतो-ऋदन्त अङ्गको गुण हो, ङि और सर्वनामस्थान विभक्तिके परे । ऋदुश-ऋदन्त तथा उशनस्, पुरुदंसस् और अनेहस् शब्दोंको अनङ् आदेश हो, सम्बुद्धि मित्र 'सु' के परे । अप्तुन्- 'अप्' शब्द तथा तृन्-तृच् प्रत्ययान्त और स्वत्-नप्तु नेष्टु-त्वष्टु-क्षत्-होत्-पोत्-प्रशास्तु-शब्दोंकी उपपाको दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । विभाषा-क्रोष्टु शब्दको तृज्वद्भाव (क्रोष्टु आदेश) हो, विकल्पसे, अजाटि तृतीयादि

क्रोष्टा-क्रोष्टुना । क्रोष्टे-क्रोष्टवे ॥ अत उक्त् ॥६॥११११॥ अतो हसोरति परे
पूर्वपरयोर्द्वेकादेशः स्यात् ॥ पर ॥ शास्त्रस्य ॥८२॥४॥ रेफास्ययोगान्तस्य सस्यैव
नीतो नान्यस्य । रस्य विधर्ग । क्रोष्टुः २ । क्रोष्टोः १ । क्रोष्टोः क्रोष्ट्वोः । (नुमचिर-

‘नवे क्रोष्टू’ इति रूप मप्यस्यम् । ‘क्रोष्टु । ‘क्रोष्टु+टा’ इत्यत्र ‘सुट्ट’ इति
टस्योसज्ञायां लोपे च ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति वृज्वद्भावे ‘इको यणचि’
इति यणि विहिते ‘क्रोष्टुः’ इति रूपम् । क्रोष्टुना । वृज्वद्भाषामावे ‘क्रोष्टु+टा’
इत्यत्र ‘दोषोऽप्यसचि’ इति विसज्ञायाम् ‘आलो नास्त्रियाम्’ इति टा इत्यस्य
स्थाने नादेशे कृते ‘क्रोष्टुना’ इति रूपम् । क्रोष्टवे । क्रोष्टुशब्दात्तुष्यैकवचनार्थव-
चायां हेतुमागते ‘क्रोष्टु+के’ इति स्थिते, टकारस्योसज्ञायां लोपे च ‘क्रोष्ट+ए’
इति जाते ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति वृज्वद्भावे ‘इको यणचि’ इति यणि
‘क्रोष्ट’ इति रूपम् । पचे विसज्ञायां ‘वेङ्किति’ इति गुणे विहिते ‘पचोऽप्यवायाव’
इत्यवदाने ‘क्रोष्टये’ इति रूपम् । क्रोष्टुरिति । क्रोष्टुशब्दात् हसि, अत्र सकारोत्तर-
वर्तिन इकारस्य तथा हस्योसज्ञायां लोपे च ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति
वृज्वद्भावे कृते ‘क्रोष्ट+अस्’ इत्यवस्यायाम् ‘अत उक्त्’ इति पूर्वपरयोर्द्वे
परत्वे च क्रोष्टूर्त्स् इति भूत्वे ‘शास्त्रस्य’ इति सस्य लोपे ‘शरवसान
योर्विसर्जनीय’ इति रस्य विसर्गात्वे च कृते ‘क्रोष्टु’ इति रूपम् । वृज्वद्भा-
षामावपचे विसज्ञायां ‘वेङ्किति’ इति गुणे क्रोष्टो+अस्’ इति जाते
‘टसिद्धसोऽ’ इति पूर्वरूपे सस्य टत्वे विसर्गे च ‘क्रोष्टोः’ इति रूपम् ।
पञ्चमीह्रिवचनबहुवचने तु—‘क्रोष्टुम्यां, क्रोष्टुम्यः । पञ्चमेकवचन पञ्चम्येकवच
नवद् बोध्यम् । क्रोष्टो १ । क्रोष्टुशब्दादिति ‘विभाषा तृतीयादिष्वचि’ इति
वृज्वद्भावे ‘इको यणचि’ इति यणि टत्वे विसर्गे च ‘क्रोष्टोः’ इति रूपम् । वृज्व-
द्भाषामावपचे—‘क्रोष्टु+ओस्’ इति दशायाम् ‘इको यणचि’ इति यणि सस्य रूप्ये
विसर्गे च ‘क्रोष्टोः’ इति रूपम् । नुमचिरेति । अचिरेपनुकरणम् । तेन ‘अचि र

(टा-के-उति-उत्-ओस्-आम्-नञ्) विभक्तिके परे । अत्—अदन्त अङ्गते छति क्त
सम्बन्धी अकारके परे रहते पूर्व-परके स्थानमें ‘नत्’ एकादेश हो । शास्त्रस्य—रेफते पर
रदि सयोगान्तका जोव हो तो सकारका ही हो-अन्यका नहीं ।

नुम—नुम्, अच्के परे रभाव और ट्त्वज्ञावते पहले पूर्वविभक्तिपेक्षेन आम्को नुट् ही हो ।

क्रोष्ट—‘क्रोष्टुनाम्’ यहाँ पर नुट् होनेसे अचररत्तका नाश हो आता है अतः वृज्व-
द्भाषाकी पुनः प्राप्ति नहीं होती । पर ‘विसुत्तयाम्’ और ‘वारीणाम्’ यहाँपर भी नुट् होनेसे
अचररत्तका नाश होजाता है अतः ‘विसुत्तयाम्’ में ‘अचि र अत्’ से रभाव और ‘वारी-
णाम्’ में ‘इकोऽपि विभक्तौ’ से नुम् नहीं होते ।

वृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन) । क्रोष्टनाम् । क्रोष्टरि । पक्षे हलादौ च शम्भुवत् ॥ इष्टः । इष्टो । इष्टम् । इष्टन् । इत्यादि ॥ अतिचम्—शब्दे तु नदी-कार्य विशेषः । हे अतिचम् । अतिचम्भै । अतिचम्भाः २ । अतिचमूनाम् । अति-

श्रुतः' इति विहितो रेफो विवक्षितः । क्रोष्टनामिति । क्रोष्टुशब्दात् 'पष्ठीत्रहुवचन-विवक्षायाम् आमि कृते 'क्रोष्टु+आम्' इति स्थिते अत्र 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति वृज्वद्भावे प्राप्ते तं याधित्वा 'ह्रस्वनथापो नुट्' इति उकारऽटकारयोरिसंज्ञायां लोपे च टित्त्वाद्यावयवे जाते 'क्रोष्टु+नाम्' इति भूते 'नामि' इति अजान्ताङ्गस्य दीर्घे क्रोष्टुनाम् इति रूपम् । क्रोष्टरि । क्रोष्टुशब्दात् सप्तम्येकवचनविवक्षायां डौ समागते ङस्येऽसंज्ञायां लोपे च 'विभाषा तृतीयादिष्वचि' इति वृज्वद्भावे विहिते 'श्रुतो ङिसर्वनामस्थानयोः' इत्यनेन अकाररूपे गुणे विहिते 'उरण् रपरः' इति रपरे च कृते सर्वरिमन् संयुक्ते सति 'क्रोष्टरि' इति रूपम् । वृज्वद्भावाभावपक्षे- 'क्रोष्टु+ङि' इत्यवस्थायां घिसंज्ञायाम् 'अच्च घेः' इत्यनेन ङेः स्थाने औकारे घिसंज्ञ-करण्य च स्थानेऽकारे जाते 'कृद्विरेचि' इति वृद्धौ 'क्रोष्टौ' इति रूपम् । ओसि पूर्व-चद्-'क्रोष्टोः', 'क्रोष्टोः' इति । पक्षे इति । तृतीयादिष्वच्चादिषु वृज्वत्त्वाभावपक्षे इत्यर्थः । हलादाविति । हलादिषु विभक्तिषु परेष्वित्यर्थः । इष्टरिति । गन्धर्वविशेषवाचि अष्ट्यु-त्पन्नं प्रातिपदिकमेतत् । इष्टुशब्दात्प्रथमेकवचनेसावागते उकारनिवृत्तौ सत्यां सस्य एत्वे विसर्गे च 'इष्टः' इति रूपम् । इष्टाविति । इष्टुशब्दात्प्रथमाद्विवचने औ समागते 'इको यणचि' इति यणि विहिते 'इष्टौ' इति रूपम् । एवमेव इष्टुशब्दस्याजादौ विभक्तौ कार्यं विज्ञेयम् । इष्टम् इति । अत्र 'इको यणचि' इति यणं याधित्वा 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे इष्टुमिति रूपम् । अतिचम्शब्दे त्विति । चमूमतिक्रान्तः, अतिचमूः । 'अरयादयः क्रान्ताथर्थे द्वितीया' इति समासः । स्त्रीप्रत्ययान्तत्वाभावात् 'गोत्रियोः' इति एश्वो न भवति । नदीकार्यमिति । 'प्रथमलिङ्गग्रहणं च' इति वच-नादिति भावः । हे अतिचम् इति । अतिचमूशब्दाद् सम्बोधनैकवचने सौ; उगते 'प्रथमलिङ्गग्रहणञ्' इति नदीसंज्ञायाम् 'अभ्यार्थनद्योर्ह्रस्व' इति ह्रस्वत्वे 'पृङ्-ह्रस्वात्सङ्घुद्धेः' इति सस्य लोपे च कृते 'हे अतिचम्' इति रूपम् । अनिचम्भै इति । अतिचमूशब्दात् चतुर्थ्येकवचने ङेकृते ङकारस्येऽसंज्ञायां लोपे च कृते नदीसंज्ञायाम् 'आणनथाः' इत्यनेन ङकारेऽसंज्ञकस्यैकारस्याडागमे टित्त्वाद्यावयवे ङकारस्येऽसंज्ञायां लोपे च 'अतिचमू+आ ए' इति जाते अत्र 'आटश्च' इत्यनेन वृद्धौ कृतायाम् 'इको यणचि' इति यणि सति 'अतिचम्भै' इति रूपम् । अतिचमूनामिति । अति-चमूशब्दात्पष्ठीत्रहुवचनविवक्षायाम् आमि समागते नदीसंज्ञायाम् 'ह्रस्वनथापो नुट्' इति नुडागमे टित्त्वाद्यावयवे च जाते 'अतिचमूनाम्' इति रूपम् । खलपूरिति । खलं युक्तातीति क्तिप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते उकारस्य लोपे सस्य एत्वं

वा गम् । खम्पू ॥ ओः सुपि । ६।४।८३। धात्ववयवसंयोगपूर्वो न भवति य उवर्ण-
 सन्वन्तो यो धात्वन्वन्वस्थानेकावोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्चौ । खलप्चः ।
 एष । ६।४।८४ ॥ खदम्भू । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुव । एव-स्वभू । वर्षाभू ॥
 वर्षाभ्यक्ष ६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्यावित्यादि । हम्भू ॥
 (हम्भकारपुनःपूर्वस्य भुवा यण् धक्तव्यः) । हम्भौ । हम्भ । खलपूर्वव ।
 ख-करम् । पुन्भू । हम्भकारभूतवदौ स्वयम्भूवत् ॥ धाता । हे धात ।

विमर्गे च 'खलृ' इति । एव सुप्तादय इति । सुष्ठु लुनातीति सुद्ध । गतिपूर्वकारवा-
 दिहापि यण् । आदिना केदारलृट्यादिसमूहः । खभूरेति । खरमान्तरति क्विप् ।
 कृशन्तथाप्यातिपठिकसंज्ञायाम् सावाभातेऽनुबन्धलोपे सस्य रूपे विसर्गे च 'खभू' इति
 रूपम् । 'स्वभुवौ, स्वभुव' इति । खभूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औसमागते 'प्रथमयो-
 पूर्वसवर्णं' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं याधिरवा 'अचिरनुचातु' इत्युवक्ति प्राप्ते
 तं प्रवाप्य 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुचिषो' इत्यनेन निविद्धे 'अचि
 रनुचातु' इत्युवक्ति विहिते 'किञ्च' इत्यन्तादेशे जाते उकारदेशेसंज्ञायाम् लोपे च
 'खभुवौ' इति । वर्षाभूरेति । वर्षाभू भवतीति वर्षाभू । 'वर्षाभूर्दुरे पुमान्' इति
 यावत् । वर्षाभू । वर्षाभूशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'प्रथमयोः
 पूर्वसवर्णं' इति पूर्वसवर्णदीर्घे प्राप्ते तं याधिरवा 'अचि रनुचातु' इति उवक्ति
 प्राप्ते तं याधिरवा 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुचिषो' इति निविद्धे
 'वर्षाभूश्च' इति यणि कृते सति 'वर्षाभू' इति रुप्रशेषम् । एवमेव सर्वत्रामादौ
 विमर्गे परे यावत् । हम्भूरेति । इति नान्तरप्रथमहिंसायां वर्तते । तस्मिन्नुपपदे
 मूलात् क्विचित् भाव । हम्भू—हिंसा, भवते प्राप्नोतीति विग्रह । उवचिरोप, सर्ववि-
 चोदो धोपपदे । इतिमाधिक एवात्र नकारः । तस्य पदान्तरात् 'नान्तरप्रथम' इति
 नान्तरकार । अतएव न परसवर्णः । एवम्भूनात् हम्भूशब्दात्सावागते उकारस्ये-
 तसंज्ञायाम् लोपे च स्वस्य रूपे विसर्गे च 'हम्भू' इति रूपम् । हम्भाविति । हम्भूश-
 ब्दात् औ समागते 'ओः सुपि' इति यणि प्राप्ते 'न भूसुचिषोः' इति तस्य
 निवेधे कृते 'हम्भकारपुनःपूर्वस्य भुवो यण् धक्तव्यः' इति यणि कृते 'हम्भू' इति ।
 हम्भूरेति । करान् करौ वा भवतीति 'करान्' शाश्वो जोष्य इति चोदः । वातेति ।
 धात्वन्वन्वस्थानेकावोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्चौ । खलप्चः ।
 'किञ्च' इत्यनेनान्तावपदे कृते उकारदेशेसंज्ञायाम् लोपे च कृते 'वातन् + सु'

ओः सुपि—तस्यवयवसंयोग पूर्वो न भवति यो धात्वन्वन्वस्थानेकावोऽङ्गस्य यण् स्यादचि सुपि । खलप्चौ । खलप्चः । एष । ६।४।८४ ॥ खदम्भू । स्वयम्भुवौ । स्वयम्भुव । एव-स्वभू । वर्षाभू ॥ वर्षाभ्यक्ष ६।४।८४। अस्य यण् स्यादचि सुपि । वर्षाभ्यावित्यादि । हम्भू ॥ (हम्भकारपुनःपूर्वस्य भुवा यण् धक्तव्यः) । हम्भौ । हम्भ । खलपूर्वव । ख-करम् । पुन्भू । हम्भकारभूतवदौ स्वयम्भूवत् ॥ धाता । हे धात ।

घातारौ । घातारः ॥ अष्टवर्णाश्रस्य णत्वं चाच्यम् । घातृणाम् ॥ एवं नप्रादयः ॥
 'अप्तृ'न्निति सूत्रे नप्रादिप्रहर्णं व्युत्पत्तिपक्षे नियमार्यम् । तेनेह न-पिता । पितरौ ।
 पितरः । पितरम् । शेषं घातृवत् । एवं जामात्रादयः । ना । नरौ । नरः ॥ नृ
 च् । ६।४।६। अस्य नामि वा दीर्घः । नृणाम्-नृणाम् ॥ गोतो णित् ॥ ७।१।२०।
 ओकाराद्विहितं सर्वनामस्थानं णित्त्वं । ओतो णिदिति वाच्यम् । गौः । गावौ ।
 गावः ॥ औतोऽम्शसोः । ६।१।२३। 'आ-घोत' इतिच्छेदः । औतोऽम्शसोरचि

इत्यवस्थायाम् 'अप्तृन्वृच्' इत्यादिनोपधाया दीर्घत्वे कृते सकारोत्तरवर्तिन उकार-
 स्येत्संज्ञत्वे लोपे च 'हृच्छ्याभ्यो दीर्घात्' इति सस्य लोपे 'नलोपः प्रातिपदिका-
 न्तस्य' इति नस्य लोपे च 'घाता' इति । हे घातः इति । घातृशब्दात्सम्बोधनस्यै-
 कवचनविवक्षायां साधागते सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञत्वे लोपे च कृते
 'घातृ+स्' इत्यवस्थायाम् 'एकवचनं सम्बुद्धिः' इति सम्बुद्धिसंज्ञायां 'ह्रस्वस्य
 गुणः' इति ऋकारस्य गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरे च 'घातृस्' इति भूत्वे
 'हृच्छ्याभ्यम्' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे च 'हे घातः' इति । एव नप्रादय इति ।
 नप्तृ-नेष्ट-श्वष्ट-श्वृ-होतृ-पोतृ-प्रशास्त्वृशब्दाः घातृशब्दवदिरपथः । नप्रादिप्रहण-
 मिति । व्युत्पत्तिपक्षे वृत्त्वन्तावादेव सिद्धे नप्रादिप्रहर्णं 'सिद्धे सत्यारभ्यमाणो
 विधिर्नियमार्यम्' वृत्त्वन्तानां चेत्तर्हि नप्रादीनामेव । तेन पितृभ्रातृप्रमृतीनां
 नेति योच्यम् । पितेति । पितृशब्दात्सौ 'ऋदुशनस्पुरुदंसो' इत्यनङ्गि विहिते
 ङित्वादाद्यावयवे अनुबन्धलोपे 'सर्वनामस्थाने चासन्बुद्धौ' इति दीर्घे सकारस्य
 'हृच्छ्याभ्यम्' इति लोपे 'पिता' इति रूपम् । पितराभिति । पितृशब्दात् औ समा-
 गते सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋतो ङि' इति गुणे रपरे च कृते 'पितरौ' इति
 रूपम् । अत्र व्युत्पत्तिपक्षे—नप्रादिप्रहर्णस्य निबन्धात्स्वान्त दीर्घः । अष्टवर्ण-
 पक्षे तु 'अप्तृन्वृजादिवन्तन्तर्भावात् दीर्घसङ्केत नास्ति । ना । नृशब्दो मनुष्यवाची ।
 तस्मात्-सुः । 'ऋदुशनस्' इत्यनङ्गि । 'अप्तृन्' इति सूत्रे अवन्तर्भावात् 'सर्वना-
 मस्थाने च' इति नान्तत्वप्रयुक्तो दीर्घः । हृच्छ्याविलोपः । नलोपः । 'घा' इति
 रूपम् । नृणामिति । नृशब्दादामि, जुट्, 'नामि' इति निरयं दीर्घे प्राप्ते 'नृ च्'
 इति नामि वा दीर्घे 'नृणाम्, नृणाम्' इति भवतः । गौरिति । गोशब्दात्सावागते
 'गोतो णित्' इति णित्त्वभावे 'अषो ङिति' इति घृद्धौ औत्वं । विसर्गे च

सुप् विभक्तिके परे—यैसा सूत्रकारको कहना चाहिये । अष्टवर्णः—अष्टवर्णते पर नकारको
 णत्वं हो—यैसा कहना चाहिये । नृ च् —'नृ' शब्दको दीर्घ हो, नामके परे, निकरपते ।
 गोतो—ओकारसे विहित ओ सर्वनामत्वाव, वह णित्त्व हो । औतो—ओकारसे पर अष्ट-
 वृत् सम्बन्धी अष्ट रते ओ पूर्व-परके स्फाननें जाकार एक जत्वेव हो ।

आकार एकादेश । गाम् । गावौ । गाः । गदा । गवे । गो २ ॥ रायो
 हृत्ति । ७।३।२५। रैशब्दरयाऽऽकारादेशो हृत्ति विभक्तौ । गः । रायो । रायः ।
 राभ्यामित्यादि ॥ ग्लौ । ग्लावौ । ग्लाव । ग्लौभ्यामित्यादि ॥

इत्यजन्ता पुंलिङ्गा ॥

अथ अजन्तस्त्रीलिङ्गाः

रमा । औट व्यापः । ७।३।१८। आबन्तादङ्गापरस्यौट शो स्यात् ।
 'गौह्' इत्यौटारविभक्तौ सहा । रमे । रमा ॥ सम्बुद्धौ च । ७।३।१८६। व्याप
 एकार-स्वारसम्बुद्धौ । हे रमे । हे रमे । हे रमा । रमाम् । रमे । रमा ॥
 व्यालि घाऽऽप- । ७।३।१०५। आत्ति, औत्ति चाऽऽप एकार । रमया । रमा-
 भ्याम् । रमाति ॥ याहाप । ७।३।११३। व्यापः परस्य विवृचनस्य याहागम ।

'गौ' हृत्ति । गामिति । गोदाब्दादि समागते 'गौतोऽभासो' इत्यनेन पूर्वपरयो-
 स्थाने आकारादेशे कृते 'गाम्' इति । गाविति । गोदाब्दादौटि कृते 'गौतो जित्'
 इति निद्रुद्भावे वृद्धायादादेशे च कृते 'गावौ' इति । रा इति । रैशब्दात्प्रथमैक-
 यत्तने साधागते 'रायो हृत्ति' इति रैशब्दस्य सर्वस्य स्थाने अकारादेशे प्राप्ते
 'अलोऽन्यस्य' इत्यन्यस्यैकारस्याकारादेशे सस्य स्रक्षे विसर्गे च कृते 'राः' इति
 रूपम् । गौरिति । ग्लौदादङ्गाद्गधाधी । 'ग्लौमृगाङ्' कटानिघः' इत्यमरः । तस्य
 हलादी न कश्चिद्विकार । अच्चि तु आवादेशः । इति मत्याह—ग्लौ ग्लावौ ग्लाव इति ।
 इत्यजन्ता पुंलिङ्गा ।

रमेति । रमाशब्दोऽत्र वर्तते 'कथाप्प्रातिपदिकात्' इत्यनेन सर्वेषुपि स्वादय-
 प्राप्ता । एषा मप्यादत्र प्रथमैकयत्तने साधागते 'उपदेशोऽनुनासिक इत्' इति
 स्वकारोत्तरवायुंकारयोस्तन्नायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'दृहृङ्गाभ्यो' इत्यनेन
 तस्य लोपे च कृते 'मा' इति रूपं सिद्धयति । औटशब्दरयाप्रसिद्धार्थवादाह—औट
 लो'ल-नेति । प्राचां नाथे स्थितेति दोषः । रमे इति । 'रमा + औ' इति स्थिते औकारस्य
 स्थाने औट व्याप' इति 'गौ' आदेशे कृते 'कृत्कृतद्विते' इति सकारादेशसङ्गामौ
 लोपे च 'रमा + ई' इति जाते 'आद्गुण' इति पूर्वपरयो स्थाने गुणादेशे च विहिते

रायो—'रै' कृत्कृतौ आकारान्त आदेशे हो, इत्यादि विभक्तिके परे ।

इम प्रकार इदमन्ता हीकामे अजन्तपुंलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

औट— १।३।१८। पर औट (औकार विभक्तिके) के स्थानमें 'गौ' आदेश हो ।

सम्बु—कारान्त सम्बुद्धौ एकार आदेश हो, सम्बुद्धके पर । आदि—आत् औट के परे
 'आद्' को उदाह हो । याहाप—आवन्त अग से पर दिवचनको याहा आगम हो ।

वृद्धरेचि । रमायै । रमाभ्याम् । रमाभ्यः । रमायाः २ । रमयोः १ । रमाणाम् । रमायाम् । रमासु । एवं दुर्गादयः ॥ सर्वनाम्नः स्याद्ङ्स्वश्च । ७।३।११४। आवन्तात्सर्वनाम्नो ङितः स्याद् , आपश्च ह्रस्वः । याटोऽपवादः । सर्वस्यैः ३ सर्वस्याः २ । प्रातिपदिकप्रज्ञेण ङित्तविशिष्टस्यापि प्रहणादाभि सर्वनाम्न इति सुट् । सर्वाणाम् । सर्वस्याम् । शेषं रमावत् । एवं विश्वाद्य आवन्ताः ॥ विभाषादिकूलमासे बहुव्रीहौ । १।१।२८। अत्र सर्वनामता वा । उत्तरपूर्वस्यै । उत्तर-पूर्वायै । इत्यादि । 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति प्रतिपदोक्तस्यैप समासस्य प्रहणा-न्नेह—योत्तरा सा पूर्वा यस्या उन्मुञ्ज यास्तस्यै उत्तरपूर्वायै । बहुव्रीहिस्य प्रहणं रपद्या-

'रमे इति रूपम् । रमायै इति । 'रमा ङे' इत्यत्र ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'रमा+ए' इति जाते 'याटापः' इत्यनेन ङित्तपकारस्य याटागमे कृते टित्वाद्याद्याद्यवे जाते टकारस्येत्संज्ञायां लोपे च विहिते 'रमा या ए' अत्र 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'रमायै' इति रूपम् । रमायामिति । 'रमा ङि' इत्यत्र 'ऐरान्तघान्नीभ्यः' इति ऐराभि कृते 'रमा+आम्' इति जाते अत्र 'याटापः' इति याटि टिलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घदेशे च कृते 'रमायाम्' इति रूपम् । सर्वस्यै । सर्वशब्दाद्यापि सर्वाशब्दः । सोऽपि प्रायेण रमावत् । 'सर्वा+ङे' इत्यत्र ङस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'याटापः' इति प्राप्ते तं वाधिरत्रा 'सर्वनाम्नः स्याद्ङ्स्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य च ह्रस्वे कृते 'सर्वं स्याट् ए' इति जाते टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'सर्वस्यै' इति रूपम् । सर्वस्याः । 'सर्वा ङसि' इत्यत्र ङकारस्येकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'सर्वनाम्नः स्याद्ङ्स्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य ह्रस्वत्वे च 'सर्वं+स्याट् +अस्' इति जाते टस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घदेशे च कृते तस्य रत्ये विसर्गे च 'सर्वस्याः' इति रूपम् । सर्वात्तामिति । 'सर्वा+आम्' इत्यत्र 'घामि सर्व-नाम्नः सुट्' इति सुटि उटि गते सकारेण सह संयोगे च कृते 'सर्वात्ताम्' इति रूपम् । एवमिति । सर्वादिगणपठितविश्वाद्यः आवन्तत्वं प्राप्ताः सर्वाशब्दवदित्यर्थः । उत्तरस्याः पूर्वस्याश्च द्विशौर्यदन्तरालम्-सा उत्तरपूर्वा । 'दिङ्नामान्यन्तराले' इति बहुव्रीहिस्य विशेषोऽयम् । तत्र विशेषं दर्शयितुमाह—विभाषादिकूलमासे इति । उत्तरपूर्व-स्यै । 'उत्तरपूर्वा+ङे' इत्यत्र 'विभाषादिकूलमासे बहुव्रीहौ' इति सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नः स्याद्ङ्स्वश्च' इति स्याटि आवन्तस्य च ह्रस्वत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'उत्तरपूर्वस्यै' इति । पठे—सर्वनामसंज्ञाभावे 'याटापः' इति याटि 'वृद्धिरे-

सर्वनाम्नः स्याद्ङ्स्वश्च—आवन्त सर्वनामते पर ङित्तचनको याट्का ङागम दो ओर 'आप्' को ह्रस्व हो । विभाषादिकूलमासे बहुव्रीहौ—बहुव्रीहिस्य समासमें दिग्वाचक शब्दों

र्षम् । अन्तरस्यै शास्त्रायै । आश्रायै इत्यर्थः । अपुरीत्युक्तेर्ह—अन्तरायै नगर्षे ।
 तीयस्येति त्रिसु वा । द्वितीयस्यै । द्वितीयायै । एष तृतीया । अन्वयार्थनघो-
 ह्रस्वः । हे अम्भ । हे अम्भकः । हे अम्भल । (असंयुक्ता ये ङङकास्तत्पूर्ता
 ह्रस्वो न) । अम्बादे । हे अम्बाले । हे अम्बिके । जरा । जरखी—जरे ।
 इत्यादि । पक्षे, इमादी च रमावत् । गोपा—विष्णवावत् । मतीः । मत्या ॥
 किति ह्रस्वश्च । १।४।६। इयङ्बुवदस्यानौ स्त्रीशब्दभिन्नौ नित्यस्त्रीभिन्नावीदृशौ, ह्रस्वौ

चि' इति वृद्धौ कृतायाम् 'उत्तरपूर्वायै इति । अन्तरस्यै शास्त्रायै इति । अन्तरशास्त्राद्वा-
 पि हे विभक्तौ अन्तरशाब्दस्य सर्वनामवाक्यस्वादेशे रूपम् । अन्तरायै नगर्षे इत्यत्र तु
 न अन्तरशाब्दस्य सर्वनामता 'अन्तर बहिर्घोत' इत्यादिसूत्रे 'अपुरि' इति पाठात् पूर्वार्थे
 नगर्षे न सर्वनामतेति तदर्थत्वाच्चतरोशाब्दपरकावेन नान्तरशाब्दस्य सर्वनामत्वम् ।
 तेन 'यादाप' इति यादागमेनैव अभ्यमिति भावः । द्वितीयस्यै इति । 'द्वितीया + हे'
 इत्यत्र 'तीयस्य त्रिसु वा' इति धैकदिपके सर्वनामत्वे 'सर्वनाम्नाः स्याद्वृत्त्वश्च'
 इति स्यादिति ह्रस्वत्वे च विहिते वृद्धौ कृतायां 'द्वितीयस्यै' इति । सर्वनामवाक्ये तु
 'यादाप' इति पाठिवृद्धौ विहितयां 'द्वितीयायै' इति । हे अम्बेऽयादि । हे अम्बा सु
 इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्यज्ञाप्ये लोपे च 'अन्वयार्थनघोर्ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे
 'एङ् ह्रस्वात्सम्बुद्धे' इति सलोपे 'हे अम्भ' इति । एङ्मेव हे अम्भ, हे अम्भ, इत्यादि ।
 असंयुक्ता इति । सयोगरहिता ये ङङकाश्चोऽन्वयार्थकास्तेषां 'अन्वयार्थनघोर्ह्रस्वः' इति
 इत्यो गेति भावः । अम्बादे, अम्बाले, अम्बिके, इति रूपे 'अम्बाङा + सु' 'अम्बाळा +
 सु, अम्बिका + सु, इत्यवस्थायामापो ह्रस्ववाम्भावेन 'सम्बुद्धौ च' इति शाप पुत्रे सोऽङ्कार-
 स्येत्यज्ञाप्यां लोपे सति सत्य लोपे सति च अम्बादे, अम्बाले, अम्बिके, इत्यादीनां सिद्धिः
 प्राप्येतस्या । पक्षे इमादी च रमावदिनि । जरासादेशनामावपक्षे, हलावावपि च रमावदि-
 त्पर्य । मत्यादि । 'मति टा' इत्यत्र 'दोषोऽन्वसन्नि' इति विसंज्ञायां सत्यामपि 'आङो
 भास्त्रियाम्' इत्यत्र 'अस्त्रियाम्' इति पर्युदासाच्चाप्यम्, किन्तु 'इको यणचि' इति

की सर्वनाम लक्षा हो, विकल्पते । तीयस्य—तीयस्यवाच्य (१०५० देखो) शब्दोंकी सर्वनाम
 लक्षा हो, विकल्पते । असंयु—असंयुक्त जो 'ङ-ङ-क' पदान् जो (अन्वयार्थक) शब्द, उनकी
 ह्रस्व नहीं हो । किति—एवङ्-उपङ्के स्थानी रहे, 'की' शब्दसे विभक्त रहे तथा नित्यस्त्री-
 किङ्क रहे, ऐसा जो दोष ईकार और ऊकार, उनको नहींसहा हो, किन्तुके वर विकल्पते ।
 और ह्रस्व वर्ण-उपङ्की नहींसहा हो, किन्तुके वर की-उपङ्के विकल्पते ।

नोट—'किति हरवत्' इस सूत्रमें 'च' का उपदान है, वसतिवे चकारसे—'एवङ्-
 ५५०, जो किङ्ककी-उपङ्की-दृष्टी नहींसहा हो वा तबो किति वर' शब्दक 'किति' वह एक पूर्वके

च इत्थर्णां स्त्रियां वा नदीसंज्ञौ स्तो छिति । मत्या—मतये । मरयाः २—मतेः २ । नदीत्वपक्षे परत्वात् 'आत्' इति छेरीत्वे प्राप्ते । इन्द्रयाम् । ७।३।११७। नदीसंज्ञाभ्यामिन्द्रयां परस्य छेरात् स्यात् । पक्षे-अच्च वेः । मत्याम्—मती । शेषं हरिवत् । एवं बुद्धपादयः ॥ त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतस्र् । ७।२।१२। स्त्रीलिङ्गयोरेतयोरेतौ स्तो विभक्तौ ॥ अच्चि रऋतः । ७।२।१००। तिसृचतस्रो ऋतो रादेशोऽच्चि । गुणदीर्घोत्वानामपवादः । छिः २ । तिसृभिः । तिसृभ्यः २ । आमि

यणि कृते 'मत्या' इति रूपम् । मत्यै । 'मति+ए' अत्र 'छिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आणनद्याः' इत्याहागमे टित्वादाद्यावयवे 'मति-आ ए' इति जाते 'आटश्च' इति वृद्धौ सत्याम् 'ए' इति भूते 'इको यणचि' इति यणि कृते 'मरयै' इति रूपम् । नदीसंज्ञाभावे 'शेषो घ्यसखि' इति घिसंज्ञायां 'वेडिति' इति गुणे कृते 'एञोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'मतये' इति । मत्याः । 'मति छिति' इत्यत्र इकारस्य इत्य वेरसंज्ञायां लोपे च 'छिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायाम् 'आणनद्याः' इत्याहा 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि च कृते सस्य रुत्वे विसर्गे च कृते 'मत्याः' इति रूपम् । घिसंज्ञायां हरिवत् । मत्यामिति । 'मति+छि' इत्यत्र 'छिति ह्रस्वश्च' इति नदीसंज्ञायां 'इन्द्रयाम्' इति छेरामि विहिते सति तत्र स्थानिवद्भावेन छिखमानीय 'आणनद्याः' इत्याहागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'इको यणचि' इति यणि 'मर्याम्' इति । नदीसंज्ञाभावे 'शेषोऽयसखि' इति घिसंज्ञायाम् 'अच्च वेः' इति छेरीत्वे वेरकारादेशे च कृते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च विहितायां 'मती' इति रूपम् । गुणदीर्घोत्वानामिति । 'ऋतो छि' इति गुणस्य 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णदीर्घस्य 'ऋत उत्' इत्युत्सव्य च रत्वमपवाद हरयर्थः । छिः इति । 'त्रिजस्र्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतस्र्' इति तिसृ इत्यादेशे जस्येत्संज्ञरत्वे लोपे च 'तिसृ+अस्' इति जाते 'ऋतो छिसर्वनामस्थानयोः' इति गुणे प्राप्ते तं प्रयाध्य

वाक्य है और 'स्त्रीलिङ्गौ ह्रस्वौ चेषणोर्वर्णौ नदीसंज्ञौ वा स्तो छिति परे' हरयर्थक । 'ह्रस्वः' बहु अपर वाक्य है । पवञ्च पर वाक्यसे 'मति' शब्दकी नदीसंज्ञा छितिके परे विकल्पसे होती है । यहाँ 'अस्त्री' पशुंदास नहीं लगता, क्योंकि 'इयलुवत्स्थानी' इसका जहाँ अन्वय होता है वहाँ पर तत्सम्बन्धी 'अस्त्री' पदकी अनुवृत्ति होती है ।

इन्द्र—नदीसंज्ञक ह्रस्व इकार-उकारसे पर 'छि' को 'आम्' आदेश हो । त्रिचतुरोः—स्त्रीलिङ्गमे वर्तमान 'त्रि' और 'चतुर' शब्दके स्थानमें यथाक्रमसे छिस्, चतस्र् आदेश हो, विभक्तिके परे । अच्चि र—तिस्र् और चतस्र् शब्दके ऋकारके स्थानमें रेफ आदेश हो, अच् के परे । गुणदी—'छि' विभक्तिमें 'ऋतो छि' से प्राप्त गुण और 'अस्' विभक्तिमें 'अकः सवर्णे' से प्राप्त दीर्घ एवं 'छिति-छत्' विभक्तिमें 'ऋत उत्' से प्राप्त छत्पदा रेफादेश

नुट् । न तिष्ठन्नट् । ६।५।५। एतयोर्नामि दोर्बो न । तिष्ठणाम् । तिष्ठणु ॥
 देरखे घाशात् । दे २ । दाम्याम् ३ । ह्यो. २ ० गौरी । गौरी । गौरी ।
 हे गौरी । गौरी-इत्यादि । शेष बहुभ्रमप्रोक्तम् । एव नद्यादम् ॥ अदमी । शेष

'अचि र ऋत' इति रेफादेशे सयोगे सख्य रवे रस्य विसर्गाखे च 'तिष्ठ' इति
 रूपम् । तमि तु 'प्रथमयो' इति प्रवाच्य 'अचि र ऋत' इति रेफादेशे सयोगे
 मम् रवे रस्य विसर्गाखे च हने 'तिष्ठ' इति रूपम् । तिष्ठणविति । 'निष् + आय्'
 इति स्थिते नुट् च बाधित्वा 'अचि र ऋत' इति रवे प्राप्ते 'नुमचिरवृज्ज्माव
 पुनेभ्यो नुट् पूर्वत्रिप्रतिपेतेन' इति रवे बाधित्वा जुटि कृते 'निष् + नाय्' इति
 स्थिते 'नामि' इत्यनेन दोषं प्राप्ते 'न तिष्ठन्नट्' इति निषिद्धे 'ऋवगोन्स्य
 ण्यत्र वाच्यम्' इति धातुकेन णवे विहिते 'तिष्ठणाम्' इति रूपम् । सुवि 'आदेश-
 प्राथम्ये' इति णवे 'तिष्ठु' इति रूपम् । पं० इति । गौरशब्दात् गौरादिठञ्मडोपि
 'यस्येति च' इत्यकारलोपे गौरीशब्दः । तस्मात्सु, तस्य ह्रस्वपादिना लोपे 'गौरी'
 इति रूपम् । गौरी । 'गौरी + भौ' अत्र 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण' इति पूर्वसवर्णद्वयार्थे
 प्राप्ते 'दीर्घाद्भासि च' इति पूर्वसवर्णदीर्घनिषेधे 'इको यणचि' इति यणि 'अयो रहा
 म्दा इ' इति द्विवे सयोगे च हने 'गौरी' इति रूपम् । हे गौरी । 'गौरी + सु' अत्र
 'पृथ्यात्थौ णो' इति नदीसंज्ञायाम् 'अभार्यनघादंस्व' इति ह्रस्वारे 'पृथ्वात्
 रज्जुदे' इति लोपे 'हे गौरी' इति रूपम् । लयमी । 'लयेसुट् च' इति लय-
 धातोर्लयायथे मुहागमे लयनीशब्दः । तस्मात् सौ ममागते उकारलोपसंज्ञायां लोपे च
 'अटवन्ताश्च मुटोर, किन्तु सख्य रवे विसर्गे च 'लयमी' इति रूपम् । लोरीव
 रिति । अभार्येणादिनदीकार्यमित्यर्थः । लोः स्यापत महते मयत शुद्धशोणिते
 रणमिति स्त्री लयनामौ ह्रस्वपादिलोपे 'लौ' इति रूपम् । हे हि । अत्र नदीसंज्ञा-
 याम् 'अभार्यनघादंस्व' इति ह्रस्व 'पृथ्वात्थौ' इति मुहायथे 'हे हि' इति ।
 किमिति । 'अचिरनुवाणु' इत्यलोऽपीति ह्रस्विति धानुवर्तते, तदाह—अपेद-
 तिश्चादिना । अये । 'श्री + क्' इत्यत्र लयेऽमणुक्त्वे लोपे च नदीसंज्ञायाम्

वचक हे । न तिष्ठ—तिष्ठ-वाम् उग्रदो नाम्हे परे दोषं नहीं हा ।
 नोट—विश्व सख्याशब्द 'वि' अक्षर और बहुषं सख्याशब्द 'वज्जु' अक्षर मिल
 बहुवचन है ।
 'वि' शब्दका रूप, धातुका—वि २, तिष्ठाम्, तिष्ठस्य २, तिष्ठणम्,
 तिष्ठु । वृद्धिभे—अक्षर नोट, विभि, विभा २, वज्जाम्, विजु । ननुप्रकमे—
 नोपि २, दोष मुट् । 'अट्' शब्दका रूप, धातुका—अट २, अटवाम्, अट-
 म्य २, अटस्य, अट्यु । वृद्धिभे—अकार, अट्, अट्, अट्, अट्, अट्, अट्, अट्,
 अट्, अट् । ननुप्रकमे—अकार २, दोष मुट् ।

गौरीषत् । एवं तरोतन्त्यादयः । स्त्री । हे स्त्रि ॥ स्त्रियाः । ६।४।७९। अस्येयञ्
 चादौ प्रत्यये । स्त्रिषु । स्त्रियः ॥ वाऽम्शसोः । ६।४।८०। अमि, शधि च स्त्रिया
 इयङ् वा । स्त्रियम्-त्तोम् । स्त्रियः-स्त्रीः । स्त्रिया । स्त्रियै । स्त्रियाः २ । स्त्रियोः २ ।
 परस्वान्तुट्-स्त्रीणाम् । स्त्रियाम् । स्त्रीषु ॥ श्रीः । श्रियौ । श्रियः । श्रियम् ।
 श्रियौ । श्रियः । श्रिया । श्रीभ्याम् । श्रीभिः ॥ नेयङ्बुवङ्स्थानावस्त्री । १।४।४।
 इयङ्बुवङ्गोः स्थितिर्ययोस्ताषीदूतौ नदीसंज्ञौ न स्तो, न तु स्त्री । हे श्रीः । स्त्रिति
 ह्रस्वश्चेति वा नदीत्वम् । श्रियै—श्रिये । श्रियाः २—श्रियः २ ॥ वाऽमि । १।४।५।
 इयङ्बुवङ्स्थानौ च्छाण्यौ यू आमि वा नदीसंज्ञौ स्तो, न तु स्त्री । श्रीणाम्—श्रियाम् ।

‘आग्नघाः’ इत्यादि ‘आटश्च’ इति वृद्धौ ‘स्त्रियाः’ इत्यनेन इयङि च विहिते ‘स्त्रियै’
 इति । स्त्रीणामिति । स्त्रीशब्दादामि ‘स्त्री+आम्’ इति स्थिते अत्र ‘स्त्रियाः’
 इतीयङ् परस्वात् वाधित्वा ‘ह्रस्वन्घापो नुट्’ इति नुडागमे पर्जन्यबल्लक्षणप्रवृत्त्या
 दीर्घे ह्रते ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ इति णत्वे विहिते ‘स्त्रीणाम्’ इति । श्रोरिति ।
 श्रयन्त्येतामिति श्रीः । श्रिन्-सेवायामितिधातोः ‘क्विञ्चिप्रच्छिञ्छ्रिञ्जुप्रुञ्वां दीर्घो
 ऽसम्प्रसारणञ्’ इति क्विप्, प्रकृतेर्दीर्घश्चेति निष्पन्नात् श्रीशब्दात् सुः । अह्रस्वन्त-
 स्वाध्र सुलोपः । श्रियाविति । श्रीशब्दात् श्री समागते ‘प्रथमयोः पूर्वसवर्णः’ इति
 याधित्वा ‘अधिरनुघातु०’ इतीयङि ह्रते मिलित्वा ‘श्रियौ’ इति । हे श्रोरिति । श्रीश-
 प्दारसन्धोधने सावागते ‘नेयङ्बुवङ्स्थानावस्त्री’ इति नदीत्वाभावे ‘अभ्यार्थनघो-
 ह्रस्वः’ इति ह्रस्वाभावे सस्य रूपे रस्य विसर्गत्वे च ‘हे श्रीः’ इति । श्रियै, श्रिये इति ।
 ‘श्री=हे’ इत्यत्र ‘यू रूयाण्यौ नदी’ इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां ‘नेयङ्बुवङ्स्थाना-
 वस्त्री’ इति निषेधे ‘ङिति ह्रस्वश्च’ इति ङिति विकल्पेन नदीसंज्ञायां कृतायास्य
 ‘आग्नघाः’ इत्यादि ‘आटश्च’ इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ कृतायाम् ‘अधि रजु-
 घातु०’ इतीयङि मिलित्वा ‘श्रियै’ इति । पक्षे—‘ङिति ह्रस्वश्च’ इति नदीसंज्ञाभावे
 इयङि ‘श्रिये’ इति रूपम् । श्रीणामिति । ‘श्री आम्’ इति स्थिते अत्र ‘यू रूयाण्यौ
 नदी’ इति नदीसंज्ञायां प्राप्तायां ‘नेयङ्बुवङ्स्थानावस्त्री’ इति निषेधे ‘वामि’ इति

तरोतन्त्यादयः—‘अवी-तन्त्री-तरी-लक्ष्मी-धी-ही-श्रीणामुणादिषु ।

सप्त स्त्रीलिङ्गशब्दानां न सुलोपः कदाचन ॥’

स्त्रियाः—‘स्त्री’ शब्दको इयङ् हो, अजादि प्रत्ययके परे । वाऽम्—अन् और अस्
 विभक्तिके परे ‘स्त्री’ शब्दको इयङ् आदेश हो, विकल्पसे ।

नेयङ्—इयङ्-उवङ्के स्थानो जो दीर्घ ईन्-ऊन् इनको नदी संज्ञा नहीं हो, ‘स्त्री’
 शब्दको छोड़कर । अर्थात् ‘स्त्री’ शब्दको निषेध नहीं हो । वाऽऽमि—इयङ्-उवङ्
 स्थानो तथा नित्य स्त्रीलिङ्ग जो दीर्घ ईन्-ऊन् इनकी नदीसंज्ञा हो, ‘आम्’ विभक्तिके

ली-धियाम्-धिवि ॥ धेनुर्मतिषत् ॥ द्वित्रयाञ्च । ७।१।१६। लीवाचो क्रोष्टु-
 शब्दस्तुजन्तवद्रूप समते ॥ अन्नेभ्यो ङीप् । ७।१।१७। अदन्तेभ्यो, नान्तेभ्यश्च
 द्वियां ङीप् । ङोष्ठी-गौरीषत् । वधूः । शेप नदीवत् । भू-धीवत् ।
 स्वयम्भू-पुषत् ॥ न पट्स्वच्चादिभ्यः । ७।१।१८। एभ्यो ङीप्तापो न स्तः ॥

स्यसा तिस्रश्चतस्रश्च ननान्दा दुद्धिता तथा ।

याता मातेति समैते स्वच्चादय उदाहृताः ॥ १ ॥

स्वचा । स्वधारी । स्वसार । माता-पितृवत् । गति-मातृ । योगीवत् ।
 या-पुंषत् । नौर्लौवत् ॥ इत्यजन्ता ङीलिङ्गा ।

या नदीसञ्ज्ञायां इत्यनघापा नुट् इति नुटि पर्जन्यवसुवर्षणन्यायेन दीर्घे 'अट्टुप्या-
 न्नुम्यवायेऽपि' इति णात्वे 'धोगाम्' इति । नदीवाभात्रपक्षे इत्यङि 'धियाम्'
 इति । 'धी ङि' इत्यत्र 'दिति इत्यश्च' इति नदीत्वे 'हेराम्नघाम्नीभ्य' इति हेरामि
 'अजन्ता' इत्यादि 'आटश्च' इति वृद्धौ 'अचि रनुषानु' इतीयङि 'धियाम्'
 इति । नदीवाभावपक्षे इत्यङि 'धिवि' इति रूपम् । ङोष्ठीनि । क्रोष्टुशब्दात्प्रागे
 षोत्वे 'धियाश्च' इति वृज्वद्भावे 'ङोष्ठी' इति जाते अदन्तत्वात् 'अन्नेभ्यो
 ङीप्' इति ङीपि उकारपकारयोश्चिन्मन्त्रत्वे षोत्वे च 'क्रोष्ट् + इ' इति स्थिते षणि
 निष्पन्न 'ङोष्ठी' शब्द । तस्मात्सौ समागते ह्रस्वत्वादिना षोत्वे कृते सति 'ङोष्ठी'
 इति रूपम् । अरिति । भ्रूसु इत्यत्र सरय इत्ये रस्य विसर्गात्वे च 'ध' इति रूपम् ।
 स्वयम्भू प्रवर्धित । स्वयम्भूशब्दस्य चतुरानने ऋदायात् नित्यस्त्रीत्वाभावेन न नदीव-
 मिति भाव । एतेति । 'स्वस् + सु' अत्र 'अन्नेभ्यो ङीप्' इति ङीपि प्राप्ते 'न पट्स्व
 चादिभ्यः' इति ङीपो निषेधे 'अट्टुशानसपुट्टसोऽनेहसां च' इत्यनङि द्विवाक्यन्या-
 यत्वे णात्वे अनुबन्धलोपे 'स्वसन् + म्' इति स्थिते 'अप्सुम्ब' इति दीर्घे 'हल्ल-
 ष्यो' इति सलोपे 'नलोप मातिपदिकागतस्य' इति नस्य लोपे 'स्यसा' इति ।

इत्यजन्ता ङीलिङ्गा ।

७२. विहस्यते- 'ङी' शब्दको लोटकर । द्वियां च-लीवाचो 'क्रोष्टु' शब्द तुजन्त
 (क्रोष्टु शब्द) के सट्टय रूपको प्राप्त करे । अर्थात् पुल्लिङ्गके समान ङीलिङ्गमे औ
 अकारान्त बन आवे । अन्ने-अदन्त और मान्द शब्दोंमे 'ङीप्' प्रत्यय हो, ङीलिङ्गमे ।
 न पट्-पट्स्वश्च और स्वच्चादि (स्वस् तिसु-चट्ट-ननान्द-दुद्धित्-यातृ-मातृ)
 शब्दोंमे ङीप् और टाप् प्रत्यय नहीं हो ।

इत्यकार 'रन्दुमो' शब्दमें अजन्तश्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ अजन्तानपुंसकलिङ्गाः

अतोऽम् । ७।१।२४। अतोऽज्ञात्कलीवात् स्वमोरम् । ज्ञानम् । 'एद्ह्रस्वाद्'-
इति सम्बुद्धिलोपः—हे ज्ञान । नपुंसकाच्च । ७।१।२५। क्लीबादौः शी स्यात् ।
असंज्ञायाम् । यस्येति च । ६।४।१४८। ईकारे, तद्धिते च परे मस्येवर्णवर्णयो-
र्लोपः ।—इत्यकारलोपे प्राप्ते । (औः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः) । ज्ञाने । जश्श-
सोः शिः । ७।१।२०। क्लीबात्परयोर्जश्शसोः शिः स्यात् ॥ शि सर्वनाम-
स्थानम् । १।१।४२। 'शि' इत्येत्सर्वनामस्थानसंज्ञं स्यात् । नपुंसकस्य झलचः
। ७।१।७२। झलन्तस्याऽजन्तस्य च क्लीबस्य नुमागमः स्यात्सर्वनामस्थाने ।
मिदचोऽन्त्यात्परः । १।१।४७। अर्चा मध्ये योऽन्त्यस्तस्मात्परस्तस्यैवान्तावयवो
मित्तस्यात् । उपधादीर्घः । ज्ञानानि । पुनस्तद्वत् । शेषं पुंवत् । एवं धन-धन-फला-

ज्ञानमिति । ज्ञानशब्दात्सायागते 'अतोऽम्' इति सोरमि कृते 'अमि पूर्वः'
इति पूर्वरूपैकादेशे 'ज्ञानम्' इति रूपम् । हे ज्ञान इति । 'ज्ञान + सु' अत्र 'अतोऽम्'
इत्यमि 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे ज्ञानम् इति जाते 'एद्ह्रस्वात्सम्बुद्धेः' इति
मलोपे 'हे ज्ञान' इति । घाने इति । 'ज्ञान औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इत्यौकारस्य
शीर्षे दास्येत्संज्ञायां लोपे च 'ज्ञान ई' इति जाते 'यधि भम्' इति भसन्ज्ञायां
'यस्येति च' इति अकारलोपे प्राप्ते 'औः श्यां प्रतिषेधो वाच्यः' इति निषिद्धे
'धाद्गुणः' इति गुणे च कृते 'ज्ञाने' इति । ज्ञानानि । 'ज्ञान + जस्' इत्यत्र 'जश्श-
सोः शिः' इत्यनेकाच्छ्रत्वाज्जसः स्थाने शिष्वे कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति 'शि'
इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य झलचः' इति नुमि 'मिदचोऽन्त्यात्परः'
इति योगेनान्त्याञ्चरूपस्य नस्यान्त्यावयवव्युत्पत्ते उकारमकारयोरिसंज्ञायां लोपे च
'ज्ञानन् शि' इति जाते शकारस्येत्संज्ञायां लोपे च कृते 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ'
इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'ज्ञानानि' इति । पुनस्तद्वदिति । अम्-औट्-शस्सु-ज्ञानम् ॥

अतोऽम्—अदन्त क्लीब (नपुंसक) अङ्गसे पर 'सु' और 'अम्' को 'अम्' आदेश हो ।

नपुं—क्लीबन्त अङ्गसे पर 'औट्' के स्थानमें 'शी' आदेश हो ।

यस्येति—असंज्ञक इवर्ण और अवर्णका लोप हो, ईकार और तद्धितके परे ।

आलः—'औट्' स्थानिक 'शी' के परे असंज्ञक इवर्ण-अवर्णका लोप नहीं हो ।

जश्श—क्लीबन्त अङ्गसे पर अस्-शस्सुके स्थानमें 'शि' आदेश हो ।

शि सर्व—'शि' को सर्वनामस्थानसंज्ञा दे ।

नुपुं—झलन्त और ङलन्त क्लीबको नुमागम हो, सर्वनामस्थानके परे ।

मिद्व्—अर्चाके मध्यमें अन्त्य हो 'अच्' उससे पर और उसीके अन्त्यावयवमित्त

(नुमादि) कार्य हो ।

दय ॥ अद्बृहत्तरादिभ्यः पञ्चम्यः । ७।१।२५। एभ्यः कर्त्तव्येभ्यः स्वमोर-
 द्वादेशः स्यात् ॥ टे । ६।७।१७३। ङिति परे मस्य टेर्लोपः । कतरत्—कत-
 रद् । कतरे । कतरणि । हे कतरत् । शीयं पुक्त् । एवं कतमत । कतरत् ।
 अन्यत् । अन्यतरत् ॥ 'अन्यतम' शब्दस्य तु 'अन्यतमम्' इत्येव । (एकतरात्प्रति-
 पेधो घाच्य.) । एकतरम् । ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य । १।२।७७। अज-
 न्तस्येयेव । धीप—ज्ञानवत् । स्वमोर्नपुंसकात् । ७।१।२३। कर्त्तव्येभ्यः स्व-
 मोर्लुक् स्यात् । वारि । इकोऽङि विमत्तौ । ७।१।७३। इगन्तस्य इनीवस्य नुमचि

ज्ञाने, ज्ञानानि, इति क्रमेण ऋपागीत्यर्थः । कतरत्, 'कतर + सु' भ्रम 'अद्बृहत्तरादिभ्यः
 पञ्चम्य' इति 'सु' ह्रस्वस्य स्थाने अङ्कि कृते 'कतर + अद्' इति जाते 'ह्रस्वयम्'
 इति ह्रस्वोत्सङ्गायां 'तस्य लोप' इति लोपे च 'कतर + अद्' इति भूते 'यचि भम्'
 इति मसङ्गायां 'टे' इति टिमञ्चकस्य रेकोत्तरकार्यकारस्य लोपे मिलित्वा 'कतरद्'
 इति भ्रम 'वावसाने' इति विकल्पेन चत्वे 'कतरत्' इति च रूपम् । हे कतरत् इति ।
 'कतर + सु' इति रिपते 'एकवचन सम्बुद्धि' इति सम्बुद्धिसङ्गायाम् 'अद्बृहत्तरादि-
 भ्यः पञ्चम्य' इति सु-ह्रस्वस्य स्थाने अङ्कारदेशे कृते उकारस्येभ्यः प्रातिपदिकस्य लोपे च मस-
 ङायां टिलोपे च कृते 'कतर + अत्' भ्रम यद् इत्यन्त तद्भ्रम, यच्चाह—'कतर' इति
 तद् इत्यन्त न । इति न 'एद्बृहत्तरादिभ्यः' इति तलोप इति भावः । तदाह—
 'हे कतरत् इति' । शीयमिति । 'धीपा सु' भ्रम 'ह्रस्वो नपुंसके प्रातिपदिकस्य'
 इति ह्रस्वस्ये 'अतोऽम्' इति सौरमि 'अमि पूर्व' इति पूर्वरूपकारदेशे
 'धीपम्' इति । ज्ञानरिति । ह्रस्वविधानात् दीर्घान्तरकर्मपुच्छे न कश्चिद्भिन्नोऽपि
 इति भावः । वारिणी । 'वारि + धी' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इत्योकारस्य
 चांते घास्य लोपे च कृते 'वारि ई' इति जाते 'इकोऽङि विमत्तौ' इति नुमि
 कृते नमि गते 'वारिन् ई' इति चाते 'अद्बृहत्तरादिभ्यः पञ्चम्येऽपि' इति नस्य
 णावे 'वारिणी' इति रूपम् । वारिणि । 'वारि + अत्' इत्यत्र 'अरदासो ङि' इति
 अत् स्य स्थाने ङित्ते 'ङि मर्दानामस्थानम्' इति शीयस्य सर्वनामस्थानावे 'अङ्क-

अद्—इतरादि पांशो कर्त्तव्ये पर को 'सु' लोत् 'अम्' लसको 'अद्' आदेशः हो ।

भोट—इतरादिमें इतर, इतम प्राक्वात् भोट अन्य, अन्यतर, इतर ये पाँच हैं ।

टे—मसङ्क 'टि' का लोप हो, 'टि' के परे । एकत्—एकी वें वर्तमान 'एकतर'
 अर्थात् पर 'सु' लोत् अम् को 'अद्' आदेश नहीं हो—ऐसा करना चाहिये ।

ह्रस्वो—नपुंसकत्वमें वर्तमान अह्रस्व प्रातिपदिकको ह्रस्व हो ।

स्वमो—कर्त्तव्य अह्रस्व पर 'सु' लोत् 'अम्' का लुक् हो ।

इको—इगन्त कर्त्तव्यो नुमत्तम हो, अङ्कदि विमत्तके परे ।

विभक्तौ । वारिणी । वारीणि । 'न जुमते'त्यस्याऽनित्यत्वात्पक्षे सम्बुद्धिनिमित्तो गुणः । हे वारे—हे वारि । 'वेर्ङ्गितौ'ति गुणे प्राप्ते (बृद्धयौत्ववृज्वद्भावगुणोभ्यो जुम् पूर्वविप्रतिषेधेन) । वारिणे । वारिणः २ । वारिणोः २ । 'जुमचिरे'ति जुट् । वारीणाम् । वारिणि । हलादौ हरिवत् ॥ तृतीयादिषु भाषितपुंस्कं पुंवद्भावगतस्य । ७।१।७४। प्रवृत्तिनिमित्तक्ये भाषितपुंस्कमिगन्तं क्लीबं पुंवद्भा दादावचि । अनादये—अनादिने इत्यादि । शेषं वारिवत् ॥

तद्धिते' इति शस्येत्संज्ञकत्वे 'तस्य लोपः' इति लोपे 'इकोऽचि विभक्तौ' इति-नुमि इकारमकारयोरित्संज्ञत्वे लोपे च 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तोपध्याया दीर्घत्वे 'अट्कुप्वाद्गुम्यवायेऽपि'इति णत्वे च कृते 'वारीणि' इति रूपम् । न जुमते-त्यस्यानित्यत्वादिति । तथाहि—'इकोऽचि विभक्तौ' इत्यत्राग्रहणं ज्ञापकम् । तथाहि— हलादिषु भ्यामादिषु सत्यपि जुमि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति तस्य लोप-सम्भवात्, सम्बुद्धौ तु लुका लुक्लया प्रत्ययलक्षणाभावेन तत्र जुमः प्राप्तेरभावाच्च अस्तीति व्यर्थं सत् 'न ह्यप्रताङ्गस्य' इत्यस्यानित्यतां ज्ञापयतीति भावः । पृथ्वीवेति । अतिसखिनीत्यत्र 'सपयुरसंबुद्धौ' इति णिद्धभावात् वृद्धिः प्राप्ता, वारिणीत्यत्र तु 'अच्च घेः' गुस्यौत्वम् । प्रियक्रोष्टुनीत्यादौ वृज्वद्भावः प्राप्तः । वारिण इत्यत्र 'वेर्ङ्गित्' इति गुणः प्राप्तः । तान् सर्वान् पूर्वविप्रतिषेधेन वाधित्वानुमित्यर्थः । वारिणे । 'वारि + छे' अत्र अङ्गयन्त्रलोपे चित्वात् 'वेर्ङ्गित्' इति गुणे प्राप्ते 'वृद्ध-यौत्ववृज्वद्भावगुणोभ्यो जुम् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधस्य प्रवृत्त्वात् 'इकोऽचि विभक्तौ' इति जुमि णत्वे च कृते 'वारिणे' इति रूपम् । वारीणामिति । 'वारि + आम्' अत्र परत्वान्नुटं वाधित्वा जुमि प्राप्ते 'जुमचिरवृज्वद्भावेभ्यो जुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन जुटि 'वामि' इति दीर्घे णत्वे च कृते 'वारी-णाम्' इति । अनादये अनादिने इति । पुंवत्त्वे जुमोऽप्रवृत्तेः घिसंज्ञायां 'वेर्ङ्गित्' इति

पृथ्वी—वृद्धि, औत्त्व, वृज्वद्भाव और गुणको अपेक्षासे पूर्वविप्रतिषेधेन (पूर्वकी प्रबलतासे) 'जुम्' ही होता है ।

नोटः—'अतिसखिनि' में 'सपयुरसंबुद्धौ' से णिद्धभावात् प्राप्त वृद्धिको, 'वारिणि' में णित्वात् 'अच्च घेः' से प्राप्त औत्त्वको, 'प्रियक्रोष्टुनी' में प्राप्त वृज्वद्भावको और 'वारिणे-वारिणः' में 'वेर्ङ्गित्' से प्राप्त गुणको वाधकर जुम् होता है । यही इस वार्तिकका उदाहरण समझना चाहिये ।

तृती—प्रवृत्तिनिमित्त एक होने पर जो भाषितपुंस्क इगन्त क्लीब, उसको पुंवद्भाव (पुंल्लिङ्ग के समान कार्य) हो, दादि-अद्यादि विभक्ति के परे ।

यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते ।

फलीयवृत्ति तदेव श्यादुक्तपुस्कं तदुच्यते ॥ १ ॥

पीलुर्धृशः, फलं पीलु, पीलुने, न तु पीलये ।

वृक्षे निमित्त पीलुत्यं, तज्जस्यं तरफले पुनः ॥ २ ॥

पीलुर्धृशः, तरफल पीलु । तस्मै-पीलुने । अत्र न पुवत् । प्रहसि-

गुणः । पुवद्भावस्य वैभाषिकत्वेन तदभावे नपुंसकत्वे नुमि 'अनादिने' इति रूपं
 भ्रातृ । शब्दादीति । अनादिन -अनादे । अनाद्यो -अनादिनो । आमि तु अनादी-
 भाषितेव । अत्र सापसति च पुवद्भावे रूपस्वरूपावितोषात् । प्रथमाद्वितीययोर्भा-
 भादी च धारिशब्दवद्भागीति शेषः । यन्निमित्तमिति । यन्निमित्त, यत्कारणं यं
 हेतुमुपादायोदित्ययं पुंसि-पुमर्थे शब्दः प्रवर्तते, शब्दः पुंसवत्पुस्ककार्याणि लभते ।
 पुंसि लक्षणेः शब्दः यमर्थं मन्त्रमानः प्रवृत्तिं गच्छद्ब्रह्मोक्तवते इति लोकरस्य पूर्वार्थ-
 र्थाप्यः । षष्ठीवावृत्तौ तस्य शब्दस्य नपुंसके विद्यमाने सति तदेव, कारणं स
 पुव हेतुः स पृथग्वर्येत् । तत् शब्दस्वरूपं भाषितपुंसकं कथितपुवत्तद् उच्यते रूप्यते
 शब्दशास्त्रविद्भिः । शब्दः पुंसवे यमर्थं मन्त्रते यत् च शब्दस्वरूपं मन्त्रते तमेवार्थं
 प्रधानीकृत्य शब्दस्वरूपमपि पुवदेव मन्त्रयेत् स शब्दः भाषितपुंसकसंज्ञां लभते
 इति तात्पर्यार्थः । तेन शब्दसारूप्य मन्त्रमानोऽपि पुंसवे विद्यमानोऽपि 'पीलु' शब्दः
 नपुंसकत्वे फलार्थवाचके भाषितपुंसकसंज्ञां न समाहृते प्रवृत्तिनिमित्तमेवात् ।
 पीलुशब्दस्य पुंसवे या प्रवृत्तिस्तत्र यन्निमित्तं वृक्षार्थरूपं तस्य भेदात् इति भावः ।
 य वृक्षरूपार्थं निमित्तीकृत्य पीलुशब्दः पुंसवं लभते, तदर्थस्य नपुंसकसंज्ञात् फला-
 र्थत्वेन प्रवृत्तिभेदेन स्वरूपसादरयेऽपि भाषितपुंसकतां न लभत इति स्पष्टार्थः । तेन
 तस्य फलार्थकस्य पीलुशब्दस्य नपुंसके पीलुने इत्येव अतुष्पा रूपं न पीलवे इति ।
 अस्य शब्दस्य भाषितपुंसकसंज्ञाभावेन पुस्कत्वाप्रवृत्तौ विपत्त्यादिकायांभावेन
 पीलव इति असमवात् । इधे निमित्तमिति । वृक्षत्वस्याप्यभातिवितोषात्मकं पीलुत्वं
 प्रवृत्तिनिमित्तमिति । फलविशेषे तु शब्दे फलत्वस्याप्यभातिवितोषात्मकं पीलुत्वं

'यन्निमित्तमुपादाय पुंसि शब्दः प्रवर्तते । षष्ठीवृत्ति तदेव श्यादुक्तपुस्कं तदुच्यते ॥

अयं भावः—भाषितं पुमान् येन प्रवृत्तिनिमित्तेन तत् 'भाषितपुस्कम्' । अर्थात् नपुंसके
 दिशान्ते च यस्य एकमेव शब्दशब्दोक्तं तच्छब्दस्वरूपं भाषितपुस्कत्वात्वेन विशिष्टम् ।

सुहृत्वावृत्तौ तुः तस्य तदभावे 'सुविदा' । अत्र सुप्तापुस्वरत्वं, अथवा नान्य-
 त्वात् वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुनपुंसकत्वोक्तत्वेति भाषितपुंसकत्वात् 'सुतोवादिभिः' इति प्रा-
 र्थे नुमत्कारदिवात् । तदुच्यते—'पीलुर्धृशः' इत्यादि ।

निमित्तभेदात् ॥ अस्थिदधिसकथ्यक्षणासनडुदात्तः । ७।१।७५। टादावचि ।
 अल्लोपोऽनः । ६।४।१३४। अज्ञापयवोऽसर्वनामस्थानयत्रादिस्वादिप्रत्ययपरो
 योऽन् तस्याकारस्य लोपः । दध्ना । दध्ने । दध्नः २ । दध्नोः २ ।
 विभाषा ङिश्योः । ६।४।१३६। अज्ञापयवोऽसर्वनामस्थानयजादिस्वादिप्रत्ययपरो
 योऽन् तस्याकारस्य लोपो वा, ङिश्योः । दध्नि—दधनि । शेषं वारिवत् । एव-
 मस्थिसकथ्यक्षि ॥ सुधि । सुधितो । सुधीनि । हे सुधे । हे सुधि । सुधिया-
 सुधिना । सुधिये—सुधिने इत्यादि ॥ मधु । मधुनी । मधूनि । मधुना । हे मधो ।
 हे मधु । एवमम्वादयः ॥ सुलु । सुलुनी । सुलूनि । सुलुवा—सुलुना । इत्यादि ॥
 धात् । धातुगी । धातणि ॥ हे धातः । हे धात् । धात्रा । धातृगा । धातृणाम् ।

प्रवृत्तिनिमित्तमिति प्रवृत्तिनिमित्तभेदादित्यर्थः । दध्नेति । दधि टा इत्यवस्थानां
 'इङ्कोऽधि विभक्त्वा'ति नुमि प्राप्तेऽपवादत्वाद्वाह्वित्वा 'अस्थिदधि' इत्यनल्लादेशे-
 ऽन्तादेशो इकारे अनलादेशेन दधन् + आ इति स्थितौ 'अल्लोपोऽनः' इत्यकारलोपे
 सति 'दधन् आ' इति जाते परेण संयोगे दध्ना इति भवति रूपम् । दध्ने, दध्नः,
 दध्नोः, दध्नाम् इत्यादौ दधिशब्दाद् जातिप्रत्ययपरकत्वेन 'अस्थिदधि' इत्यादिना-
 नङि प्रोक्तरूपाणां सिद्धिरुह्या । दध्नि-दधनीति । सप्तम्यां लौ 'विभाषा ङिश्योः' इति लौ
 अकारलोपस्य वैरुषिपकेनाकारलोपाभावे 'दधनि' इति रूपं साधु । सति चाकारलोपे
 'दध्नि' इति तु अवत्येव यथाशास्त्रम् । सुधिया, सुधिनेति । सुध्यातृत्वस्य शोभनज्ञानव-
 च्चस्य वा प्रवृत्तिनिमित्तस्य पुंसि नपुंसके च एकत्वात् पुंवक्षधिकरणः । तेन पुंवद्भावपक्षे
 अजादौ विभक्तौ परे 'अधि रनुधात्' इतीयङि 'सुधिया' इति पुंवद्भावपक्षे-नुमि-
 'सुधिता' इति । सुलुवा, सुलुनेरयादि । शोभनलवनकर्तृत्वं प्रवृत्तिनिमित्तमेकमिति पुंव-
 च्चविकरणः । पुंवत्वे इत्त्वामावेनाधिरत्वात् नाभावो न, नुमभावश्च । 'ओः सुपि' इति
 यण् सुषवा । पुंवत्त्वाभावपक्षे तु यणं चाधिष्ठा नुम् 'सुलुना' इति । धातुगी । 'धात् +

अस्थि—अस्थि, दधि, सन्धि और अक्षि शब्दको उदात्त अनङ् आदेश हो, यदि अजादि
 विभक्तिके परे । अल्लो—अज्ञापयव, असर्वनामस्थान यदि तथा अजादि—स्वादि प्रत्यय परक
 'अन्' के अकारका लोप हो । विभा—अज्ञापयव, असर्वनामस्थान यदि तथा अजादि—
 स्वादि प्रत्यय परक 'अन्' के अकारका लोप हो, 'ङि' और 'शि' के परे विकरणसे ।

नोटः—यबादिमें 'य् + अजादि' ऐसा है । अर्थात् यदि और अजादि । ('यञ्' आदि-
 यजादि स्वादि' ऐसा अर्थ करना गलत है) ।

मधुना—'मधु मधे पुणरसे'—'मधुर्वसन्ते चित्रे च' इति कोशात् 'मधु' शब्दस्व
 आधितपुंस्कारवेऽपि पुंनपुंसकयोः मधुश्च-वसन्तस्वादि रूपप्रवृत्तिनिमित्तभेदात् 'तृता' आदिभिरिति
 न पुंवत्त्वम् ।

एवं हात्पूर्वादिभ्य ॥ एष इन्द्रस्वादेशे । १।१।४८। आदिस्वमानेषु हस्वेषु मध्ये
एष इवेव स्यात् । प्रयु । प्रयुनी । प्रयुनि । प्रयुना— इत्यादि ॥ प्ररि । प्ररिणी ।
प्ररीणि । प्ररीणा । 'एकदेशविहितमन्यवत्' । प्रराभ्याम् । प्ररीणाम् ॥ सुनु ।
सुनुनी । सुनुनि । सुनुना— इत्यादि ॥

इत्यग्रन्ता नपुसकलिङ्गा ॥



षष्' अत्र 'जरनाभो नि' इति जस शिखे 'नि सर्वनामस्थानम्' इति दो-
सर्वनामस्थानत्वे शकारस्योसञ्जायां लोपे च 'नपुसकस्य षष्ठ्य' इति नुमि उमि
गते सति 'सर्वनामस्थानो चासम्बुद्धी' इति नान्तस्थोपधाया दीर्घत्वे 'श्रवणांघ्रय
नाय वाचसम्' इति णादेशे 'घातुणि' इति रूपम् । हे घात्, हे घात् । हे 'घात् + सु'
अत्र 'स्वमोर्नपुसकात्' इति सोर्लोपे 'न लुप्रताऽइत्य' इत्यस्यानित्यावात्प्रत्ययलक्षणे
सन्त्युच्चिनिमित्तकगुणे अकारे रपरि च ङाते रेफस्य विसर्गे 'हे घात्' इति । पचे—'हे
घात्' इति । धारणकर्तृस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तैक्यात् टादात्तपि पुषावविकल्प । प्रयु ।
प्रहृष्टा घोः पश्येति बहुमीहो प्रघोदाब्दस्य 'ह्रस्वो नपुसके प्रातिपदिकस्य' इति
ह्रस्वे—'एष इन्द्रस्वादेशे' इति एरूपरस्योकारस्योकारे कृते 'प्रयु सु' इति स्थिते
'स्वमोर्नपुसकात्' इति सोर्लोपे 'प्रयु' इति रूपम् । प्रयुनेत्यादि । प्रयुदाब्दस्तु उद्भूतो
नपु । तथा च पुंसि प्रघोदाब्दस्य भाषितपुस्कारोऽपि नपुसके प्रघोदाब्दस्य तदपेक्षया
मिच्छात्वेन भाषितपुस्कारत्वाभावाच्च पुषत्वमिति बोध्यम् । नोप मेपुषत् । प्ररि इति ।
प्रहृष्ट. रा. यन वरय इति बहुमीहो प्ररीणाब्द । तस्य नपुसकह्रस्वत्वेन इकार । सुटि
हृष्टाहो विभक्तौ च धारिवत् । सोर्लुङ्गात् । 'रायो हलि' इत्या व न । हृष्टादौ तु
'एकदेशविहितमन्यवत्' इति यया द्विप्रपुष्दे श्चि नाघो न गर्दम इति तथैव
प्ररीणाब्दस्य ह्रस्वेण विहितत्वेऽपि 'रायो हलि' इत्याकारादेशे विहिते— प्रराभ्याम्,
प्ररामिरित्यादि । प्ररीणामिति । 'प्ररि आम्' इति स्थितौ 'इकोऽपि विभक्त्याविति नुष्
आमि मुट् च प्राहरतपोनुंदा शुभ्र वाप्यते सनिपातपरिभाषया मुटि प्राप्तेऽपि दीर्घा-
दभावे आमि इति आरम्भसामर्प्यात्वेन परिभाषा काच्यत इति भाव । तेनामि प्ररीणा-
मिषेव सात् । प्रराणाम् इति माषयोक्तं तु अप्रमाणम् अविद्यमानाभावात् ।

इत्यग्रन्तनपुसकलिङ्गप्रकरणम् ।



एष—हरवः विधान होने पर 'एन्' के स्थानमें 'इक्' ही हरव हो । मदीय 'ए-ए' के
स्थान में 'इ' और 'ओ' की के स्थानमें 'उ' ही हरव हो ।

इस प्रकार 'इन्दुनी' टीकाने अग्रन्तनपुसकलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ हलन्तपुंल्लिङ्गाः

होठः । ८।२।३१. हस्य ढः स्वाज्जलि पदान्ते च । 'हल्डयाविति' मु-
ल पः । पदान्तत्वाद्भ्य ढः । जश्त्वचत्वं । लिट्, लिट् । लिहौ ३ । लिह् ।
लिङ्भ्याम् । लिट्भ्यु. लिट्भु । दादेर्धातोर्घः । ८।२।३२। क्षलि, पदान्ते वीप-
देशे दादेर्धातोर्हस्य घः । एकाचो वशो भ्य् झपन्तस्य स्ध्वोः । ८।२।३३।
वान्ववयवस्यैकाचो झपन्तस्य वशो भ्य्, ये च्चे पदान्ते च । इह व्यपदेशिवद्भा-
वेन धान्ववयवत्वाद्भ्भावः । जश्त्वचत्वं । धुक्, धुग् । दुहौ । दुहः । दुहा ।
धुग्भ्याम् । धुधु ॥ वा द्रुहमुहष्णुहृष्णिहाम् । ८।२।३३। एषा हस्य वा घो

लिट् लिट् । 'लिह—आस्वादाने' क्तिप् । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'लिह + सु'
इति स्थिते उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हल्डयाभ्यो दीर्घाःसुतिस्यपृक्तं हल्' इति
सलोपे 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे 'वाड्वसाने' इति चत्वं कृते 'लिट्' इति । चत्वा-
भावपक्षे 'लिह्' इति । लिट्भ्यामिति । 'लिह् + भ्याम्' अत्र 'हो ढः' इति हस्य ढत्वे
'स्वादिप्सर्वनामस्थाने' इति पदत्वात् 'क्षलां जशोऽन्ते' इति ढस्य ढत्वे 'लिह्-
भ्याम्' इति । लिट्भु । 'लिह् + सुप्' अत्र पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हो ढः' इति
हस्य ढत्वे 'स्वादिप्सर्वनामस्थाने' इति पदसंज्ञायां 'क्षलां जशोऽन्ते' इत्य
ढत्वे 'हः सि धुट्' इति सस्य धुदानमे टित्वाद्वाचावयवे उकारटकारयोर्निवृत्तौ
'त्वरि च' इति चत्वं, पुनश्च ढकारस्य 'त्वरि च' इति चत्वं च लिट्सु इति रूप्यः ।
धुडागमाभावे 'लिट्सु' इति । दादेर्धातोरेरि । धातोर्हस्यावर्तते । तत्रैकमतिरिच्यमान-
मुपदेशकालं लक्षयतीत्याशयेनाह—उपदेश इति । इह व्यपदेशिवद्भावेनेति । विशिष्टः
अपदेशः व्यपदेशः सुष्यव्यवहारः । मोऽस्याऽस्तीति व्यपदेशी । तेन तुक्त्यं व्यपदेश-
शिवत् । धातावेव धात्ववयवत्वव्यवहारो गौणः, राहोः शिर इत्यादिवदिति भावः ।
धुक्, धुग् । 'द्रुह् + प्रपूरणे' क्तिप् । क्तिवन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सस्यां सात्वागते
उकारलोपे 'द्रुह् + सु' अत्र 'हल्डयाभ्यो' इति सलोपे हस्य 'हो ढः' इति ढत्वे प्राप्ते
तं बाधित्वा 'दादेर्धातोर्घः' इति घत्वे 'एकाचो वशो भ्य् झपन्तस्य स्ध्वोः' इति
ढस्य घत्वे 'धुघ्' इति जाते तत्र 'क्षलां जशोऽन्ते' इति जश्त्वेन गकारे 'वाड्वसाने'
इति विकल्पेन चत्वं 'धुक्, धुग्' इति भवतः । धुग्भ्यामिति । 'द्रुह् + भ्याम्' अत्र

होठः—इकारके स्थानमें टकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें । दादे—वर्षे
अवस्थामें दादिधातु-सम्बन्धी इकारके स्थानमें धकार आदेश हो, 'झल्' के परे, पदान्तमें
एकाचो—धात्ववयव जो झपन्त एकाच्, नटवयव जो 'दश्' उसको नवभावे हो सञ्च
और 'च्च' शब्दके परे, पदान्तमें । वा द्रु—द्रुह्, सुह्, षुह् और लिह् धातुके लक्षण

ज्ञति, पदान्ते च । घृक्, घृग्, घृट्, घृट् । हुहो । हुह । घृग्भ्याम् ।
 घृट्भ्याम् । घृष्ट, घृट्सु घृट्सु । एष मुहः ॥ घात्यादेः षः स । १।१।६५।
 उपदेशे षातोरादेः षस्य सः स्यात् । स्तुक्, स्तुग् । स्तुट्, स्तुट् । एष णिह ॥
 इत्यनः संप्रसारणम् । १।१।७५। यनः स्थाने प्रयुज्यमानो य इक् स संप्रसारण-
 चङ् स्यात् ॥ याह ऊट् ६।५।१३२। मस्य बाहः संप्रसारणमूट् । संप्रसार-

‘दादेशांतोर्घ’ इति हस्य धात्वे ‘पकाचो बहो मय्’ इति मष्मावेन दकारस्य
 धकारे ‘घृग् + म्याम्’ इति जाते ‘श्रद्धां जशोऽन्ते’ इति धकारस्य गकारे ‘घृग्भ्याम्’
 इति । घृष्ट । ‘दुह् + सुप्’ अत्र पकारस्योसंज्ञायां छोपे च ‘दादेशांतोर्घ’ इति धात्वे
 मष्मावे जरात्वे च कृते ‘घृग् + सु’ इति जाते तत्र ‘खरि च’ इति चार्त्वे ‘भादेश-
 मप्यपयो’ इति सोः सस्य पत्वे कपसयोगेन ‘वृ’ इति जाते ‘घृष्ट’ इति रूपम् ।
 मुह्-भृग्, मुट्-मुट् । ‘मुह जिघांसायाम्’ अस्मात् छिपि । तस्य सर्वापहारलोपे
 कृद्-न्तवाप्यातिपदिकसंज्ञायां सावगाते उकारलोपे ‘दुह् + स्’ इति स्थिते ‘दृह-
 क्-वाम्यम्’ इति सलोपे ‘हो ह’ इति धात्वे प्राप्ते त वाधिवा ‘दादेशांतोर्घ’ इति
 धात्वे प्राप्ते त वाधिवा ‘वा मुहमुहप्युहणिहाम्’ इत्यनेन विकल्पेन हस्य धात्वे
 ‘पकाचो बहो मय्’ इति मष्मावेन दकारस्य धकारे घस्य च ‘श्रद्धां जशो-
 ऽन्ते’ इति धात्वे ‘वायसाने’ इति विकल्पेन चार्त्वे ‘ग्रक्’ इति । चार्त्वाभावपक्षे-‘भृग्’
 इति रूपम् । धावाभावपक्षे-‘हो ह’ इति धात्वे मष्मावे वस्य जरात्वेन ङात्वे तस्य
 विकल्पेन चार्त्वे ‘भृट्’ इति, चार्त्वाभावपक्षे-‘भृट्’ इति रूपम् । भृग्भ्याम्, भृट्भ्याम् ।
 ‘मुह् + म्याम्’ अत्र ‘वा मुहमुहप्युहणिहाम्’ इति धात्वे मष्मावे धस्य जरात्वे
 च कृते ‘भृग्भ्याम्’ इति । धावाभावे ‘हो ह’ इति हस्य ङात्वे मष्मावे वस्य जरात्वे च
 कृते ‘भृट्भ्याम्’ इति । भृष्ट । ‘मुह् + सु’ अत्र ‘वा मुहमुह’ इति धात्वे मष्मावे
 ‘भादेशमप्यपयो’ इति पत्वे ‘खरि च’ इति चार्त्वे ‘भृष्ट’ इति । धावाभावपक्षे
 ‘हो ह’ इति धात्वे मष्मावे वस्य जरात्वे ‘हा सि घृट्’ इति घृटि चार्त्वे वस्य चार्त्वे च
 ‘भृट्सु’ इति रूपम् । घृष्टमावपक्षे-‘हस्य ह’, मष्माव, वस्य जरात्वेन ङा, तस्य
 चार्त्वेन ङा ‘भृट्सु’ इति रूपम् । स्तुट्, स्तुट् । प्युह + उद्गिरणे’ अस्मात् छिपि । कृद्-
 न्तवाप्यातिपदिकसंज्ञायां सावगाते ‘धात्यादेः षः सः’ इति परस्य सत्वे ‘दृह-
 क्-वाम्यम्’ इति सलोपे ‘वा मुहमुह’ इत्यादिना धात्वे तस्य जरात्वे ‘वायसाने’ इति
 वा चार्त्वे ‘स्तुक्’ इति । चार्त्वाभावे ‘स्तुग्’ इति । ‘वा मुह’ इति विकल्पमाभावे ‘हो

पकार आदेश हो, विहस्यते, ‘श्रद्ध’ के परे, परात्पठे । धात्वा—उपदेशे अस्मात्वे वापुके
 नादि उकारान्ते उकार आदेश हो । इत्यन्त—‘ह’ के स्थानमें प्रयुज्यमान हो ‘रह्’ वह
 संप्रसारणचङ् हो । याह ऊट्—चर्त्तवक ‘वाह्’ को संप्रसारणचर्त्तवक ‘ऊट्’ आदेश हो ।

णाच्च ६।१।१०८। संप्रसारणादचि परे पूर्वरूपमेकादेशः । वृद्धिः । विश्वौहः ।
इत्यादि ॥ चतुरनडुहोरासुदात्तः । ७।१।१२८। सर्वनामस्थाने ॥ सावनडुहः
। ७।१।८२। अस्प नुम् स्यात्सौ परे । 'आच्छोनयोरि'ति सूत्रादादित्यधिकाराद-
र्णान्त्परोऽयं नुम् । अतो विशेषविहितेनाऽपि नुमा आम् न वाच्यते । घामा च
नुम्न बाध्यते । सुलोपः । संयोगान्तस्य लोपः । नुम्बिषिसामर्थाद्बुध्रंस्त्विति
दत्वं न । संयोगान्तलोपस्यासिद्धत्वान्नलोपो न । अनड्वान् । अमूसम्बुद्धौ
। ७।१।१२९। चतुरनडुहोः अमस्यात्सम्बुद्धौ परतः । हे अनड्वन् । अनड्व्वाहौ ।

डः' इति ङस्वे तस्य अरध्वे विकल्पेन चत्वे 'स्नुट्' इति । चत्वाभावपक्षे—'स्नुट्' इति ।
षोपं पूर्ववत् । विश्वौहः इति । विश्वं वहतीत्यर्थे 'भजो णिवः' इत्यतो णिवरित्यनुवृत्तौ
'वहश्च' इति णिवः । णकार इत् । वेर्लोपः । 'अत उपघायाः' इति वृद्धिः । उपपद-
समासः—'विश्ववाह' इति रूपम् । ततः 'विश्ववाह' शब्दात्स्त्रसि षस्येत्संज्ञायां लोपे च
'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'वाह ऊट्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते किं नाम सम्प्र-
सारणम् ? 'इयणः सम्प्रसारणम्' इत्यनेन वरूपस्य यणः स्थाने उकाररूपे सम्प्र-
सारणे कृते 'दिश्व-ऊ आह् अस्' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे
विहिते 'विश्व-ऊह् अस्' इत्यवशिष्टे 'पत्येष्टयूठसु' इति पूर्वपरयोः स्थाने वृद्धौ
संयोगे सस्य रुवे रस्य विसर्गे च कृते 'विश्वौहः' इति रूपम् । अनड्वान् । 'अन-
डुह् + सु' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरासुदात्तः' इत्याम् प्राप्तेः स क स्यादित्याशङ्क्याच्च
'मिदृशोऽन्ध्यापरः' इति मित्वात् उकारोत्तरवर्त्युकारात् परो जातः । एवं सति
'अनडु आम् ह् सु' इति जाते मकारत्येत्संज्ञायां लोपे च 'अनडु आह् सु' इति भूते
'सावनडुहः' इति नुमि उमि गते 'अनडु आ न् ह् सु' इति जाते सोःकारे गते सस्य
'हृद्व्याम्ब्यो' इति लोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति हलोपे 'नलोपः प्रातिपदि-
कान्तस्य' इति नलोपे प्राप्ते 'पूर्वत्रासिद्धम्' इत्यनेन संयोगान्तस्य लोपस्य असिद्ध-
त्वात् लोपे न जाते सति ङकारोत्तरवर्तिन उकारस्य यणि मिलित्वा 'अनड्वान्' इति
भवति । हे अनड्वन् । हे 'अनडुह् + सु' अत्र 'अमूसम्बुद्धौ' इत्यामि मित्वादन्यादृचः
परे कृते मस्येत्संज्ञायां लोपे च 'सावनडुहः' इति नुमि मित्वादन्यादृचः परे जाते
उमि गते सोःकारे गते सस्य 'हृद्व्याम्ब्यो' इत्यादिना लोपे हस्य 'संयोगान्तस्य लोपः'
इति लोपे ङकारोत्तरवर्तिन उकारस्य यणि कृते 'अनड्वान्' इति । अनड्व्वाहौ । 'अन-
डुह् + औ' इत्यत्र 'चतुरनडुहोरासुदात्तः' इत्यामि मलोपे मित्वादन्यादृचः परे 'इको

सम्प्र—सम्प्रसारणते 'अच्' परमे रङ्नेते पूर्व-परके स्थानमे पूर्वरूप एकादेशे हो । चतु—
'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'आम्' का आगम हो, 'सु' के परे । सात्र-'अनडुह्' शब्दको
'नुम्' का आगम हो—'सु' के परे । अमूस—'चतुर्' और 'अनडुह्' शब्दको 'अम्' का

अनृधाद् । अनृदृहः । वसुसंमुख्यस्वनहुर्हा दः । ८।२।७२। सान्त्वस्वन्तरय
 ससादेश्च द्वात्पदान्ते । अनृदृहभ्यामित्यादि । सान्तेत किम् २ वि३।३। पदान्ते
 किम् २ सान्त् । अस्तम् ॥ सहेः साह् । स. । ८।३।५६। साह् रूपस्य महे. सस्य
 मूर्ध्नादेश्च साह् । तुरायाह्, तुरायाह्, तुरासाहो । तुरायाह्भ्यामित्यादि ॥ दिघ
 औत् । ७।१.८४। दिघिति प्रातिपदिकस्यौत्स्यार्षो । मुर्धा । मुदिषौ ॥ दिघ
 उम् । ६।१।१३१। दिघोऽन्तादेश्च उकार् स्यात् पदान्ते । सुधुभ्यामित्यादि ॥

यणचि' । यणि सयोते च कृते अतदृषाहो' इति रूपम् । अनृदृहभ्यामित्यादि ।
 'अनृदृह् + वाम्' अत्र 'स्वादिभ्यमर्गनामरधाने' इति पदान्तायां 'वसुसंमुख्यं
 अनृदृहः' इति हस्य दृष्ये 'अनृदृह् + वाम्' इति । तथादाति । आविना—'अन-
 दृहः पदान्तायां । तथा दि—'अनृदृह् + मुप्' अत्र पकारश्चोमज्ञायां लोपे च
 'स्वादिभ्यो' इति पदान्तायां 'वसुसंमुख्यस्वनहुर्हा दः' इति हस्य दृष्ये 'परि च'
 इति चार्थे 'अनृदृह् + मु' इति रूपम् । साह इति कृत्प्रत्ययव्युत्पन्नस्य उकारणम् । तथाह—
 साहभ्यामित्यादि । तुरायाह् । 'तुरायाह् + स' अत्र 'हल्लृताभ्याम्' इति सलोपे 'हो
 ह' इति हस्य लोपे तस्य पदान्तात्वात् अरथेन ह्ये कृते 'सहे' साह स' इति
 साहृत्प्रत्ययस्य सकारस्य पञ्च हस्य च 'वापसाने' ह्यपनेन वा चार्थे 'तुरायाह्' इति ।
 गणान्तात्पक्षे तुरायाह् इति रूपम् । तुरासाहो । अपदान्तत्वान्न मूर्धन्य इति
 भावः । मुनेति । 'मुदिष् + सु' ह्यप्र 'दिघ औत्' इति वकारस्योत्पत्ते 'इको
 यणचि' इति यणि सस्य दृष्ये हस्य विसर्गात्पक्षे च कृते 'मुर्धा' इति रूपम् । भ्यामा-
 षी हलि विशेषात्—दिघ उम् । अन्तादेश्च इति । अन्तोऽन्तव्यस्य उम् । पदान्ते इति ।
 पदान्तादेश्चनुकृत सप्तम्या विपरिणाम्यत इति भावः । उतस्तपरस्य तु भाव्यमान
 उकार् सपञ्चम्याह्' इति ज्ञापनार्थमिति भावः । सुधुभ्यामिति । 'मुदिष् + भ्याम्'
 अत्र 'दिघ उम्' इति पकारश्चोमज्ञायां लोपे च 'इको यणचि' इति यणि 'मुधुभ्याम्'
 इति रूपम् । चत्वारः । 'चतुर + जम्' अत्र 'मुहनपुमकस्य' इति सर्वनामस्थान-
 पञ्चायां 'चतुरानुहोराणुदाच' इत्यादि मध्येऽज्ञायां लोपे च मित्वाद्यभ्याद्यश्च
 परे 'इको यणचि' इति यणि 'चात्वार + जम्' इति ज्ञाते अत्र 'चुट्' इतीत्य-
 ज्ञायां 'तस्य लोप' इति लोपे सस्य दृष्ये रेफस्य विसर्गात्पक्षे च 'चत्वार' इति

अनृदृहः, सस्युद्विके पर । वसुसं—सान्त्विको बस्वन् और समादि (सह्-स्वत्-भाजुद्)
 सान्ते दृष्ट्वादि. हो, पदान्ते । सहे—साह् रूप (वनज्ञाने पर) सहेके सकारके
 लोपने मूर्ध्नादेश्च साह् आदेश्च हो । दिघ—'दिघ' प्रातिपदिकको 'औत्' आदेश्च हो, 'ह'
 के पर 'दिघ उम्—'दिघ' प्रातिपदिकको उकारान्त आदेश्च हो, पदान्ते ।

चत्वारः । चतुरः । चतुर्भिः । चतुर्भ्यः २ ॥ षट्चतुर्भ्यश्च । ७।१।५। एभ्य आमा
 जुहागमः स्यात् ॥ रषाभ्यां नो णः समानपदे । ८।४।१। चतुर्णाम् ॥ रोः
 सुपि । ८।३।१६। रोरेव विसर्जनीयः सुपि, नान्वरेफस्य । चतुर्षु ॥ मो नो धान्तः
 । ८।२।६। पदान्ते । प्रशान् । प्रशामौ ॥ किमः कः । ७।२।१०३। विभक्तौ ।
 कः । कौ । के । इत्यादि ॥ इदमो मः । ७।२।१०८। इदमो मस्य मः स्यात्
 सौ परे । त्यदाद्यत्वापवादः ॥ इदोऽय् पुंसि । ७।२।१११। इदम इदोऽय् सौ
 पुंसि । अयम् । त्यदाद्यत्वे ॥ अतो गुणे । ६।१।९। अपदान्तादतो गुणे

रूपम् । चतुरः । शसादीं सर्वनामस्थानत्वाभावात्प्रत्ययान्तात् । रषाभ्यामिति । समानपदे
 रकारपकाराभ्यां परस्य नकारस्य णत्वं स्यादिति सूत्रार्थः, तेन चतुर्णामित्यादिषु
 णत्वम् । चतुर्णामिति । 'चतुर् + आम्' इत्यत्र 'षट्चतुर्भ्यश्च' इत्यामो जुहागमे
 टित्वादाद्यावयवे उटि गते 'चतुर् न् आम्' इति जाते 'रषाभ्यां नो णः समानपदे'
 इति णत्वे 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति गस्य च द्वित्वे विहिते 'चतुर्णाम्' इति रूपम् ।
 चतुर्षु । 'चतुर् + सुप्' इत्यत्र 'खरवसानयोः' इति रस्य विसर्गत्वे प्राप्ते 'रोः
 सुपि' इति निषेधे 'चतुर् + सुप्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य षत्वे
 'अचो रहाभ्यां द्वे' इति परस्य द्वित्वे प्राप्ते 'शरोऽचि' इति पस्य द्वित्वाभावे पस्ये-
 त्संज्ञायां लोपे च 'चतुर्षु' इति रूपम् । प्रशान् । 'प्रशाम् + सु' इत्यत्र सोऽकारलोपे
 'हल्ङ्याव्यम्' इत्यादिना सलोपे 'सुसिद्धन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायां 'मो नो धा-
 तोः' इति मस्य नत्वे कृते 'प्रशान्' इति रूपम् । कः । 'किम् + जु' इत्यत्र 'किमः कः'
 इति किमः कादेशे सोऽकारे गते सस्य षत्वे रेफस्य विसर्गं च 'कः' इति रूपम् ।
 इदम् । 'इदम् + स्' इति स्थिते 'त्यदादीनामः' इत्यकारे प्राप्ते त्वाधिसत्वा 'इदमो
 मः' इत्यपवादभूते मकारे कृते 'इदोऽय् पुंसि' इतीदम इवसागस्य अपादेशे कृते
 यकारस्याऽकारेण सह संयोगे सस्य 'हल्ङ्याव्यम्' इति लोपे 'अयम्' इति रूपम् ।
 अतो । 'इदम् + औ' इति स्थिते अत्र 'त्यदादीनामः' इति मस्य षत्वे 'इद अ औ'

षट्—'षट्' सङ्क और 'चतुर्' शब्द से पर 'आम्' को जुट् हो । रषा—रेफ 'और' पकारसे
 परे नकारको णत्व (णकार) हो, समान पद में । रोः सुपि—सप्तमी बहुवचन 'सुप्'
 विभक्तिके परे 'रु' सम्बन्धी रेफके स्थानमें ही विसर्ग हो-अन्य रेफको नहीं । चतुर्षु—'शरोऽ-
 चि' इस सूत्रसे यहाँ द्वित्वाका निषेध होता है । मो नी-मान्त धातुके मकारको नकार आदेश
 हो पदान्त में । किमः—'किम्' के स्थानमें 'क' आदेश हो, विभक्तिके परे । इदमो—
 'इदम्' शब्द सम्बन्धी मकारके स्थानमें, मकार ही आदेश हो, 'सु' के परे । इदोऽय्—
 'इदम्' सम्बन्धी 'इद' के स्थानमें 'अय्' आदेश हो, 'सु' के परे पुंसि लक्ष में । अतो—
 अपदान्त 'अत्' (ह्रस्व लकार) से परे गुण (अ-ए-ओ) के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप

पररूपमेवादेशः स्यात् ॥ इक्ष ॥ ७२ ॥ १०९ ॥ इदमो दस्य म' स्याद्विमफो । इमो । इमे । तदादे सम्बोधन नास्तीत्युत्सर्गः ॥ अनाप्यकः ॥ ७२ ॥ ११२ ॥ अककारस्य इदम इदोऽन्, अपि विमफो । आर्षिति प्रत्याहारः । अनेन ॥ दृष्टि लोपः ॥ ७२ ॥ ११३ ॥ अककारस्य इदम इदो लोप अपि ह्रस्वो । नानर्थकेऽक्तोऽप्यधिचिरनम्यासविकारे ॥ आद्यन्तघदेकस्मिन् ॥ १११ ॥ १२१ ॥ एकस्मिन् क्रियमाण कार्यमादाविकान्त इव स्यात् । 'मुपि चे'ति दीर्घः । आभ्याम् ॥ नेद-

इति आते 'अतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'इद + धी' इति मूले 'दक्ष' इत्यनेन दकारस्य मकारो विहिते वृद्धौ कृतापाम् 'इमो' इति रूप सिद्धम् । इमे । 'इक्ष्म् + जस्' इत्यत्र 'त्यदादीनाम' इत्यकारान्तादेशो 'इद + अ + जस्' इति रिच्यते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'जस. री' इति दीर्घे चास्योसञ्जायां लोपे च 'आद् गुण' इति गुणे 'दक्ष' इति दकारस्य मकारे 'इमे' इति रूपम् । तदादे सम्बोधन नास्तीति । प्रभु रप्रयोगावर्धनादिति भावः । अनेन । इक्ष्म् + धा' इत्यत्र 'त्यदादीनाम' इत्यकारान्तादेशो 'अतो गुणे' इति पररूपे 'इद + धा' इति आते 'अनाप्यक' इति इदोऽन्तादेशो वृत्ते 'अन् + धा' इति मूले 'यदसिद्धसामिनारस्या' इति इमादेशो 'आद् गुणः' इति गुणे 'अनेन' इति रूपम् । नानर्थक इति । परिभाषेममुपघासञ्जासृथे भाष्ये रिचिता । इदक्ष् चाप्ये इद् इत्यस्यानर्थकत्वात् । तदन्तस्येति न कम्प्यते । ततश्च इद् इत्यस्य कृत्स्नस्यैव लोप इति भावः । आद्यन्तघदिति । 'सत्यम्यस्मिन् पस्य पूर्वो नास्ति स आदि', 'सत्यम्यस्मिन् परस्य परो नास्ति सोऽन्त' इति लोके प्रसिद्धः । तदुपघमेकस्मिन्सहाये न सम्भवतीति तत्राद्यन्तस्यपदिष्टानि कार्याणि न स्युरतोऽप्यमनिवेश आरभ्यते । आदाविकान्त इव स्यादिति । तदादितदन्तयो क्रियमाण कार्यं तदाहो तदन्त इव च असहायेऽपि स्यादित्यर्थः । आभ्यामिति । 'इक्ष्म् +

पकारेण हो । इक्ष्—'इक्ष्' इत्यस्य सम्बन्धी दकारके स्थानमें मकार आदेश हो (मुमित्र) विभक्ति के परे । अनाप्य—दकाररहित जो 'इक्ष्' इत्यस्य सम्बन्धी 'इ' वृत्तको 'अन्' आदेश हो, अप् (दृषीवादि) विभक्ति के परे । दृष्टि—दकाररहित 'इक्ष्' इत्यस्य सम्बन्धी 'इ' का लोप हो, इक्षादि एतौपरि विभक्ति के परे । नानर्थके—अभ्यासविकारको छोड़कर अनर्थके 'अक्तोऽप्य' परिभाषाको प्रकृति नहीं हो । आद्यन्त—एकस्मिन् अर्थात् अक्षरादमें क्रियमाण जो कार्य वह आदि तथा अन्त को तरह हो ।

नोट—तदादि और तदन्तको क्रियमाण जो कार्य वह तदादि और तदन्तको तरह अक्षराद (एक) को भी हो (यथा—'दिवदत्स्यैक एव पुत्र', स एव ज्येष्ठ स एव क्षत्रिणः, स एव मध्यम ।)

नेद—दकाररहित 'इक्ष्' और 'अक्ष्' इत्यस्य सम्बन्धी 'मित्' को 'दित्' नहीं हो ।

मदसोरकोः । ७ । १ । ११ । अकारयोरिदमदसोर्भिस ऐस् न स्यात् । एमिभ्यु
अस्मै । एभ्यः २ । अस्मात् । अस्य । अनयोः । एषाम् । अस्मिन् । एषु ।

भ्याम्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'हलि लोपः' इति ह्रस्वभागात् लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्त्यस्य' इत्यनेनान्त्यस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोऽन्त्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोऽन्त्यविभ्यभावे ह्रस्वागस्यैव लोपे 'अ + भ्याम्' इत्यवशिष्टे अत्र 'सुपि च' इति दीर्घवे प्राप्ते परमत्र विद्यमानस्याकारस्यादन्तत्वं वर्तते न वेति शब्दायाम् 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तत्वं मत्वा दीर्घं कृते 'आभ्याम्' इति । एभिः । 'इदम् + भिस' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'हलि लोपः' इति ह्रस्वभागात् लोपे 'अतो भिस ऐस्' इत्यस्वे प्राप्ते 'नेदमदसोरकोः' इत्यनेन निषिध्य 'बहुवचने ऋत्येत्' इति एत्वे सस्य ऋवे रस्य विसर्गे च 'एभिः' इति रूपम् । अनयोः । 'इदम् + ओस्' इत्यत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अनाप्यकः' इति ह्रस्वभागात् आनादेशे कृते 'अन + ओस्' इति जाते 'ओसि च' इति अनष्टकनकारोत्तरवर्तिनः अकारस्यैकारे 'एचोऽयवायाव' इति अयादेशे ऋत्वे टिङ्गोपमिलित्वा 'अनयोः' इति रूपम् । एषाम् । 'इदम् + आम्' अत्र 'त्यदादीनामः' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'आसि सर्वनाम्नः सुट्' इति सुटागमे टित्वादाद्यावचये उटि गते 'इद + साम्' इति जाते 'हलि लोपः' इति ह्रस्वभागात् लोपे 'आसाम्' इति जाते 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन् अकारे अदन्तत्वमानीय 'बहुवचने ऋत्येत्' इति एत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति एत्वे 'एषाम्' इति

इदम् शब्द पुंलिङ्गम्—अयम्, इमौ, इमे । इमम्, इमौ, इमान् । अनेन, आभ्याम्, एभिः । अस्मै, आभ्याम्, एभ्यः । अस्मात्, आभ्याम्, एभ्यः । अस्य, अनयोः, एषाम् । अस्मिन्, अनयोः, एषु । नपुंसकम्—इदम्, इमे, इमानि पुनस्तद्वत् (शेषं पुंवत् ।)

स्त्रीलिङ्गम्—इयम्, इमे, इमाः । इमाम्, इमे, इमाः । अनया, आभ्याम्, आभिः । अस्यै, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, आभ्याम्, आभ्यः । अस्याः, अनयोः, आसाम् । अस्याम्, अनयोः, आसु ।

नोट :- 'इदम्' शब्द पाठमें स्थित किसी मनुष्य या वस्तुके लिये तथा 'एतत्' शब्द अत्यन्त समीपवर्ती मनुष्य या वस्तुके लिये प्रयुक्त होता है । इसी प्रकार दूरस्थित प्रत्यक्षके लिये 'अदस्' शब्द और अप्रत्यक्षके लिये 'तत्' शब्दका प्रयोग होता है । कदा भी है—

'इदमस्तु सन्निकृष्टे समीपतरवर्ति चैतदो रूपम् ।

अदस्तु विप्रकृष्टे तदिति परोक्षे विजालीभावः ॥'

छिमीयाटोस्त्वैर्म. ।रा।।३।। द्वितीयायां दीर्घोश्च परत इदमेतदोरेनादेश. स्या-
 रग्नादेशे । द्विकारार्थे विधातुमुपास्य चार्थान्तर विधातु पुनरुपादानम्—
 अन्वादेशः । यथा—'अनेन व्याकरणमधीतम् , एन छन्दोऽध्यापये'ति । 'अनयो
 परित्र कुष्ठम् , एनयो प्रमूत स्वमि'ति । एनम् । एनौ । एनान् । एनेन । एन
 योः २ ॥ राजा । न हिसाम्बुद्धयोः ।।२।।१।। नस्य लोपो न स्यात् षी
 चम्बुद्धौ च । हे राजन् । ङायुत्तरपदे प्रतिषेधः । षी तुच्छन्दस्सुदाहरणम् । परमे
 ष्योमन् पूर्वा मृतानि । म्रह्मनिष्ठ । राजानौ । राजान । राजानम् । राजानौ ।

रूपम् । राजा । 'राजन् + सु' ह्रास्वप्र सोदकारस्योत्सञ्जायां लोपे च कृते 'मुठनपुस-
 क्त्वा' इति सर्वनामरथानसञ्जायाम् 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ' इति नान्तस्योप
 चाया दीर्घार्थे 'हल्ह्रस्वाभ्यो दीर्घास्तुतिस्त्वृक हल्' इति स्रलोपे 'नलोप प्राति-
 पदिकान्तस्य' इति नलोपे 'राजा' इति रूपम् । हे राजन् । हे राजन् + सु' ह्रास्वप्र सोद
 कारस्योत्सञ्जाया लोपे च स सर्वनामरथानसञ्जायाद् दीर्घे चास्ते 'असम्बुद्धौ' इ
 'युक्तवान्न भवति । तदनन्तरम् 'हल्ह्रस्वाभ्य' इति स्रलोपे 'नलोप प्रातिपदि
 काभ्यस्य' इति नलोपे प्राप्ते परमत्र 'न हिसम्बुद्धयो' इति निषेधे, 'हे राजन्'
 इति रूपम् । ङायुत्तरपदे इति । उत्तरपदे परतो य ङि. तस्मिन् परे 'न हिसम्बु-
 द्धयो' इति निषेधस्य प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । एव च चर्मतिष्ठ ह्रास्वप्र उत्तर-
 पदे परत 'न हिसम्बुद्धयोः' इति प्रतिषेधाभावात् नकारस्य लोपो निर्वाध इति
 भावः । म्रह्मनिष्ठ । म्रह्मिणि निष्ठा यस्य स 'म्रह्मनिष्ठ' इति । म्रह्मनिष्ठ ह्रास्वप्र अन्न
 र्थतिनी विभक्तिमाश्रित्य म्रह्मन् वाद्वात् षी परत्वेन 'न हिसम्बुद्धयो' इत्यनेन नका

द्विती—'द्वितीया' विभक्तिके परे तथा 'य' और 'ओस्' विभक्तिके परे इदन्,
 दाशको 'एन्' आदेश हो, अन्वादेशमे ।

किञ्चित्—द्विती कार्यके विधानके निचे जिसका उपादान किया गया हो, उसीका
 कारान्तर विधानके निचे पुन उपादान करना 'अन्वादेश' कहा जाता है । यथा—

(१) अनेन व्याकरणमधीतम् , (२) एन छन्दोऽध्यापये । अर्थात् हमने व्याकरण पढ़
 लिया, उसे वेद पढ़ाये । यहाँ पहले व्याकरणअध्यापन रूप कार्यका विधान किया गया था
 और पुन उसीके विषयमें वेद पढ़ाना रूप अन्य कार्यका उपादान किया जा रहा है अत्र
 दूसरे वाक्यमें 'अन्वादेश' है । इसलिये यहाँ 'एनम्' का प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार (१) 'अनयो परित्र कुष्ठम्' (२) एनयो प्रमूत स्मम्' यहाँ पहले वाक्यमें
 कुष्ठकी परित्रका विधान करनेके हेतु म्रह्म किये हुए का दूसरे वाक्यमें वनका अधिकतया
 विधानके निचे फिर उपादान होनेके कारण 'अन्वादेश' ही जानैये 'एन्' आदेश हुआ ।

न कि—नकारका और नहीं ही 'उ' और सम्बुद्धिके परे । ङायु—उत्तरपदपरक 'ठि'के

जजोर्ज्ञः । अल्लोपोऽनः । जुवं । राज्ञः ॥ नलोपः सुप्स्वरसंज्ञातुग्विधिपु
 कृति । ८।१।२। तुग्विधौ, स्वरविधौ, संज्ञाविधौ, कृति—तुग्विधौ च नलोपोऽपिद्वो,
 नान्यत्र—‘राजाश्च’ इत्यादौ । इत्यधिद्वत्वादात्वमेत्वमैस्त्वं च न । राजभ्याम् ।
 राजभिः । राजभ्यः । राज्ञि, राजनि ॥ यज्वा । यज्वानौ । यज्वानः ॥
 न संयोगाद्दमन्तात् । ६।४।१३। वमन्तसयोगादनोऽकारस्य लोपो न । यज्वनः ।
 यज्वना । यज्वभ्याम् । व्रक्षणः । व्रक्षणा ॥ इन्द्रहन्पूषार्यम्णां शौ । ६।४।१२

रस्य लोपप्राप्तौ ‘हाद्युत्तरपदे प्रतिषेधो वक्ष्यः’ इति वार्तिकेन ब्रह्मन् इति द्विपर-
 कत्वात् उत्तरपदसत्त्वेन लोपप्रतिषेधान्न भवतीति ब्रह्मनिष्ठ इति साधु एवेति ।
 राज्ञः । ‘राजन्+शस्’ इति स्थिते शस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते ‘यच्चि भम्’
 इति भसञ्ज्ञायां ‘अल्लोपोऽनः’ इति अनोऽकारस्य लोपे ‘स्तोःश्चुनाश्चुः’ इति
 नस्य जन्वे ‘जजोर्ज्ञः’ इति ज्स्वरूपसंयुक्ते ‘राज्ञः’ इति रूपम् । नलोपः इति । नस्य
 लोपो नलोपः । विधिश्चदो भावसाधनः । विधानं विधिः । सुप् च स्वरश्च सञ्ज्ञा
 च तुक् च तेषां विधय इति सम्बन्धसामान्यपण्य समासः । कृतीति तु तुक्त्वं
 सम्बध्यते, अन्यत्रासम्भवात् । तदाह—सुश्रिवावित्यादिना । राजाश्च इत्यादाविति ।
 अत्र सवर्णदीर्घयणादिविधानां सुग्विध्याधनन्तर्भावात् तेषु कर्तव्येषु नलोपस्यासिद्ध-
 त्वाभावे सति नकारलोपस्य सत्त्वात् सवर्णदीर्घादिक निर्वाधमिति भावः । यज्वा ।
 ‘यज्वन्+सु’ अत्र सुरुकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च कृते ‘सुठनपुंसकस्य’ इति सर्व-
 नामस्थानसंज्ञायां ‘सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धौ’ इति नान्तस्योपधाया दीर्घत्वे
 ‘हल्ङ्याभ्यो’ इति सलोपे ‘नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य’ इति नलोपे ‘यज्वा’ इति
 रूपम् । यज्वनः । ‘यज्वन्+शस्’ इत्यत्र शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च ‘यच्चि भम्’
 इति भसञ्ज्ञायाम् ‘अल्लोपोऽनः’ इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते ‘न संयोगाद्दमन्तात्’
 इति निषिद्धे सकारस्य रुत्वे विसर्गे च कृते ‘यज्वनः’ इति रूपम् । व्रक्षणः । ‘व्र-
 क्षन्+शस्’ इत्यत्र शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च ‘यच्चि भम्’ इति भसञ्ज्ञायाम्
 ‘अल्लोपोऽनः’ इत्यनोऽकारस्य लोपे प्राप्ते ‘न संयोगाद्दमन्तात्’ इति नान्तसंयोग-
 त्वाद् अल्लोपनिषेधे सति ‘अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि’ इति णत्वे सस्य रुत्वे तस्य

परे नलोपका प्रतिषेध हो । अर्थात् ‘न ‘द्विसम्बुद्धयोः’ यह निषेध नहीं लगे । न लोप—
 सुग्विधि, स्वरविधि, संज्ञाविधि और कृतप्रत्ययके परे तुग्विधि कर्त्तव्यमें नलोप हो -
 अन्यत्र (राजाश्च इत्यादि स्थलमें) नहीं । न संयो—वकारान्त और मकारान्त संयोगसे
 परे ‘अन्’ के धकारका लोप नहीं हो । इन्द्रहन्—इन्, हन्, पूषन् और अर्यमन् की
 उपधाको दीर्घ हो ‘शि’ के परे ही, अन्यत्र (‘दण्डिनौ—शृण्वणौ’ इत्यादि स्थलमें) नहीं ।

एषा शिवोपधाया दीर्घः ॥ सौ च । ६।४।१३। इन्नादीनामुपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ
 शौ । वृत्रहा । हे वृत्रहन् ॥ एकाजुत्तरपदे ण । ६।४।१२। एकाजुत्तरपदं
 नस्य तस्मिन्प्रमासे पूर्वपदस्याग्निमित्तात्परस्य प्रातिपदिकान्त-नुम्-विभक्तिस्यस्य
 नस्य णत्वं स्यात् । वृत्रहणौ । वृत्रहणः ॥ हो हन्तेऽग्निग्नेषु । ७।३।५४। मिति,
 णिनि प्रत्यये, ने च पर हन्तेर्हस्य कृत्व स्यात् ॥ हन्तेः । ६।४।२२। उपसर्गस्या
 निमित्ताहन्तेर्नस्य ण । प्रहृष्यात् ॥ अत्पूर्वस्य । ६।४।२२। हन्तेरत्पूर्वस्यैव नस्य
 णो नाभस्य । प्रजन्ति । योगविभागसामर्थ्यादनन्तरस्य विधिर्वा भवति, प्रतिषेधो

विभर्गो च 'महान्' इति रूपम् । वृत्रहा । वृत्रो नाम असुर त हतवानित्यर्थे 'महान्-
 भगवृत्रेषु क्विप्' इति क्विप् । क्वावितौ । अष्टकलोप । उपपदसमास । इति निष्पन्नो
 वृत्रहन्शब्दः । तस्मात्सायागते सौरुकारस्येतज्ज्ञायाम् लोपे च 'वृत्रहन्+सु'
 इति स्थिते 'दृक्ङ्याभ्य' इति सलोपे 'हन्दन्पूर्वार्ण्णां शौ' इति निष्पन्नादुप-
 धाया दीर्घावाभावे प्राप्ते 'सौ च' इत्युपधाया दीर्घत्वे नलोप प्रातिपदिका
 न्तस्य' इति नलोपे 'वृत्रहा' इति रूपम् । एकाजुत्तरपदे ण इति । समासस्य
 चरमावयवे रुदेन उत्तरपदशब्देन समास इति उच्यते । एक अथ अस्मिन् सत्
 एकाच् । तद् उत्तरपद सस्य स एकाजुत्तरपद । तस्मिन् समासे इति बहुमीहि ।
 'रथाम्यां नो ण' इत्यनुवर्तते । 'पूर्वपदात्सञ्ज्ञायाम्' इत्यत पूर्वपदादित्यनुवर्तते ।
 'प्रातिपदिकान्तनुम्बिमक्त्वु च' इत्यनुवर्तते । तदाह—एकाजुत्तरपदमित्यादिना ।
 हन्तेरिति । 'हन्तेरत्पूर्वस्येति सूत्रेन योगविभागेन व्याचष्टे—'रथाम्यां नो ण
 समासपदे' इत्यतो रथाम्यां नो ण, इत्यनुवर्तते । 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदे-
 शस्य' इत्यत उपसर्गादिसनुवर्तते । तास्स्यात्ताच्छब्द, तेनोपसर्गस्यादिति
 उच्यते । तच्च रूपयो प्रत्येकमन्येति । निमित्तनाम्नेन रेकपकारो विधत्तौ ।
 प्रजन्तीति । हन्तेर्लटि शौ 'क्षोऽन्त' इत्यन्तादेनो, चापि, लुकि, 'गमहन्' इत्युपधा-
 लोपे 'हो हन्ते' इति कृत्वे रूपसिद्धिः । अप्रोपसर्गस्यरेकात् परत्वात् 'हन्ते' इत्य-
 नेन प्राप्त णत्वम् । 'अत्पूर्वस्य' इति निष्पन्न भवति । 'वृत्रहन्' इत्यत्र 'प्रातिपदि-
 कान्त' इति प्राप्त णत्वं निवर्तते । योगविभागसामर्थ्यादिति । ननु 'प्रातिपदिकान्त-

सौ च—इन्द्रिक वरपाको दीर्घ हो, असुबुद्धि 'सु' के परे ।

एकाजु—एक 'अच्' ई उत्तरपदमें विभक्त समासके, देसा जो समास, वत्त समासमें पूर्व
 पदस्य निमित्त (रेफ-वकार) से परे जो प्रातिपदिकान्त नकार, जुम्परक नकार और
 विभक्तिस्य नकार उत्तको णकार हो । हो हन्ते—मिथ-मिथ प्रत्ययके परे और नकारके परे
 'हन्' वादुके इकारको कृत्व हो । हन्ते—उपसर्गस्य निमित्तसे परे 'हन्' वादुके नकारको
 नकार हो । अत्-अत् पूर्व 'हन्' वादुके नकारको हो नकार हो-अन्त्यको नहीं ।

वेति न्यायं बाधित्वा 'कुमति चे'ति णोऽपि निवर्त्यते । वृत्रघ्नः इत्यादि ॥ एवं शार्ङ्गिन् । यशस्विन् । अर्यमन् । पुषन् ॥ मघवा बहुलम् । ६।४।१२८। 'मघवन्' शब्दस्य वा 'वृ' इत्यन्तादेशः । ऋ इत् ॥ उगिद्वां सर्वनामस्थानेऽघातोः । ७।१।७०। अघातोरुगितो नलोपिनोऽश्चतेश्च नुम् स्यात्सर्वनामस्थाने । मघवान् । इह उपधादीर्घे कर्तव्ये संयोगान्तलोपस्याऽषिद्धत्वं न भवति, बहुल-प्रहणात् । मघवन्तो । मघवन्तः । मघवन्तम् । मघवन्तो । मघवतः । मघवता । मघवद्भ्याम् । तृत्वामावे सुटि-राजवत् ॥ श्वयुवमघोनामतद्धिते । ६।४।१३३।

नुम्-विभक्तिषु च', 'एकादशत्तरपदे णः', 'कुमति च', हन्तेरपूर्वस्येति पाठक्रमः । ततश्च 'अनन्तरस्य विधिरा भवति प्रतिषेधो वे'ति न्यायेन 'अत्पूर्वस्य' इति नियमेन प्रघ्नन्तीत्यत्र हन्तेरित्यव्यवहितणत्वमेव निवर्तत । न श्वन्यद्वित्याह - योगेति । यदि अत्पूर्वस्य इत्यनेन 'हन्तेः' इति णत्वमेव ग्यावर्तत, तर्हि हन्तेरपूर्वस्येति एकमेव सूत्रं स्यात् । उपसर्गस्याधिभित्तापरस्य हन्तेरपूर्वस्य नस्य णत्वमित्येतावतैव प्रघ्नन्तीत्यत्र णत्वनिवृत्तिसंभवात् । अतो योगविभागसामर्थ्यात् णत्वमात्रस्यायं नियम इति विज्ञायते । वृत्रघ्नः । 'वृत्रहन् + शस' अत्र शस्येःसंज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'अलोपोऽनः' इत्यनोऽकारस्य लोपे 'वृत्रहन् अस' इति स्थिते 'हो हन्ते-र्णिग्नेषु' इत्यनेन नकारे परे हकारस्य कुरवेन घकारे सस्य रुवे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते मिलित्वा 'वृत्रघ्नः' इति रूपम् । मघवान् । 'मघवन् + सु' इत्यत्र 'मघवा बहु-लम्' इति वृ इत्यन्तादेशे कृते 'मघववृ + सु' इति जाते ऋकारस्येत्संज्ञात्वे लोपे च विहिते 'मघववृ + सु' इति जाते 'उगिद्वां सर्वनामस्थानेऽघातोः' इति नुमि भित्वा-

मघवा—'मघवन्' शब्दको 'वृ'अन्तादेश हो विकल्पसे । उगि—घातुभिन्न जो 'उगित' और नलोपो जो 'अञ्च' घातु चसको नुम्का आगम हो, सर्वनामस्थानके परे । श्वयुव—अत्रन्त-भसंज्ञक 'श्वन्-युवन्-मघवन्' रूप अङ्गको संपसारण हो, तद्धितभिन्न प्रत्ययके परे ।

तृत्वादेशपद्ये—

तृत्वाभावपद्ये—

मघवान् ,	मघवन्तो,	मघवन्तः ।	मघवा,	मघवानो,	मघवानः
मघवन्तम् ,	"	मघवतः ।	मघवानम्	"	मघोनः ।
मघवता,	मघवद्भ्याम् ,	मघवद्भिः ।	मघोना,	मघवन्भ्याम् ,	मघवभिः ।
मघवते,	"	मघवद्भ्यः ।	मघोने,	"	मघवभ्यः ।
मघवतः,	"	"	मघोनि,	"	"
"	मघवतोः,	मघवताम् ।	"	मघोनोः,	मघोनान् ।
मघवति,	"	मघवसु ।	मघोनि,	"	मघवसु ।
हे मघवन् ,	हे मघवन्तो,	हे मघवन्तः ।	हे मघवा	हे मघवानो	हे मघवानः ।

अज्ञानानां मानामेषामनद्विते परे सम्प्रसारणस्यात् । मघोन । मघवन्-वामित्यादि ॥ एवं च वन् । युवन् । न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम् । ६।१।३७। सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यण सम्प्रसारणं न स्यात् ।—इति अकारस्य न सम्प्रसारणम् । यून । युवन्-वामित्यादि ॥ अर्वा । हे अर्धन् । । अर्धणान्नसायनञ् । ६।१।२७। नमा रहितस्योर्ध्वनिरयस्य 'तु' इत्यन्तादेशो न तु ली । अर्धन्ती । अर्धन्त । अयत । अर्धन्प्राम् । पथिमथ्यभुक्षामात् । ७।१।८५। एवामकारोऽन्तादेशः स्यात् ली परे ॥ इतोऽत् सर्वनामस्थाने । ७।१।८६। पथादेरिकारस्याकारस्यात्सर्वनामस्थाने ॥ धो न्य । ७।१।८७। पथिमयोश्चस्य न्यादेशः सर्वनामस्थाने । पन्था । हे पन्था । पन्थानो । पन्थान ॥ भस्य टेलोपः ।

इत्यादिषु परे भूते कश्चि गते 'मघवन्त्सु' इति स्थिते सौरकारस्येऽज्ञायां लोपे च 'ह्रस्ववाच्यो' इति मूलोपे सकारस्य 'सयोगान्तरस्य लोप' इति लोपे 'मघवा बहुलम्' इति बहुलप्रहणात्मयोगान्तरस्य लोपस्याविद्यावाभावेन 'सर्वनामस्थाने चासगुदी' इति नाग्नस्योपपाया दीर्घाये च कृते 'मघवान्' इति रूपम् । मघोन । 'मघवन् + अत् अत्र 'पथि मम्' इति भस्यज्ञायाम् 'अयुवमघोनामनद्विते' इति सम्प्रसारणे यणो—वकारस्य, इङ्—उकार जाते 'मघ ट अन् अत्' इति स्थिते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयो स्थाने पूर्वरूपैकादेशे 'थाद्गुणः' इति गुणे सस्य स्ये तस्य विमर्गाये च 'मघोन' इति रूपम् । टायाम्—मघोना इति । न सम्प्रसारण र्त्न । सम्प्रसारणे परतः पूर्वस्य यण सम्प्रसारणं न भवतीति सूत्रार्थं । इयमेव ज्ञापयति युवन् इत्यादिनाम्ने पूर्वस्य यण प्रथममनन्तर वा सम्प्रसारणं न भवतीति । यून । युवन् + नम् अत्र सकारस्येऽज्ञायां लोपे च 'पथि मम्' इति भस्यज्ञायाम् 'अयुवमघोनाम्' इति सकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपैकादेशे 'यु + उन्' अत् इति जाते पकारस्यापि 'श्वयुवमघोनाम्' इति सम्प्रसारणे प्राप्ते 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति निदेशे सवर्गदीर्घे च कृते श्वविमर्गयोश्च सतो 'यून' इति रूपम् । एष यूना इत्यादावपि बोध्यम् । अर्वा । 'अर्धन् + सु' अत्र सौरकारे गते 'ह्रस्ववाच्यो दीर्घानुतिथ्यगृह्य ह्रस्व' इति सलोपे 'सर्वनामस्थाने चासगुदी' इति नाग्नोपपाया दीर्घाये 'नलोपः प्रातिपदिकान्तेस्य' इति नलोपे 'अर्वा' इति रूपम् । पन्थ । 'पथिन् + सु' इत्यत्र 'पथिमथ्यभुक्षामात्' इत्याकारान्तादेशे विहिते

न म्—सम्प्रसारणके परे पूर्व 'यण' को सम्प्रसारणं नर्ही हो । अर्धन्—नम् रहित 'अर्धन्' उभयको 'तु' च आदेश हो । 'लु' मित्र विभक्तिके पर । पथि—रथ्यादि (पथिन्-पथिन्-अटु-अन्) उभयोको आकारान्त आदेश हो, 'सु' के पर । 'इतोऽत्—रथ्यादिके एकमको अकार आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे । धो न्य—पथिन्-मथिन् श्रवणोके सकारको 'य' आदेश हो, सर्वनामस्थानके परे । भस्य—मघवत् पथादिके 'दि' का लोप

।।७।१।८। भस्य पद्यादेर्लोपः स्यात् । पयः । पयिभ्याम् । पयिभ्यः । एवं-
मन्याः । ऋभुक्षाः ॥ षणान्ताः पट् ।।१।१।२। पान्ता, नान्ता च संख्या पट्चंहा
स्यात् । पय २ । पञ्चभिः । पञ्चभ्यः २ । 'पट्चतुर्भ्यो' इति इट् । नोपधायाः
दि।।७।७। नान्तस्योपधाया दीर्घो, नामि । पञ्चानाम् । पञ्चसु । अष्टन आ विभक्तौ
।।७।२।८। 'अष्टन' शब्दस्याऽऽन्वं वा द्वादशौ । अष्टभ्य औशः ।।७।१।२। कृता-
ऽऽकारादष्टनो जश्नोत्तरीशु । 'अष्टभ्य' इति वक्तव्ये कृताऽऽन्वभिदेशो जश्नसोविषये
आत्वं ज्ञापयति । वैकृतेपञ्चनष्टमष्टन आत्वम्, 'अष्टनो दीर्घा'दिति ज्ञापकात् ।
अष्टौ २ । अष्टाभिः । अष्टाभ्यः २ । अष्टानाम् । अष्टासु । आत्वाभावे अष्ट ।
पञ्चवत् ॥ ऋत्विग्भृक्क्षग्दिगुष्णिगञ्चुयुजिकृञ्चौ च ।।३।२।५९। एभ्यः

'पयि वा सु' इति जाते 'इतोऽसर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्या-
कारादेशे विहिते 'पय् अ वा सु' इति जाते 'थो न्यः' इति थस्य न्यादेशे विहिते
'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च 'पन्याः' इति रूपम् ।
पयः । 'पयिन् + जस्' अत्र शकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'यचि भम्' इति भसञ्ज्ञा-
याम् 'अचोन्त्यादि टि' इति इन् इत्यस्य टिसञ्ज्ञायां 'भस्य टेलोपः' इत्यनेन टिस-
ञ्ज्ञकस्य इन् इत्यस्य लोपे सृष्टस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च 'पयः' इति रूपम् ।
पञ्च । 'पञ्चन् + जस्' अत्र 'षणान्ताः पट्' इति पञ्चनशब्दस्य पट्सञ्ज्ञायां विहितायां
'पट्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नस्य लोपे च
'पञ्च' इति रूपम् । एवमेव शसि पञ्च । पञ्चानाम् । 'पञ्चन् + आम्' इत्यत्र 'पट्चतु-
र्भ्यश्च' इति आसो नुटि टिष्वादाद्यावयवे जाते उटि गते 'पञ्चन् न् आम्' इति जाते
नस्याकारेण सह संयोगे 'नोपधायाः' इति नान्तोपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदि-
कान्तस्य' इति नस्य लोपे च 'पञ्चानाम्' इति रूपम् । अष्टभ्य इति वक्तव्ये इति ।
भ्यसि अष्टभ्यः, अष्टाभ्यः इति रूपद्वये सत्यपि औश्विर्घौ लाघवाद् अष्टभ्य
इत्येव निर्द्देश उचितः, आकारनिर्देशात् ऊरशसोरचि परतोऽप्यारवं विज्ञायत
इत्यर्थः । अष्टौ । 'अष्टन् + जस्' इत्यत्र 'अष्टन आ विभक्तौ' इत्यनेनाका-
रान्तादेशे विहिते 'अष्ट आ जस्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घ-
त्वे 'अष्टाभ्य औश' इति जस औशि 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'अष्टौ इति ।

इ। । षणान्ता—पान्त-नान्त संख्यात्रयचक शब्द पट्-इक इ। नोप—नान्तकी उपधाको
दीर्घ इ।, 'नाम्' के परे । अष्टन—अष्टन् शब्दको आत्व इ।, हलादि विभक्तिके
परे, विकल्पते । आष्ठा—कृताकारक 'अष्टन्' शब्दके परे 'तत्-शब्द' को 'औश' आदेश इ।
ऋत्विग—'अष्ट' शब्दके पूर्वके 'अष्ट-पञ्च' शब्दको 'अष्ट-पञ्च' शब्दके 'दिशु-धातु' रूपके रित्त-

दिन् । अथे सुपुपपदे । युजिक्थो — केवल्यो कृत्वेर्नञोपामावथ निपात्यते ।
 क्नावितो । कृत्तिङ् । ३।१।१३। अत्र घात्वधिकारे तिङ्मित्तः प्रथय कृत्सङ्गः
 स्यात् ॥ घेरपृक्तस्य । ६।१।६७। लोपः । क्तिन्प्रत्ययस्य कु. । ८।२।६२। क्तिन्-
 रययो मरमात्तस्य क्वर्गोऽन्तादेशः स्यात् पदान्ते । ऋत्विक्, ऋत्विग् । ऋत्विजो ।
 ऋत्विग्भ्याम् ॥ युजेरसमासे । ७।१।७१। युजे मर्कनामस्थाने जुम् । सुभोप ।
 संयोगान्तरस्य भोप । कृत्वेन नस्य च । युक् । युजो । युज् । युग्भ्याम् ३ । अथ-

ऋत्विक् । ऋतो उपपदे यजुधातो. 'ऋत्विग्पृक्तस्यग्निगुण्णित्वात्सुयुजिक्थो च' इति
 क्तिनि 'वचिस्वपिपञ्चाक्षीनाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वपरयो.
 स्थाने पूर्वस्यैवादेशे 'ऋत्विक्' इति जाते 'इको यणचि' इति यणि 'ऋत्विज्
 दिन्' अत्र 'लडाकवत्तदित्थे' इति फकारस्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'हलन्तधम्' इति
 न्तयोऽसञ्ज्ञायां लोपे च इकारस्वोच्चारणार्थत्वेन तस्मिन् गते वकारस्य 'अपृक्त
 पृक्त्वात् प्रथय' इति अपृक्तसञ्ज्ञायां 'वेरपृक्तस्य' इत्यपृक्तसञ्ज्ञाकरय वस्य लोपे
 'इत्विक्' इति क्तिन् कृत्सञ्ज्ञायां कृत्त्वात्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावगतौ
 सोऽकारे गते 'ऋत्विज् + स' इति स्थिते 'हलन्तधम्भ्यो' इति सलोपे 'क्तिन्प्रत्ययस्य
 कुः' इति क्वर्गान्तादेशे आगतरत्न्यात् वकारस्य गकारे जाते 'वायसाने' इति
 चर्जनं वा ककारे 'ऋत्विक्' इति । युक् 'युज् + सु' इत्यत्र सुपुपपदे प्राक् 'ऋत्वि-
 ग्पृक्त' इति क्तिनि, विधयो लोपे क्तिन् कृत्सञ्ज्ञायां कृत्त्वात्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां

वात्, अच्-वात्, युक् वात् और कुञ्-वात्भोते 'दिन्' प्रत्यय हो । अच्- 'अच्-
 वात्भोते एषन्त्य उपपद रहने पर ही 'दिन्' प्रत्यय होता है, 'युक् और कुञ्' वात्भोते
 केवल अर्थात् वररर्थात् होने पर ही 'दिन्' प्रत्यय होता है और 'कुञ्' वात्भोते 'दिन्'
 प्रत्यय-विधानके साथ २ सूत्रोक्त प्रकारसे 'मनिदिताम्' से प्राप्त नञोपायाव का भी निपातन
 होता है ।

नोट—'हञो विभेत् निपाति-प्रवर्तते' यत्तन्निपातनम्—भो कार्ये विना सूत्र
 नियमका होता है वह 'निपातन' कहा जाता है ।

कृत्विक्—रम (सर्द्धित) वात्तधिकारमें तिङ्-मित्त को प्रथय वह कृत्सङ्ग हो ।

नोट—'धातो' रम सूत्रके अधिकारमें वात्भोते परे प्रथयबोका विधान है । हममें 'तिङ्'
 प्रथयों को छोड़कर केव ही कृत्सङ्ग होती है । यह वह हुआ कि 'विभन्' प्रथय 'धातो'
 के अधिकारमें है । इसदिन इसकी कृत्त्वात्वात् और कृत्सङ्ग होने पर कृत्सङ्ग होनेसे प्राति
 पदिकसङ्ग होकर सु-वादि विभक्तिकी वृत्ति हुई ।

वेरपृ—वात्सङ्गक वकारका कोर हो । क्तिन्प्रत्यय—क्तिन् प्रत्यय विभक्ते विधान किया
 थाय वृत्तको क्वर्गान्तादेश हो, परान्तमें । युजेर—'युज्' को युज्का जागम हो, सर्व-

मासे किम् ? । शोः कुः । ८।२।३०। चवर्गस्य क्वर्गः स्याज्झलि, पदान्ते च ।
 सुयुक् सुयुग् । सुयुजौ । सुयुजः । सुयुजा । सुयुग्भ्याम् । खन । खञौ । खञः ।
 खन्भ्याम् ॥ व्रश्चभ्रस्जसृजसृजयजराजभ्राजच्छशां पः । ८।२।३६। प्रधादीनां
 सप्तानां, छशान्तयोश्च पः स्यात् झलि, पदान्ते च । जश्त्वचत्वे । राट्, राड् ।
 राजौ । राजः । राड्भ्याम् ॥ एदं—विघ्राट् । देवेट् । विश्वसृट् । परिमृट् ।
 (परौ व्रजेः पः पदान्ते) परावुपपदे व्रजेः क्तिप् दीर्घश्च, पदान्ते पत्वमपि ।
 परित्यज्य सर्वं व्रजतीति—परिव्राट् । परिव्राजौ ॥ विश्वस्य वसुराटोः । ६।३।१२८।
 विश्वस्य दीर्घः स्याद्वसौ, राट्शब्दे च परे । 'रा'दिति पदान्तोपठक्षणार्थम् । विश्वा-
 राट् । विश्वराजौ । विश्वाराड्भ्याम् ॥ स्कोः संयोगाद्योरन्ते च । ८।२।२९।
 पदान्ते, झलि च परे यः संयोगस्तदाद्योः सकारककारयोर्लोपः । मृट्, मृड् । सस्य
 श्चुत्वेन शः । 'झलं जश् झशौ'ति शस्य जः । मृजौ । मृजः । मृड्भ्याम् ॥

सावागते सोरुकारे गते 'युजेरसमासे' इति जुमि उमि गते मित्वादन्त्यादुचः परे
 'युन् ज्स्' इति जाते 'हल्ह्याभ्यो०' इति सलोपे 'संयोगान्तस्य लोपः' इति
 जलोपे 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति नकारस्य कुत्वेन ढत्वे 'युष्ट्' इति रूपम् । राट् ।
 'राज्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'व्रश्चभ्रस्जसृजसृजयजराजभ्राजच्छशां पः' इति पकारा-
 न्तादेशे 'झलां जशोऽन्ते' इति पस्य ढत्वे 'वावसाने' इति ढस्य ढत्वे कृते 'राट्' इति
 रूपम् । पश्चे—'राड्' इति । परिव्राट् । परिपूर्वकप्रथमातुतः 'परौ व्रजेः पः
 पदान्ते' इति क्तिपि व्रजेश्च दीर्घत्वे कृते च पत्वे क्तिपो लोपे सावागते सोर्लोपे
 'झलां जशोऽन्ते' इति पस्य ढत्वे 'वावसाने' इति ढस्य ढत्वे 'परिव्राट् ।
 पश्चे—'परिव्राड्' । विश्वाराट् । 'विश्वराज्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'व्रश्चभ्रस्ज'
 इति जस्य पत्वे 'झलां जशोऽन्ते' इति पस्य ढत्वे 'वावसाने' इति ढस्य ढत्वे
 'विश्वस्य वसुराटोः' इति दीर्घत्वे च विहिते 'विश्वाराट्' इति । पश्चे—'विश्वाराड्'
 इति । मृट् । 'भ्रस्ज पाके' क्तिप् । 'ग्रहिज्या०' इति सम्प्रसारणं रेफस्य ऋकारः ।
 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपम् । तत्प्राप्तौ 'मृस्ज्+सु' इत्यत्र सोर्लोपे 'स्कोः सं-
 योगाद्योरन्ते च' इति संयोगाद्यस्य 'स्' इत्यस्य लोपे 'व्रश्चभ्रस्ज०' इत्यादिना

नामस्थानके परे, अत्समासमें । शोः कुः—चवर्गको क्वर्गं आदेश हो 'झलं' के परे,
 पदान्तमें । व्रश्च-व्रश्च, भ्रस्ज, सृज्, मृज यज, राज और भ्राज, घातुर्भोको तथा छकारान्त
 और शकारान्तको पकारान्त आदेश हो, 'झलं' के परे पदान्तमें । परौ—'परि' उपसर्ग
 'व्रज' भातुसे क्तिप् प्रत्यय हो और (उपमा आकार को) दीर्घ हो तथा पदान्तमें पत्व भी
 हो । विश्वस्ज—'विश्व' शब्द को दीर्घ हो, 'वसु' और 'राट्' शब्दके परे । स्कोः—पदान्त

रुद्राण्यम् । पररूपत्वम् । तदोः सः साधनन्त्ययो । ७।२।१०६। त्यदादौत्ता तका
 रुद्राण्योः सः स्यात् । इय । इयी । इये ॥ य । तो । ते ॥ य । यी ।
 यः ॥ यः । यो । योः । एतः । एतम् । एतौ । एतन् । एतेन । एतयो २ ॥ छे पृष्-
 मयोःम् । ७।१।२८। दृग्विभक्त्या पररूप 'दृ' इत्यन्त्यस्य प्रथमाद्विभक्त्योः स्यात्
 देवः । मध्यमन्त्यस्य । ७।२।१०७। इत्यधिकृत्य । स्वादौ सौ । ७।२।१०८। अत
 गोमपर्मन्त्यस्य स्वादौ सौ । शीव लार । ७।२।१०९। आत्तगत्विमिमतव
 विभक्तौ परतोऽनगोलोपः । खम् । यदम् । युवायी द्विवचने । ७।२।११०।
 द्वोऽन्त्यवर्णोर्मपर्मन्त्यस्य युवायी ह्यो विभक्तौ । प्रथमायाश्च द्विवचने भाषायात्

जस्य पाये, पाय स्यात् 'वायमाने इति दाप 'भृद्' इति । पङ्—भृद्' इति । ख ।
 'इयद् + सु' इत्यत्र 'इयादीनाम्' इति 'द्' इत्यस्य स्थाने अकारादेशो 'अतो गुणे'
 इति पररूपे कृते 'इय सु' इति जाते 'तदो म साधनन्त्ययो' इति धनन्यस्य
 तकारस्य साध सौरन्तार गने रक्षस्य विभक्तौ च 'इय' इति । एते । 'इयद् + औ'
 इत्यत्र 'इयादीनाम्' पररूपत्व च कृते 'वृद्धिरेचि इति वृद्धौ 'यी' इति रूपम् । स ।
 'तद् + सु' अत्र 'इयादीनाम्' पररूपत्व च कृते 'तदो म साधनन्त्ययो' इति तस्य
 लोपे सौकारे गते रक्षस्य विभक्तौ च 'स' इति रूपम् । य । 'युनद् + सु' इत्यत्र
 'इयादीनाम्' पररूपत्व च कृते 'तदो स साधनन्त्ययो' इति तकारस्य सकारे कृते
 'आदेशप्रथमयो' इति सस्य पाद च कृते 'पुप + सु' इति जाते सौकारे गते
 रक्षस्य विभक्तौ च 'पुप' इति रूपम् । खम्, यदम् । 'युष्मद् + सु' इत्यत्र 'हेप्रथ
 मयोःम्' इति सौरन्तारो विहिते 'युष्मद् + अम्' इति जाते 'स्वाहौ सौ' इति
 युष्मदो मपर्मन्त्यस्य स्वादौ विहिते 'य अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति
 पररूपत्वे 'लोपे लोप' इति दस्य लोपे 'य अम्' इत्ययतिष्ठे 'अभि पूर्व' इति
 पूर्वरूपे कृते 'यम्' इति रूपम् । 'अरमद् + सु' इत्यत्र 'हेप्रथमयोःम्' इति सौर
 न्तारो 'स्वाहौ सौ' इत्यस्मदो मपर्मन्त्यस्य अदादेशो 'अतो गुणे' इति पूर्वरूपे कृते 'अद्
 अम्' इति जाते 'लोपे लोप' इति दस्य लोपे 'अभि पूर्व' इति पूर्वरूपे 'अहम्' इति ।

इत् पररूपत्वोपादि सकार लोप ककार लोप हो । तदो — इयादिके अनन्त्य तकार दकार को
 मपर्म हो, 'सु' के पर । हे प्रथ—युष्मद्-आत्म-उभय पर 'हे' अंत प्रथमा-द्वितीया
 विभक्ति को 'अम्' आदेश हो । मपर्मन्त—यह मपिका सूत्र है । स्वाहौ—युष्मद्-अम् के
 मपर्मन्त मागहो 'स' और 'अ' आदेश हो, 'सु' के पर । लोपे—अरम-यत् के निमित्ते पर
 विभक्तिके परे युष्मद् आत्म उभयों को टिका लोप हो । युवायी—द्विवचने प्रतिपत्तक
 युष्मद् अम् के मपर्मन्त मागहो 'सु' और 'अ' आदेश हो, निमित्ते परे । प्रथमायास-

।।२।८। औष्येतशोरात्वं लोके । युवाम् । आपाम् । यूयवयौ जसि ।।२।९।
 अनयोर्मपर्यन्तस्य युववयौ स्तो, जसि । युयम् । वयम् । त्वमावेकवचने ।।२।१७।
 एषहोरावनयोर्मपर्यन्तस्य त्वमौ स्तो विमजौ ॥ द्वितीयार्या च ।।२।८७।
 अनयोरात स्यात् । त्वाम् । माम् ॥ शसो नः ।।१।२९। आभ्यां शसो नः स्यात् ।
 अमोऽपवादः । आदेः परस्य । संयोगान्तस्य लोपः । युमान् । अस्मान् ॥

युवान्, आवान् । 'युप्सद् + औ' 'अरसद् + औ' इत्यत्र 'ऐप्रथमचोरम्' इति लौकार-
 रस्य स्थाने अमि 'युवावौ द्विवचने' इति युप्सदो मपर्यन्तस्य युद् आदेशे अस्मदो
 अपर्यन्तस्य आवादेशे च विहिते 'युव अद् अम्' 'आव अद् अम्' इति च जाते 'अतो
 गुणे' इति पररूपत्वे 'प्रथमायाश्च द्विवचने आपायान्' इति आकारान्तादेशे 'युव
 आ अम्' इति, 'आव आ अम्' इति भूते 'अकः सवर्णं दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने
 दीर्घं 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'युवान्' इति, 'आवान्' इति च ।
 यूयवयौ जसि इति । जरप्रत्यये परतो युप्सदस्मदोर्युयवयौ आदेशौ भवत इति सूत्रार्थः ।
 यथासंख्येन युप्सदो यूयमिति, अस्मदश्च वयमिरयादेशो बोध्यः । यूयम्, वयन् ।
 'युप्सद् + जस्' 'अस्मद् + जस्' इत्यत्र 'ऐप्रथमचोरम्' इति जसः स्थाने अमि
 कृते 'यूयवयौ जसि' इति युप्सदो मपर्यन्तस्य यूयादेशे अस्मदो अपर्यन्तस्य वया-
 देशे च विहिते 'यूय अद् अम्' 'वय + अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति
 पररूपत्वे 'शेषे लोपः' इति इकारस्य लोपे 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपैकादेशे
 'यूयम्' इति, 'वयम्' इति । त्वान्, मान् । 'युप्सद् + अम्' 'आस्नाप् + जस्' इत्यत्र
 'त्वमावेकवचने' इति युप्सदो मपर्यन्तस्य त्वादेशे अस्मदो अपर्यन्तस्य च मादेशे
 विहिते 'त्वं अद् अम्' 'म अद् अम्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'द्वि-
 तीयायाश्च' इत्यन्यस्य इत्यात्वे 'अकः सवर्णं दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'अमि पूर्वः'
 इति पूर्वरूपैकादेशे च कृते 'त्वान्' इति 'मान्' इति । युप्मान् अस्मान् । 'युप्स-
 द् + शस्' 'अस्मद् + शस्' इत्यत्र 'अपाषत्ताद्यते' इति शस्येत्संज्ञायां लोपे च
 'शसो नः' इति नादेशे 'तस्मादिरनुत्तरस्य' इत्यनेनोत्तरस्य सर्वस्य प्राप्ते 'आदेः
 परस्य' इति आधाकारस्य जाते, 'युप्सद् + न् स्' 'अस्मद् + न् स्' इति भूते 'सं-
 योगान्तस्य लोपः' इति सलोपे 'द्वितीयायाश्च' इत्यन्तस्य द्मात्रस्य आकारे 'अकः
 सवर्णं दीर्घः' इति पूर्वपरयोः स्थाने दीर्घादेशे 'युप्मान्' 'अस्मान्' इति रूपम् ।

प्रथमाद्विवचनके परे युप्सद्-अस्मद् शब्दको भाव हो, लोके में । यूय-युप्सद् अस्मद्
 शब्दके मपर्यन्तभागको 'यूय' 'वय' आदेश हो, 'जस्'के परे । त्वया एषत्सार्थ-
 प्रतिपादक युप्सद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्वं' 'म' आदेश हो, विमजिके परे ।
 द्वितीया-युप्सद्-अस्मदको आकारान्त आदेश हो, द्वितीया विमजिके परे । एतौ न-

योऽधि । ७।२।८९। अनयोर्मादेशोऽजादौ विभक्तौ । त्वया । मया ॥ पुष्प-
 एरमद्वोरमादेशे ७।२।८६। अनयोरारमदनादेशे इजादौ विभक्तौ । युवा-भ्याम् ।
 आवाभ्याम् । पुष्पाणि । अस्माभिः ॥ तुभ्यमहौ ऋषिः । ७।२।९५। अनयोर्मपर्य-
 षत्स्य तुभ्यमहौ स्तोषयि । टिलोर । तुभ्यम् । ममम् ॥ म्यसोऽभ्यम् । ७।१।३०।
 आम्भो परस्य भ्यसोऽभ्यम् स्यात् । युष्मभ्याम् । अस्मभ्यम् ॥ पृथक्पठनस्य च
 ७।२।३२। आम्भ्यां पथम्येकवचनस्याऽस्यात् । त्वत् । मत् ॥ पशुभ्यां भत्

त्वया, मया । 'पुष्पद् + टा' 'अस्मद् + टा' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति मपर्य-
 षत्स्य पुष्पद् त्वादेशे अस्मद् अमादेशे सति 'त्व अद् टा' 'म अद् टा' इति जाते
 'अतो गुणे' इति परस्ये टागुणकारस्येऽप्यजायां लोपे च 'योऽधि' इति घोषेण
 सवस्य यकारादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्वयस्य' इत्यन्तस्य दस्य जाते सति 'एव य् आ'
 'न य् आ' इति मूले सयोगे च हृते 'त्वया' 'मया' इति । युवाभ्याम्, आवाभ्याम् ।
 'पुष्पद् + भ्याम्' 'अस्मद् + भ्याम्' इत्यत्र 'युवाभौ द्विवचने' इति मपर्यन्तस्य
 युवादेशे अवादेशे च विहिते 'पुव अद् भ्याम्' 'आव अद् भ्याम्' इति जाते 'अतो
 गुणे' इति परस्ये 'पुष्पदारमदोरमादेशे' इति इकारस्य 'आ' आदेशे विहिते
 'अक् सवर्णे दीर्घे' इति दीर्घादेशे 'युवाभ्याम्' 'आवाभ्याम्' इति स्यात् । पुष्पाभिः
 अस्माभिः । 'पुष्पद् + भिसु' 'अस्मद् + भिसु' इत्यत्र 'पुष्पदारमदोरमादेशे' इति
 दस्य स्यात् आकारे विहिते 'अक् सवर्णे दीर्घे' इति दीर्घे सस्य क्त्वे रेकस्य
 विसर्गये च हृते 'पुष्पाभिः' 'अस्माभिः' इति क्वच् । तुभ्यम्, ममम् । 'पुष्पद् +
 षे' 'अस्मद् + षे' इत्यत्र 'तुभ्यमहौ ऋषि' इति मपर्यन्तस्य पुष्पद् तुभ्यादेशे
 क्तमयो मदादेशे च हृते 'तुभ्य अद् षे' 'मम अद् षे' इति जाते 'अतो गुण'
 इति परस्ये 'तोपे लोप' इत्यन्वयस्य इकारस्य लोपे 'अप्रथमद्वोरस्य' इति अरमा-
 देशे 'अभि पूर्व' इति पूर्वस्यैकादेशे 'तुभ्यम्' इति, 'ममम्' इति च जायेते । म्वा-
 णि-युवाभ्याम्, आवाभ्याम्, इति तृतीयाद्विवचनवदिति भावः । पुष्पभ्यम्, अस्म-
 भ्यम् । 'पुष्पद् + भ्यसु' 'अस्मद् + भ्यसु' इत्यत्र 'म्यसो भ्यम्' इति म्यसः स्थाने
 म्यमादेशे हृते 'तोपे लोप' इति दलोपे हृते सति 'पुष्पभ्यम्' 'अस्मभ्यम्' इति ।
 त्वत्, मत् । 'पुष्पद् + क्ति', अस्मद् + क्ति' इत्यत्र 'एवमावेकवचने' इति पुष्पदो

पुष्पद् अस्मद् अस्मत्ते पर 'अस्'के जादिको नकार आदेश हो । योऽधि—पुष्पद्-अस्मद्
 अस्मत्के वकार आदेश हो, अनादेश (विना आदेश हुआ) अनादि विभक्तिके परे ।
 पुष्पद्—पुष्पद्-अस्मद् अस्मत्के अद्को नकार आदेश हो, अनादेश इकारि विभक्तिके परे ।
 तुभ्यम्—पुष्पद्-अस्मद् अस्मत्के मपर्यन्तस्यको 'तुभ्य' अर् 'मम' आदेश हो, 'षे' विभक्तिके
 परे । म्वाङ्के—पुष्पद्-अस्मद् अस्मत्के पर 'अस्'को 'अभ्यम्' आदेश हो । पृथक्पठन—
 पुष्पद्-अस्मत्के पर वचनी-वचनवच (नभि) को 'अत्' आदेश हो । पशुभ्यां—पुष्पद्-

७।१।३१। आभ्यां पञ्चम्या भ्यसोऽत् । युष्मत् । अस्मत् ॥ तवममौ ङिति
 ७।२।१६।अनयोर्मपर्यन्तस्य तवममौ स्तो ङिति । युष्मद् अस्मद्भ्यां ङतोऽश्
 ७।१।२७। तव । मम । युवयोः २ । आवयोः २ ॥ साम आकम् ७।१।३३।
 आभ्यां परस्य 'साम' आकम् स्यात् । युष्माकम् । अस्माकम् । त्वयि । मयि ।
 युष्मासु अस्मासु ॥ युष्मद् अस्मदोः पृष्ठीचतुर्थीद्वितीयास्ययोर्जाज्ञावौ ८।१।२०

मपर्यन्तस्य स्वादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च सादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'एक-
 वचनस्य च' इति उत्तरति विहिते 'शेषे लोपः' इति दमात्रलोपे 'त्व + अत्'
 'म + अत्' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'त्वत्' इति 'मत्' इति च
 भवतः । भ्यामि—पूर्ववत्—'युष्माभ्याम्' आवाभ्याम्' इति रतः । युष्मत्, अस्मत् ।
 'युष्मद् + न्यस्' 'अस्मद् + न्यस्' इत्यत्र 'पञ्चम्या अव' इति अत्रसोऽन्ति 'शेषे लोपः'
 इति दस्य लोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'युष्मत्' इति 'अस्मत्' इति
 च भवतः । युष्मद् अस्मदभ्यामिति । युष्मद् अस्मदोः परतो टसः स्यात् अत्रादेशः स्यात् ।
 शिवकरणासर्वादेशः फळम् । तव, मम । 'युष्मद् + ङस्' अस्मद् + ङस्' इत्यत्र 'तव-
 ममौ ङिति' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य तत्रादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य समादेशे 'अतो
 गुणे' इति पररूपत्वे 'युष्मद् अस्मदात्' इति ङतोऽन्ति विहिते आदेशसंज्ञायां लोपे
 च भूयोऽपि 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'तव, मम' इति रूपे स्तः । युवयोः,
 आवयोः । 'युष्मद् + ङोस्' 'अस्मद् + ङोस्' इति शिक्ते 'युवावौ द्विवचने' इति
 युष्मदो मपर्यन्तस्य युवादेशे अस्मदो मपर्यन्तस्य च आवादेशे 'अतो गुणे' इति
 पररूपत्वे 'योऽङि' इति एकारस्य चकारे विहिते संज्ञोत्रे च कृते तस्य रूपे रेफस्य
 विसर्गत्वे च कृते 'युवयोः' आवयोः' इति । युष्माकम्, अस्माकम् । 'युष्मद् + आत्'
 'अस्मद् + आत्' इत्यत्र 'साम आकम्' इति आभि सामभमारोप्य आकमादेशे
 विहिते 'युष्मद् + आकम्' 'अस्मद् + आकम्' इति जाते 'शेषे लोपः' इति वलोपे
 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'युष्माकम्' 'अस्माकम्' इति । त्वयि, मयि ।
 'युष्मद् + ङि' 'अस्मद् + ङि' इत्यत्र 'त्वमावेकवचने' इति युष्मदो मपर्यन्तस्य
 स्वादेशे, अस्मदो मपर्यन्तस्य च सादेशे कृते 'अतो गुण' इति पररूपत्वे च कृते
 'त्वद् + ङि' 'मद् + ङि' इति जाते ङकारस्य संज्ञायां लोपे च 'योऽङि' इति
 ङकारस्य एकारादेशे मिलित्वा 'त्वयि' इति 'मयि' इति च भवतः । युष्मासु,

अस्मदत्ते पर पञ्चमीके 'भ्यस्'को 'अत्' भादेश हो । तवममौ—युष्मद् अस्मदके
 मपर्यन्त मागको 'तव' और 'मम' भादेश हो ङस्के परे । युष्मद्—युष्मद्-अस्मदत्ते पर
 'ङस्'को 'अश्' भादेश हो । साम—युष्मद्-अस्मदत्ते पर 'साम्' (ङट् चक्षि आम्) को
 'आकम्' भादेश हो । युष्मद् अस्मदो—इत्ते पर अपादप्रतिभे (इकोक वा ऋराके चरणके

पदात्परधोरपादादोस्त्वितयो षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्वाभौ श्वादेशौ स्तस्त्वौ षानुदात्तौ ॥
 बहुवचनस्य चस्मसौ । ८।१।२१। उच विषधोरनयोः षष्ठ्यादिषु बहुवचनान्तयोर्वसु-
 नयोः स्तः । वा—भावोत्पवाद । तेमयायेकलक्षणस्य । ८।१।२२। उच विषधोर-
 नयोः षष्ठीचतुर्थ्येवचनान्तयोस्ते-मे एतौ स्तः ॥ त्वामौ द्वितीयाया
 । ८।१।२३। उच विषधोरनयोर्द्वितीयेवचनान्तयोस्त्वामा एतौ स्तः ॥

धीच 'स्वा'ऽवतु 'मा'ऽर्षाह, दत्तात् 'ते' 'मे'ऽपि चर्म स्तः ।

स्वामी'ते' 'मे'ऽपि स हरिः, पातु 'ग्राम'पि 'नी' विभुः ॥ १ ॥

अस्यात् । 'युष्मद् + सुप्' 'अस्मद् + सुप्' इत्यत्र पकारस्योत्तथापाम् छोपे च
 ह्ये 'युष्मद् + अङ्' 'अस्मद् + अङ्' इति 'द्' इत्यस्याये 'अङ्' सवर्णे' इति हीर्षये
 च प्राते 'युष्मासु' 'अस्मासु' इति रूपे स्तः । युष्मदरमदो षष्ठीनि । षष्ठीध-
 र्म्याद्वितीयाणि सप्त त्रिष्टय इति षष्ठीचतुर्थीद्वितीयायो तयोरिति विग्रहः । षष्ठ्या-
 दिविशिष्टयोरिति भावत् । उच विषधोरिति । षष्ठ्यादिविशिष्टयोर्युष्मदरमदोरित्यर्थः ।
 बहुवचनस्येति । युष्मदरमदोः बहुवचनविषयौ परतः चरनसायादौ ययासयय स्त
 इति भाव । तेमयेति । तेस मेमेति विग्रहः । अय वांमाधोरपवाद् । अत्र द्वितीया

आदिमे नदी) रियत को षष्ठी-चतुर्थी-द्वितीयात् युष्मद्-अस्मद् इत्य् वनको क्रमसे 'वाम्'
 और 'नी' आदेश हो ।

नोट—अभिमत हीन सूत्रोंसे वाच होनेके कारण केवल सभी विभक्तिषोंके दिवचनमें
 ही इन सूत्रकी प्रकृति होती है ।

बहुवच—परसे पर अशदादिमें रियत षष्ठ्यादि बहुवचनान्त युष्मद्-अस्मद् इत्य्को
 क्रमसे 'वम्' 'नम्' आदेश हो ।

नोट—सभी विभक्तिषोंके दिवचनमें 'वाम्' और 'नी' तथा 'बहुवचनमें 'वम्' और
 'नम्' आदेश होते हैं ।

तेमया—परसे पर अशदादि में रियत षष्ठी-चतुर्थ्येवचनान्त युष्मद्-अस्मद् इत्य्को
 'ते' और 'मे' आदेश हो । त्वामौ—परसे पर अशदादिमें रियत युष्मद्-अस्मद् इत्य् अत्र
 द्वितीयाका पठवचनान्त हो तत्र क्रमसे वनको 'वाम्' 'मा' आदेश हो ।

धीर्षाया—इद = उपाते, धीर्षा = वदमीनति — नारायण, र्षा = र्षाम्, मा =
 वाम्, अपि = व, अथत्तु = वात् । पूर्वोक्त - स — हरि = नारायण, से = तुष्मन्, मे =
 वसन्, अपि = वाम् = तुष्मन्, दत्तात् = वरात् । स — हरि = पूर्वोक्त - नारायण, से = व, मे = वन,
 अपि = व, स्वामी = वम्, अलीति वच । (मा) विभु = वसन्को नारायण,
 वाम् = वाम्, नी = वाम्, पातु = वत्तु । (स) ईश = वम्, वाम् = वाम्, वाम् = वाम्, वाम् = वाम्,

सुखं 'वां' 'नौ' ददात्वीशः, पति'र्षाम'पि 'नौ' हरिः ।

सोऽव्याहृ 'वो' 'नः' द्विवं 'वो' 'नो' दद्यात्सेव्योऽत्र 'वः' स 'नः' ॥२॥

एकवाक्ये निघातयुष्मदस्मदादेशा वक्तव्याः । एकतिङ् शक्यम् ।
तेनेह न-श्रोदनं पच, तव भविष्यति । इह तु स्यादेव-द्यानीनां ते श्रोदनं दास्यामि ।
एते वानावाद्य आदेशा अनन्वादेशे वा एच्छव्याः । अनन्वादेशे तु नित्यं
स्युः । धाता ते भक्तोऽस्ति, तव भक्तोऽस्तीति वा । तस्मै ते नम इत्येव । न चत्वा-

ग्रहणं नानुवर्तते, तत्र स्वामादेशयोर्द्वयमाणत्वात् । एकवाक्ये इति । निमित्तनिमित्ति-
नोरेकवाक्यस्थत्वे हर्यर्थः । एकतिङिति । तिङित्यनेन तिङन्तं विवक्षितम् । एकः
तिङ् यस्येति विग्रहः । ज्ञाता ते भक्तोऽस्तीति । अत्र 'एकवाक्ये युष्मदस्मदादेशा
वक्तव्याः' इत्यनेन सप स्पाने ते आदेशो विहितः । यत्र ते आदेशो न भवति उच्यते
धाता तव भक्तोऽस्तीति भवत्येव । तस्मै ते नमः इत्येवेति । अत्र अनन्वादेशस्वाधित्य
आदेशो जायते । न चवाहेति । खेति अव्ययं समुच्चये । वा इति विकल्पे, हा इति
खेदे । 'अह' इति षद्भुते । 'एव' इत्यवधारणे, एतेषां द्वन्द्वः । युक्त इति भावे चः ।

नौ = आवाभ्याम्, सुखं = कल्याणम्, ददातु = दत्तात्, (सः) हरिः = नारायणः, वां =
युवयोः, नौ = आशयोः, पतिः = प्रभुः अस्तीति शेषः । सः = हरिः, वः = युष्मान् नः =
अस्मान्, अव्यात् = रक्षेत् । सः = हरिः, वः = युष्मभ्यम्, नः = अस्मभ्यम्, द्विवं =
कल्याणं, दद्यात् । अत्र = इह लोके, सः = हरिः, वः = युष्माकम्, नः = अस्माकम्,
सेव्यः = आराध्यः, अस्तीति शेषः ।

एकवाक्ये—युष्मद्, अस्मद् शब्दको एकवाक्यमे ही अनुदात्त और पूर्वोक्त 'वाम्-नौ'
आदि आदेश होते हैं । एकतिङ्—एक तिङ् घटित ही वाक्य होता है ।

एते—ये जो वाम्, नौ, वस्, नस्, आदि आदेश फड़े गये हैं, वे अनन्वादेशमें विक्ष-
पसे और अनन्वादेशमें नित्य ही हों ।

युष्मद् शब्दके रूप—स्वम्, युवाम्, यूयम् । स्वाम् (स्वा), युवाम् (वाग्),
युष्माग् (यः) । स्वया, युवाभ्याम्, युष्माभिः । तुभ्यम् (ते), युवाभ्याम् (वाम्),
युष्मभ्यम् (वः) । स्वत्, युवाभ्याम्, युष्मत् । तव (ते), युवयोः (वाम्), युष्माकम्
(वः) । स्वयि, युवयोः, युष्माह ॥

अस्मद् शब्दके रूप—अहम्, आवाम्, वयम् । माम् (मा), आवाम् (नौ),
अस्माग् (नः) । मया, पावाभ्याम्, अस्माभिः । मयाम् (मे), आवाम्भ्याम् (नौ),
अस्मभ्यम् (नः) । मत्, आवाम्भ्याम्, अस्मत् । मम (मे), आवयोः (नौ), अस्माकम्
(नः) । मयि, पावयोः, अस्माह ।

न च चत्वा—च, दा, इ, णद्, एङ्, एन पाँचठे योगमें पूर्वोक्त 'वाम्' नौ आदि आदेश

द्वाष्ट्वयुक्ते । ८।१।२४। चारिपक्षयोगे नैते आदेशाः । स्युः । 'हरिस्त्वा मां च रक्षतु ।' 'कथ त्वां मां वा न रक्षेदि'त्यादि ॥ पश्याद्यंश्चामातोचने । ८।१।२५। अत्राक्षुपदानार्थोऽपि योगे नैते आदेशाः स्युः । चेतसा त्वां यमीक्षते । आलोचने तु—मच्छस्ता परयति चक्षुषा ॥ सपूर्वाया प्रथमाया विभाषा । ८।१।२६। विद्यमानपूर्वात्प्रथमान्तादन्वादेशोऽप्येते आदेशा वा स्युः । 'मच्छस्त्वमप्यहं तेन हरिस्त्वां आयते स माम्' । त्वा, मेति वा ॥

चारिपक्षयोगे इति । पंचानामन्यतमेन योगे सतीत्यर्थः । एते आदेशा इति । एते तृतीयायाश्च आदेशा इत्यर्थः 'सुप्प्रदस्मद्दे वन्ती' इत्यादिसुप्प्रेत्यस्तदनुवृत्ते । 'न च वा-
दादेशे' इति न्यासेनैव कार्योसिद्धेयुष्मदृष्टेण नचैवावीक्षायायोगे सत्येव त्रियेषति । इति परपरामर्शे चान्तावाद्य स्युरेव । हरिस्त्वा मां च रक्षतु । 'कथ त्वां मां वा न रक्षेदि' । अथ 'वराही द्वितीयाया' इति न त्वामादेशौ चययोः साक्षाद्योगात् । पर्यायैरिति । दर्शनं परयः । दृष्टारं प्रेक्षणे दृश्यस्माद्भूत एव निपातनात् भावे वाप्र-
त्ययः । 'वामा' इति परयादेशः परयो नाम दर्शनम् अर्थो येषां ते परयायास्तैरिति त्रिप्रहः । आलोचनं चाक्षुषं ज्ञानम् । तद्विन्मममालोचनं ज्ञानम् अत्र विद्यमानैः दर्श-
नार्थकैरित्यर्थः । अत एव आयते । परय इति इतिना ज्ञानसामान्यं विवक्षित अनालो-
चने इति चाक्षुषपर्युक्तमात् । आकाचने त्वति । चाक्षुषज्ञानविषये तु मच्छस्ता परयति चक्षुषा । अत्र इतिना योगेऽपि न त्वादेशनिषेधः । अनालोचने चाक्षुषज्ञानभिन्नज्ञाने सत्येवादेशानां निषेधादिति दिक् । सपूर्वाया इति । वानायादयोऽन्वयादेशो पाक्षिकाः । अन्वयादेशे तु निष्वा इत्युच्यते । अन्वयादेशोऽपि इति द्विक्रमपर्यायमिदम् । सद्दनाद्योऽप्य सलो-
मङ् इतिवत् विद्यमानवाची । विद्यमानं पूर्वमस्या । 'तेन सहेति वा' त्रिप्रह । तुष्य-
योगस्यस्य प्रापिकत्वात् । प्रथमेत्यनेन तद्वन्त गृह्यते । परयोरित्यनन्तरं सुप्प्रदस्म-
दोरिति शेषः । मत्तात्त्वमसीति । देयदप्येति अप्याहार्यम् । हे देवदत्त ! त्वमपि मत्त-
त्त्वमपि मत्तः इत्यन्वयः । तेनेति । मच्छस्तेत्यर्थः । आयते पालयतीत्यर्थः । अत्र पूर्व-
वाक्योपात्तसुप्प्रदस्मदर्थयोरिह पुनरुपादानादन्वयादेशोऽप्यस्य । अत्र तेनेत्येतत् पूर्व-
विद्यमानं पद, तत पर हरिरिति प्रथमान्त, तत्र परस्य सुप्प्रदस्मदस्यान्वादेशोऽपि
त्वादेशविकल्पः । तथा 'आयते' इति पूर्व विद्यमानं पद, तत पर स इति प्रथमान्त
तत परस्यान्वयस्य चस्यान्वादेशोऽपि मादेशविकल्पः । 'आयते' इत्येतत् मगिमप्य-
न्यायेनोभयत्र सम्भवत्येते । ते निमित्तनिमित्तानो समानवाक्यस्य च, स इत्यस्य विद्य-

नहीं हो । परया—अवाक्षुषज्ञानार्थक वाक्षुषोक्त योगनै पुरोक्त 'वाम्' 'वो' आदि आदेश नहीं
हो । सपूर्वाया—विद्यमान पूर्वक प्रथमान्तसे पर को रक्षतु इति द्विक्रम सुप्प्रद-अस्य रक्ष

सामन्त्रितम् । २।३।४। ८। सम्बोधने वा प्रथमा तदन्तमामन्त्रितसंज्ञं स्यात् ॥ धामन्त्रितं पूर्वमविद्यमानवत् । ८।१।७२। अग्ने तव । देवाऽऽस्मान्पाहि ॥ नाऽऽमन्त्रिते समानाधिकरणे सामान्यवचनम् । ८।१।७३। विशेष्यं समानाधिकरणे विशेष्ये आमन्त्रिते परे नाऽविद्यमानवत् । हरे दयालो नः पाहि ॥ सुपात् । सुपाद् । सुपादौ । पाद्ः पस् । ६।४।१३०। पाच्छब्दान्तं यदङ्गं भं तदवयवस्य पाच्छब्दस्य पदादेशः । सुपदः । सुपदा । सुपाद्गुथाम् ॥ अग्निमत् । अग्निमद् । अग्निमयौ । अग्निमयः । अग्निमद्गुथाम् ॥ अनिदितां हल उपधायाः षिङ्कति । ६।४।२४। हलन्तानामनिदितामज्ञानानुपधाया नस्य लोपः किति, टिति

मानपूर्वखं बोद्धव्यम् । सामन्त्रितमिति । प्रातिपदिकार्थसूत्रोपात्ता प्रथमा 'सा' इत्यनेन पराश्रयते संबोधनं च, तदुक्तं सम्बोधने वा प्रथमेति । प्रथमाशब्देन च । तदन्तलाभः । षिङ्कतित्वात् । अग्ने तवेत्यादि । 'अग्ने तव ह्रवो वयः' इत्यृचि 'अग्ने' इत्यविद्यमानवत् । देवास्मान्पाहि च देवशब्दोऽविद्यमानवत् । 'अग्ने नय' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवत् । 'अग्ने हृद्गु चरुण' इत्यृचि अग्ने इत्यविद्यमानवदिति भावः । अत्र अग्ने तव देवास्मान्पाहि च युष्मदस्मदोः तेनसावादेशौ ण भवतः । तथास्मानित्यनयोः पदात्परत्याभावात् । पायादौ स्थितत्वाच्च । नामन्त्रित इति । आमन्त्रितमविद्यमानवदित्यनुवर्तते, सात्तान्यवचनमित्यनेन विशेष्यसमर्पकः शब्दो विवक्षितः । विशेष्यस्य विशेषणापेक्षया सामान्यरूपत्वात् । तेन च विशेषणमाक्षिप्यते । समानाधिकरणे इति तत्रान्वेति । समानमधिकरणं यस्येति विग्रहवाक्यम् । समानशब्दः एकवचनपरः । विशेष्यबोधकशब्देन अभेदसंसर्गेण एकार्थवृत्तिरिव विवक्षितम् । हरे दयालो इति । अत्र 'दयालो' इति समानाधिकरणविशेषणे परे हरिशब्दो नाऽविद्यमानवत् । तत्रश्च दयालो इत्यस्याविद्यमानवत्वेऽपि हरे इति पदात् परत्वात्सादेश इति भावः । सुपात्, सुपाद् । शोभनौ पादौ यस्य इति विग्रहः । 'सुपाद् + सु' इत्यत्र अनुबन्धलोपे 'हृदयाभ्यो दीर्घात्सुप्तिर्यपृक्तं हल्' इति सस्य लोपे, 'वाचसाने' इति अस्य तत्वे च कृत्वे 'सुपात्' इति । अर्थाभावपक्षे-'सुपाद्' इति । अनिदितामिति । हृद्-हृत्कारेण हृत्संज्ञोपेतां सानि

अनको अन्तादेशमे नी, पूर्वोक्त आदेश विकल्पते हो । साम—सम्बोधनमे जो प्रथमा, तदन्त जो प्रादिपदिक वह आमन्त्रितसंज्ञक हो । आम—पूर्वमे स्थित जो आमन्त्रित वह अविद्यमानवत् हो । नामन्त्रि—विशेष्यवाचक जो आमन्त्रित पद, वह समानाधिकरण विशेषणवाचक के परे अविद्यमानवत् नहीं हो । पाद्—'पाद्'शब्दान्त ओ मसंज्ञक अंग तदवयव जो 'पाद्' शब्द अन्तमे 'पद्' आदेश हो । अग्नि—हृद्गु अग्निदित् अङ्गके उपधानकारका लोप हो

च । 'उदिद्वा'मिति नुम् । ययोगान्तरस्य कोः । नस्य कुत्वेन च । प्राक् । प्राची । प्राच ॥ अच. ६।४।१३८। लुप्तनकारस्याऽऽधतेर्मस्याऽकारस्य कोप । चो । ६।३।१३८। लुप्ताऽकारनकारेऽधती परे पूर्वस्याऽगो दीर्घ । प्राच । प्राचा । प्रम्भ्याम् ॥ अच. ६।४।१३९। प्रयश्चो । प्रत्यच । प्रतीच. । प्रयश्चाम् ॥ उच. ६।४।१३९। उच ईय् ६।४।१३९। उचद्वात्वरस्य लुप्ताऽकारस्याऽऽधतेर्मस्याऽकारस्य ईय् । उदीच । उदीचा । उचश्चाम् ॥ सम. समि । ६।३।१३९।

इदिति न इदिति-अनिदिति, तेगामनिदिताम् । प्राक् । 'प्र+अनृच्' इत्यवस्थापाम् 'अनिदित्' इत्युक्तिरिति च' इति किञि तस्य सर्वाङ्कारे— (सर्वस्य लोपे) प्रययल्लोपेन 'अनिदिता दृष्ट उपधाया विटति' इति उपधानकारलोपे 'प्र अच्' इति स्थिते 'कृत्तिट्' इति किञ् कृतस्यकारवात् 'प्र अच्' इत्यस्य 'कृत्तिट्' इत्युक्तिरिति च' इति किञ् कृतस्यकारवात् 'प्र अच्' इत्यस्य 'सुप्तनृच्' इति सर्वनामस्थानपञ्चम्याम् 'उदिद्वा' सर्वनामस्थानेऽधते.' इति नुमि उमि गते मिथ्याऽप्याद्य परे 'प्र अच् च् सु' इति भावे सकारोपरयतिन उकारस्ये-रसंज्ञायां लोपे च 'इत्' इत्यस्यो दीर्घात्' इति सूत्रोपे 'संयोगान्तरस्य लोप.' इति चलोपे किञ्चिदस्यस्य कु' इति नस्य नात्मिकास्थानसाम्यात् कुत्वेन उकारे 'अच्-सर्वने' इति दीर्घे प्राक् इति रूपम् । प्राच । 'प्र अच् दात्' इति स्थिते ध्रुव सत्येस-संज्ञायां लोपे च 'यच्चि मम्' इति भस्मज्ञापाम् 'अच्' इति अच् अकारस्य लोपे चो' इति प्र-अकारस्य दीर्घात् सयोगे सस्य रूपे रस्य विसर्गात् च 'प्राच' इति रूपम् । प्राच. प्रति अच् च् इत्यवस्थापाम् 'अनिदित्' इति किञि तस्य सर्वस्य लोपे 'इत्' इत्यस्यो दीर्घात्' इति यमि 'अनिदिता दृष्ट उपधाया विटति' इति नस्य लोपे कृत्तिट्वात्प्रतिदृष्टमज्ञायां साध्यागते 'उदिद्वा' इति नुमि उमि गते मिथ्या-व्यप्याद्य परे इत्युक्त्वादिना सुलोपे अकारस्य संयोगान्तरलोपे नुमो नकारस्य-किञ्चि-दस्यस्य कु' इति कुत्वेन उकारे 'प्राच' इति रूपम् । प्राचीच । 'प्रति अच् च् दात्' इत्यवस्थापाम् 'अनिदिताम्' इति चलोपे इत्ये अकारस्ये'मज्ञायां लोपे च 'यच्चि मम्' इति भस्मज्ञापाम् 'अच्' इत्युक्त्वात्लोपे 'चो' इति पूर्वस्यागो दीर्घात् सस्य रूपे रकारस्य विसर्गात् च 'प्रतीच' इति रूपम् । उच. 'उच् अच् च् सु' इति स्थिते, 'अनिदिताम्' इति चलोपे 'उदिद्वा' इति नुमि, इत्युक्त्वादिना सुलोपे संयोगान्तर-

दिद्वा इति प्राचरुदे रे । अच्—नुपकारक 'अच्' बाहुले यत्तद्वत् नकारका कोप हो । चो—सुप्ताकार-नकारक 'अच्' बाहुले परे पूर्व 'अच्'को दीर्घ हो । उच्—उच् अच् च् परे इत्युक्त्वात् 'अच्' बाहुले यत्तद्वत् नकारको दीर्घात् बाहुले हो । समा—'च' दास्यात्

प्रत्ययान्तेऽप्यती परे घमः सम्पादेशः स्यात् । सम्पद् । सम्पद्यौ । समीचः । सम्पग्भ्याम् । सहस्य सभिः । ६।३।९। तथा । सधयत् । सधयवौ । सध्री-
चः । सधयग्भ्याम् । तिरसस्तिर्यत्लोपे । ६।३।९। अलुप्ताऽकारेऽप्यती प्रत्य-
यान्ते तिरसस्तिर्यादेशः । तिर्यह् । तिर्य्यौ । तिरयः । तिरया । तिर्यग्भ्याम् ॥
नाऽञ्जेः पूजायाम् । ६।४।३० । पूजार्थस्याऽञ्जतेरुपधाया नस्य लोपो न । प्राङ् ।
प्राञ्चौ । नलोपाऽभावादनलोपो न । प्राञ्चवः । प्राङ्भ्याम् । प्राङ्घु । प्राङ्घु । एवं

लोपे कुत्वे च 'उदह्' इति रूपम् । सम्पद् । 'सम् अन् च्' किन् ह्यत्र 'समः समि'-
इति समः स्थाने सम्पादेशे विहिते, 'ह्रस्वो यणचि' इति यणि 'सम्पद् च् किन्' इति
स्थिते किनः सर्वस्यापहारे 'अनिदिताम्' इति नलोपे कृदन्तरवाप्रातिपदिकसम्प्रा-
याम् सावागते नुमि ह्रस्व्यादिना सुलोपे संयोगान्तलोपे कुत्वे च 'सम्पद्' इति ।
समीचः 'सम् अन् च् दास्' इति दशापरं शस्त्रेऽसम्प्रायां लोपे च 'अनिदिताम्'
इति नलोपे 'समः समि' इति सम्पादेशे 'समि अच् अस्' इति जाते भसम्प्रायाञ्च
'अचः' ह्यकारलोपे 'चौ' इति पूर्वस्यागो दीर्घं संयोगे च कृते, स्वविसर्गयोः
'समीचः' इति । सधयत् । 'सह अन् च्' इत्यत्र 'अस्विग्घृक्' इति किनि 'अनि-
दिताम्' इति नलोपे किनः सर्वस्यापहारे कृदन्तरवाप्रातिपदिकसम्प्रायां सावागते
'सहस्य सभिः' इति सधयदेशे यणि, 'उमिदयाम्' इति नुमि, ह्रस्व्यादिना
सुलोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे नकारस्य 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे
'सधयत्' इति । तिर्यह् । 'तिरस् अन् च्' इत्यत्र 'अस्विग्घृक्' ह्य्यादिना किनि;
तस्य सर्वस्यापहारे, 'अदिताम्' इति नलोपे 'तिरसस्तिर्यलोपे' इति
तिरसस्तिर्यादेशे 'ह्रस्वो यणचि' इति यणि कृदन्तरवाप्रातिपदिकसम्प्रायां
सावागते नुमि, ह्रस्व्यादिना सुलोपे 'सधयन् च्' इति जाते चकारस्य संयोगा-
न्तलोपे नकारस्य 'किन्प्रत्ययस्य कुः' इति कुत्वेन ङकारे 'तिर्यह्' इति रूपम् ।
प्राङ् 'प्र अन् च्' इति स्थिते 'अस्विग्घृक्' इति किनि; किनः सर्वापहारलोपे
'अनिदिताम्' इति नलोपे प्राप्ते 'नाञ्जेः पूजायाम्' इति निषिद्ध, कृदन्तरवाप्राति-
पदिकसम्प्रायां सावागते तस्य ह्रस्व्यादिना लोपे चकारस्य संयोगान्तलोपे 'किन्प्र-
त्ययस्य कुः' इति नकारस्य ङकारे सवर्णदीर्घे 'गाङ्' इति रूपम् । प्राङ्घु । 'प्राङ्घु'
इति पूर्ववत्प्रसाप्य 'ङ्गोः कुवट्क् चारि' इति वा कुकि 'भाथन्वी टाकेवौ' इति

(विभन् प्रत्ययान्त) 'अञ्' पातुके परे 'सम' को 'समि' आदेश हो । सह—'व' प्रत्ययान्त
'अञ्' पातुके परे 'सह' को 'सभि' आदेश हो । तिर—अलुप्ताकारक 'व' प्रत्ययान्त 'अञ्'
पातुके परे 'तिरस्' को तिरि आदेश हो । नाञ्जेः—'पूजार्थक 'अञ्' पातुके उपधासंयन्ती

पूजायै-प्रत्यङ्भादयः ॥ कृष् । कृषी । कृष्य । कृष्णाम् ॥ पयोमुक् । पयो-
मुग् । पयोमुवी । पयोमुचः । पयोमुग्ध्याम् ॥ मह पूजायाम् । वर्तमाने पृथ-
ग्महद्वृहद्वृहज्जागच्छत्युच्यते । एते निपात्यन्ते, शतृष्वैर्षो कार्ये स्यात् । वगित्वा-
न्तुम् । साम्तमहतः संयोगस्य । ६।४।१०। सान्तसयोगस्य, महत्तथ यो नका-
रस्तस्योपधाया दीर्घोऽसम्बुद्धौ चर्धनामस्थाने । महान् । महान्तौ । महान्तः ।
हे महन् । महत् । महद्ग्रथाम् । अन्वसन्तस्य चाऽघातोः । ६।४।११।
अन्वत्स्योपधाया दीर्घो, घानुमिजासन्तस्य चाऽसम्बुद्धौ षी । धीमान् । धीम-
न्तौ । धीमन्त । हे धीमन् । शसादी महद्वत् ॥ भातेर्ध्वत् । वित्त्वधामर्ष्या-

क्रियादन्वयावयवे आते 'कृष्' संयोगेन चकारे 'प्राङ्मु' इति । कृष् । कृष्ण-कौटि-
स्पाशरीभाययो' अस्मात् घातो 'अन्विद्' इत्यादिना निचिन् तस्य सर्वस्य
छोपे 'अनिदिताम्' इति छलोपे प्राप्ते 'अन्विद्' इत्यादिना निपातनाद्योपा-
याय कृते वृद्धत्वात्प्रातिपदिकसम्ज्ञायां षी प्रत्यये तस्य वृद्धत्वादिना छोपे चका-
रस्य संयोगान्तछोपे 'विष्प्रत्ययस्य कु' इति नकारस्य कुत्वेन छकारे 'मुहु' इति ।
पयोमुक् 'पयोमुष्+मु' इत्यत्र सोर्लोपे 'षो कु' इति चस्य कत्वे 'सलो अतोऽ-
न्ते' इति करस्य गाय 'काऽन्वसाने' इति गाय कत्वे पयोमुक् । पये-पयोमुग ।
महान् । 'महद्व सु' इत्यत्र सकारोत्तरव्युत्कारस्यैतसम्ज्ञायां छोपे च 'वृद्धत्वाभ्यो०'
इति सस्य छोपे 'उगिद्वचाम्०' इति नुमि उमो छोपे मिधात् 'मिद्वचोऽन्वयात्पर' ।
इत्यन्वयाद्घः परे आते 'महन् च' इति स्थिते 'सान्तमहत संयोगस्य' इत्युपधाया
दीर्घये 'सयोगान्तस्य छोप' इति तछोपे 'महान्' इति । धीमान् 'धीमत्+सु'
अत्र 'मुहन्पुमकस्य' इति सर्वनामस्यातसम्ज्ञायाम् 'उगिद्वर्था सर्वनामस्थानेऽ-
न्तात्' इति नुमि, उमि गते मिधात्त्वन्वयाद्घ' परे 'अन्वसन्तस्य' इत्युपधादीर्घये
वृद्धत्वादिना सोर्लोपे तकारस्य संयोगान्तछोपे 'धीमान्' इति । अत्रन्तस्य तु मवन्नि
पृथातो 'वर्तमाने छट्' इति छटि, तस्य स्थाने 'छट्' वाच्यतामचौ' इति अत्रादेशे
अकारस्यैतसम्ज्ञायां छोपे च तथा अकारस्यैतसम्ज्ञायां छोपे च 'मू+अत्' इति आते
'विष्प्रत्ययस्येत्सम्ज्ञायाम्' इति सार्धेत्सम्ज्ञायाम् 'कर्त्तरि षाप' इति षापि अकार-
स्यैतस्योत्तरसम्ज्ञायां छोपे च 'मू अ अत्' इति स्थिते तत्र 'मू' इत्यस्य 'सार्धेत्सम्-
ज्ञायाम्' इति अकाररूपे गुणे कृते 'पचोभ्यवाचावः' इति अत्रादेशे 'अव् अ

अकारका कोर मही हो । वर्त-वर्तमान का कर्म 'अन्वि'प्रत्ययान्त पूष्य, महत्, वृहत् और अण्य
अन्व निपातित्र हो और 'उमु' प्रत्ययस्य इनको कार्य हो । साम्त-सान्त संयोगका और
'महत्' अन्वका को मध्य वृहदी वृहत्को दीर्घ हो, असम्बुद्धि सर्वनामस्थानके परे । अन्व-
अन्वसन्तको वृष्यको और वाच्यतामचौ को अन्व अण्यको भी वृहत्को दीर्घ हो, सम्बुद्धिभित्त

दमस्यापि टेलोपः । भवान् । भवन्तौ । शयन्तस्य तु भवन् ॥ उभे अभ्यस्तम् ।
 ६।१।५। पाठद्वित्वप्रकरणे ये द्वे बिहिते ते उभे समुदिते अभ्यस्तसंज्ञे स्तः ।
 नाभ्यस्ताच्छतुः । ७।१।७८। अभ्यस्तात्परस्य शतुर्मु न । ददत् । ददतौ ॥
 जक्षित्याद्यः षट् । ६।१।६। षट् घातवोऽन्ये, जक्षितिष सप्तमः एतेऽभ्यस्तसंज्ञा-
 स्युः । जक्षत् । जक्षतौ । जक्षतः ॥ एवं-जाग्रत् । दरिद्रत् । शासत् । चका-
 सत् । 'दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः' । 'वेवीङ् वेतिना तुल्ये' । -एतौ घान्दधौ ।
 दीप्यत् । वेप्यत् ॥

जक्ष जाग्र दरिद्रा शास् दीधीङ् वेवीङ् चकास्तथा ।

अभ्यस्तसंज्ञा विज्ञेया घातवो मुनिभाषिताः ॥ १ ॥

गुप् । गुन् । गुपौ । गुपः । गुन्भ्याम् ॥ त्यदादिषु दृशोऽनालोचने कञ्
 ३।३।६०। त्यदादिषूपपदेषु अज्ञानार्थात् दृशोर्धातोः कञ् स्यात्, चाकिञ् ॥ आ-
 सव्वनाम्नः । ६।३।९१। सर्वनाम्न आकारोऽन्तदेशः स्यात् दृश्यवुत्तु । ताडक् ।

अस्' इति मूले 'अतो गुणे' इति अकारह्रस्वस्य स्थाने पररूपे संयोगे च कृते 'भवत्'
 इति निष्पन्नम् । तस्य कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते तस्य ह्रस्वधादिना
 लोपे 'उगिदघाम्' इति नुमि, उमि गते मित्वादन्यादृचः परे अश्वन्तत्वाभावात्
 दीर्घाभावे तकारस्य संयोगान्तलोपे 'भवन्' इति । ददत् । 'ददत् + सु' इत्यत्र 'उभे
 अभ्यस्तम्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'उगिदघाम्' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ता-
 च्छतुः' इति नुमो निषेधे ह्रस्वधादिना सुलोपे 'सुसिद्धन्तं पदम्' इति पदसंज्ञायाम्
 'झलां जशोऽन्ते' इति तकारस्य दकारे 'वाञ्चसाने' इति वकारस्य तकारे 'ददत्'
 इति । चर्त्वाभावपक्षे—'ददत्' इति रूपम् । जक्षित्यादय इति । जक्षिति पृथक् पदम् ।
 इति शब्देन जक्षिरेव परामृश्यते । एतन्न जक्षितिः आदिर्येपामिति तद्गुणसंविज्ञान-
 यदुष्ठीहिस्तदेतदाह-षट् घातवोऽन्ये इति । जक्षत् । 'जक्षत् + सु' अत्र 'उगिदघाम्'
 इति नुमागने प्राप्ते 'जक्षित्याद्यः षट्' इति अभ्यस्तसंज्ञायाम् 'नाभ्यस्ताच्छतुः'
 इति नुमो निषेधे ह्रस्वधादिना सुलोपे पदसंज्ञायाम् 'झलां जशोऽन्ते' इति
 जशवेन तकारस्य दकारे तस्य 'वाञ्चसाने' इति धावे 'जक्षत्' इति । पक्षे—
 'जक्षत्' इति । ताडक्, णड् । 'ताडका' इति स्थिते 'त्यदादिषु दृशोऽनालोचने

'सु'के परे । उभे-षष्ठाध्यायके द्वित्वप्रकरणे जो द्वित्व विधान किये गये हैं, वे (दोनो) द्वित्व
 समुदित (संमिलित) अभ्यस्तसंबन्ध हो । नाऽभ्य—अभ्यस्तसंबन्धके पर 'अत्' को नुम् नहीं
 हो । जक्षि—'जागृ' आदि (वक्ष्यमाण) छै धातु और तातवा 'अक्ष' धातु अभ्यस्तसंबन्ध
 हो । तद्वदा—त्यदादि उपपद रहने पर अज्ञानार्थक 'पृश्' धातुसे 'कञ्' प्रत्यय हो और
 चकारात् 'किञ्' प्रत्यय भी हो । आसव्व—सर्वनामसंबन्ध शब्दको आकारान्त आदेश हो

तादृश । तादृशी । तादृशः । तादृश्याम् ॥ 'तद्ये'ति य । अन्वपत्तये । विट् । विट् ।
 विशी । विश । विश्याम् । नशोर्षा । तादृशे नशोः कर्णोऽन्तादेशो वा परा
 न्ते । नक् । नग् । नट् । नट् । नशी । नशाः । नश्याम् । नश्याम् ॥ स्पृशो-
 ऽनुदके त्रिबन् । शिरीशोऽनुदके पुष्पपदे स्पृशे क्तिन् । घृनस्पृक् । घृन-
 स्पृक् । घृनस्पृशी । घृनस्पृश ॥ दृष्टक् । दृष्ट् । दृष्टो । दृष्ट्याम् ॥
 रत्नमुट् । रत्नमुट् । रत्नमुट् । रत्नमुट्याम् ॥ पट् । पट् । पट्मि ।

कञ् इति क्तिन् तस्य सर्वस्य लोपे कृते 'आ सदान्म' इति तदन्तरस्याना-
 रान्तादेशे सवर्णदीर्घे च 'तादृश' इति रूपम् । तस्य 'कृत्तदितसमासाश्च' इति
 प्रातिपदिकसंज्ञायां सावागते तस्य ह्रस्वपादिना लोपे 'किम्प्रापस्य कु' इत्य-
 रयासिद्धावाप 'महभ्रजनघञम्' इत्यादिना पाठे तस्य 'सल्लो जशोऽन्ते' इति
 ङात्वे, 'किम्प्रापस्य कु' इति कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति चर्येण परे ककारे
 'तादृक्' इति । तदन्तावे 'तादृग्' इति । विट् । 'वित्-प्रवेतने' घात्रो ङिपि वृद्धन्त-
 रवाप्रातिपदिकसंज्ञायां सौ ह्रस्वपादिना लोपे 'दद्यमर' इत्यादिना पाठे 'सल्लो
 जशोऽन्ते' इति जरात्वेन ङात्वे 'वाऽवसाने' इति चर्येण परे ङात्वे 'विट्' इति,
 चर्यामात्रे—'विट्' इति । नक् । 'णञ्-व्यङ्गो' ङिप् । नग् इति रूपम् । एतं सौ,
 ह्राद्वपादिना सोर्लोपे 'मश्च' इति ङात्वे 'सल्लो जशोऽन्ते' इति ङात्वे तस्य 'नशोर्षा'
 इति कुत्वेन ङात्वे चर्ये ककारे 'नक्' इति । परे 'नग्' इति । कुत्वाभावपठे—'नट्,
 नट्' इति । घृनस्पृक् । घृन स्पृशतीति विभक्ते 'स्पृशोऽनुदके क्तिन्' इति त्रिबन्,
 तस्य सर्वस्य लोपे 'उपरदमनिट्' इति उपरदसमासे सुप्तुकि समासावाप्राति-
 पदिकसंज्ञायां सौ कृते 'घृनस्पृश+सु' इति शिष्ये सोर्लोपपादिना लोपे 'किम्-
 प्रापस्य कु' इति कुत्वरयामिद्धावाप पूर्व 'मरष' इति प । तस्य जरात्वेन ङ ।
 तस्य 'किम्प्रापस्य कु' इति ङात्वे 'वाऽवसाने' इति चर्येण ककारे 'घृनस्पृक्'
 इति । परे 'घृनस्पृग्' इति । दृष्टक् । 'श्रिविदृष्टक्' इति त्रिबन्, तस्य सर्वस्य
 लोपे निदाननाद् द्विष्ये अस्यामन्तौ निष्कृद्दन्तदृष्टपुशब्दात् सावागते, तस्य
 इल्लपादिना लोपे जरात्वे प्रति कुत्वरयासिद्धावापमये 'सल्लो जशोऽन्ते' इति
 जरात्वेन ङकारे तस्य 'किम्प्रापस्य कु' इति कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इति वा
 चर्येण ककारे 'दृष्टक्' इति । चर्यामात्रपठे 'दृष्टग्' इति । रत्नमुट् । 'रत्नमुप+सु'
 अत्र सोर्लोपे 'सल्लो जशोऽन्ते' इति ङात्वे 'वाऽवसाने' इति ङकारे 'रत्नमुट्' इति ।
 परे—'रत्नमुट्' इति । अत्र किम्प्रापसावावाग्न कुत्वात् । पट् । पट् सङ्घो निष्प

इग् 'इक्'के वरे । ओर 'वट्' प्रापके परे । अतोर्षा—'वट्' वाट्टु को कर्णान्त्य जादेव हो
 विकारते, वातात्मे । शृशो—'शृक्' इत्य मित्य श्रम्य वनस्य रत्ने पर 'स्पृ' वाट्टु

पद्भ्यः २ । षण्णाम् । पट्सु । पट्सु । यत्तु प्राचा षण्णां पड्णामित्युदाहृतं, तत्रा-
मादिकमेव, प्रत्यये नित्यवचनात् ॥ इत्वं प्रति पत्यस्यासिद्धत्वात्षष्ठ्युत्थोरिति इत्यम् ।
सौरुपधाया दीर्घ इहः । ८।२।७६। रेफान्तस्य षातोरुपधाया इक्षी दीर्घः पदा-
न्ते । पिपठीः । पिपठिषी । पिपठिषः । पिपठीर्भ्याम् ॥ नुम्बिसर्जनीयशब्दार्थवा-
येऽपि । ८।३।५८। एतैः प्रत्येकं व्यधपानेऽर्पाङ्गभ्यां परस्य सस्य मूर्धन्यादेशः

षष्ठ्यवचनान्तः । तेन पद्मशब्दात्प्रसि, 'पप् + जस्' इति स्थिते 'ष्णान्ताः पट्' इति
पट्संज्ञायाम् 'पद्भ्यो लुक्' इति जसो लुकि, 'क्षलां जशोऽन्ते' इति पकारस्य
उकारे तस्य चत्वे च 'पट्' इति, पठे—'पट्' इति । एवं शसि परेऽपि बोध्यम् ।
षण्णाम् । 'पप् + आम्' अत्र 'ष्णान्ताः पट्' इति पट् संज्ञायां 'पट्सु' इत्यर्थे इति
नुटि टित्वाद् आम् धापावचने जाते उठो लोपे पट्संज्ञायां 'क्षलां जशोऽन्ते' इति
पकारस्य उकारे 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति उकारस्यानुनासिके णकारे 'पट् +
पुः' इति भामो णकारस्य पट्त्वे 'षण्णाम्' इति । न च 'न पदान्तादोः' इति
पट्सुनिषेध इति वाच्यम् । 'धनाग्नवत्तिनगरीणामिति वाच्यम्' इति तत्र पर्युदा-
सात् । पट्सु, पट्सु 'पप् सुप्' यत्र पकारस्यैसंज्ञायां लोपे च 'स्वादिभ्यसर्वनाम-
स्थाने' इति पट्संज्ञायां 'क्षलां जशोऽन्ते' इति जश्वेन पकारस्य उकारे
'पट् + सु' इति जाते 'ठः सि पुट्' इति सकारस्य धुडागमे, टित्वाद् 'आद्यन्तौ
टकितौ' इति आधावचने जाते उठो लोपे 'खरि च' इति धकारस्य तकारे पुनश्च
'खरि च' इति उकारस्य उकारे 'पट्सु' इति । पुटोऽभावे 'पट्सु' इति । यत्तु प्राचेति ।
'पप् + आम्' इत्यवस्थायां पट्संज्ञायां 'पट्सु' इत्यर्थे इति नुडागमे 'क्षलां जशोऽन्ते' इति
पत्य इत्वे 'पट् नाम्' इति जाते 'यरोऽनुनासिके' इत्यादिना 'षण्णाम्' 'पट् नाम्'
इति रूपद्वयं भवतीति प्राचीनैकं प्रामादिकं दामासक्तम् इति भावः । आम्-
प्रत्ययत्वेन 'प्रत्यये भाषायां नित्यम्' इति वार्तिकेनानुनासिकस्य नित्यप्रवृत्तित्वेन
'पट् नाम्' इत्यस्यासिद्धत्वात् । न धामः प्रत्ययत्वेऽपि नुटा श्यवधानादनुनासिकवि-
च्छेदपरत्वेव प्राप्तिः व्यवहितप्रत्ययपरत्वेन वार्तिकप्रवृत्तौ अनुनासिकनित्यतायां जश-
पदात्वादिति चेत् । यदागमन्यायेन नुटोऽपि प्रत्ययत्वावच्छिन्नत्वेन प्रत्ययत्वावच्छि-
न्नप्रत्ययपरत्वेन नित्यानुनासिकस्याप्यप्यसिद्धिः प्रायः । पिपठीः । 'पिपठिप् + सु'
इत्यत्र सोर्लोपे, इत्वे कर्तव्ये 'दुर्लभास्त्रिपु' इति पत्यस्यासिद्धत्वात् 'ससु' लोपे इ-
इति इत्वे उकारस्यैसंज्ञायां लोपे च 'पिपठिर्' इति जाते 'सौरुपधाया दीर्घ इहः'
इति उपधाया इकारस्य दीर्घे 'सौरुपधायादीर्घे' इति रेफस्य पिसर्गात्वे

किन्त्' प्रत्यय हो । सौरु—रेफान्तं धौर वान्तं धाम्नी उपधाके 'इक्' को दीर्घं हो, पदान्तमे ।
नुम्-नुम्, विसर्जनीय धौर 'नुर्' इनमे प्रत्येकके व्ययमान होने पर भी इण् धौर इपण्डि

स्यात् । ध्रुवेन पूर्वस्य वा । विपठोषु । वा शरि । विपठोषु ॥ चिहो । चिहो
 यो । चिहोर्पुं । चिहोर्पुं ॥ विद्वात् । विद्वाँ । हे विद्वात् । वसोः सम्प्रसार-
 णम् । दि।।।१३१। वसन्तस्य मस्य सम्प्रसारणम् । विदुषः । 'वसुप्रसिद्ध'ति वसुम् ।
 विद्वाभ्याम् ॥ पुंसोऽसुह् ॥ १।८९। पुंसोऽसुह् स्यात् सर्वनामस्थाने । पुमान् ।
 हे पुमान् । पुमाँसो । पुष । पु-शम् । पुषु ॥ 'शुद्धतने'रयान् । उशना । उश-

'विपठो' इति रूपम् । विपठोषु । 'विपठिस + सुप्' अत्र 'दृढमयम्' इति पकारस्ये-
 सज्ञायां 'तस्य लोप' इति लोपे 'स्वादिष्वेत्सर्वनामस्थाने' इति पदमज्ञायां 'सम-
 जुषो ष' इति सरप स्ये उकारलोपे 'वीह्रवाया दीर्घश्च' इत्युपवाया दीर्घत्वे
 'प्रवसाजपोर्विसर्जनीय' इति रेफस्य विसर्गात्वे 'विपटीः सु' इति आत्ते 'विसर्जनी-
 यस्य स' इति विसर्गात्पुं सत्वे 'नुमिवसर्जनीयस्यर्थापेऽपि' इति चार्थवापेऽपि
 शुभ्रप्रत्ययस्य पथे 'टुना टु' इति पूर्वस्य सकारस्य चत्वे 'विपठोषु' इति । पथे-
 'वा शरि' इति विसर्गात्पुं विसर्गे 'नुमिवसर्जनीय' इति विसर्गात्पुं चत्वे
 'विपठोषु' इति । चिहो । 'चिहोर्पुं—सु' अत्र सोर्लोपे पकारस्य अक्षिप्राकार-
 शुद्धया 'रात्मस्य' इति सलोपे रेकारे विसर्गात्वे च रूपम् । विद्वात् । 'विद्वात् + सु'
 अत्र सोर्लोपे 'प्रायमलोप' इति प्रायमलक्षणे 'उगिदृषां सर्वनामस्थानेऽघातोः'
 इति उपवाया दीर्घत्वे 'सयोगात्तस्य लोप' इति सलोपे 'विद्वात्' इति रूपम् ।
 विदुषः । विद्वात् + शम् अत्र 'लसत्तदिते' इति पकारस्येत्सज्ञायां 'तस्य लोप'
 इति लोपे 'यचि भम्' इति भसज्ञायां 'वसो सम्प्रसारणम्' इति वस्य स्थाने
 उकाररूपे सम्प्रसारणे कृते 'विद् उ भस' इति आत्ते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्व-
 रूपकारेणो 'विदुष + भस' इति आत्ते 'आदेशप्रत्यययो' इति प्रायमाद्यपवात् सस्य
 चत्वे सयोते च कृते 'विदुषस' इति मूले जन्मपसकारस्य 'ससजुषो ष' इति स्ये
 पकारस्येत्सज्ञायां लोपे च 'प्रवसाजपोर्विसर्जनीयः' इति रेफस्य विसर्गात्वे 'विदुषः'
 इति रूपम् । पुमान् । 'पुम् + सु' इत्यथ 'पुंसोऽसुह्' इत्यसुक्ति विहिते 'किञ्च'
 इति अनितमसकारस्य स्थाने आत्ते 'पुमसुह् + सु' इति मूले 'दृढमयम्' इति कडा
 स्य 'उपदेशोऽनुशक्तिक' इत्यु उकारस्य चोत्सज्ञायां 'तस्य लोप' इति उमयो-
 र्ज्ञातकारमोर्लोपे 'पुमस + सु' इति स्थिते सोर्दृढमादिना लोपे प्रायमलक्षणे 'उगिदृ-
 षाच्च' इति नुमि-भमि गते मिश्रादस्याच्च परे 'साध्यमदृत्' संयोगस्य इति उप-
 वादीर्घसंयोगात्सलोपे 'पुमान्' इति । उशना । 'उशन्स + सु' अत्र 'शुद्धतनेरपुंसो-
 ऽनेहसाच्च' इति अनक्ति 'किञ्च' इत्यथस्य सः स्थाने कृते पकारस्येत्सज्ञायां लोपे च

एतत्कारणे पूर्वस्य (वसन्त) आदेशो हो । वसो—वसन्त वसन्तकरो संवहारण हो ।
 वसो—पुं'को असुह् आदेशो हो, सर्वनामस्थाने परे ।

नसी । अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ्, नलोपश्च वा वाच्यः । हे उशनः ।
 हे उशनः । । हे उशनः । । उशनोभ्याम् ॥ अनेहा । अनेहसौ । अनेहसः ।
 हे अनेहः ॥ वेधाः । वेधसौ । वेधसः । वेधोभ्याम् ॥ अदस औ सुलोपश्च
 [७।२।१०५] अदस औकारोऽन्तादेशः स्यात् सौ परे सुलोपश्च । 'तदो' रिति सः ।
 असौ ॥ औत्वप्रतिषेधः साकचकस्य वा वक्तव्यः । प्रतिषेधपक्षे—सादुत्वं
 च । असकौ । असुकः । त्यदाद्यत्वं पररूपत्वम् । वृद्धिः । अदसोऽसेदोऽद्वौ

अकारस्योच्चारणार्थत्वात्सिम्नन् गते 'उशनन् सु' इति स्थिते 'सुद्धनपुंसकस्य' इति
 सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'हृ-
 ल्-क्याभ्यो दीर्घात्' इति सोर्लोपे 'नलोपः प्रतिपदिकान्तस्य' इति सलोपे 'उशना'
 इति । हे उशनः । हे उशनस + सु' अत्र सोर्लोपे 'अस्य सम्बुद्धौ वाऽनङ् नलोपश्च
 वा वाच्यः' इति वार्तिकेन अनङ् कृते नलोपे च कृते 'हे उशन' इति । वामह-
 षान्नलोपाभावे 'हे उशनन्' इति । अनङ्गादेशाभावे सस्य दत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च
 कृते 'हे उशनः' इति । उशनोभ्याम् । 'उशनस + भ्याम्' अत्र 'स्वादिभ्यसर्वनामस्थाने'
 इति पदसंज्ञायां 'सप्तलपो कः' इति सकारस्य दत्वे 'हशि च' इत्युक्त्वे 'आद्गुणः'
 इति गुणे च कृते 'उशनोभ्याम्' इति । अनेहा । 'अनेहस + सु' अत्र 'ऋदुशनश्चुद्ध-
 दंसोऽनेहसाङ्' इत्यनङ् क्तिवादन्यस्य स्थाने कृते अनुबन्धलोपे ह्रस्व्यादिना
 सोर्लोपे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्युपधाया दीर्घत्वे 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'
 इति नलोपे 'अनेहा' इति रूपम् । वेधाः । 'वेधस + सु' अत्र 'अवसन्तस्य चाधातोः'
 इत्यसन्तत्वादीर्घे सोर्लोपे च कृते सवधिसर्गो 'वेधाः' । हे वेधः । अत्र 'असम्बुद्धौ'
 इत्युक्तेर्दीर्घः । नसी । 'अद् + सु' इत्यत्र 'अदस औ सुलोपश्च' इति सस्य स्थाने
 औत्वे सलोपे च विहिते, अद् औ इति जाते 'तदोः सः सावनन्त्ययोः' इति इत्स्य-
 सात्वे 'वृद्धिरेषि' इति वृद्धौ च कृतायाश्च 'असौ' इति सिद्धयति । औत्वप्रतिषेध इति ।
 'अदस औ सुलोपश्च' इत्यत्र णद्स् णद्देन तन्मन्त्यपतितन्यायेन 'अदकस' शब्दस्या-
 र्थप ग्रहणादीन्ते प्राप्ते विद्वेषेन तत्प्रतिषेधो वक्तव्यः 'तदोः सः सौ' इति वकारस्य
 ककारे कृते सवजासकारात्परस्य सकारस्य उकारश्च वा वक्तव्य इति वार्तिकार्थः ।
 सत्स्य 'अदकस + स' इति स्थिते औत्वाभावे इत्स्य सात्वे सति सकारात्परस्य
 अकारस्य उत्वे सति एवदाद्यत्वे, पररूपत्वे, कृते विसर्गो च कृते 'असुकः' इति
 रूपस्य सिद्धिः । औत्वप्रतिषेधाभावे 'अदकस + स' इति स्थिते सकारशब्दोत्वे,

अदस—उशनन् शब्दको संबुद्धिके परे विकल्पते अनङ् आदेश हो नीर न का जोष
 भी विकल्पते हो । अदस—'अदस्' शब्दको मुक्के परे औकारान्त आदेश हो और सुलोप भी
 हो । औत्व—अदक् विहित अदस् शब्दको औत्वका प्रतिषेध हो—तथा सकारोत्तर—अकारको
 कत्व भी हो विकल्पते । अदस—जतान् अदस् शब्दसम्बन्धी ककारसे पर उद-ऊद हो

म । ८।२।८०। अदसोऽसान्तस्य दापरस्य उदतो रतो, दस्य मथ आन्तरस्याद्
ह्रस्वस्य ङ । दीर्घस्य ऊ । अम् । 'अस शी' । एत ईद् वहुवचने । ८।२।८१।
अदसोऽसात्स्य दात् परस्यैत ईत्, दस्य च मो, बहुवोली । अमी । 'पूर्वप्रासिद्ध
मि'ति विभक्तिकार्यं प्राक्, पश्चाद्ब्रह्मण्ये । अमुम् । अम् । अमून् । मुञ्चे कृते विभ-
क्त्या 'ना' माव । न मुने । ८।२।८२। 'ना'मावे कर्त्तव्ये, कृते च मुमावो नाऽसिद्ध ।
अमुना । अमूभ्याम् । अमीभिः । अमुमैः । अमीभ्यः । अमुष्वात् । अमुष्य ।
अमुदो । अमाषाम् । अमुग्भिन् । अमुदो । अमीषु ॥

इति इत्यन्ताः पुल्लिङ्गा ।

मुलोपे, दस्य सावे 'अमुकी' इति रूपं भवति । अम् । 'अदस + औ' अत्र
'एदादीनाम' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद + औ' इति जाते
'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ कृतायां 'अदौ' इति भूते 'अदसोऽसेदावुदो म' इति औका-
रस्य उकारे दस्य सावे च 'अम्' इति रूपं सिद्धयति । अमी । 'अदस + अस' अत्र
'एदादीनाम' इत्यकारान्तादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'अद + अस' इति स्थिते
'अस शी' इति अस' स्थाने श्यादेशे सकारस्योत्सर्गायां ङोपे च 'आद्गुण' इति
गुणे 'अदे' इति जाते 'एन ईद् वहुवचने' इति प्रकारस्य ईकारे 'दस्य च मत्पे 'अमी'
इति । अमुना । 'अदस + टा' अत्र एदादावे पररूपावे च 'अदसोऽसेदावुदो म' इति
अकारस्य उावे दस्य च मत्पे 'अमु + टा' इति जाते नामावे कर्त्तव्ये 'न मु ने' इत्य-
नेन मुत्वस्यासिद्धायाभावबोधनात् 'सोपोऽभ्यसन्वि' इति विभक्त्यायां 'आहो नाऽ-
द्विषाम्' इति टा इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति रूपं सिद्धम् । न च मुत्वस्यासिद्ध-
त्वात् 'मुनि च' इति दीर्घं रमादिति वाच्यम् । 'न मु ने' इत्यनेन कृते च नामावे
नामिदत्त्वमित्यस्यापि बोधनात् । इति ह्रस्वपुलिङ्गप्रकरणम् ।

(हरकको ह्रस्व दीर्घको दीर्घ) तथा उकारको मकार आदेश हो । एत—असान्त अदस
अदसस्यन्ती उकारके पर उकारको ईद् हो तथा उकारको मकार आदेश हो, बहुवचने ।
न मुने—'ना' माव कर्त्तव्य हो वा कर मो किया गया हो तो भी 'मु' माव असिद्ध नहीं हो।
अदस शब्द पुं०—अमी, अम्, अमी । अमुन्, वाम्, अमून् । अमुना, अमूभ्याम्,
अमीभिः । अमुमैः, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्वात्, अमूभ्याम्, अमीभ्यः । अमुष्य,
अमुदो, अमाषाम् । अमुग्भिन्, अमुदो । अमीषु । नपुंसकस्ये—अद, अम् अमून् ।
पुनरुत्तर । शेषे पुंस्य । अदस शब्द स्त्रीलिङ्गस्ये—अद, अम्, अमून् । अमून्, अम्,
अमून् । अमुषा, अमूभ्याम् अमूभिः । अमुभ्ये, अमून्वाम्, अमूभ्यः । अमुभ्या, अमूभ्याम् ।
अमूभ्यः । अमुष्वा, अमुषो, अमूषाम् । अमुष्वात्, अमुषो, अमूषु ।

इस प्रकार 'इन्दुमयी' टीकाने इत्यन्तपुलिङ्ग समाप्त हुआ ।

अथ हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ।

नहो घः । ८।२।३४। नहो हस्य घः स्यात् झलि, पदान्ते च । नहिवृत्तिवृ-
पिच्यधिरुद्धिल्लहितनिष्ठौ ॥ ६।३।११६। क्विबन्तेष्वेषु पूर्वपदस्य दीर्घः । उपान-
न्त् । उपानद् । उपानहौ । उपानहः । उपानद्भ्याम् । उपानत्सु । निपातनाहोप-
पत्वे । क्विबन्तत्वात्कृत्वेन हस्य घः । जश्त्वे चार्धे उणिक् । उणिग् । उणिहौ ।
उणिग्भ्याम् । शीः । दिवौ । दिवः । शुभ्याम् ॥ गीः । गिरौ । गिरः । एवं-पूर् ॥
चतस्रः २ । चतस्रभिः । चतस्रभ्यः २ । चतस्रणाम् । चतस्र्यु ॥ का । के । काः ।

उपानत् । 'उपानह् + सु' इति स्थिते सोढकारे गते 'स्' इत्यस्य 'हृत्-याव्ययो
दीर्घात्' इति लोपे 'नहो घः' इति हकारस्य धत्वे 'झळां जसोऽन्ते' इति झका-
रस्य धत्वे 'वावसाने' इति चार्धे 'उपानत्' इति । पक्षे—'उपानद्' इति । उणिक् ।
उत्पूर्वात् उणिह् घातोः 'श्रुत्विद्दृष्टक्' इत्यादिना क्विनि तस्य सर्वस्य लोपे निपात-
नाद् दलोपे धत्वे च निष्पन्नः—उणिह् षाब्दः । कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां सापामये
तस्य हृत्-याव्यदिना लोपे 'क्विन्प्रायस्य कुः' इति कुत्वेन हकारस्य धत्वे 'झळां जसो-
ऽन्ते' इति जश्त्वेन धत्वे 'वावसाने' इति चार्धेन वा कर्त्वे 'उणिक्' इति । पक्षे—
'उणिग्' इति । शीः । 'दिव् + सु' इत्यत्र 'दिव औत्' इति चकारस्य औकारे 'ह्रौ
यणचि' इति यणि सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च 'द्यौः' इति सिद्धम् । शुभ्याम् ।
इति रूपं सिद्धम् । गीः । 'गृ-त्तिगणे' क्विप् 'श्रुत् इद्धातोः' इति हृत्त्वम्, 'उरण्
रपरः' इति रपरम् । गिरशब्दात्सुबुत्पत्तिः, सोर्लोपः, 'वोरुपघाया दीर्घ इफः' इति
दीर्घे, रेफस्य विसर्गः, इति भावः । चतस्रः । 'चतुर् + जस्' इत्यत्र 'त्रिचतुरोः स्त्रियां
तिसृचतस्र' इति चतुर्शब्दस्य चतस्रादेशे विहिते जसो जकारस्य 'सुद्' इत्वीरसंज्ञा-
ज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'अचि र श्रुतः' इति श्रकारस्य रेफत्वे, सस्य
रुत्वे रेफस्य विसर्गात्वे च कृत्वे 'चतस्रः' इति सिद्धम् । एवं शस्यपि—'श्रुतस्रः' इति ।
चतस्रणाम् । 'चतुर् + आम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः स्त्रियां तिसृचतस्र' इति चतस्रा-
देशे 'चतस्र् + आम्' इति जाते अत्र 'अचि र श्रुतः' इति श्रकारस्य रेफादेशे प्राप्ते
'नुमच्चिरवृज्वन्नावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं बाधित्वा 'हृत्-
नद्यापो नुट्' इति नुटि, उटि गते टिश्वादाद्यावयवे जाते 'चतस्र् + आम्' इति स्थिते
'नामि' इति दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृचतस्र' इति निषिद्धे 'श्रवर्णास्य गत्वे टाप्स्यत्'

न हो—'नह्'धातुके हकारको धकार हो, शल्के परे पदान्तमें । नहि-क्विबन्त नह्, शृष्ट,

सर्वावन् ॥ यः सो । ७।२।११०। इमो दस्य य स्यात्सो । इमो म' । इयम् ।
 त्यदादावम् । टाप् । 'दश्चेति' म । इमे । इमा' । इमाम् । इमे । इमा० । अनया ।
 हलि लोपः । आभ्याम् । आभि । अस्यै । अस्या २ । अनयोः २ । आभ्याम् ।
 अस्याम् । आभु । अभ्यादेशे तु-एनाम् । एने । एना । एनया । एनयोः २ ॥
 'श्रुत्विणादिना सुजेः क्तिन्, अनगमस्य निपात्यने 'घञ् । छत्रो । छत्र' । छत्र्याम् ॥
 त्यदादाये-टाप् । स्या । स्ये । स्या । एवम्—तद् । यद् । एतद् ॥ वाक् । वाग् ।
 वाचो । वाच । वाभ्याम् ३ ॥ अप्छन्दोनिव्यबहुवचनान्त । 'अप्सुन्नि'ति दीर्घ' ।

इति जात्ये 'चतसृगाम्' इति रूप सिद्धम् । इयम् । 'इयम् + स्' इति शिवते 'यः
 सो' इति नस्य स्थाने यकारादेशे कृते 'इयम् + स्' इति जाते 'त्यदादीनाम' इत्य-
 कारादेशे प्राप्ते च षाधित्वा 'इमो म' इति सकारस्य सकारादेशे कृते 'दृक्छयाग्यो
 दीर्घात्' इति सलोपे 'इयम्' इति सिद्धम् । अनया । 'इयम् + टा' इत्यत्र त्यदादाये,
 पररूपत्वे टापि, 'इदा + टा' इति जाते 'सुट्' इति टकारस्येत्सज्ञायां 'तस्य लोप'
 इति लोपे सवर्णदीर्घे 'इदा + भा' इति जाते 'अनाप्यक' इतीदम इजागरस्य अना-
 देशे 'अना आ' इति जाते 'आङि चाप' इत्यावस्ताङ्गस्यैकारे कृते 'एचोऽयवायाव'
 इत्ययादेशे सपोमे च कृते 'अनया' इति रूपम् । आभ्याम् । 'इयम् + भ्याम्' अत्र
 त्यदादाये, पररूपत्वे, टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे 'इदा + भ्याम्' इति जाते 'हलि
 लोप' इति इजागरस्य लोपे कृते 'आभ्याम्' इति । आभ्याम् । 'इयम् + आम्' इत्यत्र
 त्यदादाये, पररूपत्वे च कृते टापि, सवर्णदीर्घे 'इदा + आम्' इति जाते, सत्र 'आभि
 सर्वनाम सुट्' इति सुटि, उटि गते, टिरादादायावयवे जाते 'हलि लोप' इति इजा-
 गरस्य लोपे 'आभ्याम्' इति रूपम् । धात्विति । 'घञ्' दादाय् टि इत्यात् सो उकारस्ये-
 तसज्ञायां लोपे 'अट्क प्काल् प्रायय' इति सकारस्य अट्कसज्ञायां 'दृक्छयाग्यो'
 इति सत्रोपे 'सर्ला जशोऽन्ते' 'वावसाने' इति या प्रकृतौ घञ् सग् इति रूपद्वयं
 साधु । साम्यानिदि । 'घञ् + भ्याम्' इत्यवस्थायां 'सर्ला जश् सति' इति करस्य
 गये घाम्यामिति सिद्धम् । स्या । 'त्यद् + सु' इत्यत्र त्यदादाये, पररूपत्वे च कृते
 टापि, टकारस्येत्सज्ञायां लोपे च सवर्णदीर्घे, 'तदो स' सावतन्मयोः' इति
 तस्य स्ये 'दृक्छयादिना' सलोपे 'स्या' इति । स्या । 'त्यद् + बस्' इत्यत्र त्यदा-
 दाये, पररूपत्वे च टापि, टकारस्येत्सज्ञायां लोपे च 'स्या + जस्' इति शिवते
 'सुट्' इति उकारस्येत्सज्ञायां 'तस्य लोप' इति लोपे 'प्रथमयो पूर्वसवर्ण' इति
 पूर्वसवर्णदीर्घादेशे प्राप्ते 'नादिचि' इति निविद्धे 'अक. सवर्णे दीर्घ' इति दीर्घादेशे

इद्, स्वद्, क्च्, सद् शीर्षे तद् प्रागुक्ते परे इत् 'अग्' को दीर्घ इत् । य' सो-इयम् इत्य-
 के टकारो टकार आदेश इत्, 'सु' के परे लीटिङ्गने ।

आपः । अपः ॥ अपो भि । ७।४।४८। अपस्तकारो भादौ प्रत्यये । अद्भिः ।
 अद्भ्यः २ । अपाम् । अप्सु ॥ दिक् । दिग् । दिशौ । दिशः । दिग्भ्याम् । त्यदा-
 दिध्विति दृशोः क्तिन्विधानादन्यत्रापि कृत्वम् । दृक् । दृशौ । दृशः । दृग्भ्याम् ॥
 त्विट् । त्विषौ । त्विषः । त्विद्भ्याम् । त्विट्प्सु । त्विट्प्सु ॥ 'ससजुपोरि'ति
 कृत्वम् । सजूः । सजुषौ । सजूर्भ्याम् ॥ आशोः । आशिषौ । आशीर्भ्याम् ॥
 असौ । त्यदाद्यत्वम् । टाप् । औढः शी । उत्त्वमत्वे । अम् । अमूः । अमुया । अमू-
 भ्याम् । अमूभिः । अमुष्यै । अमूभ्यः । अमुष्याः २ । अमुयोः २ । अमूपाम् ।
 अमुष्याम् । अमूपु । इति हलन्ताः स्त्रीलिङ्गाः ॥

कृते सस्य 'ससजुपो रुः' इति रुत्वे उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च रेफस्य विसर्गत्वे च
 'त्याः' इति रूपम् । वाग् । 'वाच् + सु' इत्यत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां
 लोपे च कृते स् इत्यस्य 'हृद्वादिना' लोपे चकारस्य 'चोः कुः' इति कृत्वेन कत्वे
 तस्य 'क्षलां जशोऽन्ते' इति गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'वाक्' इति ।
 विकल्पभावावपत्ते 'वाग्' इति । आपः । 'अप् + जस्' इत्यत्र 'अप्त्तृत्स्वसृत्तप्त्तृ-
 ह्यादिना उपधादीर्घे कृते 'जुट्' इति जकारस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे
 च कृते, कृते च संयोगे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आपः' इति । अद्भिः ।
 'अप् + भिस' इत्यत्र 'अपो भि' इति पश्य तकारे 'क्षलां जशोऽन्ते' इति तस्य
 दत्वे सस्य रुत्वे रेफस्य विसर्गत्वे च कृते 'अद्भिः' इति । दिक् । 'दिश-अतिप्रजने'
 'श्रत्विक्' इत्यादिना क्तिन् तस्य सर्वस्यापहारे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकसंज्ञायां
 सावागते, तस्याजुचन्धस्य लोपे कृते 'हृद्वादिना' सलोपे कृते 'दिश' इति जाते
 तत्र 'त्रश्चभ्रज्ञसृजमृजं' इति पत्वे 'क्षलां जशोऽन्ते' इति दत्वे 'क्तिन्प्रत्ययस्य
 कुः' इति दृश्य कृत्वेन गत्वे 'वावसाने' इति विकल्पेन कत्वे 'दिक्' इति ।
 पत्ते-दिग् इति । दृक् । 'दृश + सु' अत्र उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'हृद्वाद्याम्भ्यो
 दीर्घात्' इति सलोपे 'त्रश्चभ्रज्ञसृजमृजं' इति पत्वे पश्य 'क्षलां जशोऽन्ते'
 इति दत्वे 'क्तिन्प्रत्ययस्य कुः' इति (क्तिन्प्रत्ययो यस्माद्विहित इति बहुव्रीह्याभ्रय-
 षात्) कृत्वेन गकारे 'वावसाने' इति गस्य कत्वे 'दृक्' इति, पत्ते 'दृग्' इति ।
 सजूः । 'सजुप् + सु' अत्र सकारोत्तरवर्तिन उकारस्येत्संज्ञायां लोपे च स् इत्यस्य
 'हृद्वाद्याम्भ्यो दीर्घात्सुतिश्चपृक्तं हल्' इति लोपे 'ससजुपो रुः' इति सस्य रुत्वे
 उकारलोपे 'वोरूपधाया दीर्घ इकः' इति जकारोत्तरवर्त्युकारस्य दीर्घत्वे रेफस्य
 विसर्गत्वे च 'सजूः' इति रूपम् । इति हलन्तस्त्रीलिङ्गप्रकरणम् ।

अपो—'अप्' शुद्धको तकारान्त आदेश हो भकारादि प्रत्ययके परे ।
 इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें हलन्त स्त्रीलिङ्ग प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ हलन्ता नपुंसकलिङ्गाः ।

स्वमोर्णुक् । दसम् । स्वनहुत् । स्वनहुही । चतुरनहुहोरि'र्याम् । स्वनहुर्वा-
 हि । पुनरतद्धत् । शेष पुषत् ॥ वा । वारी । वारि । वारा । वार्याम् ॥ चरवारि ॥
 हिम् । के । कानि ॥ इदम् । इमे । इमानि ॥ (अन्वादेशे नपुंसके एनद्वन्द्वः) ।
 एनत् । एने । एनानि । एनेन । एनयोः २ ॥ श्योम् । श्योम्नी-श्योमनी । श्योमानि ।

स्वनहुत् । सु-शोभना' अन्वद्वाहः यस्य कुलस्येति बहुमीही, स्वनहुद् दाम्नात्
 नपुंसकलिङ्गात् सावागते 'स्वनहुद् + सु' इति स्थिते अत्र 'स्वमोर्नेपुंसकात्' इति
 मुळोपे 'बसुर्णुस्वस्वनहुर्हा यः' इति हस्य दावे 'वावसाने' इति दस्य तावे
 'स्वनहुत्' इति । पने- 'स्वनहुद्' इति । स्वनहुही । 'स्वनहुद् + औ' इत्यत्र 'नपुं-
 सकारश्च' इति औस्थाने स्यादेशे साकारस्य 'लज्जतद्धिते' श्योसज्ञायां 'दस्य
 लोप' इति लोपे सयोगे च कृते 'स्वनहुही' इति । वा । 'वारु + सु' इत्यत्र 'स्व-
 मोर्नेपुंसकात्' इति मुळोपे पदान्तत्वात् 'खरखसानयोर्विसर्जनीय' इति रेफस्य
 विसर्ग 'वा' इति रूपम् । वारी । 'वारु + औ' इत्यत्र 'औ' इत्यस्य स्थाने 'नपुंस-
 कात्' इति स्यादेशे सस्येसज्ञायां लोपे सयोगे च कृते 'वारी' इति । वारि ।
 'वारु + ऌस्' इत्यत्र 'खरदासो. सि.' इति षस स्थाने स्यादेशे सस्येसज्ञायां
 लोपे च कृते सयोगे 'वारि' इति । चत्वारि । 'चतुर् + षस्' इति स्थिते अत्र 'खरदा
 सोः सि' इति षस स्थाने स्यादेशे कृते सस्येसज्ञायां लोपे च विहिते 'सि सर्व-
 नामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसज्ञायां 'चतुरनहुहोरिशुवात्' इत्यामि, मकार-
 स्वेसज्ञायां लोपे च मित्वाङ्गत्वाच्च परे ताते 'इको षणषि' इति यणि
 सयोगे च कृते 'चत्वारि' इति रूपम् । इमे । 'इदम् + औ' इत्यत्र 'त्यदादीनाम्.'
 इत्यपरे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'नपुंसकात्' इति 'शौ' आदेशे सस्येसज्ञायां
 लोपे च 'आद्गुण' इति गुणे 'इदे' इति जाते 'दस्य' इति दस्य मात्वे 'इमे' इति ।
 इदम् । 'इदम् अम्' इति स्थिते 'स्वमोर्नेपुंसकात्' इत्यमो लुकि, 'अन्वादेशे नपुंसके
 एनद् वल्लभ्य' इतीदम् एनदादेशे 'वावसाने' इति विकल्पेन चार्धे 'एनत्' इति ।
 एने- 'एनद्' इति । एनेन । 'इदम् + टा' अन्वादेशे सति एनदादेशे त्यदाद्ये पररू-
 पत्वे च कृते 'टाहसिहसामिनास्या' इति दास्थाने इनादेशे 'आद्गुण' इति गुणे
 'एनेन' इति । श्योम्नीति । 'श्योमन् + औ' इत्यवस्थायां 'नपुंसकार्धे' स्यादिना
 स्यादेशे सस्येसज्ञायां लोपे 'विभाषा डिर्पोरि'ति उपधाया अकारस्य लोपे षणे
 सयोगे 'श्योम्नी' इति, लोपामाये च श्योमनी इति रूपे भवत । श्योमानि इति ।
 श्योमन् सङ्घा' अति 'जन्तृशासो' सि' इति स्यादेशे सलोपे सर्वनामस्थानसज्ञायां

अन्ता- अन्व. द्वैटदे विषय इने पर नपुंसक लिङ्गदे 'इदम्' और 'एनद्' इत्युको

मन् । (संबुद्धौ नपुंसकानां नलोपो वा वाच्यः) । हे मन् । हे मन् । हे मन् ।
 मन् । मन् । मन् । १० सुपि । अहः । विभाषा लिश्योः । अहो-महनी ।
 अहानि ॥ अहन् । ८ २।६। अहजित्यस्य ङः पदान्ते । अहोभ्याम् ॥ दण्डि ।
 दण्डनी । दण्डनी ॥ सुपथि । टिनोपः-सुपथी । सुपन्थानि ॥ ऊक् । ऊर्जो ।
 ऊर्जि । नरजानां संयोगः ॥ त्यद् । त्ये । त्यानि । तत् । ते । तानि । यद् । ये ।

दीर्घं च कृते रूपं भवतीति । मन्नेति । मन्ने इति नान्तं प्रातिपदिकम् । अस्य म्योमन्
 शब्दवद्गुणाणि । हे मन् हे मन् इति । अस्य सति नलोपे हे मन् इति रूपम् ।
 असति च लोपे हे मन् इति रूपं स्पष्टमेवेति भावः । अहः । 'अहन् सु'
 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'रोऽसुपि' इति नस्य रेफादेशे 'स्वरवसानयोर्विस-
 र्जनीयः' इति विसर्गे च 'अहः' इति । अहो । 'अहन् + औ' अत्र 'नपुंसकात्' इति
 'शी' आदेशे दास्येसंज्ञायां लोपे च 'यच्चि भम्' इति भसंज्ञायां 'विभाषा लिश्योः'
 इति अनोऽकारस्य विकल्पेन लोपे 'अहो' इति । विकल्पभाष्ये—'अहनी' इति ।
 भ्यामादौ हलि विशेषमाह—अह्निति । 'ससुपो ङः' इत्यतो चरित्यनुवर्तते, 'स्त्रोः
 संयोगाद्योः' इत्यतः अन्त इति च, पदस्य हर्यधिकृतम्, 'अहन्' इति लुप्तपठिकम् ।
 तदाह—अह्निरयस्येत्यादिना । अहोभ्याम् । अहन् + भ्याम्' इत्यत्र 'एवादिष्वसर्वनाम-
 स्थाने' इतिपदसंज्ञायाम् 'अहन्' इति नस्य चत्वे 'इति च' इत्युत्वे 'आद्गुणः'
 इति गुणे 'अहोभ्याम्' इति । सुपन्थानि । 'सुपथिन् + जस्' अत्र 'जशसोः शिः'
 इति जसः स्थाने शौ कृते दास्येसंज्ञायां लोपे च कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति
 सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'इतोऽस्सर्वनामस्थाने' इति थकारान्तःपातिन इकारस्या-
 कारे कृते 'सुपथिन् + इ' इति जाते 'यो न्यः' इति थस्य न्यादेशे 'सर्वनामस्थाने
 चाऽसम्बुद्धौ' इति नान्तोपधायाः दीर्घत्वे 'सुपन्थानि' इति । ऊक् । 'ऊर्ज् + सु'
 अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुकि 'षोः कुः' इति जस्य कुत्वेन गत्वे 'वाऽपसाने'
 इति विकल्पेन कत्वे 'ऊर्ज्' इति । पचे—'ऊर्ज्' इति । ऊर्जि । 'ऊर्ज् + षाद्'
 अत्र 'जशसोः शिः' इति जसः स्थाने श्यादेशे 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वना-
 मस्थानसंज्ञायाम्, शसः शस्येसंज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य झलचः' इति जुमि उमि
 नाते मिच्चाद्गत्याद्घः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' हर्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य यत्रि
 परसवर्णः' इति परसवर्णे च कृते 'ऊर्जि' इति रूपम् । तानि । 'तद् + औ' अत्र
 र्यदाद्यत्वे, पररूपत्वे, जसः शौ, अनुषन्चलोपे, सर्वनामस्थानसंज्ञायाद्, 'नपुंसकस्य
 झलचः' इति जुमि, उमि गत्वे मिच्चाद्गत्याद्घः परे 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ'

'मन्द्' आदेश ए । सञ्जु—सञ्जुकिडे परे नपुंसकविभ्रमे नकारत्वात् ओप हो, विद्वत्पते ।
 अहद्—अहन्' शब्द (हे नकार) को 'र' हो, पदान्तमें ।

यानि ॥ एतत् । एते । एतानि ॥ ॥ 'अवह् स्तोत्रायनस्ये'ति अवह् ।

गवाक्शब्दस्य रूपाणि फलीयेऽर्थागतिभेदत ।

असन्वयवह्पूर्वरूपैर्नवाधिकशतं मतम् ॥ १ ॥

स्वम्सुसु नच, पङ् भादी पटुके स्युम्त्रीणि जशसो ।

चरवारि शोपे दशके रूपाणीति विभाषय ॥ २ ॥

गवाक् गवाग् । गोचो । गवाधि । पुनस्तद्वत् । गोचा । गवाग्भ्याम् ॥ यद्वत् ॥

इति मान्त्वोपधाया दीर्घाये सयोगे च कृते 'तानि' इति रूपम् । एतानि । 'एतद् + अस' अत्र स्यद्वाच्ये पररूपत्वे 'जशसो. दि' इति जस शौ 'दि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् दास्येत्सञ्ज्ञायां लोपे च 'नपंसकस्य झलच.' इति भूमि उमि गने मिधादन्त्यादय परे 'सर्वनामस्थाने चासम्बुद्धी' इति मान्त्वोपधाया दीर्घाये सयोगे च कृते 'एतानि' इति । गवाक् । गामश्चतीति विग्रहे किमि उपपद्समासे सुद्वुक्ति, 'गो अन्च्' इति स्थिते कृदन्तत्वाप्रातिपदिकसञ्ज्ञायां सावागते, गो अन्च् सु' इत्यत्र 'अनिदिता हल उपधाया षिटि' इति नलोपे 'गो अच् सु' इत्यवधिष्टे 'यवह् स्तोत्रायनस्य' इत्यवधि ढस्येत्सञ्ज्ञाया लोपे च 'डिष्' इत्यन्तादेशे 'अक सयणे दीर्घ' इति दीर्घे 'स्वमोर्नपसमात्' इति सौर्लुकि 'क्विप्रप्रचयस्य कु' इति चरणे कये 'झलं जशोऽन्ते' इति गये 'वाऽवसाने' इति वा कये 'गवाक्' इति । चर्त्तभावपठे—'गवाग्' इति । गोचो । 'गो अन्च् अ' इत्यत्र 'अनिदिता हल उपधाया षिटि' इति नलोपे 'नपसकारच' इति भौस्थाने श्यादेशे दास्येत्सञ्ज्ञाया लोपे च 'यचि भम्' इति भयञ्ज्ञायाम् 'अच' इति अचोऽकारस्य लोपे सयोगे च

गवाक्शब्द—गवाक्-गवाग्, गोअक्-गोअग्, गोऽक्-गोऽग्, गवाठ, गोअठ, गोऽठ (१) गोचा, गवाधी, गोअधी-गोऽधी (२) गवाधि, गोअधि-गोऽधि (३) गोचा गरञा, गोअञा गोऽञा (४), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम् गोऽग्भ्याम्, गवाठभ्याम्, गोअठभ्याम्-गोऽठभ्याम् (५), गवाग्भि, गोअग्भि-गोऽग्भि, गवाठभि, गोअठभि गोऽठभि (६), गोचे, गवाठे, गोअठे-गोऽठे (७) गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाठभ्याम्, गोअठभ्याम्-गोऽठभ्याम् (८), गवाग्भ्य, गोअग्भ्य-गोऽग्भ्य, गवाठभ्य, गोअठभ्य-गोऽठभ्य (९), गोच, गवाध, गोअध-गोऽध (१०), गवाग्भ्याम्, गोअग्भ्याम्-गोऽग्भ्याम्, गवाठभ्याम्, गोअठभ्याम्-गोऽठभ्याम् (११), गवाग्भ्य, गोअग्भ्य-गोऽग्भ्य-गोऽग्भ्य-गोऽग्भ्य (१२), गोच, गवाध, गोअध-गोऽध (१३), गोचो, गवाञो, गोअञो-गोऽञो (१४), गोचाम्, गवाञाम्, गोअञाम्-गोऽञाम् (१५) गोचि, गवाधि, गोअधि-गोऽधि (१६), गोचो, गवाठो, गोअठो-गोऽठो (१७), गवाठु, गोअठु-गोऽठु-गवाठु, गोअठु-गोऽठु, गवाठु, गोअठु-गोऽठु (१८) (निवृत्त्या १०९)

शकृत् । शकृती । शकृन्ति । शकृद्गयाम् ॥ ददत् । ददती । घा नपुंसकस्य । ७।१।७९। अभ्यस्तात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य क्लीवस्य नुम्वा स्यात्सर्वनामस्थाने । ददन्ति-ददति ॥ तुदत् । आच्छीनद्योर्नुम् । ७।१।८०। अघर्णान्ता-दङ्गात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्वा, शीनद्योः । तुदन्ती-तुदती । तुदन्ति ॥ भात् । भाती । भान्ति ॥ पचत् । शप्श्यनोर्नित्यम् । ७।१।८१। शप्श्यनोरात्परो यः शतुरवयवस्तदन्तस्य नुम्, शीनद्योः । पचन्ती । पचन्ति ॥ दीव्यत् । दीव्यन्ती । -दीव्यन्ति ॥ धनुः । धनुषी । 'घान्ते'ति । दीर्घः । नुम्बिसर्जनीयेति यः ।

कृते 'गोषी' इति रूपम् । गवाञ्चि । 'गोअन् च + जस्' इति स्थिते 'अनिदितां हल उपधायाः षिडति' इति नलोपे 'जशसोः शिः' इति जसः शौ कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'नपुंसकस्य श्लचः' इति नुमि, उमि गते मिच्चादन्यादचः परे 'गो अन् च् ह' इति जाते 'अवङ्स्फोटाय-जस्य' इत्यवङ्ङि ङस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङिच्च' इत्यन्तादेशे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे 'गवान् च् ह' इति जाते 'नश्चापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे संयोगे च कृते 'गवाञ्चि' इति भवति । शकृन्ति । अत्र घसः 'जशसोः शिः' इति श्यादेशे अङ्गस्य च 'नपुंसकस्य श्लचः' इति नुमागमश्च बोध्यः । ददन्ति । 'ददत् + जस्' अत्र 'जशसोः शिः' इति जसः स्थाने सौ कृते शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसंज्ञायां 'नपुंसकस्य श्लचः' इति नुमि प्राप्ते 'नाभ्यस्ताच्छ्रुत्' इति निषिद्धे 'वा नपुंसकस्य' इति विकल्पेन नुमि उमि गते मिच्चादन्यादचः परे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति अनुस्वारे, 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'ददन्ति' इति । नुमभावे—'ददति' इति । पचन्ती । 'पचत् + औ' इत्यत्र 'नपुंसकाच्च' इति औस्थाने श्यादेशे शस्येत्संज्ञायां लोपे च 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि उमि गते मिच्चादन्यादचः परे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते; कृते च संयोगे 'पचन्ती' इति । दीव्यत् । दिवुधातोः लटः घातरि, श्यन् 'हलि च' इति दीर्घः । दीव्यच्छब्दात् स्वमोर्लुगिति भावः । दीव्यन्ती । औङः श्याम्, 'शप्श्यनोर्नित्यम्' इति नुमि रूपम् । धनुः । 'धनुप् + सु' अत्र 'स्वमोर्नपुंसकात्' इति सोर्लुङि, पश्य असिद्धत्वात् 'ससञ्चो ऋ' इति ऋत्वे अनुबन्धलोपे

वा न—अभ्यस्त संज्ञकसे पर जो शतृप्रत्ययान्त क्लीव अंग उसको नुमागम हो, विकल्पसे, सर्वनामस्थानके परे ।

आच्छी—अघर्णान्तसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको नुमागम हो, 'ञी' और 'नदी'के परे विकल्पसे ।

शप्—शप्-श्यन् संबन्धी धकारसे पर जो शतृप्रत्ययावयव, तदन्त जो अंग, उसको

धन्वि । धनुया । धनुभ्याम् ॥ एव च धुर्द्विरादय ॥ पयः । पयशी । पयांसि ।
 पयोभ्याम् ॥ सुपुम् । सुपुशी । सुपुमांसि ॥ अद् । विभक्तिकार्यम् । उरवमस्वे ।
 धन् । धमूनि । शेष सुवत् ॥

इति हल्न्ता नपुंसकलिङ्गा ।



'सरवसानयोर्विसर्जनीय' इति रेफस्य विसर्गात्वे च कृते 'धनुः' इति रूपम् । धन्वि
 'धनुस्+जस्' अत्र 'अरशासो शि' इति जस शौ कृते शस्येऽसञ्ज्ञायां लोपे च 'शि
 सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'नपुंसकस्य झलच्' इति जुमि,
 उमि गते मित्रादन्त्यादश्च परे जाते 'सान्तमहत्त सयोगस्य' इति सान्तसयोगस्यो
 पधाया दीर्घत्वे 'मक्षापदान्तस्य झलि' इत्यनुस्वारे 'नुम्विसर्जनीयशस्यंवायेऽपि'
 इति सस्य शस्ये सयोगे च कृते 'धन्वि' इति रूपम् । पयः । 'पयस+सु' अत्र 'स्व-
 मोर्नपुंसकात्' इति सोलुंकि, सस्य 'ससप्तयो रु' इति स्रजे उकारश्चेऽसञ्ज्ञायां लोपे
 च कृते रेफस्य 'सरवसानयोर्विसर्जनीय' इति विसर्गे 'पयः' इति । पयांसि । 'पयस+
 जस' अत्र 'अरशासो शि' इति जसः स्थाने शौ कृते शस्येऽसञ्ज्ञायां लोपे च 'शि
 सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'नपुंसकस्य झलच्' इति जुमि उमि
 गते मित्रादन्त्यादश्च । परे 'सान्तमहत्त सयोगस्य' इति सान्तसयोगस्योपधाया
 दीर्घत्वे अनुस्वारे परमवर्णे च जाते सयोगे च कृते 'पयांसि' इति । सुपुमांसि ।
 'सुपुस्+जस्' अत्र 'अरशासो शि' इति जस स्थाने शौ कृते शस्येऽसञ्ज्ञायाम्, लोपे
 च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'पुंसोऽसुट्' इति धसुलि,
 उस्वरेऽसञ्ज्ञायां लोपे च उकारे गते 'अनेकाल् शि' सर्वस्य' इति मररस्यादेतो प्राप्ते
 'टिचश्' इत्यगतादेशे 'सुपुम्स+इ' इति जाते 'नपुंसकस्य झलच्' इति जुमि,
 उमि गते, मित्रादन्त्यादश्च परे 'सान्तमहत्तः सयोगस्य' इति सान्तमयोगगतस्य
 भाग्यस्योपधाया दीर्घत्वे नयानुस्वारे च कृते 'सुपुमांसि' इति रूपम् । धमूनि ।
 'अद्स+जम्' अत्र त्यदायत्वे पररूपत्वे 'अरशासो शि' इति रशादेतो शस्येऽसञ्ज्ञायां
 लोपे च 'शि सर्वनामस्थानम्' इति सर्वनामस्थानसञ्ज्ञायाम् 'नपुंसकस्य झलच्'
 इति जुमि, उमि गते मित्रादन्त्यादश्च परे 'सर्वनामस्थाने चासगुडौ' इति नाप्यो-
 पधाया दीर्घत्वे 'अदानि' इति जाते 'अद्सोत्तेर्दानुदो म' इति दापरस्याकारस्योत्वे
 इत्य च मयं 'धमूनि' इति रूपम् । इति हल्न्तनपुंसकलिङ्गप्रकरणम् ।



नित्यं नुमागम हो, 'डी' और 'नरी' के परे ।

इस प्रकार हल्न्तनी टीकानें हल्न्त नपुंसकलिङ्ग सवाद्य हुना ।



अथाव्ययानि

स्वरादिनिपातमन्वयम् । १।१।३७। स्वरादयो, निपाताश्चाऽऽव्ययसंज्ञाः स्फुः ।
 स्वरर् । अन्तरर् । प्रातरर् । पुनर् । सनुतरर् । उच्चैस् । नीचैस् । शनैस् । ऋधक् ।
 ऋते । युगपत् । आरात् । पृथक् । ह्यस् । श्वस् । दिवा । रात्रौ । सायम् ।
 चिरम् । मनाक् । ईषत् । जोषम् । तूष्णीम् । बहिस् । अवस् । समया । निकषा ।
 स्वयम् । वृथा । नक्तम् । नञ् । हेतौ । इद्वा । अद्वा । सामि । वत् । ब्राह्मण-
 वत् । क्षत्रियवत् । मना । सनत् । सनात् । तिरस् । उपधा । अन्तरा । अन्त-
 रेण । उद्योक् । कम् । शम् । सहसा । विना । नाना । स्वस्ति । स्वाहा । स्वधा ।
 अलम् । वषट् । श्रीषट् । वीषट् । अन्यत् । अस्ति । उपांशु । क्षमा । विहायसा ।
 दोषा । नृषा । मिथ्या । मुषा । पुरा । पियो । मियस् । प्रायस् । मुहुष् ।

स्वरादिनिपातमन्वयमिति । स्वरर् आदिर्येषान्ते स्वरादयः, ते च ते निपाताश्चेति
 समाहारद्वन्द्वः । फलितमाह—स्वरादय इति । स्वरादीन् पठति—स्वरित्यादिना ।
 स्वरादीनां चादीनां च पृथक्पाठस्तु 'निपाता आद्युदात्ताः' इति स्वरभेदार्थः, चादी-

स्वरा—स्वरादि और निपात अव्यय संज्ञक हो ।

स्वरर् (स्वरः)—स्वर्ग, । अन्तरर् (अन्तः)—मध्य । प्रातरर् (प्रातः)—प्रातःकाल ।
 पुनर्—फिर । सनुतरर् (सनुतः)—अन्तर्धान । उच्चैस् (उच्चैः)—ऊर्ध्वभागमें । नीचैस्-
 (नीचैः)—अधोभागमें । शनैस् (शनैः)—धीरे-धीरे । ऋधक्—सवमुच । ऋते—विना ।
 युगपत्—एकसाथ । आरात्—दूर या समां प में । पृथक्—भिन्न (ह्यः)—ह्यस् पूर्व दिनमें ।
 श्वः—एक दिन में । दिवा—दिन । रात्रौ—रातमें । सायम्—सन्ध्यामें । चिरम्—विलम्ब ।
 मनाक्—थोड़ा । ईषत्—बहुत थोड़ा, किञ्चित् । जोषम्—काना-फूती । तूष्णीम्—चुप ।
 बहिस् (बहिः), अवस् (अवः) बाहर । अधस् (अधः)—नीचे । समया, निकषा-
 समीप । स्वयम्—अपने ही । वृथा—व्यर्थ । नक्तम्—रात । न, नञ्—नहीं । हेतौ—कारण ।
 इद्वा—प्रकाश्य । अद्वा—स्फुट । सामि—भाषा । ब्राह्मणवत्—ब्राह्मण के समान । क्षत्रियवत्-
 क्षत्रिय के समान । सना, सनत्, सनात्—नित्य । उपधा—वृत्त, नञराना । तिरस् (तिरः)
 टेंडा, परामव । अन्तरा—मध्य, विना । अन्तरेण—विना । उद्योक्—शीघ्र, सम्प्रति । कम्-
 बल, निन्दा, सुख । शम्—सुख, कल्याण । सहसा—अकस्मात् । विना—भनाव । नाना-
 पनेक । स्वस्ति—मङ्गल, शुभ । स्वाहा—देवद्विदान में । स्वधा—पितृद्विदान में । वषट्-
 शूद्रण, पर्याप्त (वस), इयम् । वषट्, श्रीषट्, वीषट्—देवद्विदान में । अन्यत्—और, दूसरा ।
 अस्ति—सत्ता, विद्यमान । उपांशु—गुप्त । क्षमा—माफ । विहायसा—आकाश । दोषा—

प्रबाहुकम् । प्रबाहिका । आर्ये हम् । अमीक्षम् । साकम् । सार्धम् । नमस् ।
 हिक् । धिक् । अय । अम् । आम् । प्रताम् । प्रशाम् । प्रतान् । मा । माङ् ।
 आकृतिगणोऽयम् । च । वा । ह । अह । एव । एवम् । नूनम् । शश्वत् । युग-
 पत् । भूयस् । कूपत् । सूपत् । कुवित् । नेत् । घेत् । चण । यत्र । कश्चित् ।
 नह । हत् । माकि । माकिम् । नकि । नकिम् । आक्षीम् । माङ् । नम् ।
 यावत् । खै । न्वै । द्वै । रै । धीपट् । वीपट् । स्वाहा । स्वघा । अलम् ।
 वपट् । वृम् । तथाहि । खलु । किल । अथ । सुष्ठु । स्म । आदह ॥ उपसर्ग
 विभक्तिस्वरप्रतिरूपकाश्च । अवदत्तम् । अद्युः । अहितक्षीरा । अ । आ । इ ।
 ई । उ । ऊ । ए । ऐ । ओ । औ । पशु । शुक्म् । यया । कथाव । पाट् ।

भामसत्त्वधाचिनामेवाऽप्यवयवम्, स्वरादीनां तु सत्त्वधाचिनामसाऽवाचिनां च तदिति

रात्रि । शृषा, मिथ्या-भसाय, सूठ । सुधा-अर्थे हो, निष्प्रयोजन । पुरा-पहले । मियो,
 मियस् (मिथ)-परस्पर, एकात् । प्रायस् (प्राय)-सम्भव, हो सकता है । सुष्ठुम्
 (सुष्ठु)-बार बार । प्रबाहुकम्-एक साथ, समान काठ । आर्यहलम्-वकार, वार-
 वस्ती । अमीक्षम्-पुन २ बार २ । साकम्, सार्धम्-साथ २ । नमस् (नम)-
 नमस्कार, प्रणाम । दिक्-विना । धिक्-धिवकार, छी छी । अय-मन तर, और । (अथ
 किम्-और नहीं तो क्या ?) । अम्-वीम, मोटा, किंचित् । आम्-हो, स्वीकार, मञ्जर ।
 प्रताम्-गानि । प्रशाम्-न समान । प्रतान्-विस्तार । मा, माङ्-नहीं, अस्वीकार । च-
 पुन, अवशा, और । या-मपत्ता । ह-प्रसिद्ध । अह-अद्युः, छेद । एव-अवश्य, ही ।
 एवम्-इस प्रकार । नूनम्-निश्चय, ठक । शश्वत्-सदा, साथ २, पुन २ । युगपत्-एक
 साथ । भूयस् (भूय)-पुन, प्रचुर, देसा । कूपत्, सूपत्-प्रदन, प्रशता । कुवित्-
 बहुत्, प्रदंसा । नेत्-शशा । घेत् चण-ददि । कश्चित्-प्रदन, कोई । यत्र-अहाँ ।
 नह-प्रवाणम् । हन्त-द्वै, विवाद । माकि, माकिम्, नकि-विना, वर्जन ।
 नम्-नहीं । यावत्-जब तक । खै, द्वै, न्वै-विकर्क । रै-दान, हीन सम्बोधन । धीपट्,
 वीपट्, स्वाहा-देवविदान । अलम्-नर्वाप्त । स्वघा, वपट्-पितृविदान । वृम्-वृम् ।
 तथाहि-येहे, इस प्रकार । खलु, किल-निश्चय । अथ-अनन्तर । सुष्ठु-मञ्जा । स्म-मृत
 काठ । आदह-विन्दा ।

उपसर्गा—उपसर्ग, प्रतिक्रमक, विभक्त्यन्त प्रतिक्रमक और स्वर प्रतिक्रमक शब्दों का
 भी वा दगर्भे पाठ समझना चाहिये । (प्रतिक्रमकका अर्थ है 'सङ्ग')

अवदत्तम्-दिया । अद्युः-अदकारी । अहितक्षीरा-दूधवाही । अ-सम्बोधन । आ-
 वाक्य, स्मरण । इ-संबोधन, जुगुप्सा, विनय । ई, उ, ऊ, ए, ऐ, ओ, औ-संबोधन । पशु-
 सम्यक् । शुक्म्-वीम । ययाकथाव-यय कमी । पाट्, प्याट्, अह, हे, है, हो, अथ-

प्याट् । अङ्ग । हे । हे । मोः । अये । घ । विष्णु । एकपदे । युत् । आतः । चादिरप्याकृतिगणः । तद्धितश्चाऽसर्वविभक्तिः । १।१।३८। यस्मात्सर्वा विभक्ति-
नोत्पद्यते स तद्धितान्तोऽप्यव्ययं स्यात् । परिगणनं कर्तव्यम् । तसिलादयः प्राक्
पाशपः । शसुप्रभृतयः प्राक् समासान्तेभ्यः । अम् । अम् । कृत्वोऽर्थाः ।
तसिमती । नानाजौ—इति । एतदन्तमप्यव्ययम् । अत इत्यादि ॥ कृन्मेजन्तः ।

व्यवस्थार्थश्च । तद्धितेति । असर्वविभक्तिरिति बहुव्रीहिः । तत्र सर्वाविभक्तयो यस्मान्न
भवन्तीति बहुवचनान्तविग्रहो नैव संभवति । अन्वयेभ्यः सप्तानामपि विभक्तीनां उरप-
र्यभ्युपगमात् । तथाहि 'तद्धितश्च' इति सूत्रे भाष्ये 'द्वेकेकयोद्विवचनैकवचने' 'बहु-
पु बहुवचनम्' इति सूत्रविन्यासं भङ्गवा 'एकवचनम्' 'द्वयोद्विवचनम्' 'बहुपु बहुव-
चनम्' इति सूत्रविन्यासं कृत्वा एकवचनमुत्सर्गतः करिष्यते । द्विवह्वर्थयोस्तरस्य द्विव-
चनबहुवचने वाधके इत्यादि प्रपञ्चितम् । ततश्च एकवचनमिष्यनेन उवात्प्रातिपदिकात्
एकवचनं भवतीति सामान्यविधिना द्विवचनहुरवाभावे एकवचनमिति फलति ।
एवं च द्विवचनहुरवाभावे सति एकत्वे तदभावे च एकवचनं भवतीति फलितोऽर्थः ।
तत्र द्विवचनहुरवयोः द्विवचनबहुवचनोपर्यैव ततोऽन्यत्र एकवचनस्य सिद्धत्वात् ।
'एकवचनम्' इति सूत्रं कर्मावाधभावेऽपि प्रापणार्थं संपद्यते । तथाच अलिङ्गसंख्ये-
भ्योऽध्ययेभ्यः एकवचनं प्रवर्तमानं विनिगमनाविरहात् सर्वविभक्तयेकवचनं भवति ।
अत एव 'अन्ययादाप्सुप' इत्यत्र प्रत्याहारग्रहणमर्थवत् । तस्मात् सर्वा विभक्तयो
यस्मादिति न विग्रहः । किन्तु सर्वशब्दोऽत्र 'सर्वः पठो दग्धः' इतिवत् अवयव-
कार्त्स्न्यं वर्तते । एवं च सर्वा वचनप्रयात्मिका विभक्तिः यस्मात्प्रोपद्यते, किन्तु एक-
वचनान्येवोपद्यन्ते स तद्धितान्तोऽव्ययसंज्ञः स्यादित्यर्थः । परिगणनामिति । वार्तिक-
मेतत् । तसिलादय इति । 'पञ्चग्यास्तसिल्' इत्यारभ्य 'द्विष्योश्च धमुञ्' इति
यावदित्यर्थः । शसुप्रभृतय इति । 'बह्वर्षपाधाव्' इत्यारभ्य 'अव्यक्तानुकरणात्' इति
डाजन्ता इत्यर्थः । अम् आमिति । 'असु च छन्दसि' इत्यम् 'किमेत्तिडव्यय' इत्याम्
गृह्यते । कृत्वोर्था इति । 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने, कृत्वसुच्' 'द्विविचतुर्भ्यः
सुच्' 'विभाषा बहोर्धा' इति त्रय इत्यर्थः । तसिमती । 'तेनैकदिकृतसिश्च' इति
तसिः 'तेन तुदयम्' इत्यादिविहितः वतिश्च गृह्यते । 'प्रतियोगे पञ्चग्यास्तसिः' इति
शसादिस्वादेव ग्रहणं सिद्धम् । नानाभाषित । 'विनन्त्यान्नानाजौ न सह' इति

संशोधन । छ-हिंसा । विष्णु-अनेक । एकपदे-सहसा । युत्-निन्दा । आतः, अतः-इसलिये ।

तद्धि-विससे सभी विभक्तियों व पत्र नहीं होती हैं। ऐसा जो उद्धितात वह भी
अव्यय संज्ञक हो । अम्, दाप्सु-स्वीकार ।

कृन्मे-कृत् को मान्य और एषन्त तदन्तकी भी अव्ययसंज्ञा हो ।

।१।१।३१। कृषो मान्त, एग्रन्तश्च तदन्तमप्यथ्यम् । स्मार स्मारम् ।
जीवसे । विषये ॥ अथातोऽस्तुत्कस्तुन ।१।१।४०। एतदन्तमप्यथ्यम् । कृत्वा ।
उदेतो । विद्युत् । अथ्ययीमावश्च ।१।१।४१। अथ्ययं स्यात् । अघरि ॥
अथ्ययादाऽस्तुप' ।२।४।८२। अथ्ययाद्विहितस्याऽऽपः, सुपश्च लुक् । तत्र शाला
याम् । अथ । विहितविरोधनान्नेह—अस्तुच्छेद्यौ । अथ्ययसद्वयां यद्यपि तदन्त-
विधिरस्ति तथापि न गौणे । आब्रह्मण थ्ययम्, अथ्ययस्याऽभिज्ञत्वात् । तथा
च श्रुति—

‘सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु सर्वासु च विभक्तिषु ।

यचनेषु च सर्वेषु यन्न ज्येति तदथ्ययम् ॥ १ ॥

यष्टि भागुरिरच्छोपमवाप्योरुपसर्गयोः ।

विहितो मानाप्रो गृह्यते इति भाष. । अथातोऽस्तुत्कस्तुन' । अतु अथ्ययानो लिङ्गामाये
'सदृशं त्रिषु लिङ्गेषु' इत्यापर्यगश्रुतिविरोध इत्याशङ्क्य परिहरति—सदृशमिति । त्रिषु
लिङ्गेषु, सर्वासु च विभक्तिषु, सर्वेषु यचनेषु च अथ्य न ज्येति विकारं न प्राप्नोति
किन्तु सदृशम् एकप्रकारमेव भवति तदथ्ययम् इति आपर्यगश्रुतियोजना । अथ्ययस-
दादाह—बर्धोऽ । अथ्ययपि इत्युपसर्गयोः अकारस्य छोपश्च, इच्छानाम् भाषं

स्मार स्मारम्—स्मरण कर करके । जीवसे—जीने के लिये । विषये—पीने के लिये ।

अथातो—अतः । अथयान्त, तोस्तुन् अथयान्त और कस्तुन् अथयान्तको भी अथ्ययसदा हो ।

कृत्वा—करके । उदेतो—उदय होकर । विद्युत्—दीबकर ।

अथ्य—अथ्ययीमाव समास को अथ्ययसदा होती है ।

अघरि—रिमें ।

अथ्य—अथ्यय से विहित 'भाप्' और 'स्तुप्' का लुक् हो ।

तत्र शालायाम्—कम घर में ।

ब्रगाहा, अब्रगाहा—रमान । याचा—यागी । निशा—रात्रि । दिशा—दिशा । पिधानम्,
प्रपिधानम्—दरकरन ।

सदृश—(बस इश्वरका तीनों लिङ्गोंमें, सब विभक्तिबोधमें, सब यचनों में समान रूप हो
इस भी 'न ज्येति'—विचारको प्राप्त न करे, वह अथ्यय कहनासा है ।

यष्टि—भागुरि आचार्य 'अथ' 'अरि' उपसर्गके आदि अक्षरका छोप करते हैं । यथा-
यत् + गाह = ब्रगाह । अरि + धामम् = पिधानम् । आचार्य को इच्छन्त शब्दोंसे लौलिङ्गमें
भाप् (दाप्) भी करते हैं । यथा—भाप् + जा = याचा । निष् + जा = निशा ।
दिष् + जा = दिशा । यष्टिनि मुनिके मज्जे अथ्ययका जोरिवाचक कोरें सूत्र नहीं है,
अब्र ब्रगाह और अरिधानम् ये भी रूप होते हैं ।

आपं चैष ह्यन्तानां यथा घाचा निशा दिशा ॥ २ ॥
अवगाहः । वगाहः । अपिघानम् । पिघानम् ॥ इत्यव्ययानि ॥
इति सुबन्तप्रकरणम् ।

अथ तिङन्ते भ्वादयः

घातोः । ३।१।९। अधिकारोऽयम् । वक्ष्यमाणाः प्रत्यया घातोऽङ्ग्याः । लट् ।
लिट् । लुट् । लृट् । लेट् । लोट् । लृट् । लिङ् । लुङ् । लृङ् । एषु पत्रमो लकार-
श्चन्दोमात्रगोचरः । लः कर्मणि च भावे चाऽकर्मकेभ्यः । ३।४।६९। लकाराः

च, भागुरिनामक आचार्यः, वटि-इच्छतीत्यर्थः । एवमन्वदस्तु पादपूरणः । अवेत्युपसर्गे
आदेरेवाकारस्य लोपः नान्यस्य, अपिनासाहचर्यात् । वाचानिशादिशेति । एतत्परिग-
णनमित्येके अत एव हरित्प्रभृतिषु न टाप् । अन्ये तु उदाहरणमात्रमिति वदन्ति ।
अत एव—'दिशा वाचा सुधा गिरा' इति वर्धमानः, शरदेति श्रीपतिदत्तश्चोदाजहार ।
वगाह इति । एतदप्युदाहरणमात्रं न तु परिगणनम् । अत एव 'वल्लो धवलोऽर्जुनः'
इत्यादिसिद्धमिति दिक् । इति अव्ययप्रकरणम् ।

नोटः—(१) अतिवाचक शब्द, समूहायक शब्द और समष्टिबोधक शब्दोंकी यदि
विभिन्नता दिखानी नहीं हो तो एकवचनमें ही प्रयोग होता है । यथा—वर्णानां ब्राह्मणः श्रेष्ठः,
बलवती सेना, विद्वद्गणः आदि । एवं समाहार इन्द्र और दिगु समाससे परिनिष्ठित शब्दोंका
भी एकवचनमें ही प्रयोग होता है । यथा—पाणिपादम्, त्रिभुवनम् आदि । (२) अश्विनी-
कुमार तथा दम्पति, जम्पति शब्दोंका द्विवचनमें ही प्रयोग होता है । (३) दार, अक्षय,
काज, असु और प्राण शब्द नित्य पुल्लिङ्ग और बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं । एवं अप्,
वर्षा तथा सिकता शब्द नित्य स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त ही प्रयुक्त होते हैं । अत्मद् शब्द
तथा आदर अर्थमें अन्य शब्द भी विकल्पसे बहुवचनान्त प्रयुक्त होते हैं ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें अव्ययप्रकरण समाप्त हुआ ।

नोटः—प्रयोगकालमें घातुके उत्तर जो 'तिङ्' विभक्ति होती है; उस तिङ्विभक्तिसे
जो पद निष्पन्न होता है वह 'तिङन्त' कहलाता है ।

घातोः—यह अधिकार सूत्र है ।

लट्—कालज्ञान एवं विधि आदिका अर्थज्ञान कराने के लिए घातुके बाद लृटादि तिङ्
विभक्तियों दस प्रकार की होती हैं । इनमें 'लिट्' का प्रयोग केवल वेदमें ही देखा जाता है ।

लः—सकर्मक घातुसे कर्म-कर्तामें तथा अकर्मक घातुसे भाव और कर्तामें लकार हो ।

नोटः—१ कर्तृवाच्यमें कर्ता प्रथमान्त और कर्म द्वितीयान्त तथा क्रियाके पुरुष-वचन
कर्ताके अनुसार प्रयुक्त होते हैं । यथा—'इन्दुमतीं पृष्यं विनोति' एवं कर्मवाच्यमें कर्ता

सकर्मकेभ्य कर्मणि, कर्तरि च ह्युरकर्मकेभ्यो भावे, कर्तरि च । वर्तमाने लट् । ३।१।१२३। वर्तमानक्रियावृत्तेर्धातोर्लट् स्यात् ॥ षटावितौ । तच्चारणसामर्थ्यात् स-
इयेन्वम् । भू सत्तायाम् । कर्तृविषयां 'भूल्' इति स्थिते । लस्य ३।१।७७।

वर्तमाने षडिति । 'धातो' इति सूत्रमावृत्तौयाभ्यायसमाहारेधिकृतम् । वर्तमाने
इति तत्रान्वेति । वर्तमानेऽर्थे विद्यमानाद्यातो छदिति लभ्यते । फलितमाह—वर्त

तृतीयान्त और कर्म प्रथमान्त तथा क्रिया के पुरुष-वचन कर्मके अनुसार होते हैं । यथा—
देवदत्तेन वेदा पठथन्ते । एवं भाववाच्यमें कर्ता कर्मवान्वयव्य तृतीयान्त होता है पर कर्म
नहीं होगा तथा क्रिया सदैव प्रथमपुरुषको एकवचनान्त ही होती है । यथा—'मत्सामि'
स्पोयते' । तथाहि हरिकारिका —

'प्रयोगे कर्तृवाच्यस्य कर्तरि प्रथमा भवेत् । द्वितीया कर्मणि, तया क्रिया कर्तृपदान्विता ॥
प्रयोगे कर्मवाच्यस्य तृतीया स्यात् कर्तरि । कर्मणि प्रथमा चैव क्रिया कर्मानुसारिणी ॥
कर्माभावात् सदा भावे तृतीया चैव कर्तरि । प्रथम-पुरुषस्यैकवचने च क्रियापदे ॥'

फळ और श्वापार वातुके अर्थ होते हैं—'फळश्वापारयोर्धात्वर्थ' श्वापारका आश्रय
कर्ता और फळका आश्रय कर्म होता है । जिसका फळ और श्वापार भिन्न २ हो उभे सकर्मक
कहते हैं—'फळश्रयधिकरणश्वापारवाचकरव सकर्मकरवम्' । यथा देवदत्त तण्डुल
पकति' यहाँ भिन्निकृति रूप फळ तण्डुलमें और पाककर श्वापार देवदत्तमें है । अत्र 'पम्'
वातुको सकर्मक समझना चाहिये ।

जिसका फळ और श्वापार एक ही आश्रयमें हो उभे अकर्मक कहते हैं—'फळसमाना
धिकरणश्वापारवाचकरवमकर्मकरवम्' । यथा—'देवदत्त उते' यहाँ विश्राम रूप फळ
और अनुनिमोहनदि रूप श्वापार ही देवदत्तमें है अत्र 'श्लोठ' वातु अकर्मक है ।

सामान्य निबन्ध — साक्षात्क्रिय क्रिया 'सकर्मक', यथा—पठति, छादति आदि २, यथा
पठति है । यथा खाति है । एवं निराक्षात्क्रिय क्रिया 'अकर्मक', यथा—मापति है, दसति है,
दर्शति, यथा आगति है, यथा दसति है, तथादि आक्षात्क्रिय ही नहीं उठती ।

वर्त—वर्तमान क्रियावृत्ति वातुमें लट् लकार हो ।

मोटा—जिसमें क्रियाका प्रारम्भ हो उभे 'वर्तमान' कहते हैं । वर्तमानके सामीप्य रहने
पर भून् और मन्विष्यत् कालमें मो 'लट्' होता है । यथा—'इशानो मेऽ आगच्छामि' (अमो
आता हूँ) । 'अभवद् गच्छामि' (मैं अभी जाऊँगा) । 'इम' के बोधमें भूत्कालमें मो 'लट्'
का प्रयोग होता है । यथा—'स पठति' (उसने पढ़ा) । 'वाच्य' के बोधमें भविष्यत्
कालमें मो 'लट्' का प्रयोग होता है । यथा—'स वाच्यं नागच्छति' (वह अब उठ
करा जावेगा)

लस्य—इ अकार सुप् है । तिप्—अकारके स्थानमें द्विपदि २८ आदेश हो ।

इत्यधिकृत्य । तिप्तस्झि-स्विप्थस्थ मिच्चस्मत्-ताताञ्चयासाथाञ्च-मि-
 ङ्वद्धिमद्दिङ् । १।४।७। एतेऽष्टादश आदेशाः स्युः । लः परस्मैपदम् । १।४।९।
 आदेशाः परस्मैपदसंज्ञाः स्युः । तङानावात्मनेपदम् । १।४।१०। तङ्प्रत्याहारः,
 शानच्-कानचौ चैतत्संज्ञाः स्युः । पूर्वसङ्ज्ञाऽपवादः । अनुदात्तङित आत्मनेपदम्
 । १।३।१२। अनुदात्तेत, उपदेशे यो ङित्तदन्ताच्च घातोर्लस्य स्थाने आत्मनेपदं स्यात् ।
 स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले । १।३।७। स्वरितेतो, नितश्च घातोरात्म-
 नेपदं स्यात् कर्तृगामिनि क्रियाफले । शेषात्कर्तरि परस्मैपदम् । १।३।७।
 आत्मनेपदनिमित्तहोनाद्घातोः क्तरि लस्य परस्मैपदं स्यात् । तिङ्छ्रीणि त्रीणि
 प्रथममध्यमोत्तमाः । १।४।१०। तिङ् उभयोः पदयोश्चयन्त्रिकाः क्मादेतत्संज्ञाः
 स्युः । तान्येकवचनद्विवचनचतुर्वचनान्येकशः । १।४।१०। लघ्वप्रयमादिसं-
 ज्ञानि तिङ्छ्रीणि त्रीणि वचनानि प्रत्येकमेकवचनादिसङ्ज्ञानि स्युः । युष्मद्युपपदे
 समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः । १।४।१०। तिङ्वाच्यकारकवाचिनि

मानक्रियाश्चेरिति । स्थानिन्यपि । स्थानम्-प्रसङ्गः । सोऽस्यातीति स्थानी, तस्मि-

नोटः—इन १८ हों को 'तिङ्' कहते हैं । आरम्भके 'ति' से लेकर अन्तिम 'ङ्' तक
 'तिङ्' प्रत्याहार बनता है ।

लः—लकारके स्थानमें तिवादि आदेशको 'परस्मैपद' संज्ञा हो ।

तङ्—'तङ्' प्रत्याहार और शानच्-कानच् (प्रत्ययों) को आत्मनेपदसंज्ञा हो ।

नोटः—'तातान्' के आदि तकारसे मदिङ्के लकार पर्यन्त ९ बोंको 'तङ्' कहते हैं ।
 'तङ्' भी प्रत्याहार कहा जाता है ।

अनुदात्त—अनुदात्तेत जो धातु और उपदेशावस्थामें जो छिद्, तदन्त जो धातु,
 लसे पर लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो ।

स्वरित—स्वरितेत और छिद् धातुसे आत्मनेपद हो—कर्तृगामी क्रियाफलमें ।

नोटः—जहाँ फलाकांक्षा रहनी है वहाँ यदि कर्ता फलमागी हो तो उभयपदी धातुसे
 आत्मनेपद होता है और यदि फलमागी कोई दूसरा (यजमान) हो तो परस्मैपदका प्रयोग
 होता है । अतः सङ्कल्प वाक्यमें अपने लिये 'करिष्ये' और यजमानके लिये 'करिष्यामि' का
 प्रयोग किया जाता है ।

शेषा—आत्मनेपदके निमित्तसे हीन जो धातु, उससे कर्ता में परस्मैपद हो । तिङ्—
 'तिङ्' संज्ञाही आत्मनेपद और परस्मैपदके जो तीन २ वे ययाक्रमसे प्रथम, मध्यम, उत्तम
 संज्ञक हो । तान्ये—उभय (प्राप्त) प्रथमादिसंज्ञक जो 'तिङ्' के तीन २ वचन वे प्रत्येक
 एकवचन, द्विवचन, बहुवचनसंज्ञक हों । युष्म—तिङ्वाच्य कारकवाची जो युष्मद् शब्द

युष्मद्यप्रयुज्यमाने, प्रयुज्यमाने च मध्यमः । अस्मद्यत्तमः । १।४।१०७। तथाभूतेऽ-
स्मद्यत्तमः । दोषे प्रथमः । १।४।१०८। मध्यमोत्तमयोरविषये प्रथमः स्यात् । भू-ति
इति जाने । तिङ्शित्सार्वधातुकम् । १।४।११३। निङ्, शित्तव धात्वधिकारोक्त
एतत्प्रज्ञा ऋ । कर्त्तरि ङप् । ३।१।६८। कर्त्तव्ये सार्वधातुके परे घातो शप् स्यात् ।
सार्वधातुकार्धधातुकयोः । ७।३।८४। अन्वयो परयोरिगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् ।
'एचोऽयवावाव' इति अवादेशः । भवति । भवनः । झोऽन्तः । ७।१।३। प्रत्ययावयव

व्रिति विग्रहः । स्थानिपदस्य अप्रयुज्यमाने घञाकरणनिकाये स्ठिति । अपिना प्रयु-
ज्यमान इति लभ्यते । तथाच तिङ्शास्त्रम्-निर्णयं, यत् कारकम् कर्ता, कर्म च,
तद्भाषके युष्मद्युद्देशेऽप्रयुज्यमाने प्रयुज्यमाने च मध्यमः पुरुष इति निवृत्तोऽर्थः ।
भवति । भू सत्तायां धातु । अयमकर्मकः । तस्मात् 'ल कर्मणि चामादे चाङ्म-
केभ्य' इति कर्त्तरि 'खले कपोतक'भ्यायेन वशापि लकारा-प्राप्ता, एषां मध्याके
नात्र माध्यम् । 'वर्तमाने लट्' इत्यनेनात्र भूधातोर्वर्तमानक्रियावृत्तिवाक्यलटि म-
खाते, 'भू लट्' इति म्रियते 'हलभ्यम्' इति टस्येऽज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे
'उपदेशोऽञ्जुनासिक इत्' इति लकारोत्तरवर्तिन अकारस्येऽज्ञायां 'तस्य लोपः' इति
लोपे 'भू ल्' इति जाते 'लस्य' इत्यपि इत्य 'निसरिसिस्यस्यमिन्वरमरताताज्ञायासा
धांप्यमिद्बहिमहिद्' इत्येतेऽष्टादश लादेशा प्राप्ता । 'ल परस्मैपदम्' इत्यष्टाद-
शानामप्येषां परस्मैपदसज्ञा सप्राप्ता, 'तद्वानावाग्मनेपदम्' इति तद्भ्रमायाहारा-न्त-
पातिर्ना भवानामामनेपदसज्ञा सप्राप्ता, एव तिङ्शादप्य-परस्मैपदसज्ञा, साद्यव्यामनेप-
दसज्ञा, एषां मध्याद्भ्र परस्मैपदसञ्ज्ञिनः प्रत्ययाः ऋ, किमुताग्मनेपदसञ्ज्ञिनः इत्या-

वद् प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी वातुने मध्यम पुरुष हो । अस्म-तिङ्-
शास्त्र कारकवाची भी अस्मद् शब्द वद् प्रयुज्यमान हो अथवा अप्रयुज्यमान हो, तो भी
वातुने उच्यते पुरुष हो । दोषे—मध्यम और उच्यते पुरुषके अविषयमें प्रथम पुरुष हो ।

नोट—विभक्तिवर्गे ३ पुरुष होते हैं—प्रथम, मध्यम और उच्यते । क्रियाके साव
युष्मद् वा अस्मद् शब्दोंके प्रयोग रहने पर प्रथम पुरुष युष्मद् शब्दके
प्रयोग रहने पर मध्यम पुरुष और अस्मद् शब्दके प्रयोग रहने पर उच्यते पुरुष होता है ।
तथा कर्त्ताका भी बचन रहे वही क्रियाका भी बचन होता है । यथा—

(१) बालकः पठति । बालकी पठति । बालका पठति । (२) एव पठति । युवां पठथ ।
यूय पठथ । (३) अहं पठामि । आशां पठामः । वयं पठामः ।

तिङ्—धात्वधिकारमें उक्त तिङ्-तिङ् प्रत्ययोंकी सम्बंधरूढ संज्ञा हो ।

कर्त्त—कर्त्तरिक सार्वधातुकके परे वातुने 'ङप्' प्रत्यय हो ।

सार्व—एतत् सार्वधातुका गुण हो सार्वधातुका, सार्वधातुकाके परे । झोऽन्तः—प्रत्ययावयव

एव ह्यन्तःशेषः स्यात् । अतो गुणे । भवति । भवति । भवति । भवति । अतो
 दीर्घो यञि । ७।३।१०१। अतोऽङ्गस्य दीर्घो, यथायौ सार्धं धातुके परे । मयामि ।
 मयापः । मयामः । स भवति । तौ भवतः । ते भवन्ति । खं भवति । गुयां भवपः ।
 यूयं भवय । इहं भवामि । ज्ञावां भवापः । वयं भवामः । शेषे चिर्भाषाऽऽकृताया-
 वधान्त उपदेशे । १।४।१८। उपदेशे ङादिस्त्रादिपान्तवर्जे गदनदादेरन्यस्मिन्धातौ
 परे उपसर्गस्यान्निमित्तात्परस्य नेर्णत्वं वा स्यात् । प्रणिभवति । प्रतिभवति ॥ परोक्षे

जाट्टायां 'शेषाकर्त्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेनास्य भूधातोरात्मनेपदनिमित्तहीनत्वा-
 क्तर्त्तरि परस्मैपदं प्राप्तम्, परस्मैपदसंज्ञिनां नवात्रां मध्यारक्तमेन भाग्यमित्याका-
 ङ्ङायाश्च 'तिङ्श्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' इत्यनेन क्रगात् त्रयाणां त्रिकाणां
 प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु च लृङ्प्रथमादिसंज्ञानां तिङ्श्रीणाणां वचनानां
 प्रत्येकमेकवचनद्विवचनचतुर्वचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाग्यम्, उत मध्यमेन, उत
 उत्तमेन, इति शङ्कायाम् 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्त्वद्यापि त्रीणि
 वचनानि, एषां मध्यात् क्तमेन भाग्यमित्याकाङ्क्षायां 'द्वेषेकयोर्द्विवचनैकवचने'
 इत्यनेनात्रैकवचनस्य विवचनार्थां प्रथमपुरुषे तिपि जाते पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च
 'तिङ्श्रीत्सार्धधातुकम्' इति तिपः सार्धधातुकसंज्ञायां 'भू ति' इति दशायां 'सार्ध-
 धातुकार्षधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'भूसुवोरिति' इति गुणनिषेधे 'कर्त्तरि ङप्'
 इति ङापि शकारपकारयोरितिसंज्ञायां लोपे च शित्वाद् 'तिङ्श्रीत्सार्धधातुकम्'
 इति सार्धधातुकसंज्ञायां 'सार्धधातुकार्षधातुकयोः' इति सुवो उकारस्य गुणे—
 ओकारे जाते 'एचोऽयद्यावावः' इति अच्देशे लोपे च कृते 'भवति' इति रूपम् ।
 भवामि । मूलातोर्लटि, तत्स्थाने तिपि, पकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्श्रीत्सार्धधातु-
 कम्' इति सार्धधातुकसंज्ञायां 'कर्त्तरि ङप्' इति ङापि, शकारपकारयोरितिसंज्ञायां
 लोपे च, शित्वात् ङापोऽकारस्यापि सार्धधातुकसंज्ञायां 'सार्धधातुकार्षधातुकयोः'
 इति गुणे अच्देशे च कृते 'भव + मि' इति जाते तत्र 'अतो दीर्घो यञि' इत्यदन्ता-
 ङ्ङस्य दीर्घे 'भवामि' इति सिद्धम् । अत्रोक्तां प्रथममध्यमोत्तमपुरुषव्यवस्थां स्मारयि-
 तुलाह—स भवतीत्यादि । शेषे किमाधेति । अकृत्वादाविति छेदः । 'नेर्णदन्दे'ति पूर्वो-
 ङ्ङातुस्यः अन्तः शेषः । तदाह—गदनदादेरन्यस्मिन्धाते । प्रणिभवति, उपसर्गनिपूर्व-

'अ' के स्थानमें 'अन्त' आदेश हो । अतो—अदन्त अङ्गको दीर्घ हो यथादि सार्धधातुकके
 परे । शेषे—उपदेशमें ङादि, खादि शकारान्त वो धातु, उनसे अन्य वो गद-नदादि धातुओंसे
 निम्न षट्, उनके परे उपसर्गस्य (रेङ्-बद्धार) निमित्तसे पर 'नि' के नकारको णत्व हो ।
 विकारसे । परोक्षे—भू भवतम और परोक्षार्थं वृत्ति जो धातु उसने 'ङिट्' ङकार हो ।

नोटः—अनपठन काकके दो भेद हैं—भूत और भविष्य । पूर्व दिन को धातु राद्य
 (१२ बजे) तक जो क्रिया हुई हो वह भूत अनपठन और आगामी (आज) राद्यके पारह

द्विट् । ३।२।११५। भूवाऽनघनवपरोहार्थं प्रोक्तं द्विट् इत्यत्र । कस्य तिभादवः । परस्मैपदानां प्लुतसुस्थलप्लुसणश्चमाः । ३।३।८२। द्विट्दित्वादीनां णकादवः स्युः । भू अ इति स्थिते । भुवो ध्रुग्लुक्लिटोः । ६।३।८८। भुवो ध्रुगणमः एषात् लुक्लिटोश्च । एकाचो द्वे प्रथमस्य । ६।१।१। अजादेर्द्वितीयस्य । १।१।२। इत्यधिकृत्य । लिटि घातोर्नभ्यासस्य । ६।१।८। द्विटि परेऽनभ्यासत्वात्प्रथमस्यैकाचं प्रथमस्य द्वे स्ताः, आदिमूतादव परस्य तु द्वितीयस्य । भूध् भूध् अ इति स्थिते । पूर्वोऽभ्यास । ६।१।३। अत्र ये द्वे तयोर् पूर्वोऽभ्याससंज्ञक एवात् । इत्यादिः शेषः । ३।३।६०। अभ्यासस्याऽऽदिर्हल् शिष्यतेऽन्ये ह्यो लुप्यन्ते । इति बहोयः । ह्रस्व । ३।३।५९। अभ्यासस्याऽचो ह्रस्वः स्यात् । अयतेर । ३।३।७३। भवतेरभ्यासोच्चारस्य अ स्याद्विदि । अभ्यासे चर्च । ८।३।५४। अभ्यासे षष्ठी परा सुबंशम् । 'सर्वां चरा, कयां चर' इति विवेकं बभूव । बभूवतुः । बभूवुः ।

आद्य भू सप्तमी घातो. कटि तिपि णपि गुमेऽवादेवे भवति आत्ते 'शेये विभाक्-
के'ति वैभाषिके आत्ते भगिमवतीति सिष्यति णत्वामाये च अनिमवति इति द्वितीरं
रूपं भवतीति व्यवस्था । बभूव । भूवातोः 'परोचे क्तिट्' इति लिटि, इकारकारकोरि-

परोचे क्त्वं बो कित्वा होने बाकी हो कर मन्विष्यत् भनवतन (द्विट्) को कित्वा करी जाती है ।
) क्वटि—'अतीताया शप्तेः पश्चात् पूर्वोर्ध्वेन च सन्धिलो दिक्लोऽद्यतनः, सन्धिनोऽ-
नघतनम् । 'परोच' वचको कर्तृते हैं विसर्गमें वचका मन्विष्य नहीं हो। एवं च लिट् पर हुमा
कि परोच और 'भनवतन' ध्रुव काक्रमे 'क्विट्' का प्रयोग हो। वचा—'रातो वाक्किने
वचान् ।' स्मरण रहे कि चित्तविशेषमें दवा किसी भी हावत्रमें स्वीकार नहीं करने पर
परोच (वचन पुरव) में भी 'क्विट्' का प्रयोग होता है। वचा—

(१) 'ध्रुवोऽर् क्विक् विवहाय' (२) 'नाऽऽ क्विजान् जपाव (ककारार्थं देखो)

पारस्मै—'क्विट्' सवन्ती तिपदि नो के स्थानमें क्वटि नो आदेश हो। भुवो—
'भू' वातुको ध्रुक् का अणम हो, लृक् और क्विट् सवन्ती अचूके परे। एका—'यकाचो
द्वे प्रथमस्य' 'अजादेर्द्वितीयस्य' ये दोनों अकार सून है। द्विटि—क्विट्के परे अनभ्यास
(द्वित्वमित) आत्ववचन प्रथम एकाचको दिव्य हो और (अजादि वातु रहे तो) आदिपूर
अचूते पर द्वितीय एकाचको दिव्य हो। पूर्वो—वाङ्मिष प्रकरण में जो दो (दिव्य) विधान
दिव्य बने हैं, स्वयं पूर्वो अन्वामसवा हो। इत्यादि—अभ्यासका आदि ह्रस्व रहे
(वच काव) और अण्य ह्रस्वा और हो। ह्रस्वः—अभ्यासके अचूको ह्रस्व हो। अच—
भू वातुके अभ्यासके वकारको अकार आदेश हो, क्विट्के परे। अचवा—अभ्यासके वचके
स्थानमें 'चर' आदेश हो और 'अच्' आदेश भी हो। अचोत् 'अच्' के स्थानमें 'अच्' और

लिट् च । १।४।११५। लिटादेशस्तिर्धधातुफसंज्ञः स्यात् । धर्द्धधातुफस्ये
 ड्वलादेः । ७।२।३५। वलादेराधधातुफस्येहागमः स्यात् । यभूविष । बभूवयुः ।
 बभूव । बभूव । यभूविष । बभूविम ॥ अनद्यतने लुट् । ३।३।१५। भविष्यत्वनद्यत-
 नेऽर्धे धातोलुट् । स्यतासी लुलुटोः । ३।१।३३। धातोरेतौ स्तो, लुलुटोः परतः ।
 शयाद्यपवादः । 'लृ' इति लृङ्लुटोर्ग्रहणम् ॥ अर्द्धधातुकं शेषः । ३।४।११४।
 तिर्द्दशाङ्गयोऽन्यो 'धातो'रिति विहितः प्रत्यय एतत्संज्ञः स्यात् । इट् । लुटः अथम-
 स्य डारौरसः । २।४।८५। एते क्रमादादेशाः स्युः । हित्वघामर्धादभस्यपि
 टेलोपः । भविता ॥ तासस्त्योलोपः । ७।४।५०। सादी प्रत्यये परे ॥

रसंज्ञायां लोपे च लः स्थाने 'तिसरिष्ठ०' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचनविषयायां
 तिपि, तस्यस्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलधुसणखवमाः' इति णलि, णकारस्य
 'चुट्' इतीरसंज्ञायां, लस्य च 'हलन्त्यम्' इतीरसंज्ञायां 'तस्य लोपः' इति तयो-
 लोपे, नित्यत्वाद् गुणवृद्धी धाधित्वा 'भुवो वुग्लुङ्लिटोः' इति भूधातोः वुगागमेऽनु-
 वन्धलोपे कित्वात् अन्याद्ययवे 'भूव् + अ' इति जाते तत्र 'लिटि धातोरेनभ्यासस्य'
 इति द्वित्वे 'भूव् भूव् अ' इति धाते 'पूर्वाभ्यासः' इत्यनेन पूर्वस्य 'भूव्' इत्यस्या-
 भ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति घलोपे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः' इति
 अभ्यासोकारस्य अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्याससंज्ञकस्य भस्य अकारे 'बभूव'
 इति रूपम् । यभूविष । भूधातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि अनुबन्धलोपे तस्यस्थाने
 मध्यमपुरुषैकवचनविषयायां सिपि, तस्य 'लिट् च' इत्यार्धधातुकसंज्ञायां 'परस्मै-
 पदानां णलतुसुस्थलधुसणखवमाः' इति सिपः स्थाने थलादेशे लत्येरसंज्ञायां लोपे च
 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति थस्य इहागमेऽनुबन्धलोपे 'भुवो वुग् लुङ्लिटोः' इति
 वुगागमे कस्येरसंज्ञायां लोपे च कित्वादन्याद्ययवे जाते 'लिटि धातोरेनभ्यासस्य'
 इति भूव् इत्यस्य द्वित्वे 'पूर्वाभ्यासः' इत्यभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'भवतेरः'
 इत्यभ्यासोकारस्याकारे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्वेन वकारे 'यभूविष' इति रूपम् ।
 भविता । भूधातोः 'अनद्यतने लुट्' इति लुटि तस्य स्थाने प्रथमपुरुषस्यैक-

'लृ' के स्थानमें 'चर्' हो । लिट्—लिट्देश 'लिट्' की आर्धधातुकसंज्ञा हो । धर्द्ध-
 वलादि आर्धधातुकको 'इट्' का आगम हो । अन्—भविष्यत् अनद्यतन अर्थमें धातुसे
 'लुट्' लकार हो । (यथा-श्वो गन्ताऽस्मि) । स्यता—धातुसे 'स्व' प्रत्यय और 'तसि' प्रत्यय
 हो—'लृ' (लृट् लृङ्) और 'लुट्' के परे (वधाकमते) । धर्द्ध—'लिट्-लिट्' से कित्
 (शेष) को 'धातोः' इस अभिप्रायमें विहित प्रत्यय वसकी आर्धधातुकसंज्ञा हो । लुङ्—'लुट्'
 -लकार सम्बन्धी प्रथमपुरुषके स्थानमें कबते वा, री, रस् आदेश हों । लृङ्—लृङ् और

ननु 'विष्णे' इत्यत्र क्षापञ्चाम् इति चेच्छृङ्गजनन्यार्पणकार्युक्ताऽनञादिष्विति कृतम् ।
 नवतात् । लोटो लट्त्वत् । ३।४।८५। लोटस्तामादयः, एलोपय । तत्पठस्यादिपठे
 सान्तन्ताऽमः ३।४।१०१। क्विधनुर्णां तच्चादीनां तामादयः स्युः । भवताम् । नपत्तु ।
 सेर्ह्यपिच्छ ३।४।८७। लोटः सेर्हिः, लोऽपिच ॥ अतो द्वेः । ६।४।१०५ । लुट् ।
 भव । भवतात् । भवतम् । भवत ॥ मेर्निः । ३।४।८९ । लोटः ॥ आलुप्तप्रत्यय
 पिच्छ ३।४।९२। लोडुत्तमस्याऽऽट् च पिच्छ । द्विन्योरर्थं न इकारोच्चारणपाठ-
 र्थात् । भवानि । ते प्राग्घातोः । १।४।८०। ते = नत्युपसर्गसंज्ञका धातोः प्रागेव
 प्रयोक्तव्याः । आनि लोट् । ८।४।१६। उपसर्गस्यादिभिसात्परस्य लोकार्थस्याऽऽऽ-
 नीत्यस्य नस्य णः स्यात् । प्रभवाणि । (दुः वरधणत्त्वयोरुपसर्गवत्त्वत्पिच्छेऽपि

ज्ञायां लोपे च, शिखात् 'विद्वन्निव् सार्वधातुत्वम्' इति प्रायोऽकारस्यापि सार्वधातुत्व-
 सम्भवायां 'सार्वधातुकार्थधातुत्वयोः' इति गुणे 'एचोऽनञानामः' इत्यच्चादेशे 'सवधि'
 इति धात्वे 'एः' इति तिप हकारस्य उत्वे 'भवतु' इति सिद्धम् । आक्षिपि तु 'दुटो-
 र्तातच्छ्रुशिव्यन्पतरस्यात्' इति तु इत्यस्य सर्वस्य स्थाने पाणिनेः श्रौतारथात्ता-
 त्तादेशेऽनुबन्धलोपे 'भवतात्' इति भवति, तद्भावे 'भवतु' इति च सिद्धमिति ।
 भवानि । भूधातोः 'लोट् च' इति लोटि तत्स्थाने 'विसस्रिञि' इत्यादिना उच्यते-
 पुरुषैक्यचने म्रिपि, अनुबन्धलोपे तस्य सार्वधातुत्वत्वे षापि, अनुबन्धलोपे शिखा-
 स्सार्वधातुत्वत्वे गुणेश्चादेशे 'भव + मि' इति जाते 'लोटो लट्त्वत्' इति लट्त्वादि-
 देशेन 'तस्यस्यमिषां तान्तन्तामः' इति मिपोऽमादेशे प्राप्ते च वाक्षित्वा 'मेर्निः'
 इति मेन्यादेशे, हकारोच्चारणसामर्थ्यात् नेरिकारस्योत्थाभावे 'आलुप्तमस्य पिच्छ'
 इत्यादागमेऽलुप्तम्यलोपे 'भव धा मि' इति जाते 'अकः सङ्गर्णे दीर्घः' इति पूर्वपरयोः
 स्थाने दीर्घ 'भवानि' इति रूपम् । प्रभवाणि । भूधातोर्लोऽपि, तत्स्थाने म्रिपि षापि
 गुणेश्चादेशे मेन्यादेशे आदागमे दीर्घे 'ते प्राग्घातोः' इति चूर्णपलाशम इत्युपसर्गस्य
 पूर्वमेव प्रयोगे 'आनि लोट्' इति णत्वे च कृते तत्साधु । दुः पत्तेति । वरधण-

अर्थमे 'तु' और 'हि' के स्थानमें विकल्पसे तावट् आदेश हो । लोटो—लोट् के स्थानमें
 छट्के समान कार्यं (तामादि आदेश और वस्-मस्के सकारका लोप) हो । तस्य—छिद्य
 उकार सगन्धो तसादि (तस्-यस्-थ-मिप्) के स्थानमें तामादि (तान्-तम्-त-थन्)
 आदेश हो । सेर्ह्य—लोट् सम्बन्धी 'सि' के स्थानमें 'हि' आदेश हो और यह 'अपिच' हो ।
 अतो—अदन्त अक्षरे पर 'हि' का लुक् हो । मेर्निः—लोट् सम्बन्धी 'मि' के स्थानमें 'नि'
 आदेश हो । आलु—लोट् उकार सम्बन्धी उत्तम पुरुषको 'आट्' का आगम हो और गट्
 आट् पिय हो । ते प्रा—गति संज्ञक और उपसर्ग संज्ञक पूर्णक प्रादिकता भावसे पहले प्रयोग
 करना आदिये । आदि—उपसर्गस्य निमित्त (रेफ-पकार) से पर लोट्के स्थानमें हुजा
 'आदि' के प्रकार जो पकार हो । हुता—स्व और पञ्चके नियमसे 'दुट्' को उपसर्ग का

वत्त्वम्) । दुस्त्विति । दुर्भवानि । (अन्तःशब्दस्याऽङ्कियिधिगतत्वेयूपसर्गात्वं
 दापयम्) । अन्तर्भावानि । नित्यं क्तित् । ३।४।१९। सकारान्तस्य विदुत्तमस्य
 नित्यं लोपः स्यात् । 'अलोऽन्यस्ये'ति सलोपः । भवाव । भवाम् । अन्तघतने
 लृक् । ३।२।११। अन्तघतनमूत्तापेइतेर्षातोर्लृक् । लुक्लृक्लृक्लृक्लृक्लृक्लृक् ।
 ३।४।७। एवमस्याऽट् । इत्यश्च ३।४।१०। क्तितो मस्य परस्मैपदमिकारात् यत्तस्य
 लोपः । अमवत् । अमवताम् । अमवत् । अमवत् । अमवत् । अमवत् । अम-
 वत् । अमवाव । अमवाम् ॥ विधिनिमन्त्रणाऽऽमन्त्रणाऽधीएत्संप्रश्नप्रार्थनेषु

लृपोः कर्तृत्वमो' सुर उपसर्गात्प्रतिषेध इत्यर्थः । दुस्त्विति । अत्र 'उपसर्गात्सु-
 भौति' इति पाठ्यं न भवति । दुर्भवानि । अत्र 'भानि लोरे' इति पर्यं न भवति ।
 अत्र शब्दस्येति । अद्यविधौ क्विपि गत्ये च कर्तृत्वे अन्तर् इत्यस्य उपसर्गात्वं-
 नित्यर्थः । प्राद्विद्याभावाद्ग्राह्ये चचनम् । अद्य उदाहरणम्—'अन्तर्घा' इति । 'भा-
 तलोपसर्गो' इत्येव टाप् । क्विपिपेदशाहरणम्—'अन्तर्घि' इति । 'उपसर्गो घो-
 कि' । अन्तर्भावानि । अन्तर्घपदाद् भूधातोर्लोकि, सस्थाने मिति, दापि, गुणेऽवा-
 देशे आदि द्विर्धे 'मेनि' इति मेन्धादेशे 'अन्तःशब्दस्याङ्कियिधिगतत्वेयूपसर्गात्वं
 वाच्यम्' इति अन्तरित्यस्योपसर्गात्वं 'भानि लोरे' इति गत्ये 'अन्तर्भावानि' इति
 रूपम् । अमवत् । भूधातोः, 'अन्तघतने लृक्' इति लृक्, लृक् इत्य 'दृलम्बम्' इति,
 लृकारोत्तरपरिनीञ्कारस्य च 'उपदेशेऽनुनासिक इत्' इतीत्यंशायां 'तस्य लोपः'
 इति लोपे, लृ स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविषयायां 'तिससृष्टि' इति तिसि, परये-
 त्तस्यायां लोपे च 'तिसृत्तिसावभातुकम्' इति तिसिः सावभातुकसंज्ञायां 'कर्तरि
 षष्' इति षष्, सकारपकारयोर्विस्तारजायां लोपे च तस्य शिवाद् 'तिसृत्तिसाव-
 भातुकम्' इति सावभातुकसंज्ञायां 'सावभातुकार्भभातुकयो' इति भूधातोर्लृका-
 रस्य गुणे लोकारे वाते 'पचोऽयवावाव' इत्यवदेशे 'भवति' इति जाते 'लृक्-
 लृक्लृक्लृक्लृक्लृक्' इत्यस्येवागमे टस्येत्यंशायां लोपे च 'थापन्ती टकितौ'
 इति शिवाद्वाच्यपवे जाते 'इत्यश्च' इति तिसि इकारस्य लोपे 'अमवत्' इति
 क्य सित्त्वम् । विधिनिमन्त्रोत्सादि । 'धातोः' इत्यधिक्रियते । विधि—प्रेरणम् ।

प्रतिषेध कर्तृत्वादि (उपसर्गात्सज्ञा नही हो) । अन्त—'अल' विधि, 'कि' विधि आदि
 'भाव' विधिके विषयने अन्तर् शब्दको मो उपसर्ग कर्तृत्वादि । नित्यं—विद्य लृकार
 सम्बन्धी सकारान्त क्तम पुरश्चके सकारका नित्य लोप हो । अन्त—अन्तघतन भूधातुइति
 अन्तर् 'लृक्' लृकार हो । लृक्—लृक्, लृक्, लृक्, के परे अङ्की 'अट्' का भागम ही
 ट्ता वत् वताप हो । इत्यश्च—विद्य लृकार सम्बन्धी लो सकारान्त परस्मैपद, वत्तके अन्त
 रकार) का लोप हो

विधि—विधि, विमन्त्रण, मातृत्वम्, अदीट, संव्रान बीट प्रायेना कर्तृत्वे वाङ्मे

लिङ् । ३।३।१६१। एष्वयेंकु घातो लिङ् । यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्च । ३।३।१०३। लिङ्ः परस्मैपदानां यासुहागमो, ङिञ्च । ङित्वोक्तेशायते—कच्चिदन्-
बन्धकार्येऽप्यनल्विधाविति प्रतिषेध इति, ते न 'वक्ष्यमाणे'त्यत्र टित्त्वादुगित्त्वाद्य
हीन । लिङ्ः सलोपोऽनन्त्यस्य । ७।२।७२। सार्वधातुकलिटोऽनन्त्यस्य सस्य
लोपः । इति प्राप्ते । अतो येयः ७।२।८०। अतः परस्य सार्वधातुकाद्ययस्य
'यास्' इत्यस्य इय् । गुणः । 'लोपो व्योर्घलि' । भवेत् । भवेताम् । झेर्जुस्
। ३।३।१०८। लिङो झेर्जुस् । अस्यपदान्तात् । ६।१।२६। अपदान्तादवर्णादुपि
परे पररूपमेकादेशः स्यात् । इति प्राप्ते । परत्वाभित्यत्वाच्चाऽतो येय इति प्राञ्चः ।
यद्यप्यन्तरङ्गत्वात्पररूपं न्याय्यं, तथापि 'यास्' इत्यस्य 'इय्' इति व्याख्येयम् ।

श्रुत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । निमन्त्रणम्—नियोगकरणम्, आवश्यकके श्राद्धमोज-
नादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । आमन्त्रणम्—कामचारानुज्ञा । अघीष्टः—सत्कारपूर्वको
व्यापारः । इत्यादि । भवेत् । भूधातोः 'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनैषु
लिङ्' इति लिङि इकारङकारयोरिसंज्ञायां लोपे च लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने
तिपि, परस्येसंज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां
'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति शिष्यात् सार्व-
धातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'एचोऽयवायाचः, इय्घादेशे
'इतश्च' इतीकारलोपे 'यासुट्परस्मैपदेषूदात्तो ङिञ्च' इति यासुटि, अनुबन्धलोपे
'लिङ्ः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति यासः सस्य लोपे प्राप्ते 'अतो येयः' इति
यासः स्थाने इत्यादेशे 'आद्गुणः' इति गुणे 'भवेय् त्' इति जाते 'लोपो व्यो-

'लिङ्' लकार हो ।

नोटः—विध्यादि अर्थोमें 'लोट्' का भी विधान हो चुका है । अब वहाँ दोनोंका स्पष्टी-
करण इस प्रकार है—विधिः = प्रेरणम्, श्रुत्यादेर्निकृष्टस्य प्रवर्तनम् । जैसे—मगान् वष्टं
आकलयतु क्षालयेद्वा । निमन्त्रणं = नियोगकरणम्, आवश्यकके श्राद्धमोजनादौ दौहित्रादेः प्रव-
र्तनम् । जैसे—इह मातामहश्राद्धे दौहित्रादयो भवन्तः भुजन्तान् वा भुञ्जीरन् । आमन्त्रणम् =
कामचारानुज्ञा । जैसे—मत्पुत्रोत्सवे भवान् आगच्छतु, आगच्छेद्वा । अघीष्टः = सत्कारपूर्वको
व्यापारः । जैसे—मदात्मजं चन्द्रशेखरं भवान् अध्यापयतु अध्यापयेद्वा । सम्प्रश्नः = सम्प्र-
चारणम् । जैसे किं भोः व्याकरणं भवान् अधीयीत । प्रार्थनं = याचना । यया—भवान्
फलं मे ददातु दद्याद्वा ।

यासु—लिङ् लकार सम्बन्धी परस्मैपद को 'यासुट्' का आगम हो और वह ङिञ्च हो ।
लिङ्ः—'सर्वधातुक' लिङ् (विक्लिङ्) सम्बन्धी अनन्त लकारका लोप हो । अतो—'अथ'
से पर सार्वधातुकत्वयद् 'वात्' को 'इय्' लोप हो । झेर्जुस्—लिङ् लकार सम्बन्धी 'हि' के
एक को 'जुस्' हो । अथ—अपदान्त अवर्णः 'ङ' पर रहते पूर्व-परके स्थानमें पररूप

पश्य यद्योपरमाप्तपवाद इत् । 'अतो वेय' इत्यत्र तु सन्निवर्ष । मवेयुः । मवेः ।
 मवेतम् । मवेत् । मवेस्म । मवेव । मवेम ॥ सिद्धाशिवि ॥३॥४॥११५॥
 आशिवि लिङ्गस्थितार्थपाठकसङ्गः स्यात् । किदाशिवि ॥३॥४॥१०४॥ आशिवि
 द्वितीयाद् किरस्यात् । 'स्को'रिति प्रलोप' । किदाशिवि च ॥१॥१॥५॥ गिरिङ्गि-
 निमित्ते इत्यङ्गणे गुणवृद्धौ न स्तः । मयात् । मयास्ताम् । मयासु । मयाः ।
 मयास्तम् । मयास्त । मयासम् । मयास्व । मयासम । लुङ् ॥३॥२॥११०॥ मयासं
 पातोर्लुङ् । माङि लुङ् ॥३॥३॥१७५॥ माण्डुपपदे पातोर्लुङ् स्यात् । सर्वमकाराऽ-
 पवादः । स्मोत्तरे लृङ् च ॥३॥३॥१७६॥ स्मोत्तरे माङि लृङ् स्यात्लुङ् च । कित्त
 लुङि ॥३॥१॥४३॥ शशापपवाद' । क्लृप्ते सिच् ॥३॥१॥४४॥ इचावितौ । गाति-
 दद्यात्पुपामूय्यः सिचः परस्मैपदेषु ॥२॥४॥७७॥ एभ्यः परस्व विभो लुङ् स्यात्
 परस्मैपदेषु । गावाविहेणादेष्टविभतो यथाते । मूस्तुषीस्तिङ्कि ॥७॥३॥८७॥ 'मू' 'सू'
 एतयोः सार्वधातुके तिङि परे गुणो न । अमूर् । अमूर्ताम् । अमूर्व । अम् । अमूर्तम् ।

इति इति प्रलोपे 'मवेत्' इति रूपं सिद्धवति । मयात् । मयातो 'आशिवि
 लिङ्गलोदी' इति लिङ्गि, तस्त्वान्ते 'निसम्पद्यि०' इत्यादिना तिङि 'लिङ्गाशिवि'
 इति तिप् आर्षधातुकात् सार्धोष्मावे 'इतश्च' इतीकारलोपे धातुदि 'मुद्यतिषोः'
 इति मुदि, अनुबन्धलोपे 'स्कोः संयोगाद्योस्ते च' इति सकोपे 'इति च' इति
 गुणनिदेशे 'मयात्' इति सिद्धम् । गावाविहेति । 'गावोर्मृशे इणपिनायोर्मृशम्'
 इति भाष्यान्तरित्वात् । मूस्तुषीस्तिङ्कि । अत्र 'मिरेर्गुण' इत्यतो गुण इति 'नाम्प-
 द्यासाधि पिति सार्वधातुके' इत्यतो वेति सार्वधातुक इति धातुवर्तते । सू इत्य-
 मेन सूक् प्रागिगर्मविमोचने इत्यस्यैव प्रहण्यवदाह-मूम् एतयोर्(एपादिना । अभूव ।
 मूपातुत् 'लृङ्' इति लुङि 'लृङ् लृङ् लृङ् लृङ् लृङ् लृङ्' इत्यङ्गमे लृङ्गित्वेति
 'लिङ् लृङि' इति लृङी 'लृङे' सिच्' इति सिचि इचाविसम्पद्यौ विधाप

एक आदेश हो । लिङ्गा-माशोर्वाद् अर्थवे किदादेश 'लिङ्' की सार्वधातुकसङ्गा हो ।
 किदा-माशोर्वाद् अर्थवे लिङ् सङ्गान्ते यादृक् 'किदा' हो । सिच-गिरि, किदा भीर किन्
 शिवित्तद् एतस्य गुण इति नहीं हो । लृङ्-मूगर्मर्षि धातुके लृङ् लृङ्कार हो । माङि-
 'माङ्' क्कार रहने पर धातुके लृङ् लृङ्कार हो । स्मो-'स्म' क्कार (परक) माङ्' क्कार
 रहने धातुके लृङ्' क्कार क्कार लृङ् लृङ्कार हो । लिङ्-धातुमे 'लिङ्' प्रत्यय ही, लृङ्के
 परे । क्लृप्ते-लिङ्के स्तान्तरे 'लिङ्' क्कार हो । गाति-इगादिङ् 'गा' क्कार क्कार 'लृङ्
 लृङ्' क्कार एवं 'ग' भीर 'मू' क्कारों के पर ली सिच् क्कार लृङ् हो, परस्मैपदके परे ।
 मू-मू' क्कार 'सू' धातुकोही गुण नहीं बने, सार्वधातुक, लिङ्के परे । अमा-

अभूत् । अभूवम् । अभूव । अभूम । न माल्-योने । ६।४।७४। माङ्योगे मटाठी
 न रतः । मा भवान्भूत् । मा स्म भवत् । मा स्म भूत् ॥ लिङ्निमित्ते लृङ् क्रिया-
 तिपत्तौ । ३।३।१३९। हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्निमित्तं, तत्र भविष्यदर्पादात्तौ लृङ्,
 क्रियाया अनिष्पत्तौ गम्यमानायाम् । अभविष्यत् । अभविष्यताम् । अभविष्यन् ।
 अभविष्यः । अभविष्यतम् । अभविष्यत । अभविष्यम् । अभविष्याव । अभवि-
 ष्याम । 'सुवृष्टिखेदभविष्यत्तदा सुभिक्षमभविष्यत्' इत्यादि ज्ञेयम् । 'प्रणिभवति'
 इत्यादौ उपसर्गाणामसमस्तत्वेऽपि संहिता नित्या । तदुक्तम्—

'संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।

नित्या समासे, षाण्ये तु सा धिवक्षामपेक्षते ॥ १ ॥

धात्वर्थं वाधते कश्चित्कश्चित्तमनुवर्त्तते ।

विशिनष्टि तमेवाऽर्थमुपसर्गगतिस्त्रिधा ॥ २ ॥ इति ।

तयोलोपे 'अभू स् ति' इति जाते 'गातिस्पापुपाभूम्यः लिचः परस्मैपदेषु' इति
 सलोपे 'दृत्तश्च' इतीकारलोपे 'भूसुवोस्तिङि' इति गुणाभावे च 'अभूत्' इति ।
 अभविष्यत् । भूधातुतः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङि तस्थाने
 तिपि अनुपन्धलोपे 'दृत्तश्च' इतीकारलोपे शपं चाधिरवा 'स्यतासी लुलुटोः'
 इति स्वप्रत्यये 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लो-
 देः' इतीडागमे गुणेऽवादेशे अडागमे 'गादेशप्रत्यययोः' इति पाठे 'अभ-
 विष्यत्' इति रूपम् । सवृष्टिश्चेदिति । सुवृष्टिर्भवेच्छेत् सुभिक्षमपि भवेद्वि-
 ति लिङ्ये लृङ्लकार इति भावः । प्रभवति, प्रणिभवति, इत्यत्रोपसर्गाणामस-
 मस्तत्वेऽपि संहितायाः नित्यत्वम् । अन्यथा प्रनिभवति इत्यादौ संहिताऽविवक्षा-
 मेव णत्वविकल्पे सिद्धे 'शेषे विभाषे' त्यादौ विभाषाप्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । अत्र
 पृथोक्तम्—संहितैकपदे नित्येति । एकपदमित्यनेन अक्षण्डं पदं विवक्षितम् । 'नित्या
 समासे' इति लिङ्गात् । अक्षण्डत्वं च पदभिन्नोत्तरखण्डकत्वम् । धातूपसर्गयोरेपि
 संहिताया नित्यत्वात् । प्रणिभवतीत्यादौ वैभाषिकणत्वार्थं विभाषाप्रहणं स्वार्थकम् ॥

'आल्' के चोगमें अङ्को 'अट्' या 'वाट्' का आगम नहीं हो । लिङ्नि-भविष्यत् लार्थमें
 विद्यमान धातुसे हेतुहेतुमद्भावादि अर्थमें 'लृङ्'लकार हो क्रियाकी अनिष्पत्ति यदि गम्यमान रहे ।
 संहितैक-एक पदमें, धातु और उपसर्गकी तथा समासमें संहिता निरय होती है ।
 क्रोड वान्यमें वक्ताकी इच्छापर रहती है । ('यथा-इन्दुमती उवाच' अथवा 'इन्दुमत्युवाच')
 धात्वर्थ-कोई उपसर्ग धातुके मुख्यार्थको षाषकर नवीन अर्थका बोध कराता है, कोई,
 धात्वर्थका ही अनुवर्तन करता है और कोई विशेषण होकर उसी धात्वर्थको और नौ स्फुटिक
 कर देता है । इस प्रकार उपसर्गकी गति वीग प्रकारकी होती है ।

असाध्यनिर्देशोपलक्षणं, 'यागात्स्वर्गो भवतीत्यादौ 'उपयते' इत्याद्यर्थात् । उपसर्गात्स्वर्गविशेषस्य शोतका । प्रभवति । पराभवति । सम्भवति । अनुभवति । अभिभवति । उद्भवति । परिभवति—इत्यादौ विकल्पणार्थावगते । उक्तम्—

उपसर्गेण घात्वर्थो यत्तादन्यत्र नीयते ।

प्रहाराऽऽहारसंहार-विहार-परिहारयत् ॥ १ ॥ इति ।

अत आतस्यगमने । अतति । अततः । अतन्ति । अतसि । अतयः । अतय । अतामि । अताव । अताम । अत आदे । ७।५।७०। अग्याऽऽस्याऽऽदेरौ दीर्घं स्यात् । पररूपाऽपवादः । आत । आततुः । आतु । आतिय । आतयुः ।

सहिता समासे निर्याय मज्जते । वाक्ये तु सा विवदाश्रया भवति । सत्ताष्येति । 'भू सत्तायाम्' इति केवल ससायं भूघातोरथेत् 'हिमवतो गङ्गा प्रभवति' इति उप-
 र्पर्य असगसो भवेत् । अत एव घातूनां सत्ताष्यनिर्देशः केवलम् उपलक्षणं
 मन्वते वैधाकरणा । अर्थप्रदर्शनार्थं तरसावरयकार्यात् । उपसर्गेति । उपसर्गेण
 घातो सम्यन्धे सति अर्थवैशिष्ट्यप्रतीयमानत्वाद् घातूनामनेकार्या इति सिद्धा-
 न्तितम् । साऽग्याऽप्यतीतिरनु उपसर्गवशादेव । अत उपसर्गा अर्थशोतकाः
 न तु वाचका । सत्र वाचकत्वं चेत् स्वतन्त्रतया प्रादीनां तयाविधायविमर्शाभावात् ।
 अत एव मृत्तिकायां घटजननशक्तिर्वर्तते न तु जले, अत एव मृत्तिका घटसमवायिका
 रणम् इतिवत् अर्थस्य स्थिति धातो वर्तते, अत एव उपसर्गसंयोगे सति विशिष्टार्थं
 प्रतीतिरिति अभिधावाच्यत्वं आतोरेव । शोतकत्वं प्रादीनां सिद्धमेव । सातस्यगम-
 नम्—निरन्तरगमनम् । अति । अत् घातो 'वर्तमाने छट्' इति छटि, प्रथमपुरुष-
 क्वचनविषयायां 'विष्ठससि०' इति तिपि, 'तिष्ठतिस्सावंधातुकम्' इति सावंधातु-
 कस्यशायाम् 'कर्तरि षप्' इति षपि 'षप्' इत्यनेयोरिस्तस्यायां छोपे च शिरवात्
 षप सावंधातुकस्यशायो मिच्छिवा 'भवति' इति रूपम् । भान । अत्-घातोर्छटि
 छस्य स्थाने तिपि 'परस्मैपदानाम्' इत्यादिना तिपो णटादेशोऽनुबन्धछोपे 'छिटि
 घातोऽनग्यासस्य' इति द्विवे 'पूर्वोऽग्यास' इति अग्यासस्यशायाम् 'हृत्वादि
 षोष' इति छोपे 'अ अत् अ' इति आते अग्यासस्य दीर्घं सवर्गदीर्घं च तरिसिद्धिः ।

उपसर्गेण—विधिव उपसर्गके वक्ष्ये वारवर्षे मो विधिव अर्थेने परिवर्तित होजा है ।
 वक्ष—इत्यर्थक 'ह' धातुमें 'व' लगने पर 'प्रहार' (आघात), 'आ' लगनेपर 'आहार'
 (भोजन), 'स' लगने पर 'सहार' (सर्नास), 'वि' लगनेपर 'विहार' (क्रीडा) और
 'जि' लगे पर 'जिहार' (उत्साह) आदि ।

अत—अग्यासके आदि अत् (हस्य अकार) को शीघं है ।

आत । आत । आस्ति । आतिम । अतिता । अतिचति । अतवृ । आडजा-
दीनाम् । ६।४।७२। अजादेरप्रस्याऽऽह लुट्-लट् लृट्छु । आतव । अतेव ।
अत्याव । अत्यास्ताम् । लुङि सिचि इडागमे कृते । अस्तिचिचोऽपृक्ते । ७।३।
९६। विद्यमानास्तिचोऽस्तैश्च परस्याऽपृक्तस्य इह ईडागमः । इट ईटि । ८।२।२। ८।
इदः परस्य सस्य लोपः स्यादोऽटि । (सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः)
आतीव । आतिष्ठम् । सिज्जभ्यस्तद्विद्भिभ्यश्च । ३।४।१०९। सिचोऽभ्यस्ताद्वि-
देश परस्य क्विसम्बन्धिनो जेजुस् । आतिपुः । आतीः । आतिष्टम् । आतिष्ट ।

अतिता । अवधातोः 'अनघतने लुट्' इति लुटि, तस्थाने तिपि 'स्यतासी लृ-
लुटोः' इति तासि 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्व-
लादेः' इतीडागमे अनुबन्धलोपे 'लुटः प्रथमस्य दारौरसः' इति तिपो डादेशेऽनुबन्ध
लोपे लिट्सामर्थ्यादिभस्यापि टेलोपे च तसिद्धिः । अतिप्यति । अवधातोर्लुटि लृट्-
स्तिपि, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः'
इति इडागमे सस्य पावे च कृते 'अतिप्यति' इति रूपम् । अतेव । अवधातोर्लिङि,
लिङ्गस्तिपि, शपि, अनुबन्धलोपे यासुडागमे उटि गते यास ह्यादेशे, गुणे, 'लोपो
द्योर्बलि' इति यलोपे त्तिप इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अतेव' इति । अस्याव ।
अवधातोराक्षिपि लिङि, लिङ्गस्तिपि, लिङ्गशिपि' इत्यार्धधातुकत्वे ऋथभावे
'यासुट् परस्मैपदेषु' इति यासुटि, उटि गते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे
'सुट्तिथोः' इति तकारस्य सुडागमे उटो लोपे 'अत्यास सृ' इति जाते 'स्कोः
संयोगाधोरन्ते ष' इति सकारद्वयस्यापि निवृत्तौ, मिलित्वा 'अत्याव' इति रूपम् ।
आतीव । अवधातोर्लिङि, लृट्स्तिपि, 'च्छि लुङि' इति लौ, 'चलेः सिचि' इति सिचि
इति गते 'अव् + स + ति' इति आते 'आडजादीनाम्' इत्यादि 'आटश्च' इति
लृट्छौ, सिचिः स आर्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे
'आव् + इ + स + ति' इति जाते 'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे 'तः' इत्यस्य 'अपृक्त
पृक्काल प्रत्ययः' इत्त्वपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिचिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'आव्, इ स
ई व' इति आते 'इट ईटि' इति, सलोपे, सलोपस्य त्रैपादिकत्वात् 'पूर्वधासिद्धम्'
इत्यसिद्धाद्येन दीर्घत्वाऽभावे प्राप्ते 'सिज्जलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सिज्जोप-
स्यासिद्धत्वाभावेन सदर्शदीर्घ 'आसीव' इति रूपं सिद्धम् । आतीः । लुङि 'लः सिपि,

आडजा—अपदि अङ्गो आड्जा अलम हो, लुट्, लट्, लृट् के परे । अस्ति—
विद्यमान 'सिचि' के परे कीर 'अस्' वासुते परे अपृक्त 'इट्' को ईट् आगम हो । इट—
'इट्' के परे 'सिचि' सम्बन्धी लकारका लोप हो, 'ईट्' के परे ।

सिचि—'सिचि' के परे, अवधारत वर्तक के परे एता 'विट्' वासुते परे 'सिचि'

प्यति । सेपतु । असेपत् । सेवेत । सिप्यात् । असेवीत् । असेविप्यत् । सात्पयाद्योः
८।३।११। सातेः, पदादेव सस्य नो न । इति निषेधे प्राप्ते । उपसर्गात्सुनोतिस्तुष-
तिरयतिस्तौतिस्तोभतिस्त्यासेनयसेषतिष्यसहास्वञाम् । ८।३।६५। उपसर्ग-

लुटोः' इति साति 'आर्घघातुकं षोषः' इति तासेरार्घघातुकावे लघूपधगुणे 'आर्घघा-
तुकरपेद्वचलादेः' इतीति 'लुटः प्रथमस्य दारौरसः' इति वेदांवे उस्त्येसम्ज्ञायां षोषे
च दिवसाम्प्याद्भरवापिटेर्लोपे 'सेषिता' इति सिद्धम् । सेषिप्यति । विध्घातोर्लुटि,
तिपि, सार्वघातुकसंज्ञायां षापि प्राप्ते तर्गाधत्वा 'रयतासी लुटोः' इति
रये आर्घघातुकसंज्ञायाम् इति गुणे पावे च तसिद्धिः । सेपतु । विध्घातोर्लोटि लोट-
रितिपि, षापि, सार्वघातुकसंज्ञायां गुणे परस्य सत्वे इकाररयोत्वे च तसिद्धिः ।
यसेषत् । विध्घातोर्लुटि, लुटरितिपि, षटि, षापि, गुणे, परस्य सत्वे, 'इतश्च' इतीकार-
लोपे च वृत्ते 'असेधय' इति सिद्धम् । सेधेत् । विध्घातोर्लुटि, लुटरितिपि, परस्य
सत्वे षापि, अनुबन्धलोपे शिवात्सार्वघातुकसंज्ञायां गुणे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो
लिङ्' इति यासुटि, उटि गते 'दतो येयः' इति यास इयादेशे गुणे 'लोपो व्योर्वा-
लि' इति यलोपे 'इतश्च' इति तिप इकाररय लोपे 'सेधेत्' इति रूपम् । सिप्यात् ।
विध्घातोर्षापि लिङि, लुटरितिपि, अनुबन्धलोपे 'लिङाशिपि' इति तिप आर्घघा-
तुकावेन ऋपोऽभावे 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो लिङ्' इति यासुटि उटि गते 'किदा-
दिपि' इति यासुटः क्तिप्, क्तिवाद् गुणाऽभावे 'सुट् तिथोः' इति तकाररय लुङागमे
उटि गते 'इतश्च' इतीकारलोपे 'रकोः लबोगाणोरन्ते च' इति सकाररय लोपे
'धावादेः षः सः' इति परस्य सत्वे च षिहते 'सिप्यात्' इति रूपम् । असेवीत् ।
विध्घातोर्लुटि, लुटरितिपि, परस्य सत्वे अनुबन्धलोपे सार्वघातुकसंज्ञायां षापि प्राप्ते
तर्गाधत्वा च्छौ, च्छेः सिपि, इचोरिसंज्ञायां षोपे च, स आर्घघातुकसंज्ञायाम्
इटि, गुणे, 'इतश्च' इति तिप इकाररय लोपे अपृष्ठसंज्ञायाम् 'अस्तिसिञोऽपृष्ठे'
इति ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे तरस्य 'सिञोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति
सिद्धत्वेन सचण् षीर्षेऽङ्गश्याङागमे 'असेधाव' इति रूपम् । असेषिप्यत् । विध्घातो-
र्लुटि, लुटरितिपि, परस्य सत्वे, अनुबन्धलोपे तिपः सार्वघातुकसंज्ञायां षापि प्राप्ते,
तर्गाधत्वा 'रयतासी लुटोः' इति रये, तर्थाध्घातुकसंज्ञायाम्, इटि गुणे, अटि,
पावे 'इतश्च' इति तिप इकाररय लोपे 'असेषिप्यत्' इति रूपम् । सात्पदाचोरिति ।
पक्ष न चेति अनुवर्तते तेन सातेः सरस्य पदादेः सरस्य च प्राप्तं परं नेत्यर्थ-
कश्चितः । उपसर्गादिति । उपसर्गाच्चिमितादायनेनोपसर्गश्चादिणः परयेति योध्यम् ।।

(पित्त भिन्न) 'इट्' कित्त' हो प्राप्त—'साति' प्रत्ययके सकारको तथा पदादिके सकारको
'माप' नही हो । उपसर्गा—उपसर्गश्च निमित्त (इण्-कवर्ग) से पर सुनोत्यादिषाण्

इवाग्निमितादेयां सस्य यः । सदिहप्रत्येः टा३।६६। प्रतिप्रियादुक्त्वात्सदेः सस्य यः ।
स्तम्भे टा३।६७। स्तम्भे घीशस्य सस्य यः । अयाद्याह्वयनसिद्ध्यर्थो टा३।६८।
अयास्तम्भेरेतयोरर्थयो सस्य यः । येद्य स्यनो मोञ्जने । टा३।६९। अयाभ्यां स्तम्भेः
सस्य यो, मोञ्जने । परिनिविम्यः सेवसितस्यसिधुमदसुटस्त्रुवञ्चाम् । टा
३।७०। परिनिविम्य परेषामेषां सस्य य इवात् । निवेवति । प्राक् सितस्यस्य
वायेऽपि । टा३।६३। 'भित्'—सन्द्यात्प्राप्ये सुनेरथादयस्तेषामह्वयवायेऽपि सस्य य
इवात् । न्येयत् । न्येयोत् । न्येधिभ्यत् । इयादिभ्यश्चोत्थेन चाऽभ्यास
स्य । टा३।६४। प्राक्सिताह्वयदिभ्यश्चोत्थेन ह्यवायेऽपि यम् इवात्, एवामेव चाऽ

सदिहप्रत्ये । अत्र 'निधीयति' इत्युदाहरणम् । सदिनि पठ्यर्थे प्रथमा । सोऽन्येति ।
'स्तम्भुस्तम्भु' इति सूत्रनिर्दिष्टस्य नोपचरदेशेऽर्थः । प्रतिप्रयोक्तृत्वमेव नोपचरस्य
सौश्रस्यैव परवविधौ महणात् 'विसृज्यते' इत्यादौ न प'वमिति भावः । अयाद्याह्वयनेति ।
अयोपसर्गापूर्वात् स्तम्भेः आह्वयनवेदपूर्वात् प्राये सस्य य' न इतोऽत्र भावः । वेधेति ।
अयादियत्पुरुषार्थेऽकारः । परिनिविम्य इति । सेवेत्यकार उच्चारणार्थः । येद्य सेडा
यामिरस्य महणात् । सिनेत्यनेन विभ्रमश्चने इत्यस्य प्रथमम् । स य काऽनो
निरूप्यते । अत्येव धातो पचाद्यङ्गत् सनसात् । त्रिषु तन्तुसन्ताने । पठ मर्यने
सुट् प्रागम । 'स्तुह्वययो' सिशाशूनां वेति विकृतरार्थं पुनर्वचनम् । निवेवति ।
अत्र निपूर्वात् सिधु धातो सेवति इति रूपे सति 'उपसर्गात्सुनोति' इत्यादिना प'व-
मिति भावः । प्राक्सितादिति । सुनकारय इति उपसर्गात्सुनोति इत्यादिसूत्रमोक्षा
इति शेषः । न्येयत् इत्यादि । नि + असेयत् नि + असेयोत्, नि + असेविम्यत् इति
पङ्कप्रसिद्धौ 'उपसर्गादिति' प्राप्त पात्र न प्रसज्यते अहागमेन व्यधयानात् । अतः
'प्राक्सिताह्वयवायेऽपि' इत्यनेनाऽऽ अयवायानेनाऽपि प'वमिति मोक्षरूपसिद्धिः ।
इत्यादिभ्येति । अयात्सेनेति सुनोपान्तम् । प्राक्सिताह्वयनुवर्तने उपसर्गादिति सूत्र
इत्यस्याधातुमारम्य परिनिविम्यः सेवसितेऽप्यत्र चित्तसन्धात्प्राक्ये धातव उपात्तास्तेषु

सम्बन्धी सकारको वकार हो । सदिह—'इति' विभ्र अतसर्थत्व भिमिच्छने पर 'सद्' बाहु
सम्बन्धी सकारको वकार हो । स्तम्भे—उपसर्गत्त्व भिमिच्छने पर लीबत्व 'स्तम्भ' बाहु
सम्बन्धी सकारको वकार हो । अयाद्या—'अय' वरन्तांते पर 'स्तम्भ' बाहु सम्बन्धी सकारको
वकार हो, आह्वयन ओट अविद्व्ये (सामीप्य) कर्षणे । येद्य—'दि' तथा 'अय' वरन्तांते
पर 'स्तम्भ' बाहु सम्बन्धी सकारको वकार हो । परिनि—'ति, नि' तथा 'नि' उपसर्गांते पर
'ति' अदि सम्बन्धी सकारको वकार हो । प्राक्—'सिधु' अङ्गते पूर्व सुनोरादि बाहु
सम्बन्धी सकारको 'अट्' के अयवायन रहने पर यो वार हो । इत्यादि—'इ' बाहुते के वर
'सिधु' अङ्गते पूर्व यो २ बाहु है, येद्य कर्षण २ बाहु सम्बन्धी सकारको अन्वयसके अयवायन

भवात्स्व न तु सुनोत्यादीनाम् । निषिषेध । निषिषिधतुः । सेधतेर्गत्तौ । ८।३।११३
 गत्वर्थस्य सेधतेः सत्य यो न । गङ्गां विसेधति ॥ एवम्-चितौ संज्ञाने । शुच शोके ।
 गद् व्यक्तायां याचि । गदति । नेर्गद्-नद्-पत्-पद्-जु-मा-स्यति-हन्ति-याति-
 घाति-द्राति-स्नाति-घपति-घहति-शाम्यति-चिनोति-देग्धिषु च । ८।४।१७।
 उपसर्गस्यान्निमित्तात्परस्य नेर्णः स्यात् गदादिषु परेषु । प्रणिगदति । कुहोश्चुः । ७
 ४।६२। अभ्यासकवर्गहकारयोधवर्गादेशः ॥ अत उपधायाः । ७।२।११६। उपधाया
 अतो वृद्धिः स्याद् अिति, णिति च प्रत्यये । जगाद् । जगदतुः । जगदुः । जगदिय ।
 जगदद्युः । जगद् । णलुत्तमो वा । ७।१।२१। उत्तमो णल् वा णित्स्यात् । जगाद् ।

इत्तसु धातुधित्यर्थः । निषिषेधेति । 'नि + सिसेध' 'नि + सिषिधतुः' इत्यवस्थायां पूर्व-
 सकारस्य 'उपसर्गात्' इत्यनेन परवे सति नि + पिसेध, नि + पिसेधतुः' इति रूपे षाते
 विभ्यवधानेन अपरसकारस्य निपरकत्वाभावाच्च परवप्राप्तिः । अतः 'स्यादिविति' सूत्रे-
 णाऽभ्यासविभ्यवधानेऽपि परत्वं भवत्येवेति भावः । तेन निषिषेध-निषिषेधतुः इति
 रूपद्वयसिद्धिः । सेधतेर्गताविति । नरपरेत्यतो नेत्यनुवृत्तेः परत्वं नेति भावः । गङ्गां विसेधति
 इति । विपूर्वात् पिधघातोः प्राप्तं उपसर्गादिति परत्वं, 'सेधतेर्गत्तौ' इत्यनेन वार्यते ।
 तेन पिधघातोर्गत्वयोर्ग्राहितः तेन च गङ्गां विसेधतीत्यस्य गङ्गां गच्छतीत्यर्थः ।
 एतदेव शोपकं धातूनामनेकार्थं, इति 'उपसर्गा' इत्यत्र तस्य ग्रहणं चरितार्थमिति
 भावः । नेर्गदनदेति । अत्र 'रपाभ्यां नो णः' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादसमासेऽपि
 षोपदेशस्य' इत्यत उपसर्गादिति चानुवर्तते । लृङ्णया उपसर्गपदमत्र उपसर्गस्थ-
 परम् । तदेतदाह-उपसर्गस्यादित्यादिना । प्रणिगदति । अत्र 'नेर्गदनद्' इत्यादिना
 प्रोपसर्गस्थरेफात्परस्य नेर्नकारस्य णत्वम् । जगाद् । गद्घातोर्लिट्स्तिपि, 'परस्मैपदाना-
 नाञ्' इति तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, 'लिटि धातोरभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्या-
 सत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्यासगकारस्य चुत्वेन जकारे,
 जगद् अ इति स्थिते 'अत उपधाया' इति उपधाभूताकारस्य वृद्धौ 'जगाद्' इति
 सिद्धम् । जगाद्-जगद् । गद्घातोर्लिटो मिति 'परस्मैपदानाञ्' इति तिपो णलादेशो
 अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे 'कुहोश्चुः' इति अभ्या-
 सस्य चुत्वे 'णलुत्तमो वा' इति णलः पाञ्चिके णित्त्वे 'अत उपधायाः' इति

रहने पर मी षत्व हो—(सुनोत्यादिको नहीं) । सेधते—उपसर्गस्य निमित्तसे पर गत्वर्थक
 'सिध' धातु सम्बन्धी सकारको षकार नहीं हो । नेर्गद्—उपसर्गस्य निमित्त (रेफ-षकार)
 से परे 'नि' के नकारको णकार हो, गद्-नदादि धातुके परे । कुहो—अभ्यास सम्बन्धी कवर्ग
 और इकारको चवर्ग आदेश हो । अत—उपधा सम्बन्धी 'अत्' को वृद्धि हो, अित्, णित्,
 प्रत्ययके परे । जग—उत्तम पुरुष सम्बन्धी 'णल्' को णित्त्वात् हो, विकल्पसे ।

अगद् । गदिता । गदिव्यति । गदतु । अगदत् । गदेत् । गधात् । अतो हलादे
 र्द्विघोः । ७।२।७। हलादेर्लघोरतो बुद्धिर्बेदादौ सिचि परस्मैपदे । अगादीत् । अग
 दीत् । अगदिव्यत् ॥ णद् अग्यके शब्दे । णो न । ६।१।६५। धात्वादेशेण्य म
 श्वात् । णोपदेशास्त्यनर्दं नाटि नाथ-नाध्-नन्द्-नङ्क नृ नृत । ॥ उपस
 र्गाद्समासेऽपि णोपदेशस्य । ८।४।१४। उपसर्गात्स्यानिमित्तात्परस्य णोपदेशात्
 आतोर्नस्य णः स्यात्समासेऽसमासेऽपि । प्रगदति । प्रगिनदति । नदति । ननाद
 व्यत् एकद्वयमभ्येऽनादेशादेर्लिटि । ६।४।२०। लिङ्निमित्तादेशादिकं न भवति
 अदत्, तद्वत्परस्याऽमयुक्तद्वयमभ्येऽप्यस्याऽन एवमभ्यासोपध द्विनि लिटि । नेदतु

बुद्धौ 'अगाद्' इति, निध्यामादे 'अगद्' इति च सिद्धम् । अगादीत् अगदीत्
 गद्घातोर्लुङ्घरितपि 'इत्थ' इतीकारलोपे अटि, शप चाधिरवाच्यौ, चले सिचि, इष
 इत्सशापो लोपे च, सस्य आर्थघातुक्तसजायाम् इति 'अरितसिचोऽनुक्ते' इति तथा
 इत्येकागमे अनुबन्धलोपे 'अगद् इ स् ई त्' इति जाते 'इत् ईटि' सञ्ज्ञे
 'सिञ्ज्ञोप एकादेशे सिद्धो घात्य' इति सिञ्ज्ञोपस्यासिद्धावाभावेन सवर्गदीर्घे 'अतो
 हलादेर्द्विघोः' इति पाणिक्पूर्वो 'अगादीत्' इति, तदभावे 'अगदीत्' इति च सिद्धम् ।
 णोपदेशास्ति । नर्द-नर्दने, नट-अवच्छन्दने, नाथ्-नाथ-व्याचरोपनापैधर्वाशीष्पु,
 नृनदि-समृद्धौ, नङ्क-नाशने, नृ-नये नृती-गात्रविशेषे, पत्नेर्योऽष्टाभ्यो भिन्ना णका
 आदिघातवो णोपदेशपदेनोपसर्गते इति भावत् । प्रगदति । णद्घातोर्लिटि, 'णो न' इति
 अस्य नत्वे प्रथमपुरुषे इवचनविधत्वायां छट्ठरितपि, नापि, अनुबन्धलोपे, 'नदति' इति
 रूपम् । अत्र णोपसर्गात्स्य णोपदेशस्य 'उपसर्गाद्समामेऽपि णोपदेशस्य' इति णोपसर्गात्स्य-
 रेखात्परस्य णद्घातोर्नस्य ण्ये च तस्मिन्नि । प्रगिनदति । अत्र 'नेर्गदन्द्' इति
 रूपम् । ननाद । णद्घातोर्लिट्ठरितपि, 'णो न' इति णस्य नत्वे 'परस्मैपदानाद्ये'
 इति तिपो णलि, 'लिटि घातोर्नम्यासस्य' इति द्विर्ये 'पूर्वोऽभ्यास' इति अभ्यास
 सजायो 'हलादि दोष' इति दूलोपे 'अस उपधायाः' इत्युपधापूर्वो च विहितायो
 'ननाद' इति रूपम् । नेदतु । णद्घातोर्लिट्ठरितपि 'णो न' इति णस्य नत्वे,
 तसः अनुसि, द्विर्येऽभ्यासकार्ये च कृते 'न नद् अनुस्' इति घाते, अत्र

अतो-इत्यादि सम्बन्धी एषु अकारको विहरसे इति हो, इत्यादिपरस्मैपदपरक 'सिच्' के परे ।
 णो न-—बाहुके आदि अकारको अकार हो । णोपदेशे-—नर्द, नाटि, नाध्, नाध् नन्द,
 नङ्क, नृ, नृत-—इत बाहुकोसे अग्य णो अकारादि बाहु के णोपदेश है । (उत्पत्ति अत्रत्यामे
 कदके आदिर्न अकार ही वा) । उपस-—उपसर्गस्य निमित्त (रिक्त-अकार) से पर 'णोपदेश'
 बाहुके अकारको अकार हो, समासवे, (अरि उपशात्) असमासवे णो । अत्-—'किट्'
 निमित्तक आदेश नहीं हुआ हो, ऐसा णो 'अह' तदवचन णो अमयुक्त इत्यभ्यस्य अकार

नेदुः । थलि च लेटि । ६।४।२२१। इद्वति थलि च प्रागुक्तं स्यात् । नेदिथ ।
 नेदधुः । नेद । ननाद । ननद । नेदिथ । नेदिम । मदिता । नदिष्यति । नदतु ।
 अनदत् । नदेत् । नयात् । अनादीत् । अनदीत् । अनदिष्यत् ॥ इच्युतिर्
 क्षरणे । (इर इत्संज्ञा षाच्यया) । रच्योतति । शपूर्वाः खयः । ७।४।६१।
 शिष्यन्तेऽभ्यासस्य । हलादिः शेषापवादः । चुरच्योत । इरितो वा । ३।१।५७।
 इरितो घातोश्चोत्तरत्वा, परस्मैपदे । अश्च्युतत् । अश्च्योतीत् । यकाररहितोऽप्य-

‘अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि’ इति पृत्वेऽभ्यासलोपे रुवे रेफस्य विसर्गे
 च ‘नेदुः’ इति रूपम् । अनादीत्-अनदात् । णद्घातोर्लुङ्स्थितिपि, ‘णो यः’
 इति णस्य गाथे, ‘लुङ्लृङ्क्षुण्णुदात्तः’ इत्यङ्गागमे ‘च्छि लुङि’ इति ष्ठी,
 ‘च्छेः सिच्’ इति सिचि, इच्च इत्संज्ञायां लोपे च, सस्य आर्धघातुकसंज्ञायाच्च
 इडागमे ‘इत्क्ष’ इति सिप इकारस्य लोपे ‘अस्तिसिचोऽशृक्ते’ इतीङागमे ‘इट्
 ईटि’ इति सिचो लोपे ‘सिञ्चोप एकादेशे सिञ्चो वाच्यः’ इति सिञ्चोपस्य-सिञ्-
 त्वात् ‘जङः सवर्णे दीर्घः’ इति दीर्घे ‘अ नद् ई व्’ इति जाते ‘अतो हलादेर्लघोः’ इति
 वा वृत्तौ ‘अनादीत्’ इति रूपम् । पक्षे-वृद्धयभावे ‘अनदीत्’ इति । इच्युतिर् क्षरणे ।
 इर इत्संज्ञेति । घातोः इर इत्संज्ञा याच्येत्सर्थः । सत्फलं तु लोपरूपम् । या संज्ञा सा
 ऋणवती इति प्रसिद्धत्वात् । शपूर्वा इति । ‘अत्र लोपोऽभ्यासस्य’ इत्यतोऽभ्यासस्येत्य-
 नुवर्तते ‘शपूर्वा’ इत्यत्र शपूर्वां देस्य इत्यतद्गुणसंविज्ञानो बहुव्रीहिः । तेन इर च
 धिष्यते । चुरच्योतेति । रच्युत्+‘परोक्षे लिट्’ इति लिटि तिपि ‘परस्मैपदानाम्’ इति
 णलि णकारलक्षणस्योरित्संज्ञायां लोपे ‘लिटि घातोः’ इति घातोर्द्विरेवे ‘पूर्वोऽभ्यासः’
 इति पूर्वरूपस्याभ्याससंज्ञायां । हलाविशेषं याचित्वा विशेषयिहितत्वात् ‘शपूर्वाः
 खयः’ इति यकारशेषे ‘चुरच्युत्+अ’ इति स्थिते ‘पुरान्तं’ इति लघूपक्षगुणे परेण
 संयोगे च कृते ‘चुरच्योत्’ इति रूपं सिध्यति । न च ‘श्च्युत्+अ’ इति स्थितौ
 द्वित्वात्प्रागेव गुणः कथं नेति वाच्यम् । ‘द्विर्वचनेऽधि’ इति निषेधादिति विकृ ।
 लुटि-श्च्योतिता । अग्रे-श्च्योतिष्यति, श्च्योततु, अश्च्योतत्, श्च्योतेत्,
 श्च्युस्यात् । इरितो वेति । ‘घातोर्लृङ्क्षुण्णुदात्तः’ इत्यतः घातोर्लृङ्क्षुण्णुदात्तः
 ‘अश्च्युतिश्चिञ्’-इत्यतोऽङिति ‘पुषादिघृतादिञ्’ इत्यतः परस्मैपदेऽपि च्युत्तन्ते ।
 अश्च्युतदिति । श्च्युत्घातोर्लुङि तिपि पलोपे शप्प्रत्ययं याचित्वा ‘च्छि लुङि’ इति

उसको पत्र हो और अभ्यासका लोप हो, किञ्च-लिट्के परे । थलि-सेट् (इट् सहित) ‘यल्’
 के परे भी पूर्वोक्त प्रकारका पत्र हो । इर इत्सं-‘इर्’ की इत्संज्ञा हो-ऐसा कइना
 चाहिये । शपूर्वाः-अभ्याससम्बन्धी ‘शर्’ पूर्वक ‘खय्’ का शेष हो और अन्य इच्छा लोप
 हो । इरितो-‘इर्’ इत्संज्ञक वातुसम्बन्धी ‘च्छि’ की ‘अच्’ आदेश हो, विकल्पसे ।

यम् । श्लोतति । क्षुरबोत । अरचुतत् । अरचोतीत् । च्युतिर् आसेचने । च्योतति ।
 टुनदि वम्दौ । आदिर्निदुद्धवः ।१।३।५। उपदेशे घातोराद्या एते इतः स्यु ।
 इदितो जुम् घातो ।।७।१।५। नन्दति । नमन्द । नग्दिता । नग्दिमति ।
 नन्दगु । अनन्दत् । नन्देत् । इदिश्वाश्लोपो न । नन्वात् । अनन्दीत् । अनग्दि-
 पत् ॥ एव कुयि पुयि लुयि मयि हिवाषक्लेशानशो । यिदि अयये । विदति ।

प्लौ 'प्ले सिच्' इति सामान्यविधिं याचिष्या 'हरितो वा' इति वैभाषिकेऽद्यादेशे
 'लुङ्लृट्' इत्यङ्गवादागमे सति 'अरच्युतत्' इति रूपम् । अङ्गमाये तु, 'प्ले सिच्'
 इति सिधि 'आर्षघातुक शेष' इति तस्वापघातुकसंज्ञायाम् 'आर्षघातुकरय' इति
 इदागमे टित्वात्सव्याधावयवे तिप्रत्ययस्य 'इतश्च' इति इकारस्य लोपे 'अपृक्त एकात्
 प्रत्यय' इत्यवशिष्टकारस्यापृक्तसंज्ञायाम् 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इति तस्येदागमे रच्यु
 त् + इत् + इ + च इति जाते 'इट ईटि' इति सलोपे प्रत्ययलक्षणैः सिच आर्षघातुक
 त्वमाश्रित्य 'पुगन्त' इति लघूपधगुणेऽङ्गस्य 'लुङ्लृट्' इत्यङ्गमाये 'अक सवर्णे दीर्घ'
 इति उभयेकारयोर्दीर्घ च कृते 'अरच्योतीत्' इति द्वितीय रूपं सिध्यति । लुङि तु
 'अरच्योतिष्यत्' इत्यादि बोध्यम् । यकाररहितोऽप्यनिति । अय रच्युतिर् चरणे इति
 भागु यकाररहितोऽपि अदलोऽयते इत्यर्थः । तेन रच्युतिर् चरणे इति पाठाफलितः ।
 तथा सति लडादिबु-श्लोतति-क्षुश्लोत-श्लोतिष्या-श्लोतिष्यति-श्लोततु-अश्लोतत्-श्लोते
 त्-रच्युत्यात्-अरचुतत्-अश्चोतीत्-अश्चोतिष्यत् इत्यादि रूपाणि रच्युतिर्यद्ग्यानि
 इति भावः । 'च्योतति' इति । च्युतिर् आसेचने इति भावोः इर इरसञ्ज्ञा याच्या इति
 इर इत्यञ्जयां वर्तमाने छटि तिपि तस्य सावर्षघातुकसंज्ञायां कर्तरि शपि तस्य
 टित्वात्सावर्षघातुकसंज्ञायां 'पुगन्त' इति गुणे 'च्योतति' इति । नन्दति । टुनदि इत्यत्र
 'उपदेशेऽजन्तुमासिक इत्' इति इकारस्य इत्यञ्जयां 'तस्य लोप' इति लोपे टुनद्
 इति जाते, तस्य 'मृवात्सो घातय' इति भागुत्वे 'आदिर्निदुद्धवः' इति टुहात्स्येस्य-
 श्वासां लोपे च ततो छटि, तस्यानेतिपि शपि अनुयन्त्रलोपे 'इदितो जुम् घातो' इति
 जुनि, तमि गते 'मिद्वोऽन्वयात्पर' इति अन्वयाच्च परे, अनुरवारे परसवर्णे च कृते 'नग्-
 दि' इति रूपम् । कुयि, पुयि, लुयि, मयि, एषां रूपाणि छटि, कुन्यति, पुन्यति, लुन्यति,
 मन्यति । टिटि-कुन्य, पुपुन्य, लुलुन्य, अमन्य । लुटि-कुन्यता, पुन्यता, लुन्यता,
 मन्यता । लुटि-कुन्यति, पुन्यति, लुन्यति, मन्यति । लोटि-कुन्यत्,
 पुन्यत्, लुन्यत्, मन्यत् । लृटि-अकुन्यत्, अपुन्यत्, अलुन्यत्, अमन्यत् । विभिन्नि-

यादि-उपदेशात्सामे वागुके यादिने वर्तमाने १५-३-३' लो इत्यञ्ज हो ।

इदितो-इदिद' भागुत्वे 'जुम्' का भागम हो ।

‘मिदी’ति पाठान्तरम् । भिन्दति । गडि वदनैकदेशे । गण्डति । अदि घाटाद्यने । चन्दति । अदि घेद्याम् । ग्रन्दति । कदि कदि कुदि आह्वाने रोदने च । टिटादि परिदेवने । तकि हृच्छ्रमीवने । युगि जुगि जुगि वर्जने । अवि गण्डने । शिधि

डि-कुन्धेव, लुन्धेव, मन्धेव । धाशीलिङि-कुन्ध्याव, पुन्ध्याव, लुन्ध्याव, मन्ध्याव।अत्राशीलिङि उपधाप्रकारस्य लिटः ‘किदाशिपि’इति किङ्करावेऽपि अनिहित इठं’इति नलोपो न शङ्क्यः । ‘अनिदितां हल’इति सूत्रे इकारेदिघानामादानामुपधानकारस्य लोपो भवतीति स्पष्टार्थत्वात् । लुङि-अकुन्धीव, अपुन्धीव, अलुन्धीव, अमन्धीव, लुङि-अकुन्धियप्यव, अपुन्धियप्यव, अलुन्धियप्यव।अभिनियप्यव । इत्यादि । भिन्दति । चिदि भवयवे अस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि ‘इदितो जुम्’ इति जुमि रूपम् । लिटादिषु तु विदिन्द, विन्दिता, विन्दिष्यति, विन्दतु, अविन्द्व, विन्देव, विन्द्याव, अविन्धीव, अविन्दिष्यव । मिदि पाठान्तरे तु शिन्दति, शिमिन्द भिन्दिता, मिन्दिष्यति, मिन्दतु, अभिन्देव, मिन्देव, मिन्द्याव, अभिन्धीव, अभिन्दिष्यव । इत्यादि । गण्डतीति । गडि वदनैकदेशे अस्मात् धातोः इकारेष्वाद्यायां ‘तस्य लोपः’ इति लोपे वर्तमाने लटि तिपि शपि ‘इदितो जुम्’ इति जुमि नकारस्य मित्वाद्भकारवर्तिनोऽकारस्यान्त्यावयवे ‘नष्वापदान्तस्य झलि’ इति अनुस्वारे ‘अनुस्वारस्य ययि०’ इति परसवर्णे ह्येते ‘गण्डति’ इत्यस्य सिद्धिः । लिटादिषु तु गण्ड, गण्डिता, गण्डिष्यति, गण्डतु, अगण्डेव, गण्डेव, गण्ड्याव, अगण्डीव, अगण्दिष्यव । इत्यादि । चन्दतीति । चदि-आह्लाद्यने इत्यस्माद्धातोर्कारेत्संज्ञायामिदिषो जुमि मित्वादन्यावयवेऽनुस्वारे परसवर्णे वर्तमाने लटि तिपि शपि श्रोत्रं ‘चन्दति’ इति रूपं भवति । लिटादिषु-चचन्द, चन्दिता, चन्दिष्यति, चन्दतु, अचन्देव, चन्द्याव, अचन्धीव, अचन्दिष्यव । चन्दतीति । अदि घेद्याम् । अस्माद्धातोर्दिदिश्वान्जुमि अनुस्वारे परसवर्णे लटि तिपि शपि रूपम् । लिटादिषु-उचन्द, अन्दिता, अन्दिष्यति, अन्दतु, अचन्देव, अन्ध्याव, अचन्धीव, अचन्दिष्यव । इति । कदि, कदि, कुदि इति । लट्-कन्दति, कन्दति । कुन्दति । लिट्-अकन्द, अकन्द, अकुन्द । लुट्-कन्दिता, कन्दिता, कुन्दिता । लृट्-कन्दिष्यति, कन्दिष्यति, कुन्दिष्यति । लोट्-कन्दतु, कन्दतु, कुन्दतु । लङ्-अकन्देव, अकन्देव, अकुन्देव । त्रिधिलिङ्-कन्ध्याव, कन्ध्याव, कुन्ध्याव । लुङ्-अकन्धीव, अकन्धीव, अकुन्धीव । लृङ्-अकन्धियप्यव, अकन्धियप्यव, अकुन्धियप्यव इत्यादि । छिदि-छिन्दति, चिच्छिन्द, चिच्छिन्दिता, चिच्छिन्दिष्यति, चिच्छिन्दतु, अछिच्छिन्देव, चिच्छिन्ध्याव, अछिच्छिन्धीव, अछिच्छिन्दिष्यव । तकि-तक्कति, तक्क, तक्किता, तक्कियति, तक्कतु, अक्कदेव, तक्केव, तक्क्याव, अक्कन्धीव, अक्कन्दिष्यव । इत्यादि । युगि, जुगि, जुगि-उट्-जुङ्गति,

आप्राणे । मन्य विछेदने । मन्यति । मन्य । कित्वाद्यलोपः । मय्यात् । अर्च
 एवायाम् । अर्चति । तस्मान्मुद् द्विहलः । ७।४।७१। द्विहलो घातोर्दीर्घभूताद-
 चारात् परस्य मुट् । आनर्च । आनर्चतुः । आनर्चु । अर्चिता । अर्चिष्यति । अर्चतु ।
 आर्चत् । अर्चत् । अर्चात् । आर्चीत् । आर्चिष्यत् ॥ एवम्—अर्चै गतो याचने च ।

शुक्रति, बुद्धति । लिट्—युयुक्त, युयुक्त, युयुक्त । लुट्—युङ्किता, युङ्किता, युङ्किता ।
 एट्—युङ्गिष्यति, युङ्गिष्यति, युङ्गिष्यति । लोट्—युङ्गु, युङ्गु, युङ्गु । लृट्—
 युङ्गुत्, अयुङ्गुत्, अयुङ्गुत् । लिट्—युङ्गेत्, युङ्गेत्, युङ्गेत् । आशीलिङ्—युङ्ग्यात्,
 युङ्ग्यात्, युङ्ग्यात् । लृट्—अयुङ्गीत्, अयुङ्गीत्, अयुङ्गीत् । अयुङ्गिष्यत्,
 अयुङ्गिष्यत्, अयुङ्गिष्यत् । इत्यादि । मधि मण्डने । महति, ममह, महिता,
 महिष्यति, महत्, अमहत्, महत् । मङ्ग्यात्, अमङ्गीत्, अमङ्गिष्यत् । शिधि-
 आप्राणे—शिद्धति, शिद्धि, शिद्धिता, शिद्धिष्यति, शिद्धत्, अशिद्धत्, शिद्धेत्,
 शिद्ध्यात्, अशिद्धीत्, अशिद्धिष्यत् । इति । मन्यति । मन्य विछेदने घातो वर्त
 माने छटि त्रिपि शपि मन्यति इति रूपम् । ममर्चेत् । मन्यघातोः 'परोचे लिट्' इति
 परोच्चार्ये भूते लिटि त्रिपि णलि द्विष्ये हलादिद्योपे परेण सधोणे 'ममन्य' इत्यस्य
 सिद्धिः । अमे—मन्यता, मन्यिष्यति, मन्यतु, अमन्यत्, मन्येत् । मय्यादिति ।
 मन्य विछेदने घातोः आशीलिङि त्रिपि 'इतश्च' इति इकारलोपे 'यासुट्परस्मै०'
 इति घासुटि, तस्य चहागमन्वायेन प्रत्ययत्वात् लिङ्त्वाच्च 'अनिदित्ताम्०' इति उप-
 धामृतमकारस्य लोपे मष्वात् इति रूप भवति । अमन्यीत् । अमन्यिष्यत् । इति ।
 अर्चति । अर्चघातोर्छटि, छटस्त्रिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, सार्धघातुकसन्ज्ञायाम् 'अर्चति'
 इति रूपम् । आनर्च । अर्चघातोर्छटि, लिट्स्त्रिपि, 'परस्मैपदानां णलुट्मुष्पल०' इति
 त्रिपि णलि, द्विष्येऽभ्यासत्वे, 'हलादिद्योपः' इति लोपे 'अठ आदे' इत्यम्मासाका
 रस्य षीर्षे 'तस्मान्मुद्द्विहला' इति मुट्यनुबन्धलोपे च तत्सिद्धिः । अविद्या ।
 अर्च घातोर्छटस्त्रिपि, सार्धघातुकसन्ज्ञायाम् शपि प्राप्ते तन्वाधिरवा 'स्यतासी लृलुटो'
 इति तासी इकारस्येऽसन्ज्ञायाम् लोपे च 'आर्धघातुक लोप' इति तास आर्ध-
 घातुकत्वे 'आर्धघातुकस्येद्वच्छादे.' इतीहागमे 'लुटः प्रथमस्य चारीरस' इति
 निषे चोपे 'दित्वसाम्प्रसार्यमस्यापि टेलोप' इत्यासमागतस्य लोपे च हृते
 तत्सिद्धिः । आर्चीत् । अर्च घातोर्छटस्त्रिपि अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इतीकारलोपे
 'आह्वयादीनाम्' इत्यादि 'घाटश्च' इति हृदी, ष्टी, ष्टे. सिष्यनुबन्धलोपे इति
 इति च हृते 'इट् इति' इति सलोपे सिञ्चोपरथासिद्धत्वाभावेन सवर्णदीर्घे च हृते
 'आर्चीत्' इति रूपम् । अनिष्यत् । लृटि, त्रिपि, ष्ये, इति, आटि, हृदी, ष्ये,

तस्मा—द्विहल् वासुधा दीर्घभूत अकारस्य पर, मुट्वा आप्रम हो (लिट् ने) ।

अति अदि वचने । वन पण सम्भक्तौ । वनति । ववान । न शस्त्रदृष्टादिगुणानाम् । ६।४।२२६। शसेर्ददेर्वकारादीनां, गुणशब्देन भादितो योऽत्, तस्य ए एत्वाभ्यासलोपी न स्तः । ववनतुः । ववनुः । वनति । ववान । वेनतुः । वेनुः ।

‘इतश्च’ इति तिप् इकारलोपे च तस्मिद्धिः । अर्दं गतौ, याचने च । अर्दति, आनर्दं, अर्दिता, अर्दिष्यति, अर्दतु, अर्दत्, अर्द्वत्, अर्द्वत्, अर्द्वत्, अर्द्वत्, अर्द्वत् । अति, अदि वचने । अन्तति, अन्दति । आनन्त, आनन्द । अन्तिता, अन्दिता । अन्तिष्यति, अन्दिष्यति । अन्ततु, अन्दतु । आन्तत्, आन्दत् । अन्तेत्, अन्देत् । अन्यत्, अन्धात् । आन्तीत्, आन्दीत् । आन्तिष्यत्, आन्दिष्यत् । वनति इति । वन संभक्तौ, अस्माद्धातोः वर्तमाने लटि तिपि णपि ‘वनति’ इति रूपम् । ववानेति । वन धातोः ‘परोक्षे लिट्’ इति भूतपरोक्षे लिटि तिपि णलि द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे हलादिशेषे ‘अत उपधायाः’ इति णलो गिश्वाद्दुपधावृद्धौ ‘ववान’ इति रूपं भवति । न शसेति । दास, दद, दादि, गुण एषां द्वन्द्वः । अवयवपष्टौ । गुणशब्देन विहित एव गुणोऽत्र गुणशब्देन विवक्षितः । अन्यथा शसिददिग्रहणस्य वैयर्थ्यापत्तेः । ‘अत एकह्रस्वभ्ये’ इत्यतः अत इत्यनुवर्तते । ‘ध्वसोरेद्धौ’ इत्यत एद्विपनुवर्तते । अभ्यासलोपश्चेत्यपि अनुपज्यते । ववनदुरिति । वनसंभक्तावित्यतः परोक्षे लिटि तसि तत्र ‘परस्मैपदानाम्’ इति अतुसि ‘लिटि धातोः’ इति धातोर्द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति पूर्वस्वाभ्याससंज्ञायां ‘हलादिः शेषः’ इति आद्येतरहलो लोपे ‘अत एकहल्’ इति प्राप्त एवाभ्यासलोपे परस्वात् अपवाद्वाच्य ‘न शस’ इत्यनेन षाक्षिते सस्य ऋवे विसर्गे ‘ववनतुः’ इति रूपम् । ववनदुरिति । वन धातोः परोक्षे लिटि शौ तस्थोसि धातोर्द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे ‘न शसेति’ एवाभ्यासलोपाभावे ऋवे विसर्गे ‘ववनुः’ इति रूपम् । अग्ने—वनिता, वनिष्यति, वनतु, ववनत्, वनेत्, वन्यात्, अवानीत्—अवनीत्, अवनिष्यत् । वनति इति । पण—सम्भक्तौ अस्मात् धातोः ‘धात्वादेः षः सः’ इति पस्य सत्वे ततः वर्तमाने लटि तिपि सार्वधातुसंज्ञायां णपि ‘सनति’ इत्यभीष्टरूपं सिष्यति । ससानेति । पण धातोः ‘धात्वादेः ०’ इति पस्य सत्वे लिटि तिपि णलि धातोर्द्वित्वे अभ्यासत्वे हलादिशेषे ‘अत उपधायाः’ इति उपधावृद्धौ ‘ससान’ इति रूपं भवति । सेनतुरिति । पण धातोः पस्य ‘धात्वादेः’ इति सत्वे ‘परोक्षे लिट्’ इति भूते लिटि ‘तिपतस ०’ इति तसि ‘परस्मैपदानाम् ०’ इति अतुसि ‘लिटि धातोः ०’ इति धातोर्द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति पूर्वस्वाभ्यासत्वे ‘हलादिः शेषः’ इति ह्रस्वलोपे ‘अत एकह्रस्वभ्ये ०’ इति पूर्वस्वाभ्यासलोपे अतुसः सकारस्य ऋवे विसर्गे ए ऋवे ‘सेनतुः’ इत्यस्य साधुत्वम् । तनुरिति । पण धातोर्द्वित्वे शौ तस धातोर्द्वित्वेऽप्यासत्वे

न शस्—‘शस्’ बाहु ‘दस्’ बाहु क्वा वकारादि बाहु और ‘गुण’ शब्दसे विहित को ‘अकार’ इसको एत्वाभ्यासलोप नहीं हो !

ये विभाषा । ६।४।४३। अनघनघनामाव वा स्मात् भादौ विभक्ति । घायात् । घन्नात् ।
 दञ्ज मञ्ज गतौ । मञ्जति । मञ्जाञ् । मञ्जिता । मञ्जिष्यति । मञ्जतु । मञ्जयत् ।
 मञ्जेत् । मञ्जयात् । यद्मञ्जदहान्तम्याच्च । ७।२।३। एयामचो वृद्धिं स्मात् पर-
 र्मैपदे विधि । मञ्जाजोत् । मञ्जविष्यत् ॥ कृते वर्षाऽऽवरणवो । क्वटि । चकाट ।
 कटिता कटिष्यति । क्वटु । क्वकटत् । क्वटेत् । क्वट्यात् । क्षयन्तक्षमभ्यस
 जाणुणिश्च्येदिताम् । १०।२।५। हयान्तस्व, क्षणादेर्ण्यन्तस्व, क्षयतेरेदितश्च वृद्धि-
 न्दशौ विधि । क्वकटीत् । क्वकटिष्यत् ॥ गुपू रक्षणे । गुपूधूपविच्छिपणि-

'यत् एकदृष्ट' इति पूर्वदेश्यासलोपे सस्य रूपे विसर्गे च विहिते 'सेनु' इति अमीष्ट
 रूपे सिन्धुति । अग्ने-सेविष्य, सेनयु, सेन, सप्तान ससन, सनिव, सेनिम । सनिता,
 सनिष्यति, सनयु, असनत्, सनेत् । ये विभाषेति । अत्र 'अनसनस्तत्रां सन्सुखो'
 इत्यतः अनसननामिति लभ्यते 'विठति च' इत्यत किंति छिति इति लभ्यते, 'ये'
 इति 'अवाप्तपत्यात्' 'यस्मिन्विधि' इति परिभाषया तदादिविधिः । अत आह-अन
 सननामाव वा भादौ विभक्ति इति । घायादिति । पग घातो घस्य सरं आशीच्छि
 तिषि 'इतश्च' इति तिष इकारलोपे 'यासुट परस्मै' इति यासुटि छिप आर्षघातुकत्वा-
 न्नयोऽभावे 'सन् + वास + ट्' इति धाते आशीच्छि किर्यात् 'ये विभाषा' इति यैमा-
 पिठे धात्वे 'स्वी' इति सलोपे 'स + भा + यत्' इति धाते सवर्णदीर्घे 'सायात्' इत्येक
 रूपं भवति । असनि धात्वे 'सन्यात्' इति द्वितीय सिद्धमेव । अग्ने-असानीत्-अस
 नीत्, असनिष्यत् । इति । वज गतौ । यञ्जति, यजाञ्, यजयतु, यजिता, यजिष्यति,
 यजयत्, यजेत्, यज्यात्, अवाजीत्-अवजोत्, अवजिष्यत् । इति । मञ्जति ।
 मञ्ज घातोऽंति छरितपि, क्षपि, अनुयन्बलोपे च तस्मिदि । म्भादीत् । मञ्ज घातो-
 ट्छरितपि अनुयन्बलोपे 'इतश्च' इति तिष इकारस्य लोपे अटि, क्जौ, क्जैः तिषि,
 इषि गते 'आर्षघातुक दोष' इत्यार्षघातुकसन्नामाम् 'आर्षघातुकत्वेदवलादेः'
 इतीदि, 'मस्तिस्त्वोऽणुत्वे' इति ईदि 'यद्मञ्जदहान्तरयाच' इति वृद्धौ 'इट ईटि'
 इति सलोपे सिन्धोपरवासिद्धत्वाभावात्सवर्णदीर्घे 'अमादीत्' इति रूपम् । चकाट ।
 क्वट्यातोऽंतिछरितपो णञि द्विवेश्यासत्ये 'ह्लादि' दोष' इति लोपे 'क्वहोरयु' इति
 क्वश्च शब्देन चकारे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ 'चकाट' इति रूपम् । क्वकटीत् ।
 क्वट्यातोऽंतिछरितपि, अनुयन्बलोपे अटि, 'इतश्च' इतीकारलोपे सार्धघातुकसन्नायां

ये विभाषा- 'यद्-सन्-अम्' बाहुल्ये को भास्य दो, वकारादि किय-छिपके परे । यद्-यद्, यद्
 मोट इच्छन् वाटके 'अच्' को वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'तिष्' के परे । ह्यन्त-वकारान्त,
 म्भाटान्त, यत्प्रत्यय बाहुल्य दशा क्षण अस्-बाहुल्य बाहुल्य और अन्त्य बाहुल्य एवं वि बाहुल्ये 'अच्' को
 वृद्धि हो, परस्मैपदपरक 'तिष्' के परे । गुपू-गुपू-वृष्-विष्-वृष्-वृष्' बाहुल्ये 'आर्ष'

पनिभ्य आयः । ३।१।२। एभ्य 'आय' प्रत्ययः स्यात् स्वार्थे । 'अनिर्दिष्टार्थाः प्रत्ययाः स्वार्थे भवन्तीति न्यायात् । सनाद्यन्ता घातवः । ३।१।३। सनादयः कमेणिङन्ताः प्रत्यया अन्ते येषां ते घातुसंज्ञाः स्युः ।

सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यपोऽथाऽऽचारकिञ् णित्यलौ तथा ।
यगाय-ईयङ्-णिङ्-चेति द्वादशमी सनादयः ॥ १ ॥

'सनाद्यन्ता घातवः' इत्यस्यानन्तरं 'भूषादयः' इत्येव सूत्रयितुं युक्तम् । घातु-त्वाल्लडादयः । गोपायति । आयादय आर्द्धघातुके घा । ३।१।३। आर्द्धघातुक-विवक्षायामायेबङ्णिङो वा स्युः । (कास्यनेकाच्च आम्बुक्त्यो लिति) कास आम्बिधानान्मस्य नेत्वम् । अतो ङोपः । ६।४।४। आर्द्धघातुकोपदेशे यददन्तं तस्यातो ङोप आर्द्धघातुके । आमः । २।४।८। आमः परस्य लुक् । कृशानु-प्रयुज्यते लिति । ३।१।४। आमन्ताङ्घ्रिपराः कृभ्रस्तयोऽनुप्रयुज्यन्ते । तेषां द्वित्वादि । उरत् । ७।४।६। अभ्यासस्य ऋतोऽस्यात्प्रत्यये । प्रत्यये किं-पप्रथ । वृद्धिः । गोपायाञ्कार । द्वित्वात्परत्वाद्यणि प्राप्ते । द्विर्वचनेऽचि । १।१।५९। द्वि-

शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा ष्टौ, ष्टेः सिचि, इचि गते, आर्द्धघातुकसंज्ञायाम् इति, इटि च जाते 'अतो हलादेश्वोः' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'क्षपन्तङ्गण्यसजागृणिरप्येदिदात्' इति तद्धिपेधे 'इदि इटि' इति सलोपे सिञ्जोपस्य सिद्धत्वात्सवर्णदीर्घे 'अङ्दीर्घ' इति रूपम् । सनादय इति । सन्-क्यच्-काम्यच्-क्यङ्-क्यपोऽथाऽऽचारकिञ् णिज्यलौ ऋषा । यगायेयङ्णिङ्-चेति द्वादशमी सनादयः । गोपायति । गुप् घातोः 'गुप्धूपधिञ्छि-पणिपनिभ्य आयः' इति आय प्रत्यये 'आर्द्धघातुकं शेषः' इति तस्यार्द्धघातुकत्वेन 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता घातवः' इति गोपाय इत्यस्य घातु-संज्ञायां घातुत्वाल्लटि, लटस्तिपि, 'तिङ्शित्साचंघातुकम्' इति सार्वघातुकसंज्ञायाम् 'कर्तरि शप्' इति शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे 'गोपायति' इति रूपम् । गोपायाञ्कार । गुप् घातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिट् प्राप्ते, तन्वाधित्वा

प्रत्यय हो, स्वार्थमे । सना—'सन्' से लेकर 'कमेणिङ्'सूत्रसे विहित 'णिङ्' पर्यन्त (द्वादश) प्रत्ययान्तों को घातुसंज्ञा हो । सन्-क्यच्-सन्, क्यच्, काम्यच्, क्यङ्, क्यप्, आचाराधक किय्, णिच्, यङ्, यक्, भाय्, ईयङ्, णिङ्—ये द्वादश 'सनादि' हैं । आया—आर्द्धघातुकको विवक्षामें आय-ईयङ् प्रत्यय हो, विकल्पसे । कास्य—'कास्' घातु और 'अनेकाच्' घातुसे 'आस्' प्रत्यय हो, 'लिट्' परे । अतो—आर्द्धघातुकके उपदेश कालमें जो अहन्त्, उसके अकारका ङोप हो, आर्द्धघातुकके परे । आम—'आम्' से परे 'लिट्' का उद्घ हो । कृश्या—आमन्तसे 'लिट्' परक 'कृ' 'भू' अस् घातुओंका अनुप्रयोग हो । उरत्—अभ्यास-सम्बन्धी ऋवर्णको 'अ' आदेश हो, प्रत्ययके परे । द्विर्व—द्वित्वनिमित्तक 'अच्' से परे

त्वनिमित्तेऽप्येव परे अथ आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये । गोपायाञ्छु । गोपाया-
 षुः । एकाञ्च उपदेशेऽनुवात्तात् । ७।२।१०। उपदेशे यो वातुरेकाञ्चनुवात्तश्च,
 ततः परस्य बलादेराद्धातुकरणेन ।

ऊर्द्धन्तैर्यौति य षणु शीङ्-स्तु तु-क्षु भिष डीङ्-भिभिः ।

वृद्ध-वृन्भ्यां च यिनैकाचोऽलन्तेषु निहताः स्मृताः ॥ १ ॥

कान्तेषु-यक्लेक । धान्तेषु-पञ् मुञ्-रिच् वच् बिष् सिचः यट् । छान्तेषु-
 प्रच्छपेक । जान्तेषु-यञ् निजिर्-मञ् मञ् मुञ्-भ्रञ् मञ्-यञ्-युञ् कञ् रञ्-
 विजिर् यञ् स्वञ्-सुञ् यञ्दश । धान्तेषु-भद् हुद्-खिद् छिद् तद् तुद्-यथ मिद्
 विथ विनद् बिन्द् शद् सद्-स्विथ स्कन्द-हृद् घोहरा । धान्तेषु-कृष् शुष् पुष् व-प-
 मुष् षष् राप्-म्भष् शुष् साध् सिध्या एकादश । मान्तेषु-भग्य-ह्नौ द्वौ । पान्तेषु-

'गुण्युपविच्छिपगिपनिम्ब धाय' इति नित्यम् धायप्रत्यये मात्ते 'भायाद्य धार्ध-
 धातुके वा' इति विकल्पेन धायप्रत्यये कृते तस्य धार्धधातुकरवात् 'गुणन्तलधूपधस्य
 च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता धातव्य' इति धातुसंज्ञायां छिटि 'कारयनेकाञ्च धाय
 पच्छम्याः' इत्याम्प्रत्यये तस्य धार्धधातुकसंज्ञायाम् 'अतो लोपाः' इत्यल्लोपे
 'धामः' इति छिये लुकि, छिटः कृशाप्रत्ययलक्षणैर्न गोपाधामिधस्य कृद्गन्तवा-
 प्यातिपदिकस्यैव गुण्युपसौ 'कृन्नेजन्त' इति धाव्यधात्वात् 'अत्यपादाः-पुप्य'
 इति तस्यापि लुकि 'गोपायाञ्' इत्यवशिष्टे 'ह्रस्वाद्गुण्युपसौ छिटि' इति छिर्पर-
 कृषि अनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ छिट्' इति मात्ते अत्र छिदरितिपि, तिपो ललादेशे
 लनुबन्धलोपे इत्येऽप्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यप्यासकृद्गणेशस्य अकारे 'उग्ण-
 रपरः' इति रपरे च मात्ते 'गोपायाम् कर् लृ अ' इति भूत्ते 'हृत्वादिः दोष' इति
 रलोपे 'कृदोरपुः' इत्यप्यासकस्य चात्ते मरधापदान्तात्वाद्बुद्धारे 'वा पदात्तस्य'
 इति पात्रिकेऽनुरवात्स्य परतत्वेण अकारे 'अचो भिगति' इति वृद्धि परावादाभिरवा
 'धार्धधातुकार्यधातुकयोः' इति गुणे 'उरण रपरः' इति रपरे 'अथ उपपाया' इति
 कृदौ 'गोपायाञ्कार' इति । अमुदात्ता के इत्याकारात्वात्माह-कर अर्द्धन्तेरिति ।
 ककारात्ता, अकारात्ता, पु य तु शीङ् एतु पु षु भिष डीङ् भिष वृद्ध वृद्ध

अकारेण नहीं हो, वरि हित कर्तव्य रहे । एकाञ्च—उपदेशात्स्वार्थे एकाञ्च और अनुवात्त
 यो वातु, कर्तव्य पर धार्धधातुको इट् करी हो ।

ऊर्द्ध—दीर्घ ककारात्त और दीर्घ अकारात्त वातु, 'पु' वातु तथा व, क्षु, वीङ्, स्तु,
 पु, छ, भि वीङ्, भि, इष्ट, इष्ट वातु—वर्तते निम्ब को एकाञ्च और अकार वातु, वे
 अनुवात्त है ।

आप्-क्षिप्-छुप्-तप्-तिप्-तृप्य-हृप्य-लिप्-लुप्-षप्-शप्-स्वप्-स्रपञ्चयोदश । भान्तेषु यम्-रम्-लभञ्जयः । भान्तेषु-गम्-नम्-रम्-यमञ्जकारः । शान्तेषु कृश्-दंश्-दिश-हृश-मृश-रिश कृश-लिश-विश-स्पृशो दश । पान्तेषु-कृष्-विष्-तृप्-द्विष्-दुप्-पुष्य-पिप्-विप्-शिप्-शुष्-रिष्वा एकादश । सान्तेषु षस्-वसती द्वौ । हान्तेषु दह्-दुह्-दिह्-नह्-मिह्-कह्-लिह्-बहोऽष्टौ ।

अनुदात्ता हलन्तेषु धातवरूपधिकं शतम् ॥

गोपायाञ्चकार्ये । गोपायाञ्चक्रथुः । गोपायाञ्चक्र । गोपायाञ्चकार । गोपायाञ्चकर । गोपायाञ्चकृव । गोपायाञ्चकृम ॥ गोपायाम्बभूव । गोपायामास । जुगोप । जुगुपतुः । जुगुपुः ॥ स्वरतिस्त्रुतिस्र्यतिध्रुवूदितो घा । ७।२।४४। स्वरत्यादेरुदितव परस्य पलादेरार्द्धघातुकस्येव वा स्यात् । जुगोपिय । जुगोप्य । गोपायिता । गोपिता । गोप्ता ।

एतान् धातून् वर्जयित्वा एकाचः अजन्तधातवः अनुदात्ता इति कारिकायः । गोपायाम्बभूव । गुप्धातोः पाञ्चिके आयप्रत्यये गुणे धातुश्चाण्डिडि आम्रप्रत्यये अलोपे लिटो लुकिः छिट्परभ्रूपयोगे, लिटस्तिपो णलि भुवो 'भुवो बुगुलुद्लिटोः' इति बुकि द्विवेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति लोपे ह्रस्वेऽवे 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वे च 'गोपायाम्बभूव' इति रूपम् । गोपायामास । गुप्धातोरायप्रत्यये गुणे लिटि, आमि, अलोपे लिटो लुकिः, 'कृञ्जानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकासधातोर्नुप्रयोगे, लिटस्तिपो णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्विवे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्याससन्शाचाम् 'हलादिः शेषः' इति सलोपे 'अत आदेः' इति दीर्घे सद्वर्णदीर्घे च मिलित्वा 'गोपायामास' इति रूपम् । जुगोप । गुप्धातोः 'आयाद्यय आर्धघातुके वा' इति आयप्रत्ययाभावपक्षे लिटि तस्याने छिपि, त्रिपः स्थाने 'परस्मैपदानाम्' इति णलि, अनुबन्धलोपे द्विवेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति हलादेः शेषे 'कृहोक्षुः' इति स्रुवेन जश्त्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'जुगोप' इति सिद्धम् । जुगोपिय-जुगोप्य । आयप्रत्ययाभावे गुप्धातोर्लिटः सिप-स्यलि, अनुबन्धलोपे, द्विवेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च 'जुगुप्य' इति स्थिते 'लिट् च' इत्यार्धघातुकसन्शायां 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'आर्धघातुकस्येव-लादेः' इति निश्चयनिदागमे प्राप्ते तग्धाधित्वा 'स्वरतिस्त्रुतिस्र्यतिध्रुवूदितो वा' इति वा इटागमे अनुबन्धलोपे 'जुगोपिय' इति रूपम् । इडागंमाभावपक्षे—'जुगो-

अनुदात्ता—हलन्त धातुओंमेंसे एक सौ तीन धातु अनुदात्त हैं ।

स्वरति—स्वरत्यादि धातु और ऊदित धातुओंसे पर वलादि आर्धघातुकको इट्का आगम हो, विकल्पते ।

नोटः—स्वरत्यादिसे 'रु' स्रुवोपस्थापनोः—त्यादि । 'पू' प्राणिवर्गविशेषने—जदादि

गोपायिष्यति । गोपिष्यति । गोप्स्यति । गोपायतु । अगोपायत । गोपायेत । गोपा-
य्यात् । गुप्प्यात् । अगोपायौत् । नेटि । अ० । २ । ४ । इषादी षिचि इत्-न्तलक्षणा इदिर्न

प्य' इति रूपम् । गोपायिता । गुप्घातो 'आयादय आर्घघातुके वा' इत्याद्यप्रत्यये
'पुगन्तलधूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता घातवः' इति घातुत्वात्कृटि, तरस्याने
तिपि, सार्धघातुकसंज्ञायां षापि प्राप्ते तस्याधित्वा 'स्यतासी लुटो' इति तासि,
तस्य 'आर्घघातुकस्य' इत्यार्घघातुकत्वात् 'आर्घघातुकस्येद्वलादे' इति इडा-
गमे 'अतो लोपः' इत्यदलोपे तिपो ङादेशेऽनुबन्धलोपे द्विवेसामर्प्याद्वमस्यापि
देलंवि 'गोपायिता' इति रूपम् । आयप्रत्ययामावपचे गुणे लुटस्तिपि तासि, आर्घ-
घातुकस्ये 'स्वरतिसृत्तिसृत्तियुद्धदितो वा' इति पाण्डिके इडागमेऽनुबन्धलोपे,
गुणे, तिपो ङादेशे, टिस्राद् टिलोपे 'गोपिता' इति रूपम् । इडागमामावपचे गोप्ता'
इति रूपम् । गोपायिष्यति । गुप्घातो 'आयादय आर्घघातुके वा' इत्याद्यप्रत्यये
'पुगन्तलधूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता घातवः' इति घातुत्वात्कृटि तरस्याने
तिपि स्ये प्रत्यये आर्घघातुकसंज्ञायाम् 'आर्घघातुकस्येद्वलादे' इति इडागमे 'अतो
लोपः' इत्यदलोपे पत्ये च तत्सिद्धिः । आयप्रत्ययामावपचे गुप्घातोऽङ्ठि, तिपि,
स्ये, आर्घघातुकसंज्ञायां गुणे 'स्वरतिसृत्तिसृत्तियुद्धदितो वा' इति विकल्पेने-
डागमे पत्ये च 'गोपिष्यति' इति । इडागमामावपचे—गोप्स्यति । गोपायतु । गुप्-
घातो, 'गुप्धूपविद्धूपणिसन्निभ्य आद्यः' इत्याद्यप्रत्यये कृते आर्घघातुकस्ये गुणे
'सनाद्यन्ता घातवः' इति घातुत्वात्कृटस्तिपि, षापि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे'
इति परकपे च कृते 'पुद्' इति तिप इकारस्योत्पत्ते तत्सिद्धिः । गोपाय्यात् । गुप्-
घातोरायप्रत्यये तस्यार्घघातुकत्वात् 'पुगन्तलधूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता
घातवः' इति घातुत्वादासील्लिङ्स्तिपि, 'लिङ्गितिपि' इत्यार्घघातुकत्वात् षापमाये
वासुटि, उटि गते 'अतो लोपः' इति आयप्रत्ययस्याकारस्य लोपे 'इत्तञ्' इति तिप
इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे च तत्सिद्धिः । 'आयादय आर्घ-
घातुक वा' इति आयप्रत्ययामाये गुप्घातोरासील्लिङ्स्तिपि अनुबन्धलोपे वासुटि,
उट इत्संज्ञायां लोपे च 'किदातिपि' इति वासुटि किराद् गुणामाये चाते 'इत्तञ्'
इति तिप इकारस्य लोपे 'स्कोः संयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'गुप्प्यात्' इति रूपम् ।
अगोपायौत् । गुप्घातो 'आयादय आर्घघातुके वा' इति पाण्डिके आयप्रत्यये तस्या-
र्घघातुकत्वात् 'पुगन्तलधूपधस्य च' इति गुणे 'सनाद्यन्ता घातवः' इति घातुत्वात्-

'वृत्' प्राणिप्रसवे-दिवादि और 'वृम्' कल्पने-रवादि तथा 'वृम्' कल्पने-ऋयादि का भी
प्रत्यय समझना चाहिये ।

नेटि—रवादि 'सिन्' के परे इत्तञ् लक्षण (वरत्रवइत्तञ्त्वाच' से) श्रुति नहीं हो ।

स्यात् । अगोपीत् । अगोप्सीत् । झलो झलि ८।२।२६। झलः परस्य सस्य लोपः स्याज्झलि परे । अगोप्ताम् । अगोप्सुः । अगोप्सोः । अगोप्सम् । अगोप्स । अगोप्सम् । अगोप्सव । अगोप्सम् । अगोपायिष्यत् । अगोपिष्यत् । अगोप्यत् । द्वि क्षये । क्षयति । चिदाय । चिक्षियतुः । चिक्षियुः । 'एकाच' इति निषेधे प्राप्ते ।

ञ्ज्ञायां 'लुङ्' इति लुङि, 'लुङ्लङ्लुङ्चवडुदात्तः' इत्यङागमे, लुङः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'च्छि लुङि' इति च्छौ, 'च्लेः सिच्' इति च्लेः सिचि अनुबन्धलोपे तस्य आर्धधातुकत्वाद् 'इतरश्च' इति तिप इकारस्य लोपे, तस्य 'अस्ति- तिचोऽपृक्ते' इति ईङागमे 'अतो लोपः' इत्यङोपे 'इट ईटि' इति सलोपे सिङलोपस्य सिद्धवारसवर्णदीर्घे 'अगोपायीत्' इति रूपम् । अगोपीत्, अगोप्सीत् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे गुणधातोर्लुङ्स्तिति, अटि, च्छौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे आर्धधातुकसंज्ञायां गुणे 'स्वरतिसूतिसूयतिधूजुदितो वा' इति विकल्पेन इटि, 'इतरश्च' इति तिप इकारस्य लोपे ईटि, 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे 'वदन्नजहलन्तस्याच' इति वृद्धौ प्राप्तायां 'नेटि' इति निषिद्धे 'अगोपीत्' इति रूपम् । इङागभाभावे—'अ गुप् स् इ त्' इति स्थिते 'वदन्नजहलन्त- स्याचः' इति वृद्धौ 'अगोप्सीत्' इति रूपम् । अगोप्ताम् । गुणधातोर्लुङ्स्तिति अटि तसस्तामादेशे च्छौ, च्लेः सिचि, अनुबन्धलोपे 'वदन्नजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ 'झलो झलि' इति सलोपे 'अगोप्ताम्' इति सिद्धम् । अगोपायिष्यत् । गुणधातोः 'गुणधूपविच्छिपणिपत्रिभ्य-आयः' इत्यायप्रत्यये तस्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'पुगन्तल- धूपधस्य च' इति गुणे 'गोपाय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुपञ्जा- याम्, धातुत्वाच्च लुङि, तस्य स्थाने तिपि, 'लुङ्लङ्लुङ्चवडुदात्तः' इत्यङि 'स्यतासी लुङोः' इति श्ये, 'आर्धधातुकं शेषः' इति श्यस्यार्धधातुत्वे 'आर्ध- धातुकस्येड्वलादेः' इतीटि 'अतो लोपः' इति यकारगताकारलोपे 'इतरश्च' इति तिप इकारलोपे, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य पत्वे च कृते 'अगोपायिष्यत्' इति रूपम् । अगोपिष्यत् । 'आयादय आर्धधातुके वा' इत्यायप्रत्ययाभावे 'अ गुप् स्य त्' इति स्थिते इटि च कृते पत्वे च 'अगोपिष्यत्' इति । अगोप्यत् । आय प्रत्ययाभावे इङभावे च 'अगोप्यत्' इति । द्वि क्षय इति । क्षयो नाशः, अकर्मकः । अन्तर्भावित्प्यर्थस्तु सकर्मकः, नाशनमिति तदर्थः । चिदाय । चिधातोर्लुङ्स्तिति तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति ह्रिस्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायां 'दलादिः षोष्' इति षलोपे 'कि षि अ' इति जाते 'कुद्दौ

झलो—'झल्' से पर (तिचुसम्बन्धो) सकारका लोप हो 'झल्' के परे ।

कृत्स्नमुत्तुमुत्तुभुयो लिटि । ७।२।१३। क्वादिभ्य एव लिट् इण् न स्यात् , अन्य-
स्मादिनिटोऽपि स्यात् । अचस्तास्वस्थस्यनिटो नित्यम् । ७।२।११। उपदेशोऽन्तो
यो धातुस्तासौ नित्यानिट् तता परस्य यत् इण् न स्यात् । उपदेशोऽस्वतः । ७।१।
१२। उपदेशोऽकारवतास्तासौ नित्यानिट् परस्य यत् इण् । ऋतो भारद्वाजस्य
। ७।२।१३। तासौ नित्यानिट् ऋदन्तादेव यत्तो नेट् भारद्वाजस्य मतेन । सेनान्यस्य

रघु' इति करम आये 'अथो लिङिति' इति वृद्धौ कृतायाम् 'पुषोऽयवायाव'
इत्यायादेशो च कृते 'चिन्नाय' इति रूपम् । एकाच इति निषेधे इति । विधातोरेका-
चत्वात्, उद्गृह्णतादिषुत्तुर्दशमिष्वपात्तामनुदात्तात्प्राप्त्युपगमादिति भावः । इत्तुम् ।
कृत्स्नमुत्तुमुत्तुभुयो इत्येष्टानां समाहारद्वन्द्वपञ्चमी लिटीति पद्यवर्षे सप्तमी ।
'नेहवसि कृति' इत्यतो नेति इदिति चानुवर्तते । 'एकाच उपदेशोऽनुदात्तात्' इति
'अथकाः कृति' इति च सिद्धे नियमार्थमिदन्तदेतदाह—कृ दिभ्य एवेत्यादिना । अचस्ता-
स्वदिनि । अघातोरेषलोऽभावादातो रिति लभ्यते । अथ इति तद्विशेषणम् । तदन्त-
विधिः । 'उपदेशोऽस्वत' इत्युत्तरसूत्राद्गुपदेश इत्यपकृत्यते, माध्यप्रामाण्यात् । 'तासि
च बलूप' इत्यतस्तासौत्यनुवर्तते । 'गमेरिट् परस्मैपदेषु' इत्यत इदिति, 'न
चूत्तयत्तुम्यं' इत्यतो नेति चानुवर्तते । तारवदिति सप्तम्यन्तादिति, तदाह—उप-
देशोऽन्ता इति । उपदेशोऽस्वत इति । अस्वत इति छेदः । अत्-इत्याकार स अस्य
अस्तीति आवाञ् 'तसौ प्रथमो' इति भावात्त एतत्त्वम् । अथ इति धर्जम् पूर्वस्य
तत्र पदानुवृत्तं तदप्युत्तुवर्तते । तदाह—उपदेशोऽकारवत् इति । अत् इति । तासौ नियम-
निट् इति, यत्तोति, नेति, इदिति चानुवर्तते । भारद्वाजस्य मते ऋदन्तादातो परस्य
नेदिति फलिसम् । ह्रस्वपूर्वादी 'अचस्तास्वत्' इत्येव सिद्धम् । अतो नियमार्थमिदमि-
त्याह—ऋदन्तादेवेति । अनुदन्तापरस्य तु यत् इट् स्यादेवेत्येवकारार्थः । तदाह
अन्यस्य स्यादेवेति । अदन्तमिधारेपरस्य यत् इट् स्यादेवेत्यर्थः । अयमनेति । कृत्स्नमुत्तु-
मुत्तुभुयो लिटी'ति, 'अचस्तास्वत्' इत्येव सिद्धम् । 'उपदेशोऽस्वत' इति, 'ऋतो

कृत्स्न—इ अर्थात् धातुभेदे पर ही 'इट्' को इट् नहीं हो, पर क्वादिसे अन्य धातुओंके 'लिट्'
आहे वह अनिट् भी नहीं हो, इट् होगा ही । अथ—उपदेशोऽकारवत् अन्त को धातु पर
क्वादि 'तासि' प्रत्ययके परे गित् अनिट् हो तो वससे पर 'यत्' को इट् नहीं हो । उपदेशो—
उपदेशोऽकारवत् अकारवाञ् एव 'तासि' प्रत्ययके परे रहते नियम अनिट् को धातु वससे पर
को 'यत्' वसको इट् नहीं हो । अतो—'तासि' प्रत्ययके परे गित् अनिट् को धातु वससे पर
अन्यस्य धातु वससे पर ही 'यत्' को 'इट्' नहीं ही, मारदावके मतेन (अर्थात्
नियमसे) ।

स्यादेव । अयमत्र सङ्ग्रहः—

अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेड्यम् ।

ऋदन्त ईडङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥ १ ॥

चिक्षयिष्य । चिक्षेय । चिक्षियथुः । चिक्षिय । चिक्षाय—चिक्षय । चिक्षियिव । चिक्षियिम । क्षेता । क्षेप्यति । क्षयतु । अक्षयत् । अकृतसार्वधातुकयोर्दीर्घः । ७।४।२।५। अजन्ताङ्गस्य दीर्घः स्याद् यादौ प्रत्यये, न तु कृतसार्वधातुकयोः । क्षीयात् । सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु । ७।२।१। इगन्ताङ्गस्य वृद्धिः परस्मैपदे सिचि । अक्षीषीत् । अक्षेप्यत् ॥ तप सन्तापे । तपति । तताप । तेपतुः । तेपुः ।

भारद्वाजस्ये'ति च सूत्रचतुष्टयस्य विषयाणां संग्रहो वक्ष्यत ह्ययर्थः । अजन्त इति । यो धातुः ऋदन्तमिन्नोऽजन्तो, ह्रस्वाकारवान् वा तासौ नित्यानिट् सोऽयं थलि विकल्पितेत्क इति पूर्वार्धस्यार्थः । अत्र 'ईडङ्' । ह्रयस्य तासौ निरयानिडित्यर्थः । यः ऋदन्तस्तासौ नित्यानिट् सः थलि निरयानिडित्यर्थः । 'अचस्तास्वत्' इति पाणिनिमते 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति भारद्वाजमतेऽपि तस्य अनिट्कत्वादिति भावः । क्राद्यन्य इति, क्राद्यष्टम्योऽन्यो धातुः लिटि नित्यं सेडित्यर्थः । क्राद्यष्टम्य एव परस्य लिटि नेडिति 'कृष्मृष्ट' इति सूत्रेण नियमितत्वादिति भावः । एवञ्च प्रकृते चिधातो-रजन्तवात्तासौ नित्यानिट्वाच्च थल इति इड्विकल्प इति सिद्धम् । तदाह—चिक्षयिष्य, चिक्षेय इति । अक्षीषीत् । चिधातोः 'लुङ्' इति लुङि, तस्य स्थाने तिवादेशे अङ्गस्याडागमे, ष्लौ, ष्लेः सिचि, इचि गते, इडभावे, तिप् हकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि विहिते 'अ चि स् ई च्' इति जाते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, सस्य पत्वे च 'अक्षीषीत्' इति रूपम् । तेपतुः । तपघातोर्लिटः स्थाने प्रथमपुरुषद्विवचने तसि, तसश्चातुसि, द्विरवे अभ्यासवे 'ह्लादिः शेषः' इति पलोपे 'तत्प-अतुस्' इति जाते 'असंयोगाङ्गिक्त्' इति लिटः क्त्वे 'अत एकहल्ममध्येऽनादेशादेर्लिटि' ह्रयकारस्यैवेऽभ्यासलोपे च कृते 'तेपतुः' इति रूपम् ।

अजन्तो—अजन्त (या-पा-वा आदि) अथवा अकारवान् (पचादि) धातु तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो धातु उसको 'थल्' में विकल्पसे 'इट्' होता है । तथा 'तासि' प्रत्ययके परे नित्य अनिट् जो ऋदन्त धातु वह 'थल्' में नित्यानिट् (इट्का नित्य निषेध) होता है । और कृ-सृ-मृ आदि आठ धातुओंसे मिन्न जो अनिट् धातु, वह 'लिट्' में सेट् ही होता है ।

अकृत्—अजन्त अङ्गको दीर्घ हो, यकारादि प्रत्ययके परे । परन्तु यकारादि 'कृत्' और सार्वधातुककके परे दीर्घ नहीं हो । सिचि-इगन्त अङ्गको वृद्धि हो, परस्मैपद 'सिच्' के परे ।

तेपिप । ततप्य । तप्ता । तप्यति । तपद् । अतपत् । तपेत् । तप्यात् । अता-
 प्पीत् । अताप्ताम् । अतप्यत् । निरस्तपतायनासेवने । ८।३।१०२। प् स्यात् ।
 आसेयनं = पौनपुन्य, ततोऽन्यस्मिन्विषये । निष्टपति । क्रमु पादविधेये ।
 या भाशम्भाशत्रमुकमुपलमुत्रसिष्टुटिहापः । ३।१।७०। एभ्य श्यन्वा, कर्तारि
 सार्वधातुके । पञ्चे शप् । क्रम. परस्मैपदेषु । ७।३।७६। क्रमेदीर्घ, परस्मैपदे
 शिति । क्राम्यति । क्रामति । चक्राम । स्तुक्रमोरनारमनेपदनिमित्ते । ७।२।३६।
 अनेवेत् । क्रमिता । क्रमिष्यति । क्राम्यतु । क्रामतु । अक्राम्यत् । अक्रामत् । क्राम्नेत् ।
 क्रामेत् । क्रम्यात् । अक्रमीत् । अक्रमिष्यत् ॥ अमु उमु जमु अमु अदने ।

अताप्पीत् । तपघातोर्लुङ्स्तपि 'च्छि लुङि' इति ष्टौ, 'ष्टे सिच्' इति
 सिचि, इषि गते 'पकाश्च उपदेशोऽनुदात्तात्' इति इग्निषेधे, अटि, तिप इकारलोपे
 'अस्तिस्मिचोऽष्टके' इति ईटि 'वदमज्जहलन्तस्याश्च' इत्यचो वृद्धौ 'अताप्पीत्' इति
 रूपम् । निरस्तपतायनि । 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधिकारात् । च इत्यादिपुञ्जतं
 सङ्गतम् । निरस्तपतायस्य स्यात्तपघातो' परतः, पौनपुन्यमिच्छाये गम्ये इति
 प्रकृतस्यार्थं पलितः । निष्टपतीति । निष्पूर्वात् तपघातोर्लुङि तिपि षापि 'निरस्तपति'
 इति आते 'निरस्तपतायनासेवने' इति सस्य सत्ये 'दुना षु' इति सस्य षुवेन
 तस्य ष्वे 'निष्टपति' इति प्रोक्तरूपसिद्धिः । प्रमाते निष्टपति सूर्य अर्थात् प्रमाते
 सूर्यः निष्कृष्य तपति इत्यर्थः । क्राम्यति । क्रमु पादविधेयेऽर्थे धातुर्वर्तते, उकारस्ये-
 रसज्ञायां लोपे च तस्माच्चरितपि, अनुबन्धलोपे 'तिष्ठन्तिसार्वधातुकम्' इति सार्व-
 धातुकरत्वे 'कर्तारि षप्' इति षापि प्राप्ते तस्याधित्वा 'वा भाशम्भाशत्रमुकमुपल-
 मुत्रसिष्टुटिहाप' इति श्यनि आते, शस्य नश्य चेतसज्ञायां लोपे च 'क्रम य ति' इति
 स्थिते 'क्रम परस्मैपदेषु' इति क्रम उपधाया दोर्घत्वे च कृते 'क्राम्यति' इति रूपम् ।
 पदे षापि दोर्घत्वे च—'क्रामति' इति रूपम् । स्तुक्रमोरिति । पञ्चम्यर्थे षष्ठी । आग्ने-
 पदनिमित्तस्याभाव इति अनारमनेपदनिमित्तम्, तस्मिन्निति अभावो नश्य इति
 'अर्थाभावे अभ्यधीभावेन सद् नन्तापुरयो विकल्प्यते' इत्युक्ते समाप्तम् । आग्ने-
 पदनिमित्ताभावे सति स्तुक्रम्मर्मा परस्य वलाघातार्धधातुकरस्य इहागम स्यादित्यर्थः ।
 स्तुक्रमोरनुदात्तोपदेशानन्तर्भावादिटि सिद्धे वचनमिदं ियमयनि—अनेवेदिटि ।

निरस्त—पौनपुन्यसे विद्म अर्थे 'निष्' के सकारको बन्व हो, 'उन्' धातु के परे ।
 या भाशा—भाश, भाश, अश्, क्रम्, कश्, अस्, हुट् और उट् धातुओंसे 'इवन्' प्राथम्य हो,
 कर्त्तरिक सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । क्रम—'क्रम' धातुको दीर्घ हो, परस्मैपद 'क्रिय' के परे ।
 स्तुक्रमो—आग्नेवैपदनिमित्त होन 'स्तु' और 'क्रम' धातुसे पर ही वलादि सार्वधातुक को

छिबुक्कमुचमां शिति । ७।३।७५। एषामन्वो दीर्घः स्याच्छिति । (आङि चम इति वक्तव्यम्) आचामति । आङि किम् ! चमति । विचमति । अचमीत् ॥ स्खल संचलने । स्खलति । वस्त्राल । अतो लान्तस्य । ७।३।२। अतः समीपौ यौ त्रौ, तदन्तस्याहस्यातो वृद्धिः, परस्मैपदपरे सिचि । अस्खालीत् । अस्खलि-

तेन 'उपस्नोष्यते जलेन' इति भायार्थलकारे ह्यन इति फलमित्यलम् । अक्रमीत् । क्रमधातोर्लुङ्गस्तिपि, अटि, च्लौ, च्लेः सिचि, ह्यचि गते, इटि, तिप इकारलोपे इटि, सलोपे, 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्यन्तघणश्वसञ्जागृणि०' इति निषिद्धे 'अक्रमीत्' इति । छिबुक्कमुचमां शिति । एषां शिति परतोऽघो दीर्घः स्यात् इति सूत्रार्थः । आचामति इति । आङ्पूर्वाच्चमुधातोर्लुङ्गितिपि शपि तस्य शिच्चेन 'छिबुक्कमुचमां शिति' इति चमोरचो दीर्घत्वे 'आचामति' इति रूपं सिध्वात् । आङि किमिति । आङि च्मो दीर्घवमित्यर्थाभावे चमोरप्यनाङ्पूर्वाच्चिङ्गिति परतः दीर्घत्वं प्रसज्येत । तेन च 'चमति' इत्यादिस्थले 'चामति' इति शब्दशास्त्रविरुद्धसिद्धिः स्यादतः 'आङि' इत्येव वक्तव्यमिति भावः । अत एव 'विष्मति, चमति' इत्यादी न दीर्घः । अग्रे तु-चचाम, चमिता, चमिष्यति, चमतु, अचमत्, चमेत्, चम्यात्, अचमीत् अत्र न वैकल्पिकवृद्धिः 'अप्यन्त' इति मान्तत्वेन तन्निरपेधात् । अचमिष्यत् । छमु जमु क्षमु षन्ने । लट्-छमति, जमति, क्षमति । स्खलीति । स्खल संचलने अस्मद्भातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि 'तिपत्सु' इति तिपि 'लिङ्गिषु' इति तिपः सार्वधातुकसंज्ञायां शपि शस्य 'लशक्वे'ति इत्संज्ञायां लोपे 'स्खलति' इत्युक्त्वात्पस्य सिद्धिः । अतो लान्तस्येति । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवृत्तम् । अङ्गस्थेयधि-कृतम् । 'वर अन्तस्य' इति छेदः । लृच् रश्चेति समाहारद्वन्द्वात् षष्ठ्येकवचनं छुप्तम् । वरस्यान्तस्येति सामानाधिकरण्येनान्वयः अत इति व्यधिकरणषष्ठ्यन्तम् । तत्र अन्तस्येत्यत्रान्वेति । अन्तशब्दः समीपवर्तिवाची । तथा च अतः समीपवर्तिनो वरस्येति लभ्यते । वरस्येत्यङ्गविशेषणत्वात्तदन्तविधिः । तत्र अस्मीपवर्तिरेफलका-रान्तस्य अङ्गस्य सिचि वृद्धिरिति लभ्यते । अत इत्यादृप्तं वृद्धौ स्थानित्वेनान्वेति । अस्खालीत् । स्खलो लुङि च्लौ 'च्लेः सिचि' इति सिचि ह्यचो लोपे 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिचि आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादे'रिति सिचि इडागमे तिपस्तस्य 'अपृक्त एकाल्' इति अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति इडागमे 'इट इटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे वृद्धौ 'अस्खालीत्' इति । अत्र सिचि वृद्धि

इट् हो । छिबु—छिबु, कळमु और चम् धातुओंके 'अच्' को दीर्घ हो 'छिब' के परे । आङि—यहाँ 'आङ्' उपसर्गक 'चम्' धातुको दीर्घ हो ऐसा कहना चाहिये । अलो—'अत्' के समीपवर्ती को लान्त, तदन्त को अङ्, तदन्तस्यन्वी को 'अत्' कहानी छिट्ट हो, परस्मैपद

प्यत् ॥ रसर उग्रमती । अत्सागीत् ॥ पा पाने । पा प्रा-प्ता स्या-म्ना-वाण-
 इश्य-ति-सति-शब्-सदां पिय-मिन्न धम तिष्ठ मन-यच्छ-परय-रुष्ट-धौ-
 शीय-सीदाः । ७।३।७८। पादीनां पिबादय-स्युरित्संश्रुशकारादौ प्रत्यये परे । पिबा-
 देशोऽन्तस्तेन न गुणः । निश्चि । आत औ जलः ७।१।३४। आदन्तादातोर्णक
 औकारादेशः स्यात् । पपौ । आतो लोप इटिश्च । ६।४।६४। अत्रासोरार्द्धधातुकयोः
 विक्रिदो परयोरातो लोपः । पपत् । पपु । पपिय । पपाय । पपयुः । पप । पपौ ।
 पपिव । पपिमः । पाता । पात्यति । पिबतु । अपिबत् । पिबेत् । प्लिष्टि
 । ६।४।६७। घुसज्ञानां मास्यागापिबतिग्रहानिश्यतीनां चाऽऽत एवमार्द्धधातुके किति
 विधिः । पेयात् । 'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्यैव प्रहण' । तेन 'पा-रक्षणे'

'नेटि' इत्यनेन बाधित्वा 'अतो हृणादेः' इति प्राप्तां विकल्पवृद्धिं 'अतो यान्तरस्य'
 इत्यनेन प्रवार्ये मात्र वृद्धेः प्रतिषेध इति भावः । अत्रे अरल्लिप्यदित्यादि । रसर
 गती । रसरति, ररसार, रसरिता, रसरिष्यति, रसरतु, अरसरत्, रसरेत्, रसर्पात्,
 अरसारीत् । अत्र निरया वृद्धिः 'अतो यान्तरस्य' इति सूत्रात् । अरसरिष्यत् । पाप्ता-
 भेति । पा प्राप्ता स्या म्ना वाण् षीति अति सति शब् सद् पपौ इन्द्रात् प्रथमबहु
 वचनम् । पिव मिन्न धम तिष्ठ मन यच्छ परय अचक्ष धौ शीय सीद् पूर्ण इन्द्रात्
 प्रथमाबहुवचनम् । पयासपयमादेशाः । 'द्विबुबलमुच्यमां निति' इत्यत क्षितीत्यनु-
 वर्तते । वा चासौ इच्छेति कर्मधारयः । अत्राशिसप्रत्ययविशेषणवात् तदादिविचित्र-
 वाद्—रसंश्रुकेति । पिबति । पाघातो 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लट्स्तिबादेशे सार्ध-
 धातुकसम्भार्या 'कर्तरि षष्' इति षष्पि अनुबन्धलोपे शित्वात्सार्धधातुकसम्भार्या
 'प्राप्तास्याम्ना' इत्यादिना पास्याने पिबादेशे, पिबादेशस्यादन्तावाद् गुणाभावे
 'पिव अ ति' इति स्थिते 'अतो गुणे' इति परकूपे 'पिबति' इति । पपौ । पाघातो-
 र्ठित्स्तिपि ठिपो जलादेशे अनुबन्धलोपे 'लिटि भासोरनभ्यासरस्य' इति द्विपे

'षिष्' के परे । पाप्ता—रसश्रु शकारादि प्रत्ययके परे 'पा' आदि धातुर्भोको यपाक्रमसे
 पिबादि आदेश हो । (मर्वाय पाको पिव, प्राको मिन्न, म्नाको धम, स्याको तिष्ठ, म्नाको
 मन, वाण्को यच्छ, इयको परय, ऋको, अचक्ष, सूको धौ, शरको शीय और सदको सीद्
 आदेश हो) । आत औ—आदन्त धातुसे पर 'जल' को औकार आदेश हो ।

आतो—अकारदि किय-किय आर्षधातुक और 'ईट्' के परे आकारका लोप हो ।

प्लिष्टि—पुसंश्रु धातु तथा मा माने, वा गतिनिवृत्तौ, गे शब्दे, वा पाने, ओहाक् रवागे,
 और बोऽन्तकर्मि-धातुसंज्ञको आकारको परर हो, आर्षधातुक किय-कियके परे ।

मोट—घुसंश्रु 'दाताभरष्' से विहित 'पुसंश्रु' मर्वाय इराम् माने, वाण् माने,
 हो अचक्षन्ने, वेष् रकने, इराम् चारमतीचनको और नेट् माने का तथा 'पारशदिसे माक्

इत्यस्य नैत्वम् । 'गातिस्थे'ति सिचो लुक् । अपात् । अपाताम् । आतः । ३।७।
 १।०। सिञ्जुकि आदन्तादेव श्रेजुस् उरस्यपदान्तात् । ६।१।९६। अपदान्ता-
 दवर्णादुसि पररूपमेकादेशः । अणु । अपात्यत् । ग्लौ ग्लौ हर्षक्षये । ग्लायति ।
 आदेच उपदेशोऽशिति । ६।।४५। उपदेशे एजन्तस्य धातोरान्वं, न तु शिति ।
 जग्लौ । ग्लायता । ग्लायस्यति । ग्लायतु । अग्लायत् । ग्लायेत् । आऽन्त्यस्य
 संयोगादेः । ६।६।६८। घुमास्यादेशरन्त्यस्य संयोगादेर्धातोरान्त एत्वं वा, आटं धातुके
 किति लिटि । ग्लेयात्-ग्लयात् । यमरमनमार्तां सक् च । ७।२।७३। एषां सक्

'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससञ्ज्ञायां 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे 'प पा अ' इति
 ज्ञाते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे वृद्धौ च सत्यां 'पौ' इति । अणत् ।
 पाधातोरुल्लिखितपि, च्लौ, च्लेः सिचि, 'गातिस्थाघुपा०' इति सिचो लोपे, तिप
 इकारलोपे अङ्गस्याहागमे च हृत्वे 'अपात्' इति । आत इति । 'श्रेजुस्' इति सू-
 मनुवर्तते । 'आतः सिञ्जुगन्तादिति वक्ष्यम्' इति वार्तिकत्वात् सिञ्जुकीति उन्वते ।
 'सिञ्जभ्यस्त' इति पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिष्टम् । तदाह—सिञ्जुकीत्यादिना ।
 अणुः । पाधातोरुल्लिखितः स्थाने प्रथमपुरुषवचने आवागते अटि, च्लौ, च्लेः सिचि,
 'गातिस्थाघुपाभूम्यः' इति सिचो लोपे 'आतः' इति श्रेजुसि जस्योरसञ्ज्ञायां लोपे
 च 'उरस्यपदान्तात्' इति पररूपत्वे अस्य रुत्वे विसर्गात्वे च 'अणुः' इति रूपम् ।
 जग्लौ । ग्लेयातोरुल्लिखितपि, तिपो णलादेशे 'आदेच उपदेशोऽशिति' इत्यात्वे सति
 'ग्लौ अ' इति ज्ञाते 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्या-
 सत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासह्रस्वत्वे 'ह्लादिः शेषः' इति ललोपे 'कुक्षोश्नुः' इति
 गश्य सत्वे 'आत औ णलः' इत्यौत्वे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ च सत्यां 'जग्लौ' इति
 रूपम् । ग्लायता । ग्लेयातोरुल्लिखितपि, सासि, तिपो दात्वे, 'आदेच उपदेशोऽशिति'
 इति ग्लेयातोरान्वे द्वित्वसामर्थ्यादभस्यापि टेलोपे 'ग्लायता' इति रूपम् । ग्लेयात्,
 ग्लयात् । ग्लेयातोरानीर्लिखितपि, तस्य 'लिङ्गशिपि' इत्यार्धधातुकत्वे, शयभावे
 यासुटि, 'आदेशो उपदेशोऽशिति' इत्यारत्वे तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाधोरन्ते

माने, एा गतिनिवृत्तौ, गै शब्दे, पा पाने, णोहाक् त्यागे और पो अन्तकर्मणि—इन धातुओं
 का ही ग्रहण करना चाहिये ।

आतः—'सिच' का 'लुक्' होने पर आदन्त धातुसे पर ही 'शि' को 'जुस्' हो । उरस्य-
 अपदान्त अवर्णसे पर 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो । आदेच—
 उपदेशमें एजन्त धातुको आरत् हो किन्तु 'शि' के परे नहीं हो । आऽन्त्य—सु-मा-त्यादि
 धातुओंसे मित्र संयोगादि आदन्त धातुओंके आकारको विद्यत्पते परत्वं हो, आर्षस्युक्त द्वि
 लिङ्के परे । अम—अम्, रम्, नम् और आदन्त धातुको 'सक्' हो वना (एव ही अण)

स्यात्, एभ्य सिच इट्, परस्मैपदेषु । अनासीत् । अनास्यत् ॥ एष म्लाय
तीत्यादि ॥ घेट् पाने । धवति । दधौ । धाता । धात्यति । धवतु । धवयत् ।
धियेत् । धाया च्यदाप् ॥ १११॥ २०॥ दारुणा, धारुणा धान्धो घुसहाः श्युर्दापद्वैपो
विना । धेयात् । धिमाया घेट्श्रयो ॥ ३१॥ ४९॥ आभ्यां च्लेवह् वा । घटि

च' इति सलोपे 'वाऽन्यस्य सयोगादे' इत्येवे 'गळेयात्' इति । पदे धामहगादेरवा
भावे 'म्लायत्' इति । अनासीत् । ग्लैघातोर्लुङ्इतिपि, 'रिञ्ज लुङि' इति ष्ठी, 'र्ले'
सिच्' इति सिचि, इति गते, 'लुङ्ङलुङ्ङश्च्यदात्तः' इत्यटि, 'अ गळे सू त्'
इति आते 'आदेश उपदेशोऽसिति' इति ग्लैघातोरावे 'यमरमनमातां सचच' इति
अङ्गस्य स कागमे सिचः सकारस्य इङ्गागमे च वृत्ते 'अ गलास् इ सू ति' इति आते
'इतश्च' इति तिप इकारस्य लोपे तरयापृच्छसन्ज्ञायाम् 'अतिसिचोऽपृच्छे' इति
इङ्गागमे 'इट् इटि' इति सिच सकारस्य लोपे 'सिञ्जलोप पूकादेशे सिद्धो धारणा'
इति सलोपस्य सिद्धत्वात् सयर्गदीर्घ 'अगलासीत्' इति रूपम् । ग्लै-इपंचये इत्यस्य
सु-म्लायति, मग्लौ इत्यादि । धवति इति । घेट्—पानेऽस्मादातोर्वर्तमाने छटि
तिपि चापि 'एचोऽपघापाय' इति अयादेशे 'धवति' इति रूप सिच्यति । दधाति ।
घेट् पाने छिटि अशिद्रिपयत्वात् 'आदेश उपदेशोऽसिति' इति आये धातोर्द्विस्वे पूर्व
स्याम्याससज्ञायाम्—'दायः' इति इत्ये 'अम्यासे चच' इति घस्य द्वावे 'आत् औ गळः'
इति अकारान्वादातो परस्मिन् विद्यमाने गळि औत्वादेशे 'यृद्धिरेचि' इति यृदौ
'दधौ' इति रूप प्रसिच्यति । घयिता-घयिच्यति-घयतु-अघयत्-घयेत् । दाधावेति ।
द्वेषनेन स्वाभाविकाकारान्तयोः 'हुदाञ्-दाने-दाञ्-दाने' इत्यनयोः, कृतावयोः
यो—अवस्यदने, देह्-रपणे इति लाघणिकयोश्च ग्रहणम् । 'अदाप्' इति निषेधात् ।
धेष्यनेनापि हुदाञ् इति स्वाभाविकाकारान्तस्य लाघणिकस्य कृतावस्य 'घेट्' पाने
इत्यस्य च ग्रहण भवति । 'अदाप्' इति निषेधात् । इति हुदाञ् हुदाञ् इत्यनयोरेव
घुसज्ञा स्यात्तदा 'अदाप्' इति दापद्वैपोनिषेचकरणं स्वयमेव स्यात् । अतो दापद्वैपो
स्वाभाविकलाघणिकाकारान्तयोनिषेचयत्वादेव स्वाभाविकलाघणिकाकारान्तयोः
दारुणधारुणयो धावोः घुसज्ञा भवतीति प्रतीयते । अत एव 'अदाप्' इति निषे-
घस्य सार्थपम् । धेयादि । घेट् पाने पानो आदीर्लिङि तिपि 'इतश्च' इतीकारलोपे
'आदेश उपदेशोऽसिति' इति घेट् आये धा + न् इति आते 'यासुट्परस्मै' इति तिपो
यासुङागमे टिग्राहायावयवे छिञ् आर्धघानुह्रवाच्युपोऽप्राप्तौ 'दाघाञ्दाप' इति
घुसज्ञायाम् 'पठिति' इति आये च वृत्ते 'धेयाञ्' इत्यस्य सिद्धिः । विभाषा घेट्श्रयोति ।

इप से पर ओ 'मिच्' एषको इङागम हो, परस्मैरदके परे । दाया—'दा' रूप तथा 'वा' रूप
वाङ्मोकी घुसज्ञा हो, दाप्-द्वैपो-को छोटकर । विभा—'घेट्' और 'रिच' वाङ्मोसे पर 'मिच्'
को 'अच्' हो, रिचरते । चटि—'चच्' पर अनभ्यास धावस्यच प्रथम रदाचको तथा

।६।१।१। अनभ्यासघातद्वयव्यस्य प्रथमस्यैकाचो द्वे स्तोऽनादेद्वितीयस्य । अद-
धत् । अदधताम् । अदधन् । विभाषा घ्राघेट्शाच्छासः । २।४।७।
एभ्यः सिचो लुग्वः स्यान् परस्मैपदे । अघात् । अघाताम् । अघुः ।
पक्षे इयसकौ । अघासीत् । अघामिष्टाम् । अजासिषुः ॥ छै न्यकरणे ।

च्छि लुङीत्यनुवर्तते । 'गिञि' इत्यतः कर्तरि चङीति चानुवर्तते । अदधदिति । घेट्-
पाने घातोः 'आदेव उपदेशेऽशिति' इति आत्वे लुङि तिपि अनुबन्धलोपे
मध्ये च्लौ 'विभाषा घेट्शब्दोः' इति च्लेश्चि 'चङि' इति द्वित्वे 'पूर्वस्यासः'
इति पूर्वस्याभ्याससंज्ञायाम् 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्च
द्वये 'लुङ्' इति अङ्गस्याडागमे 'अ + दधा + अ + त्' इति जाते 'भातो लोप
इटि च' इति आकारलोपे परेण संयोगे सति 'अदधत्' इति रूपं ज्ञायते । अदधता-
मिति । घेट् घातोरात्वे लुङि तसि 'तस्यस्यमिपां तांततामः' इति तसस्तामादेशे
च्लौ 'विभाषा घेट्शब्दोः' इति वैकल्पिके चङि 'चङि' इति घातोर्द्वित्वे पूर्वस्याभ्या-
सस्ये 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वेऽभ्यासस्य चर्चन वावे 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे
च कृते 'अदधताम्' इति रूपं भवति । अग्रं अदधन् इत्यादि । चङ्भावे—विभाषा
घ्राघेट् शाच्छास इति । 'ण्यञ्त्रियार्थ' इत्यतो लुगिअनुवर्तते । 'गातिर्या' इत्यतः
सिचः परस्मैपदेऽशिति चानुवर्तते । अघादिति । घेट्घातोः 'आदेव' इति आत्वे लुङि
तिपि 'इत्तश्च' इति ह्रकारलोपे च्लौ 'च्लेःसिच' इति सिचि 'विभाषा घ्राघेट्शाच्छासः'
इति सिचो वैभाषिके लोपे अङ्गस्य 'लुङ्' इत्यडागमे 'अघात्' इति रूपम् ।
अघातामिति । घेट्घातोरात्वे लुङि तसि 'तस्यस' इति तामादेशे च्लौ 'च्लेः सिच'
इति सिजादेशे 'विभाषा घ्राघेट्शाच्छासः' इति वैकल्पिकसिचो लुङि 'लुङ्' इति
अङ्गस्याडागमे च कृते अघाताम्, इति रूपमिति भावः । अघुरिति । घेट् 'आदेव'
इत्यात्वे लुङि 'आतः' इति श्लेजुंसि च्लौ च्लेः सिचि 'विभाषा घ्राघेट्' इति सिचो लोपे-
ऽङ्गस्याडागमे 'अ धा + तस्' इति स्थिते लुङो द्वित्वेन 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे
च कृते परेण संयोगे सस्य रूपे विसर्गे च कृते 'अघुः' इत्यभीष्टं रूपं संपद्यते ।
अग्रं अघाः इत्यादि स्पष्टमेव । सिचो लुगभावपक्षे तु-अघातोदिति । 'अ धा + स् + त्'
इत्यवस्थायाम् तिपोऽपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईडागमे 'यमरमनमातां
सञ्च' इति सिच इडागमे घातोः सकागमे च 'अ-धा-स्-इ-स्-ई-त्' इति जाते
'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घकृते अघासीत् इत्यस्य
सिद्धिः फलति । अघामिष्टामिति । 'अ + धा + स् + ताम्' इति सिचो लुगभावपक्षे

अजादिके द्वितीय रकाचको द्वित्व हो । विभाषा घ्रा—'घ्रा' धातु, घेट् धातु, शो धातु, छी
धातु और पो धातुओंसे पर 'सिच' का लुक् हो विकल्पसे, परस्मैपदके परे ।

नोट—इस सूत्रमें घ्रा-गन्धोपादाने, घेट्-पाने, शो-तनूकरणे, छी छेदने और पो-घन्त-

वायति ॥ द्वै स्वप्ने । द्रायति ॥ द्वै दृसौ । प्रायति ॥ द्वै चिन्तायाम् ।
 प्रायति । दृशौ । रै शब्दे । रायति ॥ स्वयै स्वयै शब्दसङ्घातयोः । स्वययति ।
 योपदेशवापि षत्वे कृते रूप तुल्यम् , योपदेशकत्वं तु 'तिष्ठणाम्सी'त्यादी मभिध्-

'अभरमनमातां सख' इति धातोः सकागमे सिच ह्रस्वगमे च टिचक्षित्वाभ्यामाद्य
 ष्ठावक्ष्ये अ+धा+स+ह+स+ताम् इति जाते 'आदेश' इति षत्वे 'अधासीत्+
 ताम्' इति षित्ते 'प्लुतो ष्टु' इति ष्टुत्वे च कृते 'अधासिष्टाम्' इति रूपं प्रसि
 द्धति । अधासिष्टुरिति । धेट् धातोः 'आदेश' इति आत्वे लुटि द्वौ श्लेषसि ष्टौ ष्टे.
 मिथि सिचो छोपामादपक्षे सरयार्धधातुकत्वात् 'यमरमनमातां सख' इति सकि
 इति आह्वरवादागमे अ+धा+स+ह+स+तम्' इति जातेऽपरसकारस्या
 देहाप्रबन्धधोरिति षत्वे 'अधासिष्+तम्' इति स्थिते परेण संयोगे सरयक्ष्ये विसर्गे
 च कृते 'अधासिष्' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे अधासी-अधासिष्टम्-अधासिष्ट-अधा
 सिष्टम्-अधासिष्-अधासिष्म । अग्रे अघारयदित्यादि । वायतीति ॥ द्वै स्वयैकरणे
 अरमण्डित्ति तिपि षापि 'पृषोऽप्ययायाव' इत्यायादेशे च कृते 'वायति' इति रूपं
 संपन्नं भवति । अग्रे दृषी-धाता-धास्यति-धापतु-अघायत्-घायात्-अधासीत्-
 अघारयदित्यादि ॥ द्रायति' इति । द्वै स्वप्नेऽस्मादातो. छिटि निपि षापि आयादेशे
 'द्रायति' रूपम् । अग्रे दृषी-द्राता-द्रास्यति-द्रापतु-अद्रायत्-द्रायेत्-द्रेयात्-द्रायात्
 अद्रासीत्-अद्रास्यत् इति । प्रायतीति । द्वै दृसौ धातोर्छटि तिपि षापि आयादेशे
 प्रायतीति रूपम् । अग्रे दृषी धाता प्रास्यति प्रायतु अघ्रायत्-प्रायेत्-प्रेयात्-प्रायात्
 अघ्रासीत्-अघ्रास्यत् इत्यादि । प्यायतीति ॥ द्वै चिन्तायाम् अरमात् छटि तिपि
 षापि आयादेशे रूपम् । अग्रे दृषी प्याता प्यास्यति प्यायतु-अप्यायत्-प्यायेत्-प्ये-
 यात् प्यायात् अप्यासीत् अप्यास्यत् । रायतीति । रैशब्देऽस्मादातोर्षठमाने छटि तिपि
 षापि आयादेशे रूपं भवति । अग्रे ररी राता रास्यति-रायतु-अरायत्-रायेत्-रायात्-
 अरासीत्-अरास्यत् । सवायतीति ॥ स्वयै स्वयै-अमयोर्धातोर्वसमाने छटि तिपि षापि
 'वायादेशेः स' इति अपरर्धमातो परस्य मात्वे ष्टुत्वस्य निवृत्तौ षमयोरपि आयादेशे
 सवायति इति रूपं भवति । परस्यपाठपठं तु यक्षयते तिष्ठणामति इत्यादाविति ।
 तिष्ठणामतीति ॥ द्वै धातो. कृतसंवात्मनि आत्वे स्यात् इति सङ्घन्ताञ्छटि तिपि षापि
 'सन्वयते' इति स्थिते 'सार्धं' इति सकारयकारनिवृत्तौ 'सास्यति' इति स्थितेऽ-
 म्यासइत्ये 'सन्वय' इति हात्वे सकारस्य इज. परत्वादादेशसकारत्वाच्च षत्वे तिष्ठण
 सतीति रूपम् । स्वात्मविकसकारादित्ये तु आदेशसकारादित्यामायात् षत्वं न
 स्वादता 'द्वै' इति कृत्वस्यपाठस्वावरयकतेति भावः । वायतीति ॥ द्वै अहने

अमी-रन वागुर्धेका अहम समष्टवा वादिषे ।

ति ॥ स्तौ च्छदने । स्थायति ॥ स्तौ जै षै षये । स्थायति । जायति । स्थायति । 'सुमा-
 स्थे'त्यत्र, 'विभाषा प्राघेट्' इत्यत्र च स्यतेरेव प्रहणं, न त्यस्य, तेन एत्वसिञ्जुक्तौ
 न । सायात् । असासीत् । कै नै शब्दे ॥ स्तौ श्रे पाठे । पै षोषै शोषणे ॥
 पायात् । अपासीत् । 'बुमास्ये'तीत्वं, तदपवाद 'एलिङी'त्येयं. 'पातिस्थे'ति सि-
 ञ्जुक् च न, 'रक्षणप्रतिपक्षयोः प्रतिपदोक्तस्यैव प्रहणमे'ति पररूपस्य लाक्षणिक-
 त्वात् ॥ ऐ वेष्टने । स्तायति ॥ स्तौ वेष्टने, शोभायां चेत्येके । स्तायति ॥ दैप्
 शोधने । दायति । अयुत्वादेत्वसिञ्जुक्तौ न । दयात् । अदासीत् ॥ द्या वन्शोपा-
 दाने । जिप्रति । प्रायात्-प्रेषात् । अप्रासीत् । अप्रास्यत् । द्या शब्दाग्निर्त्यो-

अस्माद्धातोः वर्तमाने लटि सिपि शप्पायादेशे प्रोक्तं रूपं भवति । अत्रे षडौ-धाता-
 खाद्यति-खायतु-अखायत्-खायात्-अखासीत्-अखास्यत् । छापति-चापति-
 सायतीत्यादि ॥ जै जै पै षये एतेषां लटि सिपि शपि- रूपानि । छायति-
 जायति-'धात्वादेः पः सः' इति सः सायतीत्यादि । अत्रे षडौ-जगौ-ससौ ।
 धाता-जाता-साता । चास्यति-जास्यति-सास्यति । चायतु-जायतु-जायतु । अजा-
 यत्-अजायत्-अजायत् । चायेत्-जायेत्-सायेत् । जेजात्-जायात्-जायात्-
 सायात् । अजासीत्-अजासीत्-अजासीत् । अजास्यत्-अजास्यत्-अजास्यत् । कै गे
 -शब्दे-कायति-गायति । चकौ-जगौ । काता-गाता । काद्यति-गाद्यति । काय-
 तु-गायतु । अकायत्-अगायत् । कायेत्-गायेत् । कायात्-गेयात् । अकासीत् अगा-
 सीत् । अकास्यत्-अगास्यत् । शै शै-पाठे । शायति-ध्रायति । छासौ-जसौ । प्रासा-
 धाता । दास्यति-ध्रास्यति । दायतु-ध्रायतु । अदायत्-अध्रायत् । दारेत्-ध्रायेत् ।
 दायत्-ध्रायेत्-ध्रायात् । अदासीत्-अध्रासीत् । अदास्यत्-अध्रास्यत् । पै षोषै
 शोषणे । 'ओषितश्च' इति निष्ठागस्वार्थम् ओदिस्वम् । पायति-जायति । पयौ-वयौ ।
 पाता-वाता । पायति-वायति । पायतु-वायतु । अपायत्-ववायत् ।
 पायेत्-वायेत् । पायात्-अत्र एलिङि हृत्येवं न पाररूपस्य लाक्षणिकत्वात् । वा-
 यात् । ऐ=वेष्टने । स्तायति । तस्तौ । स्ताता । स्तास्यति । स्तायतु । अस्तायत् ।
 स्तायेत् । स्तैयात्-स्तायात् । अस्तासीत् । अस्तास्यत् । स्तायतीति । स्तौ शोभा-
 यामित्यस्माद् वर्तमाने लटि सिपि शपि आयादेशे उक्तरूपम् । सरनौ । स्नाता । स्ना-
 स्यति । स्नायतु । अस्नायत् । स्नायेत् । स्नेयात् स्नायात् । अस्नासीत् । अस्नास्यत् ।
 दायतीति । दैप् शोधने अस्माद्धातोः लटि सिपि शप्पायादेशे प्रसिद्धं रूपम् । द्यायति ।
 द्यौ-दाता-द्यापति-द्यायतु-अदायत्-दायेत्-दायात्-अद्यात्वादेशे नैवि भावः ।
 अदासीत् । अदिप्रतीति । द्या वन्शोपादानेऽस्माद्धातोर्लटि जिप्रति इति रूपम् । अत्रे-
 जगौ-जगता-ज्रास्यति-जिप्र-अजिप्रत्-जिप्रेत्-प्रेषात्-प्रायात् । अजायति । द्या

गयोः भ्रमति ॥ घ्रा गतिनिवृत्तौ । तिष्ठति । 'श्वादिभि'ति परम् । अघित्तष्टौ ।
'उपसर्गादि'ति पञ्चम् । अघिष्ठाता । श्थेयात् । सत्वे कृते प्रकृतिरतवर्ग स्यात् ।

उत्तर—'नकारजायनुस्वारपञ्चमौ झलि घातुषु ।

सकारजः शकारश्च पाट्टधर्गस्तधर्गजः ॥'

'गातिश्चे'ति द्विचो लुक् । अस्यात् । उना अभ्यासे । मनति ॥ दाण् दाने ।
प्रणियच्छति ॥ ह् कौटिल्ये । हरति । अतश्च संयोगादेर्गुणः । ७७।१०।

घातोर्लुकि त्रिपि 'इतश्च' इकारलोपे ष्टौ 'रुळे सिचि' इति सिचि 'विभाषा घ्रा
धेट्' इति सिचो विकल्पलोपेऽङ्गस्यादागमे 'अघ्रात्' इति, सिञ्चोपामाये इट्सकयोः
कृतयो 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णदीर्घे 'अघ्रासीदि'ति द्वितीय रूप सिच्यति ।
भ्रमतीति । घ्रा शब्दाग्निसंयोगयो अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि त्रिपि शपि 'पाघ्राष्मा'
इति धमादेशो च कृते भ्रमति इत्युक्त रूप सिच्यति । दष्मौ-घ्राता-घ्रास्यति-
घ्रमन्-अघमत्-घमेत्-घ्रायात्-घ्मेयात्-अघ्रासीत्-अघ्रास्यत् । निवृत्तीति । घ्रा
गतिनिवृत्तौ अस्माद्धातोर्वर्तमाने लटि त्रिपि शपि 'घ्रात्वादे प स' इति पकारस्य
सकारादेशो ष्टुत्यनिवृत्तौ 'पाघ्राष्मा' इति तिष्ठादेशे सति 'तिष्ठति' प्रोक्त रूप
सिद्धयति । सस्यौ-श्वाता-स्यास्यति-तिष्ठन्-अतिष्ठत्-तिष्ठेत्-श्थेयात् । अघित्तष्टौ-
अत्र 'श्वादिष्वभ्यासेन चाग्यासस्य' इति पाठे 'घ्राणा घ्रा' इति घ्राये रूपम् ।
अघिष्ठाता-अत्र 'उपसर्गांमुनोति' इति पाठे घ्राये रूपम् । अश्वादिदि । घ्रा-
घातोर् लुकि त्रिपि 'इतश्च' इकारलोपे ष्टौ सिचि 'गातिश्चा' इति सिचो लुकि
अङ्गस्यादागमे कृते 'अस्यात्' इति रूपम् । अस्यास्यत् । अत्र घ्रा-इत्यस्य 'घ्रा-
त्वादेः च स इति अस्य सत्वे कृतेऽपि ष्टुत्येन जातस्य टकारस्य निवृत्तिः । कथं
स्यात् प्रमाणाभावादिः । चेन्न । 'नकारजौ' इति प्रमाणस्य विद्यमानत्वात् । श्लो-
कार्यरेतु-घातुषु मध्ये झलि परत यौ नकाराज्जातो अशुस्वारपञ्चमौ तथा च सकार-
राज्जात शकारस्तथा च पकारात्परो विद्यमानः सवर्गाज्जातो उपसर्गांऽपि प्रकृतस्यति
कमत्वे इत्यर्थः । तेन 'घ्रा' इत्यत्र पकारात्परो सवर्गस्यकारो मूलस्यति मज्जते टकारस्य
पकाराभावात्मान्वादिहिति भावः । मनतीति । उना अभ्यासे अस्माद्धातो लटि त्रिपि
शपि 'पाघ्राष्मा' इति धमादेशो 'मनति' इति रूपम् । मन्मौ-मनाता-मनास्यति-मनन्-
अमनत्-मनेत्-मनेयात्-मनायात्-अमनासीत्-अमनास्यत् । प्रणियच्छतीति । प्रात-
पूर्वाद् दाण् दाने घातोर्लुकि त्रिपि शपि 'पाघ्राष्मा' इति धमादेशो प्रणियच्छति

मकारजौ—एतुर्लोके एतदे परे रहने पर को अनुरात और वर्णका पञ्चम वर्ण है के
नकारस्थानिक है तथा पकारके परे रहने पर को टकार है वह सकारस्थानिक है और रक-
पकारके पर को वर्ण है वह उपसर्गस्थानिक है । अतश्च—अस्यात् संयोगादि अङ्को युग हो,

ऋदन्तस्य संयोगादेरङ्गस्य गुणो, लिटि । उपधाया वृद्धिः । जह्वार जह्वरतुः । जह्वरुः । जह्वर्यं । जह्वर्युः । जह्वर । जह्वार-जह्वर । जह्वरिष । जह्वरिम । हर्ता । ऋद्धनोः स्ये । ७।२।७०। ऋतो, हन्तेष्व स्यस्य इट् । हरिष्यति । हरतु । अहरत् । हरेत् । गुणोऽतिसंयोगाद्योः । ७।४।२९। अर्तेः, संयोगादेर्ऋदन्तस्य च गुणो यकि, यादावाद्धातुके लिटि च । हर्षात् । अहर्षात् । अहरिष्यत् ॥ स्मृ शब्दोपतापयोः । स्वरति । 'स्वरती'ति वेट् । सस्वरिष-सस्वर्यं । वमयोस्तु स्वरत्यादिविचलपं बाधित्वा पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्डारम्भसामर्थ्यात् 'अयुक्तः क्ति'ति निषेधे

इति जाते 'नेर्गदन्व' इति नेर्गत्वे प्रसिद्धं रूपं सिध्यति । अग्रे ददौ-दाता-दास्यति-यच्छतु-अयच्छत्-यच्छेत् । देयात् । अदात् । अदास्यत् । इत्यादि । जह्वार । हृवृधातोर्लिटिस्तिपि, तिपो णलि, 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे, 'उरण्' इति अभ्यासश्चवर्णस्य अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते 'हर् हृवृ अ' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इति वस्य रस्य च लोपे 'कुञ्चोश्चः' इति हस्य झत्वे, 'अभ्यासे चच' इति झस्य जत्वे 'जह्वृ अ' इति जाते 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' इति गुणे, अकारे रपरे च जाते 'अत्त उपधायाः' इति वृद्धौ च सत्याम् 'जह्वार' इति रूपम् । एवमेव जह्वरतुः, जह्वरुः, इति बोध्यम् । गुणोऽतीति । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'रीङ्ऋतः' इत्यतः ऋत इत्यनुवर्तते । 'अकृतसार्वधातुकयोः' इत्यतोऽसार्वधातुकप्रहणमनुवर्तते । आर्धधातुके इति लभ्यते । 'रिङ्शयगिङ्ङु' इत्यत्र यकि लिङीति च लभ्यते । 'अपट् यि ङिति' इत्यतो यीति सप्तम्यन्तमनुवर्तते । आर्धधातुकविशेषणत्वात्तद्वादिविधित्वाद्-अर्त्तरिति । अहर्षात् । हृवृधातोर्लुङिस्तिपि, मध्ये च्लौ, तस्य सिचि, इति गते 'लुङ्लृङ्ङुचवहुदाः' इति अष्टागमे 'अ हृवृ स् ति' इति जाते सिचः सकारस्य आर्धधातुकत्वे इटि प्राप्ते 'पृकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति नियुक्ते 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईडागमे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ कृतायाम् 'अहर्षात्' इति रूपम् । स्वरतीति । स्मृ शब्दोपतापयोरस्मादातोर्वर्तमाने लटि तिपि शपि शपः शित्वेन 'तिङ् शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च कृते 'स्वरति' इत्यस्य सिद्धिः । सस्वार-सस्वरतुः-सस्वरुः । सस्वरिषेति । स्मृधातोर्लिटि सिपि थलि धातोर्लिटि पूर्वोऽभ्यासे हलादिः शेषे इडागमे गुणे च कृते 'सस्वरिष' इत्यस्य सिद्धिः । अत्र 'ऋतो आरह्वाजस्य' इति

किट्के परे । ऋद्ध-—ऋदन्त' धातु तथा 'दन्' धातुसे पर 'स्य' को इट् हो । गुणो—'ऋ' धातु और संयोगादि 'ऋदन्त' को धातु उत्तको गुण हो 'यक्' के परे तथा यादि आर्धधातुक

प्राप्ते, कादिनियमाभित्यमिट् । सस्वरिष । सस्वरिम । परत्वाट्दनोरिति नित्यमिट् ।
 स्वरिष्यति । अस्वारीत्, अस्वार्थीत् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मरति । हृष्टु सवरणे
 हरति ॥ हृ गतो । कादिवाञ्छेत् । सवार । सवयं । ससृष । ससृम । रिक्
 श्यगित्कृत्तु ॥ ७.४।२८। से, यकि यादावाद्धंघातके ऋषि ष ऋणो रिट् । रीरि
 प्रकृते रिक् षि षघामर्थात् दीर्घ । घियात् । अघार्थीत् । अघरिष्यत् । शीघ्रगतौ
 तु 'पाञ्च'ति शिति बौरादेश । घायति ॥ गृष्टु सेचने । गरति । भरति । हृष्टु
 हृष्टने । परति ॥ छशिर् प्रेक्षणे । परयति । इक्ष् । अद्गुपधेभ्यो लिटः

विकल्पेनेडागमे प्राप्ते कादिनियमेन तस्य बाधे सति 'स्वरतिष्ठीति' इति वैभाषिक इडा-
 गमे सस्वरिय-सस्वर्यं इत्युपपत्त्यसिद्धिः । सस्वारथुः, सस्वर, सस्वार-अस्वर । सस्वरि-
 वेति । अत्र पूर्वदत्तासोद्धित्वादिकार्ये कृते 'स्वरति' इति विकल्पेडागम कादिनियमेन
 बाधित्वा नित्यमिटि सति प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः । तथैव 'सस्वरिम' अत्रापि नित्य-
 मिति धावाः । स्वरिता-स्वर्ता । स्वरिष्यति इति । अत्र 'स्वरतिष्ठीति' इति विकल्प
 बाधित्वा परत्वात् । 'अद्गुणे स्ये' इति स्ये परत नित्यमिटि वरुह्य भवति । स्वरतु-
 अस्वरत्-स्वरेत्-स्वर्थात्-अस्वार्थीत्-अस्वरिष्यत् । स्मृ चिन्तायाम् । स्मर-
 ति स्मरार स्मर्ता स्मरिष्यति स्मरतु-अस्मरत्-स्मरेत्-स्मर्थात्-अस्मार्थीत्-अस्मरि-
 ष्यत् । हृष्टु सवरणे-हरति । ह्रार । ह्रर्ता । हरिष्यति । हरतु । अहारत् । हरेत् ।
 ह्रर्थात् । अह्रार्थीत् । अहरिष्यत् । हृ गतो । शरति । ससार-सस्रतु, ससृ । यञि
 ससर्थ, अत्र कादिनियमाद्येदिति भावः । सस्रथुः । सस्र । ससार-ससर । सस्रथ ।
 सस्रम । सर्ता । सतिष्यति । सरतु । असरत् । सरेत् । रिक्श्रवगिति । से यकि पादा
 धार्धघातके ऋषि परतः आकारान्तरप रिडादेश इति तर्कः । घियादिति । सृघातोरा
 षीर्षिर्षि तिपि 'इत्थ' इति इकारलोपे 'यामुद्'परमै' इति यामुटि सलोपे 'रिक्
 श्यगित्कृत्तु' इति रिडादेशे घियादिति रूप भवति । अत्र रिडादेशविधानमात्रार्थात्
 दीर्घ इति भावः । असाथीत् । असरिष्यत् । शीघ्रगतौ वेति । हृ शीघ्रगतौ इति पाठे सति
 घृघातोर्लटि तिपि सपि 'यामाप्सा' इति घायादेशे घादिति इति रूपं भवतीत्यर्थः ।
 तेन सार्धघातके घायतु-अघायत्-घायेत् इति रूपाणि । गृष्टु सेचने । गरति-भर-
 ति । अगार-अभार । गर्ता-घर्ता । गरिष्यति भरिष्यति । गरतु भारतु । अगारत् अघ-
 रत् । गरेत्-भरेत् । घियात्-घियात् । अगर्थात्-अघार्थीत् । अगरिष्यत्-अघरिष्यत् ।
 हृष्टु-हृष्टने- परति । ह्रवार-ह्रर्ता-ह्ररिष्यति-ह्ररतु-अह्रारत्-ह्ररेत्-ह्रर्थात्-
 अह्रार्थीत्-अह्ररिष्यत् । परवतीति । छशिर् प्रेक्षणे 'इर इत्थञा बाधवा' इति

'रिक्' के परे 'रत्'-'र्य' को 'रिक्' का रेड हो, घकार की 'रत्' के परे तथा यकारादि
 कार्यात्क 'रिक्' के परे । अद्गुप-अद्गुप रत्तुकोसे रत् को 'रिक्' रत् गुगरी अदेशे

कित्त्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन । ददशतुः । ददशुः । विभाषा सृजिदशोः । ७।२।६५। अ.भ्यां पल इत् वा । सृजिदशोर्ल्यमकिति । ६।१।५८। अनयो-
 मागमः स्याज्जडादावकिति । ददष्ट-ददर्शिय । द्रष्टा । पढोः कः सि । ८।२।४१।
 पस्य वस्य च कः स्यात्सकारे परे । दद्वयति । दश्यात् । हरित्वादत् वा । ऋट्-
 शोऽङि गुणः । ७।४।१६। ऋवर्णान्तानां, दशोश्च गुणः स्यादङि । अदर्शत् । अद्-
 भावे । न दृशः । ३।१।४७। दशश्च्लेर्वक्ष्यमाणः कलो न । अद्राक्षोत् । अद्रचयत् ।

वार्तिकेभिर इत्संज्ञायां लोपे लटि तिपि ज्ञापि 'पात्रा' इति परयादेशे 'पश्यति' इति
 रूपम् । लिटि दृष्ट्वा । यलि तु क्रादिनियमाक्षिप्यमिति प्राप्ते वचनमाह—विभाषेति ।
 सृजिदशोः परतो यस्थल् तस्येडागमो वेत्यर्थः । सृजिदशोरिति । झलादावकिति परतः
 सृजिदशोर्धात्वोः अमागमो भवतीति तदर्थः । दद्वयेति । दशिर्धातोरिरित्संज्ञायां 'परोक्षे
 लिट्' इति लिटि सिपि । चलि द्वित्वे, ऊरद्वये 'विभाषा सृजिदशोः' इति इडागमाभावे
 'सृजिदशोर्ल्यमकिति' इत्यमागमे मित्वादन्याद्वचः परे यणि 'दृ + अश् + य' इति
 'दद्वश् + य' इति जाते ततो 'अक्षभ्रञ्ज' इति शः पत्वे 'पुना पुः' इति ष्टुत्वे च कृते
 'दद्वष्ट' इत्यस्य सिद्धिः । इडागमे सति तु 'दद्वष् + इ + य' इति 'पुगन्त' इति लघूप-
 धगुणे 'ददर्शिय' इत्यपि द्वितीयं रूपं साधु । अत्रे लिटि सत्रं सुकरम् । लुटि-द्रष्टा ।
 लुटि दक्ष्यतीति । इत् धातोर्लुटि तिपि 'स्यतासी, लुटोः' इति स्वविकरणे 'अक्षभ्रञ्ज'
 इति तालभ्यशकारस्य मूर्धन्यात्वे 'सृजिदशोर्ल्यमकिति' इत्यमागमे यणि 'पढोः कः
 सि' इति पस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति त्यस्य सकारस्य पत्वे कषयोर्योगे चत्वे च
 कृते द्रपयतीत्यस्य साधुत्वं सुस्पष्टम् । अत्रे पश्यतु-अपश्यत्-पश्येत्-इत्यादिति ।
 अत्र 'लिङ्गाशिपि' इति लिङ्गः किरवाद्मागमो नेति भावः । ऋट्शोर्ल्य गुण इति ।
 ऋधातोः इतिर् धातोश्च अङि परतः गुणः स्यात् इति सूत्रार्थः । अदर्शत् । इतिर्धा-
 तोरिरि इत्संज्ञायां लुटि तिपि 'इत्श्च' इति ह्रलोपे च्लौ 'हरितो घा' इति च्छेर्वैभा-
 पिकेऽङ्गादेशे द्वित्वेन गुणाप्राप्तौ 'ऋट्शोऽङि गुणः' इति गुणेऽङ्गस्याटि कृते 'अदर्शत्'
 इति सिद्धिं गच्छति । अङोऽभावे 'अटश्-च्ल-त्' इत्यवस्थायां 'शल्ल' इगुपधा'
 इति वसादेशे प्राप्ते 'न दृश' इति । इत् धातोः प्राप्ते यः वसादेशः स
 न भवतीति प्रकृतसूत्रार्थः । अतः वसादेशाभावे सति अक्षभ्रञ्ज इति शः
 पत्वे 'पढोः कः सि' इति पस्य कत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सत्य पत्वे सभयो-
 रयोगेन चत्वे 'वद्वञ्ज' इति वृद्धौ तिपः 'अस्तिसिचो' इति ईडागमे कृते-अद्वा-

या पूर्वविप्रतिषेधे से 'कित्त्वं' ही हो । विभाषा—'सृज्' तथा 'इश्' धातुसे पर 'पल्' को इत्
 हो, विकल्पसे । सृजि-सृज्' धातु और 'इश्' धातुको 'अम्' का आगम हो, झलादि किङ्किप्र
 प्रत्ययके परे । पढोः—वकार, टकारको ककार आदेश हो, सकारके-परे । ऋट्—ऋवर्णान्त
 धातु और दृश् धातुको गुण हो, 'अल्' के परे । न दृशः—इश् धातुसे पर 'लिङ्' के वक्ष्य

श्रु ध्रवणे । श्रुषः श्रु च । ३।१।७४। श्रुष 'श्रु' आदेशः श्रुप्रत्ययश्च, कर्तरि सार्वधातुके । श्रुणोति । सार्वधातुकमपित् । १।२।४। अविस्सार्वधातुकं विद्वरस्यात् । श्रुणुत । हुश्रुणुषोः सार्वधातुके । ६।४।८७। जुहोते, श्रुप्रत्ययान्तरस्यानेकाचोऽस्यसंयोगपूर्वार्णस्य यण् स्यादवि सार्वधातुके । श्रुष्वन्ति । श्रुणोषि । श्रुणुषा । श्रुणुष । श्रुणोमि । लोपश्चास्यान्यतरस्यां ङ्योः । ६।४।१०७। असंयोगपूर्वस्य प्रत्ययोच्चारस्य लोपो वा, ङ्यो परयो । श्रुष्व — श्रुणुष । श्रुण्म — श्रुणुम । शुधाव शुध्रव । शुश्रुव । शुश्रुम । श्रोता । श्रोष्यति । श्रुणोतु श्रुणुनात् । श्रुणुताम् । श्रुण्वन्तु । उतश्च प्रत्ययाद्संयोगपूर्वात् । ६।४।१०६। असंयोगपूर्वात्प्रत्ययोत्तो हेर्लुक् । श्रुणु श्रुणुनात् । श्रुणुन्म् । श्रुणुत । गुणावादेशो । श्रुणवानि । श्रुणवाव । श्रुणवाम । अश्रुणोत् । अश्रुणुताम् । अश्रुण्वन् । अश्रुणो । अश्रुणुन्म् ।

चीत्' इत्यस्य सिद्धिः । अत्रे अद्गद्यदियादि । लोपश्चेति । 'उतश्च प्रत्ययाद्संयोगपूर्वात्' इति पूर्वसूत्रोक्त उकार अस्थायिनेन पठ्यमृश्यते । प्रत्ययशाब्द' प्रत्ययसम्बन्धिनि वर्तते । असंयोगपूर्वात् प्रत्ययादिति च उकारेऽन्वेति । स च अङ्गस्य विशेषणम् । तदन्तविधिरुदाह—असंयोगेति । श्रुष्व, श्रुणुष । शुधातोर्लटो घञि, 'ध्रुवः श्रु च' इति श्रुष' श्रु आदेशो दाबविषये श्रुप्रत्यये च कृते दाकारस्येत्प्रज्ञायां लोपे च शिवात्मावंधातुकारवे 'सार्वधातुकमपित्' इति रनोच्चिन्वे 'विडति च' इति गुणामये णाये च कृते 'श्रु णु घञ्' इति जाते 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां ङ्यो' इति वा उकारलोपे, रुये विसर्गे च 'श्रुष्व' इति रूपम् । लोपामावपत्ते 'श्रुणुष' इति । एवमेव मसि लेशम् । शुश्रःव । शुधातोर्लिट् रितपि, तिपो णञि, 'लिटि धातोर्नम्यामस्य' इति द्वित्वे, 'पूर्वाङ्ग्यास' इति अम्यासात्वे 'दलादि षोष' इति धादिहृल्लोपे 'सार्वधातुकाधंधातुकारयो' इति गुणे 'पचोऽयवायाव' इत्यथादेशे 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'शुधाव' इति रूपम् । श्रुणवानि । शुधातोर्लिट् उक्तमनुद्वैकवचने म्रिपि 'मेनि' इति मेः स्थाने नि आदेशो जाते 'ध्रुष श्रु च' इति श्रुणामये श्रु आदेशो च कृते अनुबन्धलोपे 'श्रु णु नि' इति भूते अत्र 'श्रुषर्गाच्चस्य णात्वात्' इति णात्वे 'आहुत्तमस्य विष' इति ने. आडागमे टिवादाद्यावदवे 'सार्वधातुकार्थे' इति गुणे अथादेशो 'श्रुणवानि'

माण 'स्य' आदेश नही हो । श्रुष — 'ध्रु' व श्रुको 'श्रु' आदेश हो तथा तत्सन्निधौ 'श्रु' प्रत्यय भी हो, कर्पदक सार्वधातुकके परे । सार्व — 'अपित्' सार्वधातुक चिद्व हो ।

हुश्रुणु—'हु' व श्रु तथा श्रुप्रत्ययान्तर भी अनेकाच 'अङ्ग' तद्भवव को असंयोगपूर्वक वचन, उतश्चो 'वन्' हो, अथादि सार्वधातुकके परे ।

लोपश्चा—असंयोगपूर्वक प्रत्ययके उकारका लोप हो, मकार कीट वकारके परे विकल्पते । उतश्च—असंयोगपूर्वक प्रत्ययसम्बन्धी उकारके पर, 'ई' का लुक् हो ।

अशृणुत् । अशृण्वम् । अशृण्व-अशृणुव । अशृण्व-अशृणुव । शृणुयात् । शृणु-
याताम् । उरुपदान्तात् । ६।१।६९। अयदान्तादवर्णादुसि पररूपमेकादेशः स्यात् ।
शृणुयुः । शृणुयाः । शृणुयातम् । शृणुयात । शृणुयाम् । शृणुयाव । शृणुयाम ।
शृयान् । अश्रीणीत् । अश्रोष्यत् । गम्त् सृप्तु गतौ । इषुगमियमां छः । ७।३।७७।
शिति । गच्छति । जगाम । गमहनजनखनघसां लोपः किञ्चित्यनङि । ६।४।९८।

इति । अशृण्व, अशृणुव । श्रुधातोर्लङो वसि, 'श्रुवः श्रु च' इति आदेशे श्रुप्रत्यये च कृते,
शालोपे अटि णत्वे 'नित्यं डितः' इति सलोपे 'अ शृणु व' इति जाते 'लोपश्चास्यान्य-
तरस्यां स्वीः' इत्युकारलोपे 'अशृण्व' इति, उकारलोपाभावे 'अशृणुव' इति योध्यम् ।
एवं मसि-अशृण्व, अशृणुव इति । शृणुयात् । श्रुधातोर्लिङ्गस्तिपि, 'श्रुवः श्रु च' इति
श्राद्धंशे श्रुप्रत्यये च कृते शालोपे णत्वे 'यासुट्परस्मैपदेपूदात्तो ङिच्च' इति यासुटि,
उटि गते 'लिङः सलोपोऽन्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे च
कृते 'शृणुयात्' इति रूपम् । उरुपदान्तात् । 'एकः पूर्वपरयोः' इत्यधिकृतम् ।
'आद्गुणः' इत्यस्मादादिभ्यनुवर्तते । 'एङि पररूपम्' इत्यस्मात्पररूपमिति ।
तदाह—अशान्तादिति । वसीति । उसि यः अघ उकारः तस्मिन् परत इत्यर्थः ।
शृयात् । श्रुधातोराशिपि लिङि, लिङ्गस्तिपि, यासुटि, उटि गते 'इतश्च'
इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाघोरन्ते च' इति सलोपे 'अकृतसार्वधातुक-
योर्दीर्घः' इति दीर्घे 'शृयात्' इति रूपम् । अश्रीणीत् । श्रुधातोः 'लुङ्' इति
लुङि, 'तिसस्त्रिं' इत्यादिना लुङ्गस्तिपि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ, 'च्लेः
सिच्' इति सिचि, इचि गते, अडागमे 'अथुसति' इति जाते 'इतश्च' इति
तिप इकारलोपे, अपृक्तसंज्ञायाम् 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि, सिचः सकारस्य आ-
धंधातुकत्वादिति प्राप्ते 'एकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्' इत्यनेन इटो निषेधे 'सिचि वृद्धिः
परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'आदेशप्रत्यययोः' इति णत्वे 'अश्रीणीत्' इति रूपम् ।
गच्छति । गम् धातोर्लटि तिपि, पकारस्यैरसंज्ञायां लोपे च 'तिङ्शिस्तावंधातुकम्'
इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्त्तरि ञाप' इति ञापि, शकारस्य पकारस्य चैरसंज्ञायां
लोपे च शिस्तास्तावंधातुकत्वे 'गम् अ ति' इति स्थिते, 'इषुगमियमां छः' इति सर्वस्य
गमः ह्यादेशे प्राप्ते 'अलोऽन्यस्य' इति अन्यस्य मकारस्य स्थाने जाते 'गच्छति' इति
भूते 'छे च' इति तुगागमे, किरवादनयावयवे जाते उकि गते, 'स्तोः श्चुना श्चुः'
इति श्चुत्वे 'गच्छति' इति रूपम् । जगाम । गच्छधातोः लिटि तिपि, 'परस्मैपदानां

उरुपदान्त अवर्णं से परे 'उस्' के परे पूर्व-परके स्थानमें पररूप एक आदेश हो ।
इषु - इष्, गम् और यम् धातुओंकी छकारान्त आदेश हो, शिचप्रत्ययके परे ।

गमहनजनखन-गमादि धातुओंकी उपधाका लोप हो, अनादि किट्-ङिट् प्रत्ययके

एवामुपधाया लोपः स्याद्जादौ विवृति, न स्थिति । जगन्तु । जगमु । जगमिष
जगन्त्य । जगमधुः । जगम । जगाम-जगम । जगिमिष । जगिमम । गन्ता । गमेरिट्
परस्मैपदेषु । ७।२।५। गमे परस्य सादेराद्धधातुकार्येष्ट परस्मैपदेषु । गमिष्यति ।
गच्छतु । गगच्छतु । गच्छेत् । गम्यात् । पुषादिघृताद्यलुङितः परस्मैपदेषु
। ३।१।५। इयन्विकरणपुषादेशुतादेशुदितथ परस्य च्लोषः, परस्मैपदेषु । अगमत ।
अगमिष्यत् । सर्पति । अजुदात्तस्य चर्दुपधम्यान्वतरस्याम् । ६।१।५।
उपदेशेऽजुदात्तो य ऋदुपधस्वरस्याम्वा, क्षलादावकिति । यसा-यसा । यस्यति-

णलतुसुष्यल' इत्यादिना तिप स्थाने णलादेशे, 'घुट्' इति णकारस्येत्सज्ञायां 'हल
न्यम्' इति लकारस्य चेतसज्ञायां 'तस्य लोप' इति उभयोर्लोपे 'गम् अ' इति जाते
'लिट् च' इत्यार्धधातुकस्ये 'लिटि धातोर्नम्मासस्य' इति द्विवे अम्वासावे
हलादिदेशे 'ग गम् अ' इति भूते 'कुद्धोश्च' इति गकारस्य जस्ये 'अत उपधायाः'
इति पृथ्वी 'जगाम' इति रूपम् । गन्ता । गम्धातोर्लुङितपि, 'स्पृतासी लृजुतो'
इति सामि, 'आर्धधातुक लोप' इत्यार्धधातुकस्ये 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादे' इति
इवागमे प्राप्ते 'एकाच्च उपदेशेऽजुदात्तात्' इति निषिद्धे 'लुट् प्रथमस्य ङारोस'
इति तिपो ङावे इत्येत्सज्ञायां लोपे च, द्विवसामर्प्याद्भभस्यापि टेलोपे 'गम् ता'
इति जाते 'नभापदान्तस्य ङलिटि' इति मस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्ग'
इति परसवर्गे च कृते 'गन्ता' इति रूपम् । गच्छतु । गम्धातोर्लुङितपि, ङापि,
अनुबन्धलोपे 'इपुगमियमां ङ' इति छादेने 'द्वे च' इति तुगागमे उक्ति गते 'स्तोः
रघुना रघु' इति रघुस्ये 'पर' इति तिप हकारस्योस्ये 'गच्छतु' इति रूपम् ।
गच्छेत् । गम्धातोर्लुङितपि सापि अनुबन्धलोपे 'इपुगमियमां ङ' इति छादेने 'द्वे
च' इति कृत्, उक्ति गते, रघुस्ये, 'यासुट् परस्मैपदेषुदात्तो ङिच' इति चासुटि, उटि
गते 'अतो घेयः' इति धास इयादेने 'गच्छ इय ति' इति जाते 'लोपो ष्यो' इति
यलोपे 'इत्श्च' इति तिप हकारलोपे 'आद्गुण' इति गुणे 'गच्छेत्' इति रूपम् ।
सर्पति । सृणु गतो इत्यस्मादात्तोर्लुङितपि ङापि 'पुगन्त' इति लृपधगुणे कृते
'सर्पति' इत्यस्य सिद्धिः । ससर्प । अनुशास्येति । अत्र 'घञिदशोर्लुङितपि इत्यत
अम् इति अकृति इति चानुवर्तते 'उपदेशेऽजु' इत्यत उपदेश इति चानुवर्तते
अत आह—उपदेश इति । सस्येति । सृपधातोर्नुदात्तात् लुटि तिपि 'स्पृतासी
लृजुतो' इति सामि 'लुट् प्रथमस्य' इति ङादेने द्विवसामर्प्याद्भभस्यापि टेलोपे

परे । किन्तु 'अङ्' के परे नहीं हो । गमे—'गम्' वाट्टमे पर सादि आर्धधातुकको
इच्छा आगम हो, परस्मैपदके परे । पुषा—इयन्विकरण पुषादि, पुषादि तथा लुङि
वाट्टको परे 'लुङ' को 'अङ्' आदेश हो, परस्मैपदके परे । अजुदात्त—उपदेशावस्ये भी

सप्स्यति । सस्यत् । सिद्धिदा अव्यक्ते शब्दे । चवेदति ॥ यभ मैथुने । यभति । वेट् । येमिथ । छषस्तथोर्धो धः । ८।२।४०। सप्तः परमोस्तथोर्धः स्यान्न तु दधातेः । ययव्ध । यवधा । णम प्रहृत्वे, शब्दे च । नेमिथ—ननन्थ । नन्ता । नन्थति । अनंसीत् । अनंसिष्टाम् ॥ त्यज दानौ । त्यजति । तत्याज । तस्य-जिथ—तत्यक्षय । त्यक्ता । अत्याक्षीत् । अत्याकाम् । अत्यचयत् । अक्षु व्याप्तौ । अक्षोऽन्यतरस्याम् । ३।१।७५। श्नुः स्याद्वा कर्तरि सार्वधातुके । पक्षे शप् । अक्ष्णोति । अक्षति । आनक्ष । आनक्षतुः । आनक्षुः । आनक्षिय-आनष्ट ।

‘अनुदात्तस्य’ इति वैभाषिकेऽमागमे यणि ‘सर्सा’ इति रूपं सिध्यति । यदाऽमा-गमो न स्यात्तदा ‘पुगन्त’ इति लघूपधगुणे सति सर्सा इति द्वैतीयिकं रूपं सिध्यति । अग्रे स्रप्स्यति-सप्स्यति । सर्पत्तु । असर्पत् । सर्पत् । स्रप्यात् । अस्रपदिति । स्रपधातो-र्लुङितिपि ‘इत्श्च’ इति इलोपे प्लौ ‘पुपादिद्युतादि’ इति लृदिवावृद्धिर्लित्त्वेन गुणा-भावेऽङ्गस्याढागमे कृते ‘अस्रपत्’ इत्यस्य सिद्धिः फलम् । अग्रे अस्रप्स्यत्-असप्स्यत् । चवेदतीति । सिद्धिदा = अव्यक्ते शब्दे । अस्माद्वातोर्लुङितिपि प्रापि ‘पुगन्त’ इति गुणे चवेदति इति सिद्धिसृष्ट्यति । चिचवेद्य-चवेदिता-चवेदिष्यति-चवेदतु-अचवेदत्-चवे-दत्-चिचधात्-अचिचदत्-अचवेरस्यत् । यमशीति । यभ-मैथुनेऽस्माद्वातोः लुटितिपि प्रापि रूपमेतत् । अग्रे ययव्ध-यवधा-यप्स्यति-यभतु-अयभत्-यभेत्-यभ्यात्-अया-प्सीत्-अयप्स्यत् । णम-प्रहृत्वे शब्दे च । नमति । ननाम-नेमतुः-नेमुः । नेमिथेति । णमधातोः ‘णो नः’ इति नत्वे लिटितिपि थलि द्वित्वे भारद्वाजमते नेटि पूर्वोऽभ्यास-लोपे सति एकं रूपम् । यदेढागमो न तदा पूर्वोऽभ्यासलोपावपि न थल इहभावात् । ‘ननम् + थ’ इत्यवस्थार्या मस्यानुस्वारे परसवर्णे च कृते ‘ननन्थ’ इति रूपं द्वैतीयिकम् । अग्रे नन्ता-नन्थति-नमेतु-अनमत्-नमेत्-नम्यात्-अनंसीत्-अनंस्यत् । त्यज-हानौ-त्यजति-तत्याज-त्यक्ता-त्यचयति-त्यजतु-अत्यजत्-त्यजेत्-त्यज्यात्-अत्या-क्षीत्-अत्यचयत् । अक्षोऽन्यतरस्यामिति । श्नुरिति अनुपज्यते । तथा च अक्षुपाप्तौः श्नुर्वा-स्याच्छ्रुविषये इति तदर्थः । अक्ष्णोतीति । अक्ष-व्याप्तौ अस्माद्वातोर्लुङितिपि प्रापि ‘अक्षोऽन्यतरस्याम्’ इति शपं वाधित्वा पूर्वं शनौ त्रिपः सार्वधातुकत्वेन गुणे णत्वे अचगोति इति सिद्ध्यति । शपि तु अक्षति इत्येव साधु । आनक्षेति । लिटितिपि णलि द्वित्वे ‘अत आदेः’ इत्यभ्यासस्य दीर्घः ‘तस्मान्नुद्धिहलः’ इति नुटि द्विवादाभावयवे ‘आनक्ष् अ’ इति जाते परेण संयोगे रूपसिद्धिः । आनक्षतुः । ‘आनक्षुः—भारद्वाजमते नेटि सति आनक्षिय, तद्भावे च आनक्ष् + थ इति स्थितौ संयो-

अनुदात्त शुद्धपध धातु, उसको ‘अम्’ का आगम हो, शकृदि ष्फितिके परे । छषः—‘स्रप्’ से परे ‘त’ ‘थ’ को ‘ध’ हो—‘दधाति’ को छोड़कर । अक्षो—‘अक्षु’ धातुसे ‘श्नु’ प्रत्यय-हो,

आक्षेपा-अष्टा । अक्षिप्यति । 'क्षो'रिति क्षोपा । पढोः क. सि । ८।२४१ ।
 अक्षति । अक्षगोतु । अक्षण्डि । अक्षण्वानि । आक्षणेत् । आक्षण्वम्-अक्षण्व-
 यात् । अक्षण्वताम् । अक्षण्वु । अक्षयात् । आक्षीत् । आक्षिष्टाम् । आष्टाम् ।
 आक्षिपु । तक्ष् त्वक्ष् तनूकरणे । तनूकरणे तक्षः । ३।१।७६ । अनुर्वा ग
 विरगये । अक्षणेति, तक्षति वा काष्ठम् । ततक्ष । ततक्षिय ततष्ठ । अनक्षत् ।
 अतक्षिष्टाम् । अताक्षीत् । अताष्टाम् । तनूकरणे किम् ? वाग्भि. सतक्षति ।
 भार्गवतीश्वर्य ॥ रक्ष पात्रने । रक्षति ॥ गिश्च चुम्बने । प्रविशति ॥ यक्ष
 रोये । सपाने इत्येके । यक्षति । मृक्ष रुघाते । मक्ष इत्येके ॥ तक्ष खचने ।
 खचन-खवरणम्, खचो प्रहण च । पक्ष परिमदे इत्येके ॥ सूक्ष्ण आदरे ।
 सूक्ष्णति । सुसूक्ष्ण ॥ काक्षि वाक्षि माक्षि काक्षायाम् । द्राक्षि ध्राक्षि
 व्याक्षि घोरवासिते च । चूप पाने । तूप तुष्टौ । पूष वृद्धौ । मूप स्तेये । लूप

शान्तलोपे ष्टुरये च कृते आनष्ठ इत्यस्य सिद्धि । आनक्षु-आनक्ष-आनक्ष-आनक्षि-
 च आनक्षिम । अक्षिनेति । अक्षुषातोर्लुटि तिपि ङादेशे तासि द्विवाट्टिलोपे 'स्वरतिसृति'
 इति षडित्वाद्यैमापिके इत्यागमे सति 'अक्षिता' इति रूपम् । तदभावे च सयोगात्
 लोपे कुत्वे 'अष्टा' इति द्वितीय रूप सिध्यति । अग्रे अक्षिप्यति-अक्षयति । अक्षगोतु-
 अक्षतु । आक्षणेत्-आक्षत् । अक्षण्वयात्-अक्षेत्-अक्षयात्-आक्षीत् । आक्षिष्यत्-आक्षयत् ।
 तनूकरणे लृप् इति । तनूकरणार्थे अक्षण्वयात्तुस्त्वमात् अनुर्वा इत्यादिपर्यं । तदण्वोतीति ।
 सक्षणातोर्लुटि तिपि 'तनूकरणे तक्ष' इति विकल्पेन अनुप्रत्यये 'तक्ष्-नु-ति' इति स्थिते
 गुणे च कृते णादेशे 'तक्षणेति' इत्यस्य सिद्धि । शनोरभावे अपि तक्षति इति रूपम् । तनक्ष ।
 तष्टा-तक्षिता । तक्षिप्यति-तक्षयति । तक्षगोतु-तक्षतु । अतक्षणेत्-अतक्षत् । तक्षययात्
 तक्षेत् । तक्षयात् । अतक्षीत्-अताक्षीत् । वाग्भि सतक्षति । अत्र तनूकरणार्थाभावेन न
 तक्षणातो. अनुप्रत्यय । रक्ष-पालने रक्षति-रक्ष-रक्षिता-रक्षिपति । रक्षतु । अरक्षत् ।
 रक्षेत् । रक्षयात् । अरक्षीत् । अरक्षिष्यत् । प्रविशति । गिश्च=चुम्बनेऽस्मात्कालोर्लुटि तिपि
 क्षपि 'प्र-निक्षति' इति आदेशे 'अपसर्गादसमासेऽपि' इति णादेशे 'प्रविशति' इति रूप
 भवति । अग्रे सुकरम् । वक्ष=रोये, वक्षति । मृक्ष-सपाने, मृक्षति । मक्ष=इत्येके ।
 मक्षति । सक्ष=खचने-तक्षति । पक्ष=परिमदे-पक्षति । सूक्ष्ण=आदरे-सूक्ष्णति ।
 सुसूक्ष्ण इत्यादि । काक्षि-वाक्षि-माक्षि=काक्षायाम् काक्षति-वाक्षति-माक्षति ।
 द्राक्षि-ध्राक्षि-व्याक्षि-घोरवासिते काक्षायां घोरयर्थं । द्राक्षति-ध्राक्षति-व्याक्षति ।
 चूप=पाने-चूपति । तूप=तुष्टौ तूपति । पूष=वृद्धौ-पूषति । मूप=स्तेये-मूपति ।

कर्त्रर्थक सार्वत्रिके पर विहारात् । यशो- - बकार-टकारको ककार हो, सकारके परे ।
 तन्- ' उ' बद्धमे तनूकरणे (तूप) अर्थ में 'तु' प्रावर हो, 'अप्' के निरवयवे विहारात् ।

रूप भूषायाम् । शूप प्रसवे । यूष हिंसायाम् । जूप च ॥ भूप अलङ्कारे । जि
जये । जयति । सन्लिटोर्जेः । ७।३।५। सन्लिङ्गितमिच्छाभ्यासात्परस्य जेः कु-
त्वम् । जिगाय । जिगयतुः । जिगयिष—जिगय । जीव प्राणधारणे । जीवति ।
पीव मीव तीव णीव स्थौल्ये । पीवति । पिपीव ॥ मुर्वी यन्वने । उपधायाम्
च । ८।२।७। घातोत्पथामूनशो रेफवकारयोर्हल्परयोः परत इको दीर्घः स्यात् ।
मूर्वति ॥ पूर्व पर्व मर्व पूरणे । पूर्वति । पर्वति । मर्वति । चर्व अदने । चर्वति ।
कप जष शिप जय क्षप शप वष मष रूप रिप हिंसार्थाः । शेषति । शिशे-
प । शेष । शल इगुपधात्निटः कसः । ३।१।४। इगुपधो यः शलन्तस्त-
स्मादनिटश्च्लेः कसादेशः । अशिक्षत् । तीपसहलुभरुपरिपः । ७।२।४। इच्छ-

लुङ्-रूप = भूषायाम् । रूपति-लूपति । शूप = प्रसवे-शूपति । यूष = हिंसायाम्
यूपति । जूप = हिंसायामेवेत्यर्थः । जूपति । भूप = अलङ्कारे भूपति । जि = जये-
जयति । 'सन्लिटोर्जेः' । अभ्यासादिति अनुवर्तते । जिगायेति । जिघातोर्लिटि तिपि
णलि 'लिटि घातोः' इति द्विवे पूर्वस्याभ्यासत्वे जिजि + अ' इति नाते 'अचोष्णिति'
इति वृद्धौ आयादेशे 'जिजाय' इति जाते 'सन्लिटोर्जेः' इत्यभ्यासात्परस्य जकारस्य
कुत्वेन गावे च कृते 'जिगाय' इत्यस्य सिद्धिः । जिगयतुः-जिगयुः । जिगयिष-जिगयथुः-
जिगय-जिगय-जिगय । जिगियव, जिगियम । जेता, जेष्यति । जयतु-अजयत् । जयेत्,
जीघात, अजेधीत् । अजेभ्यत् । जीव = प्राणधारणे । जीवति । जिजीव । जीविता ।
जीविष्यति । जीवतु-अजीवत्-जीवेत्-जीव्यात्-अजीवीत्-अजीविष्यत् । पीव-मीव-
तीव-णीव = स्थौल्ये—पीवति । मीवति । तीवति । नीवति । पिपीव । मिमीव ।
तितीव । निनीवेत्यादि । उपधायाम् चिति । घातोरित्यधिकाराद्धातोरिति । लभ्यते । हल्
परयोरेफवकारयोरित्यनुपज्यते । इक् इत्यनुवर्तते दीर्घ इति च । मूर्वति इति । मुर्व-
धातोः लटि तिपि शपि 'उपधायाम् च' इति उकारस्य दीर्घं कृते 'मूर्वति' इत्यस्य
सिद्धिः । मुपूर्व-पपूर्व-
ममर्वत्यादि । चर्व = अदने-चर्वति-चर्वत्येत्यादि । कप्-क्षप्-शिप्-जप्-झप्-शप्-
वप्-मप्-रुप्-रिप्-हिंसार्थाः । कपति-क्षपति-शेषति-जपति-झपति-शपति-वपति-
मपति-रुपति-रिपति इत्यादि । शिशेप-शेषा-शेषपति-शेषतु-अशेषत्-शेषेत्-शिष्या-
त् । शल इगुपधेति । च्लिरित्यनुवर्तते शल इति पञ्चमी । च्लेरिति विभक्तिविपरिणामे-
नान्वयः । अशिक्षदिति । शिव् घातोर्लिङि तिपि 'इत्श्च' इति इलोपे च्लौ 'शल

सन्लिङ्—'सन्' और 'लिट्' निमित्तक अभ्याससे पर 'जि' धातु को कुत्र हो । उप-
धातुका उपधाभूतहल्परक 'रेफ' और 'वकार' के परे 'इक्' को दीर्घ हो । शल—इगुपध
शलन्त धातुसे पर अनिट् 'च्लि' को 'कस' आदेश हो । तीप—इषादिसे पर तादि आर्ष-

त्यादे परस्य तादेराद्धधातुकरस्येद्धा । रोपिता-रोशा । रेपिता-रेशा । भप
भरर्षने । इह भरर्षन-ध्रवः । पुप पुष्टी । पोपिता । अनुदात्तेषु 'पुप्पे'ति
इयना निर्देशादयमुदात्त । अङ्विधौ देवादिहस्य प्रक्षणात्नाह । अपोपित् ।
ध्रुपु शिखपु म्रुपु प्लुपु दाहे । अयति । श्लेषति । प्रोपति । प्फोपति ।

इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अथात्मनेपदम् ।

एध वृद्धौ । द्वित् आत्मनेपदानां टेरे । ३।५।७२। द्वितो ज्ञस्यात्मनेपदानां
टेरेणम् । एधते । आतो क्तिन् । ७।२।८१। अत परस्य क्तितामान इय् इयात् ।
एधेते । एधन्ते । यासः से । ३।५।८०। द्वितो लस्य यासः से इयात् । एधसे ।

इगुपधाद्' इति वसादेशे कलोपे 'पञो क. सि' इति पूर्वपकारस्य कस्ये 'आदेशप्रत्य-
ययोः' इति सकारस्य कस्ये उभयपदोर्ध्वेन क्त्वात् अङ्गस्याङागमे सति अक्षिपत् इति
सिद्धम् । अग्रे अक्षेपयत् । वीचतश्चेति । वीति सप्तमी ए इपरस्याङाधयात्वेन तद्वाविवि-
धिरन एव आह—तादेरिति । इहधेति अनुपज्यते । रोपितेति । इय=हिंसायामरमाह ।
सोर्लुटि तिपि तासि ङादेशे टिलोपे 'तीचसह' इति इहविकल्पेनेति 'पुगन्त'इति गुणे
'रोपिता' इति रूपम् । इहभाये तु प्लुत्वे कृते 'रोशा' इत्यपि माधु । मय=मार्त्सने । अ-
पति । पुप=पुष्टी-पोपति । पुपोपोयादि । श्रिपु शिखपु म्रुपु प्लुपु-दाहे । धेपति । श्लेष-
ति । प्रोपति । प्रोपति । शिमेय शिरलेय पुमोच-गुणोपोयादिक्रमम् । इति परस्मैपदिन ।

एध वृद्धाविति । जायते, अस्ति, विपरिणामते, वर्धते, क्षयणीयते, विनश्यतीति
पदभावविकाराः । तत्र चतुर्धावस्यावृद्धिः-उपपद्यः । एधते । एधघातो अकारउच्चार-
णार्थे, तरिमन् गते 'वर्तमाने छट्' इति छटि, टकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीसंज्ञायां
लोपे ककारोत्तरवर्तिनः अकारस्य 'उपदेशेऽजमुनासिक इत्' इतीसंज्ञायां 'तरय लोप'
इति लोपे 'एध् छ्' इति भूते अत्र 'तिप् तसु सि०' इत्यादिना सर्वे आवेशाः प्राप्ताः ।
तत्र 'अनुदात्तकृत् आत्मनेपदम्' इति एधघातोरनुदात्तात्वाद् 'तदनावात्मनेपदम्'
इति स आतो ङ इत्येतेषामात्मनेपदमङ्गात्वात्तेषां प्राप्तिर्जाता । तत्र प्रथमपुरुषकृत्वचन
विषयायां तद्वृत्ते 'तिङ्शित्सावधानुक्रम' इति सावधानुक्रमात् 'कर्तरि शप्' इति शपि,
शपयोः शित्तज्ञायां लोपे च 'एध् अ स' इति जाते 'अचोऽन्यादिति' इति सकारोत्तरवर्तिन
अकारस्य टिपज्ञायां 'द्वित् आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसञ्जकरस्ये 'एधते' इति रूपम् ।

वागुक् को 'इत्' का आगम हो, विकरते ।

द्वित् आत्मनेपदानां टेरे—'द्वित्' ककार सम्बन्धी आत्मनेपदके 'टि' को वाह हो । आतो-
'अय्' से वत् 'क्तिन्' सम्बन्धी अकारको 'इय' आदेश हो । यासः—द्वि ककारसम्बन्धी

एधेधे । एधध्वे । एधे । एधावहे । एधामहे । इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः । ३ ।
 १।३६। इजादिर्यो धातुर्गुणानृच्छत्यन्यस्तत आम् लिटि । आम्प्रत्ययवत् कृञो-
 ऽनुप्रयोगस्य । १।३।६३। आम्प्रकृत्या तुल्यमनुप्रयुज्यमानात्कृञोऽप्यात्मनेपदं
 स्यात् । लिटस्तद्भयोरेशिरेच् । ३।४।८१। लिट्वादेशयोस्तद्भयोरेश् इरेच् एता
 स्तः । एकारोच्चारणं ज्ञापकं—‘तद्वादेशानां टेरेश्वं ने’ति । तेन दारौरसां न ।
 एधाश्चक्रे । एधाश्चक्रते । एधाश्चक्रिरे । एधाश्चक्रुपे । एधाश्चक्राधे । इणः पीध्वं-
 लुङ्लिट्वां धोऽङ्गात् । ८।३।७८। इणन्तादङ्गात्परेषां पीध्वंलुङ्लिट्वां धस्य ङः ।
 एधाश्चकृढ्वे । एधाश्चक्रे । एधाश्चकृवहे । एधाश्चकृमहे । एधाम्बभूव । एधामास ।

आम्प्रत्ययवदिति तृतीयान्ताद्धतिः । अनुप्रयुज्यत इत्यनुप्रयोगः । कर्मणि
 घञ् । पञ्चम्यर्थे पष्ठी । तदाह—आम्प्रकृत्येत्यादिना । एधाश्चक्रे । एध् धातोः
 ‘परोक्षे लिट्’ इति लिटि, ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः’ इत्यामि, ‘आमः’ इति
 लिटो लोपे, ‘कृञानुप्रयुज्यते लिटि’ इति लिट्परके कृञनुप्रयोगे ‘एध् आम् कृ लिट्’
 इति जाते, लिटः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां तादेशे ‘लिट् च’ इत्यार्धधातु-
 कत्वे ‘लिटस्तद्भयोरेशिरेच्’ इति तकारस्य स्थाने एशादेशो कृते शलोपे च जाते ‘एध्-
 आम् कृ ए’ इति स्थिते अत्र ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे प्राप्ते तं परत्वाद्
 याधित्वा ‘इको यणचि’ इति प्राप्ते तस्य ‘द्विर्वचनेऽच्’ इत्यनेन निषेधे कृते पुनः
 प्रसङ्गविज्ञानात् ‘लिटि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘एध् आम् कृ कृ ए’ इति जाते
 ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्यभ्यासत्वे ‘उरत्’ इति अभ्यासश्रवणस्य अकारे जाते ‘उरण्
 रपरः’ इति रपरे ‘एध् आम् कर् कृ ए’ इति भूते ‘हलादिः शेषः’ इति कअवशिष्टे
 ‘कुहोरश्चुः’ इति कस्य चात्वे जाते ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे प्राप्ते, परम्
 ‘असंयोगाल्लिट्कित्’ इति लिटः कित्त्वात् ‘गिक्ङ्ति च’ इति निषेधे जाते, ‘इको यण-
 चि’ इति यणि, सर्वस्मिन् संयुक्ते कृते एधाम् इत्येवद्गतस्य मस्य ‘भोऽनुस्वारः’ इत्य-
 नुस्वारे ‘अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः’ इति नित्ये परसवर्णे प्राप्ते ‘वा पदान्तस्य’ इति
 वा परसवर्णे ‘एधाश्चक्रे’ इति रूपम् । एधाश्चकृढ्वे । एध्धातोः ‘परोक्षे लिट्’ इति लिटि
 ‘इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः’ इत्यामि ‘आमः’ इति लिटो लुकि, ‘कृञानुप्रयुज्यते लिटि’

‘यास्’ के स्थानमें ‘से’ आदेश हो ।

इजा—ऋच्छ धातुसे मित्र इजादि और गुरुमान् जो धातु वससे ‘भान्’ प्रत्यय हो,
 ‘लिट्’ के परे ।

आम्प्र—आम्प्रकृतिके तुल्य अनुप्रयुज्यमान ‘कृञ्’ धातु से भी आत्मनेपद हो ।

लिटस्तद्भयोरेशिरेच्—लिट्वादेश ‘त’ और ‘श्’ के स्थानमें (यथाक्रमसे)
 ‘एश्’ और ‘इरेच्’ आदेश हो । इणः—इणन्त अङ्गसे पर पीध्वं और लुङ्, लिट्-सम्बन्धी

अनुप्रयोगसामर्थ्यादस्तेभ्यमावो न, अन्यथा हि 'वृषानुप्रयुज्यते' इति, 'कृष्विति' वा ज्ञ्यात् । एषिता । एषितारौ । एषितारः । एषितासे । एषितासाये । षि च टा२।२५। घादौ प्रथमे लोपो भ्यात् । एषिताष्वे । इ एति । ७।४।५२। नाम स्यो अस्य ह स्यादिति परे । एषिताद्दे । एषितास्वदे । एषितारमदे । एषिष्यते ।

इति लिट्परके इति अनुप्रयुक्ते, लिटो लस्य स्थाने मध्यमपुरयमद्बुवचने ष्वमि आदेशो जाते, 'एष आम् ष्वम्' इति मूने 'लिटि घातोरनग्यासस्य' इति कृशो द्विजे भग्या सत्वे 'उरम्' इति ण ष्ववर्णस्याकारे जाते 'उरण् रपर' इति रपरे कर् इति जाते 'हलादि शेष' इति कमाश्रयसिद्धे 'कुहोश्चु' इति कस्य शये 'इण वीथ्व लुङ् लिटौ घोऽङ्गात्' इति घस्य हावे मर्यादनुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'दिन आम्नेपदानां टेर' इति भ्रमोऽभ्रमदिसप्तकस्यैवं 'एषाञ्चकृत्यं' इति रूपम् । एषान्भूत् एष-धातोः लिटि, 'हजादेश्च गुल्मतोऽनुस्व' इत्यामि, 'आम्' इति लिटौ लुकि 'वृषानु-प्रयुज्यते लिटि' इत्यत्र कृम प्रागाहारः । तेन कृ मू अम्' इत्यस्य टाम् । अत्र लिट्-परके मूधातौ अनुप्रयुक्तं सति 'एषाम् भू लिट्' इति जाते लिट् इटि गते, ए स्थाने च मूधातौ परस्मैपदात्वात् मध्यमपुरयमद्बुवचने 'तिबादेशे, तिष्' स्थाने 'परस्मैपदानां षड्भुमुस्वल्' इत्यादिना णलि, अनुबन्धलोपे 'मुञो जुगृह्णल्लियो' इति मुञो युष्वा-गमे, उकि गते, क्तिष्वादन्यावयवराये जाते, 'लिटि घातोरनग्यासस्य' इति मुञो द्विजे 'एषाम् भूष् ग्व् अ' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'हलादि शेष' इति भू अवसिद्धे 'इत्' इति इस्ये 'मनेत्' इति मुष् सकारस्य शये 'अभ्यासे चर्च' इति भरय यकारे 'एषाम् बभूव' इति जाते मर्यादनुस्वारे वा परसवर्णे च कृते 'एषाम्बभूव' इति । षि षेति । 'स. स्यापंघातुके' इत्यत स हापनुवर्तते । 'तासस्यो' इत्यतो लोप इति । अङ्गादिसप्तप्रथयो धीत्यनेन विनी-ष्यते । तदादिविधि । तदाह—घादादिनि । परिगच्छे । एषातोर्लुटि, उटि गते, ल-स्थाने मध्यमपुरयमद्बुवचने ष्वमि कृते, तासि, तस्य आर्षंघातुकार्ये, इडागमे च जाते 'एषिताम् ष्वम्' इति मूने 'षि ष' इति सलोपे 'दिन आम्नेपदानां टेर' इति भ्रमोऽभ्रम-टियञ्चकस्य एपे 'एषिताष्वे' इति रूपम् । इ एतन्ति । इ इति प्रथमान्तम् । अकार उच्चारणार्थः । 'स स्यापंघातुके' इत्यत स इति 'तासस्योर्लोप' इत्यत तासस्योपिति चानुवर्तते । तदाह—तासस्योपिति । परिगच्छे । एषातोर्लुटि उचमपुरय-कवचने इटि, तासि, इडागमे 'एषिताम् इ' इति तिपने 'दिन आम्नेपदानां टेर' इति इट इन्-वीथ्वे 'इ एति' इति सरय हावे 'एषिताद्दे' इति रूपम् । एष वही, महिकि

अत्र टो 'काट आदेशो हो । षि च--वर्दि प्रादयके परे सकारका लोप हो । इ एति--'तास'

एधिष्येते । एधिष्यन्ते । एधिष्यन्ते । एधिष्येवे । एधिष्यध्वे । एधिष्ये । एधिष्यावहे ।
 एधिष्यामहे । आमेतः । ३।४.९०। लोट एत् आम् एषताम् । एषेताम् । एषन्ताम् ।
 सवाभ्यां वामौ । ३।४।९१। सवाभ्यां पञ्च लोटतः क्माडाऽमौ स्तः । एषस्व । ए-
 धेषाम् । एधध्वम् । एत ए । ३।४.९३। लोडुत्तमस्य एत् ए स्यात् । आमोऽपवादः ।
 एधे । एधावहे । एधामहे । आटश्च । ऐवत् । ऐधेताम् । ऐधन्त । ऐधयाः ।

च परे साधनिका ज्ञेया । एधिष्यते । एधधातोः 'लृट् शेषे च' इति लृटि, अनुबन्ध-
 लोपे प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते, 'स्यतासी लृलुटोः' इति स्ये, 'आर्धधातुकं शेषः'
 इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्ववलादेः' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे,
 'दित् आत्मनेपदानां टेरे' इत्येत्वे 'एधिष्यते' इति रूपम् । आमेतः । आम् एतः इति
 वृद्धेः । 'लोटो लङ्वत्' इत्यतो लोट इत्यनुवर्तते, तदाह—लोट एत् इति । एषताम् ।
 एधधातोः, 'लोट् च' इति लोटि, ओकारस्य टस्य चेत्संज्ञायां लोपे च जाते, लः स्थाने
 प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे कृते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकत्वे
 'कर्त्तरि शप्' इति शपयोरित्सञ्जकारत्वे लोपे च, शित्वाद्यस्यापि सार्वधातुकत्वे
 'दित् आत्मनेपदानां टेरे' इति तकाराकारस्यैत्वे 'एधते' इति जाते 'आमेतः' इति
 एकारस्यामादेशे 'एधताम्' इति रूपम् । सवाभ्यां वामाविति । सञ्च दश्च सवौ ताभ्या-
 मिति विग्रहः । अकारालुच्चारणार्थो । वश्च अम् च वामौ 'लोटो लङ्वत्' इत्यस्मान् लोट
 इति, 'आमेतः' इत्यस्मादेत इति चानुवर्तते । तदाह—सवाभ्यां परस्येति । एषस्व । एध-
 धातोर्लोटो मध्यमपुरुषैकवचने थास्यागते शपि, अनुबन्धलोपे 'धासः से' इति धासः
 सेत्वे 'एधसे' इति जाते 'सवाभ्यां वामौ' इति सकारात्परस्यैकारस्य वादेशे 'एधस्व'
 इति रूपम् । एत ए । ऐ इति लुप्तप्रथमाकम् । लोटो लङ्वत्' इत्यस्मात्लोट इति
 'आहुत्तमस्य पिच्च' इत्यस्मादुत्तमस्येति चानुवर्तते । तदाह—लोडुत्तमस्येति । एधे ।
 एध् धातोः 'लोट् च' इति लोटि, ओटि गते लः स्थाने उत्तमपुरुषैकवचने इटि समा-
 गते, टस्येत्संज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्त्तरि
 शप्' इति शपि, शकारस्य पकारस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'एध् अ इ' इति जाते
 'दित् आत्मनेपदानां टेरे' इति इट इकारस्य एत्वे, एकारस्य 'एत् ए' इति ऐत्वे,
 'आहुत्तमस्य पिच्च' इति उत्तमपुरुषस्य एइत्यस्य आहागमे टित्वादाधावयवे जाते,
 'एध् आ ऐ' इति स्थिते 'आटश्च' इति वृद्धौ 'एध ऐ' इति भूते 'वृद्धिरेचि' इति
 वृद्धौ 'एधै' इति रूपम् । ऐवत् । एधधातोः 'अनघतने लङ्' इति लङि डकाराकार-

और 'अस्ति' के सकारको इकार आदेश हो 'एत्' के परे । आमे—लोट लकार
 सवाभ्यां एकारको 'आम्' आदेश हो । सवा—सकार और वकारसे पर लोट सवाभ्यां एकार
 को (यथाक्रमसे), 'व' और 'अम्' आदेश हो । एत् ऐ—लोट लकार- उत्तम पुरुषके

ऐधेयाम् । ऐधेचम् । ऐधे । ऐधावहि । ऐधामहि । लिङ्' सीयुट् । ३।४।१०२।
 (लिङ्' सलोपोऽनन्वस्ये'ति) सलोप । लोपो व्योर्धलि । ६।१।६६' एधेत ।
 ऐधेयाताम् । झस्य रन् । ३।४।१०५। ङिञो झस्य रन् । एधेरन् । ऐधेयाः ।
 ऐधेयायाम् । एधेध्वम् ॥ इटोऽट् । ३।४।१०६। लिङादेशस्य इटोऽस्यात् ।
 एधेय । एधेवहि । एधेमहि । सुट्' तिथोः । ३।४।१०७। लिङस्तथो सुट्' स्यात् ।
 यलोपः । एधिपीठ । एधिपीयान्ताम् । एधिपीरन् । एधिपीष्टा । एधिपीयास्याम् ।
 एधिपीध्वम् । एधिपीय । एधिपीवटि । एधिपीमहि । ऐधिष्ट । एधियाताम् । आत्म

योःसिञ्जायां लोपे च, छ स्थाने 'तिष्ठसृष्टि०' इत्यादिना सादेशे 'तिष्ठसिञ्जासार्वधा-
 तुकम्' इति सार्वधातुङ्गत्वे 'कृत्वरि ङप्' इति ङपि ङपयोःसिञ्जायां लोपे च 'आ
 ङ्गादीनाम्' इत्यादागमे 'आ ङ्' अ त' इति जाते 'आङ्ग' इति ङङ्गौ, मिलित्वा
 'ऐधत' इति रूपम् । ११३ । एधुधातोः' विधिनिसम्प्रगामप्रणापीष्टसम्प्रमप्रार्थनेषु
 लिङ्' इति लिङि, इटि गते, छ स्थाने प्रथमपुरपैक्यपत्ने सादेशे कृते 'तिष्ठसिञ्जासा-
 र्वधातुकम्' इति सार्वधातुङ्गत्वे 'कृत्वरि ङप्' इति ङपि, ङपयोःसिञ्जायां लोपे च
 'एध अ त' इति जाते 'लिङ्' सीयुट्' इति सकारस्य सीयुटागमे, उटि गते टिवा-
 दादाद्यपये, 'लिङ्' सलोपोऽनन्वस्ये' इति सलोपे 'लोपो व्योर्धलि' इति यलोपे
 'आङ्गुणा' इति गुणे 'एधेत' इति रूपम् । सत्य रप्रिति । लिङ्' सीयुट्' इत्यतो
 लिङ्' इत्यनुवर्तते । तदाह—लिङादेशेति । लिङादेशस्य सस्योपयं । अनेकाङ्ग-
 सार्वदेशे । इटोऽट् । इट्, अत इति ऐट् । 'लिङ्' सीयुट्' इत्यतो लिङ्' इत्यनु-
 वर्तते । तदाह—लिङादेशेति । सुट्' तिथोः । लिङ्' सीयुट्' इत्यतो लिङ्' इत्यनु-
 वर्तते । तदाह—लिङादेशेति । इकार उच्चारणार्थः । तदाह—लिङ्' सकारेण ।
 एधिपीठ । एधु धातो 'आशिपि, लिङ्' लोटौ' इत्याशिपि, लिङि इटि गते छ स्थाने
 प्रथमपुरपैक्यपत्ने ते जाते 'लिङाशिपि' इत्यापञ्चातुङ्गत्वे, 'लिङ्' सीयुट्' इति
 सीयुटि, उटि गते, टिवादादाद्यपये सकारस्य 'लोपो व्योर्धलि' इति यलोपे
 'आपञ्चातुङ्गत्वे' षलादे' इति इडागमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति उभयप्रत्यये, सका-
 रस्य च्छुरे 'एधिपीठ' इति रूपम् । ऐधिष्ट । एधुधातोः 'लुङ्' इति लुङि, उटि गते,
 छ स्थाने प्रथमपुरपैक्यपत्ने ते, सत्य सार्वधातुङ्गत्वे, ङपि प्राप्ते तस्याशित्वा 'लिङ्-

एकारको षकार आदेशे हो । लिङ्—लिङादेशको सीयुट्का भागम हो, आत्मनेपदमे ।
 लोपो—यकार और ङकारका लोप हो 'एध' के परे । झस्य—ङिङ्ग सकार-सम्बन्धी 'ङ' को
 'एट्' आदेशे हो । इटोऽट्—लिङादेश 'रेट्' के स्थानमे 'अट्' आदेशे हो । सुट्—'लिङ्'
 ङकार-सम्बन्धी सकार-बकारको 'एट्' का भागम हो । आत्मने—बनकारके परे आत्मने

नेपदेश्वगतः । ७।१।५। अनकारात्परस्याऽऽन्नेपदेशु झस्य अन् स्यात् । एधिपत् ।
 ऐधिष्ठाः । ऐधिवायाम् । ऐधिह्वम् । ऐधिधि । ऐधिध्वहि । ऐधिध्वहि । ऐधि-
 ध्यत । ऐधिध्वेताम् । ऐधिध्वन्त । ऐधिध्वयाः । ऐधिध्वेयाम् । ऐधिध्वम् ।
 ऐधिध्वे । ऐधिध्व्यावहि । ऐधिध्व्यामहि । कमु कान्ता । कमेणिङ् । ३।१।२०।
 स्वार्थे । कामयते । अयामन्ताल्वाययेत्स्विष्णुषु । ६।४।५५। एषु णेरन् अदेशः ।

लुङि' इति च्छौ, 'च्छेः सिच्' इति सिचि, इचि गते, 'एध् स त' इति स्थिते
 'आर्धधातुकं शेषः' इति सिच् आर्धधातुकरत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति ह्रडा-
 गमे 'आदेशप्रत्यययोः' इति सस्य परवे, तकारस्य 'प्लुना प्लुः' इति प्लुत्वे, 'आड-
 जादीनाम्' इत्यङ्गस्याडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिष्ट' इति । रूपम् । आत्मनेपदे-
 ध्वनत् इति । 'क्षोन्तः' इत्यतो झ इति पठ्यन्तमनुवर्तते । आत्मनेपदेष्विति पठ्यर्थे
 सप्तमी । आत्मनेपदावयवस्य झकारस्येति लभ्यते । 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदि-
 स्यनुवर्तते । न अत् अनत् तस्मादिति विग्रहः । तदाह—अनकारादित्यादिना । ऐधिपत् ।
 एध्धातोर्लुङः प्रथमपुरुषवहुवचने श्च समागते 'चि लुङि' इति च्छौ, 'च्छेः सिच्'
 इति सिचि, इचि गते, सिचः सस्यार्धधातुकरत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति
 ह्रडागमे 'आत्मनेपदेष्वनतः' इति झस्य अत् आदेशे 'आडजादीनाम्' इत्यङ्गस्याडा-
 गमे 'आटश्च' इति वृद्धौ, 'आदेशप्रत्यययोः' इति सिचः सस्य परवे मिलित्वा
 'ऐधिपत्' इति रूपम् । ऐधिह्वम् । एध्धातोर्लुङो मध्यमपुरुषवहुवचने ध्वमि कृते,
 च्छौ, च्छेः [सिचि, इचि गते, ह्रडागमे, 'आडजादीनाम्' इत्याडागमे 'आटश्च'
 इति वृद्धौ, 'ऐधि स ध्वम्' इचि जाते 'धि ष' इति सलोपे 'ह्रमः षीचं लृष्-
 लिटाम्' इति ध्वमो धकारस्य ळत्वे 'ऐधिह्वम्' इति रूपम् । ऐधिध्वत् । एध्धा-
 तोः 'लिङ्निमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' इति लृङ्, अनुबन्धलोपः, छः स्थाने
 प्रथमपुरुषैकवचने ते कृते 'स्मतासी लृङ्गोः' इति स्ये सस्य 'आर्धधातुकं
 शेषः' इत्यार्धधातुकरत्वे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति ह्रडागमे 'आदेशप्रत्यययोः'
 इति परवे 'आडजादीनाम्' इति आडागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐधिध्वत्' इति
 रूपम् । कमु कान्ताविति । कान्तिरिच्छा, 'स्वर्गकामः' इत्यादौ कमेरिच्छायां प्रयोगादा-
 हुचयदर्शनात् । 'कामोऽभिलाषस्तर्षश्च' इत्यमरः । कमेणिङ् । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे-
 स्वार्थे इति । अर्थविशेषानिर्देशादिति भावः । कामयते । उकारस्येत्सङ्गककम्-

पदसम्बन्धी 'झ' को 'अत्' आदेश हो । कमेणिङ्—'कम्' धातुसे 'णिङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थं मे ।
 अया—'धाम्, अन्त, आळ, आयप, इत्तु और इष्णु के परे 'णि' को अय आदेश हो ।

नोटः—'धाम्—'कारयामास' । अन्त—'गण्धयन्तो मण्धयन्तः (तभूवदि० इस उणादिसूत्र
 से 'झच्' और 'क्षोन्तः' से अन्तादेश) । आळ—'स्पृह्याळः' ('स्पृदिमृषिपति०' इस सूत्रसे

कामयाञ्छे । 'अप्रादय' इति वा ङिङ् । चरमे । चरमाते । चरमिरे । चरमिषे ।
चरमाये । चरमिष्ये । चरमे । चरमिष्वदे । चरमिमहे । कामयिता । कामिता ।

घातो 'कमेङिङ्' इति ङिङि, अनुबन्धलोपे 'अत उपघाया' इति वृद्धौ 'कामि'
इति जाते 'सनाघन्ता घातव' इति घातुमन्त्राया लटि अनुबन्धलोपे 'ए कमेङि
च भाये चाकमेङ्य' इति कतयर्थे अनुदात्तटित 'आमनेपद्म' इति कामिघातो
ह्रिवात् आमनेपद्म्य प्राप्ती 'तदनावाामनेपद्म' इति तद आमनेपद्मसन्त्रायात्
लृष्णाने सर्वस्मिन् प्राप्ते प्रथमपुरुषैकवचने तादेते 'कामि त' इति ग्धिसे, तत्र त्कार-
रस्य 'तिङ्शित्सावंधातुकम्' इति सार्वधातुकरवे 'कर्तरि ङप्' इति ङपि ङपयो-
रित्सन्त्रायां लोपे च शित्सावंधातुकरवे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'ए
चोऽपघाया' इति अघादेने 'टिन् आमनेपद्मानां टेरे' इति टेरेत्ये 'कामयते' इति-
रूपम् । अघामन्त्रात् । अच् इति च्छेद । 'गेरनिटि' इत्यतो गेरित्यनुवर्तते । तदाद-
गेरमादेश इत्यादिनि । कामयाञ्छे । कम् घातो 'कमेङिङ्' इति ङिङि, अनुबन्धलोपे
'अत उपघाया' इति वृद्धिर्ध्वे 'कामि' इति भूते 'सनाघन्ता घातव' इति धातुस्ये
'परोपे' 'लिट्' इति लिटि 'काश्यनेकाच आम् वक्तव्य' इत्यामि, 'गेरनिटि' इति
लोपे प्राप्ते तन्माधिरथा 'अघामन्ताहवाय्येऽन्येषु' इति ङिट् इकारस्य अघादेने
'कामय आम् लिट्' इति जाते 'आम्' इति लिटो लुकि, 'कृषानुमपुत्रते लिटि'
इति लिट्परके कृषोऽनुप्रयोगे कृते, लिटो ए स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेते कृते,
तस्य स्थाने 'लिट्परकयोरेङिरेच्' इति षिति कृते शस्येऽसन्त्रायां लोपे च 'लिटि
घातोऽनघ्यास्यस्य' इति कृषो द्विवे 'पूर्वोऽभ्याम' इति अभ्यासाये 'उरए' इति
अभ्यामश्चर्गणस्य अकारे 'उरण् रपर' इति रपरे च कृते 'कामयाम् कर् कृ ए'
इति भूते 'ह्लादिः ङोप' इति रलोपे 'कुहोरंभु' इति कस्य चार्थे 'इको यणचि' इति
षिति, मस्यानुस्वारे वा परमयर्जे च कृते 'कामयाञ्छे' इति रूपम् । चकने 'आया-
श्च आर्धधातुके वा' इति आघादेशाभाषणत्वे कम्घातो 'परोपे लिट्' इति लिटि,
इति गते, ए स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेते, तस्य स्थाने 'लिट्परकयोरेङिरेच्' इति
षिति, अतकाहवासावंधाते शस्येऽसन्त्रायां लोपे च, 'लिट् च' इत्यार्धधातुकयो,
'लिटि घातोऽनघ्यास्यस्य' इति द्विवे 'कम् कम् ए' इति जाते 'पूर्वोऽभ्याम'
इत्यभ्यामस्ये 'ह्लादि ङोप' इति कअदनिटे 'कुहोरंभु' इति रस्य चकने मितिवा
'चकने' इति रूपम् । कामयिता । कम्घातो; 'कमेङिङ्' इति ङिङि, अनुबन्धलोपे
'अत उपघाया' इति वृद्धौ 'सनाघन्ता घातव' इति घातुमन्त्रायाम् 'घातने

'आहुच्' । आह्वय—'गृहवाय्य' (शुद्धिस्तुतिर्गृह्य आह्वय' इम वनादि सूत्रमे 'आह्वय') ।
इत्तु—'लक्ष्मिस्तु' (लक्ष्मिस्तुर्गृह्य) इति उगादि सूत्रमे 'इत्तुच्' इत्तु—'वाह्व-
वाह्विस्तु' ('वाह्विस्तु' से 'इत्तुच्')—इति प्रकाश इत्यादिना समसना चार्थे ।

कामयिष्यते । कमिष्यते । कामयताम् । अकामयत । कामयेत । कामयिषीट । कमि-

लुट् इति लुटि, उटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, 'स्यतासी लुलुयोः' इति तासि, तासः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति इडागमे, 'काम् इ इ तास् त' इति स्थिते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'पृचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'लुटः प्रथमस्य ङारौरसः' इति तस्य स्थाने ङात्वे, एस्येत्संज्ञायां लोपे च, 'द्विसंज्ञामर्थ्यादभस्यापि टेलोपः' इति टिसंज्ञकस्य तासः आस् इत्येतस्य लोपे 'कामयिता' इति रूपम् । कामयिष्यते । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लुट् शेषे च' इति लुटि, लुटो लः स्थाने तादेशे, 'स्यतासी लुलुयोः' इति स्ये, स्यस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति इडागमे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कामीत्यस्य गुणे 'पृचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयि स्य त' इति जाते, 'आदेशप्रत्यययोः' इति षत्वे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे 'कामयिष्यते' इति रूपम् । अत्रे रूपाणि—कामयिष्येते, कामयिष्यन्ते । कामयिष्यसे, कामयिष्येथे, कामयिष्यध्वे । कामयिष्ये, कामयिष्यावहे, कामयिष्यामहे । कामयताम् । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि, णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'लोट् च' इति लोटि, ओटि, गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्त्तरि णप्' इति णपि णपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते अकारेऽवशिष्टे, तस्य शित्त्वात्सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिङ्कारस्य गुण, 'पृचोऽयवायावः' इति अयादेशे, 'कामयत' इति जाते 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टिसंज्ञकस्य तकाराकारस्य एत्वे 'आमेतः' इति एकारस्यामि, 'कामयताम्' इति रूपम् । अकामयत । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि, गते, णगते च 'अत उपधायाः' इति कमेरुपधायाः वृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे 'अनद्यतने लङ्' इति लङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्त्तरि णप्' इति णपि, णपयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते, शित्त्वात् णपोऽकारस्य सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति कमेरिङ्कारस्य गुणे 'पृचोऽयवायावः' इत्ययादेशे 'कामयत' इति जाते 'लुङ्लृङ्-लृङ्चवहुदात्तः' इत्यङ्गस्याहागमे 'अकामयत' इति रूपम् । कामयेत । कम्धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते णगते च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे 'विधिनमन्त्रणे'ति लिङि, इङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे, तस्य 'तिङ्शित्सार्धधातुकम्' इति सार्व-

पीठ । निधिद्रुसुम्य. कर्तरि चह् । ३।१।४८। व्यन्तात् , धयादिभ्यश्च च्लेखह्
 कर्षये लुङि । अ कामि अ त इति श्रियते—गेरनिटि । ६।४।५। अनिष्ठादावार्द्ध-

धातुकत्वे 'कर्तरि धाप्' इति धापि, धापयोरित्यज्ञायां लोपे च, शिखात्तस्यापि सार्व-
 धातुकत्वे 'सार्वधातुकार्यधातुकयो' इति कामेरिकारस्य गुणे 'एचोऽपवायावः'
 इत्ययादेशे 'कामय त' इति जाते 'लिङ्' सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते 'टिशादा-
 धावपवे जाते 'लिङ् सञ्जोपोऽनन्यपयस्य' इत्यनेन सलोपे 'आद्गुण' इति गुणे,
 'लोपो ष्योर्वलि' इति यलोपे 'कामयेत्' इति सिद्धम् । कामविषोऽ । कम्घातो- 'कमे
 गिङ्' इति निर्ये गिङि प्राप्ते, 'आयादप आर्षधातुके वा' इति वा गिङि, इङि गते,
 णलोपे च 'अत उपधाया' इति कम् उपधाया घृद्धौ, 'कामि' इति जाते 'सना-
 घन्ता धातवः' इति कामेर्धातुत्वे, तस्मात् 'आशिपि लिङ्लोटौ' इति लिङि, इङि
 गते, ल् रथाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिङ्गानिपि' इति तस्यार्षधातुकसज्ञायां
 'लिङ् सीयुट्' इति सीयुटि उटि गते, टिशादाधावपवे 'कामि सीयु त' इति जाते,
 यदागमन्यायेन आगमस्य-सीयुट् सीयुटिनिर्दिष्टस्य आर्षधातुकत्वेन 'आर्षधातुकस्ये-
 ष्वल्लोदे' इति इदागमे 'सार्वधातुकार्यधातुकयो' इति गुणे 'एचोऽपवायावः'
 इत्ययादेशे 'आदेशप्रथमयो' इति पत्वे—'सुटतियो' इति तकारस्य सुदागमे
 'लोपो ष्योर्वलि' इति यलोपे 'आदेशप्रथमयो' इति सुटः सस्य पत्वे तकारस्य
 प्लुत्वे 'कामिपीठ' इति । कभिषोऽ । 'आयादप आर्षधातुके वा' इति गिङ्गमावे कम्-
 घातो 'आशिपि लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो ल् रथाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे,
 'आर्षधातुक दोष' इति आर्षधातुकत्वे, 'लिङ्' सीयुट्' इति लिङ् रथानिक्तस्य
 सीयुटि, उटि गते, यदागमन्यायेन सीयुट् आर्षधातुकत्वे, 'आर्षधातुकस्येऽवल्लोदे'
 इति इदागमे, 'सुटतियो' इति तकारस्य सुदागमे 'लोपो ष्योर्वलि' इति यलोपे
 'कम् इ सी स त' इति जाते 'आदेशप्रथमयो.' इति उभयत्र सकारयो पत्वे 'प्लुना
 प्लु' इति तस्य प्लुत्वे 'कमिपीठ' इति रूपम् । निमिद्रुसुम्य धपि । नि ष्रि द्रु स्र पृषां
 इन्द्र । प्रथमप्रहणपरिभाषया नीति तदन्तप्रहणम् । 'लिङ् लुङि' इत्यतो लुङीति,
 'एळे मिष्' इत्यत एलेरिति चानुवर्तते । तदाह—व्यन्तादिरवादिना । सन्वहपुनोति ।
 अन्तलोप इति च्छेदः । बहु परो यरमाव इति विग्रहः । तेन नीत्यस्य लामः ।
 स च अङ्गस्येति द्वयमप्यावर्तते । तत्र नात्रित्यावृत्तौ एकं लघुनीत्यत्रान्वेति । तथाच
 बहु परो णौ यङ्गु तस्मिन्परत इति लभ्यते । द्वितीय तु अन्तलोपे इत्यत्रान्वेति ।
 तथा च णौ परत य अन्तलोपः, तस्याभावे सतीति लभ्यते । अङ्गस्येदावृत्तौ एकं
 चङ्गरो इत्यत्रान्वेति । निमित्तनिमित्तभावे षष्ठी । तथाच अङ्गस्यनिमित्तमूले

निधि-वदन्त धातु तथा 'दि-द्रु-सु' धातुभौते पर 'च्छि' को 'चह्' आदेशे हो, कर्ष-

धातुके परे गेलोपः । गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः । ७।४।१। चङ्परे गौ यदङ्गं, तस्योपधाया ह्रस्वः चङि । सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे । ७।४।२३। चङ्परे गौ यदङ्गं, तस्य योऽभ्यासो लघुपरस्तस्य सनीव कार्यं स्याण्णावगलोपेऽसति । सन्यतः ७।४।२५। अभ्यासस्याऽत इत्सनि । दीर्घो लघोः । ७।४।२४। लघोरभ्यासस्य दीर्घः, सन्वद्भावविषये । अचीकमत । णिडभाषणत्वे—(कमेश्चलेश्चङ्वाच्यः) योरभासान् दीर्घसन्वद्भावौ । अचकमत । अकामयिष्यत । अकमिष्यत ॥ भाम क्रोधे । भामते । वमामे । क्षमूप सहने । क्षमते । चक्षमे । चक्षमिषे—

चङ्परके वर्णे परे इति लभ्यते । चङ्परकरच वर्णः अर्थात् गेरिकार एवेति भावः । अचीकमत । कम् धातोः 'कमेर्णिङ्' इति णिङि, इङि गते, गलोपे च 'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'कामि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वे, 'लुङ्' इति लुङि उङि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'चि लुङि' इति चङौ 'जिभ्रिदुसुभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्चङि चस्य ङस्य चेतसंज्ञायां लोपे च कृते 'काम् इ अ त' इति जाते 'गेरनिटि' इति गेलोपे जाते 'काम् अ त' इति भूते 'गौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति प्रत्ययलघणेन गेश्चङ्परश्वाटुपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त' इति जाते 'चङि' इति कसो द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इति मलोपे 'क-कम् अ त' इति भूते 'कुहोरुचुः' इति कस्य चत्वे 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनगलोपे' इति सन्वद्भावे कृते 'सन्यतः' इत्यभ्यासाकारस्य इत्वे 'चि कम् अ त' इति जाते 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यस्य दीर्घे कृते 'लुङ्लङ्लुङ्चवद्दुदात्तः' इत्यङ्गस्य अढागमे टिश्वादाद्यावयवे जाते 'अचीकमत' इति रूपम् । एवमेवाग्नेऽपि साधनिका ऊह्या । रूपाणि त्रितयम्—अचीकमत, अचीकमेताम्, अचीकमन्त । अचीकमयाः, अचीकमेथाम्, अचीकमध्वम् । अचीकमे, अचीकमावहि, अचीकमामहि । अचकमत । 'आयादय आर्धधातुके वा' इति णिडभावे रूपम् । भाम-क्रोधे धातोः घर्तमाने लटि तडि टेरत्वे णपि 'भामते' इति भवति । लिटि भामधातोर्द्वित्वे पूर्वस्याऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्त्वे 'यभामे' इति रूपम् । लुटादिषु तु भामिता-भामिष्यते-भामताम्-अभामत-भामेत-भामिपीट-अभामिष्ट-अभामिष्यत-इत्यादि । क्षमत इति । क्षमूप-सहने इत्यर्थकादातोर्लटि तडि टेरत्वे

र्थक 'लुङ्' के परे । गेर—अनिटादि आर्धधातुकके परे 'णि' का लोप हो । गौ—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्' उसकी उपधाकी ह्रस्व हो । सन्व—'चङ्' परक जो 'णि' तत्परक जो 'अङ्' तदवयव जो लघुपरक अभ्यास उसकी सन्वद्भाव हो—'णि' के परे यदि 'अक्' का लोप नहीं हुआ हो तो । सन्य—अभ्यास-सम्बन्धी 'अत्' को 'इत्' हो, 'सन्' के परे । दीर्घो—अभ्यासावयव लघुको दीर्घ हो, सन्वद्भावके विषयमें । कमेः—'कम्' धातुसम्बन्धी

चक्षते । चक्षमाथे । चक्षमिबहे । श्योश्च । ८।२।६५। मान्तस्य धातोर्मस्ये न स्यात्
 श्यो परयोः । चक्षम्बहे । चक्षमिबहे । चक्षम्बहे ॥ गाघृ प्रतिष्ठालिप्सयोर्प्रत्ये च ।
 गाघते ॥ बाघृ लोडने । लोडन—प्रतिधान । बाघते । नाथृ नाघृ याच्योरता
 पैश्याऽऽत्तापु । (आशिपि नाथ इति याच्यम्) अस्याऽऽशिष्येवात्मनेपदं
 स्यात् । नाथते । अन्वय—नाथति । नाघते ॥ दध धारणे । दधते ॥ ऋदि आ-

शपि चमते इति रूपम् । चमते इति ॥ चमू धातोर्लिटि तडि 'छिटस्तद्योर-
 शिरेष्' इति एनादेशे धातोर्द्विष्ये पूर्वस्वाम्यासत्वेऽप्यासचर्षे 'चचम् ए' षणे सपोते
 स्यभीष्ट रूप सिध्यति । अत्रे चचमाते-चचमते । चचमिषे इति । चमू धातोर्लिटि
 घापि 'घास मे' इति मे आदेशे धातोर्द्विष्येऽप्यासत्वे चर्षे । 'स्वरतिसृति' इति
 कश्चित्वाद् वैभाषिके इडागमे 'आदेशप्रायययो' इति षावे सति 'चचमिषे' इति
 रूप सिद्ध भवति । असति इडागमे 'चचम् + से' इति रिपती मस्यानुस्वारे कृते
 'चचमे' इत्यपि साधु विनिष्टम् । अत्रे चचमाथे, चचमिष्ये-चचन्व्ये । चचमे-चच
 मिबहे-चचमिबहे । अत्र सति इडागमे एते रूपे भवत । असति इडागमे । श्योश्चेति ।
 मो मो धातोरित्यनुवर्तते तद्वाह—मा-नस्येति । 'चचम्-बहे-चचम्-महे' इति रिपती
 चचम्बहे इत्युभयरूपविधि । लुटादिषु-चमिता-चन्ता । चमप्यते-चस्यते । चम-
 ताम् । अचमत् । चमेत् । चमिषीष्ट-चसीष्ट । अचमिष्ट-अचसत् । अचमिष्यत्—
 अचस्यत् । गाघत् इति । गाघृ-प्रतिष्ठालिप्सयोर्प्रत्ये चास्मादातोर्वर्तमाने छटि तडि
 टेरेखे शपि सति 'गाघते' इत्यस्य सिद्धिः सुस्पष्टा । अत्रे जगाथे-गाघिता-भाधिष्यते ।
 गाघताम् । अगाघत् । गाघेत । गाघिषीष्ट । अगाघिष्ट । अगाधिष्यत् । गाघत् इति ।
 बाघृ-लोडनेऽस्मादातोर्लिटि तडि शपि टेरेखे च कृते 'याघते' इत्यस्य सिद्धिः ।
 अत्रे—चयाथे । याघिता । याधिष्यते । बाघताम् । अयाघत् । याघेत । याघिषीष्ट-
 अयाघिष्ट-अयाधिष्यत् । नाथति इति । नाथृ-वाच्योपतापैश्यापु-एष्येवाथेषु सन्तु
 नाथधातो परस्मैपदमन्वयाशीरर्थे । आत्मनेपदं भवति । अतो छटि तिपि शपि
 नाथति, इति रूप भवति । आशीरर्थे तु 'अस्याशिपि नाथ इति चक्ष्म्यम्' इति वा-
 त्तिकेन आत्मनेपदे सति शपि नाथते इति रूप भवति । अत्रे रूपाणि नाथति-ननाथ-
 नाथिता-नाधिष्यति-नाथतु-अनाथत्-नाथेत्-नाथ्यात्-अनाथीत्-अनाधिष्यत् । आ-
 शीरर्थे तु-नाथते-ननाथे-नाथिता-नाधिष्यते-नाथताम्-अनाथत्-नाथेत नाथिषीष्ट-
 अनाधिष्ट अनाधिष्यत् । नाथते इति । नाथृ-याच्योपतापैश्यादीपु । अस्मादातोः

'चि' को 'च' हो—यैसा करना चाहिये । श्योश्च—मात्रावाचके मकारको नकार आदेश
 हो, मकार और बकारके परे । आशि- 'नाथ' वाच्ये 'नाशिष्' अर्थमें ही आत्मनेपद हो ।

प्रवणे । अप्रवणम्—उप्लवनमुद्धरणं च । रुकुन्दते । चुसुकुन्दे ॥ श्विदि श्वैन्ये । श्विन्दते । शिश्विन्दे ॥ घदि अभिवादनस्तुत्योः । वन्दते । ववन्दे ॥ भदि कल्याणे खेत्वे च । मन्दते । वमन्दे ॥ मदि स्तुतिमोदमदम्बपनकान्तिगतिषु । मन्दते । ममन्दे ॥ रूपदि द्विचिञ्चलोः स्पन्दते । स्पन्देते । परस्पन्दे ॥ मुद् हर्षे । मोदते ।

लटि तडि शपि टेरेखे च कृते प्रसिद्धं रूपं सिध्यति । अग्रे ननाधे-नाधिता-नाधि-
प्यते-नाधताम्-अनाधत-नाधेत-नाधिपीष्ट-अनाधिष्ट-अनाधिष्यत । दधत इति । दध-
-धारणेऽस्मान्धातोर्लटि तडि शपि टेरेखे च विहिते प्रोक्तं 'दधते' इति रूपं सिध्यति ।
अग्रे ददधे-दधिता-दधिष्यते-दधताम्-अदधत-दधेत-दधिपीष्ट-अदधिष्ट-अदधिष्यत् ।
स्कृन्दत इति । स्कृदि—आप्रवणेऽस्मान्धातोर्लटि तडि शपि इद्विच्चात् 'इदितो नुम्
धातोः' इति नुमि मिच्चादन्यादश्चः परे अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'स्कृन्दते' इत्यस्य
साधुत्वम् । चुसुकुन्दे इति । स्कृदि—आप्रवणेऽस्मान्नुमि छिटि तडि धातोः 'छिटि धातोः'
इति द्विवे पूर्वस्याभ्यासमंज्ञायां 'शर्पूर्वाः स्वयः' इति सलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति
चकारे 'लिटस्तस्योः' इति एशादेशे च कृते 'चुसुकुन्दे' इत्यस्य सिद्धिः फलितेति
भावः । अग्रे स्कृन्दिता—स्कृन्दिष्यते-स्कृन्दिताम्-अस्कृन्दत । स्कृन्देत् । स्कृन्दिपीष्ट-
अस्कृन्दिष्ट-अस्कृन्दिष्यत् । श्विन्दत इति । श्विदि-श्वैत्येऽस्मादिदित्वान्नुमि लटि
तडि शपि टेरेखे च कृते 'श्विन्दते' इत्यस्य सिद्धिः । श्विन्दि इति । श्विदि धातोर्-
दित्वान्नुमि लिटि तिडि 'लिटि धातोः' इति द्विवे पूर्वस्याभ्यासखे 'हलादिः शेषः'
इति वलोपे 'लिटस्तस्योः' इति एशादेशे च कृते 'शिश्विन्दे' इति रूपं भवति ।
अग्रे श्विन्दिता-श्विन्दिष्यते-श्विन्दिताम्-अश्विन्दत-श्विन्देत-श्विन्दिपीष्ट-अश्विन्दिष्ट-
अश्विन्दिष्यत् । वन्दत इति । वदि-अभिवादनस्तुत्योरस्मान्धातोर्लटि तडि शपि
टेरेखे च कृते 'वन्दते' इति रूपं प्रसिध्यति । अग्रे ववन्दे-वन्दिता-वन्दिष्यते-वन्द-
ताम्-अवन्दत-वन्देत-वन्दिपीष्ट-अवन्दिष्ट-अवन्दिष्यत् । मन्दत इति । मदि-कल्याणे
सुखे चेत्यस्मान्धातोर्लटि तिडि शपि टेरेखे 'मन्दते' इति सिध्यति । वमन्दे इति । मदि
धातोर्दित्वान्नुमि लिटि तडि धातोर्द्विवे पूर्वस्याभ्यासखे चर्चनं भस्यं चखे
'लिटस्तस्योः' इति तस्यैशादेशे च कृते 'वमन्दे' इत्यस्य साधुत्वं स्पष्टम् । अग्रे
मन्दिता-मन्दिष्यते-मन्दिताम्-अमन्दत-मन्देत-मन्दिपीष्ट-अमन्दिष्ट-अमन्दिष्यत् ।
मदि-मन्दते-ममन्दे-मन्दिता-मन्दिष्यते-मन्दताम्-अमन्दत-मन्देत—मन्दिपीष्ट-
अमन्दिष्ट-अमन्दिष्यत् । रूपदि-स्पन्दते-परस्पन्दे अत्र 'शर्पूर्वाः स्वयः' इति विशेषः-
स्पन्दिता-स्पन्दिष्यते-स्पन्दिताम्-अस्पन्दत-स्पन्देत-स्पन्दिपीष्ट-अस्पन्दिष्ट-अस्पन्दि-
ष्यत् । मोदत इति । मुद्-हर्षेऽस्मान्धातोर्लटि तडि शपि शपः शिष्वात् 'तिङ्शित्सा-
र्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां मुद् उकारस्य च 'अलोऽन्यापूर्वं उपधा' इत्यु-
पधासंज्ञाखे 'पुगन्तलघूपचस्य च' इति लघूकारस्य गुणेनौकारे च कृते मोदते' इति

सुमुदे ॥ उर्दं माने, क्रीडायां च । ऊर्दते । ऊर्दायके । कुर्दं सुर्दं गुर्दं गुद क्रीडा
यामेव । कूर्दते । सूर्दते । गूर्दते । गोदते । जुगुदे । पूव क्षरणे । सूदते । सुपूदे ।
ह्लाद् अभ्यक्ते शब्दे । ह्लादते । जहादे । ह्लादी सुखे च । चादभ्यक्ते शब्दे । ह्लादते ॥
स्वाद् आस्वादने । स्वादते । पर्दं कृत्षिते शब्दे । गुदरवे इत्यर्थं । पर्दते । पपदे ॥
यतीं प्रयत्ने । यतते । येते । अथि शैथिल्ये । अन्धते ॥ प्रथि कौटिल्ये । प्रन्धते ।

रूपं निष्पद्यते । अग्रे 'सुमुदे-मोदिता-मोदिष्यते-मोदताम्-अमोदत-मोदेत-मोदि-
षीष्ट-अमोदिष्ट-अमोदिष्यत । ऊदते इति । उर्दं-माने क्रीडाया चास्मादातोर्लिटि
तच्च ऋषि ढेरेरे 'उपधायां च' इति पूर्वोकारदीर्घत्वे च कृते 'ऊर्दते' इत्यस्य सिद्धिः ।
ऊर्दायके इति । उर्दं घातो 'उपधायां च' इति उपधाभूतोकारस्य दीर्घं लिटि ततः
'ह्रजादेश्च गुहमतोऽनृच्छ' इति आभि 'आमि' इति लिटो लुक्-कृद्भानुमयुज्यते लिटि'
इति कृधातोरनुप्रयोगे लिट् स्थाने तच्च 'लिटस्तस्यपो' इति पृशाढेते कृधातोर्द्विष्वे
पूर्वस्याभ्यासत्वे उरदरवे दृडादि. शेषे अभ्यासस्य चत्वेन चकारे 'इको यगचि' इति
यगि 'ऊर्दायके' इति साधुत्व गच्छति । भूधानोरनुप्रयोगे तु 'ऊर्दाभभूवे' असघातोरनु-
प्रयोगे सति 'ऊर्दाभासे' इति रूपे भवतः अग्रे उर्दिता-ऊर्दिष्यते । ऊर्दताम्-और्दत-
ऊर्दत-उदिषीष्ट-और्दिष्ट-और्दिष्यत । ऊर्दं-सुर्दं-गुर्दं-गुद-क्रीडायामेवात्र रेफविनि-
ष्टानां धातूनां 'उपधायां च' इति दीर्घत्वेन कूर्दते-सूर्दते-गूर्दते इति रूपाणि ।
गुद घातोस्तु लघूपधत्वेन 'पुगन्त' इति गुणे सति 'गोदते' इति रूप, शेष प्राग्वत् ।
अग्रे सुपूदं-सुगूदं-जुगूदं-जुगुदे । कूर्दिता-सूर्दिता-गूर्दिता-गोदिता । कूर्दिष्यते-
सूर्दिष्यते-गूर्दिष्यते-गोदिष्यते । कूर्दताम्-सूर्दताम्-गूर्दताम्-गोदताम् । अकूर्दत-
असूर्दत-अगूर्दत-अगोदत । कूर्दत-सूर्दत-गूर्दत-गोदेत । कूर्दिषीष्ट-सूर्दिषीष्ट-गूर्दि-
षीष्ट-गुदिषीष्ट । अकूर्दिष्ट-असूर्दिष्ट-अगूर्दिष्ट-अगोदिष्ट । अकूर्दिष्यत-असूर्दिष्यत-
अगूर्दिष्यत-अगोदिष्यत । पूव-क्षरणे-सूदते-सुपूदे-सूदिता-सूदिष्यते-सूदताम् ।
असूदत-सूदेत-सूदिषीष्ट असूदिष्ट-असूदिष्यत । हाद = अभ्यक्ते शब्दे, हादते-जहा-
दे-हादिता-हादिष्यते-हादताम्-अहादत-हादेत-हादिषीष्ट-अहादिष्ट-अहादिष्यत ।
हादी सुखे च, हादते-जहाद-हादिता-हादिष्यते-हादताम्-अहादत-हादेत
हादिषीष्ट-अहादिष्ट-अहादिष्यत । स्वाद = आस्वादे, स्वादते-सस्वादे-स्वादि-
ता-स्वादिष्यते-स्वादताम्-अस्वादत-स्वादेत-स्वादिषीष्ट-अस्वादिष्ट-अस्वादिष्यत ।
पर्दं-कृत्षित शब्दे, पर्दते-पपदे-पर्दिता-पर्दिष्यते-पर्दताम्-अपर्दत-पदेत-पर्दिषी-
ष्ट अपर्दिष्ट अपर्दिष्यत । यती प्रयत्ने, तच्च ऋषि यतते इति रूपं भवति । येते इति ।
यती प्रयत्नेऽस्मादातोर्लिटि तच्च 'लिटि घातो' इति घातोः द्विष्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अत-
पृकृद्भवमये' इति अभ्यासलोपे घातोर्कारस्यैव 'लिटस्तस्यपो' इति ढेरेरे च कृते—

कृत्य श्लाघायाम् । कृत्यते । चकृत्ये ॥ न्योक्त सद्भाते । सद्भातो प्रन्यः । स चेह
 प्रथमानस्य व्यापारो, प्रन्यितुर्वा । आयेऽकर्मको, द्वितीये चकर्मकः । श्लोक्ते ।
 शुरलोके ॥ शकि शङ्कायाम् । शङ्कते । शशङ्के ॥ अकि लक्षणे । अङ्कते । आनङ्के ।
 ककि वकि श्वकि अकि ढौक प्रौक प्वक्क वस्क मस्क टिकु टीकु तिकु

येते-येताते-येतिरे-येतिपे-येताये-येतिप्वे-येते-येतिवहे-येतिमहे इत्यादि । लुटादिपु
 यतिता-यतिप्यते-यतताम्-अयतत-यतेत-यतिपीष्ट-अयतिष्ट-अयतिप्यत । अथि-
 शैथिये इदित्वान्नुमि अन्थते-शअन्थे-अन्थिता-अन्थिप्यते-अन्थिताम्-अअन्थत-
 अन्थेत-अन्थिपीष्ट-अअन्थिष्ट-अअन्थिप्यत । अथि-कौटिल्यं, इदित्वान्नुमि, प्रन्थते
 जप्रन्थे-प्रन्थिता-प्रन्थिप्यते । प्रन्थिताम्-अप्रन्थत-प्रन्थेत-प्रन्थिपीष्ट-अप्रन्थिष्ट-
 अप्रन्थिप्यत । कृत्य-श्लाघायाम्, कृत्यते-चकृत्ये-कथिता-कथिप्यते-कायताम्-
 अकथत-कथेत-कथिपीष्ट-अकथिष्ट-अकथिप्यत । श्लोक-संघाते, श्लोक्ते-
 शुरलोके-श्लोकिता-श्लोकिप्यते-श्लोकताम्-अश्लोकत-श्लोकेत-श्लोकिपीष्ट-अश्लो-
 किष्ट-अश्लोकिप्यत । शकि-शङ्कायाम्, इदित्वान्नुम्यनुस्वारे परसवर्णे, शङ्कते-शशङ्के-
 शङ्किता-शङ्किप्यते-शङ्कताम्-अशङ्कत-शङ्केत-शङ्किपीष्ट-अशङ्किष्ट-अशङ्किप्यत । अ-
 कि-लक्षणे इदित्वाद्यमि अनुस्वारे परसवर्णे, अङ्कते । आनङ्के-अनङ्कित्वे सति 'अतवादेः'
 इति अस्यासस्य दीर्घे 'तस्मान्नुद्द्विहलः' इति नुडागम इति भावः । अङ्किता-
 अङ्किप्यते-अङ्कताम्-आङ्कत-अङ्केत-अङ्किपीष्ट-आङ्किष्ट-आङ्किप्यत । ककि-वकि-श्व-
 कि-त्रकि-ढौक-प्रौक-प्वक्क-वस्क-मस्क-टिकु-टीकु-तिकु-तीक-रधि-लधि-गत्यर्थाः,
 इदित्वान्नुमि-कङ्कते-चङ्कते-शङ्कते-प्रङ्कते-ढौकते-त्रौकते । प्वक्कते-अप्र 'आवादेः
 पः सः' इति पस्य सत्वे प्राप्ते 'सुधातुष्टिप्वक्कतीनां सत्त्वनिपेधः' इति वार्तिकेन
 पस्य सत्त्वनिपेधे तद्धि शपि टेरेत्वे प्रोक्तं रूपमिति भावः । वस्कते-मस्कते-टेकते-
 टीकते-तेकते-तीकते-रङ्कते-लङ्कते । इति लट् । छिटि चकङ्के-ववङ्के-शशङ्के-
 तप्रङ्के-हुढौके-तुत्रौके, अत्र अस्यासहस्वे प्राप्ते 'पृचङ्गप्रस्वादेशे' इत्यनेनोकार इति
 भावः । प्वक्के-अत्रापि न घातोः पस्य सः 'सुधातु' इति वार्तिकेन निषेधात् ।
 ववक्के-ममक्के-टिट्टेके-टिट्टीके-तित्तेके-तित्तीके-ररङ्के-ललङ्के । इति लिट् । कङ्किता-
 वङ्किता-शङ्किता-प्रङ्किता-ढौकिता-त्रौकिता-प्वक्किता-वस्किता-मस्किता-टेकिता-
 टीकिता, तेकिता-तीकिता-रङ्किता-लङ्किता । इति लुट् । कङ्किप्यते-वङ्किप्यते-प्वक्कि-
 प्यते-प्रङ्किप्यते-ढौकिप्यते-त्रौकिप्यते प्वक्किप्यते-वस्किप्यते-मस्किप्यते-टेकिप्यते-
 टीकिप्यते-तेकिप्यते-तीकिप्यते-रङ्किप्यते-लङ्किप्यते । कङ्कताम्-वङ्कताम्-रवङ्क-
 ताम्-प्रङ्कताम्-ढौकताम्-त्रौकताम्-प्वक्कताम्-वस्कताम्-मस्कताम्-टेकताम्-टी-
 कताम्-तेकताम्-तीकताम्-रङ्कताम्-लङ्कताम् । अकङ्कत-अवङ्कत-अप्रङ्कत-अप्रङ्कत-
 अढौकत-अत्रौकत-अप्वक्कत-अवस्कत-अमस्कत-अटेकत-अटीकत-अतेकत-अतीक-

तीकृ रधि क्ववि गत्यर्था । कृते । दृते । शृते । प्रकृते । टीकृते । डृढीके । श्रौकृते । वृत्रौके । (सुप्रानुष्टिपु-य-कतीनां सत्यनिषेधः ।) प्वकृते । पक्कृते । वक्कृते । वक्कृते । पक्कृते । मक्कृते । टक्कृते । टीकृते । तेकृते । तीकृते । रकृते । लृक्कृते ॥ शृडाघृ कश्चने । रलाघने । शरलाघे । पचि इपकीकरणे । पचते । पपचे ॥ अज गतिस्थानार्जनोर्गर्जनेषु । अर्जते । नुद्विधी शकारैकदेशो रेफो हन्त्वेन गृह्यते । तेन द्विहन्तान्नुट् । भानृजे । अजि भृजी मर्जने । अजते । अज्जाञ्चके । अज्जत । अर्जते ॥ एज् भ्रेज् भ्राज् दीप्तौ । एजते । एजाञ्चका भ्रेप्रते । भिभ्रेजे ।

स-अरहत-अलहत । कङ्कृत-वङ्कृत-खङ्कृत-ग्रङ्कृत-ढीकृत-ग्रीकृत-प्वकृत वरकृत मरकृत-टेकृत टीकृत तेकृत-तीकृत-रङ्कृत-लङ्कृत । कङ्कृषीष्ट वङ्कृषीष्ट-खङ्कृषीष्ट-ग्रङ्कृषीष्ट-ङ्कृषीष्ट-ग्रीङ्कृषीष्ट-त्रौङ्कृषीष्ट-प्वङ्कृषीष्ट-वरङ्कृषीष्ट-मरङ्कृषीष्ट-टङ्कृषीष्ट-टीङ्कृषीष्ट-तीङ्कृषीष्ट-रङ्कृषीष्ट-लङ्कृषीष्ट-अकङ्कृष्ट-अवङ्कृष्ट-अखङ्कृष्ट-अग्रङ्कृष्ट-अङ्कृष्ट-अग्रीङ्कृष्ट-अत्रौङ्कृष्ट-अप्वङ्कृष्ट-अवरङ्कृष्ट-अमरङ्कृष्ट-अटङ्कृष्ट-अटीङ्कृष्ट-अतेङ्कृष्ट-अतीङ्कृष्ट-अरङ्कृष्ट-अलङ्कृष्ट । अकङ्कृष्यत-अवङ्कृष्यत-अखङ्कृष्यत-अग्रङ्कृष्यत-अङ्कृष्यत-अग्रीङ्कृष्यत-अत्रौङ्कृष्यत-अप्वङ्कृष्यत-अवरङ्कृष्यत-अमरङ्कृष्यत-अटङ्कृष्यत-अटीङ्कृष्यत-अतेङ्कृष्यत-अतीङ्कृष्यत-अरङ्कृष्यत-अलङ्कृष्यत । षणाष्ट-कश्चने, रलाघते-शरलाघते रलाघिता-रलाघिष्यते रलाघताम् अरलाघत रलाघेत रलाघिषीष्ट-अरलाघिए अरलाघिष्यत । पचि-इपकीकरणे । इदिवाच्यम्, पपचे पचते पचिता पचिष्यते-पच्यताम्-अपच्यत-पच्येत-पचिषीष्ट-अपचिष्ट-अपचिष्यत । अर्जते इति ॥ अजधा-तोर्लटि तडि शपि शप शिखेन सार्धधातुकत्वात् 'पुगन्त इति गुणे 'उरण्पर' इति रपरवे टेरवे 'अर्जते' इति रूप सिष्यति । भानृजे इति ॥ अज धातोर्द्वित्वे 'अज् + लिट्' इति जाते 'उरत्' इति अन्त्यासञ्चवर्णस्याकारादेशे रपरवे हलादि षोपे 'अ + अज् + लिट्' इति जाते 'अत आदे' इति पूर्वाकारस्य दीर्घे अजधातोरेकह्रस्वे अपि 'नुद्विधी शकारैकदेशो ह्रस्वेन गृह्यते' इति वार्तिकवचनात् अजो द्विह्रस्वात् 'तस्मान्नुट् द्विह्र' इति दीर्घाभूतात्परस्य नुटि द्विषेनाद्यावयववे 'लिट्स्तस्योः' इति तस्यैवादेशे 'भानृजे' इति रूपं भवति । अज अजिता-अजिष्यते-अर्जताम्-अर्जत-अर्जत-अजिषीष्ट-आर्जिष्ट-आर्जिष्यत । अजि भृजो मर्जने, अजते-लटि 'इजादेशे गुणमतोऽनृञ्' ह्रस्वामि षोपम् । पूर्वाचक्रेवद्वयम् । अजाञ्चके अजाञ्चमूवे-अजामासे-अजिता-अजिष्यते-अर्जताम्-अर्जत-अर्जते-अजिषीष्ट-आर्जिष्ट-आर्जिष्यत । भृजी, मर्जते अत्र 'पुगन्त' इति गुण । अर्जते । अजिता-अजिष्यते-अर्जताम्-अमर्जत-मर्जत-भृजिषीष्ट-अमर्जिष्ट-अमर्जिष्यत । एज्-भ्रेज्-भ्राज्-दीप्तौ । एजते-

सुष्वा-सुष्वात् (नामवात्), 'दिव्' वात् तथा 'वक्' वात् सम्बन्धी वकारको सप्त नरी शो

भ्राजते । वभ्राजे ॥ वेष्ट वेष्टने । वेष्टते । विवेष्टे ॥ चेष्ट चेष्टायाम् । चेष्टते । चिचेष्टे । स्फुट विक्रमने । स्फोटते । पुस्फुटे ॥ टुवेष्ट कम्पने । वेपते ॥ कपि चलने । कम्पते ॥ भिक्ष भिक्षायामलाभे लाभे च । भिक्षते । विभिजे ॥ दीक्ष मीण्ड्योऽप्योपनयननियमप्रतादेशेषु । दीक्षते । दिदीचे ॥ भाष न्यक्त्यां वाचि । भापते । वभापे । वर्ष स्नेहने । वर्षते । ववर्षे । ईह चेष्टायाम् । ईहते । ईहाद्यके । गर्ह गल्ह कुत्सायाम् । गर्हते । गल्हते ॥ काश्ट दीप्तौ । काशते । ऊह वितर्के । ऊहते । ऊहाद्यके । कथम्—'अनूक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' इति । अनुदात्तेस्वल्क्षण-

अजते-आजते । एजाद्यके (एजादेशेति भाम्), विभ्रेजे-वभ्राजे । एजिता-भ्रेजिता-आजिता । एजिष्यते-भ्रेजिष्यते-आजिष्यते । एजताम्-भ्रेजताम्-आजताम् । एजत-अभ्रेजत-अभ्राजत । एजेत-भ्रेजेत-आजेत । एजिपीष्ट-भ्रेजिपीष्ट-आजिपीष्ट । एजिष्ट-अभ्रेजिष्ट-अभ्राजिष्ट । एजिष्यत-अभ्रेजिष्यत-अभ्राजिष्यत । वेष्ट-वेष्टने । वेष्टते-वि-वेष्टे-वेष्टिता-वेष्टिष्यते-वेष्टताम्-अवेष्टत-वेष्टेत-वेष्टिपीष्ट-अवेष्टिष्ट-अवेष्टिष्यत । चेष्ट-चेष्टायाम् । चेष्टते-चिचेष्टे-चेष्टिता-चेष्टिष्यते-चेष्टताम्-अचेष्टत-चेष्टेत-चेष्टिपीष्ट-अचेष्टिष्ट-अचेष्टिष्यत । स्फुट-विक्रमने-'पुगन्त' इति गुणः स्फोटते । पुस्फोटे (शर्पूर्वाः खयः), स्फोटिता-स्फोटिष्यते-स्फोटताम्-अस्फोटत-स्फोटेत-स्फुटिपीष्ट-अस्फोटिष्ट-अस्फोटिष्यत । टुवेष्ट-कम्पने । वेपते-विचेपे-वेपिता-वेपिष्यते-वेपताम्-अवेपत वेपेत-वेपिपीष्ट-अवेपिष्ट-अवेपिष्यत । कपि-चलने । इष्टिवाङ्मू कम्पते-चकम्पे-कम्पिता-कम्पिष्यते-कम्पताम्-अकम्पत-कम्पेत-कम्पिपीष्ट-अकम्पिष्यत । भिक्ष-भिक्षते-विभिजे-भिक्षिता-भिक्षिष्यते-भिक्षनाम्-अभिक्षत-भिक्षेत-भिक्षिपीष्ट-अभिक्षिष्ट-अभिक्षिष्यत । दीक्ष-दीक्षते-दिदीचे-दीक्षिता-दीक्षिष्यते-दीक्षताम्-अदीक्षत-दीक्षेत-दीक्षिपीष्ट-अदीक्षिष्ट-अदीक्षिष्यत । भाष-भापते-वभापे-भापिता-भापिष्यते-भापताम्-अभापत-भापेत-भापिपीष्ट-अभापिष्ट-अभापिष्यत । वर्ष-वर्षते-ववर्षे-वर्षिता-वर्षिष्यते-वर्षताम्-अवर्षत-वर्षेत-वर्षिपीष्ट-अवर्षिष्ट-अवर्षिष्यत । ईह-ईहते-ईहाद्यके-ईहिता-ईहिष्यते-ईहताम्-ऐहत-ईहेत-ईहिपीष्ट-ऐहिष्ट-ऐहिष्यत । गर्ह-गल्ह-कुत्सायाम् । गर्हते-गल्हते । अगर्हे-अगल्हे । गर्हिता-गल्हिता । गर्हिष्यते-गल्हिष्यते । गर्हताम्-गल्हताम् । अगर्हत-अगल्हत । गर्हत-गल्हते । गर्हिपीष्ट-गल्हिपीष्ट । अगर्हिष्ट-अगल्हिष्ट । अगर्हिष्यत-अगल्हिष्यत । काश्ट-दीप्तौ । काशते-चकाशे-काशिता-काशिष्यते-काशताम्-अकाशत-काशेत-काशिपीष्ट-अकाशिष्ट-अकाशिष्यत । ऊह-वितर्के । ऊहते-ऊहाद्यके-ऊहिता-ऊहिष्यते-ऊहताम्-औहत-ऊहेत-ऊहिपीष्ट-औहिष्ट-औहिष्यत । कथमिति । 'अनूक्तमप्यूहति पण्डितो जनः' अत्र श्लोकपङ्क्ति ऊहवितर्केऽस्य घातोरनुदात्तेस्वेनात्मनेपदस्वाकथम् 'ऊहति'

मात्मनेपदमनिरयम् । अनुदात्तेत्यक्षिणे द्विकरणाज्ज्ञापकात् । तेन 'उदयति यदि
 भानु' - 'स्फायाक्षिमौक्तमन्धि'रित्यादि (सदमिग्याहु ॥ अय गतौ । अयते ॥ उप-
 सर्गस्याऽयतौ । ८।२।२९। अयतावुपसर्गरेकस्य कत्वम् । क्वायते । पलायते ।
 व्यायासश्च । ३।१।३७। एभ्य आम्लिटि । अयाश्चक्रे । अशिता । अयित्यते । अय-

इत्युक्तम् ? 'ऊहते' इत्यस्यैव सम्यक्त्वादिति चेत् । चच्चिद् घातोरेपि अनुदात्तेनैवा-
 त्मनेपदे सिद्धे पुनरपि तदर्थं द्विकरणं व्यर्थं, तदेव व्यर्थं सत् परिभाषां ज्ञापयति
 'अनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्मनेपदमनिरय भवति' अत 'ऊह' घातोरेपि अनुदात्तेत्वप्रयु-
 क्तत्वेन तस्य आत्मनेपदस्यानिरयत्व स्पष्टमेव । अत आत्मनेपदाभावे परस्मैपदे सति
 'ऊहति' इत्यपि साधुत्वेन श्लोके तत्पाठान्न दोष इति भावः । ज्ञापकत्वञ्च—वाक्येषु
 तुष्टयत्वम्—(१) आदौ वैषम्यम् । (२) पश्चाद्वाक्यान्तरकल्पना । (३) स्वांते
 चरितार्थत्वम् । (४) अन्यत्र फलमिति । चच्चिद् द्विकरणं ज्ञापकं कथमिति चेत् ।
 चच्चिद् घातोरेनुदात्तेत्वात्तेनैवात्मनेपदे सिद्धे पुनरपि आत्मनेपदार्थं लकारग्रहण
 व्यर्थमिति आदौ वैषम्यसिद्धिः । तदनु लकारग्रहणस्य वैषम्यात्कल्पयते अनुदात्ते
 त्वप्रयुक्तमानिरयमिति वाक्यान्तरकल्पनासिद्धिः । ततः । परमनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्मने-
 पदस्यानिरयत्वेनात्मनेपदे अप्राप्ते आत्मनेपदविधानार्थं चच्चिद् द्विकरणं चरितार्थ-
 मिति स्वांते चरितार्थत्वमिति । अनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्मनेपदस्य अनिरयत्वे सिद्धे
 'अनुक्तमप्युहति पण्डितो जन । 'उदयति यदि भानु' इत्यत्र ऊह घातो अय घातो-
 र्चानुदात्तेत्वादात्मनेपदाभावेऽपि न सति । तेनात्मनेपदाभावेऽपि एते प्रयोगाः सा-
 धव एव । तथा च 'स्फाय'क्ष'इत्यत्रापि अनुदात्तेत्वाच्छान्वा भावपम् । न तु शात्रा । किन्तु
 अनुदात्तेत्वप्रयुक्तमात्मनेपदस्यानिरयत्वेन शतृप्रत्यये सायपि न बाध । तेन आत्मने
 पदाभावे परस्मैपदे सिद्धमिति 'ऊहति, उदयति, स्फायन्' इत्यादौ ज्ञापकफल-
 सिद्धमिति अन्यत्र फलसिद्धिः इत्युक्तम् । अयाश्चक्रे । अय घातो 'परोच्चे लिट्' इति
 लिटि कृते 'दयायासश्च' इत्यामि कृते 'अय आम् लिट्' इति स्थिते 'आम्' इति
 लिटौ लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिटेपरक कृञि प्रयुक्ते, लिटौ छः स्थाने ते,
 तस्य स्थाने 'लिट्स्नस्योरेनिरेच' इति एति, रास्तेत्यज्ञायां छोपे च कृते, 'लिटि
 घातोरेनम्यासस्य' इति द्वित्ये 'अयाम् कृ कृ, ए' इति स्थिते 'पूर्वाऽभ्यासः'
 इति अभ्यासत्वे 'उरत्' इति अभ्यासश्चवर्णस्याकारे 'उरण रपर.' इति रपरे च
 जाते 'ह्लादि शेष' इति कावशिष्टे 'कुहोरुचु' इति कस्मे चत्वे 'इको यणचि'
 इति यणि, 'मोनुस्वार' इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वा परसवर्णे कृते 'अया-

उपस—'अय' भातुपरक उपसर्ग-सम्बन्धी रेफको कत्व हो ।

दया—दय-अय भोर आत् भातुभोत्ते 'आम्' प्रत्यय हो 'लिट्' के परे ।

ताम् । आयत । अयेत । अयिपीष्ट ॥ चिभापेटः । ८।३।७९। इणः परो य इट् ,
ततः परेषां षीर्षलुङ्किटा घस्य वा उः । अयिपीड्वम् । अयिपीधन् । आयिष्ट ।
आदिड्वम् । आयिष्वम् । आयिष्यत ॥ धुत दोषो । वीतते । द्युतिस्वाप्योः
स्रष्ट्रसारणम् । ७।४।६७। अभ्यासस्य । दिद्युते । द्योतता । द्योतिष्यते । द्योतताम् ।
अद्योतत । द्योतेत । द्योतिषीष्ट । धुन्नयो लुङि । १।३।११। द्युतादिभ्यः परस्मैपदं
वा स्याल्लुङि । 'पुषादी'त्यच् । अद्युतत् । अद्योतिष्ट । अद्योतिष्यत । एवं— श्विता

छक्ने' इति रूपम् । अयिपीष्ट । अद्युतातोः 'जाशिषि लिङ्छोऽौ' इति लिङि इङि
गते, लः स्थाने तादेशे 'लिङ्गः सीयुट्' इति सीयुटि, उटि गते, टिवादाद्यावचवे,
'सुट् तिथोः' इति लुगागमे, उटि गते, टिवादाद्यावचवे 'लिङ्गाशिषि' इति तस्यार्ध-
धातुकत्वे यदागमन्यायेन सीयुटोऽप्यार्धधातुकत्वात् 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' इति
इडागमे सीयुटः सरय पत्वे, 'लोपो ष्योर्वळि' इति यलोपे, सुटः सस्यापि 'आदेशप्र-
त्यययोः' इति पत्वे 'प्नुना ष्टुः' इति तकारस्य ष्टुत्वे 'अयिपीष्ट' इति रूपम् । योतते ।
द्युतधातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने ते,
तस्य 'तिङ्शिःसावंधातुकश्च' इति सावंधातुकत्वे 'कर्तरि शप्' इति शपि, शपयो-
रिसंज्ञायां लोपे च, शिश्वाच्च शयोऽकारस्यापि सावंधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य
च' इति धुत उकारस्य गुणे 'द्योतत' इति जाते 'टित् भात्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे
च हृते 'द्योतते' इति । दिद्युते । धुतधातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि, इटि गते, लः
स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तादेशे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे 'लिट्स्तद्व्योरेदिरेच'
इति तस्य स्थाने एशि कृते शस्येस्तञ्ज्ञायां लोपे च 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
द्वित्वे 'द्युत्, द्युत् प्' इति स्थिते 'पूर्वोऽभ्यास' इति अभ्यासत्वे 'द्युतिस्वाप्योः सम्प्र-
सारणम्' इति अभ्यासयकारस्य इकाररूपे सम्प्रसारणे जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति
धुत उकारस्य पूर्वरूपे 'द्वि द्युत् प्' इति जाते 'हलादिः शेषः' इति तलोपे मिलित्वा
'दिद्युते' इति रूपम् । अद्युतत् । धुत धातोर्लुङि, उटि गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषैकवचन-
विवक्षायां 'धुन्नयो लुङि' इति परस्मैपदसञ्ज्ञकतिपि, 'द्युत् ति' इति स्थिते 'ल्लि लुङि'
इति ष्टौ, तस्य 'च्लेः सिच्' इति सिचि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'पुषादिद्युताद्युलदितः
परस्मैपदेषु' इति अलादेशे षस्येस्तञ्ज्ञायां लोपे च छिन्वाद् गुणाभावे 'लुङ्लुङ्लुङ्च-
दुदासः' इत्यस्याडागमे 'इत्श्च' इति तिप् इकारस्य लोपे 'अद्युतत्' इति रूपम् ।
अद्युतत्, अद्युतताम्, अद्युतन् । अद्युतः, अद्युततम्, अद्युतत । अद्युतम्, अद्युताव,

विभा—'इण्' से पर जो 'इट्' वसते पर जो षीर्ष लुङ्-लिट् सम्बन्धी धकार उसको
ढकार हो, विकरवसे । धुत—'द्युत्' शब्द और गिजन्त 'स्वप्' के अभ्यासको सम्प्रसारण
हो । धुन्नयो—द्युतादिसे परस्मैपद हो, लुङ्के परे विकरवसे ।

वर्णे । भिन्विदा स्नेहने । जिष्विदा स्नेहनमोहनयोः । मोहनयोरिरस्येके ।
 जिष्विदा चेत्येके । रुच्य दीप्तावभिप्रीती च ॥ घुट् पारवर्तने ॥ शुभ्र दीप्तौ ।
 शुभ्र सवर्त्तने । णम तुम द्विषाणम् । खंलु भ्रंलु भ्रंलु सवर्त्तने । भ्रंलु गनी
 च । झम्भु विघासे । घृत्तु वर्तने । वर्तने । ऋदुपधेभ्यो लिट् । किरत्तं गुणा-
 र्पूर्वविप्रतिषेधेन । वर्तते । वर्तिता । घृद्गध. स्वसनो' । १।३।२२। वृगादिभ्यः
 पद्यभ्यो वा पररमेपद, स्ये, सति च । न घृद्गधश्चतुर्म्यं । ७।२।५२। वृत् वृत्-
 र्त्तु स्यन्दभ्यः सादेराद्धानुक्तस्येध्न स्यात्तानयोरमावे । वर्त्यति । वर्तिभ्यते ।

अथताम । इति रूपाणि । आरमनेपद्पद्ये । अधोऽलिट् । धिदा वर्णे इति । श्वेतवर्णकरणे
 श्वेतीभवने वेद्यम्यः । भिन्विदा । 'अथ 'भ्वादिभित्ठुद्वय' इति जेरिरसंज्ञा ज्ञेया । आका-
 रस्यापीरसज्ञा पकारस्य 'धात्वादेः प स' इति सावमपि घोष्यम् । वच दीप्तावभि
 प्रोतो चेति । अभिप्रीति-प्रीतिविपयीभवमन् । दीप्ती-रीचते सूर्यं ह्ययुदाहरणम् ।
 प्रकाशते ह्ययर्थं । अभिप्रीती-हर्ष्यं रोचते मक्ति ह्ययुदाहरणम् । वर्तते । घृत् घातोः
 'वर्तमाने लट्' इति लटि ल स्थाने प्रथमपुरुर्यैकवचने ते कृते, तस्य 'तिष्ठ शिस्ता-
 र्घधातुकम्' इति सार्वधातुकत्वे 'कर्त्तरि शप्' इति शपि, तापयोरिरसज्ञायां लोपे च,
 शिश्वात्स्यापि सार्वधातुकत्वे, 'गुणन्तलघूपधस्य च' इति घृत् ऋकारस्य गुणे
 अकारे जाते 'उरण् रपर' इति रपरे च जाते 'द्वित आरमनेपदानां डेरे' इति डेरेस्वे
 च कृते लिङिवा 'वर्तते' इति रूपम् । वृद्गध स्वसनोरिति । यद्गुवचनाद् घृतादिभ्य
 इति गन्धते । 'क्षेपारकर्त्तरि' इत्यतः पररमेपदमित्यनुवर्तते, 'वा वयय.' ह्ययतो वेति
 च तदाह वृगादिभ्य इति । न वृद्गध इति । 'सेऽसिचि' इति सूत्रात् से इति, 'आर्ध-
 धातुकस्येड्ववञादे' इत्यत 'आर्धधातुकस्येड्' इति धातुवर्तते । तदाह—सकारादे
 रार्धधातुकस्येडि । वर्त्यति । घृत्घातोलृटि, अनुधेन्वलोपे 'घृत् लृ' इति स्थिते
 'वृद्गध. स्वसनो' इति वा पररमेपदे प्रथमपुरुर्यैकवचने तिषि, पगतौ
 'स्वतापी लृलुटो.' इति स्ये स्यस्यार्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्ववञादे'
 इति इडागमे प्राप्ते 'न घृद्गधश्चतुर्म्यं' इति तस्य निषेधे कृते लघूपधगुणे
 'उरण् रपर' इति रपरे 'वर्त्यति' इति । वर्तिभ्यते । आरमनेपद्पद्ये रूपम् ।

अनुप—ऋदुप (इत्य ऋकारोप) बाहुभोसे पर जो लिट् (क्तिट्स्वानिक आदेश)
 वसका पूर्ववेप्रतिषेधेन अर्थात् गुणप्राप्तिउे पूर्व हो 'किरत्' हो । वृद्गध.—वृगादि पांच
 बाहुभोसे पररमेपद हो, 'स्य' तथा 'सन्' के परे, विकल्पते ।

नोट.—'वृत्-वृत्-वृत्-वृत्-वृत्' ये पांच बाहु वृगादि हैं ।
 न वृ—वृगादि चार बाहुभोसे पर सादि आर्धधातुकको 'वृत्' नहीं हो, 'वृत्' कोर
 'आन' के अभावमें ।

वर्तताम् । अवर्तत । वर्तत । वर्तिषीष्ट । अवर्तत । अवर्तिष्ट । अवर्त्यत् । अवर्ति-
 प्यत । एवं—वृधु वृद्धौ । शृधु शब्दकुत्सायाम् ॥ स्यन्दू प्रसन्नगणे । स्यन्दते ।
 सस्यन्दे । सस्यन्दिपे । सस्यन्त्से । सस्यन्दिष्वे । सस्यन्त्रे । स्यन्दिता । स्यन्ता ।
 'शुद्धयः स्यसनोरि'ति परस्मैपदे कृते ऊदिल्लक्षणमन्तरङ्गमपि विकल्पं बाधित्वा चनु-
 र्ग्रहणसामर्थ्यात् शुद्धय इति निषेधः । स्यन्त्स्यति । स्यन्दिष्यते । स्यन्त्स्यते ।
 स्यन्देत् । स्यन्दिषीष्ट । स्यन्त्सीष्ट । 'शुद्धयो लुङो'ति परस्मैपदपक्षेऽङ् । नलोपः ।
 अस्यदत् । अस्यन्दिष्ट । अस्यन्त । अस्यन्त्साताम् । अस्यन्त्सत । अस्यन्त्याः ।
 अस्यन्दूष्वम् । अस्यन्त्सिष । अस्यन्त्स्यत् । अस्यन्दिष्यत । अस्यन्त्स्यत । अनुविष-
 र्यभिनिभ्यः स्यन्दतेरप्राणिषु । ८।३।७२। एभ्यः परस्याप्राणिकृत्वकस्य स्यन्दतेः
 सस्य वो वा । अनुष्यन्दते, अनुस्यन्दते वा जलम् । अप्राणिषु किम् ? अनुस्यन्दते

अवृत्तव । वृत्धातोर्लुङि अनुबन्धलोपे लः स्याने 'शुद्धयो लुङि' इति वा परस्मैपदे
 तिपि अनुबन्धलोपे, च्छौ, 'पुषादिद्युताद्यलृदितः परस्मैपदेषु' इति च्छेरेडि अङ्ग-
 स्यादागमे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे 'अवृत्तव' इति रूपम् । 'अवर्तिष्ट' इति ।
 अत्र लुङस्ते, च्छौ, च्छेः सिचि, इधि गते सिचः सकारस्थेदागमे गुणे अडागमे सिचः
 सकारस्य पत्वे ष्टुत्वे च रूपम् । अत्स्यत् । वृत्धातोर्लुङि कृते 'स्यतासी लुङुतोः'
 इति स्ये 'वृद्धयः स्यसनोः' इति परस्मैपदत्वे लृङो लस्य तिपि च कृते 'वृत् स्य
 ति' इति जाते स्यस्यार्धघातुकःवादिटि प्राप्ते 'न वृद्धयश्चतुर्भ्यः' इति तस्य इटो
 निषेधे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे
 अडागमे 'अवर्त्यत्' इति रूपम् । पदे लुङस्ते स्ये इटि गुणे पत्वे अटि च कृते
 'अवर्तिष्यत' इति रूपम् । वृधु = वृद्धौ । वर्धते । ववृधे । वर्धिता । वर्त्यति—वर्धि-
 ष्यते । वर्धताम् । अवर्धत । वर्धत । वर्धिषीष्ट । अवृधत्—अवर्धिष्ट । अवर्त्यत्—अव-
 र्धिष्यत । शृधु = शब्दकुत्सायाम् । शर्धते । शशृधे । शर्धिता—शर्धति—शर्धिष्यते ।
 शर्धताम् । अशर्धत । शर्धत । शर्धिषीष्ट, अशर्धत्—अशर्धिष्ट । अशर्धत्—अश-
 र्धिष्यत । स्यन्दू=प्रसन्नगणे । स्यन्दते । सस्यन्दे । स्यन्दिता—स्यन्ता । स्यन्त्स्यति—
 स्यन्दिष्यते । स्यन्दताम् । अस्यन्दत् । स्यन्देत् । स्यन्त्सीष्ट—स्यन्दिषीष्ट ।
 अस्यदत्—अस्यन्दिष्ट—अस्यन्त । अस्यन्त्स्यत्—अस्यन्दिष्यत—अस्यन्त्स्यत । अनु-
 विपर्यभिनिभ्य इति । 'सस्य पः' इत्यनुवर्तते । एभ्य उपसर्गभ्यः परस्य
 स्यन्दतेः सस्य पत्वं स्यादप्राण्यर्थं गम्ये इति भावः । अनुष्यन्दत इति । स्यन्दू-
 धातोर्लुङि तडि शपि टेरेत्वे 'अनुविपर्यभिनिभ्यः' इति पत्वे 'अनुष्यन्दते' इति

अनु—अनु-वि-रि-मभि-नि' इति उपसर्गोत्ते पर अप्राणिकृत्वङ् 'स्यन्द्' धातु

हातो ॥ कृपू सामर्थ्ये । कृपो रो लः टारारिटा कृपः ताः रः का इति वृद्धेः ।
 कृपे रेफस्य लः । कृपेर्नाकारस्यावयवो यो र् = रेफसदृशस्तस्य च ल = लकार-
 सहराः स्मात् । कल्पते । कल्पये । कल्पयिष्ये । कल्पयिष्ये । इत्यादि 'स्मग्दि' वत् ।
 लुटि च कल्प' । १।३।२३। लुटि, स्वसनोश्च कल्पे परस्मैपदं वा । तासि च
 कल्पः । ७।२।६०। कल्पे परस्य तासे, सादेराद्धातुद्वयेऽन, तत्रानयोरभावे ।
 कस्तासि । कल्पितासे । कस्तासे । कल्पयति । कल्पयति । कल्पयते । कल्पयते । कल्पयति ।

सिध्यति । भाष्यभावे तु अनुसन्धे इति सिद्धमेवेति भाष्य । कृपो रो ल इति । र
 इति २४ी अत आह—रेफस्येति । कल्पत इति । कृपू सामर्थ्ये अस्माद्धातोः लुटि लुटि चापि
 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कल्प-अ-त' इति पाठे 'कृपो रो लः' इति रस्य लत्वे देरेत्वे
 'कल्पते' इति सिध्यति । कल्पये-कल्पयते-कल्पयिष्ये । कल्पयिष्ये-कल्पयिष्ये अथ
 'दीर्घो विधाद्वे ट् टेन रूपद्वयम् । कल्पयते-कल्पयिष्ये । कल्पये कल्पयिष्ये-कल्पयिष्ये ।
 कल्पयिष्ये-कल्पयिष्ये । लुटि चेति । वृद्धय रपसनो इत्यतः स्वसनोरित्यनुपज्यते ।
 परस्मैपदमित्यनुवर्तते । कल्प इति पञ्चमी । तासि च कल्प इति । कल्प इति
 पञ्चमी अत आह—कल्प. परस्येति । कस्तासि । कृपधातोलुटि आत्मनेपदे प्राप्ते तद्वा-
 चित्वा 'लुटि च कल्प' इति धैमापिके परस्मैपदे सिपि तासि 'स्वरति' इति धैमाव-
 केडागमं प्राप्ते 'तासि च कल्प' इति तासि परत्वे इडागमाभावे 'पुगन्त' इति
 गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः' इति लत्वे 'कस्तासि' इति सिध्यति । आत्मनेपदे तु
 यासि 'यास. से' इति 'से' आदेशे तासि 'स्वरति' वेति 'कल्पितासे' । इडभावे
 'कस्तासे' इति रूपद्वयमपि साधु । कल्पयतीति । कृपधातोलुटि 'लुटि च कल्प'
 इति अकारात् परत परस्मैपदे तिपि 'स्वतासी' इति स्वप्रत्यये 'स्वरति' इति वेति
 प्राप्ते 'तासि च कल्प' इति इडागमनिषेधे 'पुगन्त' इति गुणे रपरत्वे 'कृपो रो लः'
 इति रस्य लत्वे 'कल्पयति' इति रूपम् । परस्मैपदाभावे 'कल्पय-ते' इति स्थिते
 'स्वरति' इति वेति कल्पयति-कल्पयते इति रूपद्वयम् । कल्पताम् । अक-
 रपत-कल्पते । कल्पयिष्येति । कल्प+सी+स+त इति स्थिते 'स्वरति' इति वेति
 'पुगन्त' इति गुणे 'कृपो रो ल' इति लत्वे उभेयोरपि परत्वे कल्पयति इति

सम्बन्धी सकारको बन्ध हो, विकल्पसे । कृपो—'कृप्' धातु के रेफको अत्व हो तथा
 'कृप्' के अकारावयव भी रेफसदृश भाग वक्तो अकारसदृश आदेश हो । लुटि—'कल्प'
 धातुसे परस्मैपद हो, 'लुट्' 'रय' और 'सम्' के परे विकल्पसे । तासि—'कल्प'
 धातुसे पर 'तास्' और 'सादि' आर्षधातुको 'रट्' नहीं हो, 'तक्' और 'मान' के
 अभावमें ।

लिङ्सिचावात्मनेपदेषु । १।२।११। इक्षमीपादलः परी सनादो लिङ्, आत्म-
नेपदपरः सिचवेत्येतां कितौ स्तः । क्लृप्तीष्ट । अक्लृप्त् । अक्लिपट । अक्लृप्तम् ।
अक्लृप्स्यत् । अक्लिपस्यत् । अक्लृप्स्यत । इति वृतादयः ।

अथात्मनेपदम् ।

दद् दाने । ददते । दददे । दददाते । दददिरे । ददिता । ददिध्यते ।
ददताम् । अददत । ददेत । ददिषीष्ट । अददिष्ट । अददिध्यत ॥ अणुषू लघायाम् ।
प्ररते । तुफलमजत्रपक्ष । दिष्ठा १२२। एयामत एत्त्वमभ्यासलोपश्च, किति लिटि,
नेत्रि यलि च । त्रेपे । त्रपिता । त्रमा । त्रपिच्यते । त्रप्स्यते । त्रपताम् । अत्र-

रूपं भवति । इह भावे तु—लिङ्सिचाविति । इक्षमीपादिति, कृतादीति, किदिति
चानुवर्तते । क्लृप्ताद्येति । 'कृप्-सी-स्-त्' इत्येकरवायां 'कृपो रो छः' इति छत्वे
'स्वरीति' इह भावे 'पुगन्त' इति गुणे प्राप्ते सं 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' इति लिङ्-
कियावेन 'विद्यति च' इति गुणनिषेधे परत्वे प्लुत्वे 'क्लृप्तीष्ट' इति रूपम् । अक्लृप्-
दिनि । कृपधातोः 'द्युज्यो लुङि' इति लुङि परस्मैपदे तिपि 'हतश्च' इतीलोपे 'प्रापदि-
घृतादि' इति च्लोः स्थानेऽह्लादेशे हिरवेन गुणाभावे 'अक्लृपत्' इति प्रथमं रूपम् ।
आत्मनेपदे तु 'अक्लृप् + ह + स् + त' इति जाते 'पुगन्त' इति गुणे परत्वे प्लुत्वे च
'अक्लिपट' इति । 'स्वरीति' इतीष्टभावे तु 'अक्लृप् + स् + त' इति स्थिते 'हालो
झलि' इति सलोपे 'अक्लृप्त' इति तृतीयं रूपं भवतीति भावः । अत्रे—अक्लृप्स्यत्-
सकलिपस्यत-अक्लृप्स्यत' इति रूपाण्युद्धानि ।

दद्-दाने । दानञ्च—स्वस्वत्वनिवृत्तिपूर्वकपरस्वत्वोत्पादनमिति भावश्च । वद्रे ।
दद्धातोर्लिङ्स्तादेशस्य एदि, द्वित्वे अभ्यासकार्यं च जाते 'अत एकहल्मध्ये-
नादेशादेर्लिङि' इति एत्वेऽभ्यासलोपे, 'न घासदद्वादिगुणानाम्' इति
निषेधात् । तुफलमजत्रपक्षेति । 'अत एकहल्मध्ये' ह्रस्वत अत इति, लिटीति चानु-
वर्तते । 'ध्वसोरेद्वाचभ्यासलोपश्च' इत्यतः एदिति, अभ्यासलोपश्चेति च, 'गमहल'
इत्यस्मात् कित्तीति, 'यलि च सेटि' इति सूत्रज्ञानुवर्तते । तदाह—एयामत इति ।
त्रेपे । त्रपधातोर्लिङ्स्तादेशस्य स्थाने 'लिटस्वक्षयोरेवित्त्वे' इति एदि, षगते
'अणु ए' इति स्थिते 'लिटि घातोः' इति द्वित्वे 'पूर्वाभ्यासः' इत्य-
भ्यासत्वे 'तुफलमजत्रपक्ष' इति त्रप-अकारस्यैत्वे अभ्यासलोपे च कृते मिलि-
र्या 'त्रेपे' इति । त्रपिता । त्रपधातोर्लिङ्स्तादेशस्य स्थाने ङात्वे तासि, बिचस्त्वान-

लिङ्—इक्षमीप 'दल्' से पर जो झळादि 'लिङ्' और आत्मनेपदपरक छळादि
'सिच्' यह कित् हो । तुफ—'तु-कठ-मज-त्रप' इन पाठ्यों को परवाभ्यासलोप हो,
कित्-लिट्-सेट् थलके परे ।

पत । प्रपेत । प्रपिषीष्ट । प्रप्षीष्ट । अग्रपिष्ट । अग्रप्त । अग्रपिष्यत । अग्रप्स्यत ।
घट चेशायाम् । घटते । जघटे । व्यद्य मयस्यलनयो । व्यद्यते । व्यद्यो लिटि
। ऽ। ऽ। ६। ८। व्यथेरभ्यासस्य सप्रसारण स्याल्लिटि परे । हलादि शेषापवाद । विभ्य-
ये । प्रथ प्रथाने । प्रथते । पप्रथे ॥ प्रस विस्तारे । प्रसते । पप्रसे । अद् मर्दने ।
अदते । स्वद् स्वदने । स्वदन—विशवणम् । स्वदते । ऋप कृपायां, गतौ च ।
ऋपते । अित्चरा सग्रमे । त्वरते । दुभ्राज् दुभ्राष्ट् दुभ्राश्ट् दीप्तौ । भ्राजते ।

ध्यादिभस्यापि टेलीपे 'अप् स ध्या' इति जाते 'स्वरतिसूतिसूयतिपूजदितो वा' इति
विकल्पेनेडागमे 'अपिता' इति रूपम् । इडागमाभावे 'अप्ता' इति । प्रपिषीष्ट । प्रप्षा-
तोराशिपि लिङ्गतादेशे तस्याधंभात्तत्त्व सीयुटि, उटि गते 'स्वरतिसूतिसूयतिपू-
जदितो वा' इति वा इटि 'सुट्तियो' इति ङकारस्य सुडागमे 'अप् इ सी सूत्' इति
जाते इग्निमित्तके सीयुट् सस्य पावे, सीयुट् इग्निमित्तके सुट् सस्य पावे,
तन्कारस्य प्दुाये च जाते 'अपिषीष्ट' इति रूपम् । इडभावे—'प्रप्षीष्ट' इति । अग्रपिष्ट ।
प्रपघातोर्लुङ्गस्ते ष्लौ, ष्ले स्थाने सिचि, इचि गते, 'स्वरतिसूति०' इति इडागमे
अङ्गस्याडागमे पावे ष्ठुाये च 'अग्रपिष्ट' इति रूपम् । अग्रप्त । प्रपघातोर्लुङ्गस्ते ष्लौ
ष्ले सिचि इचि गते इडभावे अङ्गस्याडागमे चकृते 'अ अप् सूत्'—इति जाते
'म्लो ऋलि' इति सलोपे 'अग्रप्त' इति रूपम् । घट—चेशायाम् । घटते—जघटे—
घटित्वा—घटिष्यते—घटताम्—अघटत—घटेत घटिषीष्ट—अघटिष्ट—अघटिष्यत । व्यद्य—मय-
सचलनयो । व्यद्यते । व्यद्यो लियेति । अग्यासस्येति सप्रसारणेमिति चानुवर्तते,
अत आह व्यथेरभ्यासस्येति । विभ्यष इति । व्यथयानोलिटि तडि 'लिटि धातो' इति
द्विष्वे 'पूर्वोऽभ्यास' पूर्वस्याभ्यासाधे हलादि शेषमपवादत्वाद्वाधित्वा 'व्यथो लिटि'
इत्यनेन सप्रसारणे 'न सप्रसारणे सप्रसारणम्' इति ज्ञापकात् परस्यैप यकारस्य पूर्व-
सप्रसारणे 'व-ह-ध-भ्यध-त' इति स्थिते 'हलादि--शेष' इति श्लोपे 'लिटि-
स्तद्ययो' इति तस्याने एडादेशे विहिते 'विष्यथे' इति । व्यथिता—व्यथिष्यते—व्य-
थताम्—अव्यथत—व्यथेत—व्यथिषीष्ट—अव्यथिष्ट—अव्यथिष्यत । प्रथ—प्रथयाने । प्रथते—
पप्रथे—प्रथिता—प्रथिष्यते—प्रथताम्—अप्रथत—प्रथेत—प्रथिषीष्ट—अप्रथिष्ट—अप्रथिष्यत ।
प्रस—विस्तारे । प्रसते—पप्रसे—प्रसिता—प्रसिष्यते—प्रसताम्—अप्रसत—प्रसेत—प्रसिषीष्ट-
अप्रसिष्ट—अप्रसिष्यत । अद् = मर्दने—अदते—मग्रदे—अदिता—अदिष्यते—अदताम्-
अअदत—अदेत—अदिषीष्ट—अअदिष्ट—अअदिष्यत । स्वद् = स्वदने । स्वदते—अस्वद-
स्वदिता स्वदिष्यते स्वदताम्—अस्वदत—स्वदेत स्वदिषीष्ट अस्वदिष्ट अस्वदिष्यत ।
ऋप = कृपायां गतौ च । ऋपते—अकृपे—ऋपिता—ऋपिष्यते—ऋपताम्—अऋपत—ऋ-
पेत—ऋपिषीष्ट—अऋपिष्ट—अऋपिष्यत । अित्चरा—सग्रमे । त्वरते—त्वरते—त्वरिता—त्वरि-

व्यथो—व्यप् भातुके भ्यासको सप्रसारण हो 'लिटि' के परे ।

फणां च सप्तानाम् । दि०४।२५। फण्-राजू-भ्राजू प्राश्ट-भ्लाश्ट-स्यसु स्वन्—
 एषां वा एत्वाभ्यासलोपी स्तः, किति लिटि, सेटि यकि च । भ्रजे । बभ्राजे । 'वा
 आशे' ति इत्वा । आशते । भ्रेशे । बभ्राशे । भ्लाशयते । भ्लाशते ।
 भ्लेशे । बभ्लाशे । रमु ङीढायाम् । रमते । रेमे । रन्ता । जभी जुभि गात्र-
 विनामे । रधिजभोरचि । ७।१।६। रधिजभोरचि नुम् । जम्भते । जजम्भे ।
 ज्जम्भते । जज्जम्भे ॥ इत्यात्मनेपदिनः ।

अथोभयपादनः

श्रिन् देवायाम् । श्रयति । श्रयते । शिश्राय । शिश्रिये । श्रयितासि । श्रयि-

प्यते-स्वरताम्-अस्वरत-स्वरेत । स्वरिषीष्ट-अस्वरिष्ट-अस्वरिष्यत । दुभ्राजू-दुभ्राश्ट-
 दुभ्लाश्ट-दासौ । भ्राजते । भ्राशयते-भ्राशते [वाभ्राशभ्लाशइति श्रयिक्कल्पः, पक्षे शप्]
 भ्लाशयते-भ्लाशते । फणां च सप्तानामिति । फणामिति पृष्ठीवहुवचनम् । एत्वाभ्यासलोपी
 किति लिटि इति चानुवर्तते । भ्रज इति । दुभ्राजू घातोऽनुवचलोपे लिटि तद्धि 'लिटि
 घातो'रिति द्विवे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपे 'लिटि-
 स्तद्धयो'रिति पश्चादेशे 'भ्रजे' इत्यस्य सिद्धिः । असति एत्वाभ्यासलोपे हलादिः शेषे
 ऽभ्यासस्य जश्चैव भश्य घत्वे कृते 'बभ्राजे' इति रूपम् । भ्रंश इति । पूर्ववत् 'फणां
 च सप्तानाम्' इत्येत्वाभ्यासलोपे 'भ्रेशे' इति रूपम् । तदभावे च बभ्राशे । भ्लेश इति ।
 अत्रापि 'फणां च सप्तानाम्' इति एत्वाभ्यासलोपेन 'भ्लेशे' इति रूपम् । तदभावे
 'बभ्लाशे' इति रूपम् । आजिता-भाशिता-भ्लाशिता । आजिप्यते-आशिप्यते-
 भ्लाशिप्यते । आजताम्-आशयताम्-आशताम्-भ्लाशयताम्-भ्लाशताम् । अआजत-
 अआशयत-अआशत-अभ्लाशयत-अभ्लाशत । आजेत-आश्येत-आशेत-भ्लाश्येत-
 भ्लाशेत । आजिषीष्ट-आशिषीष्ट-भ्लाशिषीष्ट । अआजिष्ट-अआशिष्ट-अभ्लाशिष्ट । अआ-
 जिप्यत-अआशिप्यत-अभ्लाशिप्यत । रमुघातोः रमते । रेमे-एत्वाभ्यासलोपी । रन्ता-
 रंस्यते-रमताम्-अरमत-रमेत-रंसीष्ट-अरंस्त-अरंस्यत । रधिजभोरचि इति । नुमित्यनु-
 वर्तते । रधिजभोर्घात्वोर्नुमागमः स्यात् अचि परत इत्यर्थः । जभी-जुभि-गात्रवि-
 नामे । गात्रस्य विनामः वक्रभावः । जम्भते इति । जभीघातोर्लटि तद्धि 'रधिजभोरचि'
 इति नुमि मित्वादन्यादचः परत्वेऽनुस्वारे परस्वर्णे टेरेत्वे कृते 'जम्भते' इत्यस्य
 सिद्धिः । जजम्भे-जग्मिता-जग्मिप्यते-जग्मताम्-अजग्मत-जग्मेत-जग्मिषीष्ट-
 अजग्मिष्ट-अजग्मिष्यत । ज्जम्भे । ज्जम्भते-जज्जम्भे-ज्जग्मिता-ज्जग्मिप्यते-ज्जग्मताम्-
 अज्जग्मत-ज्जग्मेत-ज्जग्मिषीष्ट-अज्जग्मिष्यत । इत्यात्मनेपदिप्रक्रिया ।

शिश्राय । शिश्रातोः 'परोच्चे लिट्' इति लिटि, लिटो लः स्थाने कर्तृगामिक्रियाफ-

फणा-फणादि सात धातुको भो एत्वाभ्यास लोप हो, कित्-किट्-सेट्
 षल्के परे । रधि- 'रध्' और 'अम्' धातुको नुमागम हो, अजादि प्रत्ययके परे ।

ताठे । अदिध्यति । अदिध्यते । अद्यत् । अद्यताम् । अद्ययत् । अद्ययन । अद्येत् । अद्येत ।
 आद्यात् । अधिधीष्ट । अच् । अदिप्रियत् । अदिप्रियत । अद्यप्रियत् ॥ अद्यप्रियेत ॥
 अद्य् । अद्ये । अर्नाति । अर्नाते । अरिष्यति । अरिष्यते । अरत् । अरताम् ।
 अमरत् । अमरत । अमेत् । अमेत । अिधात् । अश्च । १।२।१२। अच्णात्परौ षला-

लामाये प्रथमपुरुषैकवचने त्रिवि, परस्मैपदानां 'अलत्सुस्यल्लभुसगणवमा' इति त्रिवे
 णलि णकारस्य लकारस्य चेतसज्ञायां लोपे च 'लिटि घातोदनम्यासस्य' इति द्विवे
 'अधि अ' इति जाते 'पूर्वांभ्याम्' इत्यभ्यासावे 'ह्लादि शेष' इति 'नि' अवशिष्टे
 'भार्षणानुकार्यघातुकयो' इति गुणे 'पूर्वांभ्याम्' इत्यभ्यासावे 'अधि अ' इति
 जाते 'अत उपधाया' इत्युपधाकारस्य पूर्यौ 'सिन्माय' इति । अन्निभयत् । अिधातो-
 लुङ्ङित्वि ष्टुत् इति ष्टु 'निधितुभ्यः कर्तरि चङ' इति ष्टे स्थाने चङि,
 चकारस्य ककारस्य चेतसज्ञायां लोपे च 'हृते', 'चङि' इति द्विवे, अभ्यासावे,
 अभ्यासकार्ये च वृत्ते 'अधि अ त्रि' इति जाते 'इत्तश्च' इति त्रिवे इकारस्य लोपे,
 'लुङ्ङित्त्वेऽप्युदात्त' इति अक्षरयादागमे 'अधि रनुधात्पुत्र्वां योरित्यङ्ङव्यौ'
 इति द्विवे 'अधिप्रियत्' इति रूपम् । अन्निभयत् । अिधातोर्लुङ्ङित्त्वे, ष्टु 'निधितु-
 भ्यः कर्तरि चङ' इति ष्टेऽञ्चि, द्विवे, अभ्यासकार्ये, अक्षरयादागमे, 'अधि अ त्रि' इति
 स्थिते 'अधि रनुधात्पुत्र्वां योरित्यङ्ङव्यौ' इति द्विवे, 'अधिप्रियत' इति
 रूपम् । अरति । अिधात्पुत्र्वां योरित्यङ्ङव्यौ । तत्र ङानुगामिक्रियाफलामावे ऋधातो
 'वर्तमाने
 णट्' इति णटि, णटो ण स्थाने 'नितसस्ति' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने त्रिवि,
 णपि, 'सावभातुकार्यघातुकयो' इति गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरं' इति रपरे
 'अरति' इति रूपम् । ङानुगामिक्रियाकाले तु ऋधातोर्लुङ्ङित्त्वे णपि गुणे रपरे 'दित'
 'आत्मेनपदानां दे' इति देरेत्वे च वृत्ते, 'अरे' इति रूपम् । अमार । ऋधातो 'परोक्षे
 लिट्' इति लिटि, प्रथमपुरुषैकवचने परस्मैपदसम्प्रज्ञके 'नितसस्ति' इत्यादिना त्रिवि,
 त्रिवे स्थाने 'परस्मैपदानां अलत्सुस्यल्लभुसगणवमा' इति णलि, णस्य लृत्व
 चेतसज्ञायां लोपे च 'लिटि च' इत्याद्यघातुकयो 'लिटि घातोदनम्यासस्य' इति द्विवे
 'पूर्वांभ्याम्' इत्यभ्यासावे 'अरत्' इत्यभ्यासकार्येऽभ्यासावे 'उरण् रपरं' इति
 रपरेत्वे च वृत्ते 'अर् अ अ' इति जाते 'ह्लादि शेष' इति मन्वशिष्टे
 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासमस्य लोपे 'अर् अ' इति स्थिते 'सावभातुकार्य-
 घातुकयो' इति अकारस्य गुणे अकारे जाते 'उरण् रपरं' इति रपरे
 मन् 'अत उपधाया' इति पूर्यौ ह्लात्वा 'अमार' इति रूपम् । अिधात् ।
 ऋधातोरादीर्लुङ्ङित्त्वे पठते 'लिकासिधि' इति त्रिवे आर्षणानुकार्ये

अच्—अर्णाते पर नो ह्लादि 'किञ्' जीर आत्मेनरपरक ललादि 'सिचु' न इ कित्त हो ।

दी लिङ् आत्मनेपदपरः विच्चेत्येतां क्तितां स्तः । मृषीष्ट । मृषीयास्ताम् । अभाषीत् ।
 ह्रस्वाद्भात् । ८।२।२७। सिचो लोपो, क्लि। अमृत । अमरिष्यत् । अमरिष्यत् ॥
 हृन् हरणे । हरति । हरते । जहार । जहनुः । जहुः । जहर्य । जहिष । जहिम् ।
 जहे । जहिषे । हर्ता । हर्तासि । हर्तासे । हरिष्यति । हरिष्यते ॥ धृञ् धारणे ।
 धरति ॥ णीष् प्रापणे । नयति । नयते । निनाय । डुपचप् पाके । पचति
 पचते । पपाच । पेचिय । पपकथ । पेचे । पका । पच्यति । पच्यते । अपक ।

‘किदादिपि’ इति यासुटि, उटि गते यासुटः क्तिवात् गुणाभावे ‘रिङ्शयगि-
 ल्लु’ इति षट्कारस्य रिङि कृते ङस्यसंज्ञायां लोपे च जाते तिप् इकारस्य ‘इतश्च’
 इति लोपे ‘स्कोः संयोगाद्योरन्ते च’ इति सलोपे ‘भ्रियात्’ इति । मृषीष्ट ।
 मृषातोराशीलिङ्गस्ते संयुटि, उटि गते, यलोपे ‘सुट्तिथोः’ इति तस्य सुडागमे,
 उटि गते, ‘मृ सी स् त’ इति जाते ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इटो निषेधे
 ‘उश्च’ इति क्तिवात् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति प्राप्तगुणस्य ‘क्लिङ्ति च’ इति
 निषेधे, पत्वे पुनः पत्वे ष्टुत्वे च ‘मृषीष्ट’ इति रूपम् । अभाषीत् । मृषातोर्लुङ्गस्तिपि,
 च्लौ, ‘च्लेः सिच’ इति सिचि, इचि गते, अटि तिप् इकारलोपे ‘अ मृ स् त्’ इति
 स्थिते ‘क्लिचि वृद्धिः परमैपदेषु’ इति वृद्धौ, रपरत्वे पत्वे च ‘अभाषीत्’ इति रूपम् ।
 ह्रस्वादज्ञादिति । ह्रस्वान्तादित्यर्थः । सिच इति भाष्यम् । ‘क्षलो क्षलि’ इत्यतो
 क्षलीति ‘संयोगान्तस्य लोपः’ इत्यतो लोप इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन
 सूत्र व्याचष्टे—सिचो लोपो क्षलात् । जहार । हृषातोर्लिङ्गस्तिपि, तिपो णलादेशे,
 अनुबन्धलोपे ‘लिङि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इत्यभ्यासत्वे
 ‘उरत्’ इति अभ्यासऋवर्णस्याकारे ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे च कृते ‘हर् हृ अ’
 इति स्थिते ‘हलादिः शेषः’ इति रलोपे ‘कुहोरञुः’ इति अभ्यासहस्य क्षत्वे
 ‘अभ्यासे चर्च’ इति क्षस्य जत्वे ‘जह्र अ’ इति भूते ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति
 गुणे रपरत्वे च ‘अत उपधायाः’ इति वृद्धौ ‘जहार’ इति । पेचिय । पचधातोर्लिङ्गस्ति-
 पि, सिपः थलि, अनुबन्धलोपे, ‘लिङि धातोरनभ्यासस्य’ इति द्वित्वे, अभ्यासत्वे
 ‘हलादिः शेषः’ इति चलोपे ‘प पच् थ’ इति जाते ‘लिट् च’ इति यल आर्धधातुक-
 स्वे ‘आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः’ इति इटि प्राप्ते ‘एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति तस्य
 निषेधे क्रादिनियमान्नित्ये इट्त्वे प्राप्ते भारद्वाजनियमात् वा इटि कृते ‘थलि च सेटि’
 इति ष्टुत्वेऽभ्यासलोपे च ‘पेचिय’ इति रूपम् । इडागमाभावपक्षे सेट्थलभावात्
 ष्टुत्वाभ्यासलोपाभावेन ‘प पच् थ’ इत्यत्र ‘चोः लुः’ इति लुत्वे ‘पपकथ’ इति रूपम् ।

ह्रस्वा—ह्रस्वान्त अङ्गते पर ‘सिच्’ कां लोप दो, ‘क्षल्’ के परे ।

अपक्वाताम् । भज सेवायाम् । भजति । भजते । भजे । भजा । भजायि । भजामे ।
 भजयति । भजयते । भजन्तु । भजताम् । भमाक्षीत् । भमक्ष । भमक्षताम् । भम-
 क्षयत् । भमक्षयत् ॥ यज देवपूजा-सप्रतिकरण-दानेषु । यजति । यजते । लिट्य-
 भ्यासस्योभयेषाम् । ६।१।१७। वन्यादीनां, प्रद्यादीनां चाभ्यासस्य सम्प्रसारण
 स्यात्कृति । इयाज । वचि स्वपियजादीनां कृति । ६।१।१५। वचि स्वप्योर्दजा-
 दीनां च सम्प्रसारण, कृति ।

पेने । पचघातोर्लिट्स्ते, तस्य स्थाने 'लिट्स्तेऽप्योरेगिरेष्' इति पृथि, शगते 'लिटि
 घातोरेनभ्यासस्य' इति द्विथे 'पूर्वोऽभ्यास' इति अभ्यासात् 'हलादि शेष' इति
 चष्टोपे 'पचच् प' इति मूत् 'अत् एङ् हल् मध्येऽनादैवादेर्लिटि' इति पचः अकारदेशे
 अभ्यासलोपे च जाते सयुक्ते कृते सति 'पेचे' इति रूपम् । भजे । मज्घातोर्लिट्स्ते,
 'लिट्स्तेऽप्योरेगिरेष्' इति तस्य स्थाने पृथि, शगते 'लिटि घातोरेनभ्यासस्य' इति
 द्विथे अभ्यासात्, अभ्यासकार्ये च 'वभज् प' इति स्थिते 'तृकृल्लभजप्रपञ्च' इति
 मकारोत्तरवर्तिन अकाररथे अभ्यासलोपे च 'भजे' इति । अमाशीत् । मज्घातो
 'लुङ्' इति लुङि, लुङ् स्थाने प्रथमपुरुषैकवचने तिपि पगते 'श्चि लुङि' इति
 श्चि, 'श्चि सिच्' इति सिचि, इचि गते, सिच सप्तार्धघातुकात्वे, इति प्राते 'एका-
 च' इति तस्य निषेधे अटि, तिप हकारस्य 'इत्थ' इति छोपे 'अभज् सत्' इति
 जाते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्य ईटि 'वदमज् हलन्तस्याच' इति
 मृदौ, जस्य युत्वे, चात्वे, सस्य पत्वे च 'अमाशीत्' इति रूपम् । लिट्यभ्यासस्योभयेषाम् ।
 'प्यञ् सम्प्रसारणम्' इत्यत सम्प्रसारणमित्यनुवर्तते । 'वचि स्वपियजादीनाम्' इति
 सूत्रोपात्ता, 'ग्रहिय्यावयि' इति सूत्रोपात्ताश्च उभयशब्देन गृह्यन्ते । तदाह—प्यञ्-
 दीनां प्रद्यादीनाञ्चेति । इयाज । यज्घातो, 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, लिटो ल् स्थाने
 प्रथमपुरुषैकवचने तिपि 'परस्मैपदानां णल्लुप्तुसुश्चलधुसणदवमा' इति तिपो णलि
 णस्य लस्य वेत्संज्ञायां लोपे च 'यज् अ' इति जाते 'लिट् च' इत्यार्धघातुकात्वेन
 शपोऽभावे, 'लिटि घातोरेनभ्यासस्य' इति द्विथे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासात्वे
 'हलादि शेष' इति जलोपे 'य यज् अ' इति भूत्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'

लिट्य—वभ्यादि भौर प्रद्यादि धातुओंके अभ्यासको सम्प्रसारण हो, 'लिट्' के परे ।

नोट—वभ्यादिते वचि, स्वपि भौर यजादि अर्थात् 'यजदेवपूजा' से लेकर 'इ
 ओ श्चि गतिपृथ्व्यो' पर्यन्त का ग्रहण होता है। जैसा कि—'यजिर्वपिर्वद्विश्चैव'
 ऐसा मूलमें कहा जायगा। एव प्रद्यादिते 'ग्रहि-ज्या-वयि-व्यधि-वद्वि विचति-पृथ्वि-
 पृच्छते-मृश्चति' का ग्रहण समझना चाहिए ।

वचि—वचि-स्वपि भौर यजादि को सम्प्रसारण हो, 'लिट्' के परे ।

‘यजिर्षपिर्षद्विश्वैव वसिर्वेज् व्येज् इत्यपि ।

हेन्वदी श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव’ ॥ १ ॥

ईजुः । ईजुः । इयजिय—इयष्ट । ईजे । यथा । ‘पढोः कः सि’ । यक्ष्यति । यक्ष्यते । यक्षतु । यजताम् । अयजत् । अयजत । यजेत् । यजेत । इज्वात् । रक्षीष्ट । अयाक्षीत् । अयष्ट ॥ चह प्रापणे । बहति । बहते । उवाह । ऊहतुः ।

इति अभ्यासकारस्य सम्प्रसारणेन हकारे जाते ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘अत उपधायाः’ इति उपधावृद्धौ मिलित्वा ‘इयाज’ इति रूपम् । वचि-स्वपीति । वचिस्वपीति इडा निर्देशः । सौत्रः सम्प्रसारणाभावः । अदिशब्दो यजिनैव सम्यग्यते, न तु वचिस्वपिभ्याम्, तथा सति हि वच्यादेः स्वप्यादेर्यजादेश्चेत्यर्थः स्यात् । तथा सति पृथक्स्वपिग्रहणं व्यर्थं स्यात्, अदादिगणे लुग्विकरणे ‘वच परि-भापणे’ ह्यारभ्य षष्ठस्य ‘अिष्वप् शये’ इत्यस्य वच्यादिग्रहणेनैव सिद्धेः । तदाह-वचिस्वप्योर्यजादीनाञ्चेति । यजादिपदेन यजिर्विपर्वद्विश्वैव वसिर्वेज् व्येज् इत्यपि । हेन्वदी-श्वयतिश्चैव यजाद्याः स्युरिमे नव ॥ १ ॥ इति नव ग्राह्याः । इयजिय । यजधातोर्लिटः सिप्, ‘परस्मैपदानां णल्लुप्तस्यल्’ इत्यादिना सिपः स्थाने थलि, ‘लिट् च’ इत्यार्ध-घातुकावे सिपः पित्वात् ‘असंयोगाक्षिट् क्त्’ इति क्त्वाभावे प्रथमतः ‘लिटि घातोरनभ्यासरय’ इति द्विवे ‘यज यजथ’ इति जाते ‘लिट्यभ्यासरयोभयेपाम्’ इति सम्प्रसारणे ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘इयज् थ’ इति भूते ‘आर्धघातुकर्येङ्-वलादेः’ इति इटि प्राप्ते, ‘एकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इटो निषेधे क्कानियमा-हित्यसिद्धि प्राप्ते, भारद्वाजनियमेन वा इडागमे, ‘इयजिय’ इति रूपम् । इडागमाभावे ‘इयज् थ’ इति स्थिते ‘ब्रह्मभ्रजसृजमृजयज’ इत्यादिना परत्वे थस्य ‘प्लुना प्लुः’ इति प्लुत्वे च ‘इयष्ट’ इति रूपम् । ईजे । यजधातोर्लिटस्ते, तस्यार्धघातुकावे ‘असंयोगाक्षिट् क्त्’ इति क्त्वे च ‘वचिस्वपियजादीनां किति’ इति सम्प्रसारणे, ‘सम्प्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे ‘इज् त’ इति जाते द्विवे, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च वृत्ते ‘इ इज् त’ इति भूते ‘अकः सवर्णे दीर्घः’ इति दीर्घ ‘लिटस्तस्योरेक्षरेच्’ इति तस्य स्थाने एशि शगते संयोगे च वृत्ते ‘ईजे’ इति रूपम् । अयाक्षीत् । यजधातोर्लुङ्गिस्तिपि, प्लौ, प्लेः सिचि, इषि गते सिचः सस्यार्धघातुकावे ‘एकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्’ इति इडभावे अटि तिपः इकारलोपे ‘अस्तिपिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तरस्य ईडागमे ‘अयज् ई व’ इति जाते ‘ब्रह्मभ्रजसृजमृज’ इति जरस्य परत्वे ‘पढोः कः सि’ इति परस्य कत्वे काप्परकत्वात् सिचः लकारस्य ‘आदेशप्रत्यययोः’ इति परत्वे क्प्ययोगे च जाते ‘चवृजहलन्तस्याचः’ इति वृद्धौ ‘अयाक्षीत्’ इति रूपम् । उवाह-वृद्धघातोर्लिटस्तिपि, तिपो णलि, अनुबन्धलोपे, द्विवे, ‘वह’ ‘वह् अ’ इति भूते ‘पूर्वोऽभ्यासः’ इति अभ्यासत्वे ‘लिट्यभ्यासरयोभयेपाम्’ इति अभ्यासवकारस्य

रुहः । उवदिय । 'हो ड' । अयस्तयोर्घोऽघः । ८।२।४०। अयः परयोस्तयोर्घः
 अयस्य तु दधाते । 'प्लुमा प्लु' । हा डे लोपः । ८।३।१३। अयस्य लोपः स्याद्धे
 परे । सद्द्विषहोरोदघर्णस्य । ६।३।१२२। अन्वयोरवर्णस्य चोत्सयात् ढ्रलोपे ।
 उवोड । ऊहे । षोडा । वधयति । वदयते । वइतु । वदताम् । अवहत् । अवदत् ।

सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादि षोष' इति ह्रलोपे 'उ व ह थ' इति
 स्थिते 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'उवाह' इति । उवदिय । वदघानोल्लिट् सिचि,
 सिपस्थलादेशे, 'लिट् च' इत्याद्युपधावृद्धौ 'आर्षधातुकरस्येद्वलत्वे' इति इटि प्राप्ते
 'पृकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्' इति इटो निषेधे 'कृयुष्टृ' इति प्राश्निनिष्पत्तिप्रोक्ते
 'उपदेशेऽजत्वत्' इति यल इटो निषेधे 'अतो भारद्वाजस्य' इति नियमात् भारद्वाज-
 मतेन इटि जाते 'वह् इ थ' इति भूते पिवात् किदभावेन प्रथमतो द्वित्वे अम्यासत्वे
 'लिट्यग्यासस्योभयेपाम्' इति अम्यासवकारस्य सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति
 पूर्वरूपे 'हलादि षोष' इति ह्रलोपे 'उवदिय' इति रूपम् । अयस्योरिति । अय
 इति पञ्चमी । तत्र यं चेति द्वन्द्वः । सकारादकार उच्चारणार्थः । सकारयकारयोरिति
 लभ्यते । अयः इति पञ्चमन्तम् । धाधातुभिन्नस्येति लभ्यते । तदाह—अय पर्यायिति ।
 सद्द्विषहो । ढ्रलोप इति । 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽग' इत्यस्यात् ढ्रलोपे इत्यनु-
 श्रुतेरिति भावः । उवोड । वदघानोल्लिट् सिचि, सिपस्थलि, 'पृकाच्च' इति इहमात्रे
 प्राप्ते प्राश्निनिष्पत्तिप्रोक्ते 'उपदेशेऽजत्वत्' इति इटो निषेधे यल स्थानिवत्त्वेन
 पिवात् 'असयोगाल्लिट् किव्' इति किदभावे, अत 'वधिसवपियजादीनां किति'
 इति न सम्प्रसारणम्, किन्तु 'लिटि धातोरनम्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽम्यास'
 इत्यम्यासत्वे 'लिट्यग्यासस्योभयेपाम्' इति अम्यासवकारस्य सम्प्रसारणे
 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'हलादि षोष' इति ह्रलोपे 'उ व ह थ' इति जाते
 'हो ड' इति अस्य ढ्रवे 'अयस्तयोर्घोऽघः' इति घकारस्य घकारे 'प्लुमा प्लु' इति
 षट्कारेन धस्य ढ्रत्वे 'हो डे लोपः' इति ढ्रलोपे 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽग' इति
 पूर्वस्याणो दीर्घं प्राप्ते तन्वाधित्वा 'सद्द्विषहोरोदघर्णस्य' इति अकारस्य ओरवे
 'उवोड' इति रूपम् । ऊहे । वदघानोल्लिट्स्ते, 'लिट्स्तेऽयोरितिरेव' इति तस्य स्थाने
 पृशि, शागते 'वह् ए' इति स्थिते 'असयोगाल्लिट् किव्' इति लिट् किरवात् 'वधिसव-
 पियजादीनां किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'लिटि
 धातोरनम्यासस्य' इति द्वित्वे अम्यासत्वे, अम्यासकार्ये सवर्गदीर्घे च 'ऊहे' इति ।
 अवाशीय । वदघानोल्लिट्स्ते, ष्टौ, ष्टे । सिचि, इचि गते, अटि, तिप इकारलोपे

अयस्तयोः—अयं से पर 'त' और 'थ' धो 'थ' हो, परन्तु 'अयसि' धो नहीं हो ।
 हो डे लोपः—इकारका लोप हो, इकारके परे । सद्द्विषहो—'सद्' और 'वद'

वहेत् । महेत । उघात् । वक्षीष्ट । अवाक्षीत् । अवोढाम् । अवाक्षुः । अवाक्षीः ।
 अवोढम् । अवोढ । अवाक्षम् । अवाचम् । अवाचम् । अवोढ । अवक्षाताम् । अय-
 सत । अवोढाः । अवक्षायाम् । अवोढ्वम् । अवक्ष । अवचवहि । अवचमहि ।
 अवचयत् । अवचयत ॥ लुवप् योजसन्ताने । यीजसन्तानं = क्षेत्रे विकिरणं, गर्मा-
 पानं च । अयं छेदनेऽपि । केशान्वपति । वपते । उवाप । ऊपे । वप्ता । वप्स्यति ।
 वप्स्यते । उप्यात् । वप्सीष्ट । उप्यवाप्सीत् । अवपत् ॥ वेञ् तन्तुसन्ताने ।
 वयति । वयते । वेञो वयिः । २।४।४१। स्याल्लिटि । इकार उच्चारणार्थः ।

‘अरितसिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तकारस्य ईडागमे ‘अ व ह् स ई त्’ इति स्थिते
 ‘घदमजहलन्तश्चाचः’ इति वकाराकारस्य वृद्धौ ‘हो ङः’ इति हस्य ङवे,
 ‘पढोः कः सि’ इति ङस्य कवे कापरकत्वात् ‘आदेशप्रयययोः’ इति सिचः सत्य
 पत्यं क्पयोभे ज्ञे जाते संयोगे कृते ‘अवाक्षीत्’ इति । अवोढ । वह्धातोर्लुङ्ङस्ते ङ्लौ च्लेः
 सिचि, इचो लोपे अटि, ‘अवह् सूत्’ इति स्थिते ‘हो ङ’ इति हस्य ङवे ‘क्षलो क्षलि’ इति
 सलोपे, ‘झपस्तयोर्धोऽधः’ इति तस्य घत्वे ‘एना एः’ इति घस्य एत्वेन ङकारे ‘हो ङे
 छोपः’ इति पूज्ङस्य लोपे ‘सटिवहोरोदवर्णस्य’ इति वकाराकारस्य ओकारे ‘अवोढ’ इति ।
 लुवप्-वीजसंताने । दपति-वपते । उवापेति । वपधातोर्लिटि तिपि णलि ‘लिटि धातोः’
 इति द्विवे पूर्वस्याभ्यासत्वे ‘लिटधभ्यासस्योभयेषाम्’ इत्यभ्यासवकारस्य संप्रसारणे
 ‘संप्रसारणाच्च’ इति पूर्वरूपे हलादिः शेषेण पकारलोपे ‘अत उपधायाः’ इत्युपधावृद्धौ
 ‘उवाप’ इति रूपं निष्पद्यते । ऊपे इति । वपधातोर्लिटि तलि ‘लिटस्तप्रयोः’ इति
 एशादेशे धातोर्द्विवे ‘वप्-वप्-ए’ इति स्थिते ‘लिटधभ्यासस्योभयेषाम्’ इति
 अभ्यासस्य संप्रसारणे हलादिः शेषे ‘वचिस्वपियजादीनां किति’ इति परस्य वकार-
 स्यापि यजादिवात्संप्रसारणे सवर्णदीर्घे कृते ‘ऊपे’ इत्यस्य सिद्धिः । वप्ता । वप्स्यति-
 वप्स्यते । वपन्तु-वपताम् । अवपत्-अवपत् । वपेत्-वपेत् । कित्वात्संप्रसारणम्,
 उप्यात्-वप्सीष्ट । अवाप्सीत् । ‘प्रणवाप्सीत्’ अत्र ‘नेगंदनद’ इति णत्वमूल्यम् । ‘अ-
 वप-सू-त’ इत्यवस्थायां ‘क्षलो क्षलि’ इति सलोपे ‘अवह’ इत्यस्य निष्पत्तिः । अव-
 प्स्यत्-अवप्स्यत् । वेञ् = तन्तुसंताने—वयतीति । वेधातोर्लिटि तिपि शपि ‘वयति-
 वयते’ । वेञो वयिः । लिटि वेञ्धातोर्वयादेशः स्यादिति सुत्रार्थः । उवापेति । वेञ्धातो-
 लिटि तिपि णलि ‘वेञो वयिः’ इति वयादेशे लिटिधातोरिति धातोर्द्विवे पूर्वस्याभ्या-
 सत्वे अहिज्यादिश्वात् ‘लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्’ इति संप्रसारणे हलादिः शेषे ‘उवय-
 अ’ इति जाते ‘अत उपधायाः’ इत्यतो वृद्धौ ‘उवाय’ इत्यस्य निष्पत्तिरिति भावः ।

वागु के अर्धको 'ओत्' हो, दूछोप होने पर । वेञो—'वेच्' को 'वय्' आदेश हो, 'लिट्'

ववाय । प्रहिव्याघयिष्यघिष्यघिचतिषुष्यतिषृच्छतिषृच्छतीर्णा किति च
 ।६।१।१६। चार्किति सप्रसारणम् । इति यकारस्य प्राप्ते—लिटि षयो यः
 ।६।१।३८। षयो यस्य सप्रसारण न ह्यार्लिटि । ऊयतुः । ऊयु । यश्चास्या-
 न्यतरस्यां किति ।६।१।३९। षो यस्य वो वा ह्यार्लिटि किति । ऊयतुः ।
 ऊयु । ययस्तासाहमावात्यलि नित्यमिट् । ववयिष । ह्यानिबस्वेन भिस्वात् ।
 ऊये । ऊत्रे । वयादेशाभावे । घञ् ।६।१।४०। वेभः संप्रसारण न ह्यार्लिटि ।
 ववो । ववतु । ववु । वविष । ववाय । ववे । ववाते । वविरे । वाता । ऊगात् ।

आत्मनेपदे सूभयोरपि षकारयो सप्रसारणे प्राप्ते—प्रहिव्येति । प्रहिव्यादिधातूनां कि-
 ति किति च सप्रसारणस्यादिति सूत्रार्थः । किति वय इति । प्रहिव्येति प्राप्ते सप्रसारण
 वेञ्धातोरादेशभूतरथयकारस्य न भवति किन्तु यकारस्य यकार एव सिध्यते न वि-
 कृतिमापद्यत इति सूत्रार्थः स्पष्ट । ऊयतुरिति । वेञ्धातोर्लिटि लसि अतुसि 'येभो य-
 यिः' इति वयादेशे, धातोर्द्वित्रे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'लिटप्रभ्यास' इत्यभ्याससप्रसारणे
 हलादि दोषेऽपरस्य षकारस्यापि 'प्रहिव्या' इति सप्रसारणे पूर्वरूपे सवर्गदीर्घे द्रवे
 विसर्गे च कृते 'ऊयतु' इति सिध्यति । ननु 'न सप्रसारण संप्रसारणम्' इति
 ज्ञापकेन परस्यैव यग पूर्व सप्रसारण भवति इति 'प्रहिव्या' इत्यनेन प्राप्ते
 सप्रसारणं यकारस्यैव स्याद्यतु वकारस्येति घञ्, 'लिटि षयो यः' इति सप्रसारणनिये-
 चबलात् । ऊयु । वशास्येति । किति लिटि परत' आदेशभूतस्य षयो यस्य वो वा
 ह्यार्लिटि सूत्रार्थः । तेन ऊयतु-ऊयतु-ऊयु-ऊयु' इत्यादीनांसिद्धिः । यल्लि तु पिबेन
 किराभावात् न 'वशास्या' इति वादेशः किन्तु यकार एव सिध्यते तेन 'ववयिष'
 इत्येकमेव रूपं परस्मैपदे । आत्मनेपदे तु ऊये, ऊत्रे । अप्रोभयोरपि वकारयोः सप्रसारणे
 दीर्घयकारस्य 'वशास्यान्य' इति घञ्मापिके वादेशे रूपकलम् । वेभ । वयाद्यादेशा-
 भावे केचल वेञ्धातो प्राप्ते सप्रसारण न भवत्युभयोरपि पश्योरिति सूत्रार्थः । ववो-
 ववतु-ववु-वविष ववाय-ववयु-वव । ववो-वविव-वविम । ववे ववाते-वविरे । व-
 विरे-ववाये-वविष्ये । ववे-वविष्ये-वविमहे । वाता । वास्यति-वास्यते । वयतु-वय-
 ताम् । अवयत् अवयत । वयेत्-वयेत् । ऊयादिति । वेञ्धातोर्लिटि किति वि 'इतश्च' हलोपे
 'यासुट् परस्मै' इति यासुटि 'वा+यासुत्' इति जाते 'रकोः' इति सञ्ज्ञे 'किश्-
 शिषि' इति यासुटाः किरात् 'प्रहिव्या' इति वस्य सप्रसारणे पूर्वरूपे 'अकृतसार्वधातु-

के परे । प्रहि—प्रहिव्यादि बाहुभोजो सप्रसारण हो, किय कियके परे । लिटि—'य' के
 यकारको संप्रसारण नहीं हो, 'लिट्' के परे । वशा—'वय' के यकारको यकार आदेश हो,
 'किय-लिट्'के परे, विकल्पते । वेभ—'वेम्' बाहुको सप्रसारण नहीं हो, लिट्के परे ।

वासीष्ट । इत्थको । अवासीत् । अवाशिष्टाम् । अवासिषुः । अवास्त । अवासा-
ताम् । व्येञ् संवरणे । व्ययति । व्ययते । न व्यो लिटि । ६।१।४६। व्येञ्
आत्वं न स्यादिति । परमपि हलादिः शेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणम् , 'उभयेषां'
ग्रहणसामर्थ्यात् । अन्यथा वच्यादीनां, ग्रहादीनां चानुवृत्त्यैव सिद्धे, किं तेन ? ।
विष्याय । विष्यतुः । विष्युः । इडत्प्रतिव्ययतीनाम् । ७।२।६६। अद्-ञ्-भ्येञ्
एभ्यस्यलो नित्यमिट् । विष्यथिथ । विष्यथुः । विष्य । विष्याय । विष्यय । विष्यिव ।

कपोर्दीर्घः' इति दीर्घे कृते 'ऊयात्' इत्यस्य निष्पत्तिः । वासीष्ट । अवासीत्-अवासि-
ष्टाम्-अवासिषुः । अवासीः-अवासिष्टम्-अवासिष्ट । अवासिषम्-अवासिष्व-अवासि-
षम् । अवास्त-अवासाताम्-अवासत । अवास्याः-अवासाथाम्-अवास्वम् । अवासि-
अवास्वहि-अवास्महि । अवास्त्यत्-अवास्त्यत । व्येञ्-संवरणे । व्ययति-व्ययते । न
व्यो लिटिति । व्ये इत्यस्य कृतात्त्वस्य पठ्यन्तस्य व्ये इति निर्देशः । 'आदेच उपदेशे-
ऽक्षिति' इति सूत्रात् आदिति अनुवर्तते, अत आह-आस्वमिति । परमपीति णलि 'व्ये
अ' इति स्थिते वृद्धौ द्विवे सति 'लिट्यभ्यास' इत्यभ्यासयकारस्य संप्रसारणे पूर्वरूपे
उत्तरखण्डस्य आयादेशे विव्यायेति वच्यति । तदयुक्तम्, संप्रसारणात्प्राक्हलादिःशेषेण
यकारस्य निवृत्तौ वकारस्य संप्रसारणेनोकारे सति 'उव्याय' इत्यापत्तिः स्यादत आह-
परमपि हलादिः शेषं बाधित्वा यस्य संप्रसारणमिति । उभयेषामिति । 'लिट्यभ्यासस्य'
इति सूत्रेऽभ्यासस्येति ग्रहणसामर्थ्यादिति भावः । तदेवोपपादयति-अन्यथेति ।
'वचिस्वपि' इत्यस्य 'ग्रहण्या' इत्यस्य च स्वरितत्वाद्नुवृत्त्यैव सिद्धेः 'लिट्यभ्यासस्य'
इति सूत्रे उभयेषां ग्रहणं पुनर्विधानायम् । तथाच वाच्योदीनां ग्रहादीनां चाभ्यासस्य
संप्रसारणं स्यादिति इति द्विविधानं लब्धम् । तत्र द्वितीयं विधानं नियमार्थम् उभयेषां
संप्रसारणमेव स्यान्नेतरदिति । तेनाभ्यासे एतत्संप्रसारणविषये कार्यान्तरनिवृत्तिः
सिद्धेत्यर्थः । विव्यायेति । व्येञ् धातोर्द्विवे 'लिट्यभ्यासस्य' इति अभ्याससंप्रसारणे,
पूर्वरूपे 'विष्ये + अ' इति जाते वृद्धौ आयादेशे 'विष्याय' इत्यस्य सिद्धिः । अग्रे-
विष्यतुः-विष्युः, अत्र 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे द्विवे यणि रूपे भवतः । इडत्प्रतीति ।
थलिति, इडिति चानुपगम्यते अत आह-एभ्य इति । विष्यथिथेति । लिटि सिपि थलि
'धातोर्द्विवे अभ्याससंप्रसारणे 'इडत्प्रति' इति थल इडागमे अयादेशे 'विष्यथिथ' इति
सिष्यति । विष्यथुः-विष्य । विष्याय-विष्यय- 'णलुत्तमो वा' । विष्यिव-विष्यिवम् ।
विष्ये-विष्याते-विष्यिरे । विष्यिषे-विष्याथे-विष्यिष्वे । विष्ये-विष्यिवहे-विष्यिम-
हे । व्याता-व्यास्यति । व्ययतु-व्ययताम् । अव्ययत्-अव्ययत । व्ययेत्-व्ययेत् ।

न एषो- 'व्येञ्' पाठको 'भास्व' नहीं हो, लिट्के परे । इडत्प्रति-अव और ऋ
धातुओंसे पर 'थल्' को निरय इडागम हो ।

विभिन। विभ्ये। श्याता। श्यास्यति। शीयात्। श्यासीष्ट। श्ययासीत्। श्ययास्त।
 ह्येञ् स्पर्शायां, शब्दे च। ह्यति। ह्यते। अभ्यस्तस्य च। ३।१।३३। अभ्य-
 स्तीभविभ्यतो ह्येञ् सप्रसारण स्यात्। जुहाव। जुहवे। हाता। हास्यति। हास्यते।
 लिपितिचिह्नश्च। ३।१।५३। च्लेरट्। आत्मनेपदेष्वभ्यतरस्याम्। ३।१।५४।
 अद्त्। अहताम्। अद्त्। अहत्। अहस्त। राज् दीप्तौ। राजति। राजने।
 रराज। रेजतु। रराजतु। रेजु। रराजु। रेजे। रराजे। द्विक्र अश्वके शब्दे।

बोधादिति। श्येघातोर्लिङ्गितिपि 'इतश्च' इति ह्रस्वोपे 'यासुट्परस्मै' इति यासुटि 'प्रहि-
 क्त्वा' इति समसाराणे 'समसाराणाञ्च' इति पूर्वरूपे 'स्को' इति सलोपे 'अह्रस्वार्थात्क-
 योर्घञ्' इति घीघे 'घीयात्' इत्यस्य साधुत्वम्। श्यासीष्ट। श्ययासीत्-अभ्यास्त।
 अभ्यास्यत्-अभ्यास्यत। ह्येञ् स्पर्शायां शब्दे च। ह्यति-ह्यते। अभ्यस्तस्य चेति।
 ह्येञ् इति समसाराणेष्वनुपतते, अत आह-अभ्यस्तीभविभ्यत, ह्येञ् समसाराणमिति।
 जुहावेति। ह्येञ्घातोर्लिङ्गितिपि णटि 'अभ्यस्तस्य च' इति समसाराणे पूर्वरूपे द्विव्ये
 'अभ्यासे चर्च' इति चर्चे 'अचोभ्यिति' इति वृद्धौ आवादेशे रूप भवति। अत्रे जुह्वत्।
 जुह्व। जुह्वयिष-जुह्वथु-जुह्व। जुहाय-जुह्वय-जुह्वविष-जुह्वविम। जुह्वये-जुह्वयति-
 जुह्वविरे। जुह्वविषे-जुह्ववापे-जुह्वविष्ये। जुह्ववे-जुह्वविष्ये-जुह्वविमहे। हाता।
 हास्यति-हास्यते। ह्यतु-ह्यताम्। अह्यत्-अह्यत। ह्येत्-ह्येत।
 ह्यात्-ह्यासीष्ट। लिपितिचोति। च्लेरट् इत्यनुपतनावाह-च्लेरट् स्यादिति।
 आत्मनेपदेष्वभ्यतरस्यामिति। आत्मनेपदे च्लेरट् च। स्यादित्यर्थं। परस्मपदे तु निर्य-
 मेवाह इति मात्र। अहदिभि। ह्येञ् घातोर्लिङ्गितिपि 'इतश्च' इत्योपे च्लौ 'लिपि-
 सिचि' इत्यङि अङ्गस्यादागमे आलोपे 'अह्वत्' इत्यस्य सिद्धिः। आत्मनेपदे सति
 'आत्मनेपदेष्वभ्य' इति अष्टादेशे 'अह्वत्' इति मध्यम रूपम्। अहभावे तु 'अ+ह्वा+
 स्+त' इति स्थितौ 'अह्वस्त' इति रूपम्। अह्वस्यत्-अह्वस्यत। राज् = दीप्तौ
 राजति-राजते। रराज-रेजतु-अत्र 'फणां च सप्तानाम्' इति पुराणभ्यास-
 लोपविकल्पे रूप शेष सुगमम्। रेजे-रराजे। राजिता। राजिष्यति-राजिष्यते।
 रज्यतु-राजताम्। अराजत्-अराजत। राजेत्-राजेत। राज्यात्-राजिषीष्ट। अरा-
 चीत्-अराजिष्ट। अराजिष्यत्-अराजिष्यत। द्विक्र = अश्वके शब्दे। द्विक्रति-
 द्विक्रते। त्रिद्विक्रते। द्विक्रता। द्विक्रयति-द्विक्रयते। द्विक्रतु-द्वि-

अश्व-मभ्यस्तसङ्घ (अभ्यस्त सशक्ती सम्भावना रहने पर) 'ह्येञ्' धातुको
 संप्रसारण हो। लिपि-किप्, सिच् और ह्येञ् धातुओंसे पर 'चिक्र' को 'अह्व' आदेश हो।
 आत्म-लिपितिचिह्न' से विहित 'अह्व' आत्मनेपदमें विकरसे हो।

ह्रिफति । ह्रिफते । अञ्चु गतौ, गाचने च । अचति । अचते । 'अच्च' इत्येके । 'अच्चि' इत्यपरे । द्रुयाचृ गाचनायाम् । याचति । याचते । द्रुधिर् बोधने । बोधति । बोधते । इरिष्वाद् वा । अद्रुषत् । अद्रुषीत् । अनोधित् ॥ एतन्नु अद्रुषारणे । खनति । खनते । खनान् । खनन्तुः । खन्तुः । खन्ते । खयात् । खन्यात्-खीवृ आदान संवरणयोः । चीवति । चीवते । चाय पूजा-निशामनयोः । चायति-

ह्रताम् । अहिह्रत्-अहिह्रत । हिह्रेत्-हिह्रेत । हिह्रयात्-हिह्रिपीठ । अहिह्रीत् । अहिह्रिष्ट । अहिह्रिष्यत्-अहिह्रिष्यत । अञ्चु=गतौ गाचने च । अचति-अचते । धानञ्ज-आनञ्जे । अञ्जिता । अञ्जिप्यति-अञ्जिप्यते । अञ्जतु-अञ्जताम् । आञ्जत्-आञ्जत । अञ्जेत्-अञ्जेत । अच्यात्-अचिपीठ । आञ्जीत्-आञ्जिष्ट । आञ्जिष्यत्-आञ्जिष्यत । द्रुयाचृ=याचनायाम् । याचति-याचते । ययाच-ययाचे । याचिता । याचिष्यति-याचिष्यते । याचतु-याचताम् । अयाचत्-अयाचत । याचेत्-याचेत । याच्यात्-याचिपीठ । अयाचीत्-अयाचिष्ट । अयाचिष्यत्-अयाचिष्यत । द्रुधिर्=बोधने । बोधति-बोधते । द्रुबोध=द्रुबोधे । बोधिता । बोधिष्यति-बोधिष्यते । बोधतु-बोधताम् । अबोधत्-अबोधत । बोधेत्-बोधेत । बुध्यात्-बोधिपीठ । अबोधीत्-अबोधत् (इरितो वा), अबोधिष्ट । अबोधिष्यत्-अबोधिष्यत । खनु = अद्रुषारणे । खनति=खनते । खनान् । खनन्तुः । खन्तुः । अत्र 'गमहनजनखनघसां लोपः किरस्यनङि' इत्युपधालोपः । खने-खनते-खनिते । खनिता । खनिष्यति-खनिष्यते । खनन्तु=खनताम्, अखनत्-अखनत । खनेत्-खनेत । खयात्-खन्यात् 'ये विभाषा' इत्यात्वविकल्पः । खनिपीठ । अखनिष्यत्-अखनिष्यत । चीवृ=आदानसंवरणयोः । चीवति-चीवते । चिचीत्-चिचीये । चीचिता । चीचिष्यति-चीचिष्यते । चीचतु-चीचताम् । अचीवत्-अचीवत । चीवेत्-चीवेत । चीच्यात्-चीचिपीठ । अचीवीत्-अचीविष्ट । अचीविष्यत्-अचीविष्यत । चायू = पूजानिशामनयोः । चायति-चायते । चायत्-चायते । चायिता । चायिष्यति-चायिष्यते । चायतु-चायताम् । अचायत्-अचायत । चायेत्-चायेत । चास्यात्-चायिपीठ । अचायीत्-अचायिष्ट । अचायि-

नोटः—कर्त्तृ-कर्मदाचार्यादिके विषयमें पहले लिखा जा चुका है (पृ० १४२ देखो) अद्यहाँ क्रियापदके रूप बनानेके कुछ नियम लिखे जाते हैंः—(१) कर्मवाच्यका या शब्दवाच्यके रूपोंमें धातुसे 'य' लगाकर आरम्भनेपदके प्रत्यय लगाये जाते हैं । इन रचनार्थोंमें धातुसे गणविह (अ, अय, आदि) नहीं लगाये जाते । जैसेः—भू=भूयते । गम्=गम्यते । (२) इकारान्त तथा उकारान्त धातुओंके स्वरको दीर्घ हो जाता है । जैसेः—जि-जीयते । स्तु=स्तुयते । (३) कुछ आकारान्त धातुओंके आकारको ईकार हो जाता है । जैसेः—स्या=स्यीयते । वा=वीयते । गा=गीयते । सा=मीयते । (४) ये और ओ विन धातुओंके अन्तमें हो उनको आकारान्त ही समझना चाहिये । जैसेः—गौ=गीयते । सो=

चायते । ह्यय गतौ । ह्ययति । ह्ययते । विभ्याय । विभ्ये । द्वाष्ट दाने । दाश-
ति । दाशते । भेषु मये । गतावित्येके । भेषति । भेषते । द्यसगतिदीप्यादानेषु ।
असति । असते । आस । आसे । अस्य पान्तोऽपि । स्पश शोधनस्पर्शनयो । स्पर्शन-
ग्रन्थनम् । स्पशति । स्पशते । लप कान्तौ । लपति । लप्यते । लपते । लप्ये
अक्षणे । लपति । लपते । ह्यप आदान-संवरणयोः । ह्यपति । ह्यपते ॥ दाष्ट

प्यत्-अचापिप्यत् । ह्यय गतौ । ह्ययति-ह्ययते । विभ्याय-विभ्यते । ह्ययिता ।
ह्ययिप्यति-ह्ययिप्यते । ह्ययतु-ह्ययताम् । अह्ययत्-अह्ययत । ह्ययेत्-ह्ययेत । धी-
यात्-ह्ययिपीष्ट । अह्ययीत्-अह्ययिष्ट । अह्ययिप्यत्=अह्ययिप्यत् । दाष्ट=दाने ।
दाशति-दाशते । ददाश-ददाशे । दाशिता । दाशिप्यति-दाशिप्यते । दाशतु-दाश-
ताम् । अदाशत्-अदाशत । दाशेत्-दाशेत । दाश्यात्-दाशिपीष्ट । अदाशीत्-अदा-
शिष्ट । अदाशिप्यत्-अदाशिप्यत । भेषु=मये । भेषति-भेषते । विभेष-विभेषे । भेषिता ।
भेषिप्यति-भेषिप्यते । भेषतु-भेषताम् । अभेषत्-अभेषत । भेषेत्-भेषेत । भेष्यात्-
भेषिपीष्ट । अभेषीत्-अभेषिष्ट । अभेषिप्यत्-अभेषिप्यत । अस—गतिदीप्यादानेषु ।
असति-असते । आस-आसे । असिता । असिप्यति-असिप्यते । असतु-असताम् ।
आसत्-आसत । असेत्-असेत । अस्यात्-असिपीष्ट । आसीत्-आसिष्ट । आसिप्यत्
आसिप्यत । स्पश-शोधनस्पर्शनयोः । स्पशति-स्पशते । परस्पश-परस्पशे । स्पशिता ।
स्पशिप्यति-स्पशिप्यते । स्पशतु-स्पशताम् । अस्पशत्-अस्पशत । स्पशेत्-स्पशेत ।
स्पश्यात्-स्पशिपीष्ट । अस्पशीत्-अस्पशिष्ट । अस्पशिप्यत्-अस्पशिप्यत । लप=का-
न्तौ । लपति-लपति, लप्यते-लपते, अत्र 'या आशम्भाशभमुक्तमुक्तुप्रसिद्धिल्लप'
इति रूपन् विकल्प । ललाप-ल्लेपे । लपिता । लपिप्यति-लपिप्यते । लपतु लपताम् ।
अलपत्-अलपत । लपेत्-लपेत । लप्यात् । लपिपीष्ट । अलापीत्-अलपीत् । अलपिष्ट ।
अलपिप्यत् अलपिप्यत । लप=अक्षणे । लपति-लपते । ललाप-ल्लेपे । लपिता । ल-
पिप्यति-लपिप्यते । लपतु-लपताम् । अलपत् अलपत । लपेत्-लपेत । लप्यात्-ल-
पिपीष्ट । अलापीत्-अलपीत्-अलपिष्ट । अलपिप्यत्-अलपिप्यत । ह्यप=आदानसं-
वरणयोः । ह्यपति-ह्यपते । जहाप-क्षेपे । ह्यपिता । ह्यपिप्यति-ह्यपिप्यते । ह्यपतु-ह्यप-
ताम् । अह्यपत्-अह्यपत । ह्यपेत्-ह्यपेत । ह्यप्यात्-ह्यपिपीष्ट । अहापीत्-अहपीत् ।
अहपिष्ट । अहपिप्यत्-अहपिप्यत । दाष्ट=दाने । दाशति-दाशते । ददाश-ददाशे ।
दाशिता । दाशिप्यति-दाशिप्यते । दाशतु-दाशताम् । अदाशत्-अदाशत । दासेत्-
दासेत । दाश्यात्-दाशिपीष्ट । अदासीत्-अदासिष्ट । अदासिप्यत्-अदासिप्यत ।

सीदते । (५) ऋकारान्त वातुभोके 'ऋ' को 'दि' हो जाता है । जैसे.—हू=क्रियते । हू=
दिद्यते । (६) कुञ्ज वातुभोके 'य व रं ल' के स्थानमें ययाक्रमसे 'इ उ ऋ ए' हो जाते हैं ।

दाते । दासति । दावते ॥ धातु गतिशुद्धयोः । धावति । पावते ।

इति भ्वादिप्रकरणम् ॥

अथ अदादिप्रकरणम्

ऋतेरीयङ् ॥३१॥२९॥ स्वार्थे । ऋतिः-सौत्रः । जुगुप्सायामिति यद्वः । ह्रुपायं चेत्येके । ऋतीयते । ऋतीयावके । 'आयादय' इति ईयङ्माव-पत्ते शेषत्वात् परस्मैपदम् । द्वित्वेऽभ्यासलोपे च जाते, 'उरत्' । 'तस्मान्नुङ्चो'ति नुट् । गुणः । आनर्त्त । अतिप्यतीत्यादि ॥ अद् भक्षणे । अदिप्रभृतिभ्यः शपः

धातु-गतिशुद्धयोः । धावति-धावते । दधाव-दधावे । धाविता । धाविप्यति-धावि-प्यते । धावतु-धावताम् । अधावत्-अधावत । धावेत्-धावेत । धान्यात्-धावि-पीष्ट । अधावीत्-अधाविष्ट । अधाविप्यत्-अधाविप्यत ।

अथ लुग्विकरणान् धातून् निरूपयितुमुपक्रमते—ऋतेरीयङिति । ऋतिः=जुगुप्सा-याम् कृपायां वा । अयं सौत्रो धातुः न तु धातुपाठपठितः । तान्तोऽयम् ऋतेरिति तु इका-रनिर्देशविशिष्टापष्टी । अदेतुनिर्देशारस्वार्थे इति सूत्रार्थः । ऋतीयते इति । ऋत् धातोः छटि तद्धि ऋपि 'ऋतेरीयङ्' इतीयङो द्वित्वेनान्यासचयवे डेरत्वे च ह्रस्वे 'ऋतीयते' इति सिद्धयतिः ऋतोयां चक्रे । ऋत्धातोरीयङि छिटि ऋतीय इति जाते 'काश्यनेकाप आम्रच्छयः' इत्यनेकाञ्चवादाणि 'आमः' इति लोपे 'कृद्धानुप्रयुज्यते छिटि' इति छिट्-परककृजोऽनुप्रयोगे 'छिटि धातोः' इति कृजो द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'उरत्' इत्ययत्ते रपरत्वे हलादिशेषे अन्यासचत्वे मस्यानुस्वारे परलवणे 'ऋतीयाञ्चक्रे—छिट् इति जाते तद्धि 'छिटस्तस्योः' इत्येवादेशे शिखास्तवादेशे यणि 'ऋतीयाञ्चक्रे' इत्यस्य सिद्धिः । 'आयादय आर्षधातुके वा' इतीयङ्भावे तु ऋत्धातोर्छिटि तिपि णलि द्वित्वे रु-रदत्वे हलादिशेषे 'अ ऋत्-अ' इति जाते 'अत् आदेः' इत्यभ्यासातो दीर्घे 'तस्मान्नुङ्-द्विहलः' इति नुटि 'पुगन्त' इति गुणे 'आनर्त्त' इति प्रसवति । अत्र नात्मनेपद्भ्यः, आम्र-नेपदिनिमित्तत्वाभावात् । अत् एव कर्तरि परस्मैपदम् । ऋतीयता-अर्तिता । ऋती-यिप्यते-अर्तिप्यति । ऋतीयताम् । आर्तीयत् । ऋतीयत् । ऋतीयिपीष्ट । अर्त्यात् । आर्तीयिष्ट । आर्तीयिप्यत्-आर्तिप्यत् । अद् भक्षणे इति । अनिदयम् । अदिप्रभृतिभ्य इति । 'ण्यञ्त्रियार्यजितः' इत्यतो लुगिस्त्वनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेषप्रणेन सूत्रं

जैसे:—यज्=हजयते । वप्=ठप्यते । इत्यादि (इत् परिवर्तनको संसारण कर्ते ई) ।

इत्प्रकार 'इन्दुमती' टीकायै भ्वादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

ऋतेः—'ऋत्' धातुसे 'ईयङ्' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । अदि—अदादि गणपठित धातुओंसे

।२।४।७२। लुक् स्यात् । अति । अत्ता । अदन्ति । अरिष । अरय । अरथ । अत्रि ।
 अद्रः । अद्रः । छिद्यन्त्यतरस्याम् । २।३।४०। अदो वल्लु वा स्याच्छिटि ।
 अबास । उपधालोप । अस्य चत्वे । आसियसिघसीनां च । ८।३।६०। इकु-
 म्यासिषां अस्य य । अक्षतु । अभु । अवस्तासावनाशात्यकि नित्यमित्-अपक्षिप ॥
 आर । आरपु । आद्र । 'इहस्यत्तिव्ययतीनामि'ति नित्यमित् । आदिय ।
 अता । आस्वति । अत् । अत्तात् । अत्ताम् । अदन्तु ॥ छुस्रन्म्यो द्वेषिः । ६।
 ३।१०१। होर्गन्तन्तेभ्यश्च द्वेषि स्यात् । अद्रि । अत्तात् । अत्तम् । अत्त । अदानि ।
 अदाप । अदाम । अदः सवेषाम् । ७।३।१००। अद परस्यापृक्तघातुक्तस्य
 अट् स्यात्, सवेषमतेन । आदत् । आत्ताम् । आदन् । आद् । आत्तम् । आत् ।

व्यापट्टे—लुक् स्यादिति । अदिप्रभृतिभ्यः परस्य ङापो लुगिति फलितम् । अलि ।
 अद्-अचने, अन्मात् घातो 'वर्तमाने लट्' इति लटि घटयोरिसंज्ञायां लोपे च, ल-
 श्याने, तिष्ठसूक्ति' इत्यादिना प्रथमपुरुषैकवचने तिषि, पगते 'अद् ति' इति आत्ते
 'तिष्ठसि'सार्धेधातुक्तम्' इति तिष साधेधातुक्तत्वे 'कर्तरि ङप्' इति तिषि परे शपि
 आत्ते 'अदिप्रभृतिभ्यः ङाप' इति ङापो लुकि, 'खरि च' इति षस्य चत्वे, 'अति'
 इति रूपम् । अदात् । अद् घातोः 'परोक्षे छिट्' इति छिटि, छिटो छ स्याने प्रथमपु-
 रुषैकवचने तिषि, तिषो गलि, अनुबन्धलोपे, 'छिद्यन्त्यतरस्याम्' इति अदो वल्लु
 आदेशो आत्ते लृकारस्योरसंज्ञायां लोपे च 'घस झ' इति स्थिते 'छिटि घातोरनभ्यास
 स्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेष' इति सलोपे 'कुहोरस्यु'
 इति षस्य सत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति शस्य आत्ते 'अस उपधाया' इति घकाराकार
 स्य वृद्धौ 'अघास' इति रूपम् । आद । अस्लादेशामावपचे—अद्घातोर्छिटिस्तिति,
 तिषो गलि, अनुबन्धलोपे 'छिटि घातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास'
 इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेष' इति बलोपे 'अत आदे' इति अभ्यामाकारस्य दीर्घे
 आकारे आत्ते 'अत उपधाया' इति अद् उपधाया वृद्धौ 'अक सवर्षे दीर्घ' इति
 दीर्घे 'आद्' इति रूपम् । आस्वति । अद्घातोर्लृट्स्थितिपि पगते स्ये, इहभावे, 'खरि
 च' इति षस्य चत्वे 'आस्वति' इति रूपम् । अभु । अदातोर्छिटिस्तिति, पगते शपि,
 'अदिप्रभृतिभ्य ङाप' इति ङापो लुकि, 'खरि च' इति षस्य चत्वे, 'पुङ्' इति
 तिषि लृकारस्योत्प्रे'अत्त' इति रूपम् । 'तुष्टोस्तातलृकारादीप्यन्यतरस्याम्' इति लो स्या-
 ने ताच्छि 'अत्तात्' इति । अद सवेषामिति । अद् इति पञ्चमी । 'तस्मादित्युचरस्य

पर 'ङप्' वा लुक् हो । छिद्य—'अद्' को 'वल्लु' नादेश हो, 'छिट्' के परे, विकल्पते ।
 अत्ति—'अद्' अत्ते पर 'आत्' ओर 'अद्' बाहुल्यमन्वी सकारको बकार आदेश हो ।
 वृद्ध—'इ' लुक् और अन्व वाहृतोत्वे पर 'दि' को 'धि' नादेश हो । अद्-अद्' वाहृते

आदम् । आह । आम् । अथात् । अथाताम् । अयुः । अयात् । अयास्ताम् । अ-
यासुः । लुङ्लनोर्धस्त्व् । २।४।३७। अदः लुदित्वात्-अच् । अघसत् । आत्सपत् ॥
इन् हिमागत्योः । हन्ति । अनुदात्तोपदेशधनवितनोत्यादीनामनुनासि-
कलोपो ह्यति क्किति । ६।४।३७। 'अनुनासिके'ति लुप्तपृष्ठीकं, वनतीतरेषां विशेषे-
षणम् । अनुनासिकान्तानामेषां वनतेश्च लोपः स्याज्जलादौ क्किति परे । यमि-रमि-
नमि-गमि हनि-मन्यतयोऽनुदात्तोपदेशाः । तनु वणु कणु क्षिणु-भ्रणु-तृणु-घृणु—
वनु-मनु-तनोत्यादयः हतः । घनन्ति । हंसि । हयः । हय । हन्मि । हन्वः ।

इति परिभाषया परस्येति लभ्यते । 'गुणोऽपृष्ठे' इत्यतोऽपृक्त्वे इति 'सुस्त्वाम्भ्यसः
सार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति चानुवर्तते । सप्तमीद्वयं च पठया विपरिण-
म्यते । 'अङ्गार्यगालवयोः' इत्यतः अदित्यनुवर्तते । गार्यगालवयोरनुवृत्तिनिवृत्त्यर्थं
सर्वेषामिति, तदाह—अदः परस्येत्यादिना । अयात् । अदातोर्लिट्कितिपि, चापि, हापो
लुकि, 'यासुद् परस्मैपदेषुदात्तो ङिञ्' इति यासुटि, उटि, गते, टित्वाघादपदे
जाते 'ङिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतश्च' इति तिप् इकारलोपे 'धात्वात्'
इति कपञ् । अघसत् । अदातोः 'लुङ्' इति लुङि, गते, लः स्थाने प्रथमपुरुषै-
कवचनविचक्षायां 'तिससुक्षि' हायादिना तिपि, पगते 'लुङ्लनोर्धस्त्व्' इति यद्यः
स्थाने घस्त्व् इत्यादेशे कृते लृकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'ङि लुङि' इति ष्यौ 'ऋः
सिञ्' इति प्राप्ते लभ्याधिरवा 'पुपादिद्यताद्यूल्दितः परस्मैपदेषु' इति ष्येः स्थाने
अङि, लगते अङ्गस्य अढागमे जाते, तिप् इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'अदसत्'
इति रूपम् । एन्ति । हन्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, अटि गते लः स्थाने प्रथ-
मपुरुषैकवचने तिपि पगते, 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'कर्तरि
शप्' इति शपि, 'अविमभुतिभ्यः' शपः' इति हापो लुकि, मिलित्वा 'हन्ति' इति
रूपम् । अनुदात्तोपदेशेति । अनुनासिक इति लुप्तपृष्ठीकं पदं वनतीतरेषां विशेषणम् ।
वनधातोस्तु अनुनासिकान्तत्वात् विशेषणम् । अव्यभिचाराद् । तदेवाह—अनुनासि-
कान्तानामेषामिति । अनुदात्तोपदेशान् अनुनासिकान्तान् दर्शयति—यमिरमोति । अनु-
दात्तोपदेशेषु पतेयामेव षण्णामनुनासिकान्तत्वादिति भावः । अथ तनोत्यादीननुना-
सिकान्तात् दर्शयति—तनुपणुकणुक्षिणिवति पतेऽष्टौ 'तनोत्यादयोऽनुनासिकान्ता
इत्यर्थः । घनन्ति । हन्धातोर्लटो ह्यौ, चापि शपो लुकि, 'होऽन्तः' इति ससं वन्तादेशे
'हन् अन्ति' इति जाते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति अन्तेः सार्वधातुक्ये 'सार्य-

पर अपृक्त सार्वधातुकको 'अट्' का आगम हो, सभी आचार्योंके मते । लुङ्—'अद्'
धातुको 'यस्त्' आदेश हो, 'लुङ्' और 'सन्' के परे । अनु—अनुनासिकान्त लो अनुदात्तो-
पदेश और तनोत्यादि (तनु विस्तारे आदि) धातु तथा 'वच्' धातु, इनके अनुनासिकका

हन्म । वमोर्वा । ८।४।२३। उपसर्गस्याजिमित्ताद्धन्तेर्नस्य णो वा स्याद्गमोः परयो ।
 प्रह्णिम् । प्रह्निम् । प्रह्ण्व । प्रह्ण्वः । प्रह्ण्वः । प्रह्ण्वः । प्रह्ण्वः । जघान ।
 जघन्तु । जघ्नु । अभ्यासाच्च । ७।३।५५। अभ्यासात्परस्य हन्तेर्हस्य कुर्वं स्यात् ।
 जघनिथ । जघन्य । जघन्धु । जघ्न । जघान । जघन । जघ्निव । जघ्नम् । हन्ता
 हनिष्यति । हन्तु । हतात् । हताम् । हन्तु । हन्तेर्जः । ६।४।२६। हन्तेर्जं स्यात्
 ही परे । असिद्धघदत्राऽऽमात् । ६।४।२२। इत ऊर्ध्वापादपरिममात्तेराभौषम् ।

धातुकमपित्' इति अन्तेर्द्वित्वे 'गमहनजनसजघसां लोप विहायनञि' इति हन
 उपधालोपे 'हो हन्तेष्णिन्नेषु' इति हस्य कुत्वेन घकारे 'ध्निति' इति रूपम् ।
 वमोर्बन्ति । हन्तेरपूर्वस्येति सूत्राद्धन्तेरिति अनुवर्तते । णत्वमित्यपि । तेनोपसर्ग
 स्याद्यमिच्छात्परस्य हन्ते वमोः परतो नस्य णत्वं वा स्यादिति सूत्रार्थं फलितः ।
 प्रह्णिम् प्रह्निम् । प्रोपसृष्टाद्धन्तेर्लटि मिति सिपि 'अदिप्रभृतिभ्य षाप' इति शब्दुकि
 प्रोपसर्गस्योपसमाधिरस्य हन्धातोर्नकारस्य मकारे परत्वेन 'वमोर्वा' इति सूत्रेण
 वैभाषिके णत्वे 'प्रह्णिम्-प्रह्निम्' इति रूपद्वय सिद्धयति । तद्वत् 'प्रह्ण्व प्रह्ण्वम्'
 अप्रापि वैकल्पिकं णत्वमवसेयम् । जघान । हन् घानो 'परोक्षे लिट्' इति
 छिटि, इटि गते प्रथमपुरस्कवचने तिपि, 'परस्मैपदानां णल्लुप्तस्यञ्' इत्यादिना
 तिपो णञि अनुबन्धलोपे 'लिटि घातोर्नभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास'
 इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेष' इति नलोपे 'इ हन् अ' इति षाते 'कुहोरयु' इति
 धम्यामहकारस्य घुत्वेन घकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति हस्य जकारे 'अत उपधाया'
 इति वृद्धौ 'हो हन्तेष्णिन्नेषु' इति हनो हस्य कुत्वेन घत्वे 'जघान' इति रूपम् ।
 अभ्यासाच्चेति । 'हो हन्ते' इत्यनुवर्तते । 'चञो कु घिष्यतो' इत्यत कुप्रहणश्च ।
 तद्वाह—अभ्यासात्परस्येत्यादिना । जघनिथ । हन्धातोर्लिटि सिपि सिपि स्थाने 'पर-
 स्मैपदानां णल्लुप्तस्यञ्' इत्यादिना यञि, लोपे 'लिट् च' इत्यार्षं चाहकार्ये मार-
 हात्रनियमादिङ्घिकल्पे, द्वित्वे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्यं च जाते 'ज हन् इ य'
 इति स्थिते ष्णिन्प्रत्ययपरस्वाम्बाञ्कारपरस्वामायाच्च 'हो हन्ते' इति कुत्वाप्राप्ती
 'अभ्यासाच्च' इति कुत्वे 'जघनिथ' रूपम् । इहभावे पूर्ववाप्रसाध्य 'जघ-य'
 इति रूपम् । हन्तेर्जं इति । 'शा ही' इत्यतो ही इत्यनुवृत्तिमभिप्रेत्य शेषपुराणेन सूत्रं
 स्याच्छे—ही परे इति । असिद्धददयेति । पठस्य चतुर्थपादे इद सूत्रम् 'रान्नलोप'
 इति सूत्रात्पूर्वं पठितम् । आभादित्यभिविधावाह् । अत्येत्त्वधिकारमभिव्याप्येत्यर्थः ।

लोप हो, शशा'द कित्त-छिटके परे । वमो—उपसर्गस्य निमित्तपरे पर 'हन्' धातुके नकारको
 नकार हो, नकार-मकारके परे, विकल्पसे । अभ्या—अभ्याससे पर 'हन्' धातुके हकारको
 कुम् हो । हन्ते—'हन्' धातुको 'न' भावेण हो 'इ' के परे । असि—समानाशय 'आभीय'
 कार्यं इत्थं हो तो कृतसमाशय आभीय शब्द असिद्ध हो । (इत सूत्रसे लेकर आधाधारीके

समानाश्रये तस्मिन्कर्तव्ये तदसिद्धं स्यात् ।—इति जस्याधिसत्त्वात् हेर्लुक् । जहि ।
 हतात् । हतम् । हत । हनानि । हनाव । हनाम । अहन् । अहताम् । अघ्नन् । अहन् ।
 अहतम् । अहत । अहनम् । अहन्व । अहनम् । हन्यात् । आर्द्धधातुके २।४।३५।
 इत्यधिकृत्य । हनो वध लिङि । २।४।४२। लुङि च २।४।४३। वधादेशोऽ-
 दन्तः । 'आर्द्धधातुके' इति विषयसप्तमी, तेनार्द्धधातुकोपदेशोऽकारान्तत्वादतो लोपः ।
 पश्यात् । वष्यास्ताम् । अवधोत् । अहनिय्यत् ॥ यु मिश्रणामिश्रणयोः । उतो

भाषिकारश्च आपादपरिसमाप्तेरिति सिद्धान्तः । तथा च आपादपरिसमाप्तेरिति
 लभ्यते । जहि । हन्धातोर्लोऽटः सिपि शपि शपो लुकि, 'सेर्हपिच्च' इति सिपः सेः
 स्थाने हौ कृते 'हन् हि' इति भूते 'हन्तेर्जः' इति हनः स्थाने जादेशे जाते 'ज हि'
 इति स्थिते अत्र 'अतो हेः' इति अतः परस्य हेर्लुक् न भवति । 'असिद्धवद्भा-
 मात्' इति जादेशस्य असिद्धत्वात् । तेन 'जहि' इति रूपं सिद्धम् । हन्यात् । हन्
 धातोर्लिङ्गस्तिपि, शपि, शपो, लुकि, यासुटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे 'इत्श्च' इति
 तिप इकारलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्यस्य' इति सलोपे 'हन्यात्' इति रूपम् ।
 लुङि चेति । हनो वधादेशः स्यात् । लुङीश्वर्यः स्पष्टः । वष्यात् । हन्धातोः 'आशिषि
 लिङ्लोटौ' इति लिङि, लिङो लः स्थाने तिपि, 'लिङ्गाशिषि' इति तिप आर्द्धधातु-
 क्तवे 'हनो वध लिङि' इति हनः स्थाने वधादेशे 'किष्वाशिषि' इति यासुटि, उटि
 गते टित्वादाद्यावयवे 'वध यास ति' इति जाते 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे तिप
 इकारस्य 'इत्श्च' इति लोपे 'स्कोः संयोगाधोरन्ते च' इति सलोपे 'वष्यात्'
 इति रूपम् । अवधोत् । हन्धातोः 'लङ्' इति लुङि, 'लुङि च' इति हनः स्थाने
 वधादेशे कृते लुङो लः स्थाने तिपि, 'लिङ् लुङि' इति लौ 'स्लेः सिच्' इति
 सिचि, इचि गते 'लुङ्लुङ्लुङ्चवहुदाप्तः' इति अटि, 'इत्श्च' इति तिप इकार-
 लोपे 'अ वध् स्' इति स्थिते सिचः सकारस्यार्द्धधातुकत्वात् 'आर्द्धधातुकस्येर्च्'
 लादेशः' इति इटि, 'अतो लोपः' इति वधाकारस्य लोपे 'अस्तिचोऽपृक्ते' इति
 तिपस्तकारस्य ईदागमे 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिजलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः'
 इति सिजलोपस्य सिद्धत्वात् 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घे, अवधीत्' इति रूपम् ।
 यु मिश्रणामिश्रणयोः । अमिश्रणं पृथक् भावः । सेढयम् । उतो षृद्धिर्लुकीति । 'नाभ्य-
 स्तस्याचि पिति सार्वधातुके' इति अचिबर्जमनुवर्तते । लुकीति विषयसप्तमी, दर्श-

तृतीय पादको समाप्ति पर्यन्त 'आमीय' कण्ठात्ता हे) आर्द्ध—यह अधिकार सूत्र हे ।
 हनो वध लिङि । लुङि च—हन् धातु को 'वध' आदेश हो, लिङ् और लुङ्के परे ।
 लौ—लुङ्के निबन्धने (हस्) एकारलो लुङि हो, ह्लादि पित् सार्वधातुके परे-भन्यस्त-

वृद्धिर्लुकि इति । ७।३।८९। सुविदये वतो वृद्धिः स्थापिति हकारो चार्धधातुके,
 न स्वभ्यस्तस्य । यौति । युत । युवन्ति । यौषि । युष । युष । यौषि । युष ।
 युमः । युयाव । युयुवत् । युयुवु । युयुषिय । युयोष । युयुषयुः । युयुष । युयाव ।
 युदन । युयुषिन । युयुषिम । यविता । यविष्यति । यौतु । युतात् । अयौत । अयु-
 ताम् । अयुषन् । युयात् । इह वृद्धिर्न, माप्ये 'विष विष, विष, विन्ने'ति श्याख्या-
 नात् । विशेषविहितेन क्त्वेन विक्रम्य भाषात् । युषाताम् । युयुः । यूयात् । यूया
 स्ताम् । यूयाद्युः । अयावौत् । अयाविष्यत् । या प्रापणे । याति । यातः । यान्ति ।
 यया । याता । यास्यति । यातु । अयात् । अयाताम् । लुङ्ः शाकटायनस्यैव
 ३।३।११। आहन्ताल्लोके शोर्नुस्वा । अयुः । अयान् । यायात् । यायाताम् । यायुः ।
 यायात् । यायास्ताम् । यायाद्युः । अयावौत् । अयाविष्यत् । अयास्यत् । एच-या

भाभाषस्य लुङ्ः परस्वात्मभावात् । तदाह—लुङ्गिषय इत्यादिना । यौति । युषातोर्ल-
 ट्स्तिपि, चापि, चापो लुकि, 'यु ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि इति' इति यौते-
 ट्कारस्य वृद्धौ 'यौति' इति रूपम् । युयाव । युषातोर्लिट्स्तिपि, तिवो णळि, अनु-
 बन्धलोपे द्विवे, अग्यासत्ये, अग्यासकायं च 'यु यु अ' इति भूते 'अचो म्पिति'
 इति वृद्धौ 'पचोऽचवायावः' इत्यावादेशे 'युयाव' इति रूपम् । अयावौत् । यु षातो-
 'लुङ्' इति लुङि, लुङो ल स्थाने सिपि, ष्लौ, ष्ले, सिष्, इचि गते अटि, तिप
 हकारलोपे सिच, सस्य इटि सिपस्तस्य ईटि, 'इट ईटि' इति सिच सस्य लोपे
 सिचलोप एकादेशे कर्त्तव्ये सिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'अ यु ई ट' इति धाते 'सिचि
 वृद्धि परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आयादेशे च 'अयावौत्' इति रूपम् । या-प्रापणे ।
 प्रापणमिह गति । गिअर्थस्तु अविवक्षित इति भाव । ययौ । याषातोर्लिट्स्तिपि, ति-
 पो णळि, 'आत औ णळ' इति औ आदेशे द्विवे'अग्यासत्ये 'इरव' इति अग्यासस्य
 अचो इरवावे 'य या औ' इति स्थिते 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ययौ' इति रूपम् । लृ
 शाकटायनस्यैवेति । 'क्षेर्नुस्' इति 'आत' इति प्राप्नुवर्तते । तदाह—आहन्तादिनि ।
 अयु । यायातोर्लिट्स्तिपि, चापि, चापो लुकि अटि, 'अ या शि' इति जाते 'लृ' शाक-
 टायनस्यैव' इति क्षेर्नुस्ति, 'जुट्' अस्येत्स्पर्शावां लोपे च 'उस्यपदान्ताव' इति
 पररूपे उत सस्य रूपे रेकस्य विसर्गात्वे च 'अयु' इति रूपम् । लुप्तोभावे
 'क्षोऽन्त' इहन्तादेशे हकारलोपे तलोपे च जाते सवर्णदीर्घे च कृते 'अयान्' इति
 रूपम् । यायात् । याषातोर्लिट्स्तिपि, चापि, चापो लुकि, यासुटि, उटि गते 'लिङ्'
 सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इतम्' इति टिप हकारलोपे 'यायात्' इति रूपम् ।

दंशक वाङ्मो लोङ्कार । लृङ्—कारस्य वाङ्मो एर 'लृङ्' लम्बो 'क्षि' को लुङ् हो ।

गतिगन्धनयोः । आ दीप्तौ । ष्णा शौचे । 'वाऽन्यस्य संयोगाद्'रित्येत्वम् । स्ने-
यात् । स्नायात् । आ पाठे । द्रा कृत्वायां गतौ । पसा मक्षणे । पा रक्षणे । रा
दाने । ला आदाने । दाप् लपने । ख्याप्रक्षयने । अयं सार्वधातुक एव प्रयोक्तव्यः ।
ख्याति ॥ विद् ज्ञाने । विदो लटो वा । ३।४।८३ वेत्तेर्लटः परस्मैपदानां णलट्-
यो वा स्युः । वेद । विदतुः । विदुः । वेत्य । विदधुः । विद । वेद । विद्व । विद्म ।
पक्षे —वेत्ति । वित्तः । विदन्ति । उपविद्जागृभ्योऽन्यतरस्याम् । ३।१।३८।
एभ्यो लिट्याम् वा स्यात् । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानादामि न गुणः । विदाञ्कार ।

अयासीत् । याधातोर्लुङ्क्षितिपि, च्छौ, च्छेः सिचि इचि गते अटि, तिप इकारलोपे 'अ या
स् व' इति स्थिते अत्र 'यमरमनमातां सक्च्' ह्यनेन सिचः सकारस्य इडागमे
आकारान्तधातोः सकागमे 'अ यास् इ स् व' इति भूते 'अस्तिसिचोऽपृक्के' इति तिप-
स्तकारस्य ईडागमे 'इट ईटि' इति सिचः सस्य लोपे एकादेशे कर्तव्ये सिञ्जलोपस्य
सिद्धत्वात्सर्वर्णदीर्घं 'अयासीत्' इति रूपम् । अयं सार्वधातुक इति । अत्र प्रमाणम्—'स-
स्यानस्त्वं नमः स्यात्रे' इति वार्तिकम्, तद्भाष्यम् । सस्थानो—जिह्वामूलीयः । स नेति
यथाभादेशस्य स्वशादित्थे प्रयोजनमित्यर्थः । विद् ज्ञाने । सेढयं धातुः, अनिट्सु लुगि-
करणस्याप्रहणात् । विदो लटो वेति । 'परस्मैपदानां णलटुस्' इत्यादिसूत्रमनुवर्तते ।
विद् इति पञ्चमी । तदाह—वेत्तेर्लट इति । विद्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि,
अटि गते लः स्थाने 'तिससक्षि' ह्य्यादिना तिपि, 'विदो लटो वा' इति तिपः स्थाने
णलि, णस्य लस्य चेतसंज्ञायां लोपे च 'तिल्लिस्सार्व' इति सार्वधातुकत्वे, 'कर्तरि
शप्' इति शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति
विद् उपधाया इकारस्य गुणे वेद इति रूपम् । विदतुः । विद्धातोर्लट्स्तसि, शपि,
'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'विदो लटो वा' इति विकल्पेन तसोऽ-
नुसि, अनुसः सस्य स्त्वे, रेफस्य विसर्गात्वे च 'विदतुः' इति रूपम् । उपविद्जागृभ्य
इति । 'काश्प्रत्ययादानमन्त्रे लिटि' इत्यतः आम् लिटौत्यनुवर्तते । तदाह—एभ्यो
लिटोति । विदाञ्कार । विद्धातोः 'परोक्षे लिट्' इति लिटि, 'उपविद्जागृभ्योऽन्य-
तरस्याम्' इति आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, अत्र आमः आर्धधातुकत्वेऽपि
विद् उपधायाः लघूपधगुणो न । विदेरदन्तत्वप्रतिज्ञानात् । 'कृञ्जानुप्रयुज्यते लिटि'
इति लिट्प्रकृति अनुप्रयुक्ते 'विदाञ् कृ लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि,
तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वाऽभ्यासः' इति
अभ्यासत्वे 'उरस्य' इति अभ्यासञ्चवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे

विदुषते । विदो—'विद्' धातुसे पर 'ओट्' सम्बन्धी परस्मैपदलो णलटि आदेश हो,
विकल्पसे । उच-इद्, विद् और जागृ धातुकोसे 'जान्' प्रत्यय हो, 'लिट्' के परे, विकल्पसे ।

विवेद । वेदिता । वेदिष्यति । विदाङ्कुर्वन्निवारयन्त्यतरस्याम् । ३।१।४१। वेतेर्लो-
ट्याम्, गुणाभाषो लोटो लुक्, लोटन्तकरोत्यनुप्रयोगश्च वा निपात्यते । पुरुषवचने
न विक्रिते । इतिशब्दात् । तनादिकृञ्म्य उ. । ३।१।४९। तनादे, कृयश्च उप-
त्यय स्यात् । शबोऽपवादः । विदाङ्ङरोत् । अत उत्सार्वधातुके । ६।४।१०। उप-
त्ययान्नस्य कृञोऽत उत्स्यारसार्वधातुके विक्रिते । विदाङ्ङस्तात् । विदाङ्ङङाम् ।
विदाङ्ङ्वन्तु । 'उतथे'ति हेर्लुक् । आमीयरेवेन लुङोऽघिसरवाद्दृत्वम् । विदाङ्ङव ।

'हलादि' शेष 'इति श्लोके 'विदाम् क कृ ष' इति भूते 'कुहोरुत्' इति अम्या-
सकरस्य सुत्वेन चकारे कृ इत्यस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे अकारे 'उरण्
रपर' इति रपरे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ आमी मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे च
'विदाङ्ङकार' इति रूपम् । विवेद । विद्घातोऽलिट्ठित्तिपि, तिपो णलि, अनुब्रह्मण्यलोपे,
द्वित्वे अम्यासत्वे, अम्यासकार्ये च जाते 'लिट् च' इति णलोऽकारस्यार्धधातुकरवात्
'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'विवेद' इति रूपम् । विदाङ्ङ्वन्तिवति । 'कृञ्
चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्युत्तरमिदं सूत्रम् । इति शब्द प्रकारे । एवजातीयक वैक-
ल्प्येन प्रत्येतस्यभिरप्यर्थ, वेत्तेरित्त । लुग्विकरणात् विद्घातो लोटि परे आम्प्रत्ययो
निपात्यत इत्यर्थ । लोटन्तेति । आमन्ताद्विदे लोटन्तकृत्रघातो. अनुप्रयोगश्च निपा-
त्यत इत्यर्थ । पुरषेति । कुर्वन्तिवति प्रथमपुरुषो षड्वचनेन न विवक्षितमिदर्थ ।
तयोस्तु नान्तरीयकमुच्चारणमिति भाव । तनादिकृञ्म्य इति शबोऽपवाद इति । अनेन
वाच्यपय प्वास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । 'सार्वधातुके यक्' इत्यत सार्वधातुकप्र-
हणस्य 'कर्तरि षप्' इत्यत कर्तरिण्यस्य चानुवृत्तेरिति भाव । विदाङ्ङरोत् । विद्घा-
तोऽलोटि, 'विदाङ्कुर्वन्निवारयन्त्यतरस्याम्' इत्याम, 'आम्' इति लोटो लुकि, लोट्परके
कृञि प्रयुक्ते 'विदाम् क लोट्' इति स्थिते लोट स्थाने तिपि, तिप सार्वधातुकरवात्
षापि प्राप्ते तग्वाधिरा । 'तनादिकृञ्म्य उ' इत्युकारे कृते 'विदाम् क उ ति' इति
जाते 'आर्धधातुक शेष' इति उकारस्यार्धधातुकरवे 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति
उभयत्र गुणे 'एर-' इति तिप इकारशपोषे मस्यानुस्वारे वा परसवर्णे सयोमे च कृते
'विदाङ्ङरोत्' इति रूपम् । अत उट् । उपत्ययान्तस्येति । 'उत्तश्च प्रत्ययात्' इत्यत
सदनुवृत्तेरिति भावः । कृञोऽकारस्य उदिति । 'नित्य करोते.' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति
भाव । विक्रतीति । 'गमहन' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भाव । विदाङ्ङस्तात् । विद्घातो-
लोटि, 'विदाङ्कुर्वन्निवारयन्त्यतरस्याम्' इति आम्, 'आम्' इति लोटो लुकि, लोट्-

विदां—'लोट्' के परे—'विद्' धातुसे 'आम्' गुणका अमाश और 'लोट्' का लुक् एवं
लोटन्त कृधातुका अनुप्रयोग निपातन हो, विकल्पते । तना—तनादिगण पठित बाहु और
'कृञ्', धातुसे 'उ' प्रापय हो, कर्त्तर्यक सार्वधातुकके परे । अत—उपत्ययान्त कृञ् धातुके

विदाहुरवाणि । वेत्तु । अवेत् । अपित्तम् । अविदुः । दृश्च । ८।२।७५। धातोर्दस्य
 पदान्तस्य सिपि र्वा । अवेः । अवेत् । विद्यात् । विद्याताम् । त्रियुः । विद्यात् ।
 विद्यास्ताम् । विद्यासुः । अवेदीत् । अवेदिष्यत् । अस् भुषि । अस्ति । श्नसोर-
 लोपः । ६।४।१११। श्नस्यास्तेष्वतो लोपः, सार्वधातुके क्विति । स्तः । सन्ति ।
 'तासस्त्वोर'ति सलोपः । असि । स्यः । स्य । अस्मि । स्वः । स्मः । अस्तेभूः
 । २।४।५२। अस्तेभूः आर्घधातुके । दभूव । भविता । भविष्यति । अस्तु । स्ताव ।

परककृजि घानुप्रयुक्ते 'विदाश् कृ लोट्' इति जाते, लोटस्तिपि 'एरुः' इति उत्वे,
 तातडि, शेषं याधिरथा 'तनादिकृन्म्य उः' इति उविकरणे कृते तस्यार्धधातुकत्वे
 'सार्वधातुकार्घधातुकयोः' इति गुणे रपरे च कृते 'अत उरसार्वधातुके' इति कका-
 राकारस्य उत्वे, मस्यानुसारे वा परसवर्णे च कृते 'विदाहुरतात्' इति रूपम् ।
 दश्चेति । 'सिपि धातोर्वा' इत्यनुवृत्तम् । द इति पठ्यन्तेन घातुर्विशेष्यते । तद-
 न्तविधिः । 'पदस्य' इत्यधिकृतम् । तदाह - धातोर्दस्य पदान्तस्येति । अवेः विद्वा-
 तोर्लृट्सिपि, शपि, शपो लुकि, शटि सिपि इकारस्य 'इतश्च' इति लोपे 'पुगन्तलघू-
 पधस्य च' इति उपधागुणे 'अवेद् स' इति भूते 'हल्ङ्याभ्यो दीर्घासुतिस्यपृक्
 हल्' इति सिपः सस्य लोपे 'दृश्च' इति विदेर्दस्य वा रुवे रेफस्य विसर्गत्वे च
 'अवेः' इति रूपम् । इत्वाभावपक्षे—'अवेत्' इति । अवेदीत् । विद् धातोः 'लुङ्' इति
 लुङि लकारे उदावितौ लस्य तियादेशे, च्छौ, च्लेः सिपि, हचोर्लोपे 'आर्घधातुक-
 स्येद्वलादेः' इतीटि 'लुङ्लृट् लृट् लृट् च्छुदात्तः' इत्यङागमे 'इतश्च' इति तिप
 इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति अपृक्सञ्जकस्य तकारस्य ईङागमे 'इट ईटि'
 इति इटः परस्य सिचः सकारस्य लोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति सवर्णदीर्घत्वे 'पुगन्त-
 लघूपधस्य च' इति लघूपधस्येकारस्यगुणे 'अवेदीत्' इति । अस्ति । अस्भुविधातोर्लृटि
 तिपि शपि शपो लुकि 'अस्ति' इति । श्नसोरलोप इति । अत् इति लुसपथी
 पदम् । श्न अस् अनयोर्द्वन्द्वात्पठोद्भिन्नचनम् । शकन्च्वादिवात् पररूपम् । शनेति
 श्नस्यप्रत्ययैकदेशनिर्देशः । 'अत उरसार्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इत्यनुवर्तते
 'गमहन' इत्यतः क्वितीति । तदाह—श्नस्येत्यादिना । स्तः । अस् धातोस्तसि 'श्न-
 सोरल्लोपः' इत्यस्तेरकारलोपे रस्य विसर्गं 'स्तः' इति । वभूव । अस्धातो
 र्लिटो लः स्थाने तिपि, तिपो णलादेशे, अनुबन्धलोपे 'लिट् च' इत्यार्धधातुकत्वे
 'अस्तेभूः' इति अस्धातोः स्थाने 'भू' इत्यादेशे 'भुवो वुग् लृङ्लिटोः' इति

'अत्' को 'उत्' आदेश हो, सार्वधातुक क्वि-क्विके परे । दृश्च—धातुके पदान्त दकारको
 'रत्' हो, 'सिप्'के परे, विरूपसे । श्नसो—'अस्'प्रत्यय और 'अस्'धातुके अकारका लोप
 हो, सार्वधातुक क्वि-क्विके परे । अस्ते—'अस्' धातुको 'भू'आदेश हो, आर्धधातुकके परे ।

स्ताम् । सन्तु । ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च । ६।४।१२९। धोरस्तेरच्त्वं हो, अ-
भ्यासलोपरश्च । आभीयत्वाद्धेर्धि । एषि । स्तात् । स्तम् । स्त । असानि । असात् ।
असाम् । आसीत् । आस्ताम् । आसन् । स्यात् । स्याताम् । स्युः । मयात् । अमूत् ।
अमविष्यत् । उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यक्परः । ८।३।८७। उपसर्गणः, प्रादुपरश्च
परस्यास्तेः सस्य षो यकारेऽञ्च च परे । निष्पात् । प्रादु प्यात् । निष्पन्ति । प्रादु-

युगागमे 'लिटि घातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्यासत्वे
'ह्रस्वादि शेष' इति लोपे 'इत्थ' इति इत्थे 'भवतेर' इति भुव उकारस्य
अकारे 'अभ्यासे चर्च' इति अभ्यासमकारस्य यकारे 'यभूव' इति रूपम् । लुटि—
भविता । लुटि—मविष्यति । असु । असघातोः 'लोट् च' इति लोटि लोट्ये लाः स्थाने
तिपि, शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः सप' इति शपो लुकि, 'अस् ति' इति स्थिते
'एर' इति तिप इकारस्योत्थे 'अस्तु' इति रूपम् । 'तुष्टोस्तात्तल्लानिष्यन्त्यतर-
स्याम्' इति तोः स्थाने तात्तलि, तस्य द्विर्यात् 'श्नसोरल्लोप' इति अल्लोरकार-
लोपे । 'स्तात्' इति पचे रूपम् । स्ताम् । लोटस्तसि, शपि, शपो लुकि, 'लोटो लृ-
व्' इति लृङ्प्रदानात् 'तस्यस्यमिपास्तान्तन्ताम्' इति तसस्तामादेशे 'श्नसोर-
ल्लोप' इति अल्लोरकारस्य लोपे सति रूपम् । सन्तु । ह्यौ 'सोऽन्त' इत्यन्ता-
देशे 'एर' इति ऋवे असोऽङ्कारलोपे रूपम् । ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपरश्चेति । पु अस्
अनयोर्द्वन्द्वः । 'एव हौ' इति ष्वेद् । एषि । अतघातोर्लोटि सिपि 'सेर्हपिश्च' इति
सिपो द्विरादेशे स च अपिद् 'ध्वसोरेद्वावभ्यासलोपश्च' इति सस्य पूर्व, पूर्व-
स्यासिद्धत्वाद् 'द्विसम्बन्धो हेर्धि' इति हेर्धौ, 'श्नसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'एधि'
इति जायते । तात्तृपचे परेण तात्तला वाधादेश्वाभावे 'स्तात्' इति रूपम् ।
असानि । असघातोर्लोटो निवादेशे 'मेनि' इति मिपो निरादेशे 'आह्रस्मस्य
पिश्च' इति आटि 'असानि' इति योष्यम् । आसीत् । असघातोर्लोटिस्तिपि ल्लोपे
'आह्रजादीनाम्' इति आटि 'आटश्च' इति वृद्धौ, शपो लुकि 'अस्तिसिचोऽ-
पृक्ते' इति अपृक्कसञ्ज्ञकस्य तकारस्य ईटि 'आसीत्' इति । उपसर्गप्रादुर्भ्यामिति ।
इण इत्यनुपगम्ये । सश्च उपसर्गविशेषण तेन उपसर्गस्य च इणप्रयागाहारिको
वर्णस्तस्मात्परस्यास्तेः सस्य पत्वं स्याद्यकारेऽञ्च च परतः इत्येकोऽर्थः । द्वितीयस्तु
प्रादुषोऽध्ययात्परस्यास्तेः सस्य पाव वा सति यकारे ञचि वा परत इति द्वितीयो-
ऽर्थ फलितः । अथ उपसर्ग इण परत सकारस्यवधानेऽपि यकारे परत पाव
स्यादेव 'येन नाभ्यवधानं तेन व्यथद्वितेऽपि वचनप्रामाण्यवाङ्' इति भावः । निष्पात्-

ध्वसो—द्विसञ्ज्ञक वायु और 'अस्' वादुको 'परश्च' और 'अभ्यासका लोप' हो, 'हि' के परे ।
उपस—उपसर्गसंबन्धी 'इण' से पर और 'प्रादुस्' (घन्त अक्षर) से पर 'अस्' वादुके

वन्ति । यच्परं किम् ? अभिस्तः । रु शब्दे । तुरुस्तुशब्दमः सार्वधातुके । ७।
 ३।९५। एभ्यः परस्य सार्वधातुकस्य हलादेशित् ईड् वा स्यात् । 'नाभ्यस्तस्ये'
 त्यतोऽनुवृत्तिप्रसम्भवे पुनः 'सार्वधातुक'प्रहणमपिदर्यम् । रवीति । रीति । रवीतः ।
 रतः । हलादेः किम् ? रुवन्ति । तिष्ठः किम् ? शाम्यति । सार्वधातुके किम् ?
 आशिपि—रुयात् । विध्यादौ तु—रुयात् । रुवीयात् । अरावीत् । अरविष्यत् । 'तु'
 इति सौत्रो धातुः गतिवृद्धिर्हिंसासु । तवीति । तौति । तुवीतः । वृतः । तुवन्ति ।
 वृताव । तोता । तोप्यति । णु स्तुतौ । नौति । जुनाव । नविता । टु क्षु शब्दे ।
 क्षौति । क्षुक्ताव । क्षविता । क्षु तेजने । क्षणौति । क्षणविता । अक्षणावीत् ।
 क्षु प्रक्षवणं । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । पु प्रसवैश्वर्ययोः । प्रसवोऽभ्यनु-

प्रादुःस्यात् । अत्र निस् स्यात्, प्रादुस् स्यात् इति स्थिते उभयोरपि सकारयोः रुवे
 विसर्गे 'उपसर्गप्रादुर्भ्याश्च' इति ततःपरस्यासन्धातोः सस्य पत्वे निःभ्यात्-प्रादुः-
 प्यात् इति रूपे । निःपन्ति ।-प्रादुःपन्ति । अत्रापि असन्धातोरेत्परकरत्वात् । उपसर्ग-
 स्थेणः परे सस्य सत्वात्सस्य षः इति भावः । तुरुस्तुशब्दम इति । ईड्वेत्त्यनुवर्तनादाह-
 प्यभ्यः सार्वधातुकस्य हलादेशित् ईड् वेति । रवीतीति । रु प्राब्देऽस्माद्धातोर्लटि तिपि
 शपि शपो लोपे 'तुरुस्तुशब्दम' इति ईडागमे गुणेऽवादेशे 'रवीति' इति रूपम् ।
 ईडभावे तु 'र-ति' इति स्थिते 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इति वृद्धौ 'रीति' इति
 द्वितीयं रूपं भवति । रुवीतः इति । अत्रापि ईडि सति 'अधि रनु' इत्युवदि 'रवीतः'
 इति रूपं तदभावे 'रतः', इति रूपम् । रुवन्ति । अत्र नेट् हल्परकरत्वाभावात् । रुराव ।
 रविता । रविष्यति । रवीतु-रौतु । अरवीत्-अरौत् । रुयात्-रुवीयात् । अरावीत् ।
 अरविष्यत् । इति । तुः सौत्रः गतिवृद्धिर्हिंसासु । तुधातोः लटि तिपि शपि शबलुकि
 'तुरुस्तु' इतीडागमे गुणेऽवादेशे 'तवीति' तदभावे 'उतो वृद्धिः' इति वृद्धौ 'तौति'
 इति रूपम् । अत्रे तवीतः-तुतः । तुवन्ति । तुताव । तोता । तोप्यति । तवीतु-
 तौतु । अतावीत्-अतौत् । तुयात्-तुवीयात् । नूयात् । अतौपीत् । अतोप्यत् । णु-स्तु-
 तौ । नौति । जुनाव । नविता । नविष्यति । नौतु । अनौत् । नुयात् । नूयात् ।
 अनावीत् । अनविष्यत् । टुक्षु = शब्दे । क्षौति क्षुक्ताव-क्षविता-क्षविष्यति-क्षौतु-
 अक्षौत्-क्षुयात्-क्षयात् । अक्षणावीत्-अक्षविष्यत् । क्षु = तेजने-क्षणौति । क्षुष्णाव ।
 क्षणविता । क्षणविष्यति । क्षणौतु । अक्षणौत् । क्षणुयात् । क्षणुयात् । अक्षणावीत् ।
 अक्षणविष्यत् । षु-प्रक्षवणे । स्नौति । सुष्णाव । स्नविता । स्नविष्यति । स्नौतु । अ-
 स्नौत् । स्तुबाव । स्तुयात् । अस्नावीत् । अस्नविष्यत् । पु प्रसवैश्वर्ययोः । सौति । सु-

सकारस्यो बकार इति, बकार और अक्षरे परे । तुरुस्तु-तु-र-स्तु-रामि-अन्' एव धातुसंज्ञे

ज्ञानम् । धीति । सुत । सुपाव । सोता । असौधीत् । कु शब्दे । क्रीति । सुकाव ।
 कोता । इण् गतौ । एति । इतः । इणो यण् । ६।४।८१ । अजादौ प्रत्यये परे ।
 इयकोऽपवाद । यन्ति । अभ्यासस्यासवर्णे । ६।४।७८ । अभ्यासस्य इ-उवर्ण-
 योरियङ्बन्नी स्तोऽसवर्णेऽचि परे । इयाय । दीर्घ इणः किति । ७।४।६९ । इणो
 ऽभ्यासस्य दीर्घ स्यात् किति ङिति परे । ईयतुः । ईयु । इययिष । इयेय । एता ।
 एष्यति । एतु । ऐत् । ऐताम् । आपत् । इयात् । ईयात् । एतेर्लिङि । ७।४।२४।
 उपसर्गात्परस्य इणोऽणो ह्रस्व स्यादाहर्णधातुके किति ङिति । निरियात् । अन्तः ।

पाव-सोता-सोष्यति सौतु असौत्-सुयात् सूयात्-असौधीत्-असोष्यत् । कु-शब्दे ।
 क्रीति । सुकाव । कोता । कोष्यति । क्रीतु । अकौत् । कुयात् । कूयात् । अकौधीत् ।
 अकौष्यत् । इत्यादि । इणो यण् । अत्र 'अधि श्नुधातु०' इत्यतोऽचि इयनुकार्य
 अङ्गाधिकारापिसप्रत्ययविशेषणत्वात्तदादिविधिरित्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्र व्याचष्टे
 अजादौ प्रत्यये पर इति । यन्ति । इययिष । इययिषादिण्धातोर्लिटि, झौ, शेरन्तादेशे, षापो लुकि
 इयङ्देशात्पाठित्वा 'इणो यण्' इति यणि च ह्रते तस्मिन् । अभ्यासस्यासवर्णे
 इति । 'अधि श्नुधातु०' इत्यतोऽधीति योरियङ्बन्नायिति चानुवर्तते । इय उच्य
 यु सयोरिति विग्रह । अभ्यासविशेषणमिदम् । तेन तदन्तविधिरिति यावत् ।
 दीर्घ इण इति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यत अभ्यासस्येति 'व्ययो ङिति'
 इत्यतो ङिटीति चानुवर्तते । तदाह—इणोऽभ्यासस्येति । ईयतु । इणो लिटस्स-
 मोऽनुसि द्विष्वेभ्यासस्ये 'इ इ अतुत्' इति जाते 'इणो यण्' इति यणि 'दीर्घ
 इण' किति' इति दीर्घे सवर्णे च तस्मिन् । इययिष । इणो लिट सिप
 स्याङि द्विष्वे भारद्वाजनिघमात् पाक्षिके हटि गुणोऽयादेशे, 'अभ्यासस्यासवर्णे'
 इति इयङि, च 'इययिष' इति, इयभावपथे तु गुणे अभ्यासस्य इयङि 'इयेय'
 इति । आपत् । इणो लुङो मी ऋर्यान्तादेशे इकारस्य 'इणो यण्', इति यणि तस्या-
 भीयर्येनासिद्धत्वादादि च तस्मिन्निर्णयः । एतेर्लिङि । 'उपसर्गाद्भ्रस्व ऊहते'
 इत्यतः उपसर्गाद्भ्रस्व इति 'केऽणः' इत्यत अण इति 'अयङ् यि ङिति' इत्यत
 कितौति चानुवर्तते तदाह—उपसर्गात्परस्येति । निरियात् । निरुपसर्गात्पूर्वात् इण्धातो-
 र्शाशीङिङ्गस्तिप इलोपे यासुटि तस्याहर्णधातुकरत्वे कित्वे सलोपे 'अह्रसार्णधातुकयोः'
 इति दीर्घे 'एतेर्लिङि' इति ह्रस्वत्वे निरियादिति निष्पन्नम् । ननु 'अभीयात्' इय-

पर इकादि तिष् सार्धधातुकको इडागम हो, विकल्पसे । इणो—'इण्' धातुको 'यण्' हो,
 अजादि प्रत्ययके परे । अभ्या—अभ्याससम्बन्धी इवर्ण उवर्णको इयङ्-उवङ् आदेश हो,
 असवर्ण 'अय्' के परे ।

दीर्घ इण. किति—'इण्' धातुके अभ्यास को दीर्घ हो, कित्-ङिट्के परे ।
 एतेर्लिङि—उपसर्गसे पर 'इण्' धातुके 'यण्' को, ह्रस्व हो, अर्धधातुक कित्-ङिट्के परे ।

चञ्च ।दि१।८५। योऽयमेकादेशः स पूर्वस्यान्तत्परस्यादिवत्स्यात् । उभयत
 चाभ्ययणे नान्तादिष्वत् । अभोयात् । अणः किम् ? समेयात् । 'समीया'दिति
 प्रयोगस्तु भौवादिकस्य । इणो गा लुङि ।२।४।४५। इणो गादेशः स्याल्लुङि ।
 'गातिस्ये'ति सिचो लुक् । अगात् । अगाताम् । अणुः । ऐष्यत् । इक् स्मरणे ।
 अयमधिपूर्व एव, 'अधीगर्थदयेषां कर्मणो'ति लिङ्गात् । अन्यथा ह्योगर्थेत्येव ब्रूयात् ।
 (इण्वदिक इति वक्तव्यम्) अधियन्ति अध्येगात् । केचित् आर्द्धधातुकाधि-
 कारोकस्यैवातिदेशमाहुः । तन्मतं यण । तथा च भट्टिः—'सवीतयो राषवयोरधोय-

त्रापि ह्रस्वः स्यादित्यत आह—उभयत इति । अत्र एकादेशस्य ईकारस्य पूर्वान्तत्वे
 उपसर्गानुप्रवेशादिण्धातुत्वं न सम्भवति । परादित्वेन इण्धातुत्वाश्रयणे तु नोप-
 सर्गात्परस्वम् । उपसर्गैकदेशस्य इकारस्य ईकारात्मना सत्त्वेन अम् इत्यस्य उपस-
 र्गत्वाभावात् । एकादेशस्य आदिभ्रस्वमाश्रित्य इण्धातुत्वम्, अन्तवत्त्वमाश्रित्य
 तस्य उपसर्गानुप्रवेशश्चेत्यपि न सम्भवति । पूर्वपरशब्दाभ्याम् अन्तादिशब्दाभ्याञ्च
 विरोधस्य पुरःस्फूर्तिकतया विरुद्धातिदेशद्वयस्य युगपदसम्भवादित्यर्थः । समेयादिति ।
 सम् आ इयात् समेयादित्यत्र एकारस्य अनण्वाच्च ह्रस्वः । ग्रहणकसूत्रादन्यत्र पूर्वे-
 णैव णकारेण प्रत्याहाराश्रयणादिति भावः । इणो गा लुङि । इण्धातोः गा इत्यादेशः
 स्याल्लुङीति सूत्रार्थः स्पष्टः । ऐष्यत् । इण्धातोर्लुङ्स्तिपि, स्ये आटि, वृद्धौ सस्य
 परत्वे, तिप इकारलोपे च 'ऐष्यत्' इति रूपम् । इक् = स्मरणेऽयमप्यधिपूर्वः ।
 'अधीगर्थदयेषां कर्मणि' अत्राधिपूर्वादेव इक् धातोर्विधानात् । इण्वदिति । पठ्यन्ता-
 इति । इणो यस्कार्यम् 'इणो यण्' इत्यादि तदिको भवतीत्यर्थः । अध्येति-अधीतः-
 अधियन्ति । अत्र इण्वद्भावात् 'इणो यण्' इति यणि रूपम् । अध्येपि-अधीयः-अधीथ-
 अध्येसि-अधीवः-अधीमः । अधीयाय-अधीयतुः-अधीयुः । अधीयथिथ-अधीयेथ-
 अधीयथुः-अधीय । अधीयाय-अधीयय-अधीयिव-अधीयिम । अध्येता-अध्येप्यति ।
 अप्येतु-अधीतात्-अधीताम्-अधियन्तु । अधीहि-अधीतात्-अधीतम्-अधीत ।
 अध्ययासि-अध्ययाव-अध्ययाम । अध्यैत्-अध्यैताम्-अध्यायन् । अध्यैः-अध्यैतम्-
 अध्यैत् । अध्यायम्-अध्यैव-अध्यैम । अध्यगात्—अत्र इण् भावे सति 'इणो गा
 लुङि' इति गादेशे तिपि 'इत्थ' इलोपेऽङ्गस्याहागमे च्छौ सिचि 'गातिस्या०'
 इति सिचो लुकि 'अध्येगात्' इत्यस्य सिद्धिः । शेषम् इण्वदिति भावः । अध्येप्यत् ।
 केचित्त्विति । 'आर्द्धधातुके' इत्यधिकारे 'इणो गा लुङि' इति सूत्रे एतद्वार्तिकपाठस्य
 भाष्ये दर्शनात्तदधिकारोक्तानामेव कार्याणामुपस्थितत्वात् । तन्मते यण्नेति । इणो

उभय—उभयतः भाष्ययगमें अन्तादियद्भाव नहीं हो । इणो—'इण्' को 'गा' आदेश हो
 लुङ्के परे । इण्व—'इण्' धातु के समान 'इक्' धातु को भी कार्य हो-ऐसा कहना चाहिये ।

ति'ति । धी गतिव्यतिप्रजननकान्यसनखादनेषु । प्रजनतो गर्भप्रहणम् । अस्तन-
 क्षेपणम् । वेति । वीतः । विद्यन्ति । वेपि । वेमि । वीहि । अवेत् । अवीताम् ।
 अवियन् । अटि सरयनेकाचत्वाद्यनिनि केचित् । अठयन् ॥ अत्र ईकारोऽपि घाव
 न्तर प्ररिच्छयते । एति । ईत । इयन्ति । ईयात् । ऐथीत् । एष परिभाषणे ।
 वक्ति । वक्त । अयमन्तिपरो न प्रयुञ्जते । बहुवचनपर इत्यन्ये । क्षिपर इत्यपरे ।
 वक्तु । वग्धि । वच्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिव्यातिभ्योऽञ् । ३।१।५२।
 एभ्यश्छलेरु स्यात् । घञ् लम् । ७।४।२०। वच उभाषण स्यात् अकि । अदेउत् ।
 अवद्यत् । मृजू द्युदौ । मृजेवृद्धिः । ७।२।११४। मृजेरिक्वो वृद्धि स्याद्वातुप्रत्यये ।
 'प्रश्चे'ति यः । माष्टि मृष्ट । (फिट्स्वजादौ धेय्यते) मार्शति । मृशति ।

इण् इत्यस्य 'आर्षभातुके' इत्यधिकारोक्तवाभाषात्तातिदेश इति भाव । तेन
 होऽन्तादेशो इत्यङि सवर्णदीर्घेधघोयन्तीत्यपि स्यात् । तस्माद्भ्रुवरि षपो रुकि इका-
 रस्येवलि सवर्णदीर्घे अघोयदिति दाप्रन्तात् सुवृत्तौ 'अघोयन्' इति स्यात् । तेन
 अट्टीकृत 'ससीतयो राघवपोरघोयन्' इति प्रयोगोपपत्ति भवति । षट्ठी तु 'अघोयर्ष
 द्येषां कर्मणि' इति सूत्रेण बोध्या । राघवौ स्मरन्निति तदर्थं । वेति । वीषातो' छटि
 तिपि षपि षाञ्छुकि गुणे रूपम् । वीत । विद्यन्ति—अत्र एकारत्वेन यणभाषादिवलि
 त्यर्थं । वेपि-वीथ -वीथ । वेमि वीथ वीम' । आर्षभातुके नास्ति अस्य प्रयोग 'अजे-
 म्यघन्नयो' इति सूत्रमाप्यरोप्या इति घट्टेन्दुबोलेरे प्रपञ्चितम् । छोट-वेतु-वीतात् वी-
 ताम्-विद्यन्तु । वीहि-वीतात्-वीतम् वीत । वयानि वयाव वयाम् । अवेत्-अवीताम्-
 अवियन्-अत्र प्रागियलि कृते सतोऽङ्गागमे रूपम् । अङ्गागमे सति तु अनेकाध्वाद्यनेव
 स्यात्तेन च 'अव्यन्' इति द्वितीय रूपम् । ई प्ररुषेये तु एति-इत -इयन्ति-इयाय-
 इयादिरुद्धम् । वच = परिभाषणे अस्य प्रयोग । बहुवचने वा सौ वा अन्ति परे न
 भवतीति मतप्रथम् । तेन वक्ति-वक्त । उवाच । वक्ता । वक्षति । वक्तु-वग्धि । व
 च्यात् । उच्यात् । अस्यतिवक्तिव्यातिभ्योऽञ् इति । छलेरिग्यनुपपद्यते अत आइ-
 च्छेरिति । वचलमिति । अटि परत वचवातो उमादेश स्यादिति भाव । अवोचदिति ।
 'अ वच + चि + त्' इत्यवस्यायाम् 'अस्यतिवक्ति' इति छलेरुदादेशे 'तच्च उम्' इति
 उमि मित्रादन्यावयवे गुणे च कृते 'अवोचत्' इति सिध्यति । अवचयत् । मृजू =
 द्युदौ । वृद्धिदयम् । मृजेवृद्धिरिति । मृजेरिक्वो वृद्धि स्याद्वातुप्रत्यये परतः इत्यर्थं । माष्टि
 रति । मृजू द्युदौ अस्मादातोः त्रिपि षपि षाञ्छुकि 'मृजेवृद्धि' इति वृद्धौ 'अथ
 अस्ज' इति अस्य ल्ये रूपलिङ्गि । कृष्टः । 'फिट्स्वजाशदिति । 'मृजेवृद्धि' इत्यनेन
 अस्यति-वक्ति-व्याति-एन प्रत्ययौ ठे पर 'फिट्'को 'अच्' आदेश हो । वच- 'वच्'
 को 'वच्' ल्यप् हो, 'अच्' के परे । कृते- 'वच्'के 'वच्'को वृद्धि हो, वाचभिकार विरिप
 [माचरके परे । निरुप- 'अच्'के 'वच्'को वृद्धि हो, विकल्पे-

यासि । ममार्ज । ममृजतुः । ममार्जंतुः । ममार्जिय । ममार्ष्ट । मर्जिता । मर्ष्टा ।
 मर्ष्टु । मृद्धि । अमार्ष्ट । अमार्ष्टु । अमार्जम् । अमार्जात् । 'पदोः कः सि'
 अमार्क्षात् । अमार्क्षत् । अमार्जिष्यत् । रुदिर् अश्रुविमोचने । रुदादिभ्यः
 सार्वधातुके । ७।३।७६। रुद् स्वप् श्वम् अन् कश् एभ्यो वलादेः सार्वधातुकस्येष्ट
 स्यात् । रोदिति । रुदितः । हौ—परत्वादिटि धित्वं न । रुदिहि । रुदश्च पञ्चभ्यः
 । ७।३।९८। रुदादेः परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्यापृष्ठभ्य ईट् स्यात् । अह्
 नाग्यं गालचयोः । ७।३।९९ अरोदीत् । अरोदत् । अरुदिताम् । अरुदन् ।

विहिता वृद्धिः विष्टयजादौ चा भवतीत्यर्थः । तेन मृजन्ति-मार्जन्ति । ममार्जं-
 ममृजतुः-ममृजुः । ममार्जिय-ममार्ष्ट-अन्नेद्विकल्पः ऊदिखात् । मर्जिता-मर्ष्टा ।
 मर्जिष्यति-मार्क्षति । मर्ष्टु । मृद्धीति । 'मृज्-हि' इत्यवस्थायां 'व्रश्' इति पत्वे
 'हुञ्चभ्यो हेधिः' इति धिपे प्लुत्वेन घस्य ढत्वे जश्चेन पस्य ढकारे रूपं सिञ्च ।
 अमार्ष्ट इति । मृज्धातोर्लुङि तिपि षापि शब्लुकि 'इतश्चे'ति ह्रलोपेऽङ्गस्याङगमे
 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ संयोगान्तलोपे 'वाऽवसाने' इति ढत्वे तद्भावे जश्चेन
 ढत्वे अमार्ष्ट-अमार्ष्टु इति रूपद्वयं साधु । अमार्जात् । मृज्धातोर्लुङि तिपि
 'इतश्च' ह्रलोपे प्लौ सिचि हटि ईटि अङ्गामे 'मृजेवृद्धिः' इति वृद्धौ 'इट ईटि' इति
 सलोपे सवर्णदीर्घः 'अमार्जात्' इति रूपम् । इडभावे तु 'अमार्क्षात्' इति रूपम् ।
 अमार्षयत् । अमार्जिष्यत् । रुदादिभ्य इति । इडवलादेरित्यनुवृत्ति मत्वाऽऽह—
 बलादेरिति । रोदितोति । रुद्धातोर्लुङि तिपि षापि शब्लुकि 'रुद्-ति' इति लाते
 'रुदादिभ्यः' इति इडागमे 'पुगन्त' इति गुणे 'रोदिति' इति रूपम् । अग्ने रुदितः-
 रुदन्ति । रोदिषि-रुदियः-रुदिय । रोदिमि-रुदिवः-रुदिमः । रुरोद् । रोदिता । रो-
 दिष्यति । रोदिह । रुद्-हि इति स्थिते प्राप्तं 'हुञ्चभ्यो' इति धिभावं चाषित्वा
 परत्वादिटि 'रुदिहि' इति रूपं भवति । रुदश्चेति । 'नाभ्यस्तस्य' इत्यतः पित्तीति सार्व-
 धातुके इति च 'उतो वृद्धिः' इत्यतो हलीति 'गुणोऽपृक्ते' इत्यतः अपृक्ते इति 'हुञ्च
 ईट्' इत्यतः ईदिति चानुवर्तते । रुद् इति पञ्चमी । अत आह—रुदादिभ्य इति पिय-
 क्षितम् । शेषं पूरयति-इकादेरिति । 'अह्गाग्येति । अनयोर्मते रुदादिभ्यः पञ्चभ्यः
 परस्य हलादेः पितः सार्वधातुकस्य अपृक्कस्येडागमः स्यादिति स्पष्टोऽर्थः । जरोदीदि-
 ति । रुदो लुङि तिपि 'इतश्च' ह्रलोपे प्लौ सिचि 'रुदश्च' इतीडागमे 'अरुद्-ई-त्'
 इति जाते 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'अरोदीत्' इति रूपम् । 'अह्गाग्यं गालचयोः'

रुदादि—रुदाद पाँच धातुओं से पर बलादि सार्वधातुको 'रुद्' का आगम हो । रुदश्च—
 रुदादि पाँच धातुओंसे पर अपृक्कसंज्ञक इकादि पित सार्वधातुको 'ईट्' का आगम हो । अह्—
 रुदादि पाँच धातुओंसे पर अपृक्कसंज्ञक इकादि पित सार्वधातुको 'अट्' का आगम हो, नाग्यं

अरोदी । अरोद । प्रकृतिप्रत्ययविधेयापेक्षाभ्यामन्तर्हत्वात्सासुट्,
 'असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे' इति परिभाषणात् । स्यात् । अरुदत्-अरोदीत् ।
 अरोदिष्यत् । अिष्यप् शये । स्वपिति । स्वपितः । सुष्वाप । सुषुपतुः । सुष्पपिथ ।
 गुष्प्य । सुविनिर्दुर्म्यः सुपिष्टतिसमाः । ८।३।८८। एष्य सुप्यादे सस्य प

इत्यट्पठे तु 'अरोदत्' इति द्वितीय रूपम् । अरुदिताम् । अत्र 'रुदादिभ्यः सार्धंघातुके'
 इतीहागमे रूपम् । 'अरुदेन्' । अरोदी अरोदः । अत्र 'अङ्गाग्ये' ति पठे द्वितीय रूपम् ।
 'रुदश्च पञ्चम्य' इतीहागमपठे अरोदी इति रूपम् । अरुदितम्—अरुदित । अरो-
 दम् । अरुदिय । अरुदिम । प्रकृतिप्रत्ययेति । ननु छिछि तिपि यासुट् बाधित्वा
 परत्वात् 'अङ्गाग्ये' इति 'रुदश्च' इति अदीर्घा श्यातामिष्यत् आह-प्रकृतिप्रत्ययेति—
 हलादिपिस्तावंधातुकापृष्ठापेक्षत्वाच्चेत्यपि ज्ञेयम् । असिद्धमिति । परस्परपेक्षया स्या-
 त्पनिमित्तकव्यमन्तरङ्गत्व, स्यापकनिमित्तकत्वं बहिरंगत्वमित्युपसर्गः । विछ्छ्योपरि-
 तिकत्व बहिरंगस्यासिद्धकत्वे षीजम् । रुदादिनि । रुदिर्घातो छिछि तिपि अन्तरङ्गत्वा-
 दीटमट् च बाधित्वा यासुटि कृते 'रुदो' इति सलोपे कृते 'रुदात्' इति रूपम् । अरु-
 ददिति । रुदिर्घातो छुछि तिपि छौ 'इरितो वा' इत्यच्छि च्छिवाद् गुणाभावे 'इत्तश्च'
 इलोपे 'अरुदत्' इत्येक रूपं भवति, अरुदमावे 'अरुद छि छत्' इति स्थिते च्छे
 तिचि । 'रुदश्च' इति तस्येदागमे । 'सार्धंघातुकरस्ये' ति सिच इति 'इट ईटि' इति सिचो
 लोपे सयणदीर्घे 'पुगन्त' इति गुणे 'अरोदीत्' इति द्वितीय रूपं भवति । अरोदिष्यत्,
 इत्यादि । स्वपितीति । अिष्यप्-शयेऽस्माद्धातो छटि तिपि णपि शम्भुकि 'धात्वाद्दे पः
 स' इति पस्य सत्वे 'स्वप्-ति' इति जाते 'रुदादिभ्य' इतीहागमे 'स्वपिति' इत्येकमेव
 रूपम् । अत्रे 'स्वपितः' अत्र 'रुदादिभ्या' इतीदिति भाव । स्वपन्ति । स्वपिथि-स्वपि-
 थ-स्वपिथ । स्वपिमि-स्वपिथ-स्वपिम । सुष्वापेति । स्वपघातो छिछि तिपि छिछि 'छिछि
 घातो' इति द्वित्वे पूर्वस्याग्यासत्वे हलादिशेषत्वे भावे च बाधित्वा 'छिछिग्या-
 सस्योस्येषाम्' इति अग्यासवकारस्य सप्रसारणे 'सप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सु-
 स्वप्-अ' इति जाते 'अत्त उपधाया' इत्युपधावृद्धौ आदेशसकारत्वात् 'आदेशप्र-
 त्यययो' इति सकारस्य पत्ये कृते च 'सुष्वाप' इति रूपम् । सुषुपतिरिति । 'स्वप्-
 अतुसु' इत्यवस्थायां 'वचिस्वपि' इति सप्रसारणे पूर्वरूपे सुप्-अतुसु इति जाते 'छिछि
 घातो' इति द्वित्वे हलादिशेषे आदेशसकारस्य पत्ये सस्य रूपे विसर्गे 'सुषुपतुः' इति
 रूपम् । एव सुषुपु । सुष्पपिथ 'सुष्प्य' अत्र घेट्भारद्वाजमतेन । सुषुपतुः-सुषुप ।
 सुष्वाप सुष्पप, सुष्पपिथ सुष्पिम । सुविनिर्दुर्म्य इति । कृतसप्रसारणस्य स्वपघातोः सुपि-

और गाऊवके मतसे । सुवि—'सु-वि-निर्-दुर्' इन वपसर्गोंसे पर सुष्वादि (सुपि-सूवि-
 सप्त) के सकारको पत्त हो ।

स्यात् । 'पूर्वं धातुरूपसंगेण युज्यते ।' किति लिटि—परत्यासम्प्रसारणे,
 पक्षे च कृते द्वित्वम् । पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने । सुषुषुपतुः । सुषुषुपुः ।
 अकिति तु—द्वित्वेऽभ्यासस्य संप्रसारणम् । पक्षस्यासिद्धत्वात्ततः पूर्वं 'हर्लादिः शेषः'
 नित्यत्वाच्च । ततः सुपिरूपामावान्न यः । सुसुधाप । सुस्वप्ता । अस्वपीत् ।
 अस्वपत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । सुप्यास्ताम् । सुपुप्यात् । अस्वाप्सीत् । अस्वप्स्यत् ।
 श्वस प्राणने । प्राणनं—जीवनम् । श्वसिति । श्वसितः । शश्वस । श्वसिता । श्वसि-
 श्यति । श्वसितु । अश्वसीत् । अश्वसत् । अश्वसिताम् । अश्वसन् । श्वस्यात् । श्वस्या-
 ताम् । श्वस्युः । श्वस्यात् । श्वस्यास्ताम् । श्वस्यासुः । 'घ्यन्तेति'ति न वृद्धिः । अश्व-
 सिध्यत् । अन च । अनिति । आन । अनिता । अनिप्यति । आनीत् । आनत् ।
 अनितेः । ८।४।१६। उपसर्गस्याभिधित्तात्परस्यानितेर्नस्य णः स्यात् । प्राणिति ।

रयनेन ग्रहणं सूतीरयोगेन सूतिशब्दः कृदन्तो गृह्यते । समेत्यनेनापि समशब्दस्य ग्रहणम् ।
 पृथग्रथं प्रथमा । 'सहेः साढः सः' इत्यतः स इति पृथग्रन्तमनुवर्तते, नूर्धन्य इत्यधिक-
 तम् । सुषुप्तिः-सुपृतिः-सुपमः विपमः-दुःपमः, इति उदाहरणानि । पूर्वधातुः साधनेन
 युज्यते तत् उपसर्गण, पूर्वधातुः उपसर्गण युज्यते ततः साधनेनेति पक्षद्वयं तत्र लक्ष्म-
 नुरोधाद्वयवस्थेति । 'पूर्वं धातुरूपसंगेण' इति पक्षमवलम्ब्यते । तत्रश्च द्विप्यारयोगे
 परत्वात्संप्रसारणे सति सुप् इत्युपसर्गपूर्वकत्वमादाय पक्षे च कृते सति पुनः प्रसङ्ग-
 विज्ञानात् 'सुप्' इत्यस्य कृतपक्षस्य द्वित्वे सति खण्डह्वयेऽपि प्रकारश्रवणं निर्वाचमेध ।
 अथ एव 'सुषुषुपतुः' अत्र न दोषः । एतत्पक्षं किति परत एव अकिति तु 'सुसुधाप'
 इत्यादौ न पक्षं पिश्वेन कित्वाभावात् । स्वप्ता । स्वप्स्यति । स्वपितु । अस्वपीत्-अस्व-
 पत् । स्वप्यात् । सुप्यात् । 'सुपुप्यात्' अत्र 'सुविनिर्दुर्म्यः' इति पक्षमवलम्ब्य । अ-
 स्वप्स्यत् । श्वसिति । श्वस-प्राणनेऽस्माद्धातोर्लटि तिपि शपि दाब्लुकि 'ददादिभ्यः
 सार्धधातुके' इतीडागमे 'श्वसिति' इति रूपम् । अग्रे सुकरम् । जश्वस । श्वसिता ।
 श्वसिप्यति । श्वसितु । अश्वसीत्-अश्वसत् । श्वस्यात् । अश्वसीत् । अन च, प्राणने
 इत्यर्थः । तेन रुदादिवाक् षष्ठादौ सार्धधातुकं दृष्टि 'अनिति, अनितः' इत्यादि । आन ।
 आनतुः । अनिता । अनिप्यति । अनितु । आनीत्-आनत् । 'रुदश्' इति दृष्ट् 'अद्वयार्थेति
 अडागमश्च बोध्यः । अनितेरिति । 'श्याम्याम्' इत्यनुवर्तते 'उपसर्गादसाम्' इत्येतः उप-
 सर्गादिति, तदाह-उपसर्गात्वादिति । प्राणिति । मपूर्वकजनपातोर्लटि तिपि क्षपि दाब्लुकि

नोटः—'सुपि'से 'स्वप्' भातु, 'सूति' से 'सूति' शब्द जीर 'सम' से 'सम' शब्दका ग्रहण
 करना चाहिये । तीनोंके उदाहरण—'सुपुप्तिः, सुपृप्तिः, सुपमः' जादि हैं ।

अनितेः—उपसर्गस्य निमित्तसे पर 'अम्' भातुके नकारको गकार हो ।

जक्ष मक्षहसनयो । जक्षिति । जक्षित । अदभ्यस्तात् । [अ१।४] अभ्यस्ता-
त्परस्य सस्य आस्यात् । अन्तापवादः । अक्षति । अक्षीत् । अक्षत् । अक्ष-
ताम् । 'विजभ्यस्ते'ति ज्ञेजुस् । अक्षु । जागृ निद्राक्षये । जागृति । 'जागृत ।
जाग्रति । 'उपविदे'त्याम्बा । जागराञ्कार । अजागर । जाग्रोऽविचिण्णल्-
द्विसु । [अ३।८५] जागर्तेर्गुण स्याद्विचिण्णल्ङ्कुर्योऽन्यस्मिन्वृद्धिविषये, प्रति-

सवर्णदीर्घे 'रदादिभ्यः' इति त्रिप इटि 'अनित्ते,' इति णत्वे प्रोक्त रूप भवति । अ-
भ्यात् । आनीत् । आनित्प्यत् । अच=मचहसनयोः । अचचातोर्वर्तमाने छटि त्रिपि चापि
शब्दुकि 'रदादिभ्यः' इति इटि 'अचिति' इत्यस्य सिद्धि । अचित् । 'अदभ्यस्तादिति ।
'सोऽन्त' इत्यन्त स्यानुवृत्तिः । अभ्यस्तसञ्कारपरस्य सस्यात्स्यादित्यर्थः । अक्षतीति ।
अचघातोर्छटि शौ 'अक्षियादयः पट्' इत्यभ्यस्तसञ्कारात् 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'अ-
चिति' इति रूप प्रसिध्यति । अचच । अचित्ता । अचित्प्यति । अचित्तु । अचचीत्-अच-
चत् । अच क्रमेण 'दक्ष' 'अदगाग्यं' इत्यादौ बोध्यौ । अचचिताम् । अचक्षुरिति ।
अचघातोर्छटि शौ चापि शब्दुकि अक्षस्याडागमे 'अक्षियादयः पट्' इत्यभ्यस्तस-
'सिन्धुभ्यस्तविदिभ्यश्च' इति सस्य जुसि अकारलोपे एवे विसर्गे 'अचक्षु' इति प्रभवति
रूपम् । अचयात् । अचचीत् । अचचित्प्यत्, इत्यादि । जागृ=निद्राक्षये । जागृतीति ।
जागृचातोर्वर्तमाने छटि त्रिपि चापि शब्दुकि 'सार्वधातुकार्षणात्कयो' इति गुणे
'जागृति' इति रूपम् । जागृत । जाग्रति, अत्र 'अक्षियादयः पट्' इत्यभ्यस्तस-
ञ्कारात् 'अदभ्यस्तात्' इति सस्याति रूपम् । जागर्षि-जागृष-जागृथ । जागर्षि-जागृष-
जागृम- । आगराचकारेति । अत्र-छटि 'काश्यनेकाच आम्बच्छभ्य' इत्यासि तस्यार्षधा-
तुकरवाद् गुणे 'जागराम् छिट्' इति जाते '-आम-' इति लुकि 'ह्रस्वानुप्रयुज्यते छिटि'
इति ह्रस्वोऽनुप्रयोगे त्रिपि णळि 'छिटि घातोः' इति द्वित्ये पूर्वस्याभ्यासात्वे 'उरत्' इत्य-
त्वे रपरत्वे हलादिः शेषात्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्चन करस्य चत्वे 'जागराम्-चर्च-
थ' मस्यानुस्वारे परसवर्णे 'अचोष्णिगति' इति घृद्धौ 'जागराञ्कार' इत्येकं रूप,
अन्ये जागराम्भूव-जागरामास । अजागरेति । 'आयादय आर्षधातुके वा' इत्याम
भावे छिटि त्रिपि णळि घातोर्द्वित्ये पूर्वस्याभ्यासात्वे इत्ये 'अजागृ-अ' इति जाते 'अ-
चोष्णिगति' इति घृद्धौ 'अजागर' इति रूपम् । जाग्रोऽविचिण्णिति । जाग्र इति षष्ठी ।
'मिदेर्गुण' इत्यन्तो गुण इति, तदाह-जागर्तेर्गुण स्याद्विति 'अविचिण्णल्ङ्किसु' इति
छेदः । वि-चिण्-गल्-द्वि-एषां इन्द्रे नन्समासः । चिण्णल्पर्युदासाद् घृद्धिविषयेऽ

अद—अभ्यस्त सङ्कते पर 'स' को 'अत्' कारेण हो ।

जाग्रो—'जागृ' धातुको गुण हो, वि, धिन्, औट नङ्के विग्र इद्विविषयक प्रत्यय
एषा विद्विन्न प्रतिषेध विषयक प्रत्ययके परे ।

पेधविषये च । जजागरतुः । जजागरः । जागरिता । जागरिष्यति । अजागाम । अजागृताम् । अभ्यस्तत्वाञ् जुस् । जुसि च । ७।३।८३ । अजादौ जुसि इगन्ताङ्गस्य गुणः स्यात् । अजागरः । अजादौ किम् ? जागृषुः । आशिपि तु—जागर्यात् । जागर्यास्ताम् । जागर्यासुः । अजागरोत् । दरिद्रा दुर्गतौ । दरिद्राति । इहरिद्रस्य । ६।४।११५ । दरिद्रातेरिकारः स्यादलादौ क्विति । सार्वधातुके । दरिद्रितः । शनाभ्यस्तयोरात् । ६।४।११२ । शनाभ्यस्तयोरारतो ऋषः स्यात् क्विति सार्वधातुके । दरिद्रिति । अनेकाच्चादाम् । दरिद्राचकार 'आत औ णळ' इत्यत्र 'ओ' इत्येव सिद्धे 'औ' विधानं दरिद्रातेरारलोपे कृते श्रवणार्थम् अत एव ज्ञापकादान्नेत्येके ।

प्यस्य प्रवृत्तिः । डिपयुंदात्वात् गुणप्रतिषेधविषयेऽप्यस्य प्रवृत्तिः । जजागरतुः । जजागृ-अतुम् इत्यवस्थायां 'जामो' इति गुणे रपरत्वे सस्य रुवे विसर्गे जजागरतुरिति सिध्यति । जजागरः, अत्रापि 'जामो' इति गुणः । जजागरिष्य, जजागरथुः, जजागर । जजागर-जजागर-जजागरिष्य-जजागरिष्य । जागरिता-जागरिष्यति-जागर्तुं । अजाग इति । जागृधातोर्लङ्गितिपि गुणे 'इतश्च' हलोपे 'हृत्प्रादिकोपेऽङ्गस्याङ्गागमे रेफस्य विसर्गे 'अजागः' इति रूपम् । जुमि चेति । अङ्गस्येत्यधिकृतम् । 'मिद्वेर्गुणः' इत्यतो गुणपदमनुवर्तते । 'इको गुणवृद्धौ' इकः पदस्य तदन्तविधिः । अजागरिति । जागृधातोर्लङ्गि शौ 'जक्षित्यादयः पट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'जुसि च' इत्यनेन गुणेऽङ्गस्याङ्गागमे 'अजागरः' इति रूपम् । जागृयात् । जागर्यात्, अत्र 'जामो' इति गुणः । अजागरीत् । अजागरिष्यत् । दरिद्रा=दुर्गतौ-दरिद्राति । इहरिद्रस्येति । 'गमहनः' इत्यतः क्विति 'इं हृदयघोः' इत्यतः हलीति 'अत उक्' इत्यतः सार्वधातुके इति । दरिद्रितः इति । 'दरिद्रा-तस्' इत्यवस्थायाम् 'इहरिद्रस्य' इति इकारे रूपम् । 'जक्षित्यादयः पट्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायां 'शनाभ्यस्तयोरारतः' इत्यालोपे प्राप्ते तद्वाचनार्थमेतदिति । शनाभ्यस्तयोरिति । 'अत्र 'गमहन' इत्यतः 'क्विति' 'लोप' इति चाजुवर्तते । 'अत उक्' इत्यतः सार्वधातुकेति । दरिद्रति । दरिद्रा-ति इत्यवस्थायां 'जक्षित्यादयः' इत्यभ्यस्तत्वे ङस्य 'अदभ्यस्तात्' इत्यति 'शनाभ्यस्तयोः' इत्यालोपे 'दरिद्रति' इति रूपम् । दरिद्राचकार-दरिद्रावभूव-दरिद्रामास । 'आत औ णळः' इति ज्ञापकादान्नेति पचे 'दरिद्रौ' इति रूपम् । दरिद्रिता । दरिद्रिष्यति । दरिद्रात् । अदरिद्रात् । दरिद्रियात् । इरिद्रियात् । अदरिद्रौ । अदरिद्रासीत् । चकाश्चकारित् । चकासांचकार । चकासिता । चकासिष्यति । चकास्तु । चकाद्धि-अप्रचकास्-हि इति स्थिते 'हुङ्गस्यो' इति हेर्द्विवे जश्वेन सकारस्य दकारे 'चकाद्धि'

जुसि—इगन्त अङ्को गुण हो, अजादि 'जुस्' प्रत्ययके परे । इह—'दरिद्रा' धातुके गातको 'इ' हो, इकादि क्वि-इत् सार्वधातुके परे । आ-शनाभ्यस्त्य और अभ्यस्तसंबन्ध धातुके

ददरिद्रो । (दरिद्रातेरार्द्धधातुके घिचक्षिते आलोपो वाच्यः । लुङि वा)
 (सनि, ण्वुक्ति, ल्युटि च न) दरिद्रिता । अदरिद्रात् । अदरिद्रिताम् । अद-
 रिद्रुः । दरिद्रियान् । दरिद्रियात् । दरिद्रौत् । पक्षे—इट्प्रकी । अदरिद्राधीत् ।
 अफासु दीतो । चकास्ति । चकास्त । चकासति । चकासाचकार । चकासिता ।
 चकासु । 'घि च'ति सभोपः सिच एवेत्येके । तन्मते—चकादि । 'चकाधि' इयेव
 तु मायम् । तिप्यनस्ते । ८।२।७३। पदान्तस्य सस्य दः स्यात्स्थिति, न स्वरते ।
 अचकात् । अचकाद् । अचकास्ताम् । अचकासु । सिपि घातो कर्वा । ८।२।७४।
 पदान्तस्य घातो सस्य कर्वा स्यात्स्थिति । पक्षे दः । अचकात् । अचकाद् । अचकाद् ।
 शासु अनुशिष्टौ । शास्ति । शास इदृङ्ङुलो । ६।४।३४। शास उपधाया
 इत्स्यादधि, इलादौ । विकृति च । 'शाधिबली'तिप्य । 'ट्प्रवम् । शिष्ट । शासति ।
 शशास । शशासत् । शासु शिष्टात् । शिष्टाम् । शासु । शा ही । ६।४।३५।

इति रूपम् । यदा 'घि च' इत्यनेन सलोपः स्यात्तदा 'चकाधि' इत्येव रूपम् । तिप्य-
 नस्ते । न अस्ति अतस्तिरस्तस्येति विग्रहः । पदस्येति अधिकृतम् । 'अलां जशोऽन्ते' इत्यतः
 अन्ते इत्यनुवर्तते । 'ससञ्जयो' इति स इति पद्यन्तमनुवर्तते 'वसुञ्जसु' इत्यतो व इति
 अचकाविति । चकासुघातोर्लङि तिपि 'इत्थम्' इलोपेऽङ्गस्याङामे इत्थयादिघोपे
 'तिप्यनस्ते' इति सस्य दावे 'वावसाने' इति वा तकारे 'अचकात्-अचकाद्'
 इति । सिपि चात्रोरिति । पदस्येति अधिकृतम् । 'अलां जशोऽन्ते' इत्यतोऽन्ते
 इति 'ससञ्जयो' इत्यत स इति । अचका इति । चकासुघातोर्लङि सिपि चापि शास्त्रिक
 'चकासु-सिप' पक्षोपे 'इत्थम्' इलोपे इत्थयादिघोपे 'सिपि घातो कर्वा' इति सस्य
 रूपपक्षे 'अचका' इति रूपम् । यदा कर्वा न स्यात्तदा पक्षे दावे अचकाविति
 रूपम् । अचकासीत् । अचकासिष्यत् । शासु-अनुशिष्टौ-शासित । शास इदृङ्ङु-
 लोरिति । 'अनिद्रिताम्' इत्यत उपधाया विकृतीत्यनुवर्तते । शिष्ट इति । शास-
 त्तु इति आते 'शास इदृङ्ङुलो' इतीत्ये सस्य परवे 'पुत्रे रत्वे विसर्गे' 'शिष्ट' इति
 रूपम् । शासतीति । अत्र अक्षिप्यादिवाद्ममस्तसञ्जायाम् 'अदम्यस्तात्' इत्यति रूपम् ।
 शशास । शासिता । शासिष्यति । शासु । शाही । ही परतः शास् इत्यस्य शाइश

आकारका ङोप हो, किन्-किन् सार्द्धधातुकके परे । दरिद्रा-आर्द्धधातुककी विग्रहमे दरिद्रावाद्के
 आकारका ङोः (नित्य हो) हो, परन्तु 'लुङ्'के परे विकल्पते हो । सनि-सन्, ण्वु-
 और श्युट् के परे 'दरिद्रा' वातुके आकारका ङोप नहीं हो । तिप्य-पदान्त सकारकी दकार
 आदेश हो, 'तिप्'के परे—'मस' वातुके सकारकी छोडकर । सिपि—वातुके पदान्त उकार
 की बल हो, 'सिप्'के परे, विकल्पते । पद्यमें दकार भी हो । शासु—'शासु' वातुकी उपधाया
 'इत्' हो, 'अच्'के परे और इलादि किन् किन् प्रत्ययके परे । शा ही—'शास' को 'शा' आदेश

शास्तेः शादेशः स्याद्दो परे । तस्याऽऽभीयत्वेनासिद्धत्वाद्धेर्षिः । शाधि । अशात् । अशाद् । अशिष्टाम् । अशासुः । अशाः । अशात् । शिष्यात् । सतिशास्त्यति-
भ्यश्च । ३।१।५६। एभ्यश्चलेरट् स्यात्कर्त्रर्थे लुकि । अशिपत् । अशासिष्यत् ॥

इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

अयाऽऽत्मनेपदप्रक्रिया । शीङ् स्वप्ने । शीङः सार्वधातुके गुणः । ७।४।
२१। शीङो गुणः स्यात्सार्वधातुके । 'किञ्चि चे' त्यस्यापवादः । शेते । शयाते । शीङो
रट् । ७।१।६। शीङः परस्य ह्लादेशस्यातो रट् । शेरते । शेपे । शयाये । शेप्वे ।
शये । शेवहे । शेमहे । शिश्ये । शयिता । शयिष्यते । शेताम् । अशेत । अशया-

हृत्पर्यः । तेन शास् हि हृत्यवस्थायां 'शा हि' इति जाते सलोपमाधिस्य तत्त्वा-
सिद्धत्वात् 'हुक्षफ्यो हेर्षिः' इति धित्वे 'शाधि' इति रूपम् । अशात् । अशाः-अशात् ।
शिष्यात्-अत्र 'शास इदृक्हलोः' इति इकारः । सतिशास्त्यतिभ्यश्च । च्लेरट् इत्य-
नुपज्यते । अशिपत्-शास् धातोः लुकि तिपि 'इतश्च' इलोपेऽङ्गस्याङ्गमे 'शास्
इत्' इति इ आदेशे च्लौ तस्याने 'सतिशास्ति' इति अङ्गदेशे 'अशिपत्' इति
रूपम् । अशासिष्यत्, हस्यादि । इति परस्मैपदम् ।

शेते । शीङ् धातोः इटि, तस्थाने शीङो लिट्वात् 'अनुदात्तङित' इत्यात्मनेपदे
प्रथमपुरुषैकवचनविवक्षायां 'त'कृते, शपि, शपो लुकि, तस्य अपिस्तावंधा-
तुकर्वात् 'सार्वधातुकमपित्' इति लिट्त्वेन गुणाभावे प्राप्ते 'शीङः सार्वधा-
तुके गुणः' इति गुणे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेखे च 'शेते' इति रूपम् ।
शीङो रुदिति । 'स्रोऽन्तः' इत्यतो 'झ' इत्यनुवर्तते । 'अदभ्यस्तात्' इत्यतः अदि-
त्यनुवृत्तं पञ्चया विपरिणम्यते । तदाह-शीङः परस्य ह्लादेशस्येति । शेरते । शीङो
लटो ह्यप्रत्यये, शपो लुकि 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'आत्मनेपदेष्वनतः'
इति ह्यस्यातादेशे टेरेखे 'शीङो रट्' इति रटि, उटि गते टित्वादाद्यावयवे आखे
सति 'शेरते' इति रूपम् । शिश्ये । शीङो लिट्स्ते 'लिट्स्त्वयोरेशिरेच्' इति हस्य
स्थाने पृश्वा शगते 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासखे अभ्यासकार्ये
च कृते 'प्रनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति यणि 'शिश्ये' इति रूपम् । शेताम् ।
लोटस्ते, शपि, शपो लुकि, 'शीङः सार्वधातुके गुणः' इति गुणे, टेरेखे 'आमेतः'
इति एकारस्यामि कृते रूपम् । अशेत । शीङो लङि, लङस्ते, शपि, शपो लुकि,

हो, 'हि'के परे ।

सति-सति (स), शस्ति (शास्) और अति (अट्) धातुसे पर 'च्ल'को 'अट्'
आदेश हो, कर्त्रर्थक लुङ्के परे ।

शीङः सार्वधातुके गुणः- 'शीङ्' धातुको गुण हो, सार्वधातुकके परे ।

शीङो- 'शीङ्'से पर ह्लादेश 'अट्'को 'रट्'का आगम हो ।

ताम् । अशेरत । शयीत । शयीयाताम् । शयीरन् । शयिषीष्ट । अशयिष्ट । अश-
यिष्यत । इच्छ् अष्ययते । इच्छिकाव्युपसर्गतो न ष्यभिचरतः । अधीते । अधीयाने ।
अधीयते । गाळ् लिति । राधापुष्ट । इषो गाळ् स्माकिति । अधिप्रगे । अष्येता ।
अध्येष्यते । अधीताम् । अधीष्व । अधीयायाम् । अधीष्वम् । अष्येयै । अष्ययावहे ।
अष्ययामहे । अष्येत । अष्येयाताम् । अष्येयत । अष्येयाः । अष्येयायाम् । अष्यै-
ष्वम् । अष्येयि । अष्येवहि । अष्येमहि । अधीधीत । अधीयीयाताम् । अधीवीरन् ।

अदि, 'शील सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'असेत्' इति रूपम् । लवीत । शीलो
लिङ्गस्तप्रत्यये शपो लुकि 'शील सार्वधातुके गुणः' इति गुणे 'लिङ्ग शीयुट्' इति
शीयुटि, उटि गते लिवादापाययवे 'लिङ्गः सलोपोऽनन्तरस्य' इति सलोपे अयादेशे
षलोपे च तत्सिद्धिः । शयिषीष्ट । शीलित्यस्मात्शतोरशीलित्स्ते लीयुटि उटो लोपे
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'आर्धधातुकस्येडचलदे' इतीति 'पृथोऽप्य
पायाव' इति अपि 'शय् इ लीय् श' इति स्थिते 'लोपो ष्योर्वलि' इति षलोपे
'सुट् तिषो' इति सुटि उटावितौ सस्य परवे सस्य ष्टुत्ये च विहिते 'शयिषीष्ट'
इति षेचम् । अशयिष्ट । शीलो लुङ्गस्ते ष्टौ ष्टेरिसप् इति ष्टेरिसिज्जादेशे इवा-
वितौ इति 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे सकारस्य परवे ष्टुत्ये च
विहिते अत्रागमे 'अशयिष्ट' इति । अधीते । अधिपूर्वकात् इच्छ् अष्ययते इति धातोर्लटि
तादेशे टेरत्ये च कृते 'इको यणचि' इति यणं चाधित्वा सवर्णदीर्घे 'अधीते' इति
षेदनीयम् । गाळ् ऋटि । 'इच्छ्' इत्यतस्तदनुष्ठीरिति भावः । स्थानियथादेव
क्षित्वे सिद्धे द्विकरणे 'गाळ्कुटादिभ्यः' इत्यत्र 'इणो गा लुकि' इत्यस्य ग्रहणा-
भावाद्यमिति भाष्यम् । अधिप्रगे । अधिपूर्वादिहो लिति 'गाळ् लिति' इति
इहो गाळादेशेऽनुबन्धलोपे लिटो ल् स्थाने से, तस्य पक्षि, शगते द्वित्वे अभ्यासत्वे,
इस्ये, सुस्ये, 'आतो लोप इति च' इत्यालोपे च' तत्सिद्धिः । अष्येता । अधिपूर्वा
दिहो लुङ्गस्ते तासि, 'अधि इ ताम् त' इति स्थिते 'लुङ्ग प्रथमस्य दारौरसु' इति
तस्य स्थाने दान्वे द्वित्वसामर्थ्यादभेदस्यापि टेलोपे, तास आर्धधातुकरवात् 'सार्वधा-
तुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि प् र आ' इति ज्ञाते 'इको यणचि' इति
यणि, 'अष्येता' इति । अष्येष्यते । अधिपूर्वादिहो लुङ्गस्ते, 'स्यतासी लृलुटोः' इति
स्ये ट्रेत्ये सस्य परवे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'इको यणचि' इति
यणि च कृते 'अष्येष्यते' इति । अधीताम् । अधिपूर्वादिहो लोटि, लोटो, ल् स्थाने
से, शयि, शपो लुकि, टेरत्ये 'आमेत' इत्येकारस्यामि, धातूपसर्गयोः सवर्णदीर्घे
च ज्ञाते 'अधीताम्, इति रूपम् । अष्येत । अधिपूर्वादिहो लङ्गस्तप्रत्यये शपो लुकि
आदि इहो यणि च तत्सिद्धिः । अधीवीर । अधिपूर्वात् इहो लिङ्गस्तप्रत्यये शपो लुकि

गाळ्—इच्छ् लो 'गाळ्' नादेशे हो, 'किट्'के षरे ।

अधीयीध्वम् । अध्येषीष्ट । विभाषा लुङ्लृङोः । २।४।५०। इणो गाङ् । गाङ्कुटा-
विभ्योऽङ्णिण्डित् । १।२।१। गाढादेशात्कुटादिभ्यश्चाङ्णिणतः प्रत्यया क्तितः स्युः ।
घु-मा-स्था-गा-पा-जहाति-सां हलि । ६।४।६६। एषामात् ईत्स्याद्दलादौ किङ्-
त्याद्धातुके । अभ्यगोष्ट । अभ्यैष्ट । अभ्यगीष्यत् । अभ्यैष्यत् ॥ ईर गतौ, कम्पने
च । ईर्त्ते । ईराञ्चके । ईरिता । ईरिष्यते । ईर्त्ताम् । ईर्ध्वं । ईर्ध्वम् । ऐरिष्ट । कश्च
गतिशासनयोः । कष्टे । कशाते । ईड स्तुतौ । ईष्टे । ईशः से । ७।२।७७। ईड-

सीयुटि सुटि सलोपे यलोपे ह्यङि सवर्णदीर्घे च तस्माद्यु । अध्येषीष्ट । इङ् आशी-
ल्लिङ्गस्ते सीयुटि उटि गते यलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'अधि ए सी
स् त' इति स्थिते 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटि गते यणि च कृते 'अध्ये सी
स् त' इति जाते द्वयोः सकारयोः परत्वे प्लुत्वे च विहिते 'अध्येषीष्ट' इति
निष्पद्यते । विभाषा लुङ्लृङोः । शेषं पूरयति—इङो गाङ् वा स्यादिति । 'इङ्श्च'
इत्यतो 'गाङ् लिति' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । गाङ्कुटादिभ्योऽङ्णिण्डित् । अ
पच षणौ तौ इतौ यस्य स ङ्णिण् स न भवतीति अङ्णिण्, गाङ् च कुटाद-
यश्चेति इन्द्रात्पञ्चमी । गाङ्गिति उकारानुबन्धनात् 'इणो गा लुङि' इत्यस्य न
ग्रहणमित्युक्तम् । नापि गाङ् गतौ, इत्यस्यात्र ग्रहणम् । तत्र उकारस्यात्मनेपद्-
प्रापणेन चरितार्थत्वात् । इडादेशस्य गाङो ङकारो नात्मनेपद्प्रापणेन चरितार्थः—
स्थानिवत्त्वेनैव तत्सिद्धेः । तदाह—गाढादेशादिति । घुमास्थागापाजहातिसां हलि । षोऽ-
न्तकर्मणि इत्यस्य कृतात्वस्य निर्देशः । घु मा स्था गा पां जहाति सा एषां इन्द्रात्
पष्टी । 'आर्धधातुके' इत्यधिकृतम् । 'आतो लोप इटि च' इत्यतः आत इति
'ईद्यति' इत्यतः ईदिति 'अनुदात्तोपदेश' इत्यतः किङ्गिति इति चानुवर्तते । तदाह—
एषामित्यादिना । अध्वगोष्ट । अधिपूर्वकाविङ्धातोर्लुङि तप्रत्यये 'विभाषा लुङ्लृङोः'
इतीङो गाढादेशे इटि चलेः सिचि 'गाङ्कुटादिभ्योऽङ्णिण्डित्' इति सिचो ङित्वे
'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' इति ईस्ये यणि परत्वे प्लुत्वे च 'अध्यगोष्ट' इति ।
गाङोऽभावे आटि वृद्धौ पूर्वोक्तकार्ये च 'अध्येष्ट' इति निष्पद्यते । अध्वगोष्यत् । इङो
लृङ्गस्ते समागते 'विभाषा लुङ्लृङोः' इति गाढादेशे तस्य ङित्वे आकारस्येकारे
अटि यणि सस्य परत्वे च कृते 'अध्यगोष्यत्' इति । गाढादेशाभावे—आटि वृद्धौ यणि
स्ये सस्य परत्वे च कृते 'अध्येष्यत्' इति । ईर गतौ कम्पने च—ईर्त्ते । ईराञ्चके । ईरिता ।
ईरिष्यते । ईर्त्ताम् । ऐथः । ईरिपीष्ट । ऐरिष्ट । ऐरिष्यत् । ईड-स्तुतौ, इष्टे-ईडाते—

विभा—'इङ्'को 'गाङ्' आदेश हो, लुङ्-लृङ्के परे, विकल्पसे । गाङ्—'इङ्' स्थानिक
'गाङ्' और कुटादिसे पर भित्त-णित् से मिश्र प्रत्यय 'ङित्' हो । घुमा—घुसंज्ञक धातु तथा
मा, स्था, गा, पा, हा, और 'बो'धातुके धाकारको 'ईत्' हो, इडादि कित्ङित् आर्धधातुकके परे ।
ईशः—ईश्, ईड् और 'जन्' धातुसे पर-सार्वधातुक 'से' और 'ध्वे' शब्दको 'इट्'का भाग हो ।

जनोर्ध्वे च । ७।२।७८। ईशोद्जनो सेध्वेशब्दयोः सार्धधातुकोरिट् स्यात् । योगवि-
 मागो वैचित्र्यार्थः । ईद्विषे । ईद्विष्वे । एकदेशविकृतस्यानन्तरत्वात्—ईद्विष्व । ईद्वि-
 ष्वम् । विकृतिप्रद्वेगेन प्रकृतेरग्रहणात्—ऐद्विष्वम् । ईश ऐश्वर्ये ईष्टे । ईशिवे ।
 ईशिवे ॥ आस उपवेशने । आस्ते । दयायासश्चेत्याम् । आसाशके । आसत् ।
 आश्वम् । आसिष्ट । आडः आसु इच्छायाम् । आशास्ते । आशासाते । आशा-
 से । अस आच्छादने । अस्ते । अवसे । अवसे । वसिता ॥ विसि सुम्बने ।
 निस्ते । णिजि शुद्धौ । 'चो कृ' । निष्के । निष्के । निजिजे । निजिता । निजि-
 ष्यते । वृज्जी वर्जने । वृके । वृजाते । इदित्तरन्ये । वृष्के । पृची संपर्चने ।
 पृके । पपृचे । पूह् प्राणिगर्भविमोचने । सूते । सुपुवे । सुपुवाते । सुपुविरे । सुपु-
 विषे । सोता । सविता । 'भुसुमी'रति गुणनिषेधः । सुवै । सविषीष्ट । सोषीष्ट ।
 असविष्ट । असोष्ट ॥ चक्षिष् व्यक्त्या वाचि । अय दर्शनेऽपि । इकारोऽनुदातो
 युत्रर्थः । नुम्तु न, 'अन्येदित' इति व्याख्यानात् । ककारस्तु । 'अनुदातेत्प्रयुक्तकारम-
 नेपदमनित्य'मिति ज्ञापनार्थः । तेन 'इकार्यजिर्मोक्तमिध'रित्यादिसिद्धिः । 'श्चो'रिति
 क्लोपः । चष्टे । चक्षाने । 'आर्द्धधातुके' । चक्षिष्ः खयाञ् । २।४।५४। घा
 लिटि । २।४।५५। अत्र माध्वे 'ख्रा'दरयमादेशः । अषिदकाण्डे- 'शस्य यो घा'

ईद्वते । ईश से, ईद्वमनोर्ध्वे चेति इदित्यनुवर्तते । ईद्विषे । अत्रेदागम 'इद्वजनोर्ध्वे च'
 इत्यनेन । ईदाये । ईद्विष्वे, अत्रापीट् । ईवे । ईद्वयटे ईद्वमहे । ईडे । ईद्विता । ईद्विष्यते ।
 ईद्वाम् । ऐष्ट, इत्यादि । ईश=ऐश्वर्यं, ईष्टे । ईशो । ईशिवे 'ईशिवे' अत्रेट् इत्यादि ।
 आस=उपवेशने आस्ते । 'दयायासश्च इत्यामि आसाशके, इति रूपम् । आसिता ।
 आसिष्यते । आस्ताम् । आरस्व । आप्वम् । लुङि आसिष्ट इत्यादि । आश' वासु =
 इच्छायाम् । आशास्ते । अस=आच्छादने । अस्ते । अवसे । वसिता । वसिष्यते ।
 वस्ताम् । अवस्त । वसिषीष्ट । अवसिष्ट । अवसिष्यत । निसि=सुम्बने । निस्ते । नि-
 निसे । निसिता । निसिष्यते । निस्ताम् । अनिस्त । निसिषीष्ट । अनिसिष्ट । अनिसि-
 ष्यत । निजि=शुद्धौ । निष्के । निजिजे । निजिता । निजिष्यते । निष्काम् । अनिष्क ।
 निजिषीष्ट । अनिजिष्ट । अनिजिष्यत । वृज्जी=वर्जने । वृके । पृची=पृके । पपृचे । पूह्-
 प्राणिगर्भविमोचने । सूते=सुवाते=सुवते । सुपुवे । सोता=सविता 'स्वरति' इति
 षेट् । सोष्यते=सविष्यते । सूताम्=असूत । सविषीष्ट । असविष्ट । असोष्ट । असविष्यत ।
 असोष्यत । चक्षिष्=व्यक्त्या वाचि । चष्टे । चक्षिष् खयाञ् वा क्लीबेति । आर्धधातुके
 चक्षिष् खयाञ् आदेशः स्याद्विटि तु वा । चषपी । चषये । चशादिरयमादेश इति मते

चक्षि—'चक्षिष्' वाटुको 'खयाञ्' (खयाञ्) आदेशः हो । वा लि—'लिट्'के परे

इति स्थितम् । निरुत्पादपदद्वयम् । चख्यौ । चख्ये । चकशौ । चकशे । 'चयो द्वितीयाः शरि पौष्करसादे'रति तु न, चर्त्तस्यासिद्धत्वात् । चचक्षे । ख्याता । कशाता । ख्यास्यति । ख्यास्यते । कशास्यति । कशास्यते । चष्टाम् । अचष्ट । चक्षीत । ख्या-
यात् । ख्येयात् । कशायात् । कशेयात् । 'अस्यतिवक्त्रो'त्यह । अख्यत् । अख्यत ।
'अमरमे'तीट्-चक्षौ । अकशासीत् । अकशास्त । (वर्जने ख्शाञ् नेष्टः) ।
समचक्षिष्टेत्यादि । इत्यात्मनेपदप्रक्रिया ।

अथोभयपदप्रक्रिया ।

द्विप अप्रीतौ । द्वेष्टि । द्विष्टे । दिद्वेप । दिद्विपे । द्वेष्टा । द्वेष्टयति । द्वेष्टु-द्विष्टात् ।
द्विष्टु-द्वि । द्विच । द्वेपाणि । द्वेपै । अद्वेष्ट् । द्विपश्च । ३।४।११२। द्विपः परस्य नञे
श्लेर्जुम् वा । अद्विपुः । अद्विपन् । अद्विष्टम् । अद्विष्टम् । द्विपीत । द्विक्षीष्ट । 'शल इगु-
पधे'ति कसः । अद्विक्षत् । अद्वेक्षयत् । दुह प्रपूरणे 'दादेर्धातोर्घः' इति हस्य घः ।
अपस्तथोर्घोऽघः' । दोगिष । दुग्घः । दुहन्ति । 'एकाचो वशो मपि'ति दकारस्य
घकारः । घोक्षि । दुग्घः । दुग्घ । दोग्धि । दुह्मः । दुह्मः । दुग्घे । दुहाते । दुहते ।
धुक्ते । दुहाये । धुग्घे । दुहे । दुहहे । दुहहे । दुदोह । दुदुहे । दोग्धा । घोक्षयति ।

चकशौ-चकशे-चचक्षे । कशाता-कशाता । ख्यास्यति-ख्यास्यते-कशास्यते । चष्टाम् ।
अचष्ट । चक्षीत । ख्यायात्-ख्येयात् 'वान्यस्य संयोगादेः' । अख्यत्-अख्यत ।
अकशासीत्-अकशास्त ।

द्विप् । द्वेष्टि-द्विष्टे । दिद्वेप-दिद्विपे । द्वेष्टा । द्वेष्टयति-द्वेष्टयते । द्विष्टाम्-द्वेष्टु ।
तिपि द्विष्टि । अद्वेष्ट्-अद्वेष्टे । शौ तु-द्विपश्चेति । अत्र श्लेर्जुमिति अनुवर्तते
अत आह-लठो श्लेर्जुमिति । तेन 'अद्विपुः' इति सिध्यति । अयं जुसादेशो विकल्पेन
भवति तदभावे अद्विपन् । 'अद्विष्टम्' । अत्र शल इगुपधेति कशादेश इति भावः ।
दोगिष । दुह् प्रपूरणे इत्यस्मात्तौर्लट्स्तिपि समागते शपो लुकि 'दादेर्धातोर्घः' इति
हस्य घवे 'अपस्तथोर्घोऽघः' इति तस्य घवे 'दुग्घि' इति जाते 'शलां लश् शशि'
इति घस्य घवे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे । 'दोगिष' इति । दुदोह दुहेर्लिट्स्तिपि,
तिपो णलि, धातोर्द्विवे हलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दुदोह' इति । घोक्ष-
यति । दुह्धातोर्लट्स्तिपि, स्ये, इडभावे, 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'दादेर्धा-
तोर्घः' इति हस्य घवे 'एकाचो वशो मपि'त्यस्य स्ये' इति हस्य अभावेन
घवे 'खरि च' इति घस्य घवे कारपरकत्वात्परे कूप्योगे च 'घोक्षयति' इति रूपम् ।

'ख्यात्' आदेश विकल्पते हो । वर्ज-वर्ज अर्थे 'ख्यात्' आदेश नहीं हो ।
द्विपः—'द्विप्' धातुसे पर 'लट्', सम्बन्धी 'क्षि'को 'जुत्' आदेश हो, विकल्पते ।

धोचयते । दोग्घु । दुग्घात् । दुग्घाम् । दुहन्ट् । दुग्धि । दुग्घात् । दुग्घम् ।
 दुग्घ । दोग्घानि । दुग्घाम् । दुहाताम् । दुहताम् । धुचव । दुहायाम् । धुग्घम् ।
 दोग्हे । दोग्हावहे । दोग्घामहे । अधोक् । अधोग् । अदुग्घाम् । अदुहन् । अदोहम् ।
 अदुग्घ । अदुहाताम् । अदुहन्त । अदुग्घा । अदुहायाम् । अधुग्घम् । दुहात् । दुहोत् ।
 'लिङ्गसिन्धाघात्मनेपदेषु' । धुर्धाष्ट । 'शल इगुपधे'ति वस । अधुक्त् । लुग्घा
 दुहदिहलिङ्गुहामात्मनेपदेषु दन्त्ये । ७।३।७३। एषा वसस्य लुग्घा, दन्त्ये तङि ।
 अधुक्त्-अदुग्घ । वसस्याचि । ७।३।७२। अजादौ तङ् वसस्य लोप स्मात् ।

बोधयते । आत्मनेपदिप्रत्यये सृष्टरते, टेरेत्ये लोप पूर्ववत् । अधोक् । दुह्घातोर्लङ्गितिपि,
 चापो लुकि, अङ्गस्याङागमे, 'पुगन्त' इति लघूपधगुणे 'इतश्च' इति तिप इकार-
 लोपे 'हल्ह्रयाम्म्यो' इति तलोपे 'दादर्धातोर्घ' इति ह्रस्य घावे 'एकाचो' इति
 मन्मावेन दृश्य घावे अरत्वेन गकारे तस्य चार्धेन ककारे 'अधोक्' इति रूपम् ।
 अदुहत् । लङो ह्ये, चापो लुकि 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' इति अतादेशे अटि च कृते
 रूपम् । घुङीष्ट । दुह्घातोराशीर्लिङ्गरते, सीयुटि, उटि गते 'लिङ्गसिन्धावामने०'
 इति तिङ्. किये 'बिङ्गि च' इति गुणाभावे 'लोपो व्योर्घलि' इति य् लोपे
 'दादर्धातोर्घ' इति ह्रस्य घावे 'एकाचो यशो०' इति मन्मावे 'खरि च' इति घस्य
 क्त्वे 'आदेशप्रत्यययो' इति सस्य पावे क्ययोगे च 'सुट्तिथो' इति सुटि, उटि गते
 टिसिन्धाघावयवे, सस्य पावे 'दुना दु' इति दुत्वे च कृते 'घुर्धाष्ट' इति रूपम् ।
 अधुक्त् । दुहो लुङ्गितिपि 'बिङ्गि लुङि' इति ष्टौ, 'शल इगुपधादनिट. वस.' इति
 ष्टौ वसादेशे कृते दुह् वस इति रिचते कस्येस्सम्भार्या लोपे च 'दादर्धातोर्घ' इति
 ह्रस्य घावे 'एकाचो यशो०' इति मन्मावेन दृश्य घावे 'धुग् घ् ति' इति जाते 'खरि
 च' इति घस्य क्त्वे 'लुङ्गुल्लुङ्गुचवद्भुदात्' इति अङागमे तिप इकारलोपे सस्य
 पावे क्योः सयोगे च कृते 'अधुक्त्' इति रूपम् । दन्त्ये तङीति । दन्त्यादौ तङी
 र्थयः । प्रत्ययादर्शनत्वात्सर्वादेशोऽय लुक् । अदुग्घ । दुह्घातो लुङ्ग आत्मनेपदिप्रत्यये
 ते समागते ष्टौ 'शल इगुपधादनिटः वस' इति वसादेशे 'लुग्घा दुहदिहलिङ्गुहा
 मात्मनेपदे दन्त्ये' इति वसस्य लुकि 'दादर्धातोर्घ' इति ह्रस्य घावे 'सपस्तथो
 र्घोऽच' इति सस्य घावे 'झलां जश् हाशि' इति अस्य गावे अटि च 'अदुग्घ' इति
 रूपम् । वसस्य लुगभावे 'अधुक्त्' इति रूपम् । वसस्याचोति । अधीरयस्याङ्गाचि
 सप्रत्ययविशेषणत्वात् सदादिविधि । 'घोर्लोपो लोटि घा' इत्यतो लोप ह्रस्वचुवर्तते ।

लुग्घा—दुहादि पाठसे पर 'वस' का 'लुक्' हो, दन्त्य ष्टके परे विकल्पते ।

वस—'वस' (वसके 'स') का लोप हो, अदादि 'तङ्'के परे ।

अधुक्षाताम् । अधुक्षन्त । अधुक्षयाः—अदुग्धाः । अधुक्षायाम् । अधुक्षध्वम्—अधुगध्वम् । अधुक्षि । अधुक्षावहि-अदुहहि । अधुक्षामहि । अधोक्ष्यत् । अधोक्ष्यत । एवं दिङ् वपचये । चपचयो—वृद्धिः । प्रणिदैषि । देग्धु-दिगिध । लिह आस्वादाने । 'हो ङः' । 'हो ङे लोपः' । लेडि । लीडः । लिहन्ति । लेषि । लीडे । लिहाते । लिहते । लिङ्गे । लिहाये । लीड्घे । लेहु । लीडात् । लीडाम् । लिहन्तु । लीडि । लेहानि । लीडाम् । अलेङ्—अलेङ् । अलीडाम् । अलिङ्कत्—अलिङ्कत । अलीड । अलेक्ष्यत्—अलेक्ष्यत । अल्ल व्यक्त्यां वाचि । अल्लः पञ्चानामादित आहो अल्लः । ३।५।८।५।

तदाह—अमादाविरयादिना । अलोऽन्यस्येति । अन्यस्याकारस्य लोप इति भावः । अधुक्षाताम् । दुहो लुङि आतामि, 'च्लि लुङि' इति च्लौ 'शळ इगुपधादनिटः कसः' इति कसे, क्लोपे 'दुह् स आताम्' इति स्थिते 'कसस्याचि' इति सलोपे प्राप्ते 'अलोऽन्यस्य' ह्रायन्धाकारलोपे 'दादेधातोर्घः' इति ह्रस्य धत्वे, ढस्य भग्भावेन धत्वे 'खरि च' इति धस्य कर्त्वे कारपरकरवात् सस्य परवे क्ययोगेन चै जाते अटि च कृते कसस्य कित्वाद्गुणामावे 'अधुक्षाताम्' इति रूपम् । अधोक्ष्यत् । दुहधातोः 'लिङ्निमित्ते लृङ्प्रियातिपत्तां' इति लृङि, अनुबन्धलोपे लृङि लः स्थाने तिपि, स्ये इडभावे स्यस्यार्धधातुकरवात् 'पुगन्तलघूपस्य च' इति गुणे 'दादेधातोर्घः' इति ह्रस्य कर्त्वे 'एकाचो बभौ भभ क्षपन्तस्य र्बभोः' इति भग्भावेन ढस्य धत्वे षस्य चर्त्वेन षत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति कारपरकरवात्सस्य परवे क्ययोगे चै जाते 'इत्श्च' इति तिप इकारलोपे अटि च कृते 'अधोक्ष्यत्' इति रूपम् । एवमारम्भनेपदेऽपि—'अधोक्ष्यत्' इति रूपम् । लिङ्गे । लिङ्धातोः 'परोक्षे लिङ्' इति लिङि, लिङ्स्तितिपि 'परस्मैपदानां णल्लुप्' इत्यादिना तिपो णलि, अनुबन्धलोपे 'लिङि धातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्व, अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'लि लिङ् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'लिङ्गे' इति रूपम् । आरम्भनेपदे—लिङ्गे । अलिङ्गत् । लिङ्धातोः 'लुङ्' इति लुङि लुङ्स्तितिपि च्लौ, 'शळ इगुपधादनिटः कसः' इति ष्टेः स्थाने कसे, क्लोपे ह्रस्य ढत्वे ढस्य 'पढोः कः सि' इति कर्त्वे कारपरकरवात्सस्य परवे क्ययोगे चै अटि च 'अलिङ्कत्' इति रूपम् । अलीड । लिङ्धातोर्लुङ्ः स्थाने आरम्भनेपदेसंज्ञके ते 'च्लि लुङि' इति च्लौ, च्लेः स्थाने, 'शळ इगुपधादनिटः कसः' इति कसे, क्लोपे 'लुगवा दुहदिहलिङ्गुहामात्मनेपदे ढस्ये' इति सल्लुकि, ह्रस्य ढत्वे तस्य धत्वे षस्य ष्ट्वे ढलोपे 'ढलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः' इति पूर्वस्याणो दीर्घे 'अलीड' इति रूपम् । लुगभावे ह्रस्य षत्वे 'बभोः कः सि' इति ढस्य कर्त्वे कारपरकरवात्सस्य परवे 'अलिङ्कत्' इति च रूपम् । अल्लः पञ्चानामिति । 'परस्मैपदानां णल्लुप्' इत्यत

अल्लः—'अ' धातुसे पर षट्कार-सम्बन्धी तिवादि पूर्वको णवादि आदेश रो,

द्रुवो कटस्तिवादीनां पञ्चानां णलादयः पञ्च वा इयुर्बन्धाऽऽह्लादेशः । अकार उच्चार-
णार्थः । आह । आहत् । आहु । आहृस्थः । ॥२॥३५॥ चत्वंम् । आत्थ । आह-
थु । द्रुव ईट् । ७॥३॥२३॥ द्रुव परस्य हलादे पित ईट् स्यात् । प्रवीति । द्रुत् ।
द्रुवन्ति । द्रूते । द्रुघाते । द्रुघते । द्रुघो घञिः । २॥४॥५३॥ द्रुवो घञ्यादेशः स्यादाद-
धानुके । उवाच । ऊचत् । ऊचु । उवचिय-उवक्षय । ऊचे । वफा वघपति-वघयते ।
प्रवोत् । प्रतात् । प्रताम् । प्रवन्तु । प्रुहि-प्रतात् । प्रूतम् । प्रूत् । प्रवाणि । प्रवाव ।
प्रवाम । प्रताम् । प्रवे । अप्रवोत् । अप्रताम् । अप्रूत् । प्रूयात् । प्रूवोत् । उच्यात् ।

उत्तरसूत्रमिदम् । 'विदो लटो वा' इत्यतो लटो येस्यनुवर्तते । तदाह—द्रुवो कट इति ।
आह । द्रुघातोर्लटस्तिपि, दापो लुकि 'द्रुव पञ्चानामादित आहो द्रुव' इति तिपो
णलि, द्रुव आह्लादेशो च कृते णलोऽनुबन्धलोपे 'आह' इति रूपम् । आहस्य इति । आह
पठ्यन्तम् । आत्थ । द्रुवो लटः सिपि दापो लुकि 'द्रुव पञ्चानाम्' इति
सिपस्यलि द्रुव आह्लादेशो च 'आहृस्थः' इति हृस्य यत्वे तस्य 'खरि च' इति
चरवेन लकारे 'आत्थ' इति रूपम् । प्रव ईट् । 'नाम्यस्तस्य' इत्यस्य पिप्तीति 'उनो
यृदि' इत्यतो हलीति चानुवर्तते । तदाह—द्रुव परस्येत्यादिना प्रवीति । द्रुघातोर्ल-
टस्तिपि, दापो लुकि आह्लादेशमावपदे 'द्रुव ईट्' इति सिप ईटि, दृगते टिवात्
तिप आत्थावयथे जाते 'सावंधातुकार्धधातुकयो' इति द्रुव उकारस्य गुणेऽवादेशे च
कृते 'मधीति' इति रूपम् । द्रुवो वचिरिति । द्रुवो वचिरादेशः स्यादाधंधातुके
हृत्पर्यः । इकार उच्चारणार्थः । उवाच । प्रघातोः 'परोचे छिट्' इति छिटि, तस्यथाने
तिपि 'छिट् च' इत्यार्धधातुकार्धे 'द्रुवो घञि' इति द्रुघ्याने वच् आदेशे, तिपो णलि,
अनुबन्धलोपे द्वित्ते अग्यासत्वे 'वच् वच् अ' इति जाते 'छिटपग्यासत्सोभयेवाम्'
इति अग्यासवच. सम्प्रसारणात्वे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'दृलादि शेष' इति
चलोपे 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'उवाच' इति रूपम् । वक्षति । द्रुवो लृट
स्तिपि इये 'द्रुवो वचिः' इति द्रुघो वचादेशे 'वो कु' इति वचस्य कत्वे, सस्य परवे
कृत्सयोगे च कृते । वक्षतीति । प्रोत् । द्रुवो लोटि, तिपि 'द्रुव ईट्' इति ईटि
'सावंधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'पचोऽयवापाव' इत्यपि 'पृ' इति तिप
इकारस्योत्वे 'मधीत्' इति रूपम् । तातलि—द्रुवात् । उच्यात् । द्रुघातोराशीर्लिट्-
स्तिपि, यासुटि, उटो लोपे 'द्रुवो वचि' इति वचौ, 'वचिस्वपियजादीनां किति'
इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'उच् भास् ति' इति स्थिते 'इत्प्र,
इति तिप इकारलोपे 'स्कोः संयोगाघोरग्ये च' इति सलोपे 'उच्यात्' इति रूपम् ।

विकल्पते और 'द्रु' को 'आह' आदेश भी हो । आहुः—'आह'को यकारान्त आदेश हो,
अ'क'के परे । द्रुव—'द्रु' बाहुषे पर इकादि । 'पि'को 'ईट्' का भागम हो । प्रवो—'द्रु'को

वक्षीष्ट । अबोचत् । अबोचत । अबचयत् । (चर्करीतञ्च) । 'चर्करीत'मिति यट्लुगन्तं तददादौ वो-यम् । ऊर्णुञ् आच्छादने । ऊर्णोतेर्विभाषा । ७।२।६। ऊर्णोतेर्बृद्धिर्वा स्याददादौ पिति सार्वधातुके । उर्णोति । उर्णोति । ऊर्णुतः । ऊर्णु-चन्ति । ऊर्णुते । ऊर्णुवाते । ऊर्णुवते । (ऊर्णोतेराम्नेति वाच्यम्) नन्द्राः संयोगादयः ६।१।३। अचः परा संयोगादयो न-द-रा द्विर्न भवन्ति । 'जु' शब्द-स्य द्वित्वम् । णत्वस्यासिद्धत्वात् । 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इति त्वनित्यम्, 'उ-मौ साम्यासस्ये'ति लिङ्गात् । ऊर्णुनाव । ऊर्णुजुवतुः । ऊर्णुजुवतुः । विभाषोर्णोः

आत्मनेपदे—ते समागते सीयुटि उटो लोपे 'यु सी त' इति दशायां 'युवो वचिः' इति वचादेशे 'चोः कुः' इति कृत्वे 'सुट् तिथोः' इति सुटि उटावितौ, सकारह्रस्वस्य परत्वे, 'वक्षीष्ट' इति रूपं ज्ञेयम् । अबोचत् । युवो लुङ्स्तिपि, 'चिङ् लुङि' इति ष्ठी 'युवो वचिः' इति वचादेशे 'अस्यतित्रक्त्विप्यातिम्बोऽङ्' इति ष्ठीरदादेशे कृत्वे 'वच् अ ति' इति जाते तिप इकारलोपे 'वच उम्' इति उमि 'व उम् च अ त्' इति जाते मलोपे आद्गुणे अटि च कृत्वे 'अबोचत्' इति रूपं साधु । ऊर्णोतेर्वि-भाषा । 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' इत्यतो वृद्धिरिति हलीति चानुवर्तते 'नान्यस्तस्य' इत्यतः पिति सादं-भातुके इति च, इत्यभिप्रेत्य शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—वृद्धिर्वा स्यादित्यादिना । ऊर्णोति । ऊर्णुञ् आच्छादने इत्यस्माद्घातोर्लटस्तिपि समागते, यपि शपो लुकि च 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वृद्धौ 'ऊर्णोति' इति । वृद्धयभादे गुणे च कृत्वे 'ऊर्णोति' इति । नन्द्राः संयोगादयः । एकाचो द्वे इत्यनुवर्तते । 'अजादेर्द्वितीयस्य' इ-त्यस्यः अजादेरिति । अच्चासौ आदिश्चेति कर्मधारयात्पञ्चमी न् द् र् एपरं द्वन्द्वः । तदाह-अचः परा इति । ऊर्णुनाव । ऊर्णुघातोर्लटस्तिपि, तिपो णलि घागते 'उर्णु अ' इति स्थिते 'अजादेश्च गुरुमतोऽञ्चङ्' इति आमि प्राप्ते 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' इति निषेधे 'अजादेर्द्वितीयस्य' इति स्तरेकस्य णोर्द्वित्वे प्राप्ते 'नन्द्राः संयोगादयः' इति रेफस्य द्वित्वाभावे णत्वस्यासिद्धत्वाद् गुणशब्दस्य द्वित्वे, प्रथमनस्य 'रयाम्यां नो णः समानपदे' इति णत्वे, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति परत्वात् गुणे प्राप्ते तं प्रवाच्य कृताकृत-प्रसङ्गित्वेन नित्यत्वात् 'अचोऽङ्गिति' इति वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इति आवि कृत्वे 'ऊर्णुनाव' इति रूपम् । विभाषोर्णोः । 'गाङ्कुटादिभ्यः' इत्यतो ङित्प्रत्ययानुवर्तते

वचादेशो हो, आर्धधातुकके परे । चर्क—'चर्करीतम्' इत्त यट्लुगन्तं धातुओको मी'भदादिर्मे-समहना । ऊर्णो—'ऊर्णु' धातुको वृद्धि हो, हलादि पित सार्वधातुकके परे, विकल्पसे । ऊर्णो- 'ऊर्णु' धातुको 'आम' नहीं हो, ङिट्के परे । नन्द्राः—'अच्'से परे संयोगादि नकार दकार और रेफको दिख नहीं हो । विभा—'ऊर्णु' धातुसे पर हलादि प्रत्यय 'ङित्' हो, विकल्पसे ।

।१।२।३। ऊर्णोतेः पर इडादिप्रत्ययो वा क्ति स्यात् । ऊर्णुविष्य । ऊर्णुनविष्य ।
 ऊर्णुविता उर्णुविता । ऊर्णोषु ऊर्णोतु । ऊर्णवानि । ऊर्णवे । गुणोऽपृक्ते । ७।३
 ।९।१। ऊर्णोतेर्गुण स्यादपृक्ते हलादौ पिति सार्धंघातुके । वृद्धघपवाद । और्णोत् ।
 और्णो । और्णुतम् । ऊर्णयात् । ऊर्णयाताम् । ऊर्णयु । ऊर्णयाः । इह वृद्धिनं,
 'सिचि पिन्ने' ति श्याख्यानात् । ऊर्णमात् । ऊर्णयास्ताम् । ऊर्णयासुः । ऊर्णुविषीष्ट ।
 ऊर्णुविषीष्ट । और्णुवीत् । और्णुविष्टाम् । ऊर्णोतेर्विभाषा । ७।३।९०। ऊर्णोतेरिडा
 दौ परस्मैपदपरे सिचि वा वृद्धिः स्यात् । पक्षे गुणः । और्णोवीत् । और्णोविष्टाम् ।
 और्णोवीत् । और्णोविष्टाम् ॥ इत्यदादि

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

हु दानाऽऽदायो । जुहोत्यादिभ्यः श्लु । १।४।७।५। जुहोत्यादिभ्य परस्य
 शपः श्लु स्यात् । श्लौ । ६।१।१०। घातोर्द्धे स्त श्लौ । जुहोति । जुहुत । 'हुरजु

'विज इट्' इत्यत इडिति, इत्यभिप्रेत्य शेषपूर्णेन सूत्र व्याचष्टे—इडादीति ।
 गुणोऽपृक्ते । 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इत्यत ऊर्णोतेरिति 'नाम्यस्तस्य' इत्यत, 'पिति
 सार्धंघातुके' इति 'उतो वृद्धि' इत्यतः हलीति चानुवर्तते, तदाह—ऊर्णोतेरित्यादिना ।
 और्णोत् । लृङ्गस्तिपि शपो लुकि भाटि तिप इकारलोपे 'उतो वृद्धिलुकि हलि' इति
 प्राप्ते सम्वाधिरवा 'गुणोऽपृक्ते' इति गुणे । 'आटश्च' इति वृद्धौ 'और्णोत्' इति ।
 ऊर्णोतेर्विभाषा । 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इत्यनुवर्तते, 'नेटि' इत्यतः । इटीति
 च । तदाह—इडादीति । और्णोवीत् । ऊर्णुघातोर्द्धेस्तिपि, अनुयन्धलोपे वृद्धौ बलेः
 सिचि इचि गते 'और्णुं स् व' इति शिष्यते सिचि, सस्य इटि तिपस्तकारस्य ईटि 'विभा-
 योर्णो' इतीटो क्तिवाद् गुणाभावे उच्यते 'इति ईटि' इति सलोपे दीर्घे च 'और्णुवीत्'
 इति । क्तिवामावपक्षे गुण वाधिरवा 'ऊर्णोतेर्विभाषा' इति वा वृद्धावावादेशे और्णो
 वीत् इति च सिद्धम् । इत्यदादय ।

शप इति । 'अदिप्रभृतिभ्य' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । इडाविति । शेष पूर-

गुणो—'ऊर्णु' धातुको गुण हो, अपृक्तसदृक इडादि 'पित्' सार्धंघातुकके परे । ऊर्णो—'ऊर्णु'
 धातुको वृद्धि हो, इडादि परस्मैपद परक 'सिच्' के परे, विकल्पसे ।

इस प्रकार 'इत्युमदी' टीका में अदिप्रकरण समाप्त हुआ ।

जुहो—जुहोत्यादि मध्यसिद्धि धातुर्णोसे विहित 'ङप्' का 'जु' (कोर) हो । श्लौ—नापृक्के

वोरिति यन् । जुहति । भीहीभृहुवां श्लुवच्च । ३ । १ । ३९ । एभ्यो लिभ्याम् वा स्यादामि श्लुविव कार्यं च । जुहवाञ्कार । जुहाव । होता । होष्यति । जुहोतु । जुहुतान् । जुहुताम् । जुह्वतु । हेदिः । जुहुधि । आटि परत्वाद् गुणः । जुहवानि । अजुहोत् । अजुहुताम् । परत्वाज्जुसि चेति गुणः । अजुहवुः । जुहुयात् । हूयात् । अहोपीत् । अहोष्यत् । जिभी भये । विभेति । भियोऽन्यतरस्याम्

रयति—धातोर्द्वे स्त इति । 'एकाचो द्वे' इत्यतः 'लिटि धातोः' इत्यतश्च तदनुयुक्तिरिति भावः । जुहोति । हुधातोर्लटस्तिपि, ऋपि 'जुहोस्यादिभ्यः श्लुः' इति शपः श्लौ, 'श्लौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'हु हु ति' इति जाते 'कृहो-रचुः' इति हस्य सत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति हस्य जत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जुहोति' इति । जुहति । हुधातोर्लटो श्लौ, शपः श्लौ, द्वित्वेऽभ्यासत्वे पूर्वव-दभ्यासकार्यं च कृते, 'जुह्व द्वि' इति स्थिते 'उभेऽभ्यस्तम्' इत्यभ्यस्तसंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति शेरतादेशे 'हुरचुवोः सार्वधातुके' इति यणि 'जुहति' इति सिद्धम् । मीहीभृहुवामिति । भी ही भृ हु एषां इन्द्राण्यम्बुस्ये पृष्टी । 'कास्प्रययात्' इत्यत आम् लिटोरयनुवर्तते । तदाह—एभ्य इति । श्लुवदिति सप्तम्यन्तात् वतिरियभिम-प्रेत्य आह—आमि श्लुविव कार्यं चेति । जुहवाञ्कार । हुधातोर्लिटि 'भीहीभृहुवां श्लुवच्च' इति पात्तिके आमि श्लुवच्चावे च द्वित्वेऽभ्यासकार्यं चुत्वेन षकारे, 'अभ्यासे चर्च' इति जश्त्वेन ञकारे गुणेऽधादेशे 'आम्' इति लिटो लुकि, 'कृत्वाणुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृषोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपो णलि द्वित्वे 'उरव्' इत्यत्वे रपरे हलादिशेषे 'कृहोरचुः' इति चुत्वे गुणे रपरे च, 'जुहवाम् च कर् अ' इति स्थिते 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति अनु-स्वारे 'वा पदान्तस्य' इति वैकल्पिके परसवर्णे 'जुहवाञ्कार' इति रूपं निष्पन्नम् । आमोऽभावपक्षे तु लिटस्तिपो णलि, द्वित्वेऽभ्यासत्वे परत्वात् 'सार्व-धातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते 'कृताकृतप्रसङ्गो विधिनित्यः' इति नियमेन 'अचो ङिति' इति निश्चयात् वृद्धौ, आवादेशे च 'जुहाव' इति निष्पन्नम् । अहोपीत् । जुहोतेर्लृङि, अटि, तिपि, ष्लौ, ष्लेः सिचि इचावितौ तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्तं' इति ईटि, 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ च 'अहोपीत्' इति । विभेति । जिभी भये इत्थस्मान्धातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, लटस्तिपि ऋपि 'आदिङित्ठवः' इति ञिकारस्येः संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे 'जुहोस्या-दिभ्यः श्लुः' इति श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्वित्वे 'भी भी ति' इति जाते 'पूर्वाऽभ्यासः'

दित्वं हो 'रचु'के परे (श्लुके विषयमें) । भीही—मी, ही, भृ और 'हु' धातुसे 'लिट्' के परे विकल्पसे 'आम्' प्रत्यय हो और 'आम्'के परे, 'श्लु'की तरह द्वित्वादि कार्यं भी हो । भियो—'मी' धातुको 'रत्वं' हो, हलादि कित-कित सार्वधातुकके परे विकल्पसे ।

। ६ । ४ । ११५ । भिय इदा स्यादलादौ सार्धधातुके विकृति । विभित । विभीत ।
 'एरनेकाव' इति यण् । विभ्यति । विभयाञ्कार । विभाय । भेना । भेष्यति ।
 विभेतु । विभितात् । विभीतात् । विभिताम् । विभीताम् । अविभेत् । विभियान् ।
 विभीयान् । भीयात् । अभैपीत् । अभेष्यन् । ह्री लज्जायाम् । जिहति । जिहात ।
 जिहियति । जिह्याञ्कार । जिहाय । हुता । हेप्यति । जिहेतु । जिहीयात् । अजिहत् ।

इत्यभ्यासतशायां 'ह्रस्व' इत्यभ्यासह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति अस्य षावे 'सार्व-
 धातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'विभेति' इति । मियोऽन्यतरस्याम् । 'ह्रद्दरिद्रस्य'
 इत्यत इदिति, 'गमहन' इत्यत विकृति इति 'ह्रह्रयघो' इत्यत हलीति 'अत
 उपसार्वधातुके' इत्यत सार्धधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेष पूरयति—इय
 वा स्यादित्यादिना । विभित । तसि, शप रलुक् धातोर्द्विस्वेऽभ्यासस्याधो इत्यथे,
 अस्य षावे 'मियोऽन्यतरस्याम्' इति-ईकारस्य इकारे 'विभित' इति । इकाराभाव-
 पचे तु 'विभीत' इति । विभ्यति । ह्री धातोर्द्विस्वे ह्रस्वावे अस्य षावे 'उभेऽभ्यस्तम्'
 इत्यभ्यस्तमशायाम् 'अभ्यस्तम्' इति शेरति 'एरनेकाधोऽसयोगपूर्वस्य' इति
 यणि च कृते 'विभ्यति' इति । विभयाञ्कार । मियो लिटि समागते 'मीहीभृद्भृ-
 रलुक्' इत्यामि, आभ रलुक्त्वात् 'ह्री' इति द्विस्वे, 'मी भी आम् लिट्'
 इति स्थिते अभ्यासस्याधो ह्रस्वे, अस्य षावे, 'आम्' इति लिटो लुकि, 'वृद्धानुप-
 युज्यते लिटि' इति लिट्परकृओऽनुप्रयोगे च कृते 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति
 द्विस्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे, 'हलादि शेष' इति रलोपे 'वि भी आम् क कृ
 लिट्' इति जाते 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे च 'विभयाम् क कृ
 लिट्' इति स्थिते लिट्स्थितिपि, तिपो णलि, 'कुहोरशु' इति कस्य षावे, सार्धधातु-
 कार्धधातुकयोः' इति गुणेरपरे 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वार'
 इत्यनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परस्वर्णे 'विभयाञ्कार' इति साधु । आमोऽभाव-
 पचे—लिट तिपि, तिपो णलि-धातोर्द्विस्वे, अभ्यासत्वे इत्यथे, अस्य षावे 'अधो
 ङिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'विभाय' इति । अभैषोत् । मीधातोर्लुकि अटि लुक्-
 तिपि, निप इकारलोपे, श्रौ, च्छे मिचि, इचायितौ 'अस्तिसिचोऽपृकं' इति ईटि
 सस्य षावे 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अभैपीत्' इति रूपम् । जिजेति ।
 ह्री लज्जायाम् इत्यस्मादातोर्लट तिपि शपि शप रलुक् 'रलौ' इति द्विस्वे 'ह्री
 ह्री ति' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्व' इति अभ्यासस्याधो
 ह्रस्वावे 'कुहोरशु' इति ह्रस्य षावे 'अभ्यासे चर्च' इति ह्रस्य जकारे 'सार्वधातु-
 कार्धधातुकयोः' इति गुणे 'जिहेति' इति । जिहयाञ्कार । ह्रीधातोर्लिटि 'मीहीभृ-
 द्भृवां रलुक्' इत्यामि रलुक्त्वात् धातोर्द्विस्वे 'ह्री ह्री आम् लिट्' इति जाते
 अभ्यासत्वे ह्रस्वे 'कुहोरशु' इति ह्रस्य षावे 'अभ्यासे चर्च' इति जाते 'आम्'

जिह्यात् । होयात् । ग्रह्येत । ग्रह्येत । पृ पालन-पूरणयोः । अर्त्तिपिप-
स्योश्च । ७।४।७। अर्त्तियासस्य इत्यात् लौ । पिपत्ति । उदोष्टयपूर्वस्य । ७।१।
१०२। अर्त्तियासस्य पूर्वो य ऋनदन्तस्यास्य उःस्यात् । हलि च । ८।२।७।
रेफवान्तस्य धातोः रपधाया इको दोषो हलि । पिपृत्तः । पिपुर्ति । पपार । शृदृप्रां
ह्रस्वो वा । ७।४।१२। शृदृप्रां ह्रस्वो वा स्यात् किति लिटि । पप्रतुः । पपृः ।

इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट् परकृञोऽनुप्रयोगे च 'जि ह्री
भाम् कृ लिट्' इति भूते, लिटः तिपि, णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य'
इति कृञो द्वित्वेऽभ्यासत्वे उरदत्त्वे हलादिशेषे 'कृहोश्चुः' इति कन्य चुत्वे 'सार्व-
धातुकार्थं' इति गुणेऽयादेशे 'जिह्याम् च कृ ध' इति जाते, पुनः 'सार्वधातुका-
र्थात्तुकार्थोः' इत्यनेन कृ इत्यस्य गुणं रपरे च 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'तोऽनु-
स्वारः' इति अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परमवर्णं अकारे च जाते 'जिह्यात्कार-
र' इति । आमभाष्ये लिटस्तिपि णलि धातोर्द्वित्वे रलोपे ह्रस्व प्रत्वे जत्वे 'अचो
मिगिति' इति वृद्धौ आयादेशे च 'जिह्याय' इति सिद्धम् । अहंपीव । द्वीधातोर्लुटस्ति-
पि, लौ । ल्लेः निचि, इचो लोपे तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽवृक्ते' इति ईटि
सम्य पत्वे 'मिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ अटि च 'अहंपीव' इति रूपम् ।
अनिपिपत्तौश्चेति । 'अत्र लोपः' इत्यस्मादभ्यासन्येति 'भृञामिद्' इत्यस्माद् इदिति
'निजां त्रयाणां गुणः लौ' इत्यतः श्लाघिनि ज्ञानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य दोषं पूरयति—
अभ्यासस्येत्पदिना । पिपत्ति । प-पालनपूरणयोरित्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि, णपि, शपः
श्लुत्वे, 'लौ' इति द्वित्वे 'प पृ ति' इति स्थिते 'अर्त्तिपिपत्तौश्च' इत्यभ्यासस्ये-
कारान्तादेशे 'पिपृ ति' इति जाते 'सार्वधातुकार्थं' इति गुणे 'पिपत्ति' इति साधु ।
उदोष्टयपूर्वस्येति । 'अन इहानोः' इत्यतः अन इत्यनुवर्तते । अङ्गस्येवधिकृतमिहा-
नुवृत्तमावर्तते । एङमवर्णपृथगन्तम्, ओष्टयस्य विशेषणम् 'अपरं तु ऋता
विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—अर्त्तियासस्येत्यादिना । हलि च । 'वोरुपधाया
दीर्घ इक्' इत्यनुवर्तते । 'सिपि धातोः' इत्यतो धातारिति च । तच्च वोरित्यनेन
विशेष्यते । तदन्तविधिः । तदाह—रेफवान्तस्येत्यादिना । पिपृत्तः । पृधातोर्लट-
स्तसि, लौ 'लौ' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्यं 'अर्त्तिपिपत्तौश्च' इत्यभ्यास-
स्येकारान्तदेशे रपरत्वे हलादिशेषे 'उदोष्टयपूर्वस्य' इति उत्त्वे, रपरे च
कृते 'हलि च' इति दीर्घत्वे सस्य रुत्वे विसर्गं च 'पिपृत्तः' इति रूपं भवति ।
शृदृप्रां षसो वा । शृदृ पृ पृपां ह्रस्वः । लिटोति । 'दयतोर्दिगि लिटि' इत्यतः तदनुवृ-

अर्त्ति-अर्त्तौ धातु और 'पृ' धातुके अभ्यासको 'इत्त' हो, श्लु'के विपर्यय ।
उदोष्टय-अर्त्तियासस्य ओष्टय पूर्वक ऋदन्त अङ्गको 'उत्' आदेश हो । हलि—रेफान्त और
वान्त धातु संवन्धो उपधा 'इक्' को दीय हो 'हल्' के परे । शृदृ—'शृ-वृ-पृ' धातुको ह्रस्वो,

ऋच्छयताम् । ७।४।११। तौदादिकञ्छेर्कभातो ऋतां च गुणो, लिटि । पपरत् । पपत् । धृतो या । ७।२।३८। घृद्दृग्भ्यामृदन्ताच्चेटो दीर्घो वा स्यात्, तु लिटि । परिता । परीता । परिष्यति । परीष्यति । पिपत् । पिपुरत् । पिर्हि । अपिप । अपिपत्ताम् । अपिपत् । पिर्यात् । विप्यु । पर्यात् । अपारीत् । सिचि च परस्मैपदेषु । ७।२।४०। अत्र षत् इतो न दीर्घ । अपारिष्टाम् । अपरिष्यत् । अपरीष्यत् । ओहाक् त्यागे । जहाति । जहातेष्व । ६।४।१२६। इत्स्याद्वा हलादौ क्विति सार्वधातुके । जहित । ई हल्यघो । ६।४।१२३। रनाभ्यस्तयोरात् इत्स्यात्सार्वधातुके क्विति हलि । जहीत् । जहति । जहौ । हाता । हास्यति । जहातु । जहितात् ।

तेरिति भावः । ऋच्छयताम् । 'दयतेर्दिगि लिटि' इत्यतो लिटीति, 'अलक्ष सयोगादेर्गुण' इत्यनो गुण इति चानुवर्तते इति भावः । अपिप । पृषातोर्लृङ्गस्तिपि षपि षप' इत्ये 'सौ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अतिपिपत्स्योश्च' इति अभ्यासस्य इदन्ता-वैधो तिप इकारलोपे 'सार्वधातुकार्थं' इति गुणे रपरत्वे 'अपिपरत्' इति जाते 'हृच्छयताम्' इति हलोपे 'नरत्मानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे अटि 'अपिप' इति साधु । अपारीत् । पृषातोर्लृङ्गस्तिपि षौ, ष्ले सिचि, इचो छोपे, 'आर्षधातुकस्ये-हृच्छादे' इति इटि, तिप इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृष्ठे' इति ईटि 'इट् ईटि' इति हलोपे 'अकः सवर्णे दीर्घः' इति दीर्घात्वे 'सिचि वृद्धि' परस्मैपदेषु इति वृद्धौ अङ्-स्यादागमे, 'अपारीत्' इति । सिचि च परस्मैपदेषु । अथेति । परस्मैपदपरके सिचि वृद्धौ भ्याम् अदन्ताच्च परस्य इतो दीर्घो नेत्यर्थः । जहातेष्व । 'इइरिदस्य' इत्यत इदिति 'नियोज्यतरस्याम्' इत्यत 'अन्यतरस्याम्' इति 'गमहन' इत्यत विहित, 'अत ससार्वधातुके' इत्यत हलीति चानुवर्तते, तदाह—इत्स्यादेति । जहित । तसि-षाप सौ, द्वित्वे इत्ये हस्य इत्ये, इत्ये जात्वे 'सार्वधातुकमपित्' इति तसो डिड्भावे 'जहातेष्व' इति हकारोच्चरवर्तिन आकारस्य इकारादेशे 'जहित' इति । ई हल्य-घो । ई इति लुप्तप्रथमाकम् । 'रनाभ्यस्तयोरात्' इत्यनुवर्तते । 'गमहन' इत्यत, विहितीति 'अत ससार्वधातुके' इत्यत सार्वधातुके इति चानुवर्तते तदाह—रनाभ्य-स्तयोरित्यादिना । पञ्चे—'ई हल्यघो' इति आकारस्य ईकारे 'जहीत्' इति सिद्धम् । अहौ । हाषातोर्लिट् लकारे, तस्य तिषादेशे तिप स्यानेणलि जाते 'हाध' इति दशा-

कित्-लिट्के परे, विकल्पमे । अचक्षु—शुदादिका 'ऋच्छ'धातु, 'ऋ'धातु और दाधे ऋकारान्त धातुको गुण हो, लिट् के परे । धृतो—'वृत्' धातु, 'वृम्' धातु और दीर्घे ऋदन्त धातुसे पर 'इट्'को दीर्घे हो, विकल्पसे, पर लिट् के परे नहीं हो । सिचि—परस्मैपदपरक 'सिच्'के परे 'धृतो वा' से विहित 'इट्'को दीर्घे नहीं हो । अहा—'हा' धातुको 'ईत्' हो, इत्यादि 'कित्-लिट्' के परे, विकल्पसे । ई ह—'रना' प्रथम और अभ्यस्तसंबन्ध आकारको 'ईत्' हो, इत्यादि

जहीतात् । आ च हौ । ६।४।११७। जहातेहौ परे आत्स्यात् । चादीदितौ । जहाहि । जहिहि । जहीहि । अजहात् । अजहुः । लोपो यि । ६।४।११८। जहातेरलोपो, यादौ सार्वधातुके । जह्यात् । 'एलिङि' । हेयात् । अहासीत् । अहास्यत् । ऋ गतौ 'अतिपिपर्योश्चे'त्यभ्यासस्य इकारः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' । इयति । इयतः । इयति । आर । आरतुः । आरुः । 'इडस्यर्ती'ति नित्यमिट् । आरिय । अर्त्ता । अरियति । इयर्त्तु । इयराणि । ऐयः । ऐयताम् । ऐयरुः । इय्यात् । 'गुणो-ऽर्त्ती'ति गुणः । अर्यात् । 'सत्तिगास्त्यतिभ्यश्चे'त्यङ् । आरत् । 'ऋद्धनोः स्ये' । आरिष्यत् । इति परस्मैपदिनः ।

आं 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति धातोर्द्विष्वेऽभ्यासस्य ह्रस्वे 'कुहोश्चुः' इति ह्रस्व ऋत्वे, ऋस्य जत्वे 'जहा भ' इति स्थिते 'आत औ णलः' इति णल औत्वे 'यृद्धिरेचि' इति घृद्धौ 'जहौ' इति । आ च हौ । 'जहातेश्च' इत्यतस्त्वदनुवृत्तेरिति भावः । जहाहि । हाधातोर्लोट् । स्थाने मध्यमपुरुषैकवचने सिद्धादेशे 'सेर्ह्यपिच' इति सिपः स्थाने हिष्वा-देशे शपि, शपः श्लौ 'श्लौ' इति द्विष्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्माद्धौ ह्रस्वत्वे 'कुहोश्चुः' इति चुत्वेन ह्रस्व ऋत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति ऋस्य जत्वे 'आ च हौ' इति आत्वे 'जहाहि' इति । इकारे विहिते तु 'जहिहि' ईत्वे च 'जहोहि' इति रूप-त्रयं बोध्यम् । अग्रे रूपाणीत्यम्—जहितात्-जहीतात् । जहिताम्-जहीताम्, जहित-जहीत । जहानि, जहाव, जहाम । लोपो यि । 'जहातेश्च' इत्यतो जहातेरिति 'शनाभ्य-स्तयोरान्तः' इत्यतः आत इति 'अत उत्पार्श्वधातुके' इत्यतः सार्वधातुके इति आनु-वर्तते । यि इति मसम्यन्तं सार्वधातुकविशेषणम् । तदादिविधितदाह—जहातेरि-त्यादिना । अहासीत् । हाधातोर्लुङ्लकारे अटि लः । स्थाने तिपि च्लौ च्लेः सिचि इचौ लोपे तिपि हकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'यमरमनमातां सक् च' इति धातोः सगागमे सिच इटि च 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घं च उक्तरूपं सिद्धम् । ऋ गतौ । इयति इति । ऋधातोर्लिटि तिपि शपि 'जुहोस्यादिभ्यः' 'श्लुः' इति श्लौ 'श्लौ' इति द्विष्वे 'ऋ ऋ ति' इति जाते 'अतिपिपर्योश्च' इति अभ्यासे इकारादेशे रपरत्वे हलादिशेषत्वे अभ्यासस्येयङि 'इय्-ऋ ति' गुणे च इयति । इयतः । इयति अत्र जहिर्यादिरवाद्भ्यस्तसंज्ञायाम् 'अद्भ्यस्तात्' इति ऋस्यात् । आर आरतुः आरुः । आरिष्य । अर्त्ता । अरिष्यति । इयर्त्तु । ऐय इति । लङि तिपि इतश्च इलोपे धातोर्द्विष्वे 'अतिपिपर्योश्च' अभ्यासेकारे रपरत्वे हलो लोपे अभ्यासस्येयङि 'इय्-ऋ-च्' इति जाते अङ्गस्याङागमे 'आटश्च' इति घृद्धौ ऋकारस्य गुणे रपरत्वे 'हल्ङ्वादिलोपे रस्य विसर्गं 'पेयः' इति रूपम् । ऐयताम् । ऐयरुः । इय्यात् । अर्यात् । आरत् । आरिष्यत् ।

'किट्-डिट्' सार्वधातुकके परे । आ च—'हा' (ओहाक्) धातुको 'आत्' हो, चकारात् 'ह्रस्व' और 'ईत्वं' भी हो । लोपो—'हा' धातुके आकारका लोप हो, चकारादि सार्वधातुकके परे ।

अयाग्मनेपदिन ।

माड माने, शब्दे च । भृजामित् । ७।४।७६। भृज् माड ओहाद् एयामभ्यास-
स्येत्याच्छ्लौ । ई 'हृष्यघो' । मिमीते । मिमाते । 'रनाभ्यस्ते'ति आतो लोप ।
मिमने । ममे । माता । मास्यते । मिमीताम् । अमिमीत । मिमीत । मामीष्ट । अमास्त ।
अमास्यत । ओहाद् गती । जिहीने । जिहाते । निहते । जहे । हाता । हास्यते ।
जिहोताम् । अनिहीत । जिहीन । हामीष्ट । अहास्त । अहास्यत । इत्याग्मनेपदिन ।

भृजामित् । भृजामिति षट्पञ्चनात् भृजादौनामिति लभ्यते 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'
इत्यनं अभ्यासस्येति 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यत त्रयाणां श्लौ इति
चातुर्वर्तने तदाह—भृज् माड इत्यादिना । मिमीते । माडघातोर्लट्कारे तस्यथाने
निपि नापि षप श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्विवे 'भृजामित्' इत्यभ्यासस्य ईष्वे
'ई हृष्यघो' इति आकारस्य ईष्वे 'दित आग्मनेपदानां टेरे' इति टेरेष्व च विहिते
'मिमोते' इति सात्तु । मिमीताम् । माघातोर्लट्कारे समागते शपि, शप श्लौ 'श्लौ'
इति द्विवेऽभ्यासकार्ये 'भृजामित्' इति ईष्वे 'ई हृष्यघो' इति आकारस्य ईष्वे
'मिमो त' इति स्थिते टेष्वे 'आमेत' इति एकारस्य स्थाने आमि 'मिमिताम्'
इति रूपम् । अमास्त । माघातोर्लुङि षटि ल स्थाने तादेशे ष्लौ ष्ले, सिचि
इचाविधौ 'अमास्त' इति । अमासाताम्, अमासत, अमासाथा, अमासाधाम्,
अमासवम् । अमासि, अमासवहि, अमासमहि । इति । जिहीन । ओहाद् गती
अस्मान् घातुतो लटि समागते ल स्थाने ते शपि षप श्लुत्वे 'श्लौ' इति
द्विवे 'अभ्यासमज्ञायां' 'भृजामित्' इत्यभ्यासस्य इकारे 'कुहोरनु' इति ह्रस्व षत्व
'अभ्यासे षच' इति षस्य जष्वे 'ई हृष्यघो' इत्याकारस्य ईष्वे टेरेष्वे च कृते
'जिहीते' इति । जहे । ओहाद् गती अस्मान् लिटि ते समागते 'लिटि घातोरन-
भ्यासस्य' इति घातोर्द्विवे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्यासत्वे 'ह्रस्व' इत्यभ्यासस्वाचो
ह्रस्वे कृते 'कुहोरनु' इति ह्रस्व षत्व 'अभ्यासे षच' इति षस्य जष्वे 'जहा त'
इति आते 'लिट्भास्यगारेविरच्' इति तस्यैति 'आतो लोप इटि च' इत्याकारलोपे
'जहे' इति । जिहीताम् । माघातोर्लट्कारे समागते शपि, शप श्लुत्वे 'श्लौ' इति
घातोर्द्विवेऽभ्यासत्वे 'भृजामित्' इति अभ्यासस्य ईष्वे 'कुहोरनु' इति ह्रस्व
षत्व षस्य जष्वे 'ई हृष्यघो' इति ईकारे टेरेष्वे 'आमेत' इति लोट् एकारस्य
आमि च कृते 'जिहीताम्' इति रूपम् । जिहात् । ओहाद्घातोर्विधिलिटि, लिङ्
तादेशे शपि षप श्लुत्वे, 'श्लौ' इति द्विवेऽभ्यासकार्ये ह्रस्व षत्व षस्य जष्वे
सीयुटि, उटो लोपे 'लोपो ष्योर्बलि' इति षलोपे 'लिङ् सलोपोऽनन्त्यस्य' इति
सलोपे 'रनाभ्यस्तयोरात्' इति आकारलोपे 'जिहीत' इति ।

नृथा—'भृज्, माड् और ओहाद् वात्तु सम्बन्धी अभ्यासको 'ह्रस्व' 'हो' 'श्लु'के विषयमें ।

अयोभयपदिनः ।

डुभृञ् धारण-पोषणयोः । विभक्ति । विभृतः । विभ्रति । विभृते । विभ्राते । विभ्रते । विभरात्रकार । वभार । वभर्य । वभृव । वभृम । विभरात्रके । वभ्रे । भर्ता । भरिष्यति । भरिष्यते । विभर्तु । विभृहि । विभराणि । विभृताम् । विभृध्वम् । अविभः । अविभृताम् । अविभरुः । अविभृत । विभृयात् । विभ्रीत । 'रिड्शये'ति रिड् । धियात् । ('उश्च') । मृपोष्ट । अभापीत् । 'ह्रस्वादङ्गात्' । अमृत ! अमरिष्यत् । अमरिष्यत । डुदाञ् दाने । प्रणिददाति । दत्तः । ददति । दने । ददाते । ददते । ददौ । ददे । दाता । दास्यति । दास्यते । ददातु । ध्वसोरे-

विभक्ति । भृञ्धातुतो लटि, तिपि, शपि, शपः श्लुत्वे, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृजामित्' इति ह्रस्वे रपरत्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य यत्वे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'विभक्ति' इति रूपम् । विभ्रति । तौ समागते । श्लौ, द्वित्वादिकार्यं च कृते 'भृजामित्' इति अभ्यासस्य ह्रस्वे 'उभेऽभ्यस्तम्' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'अदभ्यस्तात्' इति स्रस्याति 'इको यणचि' इति यणि 'विभ्रति' इति । विभरात्रकार । भृजो लटि 'भीहीभृहुवां०' इत्यामि श्लुवन्नावे, द्वित्वे अभ्यासादिकार्यं 'भृजामित्' इति ह्रस्वे च कृते, पुनः धातोश्च गुणेऽकारे रपरे च 'भामः' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकृजोऽनुप्रयोगे लिटस्तिपि, तिपो णलि द्वित्वादिकार्यं 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणेऽकारे रपरे च उपधावृद्धौ 'मोऽनुस्वारः' इति आमो मकारस्य अनुस्वारे 'वा पदान्तस्य' इति परसवर्णे चोक्तं रूपं सिद्धम् । आमोऽभावपदे तु—धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'भृ भृ ष' इति स्थिते 'उरत्' इति अकारे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य षत्वे परत्वात् 'सार्वधातुकार्ध०' इति गुणे 'अत उपधायाः' इति उपधाया वृद्धौ जातायां 'वभार' इति रूपम् । आत्मनेपदे—'विभरात्रके—वभ्रे' इति रूपद्वयं श्रेयम् । विभ्रीत । विधिलिङ्गस्ते शपि शपः श्लुत्वे द्वित्वादिकार्यं सीयुटि उटावितौ 'लोपो ष्योर्वलि' इति यलोपे 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' इति सलोपे 'इको यणचि' इति यणि 'विभ्रीत' इति रूपम् । अभापीत् । विभर्तुर्लुङि अटि लः स्थाने तिपि लौ ल्लेः सिचि इचावितौ तिप इकारलोपे 'अस्तिसिषोऽपृस्ते' इति ईटि 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ, 'अभापीत्' इति । अमृत । आत्मनेपदे लुङ्स्तादेशे लौ ल्लेः सिचि 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सिचो लुकि 'उश्च' इति किरवाद् 'किञ्चित् च' इति गुणनिषेधे 'अमृत' इति । ददाति । डुदाञ् दाने इति धातुतो लटस्तिपि शपि शपः श्लुत्वे 'श्लौ' इति द्वित्वे अभ्यासादिकार्यं 'ह्रस्वः' इति अभ्यासस्याधो ह्रस्वे 'ददाति' इति । दत्ते । आत्मनेपदे लटि तादेशे टेरत्वे द्वित्वे

स्वायभ्यासलोपश्च' । देहि । दत्ताम् । अददात् । अदत्ताम् । अददु । अदत् । दद्यात् । ददीत् । 'पठिञि' । देयात् । दासीष्ट । 'गातिस्वे'ति सिचो लुक् । अदत् । अदाताम् । अदु । स्याध्वोरिञ्च १।२।१७। अनयोरिदन्तादेशः स्यात्, सिच क्त्विस्यादा मनेपदेषु । अदित । अदास्यत् । अदास्मत् । जुघाञ् धारण-पोषणयो । दधाति । दधस्नयोश्च ।।२।३।। द्विरुत्स्य अयन्तस्य धासो बसो भ्, ।

अभ्यासादिकार्ये हस्वे 'रनाभ्यस्तपोरात्' इत्याकारलोपे 'स्वरि च' इति दस्य तावे 'इत्ते' इति । ददी । दाधातुतो लिट्स्तिपि निपो णलि 'लिटि घातोऽभ्यासस्य' इति घातोऽद्विरे 'इत्त' इति ह्रस्वे 'आत औ णल' इति णलः स्थाने भौत्वे 'द्विरेषि' इति वृद्धौ 'ददी' इति । अददात् । लङि अटि तिपि चापि दाप' रली 'रली' इति द्विरेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे तिप इकारलोपे 'अददात्' इति । दणात् । विधि-ल्लिङ्गस्तिपि चापि दाप रलुत्वे 'रली' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वे पासुटि उटावित्ठी तिप इकारलोपे 'लिङ् सलोपोऽनन्यस्य' इति सलोपे 'रनाभ्यस्तपोरात्' इत्याकारलोपे च 'दद्यात्' इति । आत्मनेपदे-द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'लिङ् सीयुट्' इति सीयु-बागमेऽनुबन्धलोपे यलोपे 'लिङ् सलोपोऽनन्यस्य' इति सलोपे 'रनाभ्यस्तपोरात्' इति अभ्यस्तसङ्कल्पादाकारलोपे 'ददीत्' इति । आशीर्लिङि—'देयात्' 'पठिञि' इति आकारस्य एषम, स्कोरिति सलोपश्चेति विशेष । आत्मनेपदे—सीयुट्, मुट्, पावट्त्वे च विशेषः—'दासीष्ट' इति आतम् । अदात् । लुङि अटि तिपि रली ष्ठे सिचि 'दाधाध्वदाप्' इति घुमशाषी 'गातिस्वायुपामृग्मस्मिच' परस्मैपदेषु' इति सिचो लुकि 'अदात्' इति । स्याध्वोरिञ्च । 'असयोगाङ्गिट् क्त्वि' इत्यत किदिति 'हन' सिच्' इत्यत सिञिति चानुवर्तते तदाह—अनयोरिदन्तादेशः । अदित । आत्मनेपदे-लुङ्गत्तादेशो रली ष्ठे सिचि 'दाधाध्वदाप्' इति घुमंश्रुत्तात् 'स्याध्वोरिञ्च' इति इदन्तादेशो सिच क्त्वि च 'ह्रस्वाद्गात्' इति सिचः सलोपे विहिते 'अदित' इति निष्पन्न भवति । दधाति । जुघाञ् धारणपोषणयोरिति चातुनो लट्मिनि चापि दाप' रली द्वित्व्यादिकार्ये ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति घकारस्य दकारे 'दधाति' इति । दधस्नयोश्च । घा घातो कृतद्विरवस्य दध' इति षष्ठ्यन्तम् । 'एकाचो वसो' इत्यतो शब्दस्य वसो भ् इत्यनुवर्तते । षष्ठ्यन्तयोर्दन्तात् मसमीद्विवचनम् । तकारादकार उच्चारणार्थं । तकारयकार-

स्था—'स्या' धातु और बुझइक धातुको इदन्तादेश हो और धातुसे पर जो 'सिच्' वह 'द्वि' हो आत्मनेपदके परे ।

दधस्त्—द्विरुक्त (द्विदित्व) मन्त 'दाप्' धातुके 'दध्' को मरमाह हो, तकार, अकार, उकार और 'व्य'के परे ।

तद्ययोः स्ध्वोश्च परतः । धतः । दधति । दधासि । धत्यः । धते । दधाते । धत्से ।
 धद्ध्वे । ध्वनो'रित्येस्वम् । धेहि । अदधात् । अधत्ताम् । अदधुः । अदधाः ।
 अधर्तम् । अधत् । अदधाम् । अदध्व । अदध्म । अधत् । अदधाताम् । अदधत् ।
 अधत्थाः । अदधायाम् । अधदध्वम् । अधधि । अधध्वहि । अधध्महि । दध्यात् ।
 दधीत । दधीयाताम् । धेयात् । धामोष्ट । अधात् । अधाताम् । अधित । अधिपाता-
 म् । अधास्यत् । अधास्यत । णिजिर् शौच-पोषणयोः । निजां त्रयाणां गुणः
 श्लौ । ७।४।७५। णिज्-विज्-विषामभ्यासस्य गुणः स्याच्छ्लौ । नेनेक्ति । नेनेक्तः ।
 नेनेजति । नेनेक्तं । निनेज । निनेजे । नेक्ता २ । नेदयति । नेदयते । नेनेक्तु ।

योरिति लभ्यते, चकारात् स्ध्वोरिति समुष्ठीयते । सकारे ध्वशब्दे चेति लभ्यते
 तदाह—द्विरुक्तस्येत्यादिना । धत्तः । धाधातोः ससि शपः-रलुत्वे 'श्लौ' इति द्विवे-
 भ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति धस्य षत्वे 'इष् तस्' इति
 जाते 'दधस्तयोश्च' इति दध् धत्वे 'शनाभ्यस्तयोरातः' इत्यालोपे 'स्वरि च'
 इति धस्य तात्वे मस्य रुत्वे विसर्गे च 'धत्तः' इति । अधात् । दधातेर्लुङि अटि तिपि
 तिप ह्रलोपे च्लौ, च्लेः सिचि 'गानिस्थासुपा०' इति सिधो लोपे 'अधात्' इति ।
 अधित । धाञ आरम्भनेपदे, लुहस्तादेशे च्लौ च्लेः सिचि इचो लोपे 'स्थाध्वोरिश्च'
 इति इदन्नादेशे सिचः कित्त्वे च कित्त्वात् 'विद्यति च' इति गुणाभावे 'ह्रस्वा-
 द्ङात्' इति मलोपे चाटि 'अधित' इति । निजां त्रयाणां गुणः श्लौ । निजामिति
 बहुवचनात् तदादीनां ग्रहणम् 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यतः अभ्यासस्येत्यनु-
 वर्तते तदाह—णिज्विजित्यादिना । नेनेक्ति । णिजिर्-शौचपोषणयोरित्यस्माद् धातो-
 र्लुङि समागते 'हर इत्संज्ञा चाच्या' इति इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे
 'णो नः' इति धात्वादेशस्य नत्वे लटस्तिपि शपि शपः श्लौ धातोर्द्विवेभ्यासकार्यं
 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इत्यभ्यासस्य गुणे 'धोः कु' इति जस्य गात्वे
 'स्वरि च' इति गस्य कत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'नेनेक्ति' इति ।
 निनेज । निजधातोर्लुङि, लिटः तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति
 द्विवेभ्यासकार्यं जलोपे 'नि निज् अ' इति स्थिते 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति
 गुणे संयोगे च 'निनेज' इति । निनेजे । आरम्भनेपदे तादेशे 'लिटस्तद्वयोरेशिरेच्'
 इति त इत्यस्य स्थाने एशादेशे धातोर्द्विवेभ्यासकार्यं 'निनेजे' इति रूपं बोध्यम् ।
 नेनेधि । लोटः सिपि शपि शपः रलुत्वे 'सेर्हपिश्च' इति सेर्हित्वे धातोर्द्विवे जलोपे
 'निजां त्रयाणां गुणः श्लौ' इति अभ्यासगुणे 'हुक्षभ्यो हेर्धिः' इति हेर्धिरादेशे

निजां—'णिज्' विज् और विष् धातुके अभ्यासको 'गुण' हो, श्लुके विषयमें ।

नेनिगिध । नाम्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके । ७ । ३ । ८७ । अन्त्यस्तस्याचि
पिति सार्वधातुके लघूपधगुणो न । नेनिजाणि । नेनिकाम् । अनेनेक् । अनेनिकाम् ।
अनेनिजु । अनेनिजम् । अनेनिज् । नेनिज्यात् । नेनिज्जिते । निज्यात् । निक्षीष्ट ।
अनिजत् । अनैक्षीत् । अनिक । अनेच्यत् । अनेच्यत । एषं-धिजिर् पृथग्भावे ।
चिष्ट्वा व्यासौ ॥ इति जुहोत्यादि ।

‘चो’ कु’ इति जरथ गारथे ‘नेनेगिध’ इति रूपम् । नाम्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके ।
‘मिर्देशुण’ इत्यतो गुण इति ‘पुगन्त’ इत्यतो लघूपधस्येति चानुवर्तते, इत्यभिप्रेत्य
शेष पूरयति—लघूपधेति । नेनिजानि । मिपि ‘मेनि’ इति मेनिरे ‘आहुस्तमस्य
पिच’ इति भाटि द्विष्वेऽभ्यासकार्ये अलोपे ‘निजां त्रयाणाम्’ इति अभ्यासस्याचो
गुणे ‘पुगन्तलघून्’ इति गुणे प्राप्ते ‘नाम्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके’ इति गुणाभावे
नेनिजानि इति । अनेनेक् । लङि अटि तिपि शप रञौ ‘रलौ’ इति द्विष्वेऽभ्यासकार्य
‘निजां त्रयाणां गुण रलौ’ इति अभ्यासस्य गुणे ‘अ ने निज्जिते’ इति रिधते तिप
हलोपे ‘चो कु’ इति कुत्वेन जरथ गारथे ‘स्वरि च’ इति चार्थेन कथे ‘पुगन्तलघू
पधस्य च’ इति गुणे ‘अने नेक्त्’ इति व्यवस्थिते ‘इल्लुवाभ्य’ इति ललोपे ‘अने-
नेक्’ इति रूप भवति । अनेनिक । आत्मनेपदे तादेशे शप रलुवे ‘लौ’ इति द्विष्वे
ऽभ्यासकार्ये ‘चोः कु’ इति कुत्वेन गारथे तस्य चार्थेन कथे ‘निजां त्रयाणां गुण
रलौ’ इति अभ्यासगुणेऽटि ‘अनेनिक’ इति । अनिजत् । लुङि अटि तिपि रञौ सति
‘हरितो घा’ इति ऋरल्लि तिप इकारलोपे ‘अनिजत्’ इति । अल्लुवादपठे-रले-सिचि
‘अरितसिचोऽपृक्ते’ इति तिपस्तकारस्य ईटि ‘वद्वजइल्लुत्तस्याच’ इति वृद्धौ
‘चो’ कु’ इति कुत्वेन गारथे ‘स्वरि च’ इति चार्थेन गस्य कथे, सिच तस्य चार्थे
कृत्सयोरो चकारे अटि च ‘अनैक्षीत्’ इति । अनिक । आत्मनेपदे लुङि अटि लुङस्ता
देशे ऋत्वे सिचि ह्रचो लोपे ‘ललो लल्लि’ इति ललोपे ‘चो कु’ इति जरथ गारथे
‘स्वरि च’ इति गस्य कथे ‘अनिक’ इति । एषं विजिर् पृथग्भावे चिष्ट्वा-व्यासौ
च संवेक्ति इत्यादि रूपाणि चोप्यानि । इति जुहोत्यादय ।

नाम्य—मध्यस्तसङ्क वातुको ‘लघूपध’ गुण नहीं ही, अजादि ‘पित्’ सार्वधातुके परे ।
इस प्रकार ‘इन्द्रमती’ टोकामें जुहोत्यादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ दिवादिप्रकरणम्

दिवु क्रीडाविजिगीषाव्यवहारद्युतिस्तुतिमोदमदस्वप्नकान्तिगतिषु । दिवादि-
भ्यः श्यन् ॥३॥६९॥ दिवादिभ्यः श्यन्प्रत्ययः स्यात् कर्तरि सार्वधातुके । शपोऽ-
पवादः । 'हलि च्चे'ति दीर्घः । दीव्यति । दिदेव । देविता । देविष्यति । दीव्यतु ।
अदीव्यत् । दीव्येत् । दीव्यात् । अदेवीन् । अदेविष्यन् । एवं-पियु तन्तुसन्ताने ।
सिवादीनां वाऽड्ब्यवायेऽपि ॥८॥३॥७१॥ परिनिविभ्यः परेपामेषामड्ब्यवायेऽपि
वा मस्य पः । पर्यपीव्यत् । पर्यमीव्यत् । नृती गात्रविक्षेपे । नृत्यति । ननर्त्त ।
ननिता । सेऽसिचि कृतचृतछृदृत्दृत्तः ॥७१॥५७॥ एभ्यः सिञ्चिभ्रस्य सादे-
रार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात् । नत्स्यति । नत्स्यति । नृत्यात् । अनर्त्तात् । अन-

दिवादिभ्यः श्यन्निति । 'कर्तरि णप्' इत्यतः कर्तरीति 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः
सार्वधातुके इति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्याह-शपोऽपवाद इति । दिदेव । दिवु धातोर्लिट्-
स्तिपि तिपो णलि 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति धातोर्द्विखेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्तल-
घूपधस्य च' इति गुणे 'दिदेव' इति । अदेवीत् । लुङि अटि तिपि इकारलोपे च्छी
सिजादेशे इच्चावितौ 'आर्द्धधातुकस्येड् वलादेः' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति
ईटि 'इट ईटि' सलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अदेवीत्' इति ।
सिवादीनां वेति । 'परिनिविभ्यः' इत्यतः परिनिविभ्यः 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधि-
कृतम् । अत आह-सस्य पः स्यादिति । सीव्यति । सिपेव । सेविता । सेविष्यति ।
सीव्यतु । असीव्यत् । सीव्येत् । सीव्यात् । असेवीत् । असेविष्यत् । पर्यपीव्यदिति ।
परि+असीव्यत् इत्यवस्थायां 'सिवादीनां वाऽड्ब्यवायेऽपि' इति वैभाषिके सस्य
पक्षे यणि पर्यपीव्यत्-पत्वाभावे पर्यसीव्यत् इति रूपद्वयं साधु । नृत्यति । नृती-
गात्रविक्षेपे इति धातोर्लिटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यणि श्यनः अपिश्वेन
छिन्वाञ्च गुणः, 'नृत्यति' । ननर्त्त । नृती गात्रविक्षेपे इत्यम्माद्धातोर्लिट्स्तिपि तिपो णलि
धातोर्द्विखे तलोपे 'उरत्' इति अभ्यासक्रकारस्य अदादेशे रपरे हलादिशेषे गुणे 'नन-
र्त्त' इति । सेऽसिचि इति । से असिचि इति छेदः । सप्तमी पृथग्रथं । कृतचृतछृदृत्दृत्त एषां
समाहारद्वन्द्वात् पञ्चमी । 'उदितो वा' इत्यतो वेति 'आर्द्धधातुकस्येडि'ति चानुवर्तते
तदाह-एभ्य इत्यादिना । अनर्त्तात् । नृतो लुङ्स्तिपि च्छी च्छेः सिचि इच्चो. लोपे
'आर्द्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इटि तिपि इकारलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट

दिवा—दिवादिगण पठित धातुओंसे 'श्यन्' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
सिवा—परे, नि और 'वि' उपसर्गोंसे पर सिवादि (सिवु-सह-सुट्-स्तु-स्वञ्)के सकारको
'अट्'के व्यवधानमें भी परव हो, विकल्पसे । सेऽसि—कृत-चृत-छृदृ-उद-नृत धातुओंसे

सिप्यत् । अनत्स्यत् । प्रसी उद्वेगे । 'वा भ्राशे'ति स्यवा । प्रस्यति । प्रसति । तत्रास । वा जृभ्रमुत्रसाम् । ६।४।२४। एषां किति लिटि सेटि, 'यलि' च एत्वाभ्यासलोपौ वा स्तः । प्रसतु । तत्रतनु । प्रसिष । तत्रसिष । प्रसिता । शो तनूकरणे । ओतः श्यनि । ७ । ३ । ७ । ओतो लोप स्यात् श्यनि । श्यति । श्यत । श्यन्ति । 'आदेच उपदेशेऽशिति' । शशौ । शशतु । शशु । शाता । शास्यति । श्यतु । अश्यत् । श्येत् । शयात् । 'विभाषा घाघेडि'ति सिचो वा लुक् । अशात् । अशाताम् । लुगभावे 'यमरमे'ति इत्सकौ । अशामीत् । अशासिष्टाम् । अशास्यत् । छो छेदने । छपति । चच्छौ । चच्छतु । यो अन्तकर्मणि । स्यति । ससौ । अभिष्यति । अभिससौ । साता । मास्यति । स्यतु । अभ्यस्यत् । सेयात् । दो अवसण्डने । दति । ददौ । प्रणिदाता । दास्यति । देयात् । अदात् । अदास्यत् । व्यघ ताडने । 'प्रहिज्ये'ति सम्प्रसारणम् । विष्यति । विष्याथ । विविधतु ।

इटि इति सलोपे 'पुगन्तलघूपचस्य च' इति गुणे अटि च 'अनर्तात्' इति । प्रस्यति । प्रसी उद्वेगे इति धातुतो लटस्तिपि 'वा भ्रानाम्लादाभ्रमुक्कमुक्कमुक्कसिप्युटिलष' इति षैकस्तिपकेन श्यनि 'प्रस्यति' इति । यमोऽभावपक्षे चापि प्रसति । वा जृभ्रमुत्रसाम् 'अत एकह्रस्वभ्ये' इत्यतो लिटि इति 'यलि च सेटि' इति चानुवर्तते । 'स्वसोरेडौ' इत्यतः पठिति 'गमहम' इत्यतः किति च । तदाह—एवामिति । ओतः श्यनि । 'घोर्लोपो सेटि वा' इत्यतो लोप इत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेष पूरयति—लोप स्यादिति । श्यति । शो तनूकरणे इत्यवसादातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि 'ओतः श्यनि' इति शोवर्तिन ओकारस्य लोपे 'श्यति' इति योष्यम् । शशौ । लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्व' इति अभ्यासस्याचो ह्रस्वत्वे 'वा वा अ' इति स्थिते 'आत औ णल' णल औकारे 'वृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'शशौ' इति । विष्यति । व्यघ ताडने इति धातोर्लटि तिपि 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'व्यघ् यति' इति स्थिते श्यनोऽपिपक्षेन 'सार्धधातुकमपित्' इति द्विरप्यत्, द्विरवात् 'प्रहिज्यावयिष्यधिवष्टिविचतिवृद्धतिपृच्छतिशृङ्गतीनां विहति च' इति सम्प्रसारणे 'वृ ह्र अ ध् य ति' इति जाते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विष्यति' इति रूपम् । विष्याथ । व्यघ्धातोर्लटस्तिपि तिपि णलि अनुबन्धलोपे लिटि धातोः ' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषेऽर्थात् धलोपे 'व्य व्यध् अ' इति स्थिते 'लिट्-

पर 'सिच्' भिन्न सकारादि आर्षधातुकको 'इट्'का आगम हो, विकल्पमे । वा जृ—जृ, भ्रन् और प्रस् धातुको यत्वाभ्यासलोप हो, कित्-लिट् और सेट् यत्के परे, विकल्पसे ।

ओत —ओकारका लोप हो, 'श्यन्'के परे ।

विविधुः । विव्यह । विव्यधिय । व्यह । व्यत्स्यति । विच्येत । विच्यात् । अव्या-
त्सीन ! पुप पुष्टौ । पुष्यति । पुपोप । पुपोपिय । पोष्टा । पोक्ष्यति । 'पुषादी'
त्यङ्-आपरस्मैपदात् । अपुपत् । अपोक्ष्यत् । शुप शोषणे । शुष्यति । शुशोष ।
शोष्टा । शोक्ष्यति । शुष्यत् । अशुष्यत् । अशुपत् । अशोक्ष्यत् । णश अदर्शने ।
नश्यति । ननाश । नेशतुः । नेशुः । रधादिभ्यश्च । ७।२।४५। रध् नश् तृप् हृप्
बृह्-मुह् णुह्-णिह्-एभ्यो बलाघातुक्तस्य वेत् स्यात् । नेशिय । मस्जिन-
शोर्झलि । ७ । १ । ६० । मस्जिनशोर्नुम् स्यात् झलि । ननष्ट । नेशिव-नेश्च ।
नेशिम नेशम । नशिता । नंष्टा । नशिष्यति । नह्क्ष्यति । नश्यतु । अनश्यत् ।

भ्यासस्योभयेषाम्' इति भ्यासस्य सम्प्रसारणे 'व् इ अ व्यघ् अ' इति जाते
'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'व् इ व्यघ् अ' मिलित्वा 'विव्यघ् अ' इति स्थिते
'अत उपधायाः' इति उपधावृद्धौ 'विष्याध' इति रूपं ज्ञेयम् । अव्यात्सीत् । लुङि
अटि त्तिपि च्लौ च्लेः सिचि त्तिप इकारलोपे अनिट्त्वादिङभावे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते'
इति अपृक्तसंज्ञकस्य तकारस्य ईटि विहिते 'वद्वजहलन्तस्याचः' इति वृद्धौ, 'स्वरि
च' इति धस्य तः 'अव्यात्सीत्' इति । पुपोष । लिटि त्तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि
धातोर्नभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्तलघूपधस्य' इति गुणे 'पुपोप'
इति सिद्धं भवति । पुपोपिय । यलि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'आर्धधातुकस्येड्' इति इटि
प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'कृष्मृवृस्तु' इति मित्यमिट । अज-
न्तत्वःभावात् 'श्रुतो भारद्वाजस्य' इत्यस्य नाम्न प्रसक्तिः । 'पुगन्त' इति गुणे 'पुपो-
पिय' इति रूपम् । अपुपत् । पुपघातौ लुङि, अटि त्तिपि त्तिप इकारलोपे च्लौ 'पुषादि-
घृताद्यलृदितः' इति पुषादिगणपाठात् च्लेरलि डिरवाद् गुणाभावे 'अपुपत्' इति । अपुप-
ताम्, अपुपन् । शुशोष । शुपो लिटित्तिपि णलि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'पुगन्त'
इति गुणे 'शुशोष' इति साधु । नश्यति । मानुबन्धकात् णश घातुतो लटि लट्स्तिपि
श्यनि 'णो नः' इति णस्य नत्वे 'नश्यति' इति रूपम् । ननाश । नशघातोर्लिट-
स्तिपि णलि णलावितौ 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अत
उपधायाः' इति वृद्धौ 'ननाश' इति रूपं बोध्यम् । रधादिभ्यश्च । 'आर्धधातुकस्येड्व-
छादेः' इत्यनुवर्तते 'स्वरतिसूतिसूयति' इत्यतो वेति चेत्यभिप्रेत्य शेषं पूरयति—
बलाघार्धधातुकस्येति । मस्जिनशोर्झलि । 'इदितो नुम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।

रधा—रधादि धातुभौते पर बलादि आर्धधातुकको इडागम हो, विकल्पते ।

मस्जि—'मस्ज' तथा 'नश्' धातुभौ नुमागम हो, झलादि प्रत्ययके परे ।

नश्येत् । नश्यात् । अनशात् । प्रणश्यति । नशे. पान्तस्य । ८।४।३६। पान्तस्य
 नशेर्णत्वं न स्यात् । प्रनष्टा । 'अन्त' प्रहण भूतपूर्वप्रतिपत्यर्थम् । प्रनष्ट्यति । रघ
 हिंसा-संराद्धयो । रष्यति । रधिजभोरचि । ७।१।६१। रधिजभोरचि नुम्
 स्यात् । रन्ध । रन्धतु । रन्धिय । ररद्ध । ररन्धथु । ररन्धिय ररन्धि ।
 नेट्यलिटि रघे. ७।१।६२। लिङ्वजं इटि रधेर्नुम्न स्यात् । रधिता रदा ।
 रधिष्यति-ररष्यति । अळि नुम् । 'अनिदिता'मिति नलोप । अरघत् ॥ तृप
 प्रीणने । तृष्यति । ततर्ष । ततृपतु । ततृपु । रधादित्वादेत् । तत्रप्य-ततर्ष-
 ततार्थ । तर्षिता-तर्षा-प्रषा । (स्पृशमृशरूपतृपट्टपां चले. सिज्जा

प्रणश्यति । अत्र 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' इति णत्व बोध्यम् । नशे वान्तस्येति ।
 'रषाम्याम्' इत्यतो ण इति । 'न माभूप' इत्यत नैति चानुवर्तते इत्यभिप्रेत्य शेष पूर
 यति-गत्व न स्यादिति । प्रनष्टेति । 'प्र+नष्टा' इत्यवस्थापाम् 'उपसर्गादसमासे' इति
 णत्व प्राप्त 'नशेः पान्तस्य' इति निषेधात् न भवति इति भाव । अन्तप्रहणमिति ।
 पूर्वं षकारस्य सत इदानीमादेशवशेन पान्तात्वाभावेऽपि णत्वनिषेधात्प्राप्यर्थमन्त-
 प्रहणमित्यर्थ । प्रनष्ट्यति । अत्र चस्य कवे कृतेऽपि भूतपूर्वगत्या पान्तात्वाच्च णत्व
 मिति भाव । रधिजभोरचानि । रघ हिंसायामिति रयन्धिकरणस्य चतुर्थान्तस्येका
 निर्देश । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते । अत आह—नुम् स्यादिति ।
 रन्धेति । रघघातोर्लिटि तिपि णलि 'रधिजभोरचि' इति नुमि मित्रादन्यादथ परत्वे
 द्वित्वे पूर्वस्याम्यासावे हलादिशेषत्वे रूपसिद्धि । ररन्धतु । ररन्धु । ररन्धिय-ररद्ध ।
 अत्र घेट् भारद्वाजमताश्रयणात् । ररन्धथु । ररन्ध । ररन्ध । ररन्धिय-ररन्ध्व । अत्रे
 द्विकक्षप 'रधादिभ्यश्च' इति प्रतिज्ञानात् । ररन्धिय-ररन्ध्व । रधिता-रदा । रधि-
 ष्यति-ररष्यति । अत्रेद्विकक्षप 'रधादिभ्यश्च' इति तथा प्रतिपादनात् । रष्यतु ।
 अरष्यत् । रष्येत् । रष्यात् । अळि पुषादिज्जादृष्टि नुमि 'अनिदिताम्' इति नलोपे
 'अरघत्' इति रूपम् । अरधिष्यत्-अररष्यत् । तृप प्रीणने, प्रीणन तृप्तिस्तर्षणं च ।
 तृष्यति । ततर्ष । ततृपतु । ततृपु । तत्रप्य-ततर्षिय-ततर्ष्य । अत्र ऋमश 'रधादि-
 ष्यश्च' इतीदमावे 'अनुवाचस्य चर्तुपथस्य' इत्यमि यणि प्रथम 'तत्रप्य' रूपम् ।
 इटि सति गुणे द्वितीय 'ततर्षिय' इति रूपम् । इडभावेऽभ्यभावे च ततर्ष्य' इति
 तृतीय रूपमवनेयम् । पृथ तर्षिता-तर्षा-प्रषा । तर्षियति-ररष्यति-प्ररष्यति ।
 तृष्यतु । अतृष्यत् । तृष्येत् । तृष्यात् । 'स्पृशमृश' इति सिद्धि इटि सति गुणेऽटि

नशे—वान्त 'नश्' बाहुको 'णत्व' नहीं हो ।

रधि—'रष्' बाहु ओर 'अष्' बाहुको नुमागम हो, अर्थादि प्रत्ययके परे ।

नेट्य—लिङ् मन्धन्धि मित्र 'इत्'के परे 'रष्' बाहुको नुम् नहीं हो । स्पृश—स्पृशादि

धाच्यः) अतर्पीत्-अत्राप्सीत्-अताप्सीत्-अतृपत् । इप हर्ष-मोहनयोः ।
 मोहनं-गर्वः । इप्यति इत्यादि । 'रधादित्वादिमौ वेट्कावमर्थमनुदात्तता' ।
 द्रुह जिघांसायाम् । द्रुहति । दुद्रोह । दुद्रुहतुः । दुद्रुहुः । 'वा द्रुहे'ति वा घः ।
 पक्षे ङः । 'पक्षस्तथोर्धोऽघः' दुद्रोहिथ-दुद्रोगध-दुद्रोट । दुद्रुह्युः । दुद्रुह ।
 दुद्रोह । दुद्रुहिव । दुद्रुहिम । द्रोहिता-द्रोग्धा । द्रोढा । द्रोहिष्यति-धोच्यति ।
 ङत्वघत्वयोस्तुन्यं रूपम् । अद्रुहत् । अद्रोहिष्यत्-अधोच्यत् । मुह वैचिरये । वैचि-
 र्यम्-अविवेकः । मुखति । मुमोह । मुमुहतुः । मुमुहुः । मुमोहिथ-सुमोगध-सुमोट ।
 मोहिता मोग्धा-मोढा । मोहिष्यति-मोच्यति । मुखतु । अनुखत् । मुखेत् । मुह्यात् ।
 अमुहत् । अमोहिष्यत्-अमोच्यत् । षणुह उद्विरणे । स्नुहति । सुष्णोह ।
 सुष्णुहतुः । सुष्णुहुः । सुष्णोहिथ-सुष्णोगध-सुष्णोट । सुष्णुह्युः । सुष्णुह ।
 सुष्णोह । सुष्णुहिव-सुष्णुह । सुष्णुहिम-सुष्णुह । स्नोहिता-स्नोग्धा-स्नेढा ।
 स्नोहिष्यति-स्नोच्यति । स्नुह्यतु । अस्नुहत्-अस्नोहिष्यत्-अस्नोच्यत् । षिणह
 प्रीतौ । सिह्यति । सिष्णोह । सिष्णिहनुः । सिष्णिहुः । सिष्णोहिथ-सिष्णोगध-
 सिष्णोट । स्नेहिता-स्नेग्धा-स्नेढा । स्नेहिष्यति-स्नेच्यति । सिह्यतु । अस्नि-
 हत् । अस्नेहिष्यत्-अस्नेच्यत् । चृत् । रघादयः समाप्ताः । तुप जुष्टौ । तुप्यति ।
 तुतोप । तोष्टा । तोच्यति । तुप्यतु । दुप वैकृत्ये । दुप्यति । दुतोप । दोष्टा ।

'अतर्पीत्' इत्येकं रूपम् । सिजभावे ॥ 'अताप्सीत्' इति द्वितीयं रूपम् । अमि सति तु
 'अत्रप्सीत्' इति तृतीयं रूपं भवति । पुनरपि पुषाघाङि अतृपत् इति चतुर्थं रूपम् ।
 अत्रप्स्यत् अतप्स्यत्-अतर्पिष्यत् । इत्यादि । इप हर्षमोहनयोः इप्यति । पूर्ववत् ।
 ननु रधादित्वादेव वेट्कावमर्थमनुदात्तता ननु तृप्यति इत्यस्योः पाठो व्यर्थ इत्यत आह-
 रधादित्वादिमौ वेट्को अमर्थमनुदात्ततेति । द्रुह जिघांसायाम्—द्रुहति । द्रुद्रोह ।
 दुद्रुहतुः । दुद्रुहुः । दुद्रोग्धेति । द्रुघातोर्लिटि सिपि थलि 'लिटि धातोः' इति द्वित्वे
 पूर्वस्याभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'दुद्रुह्-थ' इति जाते 'रधादिभ्यश्च' इति इड्विकल्पे
 'पुगन्त' इति गुणे 'दुद्रोहिथ' इति प्रथमं रूपम् । इडभावे 'दुद्रोह-थ' वा द्रुहमुहष्णु-
 हृष्णिहाम्' इति हस्य विकल्पेन ध्रुवे 'क्षपस्तथोर्धोऽघः' इति यस्य ध्रुवे 'क्षलां जश
 क्षशि' इति घस्य गावे 'दुद्रोगध' इति द्वितीयं रूपम् । घस्य विकल्पत्वात् 'हो ङः'
 इति ङत्वे 'क्षपस्तथोः' इति यस्य ध्रुवे 'प्टुना षुः' इति ष्टुत्वेन घस्यापि ङत्वे 'हो ङे
 लोपः' इति पूर्वठस्य लोपे 'पुगन्त' इति गुणे 'दुद्रोट' इति तृतीयं रूपम् । दुद्रुह्युः-

आतुसे पर 'च्छि'को 'सिच्' हो, विकल्पसे । रधादित्वा—रधादि गगमें पठिन होनेसे ये

दोष्यति । दुष्यतु । शिल्प आलिङ्गने । शिल्प्यति । शिल्प आलिङ्गने । ३११ ।
 ४६। शिल्परच्चे कस स्वादालिङ्गने । 'अशिल्पत् कन्या देवदन' । आलि-
 ङ्गने किम् ? ममशिल्पञ्जतु काष्ठम् । प्रत्यासत्ताविह शिल्पि । क्रुध क्रोधे । क्रुध्यति ।
 चुक्रोध । क्रोदा । क्रोत्स्यति । क्रुष्यतु । क्षुध सुमुशायाम् । क्षुध्यति । चुक्षोध ।
 क्षोदा । क्षोत्स्यति । शुध शौचे । शुष्यति । शुशोध । शोदा । शोत्स्यति । पिधु
 सरादौ । सिष्यति । सिषेध । सेदा । सेत्स्यति । अमिधत् । असेत्स्यत् । शमु उप-
 शमे । शमामष्टानां दीर्घः श्यनि । ७। ३। ७४। शम्-तम्-दम्-धम्-धम्-धम्-

दुदुह । दुद्रोह-दुद्रुहिव-दुद्रुहिम । द्रोहिता-द्रोघा-द्रोदा । द्रोहिष्यति-द्रोषयति ।
 द्रुक्षतु । अद्रुषत् । द्रुक्षेत् । द्रुषात् । अद्रुषत् 'पुषाघट्' । अद्रोहिष्यत् अद्रोषयत् । छिष
 आलिङ्गने इति । च्छेरिति 'शल इगुपधा' इत्यत कस इत्यनुवर्तते । तथा च 'शल इगु
 पधा' इत्यनेनैव कसप्रत्यये सिद्धे पुनरपि कसविधानं पुषाघटो बाधनार्थम् । स च
 बाध कसश्च छिषघातोरालिङ्गनार्थं गम्यं पक्षं स्थापनयथा । अश्लिषत्कन्यामिति ।
 छिषघातोर्लुङितिपि 'इतश्चेति' इलोपे च्छौ 'छिष आलिङ्गने' इति कसादेशोऽङ्गस्या
 ङागमे 'अछिप्-सत्' इति जाते 'बदोः क नि' इति पक्षे कश्चे 'आदेशप्रत्यययो'
 इति सकारस्य पक्षे उभयोः संयोगेन चत्वं 'अछिषत्' इति रूपम् । कन्यां देवदत्त-
 इति पदप्रपूरणं तु छिषघातोरालिङ्गनार्थस्फोरणायेति बोध्यम् । देवदत्तकसुं कन्या
 कर्मकं आलिङ्गनानुकूलो व्यापार इति शाब्दबोधः । समश्चिषञ्जतु काष्ठमिति । सम्-
 आङ् पूर्वकात् छिषघातोर्लुङितिपि । इतश्चेति इलोपे च्छौ पुषादिषादङिति समश्चि-
 षत् इति निबद्धम् । अत्र छिष सवोगार्थत्वेनालिङ्गनार्थाभावाच्च कस जतु=लाडा-सा
 च काष्ठलभ्रैषोपपद्यते इति स्थितिः । जतु च काष्ठश्चेति समाहारबुद्धः । प्रत्यासत्तौ=
 सवोगार्थे इति शेषः । छिष सवोगार्थत्वाच्च कस । न च 'छिष आलिङ्गने' इति
 कसाभावे, 'शल इगुपधा' इति कसः स्थाद्य तु पुषाघट् इति चेन्न विप्रतिषेधेन यद्वाचितं
 तदापितमेवेति नियमात् । क्रुध क्रोधे—क्रुध्यति । चुक्रोध । क्रोदा । क्रोत्स्यति ।
 क्रुष्यतु । अक्रुष्यत् । क्रुष्येत् । क्रुष्यात् । अक्रुषत् । अक्रोत्स्यत् । इत्यादि ।
 चुध = सुमुशायाम्-चुष्यति—चुक्षोध-क्षोदा-क्षोत्स्यति-चुष्यतु-अक्षुष्यत्-चुष्येत्-
 चुष्यात्-अचुषत्-अक्षोत्स्यत् । शुध = शौचे = शुष्यति-शुशोध-शोदा-शोत्स्यति-
 शुष्यतु-अशुष्यत्-शुष्येत्-शुष्यात्-अशुषत्-अशोत्स्यत् । पिधु = सरादौ = सिष्यति-
 सिषेध-सेदा-सेत्स्यति-सिष्यतु असिष्यत्-सिष्येत्-सिष्यात्-असिषत्-असेत्स्यत् ।

दोनो (तुप्, इप्) धातु वेद् (विकल्पने इत्को प्राप्त करनेवाले) हैं । केवल भागममान
 होनेके लिये इनका अनुराध धातुभोंमें पाठ है ।

छिष—'छिष' धातुसे पर 'छि'को 'कस' आदेश हो, आलिङ्गन अर्थमें । शमा—शमादि

कम्-मदामचो दीर्घः श्यनि । प्रणिशाम्यति । शशाम । शेमतुः । शेमुः । शेमिथ ।
 शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशमत् । अशमिष्यत् । तमु काङ्क्षायाम् ।
 ताम्यति । तताम । तमिता । तमिष्यति । ताम्यतु । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु
 उपशमे । दाम्यति । ददाम । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदमत् । अदमिष्यत् ।
 अमु तपसि, खेदे च । आम्यति । शशाम । अमिता । अमिष्यति । आम्यतु ।
 अशमत् । अशमिष्यत् । अमु अनवस्थाने । 'वा प्राये'ति श्यन्वा । आम्यति-
 अमति । 'वा जभ्रमुत्रसाम्' । अमतुः-वभ्रमतुः । पुपादित्वाद्द् । अम्रमत् ।
 शेषं भ्वादिष्वत् । क्षमु सहने । क्षाम्यति । चक्षाम । चक्षमतुः । चक्षमुः । चक्षमिथ-
 चक्षन्थ । चक्षमिष्व-चक्षन्व । चक्षमिष-चक्षन्म । क्षमिता-क्षन्ता । क्षमिष्यति-
 क्षंस्यति । क्षाम्यतु । अर्थं न पित् । 'अधितः क्षाम्यतेः क्षान्तिः, क्षमूपः क्षमतेः
 क्षमा' । क्लमु क्लान्तौ । 'छिबुकुनु वमामि'ति दीर्घः । क्लाम्यति । क्लाम । क्लमिता ।
 क्लमिष्यति । क्लाम्यतु । अक्लमत् । अक्लमिष्यत् । मदी हर्षे । माद्यति । ममाद् ।
 मदिता । अमदत् । असु क्षेपणे । अस्यति । आस । असिता । असिष्यति ।
 अस्यतेत्युक् । ७।४।१७। अस्यतेत्युक् स्यात् अडि । 'अस्यती'त्यड् । आस्यत् ।

कमुर्मदी चेत्येतेषी णमाद्य इति स्थितिः । दमु=उपशमे । उपशमो-नाशः इन्द्रि-
 यनिग्रहश्च । शाम्यतीति । शम्वातोर्लटि लिपि दिवादिष्वत् श्यनि । 'शमामणानाम्'
 इति दीर्घे शाम्यति ह्यस्य सिद्धिः । प्रणिशाम्यति । 'नेर्गदनद्' इति नेर्गत्वम् ।
 शशाम-शेमतुः । शमिता । शमिष्यति । शाम्यतु । अशाम्यत् । शाम्येत् । शम्पात् ।
 अशमत् । अशमिष्यत् । तमु काङ्क्षायाम् । ताम्यति । तताम-तेमतुः । तमिता । तमि-
 ष्यति । ताम्यतु । अताम्यत् । ताम्येत् । तम्पात् । अतमत् । अतमिष्यत् । दमु=उपश-
 मे । दाम्यति । ददाम-देमतुः । दमिता । दमिष्यति । दाम्यतु । अदाम्यत्-दाम्येत्-
 दम्पात्-अदमत्-अदमिष्यत् । अमु=तपसि खेदे च । आम्यति-शशाम-अमिता-अ-
 मिष्यति-आम्यतु । अशाम्यत्-आम्येत्-अशाम्यत्-अशमिष्यत् । अमु=अनव-
 स्थाने = आम्यति-वभ्राम-अमिता-अमिष्यति-आम्यतु - अशाम्यत् - आम्येत्-अ-
 म्यात्-अभ्रमत्-अभ्रमिष्यत् । अमु सहने-क्षाम्यति-चक्षाम-क्षन्ता-क्षमिष्यति-
 क्षंस्यति, क्षाम्यतु-अक्षाम्यत्-क्षाम्येत्-क्षाम्यत्-अक्षमत्-अक्षम्यत्-अक्षमिष्यत् । क्मु-
 क्लाम्यति । क्लाम । क्लमिता-क्लमिष्यति-क्लाम्यतु-अक्लाम्यत्-क्लाम्येत्-
 क्लाम्यत्-अक्लमत्-अक्लमिष्यत् । मदी=हर्षे-माद्यति-ममाद्-मदिता-मदिष्यति ।
 माद्यतु-अमाद्यत्-माद्येत्-माद्यत्-अमदत्-अमदिष्यत् । असु=क्षेपणे । अस्यति-आस-
 असिता-असिष्यति-अस्यतु-आस्यत्-अस्येत्-अस्यत् । अस्यतेत्युगिति । 'ऋहसोऽ-

आठ वातु-सम्बन्धी अचो दीर्घं हो, 'इयन्'के परे । अस्य-—'अस्' वातुको 'युक्'का वागम

यसु प्रयत्ने । यसोऽनुपसर्गात् । ३।१।७१। संयसश्च । ३।१।७२। यतोऽनुपस-
 र्गात्, सयसश्च स्थन्वा । यस्यति-यसति । संयस्यति-सयसति । अनुपसर्गा-
 क्तिम् ? प्रयस्यति । जसु शोशणे । जस्यति । जजास । अजसत् । तसु उपशये । दसु
 च । तस्यति । ततास । अतसत् । दस्यति । ददास । अदसत् । वसु स्तम्भे ।
 वस्यति । 'न शसद्दे'ति नियेष । ववास । ववसत् । 'वशादि'रिति मते तु—
 वेसत् । वेसु । व्युप विभागे । व्युप्यनि । वुप्योव । विस प्रेरणे । विस्यति ।
 विवेस । अविशत् । कुस सरलेषणे । कुस्यति । कुकोस । बोसिता । अकुमत् ।
 सुस टक्षणे । सुत्यनि । सुकोस । अकुमत् । मुस मण्डने । मुस्यति । मुमोस ।
 मसी परिणामे । परिणामो—विहार । मस्यति । ममास । अममत् । लुठ बिलो

हि गुणः' इत्यतोऽङ्गि इत्यनुवर्तते । आस्यदिति । आ-अस्-अ-त् इत्यवस्थापाम् 'अस्य-
 तेऽङ्गु' इति धुगागमे क्रियादान्वावयवे 'आटस' इति वृत्तौ 'आस्यत्' इति रूपं
 मयति । आसिष्यत् । 'यसोऽनुपसर्गात्' 'संयसश्च' । सूत्रद्वयमिदम् । 'दिवादिभ्यः रयन्'
 'या घ्राण' इत्यस्य रयनो निवृत्तौ आह-रयन् वा स्यादिति । अनुपसर्गाघस्य रयन्वा
 स्यादिति अचमसुप्रार्थः । सोपर्गाच्चु निये प्व रयन्, अनुपसर्गादिनि पयुंदासात् ।
 संदर्भादित्यनेव रयनि प्राप्ते द्वितीयसुत्रम् । यस्यति-यसति-सयसति-सयस्यति ।
 अत्र वसु मण्डने घात् । प्रयस्यति । अत्र तु न रयन्विह्वलका उपसर्गादितौत् । अमु-
 षोऽन्वे-अस्यति-अजास असिता-असिष्यति-अस्यत्-अजस्यत्-अजेयेत्-अस्यात्-अज-
 सत्-असिष्यत् । तसु-इसु=उपशये=उस्यति-दस्यति । तनास-ददास । तसिता-
 दपिता । तसिष्यति-दसिष्यति । तस्यत्-दस्यत् । अतस्यत्-अदस्यत् । तस्येत्-दस्ये-
 त् । तस्यात्-दस्यात् । अतसत्-अदसत् । 'अतसिष्यत्-अदसिष्यत् । वसु = स्तम्भे-
 वस्यति-ववास-ववसत् । वमिता-वसिष्यति-वस्यत्-ववस्यत्-वस्येत्-वस्यात्—
 अदसत्-अदसिष्यत् । वशादिमते केवलं किति-पेशत्-देश्, इति वैशिष्यम् । व्युप=
 विमाने व्युप्यति-विष्योप-व्युपिता इत्युप्यति-व्युप्यत् अस्युप्यत्-व्युप्येत्-व्युप्य-
 त्-अव्युप्यत्-अव्युप्यत् । विस-प्रेरणे=विस्यति । विवेस । वेसिता-वेसिष्यति ।
 विस्यत्-अविस्यत् । विष्येत्-विष्यात्-अविसत्-अवेसिष्यत् । वुम=शासणे=वुस्यति-
 वुकोस । बोसिता-बोसिष्यति वुस्यत् अवुस्यत् वुस्येत् वुस्यात्-अवुसत्-अबोसिष्यत्
 वुस्यत्-अवुस्यत्=मुस्यति-मुमोस मोसिता मोसिष्यति मुस्यत् अमुस्यत् मुस्येत् मुस्यात्
 अमुस्यत्-अमोसिष्यत् । मसी=परिणामे=मस्यति ममास-मसिता-मसिष्यति-मस्यत्
 अमस्यत्-अमस्यत्-मस्यात्-अमस्यत्-अमसिष्यत् । लुठ बिलोऽन्वे = लुठ्यति-लुठो-

हो, 'अच्' परे । यसो—अनुपसर्गात् 'यच्' घातुषे 'रयन्' प्रत्यय हो, विकल्पते ।
 सयसश्च—'सच्' पूर्वक 'यच्' घातुषे 'रयन्' प्रत्यय हो, विकल्पते ।

उने । लुप्यति । लुलोठ । उच समवाये । उच्यति । गुणः । 'अभ्यासस्यासवर्णे' ।
 उवह् । उवोच । ऊचतुः । ऊचुः । मा भवानुचत् । मृशु भ्रंशु अचभ्यतने ।
 मृश्यति । नमर्श । अमृशत् । 'उनिदितामि'ति नलोपः । अम्रयति । यम्रंश । अम्रयत् ।
 वृश वरणे । मृश्यति । वषर्श । अमृशत् । कृश तनूकरणे । कृश्यति । चकृश ।
 अिवृषा पिपासायाम् । वृष्यति । ततर्ष । हृष तुष्टौ । शयन्नद्यै मौवादिक्वादिशेषः ।
 हृष्यति । जहर्ष । अहृषत् । कृष रिष हिंसायाम् । कृष्यति । करोष । रिष्यति ।
 रिरेष । 'तीपसहे'ति वेट् । रोषिता-रोषा । रेषिता-रेषा । कुप क्रोधे । कुप्यति ।
 चुकोप । गुप व्याकृतत्वे । गुप्यति । जुगोप । लुभ गार्ध्वे । गार्ध्वमाकाङ्क्षा ।
 लुभ्यति । लुलोम । लोभिता-लोब्धा । लोभिष्यति । लुभ्यतु । भ्वादेरवृकृतत्वाल्लोभ-
 तीत्यप्याहुः । शुभ सवकने । लुभ्यति । चुक्षाम । णभ तुप्र हिंसायाम् । क्लिडू आर्दी-
 भावे । क्लिपति । चिक्कर । चिक्रंदिय । चिक्रंय । चिक्रि देव निक्रिड । चिक्रि देम

छोडिता-छोडिष्यति-लुड्यतु-अलुड्यत्-लुड्येत्-लुड्यात्-अलुडत्-अलोडिष्यत् । उच=
 समवाये = उच्यति-उवोच-उचिता-उचिष्यति-उच्यतु-औष्यत्-उच्येत्-उच्यात्-
 औषत्-औचिष्यत्-मृशु-भ्रंशु=अचः पत्रने । मृश्यति-अम्रयति । नमर्श-व-
 भ्रंश । अर्शिता-अर्शिता । मर्शिष्यति । अर्शिष्यति । मृश्यतु-अम्रयतु । अमृ-
 शत्-अम्रयत् । मृश्येत्-अम्रयेत्-मृश्यात्-अम्रयात्-अमृश्यत्-अम्रयत्-अमर्शि-
 ष्यत्-अमर्शिष्यत् । कृश=तनूकरणे-कृश्यति-चकृश-कृशिषा-कृशिष्यति ।
 कृश्यतु-अकृश्यत्-कृश्येत्-कृश्यात्-अकृशत्-अकृशिष्यति । अिवृषा=पिपासा-
 याम् । वृष्यति-ततर्ष-तर्षिता-तर्षिष्यति-वृष्यतु-अवृष्यत्-वृष्येत्-वृष्यात्-
 अवृष्यत्-अतर्षिष्यत् । हृष=तुष्टौ=हृष्यति-अहर्ष-हर्षिता-हर्षिष्यति-हृष्य-
 त्तु-अहृष्यत्-हृष्येत्-हृष्यात्-अहृषत्-अहर्षिष्यत् । रुष रिष-हिंसायाम् । रुष्यति-
 रिष्यति-रुरोष-रिरेष-रोषिता-रोषा-रेषिता-रेषा अत्र 'तीपसहलुमवषरिषः' इति
 वेट् । रोचिष्यति-रोचयति-रेचिष्यति-रेचयति । रुष्यतु-रिष्यतु । अहृष्यत्-अरिष्यत्
 रुष्येत्-रिष्येत्-रुष्यात्-रिष्यात्-अरुष्यत्-अरिष्यत् । अरोचिष्यत्-अरेचिष्यत् । कुप=
 क्रोधे-कुप्यति-चुकोप-कोपिता-कोचिष्यति-कुप्यतु-अकुप्यत्-कुप्येत्-कुप्यात्-
 अकुप्यत्-अकोचिष्यत् । गुपि=व्याकृतत्वे=गुप्यति-जुगोप-गोपिता-गोचिष्यति । गु-
 प्यतु-अगुप्यत्-गुप्येत्-गुप्यात्-अगुप्यत्-अगोचिष्यत् । लुभ-गार्ध्वे=लुभ्यति-लुलोम-
 लोभिता-लोब्धा 'अत्र तीपसह' इतीह विकल्पः । लोभिष्यति-लोभ्यति । लुभ्यतु-अलु-
 भ्यत्-लुभ्येत्-लुभ्यात्-अलुभ्यत्-अलोभिष्यत्-अलोभ्यत् । लुभ=संघकने=लुभ्यति-
 चुक्षाम-क्षोभिता-क्षोभिष्यति-लुभ्यतु-अलुभ्यत्-लुभ्येत्-लुभ्यात्-अलुभ्यत्-अक्षोभि-
 ष्यत् । क्लिडू=आर्दीभावे=क्लिष्यति-चिक्रंय-क्लिषिता-क्लिषा-क्लिष्यति-क्लि-

चिक्रिय । क्रेदिता क्रेता । क्रेदिष्यति क्रेत्स्यति । अमिदा स्नेहने । मिदेर्गुणः ।
 [७।३।८२। मिदेरिवो गुण । स्यादित्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परे । मेयति । मिमेद् ।
 अमिदत् । अदिष्यदा स्नेहन-मोचनयो । दिष्यति । चिदयेद् । ऋधु इदौ ।
 ऋष्यति । आनर्द् । आर्दत् । गृधु अभिकाङ्क्षायाम् । गृष्यति । जगर्द् । अगृधत् ।
 घृत् । गुपादय समाप्ता । इति परस्मैपदिन ।

अथ आत्मनेपदिन ।

घृड प्राणिप्रसवे । स्यते । सुषुवे । 'स्वरती'ति विकल्पं बाधित्वा 'ध्रुक्
 किंती'ति निषेधे । प्राप्ते । कादिनियमाजित्यमिट् । सुषुविषे । सुषुविषे । सुषुविषे ।
 सोता । सविता । सविष्यते । सोष्यते । दूष्ट् परितापे । दूयते । दुदुवे । दीड् क्षये ।
 दीयते । दीडो युद्धञ्च षिडति । [६।१।६३। दीड परस्मात्तादे विस्त आर्ध-
 घातकस्य युट् स्यात् । (घुस्युटाघुघङ्यणोः सिद्धौ यत्तव्यौ) दिदीये ।

स्वति-विलघत्-अविलघत्-विलघेत्-विलघात्-अविलघत्-अविलघत्-अविलघत्-अविलघत्-अविलघत्-
 मिदेर्गुण इति । मिदेर्गुणो भवति इक इत्संज्ञकशकारादौ प्रत्यये परत हायथः । [अमिदा-
 स्नेहने=मेघति-मिमेद्-मेदिता-मेदिष्यति-मेघत्-अमेघत्-मेघेत् मिघात्-अमिदत्-
 अमेदिष्यत् । अचिवदा-स्नेहनमोचनयो चिवद्यति-चिष्वेद्-चवेदिता-चवेदिष्यति-
 चिवद्यत्-अचिवद्यत्-चिवद्येत्-चिवद्यात्-अचिवद्यत् अचवेदिष्यत् । ऋधु=दुदौ=अ-
 र्वति-आनर्ध-अचिता-अचिष्यति-अचिष्यत्-आर्धत्-अर्धेत्-अर्ध्यात्-आर्धत्-
 आर्धिष्यत् । गृधु-अभिकाङ्क्षायां=गृष्यति-अगर्ध-अर्धिता-अर्धिष्यति-गृष्यत्-
 अगृष्यत्-गृष्येत्-गृष्यात्-अगृष्यत् अगर्धिष्यत् । इत्यादि ।

सूते । घृडप्राणिप्रसवे इतो छटि, तादेशे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि
 अनुदासल्लोपे 'टित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्ये 'धात्वादेः च स' इति
 धात्वादे षकारस्य सकारे 'स्यसे' इति रूपम् । असविष्ट । लुञ्छि अटि छस्तादेशे
 ष्टौ, ष्टेः सिञ्चि, सिञ्च आर्धघातुकरवे 'स्वरति' इति विकल्पेनेटि 'सार्वधातुः'
 इति गुणेऽथादेशे 'आदेशप्रायययोः' इति पत्ये च 'असविष्ट' इति । इडमाव-
 पठे-'असोष्ट' इति रूप बोध्यम् । दीडो युद्धञ्च षिडति । 'आर्धघातुके' इत्यधि-
 कृतम् अथा विशेष्यते । तदादिविधिः । दीड इति पञ्चमी । सप्तमी षष्ठ्यर्थे तदाह-
 षीड, परस्येत्यादिना । दिदीये । छिटि तादेशे घातोद्भिवेऽभ्यासात्वे 'इस्व' इति इरथे

मिदे-'मिद्' घातु-सङ्घ-धी 'इक्'को गुण हो, परसङ्घ सकारादि प्रत्ययके परे ।

दीडे-'दीड्' घातुसे पर अर्धादि चित्त-चित्त आर्धघातुको 'घुट्'का आगम हो ।

घुस्यु-यवत् और यन् कर्त्तव्यमे हुक् तथा घुट्का आगम छिड हो रहे (असिड व हो) ।

मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च । ६।१।५०। एपामाएवं ल्यपि, चाद्-अशित्ये-
ज्जिमित्ते । दाता । दास्यते । अदास्त । डीङ् विहायसा गतौ । डीयते । डिउयं ।
पीङ् पाने । पोयते । पिप्ये । माङ् माने । मायते । ममे । माता । प्रीङ् प्रीतौ ।
अकर्मकः । प्रीयते । पिप्रियं । जनीं प्रादुर्भावे । ह्याजनोर्जा । ७।३।७२। अनयोर्जा-
देशः स्यात् शिति परे । जायते । 'गमहनजनेत्युपधाया लोपः । 'स्तोः श्चुना
श्चुः' । जज्ञे । जनिता । जनिध्यते । दीपजनवुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यत्-
रस्याम् । ३।१।६१। एभ्यश्च्लेखिष्वा स्यादेकवचने तशब्दे परे । चिणो लुक्

'दिदोत' इति स्थिते 'लिटस्तज्ञपोरेशिरेच्' इति तत्स्थाने पृक्षि 'दीङो युटश्चि विच्छि' इत्यजादेराधं धातुकस्य युटि प्राप्ते 'प्रनेकाचोऽसंयोगपूर्वस्य' इति परस्वाद्यणि प्राप्ते 'बुभुटानुबहुपणोः सिद्धौ षक्त्यौ' इति नियत्वात् युटि । टकार इत् । उकार उकार-
णायः 'दिदीये' इति सिद्धम् । मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च । 'भादेच उपदेशेऽ-
चिप्रि' इत्यतः आक्षिप्यनुवर्तते । तदाह—एपामाएवं स्यात् रक्षणीति । अदास्त । लुटि
सादेशे षञ्चौ, ष्लेः सिद्धि, 'मीनातिमिनोतिदीङां ल्यपि च' इतीकारस्याचवे 'स्या-
ध्वोरिश्च' इति ह्यादेशे प्राप्ते 'स्याध्वोरिश्च दीङः प्रतिषेधः' इतीश्वरनिषेधे अठि
'अदास्त' इति सिद्धम् । पोयते । पानार्थकात् पीडुधातुस्य लटि, ते टेरेश्वे श्यनि श्वगो-
ऽपिश्वेन 'सार्वधातुकप्रपिप्' इति छिन्नात् 'विच्छति च' इति गुगनिषेधे 'पोयते' पूर्ण
रूपम् । पिप्ये । लिटि ते द्विश्वेऽभ्यासत्वे 'लिटस्तज्ञपोरेशिरेच्' इति एशि 'प्रने-
काच' इति यगि 'पिप्ये' इति रूपम् । जायते—प्रादुर्भावार्यकात् लुप्तानुपन्वकात्
जन्धातोर्लटि सादेशे टेरेश्वे 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि अनुबन्धलोपे 'झाञ-
नोर्जा' इति जन् इत्यस्य स्थाने जादेशे 'जायते' इति रूपम् । जज्ञे । जन्धातोर्लटि
सादेशेऽनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्विश्वेऽभ्यासकार्ये 'ह्लादिः शेषः'
इति नलोपे 'ज जन् त' इति स्थिते 'लिटस्तज्ञपोरेशिरेच्' इति तकारस्यैति 'गमह-
नजनखनघसां कापः विच्छति' इति जन्धानोरुपधाया अकारलोपे 'ज ज् न् ए' इति
स्थिते 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुषे जकारअकारयोः सवोने ज्ञे 'जज्ञे' इति रूपम् ।
दीपजनेत्यादि । 'ऋलेः सिच्' इत्यतः ऋलेरिति 'चिण् ते पदः' इत्यस्मात् चिण् से
इति चानुवर्तते । तदाह—एभ्यश्च्लेखेरिति । चिणो लुगिति । चिग इति पञ्चमी, तदाह-

मीनाति—मीनाति (मोष् हिंसायाम्), मिनोति (डुभिष् प्रक्षेपणे) और 'दीङ्'
धातुको आत्त हो, 'ल्यप्'के परे । चकारात्-एजनिमित्तक अशित् प्रत्ययके विषयमे ।

जाज—'जा' धातु और 'जन्' धातुको 'जा' आदेश हो, शित् प्रत्ययके परे ।

दीप—दीपादि धातुओंसे पर 'चिङ्'को 'चिण्' आदेश हो, एकवचन 'त' शब्दके परे,
विकल्प से । चिणो—'चिण्'से पर 'त' शब्दका लुक् (कोप) हो ।

।दि।।१०७। चिण परस्य 'त' शब्दस्य लुक् स्यात् । 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् । अनिघण्योश्च ।७।३।३५। अनिघण्योश्च न वृद्धिचिणि, ङिति इति च । अजनि । अजनिष्ट । अजनिष्यत् । दीपी दीप्तौ । दीप्यते । दिदीपि । दीपिता । अदीपि । अदीपिष्ट । अदीपियत् । पद् गतौ । पयते । पेदे । पता । पयंत । पतमीष्ट । चिण्ते पद् ।३।१।६०। पदस्त्वलेचिण् स्यात्तशब्दे परे । अपादि । अपत्साताम् । अपत्सत । छिद् दैन्ये । वियते । विवेद । वेत्ता । वेत्स्यते । यिद् सत्तायाम् । वियते । विविदे । वेत्ता । विरसीष्ट । अवित्त । बुध अवगमने । युष्यते । युषुषे । बोद्धा । 'एकाचो वशो भप् क्षपन्तस्ये'ति भप्भाव । भोत्स्यते । भुत्सीष्ट । अभोधि । अबुद्ध । अमुत्साताम् । अभोत्स्यत । युघ संप्रहारे । युष्यते ।

चिण परस्येति । अनिघण्योश्चेति । 'अत उपधाया' इत्यत उपधाया इति 'सृजेवृद्धि' इत्यस्यो वृद्धिरिति बोद्धाचोपदेशस्य इत्यस्यो नेति 'आतो युक्' इत्यत 'चिण्कृतो रि'ति 'अचो ङिति' इत्यस्यो ङिति इति चानुवर्तते तदाह—अनिघण्योरिति । अजनि । अनीप्राप्तुर्भावे घातोलुङि तादेशे ष्टौ 'दीपजन्युषपूरितामिष्याचिरयोऽन्वतरशाम्' इति सूत्रेण ष्टोक्षिण अनुष-घलोपे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'अनि घण्योश्च' इति निषेधे 'जिघृत्ते पद्' इति तलोपेऽपि अजनि इति । चिणोऽभावपदे तु ष्टोक्षिणसि 'आर्षंघातुकर्येद्वषलादे' इति इटि षत्वे 'टु'षे च 'अजनिष्ट' इति रूपम् । अपादि । लुङि तादेशे ष्टौ 'चिण्ते पद्' इति ष्टोक्षिण चणावितौ 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'अत उपधाया' इति वृद्धौ 'अपादि' इति सिद्धम् । निषेधे । विदातोर्लटि तादेशे ट्रेरेष्वे रयनि रयनोऽपिष्वेत 'साधंघातुकर्यपिद' इति द्विषाद् 'विकृति च' इति गुणनिषेधे 'विघृते' इति । बोद्धा । लुटि, तादेशे, तासि तस्य षात्वे टेलीपे 'क्षपस्तथोर्घोऽच' इति तकारस्य षात्वे 'सला जद् सति' इति षण्ठेन इकारे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति गुणे 'बोद्धा'- इति । योत्स्यते । षटि ते रये आर्षंघातुकर्ये इत्यागमाभावे 'एकाचो वशो भप्' इति वस्य भावे लघूपधगुणे 'क्षरि च' इति षात्वे 'भोत्स्यते' इति । भोधि । लुङि अटि तादेशे ष्टौ ष्टोस्तु 'दीपजन्युषपूरितादि०' इति चिण्विकल्पे 'चिणो लुक्' इति तलोपे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति लघूपधगुणे 'अवेधि' इति रूपम् । चिणोऽभावपदे—अबुद्ध । 'हाचो छलि' इति तलोपे 'अपत्सयोर्घोऽच' इति तस्य षात्वे 'सला जद् सति' इति षण्ठेन इकारे 'अबुद्ध' इति रूपं सिद्धम् ।

अति—'अन्' और 'वय'को इ'द नहीं हो, 'चिण्'के परे और निघ-णिघ-किण्के परे ।

चिण्—'पद्' वाच्ये परे 'किण्'को 'चिण्' आदेश हो, पदवचन 'त' उच्येके परे ।

युधुषे । योद्धा । अयुध्यत । युध्येत । युत्सीष्ट । अयुद्ध । अयुत्स्यत । कथं युध्यतीति । युधमिच्छतीति क्यच् । 'अनुदात्तेष्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यमि'ति वा । रुज्ज् विसर्गे । अकर्मकः । सृज्यते । सृज्जे । 'सृजिहृशोर्ज्ञत्वमकित्'त्यभागमः । स्रष्टा । स्रक्ष्यते । स्रक्षीष्ट । 'लिङ्सिच' विति कित्त्वम् । असृष्ट । असृक्षताताम् । मीष्ट् हि-सायाम् । हिंसाऽत्र प्राणवियोगः । मीयते । मिम्ये । मीचताम् । क्षमीयत । मीयेत । मेयीष्ट । अमेष्ट । अमेपाताम् । रीङ् स्रवणे । रीयते । लीङ् श्लेषणे । लीयते ।

युधुषे । युध्धातोर्लिङि तादेशे तकारस्यैशि, धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वादिरोपे 'दुधुषे' इति । अयुद्ध । युध्धातोर्लुङि ते श्लौ, श्लेः सिचि 'लिङ्सिचान्नात्मनेपदेषु' इति क्रिवाद् गुणाभावे 'स्रको स्रळि' इति सिचः सलोपे 'उपस्तयोर्वोऽधः' इति उपस्रधत्वे 'अयुद्ध' इति । ससृजे । सृजधातोर्लिङि तादेशेऽतकारस्यैशादेशे धातोर्द्वित्वे-ऽभ्यासत्वे 'उरत्' इत्यभ्यासश्चवर्णस्य अकारे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'ह्रस्वादिः शेषः' इति रलोपे 'ससृजे' इति रूपम् । ससृजिपे । लिटो मध्यमपुरुषैकवचने शालि 'यासः सेः' इति यासः से इत्यादेशे द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अद्यादेशे रपरे च ह्रते, 'ह्रस्वादिः शेषः' इति रलोपे 'भाषंघातुह्रस्वेद्बलादेः' इति ह्रि प्राप्ते 'पृक्काच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे क्वाङिनिचमाद् इटि, एत्वे च 'ससृजिपे' इति रूपं षोध्यम् । स्रष्टा । सृजधातोर्लुङि तादेशे, शालि, तकारस्य ङात्वे टित्त्वसाजभ्या-वमस्यापि टेलोपे 'सृजिहृशोर्ज्ञत्वमकित्' इति षमि अनुबन्धलोपे मिरवादनञा-दचः परेऽकारे जाते 'सृ ज् अ ता' इति षाप्ते 'ह्रको यणञि' इति षकारस्य रेप्ता-देशे 'अश्रञ्जसृजञ' इति षाप्ते 'प्लुगा प्लु' इति-प्लुत्वेन टकारे 'स्रष्टा' इति । स्रक्ष्यते । लृटि तादेशे स्ये प्रत्यये 'सृज् स्र त' इति स्थिते टेरत्वे 'सृजिहृशोर्ज्ञत्वम-कित्' इत्यमि अनुबन्धलोपे 'मिदचोऽन्वयापरः' इति मिरवेनान्वयादचः परोऽ-कारो जातः, तेन 'सृ अ ज् स्य ते' इति स्थिते 'इको यणञि' इति यणि दास्रत्त्वये इति इनायाम् 'अश्र' इति षाप्ते 'पठोः कः सि' इति षाप्ते 'आदेशप्रत्यययोः' इति षाप्ते कृपसंयोगे छे 'स्रक्ष्यते' इति । स्रक्षीष्ट । सृजधातोराशीर्लिङि तादेशे 'लिङ् सीयुट्' इति सीयुटि उटावित्ता 'सुट् तियोः' इति सुटि उटो जोपे 'अश्रे'ति जस्य षाप्ते 'पठोः कः सि' इति षस्य षाप्ते फारपरफावास्तस्य 'आदेशप्रत्यययोः' इति षाप्ते प्लुत्वे च 'लिङ्सिचान्नात्मनेपदेषु' इति क्रिवाद् 'द्विच्छि' इति गुणनिषेधे 'सृक्षीष्ट' इति सिद्धम् । असृष्ट । सृजधातोर्लुङि धला-त्वे तादेशे ष्ट्रै, श्लेः सिचि तादेशे 'लिङ्सिचान्नात्मनेपदेषु' इति क्रिवाद् गुणाभावे 'स्रको स्रळि' इति सलोपे 'अश्रे'ति जस्य षाप्ते 'प्लुगा प्लु' इति प्लुत्वे 'असृष्ट' इति । मीष्ट् हिंसाबाद् । मीयते । मिम्ये । माता । मात्स्यते । मीपयाद् । क्षमीयत । लीयते । मासीष्ट । क्षमासिष्ट । क्षमास्यत । रीङ् अश्रये । रीयते । रिये । रीता ।

विभाषा लीयते । ६।१।५१ । 'लीयते'रिति यच्चा निर्देशो, नतु श्यना । लीलीभे
रात्त्वं वा स्यादेज्विषये, स्यवि च । लेता । लाता । लेप्यते । लास्यते । एज्विषये
किं ? लीयते । लिल्ये । लीळ् वृणोत्पर्ये । लीयते । विप्रिये । इत्यात्मनेपदिन ।

अयोभयपदिन ।

मृष तितिक्षायाम् । मृष्यन्ति । मृष्यते । ममर्ष । ममर्षिय । ममृषे । ममृषिये ।
मर्षिताधि । मर्षिनासे । मर्षिष्यति । मर्षिष्यते । मृष्यतु । णह् बन्धने । नह्यति ।
नह्यते । ननाह । नेहिय । 'नहो ध' इति ध । ननह । नेहे । नह्या । न स्यति ।
नहस्यते । अनाहसीत् । अनह । रज्ज रागे । 'अनिदितामि'ति नलोप । रज्यति ।
रज्यते । ररज्ज । ररज्ज । ररज्ज्य । रज्ज्का । शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते ।
शशाप । शेपतु । शेपु । शेपे । शेपाते । शक विभाषितो मर्षणे । विभाषित इति
समयपदीत्यर्थे । शक्यति, शक्यते, हरि द्रष्टुं मक् । शशाक । शोकिय । शशाक्य ।
शोके । शका । शक्यति । शक्यते । पुषादित्वाद् । अशकत् । अशक । सेट्कोट्

रेष्यते । रीषताम् । अरीषत । रीषेत । रीषीष्ट । अरीष्ट । अरेष्यत । लीङ् रलेषणे ।
लीङ्गते । शिष्ये । विभाषा लीयतेरिति । लीयतेरित्यनेन लीलीहोमृणम् । अत आह-
लेता-लाता अग्रैर्ननिमित्तत्वेन चैकविषये आत्वे रूपद्वयसुस्पष्टमेवेति भावः । लास्यते-
लेप्यते । लीयताम् । अलीयत । लीयेत । लेयीष्ट-लासीष्ट । अलासीत-अलेष्ट । अला-
स्यत-अलेप्यत । लीळ् वृणोत्पर्ये । लीयते । विप्रिये अत्रेयद् संयोगेन यणभावात् ।
मेता । मेप्यते । मीयताम् । अमीयत । मीयेत । मेयीष्ट । अमेष्ट । अमेप्यत । इत्यादि ।

ममर्ष । मृषधातोर्लिटि त्रिपि णलि धातोर्द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'वरत्' इति रपरेऽदा-
देशे 'हलादि षोप' इति रषयोर्लोपे 'पुगन्ते'ति गुणे 'ममर्ष' इति । ननाह ।
लिटि त्रिपि णलि अनुषण्वलोपे द्वित्वे कृतेऽभ्यासत्वे हलादिशेषे 'अत उपधाया'
इति वृद्धौ 'ननाह' इति । अनारसीत् । लुङि अटि त्रिपि ष्ली सिञ्जादेशे
'अस्तिषितोऽपृच्छे' इति ईटि 'वदमग्रहकम्बस्याच' इति हलन्तत्वमाधिरय वृद्धौ
'नहो ध' इति हस्य धकारे 'खरि च' इति घस्य तकारे 'अनारसीत्' इति रूपम् ।
आत्मनेपदे-अनह । रज्ज=रागे=रज्यति-रज्यते । अत्र रयनः शिष्येण सार्वधातु-
स्वारास्रसर्वधातुकरत्वेन अपिष्ये च शिष्यात् 'अनिदिताम्' इति नलोपो बोध्यः । ररज्ज ।
ररज्जे । रजिता । रजिष्यति-रजिष्यते । रज्यतु-रज्यताम् । अरज्यत्-अरज्यत ।
रज्येत् । रज्जीव । रज्यात् । रज्जिषीष्ट । अरजिष्ट अरज्जीत् । अरजिष्यत् । अरजिष्यत ।
शप आक्रोशे । शप्यति । शप्यते । शशाप-शोपे । शक=विभाषितोऽमर्षणे । विभाषि-
तस्वमुसवपद्यादम् । तेन भावयति शाक्यते । शाकाक शोके । शक्य । शक्यति शक्यते ।

विभाषा-ली और लीळ् धातुको भास्य हो, 'पच्'के विषयमें, 'स्यप्'के परे, विकल्पते । शक-मर्ष

यमित्येके । तन्मते नाऽनित्केषु लुदित्पठितः । शक्तिता । शक्तिष्यति । शक्तिष्यते ।
इति दिवादिप्रकरणम् ॥ ४ ॥

अथ स्वादिप्रकरणम्

पुञ् अमिषवे । अमिषवः-लपनं, पीडनं, ज्ञानं, सुरासन्धानं च । तत्र
स्त्रानेऽकर्मकः । स्वादिभ्यः श्नुः । ३।१।७३। स्वादिभ्यः श्नुः स्यात् कर्त्तरि सार्व-
धातुके । शपोऽपवादः । सुनोति । सुनुतः 'हुश्नुवोरिति यण् । सुन्वन्ति ।
सुनोषि । सुनुषः । सुनुय । सुनोमि 'लोपश्चास्ये'ति प्रत्ययोतो लोपः । सुन्वः-
सुनुवः । सुन्मः-सुनुमः । सुनुते । सुन्वाते । सुन्वते । सुनुषे । सुन्वाथे । सुनुषे ।
सुन्वे । सुन्वहे-सुनुवहे । सुन्महे-सुनुमहे । सुपाव । सुपुवे । सोता । सोता ।
साध्यति । सोध्यते । सुनोद् । 'उतश्च'ति हेर्लुक् । सुनु । सुनवानि । सुनवाव ।
सुनवाम । सुनुताम् । सुनवै । सुनवावहे । सुनवामहे । असुन्वि । सुनुयात् ।
स्यात् । सोषाष्ट । स्तुसुधून्भ्यः परस्मैपदेषु । ७।२।७२। एभ्यः सिच इट् स्यात्प-
रस्मैपदे । असावोत् । असोष्ट । अभिपुनोति । 'प्राक्षिस्तादि'ति पत्वम् । अभ्य-

शक्यतु-शक्यताम् । अशक्यत् । अशक्यत । शक्येत्-शक्येत । शक्यात् । शक्योष्ट ।
पुष्पादिस्वादिः अशकत् । अशक्त । अशक्यत् । अशक्यत । इत्यादि । इति दिवादिः ।

स्वादिभ्यः श्नुरिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे स्वादिभ्यः श्नुः स्यादित्यर्थः । सुनोति ।
पुञ् अमिषवे धातुतो लटि तिपि 'स्वादिभ्यः श्नुः' इति शनौ शलोपे, 'धात्वादेः पः
सः' इति धात्वादेः पस्य सकारे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च 'सुनोति'
इति रूपम् । सुन्वः, सुनुवः । धत्र 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इति वकारलोपवि-
कल्पः । एवम् सुन्मः, सुनुमः । सुपाव । पुञ्धातोर्लिटि, तिपि णलि द्वित्वेऽभ्यासाथे,
धात्वादेः पस्य सत्वे 'अचो ङिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'सुपाव' इति रूपम् । सुपु-
वतुः, सुपुवुः । सुपुविय-सुपोय । सुपुवथुः, सुपुव । 'सुपाव, सुपव, सुपुदिव, सुपु-
चिम । आत्मनेपदे-सुपुवे । स्तुसुधून्भ्य इति । 'इट्थ्यति' इत्यत इडित्यनुवर्तते ।
'अञ्जेः सिचि' इत्यतः सिजित्यनुवृत्तं पठया विपरिणम्यते तदाह-एभ्यः सिच इति ।
असावोत् । लुङि ऋटि तिपि ङ्लौ, ङ्लेः तिचि 'स्तुसुधून्भ्यः परस्मैपदेषु' इति इति
ण (सहन) अर्थमे 'शक्' धातु उभयपदी द्वे ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामे दिवादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

स्वादि-स्वादि-गणपठित धातुभासे 'श्नु' प्रथम्य हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।
स्तुसु-स्तु-सु-धू- इन धातुभासे पर 'सिच'को इट हो, परस्मैपदके परे ।

पुनोत् । सुनोते स्वसनो । ८।३।११७। स्वे, मनि च पर सुन सत्य दो न
 स्यात् । विमोध्यति । पिञ् च-धने । विमिनोति । मिगुते । मिशाय । सिष्ये ।
 चिञ् चयने । प्रणिचिनोति । चिनुते । विभाषा च्चः । ८।३।५८। अभ्यासाच्चे
 कृत्व वा स्यात् सनि, लिटि च । चिकाय । चिकाय । चिक्य । चिथ्ये । अचै
 यीत् । अचोष्ट ॥ स्तृञ् आच्छादने । स्तृणोति । स्तृणुते । तस्तार । तस्तरत् ।
 तस्तरत् । 'अतश्च गयोगादेरिति गुण । तस्तरैः । 'गुणोर्त्वा'नि गुण । स्तार्यात् ।

'अस्तित्वोऽपृच्छे' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धि' परस्मैपदेषु
 इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च 'असादीत्' इति रूपम् । आत्मनेपदे—अष्टोष्ट ।
 अमिपुणोति । अमि-सुनोति-इत्यवस्थापाम् 'उपसर्गात्सुनोति' इति पर्ये 'अट्
 कुप्वाळ' इति ण्ये च कृते 'अमिपुणोति' इत्यस्य सिद्धिः । अम्यपुणोत् । अत्रा
 दागमव्यवधानेऽपि 'अट्स्यास्यवायेऽपी'ति पत्वे ण्ये प्रोक्तरूपस्य सिद्धिः ।
 सुनोतेरिति । सुनोते परतः स्वसनोः सतो सत्य पत्वं नैःपर्यः । विमोध्यति ।
 'दि-सोप्यति' इत्यवस्थापाम् 'उपसर्गात्' इति प्राप्त पत्वं 'सुनोते स्वसनो' इत्यनेन
 निषिष्यते इति भावः । तेन विसोप्यतीत्यत्र न पक्षमिष्यर्थः । पिञ् च-धने ।
 सिनोति । विसिनोति—अत्र न पत्वं 'उपसर्गात्' इति सूत्रे सस्याप्रहणादिति भावः ।
 चिनोति । चिञ् चयने धातोर्लिटि निषि 'रवादिभ्यः रनु' इति रनौ सलोपे रनोर-
 पित्वेन 'सार्वधातुक्रमदित्' इति लिट्, लिङ्वात् आवाङ्कारस्य 'सार्वधातुकार्ध-
 धातुकयो' इति प्रासस्य गुणस्य अभावे, त्रिषः पित्वेन रनोरकारस्य 'सार्वधातुक्र-
 मधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'चिनोति' इति रूपम् । आत्मनेपदे-चिनुते । विभाषा
 चेरिति । 'अत्रो कु विण्वतो' इत्यतः कुप्रहणमनुवर्तते । 'अभ्यासाच्च' इत्यतः
 अभ्यासादिति, 'सन्धिदोर्जे' इत्यतः सन्धिदोरिति च । तदाह—अभ्यासादित्यादिना ।
 चिकाय । चिञ् धातोर्लिटि त्रिवि निषो णलि धातोर्द्विष्येभ्यासत्ये, 'विभाषा च्च'
 इति कृत्वेन चकारस्य काले 'चि कि अ' इति स्थिते 'अचो म्णिति' इति वृद्धौ
 आचारेणो च 'चिकाय' इति साधु । कुप्वाभाये—विचाय । तस्तार । स्तृञ्धातो
 र्लिटि त्रिवि णलि अनुबन्धलोपे 'लिटि धातो' इति धातोर्द्विष्येभ्यासत्ये 'उरत्'
 इति अद्यास्यकारस्य अदादेशे उपर च 'सर्पूर्वाः स्याः' इति स्याः दोषेऽर्थात्
 सलोपे 'ह्लादिः द्वेव' इति सलोपे 'त स्तृ अ' इति स्थिते 'अतश्च मयोगादेर्गुण'
 इति गुणे उपरे 'त स्तर् अ' इति, स्थिते 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सार्था 'तस्तार'

सुनोते —'स्व' और 'सन्'के परे 'सुञ्' बाहु-सम्बन्धी सकारको बन्ध नहीं हो ।

विभा-अभ्याससे पर 'चि' बाहु सम्बन्धी चकारको कृत्व हो, सन् और लिट्के परे,
 विकल्पसे ।

ऋतश्च संयोगादेः । ७।२।४३। ऋदन्तात्संयोगादेर्लिङ्सिचोरिड् वा स्यात्तडि ।
 स्तरिपोष्ट । स्तृपीष्ट । अस्तरिष्ट । अस्तृत । धून् कम्पने । धूनोति । ध्रुते ।
 दुधाव । दुधुवे । अधोवीत् । अधोप्यत् । धून् कम्पने । धूनोति । ध्रुते । 'स्वर-
 तिसृती'ति वेट् । दुधविष । दुधोथ । किति लिटि तु । अथकः किति । ७।२।११।
 श्रिव, एकाच उगन्ताश्च—गित्कितोरिण्ण स्यात् । इति प्राप्ते । कादिनियमाभित्य-
 मिट् । दुधुविव । दुधुविम । अधावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट । कृन् हिंसायाम् । कृणोति ।
 कृणुते । चकार । चकथे । चक्रे । क्रियात् । कृपाट् । अकार्पात् । अकृत ॥ कृन्

इति । ऋतश्च संयोगादेरिति । 'लिङ्सिचोरात्मनेपदेषु' इत्यनुवर्तते । 'इट् सनि वा' इत्यत-
 इट् धेति, तदाह—ऋदन्तादिरपादिना । स्तरिपोष्ट । आशिपि लिङि, लिङ्स्तादेशे सीयु-
 ङागमेऽनुबन्धलोपे 'सुट्तिथोः' इति सुटि ङडावितौ 'ऋतश्च संयोगादेः' इति विक-
 षपेक्षेति हृत्ते 'गुणोऽतिसंयोगाघोः' इति गुणे ङभयोः सकारयोः पार्वे ष्ट्वे 'स्तरिपोष्ट'
 इति । इडभाषपसे—'उश्च' इति क्तिच्वाद् गुणभावे 'स्तृपोष्ट' इति । अस्तार्पात् । लुङि-
 अटि त्रिपि च्छौ, च्छेः सिचि 'अस्तिस्त्रिचोऽपृक्त्वे' इति ईटि 'वयद्वज्र' इति वृद्धौ
 विपः इलोपे 'अस्तार्पात्' इति सिद्धम् । इटोऽभावात् 'नेटि' इति वृद्धिनिषेधो
 नास्तृक्क्यः । अस्तरिष्ट, अस्तृत । धारमनेपदे—लुङि अटि तादेशे च्छौ सिचि, अनु-
 बन्धलोपे 'सावंधातुकार्धधातुक्रयोः' इति गुणे 'ऋतश्च संयोगादेः' इति इटि
 पार्वे ष्ट्वे च 'अस्तरिष्ट' इति । इडभावे च्छेः सिचि 'उश्च' इति क्तिच्वाद् गुणभावे
 'ह्रस्वाद्भावात्' इति सिचो लोपे, अटि 'अस्तृत' इति । धूनोति । धून् कम्पने धातो-
 ङटि त्रिपि रनौ रनुव उकारस्य 'सावंधातुकार्धधातुक्रयोः' इति गुणे 'धूनोति' इति ।
 धारमनेपदे—ध्रुते । दुधाव । लिटि त्रिपि ङलि द्विषेऽभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वत्वे
 'अभ्यासे चर्ष' इति धस्य ङशवेन ढ्वे 'हु धू थ' इति ङगायाम् 'अथो ङिति'
 इति 'कृताकृतप्रसङ्गे विधिर्निरयः' इति न्यायेन निरयत्वात् वृद्धौ आवि 'दुधाव' इति ।
 अथकः किति । अत्र 'एकाच ङपदेशे' इत्यत एकाच् इति 'नेट्वाक्षि कृति' इत्यतो
 नेट्वाक्षिपनुवर्तते । तदाह—इट् नेति । अभावात् । लुङि, लुङिः स्थाने त्रिपि अनुबन्धलोपे
 विपः इकारलोपे 'जन् त्' इति जाते च्छौ, च्छेः सिचि 'स्तृषुधून्म्याः परस्मैपदेषु'
 इति सिचः परस्वाक्षिपमिति 'अस्तिस्त्रिचोऽपृक्त्वे' इति विपस्तकारस्य ईटि, 'इड
 ईटि' इति सलोपे 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ आवि ङटागमे 'क्षयत्सि'
 इति । धारमनेपदे लुङि—मपविष्ट, अपोष्ट । ध्रज 'स्वरसि' इति चेट् । कृणोति । कृन्
 हिंसायाद्—छंङि त्रिपि 'स्वादिभ्यः कृन्ः' इति रनौ सुप्ते 'अहर्जाणस्य ङत्वं ङाप्यम्'
 इति ङत्वे 'कृणोती'ङि रूपम् । ऋतमनेपदे 'ध्रुते' इति रूपम् । अकार-चक्रे ।

ऋतश्च—संयोगादि ऋदन्त बाणुत्ते पर 'लिङ्' गौर 'त्विच्'कोः ह्वागम इति, 'तङ्'के
 परे, दिक्वसते । अथकः किति—थिम् एकाच् गौर उगन्त धातुषो से पर गिव-किव

वरणे । वृणोति । वृणुते । वभूयाऽऽततन्वजगृम्भववर्थेति निगमे । ७।२।६५।
 एपा वेदे इहभावो निपात्यते । तेन माषाया यलोट् ; ववरिय । ववृव । ववृम ।
 ववृवहे । 'वृतो वा' । वरीता । वरिता । लिङ्सिचोरात्मनपद्मेषु । ७।२।४२। इह
 वृञ्म्यामृदन्ताच्च परयोर्लिङ्सिचोरिद् वा स्यात्कि । न लिङि । ७।२।३१। वृतो
 लिङ इतो न दीर्घ । वरिषीष्ट । वृषीष्ट । अवारोत् । अवरिष्ट-अवराष्ट । अत्र न ।
 अवरिष्यत्-अवरीष्यत् । दुहु उपतापे । दुनोति । दुनुत । दुन्वन्ति । दुदाव ।
 दोता । द्वि गतौ, इदा च । द्विनुमीना । ४।२।१५। उपसर्गस्याङिमितात्परस्यैतयो

कर्ता । करिष्यति-करिष्यते । कृणोतु-कृणुताम् । अकृणोत्-अकृणुत् । कृणुयात्-
 कृष्वीत् । क्रियात्-कृषीष्ट । अकार्षीत्-अकृत् । वृञ् वरणे । वृणोति-वृणुते । ववार-
 वव्रे । वरिता-वरीता । वरिष्यति । वरिष्यति । वरिष्यते-वरीष्यते । वृणोतु-वृणुताम् ।
 अकृणोत्-अकृणुत् । वृणुयात्-वृष्वीत् । वभूयति । निगमे-वेदे । वभूय-आततन्व
 जगृम्भ-ववर्थ-पते निपाता, स्युः । अतो वृञ् भातो, लिटि परत् यकि 'ववर्थेति'
 निपात् । किन्तु तादृशगुणविशिष्टेऽगमरहितो निपात् केवल वेदे प्व प्रसज्यते न तु
 शौकिके प्रयोगे, अत आह-लोक इति । 'ववरिय' 'ववृष' इति रूपद्वय यकि परत् ।
 अन्यथा 'अतो भारद्वाजस्य' इति निषेधापत्ते । किञ्चिनोरिति 'वृतो वे'त्यत, 'वृकृ
 म्यामृदन्ताच्चेति' लभ्यते इद्वेपनुष्यते, अत आह-वृञ्म्यामिति । वरिषीष्टेति ।
 वृ-सी-स्-त' इति जाते 'लिङ्सिचो' इति इटि गुणे रपरत्वे इवमयो सस्य पादे
 प्लुवे 'वरिषीष्ट' इति रूपम् । अन्यथा इहागमाभावे किरत्वेन गुणाभावे 'वृषीष्ट' इति
 द्वितीय रूप प्रभवति । अवारोत् । अवरिष्ट । अकृत् । अत्र 'इत्वाद्वात्' इति सिचो
 लुकि 'उष्' किरत्वेन गुणामावरचेति याव । न लिङोति । 'वृतो वे'त्यत वृत् इति ल
 भ्यते शीघ्रं नेति विधान न लिङोति निषेध । तेन परिषीष्ट । इत्यादौ न दीर्घः । दुहु-
 उपतापे । दुनोति । दुदाव । दविता । दविष्यति । दुनोतु । अदुनोत् । दुनुयात् ।
 दूयात् । अदावीत् । अद्विष्यत् । द्विनुमीनेति । उपसर्गस्याङिमितात् परस्यैति लभ्यते ।
 अनुविकरणाद् द्विभातो । रनाविकरणात्प्रमाघातोर्नस्य णत्व मवति स नकार उपसर्गस्य

प्रत्ययको इद् का आगम नहीं हो । वभूया-वभूय, आततन्व, जगृम्भ और ववर्थ इन वेदके
 प्रयोगोंमें इद्का अभाव निपातन हो । लिङ्सिचो-इह, वृञ् तथा दीर्घ अकारान्त
 पाठमोंसे पर लिङ् और सिचुको इद्का आगम हो, तच्छे परे, विकल्पसे । न लिङि-'इह',
 वृञ् और दीर्घ अकारान्त पाठमोंसे पर लिङ् सम्बन्धी इद्को दीर्घ नहीं हो ।

द्विनुमीना-उपसर्गस्य निमित्तसे परे 'द्वि' और 'मीना' सम्बन्धी नकारको
 अकार हो ।

र्न्स्य णः स्यात् । ग्रहिणोति । हेरचडि । ७।३।५६। अभ्यासात् परस्य हिनोते-
 र्हस्य कुर्वं स्यान्नतु चडि । जिघाय । आप्ल् व्याप्तौ । आप्नोति । आप्नुतः ।
 आप्नुवन्ति । आप्नुवः । आप्ना । आप्नुहि । लुदित्त्वाद् । आपत् । शक्लु शक्नौ ।
 शक्नोति । शशाक । अशकत् । राध-साध संसिद्धौ । राध्नोति । राधो हिंसा-
 याम् । ६।४।१२३। राधो हिंसायाम् एस्वाभ्यासलोपौ स्तः, किति लटि, सेटि यलि
 च । अपरेधतुः । अपरेधुः । रेधिय । राद्धा । साध्नोति । ससाध । साद्धा । असा-
 त्सीत् । असाद्धाम् । असात्स्यत् । जिघृषा प्रागल्भ्ये । धृष्णोति । दधर्ष । धर्षि-
 ता । दग्धु दग्धने । 'अनिदितामि'ति नलोपः । दग्ध्नोति । ददग्ध । (अन्धिय-
 अन्धियदग्धिभस्वञ्जीनां लिटः किरवं वा ।) किरवपत्ने नलोपः । तस्याऽऽभी-
 यत्वादसिद्धत्वेनैत्त्वाभ्यासलोपयोरप्राप्तौ— (दग्धेश्च एत्त्वाभ्यासलोपौ वक्त-
 व्यौ ।) देभतुः । ददग्धतुः । देभुः । ददग्धुः । दग्धिष्यति । दग्ध्यात् । तृप
 प्रीणने । क्षुभ्नादिषु च । ८।४।३९। क्षुभ्नादिषु नस्य न णत्वम् । तृप्नोति ।
 ततर्प । तर्पिता । अशू व्याप्तौ, संघाते च । अश्नुते । अश्नोतेश्च । ६।४।७२।

रेफपकारपरश्चेत् । ग्रहिणोतीति । प्रपूर्वकाद् हि घातोः वर्तमाने लटि त्रिपि रनौ गुणे
 'हिनुमीना' इति णत्वे 'ग्रहिणोति' इति रूपं सिद्धयति । हेरचडि । 'चजोः कुं' इति
 सूत्रास्फुरित्यनुवर्तते । 'अभ्यासाच्च' इत्यतः अभ्यासादिति । 'हो हन्तेः' इत्यतो ह इति
 षड्वन्तमनुवर्तते । जिघायेति । हि घातोः लिटि त्रिपि णलि 'लिटि घातोः' इति द्वित्वे
 पूर्वस्वाभ्यासत्वे 'अभ्यासे चर्चे'ति चर्त्वे 'हेरचडि' इति अभ्यासात्परस्य हकारस्य
 कुत्वेन वकारे वृद्धौ आयादेशे 'जिघाय' इति । अपरेधतुरिति । 'अप् = रध्-रध्-अतुस्'
 इत्यवस्थायां 'राधो हिंसायाम्' इत्यनेनैत्त्वाभ्यासलोपे रुत्वधिसर्गे 'अपरेधतुः' इति ।
 क्षुभ्नादिषु चेति । क्षुभ्नादिगणपठितानां घातूनां णत्वं नेत्यर्थः । तृप्नोतीति । तृप
 प्रीणनेऽस्माद्धटि त्रिपि रनौ गुणे 'ऋवर्णाञ्चस्य' इति णत्वे प्राप्ते 'क्षुभ्नादिषु च' इति
 सूत्रेण णत्वनिषेधे प्रोक्तं रूपं सिध्यति । ततर्प-तर्पिता-असा-तर्षा-इत्यादीनि रूपाणि
 बोध्यानि । अशू व्याप्तौ संघाते च । अश्नुते । अश्नोतेश्चेति । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य'
 इत्यतोऽभ्यासस्येत्थनुवर्तते । 'तस्मान्नुद्' इति च । तच्छब्देन 'अत आदेः' इत्यनेन-

हेरचडि—अभ्याससे पर 'हिनोति' के हकारको कुर्व हो, चल्के परे छोड़कर । राधो-
 हिंसार्थक 'राध्' वातुको एस्वाभ्यास लोप हो, कित् लिट् सेट् यल्के परे ।

अन्धिय—अन्ध, अन्ध, दग्ध और स्वञ्च वागुसे पर ओ 'किट्' वह कित् हो, विकल्पसे ।

'दग्धेश्च'—'दग्ध' वातुको एस्वाभ्यासलोप हो, कित् किट् सेट् यल्के परे । क्षुभ्ना—

दीर्घादभ्यासावर्णात्परस्य नुं स्यात् । आनये । अशित्त । अथेति यः । अथा । अशिष्यते । अद्यते । अरनुताम् । आरनुत । अरनुवीत । अशीष्ट । अशिषीष्ट । आशिष्ट-आष्ट । आक्षाताम् । आशिष्यत-आद्यत । इति स्वादय ॥ ५ ॥



अथ तुदादिप्रकरणम्

तुद् व्यनने । तुदादिभ्यः श । ३।१।७७ शपोऽपवाद । तुदति । तुदत । तुदते । तुतोक्ष । तुतोदिय । तुतुदे । तोना । तोत्स्यति । तोत्स्यते । तुदतु । तुदताम् । अतोक्षीत् । अतस्त । तुद प्रेरणे । तुदति । तुदने । तुनोद । तुनुदे । नोता । नोत्स्यति । नोत्स्यते । अस्ज पाके । 'प्रहिउयावयो'ति संप्रसारणम् । सस्य रतुत्वेन शः । तस्य जश्त्वेन ज । मृजति । मृजते । अस्जो रोपघपो रमन्य तरस्याम् । ६।४।४७ अस्जे रेफस्योपभाषाश्च स्थाने रमागमो वा स्यादाधेयातुके । मिरवादन्यादश्च परः । स्थानबद्धोनिर्देशादोपधयोर्निवृत्तिः । बमर्ज । बमर्जतु ।

कृतदीर्घा अक्षातः पराभ्युपपत्ते, तदाह—दीर्घादिति । आनये । अक्षधातोर्लिटि तद्धि धातोर्लिटि हे इत्यादिरेषे 'अत्त आदेः' इत्यभ्यासाकारदीर्घे 'अभोत्वेण' इति नुटि 'किररतद्यपोः' इत्येनादेशे 'आनयो' इत्यस्य सिद्धिः । इति स्वादि ।

तुदादिभ्यः श इति । कप्रथमे सार्वधातुके परे तुदादिभ्यः श स्यात् स्वार्थे इत्यर्थः । तुदति । तुदधातोर्लिटि, तिपि, तिपः सार्वधातुकरथे 'तुनन्दकभूपचरय च' इति लभूपधगुण याचिरवा निपायात् 'तुदादिभ्यः शः' इति श्लेष्णे लस्य अक्षिपत् 'सार्वधातुकमपित्' इति -द्विवाद् गुणाभावे 'तुदति' इति रूप सिद्धम् । अतोक्षीत् । लुकि तिपि श्ले सिद्धि इत्यो लोषे तिप हकारलोपे 'अक्षिपित्तोऽभूत्' इति वृत्ति 'वदमज' इति वृद्धौ 'अदि च' इति अर्थे अलपथे च 'अतोक्षीत्' इति । आरमभेपदे—अतुत्त । अरयो रोपघोरिति । अरत्त इत्यक्षयपदी । रोपघपोः इति स्वा मबद्धी, रथ उपधा च तयोर्लिति सिद्धम् । रेफाकार इत्यभ्यासाय ३ रेफस्य उपभाषाश्च स्थाने इति कस्यते 'आधेयातुके' इत्यधिकृतम्, तदाह—अस्जे रेफस्येत्यादिना । मिरवादन्यादश्च पर इति । 'मिरवोऽन्यादश्च परः' इति परिभाषयेति भावः । बमर्ज ।

अस्मादि गणपठितके नकारको गत्व नहीं हो । अरयो—'मन्' धातुका अग्याससम्बन्धी दीर्घ आकारसे पर 'नुट' का भागम हो ।

इत्यनकार 'इन्दुमयी' श्लोकाने स्वाक्षिपकरण समाप्त हुआ ।

तुदा—तुदादि गणपठित धातुकोसे 'श्' प्रत्यय हो । अरयो—'अरत्' धातुके रेफ जोर

वभर्जुः । वभर्जिष । वभर्ष्ट । रममावपत्ते-वभ्रज । वभ्रजतुः । वभ्रजुः । वभ्रजिष ।
 'स्को'रिति सलोपः । 'व्रधे'ति षः । वभ्रष्ट । वभर्जे । वभर्जाते । वभर्जिरे । वभ्रजे ।
 वभ्रज्जाते । वभ्रजिजरे , भर्ष्ट । भ्रष्टा । भ्रष्ट्यति । भ्रष्टयति । (क्लिष्टिति रमा-
 गमं चाधित्वा संप्रसारणं पूर्व्वक्षिप्रसिधेयेन ।) भृज्ज्यात् । भृज्ज्यास्ताम् ।
 भृज्ज्यासुः । भर्क्षीष्ट । भ्रक्षीष्ट । अभर्क्षीत् । अभ्रक्षीत् । अभर्ष्ट । अभ्रष्ट ।
 अभ्रष्ट्यत् । अभ्रष्टयत् । अभ्रष्ट्यत । अभ्रष्टयत । कृषविलेखने । कृषति । कृषते ।
 कृष्ये । कृष्ये । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' । कृष्टा । कृष्टी ।
 कृष्टीष्ट । 'स्पृशभृशे'ति सिञ् वा । पक्षे षः । सिञि अभ्या । अक्राक्षीत् । अक्रा-

अस्त्धातोर्लिटि तिपि, तिपो णलि 'लिटि धातोः' इति धातोर्द्विवेभ्याससंज्ञायां
 'अस्त् अस्त् अ' इति स्थितौ 'हलादिः शेषः' इति हलो लोपे 'अ अस्त् अ' इति
 जाते 'अभ्यासे षर्च' इति मकारस्य षकारे विहिते 'अ अस्त् अ' इति स्थिते
 'अस्त् शोपधयो रमन्यतरस्याम्' इति, रेफस्य उपधाभूतसकारस्य च स्थाने रमि
 प्राप्ते 'सिद्धोऽन्त्यापरः' इत्यभ्यादेशात् मकारान्तगताकारात्परस्यैव रमागमे
 अमानितौ लोपे च स्थानबद्धीर्णिकात् रेफस्योपधाभूतसकारस्य च निवृत्तौ 'यभर्ज'
 इति रूपम् । रमोऽभाषपक्षे तु 'अस्त् अस्त् अ' इति स्थिते हलादिशेषे 'अभ्यासे
 षर्च' इति मस्य षर्चं रच्यतेन सत्त्वं ह्यत्वे 'अच्छां षष् छशि' इति षस्य षशब्देन
 जाते 'यभर्ज' इति रूपम् । अभाषीत् । अभाषीष । लुङि षटि तिपि षलौ सिपि
 इत्थावितौ लोपे च रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'अच्छ' इति षस्य षत्वे 'षतोः का ति'
 इति षस्य षत्वे तस्य षत्वे तिप हकारलोपे इति 'ददधध' इति वृद्धौ 'अभाषीत्'
 इति । रमोऽभाषपक्षे तु 'स्कोः' इति सलोपे षस्य षत्वे षस्य षत्वे लिङ्गः षस्य षत्वे
 कृष्संयोगे च 'वद्वज' इति वृद्धौ 'अभाषीत्' इति । अमर्ष्ट । लुङि षटि तादेशे
 षलौ सिञि रमि रोपधयोर्निवृत्तौ च 'अच्छो षलि' इति तिचः सकारस्य लोपे 'अच्छ'
 इति षस्य षत्वे ष्टुत्वे 'अमर्ष्ट' इति । रमोऽभाषे ते षलौ सिपि 'अच्छो षलि इति
 सलोपे षस्य षत्वे ष्टुत्वे 'स्कोः' इति धातोरादेशः सकारस्य लोपे 'अभ्रष्ट' इति
 रूपम् । लृङि—अभ्रष्टयत्, अभ्रष्टयत्, आरमनेपक्षे-अभ्रष्टयत्, अभ्रष्टयत् इति ।
 चर्कणं क्लिटि तिपि णलि 'द्विवेभ्याससंज्ञे' 'अरत्' इत्यभ्यासस्रकारस्य अकारे रपरे च
 'हलादिः शेष' इति रेफपकारयोर्लोपे 'कृहोरचु' इति कस्य चत्वे 'पुगन्त' इति
 लघूपधगुणे 'अकथं' इति रूपम् । अक्राक्षीत् । कृष्धातोर्लुङि षटि तिपि अनुबन्धलोपे
 तिप हकारलोपे षलेः । सिञि प्राप्ते तं अभाष्य 'स्पृशभृशकृषवृषहपां षलेः सिञ्वा
 चाषवा' इति धातिकेन कैकक्षिपके षलेः सिपि इत्थावितौ लोपे च 'अनुदात्तस्य चर्दुं'

उपधाके स्थानमे 'रम्'का प्रागम हो, आर्षधातुके परे, सिद्धस्यते । लिङिति—'द्विवेभ्यासं'

क्षीत् । अक्षन् । अक्षत् । अक्षताताम् । अक्षत । अक्षते-अक्षत । अक्षता
 ताम् । अक्षन्त । मित् सद्गमे । मिलति । मिलते । मिमेल । मिमिते । मेलिता ।
 अमेलीत् ॥ मुच्ल मोक्षणे । शे मुचादीनाम् । ७।१।५९। मुच्लुप्विद्लिप्सि-
 च्छतविद्विषा नुम् । मुञ्चति । मुञ्चते । मुमुचे । मोक्ता । मोक्षयति । मोक्षयते ।
 मुञ्च्यात् । 'लिङ्गसचा'विति धितम् । मुञ्चोष्ट । अमुचत् । अमुक्त । अमक्षताताम् ।
 लुप्ल छेदने । लुम्पति । लुम्पते । लुलाप । लुलुपे । लोता २ । लोप्स्यति ।
 लोप्स्यते । अलुपत् । अलुप्त । विद्लु लामे । विदति । विन्दते । विवेद ।
 व्याघ्रभूमिमते छेत् । वेदिता २ । वेदिप्यति । वेदिप्यते । माध्यमतेऽनिट् । परिवे-
 ता । परिवर्जने । ज्येष्ठ परिवर्ज्य दारानग्नीष लन्धवानित्यर्थं । पिच क्षरणे ।
 सिञ्चति । सिञ्चते । सिपेच् । सिपिचे । 'लिपिसिचो'त्यद् । असिचत् । तञ्चि तु

इति वैकल्पिकेऽभि'अ कृ भम् प्सत्' इति स्थिते मस्येऽसञ्चार्यां लोपे च मिवाङ्गन्या-
 दच परे अक्षपरश्चात् 'इको यणचि' इति यणि 'अकृप्सत्' इति जाते 'पठोः कः
 सि' इति घातो यस्य कश्चे 'आदेशप्रथययोः' इति सिच सकारस्य परे 'कृयसंयोगे
 चकारे 'अस्तिसिचोऽपृक्त' इति ईटि अनुबन्धलोपे 'वदनम्लन्तस्याचो' इति
 हलन्तत्वमाश्रित्य वृद्धौ 'अक्राचीत्' इति रूपम् । अमोऽभावपक्षे तु 'हलन्तलक्ष-
 णार्था वृद्धौ अकाञ्चीत् इति । सिचोऽभावपक्षे—'शल इगुपचादनिट् वस' इति च्ले-
 कसादेशे 'लक्षकनद्धिते' इति कस्येऽसञ्चार्यां लोपे च 'पठोः कः सि' इति यस्य कश्चे
 'आदेशप्रथययोः' इति वसत् सस्य पक्षे गुणामाये 'अकृचत्' इति । अमेळोद । लुङि
 अटि तिपि तिप इकारलोपे च्छौ च्ले सिचि 'पुगान्तलवृपचस्य च' इति गुणे 'आर्षं
 धानु' इति इटि 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति ईटि 'इट् ईटि' इति सलोपे 'अमेळोद'
 इति । शे मुचादीनामिति । नुम् स्यादिति दोषपूरणमिदम् । 'इदितो नुम्' इत्यस्यस्य
 नुवृत्तेरिति भावः । मुञ्चति । मुञ्चते मोक्षणे धानुनो लटि तिपि अनुबन्धलोपे 'बुदादिभ्य-
 स्' इति दोऽनुबन्धलोपे शिष्यादपिष्येन द्विवाद् गुणामाये, 'शे मुचादीनाम्' इति
 नुमि अनुबन्धलोपे 'नश्चापदान्तस्य' इति अनुस्वारे परसवर्णे च जाते 'मुञ्चति' इति ।
 अमुचत् । मुच्ल्वातोऽलुङि अटि तिपि अनुबन्धलोपे च्छौ 'पुपादिघृताप्लुदित' इति
 च्लेरङि द्विवाद् गुणामाये 'अमुचत्' इति । अमुक्त । लुङि अटि तादेशे च्छौ च्ले-
 सिचि 'अ मुच् स् त' इति स्थिते 'सल्लो सलि' इति सलोपे 'चोः कृ'
 इति चस्य कश्चे 'अमुक्त' इति । लिपिसिचीति । लिपि सिचि ह्य ष्यां समाहारङ्गङ्गात्प-
 ञ्चान्येकवचनम् । 'च्लेः सिच' इत्यतः च्लेरिति 'अस्यतिवक्षिष्यातिभ्य' इत्यतोऽ-
 ङिति चानुबन्धते । तदाह—एभ्य इति । असिचत् । लुङि अटि तिपि तिप इकारलोपे
 आर्षं धानुचके परे रमागमको वाचकत्वं पूर्वप्रतिषेधेन सम्प्रसारण ही हो । शे मु—पुषादि

पा-असिचत । असिक ॥ लिप उपदेहे । उपदेहो-वृद्धिः । लिम्पति । लिम्पते ।
लिलेप । लिलिपे । लेप्ता । लेप्स्यति । लेप्स्यते । 'लिपिसिचिहुरचे'त्यद् । अलिपत् ।
अलिपत । अलिप्त ॥ इत्युभयपदिनः ॥

अथ परस्मैपदिनः ?

कृती छेदने । कृन्तति । चकर्त्त । कर्त्तिता । 'सेऽसिचो'ति वेद् । कर्त्तिष्यति ।
कर्त्स्यति । अकर्त्तीत् । खिद् परिदेवने । सिन्दति । चिखेद । खेत्ता । खेत्यति ।
पिश अवयवे । पिशति । पिपेश । पेशिता । औन्नश्चू छेदने । 'प्रहिज्या' ।
वृश्ति । लिट्यभ्यासस्येति सम्प्रसारणं-रेफस्य ऋकारः । 'उरत्' । तस्य 'अचः पर-
स्मिन्'ति स्यानिबद्धावाच 'सम्प्रसारणे सम्प्रसारण'मिति वस्योत्वं न- । वत्रथ ।
वत्रथिय । वत्रथ । व्रथिता । व्रथा । व्रथिष्यति । व्रथयति । वृश्तु । वृश्च्यात् ।

एषी लिपिसिचिहुरश्च इत्यसि अनुबन्धलोपे लिङ्वाद्गुणे 'असिचत्' इति । असिचत ।
लुङि सादेशे एषी 'क्षारमनेपदेव्यस्यरस्याम्' इति एतेरसि अटि अनुबन्धलोपे
लिङ्वाद् गुणामादे 'असिचत' इति रूपम् । एङ्मादे एषी, एलेः सिचि 'एलो अटि'
इति सिचः एलोपे 'खोः कुः' इति कुत्वेऽटि 'असिक्त' इति । चकर्त्त । कृती छेदने घातो-
र्लिङि तिपि णळि अनुबन्धलोपे द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'कुहोरुत्' इति कस्य एरदे
'पुगन्त' इति गुणे 'अथो रदाभ्यां द्वे' इति रेफापरस्य सकारस्य द्वित्वे 'अकर्त्त'
इति । लुङि-अकर्त्तोऽ । लुङि अटि तिपि ठिप इकारलोपे एषी, एलेः सिचि 'क्षार्ध-
वातुकस्येह' इति इटि 'अस्तिसिचः' इति इटि 'इट इटि' इति सलोपे 'पुगन्त'
इति गुणे 'वद्वञ्ज' इति वृद्धौ प्रासायां 'नेटि' इति निविद्धे 'पुगन्तळवूपबस्य च'
इति गुणे 'अकर्त्तीत्' इति रूपम् । वृश्ति । ओन्नश्चू छेदने इति घातोर्लिङि तिपि षोऽनु-
बन्धलोपे शस्यापिरथेन 'सावँवातुकमपित्' इति लिङ्वात् 'प्रहिज्या' इति सम्प्र-
सारणे पूर्वरूपे च 'वृश्चति' इति रूपम् । वत्रथ । ओन्नश्चू घातोर्दुबन्धलोपे लिङि
तिपि णळि घातोर्द्वित्वे 'लिटवभ्यासस्योभयेषाम्' इति सम्प्रसारणे पूर्वरूपे च 'वृश्च-
वृश्च' इति स्थिते 'उरत्' इति अभ्यासऋवर्णस्य अदादेशे रपरे 'वर्श्च वृश्च' इति
इति जाते 'हलादिः षोषः' इति हसलोपे 'वत्रञ्ज' इति रूपम् । वत्रथिय । लिङि यलि
घातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'लिटवभ्यासस्योभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे
'वृश्च वृश्च' इति जाते 'उरत्' इत्यभ्यासऋवर्णस्यादादेशे रपरे च कृते 'हलादिः
षोषः' इति हस्यो लोपे 'स्वरतिमूयतिधूभूदितो वा' इति ऊदित्वात् यल इडाग-
मे 'वत्रथिय' इति रूपम् । इङ्मावपदे-घातोर्द्वित्वे 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्'
इत्यभ्यासस्य सम्प्रसारणे पूर्वरूपे अभ्यासऋवर्णस्य 'उरत्' इति अदादेशे रपरत्वे च

षाट्ठको नुमागम.इो, 'अ' प्रत्ययके परे ।

अवधीत् । अशाशीत् । अयच्च व्याजोकरणे । विचति । विभ्याच । विविचतु ।
 विविचुः । व्यविता । व्यचिष्यति । विच्यात् । अभ्यादीन् । अभ्यचीन् । 'व्यचे
 कुटादित्वमनसो'ति तु नेह प्रवर्तते, 'अनसो'ति पर्युदासेन कृन्मात्रविषयवात् । उच्छि
 उच्छे । 'उच्छ कणरा आदानं कणिशायजनं शिलमि'ति यादयः । उच्छति ।
 उच्छञ्चकार । उच्छ्रिता । उच्छ गनोन्द्रियप्रलम्भिभावेषु । 'छे च' । उच्छति ।
 'श्रच्छन्पृतामि'ति गुण परस्वाणस्यपि भवति । द्विहृत्प्रहणस्यानेकदलुपलक्षण
 र्वाभ्युत् । आनच्छं । आनच्छंत्तु । अच्छिता । उज्ज उ'सर्गे । उज्जति । उज्जा-
 च्चकार । लुभ विमोहने । लुभति । लुभेत् । 'तोपमदे'ति वेट् । लोभिता । लो-
 न्या । लोभित्वनि । लुप लृप्फ लृप् । लुपते । लुपय । लुपिता । अतर्पीत् ।
 लुप्फति । शस्य विस्वादिनिदितामिति नलोप । (शे लृप्फादीनां नुस्वाच्यः ।)

'हलादि शेष' इति हलो लोपे सात्वस्यामिदावात् 'रहोः सपोमापो' इति सलोपे
 'मश्रमरज' इति चकारस्य चादे 'ष्टुना ष्टु' इति यस्य टादे 'वमश्र' इति ।
 विचति । व्यच्चातोर्लिटि त्रिवि शेऽनुषङ्गलोपे मित्रादपिस्वेन 'सावंबातुकमपिच'
 इति क्त्वात् 'महिष्या' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'विचति'
 इति रूपम् । विष्वात् । व्यच्चातोर्लिटि त्रिवि णळि घातोर्द्विवेऽप्यासात्वे 'डिच्यस्या
 ससपोमयेषाम्' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'वि व्यच् अ' इति
 आते 'अत उपमाया' इति वृद्धौ 'विष्वाच' इति रूपम् । मश्रावात् अभ्यचीत् । लुकि
 अटि त्रिवि ष्टौ विचि ह्वाञिञौ तपोर्लोपे च 'ज घंबातुकप्येष्ट' इति इटि त्रिप
 हलोपे 'अरितसिचोऽष्टके' इति ईटि 'इट ईटि' इति सलोपे 'भगो हलादेर्लोपो'
 इति विकल्पेन वृद्धौ 'आयाचोत्' इति । वृद्धपमावे 'अभ्यचीत्' इति । व्यचे कुटादिरव
 मिति । 'व्यचेः कुटादिरवमनसि' इत्यस्याय प्रकृतिर्न भवति । पर्युदासेन अस्यमिन्ना
 ससहस्यस्य कृष्णपयस्येव महगात् । उच्छति । उच्छिवातोरनुषङ्गलोपे नस्मात् लटि
 त्रिवि शेऽनुषङ्गलोपे इदिस्यात् 'इदितो नुम् फासो' इति नुमि अनुषङ्गलोपे मित्रा
 वन्पादच परे नुमोऽनुस्वारे परसङ्गे च कृते 'उच्छति' इति रूपम् । आनच्छं । 'उच्छ
 घातोर्लिटि त्रिवि णळि अनुषङ्गलोपे घातोर्द्विवेऽप्यासात्वे 'श्रच्छ् श्रच्छ अ' इति
 आते 'उरय' इति अस्मात्प्रकारस्य मश्रादेशे 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे च आते
 'हलादिः शेष' इति हलो लोपे 'अ श्रच्छ अ' इति स्थिते 'अत आदे' इति
 अभ्यासस्य आत्वे 'नस्मान्नुद्दिहल' इति द्विहृत्प्रहणस्यानेकदलुपलक्षणवाभ्युत्
 अनुषङ्गलोपे 'आ न् श्रच्छ अ' इति आते 'श्रच्छ'युताच्च' इति गुणे रपरे
 'आनच्छं' इति रूपम् । लोभिता, लोभ्या । लुभघातोर्लिटि त्रिवि लासि सस्वाच्यः

शे लृ-श्रच्छादि वातुर्भो को नुमागम हो, 'अ' प्रायम के परे ।

आदिशब्दः प्रकारे । प्रकारो भेदसादृश्ये । तेन येऽत्र नकारानुपकारे तम्फादयः । तत्तम्फ । तृप्फ्यात् । मृडं मुखने । पृडं च । मृडति । पृडति । ममर्हः शुन गतौ । शुनति । शुशोन । इष इच्छायाम् । 'इषुगमो'ति छः । इयेष । 'तीपेति वेट् । एपिता । एष्टा । एषिष्यति । इष्यात् । ऐषीत् । ऐषिष्यत् । कुट कौटिन्ये । 'गाङ्कुटादी'ति ङित्त्वम् । चुकृटिय । चुक्रेट । चुकृट् । कुटिता । पुट संश्लेषणे । पुटति । पुपोट । पुटिता । स्फुट विरुषने । स्फुटति । पुस्कोट । स्फुटिता । स्फुर स्फुल मधलने । स्फुरति । स्फुञ्जति । स्फुरतिस्फुलत्यांनिर्निविभ्यः । ८।३।७६। निर्निविभ्यः परयाः स्फुरतिस्फुलत्याः सस्य पत्वं वा स्यात् । निःस्फुरति । निःस्फुरतीत्यादि । णू स्तवने । 'परिणूतगुणोदयः । नुवति । नुवतः । न्वन्ति । नुनाव । नुविता ॥ इति कुटादयः ।

टुमस्त्रा शुद्धौ । मञ्जति । ममञ्ज । 'मस्त्रिनशो'रिति नुम् । (मस्त्रेणन्त्यानपूर्वो नुम्वाच्यः ।) संयोगादिलोपः । ममङ्क्ष्य । ममञ्जिज्य । मङ्क्ता ।

धातुकारे 'तीपसहलुभरुपरिपः' इति इद्भिकषपे 'पुगन्त' इति गुणे तिपो ङावे टिकोपे च 'लोमिता' इति । इद्भावे 'क्षपस्नयोर्धोऽघः' इति तस्य धावे 'झलां जङ् झशि' इति मस्य धावे 'पुगन्त' इति गुणे लोब्धा । इच्छति । इष इच्छायां धातोर्लिटि तिपि गोऽनुबन्धलोपे 'इषुगमियमां छः' इति षकारस्य छकारे 'छे च' इति तुक् अनुबन्धलोपे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति श्चुत्वेन चकारे 'इच्छति' इति रूपम् । छिटि-इयेष । छिटि तिपि णळि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'हकादिः शेषः' इति हलो लोपे 'इ इप् ष' इति जाते 'अभ्यासस्यासवर्णे' इति इपळि 'इयेष' इति । स्फुरतिस्फुल्योरिति । 'मूषं न्य' इत्यधिकृतम् । 'सिवादीनां वा' इत्यतो वेत्यनुवर्तते । तदाह—पावं वा स्यादिति । निःस्फुरति निःस्फुरति । निरपूर्वंकस्फुरभातोर्लिटि तिपि से 'स्फुरतिस्फुल्योर्निर्निविभ्यः' इति । धातोस्कारस्य वा धावे 'निःस्फुरति' इति, तद्भावे तु 'निःस्फुरति' इति । नुनाव । णूधातोर्लिटि तिपि णळि अनुबन्धलोपे धातोर्द्वित्वेऽभ्यासकार्यं 'कृताः कृतप्रसङ्गो विधिर्निरयः' इति नित्यात्वात् 'अचो ष्णिति' इति वृद्धौ 'नु नौ ष' इति जाते 'पञ्चोऽयवाषावः' इति भावि 'नुनाव' इति रूपम् ।

ममञ्ज । मस्त्रधातोर्लिटि तिपि णळि 'मस्त्र् ष' इति जाते 'लिटि धातोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हकादिशेषे 'म मस्त्र् ष' इति जाते श्चुत्वेन सस्य धावे 'झलां जङ् झशि' इति अरावे 'ममञ्ज' इति रूपम् । मङ्क्ता । मस्त्र् धातोर्लिटि

स्फुर—निर, नि और नि' बनसर्गते पर 'स्फुर' और 'स्फुळ' धातुके सकारको पक्ष हो, विकल्पसे ।

मस्त्रे—'मस्त्र' धातुके अन्त्य (अकार) से पूर्व नुम् हो ।

मद्दयति । 'चो कुरि'ति कृत्वेन जस्य ग । तस्य 'तरि चे'ति कः । 'अनुस्वारस्य ययो'र्यनुस्वारस्य ङ । अमाङ्गीत् । अमाङ्काम् । अमाङ्क्षु । रुजो भङ्गे । रुजति । रुजोञ् । रोक्ता । रोदयति । अरोक्षोत् ॥ भुजो कौटिल्ये । भुजति । भुजोञ् इत्यादि रुजिवत् । विशा प्रवेशने । विशति । विवेश । वेश । अविशत् । मृश आमर्शने । आमर्शनं-स्पर्श । मृशति । ममर्गं । मृश । मर्श । मद्दयति । मदर्शति । मृशतु । अमृशत् । मृशेत् । मृश्यात् । 'अनुदात्तस्य चर्दुपधे'र्यम् । 'सृशामृश'ति च्ल सिञ्चा । अम्राक्षोत् । अमर्शात् । 'शल इगुपधे'ति क्तः । अमृशत् । पद्दत् विश

तिपि तासि अनुबन्धलोपे तिपो ङात्वे टेलोपे अमपङ्कपरे 'मस्तिन्नकोष्ठंकि' इति सूत्रेण धातोरन्यादश्च परे जुमि प्राप्ते 'मस्त्रेरन्यात्पूर्णे जुम् वाच्यम्' इति धातुिक वक्षात् अनुबन्धलोपे 'रको' इति कलोपे 'चो कु' इति जस्य गावे 'खरि च' इति गस्य क्त्वेऽनुस्वारे परसवर्णे च कृत्वे 'मङ्कका' इति । अमाङ्गीत् । मस्त्रचात्तोलुङ्कि भटि तिपि तिप इकारलोपे ष्टे तिपि इवावितौ तिपोऽपृक्तकारस्य इति 'मस्तिन्न कोष्ठंकि' इति जुमि 'मस्त्रेरन्यात्पूर्णे जुम् वाच्यम्' इति धातुिकवक्षात् सकारात्परे जाते 'रको सयोगाघो' इति सस्य कोपे 'वद्वममहलन्तस्याप' इति जस्य गावे 'खरि च' इति गकारस्य क्त्वे 'मन्नापदात्तस्य झकि' इत्यनुस्वारे 'अनुस्वारस्य यमि परसवर्णे' इति परसवर्णे 'आदेशप्रत्यययो' इति सस्य गावे 'अमाङ्गीत्' इति । अरोक्षोत् । लुङि भटि तिपि ष्टौ सिचि 'अस्तिचि' इति इटि 'चोः कु' इति जस्य गावे 'खरि च' इति गस्य क्त्वे तिपि इलोपे सकारस्य पात्वे कृप् सयोगे च 'वद्वमम' इति ष्टौ विहितानां 'अरोक्षोत्' इति रूपम् । आमर्शनं इति । आमर्शनं स्पर्श । मृश । मृशधातोलुङि तिपि अनुबन्धलोपे तासि तिपो ङात्वे टेलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' इति विकल्पेन जमि अनुबन्धलोपे मित्रात् 'मिचोऽन्यात्परा' इति नियमेन अन्यात्च परे जाते 'शु अ वा स आ' इति मूने 'इको रजचि' इति यमि अनुबन्धलोपे 'मन्नापदात्तस्य' इति पात्वे ष्टुत्वे च 'मृश' इति । अमोऽमावपधे 'पुगमत्तल्लूपचस्य च' इति गुणे 'मर्श' इति रूपम् । अम्राक्षोत् । मृशधातोलुङि भटि तिपि अनुबन्धलोपे ष्टौ 'सृशामृशकृपदृपदृपां ष्टे' सिञ्चा वाच्यम्' इति धातुिकेन विकल्पेन ष्टे तिपि अनुबन्धलोपे 'अनुदात्तस्य चर्दुपध स्यान्न्यतरस्याम्' इति वैकशिरकेऽमि मलोपे 'शु अ वा स ति इति स्थिते तिप इलोपे यमि 'मन्ना' इति पात्वे 'पढो क सि' इति परस्य क्त्वे सस्य गावे 'अस्तिचि' इति इटि 'वद्वमम' इति ष्टौ 'मन्नापदात्तस्य' इति रूपम् । अमोऽमावपधे वैकशिरके ष्टेः तिपि कृत्वे हलन्तल्लक्षणदृष्टौ अमाङ्गीत् । इति । सिञ्चभावे च 'शल इगुपधात्' इति ष्टेः स्थाने वसादेशोऽनुबन्धलोपे 'मन्ना' इति पात्वे 'चोः कः ति' इति सस्य

रणगत्यवसादनेषु । विशरणं—दुःखम् । 'पात्राध्वे'ति सीदादेशः । सीदति । सदि-
रप्रतेः । ८।३।६६। निषीदति । न्यषीदत् । सदेः परस्य लिटि । ८।३।११८।
सदेरभ्यासात्परस्य सस्य पत्वं न स्याल्लिटि । निपसाद् । ससाद् । सेदतुः । सेदुः ।
सेदिय-ससत्य । सता । सत्स्यति । लुदिस्वादङ्-असदत् । शद्लु शतने शदेः
शितः । १।३।६०। शिद्धाविनेऽस्मान्नडानी स्तः । शीयते । शीयताम् । शशीयत ।
शीयेत । शशाद् । शता । शस्यति । अशदत् । अशस्यन् । कृ विक्षेपे । ऋत्
इद्धातोः । ७।१।१००। ऋदन्तस्य धातोरङ्गस्य इ-स्यात् । किरति । (इत्त्वोच्चा-
भ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन ।) वृद्धिः । चकार । चकरतुः । चक्रुः । 'वृत्तो
च्चा' । करिता । करीता । 'हृदि चे'ति दीर्घः । कीर्यात् । अकारीत् । किररौ

कावे कापरङ्गत्वात् सस्य पदे कृप्संयोगे से 'अमृश्व' इति । सीदति । पदधातोर्लटि
तिपि शे अनुबन्धलोपे 'पात्राध्वान्' इति सद्ः सीदादेशे संयोगे च कृते 'सीदति'
इति रूपम् । शदेः शित इति । 'अनुदात्तछित' इत्यतः आत्मनेपदमित्यनुवर्तते । श
इय यस्य सः शिव् । शप् विवक्षितः । गिति विवक्षिते सतीत्यर्थः । तिङ्प्रत्ययेः पूर्व
साधंघातुकाश्रयस्य शपोऽसम्भवात् । तदाह—शिद्धाविन इति । शीयते । शद्लु शतने
इति धातोर्लटि 'सदेः शित' इति आत्मनेपदत्वे ते समागते 'शुदाविभ्यः शः' इति
शेऽनुबन्धलोपे 'पात्राध्वान्' इति सद्ः स्थाने शीयादेशे 'लिटि आत्मनेपदा-
नाम्' इति टेश्च 'शीयते' इति । ऋत् इद्धातोरिति । ऋत् इति धातोर्विशेषणम् ।
तदन्तविधिः । अङ्गस्येयधिकृषम् । तदाह—ऋदन्तस्येति । किरति । कृविषेपे धातोर्लटि
तिपि शेऽनुबन्धलोपे 'ऋत् इद्धातोः' इति ऋत् इद्धादेशे 'वृष्ण् रपरः' इति रपरे च
कृते 'किरति' इति रूपम् । अकारौ । लुङि लटि तिपि तिप इलोपे ऋत् ष्लेः तिषि,
अनुबन्धलोपे 'आधंघातुकं शोवः' इति सिच आधंघातुकसंज्ञायाम् 'आधंघातुकस्ये-
ङ्' इति सिचः सस्य इटि अनुबन्धलोपे 'अस्तिस्विषोऽपृक्ते' इति तिपस्वकारस्य
ईटि 'इट् ईटि' इति सलोपे 'अकः सवर्णं दीर्घं' इति इकारस्य ईकारेण सह शीर्षे

सदिर—'प्रति' भिन्न 'सद्' धातुके सकारको पकार हो ।

सदेः परस्य—मन्याससे पर 'सद्'के सकारको पकार नहीं हो 'लिट्'के परे ।

शदेः शितः—शिद्धाधी 'शद्' धातुसे 'सद्' और 'आन' हो ।

ऋत्—(दीर्घ) ऋदन्त धातुके अङ्ग (ऋ) को 'इत्' हो ।

—हृको—हृत् और वृत्की अपेक्षया पूर्वविप्रतिषेधेन गुण और वृद्धि ही हों ।

किररौ—'उप' उपसर्गसे पर 'क' धातुको सुधागम हो, छेदन अर्थ यदि गम-
मान रहे ।

लक्षणे । ६।१।११४। उपास्किरते सुट् स्याच्छेदनेऽपि । उपास्किरति । (अडभ्यास-
 व्यवायेऽपि सुट्कारपूर्वं इति एकव्यम् ।) उपास्किरत् । उपवस्कार ।
 हिंसायां प्रतेश्च । ६।१।११५। उपाप्रतेश्च किरते सुट् स्यात् हिंसायाम् । उपास्कि-
 रति । प्रतिस्किरति ॥ ग् निगरणे । अचि विभाषा । ८।२।२१। गिरते रेफस्य
 लत्व वा स्यादजादौ प्रत्यये परे । गिरति । गिलति । जगार । जगाल । जगमिष ।
 जमलिय । गरिता । गराना । गलिता । गलीता । प्रच्छ ज्ञो-सायाम् । 'प्रहि
 ज्ञे'ति संप्रसारणम् । पृच्छति । पप्रच्छ । पप्रच्छतु । पप्रच्छु । प्रथा । प्रदयति ।
 अप्राक्षीत् ॥ इति पररमैपदिन ।

'सिचि वृद्धिः पररमैपदेषु' इति वृद्धौ 'अकारोत्' इति रूपम् । उपास्किरति । 'उपास्
 प्रतिषाने' इत्यतस्तदनुपुच्छेरिति भाष । सुक्ति । 'सुट्कारपूर्वं' इत्यतस्तदनुपुच्छे
 रिति भाष । उपास्किरति । 'उप किरति' इति स्थिते 'किरतो लवने' इति सुटि उदा-
 यितौ टिवादाद्यावयवे 'उपास्किरति' इति । 'अडभ्यासव्यवायेऽपि' इति वार्तिकम् ।
 'सुट् कारपूर्वं' इत्यनुवृत्तिलक्ष्यम् । उपास्किरत् । इत्यत्र 'उप अ किरत्' इति दशायां
 'अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कारपूर्वं इति एकव्यम्' इति वार्तिकनाश्वयधाने सायनि-
 ककारात्पूर्वं सुदागमे विहिते 'उपास्किरत्' इति रूपम् । उपवस्कार । 'उप अकार इत्य-
 वस्यायाम्' अडभ्यासव्यवायेऽपि सुट् कारपूर्वं इति एकव्यम्' इति अडभ्याससञ्ज्ञक-
 व्यवधानेऽपि कारपूर्वमेव सुटि जाते 'उपवस्कार' इति । हिंसायां प्रतेश्चेति । अकारा
 कुपादिति समुच्चोयते, तदाह—उपादिति । उपास्किरति । 'उप किरति' इति स्थितौ
 'हिंसायां प्रतेश्च' इति सुटि उपास्किरति, प्रतिस्किरति इति । अचि विभाषेति ।
 'प्रो यद्धि' इत्यत्र प्र इत्यनुवर्तते । 'कृपो रो ल' इत्यतो रो ल इति, तदाह—
 गिरतेरिति । पृच्छति । प्रच्छघातोर्लिटि त्रिपि दोऽनुबन्धलोपे शर्यापरिषेन 'सार्वधातुक-
 मपिद्' इति लिङ्वात् 'प्रोहिउया' इति सप्रसारणे 'सप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे
 पृच्छति । पप्रच्छ । प्रच्छघातोर्लिटि त्रिपि णळि अनुबन्धलोपे घातोद्विस्वेऽभ्यासावे
 'लिटवभ्यासस्वोभयेषाम्' इत्यभ्यासस्य सप्रसारणे पूर्वरूपे उरदावे रपरे च इत्यादि-
 र्शेषे 'पप्रच्छु' इति रूपम् । अप्राक्षीत् । प्रच्छघातोर्लुङि अटि त्रिपि ष्ठी सिचि
 'प्रश्न०' इति छुरस्य पाठे 'पदोः कः सि' इति परस्य कश्चे सस्य पाठे त्रिप
 इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्के' इति ईटि 'वदप्रश्न०' इति वृद्धौ 'अप्राक्षीत्' इति ।

अडभ्यास—'अट्' और 'अभ्यास' के व्यवधानमें भी 'उप' से पर 'कृ' बातुको सुट् हो
 और वह 'सुट्' ककारसे पूर्व हो—पेसा कहना चाहिये । हिंसा—'उप' तथा 'प्रति' उपसर्गने
 पर 'कृ' वा 'ऽ' 'सुट्' हो, हिंसा अर्थमें । अचि—'ग' बातुके रेफको 'लत्व' हो, अभादि
 प्रत्ययके परे ।

अथाऽऽत्मनेपदिनः ।

डङ् आदरे । आद्रियते । आद्रे । आदद्रिपे । आदत्ता । आदरिष्यते । घृङ्
 अवस्थाने । ध्रियते । दध्रे । मृङ् प्राणत्यागे । म्रियते लुङ् लिङोश्च । १।३।६१ ।
 लुङ् लिङोः शितश्च प्रकृतिभूतान्मृडस्तहानौ, नान्यत्र । द्विर्बन्धस्वार्थम् । 'रिङ् शयग्लि-
 ङ्ङु' । इयङ् । म्रियते । ममार । ममर्थ । मम्रिन् । मम्रिम । मर्त्ता । मरिष्यति ।
 गृपीष्ट । अमृत । अमरिष्यत् । पृङ् व्यायामे । प्रायेणायं 'व्याङ्' पूर्वः । ज्यागियते ।
 व्यापप्रे । व्यापप्राते । व्यापरिष्यते । 'ह्रस्वादङ्गादि'ति सिज्जलोपः । व्यापृत । व्यापृपा-
 ताम् । जुषीं प्रीतिसेवनयोः । जुषते । जुषुपे । जोषिता । ओचिजी भयसन्नलनयोः । प्राये-
 णायमुत्पूर्वः । उद्विजते । विज इट् । १।१।२ । विजेः पर इडादिप्रत्ययो द्विजत् स्यात् ।
 उद्विजिता । उद्विजिष्यते । ओलजी ओलस्जी व्रीढायाम् । लजते । लेजे ।
 लजते । लज्जं ॥ इति तुदादिः ॥ ६ ॥

म्रियते लुङ् लिङोश्चेति । 'अनुदात्तङितः' इत्यतः आत्मनेपदमिदमनुवर्तते ।
 चकारेण 'दादेः शितः' इत्यतः शित इत्यनुकृष्यते । प्रकृतिभूतादिग्रन्थाहार्यम् ।
 तदाह । लुङ् लिङोरिति । म्रियते । मृङ्घातोर्लिटि, लटस्थाने 'म्रियते लुङ् लिङोरथ'
 इति ते 'तुदादिभ्यः घाः' इति दोऽनुबन्धलोपे 'रिङ् शयग्लिङ्ङु' इति रिङ्गादेशे
 लोपे 'अचिश्नुं' इति इयङि 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेखे 'म्रियते' इति
 रूपम् । ममार । मृङ्घातोर्लिटि तिपि णलि घातोर्द्विष्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदा-
 देशे रपरे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे रपरे
 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ 'ममार' इति । व्यापप्रे । लिटि तादेशे तस्य पश्चादेशे
 द्विष्वेऽभ्यासत्वे 'उरत्' इति अदादेशे रपरे हलादिशेषे यणि च 'व्यापप्रे' इति रूपम् ।
 विज इट् इति । 'गाङ्गादिभ्यः' इत्यतः लिटिः इत्यनुवर्तते । तदाह—विजेः पर इत्यादिः ।
 उद्विजिता । लुटि तादेशे तासि इटि तिपो ढाखे तासः द्विषाट्तेर्लोपे 'विज इट्' इति
 इटो द्विङ्गात्वाद् गुणाभावे 'उद्विजिता' इति रूपम् । ओलजी-ओलस्जी-व्रीढायाम् ।
 ओदितौ । लजते । लजते । लेजे-लज्जने । लजिता-लजिता । लजिष्यते-लजिष्यते ।
 लजताम्-लजताम् । अलजत-अलजत । लजेत-लज्जेत । लजिपीष्ट-लजिपीष्ट ।
 अलजिष्ट । अलजिष्ट । अलजिष्यत । अलजिष्यत । इत्यादि । इति तुदादयः ।

म्रियते—लुङ्, लिङ् और 'शित्' प्रत्ययके प्रकृतिभूत 'मृङ्' धातुने ही 'तङ्' तथा
 'धान' (आत्मनेपद) दो—अन्यत्र नहीं । विज इट्—'विज्' धातुसे पर इडादि प्रत्यय
 'उद्विज' हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तुदादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ रुधादिप्रकरणम्

तत्रोभयपदिन ।

रुधिर् आवरणे । रुधादिभ्यः श्नुम् । ३।१।७८। रुधादिभ्यः श्नुम् स्यात्
 कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । मिरशादन्त्यादच्- परम् । नित्य
 र्वाद् गुण भावते । रुणद्धि । 'एजसोरुह्योपः' । 'सरो सरो'ति धञोप ।
 णत्वस्यापिद्वत्त्वादनुस्वारः । परसवर्ण । तस्यापिद्वन्धाणत्वम् न । 'न पदान्ते नि
 सूत्रेणाञ्जस्वारपरसवर्णयोरप्रोपो न स्यानिबत् । रुन्द' । रुन्धन्ति । रुगरिष । रुन्द' ।
 रुन्द । रुणमि । रुन्ध्व । रुन्ध्म । रुन्धे । रुन्धाते । रुन्धते । रुन्धसे । रुन्धाये ।
 रुन्ध्वे । रुन्धे । रुन्ध्वहे । रुन्ध्वहे । रुरोध । रुधे । रोद्धा । रोत्स्यति । रोत्स्यते ।
 रुणद्धु । रुन्धात् । रुन्धाम् । रुन्धन्तु । रुन्धि । रुणधानि । रुणधाव । रुणधाम ।
 रुन्धाम् । रुन्धाताम् । रुन्धताम् । रुन्धस्व । रुणधे । रुणधावहे । रुणधामहे ।
 अरुणत् । अरुन्धाम् । अरुन्धन् । 'दरचे'ति रु । अरुण । अरुणत् । अरु-
 न्धम् । अरुन्द । अरुणधम् । अरुन्ध्व । अरुन्ध्म । अरुन्द । अरुन्धाताम् । अरु-
 न्धन् । अरुन्धा । अरुन्धायाम् । अरुन्धाम् । अरुन्धि । अरुन्ध्वहि । अरुन्ध्वहि ।
 समानाश्रये आभीयत्वेन अक्लापस्यापिद्वत्त्वादनितिदित्यामिति नञोपो न । रुन्ध्यात् ।
 रुन्धीत । रुन्ध्यात् । रुन्धीष्ट । अरुधत् । अरुन्धीत् । 'निश्चिन्धा'विति किरवम् ।
 अरुद्ध । अरुन्धन् । अरुन्धन्त । अरुन्धन्ति । अरुन्धन्ति । अरुन्धन्ति । अरुन्धन्ति ।

रुधादिभ्यः श्नुमिति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे रुधादिभ्यः श्नुम् प्रथमः स्यात्
 स्वार्थे इत्यर्थः । तद्वा—शपोऽपवाद इति । रुणद्धि । रुधिर् आवरणे इति धातुतो लटि
 तिपि 'रुधादिभ्यः श्नुम्' इति श्नुमि अनुसन्धलोपे 'मिदृशोऽन्त्यादच्' इति सूत्रेण
 ङात् अनयाचः परे श्नुमि प्रथमे कृते 'रु न ध् ति' इति जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति
 णत्वे 'अपस्तसोर्घोऽञ्च' इति तिपस्तस्य घत्वे 'अळा जसु अशि' इति घस्य दत्वे
 'रुणद्धि' इति रूपम् । श्रोच । रुध्यातोर्लटि तिपि णञि घातोर्द्वित्वेऽप्यासत्वे इत्यादि
 दोषे 'पुगन्तल्लघूपधस्य च' इति गुणे 'सरोध' इति रूपम् । अरुणत्, अरुणद् । रुन्धा-
 तोर्लटि, तिपि, तिप हकारलोपे श्नुमि अनुसन्धलोपे मिरशादन्त्यादच्- परे 'अरुणधत्' इति
 जाते 'अट्कुप्वाङ्' इति णत्वे 'इयङ्पादिया' ललोपे 'अळा जसोऽन्ते' इति
 घस्य दत्वे 'वाऽवसाने' इति दस्य तारे अटि 'अरुणत्, अरुणद्' इति । अरुन्धि ।
 निदिर्धातोर्लटि तिपि श्नुमि अनुसन्धलोपे 'सरि च' इति दस्य तले 'अरुन्धि'

रुधादि—रुधादि ण्यपठित्वात्पुमोते 'श्नुम्' प्रथम हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुके परे ।

द्विधीकरणे । छिनत्ति । छिन्ते । युजिर् योगे । युनक्ति । युक्ते । रिचि विरे-
चने । रिणक्ति । रिङ्कं । रिरिच । रिरिचे । रेक्ता । अरिणक् । अरिचत् ।
अरिक्तीत् । अरिक्त । विचिर् पृथग्भावे । विनक्ति । विङ्क्ते । भुदिर् संपेयणे ।
भुणक्ति । भुन्ते । क्षात्ता । अक्षुदत् । अक्षीत्सीत् । अक्षुत्त । उञ्छुदिर् दीतिरेव-
नयोः । छृणक्ति । छृन्ते । चच्छर्द । 'सिसिची'ति वेट् । चच्छृदिपे । चच्छर्से ।
छार्दता । छर्दिप्यति । छत्स्यति । अच्छृदत् । अच्छर्दीत् । अच्छर्दिष्ट । उत्तुदिर्
हिंसाऽनादरयोः । तृणक्ति । तृन्ते ।

अथ परस्मैपदिनः ।

कृती वेष्टने । कृणक्ति । आर्द्धधातुके तीदादिक्रवन् । वृद्द हिंसि हिंसायाम् ।
तृणह इम् । ७।३।२२। वृहः शनमि कृते इम् स्याद्बलादी पिति । तृणेडि । तृण्डः ।
ततर्ह । तर्हिता । अतृणेट् । शनाञ्जलोपः । ६।४।२३। शनमः परस्य नस्य लोपः रयात् ।
हिनस्ति । जिहिस । हिंसिता । उन्दी क्लेदने । उनति । उन्तः । उन्दन्ति । उन्दा-

इति । एव द्विविधातोरेपि बोध्यम् । युनक्ति । युजिर्योगे धातोर्लटि तिपि शनमि
अनुबन्धलोपे मिश्रादन्यादचः परे, 'चोः कुः' इति जस्य गत्वे 'खरि च' इति गस्य
कावे 'युनक्ति' इति रूपम् । चच्छर्द । छृद्घातोर्लिटि तिपि णलि अनुबन्धलोपे 'धातो-
'हित्वेऽभ्यासत्वे 'ठरत्' इति अभासककारस्य अश्वदेशे रपरे ह्लादिशेषे 'पुगन्त'
इति गुणे रपरे 'अभासे षर्च' इति ङस्य चात्वे 'छे च' इति तुकि 'स्तोः' रधुना' इति
श्चुत्वेन तस्य चात्वे 'चच्छर्द' इति रूपम् ।

तृणेडि । वृद् घातोर्लटि तिपि शनमि अनुबन्धलोपे 'ऋवर्णान्नस्य णत्वं वाच्यम्'
इति नस्य णत्वे 'तृण ह ति' इति दशार्था 'तृणह इम्' इति इमागमे,
'तृण ह इ इति' इति स्थिते 'आद्गुणः' इति गुणे 'हो ङः' इति ङस्य ङत्वे
'क्षपस्तयोर्धोऽङ्' इति तिपस्तकारस्य घञारे ण्त्वेन धकारस्य ङत्वे, 'ढो ङे लोपः'
इति पूर्वङस्य लोपे कृते 'तृणेडि' इति । अतृणेह । लटि अटि तिपि तिप हलोपे शनमि
अनुबन्धलोपे मिश्रादन्यादचः परे 'तृणह इम्' इति इमागमे आद्गुणे णत्वे इत्य
ङत्वे हल्ङ्यादिना ललोपे 'ललां जशोऽन्ते' इति पदान्तरावाप ङस्य ङत्वे 'वाऽङ्गाने'
इति ङस्य ङत्वे 'अतृणेट्' इति । शनाञ्जलोप इति । शनप्रथमययैकदेशस्यः शन इत्यस्य
शनादिति पञ्चमी । नेति लुप्तश्लोकम् । तदाह-शनमः परस्य नस्येति । हिनस्ति । हिंसिर्हि-
सायां धातोर्लटस्तिपि शनमि अनुबन्धलोपे 'इदितो नुम् धातोः' इति नुमि अनुबन्ध-
लोपे 'हिन नू स् ति' इति स्थिते 'शनाञ्जलोपः' इति नलोपे 'हिनस्ति' इति ।
उनत्ति । उन्दी क्लेदने इत्यस्माद्धातोर्लटस्तिपि णपि प्राप्ते तन्वाधिरवा शनमि कृते

तृणः—'वृद्' धातुषु 'शनम्' करने पर इमागम हो, ह्लादि 'पि'के परे । शनाञ्ज—'शनम्'

अकार । औनत् । औन्ताम् । औन्दन् । औन-औनत् । औनदम् । अञ्जू
 व्यक्तिसंज्ञणकान्तिगतिषु । अनक्ति । अङ्क । अङ्गन्ति । आनञ्ज । आनञ्जिय ।
 आनङ्क्य । अञ्जिता । अङ्का । अङ्ग्धि । अनजानि । आनम् । अञ्जेः सिचि
 । ७।२।७१। अञ्जे मिचो मिन्यमिद् । आञ्जीत् । तञ्चु सङ्घोचने । तनक्ति । तङ्का ।

वाटारमकारधोर्लोपे मिरवादन्यादश्च परे 'रनाञ्जलोप' इति नलोपे 'खरि च' इति
 दस्य चार्धन तकारे च कृते 'उनत्ति' इति रूपम् । उन्दाञ्जकार—उन्द ह्यस्मादातो
 लोटि 'इजादेव गुहमतोऽनुचक्षुः' इत्यामि 'भाम' इत्यनेन लोटो लुकि 'कृष्णानुप्रयु
 ज्यते लिति' इत्यनेन लिट्परके कृजोऽनुप्रयोगे कृते 'उन्दाम् कृ लिट्' इति जाते,
 लिट्स्तिवि तिपो णलि धातोर्द्विरे 'उरत्' इत्यवे रपरे च कृते 'हलादि शेष'
 इत्यनेन रलोपे 'कुहोरुत्तु' इति सुखे 'अचो ङिति' इति वृद्धौ रपरे च मर्या-
 नुस्वारे परसवर्णे च कृते 'उन्दाञ्जकार' इति रूपम् । औनत् । उन्दातोर्लोटि तिपि
 णपि प्राप्ते तस्याधिरवा रनमि कृते अनुबन्धलोपे मिरवादन्यादश्च परे 'उनन्दत्ति'
 इति जाते 'रनाञ्जलोप' इत्यनेन नलोपे च कृते अटि प्राप्ते तस्याधिरवा अजादित्वात्
 'आङ्जादीनाम्' इत्यनेनाटि 'आटञ्' इत्यनेन वृद्धौ 'खरि च' इति तस्य चार्धे
 'इतश्च' इति तिपि हलोपे 'झरो झरि सवर्ण' इत्यनेन पूर्वतकारस्य लोपे च कृते
 'औनत्' इति रूपम् । अनक्ति । ऊकारेऽसञ्जक 'अञ्' इत्यस्मादातोर्लोटि तिपि रनमि
 कृते अनुबन्धलोपे मिरवादन्यादश्च परे जाते 'रनाञ्जलोप' इति नलोपे 'चोः कु'
 इति कुत्वेन जस्य गकारे गस्य चार्धन ककारे 'अनक्ति' इति सिद्धयति । आनञ्ज ।
 अञ्जातोर्लोटि तिपि तिपो णलि च कृते धातोर्द्विरेऽभ्याससम्प्रदायाम् 'हलादिः
 शेष' इत्यनेन लोपे 'अ अञ् अ' आते 'अत आदे.' इत्यनेन दीर्घे 'अकः सवर्णे
 दीर्घ' इति सवर्णदीर्घे च कृते 'तरमानुद् द्विदल' इत्यनेन नुटि उदावितौ टिश्वाद्
 अंरायावपवे च जाते, कृते च सयोगे 'आनञ्ज' इति । आनक्—अञ्जातोर्लोटि
 तिपि णपि प्राप्ते तस्याधिरवा रनमि कृते अनुबन्धलोपे मिरवादन्यादश्च परे 'आनलोप'
 इत्यनेन धलोपे 'इतश्च' इति हकारस्य लोपे 'हल्लुवाद्यभ्यो दीर्घास्तुतिर्यपृक्त हल्'
 इत्यनेन नलोपे 'चोः कु' इत्यनेन जस्य कुत्वेन गकारे 'वाऽवसाने' इत्यनेन गस्य
 कत्वे 'आङ्जादीनाम्' इत्यनेनाङ्गागमे 'आनम्' इति । अञ्जे सिचोति । 'इदस्यति'
 इत्यत इदित्यनुवर्तने । ऊदिश्वादेशे सिद्धे निरयार्थमिदम् । तदाह—अञ्जेरित्यादिना ।
 आजीत् । अञ्जातोर्लुङि ल स्थाने तिपि 'रिळ लुङि' इति ष्टौ 'ऌ. सिच्'
 इत्यनेन सिजादेशे ह्वावितौ तपोर्लोपे च तिपि हलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इत्यनेन
 ह्वागमेऽनुबन्धलोपे 'इट् ईटि' इति सूत्रेण सिच सस्य लोपे 'आङ्जादीनाम्'

ते पर नकारका लोपे हो । अञ्जे—'अञ्ज' धातुसे पर 'सिच्'को निरय र्हागमे हो ।

तक्षिता । ओचिजी भयसञ्चलनयोः । विनक्ति । विट्क्त् । 'विज इटि'ति द्वित्व-
म् । विविजिय । विजिता । अविनक्त् । अविजीत् । शिष्णु विशेषणे शिनष्टि ।
शिष्टः । शिषन्ति । शिनक्षि । शिशेष । शिशोपिय । शोष्टा । शोच्यति । हेर्धिः ।
जशत्वम् । ष्टुत्वम् । 'क्षरो क्षरी'ति वा डलोपः । अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' ।
शिण्डि । शिण्डि । शिनपाणि । अशिनट् । शिष्यात् । शिष्यात् । लुदिस्वादब् ।
अशिपत् । अशोच्यत् । एवं—पिष्णु संचूर्णने । पिनष्टि । पिपेप । भञ्जो आम-
र्दने । भनक्ति । वभञ्ज । वभञ्जिय । वभञ्क्य । भङ्क्ता । भुज पालनाभ्यवहा-

इत्यादि च कृते 'भारश्च' इति वृद्धौ, 'आञ्जीत्' इति । विनक्ति । ओकार-ईकारेःसंज्ञ-
कविज् इत्यस्मादातोर्लटि तिपि शपि प्राप्ते तस्याधिष्ठा शनमि कृते अनुबन्धलोपे
मिश्रादन्यादचः परे 'चोः क्वा' इत्यनेन जस्य कृत्वेन गकारे 'खरि च' इत्यनेन
गस्य कृत्वे कृते 'विनक्ति' इति । विविजिय । विज्घातोर्लटि मध्यमपुरुषकवचने
सिपस्थलि कृते 'छिटि घातोरनभ्यासस्य' इति द्वित्वेऽभ्याससंज्ञायाम् 'हलादिः
शेषः' इति लोपे 'आर्धघातुकस्येड्दलादेः' इत्यनेनेडागमे 'विज इट्' इत्यनेन इटो
द्वित्वात् गुणाभावे 'विविजिय' इति । अविजोत् । विज्घातोर्लटि तिपि 'खि लुछि'
इति च्छौ 'च्छेः सिच्' इति सिजादेशे इयावितौ, सिच आर्धघातुकत्वादिति तिप
इकारस्य लोपे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्त्वकारस्य ईडागमे 'इट ईटि'
इति सलोपे च कृते 'सिचलोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' इति सलोपस्य सिद्धत्वात्सवर्ण-
दीर्घे अटि च 'अविजीत्' इति । शिनष्टि । लृकारेःसंज्ञकशिष्णु इत्यस्मादातोर्लटि लटो
लटस्थाने तिपि शपि प्राप्ते तस्याधिष्ठा शनमि कृते, अनुबन्धलोपे मिश्राद-
न्यादचः परे तकारस्य ष्टुत्वे च कृते 'शिनष्टि' इति । शिण्डि । शिष्णुघातोर्लटि, छः स्थाने
मध्यमपुरुषकवचने सिपि, शपि प्राप्ते तस्याधिष्ठा शनमि कृतेऽनुबन्धलोपे मिश्राद-
न्यादचः परे 'सेर्धपिच' इति सेर्धिभावे 'शनसोरल्लोपः' इत्यल्लोपे 'दुस्रभ्यो हेर्धिः'
इति हेर्धिभावे 'स्रलां जश् स्रशि' इति पस्य ढत्वे 'ष्टुना ष्टुः' इति धेर्धस्य ष्टुत्वे
'क्षरो क्षरि सवर्णे' इति डलोपे नस्यानुस्वारे तस्य परसवर्णे च कृते 'शिण्डि' इति ।
अशिनट् । शिष्णुघातोर्लटि तिपि अनुबन्धलोपे शनमि अनुबन्धलोपे मिश्रात् अन्यादचः
परे कृते 'इत्थश्च' इति तिपि इलोप 'इत्थस्यावभ्यः' इति तलोपे 'स्रलां जशोऽप्ते'
इति पस्य जशत्वेन ढकारे 'वाऽवसाने' इति चार्त्वे, अटि च कृते 'अशिनट्' इति ।
चर्त्वाभावे—'अशिनट्' इति । वभञ्जिय । भञ्जघातोर्लटि, छितो छः स्थाने मध्यम-
पुरुषकवचने सिपि, सिपि, स्थाने थलि, घातोर्द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् हलोपे इटि प्राप्ते
'उपदेशोऽवतः' इति निपेधे 'ऋतो भारद्वाजस्य' इति वेटि 'अभ्यासे चर्त्त' इति मस्य
जशत्वेन षकारे 'वभञ्जिय' इति । इत्थभावे—जस्य गत्वे गस्य कृत्वे नस्यानुस्वारे 'अनु-

रथो । मुनक्ति । युभोत्र । भोका । भोदयति । मुनकु । प्रमुनक् । मुजोऽ-
नघने । १।३।६६। मुजोऽनघने तन्नौ स्त । ओदन भुक्ते । अनघने किम् ?
महीं मुनक्ति ।

अघात्मनेपदिन ।

मिन्धी दीर्घा । इन्दे । इन्धाते । इन्धते । इन्धे । इन्धासके । इन्धता ।
इन्धाम् । इन्धाताम् । इन्धताम् । इन्धे । ऐन्ध । ऐन्धाताम् । ऐन्धत । ऐन्धा ।
चिद् विचारणे । विन्धे । येत्ता । म्निद् देन्ये । विन्धते । विन्धिदे । खेता ।
खेत्स्यते । विन्धताम् । अविन्धत । इति रूपादि ॥ ७ ॥

स्वारस्य यपि परसवर्णे' इति परमवर्णे च कृते 'यमरुस्य' इति । मुनक्ति । मुञ्-
घातोर्लट्स्तिपि सार्वधातुकसञ्ज्ञायां सपि प्राप्ते तन्वाधित्वा रनमि कृतेऽनुबन्धलोपे
'चो कु' अस्य कुवेन गावे गस्य 'खरि च' इति चार्थे 'मुनक्ति' इति ।
अमुनक् । मुञ्घातोर्लट्स्तिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसञ्ज्ञायां सपि प्राप्ते रनमि
कृते अनुबन्धलोपे अडागने 'इतश्च' इति तिप हलोपे तस्य 'हल्ङ्याम्पो०' इति
लोपे अस्य कुवे चार्थे च कृते 'अमुनक्' इति । मुजोऽनघने । अवनम्-रक्षणम्, ततो
ऽप्यत्र मुत्रेतात्मनेपदमिापर्यं । मुचके-मुञ्घातोर्लट्स्तिपि 'मुजोऽनघने' इत्यात्मनेपदे
तत्परमये सपि कृतेऽनुबन्धलोपे 'सत्तोर्लट्स्तिपि' इत्यङ्गोपे 'चो कु' इति कुवे चार्थे च कृते
अनुवारे परसवर्णे 'टिन् आत्मनेपदामां टेरे' इति टेरेत्वे च 'मुचके' इति । इह उप-
भोगो मुत्रेरर्थं । घात्नामनेकार्थेऽथात् । 'महीं मुनक्ति' इत्यत्रावनार्थेऽन्वात् तत् ।

इन्धासके । इन्ध्वातोर्लटि 'इजादेय' इत्यापि 'आमा' इत्यनेन किये
स्तुकि 'कृञ्चानुमयुञ्जते लिति' इत्यनेन लिट्परककृञ्चानुमयोगे लक्ष्याने से कृते
'इन्धाम् कृ न' इति आत्ते 'लिति घातोर्नन्धासस्य' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यने
नाम्नासञ्चनस्यथादेशे रपरे च कृते 'हलादिः शेर.' इत्यन्धासलोपे 'कुहोरपु'
इति सुप्ते 'लिट्स्तिपिरेतिरेत्' इत्यनेन तस्य पञ्चादेशे 'इको यणचि' इति षणि
मस्यानुवारे परमवर्णे च कृते 'इन्धासके' इति । विन्धे-विद्घातोर्लटि ल र्याने
गादेशे, रनमि अनुबन्धलोपे अङ्गात् परे 'रनत्तोर्लट्स्तिपि' इत्यङ्गोपे 'खरि च'
इति चार्थे 'अतो अरि सवर्णे' इति पूर्वतकारस्य लोपे टेरेत्वे च कृते 'विन्धे'
इति । इति रूपादय ।

मुजो—अनघने (रक्षणसे विच) अर्थमें 'मुञ्' घात्से आत्मनेपद हो ।
रसप्रकार 'इन्दुमती' शीकामें रूपादि प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ तनादिप्रकरणम्

(अथ स्वरितेतो, अितथ—उभयपदिनः)

तनु विस्तारे । तनादिकृष्ण्य उः । ३।१।७९। तनादेः, कृष्य उः प्रत्ययः स्यात्कर्त्र्ये सार्वधातुके । तनोति । तनुते । ततान । तेने । तनिता । तनिष्यति । तनिष्यते । तनोतु । तनुताम् । अतनोत् । अतनुत । तनुयात् । तन्वीत । तन्यात् । तनिषीष्ट । अतनीत् । अतानीत् । तनादिभ्यस्तथासोः । २।४।७९। तनादेः सिचो वा लुक् स्यात्तथासोः । 'अनुदात्तोपदेशे'ति नलोपः । अतत । अतनिष्ट । अतयाः । अतनिष्ठाः । अतनिष्यत् । अतनिष्यत । पणु दाने । सनोति । सनुते ।

तनादिकृष्ण्य उः । तनादेः कृष्य उः प्रत्ययः स्यादिति सूत्रार्थः । उपोऽपवाद इति । अनेन शब्दप्रत्यय पदास्य प्रवृत्तिरिति सूचितम् । 'सार्वधातुके यक्' इत्यतः सार्वधातुक इति 'कर्त्तरि णप्' इत्यतः कर्त्तरिति चानुवृत्तेरिति भावः । तनोति । तन् इत्यस्माद्दातोर्लटि तिपि णपि प्राप्ते तन्वाधित्वा 'तनादिकृष्ण्य उः' इत्युप्रत्यये 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे च कृते 'तनोति' इति । तनुते । तन् इत्यस्माद्दातोरारामनेपदे लटस्ते प्रत्यये 'कर्त्तरि णप्' इति णप्प्राप्ते तन्वाधित्वा 'तनादिकृष्ण्य उः' इति विकरणे, प्रत्ययस्य तस्य सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुकमपि' इति लिङ्वाद् गुणामावे 'दित आरामनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'तनुते' इति । अतानीत् । तन्धानोर्लुङि लुङो लः स्याने तिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते 'चि लुङि' इति लौ, 'क्लेः सिच्' इति सिजादेशे इच्चादितौ, इटि कृते, तिव इकारस्य लोपे 'असितसिचोऽष्टके' इतीडागमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे, सवर्णदोषे 'अतो हलादेर्लघोः' इति विकल्पेन वृद्धौ च 'अतानीत्' इति । वृद्धमावे—'अतनोत्' इति । तनादिभ्यस्तथासोरिति । 'गातिस्पां' इत्यतः सिच इति 'ण्यञ्जिपार्षं' इत्यतो लुगिति 'विभाषा प्राघेट्' इत्यतो विभाषेति चाजुवर्तते । तदाह—तनादेरित्यादिना । अतत । तन्धातोर्लुङि, लः स्याने आरामनेपदे तादेशे अडागमे अनुबन्धलोपे 'चि लुङि' इति लौ, 'क्लेः सिच्' इति सिजादेशे इच्चादितौ 'तनादिभ्यस्तथासोः' इति सिचो लुकि 'अनुदात्तोपदेशे'ति नलोपे तनोत्यादीनामनुनासिकलोमो मलि कृत्ति' इत्यनुनासिकनकारस्य लोपे 'अतत' इति । सिचो लोपामावे

तनादि—तनादिगण पठित धातु और कृष्ण धातुसे 'उ' प्रत्यय हो, कर्त्र्यक सार्वधातुकके परे ।
नोट—तनादि कहनेसे 'कृष्ण' धातुका भी ग्रहण होता ही फिर 'कृष्ण'का प्रथक् उपादान क्यो किया गया, इससे सिद्ध होता है कि 'गणकार्यमनिरयम्'—गणकार्य अनित्य है ।
तना—तनादिसे पर 'सिच्'का लुक् (लोप) दो 'त' और 'यास्'के परे, विक्रमसे ।

ये विभाषे'त्यात्वम् । सायात् । सन्यात् । जनसनखनां सञ्जल्लो । ६।४।४२।
 एषामाकारोऽन्तादेश स्याज्जलादौ मनि, जलादौ विवृति च । अमात् ।
 असनिष्ट । अमाया । असनिष्ठा । अणु हिंसायाम् । सणोति । क्षणुते । 'अय
 न्ते'ति न वृद्धि । अक्षणीत् । अक्षन । अक्षणिष्ट । अक्षया । अक्षणिष्ठा । क्षिणु
 च । उप्रत्यये लघूपधणुणौ वा । क्षिणोति । क्षेणोति । क्षेणिता । अक्षेणीत् ।
 अक्षित । अक्षेणिष्ट । तृणु अदने । तृणोति । नर्णोति । तृणुने । तर्णुते । चृणु
 दीप्तौ । चृणोति । घर्णोति । डुकुञ् करणे । करोति । 'अत उरसार्वधातुकै' ।

इति सस्य पाठे प्लुत्व च 'अतनिष्ट' इति । सायात् पञ्चातोराशीर्लिङि, लिङ्गे छ
 र्याने त्रिपि त्रिपो घासुडागमे अनुबन्धलोपे घातो, सार्वे णस्य नार्वे च कृते 'रको
 सयोगाद्योरन्ते च' इति सलोपे 'अलोऽन्त्यस्य' इति सूत्रसहकारेण 'ये विभाषा'
 इति नस्यावे सवर्णदीर्घे च कृते 'सायात्' इति । आश्वाभावे 'सन्यात्' इति । असाने'व ।
 षण्घातोर्लुङ्गिरसिपि अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते 'वाश्वादे घ. स' इति पकारस्य
 सकारे णस्य नार्वे च जाते, ष्ठी, ष्लेः सिञ्जादेशे इच्चावितौ त्रिप इकारलोपे 'अस्ति
 सिचोऽपृक्ते' इतीटि 'इट ईटि' इति सलोपे सवर्णदीर्घे च 'अतो हलादेश्लो' ।
 इति विकल्पेन वृद्धौ 'असानीत्' इति । वृद्धभावे 'असनीत्' इति । अनसनखनां सम्भ
 कोरिति । 'विद्वनो,' इत्यत आदिस्यनुवर्तते । तदाह—एषामकारोऽन्तादेश इति । सन्
 ष्लो इत्यनयो' इन्द्रात् सप्तमीद्विबचनम् । सनि ष्लि चेति छन्दते । 'अनुदात्तोप
 देश' इत्यत ष्लि द्वितीयनुवर्तते । तत्र ष्लितीयनुवृत्तेन सन् विशेष्यते । तदादि
 विधि । जलादौ सनीति छन्दते तत्र विद्वतीत्यनुवृत्त तु एतत्सूत्रस्यसहा विन्येप्यते ।
 तदादिविधि । जलादौ विद्वतीनि छन्दते । तदाह—जलादौ सनीत्यादिनेति । असात् ।
 षण्घातोर्लुङ्गो छ र्याने आशनेपदे तादेशे अडागमे 'अनुबन्धलोपे घातोः पकारस्य
 सार्वे णस्य नार्वे च कृते ष्ठी, ष्लेः सिञ्जादेशे 'तनादिभ्यस्तयामा.' इति सिचो
 लोपे 'जनसनखनां सञ्जल्लो' इत्याये सवर्णदीर्घे च 'असात्' इति । असनिष्ट ।
 षण्घातोर्लुङ्गि छ र्याने ते कृते धातुस्थपस्य सार्वे णस्य नार्वे च कृते अडागमे ष्ठी,
 ष्लेः सिञ्जादेशे इच्चावितौ सिच 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादे' इतीडागमे सस्य पाठे च
 कृते 'असनिष्ट' इति । अक्षणीत् । षण्घातोर्लुङ्गि, लुङ्गे छ र्याने त्रिपि अनुबन्धलोपे
 'इतश्च' इति त्रिप इकारलोपे ष्ठी, ष्लेः सिञ्जादेशे इच्चावितौ, सिचः सकारस्य
 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादे' इतीडागमे च कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीटि 'इट ईटि'
 इति सिचो लोपे, वृद्धौ प्रासायां 'द्यम्तञ्जगञ्जगानिर्गयेदिसाम्' इति निषेधे
 'अक्षणीत्' इति । करोति । कृषातोर्लुङ्गिरसिपि सार्वधातुकस्ये, षण्घादिसिचो 'तनादिङ्

अनसन—अन्, सन् नीर अन् धातुको अकारात् आदेश हो, जलादि 'सन्' नीर जलादि

कुरुतः । 'हलि चेति दीर्घे प्राप्ते- । न भकुर्छुराम् । ८।२।७९। भस्य, कुर्छुरोश्चोप-
धाया न दीर्घः । कुर्वन्ति । नित्यं करोतेः । ६।४।१०८। करोतेः प्रत्ययोकारस्य
नित्यं लोपो, ष्चोः । कुर्वः । कुर्मः । कुरुते । चकार । चकर्थ । चकृव । चकृम ।
चक्रे । कर्ता । करिष्यति । करिष्यते । करोतु । कुरुताम् । अकरोत् । अकुरुत ।
ये च । ६।४।१०९। कृञ् उलोपो, यादौ प्रत्यये । कुर्यात् । कुर्वीत । क्रियात् ।
कृपीष्ट । अकृषीत् । अकृत । अकरिष्यत् । अकरिष्यत । संपरिभ्यां करोतौ

भ्य उः' इत्युप्रत्यये उकारस्यार्धधातुत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे
रपरे उकारस्यापि गुणे कृते 'करोति' इति । कुरुतः । कृधातोर्लटि, लटो लः स्थाने तस्य-
प्रत्यये 'तनादिकृभ्य उः' इत्युविकरणे ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'कुरुतस्' इति जाते
'अत उरसार्वधातुके' इत्यनेन कृञोऽकारस्योश्च च कृते 'कुरुतः' । इति सिद्धयति ।
न भकुर्छुराम् । 'वोरूपधायाः' इत्यतः उपधाया इति दीर्घ इति चानुवर्तते । तदाह—
भस्येऽदिना । नित्यं करोतेरिति । 'उतश्च प्रत्ययात्' इत्यनुवर्तते, 'लोपश्चास्यान्य
तरस्याम्' इत्यतो लोप इति, ष्वोरिति च । तदाह—करोतेरिति । कुर्वः । कृधातोर्लटि,
लटो लः स्थाने वसादेशे 'तनादिकृभ्य उः' इत्युविकरणे तस्य आर्धधातुत्वात्
'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ऋकारस्य गुणे रपरे च कृते 'अत उरसार्वधातुके'
इत्यनेनाकारस्य उकारे 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यनेन उकारस्य लोपविकल्पे
प्राप्ते 'नित्यं करोतेः' इत्यनेन नित्यलोपे कृते सस्य हत्वे रेकस्य विसर्गे च कृते
'कुर्वः' इति सिद्धयति । कुरुते । कृधातोर्लटि लटो लः स्थाने आत्मनेपदे तादेशे 'तना-
दिकृभ्य उः' इत्युप्रत्यये गुणे रपरे च कृते अकारस्योश्च टेरेश्च च कृते 'कुरुते' इति
सिद्धयति । ये चेति । 'लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' इत्यतो लोप इति, भस्येति चानु-
वर्तते । भस्येत्यनेन पूर्वसूत्रे उत इत्युपात्तः परास्मर्यते । 'नित्यं करोतेः' इत्यतः
करोतेरित्यनुवर्तते । अङ्गाचिसः प्रत्ययो यकारेण विशेष्यते । तदादिविधिः । तदाह—
कृञ् उलोप इति । कुर्यात् । कृधातोर्द्विषिलिटि, लिटो लः स्थाने तिपि अनुबन्धलोपे
'तनादिकृभ्य उः' इति उविकरणे तस्य आर्धधातुत्वात् गुणे रपरे च कृते 'कुरुति'
इति जाते 'अत उरसार्वधातुके' इति ककारोत्तरवर्तिनः 'अकारस्य उकारे यासुदागमे
उटावितौ 'लिटः सलोपोऽनन्यस्य' इति सलोपे 'कुरु यात्' इति जाते 'ये च'
इत्यनेन उकारस्य लोपे च कृते 'कुर्यात्' इति । अकार्यात् । कृधातोर्लुङि लुङो लः
स्थाने तिपि 'हलन्त्यम्' इति तिपः पकारस्यैःसंज्ञायां लोपे च कृते 'षिल लुङि'
इति ष्लौ 'चङेः सिच्' इति सिजादेशे ह्वावितौ, सिचः सस्य आर्धधातुत्वादिदि

कित्-डित् प्रत्ययके परे । न भकु—भसंशक और 'कुर', 'छुर'की उपधाको दीर्घ नहीं हो ।
'नित्यं-कृ' धातुके प्रत्ययसम्बन्धी उकारका लोप हो, यकारादि प्रत्ययके परे । संपरि-सम्

भूयणे । ६।१।३७। समवाये च । ६।१।३८। आभ्यां परस्पर करोते सुट्
 भूयणे, सहाते चायं । सस्करोति । अलङ्कारोतीर्ग्यर्थः । सस्कुर्वन्ति । सहीभवती-
 त्प्यर्थः । मंपूर्वस्य क्वचिदभूयणस्य सुट् । 'संस्कृतं भक्षा' इति शापकात् । उपा-
 त्प्रतियदायैकृतवाक्यादारेण च । ६।१।३९। कृय सुट् स्यात्त्वात्प्रागुक्-
 योरर्थयोः । प्रतियत्नो-गुणाधानम् । विकृतमेव वैकृत-विहार वाक्याभ्याहार-
 आकाङ्क्षितैकदेशपूरणम् । उपस्कृता कन्या । उपस्कृता प्राग्गणा । एधोदकस्त्रीषु
 स्फुरते । उपस्कृत मुट्के । उपस्कृत भ्रूते ।

(अप द्वावनुदात्तौ) वनु याचने । वनुते । धवने । मनु यवशोधने ।
 मनुते । मेने । मनिना । मनिष्यते । मनुताम् । अमनुत । मन्वीत । मनिष्यत् ॥
 इति तनादि ॥ ८ ॥



प्राप्ते 'पक्षात् उपदेशोऽनुदात्तात्' इति निषिद्धे 'इतद्य' इति तिपश्तेरिकास्त्रस्य लोपे
 'अस्तिसिचोऽट्के' इतीहागमे 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ तस्य चरये च
 कृते, अङ्गस्य अहागमे अनुयम्बलोपे टिषाद्भ्रस्योपाधयये जाते 'अकार्षीत्' इति
 सिद्धयति । अङ्ग । कृधातोर्लुङि ल स्थाने आगमनेपदे तादेशे अङ्गस्य अहागमे च
 कृते ष्टौ, ष्टे सिजादेशे च कृते इच्चावितौ 'उक्ष' इति सिच किरवाद् गुणमात्
 'इस्वाद्भ्रान्' इति सलोपे च कृते 'अङ्ग' इति । सम्परिभ्यामिति । अत्र सूत्रे ए
 'समवाये च' इत्यत्र च 'सुट्कारपूर्व' इत्यतः 'निय करोते' इत्यत्र च तदनुषु
 चेरिति भावः । सस्करोति । इत्यत्र सम्पूर्वस्य कृधातोः 'सम्परिभ्यां करोती भूयणे
 इति सुटि, उटावितौ टिषादाधाययये च जाते 'सस्करोति' इति सिद्धयति । उपस्कृत
 कन्येति । उपेयुपसर्गपूर्वकात् कृधातोः कप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे खोत्वविच्चायां टादि
 तत् प्रकृतसूत्रेण सुटि च कृते उटावितौ 'उपस्कृता कन्या' इति 'अलटकता' इति
 हि तस्याप्यर्थः । एव सर्वत्र सुटि कते ज्ञेयम् । 'उपस्कृता प्राग्गणा' सक्थीभूता इत्यर्थं
 'एधोदकस्त्रीषु स्फुरते' गुणमाधत्ते । 'उपस्कृत मुट्के' विकृतमित्यर्थः । 'उपस्कृत भ्रूते
 वाक्याभ्याहारेण मने इत्यर्थः । मन्वीत । मन्धातोर्विधिलिङि लिङो ल स्थाने तादेशे
 'तनादिक्कृम्य उ' इत्युविकारणे 'लिङ् सोयुट्' इति मीयुटि उटावितौ 'लिङ्
 सलोपोऽनग्यस्य' इति सलोपे 'लोपो ष्योर्बलि' इति पलोपे च कृते 'मन् उ ई त
 इति जाते 'इको यजचि' इति यणि च कृते 'मन्वीत' इति सिद्धयति । इति तनादयः ।



और 'परि' पूर्वक 'कृ' बाहुको 'सुट्' हो, भूयण और सवात अर्थमें । उपात्—'उप'
 उपसर्गसे पर 'कृ' बाहुको 'सुट्' हो, प्रतियत्तादि अर्थमें, चकारात् भूयण और सवात अर्थमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तनादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ क्रयादिप्रकरणम्

डुकीञ् द्वयविनिमये । क्रयादिभ्यः श्रा । ३।१।८१। क्रयादिभ्यः श्रा स्यात्, कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे । शपोऽपवादः । क्रीणाति । 'ई हल्यघोः' । क्रीणीतः । 'श्नाभ्यस्तयोरतः' । क्रीणन्ति । क्रीणासि । क्रीणीयः । क्रीणीथ । क्रीणामि । क्रीणीवः । क्रीणीमः । क्रीणीते । क्रीणाते । क्रीणते । क्रीणीथे । क्रीणाथे । क्रीणीध्वे । क्रीणे । क्रीणीवहे । क्रीणीमहे । चिक्राय । चिक्रिप्रतुः । चिक्रियुः । चिक्रियिथ । चिक्रेथ । चिक्रिये । कंता । क्रेप्यति । क्रेप्यते । क्रीणातु । क्रीणीतात् । क्रीणीताम् ॥ क्रीणीताम् । क्रीणाताम् । क्रीणताम् ॥ क्रीणीयात् । क्रीणीत । क्रीयात् । क्रेपीष्ट । अक्रेरीत् । अक्रेष्ट । अक्रेप्यत् । अक्रेप्यत । प्रीञ् तर्पणे, वान्तौ च । प्रीणाति । प्रीणीति । श्रीञ् पाके । श्रीणाति । श्रीणीते । मीञ् हिंसायाम् । प्रमीणाति । प्रमी-

क्रयादिभ्यः श्नेति । कर्त्रर्थे सार्वधातुके परे क्रयादिभ्यः श्नाप्रत्ययः स्यात् स्वायें । क्रीणाति । ढकार-ढकार-अकारेऽसञ्जकमीधातोर्लटि, लटो ङः स्थाने तिपि, शपि प्राप्ते ऽश्नाधिस्वा 'क्रयादिभ्यः श्ना' इति श्नाप्रत्ययेऽनुबन्धलोपे शिश्वासार्वधातुकत्वे क्रीधातुगतस्य ईकारस्य 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे प्राप्ते किन्तु श्नाप्रत्ययस्य अपिसार्वधातुकत्वेन 'सार्वधातुकमपिद्' इति लिट्वात् 'गिक्रति च' इति निषेधे 'अट्ठप्वाङ्नुग्न्यवायेऽपि' इति नकारस्य णत्वे च कृते 'क्रीणाति' इति । चिक्राय । क्रीधातोर्लिटि लिटो ङः स्थाने तिपि, तिपः स्थाने 'परस्मपदानाम्' इति णलि कृते अनुबन्धलोपे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्विस्वेऽभ्याससंज्ञायां 'ह्रस्वः' इत्यनेन ह्रस्वे च कृते 'हलादिः शेषः' इति लोपे, लुत्वे वृद्धौ 'एचोऽयवायावः' इत्यायादेशे च 'चिक्राय' इति सिद्धयति । चिक्रिये । क्रीधातोर्लिटि लिटो ङः स्थाने आरमनेपदे तादेशे 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' इति द्विस्वेऽभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यादिहलः शेषे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'कुहोरनुः' इति लुत्वे तप्रत्ययस्यैशादेशे च कृते 'अचि रनुधातु' इति ह्यङि 'चिक्रिये' इति सिद्धयति । अक्रेपीत् । क्रीधातोर्लुङि लुङो ङः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते ष्टौ, ष्लेः सिचि इच्चावितौ सस्य पत्वे 'धृतश्च' इति तिप इलोपे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तिपस्तकारस्यैडागमे च कृते 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अक्रेपीत्' इति सिद्धयति । अक्रेष्ट । क्रीधातोर्लुङि, लुङो ङः स्थाने आरमनेपदे तप्रत्यये; ष्टौ ष्लेः सिचि च कृते इच्चावितौ गुणे सस्य पत्वे ष्टुत्वं अडागमे च कृते 'अक्रेष्ट' इति रूपम् । प्रमीणाति—प्रोपसर्गपूर्वकात् अकारेऽसञ्जकमीधातोर्लटि लटो ङः स्थाने तिपि,

क्रयादि—क्रयादि गणपठित धातुभोंसे 'श्ना' प्रत्यय हो, कर्त्रर्थक सार्वधातुकके परे ।

णीते । 'हिनुमीना' इति णत्वम् । 'मीनाती' त्यात्वम् । ममी । भिम्यन् । ममिय । ममाय । भिम्ये । माता । मास्यति । मीयात् । मासीष्ट । अमामीत् । अमासिष्टाम् । अमास्त । यिञ् बन्धने । छिनाति । सिनीते । सिपाय । सिप्ये । सेता ॥ स्कुम्भ् आप्रवणे । स्तम्भु स्तम्भु स्फम्भु स्कुम्भु स्कुम्भ्यः श्नुश्च । ३।१।८३। स्तन्वादिभ्यः श्नु स्यात् । चात्-रना । स्कुनोति । स्कुनुते । स्कुनाति । स्कुनीते । चुस्काष । चुस्कुपे । स्कोता । अस्कौपीत् । अस्कोष्ट । स्तम्वादयश्चत्वारः सौत्रां छन्दे रोचनार्था परस्मैपदिन । हलः श्नः शानञ्श्री । ३।१।८३। हलः परस्य रनः

अनुबन्धलोपे रनाप्रत्यये शस्येऽसञ्ज्ञायां लोपे च कृते 'हिनुमीना' इति नस्य णत्वे 'ममीणाति' इति सिद्धयति । ममी—मीघातोर्छिटि छटो ल स्याने तिपि, णत्वा देहे च कृते 'मीघातिमिनोतिश्च' एवपि च' इति मीघातोराखे तस्य द्विवेदस्यास संज्ञायामस्यासकार्ये हस्ये च कृते 'म मा अ' इति जाते 'भात् औ णत्' इति णतोऽकारस्य औकारे 'बृद्धिरेचि' इति वृद्धौ 'ममी' इति रूपम् । स्तम्भुस्तम्भुरक ण्विति । एभ्यः रनुप्रत्ययः स्यात्, 'चात् रनाप्रत्ययोऽपीति सूत्रार्थः । अत्र सूत्रे 'ऋषादिभ्य रना' इत्यस्मात् 'रना' इत्यनुवर्तते इति भावः । स्कुनोति । अकारेऽस शकस्कुघातोर्छटि छटो ल स्याने तिपि, 'स्तम्भुस्तम्भुरकम्भुस्कुम्भुस्कुम्भ्य रनुम्भ' इति रनुप्रत्यये, शस्येऽसञ्ज्ञायां लोपे च कृते, तिपि सार्वधातुकत्वात् 'सार्वधातुका र्घधातुकयोः' इति गुणे 'स्कुनोति' इति रूपम् । पञ्चे—'ऋषादिभ्यः रना' इति रनाप्रत्यये 'स्कुनाति' इति । स्कुनुते । स्कुघातोर्छटि, छटो ल स्याने आत्मनेपदे तप्रत्यये तस्य कर्षणकमार्वधातुकात्परिमन् परे रनुप्रत्यये च कृते अनुबन्धलोपे छित्वाद् गुणाभावे देहेत्ये च 'स्कुनुते' इति । रनाप्रत्यये तु 'ई हस्यघोः' इतीत्ये 'स्कुनीते' । इति अस्कौपीत् । स्कुघातोर्छटि, छटो ल स्याने तिपि, अनुबन्धलोपे, अडागमे च कृते, 'च्छि लुक्चि' इति ष्ठी, ष्टे सिचि च कृते, इत्यादिनी तिप हलोपे 'अस्तिसिचोऽपृष्टे' इत्यनेन ईडागमे सत्य पर्ये 'सिचि वृद्धि परस्मैपदेषु' इति वृद्धौ 'अस्कौपीत्' इति । अस्कोष्ट । आत्मनेपदे तु स्कुघातोर्छटि, छटो ल स्याने तप्रत्यये, अडागमे च कृते ष्ठी, ष्टे, सिचि च कृते इत्यादिनी गुणे सत्य पर्ये प्लुत्ये च विहिते 'अस्कोष्ट' इति । हलः श्नः शति । स्तमानः । स्तन्मुघातोर्छटि, छटो ल स्याने मध्यमपुरुषैकवचने तिपि, रनाप्रत्यये 'मनिदित्ता' इत्यवधायो विवृति' इति नलोपे 'सेर्षापिच' इति छोटः सेर्षिभावे 'हलः रनः शानञ्श्री' इति शानजादेशोऽनुबन्धलोपे 'अतो

स्तम्भु—स्तम्भादि षातुमीते 'स्तु' प्रत्यय हो चकारात्-रना' प्रत्यय मी हो ।

हलः—'हल' से पर 'रना' के स्थानमें 'शानञ्' आदेश हो, 'हि' के परे ।

गानजादेशः स्याद्दी परे । स्तभान । जृस्तन्भुः म्रुचुः म्लुचुः म्रुचुः म्लुचुः म्लुचुः म्लुचुः
 श्विभ्यश्च । ३।१।५८। एभ्यः च्लेरह् वा । व्यष्टमत् । अस्तम्मीत् । युञ् बन्धने ।
 युनाति । युनीते । योता । क्नूञ् शब्दे । क्नूनाति । क्नूनीते । क्नूविता । द्रूञ्
 हिंसायाम् । द्रूणाति । द्रूणीते । पूञ् पवने । प्वादीनां ह्रस्वः । ७।३।८०ः पूञ् लूञ्
 स्तृञ् कृञ् वृञ् धृञ् शृ पृ वृ भृ मृ दृ जृ धृ नृ कृ ऋ गृ ज्या री ली व्ली प्ली
 एपां चतुर्विंशतेर्ह्रस्वः स्यात् शिति । पुनाति । पुनीते । पविता । लृञ् छेदने ।
 लुनाति । लुनीते । स्तृञ् अच्छादने । स्तृणाति । स्तृणीते । तस्तार । तस्तरतुः ।
 तस्तरे । स्तरिता । स्तरीता । स्तृणीयात् । स्तृणीत । 'ऋत इद्धातोः' । स्तीर्यात् ।
 स्तरिपीठ । स्तीपीठ ॥ 'सिचि च परस्मैपदेषु' । अस्तारीत् । अस्तारिष्टाम् ।
 अस्तारिषुः । अस्तरिष्ट । अस्तीर्ष । कृञ् हिंसायाम् । कृणाति । कृणीते । चकार ।

हेः' इति हेर्लुकि च कृते 'स्तभान' इति रूपम् । जृस्तन्भु । 'च्लेः सिच्' इत्यतः च्ले-
 रिति, 'अस्यतिवच्छ्रियातिभ्योऽङ्' इत्यतः अङ्किति 'इरितो वा' इत्यतो वेति चानु-
 वर्तते तदाह-एभ्यश्च्लेरह् वेति । जृपृवयोहानौ, स्तन्भुः सौत्रो घातुः, अचुरलृच् गत्यौ
 म्रुचुः, म्लुचु स्तेयकरणे, म्लुञ्च गतौ, इत्येतेभ्य इत्यर्थः । व्यष्टमत् । विपूर्वकात् स्तन्भुषा-
 तोर्लुकि, लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, च्लौ, च्लेः सिचि प्राप्ते
 तग्वाचिधा 'जृस्तन्भुम्रुचुम्लुचुमुचुम्लुचुम्लुचुश्चिभ्यश्च' इति च्लेरङि कृते, 'अनिदि-
 ताम्' इति ललोपे 'स्तभमेः' इति सस्य पत्वे ष्टुत्वे कृते -यणि तिप इलोपे 'व्यष्टमत्'
 इति । अङोऽभावे-च्लेः सिचि, इषाविचौ इडागमे कृते 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इतीडा-
 गमे च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे कृते अडागमे च 'नस्तम्भोव' इति सिद्धयति ।
 प्वादीनां ह्रस्व इति । 'ष्ठिवुक्लमुचमाम्' इत्यतः शितीत्यनुवर्तते इत्यभिप्रेत्य ङेपं
 पूरयति—शिति परे इति । पुनाति । पवनायकञकारे(संज्ञक पू इत्यस्माद्धातोर्लटि,
 तिपि, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि प्राप्ते तग्वाच्य रनाप्रत्यये शस्ये(संज्ञायां लोपे च
 कृते, 'प्वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'पुनाति' इति सिद्धयति । स्तीर्यात् । 'स्तृ'
 इत्यस्माद्धातोर्विचिलिङि, लः स्थाने आत्मनेपदे तप्रत्यये स्त्रीयुडागमे उटावितौ 'लोपो
 ऋर्वलि' इति यलोपे 'सुट् तिथोः' इति सुडागमे उटावितौ 'लिङ्गसिचोरामनेपदेषु'
 इति विकल्पेनेडागमे गुणे 'वृत्तो वा' इति वा दीर्घे प्राप्ते 'न लिङि' इति निषेधे
 द्वयोः सकारयोः पत्वे ष्टुत्वे च विहिते 'स्तरिषोष्ट' इति । इडभावे—'ऋत
 इद्धातोः' इतीर्ये 'हङि च' इति दीर्घे च कृते 'उञ्च' इति क्तिष्वाद् गुणभावे 'स्ती-

जृस्त—'जृ' आदि धातुर्भासे पर 'च्लि' को 'अङ्' आदेश हो, विकल्पसे ।
 प्वादी—पूनादि धातुर्भाको ह्रस्व हो, 'शित' प्रत्ययके परे ।

वचरे । वृञ् वरणे । वृणाति । ववार । ववरे । वरिता । वरोता । 'उदो
 ष्वे'त्युत्त्वम् । वूर्णात् । वरिषीष्ट । वूर्षीष्ट । अवारीत् । अवारिष्यात् । अवारिष्य ।
 अवरीष्ट । अवृष्ट । धृञ् कम्पने । धुनाति । धुनीते । दुधविय । दुधोष । दुधुविव ।
 धीता । धविता । स्तुसुधृञ्भ्यः परस्मैपदेषु । प्रघावीत् । अधविष्ट । अधोष्ट ।
 ग्रह उपादाने । गृह्णाति । गृहीते । जग्राह । जगृहे । महोऽलिति दीर्घः । ७।२।

धीष्ट' इति च सिद्धयति । वरीटा । 'व' घातोर्लुटि ल स्याने तिवि, तासु प्रायये, तिवो
 हादेशे, द्विवाटिलोपे, 'आर्षंघातुकस्येड्वल्लादे' इतीहागमे 'सार्वंघातुकार्धंघातुक
 यो' इति गुणे 'वतो वा' इति विकल्पेन दीर्घे 'वरोता' इति । वीर्षांभावे—'वरिता'
 इति । वूर्णात् । वूर्षातोराशांलिङि, तिवि, अनुबन्धलोपे 'वासुट् परस्मैपदेषु दासो लिङ्'
 इति वासुदागमे उटावितौ 'स्कीः सवोगाघोरस्ते च' इति सलोपे वासुटः द्विवाद् गु
 णाभावे 'उदोष्टवपूर्वस्य' इत्युत्वे 'हलि च' इति दीर्घे च विहिते, 'वूर्णात्' इति
 सिद्धयति । ववारीत् । 'वृ' इत्यस्मादातोर्लुङि, लः स्याने तिवि, इकारपकारयोरित्स
 ज्ञायां लोपे च कृतेऽहागमे 'स्त्रि लुङि' इति च्छी च्छे । सिजादेशे च कृते इचावितौ
 तयोर्लोपे च सिच सकारस्य आर्षंघातुकस्यात् 'आर्षंघातुकस्येड्वल्लादे' इत्यनेन
 हागमे तिव हलोपे 'अस्तिमिषोऽपृषते' इत्यनेन हागमे च कृते 'इट ईटि' इति
 सलोपे 'सिचि वृद्धि' परस्मैपदेषु इति वृद्धौ सवर्णदीर्घे च कृते 'भवारीत्' इति ।
 धुनाति । चकारोऽमञ्जक 'धृ' इत्यस्मादातोर्लुङि लः स्याने तिवि अनुबन्धलोपे सार्व
 षातुकसज्ञायां, वापि प्राप्ते तन्वाधिरवा 'ऋवादिभ्यः रना' इति रनाप्रयये,
 शस्येऽसज्ञायां लोपे च, कृते 'वादीनां ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'धुनाति' इति सिद्धयति ।
 अधविष्ट । 'धृ' इत्यस्मादातोर्लुङि, आगमेपदे तप्रायये अहागमे 'स्त्रि लुङि' इति
 च्छी, च्छे, सिजादेशे इचावितौ तयोर्लोपे च, 'स्वरतिसृत्तिसृपतिधुनदितो वा' इति
 विकल्पेनेहागमे गुणे अवादेशे अस्य षत्वे ष्टुत्वे च कृते 'अधविष्ट' इति सिद्धयति ।
 इडभावे तु—मधोष्ट इति । गृह्णाति । उपादानार्थक 'ग्रह' इत्यस्मादातोर्लुङि, कटो ल
 स्याने तिवि, अनुबन्धलोपे 'सार्वंघातुकसज्ञायां, वापि प्राप्ते तन्वाधिरवा रनाप्रयये,
 शस्येऽसज्ञायां लोपे च, जाते शिवात्तरस्य सार्वंघातुकसज्ञायां 'सार्वंघातुकस्येड्वल्ला
 दे' इति द्विवात् 'प्रहिस्याचविष्यधिवटिविचतिवृश्चतिपृष्वृत्तिमृजतीनां विचति च' इति
 सप्रसारणे 'सप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे तस्य णत्वे च कृते 'गृह्णाति' इति रूप
 सिद्धयति । महोऽलिति दीर्घ इति । ग्रह इति दिग्योगे पञ्चमी । 'आर्षंघातुकस्येड्वल्ला
 दे' इत्ययं इदमित्युक्तं चण्डमन्त्र विपरिणम्यते । 'पृक्च उपदेशेऽजुदात्तात्' इत्यत

महोऽलिति—पृक्च 'ग्रह' नाम्ने विहित 'इट्' को दीर्घ हो, 'किट्' में छेवकर ।

३७ एकाचो प्रहो विहितस्येष्टो दीर्घो, न तु लिटि । प्रहीता । गृह्णातु । गृह्णाण । गृह्यात् । प्रहीषीष्ट । 'ह्यन्ते'ति न घृद्धिः । अग्रहीत् । अग्रहीष्टाम् । अग्रहीष्ट । अग्रहीषाताम् । इत्युभयपदिनः ।

अय परस्मैपदिनः ।

कुप निष्क्रेषे । कुष्णाति । कोपिता । निरः कुपः । ७।२।४६। निष्पपदात् कुपो वलादेरार्द्धधातुकस्येड् वा स्यात् । निष्कोपिता । निष्कोप्टा । निरकोषीत् । 'शल इगु-पधा'दिति षः । निरकुक्षत् । अश भोजने । अश्नाति । आश । अशिता । अशि-प्यति । अश्नानु । अश्नान । क्षा अवबोधने । 'ज्ञानोरि'ति जादेशः । जानाति । जज्ञौ । 'वाऽन्यस्ये'त्येत्वम् । ज्ञेयात् । ज्ञायात् । पू पालनपूरणयोः । पृणाति । शृ

एकाच इति च तदाह—एकाच इत्यादि । प्रहीता । प्रहधातोर्लुटि, लः स्थाने तिपि, तासप्रत्यये, तिपो ङादेशे, द्वित्रास्रिडलोपे, 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे 'ग्रहो-ऽलिटि दीर्घः' इति इतो दीर्घे 'प्रहीता' इति सिद्धयति । गृह्णाण । प्रहधातोर्लुटि, मध्यमपुरुषैकवचने तिपि, अनुबन्धलोपे 'सेह्यपिच' इति ङादेशे 'क्रवादिभ्यः रना' इति रनाप्रत्यये अनुबन्धलोपे विश्वासावर्द्धधातुकस्ये द्वित्रे सप्रसारणे च कृते 'हलः शनः शानञ्ज्ञौ' इति शानञ्ज्ञादेशे शस्येऽसंज्ञायां लोपे च जाते नस्य णवे 'अतो हेः' इति हेर्लुकि च कृते 'गृह्णाण' इति सिद्धयति । अग्रहीत् । प्रहधातोर्लुकि लः स्थाने तिपि, अनुबन्धलोपे अडागमे च कृते, 'च्छि लुकि' इति च्छी, छेः सिजादेशे, इच्चावितौ तयोर्लोपे च कृते 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे तिपः इकारस्य लोपे तस्यापृकसंज्ञायाम् 'अस्तिस्त्रिऽपृक्ते' इत्यनेन ईडागमे, च कृते 'इट ईटि' इति सलोपे सिङ्गलोपस्य सिद्धश्वास्ववर्णदीर्घे 'घदमजहलन्तस्याचः' इति प्राप्तायाः वृत्तेः 'नेटि' इत्यनेन निषेधे 'अतो हलादेर्लघोः' इति वृद्धौ प्राप्तायाम् 'ह्यन्तश्चणश्चस-जागृगिरभ्येदिताम्' इत्यनेन निषेधे 'अग्रहीत्' इति सिद्धयति ।

निरःकुप इति । 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' रित्यनुवर्तते । 'स्वरतिसूति' इत्य-तो वेति च । तदाह—निरपपदादिति । निष्कोपितेति । निपूर्वात्कुपधातोर्लुटि तिपि तासि 'लुटः प्रथमस्य' इति ङादेशे द्वित्रास्रिडलोपे 'निरः कुप' इति पाचिक इटि 'पुगन्त' इति लघूपचगुणे निरो रस्य विसर्ग 'इदुदुपचस्य' इति विसर्गस्य पत्वे 'निष्कोपिता' इति रूपम् । यदा इडागमो न स्यात्तदा 'निष्कोप्-ता' इत्यवस्थायाम् ष्टुत्वे 'निष्कोष्टा' इति द्वितीयं रूपम् । निरकोषीत् । निर + अ + कुप् + स + ई + च् इत्यवस्थायाम् तिचः 'निरः कुपः' इति इडागमे 'इट ईटि' इति सिचो लोपे सवर्णे

निरः—'निर' उपसर्गक 'कुप्' धातुसे पर वलादि आर्धधातुकको 'इ' का आगम

हिंसायाम् । शृणाति । 'शृदृप्रौ ह्रस्वो वे'ति ह्रस्वपक्षे यण् । शश्रुत् । शशरुत् ।
 वृ विदारणे । शृणाति । ददृत् । ददरुत् । जृ वयोदानौ । जृणाति । मुप स्तेये ।
 मुष्णाति । मोषिता ॥ पुष पुष्टौ । पुष्णाति । पोषिता । अश्व बन्धने । बष्णाति ।
 बबन्ध । बबन्धिष । बबन्ध । बन्धा । भन्तस्यति । अभान्तमीत् । अभान्धाम् ।
 अभान्तु । विक्रशु विबाधने । किलरनाति । क्लेशिता । क्लेष्या अक्लेशीत् ।
 अक्लिषत् । इति परस्मैपदिनः ।

अथात्मनेपदिनाः ।

वृङ् संभक्तौ । वृणीते । वभ्रे । वभूये । वभूद्वे । वरिता । वरीता । ववरिष्ट ।
 अवरीट । ववृत ॥ इति ऋणादिः ॥

अथ पुरादिप्रकरणम्

पुर स्तेये । सत्यापपाशरूपधीणात्तूलश्लोकसेनालोमत्वचर्मवर्ण-

धीर्षे 'पुगन्त' इति गुणे 'निरकोपोत्' इति रूपम् । 'निर कुप' अनेनेद्विकल्पविधाना
 यद्वा इडागमो न स्यात्तदा 'शल इगुपचा' इति वस आदेशे 'पडोः कः ति' इति
 यस्य क्त्वे 'धादेशप्रत्यययोः' इति कापरस्य सकारस्य पक्षे उभयो सयोगेन क्त्वे
 'निरकुपत्' इति रूपम् । इति ऋणादयः ।

पुर स्तेय इति । रेफादकार उच्चारणार्थं, नरिशतशकः, प्रयोजनाभावात् । सत्यापेति ।
 सत्त्वात् पाश रूप धीणा तूल श्लोक सेना लोमन् रक्ष चर्मन् वर्ण चूर्णं पुरादय एषां
 शो, विकल्पते । किलरनाति—'शात्' एत सूत्रमे यदा दचुरत्का निषेध होता है ।

इत्तकार 'ए दुमरी' शोकामे ऋणादि प्रकरण समाप्त हुआ ।

सत्याप—'सत्याप' आदि शब्दोंसे तथा पुरादि गणपठित वातुभोते 'जिच्' प्रात्यय हो ।
 नोट—इस सूत्रमें—सत्याप, पाश, रूप, धीणा, तूल, श्लोक, सेना, लोमन्, रक्ष, चर्मन्,
 वर्ण, चूर्ण, पुरादि—इन समूहों का इन्द्रसमास समझना चाहिये । 'जिच्' के परे
 निम्न कार्य होते हैं—

(१) वातुके वपवा अकार और अन्वय स्वःकी वृद्धि होती है तथा वपवा क्तु स्वरकी
 गुण हो जाता है । (२) पूर्ववर्ती (अन्वय वातुके) अकारका लोप हो जाता है ।

(३) 'वृत्' का 'कीर्त' और 'वल्प' का 'कल्प' हो जाता है ।

चूर्णचुरादिभ्यो णिच् । ३।१।२५। एभ्यो णिच् स्यात् स्वार्थे । 'पुगन्ते'ति गुणः ।
 'मनाद्यन्ता' इति धातुत्वम् । तिप्शमादि । गुणयादेशौ । चोरयति । णिचश्च
 १।३।७४। णिजन्तादात्मनेपदं स्यात् कर्तृगामिति क्रियाफले । चोरयते । चोरया-
 मास । चोरयिता । चोर्यात् । चोरयिषोष्ट । 'गिश्री'ति चङ् । 'णौ चङी'ति ह्रस्वः ।
 'चङो'ति द्वित्वम् । 'हलादिः शेषः' । 'दीर्घो लघो' रित्यभ्यासस्य दीर्घः । अचू-

इन्द्रारपञ्चमी । तदाह—एभ्यो णिच् स्यादिति । चोरयति । चुरधातोः 'धर्तमाने लट्'
 इति लटि प्राप्ते तं बाधित्वा 'सत्यापपाशरूपधीणा०' इति चुरादिधात् स्वार्थे
 णिचि, णचयोरिसंज्ञायां लोपे च 'चुर इ' इत्यत्र णिच इकारस्य 'आर्धधातुकं शेषः'
 इत्यार्धधातुकत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य च' इति चुर उपधाया गुणे 'चोरि' इति जाते
 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् न्धातुत्वाद्द्वि लटि अनुबन्धलोपे लः स्याते
 तिपि पकारस्यैरसंज्ञायां लोपे च 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायाम्
 'कर्तरि णप्' इति णपि णपयोरिसंज्ञायां लोपे च शित्सार्वधातुकत्वे 'आर्धधा-
 तुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'चोरे अ ति' जाते 'एचोऽयदायावः' इत्यच्चादेशे मिङि-
 र्था 'चारयति' इति रूपम् । णिचश्चेति । 'अनुदात्तमितः' इत्यत्र आत्मनेपदमिति
 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' इति चानुवर्तते । प्रथमप्रहजपरिमादया
 णिजन्तादिति लभ्यते । तदाह—णिजन्तादित्यादिना । चोरयामास चुरधातोः
 स्वार्थे णिचि, धातुसंज्ञायाम् 'परोक्षे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच्च आम्बकस्यः'
 इत्यामि तस्य आर्धधातुकत्वे तस्य चोरिधातोर्गुणे अयादेशे च कृते 'आस' इति
 लिटो लुकि 'कृद्धानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परासोऽनुप्रयोगे कृते 'चोरयाम् अस्
 लिट्' इति जाते लिटो लः स्थाने तिपि तिपो णलि द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्यं
 संयोगे च कृते तसिद्धिः । चोरयिषोष्ट । चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् णाशिपि
 लिङि आत्मनेपदे ते आर्धधातुकत्वे सीयुटि उटि गते टिश्वादाषावषधे 'चोरि सी त'
 इति भूत्वे तस्य सुदागमे सीयुट इदागमे प्रकृतेर्गुणे अयादेशे सीयुटस्तस्य षत्वे तस्य
 ष्टुत्वे च रूपम् । अचूचुरत् । चोरीति पूर्ववत्प्रसाध्य तस्य धातुत्वात् लुक्स्तिपि
 अनुबन्धलोपे 'इतश्च' इति तिप इकारलोपे तस्य सार्वधातुकत्वे णपं बाधित्वा ष्लि
 लुङि' इति लौ 'गिश्रिदुच्यभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेः चङि अनुबन्धलोपे 'जेर-
 निटि' इति णिलोपे स्थानिवद्भावेन 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति चोर उपधाया
 ह्रस्वे 'चुर अ त्' इति जाते 'चङि' इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् अभ्यासकार्यं च
 कृते 'सन्वदलघुनि चङ्परेऽनगलोपे' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इत्यभ्यासोकारस्य
 दीर्घे अङ्गस्य अदागमे च 'अचूचुरत्' इति । चिति स्मृत्याम् । इदित्यान्नुमि णिचि

णिचश्च—णिजन्तसे आत्मनेपद इति, कर्तृगामो क्रियाफलं मे ।

धुरत् । चिति स्मृत्याम् । चिन्तयति । अचिचिन्तत् । 'चिन्ते'ति पठिनभ्ये इदि-
 क्करणं णिच पाशिकरत्वे लिङ्गम् । तेन 'चिन्त्यादि'त्यादौ नलोपो न । चिन्तति ।
 चिन्तेत्यादि । यत्रि सकोचे । यन्त्रयति । 'यन्त्रे'ति पठितु शक्यम् । यत्तु 'इदिक-
 रणाद्यन्त्रती'ति माधवेनाक्तं तच्चिन्त्यम् । एव-कुट्टि अनृतभाषणे । तत्रि कुट्टम्भा-
 रणे । मत्रि गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते । मन्त्रयते । (एतौ आत्मनेपदिनी) । स्फुटि
 परिहासे । स्फुण्डयति । पीड अक्वगाहे । भ्राजभासभाषदीपजीघमीलपीडा

तस्मात् 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे छटि तिपि षापि गुणोऽप्यादेशे 'चिन्तयति' इत्यस्य
 मित्पत्तिः । 'णिचश्च' इति कर्तृगामिति फले तु 'चिन्तयते' इति प्रयोगसिद्धिः । अचि
 चिन्तत् । चिति धातोर्मुनि निचि लुकि 'निधिक्षुष्म्य' इति चकि 'चिकि' इति
 द्वित्वे पूर्वस्याम्भासाये हलादि- शेषात्, अङ्गस्याङ्गागमे 'अ-चि+चिन्त+अ+त्'
 इति भूत्वे 'अचिचिन्तत्' इति रूपं प्रभवति । 'णिचश्च' इति कर्तृगामिति फले तु
 'अचिचिन्तत्' इत्येष रूपं शेषम् । अचिचिन्तयति—चिन्तयामास-भासे-अभूत्-
 चिचिन्तत् । चिन्तित्वा-चिन्तयित्वा । चिन्तयिष्यति—चिन्तयिष्यति । चिन्तयतु । अचि
 चिन्तयत् । चिन्तयेत् । चिन्तयात्—अचिन्तयिष्यत्-अचिन्तयिष्यत् । इति षोऽप्यामि ।
 चिन्तेति पठिनभ्ये । चिति इति इदिकरणं मास्तु प्रक्रियालाभश्च 'चिन्त' इत्यस्यैव
 उचितत्वात् । न च नलोपार्थं तस्यादरयकता । णी टिश्चकारवधोरभावेन तस्या
 प्रसृतेः । षापि धातोर्लिङ्गि तप्यासि धुरादिणिचो मित्पत्त्येन 'आयाद्यय' इत्यस्याभावे
 षोपस्याप्राप्तत्वाद्धिति भावः । एव वैदिककरणं स्वयं सत् इदितो णिचः पाशिकरत्वं
 ज्ञापयति । इति धातुयान्तरकल्पनया तन्त्रति-मन्त्रति-प्रयोगाणां सिद्धिः प्रभवति ।
 यत्रि-सकोचे । यन्त्रयति—यन्त्रति । यन्त्रयामास-ययन्त्र । यन्त्रयित्वा-यन्त्रित्वा ।
 यन्त्रयिष्यति-यन्त्रयिष्यति । यन्त्रयतु-यन्त्रयतु-अयन्त्रयत्-अयन्त्रयत् । यन्त्रयेत्-यन्त्रे
 य-यन्त्रयात् । अययन्त्रत् । अयन्त्रीत् । अययन्त्रयिष्यत्-अयन्त्रियिष्यत् । कुट्टि =
 अनृतभाषणे । कुट्टयति । कुट्टति । कुट्टयामास । कुट्टयत् । कुट्टयित्वा । कुट्टयित्वा ।
 कुट्टयिष्यति । कुट्टयिष्यति । कुट्टयतु । कुट्टयतु । अकुट्टयत्-अकुट्टयत् । कुट्टयेत्-
 कुट्टयेत्-कुट्टयात्-अकुट्टयत् । अकुट्टीत् । अकुट्टयिष्यत्-अकुट्टयिष्यत् । तत्रि-
 कुट्टम्भारणे । मत्रि-गुप्तपरिभाषणे । तन्त्रयते-मन्त्रयते । तन्त्रयामासे-मन्त्रयाम्
 भूत्वे । मन्त्रयाम्भके । तन्त्रयित्वा-मन्त्रयित्वा । तन्त्रयिष्यते-मन्त्रयिष्यते । तन्त्रयताम्-
 मन्त्रयताम् । अतन्त्रयत-अमन्त्रयत । तन्त्रयेत्-मन्त्रयेत् । तन्त्रयिषीष्ट-मन्त्रयि-
 षीष्ट । अतन्त्रयत-अमन्त्रयत । अतन्त्रयिष्यत-अमन्त्रयिष्यत । स्फुटि = परिहासे ।
 स्फुण्डयति-स्फुण्डति । स्फुण्डयामास-पुस्फुण्ड-स्फुण्डयित्वा-स्फुण्डित्वा । स्फुण्डयि-

भ्राज—भ्राजः धातुर्भोदौ ष्यवाको इत्येव शो, चत्परक णि' के परे, विकल्पते ।

मन्यतरस्याम् । ७।४।३। एषामुपधाया ह्रस्वो वा, चङ्परं णौ । अपिपीडत् ।
अपिपीडत् । प्रथं प्रख्याने । प्रथयति । अस्मृदृत्वरप्रथम्रदस्तृस्पशाम् । ७।४।
२५। एषामभ्यासस्याकारश्चङ्परं णौ । इवापवादः । अपप्रथत् । पृथ प्रक्षेपे ।
पर्ययति । उर्ऋत् । ७।४।७। उपधाया ऋवर्णस्य ऋद्वा, चङ्परं णौ । इररारामप-

प्यति-स्फुण्डिप्यति । स्फुण्डयत् = स्फुण्डत् । अस्फुण्डयत्-अस्फुण्डत् । स्फुण्डयेत्-
स्फुण्डेत् । स्फुण्ड्यात् । अपुस्फुण्डत्-अस्फुण्डीत् । अस्फुण्डयिष्यत्-अस्फुण्डिष्यत् ।
पीड = भवगाहे । पीडयति । पीडयांचकार । पीडयिता-पीडयिष्यति । पीडयत् ।
अपीडयत् । पीडयेत् । पीड्यात् । भ्रानमासेति । 'णौ चङ्परं उपाया ह्रस्वः' इत्यनुप-
ज्यते । नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । अपिपीडदिति । पीडधातोश्चुरादिवाणिचि सना-
दिवादात्संज्ञायां लुङि तिपि 'इत्श्च' ह्रस्वो ष्टौ सिचं बाधित्वा 'णिञि' इति
चङि 'पीड्-इ-अ-त्' इति स्थिते 'आजभास' इति ह्रस्वे 'गेरनिटि' इतीलोपे प्रथय-
लोपमाश्रित्य 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासे हलादिः शेषे ह्रस्वे 'सन्वह्लघुनि' इति
सन्वन्नावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घं 'अपीडत्' इत्येकं रूपम् । असति 'आजभास'
इत्युपधाह्रस्वे, लघुत्वाभावेन सन्वन्नावाभावे दीर्घाप्रसौ 'अपीडत्' इत्येव द्वितीयं
रूपम् । अपीडयिष्यत् । प्रथं = प्रख्याने । प्रथयति । प्रथयामास । प्रथयिता । प्रथयि-
ष्यति । प्रथयत् । अप्रथयत् । प्रथयेत् । प्रथ्यात् । 'अस्मृदृत्वरिति' । 'अत्र लोपोभ्यासस्य'
इत्यतस्तदनुवृत्तेरत आह-अभ्यासस्येति । 'सन्वह्लघुनि' इत्यतश्चङ् परे इति चानुवर्त-
ते । इवस्यापवादः । अपप्रथदिति । प्रथधातोर्णिचि सनादिवादात्त्वे लुङि तिपि 'इत्श्च'
इतीकारलोपे ष्टौ 'णिञि' इति चङि 'चङि' इति द्वित्वे 'गेरनिटि' णिलोपे पूर्वस्या-
भ्यासत्वे हलादिः शेषत्वेऽस्य लघुत्वात् 'सन्वह्लघुनि' इति सन्वन्नावे सति 'सन्वतः'
इतीत्वे प्राप्ते तं बाधित्वा अस्मृदृत्वरिति अभ्यासात्वादेशेऽङ्गस्याडागमे 'अपप्रथत्'
इति रूपं भवति । अप्रथयिष्यत् । पृथ = प्रक्षेपे । पर्ययति-पर्ययामास । पर्ययिता-
पर्ययिष्यति-पर्ययत्-अपर्ययत्-पर्ययेत्-पृथ्यात् । उर्ऋदिति । उरिति ऋशब्दस्य च्छ्य-
न्तं रूपम् । 'णौ चङि' इत्यनुवर्तते 'जिघ्रतेर्वा' इत्यतो वेति च । अपिपृषदिति । पृथ-
धातोर्णिचि धातुत्वे लुङि तिपि ष्टौ 'णिञि' इति चङि ह्रस्वो ष्टौ णिचमाश्रित्य गुणे
प्राप्ते तं बाधित्वा 'उर्ऋत्' इति ऋकारादेशेन गुणाभावे 'चङि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्या-
सत्वे 'उरत्' इत्यस्ये रपरत्वे हलादिः शेषत्वेऽङ्गस्याडागमे लघुत्वात् 'सन्वह्लघुनि' इति
सन्वन्नावे 'सन्वतः' इति इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घं 'अपीडत्' इति प्रथमं रूपम् ।
यदा तु णिचमाश्रित्य प्रथयलोपमाश्रित्य लघुपधगुणे सति रेफविशिष्ट्यकारपरकत्वे-

अस्मृ—'स्मृ' आदि धातुओंके अभ्यासको अकारान्त आदेश हो, चङ्परक 'णि' के
परे । उर्ऋत्—उपधा ऋधर्णको 'ऋत्' आदेश हो, चङ्परक 'णि' के परे, विकल्पसे ।

बाह् । अपीवृषत् । अपपर्यत् । लुण्ठ स्तेये । लुण्ठयति । अलुलुण्ठत् । तड्
 आधाते । ताडयति । अतीतडत् । मडि मूपायां, हर्षे च । मण्डयति । अममण्डत् ।
 मडि कल्याणे । भण्डयति । अमभण्डत् । छर्द् वमने । छर्दयति । अचछर्दत् ।
 चुद् संचोदने । चोदयति । अचूचुदत् । पाल रक्षणे । पालयति । अपीवलत् । पूज
 पूजयाम् । पूजयति । अपूपुजत् । कृत सशब्दने । उपधायाश्च । ७।१।१०१।
 पातोऽपधाया ऋन इत् । स्पर्त्विम् । 'उपधाया चे'ति दीर्घ । कीर्तयति । अकीर्त-
 तत् । अचिकीर्तत् । श्लोच्छ अम्यकायां वाचि । श्लोच्छयति । अमिश्लोच्छत् । ईह

ष पतिहाकारस्यालपुत्रेण सन्वज्ञावाप्राप्ती इत्याद्यभावे 'अपपर्यत्' इति द्वितीय रूपं
 भवति । अपपर्ययित् । लुण्ठ = स्तेये । लुण्ठयति । लुण्ठयामास । लुण्ठयिता । लुण्ठ-
 यिष्यति । लुण्ठयतु । अलुण्ठयत् । लुण्ठयत् । लुण्ठयात् । अलुलुण्ठत् । अलुलुण्ठि-
 ष्यत् । तड् आधाते । ताडयति । अत्र गिचि गिरवेण 'अत उपधायाः' इति वृद्धिर्बि-
 षेत् । ताडयामास । ताडयिता । ताडयिष्यति । ताडयतु । अताडयत् । ताडयेत् ।
 मण्डयत् । अतीतडत् । अताडयिष्यत् । मडि = मूपायां हर्षे च । इदिस्यान्मुमि मण्ड-
 यति—मण्डति—मण्डयामास—ममण्ड—मण्डयिता—मण्डिता । मण्डयिष्यति—मण्डि-
 ष्यति । मण्डयतु—मण्डतु । अमण्डयत् । अमण्डत्—मण्डयेत्—मण्डेत् । मण्डयात् ।
 अममण्डत् । अमण्डीत् । अमण्डयिष्यत् । अमण्डिष्यत् । मडि = हर्षण्ये । मण्डयति—
 मण्डति । मण्डयामास—ममण्ड—मण्डयिता—मण्डिता—मण्डयिष्यति—मण्डिष्यति ।
 मण्डयतु—मण्डतु । अमण्डयत्—अमण्डत्—मण्डयेत्—मण्डेत् । मण्डयात् । अममण्डत् ।
 अमण्डीत् । अमण्डयिष्यत्—अमण्डिष्यत् । कर्त् = वमने । कर्त्वति—कर्त्वामास—कर्त्-
 वित्त—कर्त्विष्यति । कर्त्वतु । अकर्त्वयत् । कर्त्वेत्—कर्त्वात्—अचकर्त्वत् । अकर्त्वि-
 ष्यत् । चुद् = संचोदने । 'पुगात्' इति गुणे चोदयति—चोदयामास—चोदयिता—
 चोदयिष्यति—चोदयतु—अचोदयत्—चोदयेत्—चुचत् । अचूचुदत् । अचोदयिष्यत् ।
 पूज—पूजयाम् । पूजयति । पूजयामास । पूजयिता । पूजयिष्यति । पूजयतु । अपूजयत् ।
 पूजयेत् । पूजात् । अपूपुजत् 'अत्र' 'आत्रमास' इति इत्सः । अपूजयिष्यत् । उपधाया-
 श्चेति । अतोऽस्त्वधिकाराङ्गभेदे इदिस्यादेसाः इत्यर्थः । कीर्तयति । कृतपातोर्गिचि
 'उपधायाश्च' इतीत्ये रपरान्ते 'उपधायां च' इति दीर्घे निषि सवि गुणेऽयादेशे 'कीर्त-
 यति' इति रूपम् । कीर्तयाचकार । कीर्तयिता । कीर्तयिष्यति । कीर्तयतु । अकीर्त-
 यत् । कीर्तयेत् । कीर्त्यात् । अचीकृतत् । अचिकीर्तत्—अत्र विकल्पेन 'उच्यत्' इति
 आकारादेशे सति प्रथमं रूपम् । तदभावे च 'उपधायाश्च' इति विहितेस्त्वविसिष्ट
 द्वितीय रूपमवसेयम् । अकीर्तयिष्यत् । श्लोच्छ = अम्यकायां वाचि । श्लोच्छयति ।

उपधा—उपधामूल वातुसम्बन्धो दीर्घ आकारको 'यत्' हो ।

स्तुतौ । ईडयति । ऐडिडत् । पिडि सङ्घाते । पिण्डयति ॥ रुष रोषे । रोपयति ।
 अरुषयत् । तुल उन्माने । तोलयति । अतूतुलत् ॥ शुरुय माने । शुम्बयति ।
 अशुशुल्बत् । घुपिर् विशब्दने । घोपयति । अजघुपत् । पट पुट लुट तुषि
 मिजि पिजि लुजि भजि लधि असि पिसि कुसि दसि कुशि घट घडि
 वृहि वर्ह वल्ह गुप धूप विच्छ चीव पुथ लोक्त लोचृ णद कुप तर्क वृत्तु
 वृधु भापार्थाः । पाटयति । पोटयति । लोटयति । तुञयति । एवं परेषाम् । घाटयति ।
 घण्टयति । नाग्लोपिशास्त्रुदिताम् । ७।४।२। णिच्यग्लोपिनः, शास्त्रेर्ऋदितां चोप-

म्लेच्छयाञ्चकार । म्लेच्छयिता । म्लेच्छयिष्यति । म्लेच्छयतु । अम्लेच्छयत् । म्लेच्छ-
 येत् । म्लेच्छयात् । अमिम्लेच्छत्, संयोगपरत्वेन गुहत्वात् न सन्धद्भावः । अम्लेच्छ-
 यिष्यत् । ईड=स्तुतौ । ईडयति । ईडाञ्चकार । ईडयिता । ईडयिष्यति । ईडयतु ।
 ऐडयत् । ईडयेत् । ईडयात् । ऐडिडत् । ऐडिष्यत् । पिडि=संघाते । पिण्डयति ।
 पिण्डति । पिण्डयाञ्चकार-पिपिण्ड । पिण्डयिता-पिण्डिता । पिण्डयिष्यति-पिण्डि-
 ष्यति । पिण्डयतु-पिण्डतु । अपिण्डयत्-अपिण्डत् । पिण्डेत्-पिण्डयेत् । पिण्डयात् ।
 अपिपिण्डत्-अपिण्डीत् । रुष=रोषे । रोपयति । रोपयाञ्चकार । रोपयिता । रोपयिष्यति ।
 रोषयतु । अरोषयत् । रोषयेत् । रुप्यात् । अरुषयत् । अरोपयिष्यत् । तुल-उन्माने ।
 तोलयति । तोलयाञ्चकार । तोलयिता । तोलयिष्यति । तोलयतु । अतोलयत् ।
 तोलयेत् । तुल्यात् । अतूतुलत् । अतोलयिष्यत् । शुरुय=माने । शुम्बयति-शुम्बाञ्च-
 कार । शुम्बयिता शुम्बयिष्यति । शुम्बयतु । अशुम्बयत्-शुम्बयेत् । शुम्बयात् ।
 अशुम्बयत् । अशुम्बयिष्यत् । घुपिर्=विशब्दने । घोपयति । घोपयाञ्चकार । घोप-
 यिता । घोपयिष्यति । घोषयतु । अघोषयत् । घोषयेत् । घुप्यात् । अजघुपत् । अघो-
 पयिष्यत् । पट=पाठयति । पोट=पोटयति । लुट=लोटयति । तुञि=तुञयति ।
 तुञति । मिजि=मिजयति-मिजति । पिजि=पिजयति-पिजति । लुजि=लुज-
 यति-लुजति । भजि=भजयति-भजति । लधि=लधयति-लधति । असि=असयति-असति ।
 पिसि=पिसयति-पिसति । कुसि=कुसयति-कुसति । दसि=दसयति-दंसति । कुशि=कुशयति-कुशति ।
 घट=घटयति । घडि=घडयति-घडति । वृहि=वृहयति । वर्ह=वर्हयति । वल्ह=वल्हयति । गुप-
 धूपयति । विच्छ=विच्छयति । चीव=चीवयति । पुथ=पोथयति । लोक्त=लोकयति ।
 लोचृ=लोचयति । णद=नादयति । कुप=कोपयति । तर्क=तर्कयति । वृत्तु=वर्तति ।
 वर्तयति । वृधु=वर्धति । वर्धयति । एवं लिटादिषु पूर्वदूशम् । नाग्लोपीति । 'णौ चह्युपधायाः' इत्यनुवर्तते । आदिशावर्तते । । प्यमग्लोपिन इत्य-

नाग्लो—'णिच्' परक अग्लोपी वातु और शास् तथा ऋदिद वातुकी वपधाको इत्य नही

धामा हारो न, चङ्परे णी । अलुलोकत् । अलुलोचत् । वर्त्तयति । वर्द्धयति । आ
धृषाद्वा (ग०) । इत ऊर्ध्वं विभाषितगिञो, धृषघातुमभिव्याप्य । युज पृच
सयमने । योजयति । योजति । अयौक्षीत् । पचयति । पचति । पचिता । अपर्चीत् ।
अर्च पूजायाम् । अर्चयति । पद्म मर्षणे । साहयति । स एवाय नाग सहति कल
भेभ्यः परिभवम् ॥ वृञ् आवरणे । वारयति । वारयते । धरति । वरते । जृ वयो-

श्राव्येति । द्वितीय तु निषेधे परनिमित्तम् । तदाह गिर्येति । अलुलोकत्-अलुलोचत् ।
अत्र लोहृलोचघातोः परत्- गिञि चङि सति तयो ऋदिघात् 'उर्ध्वत्' इति उपधा
हार्ये प्राप्ते स चाभित्वा 'नाभोवि' इति निषेधे लघूपधाभाववासन्वज्ञायामावे सति
दीर्घामाये प्रोक्ते रूपे भवति । विभाषितगिञमाह-चपेति । युज-पृच सयमने । योज
यति-योजति । पचयति पचति । योजयति चकार युजो ज पचयति चकार पचयति । योजयि-
ता योजिता पचयिता पचिता । योजयिष्यति योजिष्यति । पचयिष्यति पचिष्यति ।
योजयत्-योजत्-पचयत्-पचत् । अयोजयत्-अयोजत् । अपचयत्-अपचयत् योजयेत्
योजेत्-पचयेत्-पच्येत् युज्यात्-पच्येत् । अयुज्यत्-अयौक्षीत्-अपीपृचत्-अपिपृचत्
अपर्चीत् । अयोजयिष्यत्-अयोजिष्यत्-अपचयिष्यत्-अपचिष्यत् । अर्च=पूजायाम् ।
अर्चयति-अर्चति । अर्चयामास-आनर्चं । अर्चयिता-अर्चिता । अर्चयिष्यति-अर्चि-
ष्यति । अर्चयत्-अर्चत् । आर्चयत्-आर्चत् । अर्चयेत्-अर्च्येत् । अर्च्येत् । आर्चिष्यत् ।
आर्चीत् । आर्चयिष्यत्=आर्चिष्यत् । यह=मर्षणे । साहयति-सहति । अस्य घातोः
विभाषितगिर्यधम् उदाहरणेन समर्थयति 'स एवाय नागः सहति कलभेभ्यः परिभव
मि'त्यादिना अत्र 'सहति' इति गिर्यरहितं पदघातोरेव रूपमन्यथा तदर्थलाभेनागुप
पत्तेः । साहयति-ससाह । साहयिता सहिता-साहयिष्यति-सहिष्यति-साहयत्-
सहत्-असाहयत्-असहत्-साहयेत्-सहेत्-सहात्-अपीपहत्-असहीत्-असाहीत्-
असाहयिष्यत्-असहिष्यत् । वृञ्=भावरणे । वारयति-वरति-वरते । वारयामास-ववार ।
ववरे । वारयिता-वरिता-वरीता । वारिष्यति-वरीष्यति-वारयिष्यति-वरिष्यति ।
वरीष्यते । वारयत्-वरत्-वरात् । अवारयत्-अवारत्-अवारत् । वारयेत्-वरेत्-
वरेत् । वर्यात्-वरिषीष्ट-वरीषीष्ट । अवारयत्-अवारीत्-अवरिष्ट-अवरीष्ट । अवारयि-
ष्यत्-अवरिष्यत्-अवरीष्यत्-अवरिष्यत्-अवरीष्यत् । जृ वयोहानौ । वारयति-वरति ।
वारयामास-अवार-वारयिता-वरिता-वारयिष्यति-वरिष्यति-वारयत्-अवार-
रयत्-अवारत् । वारयेत्-अरेत् । जृपात् । अजीवरत्-अजरीत् । अवारयिष्यत्-अजरी

हो, चङ्परे णी के परे । आद्यकाङ्क्षा—'युज-पृच सयमने' ते लेकर 'धृष घातने' पाठ
पर्यन्त सभी शानुभोते गिञ् विकरते हो ।

हानौ । जारयति । जरति । शिष असर्वोपयोगे । शेषयति । शेषति । शेषा ।
अशिक्षत् । तप दाहे । तापयति । तपति । तप्ता । तृप तृप्तौ । तर्पयति । तर्पति ।
हिसि हिंसायाम् । हिंसयति । हिंसति । अर्ह पूजायाम् । आर्हयति । छद् अपवा-
रणे । छादयति । छदति । छदते । धूञ् कम्पने । (धूञ् प्रीञ्चोर्नुक्) णौ । धून-
यति । धवति । धवते केचित्तु 'धूञ्प्रीणो' रिति पठित्वा प्रीणातिसाहचर्याद् धूना-
तेरेव नुकमाहुः । धावयति । अयं स्वादौ, क्रयादौ, तुदादौ च । स्वादौ—ह्रस्वश्च ।
तथा च कविरहस्ये—

‘धूनोति चम्पकवनानि, धुनोत्यशोकं,

चूतं धुनाति, धुवति स्फुटितातिमुक्तम् ।

प्यत् । शिष=असर्वोपयोगे । शेषयति-शेषति । शेषयांचकार-शिशेष-शेषयिता-शेषा ।
शेषयिष्यति-शेषयति । शेषयतु-शेषतु । अशेषयत्-अशेषत् । शेषयेत्-शेषेत् । शिष्यात् ।
अशिशेषत्-अशिक्षत् । अशेषयिष्यत्-अशेषिष्यत् । तप = दाहे-तृप = तृप्तौ । ताप
यति-तपति-नर्पयति-नर्पति । तापयांचकार-तताप-तर्पयांचकार-ततर्प । तापयि-
ता-तप्ता-तर्पयिता-तर्पिता-तप्ता-तर्पिता । तापयिष्यति । तप्स्यति-तर्पयिष्यति-तर्पि-
ष्यति-तप्स्यति-तर्पस्यति । तापयतु तपतु-तर्पयतु-तर्पतु । अतापयत्-अतपत्-अतर्प-
यत्-अतर्पत् । तापयेत्-तर्पयेत्-तपेत्-तर्पेत् । तप्यात्-तृप्यात् । अतीतपत् । अताप्सीत्-
अतप्सीत् । अतीतृपत्-अततर्पत्-अताप्सीत्-अत्राप्सीत्-अतृपत्-अतापयिष्यत्-अत-
प्स्यत्-अतर्पयिष्यत्-अतर्पिष्यत्-अत्रप्स्यत्-अतप्स्यत् । हिसि = हिंसायाम्-हिंसय-
नि-हिंसति । हिंसयांचकार-जिहिंस । हिंसयिता-हिंसिता-हिंसयिष्यति-हिंसिष्यति ।
हिंसयतु हिंसतु । अहिंसत् । अहिंसयत् । हिंसयेत्-हिंसेत् । हिंस्यात् । अजिहिंसत्-
अहिंसीत् । अहिंसयिष्यत् । अहिंसिष्यत् । अर्ह = पूजायाम् । अर्हयति-अर्हति । अर्ह-
यामास-आनर्ह । अर्हयिता-अर्हिता । अर्हयिष्यति-अर्हिष्यति-अर्हयतु-अर्हतु-आ-
र्हयत्-आर्हत्-अर्हयेत्-अर्हेत्-अर्ह्यात् । आर्हिहत्-आर्हिात् । अर्हयिष्यत् । अर्हि-
ष्यत् । छद् = अपवारणे । छादयति-छदति-छदते । छादयामास-चच्छाद-चच्छदे ।
छादयिता-छदिता । छादयिष्यति-छदिष्यति-छदिष्यते । छादयतु-छदतु-छदताम् ।
अच्छादयत्-अच्छदत्-अच्छदत् छादयेत्-छदेत्-छदेत् । छधात्-छद्विष्ट । अर्षीछदत् ।
अच्छादीत्-अच्छदीत्-अच्छद्विष्ट । अच्छादयिष्यत्-अच्छदिष्यत्-अच्छदिष्यत् । धूञ् =
कम्पने । 'धूञ्प्रीञ्चोर्नुक्कम्प्यः' वार्तिकमेतत् णिचि सत्येव नुक्साहचर्यनियमादिति
भावः । धूनयति । धूञ्घातोर्णिचि नुकि घातुत्वे लटि षापि गुणेऽयादेशे 'धूनयती'ति ।

धूञ्—'धूञ्' और 'प्रीञ्' घातुको 'नुक्' का भागम हो, 'णिच्'के परे ।

वायुर्धिं धूनयति चम्पकपुष्परेणुम्,
यस्कानने धवति चन्दनमञ्जरीश्च ॥

प्रीञ् तर्पणे । प्रीणयति । प्रीणयते । प्रयति । प्रयते । दन् परिभाषणे । धाञ् यति । धवति । धृञ् । अभाशात् । मान पूजायाम् । मानयति । मानति । मानिता । मू प्राप्ता । आत्मनेपदी । भावयते । भवते । णिच्गुणियोगेनैवात्मनेपदमित्येके । भवति । मार्गं अन्वेपण । धृष्ट प्रसहने । धर्पयति । धर्पति ।

अथादन्ता ।

कथं वाक्यप्रबंधे । अङ्गोप । अच्. परस्मिन्पूर्वविधौ । १।५।५७। परनिमित्तोऽत्रादेशः स्थानिवत् स्यात्, स्थानिभूतादव पूर्वत्वेन दृष्टस्य विधौ कर्णभ्ये । इति स्थानिवत्त्वान्नोपधावृद्धिः । कथयति । अङ्गोपि-बाह्यार्धमन्वद्भाषी न । अचङ्गयत् ।

मान=पूजायाम् । मानयति-मानति । मानयांचकार-समान । मानयिता-मानिता । मानयिष्यति=मानिष्यति । मानयतु-मानतु । अमानयत्-अमानत् । मानयेत्-मानेत् । मान्यात् । अमानयत् । अमानीत् । अमानयिष्यत्-अमानिष्यत् । मू-प्राप्ता । भावयते-भवते । भावयांचक्रे-बभूवे । भावयिता-भविता । भावयिष्यते-भविष्यते । भावयताम्-भवताम् । अभावयत-अभवत । भावयेत्-भवेत् । भावयिषीष्ट-भविषीष्ट । अधीभवत् । अधीविष्ट । अधीविष्यत-अधीविष्यत् । कदा णिच्सन्निभोगे नात्मनेपदत्वा—भवति । बभूव । भविता । भविष्यति । भवतु । अभवत् । भवेत् । मूयात् । अमूत् । अमविष्यत् । मार्गं=अन्वेपणे । मार्गंभति-मार्गति । मार्गंभामास-ममार्गं । मार्गंयिता । मार्गिता । मार्गंयिष्यति-मार्गिष्यति । मार्गंयतु-मार्गंतु । अमार्गंयत् । अमार्गंत् । मार्गंयेत्-मार्गंत् । मार्गंयात् । अममार्गंत्-अमार्गंत् । अमार्गंयिष्यत्-अमार्गिष्यत् । घृष्ट=प्रसहने । धर्पयति-धर्पति । धर्पयामास-बधर्पं । धर्पयितः-धर्पिता । धर्पयिष्यति-धर्पिष्यति । धर्पयतु-धर्पंतु । अधर्पयत्-अधर्पत् । धर्पयेत्-धर्पेत् । घृभ्यात् । अधीघृष्टत्-अधीघर्पत्-अधीर्षात् । अधर्पयिष्यत्-अधर्पिष्यत् ।

कथयति । कथ इत्यकारान्तादस्माग्निच्च अनुबन्धलोपे 'अतो लोप' इति यकारोत्तरवर्तिन अकारस्य लोपे कृते 'अत उपधाया' इति धृद्धौ प्राप्तायाम् 'अथ परस्मिन् पूर्वविधौ' इति अङ्गोपस्य स्थानिवत्त्वात् तदभावे जाते 'सनाद्यन्ता धात्व' इति धातुसंज्ञाणाम् लटि, लृ' स्थाने त्रिपि अनुबन्धलोपे सार्वधातुकसंज्ञायां ऋषि अनुबन्धलोपे शिवासाधं धातुकसंज्ञायां गुणे अथादेशे च कृते 'कथयति' इति रूपम् । अचकयत् । कथ इत्यकारान्ताधातोर्निच्च अङ्गोपे

अच्—परनिमित्तक अजादेश स्थानिवत् हो, स्थानीभूत अच् से पूर्वत्वेन दृष्टको यदि विधि (कार्य) कथय हो ।

गण संख्याने । गणयति । ई च गणः । ७।४।९७। गणे रभ्यासस्य ईत्स्यात्, चादत्, चङ्परं णी । अजीगणत् । अजगणत् । रच प्रतियत्ने । रचयति । अररचत् । कल गतौ, संख्याने च । कलयति । अचकलत् । मह पूजायाम् । महयति । सूच पशु-न्ये । सूचयति । अघोपदेशत्वात् न पः । असूसूचत् । कुमार क्रीडायाम् । कुमार-यति । अचुकुमारत् । ऊन परिहाणे । ऊनयति । 'ओः पुयण्जी'ति सूत्रे 'पययो-रिति वक्तव्ये वर्ग-प्रत्याहारजप्रहो लिङ्गं--'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति । यत्र द्विरुक्त्वाभ्यासोत्तरखण्डेऽप्याद्योऽच् प्रक्रियायां, परिनिष्ठितरूपे वा अथर्षो लभ्यते तत्रैवायं निषेधः, ज्ञापकस्य सजातीयपेक्षत्वात् । तेनाचिकीर्तदित्यादि सिद्धम् । प्रकृते तु 'न' शब्दस्य द्वित्वम् । तत उत्तरखण्डे अल्लोपः । औननत् ।

तस्य स्थानिवद्भावात् बृहदभावे चातुर्बाहलुक्स्तिप हलोपे अटि च्लेः स्थाने 'जिद्धि-दुसुम्भः' इति चङि द्वित्वे अभ्यासत्वेऽभ्यासकार्यं चुरवे च कृते 'अ च कय् अ त्' इति भूते अत्र अकारोत्तरवर्तिनः अकारस्य णिञिनिमित्तेन लोपित्वात् । 'सन्वह्वुनि०' इति सम्बन्धाभावेन 'सन्वतः' इतीत्येष 'दु'र्षो लघोः' इति दीर्घस्य चाप्राप्तौ 'अच-कयत्' इति रूपम् । ई च गण इ'त् । 'सन्वह्वुनि' इत्यतः चङ्परं इति, 'अत्र लोपा' इत्यतोऽभ्यासस्येति चातुर्बाहलुके । अजीगणदिति । गणधातोर्णिचि अल्लोपे तस्य स्थानिवद्भावात् बृहदभावे क्लृप्स्तिप इकारलोपेऽटि च्लेश्चङि द्वित्वे अभ्यासत्वे इत्यदेः षैवे चुरवे अकारोपित्वाद्दीर्घसम्बन्धाभावेऽभ्यासे 'ई च गणः' इति ईत्वे 'अजी-गणत्' इति रूपम् । षैवे 'अचकयत्' इति । औननदिति । ऊनधातोर्णिचि लुकि तिपि 'इतश्च' इत्येवे ली 'जिद्धि' इति चङि 'गेरनिटि' इति णिञो लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य 'चङि' इत्यनेन अकारविशिष्टस्य नकारस्य द्वित्वे 'ऊ-न-न-अ-त्' इति जाते अङ्गस्याटागमे 'आटश्च' इति बृहदौ 'औननत्' इति रूपम् । अथ अत्र द्विरुक्त्वात्पूर्वम् अल्लोपे कृते तदनुं इकारविशिष्टस्य द्वित्वे सति 'औननत्' इति रूपं स्यात् । न च तथा कर्तव्ये 'द्विर्वचनेऽचि' इति निषेधप्रसङ्गः । अल्लोपनिमित्तस्य णिचो द्वित्वनिमित्तत्वाभावात् । इति चेन्न 'णिच्यजादेशो न द्वित्वे कार्ये इति' इति द्विरुक्त्वात्प्रागेवाजादेशनिषेधात् । न च 'णिच्यजादेश' इत्यप्रामाणिकम् । 'ओः पुयण्' इति सूत्रे 'ओः पययोः' इत्येव वक्तव्ये वर्गप्रत्याहारजकारप्रहणं णिच्यजादेशो नेति ज्ञापयति, इति ज्ञापकस्य प्रमाणत्वेन विद्यमानत्वात् । औनयिष्यत् । ष्वन = शब्दे । ष्वनयति । ष्वनयामास । ष्वनयिता । ष्वनयिष्यति । ष्वनबहु । अष्वनयत् । ष्वनयेत् । ष्वन्या-त् । अदष्वनत् । अष्वजयिष्यत् । सूत्र = देहमे । सूत्रवति । सूत्रयांचकार । सूत्रयि-

ई च—'गण' बाहुके अभ्यासको 'ईत्' ही ओर चकारात्—'अत्' मी हो, चङ्परक 'णि' के परे ।

ध्वन शब्दे । ध्वनयति । अदध्वन्त् । सूत्र वेष्टने । सूत्रयति । सूत्र प्रखणने ।
मूत्रयति । अदन्तत्वतामर्थाभिगजिबकल्प । मूत्रति ।

आ गर्वादा मनेपदिन ।

पद् गतो । पदयते । अपपदत् ॥ गृह प्रहणे । गृहयते । मृग अन्वेपने ।
मृगयते । शूर वीर विक्रान्तौ । शूरयते । वीरयते ॥ गर्घ माने । गर्घयते ॥

इति सुरादि ॥ १० ॥

—३३३३३—

अथ गिजन्तप्रक्रिया

स्वतन्त्र कर्त्ता । १।४।५५। क्रियायां स्वानन्वयेण विप्रक्षिनोऽर्थं कर्त्ता स्यात् ।
तत्प्रयोजको हेतुश्च । १।४।५५। कर्तृप्रयोजको हेतुमज्ञ, कर्तृमज्ञश्च स्यात् ।

ता । सूत्रयिष्यति सूत्रयतु । असूत्रयत् । सूत्रयेत् । सूत्र्यात् । असूत्रयत् । असूत्रयिष्यत् ।
सूत्र = प्रखणने । सूत्रयति-सूत्रति । सूत्रयाचकार-सुसूत्र । सूत्रयिता-सूत्रिना ।
सूत्रयिष्यति-सूत्रिष्यति । सूत्रयतु सूत्रतु । असूत्रयत् । असूत्रयत् । सूत्रयेत्-सूत्रेत् ।
सूत्र्यात् । असूत्रयत्-असूत्रीत् । असूत्रयिष्यत्-असूत्रि-यत् । पद्-गतो । पदयते-
पदयाचक्रे । पदयिता । पदयिष्यते । पदयनाम् । अपदयत् । पदयेत् । पदयिषीष्ट ।
अपपदत् । अपपदयिष्यत् । गृह-प्रहणे । गृहयने । गृहयाचक्रे । गृहयिता । गृहयि-
ष्यते । गृहयनाम् । अगृहयत् । गृहयेत् । गृहयिषीष्ट । अगृहयत् । अगृहयिष्यत् ।
मृग-अन्वेपने मृगयते । मृगयाचक्रे । मृगयिता । मृगयिष्यते । मृगयताम् । अमृ-
गयत् । मृगयेत् । मृगयिषीष्ट । अमृगयिष्यत् । शूर-वीर विक्रान्तौ । शूरयने-वीर-
यते । शूरयाचक्रे-वीरयाचक्रे । शूरयिता-वीरयिता । शूरयिष्यते-वीरयिष्यते ।
शूरयताम् । वीरयताम् । अशूरयत्-अवीरयत् । शूरयेत्-वीरयेत् । शूरयिषीष्ट-वीर-
यिषीष्ट । अशूरयत्-अवीरयत् । अशूरयिष्यत्-अवीरयिष्यत् । इति सुरादिः ।

—३३३३३—

स्वतन्त्र कर्त्तेः । कारकाधिकारात् क्रियाजनने स्वातन्त्र्यमिह विप्रक्षितमित्याह—
क्रियायामिति । 'स्वातन्त्र्यमिह प्राधान्यम्' इति भाष्ये स्पष्टम् । ननु 'स्थाली पचति'
इत्यादौ क्य स्थाण्यदीनां कर्तृत्वम्, स्वातन्त्र्याभावादित्यत आह—विप्रक्षिनोऽर्थे इति ।
'विप्रक्षित' कारकाणि मन्वन्ति' इति भाष्यादिति भावः । स्वातन्त्र्यञ्च धारणार्थं स्थाया
शब्दयत्त्वम् । अथ 'हेतुमति च' इति गिजिबधि चषयन् हेतुसंज्ञामाह—तत्प्रयोजको

अदन्तत्व—वस्तुतस्तु पाठोरन्त उदासो क्तिव्याम् च कश्चिद् बोध्यम् ।

इत्यकार इदुमती' दीकार्मे सुरादिगण समाप्त इति ।

—३३३३३—

स्वतन्त्र —किपार्मे स्वातन्त्र्येण विप्रक्षित ओ अर्थं नह कर्तृमज्ञ इति । तत्प्रयो—कर्त्ता

हेतुमति च । २।१।३६। प्रयोजकव्यापारे प्रेरणादी वाच्ये धातेर्णिच् स्यात् । भवन्तं प्रेरयति—भावयति । ओः पुयण्यपरे । ७।४।८०। सनि परे यदङ्गं तदवयवाऽभ्यानोवर्णस्य इत्स्यात्पवर्गयणकारेणवर्णपरेषु परतः । अवीभवत् । अपोपवत् ।

हेतुश्चेति । 'स्वतन्त्रः कर्ता' इति पूर्वसूत्रोपात्तः कर्ता तच्छब्देन परामृश्यते । तस्य कर्तुः, प्रयोजकः—प्रवर्तयिता तत्प्रयोजकः । तदाह—कर्तुः प्रयोजक इत्यादिना । हेतुमति चेति । 'सत्यापपाश' इत्यन्तां गिजित्यनुवर्तते । 'हेतुः—प्रयोजकः' आधारतया अस्यास्तीति हेतुमान् प्रयोजकनिष्ठः प्रेषणादिव्यापारः तस्मिन् वाच्ये णिच् स्यादित्यर्थः । 'धानोरेकाचो हलादं' इत्यतो धातोरित्यनुवर्तते । तदाह—प्रयोजकव्यापार इति । भवन्तमिति । देवदत्तो यज्वा भवति । तं प्रेरयति याजक इत्याद्यर्थे मूधात्वर्थस्य भवणस्य मुख्यकर्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता याजकादिः प्रयोजकः, तस्मिन् प्रायां प्रेषणायां मूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि वृद्धौ, आवादेशे च भावि इति गिजन्तम् । तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, धिपि शपि गुणे अंयादेशे च 'भावयति' इति भवन्तं प्रेरयतीति फलितोऽर्थः । ओः पुयणिति । उ इत्यस्य ओः इति षष्ठी । पुयणिज इति च्छेदः । पुश्च यण् च जू च इति समाहारद्वन्द्वसप्तमी । अः परो यस्मादिति बहुव्रीहिः । 'सन्वतः' इत्यस्मात्सनीत्यनुवर्तते । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । 'अत्र लोपोऽभ्यासस्य' इत्यस्मादभ्यासस्येति 'श्रुजामिद' इत्यस्मादिदिति चानुवर्तते । तदाह—सनि परे इत्यादिना । अवीभवत् । भू इत्यस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि 'णिच्यच आदेशो न स्याद् द्वित्वे कर्तव्ये' इति निषेधात् पूर्व वृद्धयभावे 'सनाद्यन्ता' इति धातुरात्तुल्यलुक्त्विप ह्रलोपे अटि च्लौ 'णिश्चिद्रुद्धभ्यः कर्तरि चङ्' इति च्लेश्छि अनुवन्धलोपे 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'अ भू अ व्' इति स्थिते 'द्वित्वे कार्ये णौ' अच आदेशस्य निषेधाद् वृद्धयावादेशाम्यां प्रागेव भू इत्यस्य 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे अभ्यासत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चार्थेन अस्य चर्चे 'अ बु भू अ व्' इति जाते प्रत्ययलक्षणत्वात् वृद्धौ आवादेशे 'णौ ऋद्युपधाया ह्रस्वः' इति उपधाह्रस्वे 'अ बु भू अ व्' इति भूने 'सन्वद्धशुनि चङ्परेऽनगलोपे' इति सन्वद्धावे 'ओः पुयण्यपरे' इत्यभ्यासोकारस्य इत्वे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घे च 'अवीभवत्' इति रूपम् । कर्तुर्गामिनि क्रियाफले 'अवीभवत्' इत्यात्मनेपदविशेषः । अपोपवदिति । पूञ् पवने धातोर्णिचि लुङि तिपि 'इत्श्च' ह्रलोपे च्लौ चङि 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'चङि' इति द्वित्वेऽङ्गस्याद्वागमे ह्रस्वे णिचमाश्रित्य 'अचो षिणिति' इति वृद्धौ आवादेशे 'णौ

प्रयोजक (प्रेरणा करनेवाला) 'हेतु'संज्ञक और 'कर्तु'संज्ञक हो । हेतु—प्रयोजक का प्रेषणादि व्यापार वाच्य रहने पर धातुसे 'णिच्' प्रत्यय हो । ओः पु—'सन्' परक जो अंग, तदवयव ओ अन्वत्सवयव उकार, उक्तको इत्य हो, अवर्णपरक कर्तव्य, वन् और वकारके परे ।

‘मूङ् षन्धने’ । अमीमवत् । अयीमवत् । इ शब्दे । अरीरवत् । अलौलवत् । अमीजवत् । ‘पुयण्जी’ ति किम् ? जुगावयिपति । अपरे किम् ? दुभूपति । अचतिश्च-
णोति इत्यति-प्रत्यति-प्लवति च्यवर्तीनां घा । ७ । ४ । ८१ । एषामभ्यासो-
कारस्योत्त्वं वा स्यात् मनि अवर्णपरे घाचक्षणे परे । असिसवत् । अमुस्रवत् ।
इत्यादि । अवर्णपरे किम् । शुभ्रपते । गिनन्ताणिन् परत्वाद् वृद्धौ प्राप्तायाम्-
‘प्यङ्गोपादिवङ्पुण्णुण्णुद्धिदीर्घेभ्य पूर्वविप्रतिषेधेने’ति णिलोप । चोर-
यति । ‘णौ चर्षी’ति ह्रस्व । ‘दीर्घो लघोरिति दीर्घ । न चाग्लोषित्वाद् द्वयोर-

चडि’ इति ह्रस्वे ‘ओ पुयण्णपरे’ इति उकारस्येत्वे ‘दीर्घो लघोः’ इति दीर्घे ‘अपीप
वत्’ इति रूपम् । अयीमवदिति । यु-निप्रणामिप्रणयोरस्माद्धातोर्ह्रस्वमति णिचि लुङि
तिपि ‘इतश्च’ इति हकारलोपे ष्टौ चडि ‘नेरनिटि’ इति षेर्लोपे ‘चडि’ इति द्वित्वे
‘पूर्वोऽभ्यास’ इत्यभ्यासत्वे ‘लोः पुयण्णपरे’ इति दान्यामस्येत्वे ‘दीर्घो लघोः’ इति
दीर्घे प्रत्ययलोपमाश्रित्य गित्वेन वृद्धावावादेशे ‘णौ षड्युपधाया इत्य’ इति ह्रस्वेऽङ्-
स्याहागमे ‘अपीमवत्’ इति रूपम् । अरीरवदिति । इ-स्येत्वेऽस्माद्धातोर्ह्रस्वमति णिचि
सनादिरवाद् घागुत्वे लुङि तिपि ‘इतश्च’ ह्रलोपे ष्टौ ष्टेश्चडि ‘चटि’ इति त्रित्वेऽङ्गस्या-
हागमे ‘ओ पुयण्णपरे’ इति उकाररयान हकारादेशे ‘सन्वस्रुणुनि’ इति सन्वद्भावे
‘दीर्घो लघोः’ इति दीर्घत्वे षेर्लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धावावादेशे उपधाह्रस्वे ‘अरीर-
वत्’ इति अलीलवत् । अमीजवत् । ‘अलु-लु-इ-अ-त्’ इत्यवस्थाया । तथा ‘अ-लु-
लु-इ-अ-त्’ इत्यवस्थायां ‘नेरनिटि’ इति षेर्लोपे प्रत्ययलोपमाश्रित्य गित्वाद् वृद्धौ
आवादेशे ‘ओ पुयण्णपरे’ इति अभ्यासस्येत्वे ‘सन्वस्रुणुनि’ इति सन्वद्भावे ‘दीर्घो
लघोः’ इति दीर्घे ‘णौ चडि’ इति ह्रस्वे ‘अलीलवत्, अमीजवत्’ इति उभयोरपि सिद्धि-
सफलम् । अवतिश्चोतीति । अपर इत्यनुवर्तसे ननु पुयण्ण इति । पयण्णकारयोरसंभ-
वात् । अववादी यज सापेक्षेण अन्वभिचारात् । असिसवदिति । छु = प्रचक्षणेऽस्मा-
द्धातो णिचि लुङि तिपि ‘इतश्च’ ह्रलोपे ष्टौ ‘णिचि’ इति ष्टेश्चडि ‘चडि’ इति
द्वित्वे प्रत्ययलोपमाश्रित्य वृद्धौ ‘णौ षड्युपधाया इत्य’ इति ह्रस्वे ‘अवति श्चोति’
इति पाणिनेऽभ्यासेत्वे ‘धमित्तवव’ इति । यदाऽभ्यासेत् न स्यात्तदा असुस्रवत् ।
इति च स्पष्टमेवेति भावः । चोरयतीति । चुरधातो चुरादिरवार्यणिचि तस्य सना-
पन्तत्वाद्वागुत्वे सति हेतुगति णिचि ‘चुर्-इ-इ’ वाच्यं ‘नेरनिटि’ इत्यनेन पूर्वषेर्लोपि
भाषे त वाधिरवा ‘अचोष्णिचि’ इति वृद्धौ च परत्वात्प्राप्तायां ‘प्यङ्गोपादिवि-
चार्तिकेन वृद्धे, पूर्वं णिलोपविधानसामर्थ्यात् पूर्वषेर्लोपे घागुत्वे लुङि तिपि ऋपि
‘शुगन्त’ इति गुणे तथा ‘सावर्षाद्वाक्यार्थघातुष्योः’ इति गुणे कृते ‘चोरयति’ इति

अवति—अत्रत्यदि वादुर्भाके दन्वाप्त संदन्वी उकारश्चे इत्य हो, सन्के न? तथा अर्वात्तक

प्यसम्भवः, प्याकृतितिर्देशात् । अचूचुरत् । दुओञ्चि गतिद्वयोः/। गौ च संश्रद्धोः । २।४।५१ । सन्परे, चम्परे च गौ क्षयतेः संप्रसारणं वा स्यात् । 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं चलच्च' इति वचनात्सम्प्रसारणम् । पूर्वरूपम् । अशूशवत् । अलघुत्वात् दीर्घः । अशिष्यत् । स्तम्भुसिबुसहां चङि । ८।३।११६ । उपसर्गनिमित्त एषां सस्य श्री न स्याच्चङि । श्वातस्तम्भत् । पर्यसीपिवत् । न्यसी-

रूपम् । अचूचुरदिति । 'सुर्-इ-इ' इत्यवस्थायां वृद्धिं वाधित्वा पूर्वविप्रतिषेधेन गेलोपे पुगन्तगुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे ळौ 'णिञि' इति चङि 'णेरनिटि' इति गेलोपे 'वङि' इति द्वित्वे अन्त्यात्वे हलादिशेषत्वे 'सन्वत्' इति सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घं 'अचूचुरत्' इति रूपं निष्पद्यते । न चात्र पूर्वगेलोपेनागलोपित्वात्सन्वद्भावो न स्यादिति वाच्यम् । गिसहशाकृतिर्यस्य तस्मिन् परतः सन्वद्भावविधानात् । 'गौ च संश्रद्धोः' । 'विधाया षेः' इति सूत्रमनुवर्तते । व्यङ्गः संप्रसारणमिति । अद्भावदिति । विधातोः हेतुमति णिञि सनादिवाद्भातुत्वे लुङि तिपि इलोपे वृद्धिं 'संप्रसारणं तदाश्रयं च कार्यं चलच्च' इति वार्तिक्यलात् वाधित्वा 'गौ च संश्रद्धोः' इति पूर्वं संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'णेरनिटि' गेलोपे 'वङि' इति द्वित्वे प्रत्ययलोपसाहित्य वृद्धावावापेणे ह्रस्वे लघुपरकत्वात्सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घञ्ज्ञस्याडागमे 'अशूशवत्' इति रूपम् । यदा संप्रसारणं न स्यात् 'अ-सि-सि-अ-त्' इत्यवस्थायां हलादिशेषे णिलोपसाहित्य वृद्धौ धायादेशे 'गौ चङि' ह्रस्वे 'अशिष्यत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । स्तम्भुसिबुसहां चङीति । उपसर्गनिमित्तस्य प्रतिषेधः इति वार्तिकम् । 'सहः साङ्गः सः' इत्यतः स इति पठयन्तभ्रजुवर्तते । मूर्धन्य इत्यधिकृतम् । अवातस्तम्भत् । अचपूर्वात् स्तम्भधातोर्णिञि लुङि तिपि इलोपे ळौ चङि गेलोपे धातोर्द्वित्वेऽङ्गस्याडागमे 'अवातस्तम्भत्' इति रूपम् । अत्र 'अवाद्यालघवनाविद्व्ययोः' इत्यनेन प्राप्तं पठ्यं 'स्तम्भुसिबुसहां चङि' इत्यनेन निषिध्यते । पर्यसीपिवत् । 'परि-अ-सि-सि-अ-त्' इत्यवस्थायां सन्वद्भावे 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घं 'आदेशप्रत्यययोः' इत्यपरसकारस्य परत्वे यणि 'पर्यसीपिवत्' इति रूपम् । अत्र 'परिनिविभ्यः' इति प्राप्तं पठ्यं 'स्तम्भुसिबुसहां चङि' इति निषिध्यते । न्यसीपिवत् । निपूर्वात् 'पह'मर्पणे धातोर्णिञि लुङि तिपि ळौ चङि द्वित्वेऽडागमे 'नि-अ-स-सह-अत्' इति जाते सन्वद्भावे 'सन्पतः' इतीत्ये 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घं यणि परसकारस्य परत्वे 'न्यसीपिवत्' इति रूपम् । अत्र प्रथमसकारस्य प्राप्ते 'परिनिविभ्यः' इति प्राप्तं 'स्तम्भुसिबुसहां चङि' इति निषिध्यते ।

भास्वद्वारे परे, विकल्पते । गौ च-तन् मोर 'चम्' परञ् 'णि' परमे, रहने पर 'वि' धातुको संप्रसारण षे, विकल्पते । स्तम्भु-—एषसांर्य निमित्तञ्जे पर स्तम्भादि धातुके सहा पर को

पठत् । स्यापेच्छदि । ६।१।११८। प्यन्तस्य स्वापेच्छदि सम्प्रसारण स्यात् । असुपु-
पत् । हनस्तोऽचिण्णलोः । ७।३।३२ । हन्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्याच्चिण्णत्वर्ज-
जिति गिति च परे । घातयति । अर्तिह्रींल्लौरीकनूपीकमाय्यातां पुग्णौ । ७।
३।३६। एषो षुह् स्याणौ । स्यापयति । तिष्ठतेरित् । ७।४।५। तिष्ठतेरुपधाया इदा-
देशः स्यात्परं णौ । अतिष्ठिपत् । प्रापयति । जिघ्रतेर्घा । ७।४।६ । जिघ्रतेरुप-
धाया इत्त्वं वा स्यात्परं णौ । अजिघ्रिपत् । अजिघ्रपत् । शाच्छासाहाय्या-

स्वान्तेश्चोति । प्यन्तस्य स्वापे सम्प्रसारणं स्याच्छदि इति सूत्रार्थः । 'स्वापि' इति
प्यन्तविशिष्टारलुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्छौ च्छि 'स्वापेच्छदि' इति सम्प्रसारणे
'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'गेरनिटि' इति गेर्लोपे 'घटि' इति द्वित्वे हलादिशेषे
अङ्गस्यादागमे 'अ-सु-सुप-अत्' इति जाते 'आदेशप्रत्यययोः' इति पत्वे 'सन्वत्' इति
एन्वजाये 'दीर्घो लो' इति दीर्घाये 'असुपुपत्' इति रूपं भवति । हनस्तोऽचिणिति ।
हनस्तेस्तकारोऽन्तादेशः स्यात् चिण्णत्वर्जं जिति गिति च परत् । घातयतीति ।
हमघातोर्हेतुमणौ घातुत्ये लटि तिपि घापि 'हन्-इ-अ-ति' इति जाते 'हनस्तोऽ-
चिण्णलो' इति हनस्तकारान्तादेशे 'हो हन्ते' इति कुन्वेन हस्य घाये- 'अत
उपधाया' इति दीर्घे 'घाति-अ-ति' इति जाते 'सावघातुकारघातुक्तयोः' इति
गुणेऽन्तादेशे 'घातयति' इति रूपम् । लुङि 'अजीघतत्' इति रूपमवमेयम् । अतिष्ठि
पत् । स्यात्प्रातीर्गिति पुकि 'गिश्चिदुसुम्य कर्तरि च्छ' इति च्छि अनुयन्चलोपे
'गिण्यच्च आदेशो न स्यात्, द्वित्वे कार्त्त' इति निषेधात् इत्स्वापेचया पूर्वं 'चछि' इति
द्वित्वे अम्यासत्वे 'दापूर्वा लय' इति सलोपेऽभ्यासहस्त्वे चत्वं 'णौ च्छुपुपधाया
हस्य' इति उपधाया हस्वे 'गेरनिटि' इति गिलोपे 'सन्वत्पुनि च्छररेऽनगलोपे'
इति हस्वे पत्वे ष्टुत्वे 'तिष्ठतेरित्' इति इत्त्वे च 'अतिष्ठिपत्' इति रूपम् । अत्र
केचित् 'भ्रौण् अपनयने' इत्यत्र 'श्रदिस्करणात्तिहात्' 'उपधाकारं द्वित्वात्प्रयत्नम्'
इति कश्चनचा पूर्व 'तिष्ठतेरित्' इति इत्त्वं सतो द्वित्वमिति न समीचीनमिति
मामागिजाः । तत्र प्रमाणमन्यत्र स्पष्टम् । जिघ्रतेर्घा । प्राधानोरुपधाया इदादेशः
स्याच्चपरं णौ । अजिघ्रपत् । प्राघातोर्गिति 'अर्तिह्री' इति पुकि सनादिस्वादागुत्वे
लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे च्छौ 'जिश्चि' इति च्छि अङ्गस्यादागमे 'अ-घाप्-इ-अ-

पत् नहीं हो, 'चछ' के परे । स्वापे—प्यन्त 'स्वप्' वातुको सम्प्रसारण हो 'चछ' के परे ।
हनस्तो—'हन्' वातुको वकारान्त आदेश हो, 'चिण्' तथा 'णल्' बन्धित भित्त-गित् प्रत्ययके
परे । अर्ति—'ह्', ही, च्छी, री, कनूपी, हमाथो और आदन्त वातुको 'पुङ्' का आरम्भ हो,
'गि' के परे । तिष्ठ—'त्वा' वातुको उपधाको 'हस्य' हो, च्छपरक 'गि' के परे । जिघ्र—'घ्रा'
वातुको उपधातुको 'हस्य' हो, च्छपरक 'गि' के परे, विकल्पसे । शाच्छा—'शौ, छो, षो,

वेपां युक् । ७।३।३७ । एपां युक् स्याण्णौ । शाययति । अशीशयत् । हाययति ।
 ह्रः सम्प्रसारणम् । ६।१।३२ । सन्परं चङ्परं च णौ ह्रः सम्प्रसारणं स्यात् ।
 (काण्पादीनां वेति वक्तव्यम्) काण्पादीनां चङ्परं णौ उपधाया ह्रस्वो वा
 स्यात् । ष्यन्ताः कणरणभणप्रणलुपहेठाः षड् भाष्ये उक्ताः । हायिवाणिलोठिलोपय-
 श्रत्वारोऽधिका न्यासे । चाणिलोटी अप्यन्यत्र । इत्थं काण्पादयो द्वादश । अनूहवत् ।
 अनुहानत् । पाययति । लोपः पिवतेरीच्चाभ्यासस्य । ७।४।४ । पिवतेरुपधाया
 लोपः स्यादभ्यासस्य ईदन्तादेशश्च चङ्परं णौ । अपीप्यत् । (पातेणौ लुपदक्तव्यः)
 पुकोऽपवादः । पालयति । वो विधूनने जुक् । ७।३।३८ । वातेर्जुक् स्याण्णौ

त्' इति जातं 'जिघ्रतेर्वा' इति उपधाया इत्थे 'गेरनिटि' इति गेलोपे 'चळि' इत्यनेन
 द्वित्वे पूर्वोऽभ्यासश्चे हलादिदेशपर्ये 'कुहोऽनुः' इति जस्वे 'अ-वि-मिप् षत्' इति जाते
 'धर्जिदिपत्' इत्येकं रूपं भवति । यदा तु इत्थं न स्यात्तदा 'णौचळि' इति ह्रस्वत्वे
 'सन्त्यतः' इति इत्थे 'अजिघ्रयत्' इति द्वितीयं रूपं भवति । आच्छासेति । पुकोऽपवादः ।
 णौ परत एपां धातूनां युगागमो भवतीति भावः । शाययतीति । शो वनूकरणेऽस्ताद्धातोः
 णौ 'आदेच उपदेशेऽत्रिति' इत्याख्ये पुगागमं वाधित्वा 'शाच्छासा' इति युगागमे
 'शायि' इति जाते सनादित्वेन धातुसंज्ञायां लटि त्रिपि शपि गुणेऽप्यदेशे 'शाययति'
 इति । हाययति । ह्येञ्-धातोर्णिचि 'आदेच' इत्याख्ये 'शाच्छासा' इति युकि 'ह्याधि'
 इति जाते धातुत्वे लटि त्रिपि शपि अयादेशे 'हाययति' इति रूपं भवति । ङः सम्प्र-
 सारणमिति । 'णौ च संश्रलोः' इत्यनुपज्यते । ह्र इति षष्ठी । ह्येञः सम्प्रसारणं स्यात् ।
 पाययतीति । पा धातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि लटि त्रिपि शपि गुणेऽप्यदेशे
 'पाययति' इति रूपं भवति । लोपः पिवतेरिति । 'णौ चङ्परुपधाया ह्रस्वः'
 इत्यतः णौ चळीति अनुपज्यते । अपीप्यदिति । पाधातोर्णिचि 'शाच्छासा' इति युकि
 'पायि' इति जाते लुङि त्रिपि 'इत्थ' ह्रलोपे च्लौ 'णिश्चि' इति चळि 'गेरनिटि'
 इति गेलोपे 'चळि' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे 'अ-पा-पाय-अ-त्' इति जाते 'लोपः
 पिवतेरीच्चाभ्यासस्य' इति अभ्यासस्येदादेशे धातोश्चोपधालोपे, 'अपीप्यत्' इति
 रूपं भवति । पाल = रक्षणे । पालयति । वो विधूनने जुगिति । वा = गतिगन्धनयोश्-
 स्माज्जुडस्यात् विधूननार्थं णौ परतः । वाधातोर्णौ युकि 'वाधि' इति जाते लटि त्रिपि

ह्येञ्, व्येञ्, वेञ् और पा धातुको 'युक्' का आगमः हो, 'णि' के परे । ह्रः सम्प्र- 'ह्येञ्'
 धातुको सम्प्रसारण हो, सन्परक और चङ्परक 'णि' के परे । काण्पा-काण्पादि धातुओंको
 उपधाको 'ह्रस्व' हो, चङ्परक 'णि' के परे । लोपः- 'वा' धातुको उपधाका लोप हो और
 अभ्यासको ईदन्तादेश हो, चङ्परक 'णि' के परे । पातेणौ- 'वा' धातुको 'ह्रस्व' का आगम
 हो, 'णि' के परे । वो विधू- 'वा' धातुको विधूनन अर्थमें 'जुक्' का आगम हो, 'णि' के

कम्पेऽर्थे । धाजयति । विधून्ने किम् ? केरान्वापयति । शदेरगतौ तः । ७।३।४२।
 शदेर्णो तोऽन्तादेश स्याच्च तु गनौ । शातयति । गतौ तु—गाः, शादयति
 गोविन्द* । गमयती*यर्थ* । रुह* पोऽन्यतरस्याम् । ७ । ३ । ४३ । रुट् पमा-
 रोऽन्तादेशो वा स्याष्णौ । रोपयति । रोहयति । दोषो णौ । ६।४।९०। दुष्प्रतेरुप-
 धाया ऊत्स्याष्णौ । दूषयति । वा चित्तविरागे । ६।४।९१। दुष्यतेरुपधाया ऊत्स्या-
 द्वा, णौ चित्तविरागे । विरागोऽप्रीतता । दुष वैकृत्ये । चित्त दूषयति, दोषयति वा
 काम । उमौ साभ्यासस्य । ८ । ४ । २१ । साभ्यामस्यानितेरुभौ नकारौ णत्वं
 प्राप्नुतौ निमित्ते सति । प्राणिणर् । णौ गमिरयोधने । २ । ४ । ४६ । इणो
 गमि स्याण्णाचबोधने । गमयति । बोधने तु—प्रत्याययति । घट चेष्टायाम् ।

हापि गुणेऽयादेशे 'धाजयति' इति रूप भवति । 'केरान्वापयति' अत्र न जुह् विधून्
 नामावात् । किन्तु आदन्तत्वात्पुगेव । शदेरगताविति । शदृष्टु विचारणगत्थवसावनेषु ।
 अस्य णौ परतस्तकारादेश स्यादित्यर्थ* । शदृधातो णौ 'शदेरगतौ त' इत्यनेन
 ह्रस्व स्थाने मकारादेशे 'अत उपधाया' इति उपधाया दीर्घत्वे 'शाति' छटि तिपि
 हापि गुणेऽयादेशे 'शातयति' इति रूपम् । अय तकारादेश' गतिनिष्कार्थं एव स्यात् ।
 गतौ तु 'शादयति' इत्येव रूप भवति । रुह पोऽन्यतरस्यामिति । रुहधातो पदारा-
 न्तादेश स्याष्णौ विवक्षणेन । रुहधातोर्णौ 'रुह* पोऽन्यतरस्याम्' इत्यनेन ह्रस्व पक्षे
 'पुगन्त' इति गुणेऽयादेशे 'रोपयति' इति एक रूपम् । यदा पकारादेशो न स्यात्तदा
 'रोहयति' इति तु मध्यस्थेवेति दिक् । दोषो णौ । दुष्धातोर्पधाया ऊदादेश
 स्याष्णौ परत इत्यर्थ* । दूषयतीति । दुष्धातोर्होतुमणिञि 'दोषो णौ' इत्यनेनापधाया
 ऊदादेशे छटि तिपि हापि गुणेऽयादेशे 'दूषयति' इति । वा चित्तविरागे । अत्र 'दोषो
 णौ' इत्यनुवर्तते । चित्तविरागार्थं गम्ये दुष्धातोर्पधाया ऊदादेशो वा स्यादिति
 सूत्रार्थः । णौ गमिरवाधन इति । इण्=गतावस्य गमिरादेशो भवति अचोघनार्थं
 गम्ये णौ परत । इण् धातोर्णौ 'णौगमि' इति गम्यादेशे छटि तिपि हापि गुणेऽयादेशे
 'गमयति' इति रूपम् । बोधने तु—प्रत्याययति । प्रति—इण्धातोर्णिञि 'अचोऽस्मिणिति'
 इति षुद्धौ अयादेशे 'प्रति—आयि' यणि 'प्रत्यायि' अस्मात्छटि तिपि हापि गुणेऽयादेशे
 'प्रत्याययति' इति रूप भवति । 'मितां ह्रस्व' विधास्यमान ह्रस्वरश्च परिकल्प्य मित्स

परे । शदे —'शद' धातुको गतिभित्त अर्थमें तकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे । रुह—
 'रुह' धातुको पकारान्त आदेश हो, 'णि' के परे, विकल्पसे । दोषो—'दुष्' धातुको उपधाये
 'ऊद्' आदेश हो, 'णि' के परे । वा चित्त—'दुष्' धातुको उपधायो ऊत्सव हो, चित्तविराग
 (इच्छाविरह) अर्थमें, विकल्पसे । उमौ—रेफ-निमित्तसे पर 'अन्' धातुके अन्यास सहित
 दोनों नकारको णत्व हो । णौ गमि—अचोबोधन अर्थमें 'इण्' धातुको 'गम्' आदेश हो,

(ग०) घटादयो मितः । जनीजूप्क्नसुरज्ञोऽमन्ताश्च । एते मितः । (ग०)
 ज्वलहल्ललनमामनुपसर्गाद्वा । अनुपसर्गादिषां मित्वं वा । ग्लास्त्वावनुदमां
 च । अनुपसर्गादिषां मित्वं वा । न कर्म्यमित्तमाय् । अमन्तत्वात्प्राप्तं मित्वमेपां
 न । यमोऽपरिवेषणे । यच्छतेर्भोजनतोऽन्यत्र मित्वं न । स्वद्विरवपरिभ्यां
 च । स्वद्विरवपरिभ्यां परीभूतो मित् न । मित्तां ह्रस्वः । ६ । ४ । ९२ ।
 घटादीनां, षपादीनां च णानुपधाया ह्रस्वः । घटयति । अजीघटत । क्लृप् ज्ञाने,
 शापने च । इपयति । अजिज्ञपत् । रभेरशक्लिटोः । ७ । १ । ६३ । रमेर्नुमचि,
 न तु शक्लिटोः । लभेश्च । ७ । १ । ६४ । लभेर्नुम् स्यादचि, न तु शक्लिटोः । अरर-
 म्भत् । अललम्भन् । ईर्ष्ययति । (ईर्ष्यतेऽस्तृतीयस्वेति वक्तव्यम्) तृतीयव्यञ्ज-

ञ्जकानां परिगणनं रसूत्रं विधत्ते । घटादयो मित इत्यारभ्य 'जनीजूप्' इति यावद् ।
 केषाञ्चित् वैकल्पिकं मित्वं मत्वा आह 'ज्वलहल' इत्यारभ्य 'ग्लास्त्वा' इति यावद् ।
 प्राप्तानामनीप्पितानां मित्वं निषेधयति । 'न कर्म्यमि' इत्यतः 'स्वद्विरव' इत्यन्तं
 यावत् । अजिज्ञपत् । इप् इत्यस्माणिचि उपधावृद्धौ ह्रस्वे 'ज्ञपि' इति जाते धातुत्वा-
 दलुक्स्तिप् ह्रकारलोपेऽटि च्लेश्चि 'णेरनिटि' इति णिलोपे 'चडि' इति द्वित्वेऽभ्यास-
 काथे 'सन्वह्लुनि चल्परेऽनरलोपे' इति सन्वज्ञावे 'सन्वतः' इति अभ्यासस्याकार-
 स्येत्वे लपुत्वाभावात् 'दीर्घो लघोः' इति दीर्घाभावे 'अजिज्ञपत्' इति रूपम् ।
 रभेरशक्लिटोरिति । 'इदितो नुम्' इत्यतो नुमित्यनुवर्तते 'शधिजभोरचि' इत्यतः 'अचि'
 इत्यनुवर्तते । अररम्भत् । रभघातोर्णिचि 'रभेरशक्लिटोः' इति नुमि मिधादन्त्यायय-
 वेऽनुस्यारे परसवर्णे लुङि तिपि 'इतश्च' इलोपे 'णेरनिटि' इति णेलोपेऽभ्यास-
 काथे 'चडि' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे हलादिशेषत्वे 'अररम्भत्' इति रूपं भवति । अत्र
 संयोगपरत्वेन ह्रस्वाभावात् सन्वत्वम् । लभेश्चेति । लभेरपि नुम्, अचि परतः बह्वु
 ज्ञाव्लिटोः । अललम्भत् । 'अलम्भ अत्' इत्यवस्थायां 'चडि' द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे
 हलादिशेषत्वे 'अललम्भत्' इति रूपम् । अत्रापि दीर्घत्वात् सन्वद्भावः । ईर्ष्ययति ।

'णि'के परे । घटादयो—स्वायन्तर्गत घटादि गणपठित धातु 'मित्' हो । जनी—जनी—जूप्
 वादि धातु तथा अमन्न् धातु भी 'मित्' हो । ज्वल—अनुपसर्गाक ज्वल—हल आदि धातु
 विकल्पसे 'मित्' हो । ग्लास्त्वा—अनुपसर्गाक ग्ला—स्त्वा आदि धातु 'मित्' हो, विकल्पसे ।
 न कर्म्य—अमन्त होने पर भी कर्म्यादि धातु 'मित्' नहीं हो । यमो—अपरिवेषण अर्थमें
 'यम्' धातु 'मित्' नहीं हो । स्वद्विर—अव—परि उपसर्गसे पर 'स्वद्वि' धातु 'मित्' नहीं हो ।
 मित्तां—घटादि और षपादि धातुओंको उपधाको 'ह्रस्व' हो 'णि' के परे । रमेर—'रस'
 धातुको 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धीसे भिन्न गच् के परे । लभेश्च—'लम्'
 धातुको भी 'नुम्' हो, 'शप्' और 'लिट्' सम्बन्धी भिन्न अच्के परे । ईर्ष्य—'ईर्ष्ययति'के

नस्य, तृतीयैकाच इति वार्थ । आद्ये प्रकारस्य द्वित्वं वारयितुमिदम् । द्वितीये त्वजा-
देद्वितीयस्येन्यस्याऽपवादतया सन्नन्ते प्रवर्तते । ऐप्यियत् । द्वितीयव्याख्यायां
गिजन्ताच्चङि प्रकार एवाभ्यासे श्रूयने, हलादि शेषात् । द्वित्वं तु द्वितीयस्यैव,
तृतीयभावेन प्रकृतवार्त्तिकाऽप्रवृत्ते । ऐप्यियत् ॥ इति प्यन्तप्रकरणम् ।

अथ सन्नन्तप्रकरणम्

धातो' कर्मण समानकर्तृकादिच्छायां वा । ३।१।७। इपिस्मणो धातोरि-
षिणक्कर्तृकामन्तेच्छायाम् । धातोर्विधेरिह सन आर्द्धधातुफलम् । पठ व्यक्षायां
धाचि । इट् । सन्यङ्गो । ६।१।९। सन्नन्तस्य यञन्तस्य च प्रथमस्यैकान्तो द्वे स्तोऽ-
णादेशु द्वितीयस्य । 'सन्यत्' । पठितुमिच्छति-पिपठिषति । कर्मण किम् ?

ईप्यं-ईप्यायाम् । अस्माणी लटि त्विपि नापि गुणेऽप्यादेशे 'ईप्यंयति' इति रूपम् ।
ऐप्यियदिति । ईप्यंधातोर्गिचि लुङि त्विपि 'इतश्च' इलोपे ष्ठी 'णिश्चि' इति चङि
'ईप्यं-इ-भ-त्' इति जाते प्रकारविशिष्टस्य द्वितीयाचो द्वित्वे प्राप्ते स बाधिष्वा
'ईप्यंतेस्तृतीयस्येति वाच्यम्' इत्यनेन प्रकारविशिष्टकारस्य द्वित्वे 'ईप्यं-यि-यि-भ-त्'
इति जाते 'गेरनिटि' इति गोलोपे 'ईप्यियं-अत्' इति स्थिते 'आटजादीनाम्' इत्या'
दागमे 'आटश्च' इति वृद्धौ 'ऐप्यियत्' इत्येक रूपं भवति । यदा तु प्रकारविशिष्टस्य
द्वित्वमिति पठ रबीक्रियते यदा 'आ-ईप्यि-प्यि-धात्' इत्ययस्यायां हलादि शेषेण
पठोपे 'गेरनिटि' इत्यनेन च गोलोपे 'आटश्च' वृद्धौ 'ऐप्यियत्' इति द्वितीय रूपं
सम्पद्यते । इति गिजन्तप्रक्रिया ।

धातो कर्मण इति । 'गुणितिक्रमण' इत्यत सन्नित्यनुवर्तते । इच्छाया श्रुतत्वात्तां
मन्त्रेण कर्मत्वं विवक्षितम् । तथा समानकर्तृकमपि इच्छानिरूपितमेव विवक्षितम् ।
कर्मति श्ववापकराद्यद्वारा धातौ सामानाधिकरन्धेनान्वेति । तथा च इच्छासमान-
कर्तृकत्वे सति इच्छाकर्माभूतो धो स्वापार तद्वाचकादानोरिच्छायां सन् वा स्वादिति
फलति । तद्वाह-एषि कर्मण इत्यादि । इपिष्वा पृथक्कर्तृकात् इपिकर्माभूतव्यापारवाचका-
द्धातोरित्यर्थः । पिपठिषति । पठ् इत्यस्मात् 'धातो कर्मण समानकर्तृकादिच्छायां

तृतीय व्यञन वा तृतीय यद्वाचको द्वित्व हो ।

इस प्रकार 'इन्दुभती' टीकामें प्यन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातो —(इपि)—इच्छा क्रियाके कर्माभूत जो इच्छा क्रियाके कर्ता, तब समान कर्ता है
जिसका, उस धातुके 'सन्' प्रत्यय हो, इच्छा अर्थमें, विकल्पते । सन्यङ्गो—सन्नन्त तथा
यञन्त धातुके प्रथम यद्वाचको द्वित्व हो और अदादि धातुके द्वितीय यद्वाचको द्वित्व हो ।

गमनेनेच्छति इति करणान्मा भूत् । समानकर्तृकात् किम् ? 'शिष्याः पठन्ति'तीच्छति गुरुः । 'वा'प्रहणात्पक्षे वाक्यमपि ।

शैषिकान्मतुवर्यायाच्छैषिको मतुवर्यिकः ।

सरूपः प्रत्ययो नेष्टः, सन्नन्तात् सनिष्यते ॥ १ ॥

तेन-पिपठिपितुमिच्छतीति वाक्यमेव । 'लुङ्सनोर्घस्त्' । सः स्याद्धधातुके । ७।४।४९। सस्य तः स्यात्सादावार्द्धधातुके । अत्तुमिच्छति-जिघत्सति । 'ईर्ष्यतेस्त्वृ-तीयस्ये'ति यिसनोर्द्धित्वम् । ईर्ष्ययिपति । 'एकाच' इति नेट् । अज्जनगमां सनि । ६।४।१६। अजन्तानां, हन्तेरजादेशगमेश्च दीर्घो, झलादौ सनि । इको झल् । १।२।९। इगन्ताज्झलादिः सन्कित् स्यात् । कर्तुमिच्छति चिकीर्षति । जिघांसति ।

वा' इति सप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'पठ् स' इति जाते 'आर्धधातुकं शेषः' इति आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे टलोपे टित्वादाद्यावयवे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे 'पठ् पठ् इ स' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे 'हलादिः शेषः' इति टलोपे 'सन्त्यतः' इतीत्वे 'आदेशप्रत्यययोः' इति परस्वे 'सना-द्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाञ्छटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'पिपठिष अ ति' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे 'पिपठिपति' इति रूपम् । जिघत्सति । अद् इत्यस्मा-द्धातोः 'धातोः कर्मणः' इति सन्प्रत्यये 'लुङ्सनोर्घस्त्' इत्यदो घस्लादेशेऽनुबन्ध-लोपे 'घस् स' इति भूते अत्र सनस्सस्य 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इतीडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निपिद्धे 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'जघस्' इति जाते अभ्या-ससकारस्य 'सः स्यार्धधातुके' इति तकारे 'जिघत्स' इति भूते 'सनाद्यन्ता' इति धातुत्वाञ्छटस्तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'जिघत्सति' इति रूपम् । चिकीर्षतीति । कृधातोः 'धातोः कर्मणः' इत्यादिना सनि अनुबन्धलोपे आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति इडागमे प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदा-त्तात्' इतीप्तिपेधे 'अज्जनगमां सनि' इति दीर्घ- 'इको झल्' इति क्त्वाद्गुणा-भावे 'ऋत् इद्धातोः' इति इत्वे रपरे 'किर् स' इति भूते द्वित्वेऽभ्यासकार्ये 'हलि च' इति दीर्घे परस्वे च कृते 'चिकीर्ष' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातु-संज्ञायां लटि तिपि शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति'

शैषि—शैषिक प्रत्ययान्तसे पुनः सरूप शैषिक प्रत्यय नहीं हो और मत्वर्थीय-मतुप् आदि, प्रत्ययान्तसे भी सरूप मत्वर्थीय प्रत्यय नहीं हो तथा सन्नन्तसे पुनः सन्नन्त प्रत्यय नहीं हो । सः स्या—सकारको रकार आदेश हो, सादि आर्धधातुकके परे । अज्ज—अजन्त धातु तथा 'इन्' धातु और अजादि (इण्-इक्-इछ) धातुके स्थानमें आदेश 'गम्' को दीर्घ हो,

सनि च ।२।४।४७। इणो गमि स्यात्सनि, न तु बोधने । जिगमिपति । बोधने तु—प्रतीपिपति । इडश्च ।२।४।४८। इडो गमि स्यात्सनि । अधिजिगांसते । रुद्विद्मुपग्रहिस्वपिप्रच्छ न्श्च ।१।२।८। एभ्य संघ, क्वा च कितौ स्त । रुदिपति । विविदिपति । मुमुदिपति । सनि ग्रहगुहोश्च ।७।२।१२। ग्रहेर्गुहोः-न्ताच्च मन इप्न स्यात् । 'ग्रहज्ये'ति सम्प्रसारणम् । सन पन्वस्यासिद्धत्वात्पूर्णाव । जिष्ठकृति । हलन्ताच्च ।१।२।१०। इक्समीपादत् परो हलादि मन्वित् । गुह्र

इति सिद्धम् । सनि चेति । 'णौ गमिरबोधने' इति सर्वमनुवर्तते । जिगमिपति । इण् घानोः 'घातो' कर्मण' इति 'सनि च' इति गम्यादेशे 'सन्वहो' इति द्वित्वे पूर्वस्याम्यासत्वे हलादि-शेषत्वे 'सन्वत' अम्यासत्वे 'आर्षघातुकस्येद्वलादे' इति सन इडागमे 'आदेशप्रत्यययो' इति पर्ये 'जिगमिप इति सनादित्वाद्घातुसंज्ञायाम् छटि तिपि ऋपि 'अतो गुणे' पररूपे 'जिगमिपति' इति रूप भवति । बोधने तु-प्रतीपिपति । इण्घानो सनि तस्य आर्षघातुकत्वादिति गुणार्थं 'सन्वहो' इति द्वित्वे 'प्रति-इ-वि-प-अ-ति' इति जाते सवर्णदीर्घे 'अतो गुणे' पररूपे 'प्रतीपिपति' इति रूपम् । इत्येति । 'णौ गमि' इत्यत 'सनि च' इत्यतश्च तदनुवृत्तेर्गमि स्यादित्यन्वयः । अधिजिगांसते । अधिपूर्वकादिश्च अध्ययने घातो 'घातो कर्मण' इति सनि 'इडश्च' इति गम्यादेशे 'सन्वहो' इति द्वित्वे पूर्वस्याम्यासत्वे हलादि-शेषत्वे 'अम्यासे चर्च' इति चर्चन जाते 'सन्वत' इति इत्से 'अधिजिगम्-स' इति जाते 'नधाप' इत्यनुसारे 'अस्तन' इति दीर्घे 'अधिजिगांस' अस्नाप्तघन्तात् छटि 'पूर्वस्यन' इत्यारम्भनेपदानेन छटि 'दित आरम्भनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे ऋपि पररूपे 'अधिजिगांसते' इति रूप सिध्यति । रुद्विदेनि । असंयोगाच्छिद् कित् इत्यत किदिति छम्यते । रु-विद्-मुप-एभ्यो घातुभ्यः सनि सन आर्षघातुकत्वात् 'आर्षघातुकस्येद्वलादे' इति इटि 'सन्वहो' इति द्वित्वे हलादि-शेषत्वे 'रुदिपति' 'विविदिपति' 'मुमुदिपति' इति रूपत्रय सिध्यति । अत्र न अघूपघगुणः । रुद्विद्मुप' इति सूत्रेण किरवविधानात् 'गिष्ठकृति च' इति गुणनिषेधात् । अनिग्रह-बोधनेति । 'अद्युक् किति' इत्यत किस्तीत्यनुवर्तते 'नेह्वशि' इत्यन-नेडिति चानुवर्तते । अिष्टनीति । ग्रहघातो सनि 'रुद्विद्मुप' इत्यादिना सन-किस्ते 'ग्रहि-जा' इति सम्प्रसारणेनरेकस्य श्चत्वे 'गृह्-स' इत्ययस्थाद्यो सस्य परत्वे परस्वारभासेऽ-

हलादि 'सन्'के परे । सनि च—'इण्' घातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे, किन्तु बोधा-मर्भने नहीं हो । इडश्च—'इड्' घातुको 'गम्' आदेश हो, 'सन्'के परे । रुद्—'रु' मादि घातुकोसे पर 'सन्' और 'नधा' कित हो । सनि—ग्रह्, इड् और वगन्त घातुकोसे पर 'रु' को 'इड्' नहीं हो । हलन्ताच्च—इक् समीप इत्से पर हलादि सन् कित हो ।

संवरणे । जुषुसति । सुषुप्सति । किरश्च पञ्चम्यः । ७।२।७५। कृ गृ दृ घृ
 श्छ एभ्यः सन इट् । पिपृच्छिपति । चिकरिपति । जिगरिपति । जिगलिपति ।
 अत्रेटो दीर्घो नेष्टः । पूर्ववत्सनः । १।३।६२। सनः पूर्वं यो धातुस्तेन तुन्यं सन्न-
 न्तादप्यात्मनेपदं स्यात् । दिदरिपते । दिधरिपते । बुभूपति । सनीचन्तर्द्धञ्स्जद-

पि ढस्वदृष्टधासिद्धत्वात्पूर्वं 'होढः' इति ढस्वे 'पृकाचो' इति भक्त्वे 'पढोः कः सि'
 इति सकारे परतः ढस्य ककारे सनः सस्य पत्वे 'सन्यढोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यत्वे
 रपरत्वे 'ह्लादिः शेषः' इत्याद्येतरेपां हलां लोपे 'अभ्यासे चर्च' इति गस्य जत्वे 'स-
 न्यत' इतीकारे 'जि-शृक्-प' कपयोर्गौनेन क्षत्वे कित्वेन गुणाभावे लटि तिपि शपि उक्तं
 रूपं भवति । इलन्ताच्चेति । 'रुद्विद्' इत्यंतः 'असंयोगास्त्रिट् कित्' इत्यतश्च किदि-
 त्यनुवर्तते । जुषुसति । गुहू=उद्यमने धातोः सनि पत्वस्यासिद्धत्वात् 'होढः' इति ढस्वे
 'पृकाचो' इति भक्त्वादेन गस्य घत्वे 'सन्यढोः' इति द्वित्वे 'पूर्वाभ्यासः' इत्यभ्यासत्वे
 ह्लादिःशेषत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति घस्य जत्वे 'जु-षुब्-स' इति जाते 'पढोः कः सि'
 इति कत्वे यत्वे षत्वे उतः परं लटि तिपि शपि पररूपे 'जुषुसति' इति रूपम् ।
 जुषुप्सतीति ! स्वप्धातोः सनि तस्य 'रुषधिद्' इति कित्त्वे 'वचिस्वपि' इति संप्रसारणे
 पररूपे 'सन्यढोः' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे ह्लादिःशेषत्वे पत्वे लटि तिपि शपि
 पररूपे 'जुषुप्सति' इति रूपम् । किरश्च पञ्चम्य इति । किर इति पञ्चमी । किरादिभ्यः
 पञ्चम्यः इति चिचपितम् । 'स्मिपृड्-रज्जशां-सनि' 'इडर्यति' इत्यत इडित्यनुवर्तते ।
 पिपृच्छिपतीति । प्रच्छधातोः सनि 'रुद्विद्' इति सनः कित्त्वात् 'ग्रह्ज्या' इति संप्र-
 सारणे पूर्वरूपे 'सन्यढोः' द्वित्वेभ्यासत्वे अभ्यासे 'उरत्' इत्यत्वे रपरत्वे ह्लादिःशेषत्वे
 'सन्यतः' इतीत्वे लटि तिपि शपि पररूपे सनः 'किरश्च पञ्चम्यः' इतीडागमे पत्वे
 'पिपृच्छिपति' इति रूपम् । चिकरिपति-जिगरिपति-जिगलिपति । चकृ-स-जगृ-स इत्यव-
 स्थायां 'किरश्च पञ्चम्यः' इति इडागमे 'सार्द्धधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे 'सन्यतः'
 इतीत्वे पत्वे 'चिकरिप जिगरिप' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे 'चिकरिपति'
 'जिगरिपति' इति रूपे भवतः । यदा तु 'जिगरिपति' अत्र 'अचि विभापा' इति गिरतेः
 रेफस्य लत्वं स्यात्तदा 'जिगलिपति' इति रूपं भवति । अत्र 'वृत्तो वा' इति प्राप्तं
 वैपत्तिकं दीर्घम् 'अत्रेटो दीर्घो नेष्टः' इत्यनेन निषिध्यते । 'पूर्वत्सन इति' । सन इति

किरश्च—'कृ' आदि पांच धातुओंसे पर सन्को इट् हो ।

पूर्व—'सन्'से पूर्व (सन् प्रवृत्तिभूत) जो धातु, उर्मीके अन्तस सन्नन्तसे नी धातुमनेपद हो ।

नोटः—जिस धातुसे सन् क्रिया जाय, वह धातु सन्नन्तसे नी धातुमनेपद हो तो सन्नन्तसे नी धातुमनेपद होता है ।

सनि—इवन्त और ऋधादि धातुओंसे पर 'सन्' को इट् हो, विकल्पसे

म्मुश्चिस्त्वृयूर्णभरक्षपिसनाम् । ७।२।४२। इवन्तेभ्यः, ऋधादिभ्यश्च ऋण इड् वा ।
 इडभावे 'हलन्ताच्चेति' क्स्वम् । च्छ्वो ङुडनुनासिके च । ६।४।१९। सतुक्स्य
 छस्य, वस्य च ऋमात् श् ऋत् एतावाग्गौ स्तोऽनुनासिके, कौ, झलादौ विवृति च ।
 यप् । द्वित्वम् । दुयूपति । दिदेविपति । स्तौतिण्योरेव पण्यभ्यासात् । ८।३।६३।
 अभ्यासेण परस्य स्तौतिण्यन्तयोरेव सस्य प, पभूते सनि, नान्यस्य तुष्टमति ।
 'द्युतिस्वाप्यो, सम्प्रसारणम्' इत्युक्त्वा । गृष्वापयिपति । सिषाधयिपति ।
 स्तौतिण्यो किम् ? मस्यूपति । मिनेविपति । आपह्वप्यधामीत्
 । ७।४।५५। इषामच ईत्स्यात्सादौ मनि । अत्र लोपोऽभ्यासस्ये । ७।४।५८।
 'सनि मामेत्यारभ्य यदुक्त तत्राभ्यासस्य लोप' स्मात् । 'प्राप्तुमिच्छति' ईप्सति ।
 अर्द्धितुमिच्छति ईर्षसति । आर्दधिपति । विप्रनिपति । बिम्बिपति । विभ्रसति ।

पद्यमी । पूर्वेण पूर्वस्य वा तुक्यं पूर्ववत् । पूर्वपदेन धातुगुण्यते । दिदरिपते-दिधरिपते ।
 दृ घृष्ट्=अनगोर्षात्वोः सनि 'किरथ पञ्चम्य' इतीटि 'सन्त्यहो' द्वित्वेऽभ्यासत्वे
 'उरत्' इत्यखे हलादि-शेषत्वे 'मन्यत' इतीखे षावे 'दिदरिप' 'दिधरिप' इति जातो
 लटि 'पूर्वधारसन' इत्यारमनेपदे सडि शपि पररूपे टेरेखे च कृते 'दिदरिपते' 'दिधरि
 पते' इति भयत । च्छ्वो श्छेति । चकारेण तुगागमोऽनुमीयतेऽत आह-सतुक्स्येति ।
 दिदेविपति । दिवधातोः सनि 'सनीवन्तर्ध' इतीटि 'सन्त्यहो' इति द्वित्वे हलादि-
 शेषत्वे 'सन्यत' इतीखे 'पुगन्त' इति गुणे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'दिदेविपति' ।
 यदा 'सनीवन्तर्ध' इति नेट् स्मात्तदा 'च्छ्वो' श्छनुनासिके च' इति ऊटि 'इ' इत्यस्य
 द्वित्वे अभ्यासत्वे इस्वत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे 'दुद्यूपति' इति रूपम् । स्तौतिण्यो
 रेवेति । 'अपदान्तस्य मूर्धन्य' इत्यधिङ्गम् । 'इष्को' इति च । तुष्टपतीति । स्तुधातो
 सनि 'स्तौतिण्यो' इति पत्वे हृत्वे 'अङ्गन' इति द्वीर्षे लटि तिपि शपि रूपम् ।
 'सिसाधयिपतीति' । साध धातो सनि 'सन्त्यहो' इति द्वित्वे पूर्वस्याभ्यासत्वे इत्ये
 'सन्त्यत' इतीखे इटि गुणेश्यादेशे 'स्तौतिण्यो' इति षावे 'सिसाधयिष' इति सञ्चन्ता-
 लटि तिपि शपि पररूपे 'सिसाधयिपति' इति रूपम् । आप्ङ्गधामिति । 'सनिमीमा'
 इत्यतः सनीति अच् इति चानुवर्तते । अत्र लोप एति । 'सनि मीमा' 'आप्ङ्गप्य' 'दम्भ
 इष्' 'मुचोऽङ्कमकस्य' इति कार्यचतुष्टयमन्तरेत्यनेन परामृश्यते । ईप्सतीति । आप्ल =
 लृगमनेऽस्मात्सनि 'सन्त्यहो' इति द्वित्वात्पूर्वं 'आप्ङ्गप्य' इतीखे ततो द्वित्वे 'अत्र

च्छ्वो.—'तुक्'सहित छकार-बकारको क्रमसे 'श्' और 'ऊर्' आदेश हो, अनुनासिकके परे
 और झलादि किय-द्वि प्रत्ययके परे । स्तौति—अभ्यास सम्बन्धी 'इण्' से पर खु वाणु
 और ण्यन्त धातुके बी सकारको वत्त हो, बभूत सन्के परे । आप्ल—आप्, इप् और अथ
 धातुके अथको ईत्त हो, सकारादि सन्के परे । अत्र—'सनि मीमा' इस सूत्र से लेकर जो

विभर्षति । दम्भ इच्छ ७/४।५६। दम्भेरच इत्यात्, ईच, सादौ सनि । 'हल-
न्तादि'त्यत्र हल्ग्रहणं जातिपरम् । तेन सनः क्तिवानलोपः । धिप्सति । धोप्सति ।
दिदम्भिपति । शिश्रीपति । शिश्रियिपति । 'उदोष्ट्ये'त्युत्त्वम् । सुस्वूर्पति । सिस्वरिपति ।
युयूपति । यियविपति । 'विभाषोर्णोः' इति ङित् । ऊर्णुपति । ऊर्णुविपति ।
ऊर्णुविपति । बुभूर्पति । विभरिपति । ङीप्ताते । जिह्वपिपति । सिपासति । सिस-

लोप' इति लोपे लटि तिपि शपि पूर्वरूपे 'ईप्सति' इति रूपं भवति । अदिधिपति ।
ऋध्वेः सनि 'सनीव' इतीटि द्वित्वे उरदत्वे रपरत्वे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे
'अदिधिपति' इति रूपम् । यदा नेट् स्यात्तदा 'आज्ञप्यधामीव' इतीदादेशे रपरत्वे
द्वित्वे चर्त्वे 'अत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे, लटि तिपि शपि पररूपे 'ईप्सति' इत्यपि
द्वितीयं रूपम् । विभ्रजिपति । भ्रस्ज घातोः सनि 'सनीव' इति वैपश्चिके इटि ततो
द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्त्यतः' इतीत्वे अभ्यासचर्त्वे सस्य श्रुत्वेन शत्वे तस्य जदत्वेन
जत्वे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'विभ्रजिपति' इत्येकं रूपम् । 'भ्रस्जो रोपधयोः'
इति रमागमपत्रे 'विभ्रजिपति' इति रूपम् । इडभावे रमागमाभावे च 'विभ्रजति'
इति रूपं साधु । रमागमपत्रे 'विभर्षति' इति चतुर्थं रूपम् । दम्भ इच्चेति । 'सनि
सोमा' इत्यतः सनि अच इति चानुवर्तते । थित्सति । दम्भघातोः सनि 'सनीव' इति
पाश्चिके इटि द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'दिदम्भिप' इति जाते लटि तिपि शपि पररूपे
'दिदम्भिपति' इति रूपम् । यदेडागमो न स्यात्तदा 'दम्भ इच्च' इति इति 'हलन्ताच्च'
इति सनः क्तिव्ये 'अनुनासिकस्य' इति मलोपे ततः 'एकाचो वशो' इति भग्भावेन दस्य
वत्त्वे चर्त्वेन अस्य पत्वे द्वित्वे 'अत्र लोप' इति अभ्यासलोपे 'धिप्सति, धोप्सति' इति
रूपद्वयं सिध्यति । शिश्रीपति । शिञ् सेवायां घातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे
हलादिःशेषत्वे 'अज्जन' इति दीर्घे, पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'शिश्रीपति' इति
रूपम् । ततः परं यदा 'सनीव' इति इडागमः स्यात्तदा गुणेश्यादेशे 'शिश्रियिपति'
इति रूपम् । सुस्वूर्पति । चृष्ठातोः सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे
'उदोष्ट्ये' इत्युतिरपरत्वे 'उपधायी च' इति दीर्घत्वे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे रूपम् ।
सनीव इतीटि षति गुणे रपरत्वे 'सिस्वरिपति' इत्यपि साधु । युयूपतीति । युधातोः
सनि 'सनीव' इतीडभावे द्वित्वे 'अज्जन' इति दीर्घे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपत्वे
युयूपति । यदा इडागमः स्यात्तदा गुणेश्यादेशे द्वित्वे हलादिःशेषत्वे 'सन्त्यतः' इतीष्वे
'यियविपति' इति रूपं सिध्यति । ऊर्णुविपति । ऊर्णुञ् घातोः सनि 'सनीव' इतीड-
भावे बुभूर्पत्य द्वित्वे 'अज्जन' इति दीर्घे पत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'ऊर्णुवृषति'

चार (इस्, ईत्, इत्, गुन) चर्त्वे कहे ई, यदा (लनके ङीनेपर) अभ्यासका लोप शो ।
दम्भ—'दम्भ' वातुके 'अच्' इत्त्वं तस्य ईत् नो ईत् । सादि सग्ये परे ।

निपति । (आशङ्क्यायां सन्वत्स्यः) आ मुमूर्षति । (तनिपतिद्विधाति-
स्यः सनो वेद् घाच्य.) तनोतेर्विभाषा । ५।४।१७। तनोतेदपथाया दीर्घो वा
स्यान्ललादौ सनि । तिवासति । तितमति । तितनिपति । कूल पिपतिपति । सनि

इत्येक रूप भवति । यदा 'सनीव' इतीडागम' स्यात्तदा 'विभाषोर्णो' इति द्वित्वे च
उण्यनुविपति । अथ 'उपहादेश' स्पष्ट' । यदा द्वित्वे न स्यात्तदा गुणेऽवादेशे 'उण्यु
नविपति' इति रूपं स्पष्टम् । विभरिपति । मृशपातो सनि 'सनीव' इति इटि गुणे
रपरत्वे द्वित्वे अग्यासत्त्वे 'सन्वत्' इतीरत्वे षत्वे छटि तिपि षापि पररूपे 'विभरि
पति' । इडभावे 'उपोऽप्य पूर्वस्य' इत्युक्ति रपरत्वे 'उपधायां च' इति दीर्घं द्वित्वे हरे-
हलादिशेषत्वे षत्वे षत्वे छटि तिपि षापि पररूपे च कृते 'मुमूर्षति' इति रूपम् ।
जिह्वपिपति । शपि पातो सनि 'सनीव' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे षत्वेन षत्वे
'सन्वत्' इतीरत्वे गुणेऽयादेशे छटि तिपि षापि पररूपे 'जिह्वपिपति' इति रूप
सिध्यति । इडागमो न स्यात्तदा 'आप्ञ्जप्' इति ईदादेशे सतो द्वित्वे 'मत्र लोप' इति
अग्यासलोपे छटि तिपि षापि पररूपे 'ञ्जिप्सति' इति रूपम् । सितनिपति ।
सशपातो सनि 'सनीव' इति इटि द्वित्वे हलो लोपे 'सन्वत्' इतीरत्वे षत्वे छटि
तिपि षापि पररूपे 'सिसनिपति' इति रूपम् । यदा नेद् स्यात्तदा 'अनसनघना'
इति धात्वे द्वित्वे 'सन्वत्' इतीरत्वे षत्वे 'सिपासति' इति द्वितीय रूपम् । आशं
कायामिति । आशङ्क्याविषयक्रियादृष्टेर्घातो सञ्चिन्त्यर्थ । मुमूर्षति । मृष्ट् = प्राण-
प्राणोऽस्मात्सनि ऊटि रपरत्वे 'सन्वत्' इति द्वित्वेऽग्यासात्वे हलादि शेषत्वे ह्रस्वत्वे
मध्यन्तत्वात्तात्पुत्वे छटि तिपि षापि पररूपत्वे 'मुमूर्षति' इत्येकमेव रूपं भवति ।
षेतिपद तु मरणशब्दाविषयकत्वं स्फोरणार्थमित्यपवधेयम् । तनोतेरिति । 'नोपधाया'
इत्यत 'हलोपे' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भाव । अज्जन इत्यत सलीति
अनुवर्तते । टिननिपति । सनोते सनि 'सनिपति' इति वैकल्पिके इटि 'सन्व-
दो' इति द्वित्वेऽग्यासात्वे हलादिशेषत्वे 'सन्वत्' इतीरत्वे षत्वे 'तितनिप' इति
घाते धातुस्वाङ्गटि तिपि षापि पररूपे 'तितनिपति' इत्येक रूप भवति । इडभावे—
तिर्नासति । तनोतेः सनि 'सनिपति' इडभावे 'तनोतेर्विभाषा' इति दीर्घं सतो
द्वित्वेऽग्यासात्वे हलो लोपे ह्रस्वात्वे 'सन्वत्' इतीरत्वे 'नश्वापदानस्य' इत्यनुस्वारे
'तित्तास' इति घाते धातुस्वाङ्गटि तिपि षापि पररूपे 'तित्तासति' इति द्वितीय
रूपम् । इडभावे दीर्घाभावे च 'तितसति' इति तृतीय रूप प्रसिद्धमेव । निपति
इति । पद्यपातो सनि 'सनिपति' इति वेटि द्वित्वे हलादिशेषत्वे 'सन्वत्' इतीरत्वे

आशं—आशङ्का अर्थमे मी धातुसे 'सन्' प्रत्यय हो । तनिपति—तनादि धातुको से
पर 'सन्'को इट् हो, विकल्पसे । सनो—'तन' धातुकी उपधाको दीर्घ हो, ललादि सन् केपरे,
रिद्धस्पसे । सनि—'मी' धादि धातुको, लच्'को 'इत्' आदेश हो, ललादि सन्के परे ।

मीमाधुरभलभशकपतपदाग्रच इत् । ७।४।५४। एपामच इस् स्यात्सादौ सनि । अभ्यासलोपः । सलोपः । पित्सति । दिदरिद्रिपति । दिदरिद्रासति । मुचोऽ-
कर्मकस्य गुणो वा । ७ । ४ । ५७। मुचोऽकर्मकस्य गुणो वा स्यात् सादौ सनि ।
अभ्यासलोपः । मोक्षते, मुमुक्षते वा वत्सः स्वयमेव । अकर्मकस्य किम् ? मुमुक्षति
वत्सं कृष्णः । इट् सनि वा । ७।२।४१। वृष्ट्वभ्यामृदन्ताच्च सन इट् वा । विवरिपते ।

एत्वे लटि तिपि शपि पररूपे 'पिपतिपति' इति रूपं भवति । इडभावे तु—
सनि गोमेति । 'धत्र लोपः' इत्यतः अभ्यासलोप इति लभ्यते । 'सः सि' इत्यतः सादि
इति लभ्यते । इडागसरहित इत्यर्थः । पित्सति । पत्घातोः सनि 'सनिमीमा' इति
अचः स्थाने इसादेशे द्वित्वे 'धत्र लोप' इत्यभ्यासलोपे 'पिस् त स' इति जाते
'हृलन्ताच्च' इति क्तिन्ने 'क्षोः' इति सलोपे 'पित्स' इत्यवशिष्टे लटि तिपि शपि
पररूपे 'पित्सति' इति रूपं भवति । दिदरिद्रिपति । द्रिद्राघातोः सनि 'तनिपति'
इडागमे 'आतो लोप' इटि च' इत्यालोपे 'सन्त्यलोः' इति द्वित्वे 'सन्त्यतः' इतीच्चे
एत्वे 'दिदरिद्रिप' इति जाते लटि तिपि शपि 'दिदरिद्रिपति' इति रूपं भवति ।
यदेहागमो न स्यात्तदा 'दिदरिद्रासति' इति द्वितीयं रूपं सिद्धम् । मुचोकर्मकस्येति ।
'सः सि' इत्यतः सि 'सनि मीमा' इत्यतः सनीति चानुवर्तते । 'हृलन्ताच्च' इति
क्तिन्नेन गुणप्राप्तौ बबनमिदम् । अमुञ्चत इति । अमुञ्चघातोः सनि 'मुचोऽकर्म-
कस्य गुणो वा' इति वैभाषिके गुणे द्वित्वे 'धत्र लोप' इति लोपे 'चोः कुः' इति
कुत्वेन चस्य कत्वे सस्य एत्वे उभयोः संयोगेन एत्वे लटि 'पूर्ववत्सलः' इत्यामने-
पदे तद्धि देरेत्वे शपि पररूपे 'मोक्षते' इति प्रथमं रूपम् । यदा गुणो न स्यात्तदाऽ-
भ्यासलोपोऽपि न स्यात् । अतः 'मुमुक्षते' इति सुकरमेव । वत्सः स्वयमेवेति
पदत्रयं तु घातोरकर्तृत्वस्फोरणार्थेति बोध्यम् । सकर्मकमुदाहरति । मुमुक्षति वत्सं
कृष्ण इति । अत्र केवलं परस्मैपदभेदो गुणराहित्यं चेति बोध्यम् । इट् सनि वेति ।
वृत्तो चेत्यतः । 'वृत्' इत्यनुवर्तते । 'सनि ग्रहगुहोश्च' इत्यस्यापेधाद् । विवरिपते ।
हृलघातोः सनि 'इट् सनि वा' इति इटि गुणं स्परत्वे द्वित्वे हृलो लोपे 'सन्त्यतः'
इतीच्चे एत्वे उभयपदवाचशि देरेत्वे शपि पररूपे 'विवरिपति' इत्येकं रूपम् ।
'वृत्तो वा' इति दीर्घपदै च 'विवरीपते' इति रूपम् । यदा परस्मैपदं तदा 'विवरि-
पति' 'विवरीपति' इति रूपद्वयं भवति । यदेहागमो न स्यात्तदा 'उदोऽद्यपूर्वस्य'
हृद्युति 'हलि च' इति दीर्घं द्वित्वे हृत्वे हृलो लोपे एत्वे लटि तद्धि शपि
देरेत्वे पररूपत्वे 'मुमुक्षते' । परस्मैपदे तु 'मुमुक्षति' इत्यादि रूपाणि जयन्ति ।

मुचो—अकर्मक 'मुच्' घातुको गुण दो, सकारादि सन्क्ते परे, विद्वत्स्ये । इट् सनि-
इट्, इज् धौर ऋदन्त घातुगोष्ठे पर इट् इट् दो, विक्रपद्धे ।

विषरोपते । युवदंते । विवरिपति । तितरिपति । तितरीपति । तितीर्ति ।
 स्मिपूङ्ग्ञ्वशां सनि । ७।२।७४। स्मिङ् पूङ्ग्ञ् अङ् अङ्-एभ्य सन् इट् ।
 सिमयिपते । पिपयिपते । अरिपति । अङ्गिपति । अङ्गिशिपति । गुप गोपने ।
 तिज निशाने । कित निवासे, रोगापनयने च । मान पूजाराम् । यद्यबन्धने । दान
 खण्डने । शान तेजने । गुसिञ्किञ्चयः सन् । ३।१।५। मान्वधदान्शान्भ्यो
 दीर्घश्चाभ्यासस्य । ३।१।६। सूत्रद्वयोक्तेभ्य सन् स्यात् मानादीनामभ्यागस्येकारस्य
 दीर्घश्च । गुपेर्निन्दायाम् । तिजेः समायाम् । कितेर्व्याधिप्रतीकारे, निम्ने
 अपनयने, नाशने, संशये च । मानेर्जिज्ञासायाम् । यधेश्चिप्रतीकारे ।
 दानेराज्ये । शानेर्निशाने । गुपिप्रगृतय किञ्चिन्ना निन्दापर्यञ्च एवानुदात्ते
 दानशानौ तु स्वरितेत्तौ । एव्येषु एते नित्यसञ्जन्ता । अर्थान्तरे स्वननुबन्धकाद्यु
 दय । अनुबन्धस्य केयलेऽचरितार्थन्वात्सञ्जन्तात्पदव्यवस्था । 'धातो'रित्यविहितत्

तितरिपति । तधातो सनि इटि गुणे रपरत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'सन्त्यत' इतीत्त्वे ष
 लटि तिपि षापि पररूपे 'तिनरिपति' इत्येक रूप भवति । 'धतो धा' इति
 तु 'तितरीपति' इति द्वितीयं रूप भवति । यदा इडागमो न स्यात्तदा 'अ
 इद्वातो' इतीति रपरत्वे ततो द्वित्वे हलो लोपे एत्वे लटि तिपि षापि पररूपे 'ति
 रपति' इति रूप भवति । स्मिपूङ्गिति । 'इडात्पति' इत्यत इदिति अनुपज्य
 सिरमयिपते । स्मिङ् घातोः सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणेऽवादेशे द्वित्वेऽभ्या
 कार्ये 'सन्त्यत' इतीत्त्वे एत्वे लटि 'पूर्ववरसन' इति तद्धि टेरेत्वे षापि गुणे पर
 'सिस्मयिपते' । पिपयिपते । पूङ्घातो सनि 'स्मिपूङ्' इतीटि गुणेऽवादेशे द्वि
 'सन्त्यत' इतीत्त्वे लटि तद्धि टेरेत्वे षापि पररूपे 'पिपयिपते' इति रूपम् । अ
 रिपति । अघातो सनि 'स्मिपूङ्' इति इटि गुणे 'रि' इत्यस्य द्वित्वे परत्वे ल
 तिपि षापि पररूपे रूपम् । अङ्गिपति-प्रशिपति । अङ्-अङ् इति धावो स
 'स्मिपूङ्' इतीटि 'जि=सि' इत्यनयोर्द्वित्वे परत्वे लटि तिपि षापि पररूपे 'अङ्गि
 पति' 'अङ्गिपति' इति । गुप्तिभिति । एभ्यो धातुभ्य सन् स्यादित्यर्थः । मान
 ति । एभ्यो धातुभ्य सन् स्यात्सनि चाम्पासस्य दीर्घः स्यादित्यर्थः । अ
 सनिति 'गुसिञ्' इत्यसोऽनुकृत्यते । गुपादीनां सन्म्यवस्थामाह 'गुपेर्निन्दाया
 सन् इत्यर्थः । 'तिजे-समायाम्' । 'कितेर्व्याधिप्रतीकारे' । 'यधेश्चिप्रतीकारे'

स्मिपूङ्—'स्मिङ्' आदि धातुलोके पर सन्को इट् हो ।

गुसिञ्मान्बध—एन सूत्रद्वयोक्त गुणादि सात धातुलोके सन् प्रत्यय ।
 और मान्, एव दान् और शान् धातुलोके सन् तथा सन्-सत्रियोगशितेन धातुलो
 कभ्यासापय इकारको दीर्घ मी हो ।

त्सोऽत्र नार्द्धघातुक्तम् । तेनेङ्गुणौ न । जुगुप्संते । तितिक्षते । चिकित्सति ।
मीमांसते । बीभत्सते । दीदांसति । दीदांसते । शीशांसति । शीशांसते । णिचि
दु—गोपयति । गोपयते इत्यादि । इति सघ्नन्तप्रकरणम् ।

अथ यङन्तप्रकरणम्

धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ् । ३।१।२२। पौनःपुन्ये,
मृशार्थे च शोत्ये धातोरेकाचो हलादेर्यङ् । गुणो यङ्लुकोः ७।४।८२। अभ्यासस्य
'सनाचन्ता' इति धातुत्वाह्लादादयः । विदन्तत्वादात्मनेपदम् । पुनः पुनरतिशयेन वा
भवति—बोभूयते । बोभूयाञ्छक्रे । अबोभूयिष्ट । धातोः किम् ? आर्द्धघातुक्तत्वं यथा

'दानेराज्वे' । 'शानेनिशाने' । एतानि लक्ष वातिकानीत्यवसेयम् । एतेष्वेव वाति-
कार्येषु ससु एतेषां धातूनां अनुदात्तेष्वमवधेयमन्यथा परस्मैपदमेवेति भावः ।
नित्यरुघ्नन्तावमपि अनुदात्तेष्वस्यैव एव नान्यथा । जुगुप्सते । गुपधातोर्निन्दायाम्
सनि द्वित्वेऽभ्यासकाय चत्वं 'हलन्ताश्च' क्त्वाद् गुणाभावे । 'पूर्ववत्सनः' इत्यात्मने-
पदे तडि रेरेवे 'जुगुप्सते' इति रूपम् । तितिक्षते । तिस्र धातोः 'गुप्तिञ्क्त्वायः सन्'
इति सनि द्वित्वे 'हलन्ताश्च' इति क्त्वेन गुणाभावे 'चोः कुः' इति कुत्वे चत्वे
चत्वे 'तितिक्षते' इति रूपम् । चिकित्सति । कितधातोः 'गुप्तिञ्' इति सनि द्वित्वे
कुत्वे क्त्वेन गुणाभावे लटि तपि शपि पररूपे 'चिकित्सति' इति रूपम् । मीमांसते ।
मानधातोः 'मानेजिज्ञासायाम्' इति सनि द्वित्वे हरत्वे इछो लोपे 'सन्त्यतः' इतीत्वे
'मानवधदान्' इति क्षीत्वे लटि तडि शपि पररूपे 'मीमांसते' इति रूपम् । 'बीभत्सते'
यधधातोः 'वधेश्चत्तविकारे' इति सनि द्वित्वे 'सन्त्यतः' इतीत्वे 'मानवध' इति
दीर्घे 'यकाचो' इति भञ्जे 'खरि च' इति चत्वे तडि रेरेवे शपि पररूपे 'बीभत्सते'
इति रूपम् । इति सघ्नन्तप्रकरणम् ।

शोत्ये इति । धात्वत्वे तु प्रत्ययवाच्यस्य प्रधानतया सघ्नन्ते इच्छया इव तरय
विशेष्यत्वं स्यादिति भावः । बोभूयते । मृधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे

पदद्वयवस्था—अर्थात् 'परस्मैपदात्मनेपदयोरुत्पत्तिः' ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें सघ्नन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

धातोः—पौनःपुन्य (बार-बार) और मृशार्थ (अत्यधिकता) शोत्य होनेपर हलादि,
एकाच् धातुसे 'यङ्' प्रत्यय हो । गुणो—अभ्यासको गुण हो, 'यङ्'के परे और यङ्लुक्के

स्यात् । तेन 'ब्रुवो घञि'रित्यादि । एकाच किम् ? पुन पुनर्जागति । हलादेः किम् ? मृशमीशते । नित्यं कौटिल्ये गती । ३।१।२३। गत्यर्थात्कौटिल्ये एव यच्, न तु क्रियासमभिहारे । दीर्घोऽकित् । ७।४।८३। अक्रिनोऽभ्यासस्य दीर्घो, यच्च-द्लुक्छे । कुटिल प्राति—वाच्यते । यस्य हल् ६।४।४५। 'यस्ये'ति संघातप्रद-णम् । हल परस्य यशब्दस्य लोप स्यादादर्धधातुके । 'आदे. परस्य' । 'अतो लोप.' । वाच्यतायके । वाच्यता । रीदृत्तः । ७।४।२७। अक्रयकारे, अगार्धधातुक्

यच्' इति यच्प्रत्यये ह्कारे'संज्ञायां लोपे च 'सन्त्यहो' इति द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यभ्याससंज्ञायां 'हलादि शेष' इत्यादिहल शिष्टे ह्रस्वे 'अभ्यासे चर्च' इति भस्य वत्त्वे 'गुणो यच्चलुको' इत्यभ्यासस्य गुणे 'बोभूय' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुत्वात् 'वर्तमाने लट्' इति लटि, यच्चो द्विवात् 'अनुदात्तश्चित् आत्मनेपदम्' इति लटो ल' स्थाने तद्धि 'तिष्ठिशासार्धधातुकम्' इति तस्य सार्ध-धातुकसंज्ञायां 'कर्त्तरि ञप्' इति ञपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति परस्ये 'टित् आत्मनेपदानां टेरे' इति तस्य टेरेत्ये 'बोभूयते' इति । अबोभूयिष्ट । भूइत्यस्माद् धातोः यच्चि द्वित्वेऽभ्यासगुणे कश्ये 'बोभूय' इत्यस्य धातुस्वरलुक्छे ल' स्थाने तत्रत्ययेऽटि ष्ते सिचि इधाधितौ तयोर्लोपे च कृते स् इत्यस्य आर्धधातुकत्वे इति 'अतो लोप' इति यच्चोऽकारस्य लोपे पश्ये घृष्वे च 'अबोभूयिष्ट' इति रूपम् । वाच्यते । प्रजघातो 'नित्यं कौटिल्ये गती' इति यच्चि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च कृते 'व मञ्च' इति जाते 'दीर्घोऽकित्' इति अभ्यासाकारस्य दीर्घे 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुस्वरलुक्छे ञपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति परस्ये टेरेत्ये च 'वाच्यते' इति रूपम् । वाच्यतायके । प्रजघातोर्द्यच्चि द्वित्वेऽभ्यासत्वे अभ्यासकार्ये 'दीर्घोऽकित्' इत्यभ्यासदीर्घे च कृते 'वाच्यते' इति जाते धातुस्वरलुक्छे अनेकाश्रवादासप्रत्यये 'आदे परस्य' इति सूत्रयत्वात् 'यस्य हल' इति षलोपे 'अतो लोप' इत्यहोपे 'आम' इति द्विदो लुकि 'वाच्यताम्' इति भूते 'ऋशानुप्रयज्यते लिटि' इति लिट्परकृजोऽनुप्रयोगे तत्रत्यये तस्य एशि द्वित्वेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासकार्ये, कृते धातुस्वारे परसवर्णे 'वाच्यतायके' इति सिद्धम् । रीदृत्त इति । रीदृत्त्यादेशकथनम् । श्रुत. इति पद्ये । अत्रस्येति अधिकारात्तद्विदोष-

विषयम् । नित्य—गत्यर्थक धातुते कौटिल्य (वक्रगति) अर्थम् ही यच् प्रत्यय हो किन्तु क्रियाके सैनमिहार (पौन-पुन्य या मृगार्थ) में नहीं हो । दीर्घो—अकित् अभ्यासकी दीर्घ हो, यच्के परे और यच्चलुक्के विषयम् । यस्य—इत्ते पर 'य' इत्यकार लोप हो, आर्धधातुकके परे । रीदृत्—श्रुत-अन्त अङ्गको 'रीदृ' आदेश हो, अक्रय सम्बन्धी यकार तथा

यकारे, च्चौ च परे ऋदन्ताप्रस्य रीडादेशः । डुकृञ् करणे । चेकीयते । रीगृदु-
पधस्य च । ७।४।९०। ऋदुपधस्य धातोरभ्यासस्य रीगागमो, यद्ब्यङ्लुकोः । वरीवृ-
त्यते । वरीवृताचके । वरीवृतिता । 'श्रुभ्नादिषु च' । एषु णत्वं न । नरीवृत्यते ।
जरीगृह्यते ॥ (रीगृत्वत् इति वाच्यम्) वरीवृश्च्यते । लुपसदचरजपजभदहद-

णम् । अत आह ऋदन्ताप्रस्य रीडादेशः स्यादिति । चेकीयत इति । पुनः पुनः करोतीति
विग्रहे- 'डुकृञ्' धातोः 'धातोरेकाचः' इति यङि 'रीङ् ऋतः' इति रीङि 'सन्त्यङोः'
इति द्विस्वेभ्यासत्वे ह्लादिः शेषत्वे 'ह्रस्वः' इति ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे
चर्त्वं 'चेकीय' इति जाते सनादिस्वादात्तुत्वे लटि यङो ङित्वादात्मनेपदे तङि टेरेत्वे
शपि पररूपे 'चेकीयते' इति अत्रे सुलभम् । चेकीयांचके । चेकीयिता । चेकीयिष्यते ।
चेकीयताम् । अचेकीयत । चेकीयेत । चेकीयिषीष्ट । अचेकीयिष्ट । अचेकीयिष्यत ।
इत्यादि । वरीवृत्यते । वृत्धातोर्यङि द्विस्वे अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यभ्यासस्य
अत्वे 'उरण् रपरः' इति रपरे 'ह्लादिः शेषः' इत्यादिहलोऽवशिष्टे 'रीगृदुपधस्य
च' इति अभ्यासस्य रीगागमे 'वरीवृत्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातु-
स्वाह्वटस्ते शपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च कृते 'वरीवृत्यते'
इति रूपम् । पुनः पुनः वर्तते इति हि तस्यार्थः । वरीवृतिता । वृत्धातोर्यङि, द्विस्वेऽ-
भ्यासत्वे अभ्यासकार्ये च जाते, 'रीगृदुपधस्य च' इति धातोरभ्यासस्य रीगागमे
'वरीवृत्य' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् लुटि, लुटो लः स्थाने
तिपि, तासि तिपो ङादेशे, 'यस्य हलः' इति यमात्रस्य लोपे 'अतो लोपः' इत्य-
कारस्य लोपे 'वरीवृत् तास् ङा' इति जाते ङकारे गते ङित्वाङ्लोपे, तास इडागमे,
'वरीवृतिता' इति रूपम् । नरीवृत्यते । नृत्धातोर्यङि, द्विस्वेऽभ्यासकार्ये, रीगागमे
धातुस्वाह्वटस्तादेशे शपि, अनुबन्धलोपे, पररूपे टेरेत्वे 'नरीवृत्यते' इति स्थितौ
'अट्कुप्वाङ्नुम्वयायेऽपि' इति णत्वे प्राप्ते 'श्रुभ्नादिषु च' इति णत्वनिषेधे सति
'नरीवृत्यते' इति रूपम् । जरीगृह्यते । ग्रहधातोर्यङि ङित्वात्संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च'
इति पूर्वरूपे 'गृह् य' इति जाते 'सन्त्यङोः' इति द्विस्वेभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये
'रीगृदुपधस्य च' इत्यभ्यासस्य रीगागमे, धातुस्वाह्वटस्तेप्रत्यये, शपि, अनुबन्ध-
लोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपे टेरेत्वे च कृते 'जरीगृह्यते' इति रूपम् । रीगृत्वत् इति
वाच्यमिति । ऋकारोऽस्यास्तीति ऋत्वाङ् सस्येत्यर्थः । रीगित्वागमनिर्देशः । वरीवृश्च्य-
त इति । ओ व्रश्चुधातोः 'धातोरेकाचो' इति यङि ङित्वात् 'ग्रहित्या' इति संप्रसारणे

सावंधातुक यकार और चिच प्रत्ययके परे । रीगृ-ऋदुपध धातुके अभ्यासको 'रीक्' का, आगम
हो, यङ् और यङ् लुक्के विषयमें । रीगृत्वत्-(पूर्ण सूत्रमें 'ऋदुपध' नहीं कहकर) ऋदन्त
धातुके अभ्यासको 'रीक्' हो ऐसा ही कहना चाहिये । लुप्- 'लुप-सद' णादि धातुओंके

शगुम्यो भावगर्हायाम् ।३।१।२४। एभ्यो घात्वर्थगर्हायामेव वरस्यात् । गहितं
 लुप्पति लोलुप्यते सासद्यते । चरफलोश्च ।७।४।८७। अनयोरभ्यासस्याऽतो
 नुक् यद्बहुलुको । 'नु'गित्यनेनाऽनुस्वारो लक्ष्यते । स च पदान्तवदाच्य । 'वा
 पदान्तस्ये'ति यथा स्यात् । उत्परस्याऽतः ।७।४।८८। चरफलोभ्यासात्परस्याऽत
 तभ्याद्यद्बहुलुको । 'हलि चे'ति दीर्घ । चञ्चूर्यते । पफुल्यते पम्फुल्यते । जपज-
 भदद्दशमस्यपशां च ।७।४।८६। एषामभ्यागस्य नुक् स्यात् यद्-यद्बहुलुको ।
 न कवतेर्यदि ।७।४।६३। कवतेरभ्यासस्य नुत्वं न स्याद्यदि । कौच्यते । कौचि

सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'सन्त्यहोः' इति द्विवे द्विवे 'उरत्' इति भावे रपरत्वे
 हलादि दीपत्ये 'रीगुवत' इति अभ्यासस्य रीगागमे क्तिवाद्दन्तरत्वे 'वरीवृश्च' इति
 जाते बहो द्विवादागमनेपदे तद्धि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'वरीवृश्च्येते' इति रूपम् ।
 वरीवृश्च्येते । वरीवृश्चिता । वरीवृश्चिष्यते । वरीवृश्च्यताम् । अषरीवृश्च्यत । वरी
 वृश्च्येत् । वरीवृश्चिषीत् । अवरीवृश्चिषत् । अवरीवृश्चिष्यत । लुपसदचरेति । यदिति
 यमुवर्तते । भाव धात्वर्थं । उद्गता गर्हा भावगर्हा । तस्यामित्यर्थः । लोलुप्यते ।
 गहितं लुप्यतीत्यर्थे 'लुपसदचर' इति यद्धि 'सन्त्यहो' इति द्विवेऽभ्यासत्वे हलो
 लोपत्वे 'गुणो यद्बहुलुको' इति गुणे तद्धि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे 'लोलुप्यते' इति रूपम् ।
 सासद्यत इति । सद्घातो 'लुपसद' इति यद्धि द्विवे हलो लोपे 'दीर्घोऽकित्त' इति
 दीर्घे तद्धि टेरत्वे शपि पूर्वरूपे सासद्यते । चरफलोश्चेति । 'अत्र लोप' इत्यतोऽभ्या
 सस्येऽप्यनुवर्तते । 'नुगतोऽनुनासिकान्नस्य' इत्यत अतो नुगिति । 'गुणो यद्-
 लुको' इत्यत यद्बहुलुरिति चानुवर्तते । उत्तरस्येति । 'अत्र लोप' इत्यतोऽभ्यास
 स्येऽप्यनुवर्तते, तच्च पञ्चम्यन्त विपरिणम्यते । 'गुणो यद्बहुलुको' इत्यत यद्बहुलुकोरि
 त्यनुवर्तते । चरफलोश्चेत्यादि अनुवर्तते । चञ्चूर्यते पफुल्यते । चर फलघात्वो यद्धि
 द्विवे हलो लोपे 'चरफलोश्च' इति अभ्यासस्य नुकि 'नश्चा' इत्यनुस्वारो 'अनुस्वारस्य
 यपि परसवर्णो वा' इति चैरुपि चपरसवर्णत्वे 'उत्पर' इत्युत्पे यकारादिप्रत्ययत्वात्
 'हलि च' इति दीर्घे 'चञ्चूर्यते, चञ्चूर्यते' । तथा पंफुल्यते, पम्फुल्यते । इत्यादि सिध्य
 न्ति । जपजनेति । चरफलोभ्यासानुवृत्त सर्वमेवात्रापि अनुवर्तते । जपज्जम् इति ।
 गहितं जपनीर्यर्थे जपघातो 'घातोरेकाच' इति यद्धि द्विवेऽभ्यासत्वे हलो लोपे 'जप-
 जम्' इत्यभ्यासस्य नुकि क्तिवाद्दन्तरत्वेऽनुस्वारो परसवर्णे तद्धि टेरत्वे शपि

गहितं अर्थमे हो यद् हो । चरफ—'चर्' और 'फल्' धातुके अभ्यास सम्प्रदा अकारधे
 'नुक्' आगम हो, यद् और यद्बहुलुके विषयमें । उत्पर—'चर्' और 'फल्' धातुके
 अभ्यासावयव 'अनु'को 'उत्प' हो, यद् और यद्बहुलुके विषयमें । जपजम्—जपजदि धातुके
 अभ्यासको 'नुक्'का आगम हो, यद् और यद्बहुलुके विषयमें । प्रो यद्धि—'वा' धातुके रेफको हत

गर्हितं जपति—जङ्गप्यते । इत्यादि । ओ यङि । ८।२।२०। गिरते रेफस्य लृत्वं स्यात् यङि । गर्हितं गिलति—जेगिलपते । (सूचिसूत्रिसूत्र्यद्वयत्यर्थं शूर्णोतिभ्यो यङ् वाच्यः) सोसूच्यते । सोसूच्यते । मोसूच्यते । अट पट गतौ । अटाच्यते । यङि च । ७।४।३०। अतः, संयोगादेश्च ऋदन्ताद्भ्यस्य गुणो, यङि । यकारपरस्य रेफस्य न द्वित्वनिषेधः । 'अरार्यते' इति भाष्योदाहरणात् । अरारिता । आशाशयते । ऊर्णोनूयते । सिचो यङि । ८।३।११२। सिचः सस्य षो न स्याद्यङि । निसेसिच्यते ।

पूर्वरूपे 'जङ्गप्यते' इति रूपम् । ओ यङोति । गृ इत्यस्य ऋ इति षष्ठ्येकवचनम् । 'कृपो रो लः' इत्यनुवर्तते । जेगिल्यत इति । गर्हितं गिलति इत्यर्थं गुघातोः 'धातो-रेकाचो' इति यङि 'ऋत इद्घातोः' इतीत्वे रपरत्वे 'ओ यङि' इति रेफस्य लृत्वे द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरेत्वे षापि पूर्वरूपे 'जेगिल्यते' इति रूपम् । सोसूच्यत इति । सूचिधातोः 'सूचिसूत्रि' इति वार्तिकेन यङि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे, हलादिशेषत्वे, ह्रस्वत्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि टेरेत्वे षापि पूर्वरूपे 'सोसूच्यते' इत्यस्य सिद्धिः । अटाच्यत इति । अट् गतौ, तस्मात् 'सूचिसूत्रि' इति यङि द्वित्वे हलो लोपे सवर्णदीर्घे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरेत्वे षापि पूर्वरूपे 'अटाच्यते' इत्यस्य सिद्धिः । यङि चेति । 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' इति सूत्रमनुवर्तते । 'रीड् ऋतः' इत्यस्मात् ऋत इति च । ऋधातोः यङि 'यङि च' इति गुणे रेफविशिष्टस्य यकारस्य 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वे पूर्वस्य अभ्यासत्वे हलादिः शेषत्वे 'दीर्घोऽकितः' इति दीर्घे तङि टेरेत्वे षापि पूर्वरूपे च कृते 'अरार्यते' इति रूपम् । अराच्यते । अरारिता । अरार्य-ता इत्यवस्थायां 'यस्य हलः' इति यलोपे इद्धारामे रूपम् । अशाशिता । अशधातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे इटि 'अशाशय इता' इति जाते 'यस्य हलः' इति यलोपे 'अशाशिता' इति । ऊर्णोनूयते । ऊर्णुन् धातोः यङि नुशब्दस्य द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे णत्वे 'अङ्गदि'ति दीर्घे तङि टेरेत्वे षापि पूर्वरूपे 'ऊर्णोनूयते' इति । सिचो यङोति । सिच धातोः यङि द्वित्वे हलो लोपे 'गुणो यङ्लुकोः' इति गुणे तङि षापि टेरेत्वे 'निसेसिच्यते' इति रूपम् । अत्र 'उपसर्गात्' इति प्राप्तं परत्वं 'सिचो यङि' इति निषेधात् भवतीति सम्बन्धः । न क्वतेरिति । 'अङ्ग लोपः' इत्यतोऽभ्यासस्येति । 'कुहोश्रुः' इत्यतश्चरिति

हो, यङ्के परे ।

सूचि—सूचि—सूत्रि आदि धातुसंज्ञे. भी 'यङ्' हो (पौनःपुन्य और श्रुशार्थमे) यङि—'ऋ' धातु और संयोगादि ऋदन्त धङ्गको गुण हो, यङ्के परे । सिचो—'सिच' धातुसम्बन्धी सकारको पत्व नहीं हो, यङ् के परे । न क्व—'कु' धातुके अभ्यासको 'चुत्व'

कुपत्योस्तु—चोभूयते । (हन्तेर्हिंसायां यङि घ्नीभावो वाच्यः) जेष्ठीयते ।
 हिंसामां किम् ? । नुगतोऽनुनासिकान्तस्य । ७ । ४ । ८५ । अनुनासिकान्तस्य
 अदन्ताभ्यामस्य नुक्स्याद्यङ्गुलुको । जङ्ग्यते । अयङ् यि विडति । ७।४।२०१।
 शीघोऽयदादेश स्याद्यादौ विडति परे । शाशम्यते ॥ स्वपिस्यमिव्येजां यङि
 । ६।१।१९। स्वपिस्यमिव्येजां यङि सप्रसारणं स्यात् । सोपुष्यते । सेसिम्यते । वेवीयते ।
 न वशः । ६।१।२०। वश संप्रसारणं न स्याद्यङि । वावश्यते । चाय की । ६।१।२१।

चानुवर्तते । कोभूयत इति । कु शब्देऽस्माद्यङि दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे 'गुणो यङ्गुलुको' इति
 गुणे 'कुहोरचु' इति प्राप्त चुरात् 'न कर्तयेयङि' इत्यनेन निषिध्यते, तङि ङापि टेररेवे
 पूर्वरूपे 'कोभूयते' इति रूपम् । कौतिसुवाचोरतु चुरात् स्यादेवात् आह—'चोभूयते' इति ।
 जेष्ठीयत इति । हनघातोर्यङि 'हन्तेर्हिंसायाम्' इति वार्तिकेन घ्नीभावे 'सन्वहो'
 इति द्वित्वेऽभ्यासत्वे ह्रस्वत्वे 'कुहोरचु' इति रचुत्वे 'गुणो यङ्गुलुको' इति गुणे
 तङि ङापि पूर्वरूपे टेररेवे 'जेष्ठीयते' इति रूपम् । एतच्च हिंसायामेव । अन्यथा—
 नुगतोऽनु इति । अद्ररयेत्यधिकृतम् । 'अत्र लोप' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । जङ्ग्यत
 इति । हनघातोर्यङि द्वित्वे 'कुहोरचु' इति चुरात्तेऽभ्यासत्वे 'अभ्यासाच्च' इति कुरत्वेन
 ह्रस्व घत्वे 'नुगतो' इति नुगागमेऽभ्यासत्वे 'नञ्चा' इत्यनुस्वारे 'जङ्ग्य' इति जाते
 तङि टेररेवे ङापि पूर्वरूपे 'जङ्ग्यते' इति रूपम् । अयङ् यि विडति । 'शीघ्रं सार्वथा
 तुके गुण' इत्यत शीघ्र इत्यनुवर्तते । शाशम्यते । शीघ्रघातोर्यङि 'अयङ् यि विडति'
 इति अयङि द्वित्वे ह्रस्वो लोपे 'दीर्घोऽङ्कितः' इति दीर्घे 'शाशम्यते' इति जाते तङि
 ङापि टेररेवे पूर्वरूपे 'शाशम्यते' इति रूपम् । स्वपिस्यमिति । 'यङ् संप्रसारणम्'
 इत्यत संप्रसारणमिति लभ्यते । सोपुष्यत इति । स्वपघातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति
 संप्रसारणे पूर्वरूपे द्वित्वे ह्रस्वो लोपेऽभ्यासगुणे परत्वे तङि ङापि टेररेवे 'सोपुष्यते' इति
 रूपम् । सेसिम्यत इति । स्वमिघातोर्यङि 'स्वपिस्यमि' इति संप्रसारणे द्वित्वे ह्रस्वो
 लोपेऽभ्यासगुणे तङि ङापि टेररेवे 'सेसिम्यते' इति रूपम् । वेवीयत इति । व्येष्घातो
 र्यङि 'स्वपिस्यमि' इति संप्रसारणे दीर्घे द्वित्वे ह्रस्वे गुणे तङि ङापि टेररेवे 'वेवीयते'
 इति रूपम् । न वश इति । 'प्रहिंसया' इति प्राप्त संप्रसारण नेत्यर्थः । वावश्यत इति ।
 वशघातोर्यङि द्वित्वे संप्रसारणनिषेधे ह्रस्वो लोपे 'दीर्घोऽङ्कितः' इति दीर्घे तङि ङापि

नहीं हो, यङ् के परे । हन्ते—हिंसा अर्थमें 'हन्' धातुको 'घ्नी' आदेश हो, यङ् के परे ।
 नुगतो—अनुनासिकान्त अदन्त अभ्यासको 'नुक्'का आगम हो, यङ् और यङ्गुलुके
 विषयमें । अयङ्—'शीघ्र' धातुको 'अयङ्' आदेश हो, यकारादि कित्त-द्वित्त प्रत्ययके
 परे । स्वपि—स्वप्यादि धातुको संप्रसारण हो, यङ् के परे । न वश—'वश' धातुको
 संप्रसारण नहीं हो, यङ् के परे । चाय—'ची' धातुको 'की' आदेश हो, यङ् परे रहते ।

चायः की स्याद्यदि । चकीयते । ई ध्राध्मोः । ७।४।३१। अनयोरीत्याञ्छि । जेघ्रीयते । देघ्नीयते । नीग्वञ्चुसुध्वंसुध्वंसुकसपतपदस्कन्दाम् । ८।४।८४। एपामभ्यासस्य नीगानमः स्याद्यङ्-यङ्लुकोः । 'अकित' इत्युक्तेर्न दीर्घः । नलोपः । वनीवच्यते । सनीलस्यते । दनीध्वस्यते । वनीध्रस्यते । चनीकस्यते । पनीपत्यते । पनीपद्यते । चनीस्कद्यते ॥ इति यदन्तप्रकरणम् ।

अथ यङ्लुगन्तप्रकरणम्

यङोऽचि च । २।४।७४। यङोऽचि प्रत्यये लुक् स्यात्, चकारात् विनापि क्वचित् । अनैमित्तिकोऽयमन्तरङ्गत्वादादौ भवति । ततः प्रत्ययलक्षणो यदन्तत्वाद् द्वित्वम् । अभ्यासकार्यम् । धातुत्वान्लडादयः । 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' ।

टेरेत्वे पररूपे 'वावश्यते' इति रूपम् । चायः कीति । यङीति शेषः । चकीयत इति चायृ धातोर्द्वि 'चायः की' इति कयादेशे द्वित्वे ह्रस्वे सुत्वे गुणे तद्धि शपि टेरेत्वे 'चेकीयते' इति । ध्राध्मोरिति । यङीति शेषः । 'घ्रा, ध्मा धातोः यद्धि 'ईध्राध्मोः' इति 'ई' भादेशे द्वित्वे हलो लोपे 'कुहोश्चुः' चुत्वे 'अभ्यासे चर्च' इति चर्च ह्रस्वे गुणे तद्धि शपि पररूपे टेरेत्वे 'जेघ्रीयते' 'देघ्नीयते' इत्युभयरूपसिद्धिः । 'नीग्वञ्चु' इति । 'अत्रलोप' इत्यतोऽभ्यासस्येत्यनुवर्तते । संसु-अंसु-ध्वंसु-धातुभ्यो यद्धि द्वित्वात् अनुनासिकलोपे द्वित्वे हलो लोपे मध्योश्चर्च 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तद्धि टेरेत्वे शपि पररूपे 'सनीलस्यते' 'वनीध्रस्यते' 'दनीध्वस्यते' रूपत्रयं साधु । तद्वत् कस-पत्-पद-स्कन्द धातुभ्यो यद्धि द्वित्वादिकार्यं 'नीग्वञ्चु' इति नीगागमे तद्धि शपि टेरेत्वे 'चनीकरयते' 'पनीपत्यते', 'पनीपद्यते', 'चनीस्कद्यते' इति रूपाणि । इति यदन्तप्रक्रिया ।



यङोऽचि चेति । अचि इति प्रत्ययग्रहणम्, न तु प्रत्याहारः, यडा साहचर्यात् । 'ण्यञ्चत्रियार्य' इत्यतो लुगित्यनुवर्तते । तदाह—यङोऽचि प्रत्यये इति चकारात् विनापीति । अत्रप्रत्ययाभावेऽपीत्यर्थः । तत इति । यङो लुगानन्तरमित्यर्थः । 'न लुमता' इत्यनेन हि लुमता शब्देन लुक् तद्धिमित्तमङ्कार्यं निषिध्यते । द्वित्वादिक्ं तु यदन्तस्य कार्यम्, नतु यङ्निमित्तकम्, यद्धि परतस्तद्धिष्यभावादिति भावः । धातुत्वादिति । यङो लुकि सत्यपि प्रत्ययलक्षणमाश्रित्य यदन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता

ई ध्रा—'घ्रा' और 'ध्मा' धातुको 'ई' हो, यङ् के परे । नीग्व—वञ्चु, संसु आदि धातुओंके अभ्यासको 'नीक्'का आगम हो, यङ् और यङ्लुक्के विषयमें ।

इस प्रकार 'इन्दुसती' टीकामें यदन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

यङो—'यङ्'का लुक् (लोप) हो, 'अच्' प्रत्ययके परे । चकारात् 'अच्' प्रत्ययके विना

'चर्करीतं चे'त्यदादौ पाठाच्छ्रो लुक् । यङो वा । ७।३।२४। यदन्तान्परस्य हलादे ।
 पित. सार्ववानुक्तस्य इङ् वा स्यात् । 'भूसुवो'रिति निषेधो यद्बलुकि भाषार्यां न,
 'बोभूतु तेतिक्' इति छन्दसि निपातनात् । बोभवीति । बोभोति । बोभूत । बोभु-
 वनि । बोभवीपि । बोभोपि । बोभूय । बोभूय । बोभवीमि । बोभोमि । बोभूव ।
 बोभूम । बोभवात्प्रकार । बोभवाम्प्रभूव । बोभवामास । बोभविता । बोभविष्यति ।
 बोभवोतु । बोभोतु । बोभूतात् । बोभूताम् । बोभुःतु । बोभूहि । बोभूतात् । बोभ-
 वानि । बोभवाव । बोभवाम । अयोभवीत् । अयोभोत् । अयोभूताम् । अयोभनु ।
 बोभूयात् । बोभूयाताम् । बोभूयु । बोभूयात् । बोभूयास्ताम् । बोभूयासु । 'गाति-
 'स्वे'ति सिचो लुक् । 'यद्ये वे'तीट्पक्षे गुणं याधित्वा नित्यत्वाद् युक् । अयोभू-

घातद्' इति धातुवम् । चर्करीतमिति । यद्बलुगन्तमदादौ बोध्यमिति व्याख्यातं
 प्राक् । अतो यद्बलुगन्तारङ्गो लुगिष्यर्थं । निपातनादिति । 'हृषेरछन्दसि' इत्यत-
 छन्दसोरप्यनुवृत्तौ 'दाधर्तिर्दधर्तिर्दधर्षिबोभूततेतिक्' इत्यादिसूत्रे मूधातोर्यद्बलुग-
 न्तस्य गुणामावो निपात्यते । 'भू सुवो' इत्येव सत्र गुणनिषेधे सिद्धे गुणान्त्र
 निपातनं नियमार्थम्—यद्बलुकि छन्दस्येवाप 'भू सुवो' इति गुणनिषेधो, नान्यत्र
 ट्ति । अतो लोकेऽपि यद्बलुगन्तीति विज्ञायते । बोभवीति मूधातोर्यङि, 'यङोऽधि
 च' इति द्वित्वापेक्षया आहो यङो लुकि, सत् प्रत्ययलक्षणेन यद्बलुगन्तात् द्वित्वे,
 'गुणो यद्बलुको' इति अस्यास्य गुणे, जरावे, 'सनाद्यन्ता घातव' इति धातुत्वा-
 त्प्रतिष्ठित्वात्, 'कर्तरि शप्' इति शपि, 'चर्करीत च' इति यद्बलुगन्तस्य अदादौ पाठ-
 ददादित्वात् 'अदिप्रकृतिस्य शप' इति शपो लुकि, 'बो भू ति' इति दिधते 'यङो
 वा' इति पाञ्चिक ईडागमे, 'बोभूतुनेतिक्' इति छन्दसि निपातनात् 'भूसुवो-
 भिङि' इति गुणनिषेधस्य यद्बलुकि भाषायामप्रकृत्या गुणेऽकारेण च 'बोभवीति'
 इति रूपम् । इदमावे 'बोभोति' इति रूपम् । बोभवीत् । मूधातो 'घान्तोरेकावो
 हलादे क्रियामममिहारे यङ्' इति यङि, 'यङोऽधि च' इति यङो लुकि,
 'सम्प्रटे' इति द्वित्वे अस्यामवे, 'हलादि शेष' इत्यादिहल शेषे 'ह्रस्व'
 इत्यस्यामस्य ह्रस्वात्, 'अस्यामे चर्च' इति अथ शवे, 'गुणो यद्बलुको' इति
 अस्यासस्यावो गुणे 'बोभू' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुत्वे
 'अनन्तरि लट्' इति लटि, लट्प्रतिष्ठापि, शपि 'अदिप्रकृतिस्य शप' शपो लुकि,
 'यङो वा' इति वेदि, 'सार्वभानुकार्ष्यात्कयो' इति गुणे, एधोऽयवायाव'
 इति अवादेनो 'इतश्च' इति निय इकारस्य लोपे, अह्नयादागमे च कृते 'अयोभ-
 वीत्' इति सिद्धम् । ईडागमामाये—अयोभोत् इति । अयोभवीत् । मूधातो-

म' कर्तुं इह हो । यङो वा—यद्बलुगन्त पर हलादि 'पित' सार्वभानुको ईडागम

चीत् । अबोभोत् अबोभूताम् । अबोभूवुः । अबोभविष्यत् ॥ जज्ञमोति । जज्ञन्ति ।

‘अनुदाते’त्यनुनासिकलोपः । जज्ञतः । जज्ञन्ति । ‘म्बोश्च’ । जज्ञन्मि । जज्ञन्वः ।

‘शितपा, शपा-ऽनुबन्धेन निर्दिष्टं, यद्गणेन च ।

यत्रैकाज्ग्रहणं चैव, पश्चैतानि न यद्लुकि’ ॥ १ ॥

‘धातोरेकाद्यो ह्रस्वादेः क्रियासनमिहारे यद्’ इति यङि, ‘यङोऽचि च’ इति यङो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन चङस्तत्त्वात् ‘सन्पङोः’ इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायाम् ‘ह्रस्वादिः शेषः’ इत्यादिह्रस्वः शिष्टे, ‘ह्रस्वः’ इत्यभ्यासस्याचो ह्रस्वे ‘अभ्यासे चर्च’ इति अभ्यासभकारस्य लक्ष्णे, ‘गुणो यद्लुकोः’ इति अभ्यासस्य गुणे ‘बोभू’ इति जाते, ‘सनाद्यन्ता धात्वः’ इति धातुसंज्ञायाम् ‘लुङ्’ इति लुङि, लुङः स्थाने प्रथम-पुरुषैकवचनविचारायां त्रिपि, अनुबन्धलोपे, ‘लुङि लुङि’ इति लौ, ‘ल्लेः सिचि’ इति सिचि, इचि गटे, ‘बोभू सू ति’ इति भूत्ते, ‘इत्प्र’ इति तिपः द्रकारस्य लोपे, ‘तिङ् शित्सार्वाधातुकम्’ इति तिपस्तकारस्य सार्वधातुकसंज्ञायाम् ‘गातिस्थातुपाभूम्यः सिचः परस्मैपदेषु’ इति सिचः लोपे, ‘यङो वा’ इति तिपस्तकारस्य ईडागमे, ‘सार्वाधातुकार्वाधातुकयोः’ इति गुणे प्राप्ते नित्यत्वात् तन्वाधिरत्वा ‘भुवो वुग्लुङ् लितोः’ इति वुगागमे ‘बोभूवीत्’ इति जाते ‘लुङ्लुङ्लुङ्पददुदात्तः’ इत्यङ्गस्य अडागमे ‘भवोभूवीत्’ इति रूपम् । अबोभोत् । ‘यटो वा’ इति ईडागमाभावपक्षे लुङ्लुङ्मन्वन्व्यस्परत्वाभावेन वुगाभावे ‘सार्वाधातुकार्वाधातुकयोः’ इति गुणे ‘अवोभोत्’ इति रूपम् । जज्ञमोति । गमधातोर्यङि ‘यङोऽचि’ इति लुकि प्रत्ययलोपमाश्रित्य ‘सन्पङोः’ इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये ‘जुगलो’ इति जुगागमेऽनुस्वारे परसवर्णे त्रिपि शपि यद्लुगन्तस्याद्वादौ पाठात् ‘अदिप्रभृतिभ्यः शपः’ इति लुकि ‘यङो वा’ इति पाक्षिके ईडागमे ‘जङ्गमीति’ रूपं भवति । यदा नेडागमः स्यात्तदा ‘जङ्गम्-ति’ इत्यद-स्थायां ‘नक्षापदे’त्यनुस्वारे परसवर्णे ‘जङ्गन्ति’ इति द्वितीयरूपसिद्धिः । ‘जङ्गम् तस्’ इत्य-वस्थायां तसोऽपित्वेन छित्त्वात् ‘अनुदात्तोपदेश’ इति अनुनासिकलोपे सस्य रूपे विसर्गे ‘जङ्गन्तः’ इति रूपं सिद्धम् । ज्ञौ परतस्तु ‘जङ्गम्-क्षि’ इति स्थिते ‘अदभ्यस्तात्’ इति अतादेशे तरथाऽपि छित्वेन ‘गमहन’ इत्युपधालोपे ‘जङ्गन्मति’ इति रूपम् । जङ्गमीपि-जङ्गन्ति । जङ्गयः । जङ्गथः । जङ्गमीमि जङ्गन्मि । जङ्गन्वः । जङ्गन्मः । अत्र मस्य ‘म्बोश्च’ इत्यनेन गकारे रूपाण्यक्षेयानि । शितपा शपेति । ‘भृङ्श्रितपी शानुनिर्देशे’ इत्यादिना निर्दिष्टम् । शब्दिकरणे भृङ् श्रितम् । गणविशिष्टेन निर्दिष्टम् । यत्र सैकाज्ग्रहणेन प्रति-पादितं यत्कार्यं तत्सङ्ख्यायां न भवति इति शेषशिक्षार्थः । सदेव प्राप्तमिगिनेवेष्टं

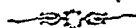
‘हो, विकल्पते । शितपा—१-शितप् निर्देश, २-शय-निर्देश, ३-अनुबन्धनिर्देश, ४-ग-निर्देश और ५-प्रकाच निर्देशसे जो कार्य निर्दिष्ट हुए हैं वे पाँचों कार्य यद्लुक्से नहीं हैं ।

—इति वचनात् इजिनेपेथ । जङ्गमिता । अनुनासिकलोपस्याऽभीयत्वेनाऽसि-
द्धत्वात् हेर्लुक् । जङ्गहि । 'मो नो धातोः' । अजङ्गन् । अनुबन्धनिर्देशात् च्लेर-
ह्—अजङ्गमीत् । दृष्टिकौ च लुकि ७।४।९१। ऋदुपधस्य धातोरभ्यामस्य ऋक्,
रिक्, रीन्—एते स्युर्बल्लुकि । ऋतश्च । ७ । ४ । ९२ । ऋदन्तादात्तोरपि तथा ।
वर्धतीति । वरिधृतीति । वरीधृतीति । वर्धति । वरिधति । वरीधति । वर्धत ३ ।
वर्धतति ३ । वर्धतामास ३ । वर्धतिता ३ । गणनिदिष्टत्वात् वृद्धपधतुभ्यं इति
न । वर्धतिष्यति ३ । अर्वातीत् ३ । अर्वर्त ३ । सिपि 'दध'ति इत्यपत्ने—'रो
रि' । अर्वा ३ । गणनिदिष्टत्वादह् न । अर्वर्तान् ३ ॥ चर्करीति । चर्करीति ।
चरीकरीति । चर्कति । चरिर्कति । चरीकृत । चर्कृत ३ । चर्कति ३ ।
चर्कराघकार ३ । चर्करिता ३ । अचर्करीत् ३ । अचर्क ३ । चर्क्यात् ३ ।
आशिपि रिद्—चक्रियात् ३ । अचर्करीत् ३ । 'ऋतश्चे'ति तपरवाभेह-दृ

निवारयन्सूचयति—जङ्गमितेति । 'जङ्गम्—ता' इभ्यउस्थायामिति 'जङ्गमिना'इति रूपम् ।
जङ्गमिष्यति । जङ्गमीत् जङ्गन्तु । ह्रीविशेष रमरयति 'जङ्गहि' अत्र हेरपरकात्वेन 'अतो
हे' इति हेलोपे प्राप्त आह—हेलोपे कर्तव्ये प्राक्कृतमकारलोपस्याभीयत्वेनासिद्धतया
हेरपरकरवाभावात् लोपप्रसक्तिरिति भाव । छडि अजङ्गम्—त् इति स्थिते, 'यद्यो वा'
इति सति ईटि 'अजङ्गमीत्' इत्येकं रूपं, यदा नेटस्यात्तदा अजङ्गम्—त् इति स्थिते 'ह-
हृदवाभ्यो'इति तलोपे 'मोनो धातो' इति मस्य नाये 'अजङ्गन्' इति रूपम् । लुङि
अजङ्गम् च्छी—त् इति स्थिते सिचि सिच इटागमे 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' इति तस्येटागमे
'इट ईटि' इति सलोपे दीर्घे 'अजङ्गमीत्' इति रूपम् । अत्र गम्घातो' सृष्टिराद्याह-
तरयानुय-धात्वेन तन्निमित्तकार्यस्य यद्गुणादौ निषेधादिति भाव । 'अजङ्गमिष्यत्'
इत्यादि । रमिकावेति । चकारेण 'रीगृदुपधस्य च' इत्यतो रीगपि अनुकृष्यत अत
आह—रक् रिक् रीगिति । लुकि इति सप्तम्यन्तेन यद्गुकीति ज्ञायते । ऋतश्चेति ।
अभ्यासस्य ऋक् रीक् इत्यागमा भवन्तीत्यर्थ । वृत्तु—वर्तने धातोर्यदि 'यद्योऽपि
च' इति लुकि द्विवेदभ्यासाये उरदधे हलो लोपे 'रमिकौ च लुकि' इति ऋक् रिक्
रीगिति आगमप्रये सति तपि दापि द्वाभ्युकि 'यद्यो वा' इति पाञ्चिक ईटि 'वर्धतीति,
वरिधृतीति, वरीधृतीति' इति । यदेहागमो न स्यात्तदा 'पुगम्त' इत्युपधागुणे सति
वर्धति—वरिधति वरीधति । इत्यादि रूपत्रयम् । ईटि सति न गुण 'नाभ्यस्तस्याधि-
पिति सार्धधातुके' इति निषेधात् । डुहृञ् करणेऽस्माद्धातो यडि षड्लुकि द्विवे
उरदधे चत्वे हलो लोपे तपि दापि द्वाभ्युकि 'यद्यो वा' इति ईटि गुणे 'ऋतश्च' इति

वर्धति—ऋदुपध धातुयो 'रक्', 'रिक्' और 'रीक्'का आगम हो, यद्गुक्त्वे । ऋतश्च—ऋदन्त

विक्षेपे । चाकति । चाकरोति । चाक्रीर्तः । चाक्रीर्हि । चाकराणि । अचाकरीत् ।
अचाकः । अचाक्रीर्ताम् । अचाककः । अचाकरीत् । अचाकारिष्ठम् । अचाकारि-
षुः । तातति । तातरति । इत्यादि । इति यद्भुगन्तप्रकरणम् ।



अथ नामधातुप्रकरणम्

सुप आत्मनः क्यच् ॥३१॥ इपिकर्मण, एपितुरात्मसंबन्धिनः, सुवन्ता-
दिच्छायामर्थे क्यज्वा स्यात् । सुपो धातुप्रातिपदिकयोः ॥२१॥७१॥ एतथोर-
वयवस्य सुपो लुक् स्यात् । क्यच्चि च ॥७१॥३३॥ अवरणस्य ईः । आत्मनः पुत्र-
मिच्छति-पुत्रीयति । (मान्तप्रकृतिकसुवन्तादव्ययाच्च क्यज्ज) किमिच्छति ।

क्रमशो रुक्-रिक्-रीक्-इत्यागमाः, चर्करीति-चरिकरीति-चरीकरीति । इडभावे लु
चर्कति-चरिकति-चरीकति । इति यद्भुगन्तप्रकरणम् ।



सुप आत्मन इति । प्राययग्रहणपरिभाषया सुवन्तादिति लभ्यते । 'धातोः कर्मणः'
इति सूत्रात्कर्मणः इच्छायां वा इत्यनुवर्तते । कर्मण इति पञ्चमी । कर्मकारकादिति
लभ्यते । सन्निधानादिच्छां प्रत्येव कर्मत्वं विवक्षितम् । आत्मनश्चदः स्वपर्यायः ।
तद्दर्शयत्य शेषत्वविवक्षायां पृथी । स्वार्थात्कर्मण इति लभ्यते । स्वश्च इच्छायां
सन्निधापितत्वादेपितैव विवक्षितः । यथा च स्वस्मै यदिप्यते कर्मकारकं तदनुवृत्तसु-
वन्तादिच्छायां क्यज्वा स्यादिति फलति । तदिदमभिप्रेत्य आह-इपि कर्मण इत्यादिना ।
पुत्रीयति । आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे द्वितीयान्तपुत्रशब्दात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति
क्यच्चि, 'पुत्र क्षम् क्यच्' इति स्थिते 'सनाद्यन्ता धातवः' इति, समुदायस्य धातु-
संज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्र क्यच्' इत्यत्र 'क्षशक्-
तद्धिते' इति ककारस्येत्संज्ञायां 'हलन्त्यम्' इति चस्येत्संज्ञायां 'तस्य लोपः'
इति उभयोः कचयोर्लोपे, 'क्यच्चि च' इत्यनेन 'पुत्र' इत्यत्र अकारस्य ईत्वे 'पुत्रीय'

धातुको भी 'रुक्'-रिक्' और 'रीक्'का आगम हो, यद्भुक्त्वे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें यद्भुगन्तप्रकरण समाप्त हुआ ।

सुप्—'इप् धातुका कर्म और 'इच्छा' कर्ताके संबन्धीवाचक सुवन्तसे इच्छा अर्थमें 'क्यच्'
प्रत्यय हो, विकल्पसे । सुपो—धात्ववयव और प्रातिपदिकावयव 'सुप्'का लुक् (लोप) हो ।
क्यच्चि—अवरणको 'ईत्' हो क्यच्के परे ।

मान्त—मान्त प्रकृतिक सुवन्त और अव्ययसे क्यच् नहीं हो ।

इदमिच्छति । अशनायोदन्यघनाया बुभुक्षापिपासायर्द्धेषु । ७।४।३४। एते
 क्यजन्ता निपात्यन्ते दुमुक्षादिभ्यर्द्धेषु । अशनायति । उदन्यति । घनायति । बुभु-
 क्षादौ किम् ? अशनीयति । उदनीयति । घनीयति । अश्वक्षीरघृणलवणाना-
 मात्मप्रीती क्यचि । ७।१।५१। एवा क्यचि अमुक् । (अश्वघृणयोर्मैयुनेच्छा-
 याम्) । अश्वस्यति वदवा । घृणस्यति गौ । (क्षीरलवणयोर्लालसायाम्)
 क्षीरस्यति बाल । लवणस्यत्युट्ट । (सर्वप्रातिपदिकानां क्यचि लालसायां-
 सुगसुकौ) दयिस्यति । दध्यस्यति । न. क्ये । १।४।१५। क्यचि, क्यचि च
 नान्तमेव पद स्यात्मान्यत् । 'न'लोप । शनीयति । नान्तमेवेति किम् ? वाच्य-
 ति । 'हलि च' । गीर्यति । पूर्यति । 'घातो' रित्येव । तेनेह न-दिवमिच्छति

इति धाते तस्मात् 'वर्तमाने छट्' इति छटि, छट्स्तिपि, षटि अनुबन्धलोपे,
 'वतो गुणे' इति पररूपत्वे च 'पुत्रोयति' इति रूपम् । छिटि—'पुत्रोयाञ्चकार'
 इत्यादि । मान्प्रकृतिकेति । सर्वत्रेच्छायां प्राप्त यद्यच्च मान्प्रकृतिकसु यन्तात् अभ्य
 याच वारयति । अत्र धाद्—क्यजनेति । उदाहरति । 'किमिच्छति' इति विप्रदे
 मान्प्रकृतिकसु यन्तात् 'किम्' इत्यस्मात् 'मान्' इति वार्तिकेन क्यचो निषेधे
 'किमिच्छति' इति वाक्यमेव । नान्यत् । अभ्ययादपि क्यजनेतीति यदुक्तं तदुदा-
 हरति—'एव इच्छति स्वरिच्छति' अत्रापि वाक्यमेव न क्यजिति भाव । वार्तिकेन
 निषेधात् । अशनायेति । क्यञ्चिदिति धातेषां निपातन्म् । 'सुप आत्मन क्यच्'
 इत्यनेनैव सिद्धे उदकशब्दस्योदघादेशार्थं तयान्येषां च दीर्घार्थं निपातनमिति
 श्वसेयम् । तच्च सूत्रनिर्दिष्टार्थेषु सस्त्वेव स्याद्वान्यार्द्धेषु । अशनमिच्छति इत्यर्थं
 निपातनात्क्यचि कलोपे 'सुपो धातु' इति सुन्नुक्ति निपातनादेव दीर्घे धातुत्वाद्
 ङादय 'अशनायति' इति रूपम् । निपातनाभावे 'अशनीयति' इति रूपापत्ते ।
 नर्त्यति । पूर्यति । आत्मनो गिरमिच्छति, आत्मनः पुरमिच्छति इत्यत्र च 'सुप
 आत्मन क्यच्' इति क्यचि, 'सनाद्यन्ता' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदि-
 कयो' इति अमो लुकि, 'गिर् य' 'पुर य' इति धाते, 'हलि च' इति उपधाया

अशनायो—'अशनाय' 'उदन्य' और 'घनाय'—ये तीनों दुमुक्षा, पिपासा और गर्द
 (निन्दा) अर्थमें क्यजन्त निपातित हैं ।

अश्वक्षीर—अश्व, क्षीर, घृण, और लवण शब्दोंसे 'अमुक्'का भागम हो, आत्मप्रीति
 अर्थमें, क्यचके परे । अश्वघृण—अश्व तथा घृण शब्दोंसे मैयुनेच्छा अर्थमें ही अमुक् भागम
 हो । क्षीर—क्षीर और लवण शब्दोंसे लालसा अर्थमें ही अमुक् हो । सर्वप्राति—सभी
 प्रातिपदिकसे लालसा अर्थमें 'मुक्' और 'अमुक्'का भागम हो क्यचके परे ।

नः क्ये—क्यच्-क्यचके परे मान्प्रकृतिके ही प्रत्यय से—क्यचके नहीं ।

दिव्यति । समिध्यति । क्यस्य विभाषा । ६।४।५०। हलः परयोः क्यच्क्यडो लोपो वाऽऽर्द्धधातुके । 'आदेः परस्य' । 'अतो लोपः' । तस्य स्थानिवद्भावात् श्लोपधाया गुणः । समिधिता । काश्यच् ॥ ३।१।९। उक्तविषये काम्यच् । पुत्रमात्मन इच्छति—पुत्रकाम्यति । पुत्रकाम्यिता । उपमानादाचारे ॥ ३।१।१०। उपमानात्कर्मणः सुवन्तादाचारेऽर्थे क्यच् स्यात् । पुत्रमिवाचरति—पुत्रीयति च्छात्रम् । विष्णुयति द्विजम् । (सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्त्वा वक्तव्यः) 'अतो गुणे' । कृष्ण इवाचरति—कृष्णति । स्व इवाचरति-स्वति । सस्वौ । अनुनासिकस्य क्त्वात्तोः क्त्वात् ॥ ६।४।१५। अनुनासिकान्तस्योपधाया दीर्घः स्यात्, क्त्वा, झलादौ क्त्वात् च । इदमिवाचरति इदामति । राजेवाचरति राजानति । 'इन्द्रञ्जि'ति नियमान्नेहो-

इको दीर्घत्वे 'गीर्घं' 'पूर्व' इति जाते धातुत्वाद्दृष्टिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'गीर्घति' 'पूर्वति' इति रूपे स्तः । दिव्यति दिवसि-च्छति इत्यर्थे 'दिव् अम्' इति सुवन्तात् 'सुप आत्मनः क्यच्' इति क्यचि, 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुत्वाद् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, क्यच्यलोपे 'दिव्य' इति भूते, तस्माद्दृष्टिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते तस्तिद्धिः । अत्र 'हलि च' इति दीर्घो न, धातुत्वाभावात् । दिव् शब्दोऽप्युत्पन्नं प्रातिपदिकमिति भावः । पुत्रकाम्यति । आत्मनः पुत्रमिच्छतीत्यर्थे पुत्र अम् इति सुवन्तात् काश्यच् प्रत्यये 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति अमो लुकि, 'पुत्रकाम्य' इत्यस्मात् धातोर्दृष्टिपि, शपि, अनुबन्धलोपे, 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'पुत्रकाम्यति' इति रूपम् । पुत्रीयति छात्रमिति । पुत्रमिवाचरति इत्यर्थे 'पुत्र अम्' इति उपमानवाचककर्मणः 'उपमानादाचारे' इति क्यचि, कस्य चस्य च लोपे 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इत्यमो लुकि, 'क्यचि च' इति अस्य इत्वे 'पुत्रीय' इति भूते, तस्माद्दृष्टिपि, शपि, अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे च कृते 'पुत्रीयति' इति सिद्धम् । इदामति । इदमिवाचरति इत्यर्थे इदमिति प्रातिपदिकाद् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्त्वा वक्तव्यः' इति क्त्वात्, तस्य सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन क्त्वात्त्वात् 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम्

क्यस्य—'हल्'से पर क्यच्-क्यच्छका लोप हो, आर्षधातुकके विकल्पसे ।

काश्यच्—उक्त (सुप आत्मनः क्यच्) के विषयमें (ही) 'काम्यच्' प्रत्यय हो ।

उपमानादाचारे—उपमानवाचक कर्मसंज्ञक सुवन्तसे आचार अर्थमें 'क्यच्' प्रत्यय हो । सर्वप्राति—सर्वा प्रातिपदिकसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो, आचार अर्थमें, विकल्पसे । अनुना—अनुनासिकान्तकी उपधाको दीर्घ हो, क्त्वा परे और झलादि क्त्वा-ठिठके परे ।

पधाया दीर्घ -पन्था इवाचरति पयीनति । मयीनति । कर्तुः क्यङ् सलोपश्च । ३।१।११। उपमानात्कर्तुं सुबन्तादाचारेऽर्थे क्यङ् वा स्यात्, सान्तस्य कर्तृवाच-
 स्य लोपो वा स्यात् । 'क्यङ् वे'र्युक्ते पञ्चे वाक्यम् । 'सनियोगशिष्टाना सह
 वा प्रत्युत्तिरिति न्यङ्मलोपयो मदैव प्रत्युत्ति । लोपश्च व्यवस्थित । (ओजसोऽ-
 पसरसो नित्यमितरेषां विभाषया) कृष्ण इवाचरति-कृष्णायते । ओजायते ।
 अपसरायते । यगायते । यरास्यते । विद्यायते । विद्वस्यते ॥ (आचारेऽवगल्भ-
 ङ्गीयहोडेभ्यः क्तिन्ना चक्तव्यः) 'वा'प्रहणाद्वाक्यमपि । अवगल्भादय पचान-
 जन्ता । विप्राजियोगेनाऽनुदात्तत्वमनुनासिकत्वं चाऽऽप्रत्ययस्य प्रतिज्ञायते । तेन
 तद् । अवगन्मते । क्लीबते । होडते । भूतपूर्वादप्यनेद्वाच आम्, एतद्वातिकारम्भ-
 सामर्थात् । अवगन्मायके । क्लोबायके । होदायके । उपसर्गसमानाकारं पूर्वपद
 धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रथमे चिकीर्षिते पृथक् क्रियते । तेन 'गल्भ' शब्दावतप्रागट् ।
 अवागन्मत । अवागतिमष्ट । लोहितादिडाज्भ्यः क्यप् । ३।१।१३। लोहितादिभ्यो,

'अनुनासिकस्य विघ्नलो विळिति' इति उपधाया दीर्घत्वे 'इदाम्' इति मूले
 तस्मात्तस्तिपि, णपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा 'इदामति' इति रूपम् । राजानति ।
 'राजेवाचरति' इत्यर्थे राजम् इति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः विघ्नत्वा वक्त-
 व्यः' इति विघ्नपि, विघ्नो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन विघ्नन्तात्वात् 'सनाघन्ता धातवः'
 इति धातुसंज्ञायाम् 'अनुनासिकस्य विघ्नलोः विळिति' इति उपधाया दीर्घत्वे
 'राजान्' इति जाते तस्मात्तस्तिपि, णपि, अनुबन्धलोपे मिलित्वा 'राजानति'
 इति । अवगल्भते । अवगल्भ इवाचरतीत्यर्थे 'आचारे' इति क्लिपि सङ्गोपे तडि णपि
 पररूपे 'अवगल्भते' । क्लीब इवाचरति क्लिपि सङ्गोपे तडि णपि पररूपे 'क्लीबते' ।
 होडते । इत्यादि । अवगल्भायके-क्लीयायके-होदायके । 'अवगल्भ इति विघ्नता-
 वृत्ति तडि णपि पररूपे 'उपसर्गसमानाकारं पूर्वपदं धातुसंज्ञाप्रयोजके प्रथमे
 कर्तव्ये पृथक्क्रियते' इति नियमेन गल्भशब्दात्प्रागेवाटि 'अवागन्मत' इति रूपम् ।
 अवगल्भते । अवगल्भिमपीष्ट । अवागतिमष्ट । अत्राऽपि गल्भशब्दात्प्रागेवाट् ननु
 अवागन्माक् । अवागल्भिमथत् । इत्यादि । 'लोहितादिडाज्भ्य क्यप्' इति । डाज्भ्यन्ताङ्गो

कर्तुं क्यङ्—उपमानवाची कर्तुमन्वक सुबन्तसे आचार अर्थमे 'क्यङ्' प्रत्यय हो, विकल्पसे
 तथा सान्त कर्तृवाचकके सकारका लोप भी हो विकल्पसे । ओजसो—'ओजस्' तथा 'अप्त
 रसु' शब्दके सकारका नित्य और धातु सकारका शब्दके सकारका विकल्पसे लोप हो ।
 आचारे—आचार अर्थमे अवगल्भ, क्लीब और होडसे 'क्लि' प्रत्यय हो, विकल्पसे (विकल्प
 'व्ययमे-वाक्य रहे) लोहिता—लोहितादि और डाज्भ्यन्तसे 'अक्ति' अर्थमे 'क्यप्' प्रत्यय हो ।

डाजन्ताच्च भवत्यर्थे क्यप् स्यात् । वा क्यपः । १।३।९०। क्यपन्तात्परस्मैपदं वा स्यात् । अलोहितो लोहितो भवति-लोहितायति । लोहितायते । ननुचाराणसामर्थ्यात्काम्यच इव क्यपोऽपि ककारः कुतो न श्रूयते ? इति चेच्छृणु । तस्य भाष्ये प्रत्याख्यानात् । पटपटायति । पटपटायते । कष्टाय क्रमणे । ३।१।१४। चतुर्थ्यन्तात्कष्टाव्दादुत्साहेऽर्थे क्यब् स्यात् । कष्टाय क्रमते—कष्टायते । पापं कर्तुमुत्सहत इत्यर्थः । (सत्रकक्षकष्टरुच्छृगहनेभ्यः कष्वचिकीर्पायाम् इति वक्तव्यम्) कष्व पापम् । पापं चिकीर्षति—सत्रायते । कक्षायते । कर्मणो रोमन्ध-तपोभ्यां वर्त्तिचरोः । ३।१।१५। रोमन्धतपोभ्या कर्मभ्यां क्रमेण वर्त्तनायां, चरणे चार्थे क्यब् स्यात् । रोमन्धं वर्त्तयति—रोमन्धायते । (हनुचलन इति वाच्यम्) चर्चितस्याऽऽकृष्य पुनश्चर्वणे इत्यर्थः । नेह-कीटो रोमन्धं वर्त्तयति । (तपसः परस्मैपदञ्च) तपश्चरति—तपस्यति ॥ वाष्पोऽभ्यामुद्धमने । ३।१।१६।

हितादिगणात्क्यपिति भावः । वा क्यपः । क्यपन्तात्परस्मैपदं वेत्यर्थः । 'शेषात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । 'अलोहितो लोहितो भवति' इति विग्रहे लोहितशब्दात्क्यपि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे उभयपदस्वे 'लोहितायति-लोहि-तायते' रूपसिद्धिः । पटपटाशब्दात् डाजन्तात् 'लोहितादि' इति क्यपि 'अकृत्' इति दीर्घे उभयपदस्वे च कृते 'पटपटायते; पटपटायति' इति रूपे भवतः । कष्टायते । 'कष्टे' इति चतुर्थ्यन्तात् क्रमते इत्यस्मिन्नर्थे 'कष्टाय क्रमणे' इत्यनेन क्यङि, अनुबन्ध-लोपे 'सनापन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'सुपो धातुप्रातिपदिक्योः' इति छेच्छु-कि, 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' इति अजन्ताङ्गस्य दीर्घत्वे 'कष्टाय' इति जाते, छित्वात् तस्मात्कृते, अपि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे 'दित् आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेस्वे च तत्सिद्धिः । सत्रकक्षेति । एभ्यः शब्देभ्यः क्यब् स्यात् पापचिकी-र्पायामित्यर्थः । सत्रायते-कक्षायते । अत्र क्यङि 'अकृत्सार्व' इति दीर्घे 'सत्रायते' 'कक्षायते' इति रूपे भवतः । कृच्छ्रायते-गहनायते । कर्मण इति । 'कर्तुः क्यब्' इत्यस्य क्यङिति अनुवर्तते । रोमन्धं वर्त्तयति इति विग्रहे 'रोमन्धायते' इति रूपम् । हनुच-लने' इति वार्तिकं कीटादिषु चारणाय क्रियतेऽन्यथा तत्रापि प्रयोगापत्तेः । तपश्चरति-

वा क्यपः—क्यपन्तसे परस्मैपद हो, विकल्पसे । कष्टा—चतुर्थ्यन्त 'कष्ट' शब्दसे 'क्यब्' प्रत्यय हो, उत्साह अर्थमें । सत्रकक्ष—सत्रादि शब्दोंसे 'क्यब्' प्रत्यय हो; पापेच्छा अर्थमें । कर्मणो—कर्मोभूत 'रोमन्ध' और 'तपस्' शब्दसे वर्तना (वर्त्तयति) तथा चरण (चरति) अर्थमें 'क्यब्' प्रत्यय हो । हनुचलन—'रोमन्ध' शब्दसे हनुचलन (चर्चितका गुणः चबाना—पाऊर) अर्थमें ही क्यब् प्रत्यय हो—ऐसा कहना चाहिये । तपसः—क्यङ्गन्त 'तपस्' शब्दसे परस्मैपद हो । वाष्पो—कर्मोभूत 'वाष्प' तथा 'ऊष्म' शब्दसे उद्धमन अर्थमें

आभ्यां कर्मभ्यां क्यङ् स्यादुदमने । बाणमुदमनि—बाणायते । उष्माणमुदमति—
 उष्णायते । (फेनाद्येति घक्तव्यम्) फेनमुदमति—फेनायते । शब्दचैरकल-
 द्वाञ्चक्रण्यमेघेभ्यः करणे । ३।१।१७। एभ्य कर्मभ्य करोत्यर्थे क्यङ् स्यात् ।
 शब्द करोति-शब्दायते । (सुदिनदुर्दिनगीहारेभ्यश्च) मुदिनायते । दुर्दिना-
 यते । नीहारायते । (प्रातिपदिकाद्वात्त्वर्थे बहुलमिष्टवद्य) प्रातिपदिकाद्वा-
 त्वर्थे णिच् स्यात्, इष्टे यथा प्रातिपदिकस्य-पुंवद्भावपरमावटिलोपदिनमत्रुणोपयणादि
 लोपप्रत्यस्काद्यदेशमसंज्ञास्तद्वृणावपि स्यु । पट्टमाचष्टे-पटयति । परत्वाद् पट्टौ
 सत्यां टिलोपः । अपीपटत् । 'णौ चडी'त्यत्र भाष्ये तु 'वृद्धेर्लोपो षलीया'निति सि-
 तम् । अपपटत् । पुच्छभाण्डचीपराणिङ् । ३।१।२०। (पुच्छादुदमने, व्यसने,
 पर्यसने च) विविध, विषद् चोच्चेपण—व्यसनम् । उत्पुच्छयते । परिपुच्छ-
 यते । विपुच्छयते । (भाण्डात्समाचयने) सम्भाण्डयते । समचभाण्डत ।

इति विप्रद्वे तपस् शब्दात् 'तपसः परस्मैपद च' इति चकारात्क्यङि तपस्य लटि
 परस्मैपदात्वे त्रिषि शपि पररूपे 'तपस्यति' इति रूपम् । बाष्पोष्मेति । 'क्यङ्' इति
 अनुवर्तते । बाष्पमुदमति इति विप्रद्वे क्यङि 'अकृत्' इति वीर्यं तद्धि शपि टेरैस्वे
 पररूपे 'बाष्पायते' तद्रूढ 'उष्णायते' ह्ययथापि अवसेयम् । फेनाद्येति । धार्तिकमेतद्,
 क्यङिति शेष । फेनायते । फेनमुदमति इत्यर्थे फेनशब्दात् 'फेनाद्येति घक्तव्यम्' इति
 धार्तिकेन क्यङि 'अकृत्' इति वीर्यं-तद्धि टेरैस्वे शपि पररूपे 'फेनायते' इति रूपम् ।
 पुच्छभाण्डेति । अस्य व्याख्यान विधत्ते । पुच्छादिनि । उत्पुच्छयते । उत्पुच्छशब्दात्
 णिङि अतो लोपे 'उत्पुच्छि' इति जाते तद्धि शपि गुणेऽयादेशे टेरैस्वे 'उत्पुच्छयते,
 परिपुच्छयते' इति रूपे भषत । संभाण्डयते । भाण्डात्समाचयने' इति धार्तिकेन
 णिङि अतो लोपे तद्धि शपि गुणेऽयादेशे टेरैस्वे 'सभाण्डयते' इति रूपम् ।
 लुटि 'उपसर्गसमाहकार पूर्वपदं धातुमज्ञानिमित्ते प्रत्यये विक्रीरिते घृयक्रियते'

'क्यङ्' प्रत्यय हो । फेनाद्य—कर्मभूत 'फेन' शब्दसे उदमन अर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो ।
 शब्दचैर—कर्मभूत शब्द, चैर, आदि शब्दोंसे 'करोति' अर्थमें क्यङ् प्रत्यय हो ।

सुदिन—कर्मभूत सुदिन, दुर्दिन आदि शब्दोंसे करोत्यर्थमें 'क्यङ्' प्रत्यय हो ।

प्रातिपदिक—(समी) प्रातिपदिकसे धात्वर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो, विर्यस्ये और
 'इष्टन्' प्रत्ययके परे यथा पुंवद्भाव, रभाव, टिलोप, विन् तथा मत्रुण लोप, यगादि लोप,
 प्र-स्व-स्व-आदि आदेश और मसञ्जा कार्य होते हैं, तथा इस 'णिच्'के परे भी हों ।
 पुच्छ—कर्मभूत पुच्छ, भाण्ड और चीवर शब्दसे 'णिङ्' प्रत्यय हो । पुच्छाद्—'पुच्छ'
 शब्दसे उदसन, व्यसन और पर्यसन अर्थमें 'भिङ्' प्रत्यय हो । भाण्डात्—'भाण्ड' शब्दसे

चीवरादर्जने, परिधाने च) संचीवरयते मिथुः । मुण्डमिश्रग्रहणलक्षण-
व्रतवस्त्रहलकलकृततूस्तेभ्यो णिच् । ३।१।२१। कृत्र्यं । मुण्डं करोति—मुण्ड-
यति । (व्रतान्नोजन-तन्निवृत्त्योः) पयः शूद्रान्नं वा व्रतयति । (वस्त्रात्स-
माच्छादने) संवस्रयति । (हल्यादिभ्यो ग्रहणे) हलिकल्पोरदन्तत्वं च निपा-
स्यते । हलिं, कलिं वा गृह्णाति—हलयति । कलयति । महद्वलं—ह्वलिः । कृतं
गृह्णाति—कृतयति । तूस्तानि विहन्ति—वितूस्तयति । तूस्तं केशा इत्येके । जटी-
भूताः केशा इत्यन्ये । पापमित्यपरे । (सत्याऽर्थवेदानाम्पुग्वक्तव्यः) ।
सत्यापयति । अर्थापयति । वेदापयति । पाशं विमुञ्चति—विपाशयति । रूपं पश्यति—
रूपयति । वीणयोपगायति—उपवीणयति । तूत्तेनानुकुष्णाति—अनुतूलयति तृणाग्रम् ।

इति नियमेन भाण्डशब्दात्प्रागेवावागमे सति 'समवभाण्डत' इति रूपम् । संची-
वरयते । संचीवरशब्दात् 'चीवरात्' इति वार्तिकेन णिङि तङि शपि गुणेऽयादेशे
रेरेवे 'संचीवरयते' इति । मुण्डमिश्रेति । एभ्यो णिच् स्यात् कृत्र्यं । मुण्डं करोति
इति विग्रहे 'मुण्डमिश्र' इति णिचि अतो लोपे त्तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'मुण्डयति' इति
रूपम् । व्रतयतीति । व्रतशब्दात् 'व्रतान्नोजन' इति वार्तिकेन णिचि अतो लोपे त्तिपि
शपि गुणेऽयादेशे 'व्रतयति' इति रूपं भवति । संवस्रयति । संवस्रशब्दात् 'वस्त्रात्समा-
च्छादने' इति णिचि अतो लोपे त्तिपि शपि गुणेऽयादेशे संवस्रयति । हलयति, कलयति ।
आभ्यां परतः 'हस्यादिभ्यो ग्रहणे' इति वार्तिकेन णिचि अनयोरदन्तत्वाद्गुणे त्तिपि शपि
अयादेशे 'हलयति' 'कलयति' इति रूपे भवतः । कृतयति । कृतं गृह्णातीत्यर्थं णिचि
गुणे त्तिपि शपि अयादेशे 'कृतयति' इति रूपम् । वितूस्तयति । वितूस्तशब्दात् णिचि
गुणे त्तिपि शपि अयादेशे 'वितूस्तयति' इति रूपम् । सत्यापयति । सत्यशब्दात् 'सत्याप'
इति णिचि 'सत्यार्थवेदानाम्पुग्वक्तव्यः' इति आपुकि दीर्घे 'सत्यापि' इति जाते
घातुच्चाह्णिति त्तिपि शपि गुणेऽयादेशे सत्यापयति । अर्थापयति । अर्थशब्दात्पुग्विधान-
नसामर्थ्याण्णिचि आपुकि लटि त्तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'अर्थापयति' इति रूपम् ।
वेदापयति । अत्रापि आपुग्विधानादेव णिजिति भावः । विपाशयति । अत्र 'सत्याप' इति
णिचि अतो लोपे त्तिपि गुणेऽयादेशे 'विपाशयति' इति रूपम् । रूपयति । शपि
गुणेऽयादेशे रूपम् । उपवीणयति । अत्रापि 'सत्याप' इति णिचि अतो लोपे त्तिपि शपि

'सनाचयन' अर्थमें ही 'णिङ्' प्रत्यय हो । चीवरा—'चीवर' शब्दसे अर्जन और परिधान
अर्थमें 'ण्यत्' प्रत्यय हो । मुण्ड—मुण्डादि शब्दोंसे कृत्र्यमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

व्रतान्नो—'व्रत' शब्दसे भोजन और भोजन निवृत्ति दोनों अर्थोंमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

वस्त्रात्—'वस्त्र' शब्दसे आच्छादन अर्थमें 'णिच्' प्रत्यय हो ।

हस्या—'हस्यादि' शब्दोंसे 'ग्रहण' अर्थमें णिच् प्रत्यय हो । सत्यार्थ—सत्य, अर्थ

गुणेऽनुपद्वयतात्पर्यं । श्लोचैरुपन्तीति-उपलोकयति । मनयाऽभियाति-अभियेग-
यति । लोमान्यनुमार्ष्टि-अनुलोमयति । स्वच्छ सररखे । पचाशच् । त्वच गृह्णाति-
त्वचयति । इर्मणा संनहति-संवर्मयति । वर्णं गृह्णाति-वर्णयति । धूर्णैरयध्वंसते-
अधचूर्णयति ॥ इति नामघानुप्रकरणम् ।

अथ कण्ड्वादिप्रकरणम्

कण्ड्वादिभ्यो यक् । ३।१।२७। एभ्यो घातृभ्यो नित्यं यक् स्मान्, स्वार्थे ।
कण्डूञ् गात्रविषर्षणे । कण्डूयति । कण्डूयते । इत्यादि ॥

इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ।

गुणेऽप्यादेते 'उपवीणयति' इति रूपम् । अनुतूलयति । अत्र च 'सत्याप' इति णिच्
ध्रुलोपे त्रिपि नापि गुणेऽप्यादेशे 'अनुतूलयति' इति रूपम् । एवं उपलोकयति-अभिये-
गयति-अनुलोमयति-स्वचयति-संवर्मयति-वर्णयति-अधचूर्णयति । अत्र 'सत्याप'
इत्यनेनैव णिच् षोध्य, छटाविकार्यं च पूर्ववद्भाष्यम् । इति नामघानुप्रक्रिया ।

कण्ड्वादिभ्यो यक् । घातृभ्य इति । 'घातोरेकाचो हलादेः' इत्यतस्तदनुबुद्धेरिति
भावः । निरयमिति । घामहणं तु निवृत्तमिति भावः । अन्यथा 'कण्डूयति' इत्याद्यपि
स्यादिति भावः । द्विधा हि कण्ड्वादिभ्यः-घातवः घातिपदिकानि च, घातुप्रकरणाद्घातृ-
वास्य घासञ्जनादपि । आह घासमिम दीर्घं, मन्ये घातुर्धिमपितः ॥ इति आप्यादिति
भावः । गा-विषर्षणम् । गात्रस्वर्जनमिति यावत् । कण्डूयति । अनुबन्धविनिर्मुक्त्या
गात्रविषर्षणार्थककण्टुमघातो 'कण्ड्वादिभ्यो यक्' इति स्वार्थे यकि, 'हलन्त्यम्'
इति कस्येरेमंज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे, 'सनाद्यन्ता घातवः' इति घातुसज्ञायां
'धर्तमाने छट्' इति छटि, छट्मितिपि, नापि अनुबन्धलोपे, 'कण्डूयति' इति जाते,
'अतो गुणे' इति वररूपत्वे च विहिते 'कण्डूयति' इति रूपम् । कण्डूयते । आत्मनेपदे
रूपम् । इति कण्ड्वादिप्रकरणम् ।

और वेद शब्दोंको 'अणुक्'का आगम हो 'णिच्'के परे ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें नामघानुप्रकरण समाप्त हुआ ।

कण्ड्वा—कण्ड्वादि गणपठित घातृभ्योसे नित्य 'यक्' प्रत्यय हो, स्वार्थे ।

आत्मनेपदप्रकरणम्

कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे ।१।३।१४ । क्रियाविनिमये धोत्ये कर्त्तर्यात्मनेपदं स्यात् । व्यतिलुनीते । अन्यस्य योग्रं लवनम् अन्यः करोतीत्यर्थः । न गतिर्हिस्त्वा-
र्थेभ्यः । १ । ३ । १५ । गतिर्हिसार्थेभ्यः कर्मव्यतिहारे आत्मनेपदं न स्यात् ।
व्यतिगच्छन्ति । व्यनिप्नन्ति । (हरतेरप्रतिषेधः) संप्रहरन्ते राजानः । इतरेतराऽ-
न्योन्योपपदाच्च । १ । ३ । १६ । (परस्परोपपदाच्चेति वक्तव्यम्) ।
इतरेतरस्याऽन्योन्यस्य, परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति । नेर्विशः । १।३।१७। नेर्विश
आत्मनेपदं स्यात् । निविशते । परिव्यवेभ्यः क्रियः । १।३।१८। परिव्यवेभ्यः
क्रिय आत्मनेपदं स्यात् । परिक्रीणीते । विक्रीणीते । अवक्रीणीते । विपराभ्यां लोः

कर्त्तरि कर्मेति । कर्मव्यतिहार इत्यत्र कर्मशब्दः क्रियापरः, व्यतिहारशब्दो विनि-
मयपर इत्युक्तं भवति । व्यतिलुनीते । वि अति इति उपसर्गद्वयपूर्वकञ्जुष्वातोः 'वर्त-
माने लट्' इति लटि, अनुचन्धलोपे, लटो लः स्थाने 'कर्त्तरि कर्मव्यतिहारे' इति
कर्मव्यतिहारे धोत्ये कर्त्तरि आत्मनेपदे प्राप्ते, तत्र प्रथमपुरुषैक्यचनविवक्षायां ढे
कृते, 'क्रियादिभ्यः शना' इति शनाप्रत्यये अनुचन्धलोपे, उभयत्र सार्वधातुफसंज्ञायां
'प्वादीनां ह्रस्वः' इति लृञो ह्रस्वत्वे, 'ई ह्रस्वप्रोः' इति शनाभाकारस्य ईश्वे, 'द्वित
आत्मनेपदानां ढेरे' इति ढेरेत्वे 'वि अति' इत्यत्र यणि च कृते 'व्यतिलुनीते' इति
रूपम् । अन्यस्येति । शृङ्गादियोग्यं सस्यादिलवनं प्राहणः करोतीत्यर्थः । इतरेरिति ।
सम्प्रपूर्वाद्धरतेर्हिंसार्थेवाद्यत्तत्रापि 'न गतिर्हिंसार्थेभ्यः' इति निषेधे प्राप्ते आह-इतरे-
र्हिंसार्थकस्य नात्मनेपदनिषेध इति भावः । संप्रहरन्ते राजानः । संप्रपूर्वात् हृष्वातोर्लटि
'हरतेरप्रतिषेधः' इत्यात्मनेपदे क्षत्वान्तादेशे शपि गुणे रपरत्वे 'संप्रहरन्ते' इति रूपम् ।
इतरेतरेति । एतेषूपपदेषु सस्यु अपि क्रियाविनिमये धोत्ये धातोरारम्भनेपदं नेत्यर्थः ।
परस्परेति । अस्मात्परस्मादपि धातोरारम्भनेपदं नेति भावः । उदाहरति, इतरेतरस्य-
अन्योन्यस्य-परस्परस्य वा व्यतिलुनन्ति । अत्र क्रियाविनिमयस्य सन्नेऽपि कर्त्तरि

कर्त्तरि—क्रियाका विनिमय (अदल-बदल) अर्थधोत्ये ङे तो धातुसे आत्मनेपद ङे, कर्त्तरि ।
न गति—गत्यर्थक और हिंसार्थक धातुओंसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपद नहीं ङे ।
इतरे— (सोपसर्गक हिंसार्थक) 'हृ' धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें आत्मनेपदका निषेध
नहीं ङे । इतरेतर—'इतरेतर' और 'अन्योन्य' उपपदक धातुसे 'क्रियाविनिमय' अर्थमें
आत्मनेपद नहीं ङे ।

परस्परो—'परस्पर' उपपदक धातुसे क्रियाविनिमय अर्थमें आत्मनेपद नष्ट ङे ।
नेर्वि—'न' उपसर्गक 'विश्' धातुसे आत्मनेपद ङे । परिव्यवे—परि, वि और अव
उपसर्गक 'क्रीञ्' धातुसे आत्मनेपद ङे । विपरा—वि और परा उपसर्गक 'ञि' धातुसे आत्म-

।१।३।१९। विपराभ्यां जेरात्मनेपदं स्यात् । विजयते । पराजयते । क्रीडोऽनुसं-
परिम्यञ्च ।१।३।२१। अनुसपरिम्य क्रीडनेरात्मनेपदं स्यात् । चादात् । अनु-
क्रीडते । सक्रीडते । परिक्रीडते । आक्रीडते । (समोऽङ्गुने) सक्रीडते ।
कृजने तु—संक्रीडति चक्रम् । (आगमेः क्षमायाम्) ष्यन्तस्येदं प्रहणम् ।
आगमयस्व तावत् । मा त्वरिष्ठा इत्यर्थः । (शिञ्जेजिज्ञासायाम्) धनुषि शिक्षते ।

परस्मैपदमेव 'इतरेतर' इति सूत्रे 'न गति' इत्यतो नेत्यनुवर्तनात् । विजयते । परिपूर्वं
कृजिघातोऽट् स्थाने 'विपराभ्यां जे' इति ते, षापि, गुणे, अयादेदो टेरैष्वे च तसि
दि । विजयते—उत्कृष्टो भवतीत्यर्थः । पराजयते । निहृष्टो भवतीत्यर्थः । क्रीडोऽनुसमिति ।
अनु स परि-चकारादात्पृतेभ्य उपसर्गम्बो विद्यमानात् 'क्रीड' घातोरात्मनेपद स्यादि
त्यर्थः । अनुक्रीडते-मक्रीडते-परिक्रीडते आक्रीडते-अत्र 'क्रीडोऽनु' इत्यात्मनेपदे तद्धि
टेरेष्वे षापि रूपाणि भवन्ति । विशेषमाह—समोऽङ्गुनेति । सम्पूर्वात्क्रीडघातोऽङ्गुने
एवात्मनेपदमन्यत्र परस्मैपदम् । कृजनं शब्द ष्वनिविशेष । कृजने सति तु 'सक्री-
डति' इति रूपम् । चक्रमिति तु कृजनकर्तुं, स्फोरणायेति भावः । आगमेरिति । आङ्-
पूर्वात् ष्यन्तात् गमघातोः क्षमायं आत्मनेपदमित्यर्थः । उदाहरति—आगमयस्वेति ।
आङ्पूर्वात् गमघातोर्णौ घातुमज्ञायां लोटि मध्यमपुरुषैक्यचमद्विवक्षायां षासि,
षासे से चादेदो 'सवाभ्यां वामौ' इति चादेदो षापि गुणोऽयादेदो 'आगमयस्व' इति
रूपम् । तापत् इति अयधौ । फलितार्थमाह मा त्वरिष्ठा इति । शिञ्जेरिति । शिञ्ज-
सोऽजिज्ञासायामात्मनेपदमित्यर्थः । शिक्षते । शिञ्जघातोऽटि 'शिञ्जेजिज्ञासायाम्'
इत्यात्मनेपदे तद्धि टेरैष्वे षापि 'शिञ्जते' इति रूपम् । धनुषि इति विषयसप्तमी ।

नेर हो । क्रीडो—अनु, सम्, परि और आङ् उपसर्गक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो ।
समो—सं-अङ्गुनेक 'क्रीड' धातुसे आत्मनेपद हो, अङ्गुन (कर-कर) अर्थमें ।

नोटः—लोकमें बबले-चौरस और कथचित् मोरकी बोडीमें ही 'कृजति'का प्रयोग होता
है । यहाँ मूलमें कृजन अर्थमें 'सक्रीडति चक्रम्' यह उदाहरण दिया गया है । इससे सिद्ध
है कि यह उदाहरण वासुदेवके सुदर्शन चक्रका है । आज-कलके रथचक्र (गाडीका पहिया)
का शब्द कृजन अर्थमें प्रयोग करने योग्य नहीं होता ।

('अमर'के शब्दोंमें ही केवल 'कृजति'का प्रयोग होता है, यह भी स्मरण रखो) ।

आगमे—'आङ् उपसर्गक' ष्यन्त 'गम्' धातुसे आत्मनेपद हो, क्षमा अर्थमें ।

नोटः—आङ् उपसर्गवशात् गमधातुका 'क्षमा' अर्थ होता है ।

शिञ्जते—सन्नत 'शिञ्ज' धातुसे आत्मनेपद हो, जिज्ञासा अर्थमें ।

नोटः—'शिञ्ज विधोपादाने'का प्रहण इसलिये नहीं होता कि वह स्वयम् 'अनुवाचते'
(आत्मनेपदा) है ।

धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीत्यर्थः । वृत्ति-सर्ग-तायनेषु क्रमः । १।३।३८।
एष्वर्थेषु क्रम आत्मनेपदं स्यात् । वृत्तिरप्रतिबन्धः । ऋचि क्रमते बुद्धिः । सर्गः—
उत्साहः । अध्ययनाय क्रमते । क्रमन्तेऽस्मिञ्छास्त्राणि । स्त्रीतानि भवन्तीत्यर्थः ।
आङ् उद्गमने । १ । ३ । ४० । आङ् परस्मात्क्रम आत्मनेपदं स्यादुद्गमने ।
आक्रमते सूर्यः । (ज्योतिरुद्गमन इति वाच्यम्) नेह, आक्रामति धूमो
हर्म्यतलात् । वेः पादविहरणे । १ । ४ । ४१ । वेः परस्मात् क्रमेरात्मनेपदं
स्यात्पादविहरणे । साधु विक्रमते वाजी । प्रोपाभ्यां समर्याभ्याम् । १।३।४२।
समर्याभ्यां प्रोपाभ्यां परस्मात्क्रमेरात्मनेपदं स्यात् । प्रारम्भेऽनयोस्तुल्यार्थता ।
प्रक्रमते । उपक्रमते । समर्याभ्यां किम् ? प्रकामति । गच्छतीत्यर्थः । उपकामति ।

निर्णयार्थमाह धनुर्विषयज्ञाने शक्तो भवितुमिच्छतीति । वृत्तिसर्गति । एतेष्वर्थेषु
गम्यमानेषु क्रमधातोरारम्भनेपदमिति यावत् । समाधत्ते-वृत्तिः = अप्रतिबन्धः—ऋचि
क्रमते बुद्धिः । अत्रात्मनेपदत्वे रूपमवसेयम् । ऋचि बुद्धिः प्रतिबन्धरहिता भवति ।
सर्गं उत्साहः । 'अध्ययनाय क्रमते' अत्रापि तडि शपि रूपम् । अध्ययनविषय उत्सा-
हवान् भवतीत्यर्थः । क्रमन्तेऽस्मिन्निति । अत्रापि ज्ञादेशोऽन्तादेशे टेरेत्वे शपि रूपम् ।
अत्र सूत्रे तायनं विस्तारः विशदस्वं वा । आङ् उद्गमन इति । आक्रमते सूर्यः ।
आङ्पूर्वात्क्रमधातोः तडि टेरेत्वे शपि रूपम् । सूर्य इति उद्गमनकर्तुः स्फोरणायेति
भावः । केवलमुद्गमनमूर्ध्वगमनमित्यर्थे आत्मनेपदविधानात् 'आक्रामति धूमः'
इत्यत्रापि आत्मनेपदापत्तिरत आह—'ज्योतिरुद्गमने' इति । धूमस्य ज्योतिस्वाभा-
वाच्च दोष इति भावः । वेः पादविहरण इति । विपूर्वात्क्रमधातोः पादविहरणे = पादवि-
न्यासपूर्वकचलने आत्मनेपदं स्यादित्यर्थः । विक्रमते । तडि शपि रूपम् । साधु विक्र-
मते वाजी = अश्वः सम्यक् पादसंचालनं करोति । साधु गतिमानित्यर्थः । प्रोपा-
भ्यामिति । समावर्थो ययोस्तौ समर्थौ ताभ्यामित्यर्थः । ततः कुत्र प्रपूर्वस्य
क्रमधातोस्तथा उपपूर्वस्य क्रमधातोः समानार्थता अत आह—प्रारम्भेऽनयोस्तु-
ल्यार्थतेति । प्रक्रमते-उपक्रमते । तडि शपि रूपे भवतः । प्रारभते इत्यर्थः । सम-

वृत्तिसर्ग—'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, वृत्ति (प्रतिबन्ध, त्रिना रकाषट), सर्ग
(उत्साह) और तायन (बुद्धि, स्फूर्ति) अर्थमें । आङ्—'आङ्' उपसर्गसे पर 'क्रम'
धातुसे उद्गमन (ऊपर उठना) अर्थमें आत्मनेपद हो । ज्योति—ज्योति (प्रकाश) का उद्गमन
(उदय) अर्थमें ही 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा कहना चाहिये ।

वेः पाद—'वि' उपसर्गसे पर 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद हो, पादविहरण अर्थमें ।

प्रोपा—तुल्यार्थक 'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'क्रम' धातुसे आत्मनेपद ह

आगच्छतीत्यर्थः । अनुपसर्गाद्या । १।३।४३। अनुपसृष्टात्कमेरात्मनेपदं वा स्यात् ।
 क्रामति । क्रमते । अपहृवे ह्यः । १।३।४४। अपहृवे जानातेरात्मनेपदं स्यात् ।
 रातमपजानीते । अपलपतीत्यर्थः । अकर्मकाद्य । १।३।४५। अकर्मकाजानाते-
 रात्मनेपदं स्यात् । सर्पिषो जानीते । सर्पिषोपायेन प्रवर्तत इत्यर्थः । समयप्रविभ्यः
 स्यः । १।३।२२ । एभ्यस्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यात् । सन्तिष्ठते । अस्तितिष्ठते ।
 प्रतिष्ठते । कितिष्ठते । (आटः प्रतिज्ञायामुपसंख्यानम्) शब्द नित्यमातिष्ठते ।
 प्रकाशनस्येयाद्ययोश्च । १।३।२३। तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यादनयोरर्थयोः । गोपी
 कृष्णाय तिष्ठते । आशय प्रकाशयतीत्यर्थः । 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' । कर्णा-

र्णाभ्यामित्यभावे गच्छत्यर्थे 'प्रकाशते' इति प्रयोगापत्तिः स्यात् । अनुपसर्गादिति ।
 उपसर्गरहितात् क्रमघातोरात्मनेपदं वेति भावः । क्रामति । त्रिपि शपि 'क्रम' परस्मै-
 पदेषु' इति दीर्घे रूपम् । तद्भावे तच्चि शपि देरेवे रूपम् । अपहृवे च इति । अपपूर्वा-
 व्याघातोरात्मनेपदं स्यादपहृवार्थे इति भावः । अपजानीते । अपपूर्वाज्ञाघातो तच्चि
 'अघादिभ्य रना' इति रनाविकरणे 'ज्ञान्नोञ्' इति आदेशे 'ईहृषयो' इतीत्ये
 देरेवे 'अपजानीते' इति रूपम् । अकर्मकाच्चेति । कर्मरहितादपि ज्ञाघातोरात्मनेपदं
 स्यादित्यर्थः । उदाहरति—सर्पिषो जानीते । अत्राऽपि तच्चि देरेवे अघादिस्यात् आशय
 स्यये 'ज्ञान्नोञ्' इति आदेशे 'ईहृषयो' इति ईकारादेशे ङ्पुंसिद्धिः । अकर्मकत्व
 स्फोरणात् 'सर्पिष' इति पठ्यन्तं पदमिति भावः । सन्तिष्ठते । समास भवती
 त्यर्थः । अवतिष्ठते । अत्र सर्वत्र स्याघातोर्लट् स्थाने 'समवप्रविभ्य' स्य'
 इत्यात्मनेपदे, शपि, 'याघाभ्याम्नाइण्' इत्यादिना तिष्ठ आदेशः । आह
 इति । प्रतिज्ञाधामाङ्पूर्वात् स्याघातोरात्मनेपदमित्यर्थः । शब्द नित्यमातिष्ठते । आह
 पूर्वात् स्याघातोर्लटि 'आह' प्रतिज्ञायाम्' इति तच्चि देरेवे अपि 'याघा' इति निहा
 देरे 'यातिष्ठते' इति रूपम् । प्रत्यमिति तु प्रतिज्ञास्फोरणायेति भावः । प्रकाशनेति ।
 प्रकाशनं=ज्ञापनम् । स्येयो=विवादपदनिर्णयः । विवादपदनिर्णयार्थं यस्मिन् तिष्ठते
 स्येयः । आत्मनेपदं स्यादिति शेषः । तिष्ठते । स्याघातोर्लटि प्रकाशनार्थे तच्चि
 देरेवे अपि तिष्ठादेशे रूपम् । गोपी-कृष्णाय इति पदे आशयप्रकाशनार्थद्योतनाय ।
 तद्द्वय 'संशय्य कर्णादिषु तिष्ठते य' । अत्र स्येयार्थे आत्मनेपदम् । कर्णादीन् स्येयान्

अनुप—अनुपसृष्ट (उपसर्गरहित) 'क्रम' वाङ्मते आत्मनेपद हो, विकल्पते । अपहृ—
 'हा' वाङ्मते आत्मनेपद हो, अपहृ (अपलाप) अर्थमें । अकर्म—अकर्मक (सोपसर्गकसे भी)
 'हा' वाङ्मते आत्मनेपद हो । समव—'सम्' 'अव' 'प्र' अथवा 'वि' उपसर्गसे पर
 'स्या' वाङ्मते आत्मनेपद हो । आह—'आह' उपसर्गसे पर 'स्या' वाङ्मते आत्मनेपद हो
 प्र-हा अर्थमें । प्रकाश—'स्या' वाङ्मते आत्मनेपद हो, प्रकाशन (स्वामि-

दीर्घिणेतृत्वेनाश्रयतीत्यर्थः । उदोऽनूर्ध्वकर्मणि । १।३।२४। उदः परस्मात्तिष्ठते-
 रात्मनेपदं स्यादनूर्ध्वकर्मणि । मुक्तावृत्तिष्ठते । अनूर्ध्वंति किम् ? पीठादुत्तिष्ठति ।
 उपान्मन्त्रकरणे । १।३।२५। उपात्तिष्ठतेरात्मनेपदं स्यान्मन्त्रकरणे । आनेष्या-
 ऽऽत्रीध्रमुपतिष्ठते । मन्त्रकरणे किम् । भर्तारमुपतिष्ठति यौवनेन । (उपाद्देव-
 पूजासङ्गतिकरणभिन्नकरणपथिष्विति चान्वयम्) आदित्यमुपतिष्ठते । गङ्गा
 यमुनामुपतिष्ठते । रथिकानुपतिष्ठते । मित्रीकरोतीत्यर्थः । पन्थाः सुप्तमुपतिष्ठते ।
 प्राप्नोतीत्यर्थः । (वा लिप्सायामिति उक्तव्यम्) भिक्षुकः प्रमुमुपतिष्ठते ।
 उपतिष्ठति वा । उद्विभ्यां तपः । १।३।२७। उद्विभ्यां तप आत्मनेपदं स्यात् ।
 'अवर्त्मका'दित्येव । उत्तपते । दितपते । दीप्यत इत्यर्थः । स्वाङ्गकर्मकाच्चे-

निर्णेतृत्वेन आश्रयति । उदोन्विति । उत्पूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदं स्यात् अनूर्ध्वगा-
 मिन्यर्थः । उचिष्ठते । उत्पूर्वात्स्थाधातोर्लटि तडि ढेरेवे चापि तिष्ठादेशे रूपम् । मुक्ता-
 वृत्ति विषयसप्तमी अनूर्ध्वगामित्वं स्फोरयति । ऊर्ध्वगामित्वे तु परस्मैपदमेव ।
 उपादिति । मन्त्रकरणार्थं गम्ये उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । तेन 'उपतिष्ठते'
 इति रूपम् । पूर्ववत्प्रक्रिया । मन्त्रकरणाभावे उदाहरति-भर्तारमिति । अत्र परस्मैपद-
 सेच न त्वात्मनेपदञ्च । उपाद्देवेति । उपपूर्वात् स्थाधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । उपतिष्ठते ।
 उपपूर्वात् स्थाधातोर्लटि तडि चापि तिष्ठादेशे रूपम् । आदित्यमिति देवपूजनायद्योत-
 नायेति भावः । गङ्गा यमुनामुपतिष्ठते । अत्र सङ्गतिकरणार्थं गम्यमाने आत्मनेपद-
 मिति भावः । गङ्गा यमुनां सङ्गच्छति इति भावः । रथिकानुपतिष्ठते । मित्रीकरणार्थं
 आत्मनेपदं, रूपसिद्धिः प्राग्वत् । पन्थाः सुप्तमुपतिष्ठते । अत्रापि आत्मनेपदमिति भावः ।
 वा लिप्सायामिति । उपपूर्वात्स्थाधातोरात्मनेपदं वा स्यात् लिप्सायं गम्ये । लिप्सा-
 यंस्तु वार्तिकसामर्थ्याज्ज्ञेयः । उपतिष्ठति-उपतिष्ठते । अत्र पाञ्चिकमात्मनेपदम् ।
 उद्विभ्यामिति । उत्पूर्वाद्द्विपूर्वाच्च उपधातोरात्मनेपदमित्यर्थः । अङ्गकर्मकाच्चेत्यतोऽङ्गकर्म-
 कादिति अनुषज्यते । उत्तपते-दितपते । उत्पूर्वात् विपूर्वाच्च तपधातोस्तटि चापि
 रूपे भवतः । स्वाङ्गकर्मिति । स्वस्याङ्गं स्वाङ्गञ्च । तद्दोषकं यस्पदं तत् कर्म यस्य

प्रायादिप्रकरण) और स्थेय (विवादपदनिर्णय) अर्थमें । उदोऽनूर्ध्व—'उत्' उपसर्गसे
 पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, अनूर्ध्व कर्ममें (ऊर्ध्वदेशसंयोगानुकूल कर्म
 'ऊर्ध्वकर्म' और तद्विप्रा 'अनूर्ध्वकर्म' कहा जाता है) । उपान्मन्त्रकरणे—'उप' उप-
 सर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, मन्त्रकरण (स्तुति) अर्थमें । उपाद्देव—'उप' उप-
 सर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, देवपूजा आदि अर्थमें । वा लिप्सा—'उप' उप-
 सर्गसे पर 'स्था' धातुसे आत्मनेपद हो, लिप्सा अर्थमें, विकल्पसे । उद्विभ्यां—'उत्' और
 'वि' उपसर्गसे पर अकारक 'तप' धातुसे आत्मनेपद हो । स्वाङ्गा—(उक्त सूत्रसे) स्वाङ्गकर्मक

ति यत्कर्मम्) उक्तपते, वितपते पाणिम् । नेह-सुवर्णमुत्पति । आहो यमहनः । १।३।२८। आह पराभ्यामाभ्यामात्मनेपद स्यात् । आयच्छते । आहते । 'अकर्मकात्' 'स्वाङ्कर्मकात्' इत्येव । नेह-परस्य शिर आहन्ति । आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम् । २।४।४४। आत्मनेपदेषु परेषु हनो वधादेशो वा स्यात्लुङि । आऽवधिष्ट । आऽवधिपाताम् । आऽवधिपत । हनः सिच् । १।२।१४। हन' सिच् कित् स्यात् । अनुनामिकलोप । आहत । आहसाताम् । आहसत । यमो गन्धने । १।२।१५। यम पर षिच कित् स्याद्गन्धने । गन्धनं-सूचनं, परदोषाविष्करण-

संस्मात् इति भाव । उक्तपते वितपते पाणिम् । अत्र पाणिशब्दस्याङ्गवाचित्वात् । तपसातोश्च पाणिशब्दस्य कर्मत्वादारम्भनेपदमिति भाव । सुवर्णमित्यस्य स्वाङ्गवाचिग्याभावाद्भारम्भनेपदमिति दिक् । आहो यमहन इति । 'अकर्मकात्' 'स्वाङ्कर्मकात्' इति चानुवर्तते । आह्पूर्वात् यमो हनश्चारम्भनेपदमित्यर्थ । भायच्छते । आह्पूर्वात् यमसातोः 'आहो यमहन' इत्यारम्भनेपदे तद्धि ढेरत्ये षापि 'इयुगमि' इति छान्दोने शुक्तिजशवे चत्वे रूपम् । आहते । आह्पूर्वाहन्ते 'आहो यमहनः' इति आत्मनेपदे तद्धि षापि शम्भुकि 'अनुदात्तोप' इति नलोपे 'आहते' इति रूपम् । आत्मनेपदे षिति । 'हनो वध' इत्यत उभयोरप्यनुपृत्तिरत आह हनोपघादेश इति । आवधिष्टेति । आह्पूर्वाद्धनघातो 'आहो यमहन' इत्यारम्भनेपदे लुङि तद्धि ढेरत्ये च्छौ सिचि इडागमे 'आत्मनेपदेषु' इति पापिके वधादेशे 'उपसर्गसमानाकार पूर्वपद धातुस ज्ञापयोजके प्रत्यये चिकीर्षिते पृथक्क्रियते' इति नियमेन आह्पृथक्करणेन वध शब्दाप्यातटि दीर्घे पर्ये प्लुत्ये 'आवधिष्ट' इति रूपम् । आवधिषाताम् । 'आ-अ-वध-इ-स्-आताम्' इति भ्रियती सवर्णदीर्घे पर्ये 'आवधिपाताम्' इति रूपम् । एव 'आवधिपत' अत्राप्यारम्भनेपदमिति भाव । वधादेशेनाभावे । हन सिच् । किदित्यनुवर्तते अत आह किदिति । हन' पर' सिच् किरस्यादित्यर्थ । आहत् । आह्पूर्वाद् हनघातो लुङि 'आहो यमहनः' इत्यारम्भनेपदे वधादेशेनाभावे तद्धि च्छौ सिचि 'हन' सिच्' इति सिच कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति नलोपे 'इस्वाङ्कर्मकात्' इति सिचो लोपे अटि दीर्घे 'आहत' इति रूपम् । आहसाताम् । 'आ-अ-हन्-स्-आताम्' इत्यवस्थायां दीर्घे 'हन' सिच्' इति कित्त्वे 'अनुदात्तोप' इति नलोपे सयोते 'आहसाताम्' इति रूपम् ।

'उप' धातुसे आत्मनेपद हो, ऐसा करना चाहिये ।

आहो—'आह्' उपसर्गमे पर अकर्मक और स्वाङ्कर्मक 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

आत्मने—'हन्' धातुको 'वध' आदेश हो, लुङ् सम्बन्धी आत्मनेपदके परे, निकलवते ।

हनः सिच्—'हन्' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो ।

यमो—'यम' धातुसे पर 'सिच्' कित् हो, गन्धन अर्थमे ।

म् । उदायत । गन्धने किम् ? उदायस्त पादम् । आक्रष्टवानित्यर्थः । समो ग-
म्यृच्छिभ्याम् । १।३।२९। समो गम्यृच्छिभ्यामात्मनेपदं स्यात् । 'अकर्मकाभ्यां-
मित्येव । सङ्गच्छते । वा गमः । १।२।२९। गमः परौ झलादी लिङ्सिचौ वा
कितौ स्तः । सङ्गसीष्ट । सङ्गंसीष्ट । समगत । समगंस्त । समृच्छते । अकर्मकाभ्यां
किम् ? प्रामं सङ्गच्छति । (विदिप्रच्छिस्वरतीनामुपसंख्यानम्) वेत्तेरेव
प्रहणम् । संवित्ते । संविदाते । वेत्तेविभाषा । ७।१।७। वेत्तेः परस्य ज्ञादेशस्या-

आहमत । अत्रापि आत्मनेपदे रूपमवसेयम् । यमो गन्धने । 'हनः सिच्' इत्यतः सिच्
इत्यनुवर्तते किञ्च । उदायतेति । उद्-आङ्-पूर्वात् यमधातोः लुङि 'आङो यमहनः'
इत्यात्मनेपदे तङि ष्लौ सिचि 'यमो गन्धने' इति सिचः कित्त्वे 'अनुदात्तोप' इति
नलोपे उद्-पृथक्करणात् यमः प्रागटि दीर्घे 'उदायत' इति रूपम् । गन्धनाभावे तु
'उद्-आ-अ-यम्-स-त' इति स्थिते दीर्घे मस्यानुस्वारे 'उदायस्त' इति रूपम-
वधेयम् । सम इति । 'अकर्मकाञ्च' इत्यतोऽनुवृत्तं विपरिणम्यते । अकर्मकाभ्यां सम्-
पूर्वात् गम्यृच्छिभ्यां आत्मनेपदमित्यर्थः । सङ्गच्छते । सम्पूर्वाद् गमः लटि 'समः' इत्या-
त्मनेपदे तङि टेरत्वे शपि 'इषुगमियमां छुः' इति छ्रादेशे तुकि रचुत्वे जश्त्वे चर्त्वे
'सङ्गच्छते' इति रूपम् । वा गम इति । 'लिङ् सिचौ' इत्यतो लिङ्सिचाविति किदि-
ति चानुवर्तते । सङ्गसीष्ट-सङ्गंसीष्ट । सम्पूर्वाद्गमो लिङि 'समोगम्' इत्यात्मनेपदे तङि
'लिङः मीयुट्' इति मीयुडागमे 'सुट् तियोः' इति सुटि 'सम्-गम्-सी-स-त' इति
जाते 'वा गमः' इति लिङः कित्त्वे 'अनुदात्तोपदेश' इति गमो मलोपे समो मस्यानुस्वारे
पठे ष्टुत्वे 'संगसीष्ट' इत्येकं रूपम् । यदा किङ्कारावो न स्यात्तदा मलोपाभावादनुस्वारे
'संगंसीष्ट' इति रूपं भवति । समगतेति । सम-गम्-स-त इत्यवस्थायां सिचः 'वा ग-
मः' इति कित्त्वपत्ते गमो मस्य 'अनुदात्तोप' इति लोपे गमः प्रागडागमे 'समगन' इति
रूपम् । यदा किङ्कारं न स्यात् तदा मस्यानुस्वारे 'समगंस्त' इति रूपम् । समृच्छते ।
सम् पूर्वात् ऋच्छधातोः 'समो गम्' इत्यात्मनेपदे तङि टेरत्वे 'तुदादिभ्यः शः' इति
शप्रत्यये 'समृच्छते' इति रूपम् । विदिप्रच्छति । सम्पूर्वाद्दिवादिभ्य आत्मनेपद-
मित्यर्थः । संवित्ते । सम्पूर्वाद् विद् धातोः लटि तङि टेरत्वे शपि शक्लुकि 'संवित्ते' इति
रूपम् । 'सम-विद्-आताम्' इत्यवस्थायां टेरत्वे 'संविदाते' इत्यस्य सिद्धिः । वेत्तेरिति ।
'शीङो रुट्' इत्यतो रुडिति अनुवर्तते । सम्पूर्वाद्दिद्धातोर्लटि 'विदिप्रच्छि' इत्या-

समो—'सम्' उपसर्गसे पर अकर्मक 'गम्' और 'ऋच्छ' धातुसे आत्मनेपद हो ।

वागमः—'गम्' धातुसे पर झलादि लिङ् और सिच् कित् हो, विकल्पसे ।

विदि—'सम्' उपसर्गसे पर 'विद्' 'प्रच्छ' और 'त्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

वेत्तेर्वि—'विद्' धातुसे पर ज्ञादेशसम्बन्धी 'अट्' को रुडागम हो, विकल्पसे ।

उतो रुडागमो वा स्यात् । संविद्वते । सविद्वते । सपृच्छते । मंस्वरते । [अर्त्तिश्रु-
 दृशिन्यश्चेति चक्षुष्यम्* । 'अर्त्ति'ति द्वयोरेव प्रद्वणम् । अश्विभौ त्विपत्तौरेवे-
 त्युक्तम् । मा समृत । मा समयाताम् । मा समृपतेति । समार्त्तं समापाताम् ।
 समार्यतेति च-न्वादे । इयत्तेस्तु-मा समरत । मा समरेताम् । मा समरन्त ।
 समारत । समारेताम् । समारन्त इति । मशृणुते । सपरयते ।] अयाऽस्मिन्क-
 र्मकाधिकारे हनिगम्यादीनां क्यमकर्मकतेति चेत्, शृणु—

‘घातोरर्थान्तरे वृत्तेर्घात्वर्थेनोपसंप्रदात् ।

प्रसिद्धेरघिवशात् कर्मणोऽकर्मिका क्रिया’ ॥ १ ॥

वहति भारम् । नदी वहति । स्वन्दन इत्यर्थः । जीवति । नृत्यति । प्रसि

धनेपदे ह्यादेशे श्लोके ‘वेक्षेर्विभाषा’ इति रुडागमे ‘सविद्वते’ इत्येक रूपम् । रुडा-
 गमामाने ‘सविद्वते’ इति द्वितीय रूपम् । तद्वत् ‘सपृच्छते-सस्वरते’ ध्यापघाधने-
 पदमिति भावः । ननु हनिगम्यादीनां सकर्मकं वाक्यमकर्मकतेति वेदाह-भातोरर्था-
 न्तरेति । घातोरर्थान्तरे वृत्तेरिति-घात्वर्थेनोपसंप्रदात्-प्रसिद्धे-अविवक्षात् इति वा-
 क्यचतुष्टयम् । अकर्मिका क्रियेति सर्वत्र सम्बन्धते । वहति भारमिति । प्रापयतीत्यर्थः ।
 अत्र सकर्मकत्वमिति भावः । अर्थान्तरेऽस्याकर्मकत्वमुदाहरति-नदी वहति, स्वन्दते

घातोरर्थान्तरे—यहाँ पर १—घातोरर्थान्तरे वृत्ते, २—घात्वर्थेनोपसंप्रदात्, ३—प्र-
 सिद्धे, ४—अविवक्षात्,—इस प्रकार चार वाक्य हैं । ‘अकर्मिका क्रिया’ को प्रत्येक वाक्य
 में अन्वय होता है । केवल ‘कर्मणः’ को प्रथम वाक्यमें अन्वय नहीं होकर द्वितीयसे अन्तिम
 चतुर्थ वाक्य तक ही होता है । प्रत्येक वाक्यका अर्थ इस प्रकार है—(१) सकर्मक वातु यदि
 अर्थान्तर (अकर्मक क्रियारूप अर्थान्तर) को वहने लग तो वह अकर्मक हो जाती है । यथा
 ‘भार वहति = प्रापयति’ यथा प्राणधारक ‘वह’ वातु सकर्मक है, परन्तु यही अर्थान्तर
 (स्वन्दतेरूप अर्थमें वृत्ति (प्रवृत्ति) होकर कहीं अकर्मक होता है । यथा ‘नदी वहति =
 स्वन्दते (प्रववति) । (२) यदि कर्मका भात्वर्थसे उपसम्प्रदाह हो जाय तो वातु अकर्मक हो
 जाती है । यथा ‘जीवति’ ‘नृत्यति’ यथा ‘जीव’का प्राणधारण करना और ‘नृत्य’ का अङ्ग
 विशेष करना अर्थ है । परन्तु दोनों जगह प्राणधारण और अङ्गविशेष रूप कर्मका घात्वर्थमें ही
 अन्वयभाव होजाता है । अतः ये दोनों वातु सकर्मक नहीं होते । (३) कहीं प्रसिद्ध कर्म रहने पर
 भी वातु अकर्मक हो जाती है । यथा ‘मेघो वर्षति’ (अर्थात् मेघो जल वर्षति) यहाँ पर जल
 रूप कर्म प्रसिद्ध है, परन्तु वातु अकर्मक रहती जाती है । (४) कर्मकी अविवक्षा करने पर भी
 वातु अकर्मक हो जाती है, यथा ‘द्विवात्र यः सशृणुते स किं प्रभु’ (द्विवात्र पुरुषाव य न
 सशृणुते-स हित न मन्यते, स किं प्रभु, कुत्सित इत्यर्थ) यहाँ पर स्वहित रूप कर्मकी
 अविवक्षा करने पर वातु अकर्मक हो जाती है । * कौष्ठान्तर्गत पाठः काचित्क ।

द्वयथा—मेघो वर्षति । कर्मणोऽविवक्षातो यथा—‘हितात् यः संश्रुते स किंप्रभुः’ । माननोत्सङ्गनाचार्यकरणज्ञानभृतिविगणनव्ययेषु नियः । १ । ३ । ३६ । एष्वर्थेषु निय आत्मनेपदं स्यात् । शास्त्रे नयते । शास्त्रस्य सिद्धान्तं शिष्येभ्यः प्रापयतीत्यर्थः । तेन शिष्यसंमाननं फलितम् । उत्सङ्गने—दण्डमुच्यते । उत्क्षिपतीत्यर्थः । भाणवक्रमुपनयते । विधिना आत्मसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । उपनयनपूर्वकेणाध्यापनेन हि उपनेतरि आचार्यत्वं क्रियते । ज्ञाने—तद्वत् नयते । निश्चिनोतीत्यर्थः । कर्मकरानुपनयते । श्रुतिदानेन स्वसमीपं प्रापयतीत्यर्थः । विगणनमृणादेर्निर्यातनम् । करं विनयते । रात्रे देयं भागं परिशोधयतीत्यर्थः । शतं विनयते । धर्मार्यं विनियुङ्क्ते इत्यर्थः । (उपसर्गाद्रित्यत्पूह्योवेति वाच्यम्) वन्ध निरस्यति । निरस्यते । समूहति । समूहते । उपसर्गाद्भ्रस्व ऊहते । ७।४।२३ । उपसर्गाद्गृहतेर्ह्रस्वः स्यात्, यादौ विहति । ब्रह्म समुह्यात् । अग्निं समुह्य । निसमुपविभ्यो ह्यः । १।३।३० । एभ्यो ह आत्मनेपदं स्यात् । निहयते । स्पर्द्धायामाहः । १।३।३१ । आहो ह आत्मनेपदं स्यात्, स्पर्द्धायाम् । कृष्णश्चाणूरमाह-

इत्यर्थः । जीवति-नृत्यति । जीवेः प्राणधारणमर्थः । नृतेस्वङ्गविक्षेपः । उभयत्रापि कर्मणोः धात्वर्थान्तर्भावान्न सकर्मकत्वमिति भावः । मेघो वर्षति । वर्षणकर्मणो जलस्य प्रसिद्धत्वाद्कर्मकत्वम् । हितात्वेत्यत्र स्वहितस्य वस्तुतः कर्मत्वेऽपि तदविवक्षयाऽकर्मकत्वम् । संमाननेति । एष्वर्थेषु निय आत्मनेपदमित्यर्थः । नयते । निधातोर्लटि ‘संमानन’ इति तद्धि देरेखे षापि गुणेष्यादेशे ‘नयते’ इति रूपम् । शास्त्रे इति संभावनस्फोरणाय । एवं उच्यते-उपनयते-विनयते-इत्यादिष्वारम्भनेपदं बोध्यम् । उपसर्गादिति । वार्तिकेनेतत् । आत्मनेपदं वैश्वर्थः । निरस्यति-निरस्यते । समूहति समूहते । अत्राप्यात्मनेपदमिति भावः । ब्रह्म-समुह्यात् । अत्र समू-ऊह-या-त्-इत्यवस्थायां ‘उपसर्गाद्भ्रस्वः’ इति ह्रस्वे ‘समुह्यात्’ इति रूपम् । एवञ्चन्तमुदाहरति-समुपेति । अत्रापि ह्रस्व इत्यर्थः । निसमुपेति । नि-सम्-उप-वि-पृथ्यः परो यो द्वेञ् धातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः । निपूर्वाद् द्वेञ् धातोर्लटि ‘निसमुप’ इत्यात्मनेपदे शो

संमाननो—संमानन, उत्सर्जन, आचार्यकरण, ज्ञान, श्रुति, विगणन और व्यय रूप अर्थ गम्यमान हो तो ‘नी’ धातुसे आत्मनेपद हो । उपसर्गा—उपसर्गसे पर ‘अस्’ और ‘ऊह्’ धातुसे आत्मनेपद हो, विकल्पसे । उपसर्गाद्भ्रस्व—उपसर्गसे पर ‘ऊह्’ धातुके अच् को ह्रस्व हो, यकारादि कित-डिक् प्रत्ययके परे । निसमुप—नि, सम्, उप और वि उपसर्गसे पर ‘द्वेञ्’ धातुसे आत्मनेपद हो, परगामी क्रियाफलमे । स्पर्द्धाया—‘आह्’ उपसर्गसे पर ‘द्वेञ्’

यते । स्पर्धाया किम् ? पुत्रमाह्वयति । उद्वधरः सकर्मकात् । १।३।५३। उत्पूर्वा-
त्सकर्मकाच्चरतेरात्मनेपद स्यात् । धर्ममुचरते । उक्तुव्य गच्छतीत्यर्थे । समस्तृ-
तीयायुक्तात् । १।३।५४। तृतीयान्तेन युक्त्यात्मपूर्वाच्चरतेरात्मनेपदं स्यात् ।
रथेन सधरते । दाणश्च सा चेश्वतुर्ध्वर्थे । १।३।५५। समो दाणस्तृतीयान्तेन
युक्त्यायुक्तं स्यात्तृतीया चेश्वतुर्ध्वर्थे । दास्या सयच्छते कामो । उपाद्यम. स्वकरणे
१।३।५६। उत्पूर्वायम आत्मनेपद स्यात्स्वकरणे । स्वकरणं—स्वीकार ।
भार्यामुपयच्छते । विभाषोपयमने । १।२।१६। यम सिच् किद्वा स्याद्विवाहेऽर्थे ।
राम सीतामुपायत, उपायंस्त वा । उद्वोद्वेत्यर्थे । द्वाश्रुस्तृदशां सन । १।३।५७।

अथादेशे 'निह्वयते' इति रूपम् । एवं संह्वयते विह्वयते इत्यादि । स्पर्धावामिति । 'निम
मुपविग्यो ह्व' इत्यत 'ह्व' इत्यनुवर्तते । आहूर्पूर्वात् द्वेष धातोरात्मनेपदमित्यर्थः ।
घाणूमाह्वयते । अत्र आ-ह्वे-अ-ते-इति जातेऽप्रादेशे रूपम् । स्पर्धाभावे आह्वयति ।
उद्वधर सकर्मकात् । उत्पूर्वाच्चरधातो सकर्मकादात्मनेपदमित्यर्थः । धर्ममुचरते । उत्पू-
र्वकात् चरधातोर्लट् स्थाने 'उद्वधर सकर्मकात्' इति आत्मनेपदे टेरेखे च तस्मिन्दि ।
रामस्तृतीयेति । सकर्मकादिति निवृत्तम् । सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिष्याहताच्चरधातो-
रात्मनेपदमित्यर्थः । रथेन सधरते । अत्र सम्पूर्वात् तृतीयान्तसमभिष्याहताच्चरधातो-
रात्मनेपदमित्यर्थः । रथेन सधरते । अत्र सम्पूर्वकचरधातुवर्तते, रथेन इति तृतीयान्तेन
च युक्तं, तस्माद् 'समस्तृतीयायुक्तात्' इत्यनेनात्मनेपदम् । दाणश्च सा । 'समस्तृती-
यायुक्तात्' इत्यनुवर्तते । तदाह—सम्पूर्वादिति । दास्या संयच्छते कामो । 'अशिष्टस्य
हारे दाण प्रयोगे चतुर्ध्वर्थे 'तृतीया' इति धातुकेन दास्या इत्यत्र चतुर्ध्वर्थे तृतीया,
ततश्च दास्या इति तृतीयान्तयुक्तात्सम्पूर्वादाणधातोर्लटि तस्याने प्रथमपुरुषैक्यवच
नविद्यत्तार्था 'दाणश्च सा चेश्वतुर्ध्वर्थे' इत्यात्मनेपदत्वात्प्रथम्ये दापि अनुपवन्धलोपे
'पाप्राप्मा' इत्यादिना दाणो यच्छादेशे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे टेरेखे च कृते तस्मि
दि । उपाद्यम इति । स्वीकारार्थे उपाद्यम आत्मनेपदमित्यर्थः । उपयच्छते । उपपूर्वाप्रमो
कटि 'उपाद्यम' इत्यात्मनेपदे तटि दापि टेरेखे 'इपुगमि' इति च्छादेशे तुकि श्चुखे
जशखे चत्वे रूपम् । विभाषेति । विवाहाद्यर्थे सिच. किच् । 'असयोगात्' इत्यतस्तदनुवृत्ते ।
उपायत-उपायत । 'उप-आ-अ-थम्-सा-त' इति स्थितौ दीघ सिच सस्य 'विभाषो-
पयमने' इति वा कित्त्वे 'अनुदात्तोप' इति मलोपे 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'उपायत'

धातुसे आत्मनेपद हो, यदि स्पर्धा अर्थ गन्तमान रहे । उद्वधर.—'उद्' उपसर्गसे पर सकर्मक
'धर्' धातुसे आत्मनेपद हो । समस्तृ—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'चर्' धातुसे आत्म
नेपद हो । दाणश्च—तृतीयान्तसे युक्त 'सम्' उपसर्गक 'दाण' धातुसे आत्मनेपद हो, वह
तृतीया यदि चतुर्थीके अर्थमें रहे ।

उपाद्यम—'उप्' उपसर्गके 'यम्' धातुसे आत्मनेपद हो, स्वीकार अर्थमें ।
विभाषा—'यम्' धातुसे पर सिच् किय हो, विकल्पसे, विवाह अर्थमें । द्वाश्रुस्तृ—सधन्

सन्नन्तानामेषां प्राग्बत् । धर्मं जिज्ञासते । शुश्रूषते । सुस्मृपते । दिदृक्षते ॥ नाऽ-
नोद्भः । १।३।५८। अनुपूर्वाजानातेः सन्नन्तादात्मनेपदं न स्यात् । पुत्रमनुजिज्ञा-
सति । प्रोपाभ्यां युजेरयक्षपात्रेषु । १।३।६४। प्रयुङ्क्ते । उपयुङ्क्ते । (स्वराद्य-
न्तोपसर्गादिति चाच्यम्) उद्युङ्क्ते । नियुङ्क्ते । अयक्षपात्रेषु किम् ? द्वन्द्वं
न्यसि पात्राणि प्रयुनक्ति । समः क्षुण्वः । १।३।६५। सम्पूर्वात्क्षुण्व आत्मनेपदं
स्यात् । संच्युते शक्यम् । गन्धनावक्षेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियक्षप्रकथनो-
पयोगेषु कृञः । १।३।३२। एषु कृञ आत्मनेपदं स्यात् । गन्धनं—हिंसा ।
उत्कुरुते । सूचयतीत्यर्थः । अवक्षेपणं—भर्त्सनम् । श्येनो वर्तिकामुदाकुरुते ।
भर्त्सयतीत्यर्थः । हरिसुपकुरुते । सेवते । परदारान्प्रकुरुते । तेषु सहसा प्रवर्तते ।
एधोदकस्योपस्कुरुते । गुणमाधत्ते । कयाः प्रकुरुते । प्रकथयतीत्यर्थः । शतं प्रकुरुते ।
धर्मार्थं विनियुङ्क्ते । एषु किम् ? कटं करोति । इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।



इति रूपम् । यदा किद्वचं न स्यात् तदा 'उपायंस्त' इति रूपम् । शाशु इति । सन्न-
न्तानामेषामात्मनेपदमित्यर्थः । जिज्ञासते । ज्ञाघातोः सनि 'सन्त्यङोः' इति द्वित्वेऽभ्या-
सत्वे ह्रस्वे अभ्यासचत्वे 'सन्त्यतः' इत्यभ्यासेत्वे ततो लटि 'ज्ञाशु' इत्यात्मनेपदे तडि
शपि पररूपे 'जिः' गसते' इति रूपम् । शुश्रूषते । श्रुघातोः सनि दीर्घे द्वित्वे हलो लोपे
ह्रस्वे आत्मनेपदे तडि शपि टेरेत्वे रूपम् । एवं सुस्मृपते-दिदृक्षते-अत्राप्यात्मनेपदं
बोध्यम् । नानोरिति । अनुपूर्वाजज्ञाघातोः सनि सति तत आत्मनेपदं नेत्यर्थः । अनु-
जिज्ञासति, अत्र परस्मैपदमेवेति भावः । प्रोपान्यामिति । अयक्षपात्रेषु प्रोपाभ्यां
युजेरात्मनेपदमित्यर्थः । प्रयुङ्क्ते । प्रपूर्वात् युजो लटि 'प्रोपाभ्यां' इत्यात्मनेपदे तडि
टेरेत्वे 'रुधादिभ्यः शनम्' इति शनमि मित्वादन्यादचः परत्वे अक्षोपेऽनुस्वारे परस-
वर्णं तत्सिद्धिः । 'उपयुङ्क्ते' अत्राप्यात्मनेपदं बोध्यम् । 'स्वराद्यन्तेति' । येषामादिः स्वरः
येषां चान्ते स्वर एतादृश्य उपसर्गोभ्यः परो यो युजघातुस्तस्मादात्मनेपदमित्यर्थः ।
तेन 'उद्युङ्क्ते, नियुङ्क्ते' इत्यादावात्मनेपदमेवेति भावः । समः क्षुण्व इति । सम्पूर्वात्
क्षुण्वघातोरात्मनेपदमित्यर्थः । इत्यात्मनेपदप्रकरणम् ।



घा, शु, सृ, और दृश् धातुसे आत्मनेपद हो । नाऽनोर्ज्ञः—'अनु' उपसर्गसे पर 'घा' धातुसे
आत्मनेपद नहीं हो । प्रोपाभ्यां—'प्र' और 'उप' उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे आत्मनेपद हो,
यक्षपात्रसे मित्र प्रयोगमें । स्वराद्यन्तो—स्वरादि और स्वरात् उपसर्गसे पर 'युज्' धातुसे
आत्मनेपद हो, अयक्षपात्रमें—पेसा कक्षना चाहिये । समःक्षुण्वः—'सन्' उपसर्गसे पर 'क्षुण्व'
धातुसे आत्मनेपद हो । गन्धनावक्षेपण—गन्धनादि अर्थों में 'कृञ्' धातुसे आत्मनेपद हो ।

इत प्रकार 'हन्दुमती' टीकामें आत्मनेपदप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ परस्मैपदप्रकरणम्

'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' । 'ञि' । श्रयति । विभाषा श्वे. । ६।१।३०।
 श्रयते' संप्रसारणं वा स्यात्किञ्चि, यञि च । शुराय । शुरुवत् । (श्रयतेर्लि-
 ट्यभ्यासहाक्षणप्रतिषेध.) । शिष्याय । शिष्ययत् । शिष्युः । श्यात् । 'जुस्त-
 म्भ्य'स्यङ् वा । श्रयतेरः । ७।४।१८। श्रयतेरिकारस्य अकार' स्यात्-अटि ।
 अश्रयत् । अश्रयः । 'विभाषा घेष्ट्वधो'रिति चङ् वा । अशिष्ययत् । अश्रयत् ।
 अनुपराभ्यां कृञ. । १।३।७९। अनुपराभ्यां कृञ. कर्तृने फले, गन्धनादी च
 परस्मैपदं स्यात् । अनुकरोति । पराकरोति । अभिप्रत्यतिभ्यः क्षिप । १।३।८०।
 अभिप्रत्यतिभ्य' क्षिप परस्मैपदं स्यात् । क्षिप प्रेरणे । स्वरितत् । अभिक्षिपति ।

शेषादिति । उक्तादन्य' शेषस्तस्मात् शिष्यातोर्लिटि लिपि सापि गुणेऽयादेशे
 'श्रयति' इति रूपम् । विभाषेति । 'इत्यण संप्रसारण'मित्यत संप्रसारणमिति
 छम्पते । शुरावेति । शिष्यातोर्लिटि 'विभाषा श्वे' इति संप्रसारणे लिपि णञि 'संप्र-
 सारणाच्च' इति पूर्णरूपे द्वित्वे वृत्त्यावादेशे 'श्रयाव' इति रूपम् । 'श्रय-अनुस्' इत्य-
 धरयायां 'अञि रनु' इत्युच्यते इत्ये वितर्गे 'श्रयवत्' इति रूपम् । श्रययुत्तरियादीनि
 रूपाणि । यदा संप्रसारणं न स्यात्तदा द्वित्वे हलादिशेषत्वे वृत्त्यावादेशे 'शिष्याय' इति
 रूपम् । शिष्ययत् शिष्ययु । अत्र 'अञि रनु' इतीयङिति भावः । श्यादिति ।
 यत्रापि संप्रसारणं दीर्घं चेति बोध्यम् । श्रयतेर' । अङि परतः श्रयतेरकारादेशः ।
 शिष्यातोर्लिटि लिपि 'इत्तद्य' हलोपे ष्टौ 'ज्ज्त्तम्मु' इति याङि 'श्रयतेर' इत्यस्येऽटि
 'अश्रयत्' इति रूपम् । अटभावे 'विभाषा' इति चङि द्वित्वे हलो लोपे अटि इत्यङि
 'अशिष्ययत्' इति रूपम् । यदा चङपि न स्यात्तदा सिचि इडागमे 'अस्तिसिच'
 इति तस्येडागमे 'इट ईटि' सलोपे गुणेऽयादेशेऽटि 'अश्रयीत्' इति वृत्तीय रूपम् ।
 गन्धनादादिति । गन्धनावच्छेपणसेवनसाहसिक्यप्रतियत्नप्रकथनोपयोगेषु इत्यर्थे ।
 अनुकरोति । पराकरोति । अत्र 'गन्धनावच्छेपण' इति आगमनेपदे प्राप्ते
 'अनुपराभ्यां कृञ' इत्यपवादाभूतेनानेन परस्मैपदम् । अभिप्रत्यतिभ्य इति ।

शेषात्कर्तरि—आत्मनेपदनिमित्ते हीन को वातु, वससे कर्तामिं परस्मैपद हो ।
 विभाषा श्वे.—'ञि' वातुको संप्रसारण हो, लिट्-यङ्के परे, विकल्पते । श्रयतेर्लिटि—'ञि'
 वातुको अन्यःसको 'लिट्'के परे संप्रसारण नहीं हो । (देसा कहना चाहिये) ।
 श्रयतेरः—'ञि' वातुके इकारको अकार आदेश हो, 'अङ्'के परे । अनुपराभ्यां—'अनु'
 और 'परा' उपसर्गते पर 'कृञ्' वातुसे परस्मैपद हो कर्तृगामिनी क्रियाफलमें तथा गन्धनादि
 अर्थमें भी । अभिप्रत्यतिभ्यः—अभि, प्रति और अति उपसर्गते पर 'क्षिप्' वातुसे परस्मै-

प्राह्वहः ।१।३।८१। प्राह्वहतेः परस्मैपदं स्यात् । प्रवहति । परेर्भृषः ।१।३।८२। परिपूर्वान्मृष्यतेः कर्तृगेऽपि फले परस्मैपदं स्यात् । परिमृष्यति । व्याङ्परिभ्यो रमः ।१।३।८३। व्याङ्परिभ्यो रमः परस्मैपदं स्यात् । विरमति । आरमति । परिरमति । उपाह्व ।१।३।८४। उपपूर्वाद्भ्रमेः परस्मैपदं स्यात् । देवदत्तो यज्ञदत्तमुपरमति । उपरमयतीत्यर्थः । अन्तर्भावितण्यर्थोऽयम् । विभाषाऽकर्मकात् ।२।३।८५। उपाह्वमेरकर्मकात् परस्मैपदं वा स्यात् । उपरमति । उपरमते । निवर्त्तत इत्यर्थः । बुवयुधनशजनेडुप्रुदुलुभ्यो षोः ।१।३।८६। एभ्यो ष्यन्तेभ्यः परस्मैपदं स्यात् । णिन्ध्वेऽन्यस्यापवादः । बोधयति पश्यम् । बोधयति काष्ठानि । नाशयति दुःखम् । जनयति सुखम् । प्रावयति । प्रापयतीत्यर्थः । प्रावयति । विलापयतीत्यर्थः । द्वावयति । स्यन्दयतीत्यर्थः । क्रीड्जीनां णौ ।६।१।४८। क्रीड्जीनां णौ आत्वं स्यात् । अध्यापयति । णौ च संश्रद्धोः ।२।५।५१। सन्परे, चङ्परे च णौ इडो गाह् वा स्यात् । अध्यजीगपत् । अध्यापिपत् । कापयति ।

असि प्रति सति हृत्येवं पूर्वात् क्षिपः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । प्राह्व हति । प्रपूर्वा-
 ह्वहतेः परस्मैपदम्भवतीत्यर्थः । परेर्भृष हति । परिपूर्वाद् मृषतेः परस्मैपदम्भवति ।
 व्याङ्परिभ्यो रम इति । वि आङ् परि हृत्येवं पूर्वाद्भ्रमतेः परस्मैपदम्भवति । उपाह्वेति ।
 रम इत्येक । उपपूर्वाद्भ्रमतेः परस्मैपदं भवति । ननु विरामार्थकत्वात् कथं सकर्मकते-
 स्यत आह-उपरमयतीत्यर्थ इति । ननु णिजभावात् कथमयमर्थो लभ्यते ह्येत आह-
 अन्तर्भावितण्यर्थोऽयमिति । छादूनामनेकार्यत्वादिति भावः । विभाषेति । 'उपाह्व' ह्यस्यत
 उपाह्विति लभ्यते । उपरमति-उपरमते । अत्र परस्मैपदं वा, रूपसिद्धिः सरला । बुध-
 युधेति । ष्यन्तेर्य पश्यः परस्मैपदं स्यादित्यर्थः । बोधयति । बुधधातोर्णौ 'पुगन्त' इति
 गुणे धातुत्वे ळिति 'बुधयुध' इति परस्मैपदत्वे तिपि शपि गुणेऽयादेशे रूपम् । एवं
 बोधयति-नाशयति-जनयति-प्रावयति-द्वावयति-थावयति-इत्यादिषु परस्मैपदमे-
 वेति भावः । रूपसिद्धिः बोधयतिवदत्रयेया । क्रीड्जीनामिति । णौपरत्त एषां धातूनामा-
 कारान्तादेशः स्यादित्यर्थः । अध्यापयति । अधिपूर्वादिङः णौ 'क्रीड्जीनां' इत्यात्वे यणि

पद द्वौ । प्राह्वहः—'प्र' उपसर्गसे पर 'वह्' धातुसे परस्मैपद द्वौ । परेर्भृषः—'परि' उपसर्गक
 'मृष' धातुसे परस्मैपद द्वौ । व्याङ्परिभ्यो—'वि, आङ् और परि' उपसर्गसे पर 'रन्'
 धातुसे परस्मैपद द्वौ । उपाह्व—'उप' उपसर्गसे पर 'रन्' धातुसे परस्मैपद द्वौ ।
 विभाषाऽकर्मकात्—'उप' उपसर्गसे पर अकर्मक 'रम्' धातुसे परस्मैपद विकल्पसे द्वौ ।
 बुधयुधनश—बुधादि ष्यन्त धातुसे परस्मैपद द्वौ । क्रीड्जीनां णौ—'क्री' धातु, 'शङ्'
 धातु और 'जो' धातुको आत्व द्वौ, 'णि' द्वे परे । णौ च संश्रद्धोः—'सन्' परत्त और 'चङ्'

जायति । निगरणचलनार्थेभ्यश्च ॥१॥३॥८७॥ निगरणार्थेभ्यश्चलनार्थेभ्यश्च ष्यन्ते-
भ्य परस्मैपद स्यात् । निगारयति । चलयति । (अदेः प्रतिषेधः) आदयते देवद-
त्तेन । अणावकर्मकाच्चित्तयत्कर्तृकात् ॥१॥३॥८८॥ अणौ यो धातुरकर्मकचित्तव-
त्कर्तृकश्च तस्मात्तत्परस्मैपद स्यात् । शैते कृष्ण , त गोपी शाययति ॥ न पाद-
म्याद्यमाङ्यसपरिमुद्गरुचिन्वृतिवद्वस' ॥१॥३॥८९॥ एभ्यो ष्यन्तेभ्य

'अध्यापि' इति जाते 'बुधयुध' इति परस्मैपदे त्रिपि चापि गुणेऽयादेशे 'अध्यापयति' इति
रूपम् । णीचेति । विकल्पेन गाढादेश विधत्ते । अभ्यनीगपद । अधिपूर्वादिष्ठ णी
तिपि 'इतश्च' इलोपे 'णौ च सशब्दो' इहो विभाषया गाढादेशे आदन्तत्त्वाद्गुणागमे
'अधि-गापि-त्' इति जाते च्छौ 'णिभि' इति च्छि च्छपरे णौ उपधाया इत्यख्ये
'अधि-ग-प-इ-अ-त्' ततो द्वित्रये चर्ये 'सन्वत्' इतीत्ये 'दीर्घोक्ति' इति दीर्घ
अकारारम्भाद्भागमे यणि 'णैरिति' इति णेल्लोपे 'अभ्यजीगपत्' इति रूपम् । यदा
गाढादेशो न स्यात्तदा 'अधि-इ-इ-अ-त्' इति स्थिते 'क्रीड्जीनां णौ' इत्याख्ये पुकि
'आटजादीनां' इत्यादि 'आटश्च' वृद्धौ यणि पिशब्दस्य द्वित्रये णेल्लोपे 'अध्यापिपत्'
इति रूपम् । न गति । ह्रस्वोच्चातोर्णौ 'क्रीड्जीनां' इत्याख्ये पुकि छटि तिपि चापि,
गुणेऽयादेशे रूपम् । एष जायति । अत्रापि णौ आत्वमित्यर्थः । निगरयेति । निगर-
णचलनार्थेभ्यो ष्यन्तेभ्य' धातुभ्य' परस्मैपदमित्यर्थः । निपूर्वात् गृधातोर्णौ वृद्धौ
चापि गुणेऽयादेशे 'निगारयति' इति रूपम् । चलयति । चलधातोर्णौ अङ्गोपे छटि
तिपि चापि गुणेऽयादेशे रूपम् । आदयत इति । अद्धातोर्णौ 'अत उपधामा' इति
वृद्धौ छटि तच्छि चापि गुणेऽयादेशे देहेत्ये 'आदयते' इति रूपम् । अणाविति । अप्यन्ता
वस्यायां य कर्मरहितः चेतनकर्तृवांश्च तस्मादातोर्ण्यन्ते परस्मैपदमित्यर्थः । अप्य-
न्तदशां प्रतिपादयते—'शैते कृष्ण' इति । अत्र शीङ् धातुरकर्मकः कृष्णरूपचेतनक
र्तृवान्-श्च । ष्यन्तदशां स्मारयति—त गोपी शाययति । शीङ्धातोर्णौ वृद्धौ 'शायि'
इति रूपे छटि 'अणौ' इति परस्मैपदरूपे त्रिपि चापि गुणेऽयादेशे 'शाययति' इति
रूपम् । न पादमिति । अणाविति प्राप्तं परस्मैपद निषेधयति । ष्यन्तेभ्यो धातुभ्यः सूक्ष्-
पठितेभ्यो न परस्मैपदमित्यर्थः । पा-दुम-आङ्यम्-आ चस् परिमुद्-रुच्-नुत्-वद्-

परक'णिकेत्तरे'इह'धातुयो'गाढ' आदेशो हो, विकल्प से । निगरण—निगरणार्थक और चल
नार्थक ष्यन्त धातुसे परस्मैपद हो । अदे प्रतिषेध —ष्यन्त'अद्' धातुसे परस्मैपद नहीं हो ।

अणावकर्म—अप्यन्तावस्थामें अकर्मक और चिन्वत् (चेतन) कर्तृक धातुसे ष्यन्ताव-
स्थामें आत्मनेपद हो ।

न पादम्याङ्—ष्यन्त पा, दमि, आङ्यम्, आङ्यत्, परिमुद्, रुचि, नृति, वद और
रुच् धातुसे परस्मैपद नहीं हो ।

परस्मैपदं न स्यात् । पाययते । 'मितां ह्रस्वः' । दमयते । आयामयते । आया-
सयते । परिमोहयते । रोचयते । नर्त्तयते । वादयते । वासयते । (घेट उपसंख्या-
नम्) धापयते । अकर्त्रभिप्राये 'शेषा'दिति परस्मैपदं स्यादेव । वत्तान् पाययति
पयः । इति परस्मैपदप्रकरणम् ।

अथ भावकर्मप्रकरणम्

भावकर्मणोः । ३।१।१३ भावकर्मणोर्लस्य तडानौ स्तः । सार्वधातुके यक्
। १।३।६७। भावकर्मवाचिनि सार्वधातुके परे धातोर्यक् स्यात् । भावः—भावना,
उत्पादना, क्रिया । सा च धातुत्वेन सकलधातुवाच्या भावार्थकलकारेणानूद्यते ।
युष्मदस्मद्गथां सामानाधिकरण्याभावात्प्रथमः पुरुषः । तिङ्वाच्यक्रियाया अद्रव्य-
रूपत्वेन द्वित्वाद्यप्रतीतेर्न द्विवचनादिकम् । किन्तु-एकवचनमेवोत्सर्गतः । त्वया

वस्=पुंस्यो णौ भादन्तात् युकि, अदुपधस्य वृद्धौ उकारऋकारोपधयोः 'पुगन्त' इति
गुणे लटि 'नपाद्' इति परस्मैपदनिपेधे तल्लि टेरैस्वे शपि गुणेऽयादेशे 'पाययते-दमयते-
आयामयते-आयासयते-परिमोहयते-रोचयते-नर्त्तयते-वादयते-वासयते । घेट इति ।
प्यन्तात् घेट् धातोः परस्मैपदं नेत्यर्थः । धापयते । घेट् धातोर्णौ 'आदेच उपदेशेऽशिति'
इत्याच्चे पुकि लटि परस्मैपदे प्राप्ते तं 'घेट-उपसंख्यानम्' इति घेट उपसंख्यानान्त्
परस्मैपदनिपेधे तल्लि शपि गुणेऽयादेशे टेरैस्वे 'धापयते' इति रूपम् । अकर्त्रर्थे
परस्मैपदं स्यादेवोक्ताभावेन शेषत्वात् 'शेषाकर्त्तरि' इति प्रतिपादनाच्च । वत्तान्
पाययति । अत्र पाघातोर्णौ 'आतो युक् चिष्कृतोः' इति युकि 'शेषात्' इति परस्मैपदस्वे
त्तिपि शपि गुणेऽयादेशे 'पाययति' पयः, इति रूपम् ॥ इति परस्मैपदप्रक्रिया ॥

तिङ्वाच्येति । सार्व-द्रव्यम्, लिङ्गसंख्यान्वययोग्यम् । तिङ्वाच्या या भावना क्रिया
सा अक्षररूपा लिङ्गसंख्यान्वययोग्या, शब्दशक्तिस्वभावात् । तत्तश्च तस्यां तिङ्वाच्य-
भावनायां द्विवचनद्वयोरप्रतीतेः 'युवाभ्यां युष्माभिर्वा आस्यते' इत्यादौ न द्विवचनं
बहुवचनं चेत्यर्थः । किन्तु एकवचनमेवेति । तिङ्वाच्यभावलकारस्येति शेषः । त्वया मयेति ।

घेट उपसंख्यानम्—प्यन्त 'घेट्' धातुसे परस्मैपदं नहीं हो ।

इस प्रकार इन्दुमती टीकामें परस्मैपदप्रकरण समाप्त हुआ ।

भावकर्मणोः—भाववाच्य और कर्मवाच्यमें लकारके स्थानमें आत्मनेपद हो ।

सार्वधातुके—भाववाची और कर्मवाची सार्वधातुके परे रहते धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो ।

मया अन्यैश्च-भूयते । बभूवे । स्य-सिच्-सीयुट्-तासिपु भावकर्मणोरुप-
देशोऽज्झगप्रहृष्टां घा चिण्वदिट् च । १६।१।६२। उपदेशे योऽच् तदन्तानां,
हनादीनां च चिणीवाऽङ्कार्यं वा स्यात्स्यादियु परेषु, भावकर्मणोर्गम्यमानयो
स्यादीनामिहागमश्च । चिण्वद्भावावपक्षेऽयमिट् । चिण्वद्भावाद् घृदि । भाविता । भविता ।
भाविष्यते । भविष्यते । भूयताम् । अभूयत । भूयेत । भाविषीष्ट । भविषीष्ट ।
चिण् भावकर्मणोः । ३।१।६६। च्लेक्षिण् स्याद्भावावकर्मवाचिनि 'त' शब्दे परे ।
अभावि । अभाविष्यत । अभविष्यत । अकर्मकोऽप्युपसर्गवशात् सकर्मक । अनुभूयते
आनन्दधैत्रेण, त्वया भया च । अनुभूयेते । अनुभूयन्ते । त्वमनुभूयसे । अहमनु-
भूये । अन्वभावि । अन्वभाविपाताम् । अन्वभविपाताम् । गिलोपः । भाव्यते ।

एवकर्तृक माकर्तृकम् अन्यकर्तृक भवनमित्यर्थं । भूयते । भूधातो 'ल कर्मणि च
भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावरूपे अर्थे 'धर्तमाने छट्' इति छट् लकारे भटि गते,
'भावकर्मणोः' इति आत्मनेपदे प्राप्ते तत्र एकवचनविचारायां ते, 'तिङ्शित् सार्वधा-
तुकम्' इति सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कस्येत्संज्ञायां लोपे च
कृते किरवाद् गुणाभावे 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेत्वे च कृते 'भूयते' इति
रूपम् । स्यसिच् । अच् इन् प्रहृष्टात् पूर्वा इन्द्रात् षष्ठी । उपदेश इत्यच् पव विशेष-
णम्, नेतरेपाम्, अव्यभिचारम् । तदाह—उपदेशे योऽञिति । अजित्यस्य उपदेशान्व-
यित्वेऽपि सौत्र समास । अञिति लुप्तशब्दीकं वा । चिण्वदिति सप्तम्यन्तादिति, स्य-
सिच्सीयुट्तासिप्वर्युपमेयत सप्तमीदर्शनात् । तदाह—चिण्वेति । अङ्कार्यमिति
अङ्गस्येत्थधिकृतत्वादिति भावः । अयमिति । सेट्कस्य वलादित्वलक्षण इट् तु स्या-
देवेति भावः । अभावि । भूधातो 'ल कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति भावे
'लुङ्' इति भूताथे लुङि कृते, ल स्थाने 'भावकर्मणोः' इति से, 'चिल लुङि' इति
च्लौ, च्ले स्थाने 'चिण्भावकर्मणोः' इति चिणि, चस्य णस्य चेरसंज्ञायां लोपे च
'अधो षिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽपवायाव' इत्यावादेशे 'चिणो लुङ्' इति
तदाहस्य लुकि, 'लुङ्लुङ्लुङ्स्वबुदात्' इत्यङ्गस्याहागमे 'अभावि' इति रूपम् ।
भाव्यते । भूधातो 'हेतुमति च' इति णिचि, णस्य चस्य चेरसंज्ञाया लोपे च 'अधो
षिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽपवायाव' इत्यावादेशे, 'भावि' इति जाते 'सना-

स्यसिच्—उपदेशावस्थामें जो अच्, तदत्त जो पाठ्य, उसको तथा इन्, प्रहृ और इन्
धातुओंको 'चिण्व'के परे जो २ अङ्कार्य होते हैं वे कार्यं स्य, सिच्, सीयुट् और तासके परे
भाव तथा कर्मका अर्थ गम्यमान रहने पर विद्वरपते हैं, एव स्य, सिच्, सीयुट् और तासके
चिण्वकावपक्षमें टर्का आगम भी हो ।

चिण्भावा—'चि'के स्थानमें चिण् आदेश हो, भाव और कर्मवाची 'त' शब्दके परे

भावयाञ्चके । भावयाम्बभुवे । भावयामासे । चिष्वदिट् आभीयत्वेनासिद्धत्वाणि-
लोपः । भविता । भावयिता । भाविष्यते । भावयिष्यते । भाव्यताम् । अभव्यत ।
भाव्येत । भाविपीठ । भावयिपीठ । अभवि । अभवयिपाताम् । अभविपाताम् ।
बुभूष्यते । बुभूषाञ्चके । बुभूषिता । बुभूषिष्यते । बोभूष्यते ॥ 'अकृत्सार्व-

धन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि
'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्'
इति सार्वधातुकत्वे 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कस्येरसंज्ञायां लोपे च 'आर्धधातुकं
शेषः' इत्यार्धधातुकसंज्ञायाम् 'गेरनिटि' इति णिलोपे 'दित् आत्मनेपदानां टेरे' इति
टेरेरेवे ष कृते 'भाष्यते' इति । भावयाञ्चके । भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि, णस्य
चस्य चेत्संज्ञायां लोपे च 'अचो ङिति' इति वृद्धौ, 'एचोऽयवायावः' इत्यावादेशे
'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'परोच्चे लिट्' इति कर्मणि लिटि, 'कास्यने-
काच आम् वक्तव्यः' इत्यामि, आमः 'आर्धधातुकं शेषः' इत्यार्धधातुकत्वात् 'गेर-
निटि' इति णिलोपे प्राप्ते तम्वाधिश्वा 'अयामन्ताएवाप्येत्त्विष्णुषु' इति गेरयादेशे
'भावयाम् लिट्' इति जाते, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति
लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे कृते 'भावयाम् कृ लिट्' इति भूते लिटो लः स्थाने 'भाव-
कर्मणोः' इत्यात्मनेपदे ते 'लिट्स्तप्तयोरेशिरेच्' इति एशि, अनुबन्धकार्ये 'लिटि
धातोरेनभ्यासस्य' इति द्विवे, अभ्यासत्वे, उरदत्त्वे, रपरे हलादिशेषे, चुत्वे,
यणि, मस्यानुस्वारे, परसवर्णे च कृते 'भावयाञ्चके' इति । अभावि । भूधातोः
'हेतुमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे, 'अचो ङिति' इति वृद्धौ, आवादेशे 'भावि'
इति जाते, तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'लः कर्मणि च भावे
चाकर्मकेभ्यः' इति कर्मणि 'लुङ्' इति लुङि, अनुबन्धलोपे लः स्थाने 'भावकर्मणोः'
इति ते, 'ञ्लि लुङि' इति च्लौ, 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेश्रिणि, अनुबन्धलोपे,
'गेरनिटि' इति णिलोपे, 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लोपे 'लुङ्लुङ्लुङ्श्चवहुदासः'
इति अङ्गस्याढागमे, 'अभावि' इति रूपम् । बुभूषाञ्चके । 'बुभूष' इति सन्नन्तं
प्रसाध्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां 'परोच्चे लिट्' इति लिटि,
'कास्यनेकाच आम् वक्तव्यः' इति आमि, 'आमः' इति लिटो लुकि, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते
लिटि' इति लिट्परकृञोऽनुप्रयोगे, लिटो लः स्थाने ते, तस्य स्थाने एशि 'लिटि
धातोरेनभ्यासस्य' इति द्विवे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये च कृते आमो मस्य
अनुस्वारे परसवर्णे च कृते, यणि च कृते 'बुभूषाञ्चके' इति रूपम् । बुभूषाञ्चकृते,
बुभूषाञ्चकिरे । इत्यादि । बोभूष्यते । भूधातोः 'धातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे
यङ्' इति यङि, ङलोपे 'सन्त्यङोः' इति द्विवे, अभ्यासत्वे, अभ्यासकार्ये
'गुणो यङ्लुङोः' इति अभ्यासस्य गुणे, 'बोभूष' इति जाते, 'सनाद्यन्ता धातवः'

धातुकयोर्दीर्घ' । स्तूयते विष्णु । स्ताविता । स्तोता । स्ताविष्यते । स्तोयते ।
अस्तावि । अस्ताविष्याताम् । अस्तोषाताम् । 'गुणोर्त्ती'ति गुण । अर्यते ।
स्मर्यते । 'ऋच्छ्रयुता'मिति गुण । आर । मस्मरे । परत्वाश्रित्यवश्च
गुणे, रपरं च कृतेऽजन्तान्भाषेऽपि उपदेशप्रदृणाश्चिप्रदिट् । आरिता । अर्त्ता ।
स्मारिता । स्मर्त्ता । नलोप' । सस्यते । सस्यसे । इदितस्तु—मन्यते । इज्यते ।
तनोतेर्यकि । ३।४।४४। तनोतेर्यकि अदन्तादगो वा स्यात् । तायते-तन्यते ।
तपोऽनुतापे च । ३।१।६५। तपरश्च्लेक्षिण्ण स्यात्, कर्मकर्त्तरि, अनुतापे च ।

इति धातुसंज्ञायां 'ए कर्मणि च माये चाकर्मकेम्प' इति कर्मणि 'वर्तमाने लट्'
इति वर्तमानेऽर्थे लटि, 'भावकर्मणो' इत्यात्मनेपदे प्रथमपुरुषैकवचनविद्ययायां ते,
'तिङ्शिरसायं धातुकम्' इति तस्य सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुके यक्' इति यकि,
'अतो लोप' इति षष्ठोऽकाररप लोपे, 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेवे
च कृते 'बोभूय्यते' इति रूपम् । स्तूपते विष्णुरिति । स्तुभ स्तुती, इति धातो'
कर्मणि लटि, 'धात्वादे प म.' इति पस्य सस्ये, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्य-
पाय' इति न्यायेन स्तुस्ये गते, 'भावकर्मणो' इति लटस्ते 'सार्वधातुके यक्' इति
यकि, कगते, 'अङ्गसायं धातुकयोर्दीर्घ' इति स्तु इत्यस्य दीर्घ 'दित आत्मनेपदानां
टेरे', इति टेरेवे च कृते 'स्तूपते' इति रूपम् । अस्तावि । स्तुषातो कर्मणि लुङि,
'भावकर्मणो' इति लुङस्ते, 'चिड लुङि' इति च्छी, 'चिण्भावकर्मणो' इति च्छेक्षिणि,
अनुबन्धलोपे, वृद्धौ आवादेशे 'चिणो लुक्' इति सशब्दस्य लोपे, अङ्गस्य अहागमे,
'अस्तावि' इति रूपम् । अस्ताविष्याताम् । स्तुषातो कर्मणि लुङ् रथाने आतामि,
च्छी, च्छे सिचि, इचि गते, 'स्यसिच्यस्योऽनुतापिभु भावकर्मणो.' इति चिण्वद्भावे,
हडागमे च, चिण्वद्भावात् वृद्धौ, आवादेशे, सिच सस्य पाये, अङ्गस्याहागमे,
'अस्ताविष्याताम्' इति रूपम् । चिण्वद्भावाभावपक्षे—अस्तोषाताम् । अर्यते । ऋ गती,
हायस्माद् धातो कर्मणि लुङस्ते 'सार्वधातुके यक्' इति यकि, कगते 'आयं धातुकं
क्षेप' इति यक आयं धातुकसंज्ञायाम् 'सार्वधातुकायं धातुकयो' इति गुणे प्राप्ते,
'किङिति च' इत्यनेन सस्य निषेधे, 'गुणोर्त्तिसमो गच्छो' इत्यनेन गुणे अकारे जाते
'वरण् रपरा' इति रपरस्ये टेरेवे च कृते 'अर्यते' इति रूपम् । तनोतेरिति ।
'विङ्मनोरनुनामिकस्यात्' इत्यत आदिति, 'ये विभाषा' इत्यतो विभाषेति
धानुवर्त्तते । तदाह—आकारोऽन्तादेशो वा स्यादिति । तपोऽनुतापे चेति । 'च्छे सिच्य'
इत्यतः च्छेरिति 'चिण् स्ते पद' इत्यत चिण् इति 'न ह्य' इत्यतो नेति धानु-

तनोतेर्यकि—'तन्' धातुको आकारान्त आदेशश्च हो, यक्के परे, विकल्पते ।

तपोऽनुतापे—'त' धातुसे पर 'चिड'को चिण् नदी हो, कर्म-कर्त्ता और अनुताप अर्थमें ।

अन्वतप्त पापेन । 'नुमास्ये'तीत्वम् । दीयते । धीयते । ददे । दधे । आतो
युक्चिण्कृतोः । ७।३।३३। आदन्तानां युगागमः स्याच्चिणि, ङिति कृति च ।
दायिता । दाता । दायिपीठ । दासीष्ट । अदायि । अदायिपाताम् । 'स्याच्चोरिञ्च'
तीस्वम् । अदिपाताम् । शम्यते मोहो मुकुन्देन । चिण्णमुलोर्दीर्घोऽन्यत-
रस्याम् । ६।४।९३। चिण्परे णमुल्परे च णौ मितामुपधाया दीर्घो वा स्यात् ।
शामिता । शमिता । शमयिता । शामिच्यते । शमिच्यते । शमयिष्यते । ण्यन्तत्वा-
भावे—शम्यते मुनिना । नोदात्तोपदेशस्य मान्तस्यानाचमेः । ७।३।३४।

वर्तते । चकारात् 'अचः कर्मकर्तरि' इत्यतः कर्मकर्तरीति समुचीयते । तदाह—तप-
ञ्जलेरित्यादि । अन्वतप्त पापेन । अनुपूर्वकतपधातोः कर्मणि लुङि, 'भावकर्मणोः' इति
लुङस्ते, 'चि लुङि' इति च्लौ, 'चिण् भावकर्मणोः' इति च्लेः स्याने चिणि प्राप्ते,
'तपोऽनुतापे च' इत्यनेन तस्य निषेधे, 'च्लेः सिच्' इति सिचि कृते इचि गते,
'झलो झलि' इति सिचः सस्य लोपे, अङ्गस्याडागमे अनोरुकारस्य चणि च कृते
'अन्वतप्त' इति रूपम् । आतो युगिति । 'अङ्गस्य' इत्यधिकृतम् । तदन्तविधिः । 'अचो
ङिति' इत्यतो 'ङिति' इत्यनुवृत्तं कृत् एव विग्रहणम्, न नु चिणः तस्य णिश्वा-
व्यभिचारात् । तदाह—आदन्तानामिति । अदायि । दाधातोः कर्मणि लुङि, 'भाव-
कर्मणोः' इति लुङस्ते, 'चि लुङि' इति च्लौ 'चिण्भावकर्मणोः' इति च्लेः चिणि,
शनुधन्धलोपे, 'आतो युक् चिण्कृतोः' इति युकि, क्राते, 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वहुदात्तः'
इति अङ्गस्य अडागमे 'चिणो लुक्' इति तशब्दस्य लुकि, 'अदायि' इति रूपम् ।
शम्यते । शमधातोः कर्मणि लकारे 'भावकर्मणोः' इत्यात्मनेपदे तङि टेरत्वे 'सार्वधातुके
चक्' इति यकि 'शम्यते' इति रूपम् । चिण्णमुलोरिति । अन्यतरस्यामिति विकल्पस्को-
रणाय । 'नितं ह्रस्वः' इत्यतो मितामिति । शमधातोर्णौ शमीत्यतो लुटि तङि 'लुटः
प्रथमस्य' इति डादेशे तासि टेलोपे मित्त्वात् नित्यं ह्रस्वे प्राप्ते तं वगधित्वा 'चिण्ण-
मुलोः' इति वा दीर्घे 'शामिता' 'शमिता' इति रूपे भवतः । यदा चिण्वद्भावो न
न्यात्तदा णेलोपाभादे गुणेश्यादेशे 'शमयिता' इति रूपम् । शमिष्यते । शमधातोर्णौ
ट्टि तङि टेरत्वे स्यविकरणे 'स्यसिच्' इति चिण्वद्भावे 'चिण्णमुलोः' इति वा
दीर्घे 'शामिष्यते' 'शमिष्यते' इति रूपे । यदा चिण्वद्भावो न स्यात्तदा
गुणेश्यादेशे 'शमयिष्यते' इति रूपम् । नोदात्त इति । 'चिण्णमुलोः' इत्यतः चिणाद्यो-

आतो—आदन्त धातुको 'युक्'का आगम हो, चिण्के परे और जित्-गित्-कित्के परे ।
चिण्णमुलोः—'मित्' वातुओंको उपधाको दीर्घ हो, चिण्परक और णमुल्परक 'णि'के
परे, विकल्पते ।

नोदात्तो—'आह्' उपसर्गक 'चम्' धातुसे मित्त जो मान्त उदात्तोपदेश, उसने उपधाको

उदात्तोपदेशस्य मान्तस्य उपधाया वृद्धिर्न स्याच्चिणि, ङिति कृति च, न त्वाचमे । अरामि । अरामि । उदात्तोपदेशस्येति किम् ? अरामि । मान्तस्येति किम् ? अवादि । अनाचमेरिति किम् ? आचामि । (अनाचमिकमिचमौनामिति चत्तुर्थ्यम्) अकामि । अकामि । भज्यते । भज्येच्च चिणि । ६।४।३३। भज्येच्च चिणि नलोपो वा स्यात् । अमाजि । अमज्जि । लभ्यते । विभाषा चिण्णमुल्लोः । ७।१।६९। लभेर्नुम् वा स्याच्चिण्णमुल्लो परत । अलम्भि । अलामि । इति भावकर्मप्रकरणम् ।

अनुप्रतन्ते । शमयातोलुङ्ङि सङ्घि ष्टौ 'चिण्भावकर्मणो' इति चिणि अङ्गागमे 'अशाम्-इ-त्' इति जाते 'चिणो लुक्' सङ्घोपे 'अरामि' इति रूपम् । अत्र चिणो णिष्येनोपधाया षीर्षं प्राप्त्येऽपि 'नोदात्तोपदेशस्य' इति न वृद्धिरिति भाव । एव अरामि अत्रापि पूर्ववद्वसेयम् । उदात्तोपदेशेति सूत्रेऽभावे सति अनुदात्तोपदेशस्य गम्घातोरपि चिणि षीर्षनिषेधापत्ति स्यात्तेन च 'अरामि' इति रूपापत्ति । अत उदात्तोपदेशस्यैवेति पठनीयम् । तेन गम्घातोर्मान्तावेऽपि न षीर्षनिषेध इति भाव, तेन 'अरामि' इति निर्याधम् । मान्तस्येति पदाभावे वदधातोरपि उदात्तोपदेशत्वेन षीर्षनिषेधः स्यादतस्तदावरयकम् । तेन यदधातोरुदात्तावेऽपि मान्तत्वाभावाच्च षीर्षनिषेधः । अत 'अवादि' इत्यपि निर्विकल्पम् । इति भावकर्मप्रकरणम् ।

वृद्धि नहीं हो, चिण्के परे और अित, णित, कृत्के परे । अनाचमि—'आङ्' उपसर्गक चम्, कम् और वम् धातुसे भिन्न जो मान्त उदात्तोपदेश धातु, उसकी उपधाके वृद्धि नहीं हो ऐसा कहना चाहिये । अज्जेच्च—'अज्' धातुके नकारका लोप हो, 'चिण्'के परे, विकल्पसे ।

विभाषा—'लम्' धातुको नुम् हो, चिण् और गमुल्के परे, विकल्पसे ।

नोट—(१) कर्मवाच्यमें कर्तासे तुनीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा क्रिया कर्मके अनुभार समझना चाहिये (१४२ पृ० देखो) कहा मा है—

कर्मवाच्यप्रयोगे तु तुनीया कर्तृकारके । कर्मणि प्रथमा प्रोक्ता कर्माधीन क्रियापदम् ॥

(२) अकर्मक धातुसे भाववाच्यमें प्रत्यय होता है तथा कर्तासे तुनीया विभक्ति होती है और क्रिया सर्वत्र प्रथम पुरुषके एकवचनकी होती है—कर्ताके साथ क्रियाका कोर् सन्बन्ध नहीं रहना कहा भी है—

प्रयोगे भाववाच्यस्य तुनीया कर्तृकारके । प्रथम पुरुषश्चैकवचन स्यात् क्रियापदे ॥

(३) कर्तृवाच्यमें कृदन्तकी क्रिया कर्ताका विशेषण और कर्मवाच्यमें कर्मका विशेषण होती है और भाववाच्यमें नपुंसक लिंगका एकवचनान्त होती है यथा, कर्तृवाच्य—'अस्मान् उच्यमान्' । कर्मवाच्य—'तेन धयम् उच्छा' । भाववाच्य—'तेन उच्छाम्' ।

२५ प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें भावकर्मप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ कर्मकर्तृप्रकरणम्

यदा कर्मैव कर्तृत्वेन विवक्षितं, तदा सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वात्कर्तारि, णवे च लकारः । कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः । ३।१।८७। कर्मस्थया क्रियया तुल्यक्रियः कर्ता कर्मवत्स्यात् । कार्यातिदेशोऽयम् । तेन यक्, आत्मनेपदं, चिण् चिण्व-दिट् च स्युः । पच्यते फलम् । भिद्यते काष्ठम् । अपाचि । अमेदि । भावे—

सकर्मकाणामप्यकर्मकत्वादिति । ये द्विदिमिदिप्रभृतय एककर्मकाः, तत्र कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां 'वृचः छिनत्ति' इत्यादौ प्राक् सकर्मकत्वेऽपि सम्प्रति कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायामकर्मका एते इत्यर्थः । कर्तारि भावे च लकार इति । न तु कर्मणि, असम्भवात् । अत एव अकर्मकेभ्यो भावे कर्तारि च ल इत्युक्तमिति भावः । कर्मवत्कर्मणेति । 'कर्तारि शाप्' इत्यतः कर्तारीत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते । तुल्या क्रिया यस्य सः, तुल्यक्रियः कर्ता । कर्मणा इत्यनेन कर्मकारकस्या क्रिया विवक्षिता, क्रियायाः कर्मकारकेण तुल्यत्वस्य तद्विज्ञायामादायैव उपपाद्यत्वात् । तदाह—कर्मस्थस्येत्यादिना । कर्मणः कर्तृत्वेन विवक्षायां कर्ता कर्मवदिति यावत् । कार्यातिदेशोऽयमिति । यद्यपि शास्त्रातिदेशे कार्यातिदेशे वा न फलभेदः । तथापि शास्त्रातिदेशस्यापि कार्यातिदेशार्थत्वान्मुह्यत्वात् कार्यातिदेश एवाश्रयणीय इत्यर्थः । तेनेति । स्युरित्यन्तान्वेति । कर्मवत्त्ववचनेन कर्मकार्याणि 'सार्वधातुके यक्' इति यक्, 'भावकर्मणोः' इति आत्मनेपदम्, 'चिण् भावकर्मणोः' इति चिण्, 'स्वसिच्छीयुट्तासिषु' इति चिण्वस्वम्, तत्संनियोगादिष्टः इट् च स्युरित्यर्थः । कर्मणः कर्तृत्वविवक्षायां कर्तारि विहितानि शास्त्राण्येव न स्युरित्यर्थः । पच्यते फलमिति । 'कालः फलं पचति' इत्यत्र यदा सौकर्यातिशयं द्योतयितुं कर्तृव्यापारो न विवक्ष्यते, तदा कर्मण एव कर्तृत्वात् पच्धातुर्नकर्मकः । तस्मात् 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इति कर्तृरूपेऽर्थं वर्तमानक्रियायां 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः' इति कर्मवद्भावात् आत्मनेपदे ते, 'सार्वधातुके यक्' इति यकि कस्येस्संज्ञायां लोपे च जाते 'दित आत्मनेपदानां टेरे' इति टेरेस्वे

कर्मवत्कर्म—कर्ममें वर्तमान जो क्रिया, उसके समान ही क्रिया है जिसकी ऐसा जो कर्ता, वह कर्मवत् हो ।

नोटः—कर्म ही यदि कर्ता हो, अर्थात् क्रियाका कर्तृत्व यदि कर्ममें आरोपित हो तो 'कर्मकर्तामें' होता है और कर्मकर्ता में प्रथमा विभक्ति होती है—अन्य कर्म पद नहीं रहता तथा क्रियाका रूप कर्मवाच्यकी क्रियाके तुल्य होता है । यथा—'फाणं भिद्यते स्वयमेव' । कहा भी है :-

क्रियमाणं तु यत् कर्म स्वयमेव प्रसिध्यति । सुकरैः रवैर्गुणैः कर्तुः 'कर्मकर्तै' हि तद्विदुः ॥

(कार्य करनेके समय जो 'कर्मकारक' कर्ताके सुकर निज गुणोंसे स्वयं ही सिद्ध होता है, उसे 'कर्मकर्ता' कहते हैं) ।

मिषते काष्ठेन । (भूपावाचिनां, किरादीनां, सघन्तानां च यक्चिणौ, चिण्वदिट् च नेति षक्तव्यम्) अलङ्कृते कन्या । अलमकृत । अवकिरते हस्ती । अवाकीर्त् । अवाकरिष्ट । गिरते । अगीर्त् । अगरिष्ट । आद्रियते । आदृत । किरादिस्तुदाघन्तानां । निकीर्यते षट् । अचिकीरिष्ट । तपस्तपः-

च 'पर्यते' इति रूपम् । कर्त्तरि लकारे कर्तृरुच्यत्वात् कर्तृवाचकफलशब्दात् प्रथमा । भावे-मिषते काष्ठेनेति । कर्तृभ्यापारस्याविवक्षायां भिदोऽकर्मकरत्वात्, भिदः 'ल कर्मणि च भावे चाकर्मण्येभ्य' इति भावे 'वर्तमाने लट्' इति लटि, ल स्थाने 'भावकर्मणो' इत्यात्मनेपद्रे ते, 'मात्रेधानुक्ते यक्' इति यकि, कश्येत्स्वभावां लोपे च यक् ङित्वात् 'विहनि च' इति गुणाभावे 'टित् आत्मनेपदानां ङेरे' इति ङेरेवे च कृते 'मिषते' इति रूपम् । अत्र कर्तृरनभिहितत्वात् 'कर्तृकरणयोस्तृतीया' इति तृतीयेति भावः । भूपावाचिनां चेति । भूपाकर्म किरादि सन् एषो द्वन्द्वः । आत्मनेपदादन्यत्कर्म कारयामिति लभ्यते । भूपाकर्म क्रिया येषां वाच्यतया ते भूपावाचिनः घातय । भूषणक्रियावाचिनामिति यावत् । अलङ्कृते कन्या । स्वयमेवान्यप्रयत्न विना भूषणक्रियायती, इति तदर्थः । अत्र भूपायंकरत्वात् कर्मकर्त्तरि तद्धेव नतु यक् । अलमकृत । अत्र तद्धेव नतु चिण् । लुटि 'अलकर्ता' इत्येव नतु चिण्वदिट् । अवकिरते हस्ती । इगिनमवकिरतिङ्गुमुमादि । इत्यत्र मुख्यकर्त्तरि लकारः । हस्तिन कर्मत्वम् । तस्य कर्तृत्वविवक्षायां स्वयमेव पुरुषप्रयत्न विना वृषादिसमीप गच्छन् गुप्पादिभिरवकीर्णवान् भवतीत्यर्थः । अत्रापि तद्धेव न तु यगादि । अवाकीर्त् । अत्रपूर्वात् कृष्णातोर्लुटि ष्टौ सिचि 'अन इद्धानो' इतीत्ये रपरत्वे 'हलि च' इति दीर्घे 'लिङ्सिचो' इति षड्भावे परे ष्टुत्वे अटि दीर्घे 'अवाकीर्त्' इति रूपम् । इट्पद्ये गुणे रपरत्वे 'अवाकरिष्ट' इति द्वितीय रूपम् । किरादीन् उदाहरति-गिरते । ओद्म स्वयमेवेति शेषः । गृष्णातोर्लुटि ष्टौ सिचि 'अन इद्धानो' इति इकारे रपरत्वे चापि रूपम् । अणार्द्धे । गृष्णातोर्लुटि तडि ष्टौ सिचि 'लिङ्सिचो' इति इडभावे दीर्घे परत्वे ष्टुत्वेऽटि अगीष्टेति रूपम् । इट्पद्ये गुणे रपरत्वे परे ष्टुत्वे 'अगरिष्ट' इति रूपम् । आद्रियते । धतिथिमिति मुख्यकर्त्तरि । इड् आदरभे अस्माद्धातोर्लुटि तटि ङेरेवे तुदादिभ्याश्चे 'रिङ्शयग्लिङ्गु' इति रिङादेने इयडि 'आद्रियते' इति रूपम् । आदृत । इषातोर्लुटि तडि ष्टौ सिचि 'इस्वाङ्गात्' इति मलोपे 'उक्' इति कित्त्वेन गुणाभावे रूपम् । अथ न चिणिति भावः । चिकीर्यते । स्वयमेवेच्छाविषय इत्यर्थः । कृष्णातो सनि 'अन इद्धानो' इतीत्ये

भूपावाचिनां—भूपावाची धातु, किरादि धातु और सन्नन्त धातुओंसे यक्, चिण्, तथा चिण्वदिट् नहीं हो, कर्मकर्तामि ।

तपस्तप—'दमेके चो 'तप' धातु, वसका ही कर्ता कर्मण्य हो—अन्य तप धातुक

कर्मकस्यैव । ३।१।८। तपः कर्मस्यैव तपः कर्ता कर्मवत्स्यात् । तप्यते तप-
स्तापसः । अर्जयतीत्यर्थः । अतस्त । तपःकर्मकस्यैवेति किम् ? उत्तपति सुपर्ण
सुवर्णकारः । (सकर्मकाणां प्रतिपेद्यो वक्तव्यः) अजा ग्रामं नयति । (दुहि-
पच्योर्वहुलं सकर्मकयोरिति वाच्यम्) न दुहस्नुनमां यक्चिणौ । ३।
१।८९। एषां कर्मकर्तारि यक्चिणौ न स्तः । शप् । तस्य लुक् । गौः पयो दुग्धे ।
अचः कर्मकर्तारि । ३।१।९२। अजन्ताच्छ्लेधिष्वा स्यात्कर्मकर्तारि तशब्दे परे ।
अकारि । अकृत । दुहश्च । ३।१।९३। तथा । अदोहि । पक्षे कसः । अदुग्ध ।

पररखे दीर्घे द्विरखे ह्रस्वे ह्रलो लोपेऽभ्यासस्य च चत्वे परत्वे धातुत्वे तद्धिरेखे शे पररूपे
'चिकीर्षते' इति । अचिकीर्षिष्ट । 'चिकीर्ष' इति सन्नताल्लुङि तद्धि च्लौ
सिचि इटि परत्वे ष्टुत्वे अल्लोपेऽटि 'अचिकीर्षिष्ट' इति रूपम् । अत्रापि किरादीनां
तुदाद्यन्तर्गणत्वात् श एवेति भावः । तपस्तप इति । आद्यं तप इति पठयन्तम् । नपः-
कर्मकस्यैव तपधातोर्गिति लभ्यते । 'कर्तारि षाप्' इत्यनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यते ।
कर्मवत्कर्मणा इत्यतः कर्मवदिति । तप्यते तपस्तापस इति ॥ अत्र तपिरर्जनार्थः । प्राजा-
पत्यादि कृच्छ्राधारमकं तपःसंपादयतीत्यर्थः । मुख्यकर्तारि लकारः । संपादनस्यात्मक-
र्त्तृस्थत्वाद् तपोरूपकर्मस्थत्वाभावात् 'कर्मवत्' इत्यप्राप्तं कर्मवत्त्वमनेन सूत्रेण
विधीयते । तेन यगारमनेपदादि । 'अतस' इति लुङि रूपम् । अजां ग्रामं नयति । अत्र न
कर्मवदिति भावः, कर्मजो विद्यमानत्वात् । दुहिपच्योरिति । अनयोर्वा कर्मवद्भाव इत्यर्थः ।
न दुहेति । एषां यक्चिणौ नेत्यन्वयः । शप् स्यादित्यर्थः । गौः पयो दुग्धे । दुहधातोर्लटि
तद्धिरेखे शपि शल्लुकि 'क्षपस्तथोः' इति घत्वे 'वा नुहेति' धत्वे 'क्षलां जश्'
इति गत्वे 'दुग्धे' इति रूपम् । अच इति । 'च्लेः सिच्' इत्यतः सिजिति 'दीपजन'
इत्यतोऽन्यतरस्यामिति । अकारि । कृधातोर्लुङि तद्धि च्लौ 'अचः कर्मकर्तारि' इति
चिणि णित्वाद् वृक्षौ 'चिणो लुक्' इति ललोपेऽटि 'अकारि' इति रूपम् । यदा न चिण्
स्यात्तदा अकृतस्य इत्यवस्थायां 'ह्रस्वादङ्गात्' इति सलोपे 'अकृत' इति द्वितीयरूपम् ।
दुहश्चेति । दुहश्च्लेधिष्वा कर्मकर्तारि ते परे इत्यर्थः । अदोहि । दुहधातोर्लुङि तद्धि
च्लौ 'दुहश्च' इति वा चिणि 'पुगन्त' इति गुणेऽटि 'चिणो लुक्' इति लुकि 'अदोहि'
इति रूपम् । चिणभावे कसे 'दादेः' इति घत्वे 'लुग्वा' इति कसलुकि 'क्षपस्तथोः'
इति तस्य घत्वे जश्त्वे 'अदुग्ध' इति । अत्र न गुणः 'लिङ्सिचौ' इति किरत्वात् ।

कर्ता नहीं । सकर्मका—सकर्मक धातुओंका कर्ता कर्मवत् नहीं हो । दुहिपच्योः—सकर्मक
दुह् और पच् धातुका कर्ता कर्मवत् हो, विकल्पसे । न दुहस्नु—दुह्, स्नु और नम् धातुके
कर्मकर्ता में यक्-चिण् नहीं हो । अचः कर्म-कर्मकर्तामें अजन्त धातुसे पर 'चिल' को चिण्
हो, तशब्दके परे, विकल्पसे । दुहश्च-कर्मकर्तामें 'दु' धातुसे 'चिल' को चिण् हो, विकल्पसे,

‘लुग्नेति’ पक्षे लुक् । अधुक्त । उदुम्बर, फल पच्यते । कुपिरजोः प्राचां श्यन्परस्मैपदं च । ३।१।१०। अन्मो कर्मकर्त्तरि ऽ यक्, किन्तु श्यन्परस्मैपदं च । आत्मनेपदापवादः । कुप्यति, कुप्यते पादः । रज्यति, रज्यते वक्ष्यम् । यगविपये तु नास्य प्रवृत्तिः । वीपिपीठ । रक्षीष्ट ॥ इति कर्मकर्तृप्रकरणम् ।

अथ लकारार्थप्रकरणम्

अभिज्ञावचने लृट् । ३।२।११२। स्मृतिबोधिन्युपपदे भूतानद्यतने धातोर्लृट् स्यात् । लङोऽपवादः । घस निवासे स्मरसि कृष्ण । गोकुले घत्स्यामः । एव बुध्यसे, चेतयसे इत्यादिप्रयोगेऽपि । न यदि । ३।२।११३। यद्योगे उक्तं न स्यात् । अभिज्ञानासि कृष्ण यद्ने अभुञ्जमहि । विभाषा साकाङ्क्षे । ३।२।११४।

यदा ‘लुग्वा वृह’ इति घसलुहून स्यात्तदा ‘अधुक्त’ इति रूपम् । पच्यते । अत्र यक्तद्वौ । कुपिरजोरिति । श्यन्परस्मैपदेन धावापत्तेः । परस्मैपदमित्यनेन तद्वौ निवृत्तिः । कुप्यति । कुप्यतातोः छटि ‘कुपिरजो’ इति परस्मैपदस्थे श्यन्ति तिवि ‘कुप्यति’ इति रूपम् । श्यन् गिरावेन द्विवाच्य गुणः । तदभावे ‘कुप्यते’ इति रूपम् । अत्र न कर्मवद्भाव इति भावः । इति कर्मकर्तृप्रक्रिया ।

अभिज्ञावचन इति । अभिज्ञा—स्मृति, सा उत्पद्यते बोध्यते, अनेनेति विग्रहः । तदाह—स्मृतिबोधिन्युपपदे इति । स्मृतिबोधकपदे समीपे प्रकृत्यमाने सतीत्यर्थः । ‘भूते’ इत्यधिकृतम् । ‘अनद्यतने लृट्’ इत्यतोऽनद्यतने इत्यनुवर्तते । तदाह—भूतानद्यतने इति । लङोऽपवाद इति । ‘अनद्यतने लृट्’ इत्यस्यापवाद इत्यर्थः । स्मरसीति । हे कृष्ण गोकुले अवसाभेति यत् तत् स्मरसि इत्यर्थः । अत्र वाच्यार्थं कर्म । कृत गोकुलवास स्मरसीति यावत् । प्रवमिति । स्मरसि इति पदयोग इव बुध्यसे इत्यादि स्मृतिबोधकपदयोगेऽपि स्मृदित्यर्थः । उक्तं नेति । ‘अभिज्ञायचने’ इति लृट् न भवतीत्यर्थः । अभिज्ञानामोति । घने अभुञ्जमहीति यत् तत्

तदशब्दे परे । कुपिरजोः—कुपु और रज् (रब्ज्) पादने कर्मकर्तायं यक् नहीं हो किन्तु श्यन् और परस्मैपद हो (प्राचा) विकल्पसे ।

इस प्रकार ‘इन्दुमती’टीकाने कर्मेकवृत्तकरण समाप्त हुआ ।

अभिज्ञावचने—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर भूत-अनद्यतन अर्थमें धातुसे ‘लृट्’ लकार हो । न यदि—स्मृतिबोधक पद उपपद रहने पर ‘यत्’के योगमें ‘लृट्’ लकार नहीं हो । विभाषा—आखिरी यदि लक्ष्यव्युत्पत्तभावसे साकाक्षित हो तो—स्मृतिबोधक पद उपपद

रक्तविषये लट् वा स्यान्नक्षत्रलक्षणभावेन साकाङ्क्षश्चेद्वात्वर्यः । स्मरसि कृष्ण ।
वने वत्स्यामस्तत्र गाधारविष्यामः ? । वासो लक्षणं, चारणं लक्ष्यम् । पक्षे लट् ।
'परोक्षे लिट्' । चकार । उत्तमपुरुषे चित्तविज्ञेपादिना पारोक्ष्यम् । 'सुप्तोऽहं
किल विललाप' । अत्यन्तापह्ववे लिट् चक्तव्यः । कलिङ्गेष्ववात्सीः ? ।
नाहं कलिङ्गान् जगाम । प्रश्ने चाऽऽसन्नकाले । ३।२।११७। आसन्नकाले
पृच्छयमानेऽर्थे लिट् विषये लट् लिटौ स्तः । अगच्छत्किम् ? । जगाम किम् ? । आस-
न्नकाले किं ? कंसं जघान किम् ? । लट् स्मे । ३।२।११८। लिटोऽपवादः । यजति स्म
युधिष्ठिरः । अपरोक्षे च । ३।२।११९। अपरोक्षे भूतानद्यतने लट् स्यात्स्मयोगे ।
एवं स्म पिता ब्रवीति । ननौ पृष्टप्रतिवचने । ३।२।१२०। ननानुपपदे पृष्टप्रतिवचने
भूते लट् स्यात् । अकार्पाः किम् ? । ननु करोमि भोः । नन्वोर्विभाषा । ३।२।१२१।

स्मरसीत्यर्थः । विभाषेति । आकाङ्क्षया सहितः साकाङ्क्षो-धात्वर्यस्तर्हि वा लट् इति भावः ।
कथमहं चकारेति चेदाह—चित्तविक्षेपात्पारोक्ष्यमिति । 'सुप्तोऽहं किल विललाप' अत्र
सुप्तावस्थायां चित्तस्य विज्ञेपात्पारोक्ष्ये लिट् इति भावः । अत्यन्तेति । कलिङ्गेष्ववात्सी-
रतस्त्वं न सहवासयोग्य इति प्रश्ने 'नाहं कलिङ्गान् जगाम । अत्रात्यन्तापह्ववो निषेधो
व्यज्यतेऽतो लिट् । प्रश्ने इति । पञ्चवर्षाभ्यन्तरिकः काल आसन्नकालः । अगच्छत्
किम् । जगाम किम् । अत्र केवलं लिट् विषये लट् लिटौः प्रयोगः । लट् स्मे । स्मेत्य-
व्ययम् । तद्योगे लिट् विषये लट् स्यादित्यर्थः । यजति स्मेति (स्मशब्दो भूतकालद्यो-
तकः । अपरोक्षे चेति । अद्यः परं परोक्षं तस्मिन् । तदभावे 'स्म' इत्यस्य संबन्धे सति
भूतानद्यतने लट् लकारः स्यादित्यर्थः । एवमिति । एवं स्म पिता ब्रवीति । अत्र एवम-
ब्रवीदित्यर्थे लट् लकार इति भावः । ननाविति । भूतार्थे ननुप्रयोगे लट् इत्यर्थः । अकार्पाः
किमिति पृष्टम् । तस्य प्रतिवचनमुत्तरम् । ननु अकार्पमित्यर्थे लट् । तेन 'करोमि
भोरि'ति साधु । नन्वोरिति । अत्र वा लट् इत्यर्थः । नाकार्पमित्यर्थम् 'न करोमि-नाका-

रहने पर भूतानद्यतन अर्थमें धातुसे 'लट्' लकार हो, विकल्पसे । अत्यन्तापह्ववे—अत्यन्ता-
पह्वव (अत्यन्त छिपाना) अर्थमें धातुसे 'लिट्' लकार हो । प्रश्ने चासन्नकाले—पृच्छयमान
अर्थमें लिट् लकारके विषयमें लट् लकार और लिट् लकार हो, आसन्नकालमें । (पञ्चवर्षा-
भ्यन्तरमासन्नकालम्) । लट् स्मे—'स्म'के योगमें धातुसे लिट्का अपवाद लट् लकार हो ।
अपरोक्षे च—'स्म' के योगमें भूतानद्यतन अपरोक्षकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार
हो । ननौ पृष्टप्रतिवचने—'ननु' उपपदक भूतकालिक क्रियावाची धातुसे लट् लकार हो,
पृष्टप्रतिवचन (प्रश्नका उत्तर) अर्थमें । नन्वोर्विभाषा—'न' अथवा 'नु' उपपद हो तो

अकार्यो किम् ? । न करोमि । नाकार्यम् । अहं नु करोमि । अहं
 न्वकार्यम् । पुरि लुङ् चारस्मे । ३ । २ । १२२ । पुरायोगे भूतानघतने
 वा लुङ् स्याच्चाहङ्, न तु स्मयोगे । पक्षे ययाप्राप्तम् । वसन्तीद् पुरा छात्रा ।
 अवासु, अवमन्, ऊपुर्वा । अस्मे इति किम् ? यजति स्म पुरा । 'मविष्यती'-
 त्यनुवर्तमाने—यावत्पुरानिपातयोर्लट् । ३ । ३ । ४ । अनयोर्नपपदयोर्भविष्यति लट्
 स्यात् । यावद् भुङ्क्ते । पुरा भुङ्क्ते । निपातयो किम् ? यावन्नास्यने तावद्भोक्ष्यते ।
 करणभूतया—पुरा—यास्यति । विभाषा कदाकहाँ । ३ । ३ । ५ । कदाकर्णोर्नप-
 पदयोर्भविष्यति लट् वा स्मात् । कदा, कर्हि वा भुङ्क्ते, भोक्ष्यते, भोक्षा वा । वर्त्त-
 मानसामीप्ये वर्त्तमानत्रया । ३ । ३ । १३ । वर्त्तमाने ये प्रथया उक्तास्ते वर्त्तमान-
 समीपे भूते, भविष्यति च वा स्यु । कदा आगतोऽसि ? । अयमागच्छामि, आगमं
 वा । कदा गमिष्यमि ? । एष गच्छामि, गमिष्यामि, वा । आर्शसायां भूतवच्च
 । ३ । ३ । १३ । भविष्य्यते भूतवद्वर्त्तमानवच्च प्रथया वा स्युरार्शसायाम् । देवश्चेदव-
 र्षीत्, वर्षति, वर्षिष्यति वा, धान्यमवाप्सम, वषामो, वप्सामो वा । क्षिप्रवचने लृट्

र्षमिति उभयरूपम् । अहं नु करोमि अहं नु अकार्यम् । अत्रापि पूर्ववद्वा लडिति
 भाव । पुरीति । पुरायोगे भूतानघतने वा लुङ् चाहङ्कियर्थ । वसन्ति इह पुरा
 छात्रा । अत्र पुरायोगे लट् । लट्भावे 'अवासु' अवमन् । ऊपु । यावदिति । अनयो-
 र्निपातयोर्योगे भविष्यदर्थे लडिति भाव । भुङ्क्ते—अत्र लटि 'भुङ्कोऽनघने' इत्या-
 स्मनेपदे रूपम् । विभाषेति । कदा, कर्हि, एतयोर्योगे लट् स्याद्विष्यदर्थ । लट्भावे
 लृट् लृटी भोक्षा वा भोक्ष्यते इति । आशमायामिति । भूतकाले भविष्यत् वर्त्तमान-
 च्छा प्रथया आशमायामित्यर्थ । तेन देवश्चेदिति वाक्ये अवर्षीत्-वर्षति-वर्षिष्यति,
 वषाम-वप्स्याम-अवाप्सम' इति भूतार्थे लकारप्रयमिति । अप्राप्तस्य प्राप्तुमिच्छा-
 ऽऽजमा । क्षिपेति । पूर्वविषये भूतार्थे आशमायामित्यर्थे भवति । आयास्यति-

भूतकालिक क्रियावाची धातुसं लट् लकार हो, पृष्ठप्रतिवचन अर्थमें, विकल्पसे ।
 पुरि लुङ्—'पुरा'के योगमें भूतानघतनकालिक क्रियावाचा धातुमें 'लुङ्' लकार हो, विकल्पमें-
 और लट् भी हो । किन्तु 'स्म' के योगमें नहीं हो । यावत्पुरा—'यावत्' और 'पुरा' निपातके
 योगमें लट् लकार हो । विभाषा कदाकहाँ—'कदा' और 'कर्हि' के योगमें भविष्यत् अर्थमें
 धातुमें लट् लकार हो, विकल्पमें । वर्त्तमानसामीप्ये—वर्त्तमान कालमें जो प्रत्यय कहे गये
 हैं, वे वर्त्तमानके समीप भूत और वर्त्तमानके समीप भविष्यत् कालमें भी हैं, विकल्पसे ।
 आर्शसायां—आशसा (अश्राप्तकी प्राप्तीच्छा) गन्धमान हो तो, भविष्यत् कालसे भूतवत्
 तथा वर्त्तमानवत् प्रत्यय हो, विकल्पसे । क्षिप्रवचने—आशसा गन्धमान हो तो, क्षिप्र पर्याय

।३।३।१३३। क्षिप्रपर्याये उपपदे पूर्वविषये लृट् स्यात् । वृष्टिश्चेत्क्षिप्रमाशु त्वरितं वा आयास्यति, शीघ्रं धान्यं वप्स्यामः । आशंसावचने लिङ् ।३।३।१३४। आशंसावाचिन्युपपदे भविष्यति लिङ् स्यात्, न भूतवत् । गुरुश्चेदुपेयाद् आशंसे अधीयीय, हेतुहेतुमतोलिङ् ।३।३।१५६। भविष्यत्यर्थे हेतुहेतुमतोलिङ् वा स्यात् । कृष्णं नमेच्छेत्सुखं यायात् । कृष्णं नंस्यति चेत्सुखं यास्यति । (भविष्यत्येवेप्यते ।) नेह-हन्तीति पलायते । इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ ।३।३।१५७। इच्छार्थेषूपपदेषु घातोलिङ्लोटौ वा स्तः । इच्छामि भुञ्जीत, भुङ्क्ता वा भवान् । एवं कामये, प्रार्थये । (कामप्रवेदने इति वक्तव्यम्) । नेह, इच्छन्करोति । लिङ् च ।३।३।१५९। समानकर्तृकेषु इच्छार्थेषु उपपदेषु घातोलिङ् स्यात् । 'भुञ्जीये'तीच्छति । 'विधिनिमन्त्रणे'ति लिङ् । विधिः-प्रेरणं, मृत्यादेर्निऋष्टस्य प्रवर्तनम् । यजेत । निमन्त्रणं-नियोगकरणम्, आवश्यकं श्राद्धभोजनादौ दौहित्रादेः प्रवर्तनम् । इह भुञ्जीत । आमन्त्रणं-कामचारानुज्ञा । इहाऽऽसीत । अघीष्टः-सत्कारपूर्वको व्यापारः । पुत्रमध्यापयेत् । संप्रश्नः-संप्रधारणम् । किं भो वेदमधीयीय, उत तर्कम् ? । प्रार्थनं-याचना । भो भोजनं लभेय । एवं लोट् । प्रैषातिसर्गप्राप्तकालेषु अत्याश्च ।३।३।१६३। एष्वर्थेषु कृत्यप्रत्ययाः स्युः । चाक्षोट् । प्रैषो-विधिः । अतिसर्गः-कामचारानुज्ञा । भवता यष्टव्यम् । चाल्लोटोऽनुकर्षणं

वप्स्यामः । इति लृड्लकारः । आशंसेति । साक्षादाकाङ्क्षावाचिन्युपपदस्य प्रयोगे तु भविष्यदर्थे लिङ् स्यात्, भूतवच्चनेति भावः । उपेयात्, अधीयीय, अत्र लिङ्गिति भावः । प्रैषातिसर्गेति । शिष्यद्विवेशधार्थं प्रैषग्रहणं, कृत्या इत्यनेन तदधिकारस्याः प्रत्ययाः उपलक्ष्यन्ते । चकाराक्लोट् इति । यष्टव्यम् । तद्यति तव्ये वा रूपम् ।

उपपदक रहने पर भविष्यत् कालमें लट् लकार ही । आशंसावचने-आशंसावाचक उपपद रहने पर भविष्यत् कालमें 'लिङ्' लकार ही हो, न कि भूतवत् प्रत्यय हो ।

हेतुहेतु-हेतुहेतुमद्भाव (कार्यकारणभाव) गम्यमान हो तो भविष्यत् कालमें लिङ् लकार ही, विकल्पते ।

इच्छार्थेषु लिङ्लोटौ-इच्छार्थे उपपद रहने पर लिङ् और लोट् लकार ही, विकल्पते । कामप्रवेदने-कामप्रवेदन (दूसरोंके प्रति अपना अभिप्राय प्रकटीकरण) अर्थमें ही लिङ् लोट् ही ऐसा कहना चाहिये । लिङ् च-समानकर्तृक इच्छार्थक धातु उपपदमें रहे तो लिङ् लकार ही । विधिनिमन्त्रणेति-(इसका अर्थ और विवरण पृ० १५० में देखो) । प्रैषातिसर्ग-प्रैषादि अर्थोंमें (कथ्यमाण) कृत्य प्रत्यय दो और चकाराए लोट् भी हो ।

प्रातःकालार्थम् । भवान् यजताम् । अहं कृत्यवृत्तश्च ।३।३।१६९। अहं कृत्यप्रत्यय स्यात्प्रत्ययश्च । चालिङ् । त्व कन्या षडे । शक्ति लिङ् च ।३।३।१७२। शक्तौ लिङ् स्यात् चाल्कृत्या । त्व भारं षडे । धातुसम्बन्धे प्रत्ययाः ।३।४।१। धातुर्थानां सम्बन्धे यत्र धातो प्रथया उक्तास्ततोऽन्यत्रापि स्यु । तिङन्तवाच्यक्रियाया प्राधान्यात्तद्रुरोधेन गुणभूतक्रियावाचिभ्य प्रत्यया । षसन्ददर्श । भूते लट् । अतीतवासकर्तृ कर्तृकं दर्शनमित्यर्थः । सोमयाज्यस्य पुत्रो भविता । सोमेन यज्यमाणो य पुत्रस्तत्कर्तृकं भवनम् । क्रियासमभिहारे लोट्, लोटो, हिरण्यै, धा च तध्वमोः ।३।४।२। पौनपुन्ये, शृणार्थे च धोत्ये धातोर्लोट् स्यात् । तस्य च हिस्वो स्त । तिङामपवादः । तो च हिस्वो, -क्रमेण परस्मैपदाऽऽत्मनेपदसहो स्त, तिङ्मङ्गौ च । तध्वमोर्विषये तु-हिस्वो वा स्त ॥ पुष्पैकवचनसंज्ञे नानयो-रतिदिश्येते, हि-स्वविधानसामर्प्यात् । तेन सकलपुरुषवचनविषये परस्मैपदिभ्यो हि, -कर्तरि, आत्मनेपदिभ्य स्तो—माषकर्मकर्तृषु । समुच्चयेऽन्यतरस्याम्

लोट् दर्शयति—यजतामिति । अहं इति । अहार्थं कृत्यप्रत्ययस्तुच्प्रत्ययश्च भवति । चकारालिङ्गपि । षहेरिति लिङो मध्यमस्यैकवचनम् । शकौति । षक्यार्थं गम्ये लिङ् चाल्कृत्या । त्वं भारं षहेरत्रापि लिङि मध्यमस्यैकवचनम् । भारं चोद्धृत्वा षवनेनोसीत्यर्थः । भाविति । धातुसम्बन्धेन धातुर्थो लक्ष्यते । धात्वोः संबंध इति विग्रहस्यन्यस्य द्विनिष्ठाद् धात्वोरित्येव विग्रहः । काले इति गम्यते । 'वर्तमानसनीष्ये' इत्यादिसूत्रेपरिमन् काले ये प्रत्यया उक्तास्ते धात्वर्थयो स्यन्धे गम्ये ततोऽन्यस्मिन्नपि काले स्फुरिति यावत् । तथा च 'यसन् ददर्श' इत्यत्र लडादेशात् शतृप्रत्यय भूतकाले इति सिद्धं भवति । अतीतो यो वासस्तस्य च कर्ता तत्कर्तृक दर्शनमिति स्पष्टार्थः । क्रियासमभिहारेति । पौनपुन्य शृणार्थश्च क्रियासमभिहारस्तस्मिन्धोत्ये, तध्वमो परतो लोटो हिस्वाभावेनाविति भावः । समुच्चय इति । समुच्चयस्तु अनेकक्रियाणाम् ।

अहं कृत्यवृत्तश्च—योग्य कर्ता गम्यमान हो तो धातुसे कृत्य प्रत्यय और वृच् प्रत्यय हो तथा चकारात् लिङ् लकार भा हो । शक्ति लिङ्—शक्ति भय गम्यमान हो तो 'लिङ्' लकार हो और चकारात् कृत्यप्रत्यय भी हो । धातुसम्बन्धे प्रत्यया,—धातुर्थोका सम्बन्ध गम्यमान हो तो जिस निम कालमें जो-जो प्रत्यय कहे गये हैं वे प्रत्यय वसते निम कालमें भी हों ।

क्रियासमभि—पौनपुन्य (बारम्बार) और शृण (अतिशय) अर्थ धोत्य हो तो धातुसे लोट् लकार हो । और उक्त लोट्के स्थानमें तिङापवाद 'हि' और 'त्व' आदेश हो तथा वे 'हि' और 'त्व' क्रमसे परस्मैपदसहक, आत्मनेपदसहक और तिङ्लसहक भी हों एव 'त' और 'ध्वम्'के विषयमें 'हि' 'त्व' आदेश विकल्पते हों । समुच्चये—अनेक क्रियाओंका समुच्चय धोत्य हो तो पूर्वोक्त कार्य विकल्पते हों ।

।३।४।३। अनेकक्रियासमुच्चये द्योत्ये प्रागुक्तं वा स्यात् । यथाविध्यनुप्रयोगः पूर्वस्मिन् ।३।४।४। आद्ये लोटविधाने लोटप्रकृतिभूत एव धातुरनुप्रयोज्यः । समुच्चये सामान्यवचनस्य ।३।४।५। समुच्चये लोटविधौ सामान्यार्थस्य धातोरनुप्रयोगः स्यात् । अनुप्रयोगाद्ययायथं लडादयस्तिवाद्यश्च । ततः संख्याकालयोः, पुरुषविशेषार्थस्य चाभिव्यक्तिः । (क्रियासमभिहारे द्वे वाच्ये ।) याहि-याहीति-याति । पुनः पुनरतिशयेन वा यानं ह्यन्तस्यार्थः । एककर्तृकं वर्तमानं यानं 'याती'-त्यस्य । 'इति'शब्दस्तु अभेदान्वये तात्पर्यं प्राहयति । एवं—यातः । यान्ति । यासि । यायः । याय । यात यातेति यूयं याय । याहि-याहीत्ययासीत् । यास्यति वा । अधीष्वाधीष्वेत्यधीते । 'ध्वं' विषये पक्षे—अधीष्मधीष्मिति यूयमधीष्वे । समुच्चये तु—सकृन्पिच धानाः खादेत्यभ्यवहरति । अन्नं भुङ्क्त्व दाधिकमास्वादस्वेति—अभ्यवहरते । तध्वमोस्तु—पिबत खादतेति—अभ्यवहरय । भुङ्क्वमास्वादध्वमिति—अभ्यवहरध्वे । पक्षे हिस्वौ । अत्र समुच्चयमानविशेषाणामनुप्रयोगार्थेन सामान्येनाभेदान्वयः । पक्षे—सकृन् पिबति । धानाः खादति । अन्नं

प्रागुक्तमिति । लोट् लोटो हिस्वौ तध्वमोर्विषये इत्यर्थः । यथाविधीति । विधिमनुस्येति 'यथाविधि' । समुच्चय इति । वचनमर्थोऽत आह—सामान्यार्थस्येति । क्रियेति । क्रियासमभिहारं पौनःपुन्ये मृशार्थं च धातोर्द्वे वाच्ये, द्वित्वं वाच्यमित्यर्थः । याहि याहीति । भाष्ये इतिशब्दस्य दर्शनादिति भावः । एककर्तृकेति । यातीति यानकर्तृस्तदेकत्वस्य च प्रतीतेरिति भावः अभेदान्वये इति । तथा च पुनः पुनरतिशयेन वा यानं तदारणकमेककर्तृकं वर्तमानं यानमित्यर्थः । तिङन्तेषु सर्वत्र क्रियाविशेष्यक एव बोधः इति सिद्धान्तादेवमुक्तिः । एवमिति । याहि याहि इति यातः । याहि याहि इति यान्ति । एवं सकलपुरुषवचनेषु अवसेयमित्यर्थः । याहि याहीति ययौ । याहि याहीति याता । याहि याहीति यास्यति । याहि याहीति यात् । लोपमध्यमपुरुषवहुवचनतादेशविषये लोटो हि भावविकल्प उक्तः । तत्र हि भावपक्षे याहि याहीति यूयं यातेति सिद्धवत्कृत्याभावपक्षे आह—यात यातेति यूयं यातेति । याहि याहीति अयात्-यायात् । लुङ्आह—याहि याहीत्ययासीत्—अयास्यद्वेति । अधीष्वाधीष्वेति अधीते । अधीष्व अधीष्वेति यूयम् अधीष्वे । स्वादेशाभावे । अधीष्मधीष्मिति विप्रहः । समुच्चये उदाहरति—सकृन्ति । अत्र इति शब्देन समुच्चयो गम्यते । तध्वमो रुदाहरति

यथाविध्यनु—क्रियासमभिहार अर्थमे लोटका विधान होने पर उस लोटके प्रकृतिभूत धातुका ही अनुप्रयोग हो ।

समुच्चये—समुच्चय अर्थमे लोट विधान होनेपर सामान्यार्थवाची धातुका अनुप्रयोग हो ।

क्रियासमभिहारे—पौनःपुन्य और मृशार्थ बोत्य हो तो लोटन्त धातुको द्वित्व हो ।

भुङ्क्ते । दाधिकमास्वादते । एतेन—

‘पुरीमवस्कन्द, लुनीहि नन्दनं, मुपाण रत्नानि, हरामराङ्गना ।
विगृह्य चक्रे नमुचिद्विपा बली, य इत्यमस्वास्थ्यमहद्विधं विव’ ॥

—इति (माघपद्यम्) व्याख्यातम् । अथस्कन्दन-लवनादिरूपा भूतानघतन परीक्षा एककर्तृका अस्वास्थ्यक्रियेत्यर्थान् । ‘इह पुनः पुनश्चस्कन्देत्यादिरर्य’ इति व्याख्यानं भ्रममूलकमेव, द्वितीयसूत्रे ‘क्रियासमभिहारे’ इत्यस्याननुवृत्तेः । ‘पुरीमवस्कन्दे’त्यादि मध्यमपुरुषैकवचनमित्यपि केषांश्चिद् भ्रम एव, पुरुषवचनमर्धे नेत्युक्तत्वात् ॥ इति लकारार्थप्रकरणम् ॥

॥ इति मध्यसिद्धान्तकौमुद्यां तिष्ठन्तप्रकरणम् ॥



पठे हिस्वी षोष्वी । शेष सुलभम् । एतेनेति । ‘समुच्चयेऽन्यतरस्यामि’ति ‘समुच्चये सामान्यवचनस्ये’ति च सूत्रद्वयेन तदुदाहरणप्रदर्शनेन च ‘पुरीमवस्कन्दे’दित्यादि माघकाम्यस्यं श्लोकवाक्य व्याख्यातमित्यर्थः । पुरीमवस्कन्देति । बली=रावण, नमुचिद्विपा = इन्द्रेण सह, विगृह्य = विरोधं प्राप्य, पुर्याः=भमरावत्या, अवस्कन्दन पीडन, नन्दनघनस्य लवन, रत्नानां भ्रौपणम्, भमराङ्गानां हरणमित्येव प्रकारेण, अहद्विधम्=अहन्यहनि, अस्वास्थ्य चक्रे कृतवानित्यन्वयः । इत्थं शब्द इति पर्यायो-ऽवस्कन्दनादिक्रियाविशेषाणामस्वास्थ्यक्रियासामान्येऽभेदं ग्राहयति । फलितमाह- अवस्कन्दनलवनादिरूपेति । इति तिष्ठन्तप्रक्रिया समाप्ता ।



पुरीमवस्कन्द—बली रावण इन्द्रेण वैरकर स्वर्गको घेर लिया और नन्दन घनघो करवार उजार/ बाला, रत्नोंको चुरा लिया तथा देवाङ्गनाओंका (भी) अपहरण किया इसप्रकार घसने दिन-रात स्वर्ग को अस्वस्थ (अस्त-व्यस्त) कर डाला ।

इस प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें लकारार्थप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ पूर्वकृदन्तम्

तत्र कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

धातोः । ३।१।११। आ तृतीयाध्यायान्तं ये प्रत्ययास्ते धातोः परे स्युः ।
 'कृदतिङ्' इति कृतमंशा । वाऽस्वरूपोऽग्निव्याम् । ३।१।१४। अस्मिन्धात्वधिकारे-
 ऽस्वरूपोऽपवादः प्रत्यय उत्सर्गस्य बाधको वा स्यात्, स्व्यधिकारोक्तं विना ।
 कृत्याः । ३।१।१५। 'ण्वल्लुच्चावित्यतः प्राक् कृत्यसंज्ञाः स्युः । कर्त्तरि कृत्
 ३।४।६७। कृत्यप्रत्ययः कर्त्तरि स्यात् । इति प्राप्ते । तयोरेव कृत्यक्खलर्थाः
 । ३।४।७०। एते भावकर्मणोरेव स्युः । तव्यत्तव्यऽऽनीयरः । ३।१।१६। धातोरेते
 स्युः । एधितव्यम्, एधनीयं त्यया । भावे औत्सर्गिकमेकवचनं, क्लीबत्वं च ।
 चेतव्यधयनीयो वा धर्मस्त्वया । (कैलिमर उपसंख्यानम्) पचेलिमा मापाः ।

धातोः । आतृतीयेति । आतृतीयाध्यायपरिसमाप्तेरित्यर्थः । तत्र भाष्ये स्पष्टम् ।
 एधितव्यम् । पृथ वृद्धौ धातुतः 'धातोः' इत्यनेन धातोः परेऽत्र भवितव्यतां विधाय
 'कृदतिङ्' इत्यनेन कृत्यसंज्ञायां 'कृत्याः' इत्यनेन कृत्यसंज्ञायां 'कर्त्तरि कृत्' इति
 कर्त्तर्यर्थं प्राप्ते 'तयोरेव कृत्यक्खलर्थाः' इत्यनेन अकर्मकाद् धातोर्भावे सकर्मकाश्च
 धातोः कर्मणि कृत्यक्खलर्थानां प्राप्तौ सत्याम् 'तव्यत्तव्यानीयरः' इत्यकर्मकादेव
 धातोर्भावे तव्यति कृते, तकारस्य 'हलन्त्यम्' इतीसंज्ञायां 'तस्य लोपः' इति
 लोपे 'पृथ् तव्य' इति जाते 'आर्धधातुकं दोषः' इति तव्यत्त आर्धधातुकसंज्ञायाम्
 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' इति द्विहागमे 'एधितव्य' इति जाते 'कृत्तद्धितसमासाश्च'
 इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'लयात्प्रातिपदिकात्' इति स्वादिप्राप्तौ प्रथमैकवचने सौ
 समागते 'भावे औत्सर्गिकं क्लीबत्वम्' इति क्लीबत्वात् 'धतोऽम्' इति सोरमि,
 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च कृते 'एधितव्यम्' इति रूपम् । पचेलिमा मापा इति ।
 पच्धातोः 'तयोरेव कृत्यक्खलर्थाः' इति कर्मणि, 'कैलिमर उपसंख्यानम्' इति

धातोः—(यह अधिकार सूत्र है) तृतीय अध्यायकी समाप्ति पर्यन्त जो (वक्ष्यमाण
 तव्यदादि) प्रत्यय हैं, वे धातुसे परमें हों । वाऽस्वरूपो—इस धात्वधिकारमें अस्वरूप जो
 अपवाद प्रत्यय, यह उत्सर्गका बाधक हो, विकल्पसे, स्व्यधिकारोक्त (प्राययों) को छोड़कर ।
 कृत्याः—'ण्वल्लुच्ची' सूत्रसे पूर्व उक्त प्रत्यय कृत्यसंज्ञक हों । कर्त्तरि कृत्—कृत्यस्वरूप कर्त्तरि
 हों । तयोरेव कृत्यक्—कृत्य प्रत्यय, क्त प्रत्यय और खलर्थ प्रत्यय आव और कर्ममें ही हों ।
 तव्यत्तव्या—तव्यत् प्रत्यय, तव्य प्रत्यय और धनीयर् प्रत्यय धातुसे ही हों (भाव,
 कर्ममें) । कैलिमर—धातुसे कैलिमर् प्रत्यय हो (भाव, कर्ममें) ।

पकव्या इत्यर्थ । भिदेलिमा सरला । कर्मणि प्रथय । (वसेस्तव्यत्कर्त्तरि
णिञ्च) वगतीति वास्तव्य । कृत्यचः ८।४।२९। उपसर्गस्यानिमित्तात्परस्याञ्च
उत्तरस्य गत्यस्य नस्य णत्व स्यात् । प्रयाणीयम् । अच किम् ? प्रमम ।
(निर्विण्णस्योपसंख्यानम्) णेर्विभाषा ८।४।३०। प्राग्वत् । प्रयापणीयम् ।
प्रयापनीयम् । हलश्चेजुपधात् ८।४।३१। हलादेरिजुपधादातो परस्य कृञ्स्या-
ञ्च परस्य णो वा स्यात् । प्रक्षोपणीयम् । प्रक्षोपनीयम् । हल किम् ? प्रोहणीयम् ।
इजुपधारिण्य ? प्रयपणीयम् । इजादे. सनुम. ८।४।३२। सनुमश्चेद्भवति तर्हि
इजादेर्हन्ताद्विहितो य कृतस्यस्यैव ॥ 'इषि गतो—प्रेहणीयम् । इजादे किम् ?

वार्तिकेन केलिमर्प्रथये, ककारदेकयोरित्सन्नायां लोपे च 'पच प्लिम' इति जाते
मिलित्वा 'पचेलिम' इति कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, 'जसि, विभक्तिकार्ये च तसिदि' ।
वतेरिति । वसधातो कर्त्तरि तस्यत् स्यात् स च जिदित्यर्थ । वास्तव्य इति । वसधातो
'वसेस्तव्यत्' इति तस्यति जिद्वत्त्वे 'अत उपधाया' इति दीर्घे सौ स्ये विसर्ग रूपम् ।
कृत्यच इति । उपसर्गस्थणत्वनिमित्ताद्योञ्च तस्मात्परो य कृत्यप्रत्ययस्तस्मिन्स्यो नकार-
स्तस्य णत्वमित्यर्थ । प्रयाणीयम् । 'प्र-यो-अनीय' इति स्थिते णत्वे सौ अमि पूर्वरूपे
प्रयाणीयमिति रूपम् । निर्विण्णस्येति । उपसंख्यानं, णत्वमिति शेष । णेरिति । उपसर्ग-
स्यास्त्रिमित्तात्परस्य ण्यन्तस्याञ्च उत्तरस्य कृत्यस्य नस्य णत्वमित्यर्थ । तच्च विकल्पेन
विभाषाप्रहणात् । प्रपूर्वक्याघातोर्णौ पुकि अनीयति 'णेरनिटि' इति णेलोपे 'णेर्वि-
भाषा' इति वा णत्वे ङी अमि पूर्वरूपे 'प्रयापणीयम्' 'प्रयापनीयम्' इति रूपे ।
हलश्चेति । धातोर्विशेषणत्वेनाह—हलादेरिजुपधादानोरिति । प्रवपणीयमिति । प्रपूर्वात्
वपधातोऽनीयति 'कृत्यच' इति णत्वे सावमि पूर्वरूपे 'प्रवपणीयम्' इति । अत्र नेजु-
पधत्वात् 'हलश्च' इत्यस्य प्रवृत्ति । प्रकोपणीयम् । अत्र 'हलश्च' इति वा णत्वे 'प्रकोप-
णीयम्, प्रकोपनीयमिति' रूपद्वयमिति भाव । इजादेरिति । 'कृत्यच' इत्यनेनैव मिद्वे
'इजादे' इति विधान नियमार्थं तदेवाह—सनुमश्चेद्भवति तर्हि इजादेरेवेति । प्रेहणी-
यमिति । प्रपूर्वाद् इतिघातो अनीयति गुणे 'इदितो नुम्धातो' इति नुमि अनुस्वारे

वसेस्तव्यत्—वस् धातुसे तस्यत् प्रत्यय हो, कर्त्तारं और वह णि व भी हो ।

कृत्यच—उपसर्गात्थ निमित्तसे पर जो अच्, उससे पर जो कृत्यप्रत्ययका नकार, उसको
णकार हो । निर्विण्णस्योपसंख्यानम्—'निर्विण्ण'में णत्वका उपसंख्यान हो । णेर्विभाषा—
उपसर्गात्थ निमित्तसे पर ण्यन्तसे विहित जो कृत्यस्यो नकार, उसको णकार हो विकल्पसे ।
हलश्चेजुपधात्—हलादि और इजुपध धातुसे पर अजुत्तर कृत्य नकारको णकार हो,
विकल्पसे । इजादे—सनुम् (इजनुम्) धातुसे पर कृत्य नकारको यदि णत्व हो तो
इजादि और हलन्त धातुसे विहित हलस्य नकारको ही हो ।

‘मगि सर्पणे’ । प्रमङ्गनोग्म् । वा निसनिक्षनिन्दाम् । ८।४।३३। एषां नस्य णो वा स्यात् कृति । प्रणिमितव्यम् । न भाभूप्रकमिगमिप्यायीवेपाम् । ८।४।३४। एभ्यः कृत्वस्य णे न स्यात् । प्रभानांयम् । प्रभवनीयम् । (प्यन्तभादीनामुपसंख्यानम्) प्रभापनांयम् । कृत्यल्युटो बहुलम् । ३।३।११३।

कचित्प्रवृत्तिः, कचिदप्रवृत्तिः, कचिद्विभाषा, कचिदन्यदेव ।

विवेर्विधानं बहुधा समीक्ष्य, चतुर्विधं बाहुलकं वदन्ति ॥

स्नान्यनेन-स्नानांयं चूर्णम् । दीयतेऽस्मै-दानीयो विप्रः । ऋदुपधाच्चाऽक्लृ-
पिचृतेः । ३।१।११०। क्यप्स्यात् । वृत्-वृत्थम् । वृध्-वृद्धम् । क्लृपिचृ-
त्योस्तु-कल्प्यम् । चर्यम् । अचो यत् । ३।१।१७। अजन्ताद्घातोर्व्यस्यात् ।
चेयम् । जेयम् । ईद्यति । ६।४।६५। यति परे आतः ईत्स्यात् । गुणः । देयम् ।

परसवर्णे ‘इजादेः’ इति णत्वे सावमि पूर्वरूपे ‘प्रेह्णायमिति’ रूपम् । प्रमङ्गनीय-
मित्येजादिसाभावान्न णत्वमिति भावः । वा निसेति । उपमर्गस्थास्मिन्तात्परस्येत्या-
दिपूर्ववदवसेयम् । प्रणिमितव्यमिति । ‘प्रनिस् इतव्यम्’ इति स्थितौ ‘वानिस’ इति भा-
णत्वे उभयरूपमिद्धिः । न भाभू इति । एभ्यः कृतो नस्य न णत्वमित्यर्थः । प्रभानीयम् ।
प्रभवनीयम् । प्यन्तानामपि भादीनां णत्वं निषेधयति । उदाहरति—प्रभापनीयमिति ।
ऋदुपधादिति । ऋदुपधा यस्य धातोरिति तात्पर्यम् । क्लृपिचृतिभिन्नानामृदुपधानां
धातूनां क्प्यादित्यर्थः । कल्प्यमिति । कृप् धातोः ‘ऋहलापर्यत्’ इति ण्यति ‘पुगन्त’
इति लघूपधगुणत्वे लत्वे सौ ञमि पूर्वरूपे ‘कल्प्यम्’ इति साधु । अत्र ऋलृवर्णयो-
र्मियः सावर्ण्यत्वेऽपि न क्यप् अवलृपिचृतेरिति निषेधात् । चेयम् । घिच् चयने
धातोः ‘अचो यत्’ इति यति कृते, अनुबन्धलोपे ‘भार्धधातुकं शेषः’ इत्यार्धधातु-

वा निसनिच्च—निस-निक्ष-निन्द—एन धातुओंके नकारको णत्व हो, कृतप्रत्ययके परे विकल्पसे ।

न भाभूपू—भा-भू-पू आदि धातुओंसे पर कृत्यय नकारको णत्व नहीं हो ।

प्यन्तभादीनाम्—प्यन्त नादि धातुओंसे पर कृत्यय नकारको णत्व नहीं हो ।

कृत्यल्युटो—कृत्य प्रत्यय और ल्युट् प्रत्यय बहुल प्रकार (निम्न चार प्रकार) से हैं ।

कचित् प्रवृत्तिः—कहीं अप्राप्तमें भी प्राप्त हो जाना, कहीं प्राप्तमें भी अप्राप्त होना, कहीं विकल्पसे प्राप्त होना और कहीं इन तीनों से भी मित्र अर्थात् विकल्पमें भी नित्य ही प्राप्त हो जाना (यथा ‘तृनीयासप्तम्योर्बहुलम्’ से बहुलग्रहणात् प्राप्त नित्य अम्भाव) इस प्रकार अनेक तरहसे सूत्रोंका विधान समझकर उनके चार भेद कहे गये हैं ।

ऋदुपधा—ऋदुपध धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, क्लृप् चृद् धातुको छोड़कर ।

अचो यत्—अजन्त धातुसे यद् प्रत्यय हो । ईद्यति—‘आद्’ को ‘ईद्’ हो, यद्के परे ।

स्तेयम् । पोरदुपधात् । ३।१।९८। पवर्गान्तादुपधात् । ष्यतोऽपवाद । ञ्य
म् । लभ्यम् । आडो वि । ७।२।६५। आरु परस्य लभेर्नुम् स्यादादौ प्रत्यये ।
आलम्ब्यो गौ । उपात्प्रशंसायाम् । ७।१।६६। उपपर्वाङ्गभेर्नुम् स्थान्प्रशंसायाम् ।
उपलम्ब्य साहु । स्तुतौ किम् ? उपलभ्यु शक्य-उपलभ्य । शकिसहोश्च
। ३।१।९९। शक्यम् । गृहम् । गद्मद्वयस्यमथाऽनुपसर्गे । ३।१।१००। एभ्योऽ-
नुपसर्गेभ्यो च स्यात् । गयम् । मयम् । चयम् । (चरेराडि चाऽगुरौ) आचर्यो
देशः । अगुरौ किम् ? आचार्यो गुरु । यम्यम् । अद्यद्यप्यवयव्या गार्हापणित-
न्यानिरोधेषु । ३।१।१०१। अवशादयद्ययो निपात्यन्ते, क्रमाद् गार्हादित्वर्थेषु ।
अवद्य-पापम् । पण्य-विधेयम् । शतेन वर्या कन्या । चह्यं करणम् । ३।१।१०२।
वद्यमिति यत्प्रययान्तं निपात्यन्ते, करणोऽर्थे । बहन्त्यनेनेति-वर्षं शक्यम् । वाद्यम-

काले, 'सावन्वागुकाधंघातुकयो ' इति गुणे कृद्गन्तव्यात्प्रतिपदिकरत्वे सौ सोरमि पूर्वरूपे
च तस्सिद्धिः । आङो वीति वि इत्यनेन यकारादिप्रत्यये इति लक्षयते । अत आह यकारादौ
प्रत्यये इति । आलम्ब्यो गौरिति । आङ्पूर्वाङ्गमघातो 'पोरदुपधात्' इति यति 'आङो
वि' इति यकारादिप्रत्यये परत नुमि अनुस्वारे परसवर्णे रत्वे विसर्गे 'आलम्ब्य'
इति रूपम् । उपादिति । प्रशंसायानुपपूर्वाङ्गभेर्नुमित्यर्थः । उपलम्ब्य- । उप-लम्ब्य
घातोः 'पोरदुपधात्' इति यति 'उपात्' इति नुमि अनुस्वारे परसवर्णे सौ रुवे
विसर्गे- 'उपलम्ब्य' इति सिद्धम् । शकीति । यत्प्रयादित्यर्थः । शक्यम्-सह्यम् ।
शक्यसहोर्वाति सावमि पूर्वरूपे रूपे भवत । गद्मदिति । यत्प्रयादिति शेषः । गद्यम्-
मद्यम्-चयम्-यति रूपाणि भवन्ति । चरेरिति । आङ्पूर्वाङ्गमघातोः गुहमिच्छार्थं यत्प्रया-
दिति भावः । आचर्य इति । आ-चर-अस्मात् 'चरेराडि' इति यति सौ रुवे विसर्गे
रूपम् । गुरुवाचरत्वे तु- 'श्रुहृद्यो ' इति ष्यति उपधावृद्धौ सौ रुवे विसर्गे 'आचार्य'
इति रूप स्यात् । यद्गघातोर्वाति यम्यमिति रूपम् । अवयेति । यद्गन्ता निपात्यन्ते इति
भावः । अवद्य-पण्य-वर्या-इत्यादि । वद्यमिति । करणार्थं यद्विधीयते । बहन्त्यनेनेति
वद्यमिति । वाद्यमिति । 'श्रुहृद्यो ' इति ष्यति उपधावृद्धौ 'वाद्यम्' इति रूपम् ।

पोरदुपधात्—पदान्त अनुपध धातुते यत् प्रत्यय हो । ('यत्'का यह ष्यवादक) है ।

आङो वि—'आङ्'मे पर 'लभ्' धातुको नुम् हो, यकारादि प्रत्ययको विवक्षार्थे ।

उपात्प्रशं—प्रशंसा अर्थ गन्वमान हो सो 'ल' उपसर्गसे पर 'लभ्' धातुको नुम् हो,
यकारादि प्रत्ययको विवक्षार्थे । शकिसहोश्च—'शक्य' और 'सह्य' धातुते 'यत्' प्रत्यय हो ।
गद्मद्वयस्य—उपसर्गरहित गदादि धातुभोते 'यत्' प्रत्यय हो । चरेराडि—'आङ्' उप-
सर्गसे पर 'चर्' धातुसे 'यत्' प्रत्यय हो, अगुव (गुरुसे मिल) अर्थ । अद्यद्यप्य—अवद्य,
पण्य आदि शब्द गद्य (विद्या) आदि अर्थमें निपातन हो । चह्यं करणम्—'यत्' यह

न्यत् । अर्थः स्वामिवैश्ययोः । ३।१।१०३। 'अर्थ' इति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, स्वामिवैश्ययोरर्थयोः । अनयोः किम् ? आर्यो ब्राह्मणः । उपसर्गा काल्या प्रजने ३।१।१०४। उपसर्गेति यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, गर्भग्रहणे प्रासकाल्य चेदित्यर्थः । उपसर्गा गौः । गर्भाधानार्थं, वृषभेणोपगन्तुं योग्येत्यर्थः । प्रजने काल्येति किम् ? उपसर्गा कामी । प्रासव्येत्यर्थः । अजर्घं सङ्गतम् । ३।१।१०५। अजर्घमिति नञ्पूर्वाजोर्घन्तेत्यत्प्रत्ययान्तं निपात्यते, सङ्गतं विशेष्यं चेत् । न जीर्वतीत्यजर्घम्—सतां सङ्गतम् । वदः सुपि क्यप् च । ३।१।१०६। अनुपसर्गे सुप्पुपपदे वदेर्भावे क्यप् स्यात् । चाद्यत् । व्रधोद्यम् । व्रध्वद्यम् । भुवो भावे । ३।१।१०७। भुवः क्यप् स्याद्भावे । व्रध्णो भावो-व्रध्वभूयम् । हनस्त च । ३।१।१०८। अनुपसर्गे सुप्पुपपदे हन्तेर्भावे तकारोऽन्तादेशः स्यात् । चान्क्यप् । व्रध्णो हननं-व्रध्वहत्या । पतिहस्तुशास्त्रुहृज्जुपः क्यप् । ३।१।१०९। एभ्यः क्यप् स्यात् । ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् । ३।१।११०। ह्रस्वस्य तुगागमः स्यात्पिति कृति । इत्यः । स्तुत्यः । शिष्यः । 'वृ' इति वृञो ग्रहणं, न वृहः । वृत्यः । वृहस्तु—यार्यौ ऋत्विजः । ग्राह्यः । जुष्यः । पुनः क्यवृक्तिः परस्याऽपि ष्यतो वाधनार्था । अत्र-

अर्थ इति । स्वामिवैश्ययोरित्यर्थे ऋभ्रातोर्घदन्तं निपातनम् । उपसर्गा इति । उपपूर्वात्प्रासकाल्योऽपिपात्यते । उपसर्गा—अत्र 'ऋहलोः' इति ष्यत् । अर्थमिति । न जीर्वतीत्यर्थं यदन्तं निपात्यते । व्रधोद्यमिति । व्रध्णोः 'वदः सुपि क्यप् च' इति क्यपि यजादित्वात्संप्रसारणे उक्ते 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे शुद्धे साधमि पूर्वरूपे 'व्रधोद्यम्' इति रूपम् । यदा यत्स्यात्तदा 'व्रध्वद्यम्' इति रूपम् । व्रध्वहत्या । हनृधातोः 'हनस्त च' इति यति नस्य तस्ये दापि सौ 'ह्रस्वस्य-

यत्प्रत्ययान्त शब्द करण अर्थमे निपातन हो । अर्थः स्वामिवैश्ययोः—स्वामी शौर वैश्य अर्थमे यत्प्रत्ययान्त 'अर्थ' शब्द निपातित हो । उपसर्गा काल्या—गर्भग्रहण प्रासकाल्य अर्थमे 'उपसर्गा' यह यत्प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो । अजर्घं सङ्गतम्—यदि संगत विशेष्य हो तो नञ्पूर्वक जुधातुसे यत्प्रत्ययान्त निष्पन्न 'अजर्घम्' यह शब्द निपातित हो । वदः—अनुपसर्गा सुगन्त उपपदक 'वद्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, चकारात् 'वद्' भी हो । भुवो भावे—अनुपसर्गा सुगन्त उपपदक 'भू' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो 'भाव' अर्थमे । हनस्त—अनुपसर्गा सुगन्त उपपदक 'हन्' धातुको तकारान्त आदेश हो, चकारात् 'क्यप्' भी हो, 'भाव' अर्थमे ।

पतिहस्तुशास्त्रुहृज्जुपः—'हृ' आदि धातुओंसे 'क्यप्' प्रत्यय हो ।

ह्रस्वस्य पिति—ह्रस्व को तुक् हो, पित और ह्रस्व प्रत्ययके परे ।

रयस्त्वत् । मृजेर्विभाषा । ३।१।११३। मृजे क्यत्वा देयात् । मृज्य । ऋहलो-
 ष्यत् । ३।१।१२४। ऋवर्णान्ताद्दलन्ताश्च ष्यत् स्यात् । चर्जो, कु घिष्ण्यतोः
 । ३।३।५२। चर्जो कृत्वं स्याद् घिति, ष्यति च । (निष्ठायामनिट इति धक्त-
 ध्यम्) तेनेह न । गर्ज्यम् । मार्ग्यं । भोरावश्यके । ३।१।१२५। उवर्णान्ता-
 दातीर्ण्यत् स्यादावश्यके । लाव्यम् । पाव्यम् ।

‘लुम्पेदवश्यम्. कृत्ये, तुं काममनसोरपि ।

समो वा हितततयोर्मांसस्य पचि युद्धघ्नोः’ ॥

अवश्यलाव्यम् । मध्यगेयप्रवचनीयोपस्थानीयजन्याप्लाव्यापात्या वा
 । ३।३।६८। एते कृत्यान्ता कर्त्तरि वा निपात्यन्ते । भवतीति भव्य । मध्यमनेन
 वा । भोज्यं मध्ये । ३।३।६९। भोग्यमन्यत् । घञोऽशब्दसंज्ञायाम् । ३।३।६७।
 न कृत्वम् । वाच्यम् । वाक्यमन्यत् । राजसूयसूर्यमृषोधरुच्यकुप्यकृष्टपच्या-

ध्यम्’ इति सुलोपे ब्रह्मपदेन समस्तत्वे ‘ब्रह्महत्या’ इति । मार्ग्यं इति ।
 मृज्यातो ‘ऋहलो’ इति ष्यति ‘मृजेर्युद्धि’ इति वृद्धौ ‘चर्जो कु’ इति कुत्वे
 ‘मार्ग्यं’ इति चाते सौ रये त्रिसर्गे रूपम् । भोरावश्यक इति । उवर्णान्ताऽण्यदिति
 भाष्यं । पाव्यमिति । मृज्यातो ‘भोरावश्यके’ इति ष्यति वृद्धावावादेशे सौ
 धमि पूर्वकत्वे ‘पाव्यमिति’ रूपम् । लुम्पेदिति । कृत्येऽवश्यम् लुम्पेत् । तु
 काममनसोरपि लुम्पेत् । हितततयो समो वा लुम्पेत् । मांसस्यापि च लुम्पेत्
 पचि युद्धघ्नोरिति । अवश्यलाव्यम् । अवश्यम् पूर्वात् लुघातो ‘भोरावश्यके’ इति
 ष्यति वृद्धौ धावादेशे साधमि रूपसिद्धि । मध्यगेवेति । कृत्यान्ता निपात्यन्ते—
 म्य इति । घञोऽशब्देति । कृष्ट्य नेतर्यं । वाच्यमिति । घञघातो ‘ऋहलोऽण्यत्’ इति

मृजेर्विभाषा—‘मृज्’ धातुसे ‘क्यप्’ हो, विकल्पसे ।

ऋहलोऽण्यत्—ऋवर्णान्त और हलन्त धातुसे ‘ण्यत्’ प्रत्यय हो ।

चर्जो कु घिष्ण्यतो—चकार अकारको कुत्व हो, घित और ष्यत् प्रत्ययके परे ।
 निष्ठायामनिट—निष्ठामे अनिट् धातुके ही चकारको कुत्व हो—देमा कहना चादिये ।

भोरावश्यके—उवर्णान्त धातुसे आवश्यक अर्थमें ‘ण्यत्’ हो ।

लुम्पेदवश्यम्—कृत्य प्रत्ययके परे ‘अवश्यम्’के मकारका, काम और मनस् शब्दके परे
 ‘लुम्’के मकारका, हित और तन शब्दके परे ‘सम्’के मकारका तथा युद्ध और घण्टप्रक
 ‘पच्’ धातुके परे ‘मांस’ शब्दके अकारका लोप हो ।

मध्यगेय—कृत्य प्रत्ययाण् मध्यगेय आदि शब्द कर्तामें निपातन हो, विकल्पसे ।
 मोक्ष्यं—प्रत्यय अर्थमें ‘भोज्य’ निपातन हो । घञोऽशब्द—‘चच्’ धातुके चकारको कुत्व नहीं
 हो, शब्दसंज्ञा को छोड़कर । राजसूयसूर्य—क्यवन्-राजसूय, सूर्य, मृषोध, क्य, कुप्य,

ऽव्यय्याः । ३।१।११४। एते सप्त क्यवन्ता निपात्यन्ते । भिद्योर्ध्वौ/नदे । ३।१।
११५। नदे किम् ? भेता । उज्झिता । पुष्यसिद्ध्यौ नक्षत्रे । ३।१।११६। अधि-
करणे क्यञ्जिपात्यते । पुष्यन्त्यस्मिन्नर्थः—पुष्यः । सिध्यन्त्यस्मिन्सिद्धयः । विपूय-
विनीयजित्या मुञ्जकल्कहलिषु । ३।१।११७। विपूयो—मुञ्जः । विनीयः—
कल्कः । जित्यो—हलिः । प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः । ३।१।११८। (छन्दसीति
वृक्तव्यम्) प्रतिगृह्यम् । अपिगृह्यम् । लोके तु—प्रतिप्राह्यम् । अपिप्राह्यम् ।
पदाऽस्वैरिवाहापक्ष्येषु च । ३।१।११९। अवग्रहं, प्रग्रहं—पदम् । अस्वैरी-
परतन्त्रः । गृह्यकाः—शुकाः । ग्रामगृह्या—सेना । आर्यैर्गृह्यते—आर्यैर्गृह्यः । तत्पक्षा-
श्रित इत्यर्थः । विभाषा कृ-वृपोः । ३।१।१२०। कृवृपोः क्यच्चा स्यात् । कृत्यम् ।
वृष्यम् । कार्यम् । वर्ष्यम् । युग्यं च पत्रे । ३।१।१२१। युग्यमिति क्यवन्तं निपा-
पात्यते, पत्रे । पत्रं—वाहनम् । योग्यमन्यत् । अमावस्यद्वन्द्वतरस्याम् । ३।
१।१२२। अमोपपदाद्वसेरधिकरणे ष्यत्, वृद्धौ सत्यां पाक्षिको ह्रस्वश्च निपा-
त्यते । अना सह वसतोऽस्यां चन्द्रार्काविति—अमावस्या, अमावास्या वा । अश्रौ

ष्यति 'अतः उपधायाः' इति वृद्धौ 'घञोः' इति प्राप्तं कृतं 'वचोऽशब्दसंज्ञायाश्च'
इति कृतवनिषेधे सावसि वाच्यमिति रूपम् । राजसूयेति । क्यवन्तानां निपातनम् ।
भिद्योर्ध्वौ । पतौ निपात्येते । पुष्यसिद्ध्याविति । अत्रापि क्यवन्तनिपातनम् । विपूयेति ।
क्यवन्तं निपातनम् । प्रत्येति । क्यप्स्यादित्यर्थः । प्रतिगृह्यम्—अपिगृह्यम् । ग्रहेः क्यपि
रूपम् । पदास्वैरोति । ग्रहेः क्यप्स्यादित्यर्थः । विभाषिता । क्यच्चेत्यर्थः । कृत्यम्—वृष्य-
मिति । अत्र क्यपि तुकि रूपमवधेयम् । युग्यमिति । वाहनार्थं निपातनम् । अमाव-

कृतपच्य और अव्यय्य शब्द निपातन हो । भिद्योर्ध्वौ नदे—क्यवन्त-भिद्य और उदय शब्द
निपातित हो, नद अर्थमें । पुष्यसिद्ध्यौ—अधिकरणमें क्यवन्त पुष्य और सिद्धय शब्द
निपातन हो । विपूयविनीय—मुञ्ज, कल्क और हलि अर्थमें क्यवन्त विपूय, विनीय और
जित्य शब्द निपातित हो ।

प्रत्यपिभ्याम्—प्रति और अपि उपसर्गों पर ग्रह धातुसे क्यप् प्रत्यय हो और यह क्यप्
छन्द (वेद) में ही ऐसा कहना चाहिये । पदाऽस्वैरि—पदादि अर्थमें 'अह्' धातुसे क्यप्
प्रत्यय हो । विभाषा कृ—'कृ' तथा 'वृष्' धातुसे क्यप् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
युग्यं च—पत्र (वाहन) अर्थमें 'युग्यं' निपातित हो । अमावस्य—'अमा' उपपदक 'वस्'
धातुसे ष्यत् तथा ष्यत्के परे वृद्धि होनेपर 'वास्' के आकारको पाक्षिक ह्रस्वामाव भी निपा-
तन हो । अश्रौ—अग्नि (धक्षिपारणार्थं स्वर्णविशेष) अर्थमें परिचाय्य, उपचाय्य (परि,
उप उपसर्गक 'वि' प्रत्यये ष्यत् धया आमादेश) और सनुद्य (सनुपसर्गक 'वह्' धातुसे

परिचाय्योपचाय्यसमूहा । ३।१।१३१। अग्नावेने माधव । कर्ता कुण्डपा-
य्यसंचाय्यौ । ३।१।१३०। क्तुविशेषे एतौ निपात्येते । कुण्डेन पीयतेऽस्मिन्
सोम—कुण्डपाय्य । सत्चीयनेऽर्सा—मद्याय्य । चित्याऽग्निचित्ये च । ३।१।१३२।
एतौ निपात्येते । निरयोऽर्ति । अग्नेध्वयनम्—अग्निचित्या ॥

इति कृदन्ते कृत्यप्रकरणम् ।

अथ कृदन्ते कृत्यप्रकरणम्

ण्वुलृञौ । ३।१।१३३। घातोरेतौ स्त । 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे । युयो-
रनाफौ । ३।१।११। 'यु' 'वु' एतयोस्नुनासिकयोरेतौ स्त । कारकः । कर्ता । नन्दि-
प्रहिपचादिभ्यो न्युणिन्यचः । ३।१।१३४। नन्यादेत्युर्प्रकादेर्णिनि पचादेर-
ध्यात् । नन्दयतीति नन्दन । जनार्दन । लवण । गणे निपातनाणत्वम् ।

न्यति । निपातनम् । नन्दाविति । अनन्यर्थे निपात्यन्ते । कृताविति । प्रत्यर्थे पुनश्चिपा-
तनम् । चित्येति । पृतावपि निपातनेन षोड्यौ । इति कृत्यप्रतिपा ।

कारकः । करोतीति कारक इति विग्रहे कृचातो 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे
'ण्वुलृञौ' इति ण्वुठि, 'कुट्' इति गत्येस्तज्ञायां एस्य 'हलन्त्यम्' इत्य-
नेनेत्संज्ञायां 'तरय' इत्यनेन लृट्पोलोपे, 'युञ्जोरनाफौ' इत्यनेन को र्दाने भका
देशे, तरय 'नार्थंभानुक शेष' इत्यार्थभानुकसंज्ञायां 'सार्थंभानुकार्थंभानुकयो'
इति गुणे प्राप्ते, सम्बाधित्वा 'अस्यो णिति' इति कृदौ, भा इति आते 'उरण्
स्परः' इति स्पर्से कृदुन्मात्प्रानिपदिक्त्वात् सौ, एत्वे विसर्गं च 'कारक' इति
रूपम् । नन्दन । दुर्नरि' सगृह्यौ, घातोऽनुबन्धलोपे, 'इदितौ नुञ्घातो' इति
नुमि, ठमि गते, निरदावन्पाद्य परे अनुस्तारे, परमवर्णे, 'नन्द्' इति आने, तस्माद्
'दित्तमति च' इति णिचि, अनुबन्धलोपे 'सनायन्त्या घातय' इति भानुसंज्ञायां
तस्माद् 'नन्दि' इति घातोः 'कर्त्तरि कृत्' इति कर्त्रर्थे 'नन्दिप्रहिपचादिभ्यो

सम्प्रसारण और दीर्घ-ये साधु (निपातन) हो ।

कर्ता कुण्डपाय्य—कृत्य अर्थमें 'कुण्डपाय्य' और 'संचाय्य' निपातित हो ।

चित्याग्नि—अप्रथावार अर्थमें—'चित्य' और 'अग्निचित्य' शब्द निपातित हो ।

इस प्रकार 'कृत्यप्रती' टीकामें कृत्यप्रकरण समाप्त हुआ ।

ण्वुलृञौ—प्राप्तये ण्वुठ् और लृच् मत्वय हो, कर्त्तरि । युञ्जोरनाफौ—अनुनासिक 'यु'
और 'वु' को, त्रसते 'अन' 'अक' आदेश हो । नन्दिप्रहि—नन्यादित्ते 'न्यु' प्रकादित्ते

प्राही । स्यायो । मन्त्री । पचः । आकृतिगणोऽयम् ॥ इगुपघञ्जाप्रीकिरः कः ।
 ॥३१११३५॥ एभ्यः कः स्यात् । क्षिपः । युधः । कृशः । झः । प्रियः । किरः ।
 आतश्चोपसर्गे ॥३१११३६॥ प्रझः । सुगलः । पाद्माध्मावेट्दशः शः ॥३११
 १३७॥ एभ्यः ञः स्यात् । पिवः । जिघ्रः । धमः । भयः । परयः । अनुपसर्गा-
 लिम्पविन्दधारिपारिवेद्युदेजिचेतिसातिसाहिभ्यश्च ॥३१११३८॥ लिम्पः ।
 विन्दः । धारयः । पारयः । वेद्ययः । उदेजयः, चेतयः । सातयः । साहयः । अनु-
 पसर्गात्किम् ? प्रलिपः । (गवादिषु विन्देः संज्ञायाम्) गोविन्दः । अरविन्दम् ।
 ददातिदघात्योर्विभाषा ॥३१११३९॥ ददः । दधः । पक्षे-वच्यमाणो णः ।
 ज्वलितिकसन्तेभ्यो णः ॥३१११४०॥ वा स्यात् । ज्वालः । ज्वलः । चालः । चलः ।
 श्याऽऽह्वयघाऽऽनुसंस्वतीणवसाऽवहलिहृष्टिगभवसश्च ३१११४१॥ अच-

व्युगिन्याच' इति ह्युप्रत्यये, लगते, 'शुबोरनाकौ' इति योरनादेशे, तस्य आर्धघात-
 कावात् 'शेरनिटि' इति णिलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धिः । प्रियः । प्रीणा-
 तीति प्रियः, इत्यत्र प्रीघातोः 'इगुपघञ्जाप्रीकिरः कः' इति के प्रत्यये, कगते, 'अचि
 श्नुघाद्भ्रुवाश्च' इति एचलि, ञलो लोपे, संयोगे, विभक्तिकार्ये च कृते तत्सिद्धम् ।
 सुगलः । सुष्टु श्लायतीति सुगलः । इत्यत्र सुपूर्वकलंघातोः 'आतश्चोपसर्गे' इति के,
 कलोपे, 'आवेच वपदेशोऽङिति' इत्यैकारस्य आत्वे 'घातो लोप इति च' इत्याकार-
 लोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते, 'सुगलः' इति रूपम् । पाठेति । कर्त्रर्थे शः
 स्यादित्यर्थः । पक्षयः । द्वाघातोः षप्रत्यये 'पाद्मा' इति परयादेशे सौ इत्वे विसर्गे
 रूपम् । जिघ्र इति । 'पाद्मा' इति घावातोः शो 'पाद्मा' इति जिघ्रादेशे सौ इत्वे विसर्गे
 रूपम् । धम इति । धमाघातोः 'पाद्मा' इति शो 'पाद्मा' इति धमादेशे सौ इत्वे विसर्गे
 रूपम् । भय इति । धेट् घातोः शोऽयादेशे इत्वे विसर्गे रूपम् । अनुपसर्गादिति । शः
 स्यादित्यर्थः । लिम्पः, विन्द इति । 'अनुपसर्गाव' इति शो सौ इत्वे विसर्गे रूपे भवतः ।
 शोदेश्यो ण्यन्तेभ्योऽपि शाप्रत्यये गुणोऽयादेशे सौ इत्वे विसर्गे रूपाणि । गवादिष्विति ।
 णः स्यादित्यर्थः । गोविन्दः-अरविन्दम्-शो प्रत्यये रूपे इति ज्ञेयम् । ददाति । शो वा
 इत्यर्थः । पक्षे णः । 'ददः दधः' इति शो रूपम् । ज्वलितेति । पक्षे पचाद्यच् । णप्रत्यये

'णिनि' गौर पचादिते 'अच्' प्रत्यय हो । इगुपघ-इगुपघ धातु तथा शा, प्री और छ धातु-
 लोसे 'क' प्रत्यय हो । आतश्चोपसर्गे-उपसर्ग उपपदक आदन्त धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।
 पाद्माध्मा-पा, प्रा, ध्मा, घट् और दृश् धातुलोसे 'श' प्रत्यय हो । अनुपसर्गा-अनुपसर्गाक
 लिम्प आदि धातुलोसे 'श' प्रत्यय हो । गवादिषु-गवादि उपपदक 'विन्द' धातुसे 'श'
 प्रत्यय हो, संज्ञाम् । ददातिदघात्योः-'दा' और 'धा' धातुसे 'श' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 अवलितिकसन्ते-अवलादि कसन्त धातुसे 'ण' प्रत्यय हो, विकल्पसे । श्याह्वयघा-श्याहादि

श्याय । धात्-दाय । घाय । व्याघ । आघाव । सघाव । अत्याय । अत्रसायः
 अघदार । लेह । श्लेष । श्याम । विभाषा प्रहः । ३।१।१४३। व्यवस्थित
 विभाषेयम् । तेन-जलचरे ग्राह । ज्योतिषि-प्रह । गेहे कः । ३।१।१४४। गृह्णाति
 धान्यादिक्कमिति—गृहम् । शिषिपनि षुन् । ३।१।१४५। क्रियाकौशलं
 शिल्पम्, तद्वत्कर्त्तरि षुन् स्यात् । पः प्रत्ययस्य । १।३।६। प्रत्ययस्य आदि प
 इत्स्यात् । (नृत्तिस्निरङ्गिभ्य एच) नर्त्तक । खनक । (असि, अकेऽने
 च रञ्जेर्नलोपो घञ्च्य) । रजक । रजकी । गस्यकन् । ३।१।१४६।
 गायतेस्यकन् स्यात् । गायक । ष्युट् च । ३।१।१४७। गायन ।
 प्रसृत्व. समभिहारे षुन् । ३।१।१४९। एभ्यः समभिहारे षुन्स्यात् ।

उपधाया दीर्घ 'ज्वाल' तदभावे ज्वल इति । 'वालः, चल' अत्रापि घा णे रूपम् ।
 अवश्याय । श्याधातोः 'श्याद्घेति' इति णप्रत्यये 'आतो युक्' इति युकि सौ ह्ये विसर्गे
 रूपम् । दाय, घाय, अत्रापि णप्रत्यये युकि सौ ह्ये विसर्गे रूपम् । व्याघ । यणि
 णप्रत्यये 'अत उपधाया 'ह्युपधादीर्घे सौ ह्ये विसर्गे रूपम् । आघाव -अत्यायः अत्र
 णौ वृद्धौ रूपम् । शेष सुकरम् । विभाषेति । णो वा इत्यर्थः । पचेऽप् । प्रह -ग्राह । णे
 उपधादीर्घ इति भावः । शिषिपनाति । शिषपमस्यास्तीति शिषपी तस्मिन् षुनिरत्यर्थः ।
 पः प्रत्ययस्य । इत् स्यादित्यर्थः । नर्त्तक, खनक । नृत्तवनयोः 'शिषिपनि' इति षुनि 'पः
 प्रत्ययस्य' इति ह्ये षलोपे 'युवोरनाकौ' इत्यकि पुगन्तगुणे सौ ह्ये विसर्गे रूपम् ।
 असीति । एतेषु परेषु रञ्जेर्नलोप । रजक । रज्ज् धातो 'शिषिपनि' इति षुनि 'पः
 प्रत्ययस्य' इति ह्ये षलोपे 'युवोरनाकौ' इति अकारदेशे 'असि' इति नलोपे सौ ह्ये
 विसर्गे रूपम् । गस्यकमिति । गायतेस्यकन् कर्त्तरि । गाधातो घकनि सौ ह्ये विसर्गे
 'गायक' इति रूपम् । ष्युट् चेति ॥ कर्त्तरि ष्युटपि गायतेरित्यर्थः । गाधातोऽप्युटि
 'युवो' इत्यनि 'आतो युक्' इति युकि सौ ह्ये विसर्गे 'गायन' इति रूपम् । प्रसृत्व
 इति । पीन-पुन्य मृदार्यश्च क्रियासमभिहार । प्रु-सृ-रु-पृभ्यो षुनि 'युवो' इत्यकि

धातुबोसे नित्य 'ण' प्रत्यय हो । विभाषा-प्रह' धातुसे 'ण' प्रत्यय हो विकल्पने । गेहे क -
 'गिह' कर्ता हो तो प्रह धातुसे 'क' प्रत्यय हो । शिषिपनि—शिष्यी कर्ता हो तो धातुसे
 'षुन्' प्रत्यय हो । पः प्रत्ययस्य-प्रत्यय सवन्धी आदि षकारको इत्मशा हो । नृत्तिस्निर-
 'नृत्' धातु, 'खन्' धातु और 'रज्ज्' धातुबोसे ही 'षुन्' प्रत्यय हो ।

असि अकेऽने—'रज्ज्' धातुके नकारका लोप हो, अक् और अन् प्रत्ययके परे ।

गस्यकन्—'गी' धातुसे 'कन्' प्रत्यय हो । ष्युट् च—'गी' धातुसे 'ष्युट्' प्रत्यय सौ
 हो । प्रसृत्वः—'प्रु, सृ तथा रू' धातुबोसे 'षुन्' प्रत्यय हो, साधुकारी अर्थमें ।

सममिहारग्रहणेन साधुकारित्वं लक्ष्यते । प्रवकः । सरकः । लवकः । आशिपि च । ३।१।१५०। आशिपि वुन् स्यात् । जीवतात्-जीवकः । तत्रोपपदं सप्तमी-स्थम् । ३।१।१२। सप्तम्यन्ते पदे-‘कर्मणी’त्यादौ-वाच्यत्वेन स्थितं यत् कुम्भादि, तद्वाचकं पदमुपपदसंज्ञं स्यात् । कर्मण्यण् । ३।२।१। कर्मण्युपपदे धातोरण् स्यात् । कुम्भं करोतीति-कुम्भकारः । आतोऽनुपसर्गे कः । ३।२।३। कर्मण्युपपदे आदन्तादातोरनुपसर्गात्कः स्यात् । नाऽण् । अणोऽपवादः । गोदः । कम्बलदः । अनुपसर्गे किम् ? गोसंदायः । (मूलविभुजादिभ्यः कः) मूलानि विभुजतीति मूलविभुजो रयः । आकृतिगणोऽयम् । महीध्रः । कुध्रः ॥ सुपि स्थः । ३।२।४। सुवन्ते उपपदे स्याधातोः कः स्यात् । समस्थः । विपमस्थः ‘सुपो’ति योगविभागा-दन्यस्मादपि । द्वाभ्यां पिवतीति-द्विपः । अम्बाम्ब-गो-भूमि-सव्या-प-

गुणेऽयादेशेऽवादेशे रपरत्वे यथायथं च सौ रत्वे विसर्गे ‘प्रवकः-सरकः-लवकः’ इति रूपाणि । आशिपि चेति । वुन् स्यादित्यर्थः । जीवतादिति आशिपः स्फोरणाय । जीव-धातोर्वुन्यकि सौ रत्वे विसर्गे रूपम् । अग्रे उपयुक्तामुपपदसंज्ञां विधित्सन्नाह-तत्रोपपदमिति । कुम्भकारः । अत्र कुम्भ इति कर्मणि उपपदे कृधातोः ‘कर्मण्यण्’ इति अणि, णगते, ‘अचो ङिति’ इति वृद्धौ, ‘उरण् रपरः’ इति रपरत्वे, कार इति जाते, ‘कुम्भ अस् कार’ इत्यत्र ‘गतिकारकोपपदानां कृद्धिः सह समासवचनं प्राक्सुब्रुत्पत्तेः’ इति सुब्रुत्पत्तेः प्रागेव ‘उपपदमतिङ्’ इति समासे समासत्वात् ‘कृत्तद्धितसमानाश्च’ इति ‘कुम्भ अस् कार’ इत्यस्य प्रातिपदिकत्वात् ‘सुपो धातुप्रा-तिपदिकयोः’ इति असो लोपे, एकदेशविकृतन्यायेन समुदायारसौ, रत्वे विसर्गे च ‘कुम्भकारः’ इत्यस्य सिद्धिः । सुपि स्थ इति । सुप्युपपदे स्याधातोः क इत्यर्थः । समस्थ इति । समं तिष्ठतीत्यर्थः । समं स्याधातोः ‘सुपि स्थः’ इति कप्रत्यये सुब्लुकि ‘आतो लोप इटि च’ इति आलोपे सौ रत्वे विसर्गे ‘समस्थः’ इति रूपम् । एवं विपमस्थः । अत्रापि क इति भावः । सुपि इति योगो विभज्यते तेन द्वाभ्यां शुण्ड-दृण्डाभ्यां पिवति इत्यर्थे द्वाभ्यां पाधातोः ‘सुपि’ इति योगविभागात्कप्रत्यये ‘आतो धातोः’ इत्यालोपे सुब्लुकि सौ रत्वे विसर्गे ‘द्विपः’ इति रूपम् । अम्बाम्बेति । एभ्य-

आशिपि च—आशीविपर्यार्थं वृत्ति धातुसे ‘वुन्’ प्रत्यय हो (कर्तामें) ।

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त ‘कर्मणि’ इत्यादि पदोंमें वाच्यत्वेन स्थित जो कुम्भादि, तद्वाचक जो पद, उसको उपपदसंज्ञा हो । कर्मण्यण्—कर्म उपपद रहनेपर धातुसे अण् प्रत्यय हो ।

आतोऽनुप—कर्म उपपद रहनेपर अनुपसर्गक आदन्त धातुसे ‘क’ प्रत्यय हो । मूलविभुजा—मूलविभुजादिते ‘क’ प्रत्यय हो । सुपि—सुवन्त उपपदक ‘स्या’ धातुसे ‘क’ प्रत्यय हो । अम्बाम्ब—अम्बादि शब्दोंसे पर (नप्रत्ययान्त) ‘स्थ’ संबन्धी सञ्जरको षकार हो ।

द्वि-त्रि-कु-शोक-शोक-कु-मञ्जि-पुञ्जि-परमे-दहिं-विंध्य-मिम्यः स्यः
 । ८।३।१७। ल्यः स्यस्य सस्य प । द्विष्ट । त्रिष्ट । तुन्दशोकयोः परिभृजा-
 पनुदा । ३।२।५। तुन्दशोक्यो कर्मणोरुपपदयोरान्ध्या क स्यात् । (आल्लस्य-
 सुम्नाऽऽहरणयोरिति चक्तान्यम्) । तुन्दपरिभृजोऽन्तम् । शीनापनुद —
 सुम्न्याऽऽहता । प्रे दाक्षः । ३।२।६। प्रे उपपदे आम्न्या क स्यात् । सर्वप्रद ।
 पद्यप्रद । समि ख्यः । ३।२।७। समि उपपदे ख्य क स्यात् । गोमख्य ।
 गापोष्टक् । ३।२।८। कर्मण्युपपदे गापोष्टक् स्यात् । सामगः । (पिपते सुता-
 शीधोरिति वाच्यम्) मुरापी । शीपुपी । अन्धप्र-क्षोरपा ब्राह्मणी । हरतेर-
 जुघमनेऽच् । ३।२।९। कर्मण्युपपदे हरतेरच् स्याद्जुघमनेऽर्थे । अंशहरः । अजुय

स्यस्य पत्वन्वित्यर्थः । द्वयोः त्रिषु च निवृत्तीति विभक्ते 'सुपि स्य' इति कप्रत्यये
 आलोपे 'अम्नाम्' इति परे पृथ्वे सौ ह्रस्वे विसर्गं 'द्विष्ट' 'त्रिष्ट' इति रूपे भवतः ।
 तुन्दशोकयोरिति । कः स्यादित्यर्थः । आल्लस्येति । पत्तनोर्गम्यमानयो सत्येवेति भावः ।
 तुन्दपरिभृजोऽल्लसः । अत्राल्लस्यस्य गम्यमानत्वात् कप्रत्यये सौ ह्रस्वे विसर्गं रूपम् ।
 पृथ्वे शीनापनुदं ध्यापि क पृवेति गावः । प्रे दाक्ष इति । प्रोपपद्योरन्तर्धः क इत्यर्थः ।
 सर्वप्रद-पद्यप्रदः । यत्र दाधातो कं आलोपे सुप्तुकि सौ ह्रस्वे विसर्गं रूपम् ।
 समि ख्य इति । सुम्न्याऽऽहतायाः क स्यादित्यर्थः । गोमख्यः । कपाधातो कप्रत्यये
 आलोपे सौ ह्रस्वे विसर्गं रूपम् । गापोरिति । टक्त्वादित्यर्थः । सामगः साम गायती-
 त्यर्थं गायतो टकि आलोपे सुप्तुकि सौ ह्रस्वे विसर्गं 'सामगः' इति रूपम् ।
 विभक्तेरिति । पत्तनोर्गम्यमानयोरेव पाधातोऽणित्यर्थः । मुरापी-शीपुपी । मुरां
 शीपुषु पिपतीत्यर्थं 'गापोष्टक्' इति टकि आलोपे लिवाद् छीपि मौ ह्रस्वत्वादिद्वये
 मुरापी-शीपुपी इति रूपे भवतः । हरतेरिति ॥ अच् स्यात् । अशहरः । अश हरतीति
 विभक्ते ह्रधातोः । अपि गुणे रपरते सुप्तुकि सौ ह्रस्वे विसर्गं 'अंशहरः' इति रूपम् ।
 अजुयति ॥ अजुयंजु महेरजित्यर्थः । टकि गृह्णातीत्यर्थेऽपि सौ ह्रस्वे विसर्गं रूपम् ।

तुन्दशोकयो — कर्मसङ्घक 'तुन्द' और 'शोक' उपपदक 'परि' विसर्गक 'भृजु' बाहु
 और 'अप' उपसर्गक 'नुद' बाहुसे 'क' प्रत्यय हो । आल्लस्यसुम्नाहरणयो — 'तुन्दशोकयो'
 मूलते विहित 'क' प्रत्यय आल्लस्य और सुम्नाहरण (सुप्त पर्ववाना) अर्थमें हो—ऐसा कहना
 चाहिये । प्रे दाक्ष — 'प्रे' उपपदक 'दा' और 'दा' बाहुसे 'क' प्रत्यय हो ।

समि ख्य — 'सम्' उपपदक 'ख्या' बाहुसे 'क' प्रत्यय हो ।

गापोष्टक् — कर्म उपपदक 'गा' और 'पा' बाहुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

मिषत्ते — 'मि' और 'शीपु' कर्म उपपदकनीं ही 'पा' बाहुसे 'टक्' प्रत्यय हो ।

हरतेरनु — कर्मोपपदक 'ह्र' बाहुसे 'अच्' प्रत्यय हो, अनुपपन्न अर्थमें ।

गने किम् ? भारहारः । (शक्तिप्रहः ॥ वयसि च ॥ ३१२।१०। वयसि गम्ये कर्मण्युपपदे हरतेरन् स्यात् । उद्यमनाय सप्रम् । क्वचहरः कुमारः । आङि ताच्छील्ये ॥ ३१२।११। आङ् पूर्वोद्धरतेः कर्मण्युपपदेऽच् स्यात्ताच्छील्ये । पुष्पाण्याहरति तच्छी-
लः पुष्पाहरः । अर्हः ॥ ३१२।१२। अर्हतेरच् स्यात्, कर्मण्युपपदे । पूजार्हा ब्राह्मणो ।
स्तम्बकर्णयो रमिजपोः ॥ ३१२।१३। स्तम्बकर्णयोरुपपदयो रमिजपोरच् स्यात् ।
(हस्तिस्वचक्रयोरिति चक्रव्यम्) स्तम्बेरमो हस्ती । कर्णेजपः सूचकः ॥
अधिकरणे शेतेः ॥ ३१२।१५। अधिकरणे उपपदे शेतेरच् स्यात् । शे शेते-खशयः ।
(पार्श्वोदिपूपसंख्यानम्) पार्श्वोभ्यां शेते-पार्श्वशयः । पृष्ठशयः । उदरशयः ।
चरेष्टः ॥ ३१२।१६। अधिकरणे उपपदे चरेष्टः स्यात् । कुचचरः । भिक्षासेना-
ऽऽदायेषु च ॥ ३१२।१७। एपूपपदेषु चरेष्टः स्यात् । भिक्षाचरः । सेनाचरः ।

वयसि चेति । अच् स्यात् । क्वचहरः कुमारः अत्र क्वचं हरतीति विग्रहेऽचि सुब्लुकि
गुणे रपरत्वं विसर्गे 'क्वचहरः' इति रूपम् । आङोति । पुष्पाहरः । पुष्पमाहरतीति
आङपूर्वोद्धरतेरच् गुणे रपरत्वे सौ सुब्लुकि रत्वे विसर्गे 'पुष्पाहरः' इति रूपम् ।
अर्ह इति । अर्ह स्यादित्यर्थः । पूजार्हा । पूजामर्हतीत्यर्थे सुब्लुकि अचि टापि सौ इल्-
लयादिलोपे 'पूजार्हा' इति रूपम् । स्तम्बकर्णयोः । अच् स्यादित्यर्थः । हस्तीति । शनयो-
रर्थयोरेवाच् । स्तम्बेरमः, कर्णेजपः इति । स्तम्बे रमते-कर्णे जपति इति विग्रहे रमिज-
पिघात्वोः 'स्तम्ब' इत्यचि 'तपुक्वे' इत्यलुकि सौ क्वचे विसर्गे रूपे भवतः । अधिकरण
इति । शीङोऽच् स्यात् । शे शेते इत्यर्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रत्वे विसर्गे
'खशयः' इति रूपम् । पार्श्वोदिपु । पृष्ठच्युपपदेषु शीङोऽनित्यर्थः । पार्श्वोभ्यां शेते इत्य-
र्थे शीङोऽचि सुब्लुकि गुणेऽयादेशे सौ रत्वे विसर्गे 'पार्श्वशयः, एवं पृष्ठशयः उदरशयः

शक्तिप्रहः—शक्त्यादि कर्मोपपदक 'अर्ह' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । वयसि च—अव-
स्था गम्यमान हो तो कर्मोपपदक 'ह' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, उद्यमन अर्थमें ।

आङि ताच्छील्ये—'आङ्' उपसर्गक कर्मोपपदक 'ह' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो, ताच्छी-
ल्य अर्थमें । अर्हः—कर्मोपपदक 'अर्ह' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

स्तम्बकर्णयोः—स्तम्ब और कर्ण उपपदक 'रम्' और 'जप्', धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो,
हस्ती और सूचक अर्थमें ।

अधिकरणे शेतेः—अधिकरण उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

पार्श्वोदिपु—पार्श्वोदि उपपदक 'शीङ्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो ।

चरेष्टः—अधिकरण उपपदक 'चर्' धातुसे 'ष्ट' प्रत्यय हो । भिक्षासेना—भिक्षा, सेना-

‘आदाये’ति ल्यबन्तम् । आदायचर । कृञो हेतुताच्छ्रील्यानुलोम्येषु । ३।२।
 २०। एषु घोयेषु कृञश्च स्यात् । अतः कृ-कर्मि कंस कुम्भ पात्र-कुशा-कर्णा-
 ष्वनव्ययस्य । ८।३।४६। अत उत्तरस्याऽनव्ययविसर्गस्य समासे नित्यं सादेश
 स्यात्करोयादिषु । अयस्कार । अयस्काम । अयस्कृत । अयस्कृन्म । अयस्पा-
 त्रम् । अय सहिता कुशा अयस्कृशा । अयस्कृर्णा । अत किम्^१ गी कार ।
 अनव्ययस्य किं^२ स्व कार । अनुत्तरपदस्यस्य किं^२ परमयश कार ।
 यशस्करो विद्या । आदकर । वचनकर । दिवा विभा-निशा-प्रभा-भा-प-
 ऽन्ता-ऽनन्ता-ऽऽदि-यहु-नान्दी किं लिपि लिपि वलि-भक्ति-कर्तृ चित्र क्षे-
 त्र-संख्या-जङ्गा-षाढ-ह-र्यत्त-द्धनु-ररुषु । ३।२।२१। एषु कृञोऽहेत्वादावपि ।
 दिवाकर । विमाकर । निशाकर । कस्कादित्वात्स । भास्कर । बहुकर ।

ह्रयादि । यशस्करो विद्या । यश करोतीति विग्रहे यश इति कर्मण्युपपद्ये, हेतुघोस्वे कृधा
 तोः ‘कृञो हेतुताच्छ्रील्यानुलोम्येषु’ ह्रयनेन टे प्रत्यये, टस्योत्सर्गायां छोपे च कृने,
 टगताकारस्य आर्धधातुकरत्वात् ‘सार्वधातुकार्धधातुकयोः’ इति गुणे अकारे ‘उरण-
 रपर’ इति रपरत्वे च जाते ‘कर’ इति सगपञ्चे, ‘यशस् अस् कर’ ह्रयलौकिकविग्रहे
 ‘उपपदमतिङ्’ इति समासे, ‘कृञदितसमासाश्च’ इति प्रातिपदिकत्वे ‘सुपो धातु
 प्रातिपदिकयोः’ इति असौ लुकि, एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वस्य सत्त्वात्स-
 मुदायात्सौ, तस्मिन् परे स्त्रीत्वविवक्षायां ‘टिड्ढान्जृद्धयसञ्’ इत्यादिना टिवाद्
 छीपि अनुबन्धलोपे, ‘यधि मम्’ इति भस्सजायां ‘यस्येति चे’ति करगतरेफोत्तरव-
 र्तिन अकारस्य लोपे, सधोगे कृते, ‘हल्ह्रवाभ्यो दीर्घासुनिर्यपृक्त हल्’ इति स्
 लोपे, यशसः सकारस्य ‘ससञ्जपोर’ इति ह्रस्वे ‘स्वरवसानयोर्विमज्जनीय’ इति
 विसर्गे, तस्य विसर्गस्य ‘कुप्पो’ इति चिह्नमूर्त्त्ये प्राप्ते, तद्भाधिरत्वा ‘अत कृकर्मि
 कंसकुम्भपात्रकुशाकर्णाष्वनव्ययस्य’ ह्रयनेन विसर्गस्य नाय सत्त्वे ‘यशस्करी’ इति ।
 दिवाविभेति । ‘कृञो हेतु’ ह्रयत्त कृञ ह्रयनुवर्तते । ‘दिवाकृ-ट’ इति स्थिते गुणे रप-
 रत्वे सौ रूपे विसर्गे दिवाकर । पृष विभाकर, निशाकर, अत्रापि टत्रेव । भास्कर -
 बहुकर - एककर - द्विकर - अहस्कर - धनुष्कर - अरुष्कर’ ह्रयादिष्वपि टे रूपाण्य-

और आदाय कर्मोपपदक धातुसे ‘ट’ प्रत्यय हो । कृञो हेतु—कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे ‘ट’
 प्रत्यय हो, हेत्वादि अर्थे गम्यमान रहने पर । अत कृ-कर्मि—‘अद’से पर अनव्यय सम्ब-
 न्धी विसर्गके स्थानमें सत्त्व हो, इ- कर्मि, कसादि उच्चर पदके परे, समासमें ।

लिङ्गा—दिवा, विमा आदि कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे अहेत्वादि अर्थमें भी ‘ट’ प्रत्यय हो ।

एककरः । द्विकरः । अहस्करः । धनुष्करः । अरुष्करः । न शब्दश्लोककलह-
गाथावैरत्नाडुसूत्रमन्त्रपदेषु । ३।२।२३। एषु कृञ्श्लो न स्यात् । शब्दकारः ।
स्तम्बशकृतोरिन् । ३।२।२४। स्तम्बशकृतोः कर्मणोरुपपदयोः कृञ् इन् स्यात् ।
(व्रीहिवत्सयोरिति चकञ्च्यम्) । स्तम्बकरिर्व्रीहिः । शकृत्करिर्वत्सः । हरते-
र्दतिनाथयोः पशौ । ३।२।२५। दतिनाथयोः कर्मणोरुपपदयोर्हरतेरितिः स्यात्पशौ
कर्त्तरि । दतिहरिः । नाथं—नासारज्जुं, हरतीति नाथहरिः पशुः । पशौ किं ?
दतिहरः । नाथहरः । फलेग्रहिरात्मम्भरिश्च । ३।२।२६। एतौ निपात्येते ।
चान्कुक्षिम्भरिः । चान्द्रास्तु—‘आत्मोदरकुक्षिधि’ति पेटुः । ‘ज्योत्स्नाकरम्भमुद-
रम्भरयश्चकोरा’ इति मुरारिः । एजेः खश् । ३।२।२८। ष्यन्तात् एजेः खश्
स्यात् । अरुर्द्विपदजन्तस्य मुम् । ६।३।६७। अरुणो, द्विपतोऽजन्तस्य च मुम्
स्यात्खिदन्ते, उत्तरपदे, न त्वव्ययस्य । शिस्वाच्छवादि । जनमेजयतीति जनमेजयः ।
(वातशुनीतिलशर्द्धेष्वजघेट्तुदजहातिभ्यः खश्) । वातमजा भृगाः ।
खित्यनव्ययस्य । ६।३।६६। खिदन्ते उत्तरपदे पूर्वपदस्य ह्रस्वः । ततो मुम् ।

वसेयानि । न शब्देति । अत्रापि ‘कृञो’ ह्यतष्ट इति कृञ् इति चानुवर्तते । अत्र न टः
शब्दकारः । अद्-‘ऋहलोर्ण्यत्’ इति ष्यति वृद्धौ रपरत्वे सौ रुत्वे विसर्गे शब्दकारः
इति रूपम् । स्तम्बशकृतोरिति । अनयोरुपपदयोः कृञ् इन् स्यात् । व्रीहोति । एतयोर-
र्थयोग्यमानयोरिति भावः । स्तम्बं करोति, शकृत् करोतीत्यर्थे इनि गुणे रपरत्वे
सुव्लुकि सौ रुत्वे विसर्गे ‘स्तम्बकरिः’ ‘शकृत्करिः’ इति रूपे भवतः । हरतेरिति ।
दतिं हरति—नाथं हरति इति विग्रहे हृधातोः ‘हरतेः’ इति इनि गुणे सुव्लुकि सौ
रुत्वे विसर्गे प्रोक्ते रूपे भवतः । फलेग्रहिरिति । निपातनमेतद् । वातशुनीति । खश्
स्यादित्यर्थः । वातमजतीति विग्रहे खशि सुव्लुकि ‘अरुः’ इति मुमि जसि

न शब्दश्लोक—शब्दादि कर्मोपपदक ‘कृ’ धातुसे ‘ट’ प्रत्यय नहीं हो ।

स्तम्बशकृतोः—स्तम्ब और शकृत् कर्मोपपदक ‘कृञ्’ धातुसे ‘इन्’ प्रत्यय हो ।

व्रीहि—‘स्तम्बशकृतोरिन्’ इस सूत्रसे विहित ‘इन्’ प्रत्यय व्रीहि और वत्स अर्थ
गम्यमान रहने पर ही हो—ऐसा कहना चाहिये ।

हरतेर्दति—‘दति’ और ‘नाथ’ कर्मोपपदक ‘हृ’ धातुसे ‘इन्’ प्रत्यय हो, ‘पशु’ यदि
कर्त्ता रहे । फले—‘फलेग्रहि’ ‘आत्मम्भरि’ और चात् ‘कुक्षिम्भरि’ शब्द भी निपातित हो ।

एजेः खश्—कर्मोपपदक ष्यन्त ‘एज्’ धातुसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । अरुर्द्विप-अरुप्, द्विपत्
और अजन्तको मुमागम हो खिदन्त पदके परे—अव्ययको छोड़कर । वातशुनीति—वातादि
कर्मोपपदक अनादि धातुओंसे ‘खश्’ प्रत्यय हो । खित्यनव्ययस्य—खिदन्त उत्तरपदके परे

शुनिन्धय । तिलन्नुद । शर्दङ्गहा माया । नासिकास्तनयोर्ध्माघेटोः । ३।२।२५।
 नासिकास्तनयोश्चपदयोर्ध्माघेटो ऋश् स्यात् । (स्तने घेटो, नासिकायां
 ध्मश्चेति घक्तव्यम्) स्तनन्धय टिष्वात्-स्तनन्धयो । नाडीमुष्टयोश्च । ३।२।
 ३०। ध्माघेटो ऋश् स्यात् । (यथासंख्यं नेष्यते) नाडिन्धय । नाडिन्धय ।
 मुष्टिन्धय । मुष्टिन्धय । उदि कूले रजिवहोः । ३।२।३१। कूलमुद्ग । कूल
 मुद्ग । यद्वाभ्रे छिहः । ३।२।३२। यहः—स्कन्ध, तं लेढीनि-वर्हलिहो गो ।
 अग्रलिहो वायु । परिमाणे पचः । ३।२।३३। प्रस्यन्पचा स्याली । स्वारिन्धय

दीर्घे रूपे विसर्गे 'वातमजा मृगा' इति मिदम् । तित्तीति । चिति अध्ययभिन्नस्य
 इत्स्वत्वमित्यर्थः । शुनी घयतीति विप्रहे 'वातशुनी' इति एशि सुञ्जुकि 'विरयन-
 न्ययस्य' इति इत्स्वे 'अरु' इति मुमि अनुस्वारे परसवर्णेभ्यादेशे सौ रूपे विसर्गे
 'शुनिन्धय' । एवं 'तिलन्नुद' अप्रापि एवम् । नातिचेति । खद् स्यादित्यर्थः । स्तन-
 यय । स्तन घेटुघातो. 'नासिका' इति एशि सुञ्जुकि अयादेशे 'अरु' इति मुमि
 अनुस्वारे परसवर्णे सौ रूपे विसर्गे 'स्तनन्धय' इति रूपम् । खोत्पे टिरान्छापि
 'स्तनन्धयी' इति रूपम् । नादीति । ध्माघेटो ऋश् । नाडी घमति-घयति वा, मुष्टि
 धमति घयति वा इति विप्रहे 'ध्माघेटो नाडीमुष्टयोश्च' इति एशि सुञ्जुकि 'विरय-
 नन्धयस्य' इति इत्स्वे 'अरु' इति मुमि 'पाघा' इति घमादेशे सौ रूपे विसर्ग रूपाणि ।
 वरीति । कूलमुद्गवति-कूलमुद्गवति इति विप्रहे रजिवहो 'उदिकूले' इति एशि
 सुञ्जुकि 'अरु' इति मुमि रूपे विसर्गे 'कूलमुद्ग' 'कूलमुद्ग' इति रूपे भवत ।
 यद्वाभ्रे छिहः इति । एतयोश्चपदयोर्घेः स्थित्यर्थः । यहं लेढीनि-अग्र लेढीति च विप्रहे
 'यद्वाभ्रे छिहः' इति एशि सुञ्जुकि मुमि अनुस्वारे सौ रूपे विसर्ग रूपे भवत ।
 परिमाण इति । खद् स्यादित्यर्थः । प्रस्य पचतीति विप्रहे पचे एशि सुञ्जुकि 'अरु'
 इति मुमि अनुस्वारे ऋपि सौ इच्छपादिणोपे रूपम् । स्वारि पचतीति विप्रहे 'परि-
 भाणे पच' इति एशि सुञ्जुकि 'विरयनन्धयस्य' इति इत्स्वे 'अरु' इति मुमि अनु-

पूर्वपदको ह्रस्व हो । नासिकास्तनयो — 'स्तन' कर्मोपपदक घेट्' वाटु और 'नासिका'
 कर्मोपपदक 'ध्मा' वाटुसे 'मश्' प्रत्यय हो । नाडीमुष्टयोश्च—'नाडी' और 'मुष्टि' कर्मोपप-
 दक 'ध्मा' वाटु और 'घेट्' वाटुसे 'अरु' प्रत्यय हो । यथासंख्यं नेष्यते—'नाडीमुष्टयोश्च'
 इस सूत्रमें 'यथासंख्यं' परिभाषाको प्रवृत्ति छट नहीं है । उदि कूले—'कूल' कर्मोपपदक
 'उद' कर्मोपपदक 'वद्' और 'अरु' वाटुसे 'अरु' प्रत्यय हो । यद्वाभ्रे छिहः—'वद्' और
 'अग्र' कर्मोपपदक 'छिट्' वाटुसे 'खद्' प्रत्यय हो । परिमाणे पच—परिमाणवाचि, कर्मोपप-

कटाहः । मितनखे च । शिराशेः एतयोः कर्मणोरुपपदयोः पचेः खश्
 स्नात् । मितम्पचा प्राङ्गणो । नखम्पचा यवागूः । विश्वरूपोरुत्तुदः
 । शिराशेः । विबुन्दुदः । अरुन्दुदः । असूर्यललाटयोर्दशितपोः । शिराशेः ।
 'असूर्य'मित्यससर्वसमासः, दृशिना नखः सम्बन्धात् । अमूर्त्तपञ्चा राजद्वाराः ।
 ललाटन्तपः एतैः । प्रियवशो षद्ः खच् । शिराशेः । प्रियंवदः । षशंषद्ः ।
 (गमेः सुपि वाच्यः) मितङ्गमो हस्ती । (विहायसो विह च, चाप छिद्य

स्वारे सौ रुवे विसर्गे 'खारिपचा' इति रूपम् । कटाह इति परिमाणार्थस्योत्पत्त्यावेति
 योष्यम् । मितनखे चेति । पचेः खश् । मितं पचति-नखं पचतीति विग्रहे 'मितनखे च'
 एषि खदि 'अरुः' इति मुनि अनुस्वारे टापि सौ इच्छयादिलोपे 'मितंपचा' 'नखंप-
 चा' इति रूपे । परिमाणमिच्छार्थत्वात् वृथगुक्तिः । विश्वरूपोरिति । अनयोरुपपदयोरुत्तुदः
 खदित्यर्थः । विधुं बुद्धति, अरुः बुद्धतीति विग्रहे 'विश्वरूपोः' इति खदि सुब्लुकि 'अरुः'
 इति मुनि अनुस्वारे सौ रुवे विसर्गे रूपसिद्धिः । असूर्येति । 'असूर्य' इति असाम-
 र्थ्येपि समासः, निपातनात् । अरुं सूर्यं च पश्यन्ति हरपदं-दृष्ट्वातोः 'असूर्य'
 इति खदि निपातनाद्यसमासे गद्योपे सुब्लुकि 'अरुः' इति सुपि अनुस्वारे 'प्राप्ता' इति
 परचादेशे टापि असि 'प्रथमयोः' इति पूर्वसवर्णे रुवे विसर्गे 'असूर्यपरयाः' इति
 रूपम् । एवं ललाटंतपः इत्यत्रापि तपघातोः खदि मुनि सौ रुवे विसर्गे रूपमवसेषम् ।
 प्रियंवदः । प्रियंवदतीति प्रियमिति कर्मण्युपपदे चङ्घातोः खदि खचयोर्लोपे, उपपदसमासे
 सुपो लुकि, 'अरुद्विपदजन्तस्य मुस्' इति खिदन्ते वद इत्युत्तरपदे पूर्वपदस्य प्रिय इत्यस्य
 सुपि, उमि गते, अनुस्वारे परसवर्णे च कृते समुदायस्य विभक्तिकार्यं च तस्मिद्धिः ।
 गमेः ह्यपीति । सुबन्तोपपदे गमघातोः खच् वाच्य इत्यर्थः । मितङ्गमो हस्तीति । मितं
 गच्छतीति विग्रहे 'गमेः सुपि वाच्यः' इति खदि सुब्लुकि 'अरुः' इति मुनि
 अनुस्वारे परसवर्णे कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ रुवे विसर्गे रूपम् । विशयस इति ।
 अत्रापि गमेरित्यनुकृत्यते । तेन विहायस्पृवाङ्गमेः खच् तस्य वा डिरवमित्यर्थः ।

दके 'पच्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय इति ।

मितनखे च—'मित' और 'नख' कर्मोपपदक 'श्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो

विश्वरूपोरुत्तुदः—'विधु' और 'अरुष्' कर्मोपपदक 'तुद्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो ।

असूर्यललाटयोः—'असूर्य' और 'ललाट' कर्मोपपदक 'इश्' धातु और 'तप्' धातुसे
 'खश्' प्रत्यय हो ।

प्रियवशो—'प्रिय' और 'वश' कर्मोपपदक 'वद्' धातुसे 'खश्' प्रत्यय हो ।

गमेः—'गुदन्त' कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो—येसा करत्ता चादिपे

विहायसो—'विहायस्' उपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' हो और विहायस् शब्दको 'विह' जादेश

वाच्यः) विहङ्गम् । विहङ्ग । भुजङ्गम् । भुजङ्ग ॥ द्विपरस्परयोस्तापे । ३३
 २।३३। सचि ह्रस्व । ३।३।२। सचि परे षौ उपधाया ह्रस्व स्यात् । द्विप-
 न्त, परं वा तावयति-द्विपन्तप, परन्तप । सचि यमो यत्रे ३।३।३। सच् ।
 चार्चयमपुरन्दरी च । ३।३।३। वाक्पुरोरमन्तत्वनिर्वायते । चार्चयमो मौनप्रती ।
 मने किम् ? अणक्यादिना वाच यच्छतीति वाचयाम । पूःसर्व्योर्द्वारित्वाः
 ३।३।३। सच् स्यात् । पुरं दारयतीति पुरन्दरः । सर्वसह । भग दारयतीति

विहायस्य निपायः । विहायसा गच्छन्तोऽर्थे 'विहायस' इति सचि विहायसे
 सुष्ठुकि 'अह' इति मुम्पनुस्वारे परसवर्णे सचो टिावपक्षे टिारसामर्थादमो ल्येपे सौ
 ल्ये विसर्गे 'विहङ्ग' इत्येक रूपम् । यद्वा द्विप न स्यात्तदा 'विहङ्गम्' इति द्वितीयं
 रूपम् । 'वह्य' भुजङ्गम् भुजङ्गं गच्छतीति विग्रहे सचि सचो वा टिावपक्षे टेर्गेपे
 लौ ल्ये विसर्गे 'भुजङ्ग' उदात्ते 'भुजङ्गम्' इति द्वितीयं रूपम् । द्विपयि ।
 पृथयोः परसोस्तापेः सच स्वादिपर्यं । 'सचि ह्रस्व इति' । सचि परे षाधुपधायाः ह्रस्वस्य
 द्विपन्तः । द्विपन्त परं वा तावयतीति विग्रहे सचि सुष्ठुकि 'द्विपन्-सापि-स, 'परं-
 नापि-स' इति जाते 'सचि ह्रस्व' इति ह्रस्वत्वे 'अनिदि' इति षेर्गेपे 'अह' इति
 मुम्पि अनुस्वारे परसवर्णे सौ ल्ये विसर्गे अन्तर्वाङ्मौ विमट्टिमाभिरय 'न लोप' इति
 न लोपे । 'द्विपन्तप' परन्तप' इति रूपे भवति । वाकीति । यत्रार्चयमो वाह्यस्योपपदे
 यद्वाच्योः सच स्वादिपर्यं । वाचयमेति । निपातनसामर्थ्यात् सचि परतोऽमन्तश्च
 मभसेयम् । 'वाचयन इति । वाच यच्छतीति विग्रहे 'वाचि यमो यत्रे' इति सचि 'वा
 चयमपुरन्दरी च' इति निपातनाद्यमन्तवये सौ ल्ये विसर्गे 'वाचयम' इति उदाहरणम् ।
 यत्रार्चये तु वाचयाम छति । वाच यच्छतीति विग्रहे षौ सचि सुष्ठुकि अश्वे उपधादीर्घे
 सौ ल्ये विसर्गे 'वाचयाम' इति रूपम् । पूं सर्व्योरेति । पृथयोऽप्यपदयोः दारित्त्यो
 ल्यच्छ्वादिपर्यं । पुरंदर-सर्वसह । पुरं दारयति, सर्वं सहत इति विग्रहे 'द
 सर्वयो' इति सचि 'सचि ह्रस्व' इति दारेह्रस्वत्वे सुष्ठुकि 'अह' इति मुम्पि
 अनुस्वारे सौ ल्ये विसर्गे 'पुरंदर' 'सर्वसह' इति रूपे भवति । 'कथ मगंदरेति'

हो तथा अह 'अच्' चित्त हो, दिह्रस्व-देमा कइना चारिये । द्विपपरसोस्तापे, -द्विपन्त' और
 'पर' कर्मोपपदक प्य त 'अच्' वाच्ये 'अच्' प्रात्यय हो । सचि ह्रस्वः—'अच्' परक 'पि' के
 परे वाच्यो उपधाको ह्रस्व हो । सचि यमो यत्रे—'वाच' उपपदक 'यम्' धातुते 'अच्'
 प्रात्यय हो, अत्र भर्गमे । वाचयमपुरन्दरी च-अच् मरयद निपन्त' वच् + यम' 'पुरं + दार'
 ऐसी स्थितिमें वाच और पुर को धमन्तश्च निपातन हा । पूः सर्व्योर्द्वारित्तयो—'पुर' और
 'सर्व' कर्मोपपदक क्यत्त 'अच्' वाच्य तथा 'अच्' प्रात्यय 'अच्' प्रात्यय हो ।

अगन्दर इति क्वम् ? बाहुलकात् । सर्व-कृत्वा-ऽञ्ज-करीषेषु क्वः । ३।२।४२।
 सर्वकृत्वाः खलः । कूलकृत्वा नदी । अत्रकृत्वा वायुः । करीषकृत्वा वात्या । मेघर्षि-
 मयेषु कृत्वाः । ३।२।४३। मेघकृत्वाः । ऋतिकृत्वाः । भयकृत्वाः । 'भय'शब्देन तदन्त-
 विधिः । अभयकृत्वाः । चेम-प्रिय-मद्रेऽण् च । ३।२।४४। एषु कृत्वाऽण् स्यात् ।
 चात्खच् । चेमकृत्वाः । चेमकारः । प्रियकृत्वाः । प्रियकारः । मदकृत्वाः । मदकारः । कर्ष-
 तर्हि 'अन्तारम्भाः चेमकराः' इति ? कर्मणः शेषत्वविवक्षायां पचायच् । एवं गङ्गाधर-
 भूषरादयः । आशिते भुवः करणभावयोः । ३।२।४५। खच्स्यात् । आशितो भव-
 त्यनेन—आशितम्भव श्रीदनः । आशितस्य भवनम्—आशितम्भवः । संज्ञायाम्

बाहुलकात् खच्चि सुमि रूपमिति भावः । सर्वकृत्वेति । एषूपपदेषु त्वासु ऋषावोः खच् ।
 सर्वकृत् इति । सर्व कर्तव्येति विग्रहे 'सर्वकृत्' इति खच्चि सुबलुकि सुम्पतुस्वारे पर-
 संवर्गे ऋत्वे निमग्नं रूपम् । एवं 'कूलकृत्वा' अत्रापि खच्चि सुमि टापि सौ हल्ङ्वादिङोपे
 रूपं चोद्यम् । 'अत्रकृत्वा' अत्रापि खच्चि सुमि रूपम् । 'करीषकृत्वा' अत्र खच्चि सुमि
 टापि सौ हल्ङ्वादिङोपे रूपसिद्धिः । मेघर्षिमयेष्विति । एषूपपदेषु कृत्वाः खच् स्याद्भि-
 र्थः । मेघकृत्वाः-ऋतिकृत्वाः-भयकृत्वाः, इति । मेघं-ऋति-भयं-वा करोतीति विग्रहे खच्चि
 सुबलुकि 'अत्र' इति सुमि गुणे परस्वरे सौ ऋत्वे विसर्गं रूपाणि । 'येन विधिः' इति
 भाष्ये स्पष्टोक्तवाङ्मयशब्देन तदन्तविधिस्त्वेन भयान्तादपि खच्चिस्वर्थः । 'अभयकृत्वाः'
 अत्र खच्चि सुमि गुणे सौ ऋत्वे विसर्गं 'अभयकृत्वाः' इति रूपम् । क्षेत्रेति । एषूपपदेषु
 कृत्वाः खजणौ । क्षेमकृत्वाः । क्षेमं करोतीति विग्रहे कृत्वाः 'क्षेमप्रियं' इति सकारात्कृत्वा
 सुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणे सौ ऋत्वे विसर्गं 'क्षेमकराः' इति रूपम् । यदाण् स्यात्तदा
 वृद्धौ सुमभावे सौ ऋत्वे विसर्गं 'क्षेमकारः' । एवं मदकृत्वाः-मदकारः, प्रियकृत्वाः प्रियकारः
 इति रूपाणि बोध्यानि । कथं 'क्षेमकराः' इति पचायच्चि गुणे रूपं स्यादित्यर्थः । एवं
 गङ्गाधरः भूषराः अत्रापि पचायच्चि भावः । आशित इति । एषूपपदाद्भुवः ऋत्वा
 स्यादित्यर्थः । आशितोपपदे करणभावयोरर्थे भूषातोः खच्चिस्वर्थः । आशितो अण्व-
 नेनेति करणार्थं भूषातोः 'आशिते भुवः करणभावयोः' इति खच्चि सुबलुकि 'अत्र'
 इति सुमि अनुस्वारे परसवर्णे गुणोऽद्यादेशे सौ ऋत्वे विसर्गं 'आशितम्भवः' इति
 रूपम् । आशितं तु आशितस्य भवनमिति विग्रहः, रूपसिद्धिः प्रायवत् । संज्ञायामिति ।

सर्वकृत्वा—कर्मसंदर्भक सर्व, कूल, अत्र और करीष इत्यन्त उपपदक 'कृ' धातु से
 खच् प्रत्यय हो ।
 मेघर्षि—मेघ, ऋति और भय कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो ।
 क्षेम—क्षेम, प्रिय और मद कर्मोपपदक 'कृ' धातुसे 'अण्' और 'खच्' प्रत्यय हो दो ।
 आशिते—पुस्तक आशितशब्द उपपदक 'भू' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, करण और क्यपत् ।
 संज्ञायाम्—कर्मोपपदक कृ, व यादि कृत्वातीति 'खच्' प्रत्यय हो संज्ञायाम् ।

सृत्वृजिघारिसहितपिदमः । ३।२।४६। खच् स्यात् । विश्वं विगर्तीति विश्वम्भर ।
 रयन्तरं सान । शशुल्यो हस्ती । युगन्धर पर्वत । शशुसह । शशुन्तप ।
 अरिन्दम । गमश्च । ३।२।४७। सुतङ्गम् । अन्तात्यन्ताभ्यदूरपारसर्वात्मन्तेषु
 ङ् । ३।२।४८। गमर्हं स्यात् । अन्तग । (सर्वत्र पक्षयोरिति वाच्यम्)
 सर्वत्रग । पक्ष=पतितं गच्छतीति पक्षग । (उरसो लोपश्च) उरसा गच्छ
 तीति-उरग । (सुदुरोरधिकरणे) सुषेन गच्छत्यत्र-सुग । दुर्ग ।

सुबन्तोपपदेषु सूत्रनिर्दिष्टधातुषु सस्य सज्ञायां सञ्जिघर्षः । विश्वमिति ।
 वस्तुतस्तु सज्ञायां न विग्रहः । किन्तु विश्वमिति सुबन्तोपपदमिति स्फोरणा
 वेदमित्यस्येयम् । ऋधातोः 'सज्ञायाम्' इति अचि गुणे रपरत्वे सुम्लुकि 'भट्' इति
 मुमि सौ रुवे विसर्गे 'विश्वम्भरः' इति रूपम् । एष रयतरं साम । शशुन्तयो हस्ती ।
 युगम्भर पर्वत । शशुन्तप । अरिन्दम इत्यादिषु सचि मुमि रूपमिति बोध्यम् ।
 गमश्चेति । सुबन्तोपपदाद्गमृधातोरेपि सञ्जिघर्षः । शुतोपपदाद्द्वितीयान्तात् गम्
 धातोः 'गमश्च' इति सचि 'भट्' इति मुमि अनुस्वारे परसपक्ष सौ रुवे विसर्गे च
 हृते 'सुतङ्गम्' इति रूपम् । अन्तात्यन्तेति । ऋषियामस्तामर्ष्यात् एषो निष्पत्ति ।
 'गमश्च' इत्यतो गम इति, भट् आह—गमेर्हं इति । पृषूपपदेषु गमेर्हं स्याद्विघर्षः ।
 अन्तग इति । अन्तमन्ते वा गच्छन्तीत्यर्थे 'अन्ता' इति ऋप्रत्यये । एषवसामर्ष्यादृट्तेर्लोपे
 सौ रुवे विसर्गे 'अन्तग' इति रूपम् । सर्वत्रेति । पृषयोपपदयोर्गमेर्हं इत्यर्थः ।
 सर्वत्रगः, पक्षग । पृषयोपपदयोः गमृधातोः 'सर्वत्रपक्षयोरिति वाच्यम्' इति
 वात्किञ्चन ऋप्रत्यये ऋष्यादृट्तेर्लोपे सौ रुवे विसर्गे 'सर्वत्रग' 'पक्षग' इति रूपे
 भवताः । उरसः इति । उरसपूर्वपदाद्गमृधातोर्हं स्यात्पूर्वस्योरसोऽन्तलोपश्चेत्यर्थः ।
 उरसा गच्छतीति निग्रहे गमृधातोः ऋप्रत्यये 'उरसो लोपश्च' इति सलोपे ट्तेर्लोपे सौ
 रुवे विसर्गे रूपम् । सुदुरोरिति । अधिकरणार्थे गम्यमाने सुदुरो पूर्वपदयोः सतोः
 गमृधातोर्हं इति भावः । सुग दुर्ग इति । सुदुरपूर्वपदाद् गमृधातोर्हं प्रत्यये ट्तेर्लोपे

गमश्च—कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'खच्' प्रत्यय हो, सज्ञामे ।

अन्तारयन्ता—अन्तादि सुबन्तोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ्' प्रत्यय हो ।

सर्वत्र—'सर्वत्र' और 'पक्ष' कर्मोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ्' प्रत्यय हो, ऐसा ऋशत
 वाहिये ।

उरसो—सुवत् 'उरस्' शशुोपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ्' प्रत्यय हो और 'दि' का
 लोप भी हो ।

सुदुरोरधि—'सु' और 'दुर' उपपदक 'गम्' धातुसे 'ङ्' प्रत्यय हो, अधिकरण अर्थमें ।

(अथर्वनादि इत्यस्य इति आद्यस्य) प्रागमः । (हे च विहायसो त्रिदादेःो वाक्यः) विहगः । आशिवि हनः । ३।२।४२। हन्तेः कर्मण्युपपदे षः स्यादाशिवि । शत्रुं वध्यात्-शत्रुहः । आशिवि किम् ? । शत्रुघातः । (दाद्यथादौऽणन्तस्य च टः संज्ञायाम्) दाद्यशब्दे उपपदे आर्त्स्वाद्धन्तेरण् स्त्राहकारस्याऽन्तादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । दार्वाघाटः । (चारौ वा) चार्वाघाटः । चार्वाघातः ॥ अपे क्लेशतमसोः । ३।२।५०। क्लेशतमसोः कर्मणोरुपपदयोरण्पूर्वाङ्गन्तेर्ढः । ज्ञानार्थीरर्थमिदम् । क्लेशावहः पुत्रः । तमोपहः सूर्यः । कुमारशीर्ष-

सौ कवे विसर्गे 'सुभा' 'दुर्ग' इति कवे सश्चः । अन्यस्मिन्नप्युपपदे व्यधिकरणार्थे गन्धातोर्ढः इत्येते इति स्यः । अणगः । आते गच्छतीत्यर्थे गम्धातोर्ढप्रत्यये टेलोपि सौ इत्ये विसर्गे 'ग्राहका' इति रूपम् । टे चेति । विहायसः परस्व गम्धातोर्ढः स्यात् । तदूर्ध्वस्य विहायसो विहादेशो ह्यर्थः । विहग इति । विहायसि गच्छतीत्यर्थे गच्छाद्योर्ढप्रत्यये विहायसो विहादेशे टेलोपि सौ कवे विसर्गे 'विहगः' इति रूपम् । पाठिणि इव एधि । सुदुमतीपपदे हन्धातोर्ढप्रत्यये षः स्यादित्यर्थः । दाद्यं वध्यादित्यर्थे दग्धस्यो 'यादिवि हनः' इति अणप्रत्यये टेलोपि सुक्लृदि सौ कवे विसर्गे 'शत्रुहः' इति रूपम् । ज्ञानार्थमापे 'शत्रुहः' इति षणि 'हन्तोऽदिष्णजोः' इति नस्य तत्त्वे 'धत् वधधाया' इत्युपधादीर्घे 'हो हन्तेः' इति छन्दस्य क्लेशौ कवे विसर्गे 'शत्रुघातः' इति रूपम् । वारोति । एणोऽर्घः । दार्वाघाट इति । छारपूर्वपदादनुधातोः 'दादावाहनः' इति अणप्रत्यये 'दाह-भा-हन्-प्र' इति द्विष्टे टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति क्लेशेन हस्य कवे यणि 'धत् वधधाया' इति उपधादीर्घे सौ कवे विसर्गे 'चार्वाघाटः' इति रूपम् । चारौ वेति । चारूपपदे जाह्नवाद्योरण्टकारश्चान्तापेक्ष इत्यर्थः । चार-भा-हन्-अ इति स्थिते टकारान्तादेशे 'हो हन्तेः' इति कवे षणि चण्डिदीर्घे सौ कवे विसर्गे 'चार्वाघाटः' इति । यदा टकारान्तादेशो न स्यात्तदा 'हन्तोः' इति कवे कवे उपधादीर्घे सौ कवे विसर्गे 'चार्वाघातः' इति । क्लेशावहः—तमोपह इति । क्लेशान् तमासि चापहन्ति द्वायर्थे 'अपे क्लेशतमसोः' इति

अथर्वनादि—अन्यान्य सुदन्तोपपद रक्षणे परं मां 'गम्' धातुते 'ह' प्रत्यय हो—येता क्वना चाहिये । टे च विहायसो—'ह' प्रत्ययके परे विहायसो विह आदेश हो—येता क्वना चाहिये । आशिवि—सुदन्तोपपदक 'द्व' धातुते 'ह' प्रत्यय हो, आशिवि चर्गमे ।

दादावाहनो—गुणः 'दाह' शब्दोपपदक आत् पूर्वक 'हन्' धातुते 'गम्' प्रत्यय हो और टकारान्त एवैह हो हो । चारौ वा—सुदन्त 'चान्' शब्दोपपदक आत्पूर्वक 'हन्' धातुते 'गम्' प्रत्यय हो और टकारान्त एवैह हो, विकल्पते । अपे एतेह—'क्लो' और 'तमल्' कर्मोपपदक 'द्व' धातुते 'अ' प्रत्यय हो । कुमारशीर्ष—'कुमार' और 'शीर्ष' कर्मो-

योर्णिनि । ३।२।५१। कुमारशीर्षयो कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेर्णिनि स्यात् । कुमार-
घातो । शिरस शीर्षभावो निपात्यते । शीर्षघाती । लक्षणे जायापत्योष्टक्
। ३।२।५२। जायापत्यो कर्मणोरुपपदयोर्हन्तेष्टक् स्याल्लक्षणवति कर्नरि । जाया-
घ्नो ना । पतिष्नी स्त्री । अमनुष्यकर्तृके च । ३।२।५३। अमनुष्यकर्तृकेऽयं वर्त-
मानादन्तो कर्मण्युपपदे टक् स्यात् । जायाघ्नस्तिलकालक । पतिष्नी पागिरेया ।
पित्तप्ल घृतम् । अमनुष्ये त किम् । आशुघात शूद्र । अथ कर्म 'बलमद्रः
प्रलम्बघ्न' 'शनुष्य, कृतघ्न' इत्यादि ? । मूढविभुजादित्वात्सिद्धम् । 'चोरघातो नग-
रघातो इरती'ति तु बाहुलमादम् । दाक्षी दस्तिकपाटयोः । ३।२।५४। शक्ती

ह्रस्वदे टेलोपे सौ रुवे विसर्गे 'बलेशापह' 'तमोपहः' इति रूपे भवतः । कुमारेति ।
पठयो। कर्मणोरुपपदयोर्णिनिः स्यादित्यर्थः । स च हन्तेरेवेति भावः । कुमार हन्तीति
विभवे कुमारमिति द्वितीयान्तोपपदात् 'कुमारशीर्षयोर्णिनि' इति णिनिप्रत्यये 'हनस्तो'
इति तावे 'हो हन्ते' इति घात्वे सुब्लुकि सौ 'सौ च' इत्युपधादीर्घे सोल्लोपे 'नलोपः'
इति बहोपे 'कुमारघाती' इति रूपम् । तत्र च शिरः हन्तीति विभवे णिनिरिषादि
बोध्यम् । अथ इति । पृथयोरुपपदयोः हन्तेष्टगित्यर्थः । 'आशिवि हन' इत्यतो हन
इत्यनुब्रूयते । लक्षण निघ्न तस्मिन् घोषे हन्तेष्टगिरमर्थः । जायाघ्नो ना । जाया
हन्तीति विभवे टकि टक्योल्लोपे सुब्लुकि 'जायाहन्-अ' इति स्थिते 'गमहन' इत्युप-
धाद्ये 'हो हन्ते' इति कुत्रेण घात्वे सौ रुवे विसर्गे 'जायाघ्नो ना' इति रूपम् ।
यद् पतिष्नी स्त्री । टकि सुब्लुकि उपधाद्ये घात्वे 'टिट्टाणञ्' इति ङीपि सौ
'दल्लुवादि' लोपे 'पतिष्नी' इति रूपम् । अमनुष्येति । न विभवे तदुभय। कर्ता दरप
तस्मिन् । अमनुष्यकर्तृके अयं हन्तेष्टगिरमर्थः । पतिष्नी=पागिरेया। जायाघ्नस्तिलकः ।
पित्तप्ल घृतम् । रूपसिद्धिः प्राग्वय । अमनुष्येति किम् ? तत्र भावे 'लपणे' इत्यनेनैव
निर्वाहप्रसंगेत्तत्सुप्रत्ययस्यपत्ति स्यात् । आशुघात । आशु हन्तीति विभवे 'कर्मण्यञ्'
इति षणि सुब्लुकि 'हनस्तो' इति तावे 'हो हन्ते' इति घात्वे उपधादीर्घे सौ रुवे विसर्गे
'आशुघात' इति रूप सिध्यति । प्रलम्बघ्नकृतघ्नयोः सिद्धिमाह—'मूढविभुजा-
दिभ्यः क' इति कप्रत्यये 'गमहन' इति उपधाद्ये 'हो हन्ते' इति घात्वे सौ रुवे
विसर्गेऽनयो रूपसिद्धिः फलति । चोरघातः, नगरघात इति तु बाहुलकादिति बोध्या
विति भावः । शक्ती इति घाटयोः । दाक्षी घोषे मनुष्यकर्तृके हन्तेष्ट

पपुदक 'इन्' बाहुल 'णिनि' प्रत्यय हो और 'शिरस्' को 'शीर्ष' निपातन हो ।
लक्षणे जाया—जाया और 'णि' कर्मणोरुपपदक 'इन्' घाटवे 'टक्' प्रत्यय हो, लक्षण
वद कर्ता गन्धमान रहे तो । अमनुष्य—कर्मणोरुपपदक 'इन्' बाहुल 'टक्' प्रत्यय
हो, मनुष्यकर्तृके णिनि प्रत्यय । पतिष्नी इति—'इति' और 'कपार' कर्मणोरुपपदक 'इन्'

अध्यायां हरितकपाटयोः अर्जितोत्पपदयोर्हन्तेष्टक् । मनुष्यकर्तृकार्यमिदम् । इस्तिष्णो
 ङ । कपाटपद्मद्वोरः । 'कजट्टै'ति पाठान्तरम् । पाणिघताडवौ शिष्टिपनि
 इति १५५ एतौ निपात्येते, शिष्टिपनि कर्तरि । पाणिघः । ताडयः । शिष्टिपनि किं ?
 पाणिघातः । (राजघ उच्यतेऽख्यानम्) राजानं हन्ति-राजघः । आड्यसु-
 धावस्थूलपलितनगनाम्भमिषेषु चयर्थेष्वच्यौ कजः करणे ल्युन् । ३।२।५६।
 ल्यु चयर्थेष्वच्यन्तेषु कर्मसूपपदेषु क्वचः ल्युन् । अनाख्यमाखं कर्त्तव्यनया-आख-
 र्त्तणी । अखौ क्त्वि ? आख्योर्कर्त्तव्यनेन । कर्त्तरि भुवः खिष्णुञ्छुफञौ
 ३।२।५७। आख्यादिषु चयर्थेष्वच्यन्तेषु भक्तेरेतौ स्तः । अनाख्य आख्यो भवति-
 आख्यमविष्णु । आख्यन्मादुकः । सत्सुद्धिरद्रुहद्रुहयुजधिदभिदच्छिदजि-
 नीरजासुवसर्गेऽपि क्विप् । ३।२।६१। एभ्यः क्विस्स्यादुपसर्गे तत्त्यसति च सुप्-
 पदे ; वृसत् । 'सदिरप्रतेरिति पः । उपनिषत् । शण्डत् । प्रत् । मित्रद्विट् ।

गित्तरः । हरितको ना, इस्तिनं हन्तीति विग्रहे हनुधातोऽपि सुक्लुकि 'गमहन'
 इत्युपधातोपे 'हो हन्ते' इति क्त्वे नलोपे सौ क्त्वे विसर्गे 'इस्तिघ्नः'
 इति रूपं भवति । पाणिघताडवौ । एतौ निपात्येते शिष्टिपवति । शिष्टिपामावेऽपि 'पाणि-
 घाटः' इति रूपम् । राजघेने । राजानं हन्तीत्यर्थे 'राजघः' इति निपात्येते । आड्यसु-
 धातेति ल्युनित्यर्थः । अनाख्यमाखं कर्त्तव्यं अनयेति विग्रहे ल्युनि सुक्लुकि 'आड्य-
 क्त-सु' इति स्थिते आर्धधातुकत्वाद् गुणे रपरस्ते 'युदोरनाङौ' इत्यनिस्त्वित्पूर्वपदस्य
 'अक' इति सुमि अलुच्वारे परसद्वर्णे नस्य णस्वे ङीपि सौ हल्ङ्वादिङीपे 'आड्य-
 क्त-णी' इति रूपम् । कर्त्तरीपि । 'घाटयसुभग' इत्यतः चयर्थेष्वच्यवानिति ल्युवर्तते
 षड् आह-आड्यादिष्विति । अनाडयः आडयो भवति आडयंनविष्णुः । चयर्थे
 मूधातोः खिष्णुचि गुणे इडागने 'अरः' इति सुमि अलुच्वारे सौ क्त्वे विसर्गे 'आडयं-
 नविष्णुः । अनाडयः आडयो भवति 'आडयंनविष्णुः' मूधातोः सुक्लुजि निस्त्वाद् वृत्तौ
 जीर्वादेशे 'अरः' इति सुमि अलुच्वारे परसद्वर्णे सौ क्त्वे विसर्गे 'आडयंनविष्णुः' इति
 रूपम् । सत्सुद्धियेति । अपिसामेण्यादस्युपसर्गेऽपीति ज्ञापते । दिधि सौवृद्धि इति

धातुसे 'टक्' प्रत्यय ह, मनुष्यकर्तृक अर्थम् ।
 पाणिघ-—शिष्टी यदि दृता हो तो 'पाणिघ' और 'ताडय' निपातन हो ।
 राजघ-—'राजघ' यह निपातन हो । आडय-क्यर्थक (अभूतनद्वावार्थक) अच्यन्त कर्म-
 संज्ञक आख्य, इभग, स्थूल, पठित, जगन सन्ध गौर भिय उपपदक 'कृन्' धातुसे ल्युन् प्रत्यय हो ।
 कर्त्तरि सुधा-क्यर्थक अच्यन्त आड्यादि कर्मोत्प्रेरक 'धु' धातुसे 'खिष्णुन्' और 'दुक्लुन्'
 इत्येते ही, कर्ताम् । सत्सुद्धिरद्रु-उपसर्ग अर्थका ल्युपसर्ग सुभन्त उपपदक संदादि धातुभोसे

प्रदिद् । मित्रभुक् । प्रभुद् । गोभुद् । प्रभुक् । अश्वभुक् । प्रभुक् । वेदविद् । नि-
विद् । इत्यादि । (अग्रप्रामाण्यां नयतेर्गो पाठ्य.) अग्रणी । प्रामणी ।
अज्ञो विद् । शिः । शिः । अज्ञेरुपसर्गोऽनुपसर्गोऽपि सुबन्ते उपपदे च षिव' स्यात् ।
अशमाक् । प्रमाक् । अज्ञोऽन्ये । शिः । शिः । अज्ञेरन्ये सुबन्त उपपदे विद्

विग्रहे स्यातो 'सा' इति क्विपि 'उपदेशोऽनुनासिक इत्' इति इकारश्च, तथा
'लघुलटदिक्ते' इति कृत्य च हासजायां लोपे इत्य 'अभृक्' इति अणुलटंजायां
'योपृक्तस्य' इति षलोपे मुञ्जुकि 'विष उद्' इति षडन्तादेशे यणि सौ हृल्लपादि
लोप 'सुसत्' इति रूपम् । 'उपनिषद्' इति पूर्वोत्पत्तौ सद्भातो. 'सा' इति षिवपि
किर. सर्वापहारलोपे 'सद्विरमते' इति षत्वे सौ हृल्लपादिलोपे 'उपनिषद्' इति
रूपम् । अण्डम्, प्रम् । अण्डं सृते इति विग्रहे अण्डमिति द्वितीयान्तोपपदात् तथा
प्रपूर्वात् पूष्वातो 'सा' इति क्विपि क्विपो लोपे 'घारवादेः प स' इति षत्वे मुञ्जुकि
सौ इत्ये विसर्गे च कृते 'अण्डम्' 'प्रम्' इति रूपे भवत । मित्रदिद् प्रदिद् मित्र
द्वेषीति विग्रहे मित्रमिति कर्मोपपदात् तथा प्रपूर्वात् विप् षातोः क्विपि क्विपो लोपे
मुञ्जुकि सौ हृल्लपादिलोपे कश्चिदेन कश्चे 'वाऽवसाने' इति षत्वे 'मित्रदिद्-
प्रदिद्' इति रूपे भवत । मित्रभुक्-प्रभुक् । मित्रे भुक् इति विग्रहे कर्मोपपदात्
प्रपूर्वात् भुक् षातोः क्विपि क्विपो लोपे मुञ्जुकि सौ 'वाऽवसाने' इति षत्वे 'मित्रभुक्-
प्रभुक्' इति रूपानि भवन्ति । यदा कृष न स्यात्तदा 'हो क.' इति षत्वे कश्चिदेन
कश्चे वा षत्वे 'मित्रभुक् मित्रभुद् प्रभुद् प्रभुट्' इति रूपानि भवन्ति । 'गोभुक्, प्रभुक्' इति ।
गो शीर्षीति कर्मोपपदात् प्रपूर्वात् भुक् षातोः क्विपि क्विपो लोपे मुञ्जुकि सौ 'वादेः'
इति षत्वे 'एकाचो' इति षत्वे षत्वे कश्चे 'हृल्लपादि' इति लोकोपे 'गोभुक्-प्रभुक्'
इति रूपे सिध्यत । अश्वभुक्-प्रभुक् । अश्व युनक्ति इति कर्मोपपदात् प्रपूर्वात् भुक्
षातोः क्विपि क्विपो लोपे मुञ्जुकि सौ 'चो क.' इति षत्वे 'अश्वभुक्-प्रभुक्' इति रूपे
सिद्धि भवत । वेदविद्-निविद् । वेद वेदान् वा वेति इति । कर्मोपपदात् निपूर्वात्
विद् षातोः क्विपि क्विपो लोपे मुञ्जुकि सौ हृल्लपादिलोपे इत्य वा 'वेदविद्,
वेदविद्, निविद्, निविद्' इति रूपानि सिध्यन्ति । अग्रप्रामाण्यामिति । अग्र ग्राम वा
नयति इति विग्रहे कर्मोपपद प्रयतेः 'सा' इति क्विपि क्विपो लोपे मुञ्जुकि 'अग्र-
प्रामाण्यां नयतेर्गो पाठ्य' इति षत्वे षत्वे सौ इत्ये विसर्गे 'अग्रणी,' 'प्रामणी' इति
रूपे साधुनी । मञो षिवरिति । सोपपदात्तज्ञो षिवः स्यादित्यर्थ । अशमाक्-प्रमाक् ।

'वि' प्रत्यय हो । अग्रप्रामाण्यां—अग्र तथा ग्राम अर्थसे पर 'नी' वाच्ये नकारक
नकार हो । अज्ञो विद्—उपसर्ग वा अनुपसर्ग इत्यन्त उपपदक 'म' वाच्ये 'वि' प्रत्यय
हो । अज्ञोऽन्ये—अन्य अर्थसे विद् इत्यन्त कर्मोपपदक 'म' वाच्ये 'वि' प्रत्यय हो ।

स्यात् । आममतीति—आमात् । सस्यात् । अनन्ने किम् ? । अजादः ।
 क्रम्ये च । ३।२।६६। कर्मसञ्ज्ञके क्रम्यशब्दे उपपदे अदेर्विट् । पूर्वेण सिद्धे वर्त्त
 वाऽस्येति प्राप्ताऽप्याधनार्थम् । क्रम्यात्—आममांसमशकः । दुहः कप् घञ्च
 । ३।२।७०। दुहेः जुष्युपपदे कप् स्यात् । पश्चाऽन्तादेशः । कामदुघा । अन्येभ्यो
 ऽपि दृश्यन्ते । ३।२।७५। मनिन् कनिप् वनिप् विच् एते प्रत्यया धातोः स्युः ।
 नेङ् वशि कृति । ७।२।८। वशादेः कृत इण् स्यात् । सुशर्मा । प्रातरित्वा ।
 चिड्वनोरनुनासिकस्याऽऽत् । ६।१।४१। अनुनासिकस्याऽऽत् स्याद्विड्वनोः
 परयोः । विजायते इति विजाया । औण्ट अपनयने । अवावा । रोट् । रेट् ।

अंशं भजते इति कर्मोपपदात् प्रपूर्णांश्च मञ्जुधातोः 'मञ्जो विनः' इति णिवप्रत्यये ण्वेलांषि
 णिस्वाद्गुपधाद्द्वौ सुञ्जुकि सौ हल्ङ्वादिलोपे 'योः छुः' इति कृत्वे वा कर्त्वे 'अंशभाग्'
 'अंशभाक्' 'प्रभ' 'प्रसाक्' इति रूपाणि संतिष्ठन्ति । षदोऽनन्त इति । अत्रेतर-
 भण्णार्थेऽद्वा । ॥ विट्स्यादिस्यर्थः । आमात्-सस्यात् । आर्त्तं सस्यं वा मञ्जीति विग्रहे
 षद्धातोः विटि विटो लोपे सुञ्जुकि सौ 'हल्ङ्वाभ्यो' इति सुञ्जुकि सत्रणदीर्घं वा
 कर्त्वे 'आमात्-सस्यात्' ह्यनयोः सिद्धिः । क्रम्ये चेति । क्रम्यमाममांसं तदपि इति
 अर्थेऽनन्ते इति प्राक्नेनेन सिद्धं सूत्रमिदं 'वा सरूप' इति मासप्रणं चाधत्ते । क्रम्यात् ।
 क्रम्यमसि इति विग्रहे 'क्रम्ये च' इति विटि विटो लोपे सुञ्जुकि सौ हल्ङ्वादिलोपे
 सत्रणदीर्घं वा कर्त्वे 'क्रम्यात्-क्रम्यात्' इति रूपे भवतः । दुहः कप् वश्चेति । दुह्याघोः
 सोपपदात् कप् स्यात् घटान्तादेशे ह्यर्थः । कामदुघा । कामं तोरधीति विग्रहे कर्मो-
 चपदात् दुह्याघोः कृषि कृष्योलांषि ह्यस्य घत्वे किर्याद्गुणाभावे सुञ्जुकि 'अजा-
 यतष्टाप्' इति टापि सौ हल्ङ्वादिलोपे च कृते 'कामदुघा' इति रूपं भवति ।
 सुशर्मा । सुशु श्रुगारि सुशर्मा इत्यत्र सु पूर्वकश्चधातोः 'अन्येभ्योऽपि इरण्ठे' इति
 मनिनि, ह्नो लोपे 'श्च नश्' इति जाते, मनिनः 'आर्धं वातुकं शेषः' इत्यार्धं वातुक-
 र्त्वात् 'सर्वं वातुकार्धं वातुकार्धयोः' इति गुणे, 'इरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'आर्धं वा-
 तुकार्धेऽवलादेः' इति इटि प्राप्ते, 'नेङ् वशि कृति' इत्यनेन निपिद्धे उपपदसमासे,
 समासस्याप्रतिपदिकत्वे सावागते, सलोपे 'सर्वनामस्थाने चास्यनुत्तौ' इति नान्त-
 द्योपधाया दीर्घत्वे, 'हल्ङ्वाभ्यः' इति सूत्रोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य'

क्रम्ये च—कर्मसंज्ञक क्रम्य शब्दोपपदक 'अद्' धातुने 'विट्' प्रत्यय हो । दुहः—सुपन्त
 उपपदक 'दुह्' धातुने 'कप्' प्रत्यय हो और धातुसंज्ञक्यो हकारको भी घकार हो ।

अन्येभ्यो—अज्ञातस्य वाहु से मिन धातुने यो मनिन्, कनिप्, वनिप् और विच् प्रत्यय हों ।

नेङ् वशि—रशादि कर्मप्रत्ययको इट् नहीं हो । विड्वनो—अनुनासिकलोपे वात् (वाकार

सुगम् । क्विप् च । ३।२।७६। अयमपि दृश्यते । उतासन् । पर्णध्वत् । वादधत् ।
 अन्त' । ८।४।२०। पदान्तस्याऽनितेर्नस्य णत्व स्यादुत्सर्गस्य, निमित्तात्परश्चेत् । हे
 प्राण् । (आशासः काबुपधाया इत्वं धाच्यम्) धाशी । इत्तोरे । गो ।
 पू । 'मो नो धातो' । प्रतान् । प्रशान् । गमः-कर्म । ६।४।४०। गम इति
 अनुनासिकलोप स्यात् । अहणत् । (गमादीनामिति वक्तव्यम्) पुरीतत् ।
 सवत् । (ऊङ् च गमादीनामिति वक्तव्यम्) लोपश्च । अमेत् । अमेत् ।

इतिमलोपे, 'सुगमा' इति रूपम् । पर्णध्वत् । पर्णात् ध्वसते इति विप्रश्नः । 'क्विप्
 च' इति क्विपि, क्विपः सर्वापहारे, 'अनिदितां हठ उपधायाः क्विति' इति मलोपे,
 उपपदसमासे, सुपो लुकि, मनुदायासौ, तस्य लोपे, 'वसुधसुध्वत्' इति सस्य दस्ये
 न्त्ये 'पलंरवत्' इति । हे प्राण् । मपूर्वाद्गणानो 'क्विप् च' इति क्विपि क्विपो लोपे
 दोर्धे 'अन्त' इति णत्वे सौ हृत्कृत्वादि लोपे हे 'प्राण्' इत्यस्य सिद्धिः । आशान् इति ।
 आदृशत् धातवे क्विप् स्यात् उपधाया इत्य चेति भावः । आशासु धातो-
 क्विपि क्विपो लोपे 'आशास' इत्युपधाया इदादेते 'आशितम्' इति आशे सौ सोल्लोपे
 सस्य दस्ये 'वोदपधाया' इति दीर्घे दिसर्ग च कृते 'धाशो' इति रूपम् । गो-
 पू । गू पू अन्तयोः क्विपि तस्योपे 'श्रुत् इद्धातो' इति प्रथमस्येत्वे लयापरस्य
 'उदोदपपूर्वस्य' इति उक्ति रपात्वे सौ हृत्कृत्वादि लोपे 'गो' इति दोर्धे दिसर्ग च हृत्वे
 'गो' 'पू' इत्युभयो सिद्धिः । प्रतान्, प्रशान् । मपूर्वात् गम गमश्च क्विपिक्विपो लोपे
 सौ सोल्लोपे 'मो नो धातो' इति नान्ये मातःकाबुपधादीर्धे 'प्रतान् प्रशान्' इति म्ये
 मयत् । गम क्विपिनि । 'अनुदासोपदेन' इत्यत अनुनासिकलोप इति । सौ परतो
 गमोऽनुनासिकलोप इत्यर्थः । अहणत् । अहण गच्छति इत्यर्थो 'क्विप् च' इति क्विपि
 वसुपे 'गमः कर्म' इत्यनुनासिकलोपे सुबुद्धि 'इत्यस्य पिति क्विति क्विप्' इति क्विपि
 क्विपिवादनधावयवे सौ हृत्कृत्वादि लोपे 'अहणत्' इति रूपम् । गमादीनामिति ।
 काबुगुणासिकलोप, स्याद्विगर्धः । पुरीतत् । पुरि दृश्यात्पदः मोसपिपदनिरोप' सतमोनि
 काबुधादपति इति विप्रश्ने क्विपि क्विपो लोपे 'गमादीना' इति वार्तिकेन अनुनासिक
 लोपे 'इत्वंस्य' इति क्विपि 'नक्षिपति' इति दोर्धे सौ हृत्कृत्वादि लोपे 'पुरीतत्' इति
 रूपम् । सवदिति । सपूर्वाद् यमगानोः क्विपि क्विपो लोपे 'गमादीनाम्' इति अनुना-

जादेश) हो, विट् और वट्के परे । क्विप् च—सामान्यतय, समो वादुभौके विट् प्रत्यय हो
 (देवा देवा जाता है) । अन्त—उत्सर्गस्य निमित्तते परे पदान्त 'अन्' वादुक्त गकारको
 णत्व हो । आशास—भाक् पूर्वक 'शास्' वादु को उपधाको इत्व हो, क्विपुके परे ।

सवत् ही—'गन्' वादुके अनुनासिकका अन्त हो, विट्के परे । गमादीनाम्—गमादि
 णत्वकोके अनुनासिक का अन्त हो, क्विपुके परे—देवा कहना आदिये । उङ् च गमा—कादि

स्थः क्व च [३२]७७] स्यावातोः सुप्युपपदे कः स्यात् । चाक्किप् । शंस्यः । शंस्याः । सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये [३२]७८] अजात्यर्थे सुवन्ते उपपदे धातोर्णिनिः स्यात्ताच्छीत्ये होत्ये । उष्णमोजी । शीतमोजी । मनः [३२]८२] सुपि मन्यतेर्णिनिः स्यात् । दर्शनीयमानी । आत्ममाने स्वश्च [३२]८३] स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि खश् स्यात् । चाण्णिनिः । पण्डितमात्मानं मन्यते-पण्डितमन्यः । पण्डितमानी । इत्थं षंकाचोऽम् प्रत्ययसञ्च [६३]६८] इजन्ता-

सिकलोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ ह्रस्वणदिलोपे 'संयत्' इति रूपम् । ऊञ्चेति । चकारादनुनासिकलोपः स्नादित्यर्थः । ऊञ्चिति तु उपधाया धादेशः । गच्छतीति गूः भ्रमति इति भ्रः । गमभ्रमोः क्विपि क्विपो लोपे 'ऊञ् च' इति अनुनासिकलोपे अकारस्य ऊञ्जादेशे सौ ह्रस्वे विसर्गे 'गूः' 'भ्रः' इति रूपे सञ्चतः । रथः क चेति । स्या धातोः कः स्यात्चाक्किप् । शं तिष्ठतीति विभ्रहे स्याधातोः कप्रत्यये 'धातो लोप इटि च' इत्यालोपे सौ ह्रस्वे विसर्गे 'संस्यः' इति रूपम् । यद्वा क्विप् स्यात्तदा क्विपो लोपे सौ ह्रस्वे विसर्गे च कृते 'शंस्याः' इति रूपमापद्यते । उष्णमोजी । उष्णं भोजितुं शीतनस्यास्तीति उष्णमिति जातिभित्ते कर्मण्युपपदे भुञ् धातोः 'सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छीत्ये' इति णिनिः णगते धार्धधातुकसंज्ञायां 'सुगन्तपवूपस्य च' इति लघूपधगुणे, उपपदसमासे, सुपो लुकि, सप्तधायासौ, उगते, 'सर्वनामस्याने चासप्तुद्धौ' इत्युपधायाः दीर्घत्वे 'ह्रस्वधा-व्यः' इति लुलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे, 'उष्णमोजी' इति रूपम् । आत्ममाने स्वश्चेति । आत्मानं मन्यते इति स्वकर्मके मनने वर्तमानान्मन्यतेः सुपि स्यात् स्यात्चाण्णिनिः । पण्डितमन्य इति । पण्डितमात्मानं मन्यत इत्यर्थे 'आत्ममाने स्वश्च' इति त्रिंशत्तन्नीरित्त्वे लोपे सुब्लुकि 'क्षत्' इति सुग्यनुस्वारे परसवर्णे शिवा-स्त्वार्वधातुकसंज्ञायाम् 'दिवादिभ्यः श्यन्' इति श्यनि सौ ह्रस्वे विसर्गे 'पण्डितमन्यः' इति रूपम् । पण्डितमानी । पण्डितं-मन्-णिनि इत्यवस्थायां सुब्लुकि 'क्षत्-उपधायाः'

- धातुर्भवे 'ऊञ्' प्रत्यय हो और धातुके अन्तका लोप हो—येता कहना चाहिये ।
- स्थः क्व च—सुप्यन्त उपपदक 'स्ता' धातुसे 'क' प्रत्यय और चाक् क्विप् प्रत्यय भी हो ।
- सुप्यजातौ—अजात्यर्थक सुवन्त उपपद रहनेपर धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो, ताच्छीत्य् अर्थमें ।
- मनः—सुवन्त उपपदक (दिवादिभ्य) 'मन्' धातुसे 'णिनि' प्रत्यय हो ।
- आत्ममाने—सुवन्त उपपदक स्वकर्मक मनन अर्थमें वर्तमान (दिवादिभ्य) 'मन्' धातुसे 'स्य' प्रत्यय और स्यात्तात् 'णिनि' प्रत्यय भी हो ।
- इत्थं षंकाचो—इजन्त लोप सप्तम् सुब्लुक्, कृते, 'कन्' हो और इह धम् स्वादि (द्वितीयेऽपचन) धम्के लक्षण हो, किन्त्य उच्चपण्डि परे ।

देशचोऽम्स्यास च स्वाद्यम्बन्, सिद्दन्ते परे । 'मौतोऽम्शसोः' । गाम्मन् ।
 'धाऽम्शसोः' श्रियमन् । क्षीमन् । नृ-नरमन् । सुबमन् । श्रियमात्मानं
 मन्वते-श्रियमन् कुलम् । भाष्यकारप्रयोगाच्छ्रीशब्दस्य हम्पो, सुमनोरभावश्च । भूते । ३।
 २।८४। अघिघारोऽय 'वर्तमाने लटि'ति यावत् । करणे यज् । ३।२।८५। करणे
 उपपदे भूतार्थाद्यजेर्जिति स्याकर्त्तरि । सोमेनेष्टवान्-सोमयाजी । कर्मणि हनः
 । ३।२।८६। कर्मण्युपपदे भूतार्थाद्दन्तेर्जिति स्यात् । वितृष्ययात् । ब्रह्मभ्रूणघृष्येपु

इत्युपधादीर्घे सौ 'सौ च' इति दीर्घे हलृष्वादिषोऽपे 'नलोप' इति नलोपे 'पण्डित्य
 मानी' इति रूप प्रसिद्धति । इत् णि । ब्रह्मणोऽप्योऽम् ग च स्वाद्यम्बरयात्
 सिद्दन्ते परे इत्यर्थः । गाम्मन् गामात्माचं मन्वते इत्यर्थे 'आत्ममाने राश' इति खसि
 'दिवाविम्यः श्वन्' इति श्वनि सुम्भुकि 'मो-मन्-य-अ' इति श्वितौ 'इत् पृष्ठाचोऽ
 म्भस्यपञ्च' इति अमि 'मौतोऽम्शसोः' इति धाकार पृष्ठादेशे सौ रूपे विभक्तौ
 'गाम्मन्' इति रूपम् । श्रियमन् । श्रियमन्मात्रं गन्वते इत्यर्थे 'आत्म माने राश'
 इति खसि श्वनि सुम्भुकि 'इत् पृष्ठाचो' इति पूर्वपदादिमि मन्वपवारे 'वाग्वासो'
 इति शेषति 'अमि पूर्व' इति पूर्वकारत्वे सौ रूपे विभक्तौ च कृते 'श्रियमन्-घोमन्'
 इति रूपे मन्वत् । नरमन् । 'नर-मन्-य-अ' इति श्विते सुम्भुकि 'इत् पृष्ठाचो'
 इति पूर्वपदादिमि सर्वनामरधानसशायां गुणे उपरात्वे 'सौ रूपे विभक्तौ 'नरमन्'
 इति रूपम् । सुब मन् ॥ 'सुब-मन्-य-अ' इति चात्ते सुम्भुकि पूर्वपदात् 'इत् पृष्ठा-
 चो' इति अमि 'अचि श्वन्' इत्युपति सौ रूपे विभक्तौ 'सुबमन्' इति रूपम् ।
 श्रियमन् कुलमिति । श्रियमात्मानं मन्वते इति विभक्ते 'आत्ममाने राश' इति खसि
 सुम्भुकि भाष्यकारप्रयोगात् श्रीशब्दस्य 'इत्पृष्ठाचोऽम्भस्ये श्वनि सौ 'मौतोऽम्'
 श्रियमि 'अमि पूर्व' इति पूर्वरूपे रूपम् । भूते । वर्तमाने लटिति यावत् ये प्राक्पदा
 वक्ष्यन्ते भूते स्युरित्यर्थः । अघिघारवजादिति शेष । सोमयाजी । सोमेनेति करणे उप
 पदे भूतार्थे कर्त्तव्यं पञ्चातोर्जितिप्रायवे, णगते 'अत् उपपादा' इति वृद्धौ, उपप
 दसमासे सुपो लुकि, 'सोमयान्ति' इति भूते लृष्वादी, नलोपे, 'सौ च' इति
 नास्तस्योपधाया दीर्घात्, 'हलृष्वादिषोः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिसाम्प्रदाय'
 इति नलोपे च कृते 'सोमयाजी' इति सिद्धम् । कर्मणि हनः । कर्मण्युपपदे इत्पृष्ठा-
 र्जिति स्याकर्त्तरि भूते इत्यर्थः । वितृष्ययात् । वितृष्य इत्कामित्यर्थे इत्पृष्ठा

भूते-—'वर्तमाने लट्' तत्र यद् अघिघार षे । करणे यज् —करण (सप्तक सुबन्) ।
 सु मानी—मन्वात्पर्यन्तं सुबन् उपपद रविषर पाठान्ते 'जिति' प्रत्यय हो, तावन्तोऽय
 उपपदक 'नन्' पाठान्ते भूतकारत्वे 'जिति' प्रत्यय हो, कर्त्तव्ये ।
 कर्मणि—कर्मसप्तक सुबन् उपपदक 'इत्' पाठान्ते भूतकारत्वे 'जिति' प्रत्यय हो, कर्त्तव्ये ।
 ब्रह्मभ्रूण—नकादि कर्त्तव्यसप्तक 'इत्' पाठान्ते भूतकारत्वे 'जिप्' प्रत्यय हो, कर्त्तव्ये ।

द्विष्टम् । ३।२।८७। अग्नादिद्रुपपदेषु भूतावाद्दन्तेः क्षिप्स्यात् । ब्रह्मणा । भ्रूणहा ।
 घृत्रहा । 'क्षिप्चे'त्येव सिद्धे 'अग्नादिष्वेव' 'क्षिवे'वेति द्विविधनियमार्थमिदम् । एव-
 मग्रेऽपि । सुकर्मपापमन्त्रपुण्येषु कृत्वः । ३।२।८९। स्वादिषु कर्मसपपदेषु कृत्वः
 क्षिप्स्याद् भूते । सुकृत । कर्मकृत । पापकृत । मन्त्रकृत । पुण्यकृत । सोमे सुजः
 । ३।२।९०। सोमे कर्मप्युपपदे सुनोतेः क्षिप्स्याद्भूते । सोमसुत् । अग्नी च्चे । ३।
 २।९१। अग्नी कर्मप्युपपदे विनोतेः क्षिप्स्याद् भूते । अग्निचित् । कर्मपयग्न्या-
 ख्यायाम् । ३।२।९२। कर्मप्युपपदे कर्मप्येव कारके विनोतेः क्षिप् स्यात् ,
 अग्न्याधारस्पर्शविशेषस्याऽऽख्यायाम् । श्येन इव चितः—श्येनचित् । कर्मणीनि

'कर्मणि हनः' इति णिनि प्रत्यये सुव्लुकि 'हनस्तोऽधिष्णलोः' इति तत्वे 'हो हन्तेः'
 इति धावे उपधादीर्घत्वे 'पितृष्वात्तिन्' इति धाते सौ 'सौ च' इति उपधादीर्घत्वे
 हृत्त्वादिछोपे 'नलोपः' इति नलोपे 'पितृष्वात्ती' रूपं स्पष्टं सिध्यति । ब्रह्मभूणेति ।
 णिनेनिवृत्तिः क्षिप्त्वात् । 'कर्मणि हनः' प्रत्ययो हन इति अनुषज्यते । एतेषूपपदेषु
 हनः क्षिप् स्यादित्यर्थः । अग्ना-घृत्रहा-भ्रूणहेति । ब्रह्म-घृत्रं-भ्रूणं वा हृत्त्वानित्यर्थे
 'अग्नाभ्रूणघृत्रेषु क्षिप्' इति क्षिपि क्षिपो लोपे कृदन्तत्वात्पितृष्वात्त्वे सौ लोः उर्ध्वनाः
 तस्यानन्वात् सौ च' इति दीर्घे हृत्त्वादिछोपे 'नलोपः' इति लोपत्वे 'अग्ना-घृत्र-
 हा-भ्रूणहा' इति रूपाणि भवन्ति । सुकर्मति । क्षिप् स्यादित्यर्थः । सुकृत-कर्मकृत-पाप-
 कृत-मन्त्रकृत-पुण्यकृत इति । सु-कर्म-पाप-मन्त्रं पुण्यं वा कृतत्वानित्यर्थे 'सुकर्म इति
 क्षिपि क्षिपो लोपे क्षिपः पितृष्वात् 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुव्लुकि सौ हृत्त्वादिछोपे
 प्रोक्षानि रूपाणि भवन्तीत्यवश्यम् । सोमे सुज इति । क्षिप्स्यादित्यर्थः । सोमं सुतवान्
 इत्यर्थे 'सोमे सुजः' इति क्षिपि क्षिपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुव्लुकि सौ हृत्त्वादि-
 दिछोपे 'सोमसुत्' इति रूपम् । अग्निचितिति । अग्नि चितवान् इत्यर्थे 'अग्नी च्चे'
 इति । दि क्षिपो लोपे 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सुव्लुकि सौ हृत्त्वादिछोपे 'अग्निचित्'
 इति रूपं भवति । कर्मणीति । भूते इति शेषः । श्येनचित् । श्येन इव चित् प्रत्यर्थे
 चित् धातोः क्षिपि क्षिपो लोपे सुव्लुकि 'ह्रस्वस्य' इति तुकि सौ हृत्त्वादि-

सुकर्मपाप—'सु' और कर्मसंबन्ध 'कर्म'दि' उपपदक 'सु' धातुसे सुकर्मार्थे 'क्षिप्' प्रत्यय हो
 वर्तमाने । सोमे सुजा—'सोम' कर्मोपपदक 'सु' धातुसे सुकर्मार्थे 'क्षिप्' प्रत्यय हो, वर्तमाने ।
 अग्नी च्चे—'अग्नि' कर्मोपपदक 'चि' धातुसे अग्निकारार्थे 'क्षिप्' प्रत्यय हो, वर्तमाने ।
 कर्मण्य—कर्मसंबन्ध सुकृत उपपद रत्ने पर कर्मकारार्थे ही 'चि' धातुसे 'क्षिप्' प्रत्यय
 हो, यदि कर्मकार रत्नविशेषकी जात्या कर्मकार रहे ।

अग्नी च्चे—'अग्नि' कर्मोपपदक 'चि' धातुसे अग्निकारार्थे 'क्षिप्' प्रत्यय हो

विक्रियः । ३।२।९३। कर्मण्युपपदे विर्वात्कौमातेरिति स्यात् । (कुरित्तप्र-
हणं कर्त्तव्यम्) सोमविक्रयी । घृतविक्रयी । दशे. फवनिप् । ३।२।९४। दशे-
कनिप् स्यात् कर्मणि भूते । पार दृष्टवान्-पारदृष्टा । राजनि युधिकृञ् । ३।२।
९५। राजञ्छन्दे कर्मण्युपपदे युध्यते, करोतेष कनिप् स्यात् । 'युधि'रन्तर्भावित-
ण्यर्थ । राजानं योधितवान्—राजयुष्या । राजकृत्वा । सहे च । ३।२।९६। सहे
उपपदे युधिकृञो. कनिप्स्यात् । सहयुष्या । सहकृत्वा ॥ स्वप्तर्ष्यां जनेर्हं. ३।२।
९७। सप्तम्यन्ते उपपदे जनेर्हं स्यात् । तत्पुरुषे कृनि यदुल्लम् । ३।३।
तत्पुरुषे समासे कृदन्ते उतरपदे बहुसं ऋलुङ् । सरतिञ्म् । सतोञ्म् । उप-
सर्गे च संज्ञायाम् ३।२।९९। उपसर्गे उपपदे जनेर्हं स्यात्सञ्ज्ञायाम् । प्रजा ।
धनौ कर्मणि । ३।२।१००। अनेर्वाञ्जने कर्मण्युपपदे ष स्यात् । पुमासमनु-
रूप्य जाता-पुमनुजा । अन्येष्वपि दृश्यते । ३।२।१०१। अन्येष्वपि कारकेदू-
-

द्विलोपे 'श्वेनचित्' इति रूपं ज्ञातु । योगविक्रयी-घृतविक्रयी । सोम-विडी-
घृत विक्री—'कर्मणि' इति इति प्रत्यये सुन्नुडि गुनेऽप्यादेशे ली 'ली चे'ति
वीर्ये दृष्टवादिश्लोपे मलोपे 'सोमविक्रयी-घृतविक्रयी' इति रूपे भवति ।
सोमघृतयो विक्रयः टिन्नेषु कुरित्तत्वं घोषयति । तयोर्विक्रयणस्य नियेयात् ।
सरतिञ्म् । सरति जातम् मरसिञ्म्, अत्र सप्तम्यन्ते सरति इत्युपपदे जन्पातोः
'सप्तम्यां जनेर्हं' इति चे, 'सुट्' इति दरभेसञ्ज्ञायां श्लोपे च कृते न इत्यथशिष्टे,
दित्यसामर्थ्यादमर्यापि टेलोपे, उपपदसमासे, 'कृचद्वित्तसमासाच्च' इति प्रातिपदि
कसञ्ज्ञायां 'सुपो धातुमात्रिपदिठयोः' सप्तम्याः—'शेर्लोपे प्राप्ते, 'तत्पुरुषे इति बहु-
लम्' इति शेरलुकि, पुरुषेसविहृणञ्जायेन सङ्गहादस्य प्रातिपदिहरवाली, 'अतो
ऽम्' इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वस्ये 'सरतिञ्म्' इति रूपम् । धनौ कर्मणि ।
'सप्तम्यां जनेर्हं' इत्यतो ष इति । मूनार्थेऽनुत्तेरिति शेषः । 'पुमनुजा' पुमांसमनुरूप्य

कुरित्त—उपसर्ग क्री' धातुसे कुरित्त (निन्दित) ण्यर्थे हो 'रनि' प्रत्यय हो ।
दशे कनिप्—कर्मोपपदक 'दृश्' धातुसे भूतकाळमे 'कनिप्' प्रत्यय हो ।
राजनि—कर्मोपपदक 'राजन्' शब्द उपपदक 'युष्' तथा 'कृञ्' धातुसे 'कनिप्' प्रत्यय हो ।
सहे च—'सह' शब्दोपपदक 'युष्' शौर 'कृञ्' धातुसे 'कनिप्' प्रत्यय हो ।
सप्तम्यां—सप्तम्यन्त उपपदक 'अन्' धातु से 'ञ' प्रत्यय हो । तत्पुरुषे-तत्पुरुष
समासे कृद व उपपदपदक 'कि' विभक्तिज्ञा बहुलु हो, बहुलु (विकरर) से ।
उपसर्गे च—उपसर्गे उपपदक 'अन्' धातुसे 'ञ' प्रत्यय हो सदासै ।
धनौ कर्मणि—कर्मोपपदक 'अन्' पूर्वक 'अन्' धातुसे 'ञ' प्रत्यय हो ।
अन्येष्वपि—कर्मोपपदक 'अन्' धातुसे 'ञ' प्रत्यय हो, अन्' धातुसे 'ञ' प्रत्यय हो,

पदेषु जनेडः स्यात् । अजः । द्विजः । ब्राह्मणजः । 'अपि'शब्दः सर्वोपाधिव्यभि-
 चारार्थः । तेन धात्वन्तरादपि, कारकान्तरेष्वपि कश्चेत् । परितः खाता—परित्वा ।
 पञ्चम्यामजातो । ३।२।१८। जातिशब्दवर्जिते पञ्चम्यन्ते जनेडः स्यात् । संस्कार-
 रजः । अष्टम्यः । क्तकवन् नु निष्ठा । ३।२।२६। एतो निष्ठासंज्ञौ स्तः । निष्ठा
 ३।२।२०२। भूतार्थवृत्तेर्घातोनिष्ठा स्यात् । तत्र—'तयोरेवे'ति भावकर्मणोः क्तः ।
 'कर्त्तरि कृ'दिति कर्त्तरि-क्तवतुः । स्नातं मया । स्तुतस्त्वया विष्णुः । विष्णुर्विश्वं
 कृतवान् ॥ अदो जग्निर्ह्यसि किति । ३।४।३६ ल्यपि तादौ किति च ।
 इकार उच्चारणार्थः । जग्मम् ॥ निष्ठायामप्यदर्थे । ६।४।६। ०। प्यदर्थो भावक-
 र्मणो, ततोऽप्यत्र निष्ठायां द्वियो दीर्घः स्यात् ॥ द्वियो दीर्घात् । ६।२।४६। निष्ठा-

जाता इत्यर्थे 'अनौ कर्मणि' इति जन्धातोर्दप्रत्यये द्विवाट्टेलोपे सुब्लुकि 'संशो-
 गान्तस्य लोप' इति लोपे अदन्तरादापि सौ हल्ङ्वादिलोपे 'पुमनुजा' इति रूपं
 भवति । अन्येऽप्येति । अन्येष्वप्युपपदेषु भूतार्थवृत्तेर्जन्धातोर्दः स्थापित्यर्थः । द्विजः
 ब्राह्मणजः । द्विजातः, मातागजातः इति भूतार्थवृत्तेः जन्धातोः 'अन्त्येष्वपि इत्यथे'
 इति उप्रत्यये द्विवाट्टिलोपे सुब्लुकि सौ हवे विसर्गे द्विजः-ब्राह्मणजः इति रूपे
 भवति । अथिप्रहणसामर्थ्यात्कारकान्तरादपि ङः इत्यर्थः । धात्वन्तरादपीत्यपि धात्वेन
 ह्यन्त्ये अथ जाह- गतिरेति । परिपूर्णात् खन् धातोर्भूतार्थवृत्तेः 'अन्त्येष्वपि' इति उ
 प्रत्यये द्विवाट्टिलोपे 'अजाघतष्टाप्' इति टापि हल्ङ्वादिलोपे 'परित्वा' इति रूपं
 अभवति । पञ्चम्यामजाताविति । संस्कारजः-अष्टम्य इति । संस्काराजातः, अष्टम्याजः
 इत्यर्थे 'पञ्चम्याम्' इति जन्धातोर्दप्रत्यये टिलोपे सुब्लुकि सौ हवे विसर्गे 'संस्कार-
 रजः'अष्टम्यः' इति रूपे भवति । अदो जग्निरिति । अदो जग्निरादेशः श्वात्प्रत्यये
 सादौ किति च । इकारस्य प्रयोजनं दर्शयति-उच्चारणार्थ इति । न्यमिति । क्तुधातोः
 'निष्ठा' इति उप्रत्यये क्तलोपे 'अदो जग्निर्ह्यसिकिति' इति जग्नादेशे 'सप्तशतयोः'
 इति तस्य हवे 'सरो हरि लवणं' इति पूर्वश्लोपे 'जग्' इति जाते हृदन्तरात्का-
 तिपदिक्रमे सौ अन्ति पूर्वरूपे 'जग्म' इति रूपम् । निष्ठायागिति । भावकर्मण्या-
 मन्वास्मिन्नर्थे निष्ठायाः परत्वे द्वियो दीर्घः स्यात् । द्वियो दीर्घात् । दीर्घाकृतात् द्विजः

तथा सुशोभात् अथिप्रह्रात् अन्वाभ्य धातुर्जाते औ सुवन्त मात्र उपपद रदनेपर 'ङ' प्रत्यय हो ।
 पञ्चम्यामजातो—जातिवाचकस्ते भिन्न पञ्चम्यन्त उपपदक 'जन्' धातुसे 'ङ' प्रत्यय हो ।
 क्तकवन्—'क्त' और 'क्तवतु' को निष्ठासंज्ञा हो । निष्ठा—भूतार्थवृत्ति धातुसे निष्ठा
 (क्त और क्तवतु) प्रत्यय हो । अदो जग्नि—'अद्' को 'जग्नि' धातुसे हो, उपपदके परे
 और तादि कित्ते परे । निष्ठाया—भावकर्मसे अन्य अर्थमें निष्ठा प्रत्ययके परे 'दि' धातुके
 दीर्घ हो । द्वियो दीर्घात्—दीर्घान्त 'द्वी'से पर विधाने तत्रादेशे नकार आदेश हो ।

त्स्य न । क्षीणवान् । भावकर्मणोस्तु क्षितः कामो मया ॥ (ऊर्णोतेर्णुयन्द्वापो दाप्यः) । तेन एकाच्त्वाधेट् । ऊर्णुत ॥ रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः । १।२।४२। रदाभ्यां परस्य निष्ठातस्य नो निष्ठावेश्या पर्यस्य धातोर्दस्य च । श— शीर्णं । भिन्नः । क्षिप्तः । संयोगादेरतो धातोर्दस्य च । १।२।४३। यन्त्वत्स्योपादेशोऽन्ताभिष्ठातस्य न । द्रागः । ग्लानः ॥ स्वादिभ्यः । १।२।४४। एक विरातेर्लुधादिभ्यः प्राग्बन् । लूनः । ज्या—'प्रदिज्या' । हलः । १।४।२। अद्वाभ्यां प्रत्यये परं यत्प्रसारणं तदन्तस्याहस्य दीर्घः । जीनः ॥ (तुन्दोर्दीर्घः) तु गतौ । दूनः ॥ गु पुरोपोत्सर्गः । गूनः । (पूजो विनाशः) । पूजा यथा ।

परस्य निष्ठासञ्चयस्य तस्य नः स्याद्विषयः । क्षीणवान् । विपातो. 'निष्ठा' इति क्वचतु प्रत्यये कस्येत्संज्ञालोपयो. 'निष्ठायामप्यदये' इति दीर्घत्वे 'द्वियो वीर्षात्' इति मत्वे नारये सौ सर्वनामस्थानत्वे 'उगिद्वाम्' इति जुमि 'सर्वनामस्थाने' इति उपधाया दीर्घत्वे 'क्षीणवान् व.सु' इति जाते उलोपे 'हृषट्पाभ्यो' इति सलोपे सयोगान्त लोपे तस्यासिद्धत्वाच्चलोपामावे 'क्षीणवान्' इति रूपम् । क्षिप्त इति । विपातो क्व प्रत्यये सौ हत्ये विसर्गे रूपम् । ऊर्णोतेरिति । पुमाधिरस्य कार्याण्यदधेधानि मत्सर्गोति माधिरत्येत्सर्गः । ऊर्णुः । ऊर्णुम् धातोः क्वप्रत्यये शुद्धत्वात् एकाध्याय इडभावे सौ हत्ये विसर्गे 'ऊर्णुः' इति रूपम् । भिन्नः । भिदातोः 'भिन्न' इति क्लेकलोपे, 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति निष्ठातस्य भिदो इत्य च मत्वे, किरवाद्-गुणाभावे विभक्तिकार्ये च तरितद्धिः । दूनः । दून्येदने धातोः 'निष्ठा' इति क्लेकलोपे, 'स्वादिभ्यः' इति निष्ठातकारस्य नारये, विभक्तिकार्ये च तरितद्धिः । दूहः । दियोगे पञ्चम्येया । हलः परस्येति छन्द्यते । 'सम्प्रसारणस्य' इति सूत्रानुवर्तते । अद्वाभ्यामधिकृतमिहानुवृत्तमावर्यते । एकमध्ययपञ्चम्यन्तं हल इत्यणान्वेति, अद्वाभ्यामवाहल इति छम्पते । द्वितीयन्तु स्थानपठयन्त सम्प्रसारणेन विशेष्यते । तदन्तविधिः । 'उलोपे' इत्यतो दीर्घं इत्यनुवर्तते । तदाह—अद्वाभ्यामवादिभ्यादिना । दुग्धोरिति । किति तकारे दुग्धुभावात् । दीर्घत्वं धान्यमिधयं । दून गून इति ।

ऊर्णोते—'ऊर्णु' बाहुको गुक्त्वात् हो । रदाभ्यां निष्ठातो न—रेफ-वकारौ पर निष्ठा स्वन्वी उकारको नकार आदेश हो और निष्ठाते पूर्व बाहु सन्धी तकार उकारो मी नकार आदेश हो । संयोगादेरतो—यन्वान् को संयोगादि आकारान्त धातु, इससे पर को निष्ठा स्व-नो वन्त्, उकारो नकार आदेश हो । स्वादिभ्य—एकविंशति (२१) स्वादि धातुगोते पर निष्ठा-सन्धी तकारको नकार आदेश हो । इणः—अगावयव इण्से पर को सम्प्रसारण, एणत् को ऋण्, ऋणको दीर्घ हो । तुन्दोर्दीर्घ-तु' और 'तु' बाहुसे पर निष्ठा-सन्धी उकारको नकार आदेश हो और तु-तुके उकारको दीर्घ मी हो । पूजो विनाशो—'पूज्' बहुषे स्व

विनाश इत्यर्थः । पूतमन्यत । (सिनोतेर्प्रासकर्मकर्तृकस्य) सिनो प्रासः ।
 प्रासेति किम् ? सिता पाथेन सूकरी । कर्मकर्तृकेति किम् ? सिनो प्रासो देवदत्तेन ।
 ओदितश्च । १८।२।४५। प्रासवत् । भुजो, भुजः । दुष्प्रोक्षि, उच्छूनः ।
 द्रवमूर्तिस्पर्शयोः प्रयः । १६।१।२४। द्रवस्य मूर्ति, काठिन्ये, स्पर्शे चाप्ये
 श्येदः सम्प्रसारणं स्याद्विधायाम् । श्योऽस्पर्शे । १८।२।४७ श्येजो निष्ठा-
 तस्य नः स्यादस्पर्शेऽर्थे । शीतं घृतम् । अस्पर्शे किम् ? शीतं जलम् ।

दुष्वातोः गुष्वातोश्च 'निष्ठा' इति कप्रत्यये 'दुम्बोर्द्विर्ध्व' इति दीर्घत्वे चकारेण तस्य
 नत्वे सौ हत्वे विसर्गे 'दूनः' 'गूनः' इति रूपे भवतः । पूजो विनाश इति । विनाशार्थे स्ते
 परतः तस्य नत्वमित्यर्थः । पूनाः यवाः । पूज् घातोः कप्रत्यये 'पूजो विनाशो' इति
 तस्य नत्वे अलि दीर्घत्वे स्तुत्वे विसर्गे 'पूनाः' इति रूपम् । यवाः इति विनाशार्थ-
 स्फोरणायैति बोध्यम् । अन्यत्र न नत्वमत आह—पूतमिति । सिनोतेरिति । प्रासार्थे
 कर्मकर्तृकस्य सिनोतेः परस्य कस्य नत्वमित्यर्थः । सिनो प्रासः । पिन्घातोः कप्रत्यये
 'सिनोतेः' इति तस्य नत्वे सौ हत्वे विसर्गे च कृते 'सिनः' इति रूपम् । अन्यत्र तु
 सितेत्यादि । कर्मकर्तृकस्यैव भवति । अन्यथा सिनो प्रासो देवदत्तेनेत्यादौ नत्व-
 प्रसंगात् । कर्मकर्तृके तु चवा प्रासो द्रव्यादिभ्यश्चनेन स्वयं बद्धो भवति इति
 भावार्थेऽन्यकर्तृकाभावाच्च दोष इत्यर्थः । उच्छूनः । उदुपसर्गकदुष्प्रोक्षिघातोः 'निष्ठा'
 इति कप्रत्यये, कलोपे, 'आदिर्जिदुहवः' इति दीर्घसंज्ञायां लोपे च 'उपदेशेऽज-
 नुनासिक इत्' इति ओकारस्येत्संज्ञायां लोपे च 'श्चि न' इति स्थिते 'ओदितश्च'
 इति तकारस्य नत्वे, 'पूर्वप्रासिद्धम्' इति तस्यास्तिरुक्त्वात् 'वचित्त्वपियजादीनां
 किति' इति सम्प्रसारणे, 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'छ न' इति मूले 'हृत्'
 इति सम्प्रसारणस्य दीर्घे 'श्वीदितः' इति एजागमाभावे, 'ह्रस्वोऽटि' इति ह्रस्वे,
 उदः तकारस्य रज्जुत्वेन प्रहारे, कृपणतवात्प्रातिपदिकत्वे सौ उलोपे तस्य नत्वे
 रेफस्य विसर्गात्वे च 'उच्छूनः' इति रूपम् । द्रवमूर्ति । मूर्तिश्च स्पर्शश्च मूर्तिस्पर्शौ ।
 द्रवस्य मूर्तिस्पर्शौ तयोरेति व्यासवाच्यम् । मूर्तिद्वयम्—काठिन्यम् । स्पर्शत्वं =
 त्वस्मान्नप्राहारकम् । श्योऽस्पर्शे । श्येदः श्य इति निर्देशः । तस्य नत्वं स्यादित्यर्थः ।
 शीतम् । श्येद्वधातोः कप्रत्यये 'द्रवमूर्ति' इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति
 पूर्वरूपे 'श्योऽस्पर्शे' इति नत्वे सौ अस्मि पूर्वरूपे 'शीतम्' इति रूपम् । घनीभूत-

विनाशे दकारस्यो नकारस्यो, विनाश अर्थमे । सिनोतेर्प्रां—प्रास' रूप कर्मकर्तृक 'पिन्' पाठुते
 पर-निष्ठात्वे तकारस्यो नकार आदेश हो । ओदितश्च—ओदित् पाठुसे पर निष्ठाके तकारस्यो
 नकार आदेश हो । द्रवमूर्ति—द्रव परार्थस्य काठिन्यस्य स्पर्श अर्थमे 'शीत्' पाठुको
 सम्प्रसारण हो, विनाशे । श्योऽस्पर्शे—श्येत्' पाठुके पर-निष्ठात्वे तकारस्यो नकार आदेश हो,

द्रममूर्तिस्पर्शयोरिति किम् ? सरयानो वृद्धिः, शीतात् संकुचित इत्यर्थः । प्रतेञ्च
 ।६।१।२५। संप्रसारणं निष्ठायाम् । प्रतिशीत । विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य ।६।१।२६।
 तथा । अमिरयानं घृतम् । अमिरीनम् । अवरयान-अवरीने वृद्धिः । व्यस्य
 तविभाषेयम् । तेनेद् न समपरयान ॥ अञ्चोऽनपादाने ।८।२।४८। निष्ठातस्य
 न । यस्य विभाषा ।७।२।१५। यस्य क्वचिद्विभाषयेद्भिहितस्ततो निष्ठाया इत्
 न । 'वदितो वे'ति क्त्वायां वेदत्वादिद् नेद्-समकन । अपादाने किम् ? उदकमु
 दकं कृषात् । दिवोऽविजिगीषायाम् ।८।२।४२। घून । विजिगीषायां तु घृतम् ।
 निर्वाणोऽघाते ।८।२।५०। अघाते इति च्छेदः । निपूर्वाद्घातेर्निष्ठातस्य नवं स्याद्

मित्यर्थः । रयैश्च शीत जलम् । संकुचितार्थे तु न सप्रसारणं किन्तु 'आदेश' इति
 आत्वे तस्य नत्वे सौ रूपे विसर्गे च कृते 'सरयानो वृद्धिः' इति रूपं भवति ।
 प्रतेरवेति । प्रतिपूर्वात् रयैश्च संप्रसारणं स्याद्विष्ठायाम् । प्रतिशीत इति । प्रतिपूर्वात्
 रयैश्चघातोः कप्रत्यये 'प्रतेञ्च' इति सप्रसारणे पूर्वरूपे तस्य 'रयोऽरयैश्च' इति नत्वे
 सौ रूपे विसर्गे 'प्रतिशीत' इति रूपम् । विभाषेति । रयैश्च संप्रसारणं वा स्यादित्यर्थः ।
 अमिरयानमिति । अमिपूर्वात् रयैश्च घातोः कप्रत्यये 'विभाषाऽभ्यवपूर्वस्य' इति
 संप्रसारणाभावे आत्वे तस्य नत्वे सौ अमि पूर्वरूपे 'अमिरयानम्' इति रूपम् । संप्र-
 सारणे तु 'अमिरीनम्' इति स्यात् । रूपसिद्धिः प्राग्वत् । एवम्-अवरयान, अवरीनः ।
 इत्यादावपि वैभाषिक सप्रसारणमवधेयम् । समवरयान इत्यादौ रयैश्चोऽवपूर्वत्वादि
 न सप्रसारणम् । अघातव्यतविभाषितत्वात् । अञ्चोऽनपादान इति । अपादानमित्यर्थे
 अञ्चो विष्ठातस्य न स्यादित्यर्थः । यस्येति । आपञ्चानुक्त्वात् यस्येति षष्ठी ।
 अङ्गीषार्षचातुकर्येऽस्य । समकन । समूर्वाद्घाते कप्रत्यये कस्य कित्त्वेनोपघामृतस्य
 नस्य लोपे 'सो कु' इति चस्य कत्वे तस्य 'अञ्चोऽनपादाने' इति नत्वे सौ रूपे विसर्गे
 च कृते 'समकन' इति रूपम् । उदकमिति रूपे तु न नत्व कृपादिति अपादान
 त्वस्य विद्यमानत्वात् । दिव इति । दिव परस्य निष्ठातस्य नत्व जिगीषाया ऽङ्गभावे ।
 घन इति । दिवः कप्रत्यये कलोपे 'एङ्गो शूदनुनासिके च' इत्युक्ति यति तस्य
 'दिवोऽविजिगीषायाम्' इति नत्वे सौ रूपे विसर्गे 'घून' इति रूपम् । विजिगी

स्पर्शते मित्र अर्धने ।

प्रतेञ्च—प्रति रूपसर्गे पर 'रयैश्च' वाचुको सप्रसारणं हो, विष्ठाते ।

विभाषा—'अमि' लोरे 'अव' उपसर्गे 'रयैश्च' वाचुको सप्रसारणं हो, विरुध्यते ।

अञ्चोऽनपादाने—'अञ्' वाचुते पर निष्ठाके तकारको नकार हो, अपादानते मित्रने ।

यस्य विभाषा—मित वाचुको विष्ठातसे कहीं भी इत् विधान किया गया हो, कृते पर
 निष्ठाके इत् नहीं होला । दिवोऽवि—'दिव' वाचुते पर निष्ठाके तकारको नकार हो, यदि
 विष्ठाकी इच्छा सम्भ्रमान नहीं रहे । निर्वाणो—'नि' पूर्वक 'वा' वाचुते पर निष्ठाके

वातधेत्कर्ता न । निर्वाणोऽनिर्मुनिर्वा । वाते वु-निर्वातो वातः । शुचः कः । ८।२।
 ५१ । निष्ठातस्य कः । शुक्कः । पचो वः । ८।२।५२। पक्कः । क्षायो यः । ८।२।
 ५३। क्षामः । स्त्यः प्रपूर्वस्य । ६।१।२३। प्रात स्त्यः संप्रसारणं निष्ठाभाम् । प्रस्त्यो-
 ऽन्यतरस्याम् । ८।२।५४। निष्ठातस्य मो वा । प्रस्तीमः । प्रस्तीतः । प्रात्किम् ?
 स्त्यानः ॥ अनुपसर्गात् फुल्लक्षीवक्रोल्लाघाः । ८।२।५५। एते निपात्यन्ते । विफ-
 ला, फुल्लः । निष्ठातस्य लञ्चं निपात्यते । क्वत्वेकदेशस्यापीदं निपातनमिष्यते,
 फुल्लवान् । अनुपसर्गात्किम् ? । आदितश्च । ७।२।१६। आकारेणो निष्ठाया इप्न ।
 ति च । ७।४।८९। वरफलोरेत उव तादी किति । प्रफुल्लतः । प्रक्षीवितः । प्रक्षुरितः ।
 प्रोक्षाधितः ॥ (उत्फुल्लसंफुल्लयोरुपसंख्यानम् ।) बुद्धविदोन्मुद्धान्नाही-
 श्योऽन्यरस्याम् । ८।२।५६। निष्ठातस्य नः । नुचः । नुतः । विषः । वितः ।

पायां 'धूतम्' हृष्येव, न नत्वमिति भावः । निर्वाणोऽत्रात इति । मियूर्धाद् वाशतोः के
 तस्य नत्वे णत्वे निपातनमिदम् इति भावः । वाते वु 'निर्वातः' हृष्येव ।
 स्त्य इति । 'स्त्यै' हृष्यस्य कृतारवस्य स्य इति पठ्यन्तम् । 'प्यैः' संप्रसारणम् इत्यतः
 संप्रसारणमिति 'क्षायः क्ली' इत्यतः निष्ठायामिति चानुवर्तते । प्रस्त्य इति । प्रस्त्य
 इति पञ्चमी । प्रपूर्वास्त्वैधातोः स्त्यर्थः । निष्ठातस्य 'म' इति शेषः । प्रस्तीम इति ।
 प्रपूर्वास्त्वैधातोः कप्रत्यये 'स्त्यः प्रपूर्वस्य' इति संप्रसारणे 'संप्रसारणाच्च' इति पूर्व-
 रूपे 'हलः' इति दीर्घे 'प्रस्त्यो' इति वा मत्वे सौ रूपे विसर्गे 'प्रस्तीमः' 'प्रस्तीतः'
 इति । प्रपूर्वादन्यत्र तु य संप्रसारणनकारो तेन 'स्त्यानः' हृष्येति । फुल्लः । फल्ल-
 लोः कप्रत्यये 'ति च' इति उरुत्वे तस्य निपाताद्यत्वे सौ रूपे विसर्गे 'फुल्लः' इति । च-
 पि क्वतौ त इति अवयवस्तथापि संज्ञासामर्थ्यात्स्यादेव लत्वप्रत षाद्-कृष्णानिति ।
 आदितश्च । यस्य धातोराकार इरसंज्ञकस्ततः परस्य निष्ठातकारस्य न षत्वमित्यर्थः ।
 प्रफुल्लतः । प्रपूर्वास्त्वैधातोः कप्रत्यये तस्य आर्षञानुफत्वेन क्कादीति शान्ते
 'आदितश्च' इति निषेधे 'ति च' इति उदादेशे सौ रूपे विसर्गे च कृते 'प्रफुल्लतः'

तकारको ककार आदेश हो, यदि वायु कर्ता नहीं रहे । शुचः कः—'शुच्' धातुसे पर निष्ठाके
 तकारको ककार आदेश हो । पचो वः—'पच्' धातुसे पर निष्ठाके तकारको ककार आदेश हो ।
 क्षायो यः—'क्षै' धातुसे पर निष्ठासंख्यी तकारको मकार आदेश हो । स्त्यः प्रपूर्वस्य—'प्र'
 पूर्वक 'स्त्यै' धातुको संप्रसारण हो, निष्ठामें । प्रस्त्योऽन्यतरस्याम्—'प्र' पूर्वक 'स्त्यै'
 धातुसे पर निष्ठासंख्यी तकारको मकार आदेश हो, विकल्पसे । अनुपसर्गात्—'अनुपसर्ग'
 रहित 'फुल्ल' आदि शब्द निपातन हो । आदितश्च—'आकारेस्तं'क धातुसे पर निष्ठाको इट्
 नहीं हो । ति च—पर और कक धातुके लकारको 'वट' आदेश हो, ताहि कित प्रस्त्यके परे ।
 उत्फुल्ल—उत्फुल्ल, संफुल्लका निपातन हो । बुद्धविदो—बुद्धादि पाठुओंसे पर निष्ठाके

उन्वी—श्रीवित्तो निष्ठायाम् ।।७।२।१४। अयतेरोदितश्च निष्ठाया इत् न ।
 वदः । उत, इत्यादि । न व्याख्यापुमूर्च्छिमदाम् ।।८।२।५७। एभ्यो निष्ठा-
 तस्य नो न । म्यात् । रुषात् । पूर्त् । राहोप ।।६।४।२१। चच्छ्लोर्लोप-
 स्यात् कौ सखदायजुनादिहादौ च प्रत्यये । मूर्त् । गत ॥ वित्तो भोगप्रत्यययो-
 ।।८।२।५८। विन्दतेनिष्ठान्तस्य निपातोऽय भोग्ये प्रतीते चार्थे । वित्त ५६१ ।
 अतयो किम् । विष्ण । भित्तं शकलम् ।।८।२।५९। भिषमन्यत् । ऋणमाद्य

वृत्ति । नुदेति । एभ्यो वा निष्ठान्तस्य भवमित्यर्थ । नृप । विष्ण । सुवृषिदोः कप्र-
 त्यये 'नुवृदिद्' इति वा तस्य नखे सौ ह्यवे विसर्गे पञ्चे चार्थेन तखे 'नुवृ-नुवृ-
 दिष्ठा-विष्ठा' इति रुपाणि सिष्यन्तीति षोडशम् । श्रीदित इति । 'भिद्वृषि' इत्यतो
 षेति षड्मते । उत्र धृति । उन्वीचातोः कप्रत्यये 'धीवित' इत्यनेन तस्येडागमनिषेधे
 'सुवृषिदोः' इति वा भवे तदभाषे चार्थे षड्पञ्चानलोपे सौ ह्यवे विसर्गे 'उष्ण' पञ्चे
 'उष्ण' इति ऋये यक्षतः । न एवाहोति एभ्यो वाहृगुणः परस्य कप्रत्ययस्य 'सयो
 वादेरातः' इत्यादिना प्राप्त भाव भेदार्थः । एषाठ-एषात्-पूर्त् । व्या-कषा-प एभ्यो
 वाहृगुणः कप्रत्यये पषातोः 'उद्दोष्य' इत्युक्ते रपरस्ये 'हृलि च' इति दीर्घे सौ ह्यवे
 विसर्गे च विहिते 'ष्वाठ-एषात्-पूर्त्' इति रुपाणि भवन्ति । मूर्त् ।
 सुजा-चातोः कप्रत्यये आदिष्यात् 'आदिगण' इतीषभावे 'राहोप' इति
 हृकोपे 'इति ऋ' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इत्यनेन तस्य नखे प्राप्ते 'न व्याख्या'
 इति अयनिषेधे सौ ह्यवे विसर्गे 'मूर्त्' इति रुग्म् । मत्त इति । मदीचातोः कप्रत्यये
 'श्रीदित' इत्यभावे चार्थेन तखे सौ ह्यवे विसर्गे 'मत्त' इति रूपम् । अत्रापि 'रदाभ्यां'
 इति प्राप्तं भावं 'न व्याख्या' इत्यनेन चार्थेन इति भावः । विष्ण इति । नोभ्ये प्रतीते
 च निष्ठातोः कप्रत्ययान्तो नखरहितोऽय निपात इति विकृ । भोगप्रत्यययोर्भिन्नार्थे
 तु 'रदाभ्यां' इति पूर्वपरस्योर्कारतकारयोर्नात्वे सौ ह्यवे विसर्गे 'विष्ण' इति रूपम् ।
 भित्तिनिधि । भिन्नातो शकलार्थे नखरहित निपातनमित्यम् । शकलान्तरार्थे तु भिन्न
 भित्ति इत्यात् । 'रदाभ्यां' इति हस्योर्नात्वे रूपम् । ऋणमाद्यमर्थः । अथम बु-स्वप्रसृष्टं
 नख्य साः अथमर्णस्तस्य भावस्तस्मिन् । ऋणतो कस्य नख्य ऋण च निपात्यते इति

उच्चारणे नकार आदेश हो, विकल्पमे । श्रीवित्तो—'वि' यत्तु और ईदिए वाहृमे पर विष्ठा
 उन्वी उच्चार को रदाभ्याम नहीं हो । न व्याख्या—'या, यः' आदि वाहृगुणे पर विष्ठाके
 उच्चारणे नकार नहीं हो । राहोप—'रे'मे पर उच्चार-एकार' ओप हो, जियके पर और
 उच्चारि अन्तःश्रित्वादि मत्तसके परे । वित्तो—निष्ठाञ्च विन्दतिको 'मि' निपातन हो,
 नोभ्य और प्रथिय मर्थे । भित्त-भित्त' अर्थात् मिद् वाहृमे 'न' निष्ठाके उच्चारको नखामात्र
 निपातन हो, इच्छ (ह्य) नहीं । एषात्—'य' वाहृमे पर विष्ठाके उच्चारको उच्चार

मण्ये । ८।२।६०। कृतमन्यत् । स्फायः स्फां निष्ठायास् । ६।१।२२। स्फातः ।
 इग्निष्ठायाम् । ७।२।४७। निरः कुशे निष्ठाया इट् । 'यस्य विभाषेति निषेधे
 प्राप्ते पुनर्विधिः । निष्कृषितः । वसतिक्षुधोरिट् । ७।२।५२। आभ्यां कथानिष्ठ-
 योन्तियमिट् । उपितः । क्षुधितः । अञ्जेः पूजायाम् । ७।२।५३। कत्वानिष्ठयोरिट् ।
 अशितः । गतौ द्व-रक्तः । लुभो विमोहने । ७।२।५४। कत्वानिष्ठयोरिट् ननु
 गार्धे । लुभितः । गार्धे तु लुब्धः । द्विषशः कत्वानिष्ठयोः । ७।२।५०। इट्
 वा । क्रिशितः । क्रिष्टः । पूरुध्व । ७।२।५१। क्वानिष्ठयोरिट् वा । पूरुः कत्वा
 च् १।२।२२। निष्ठा मेट् किञ्च स्यात् ॥ पवितः । पूतः । कत्वाप्रहणमुतरार्यम् ।

भावः । अन्यत्र तु श्रुतमित्येव । स्फायः स्फाति । स्फायीघातोः निष्ठायां परतः
 स्फायः स्याने 'स्फां' इत्यादेशो जात्य इत्यर्थः । स्फातः । स्फागीघातोः घातान्ये
 'स्फागः स्फा' इति शब्दे आदेशो सौ नस्ते विसर्ग 'स्फातः' इति रूपम् । इग्निष्ठाया-
 मिति । 'निरः कुशः' इति सूत्रमनुवर्तते । निष्कृषित इति । निष्ठायां इणः कप्रत्यये
 'इग्निष्ठायाम्' इति इटि क्शिवाद् गुणान्नाये निरो रस्य विसर्गत्वे 'इहुक्षुपयस्व' इति इत्वे
 सौ इत्वे विसर्ग 'निष्कृषितः' इति रूपम् । उक्तमीति । 'द्विषाः कत्वानिष्ठयोः' इत्यञ्जेः
 'कत्वानिष्ठयोः' इति अनुवर्तते । उपिन इति । वसधातोः कप्रत्यये यत्वादिवात्संज्ञा-
 रणे पूर्वस्ये 'वसतिक्षुधोरिट्' इतीटि 'शान्तिवक्षिणसीनां च' इति एवे सौ इत्वे,
 धिसर्गे 'उपितः' इति । लुभित इति । लुभघातोः कप्रत्यये इटि सौ इत्वे विसर्ग
 'लुभितः' इति रूपम् । गार्धे तु 'लुभ-त' इति स्थिते 'क्षयस्तभोः' इति तत्तत्प्रत्यये
 'क्षलां जगत् क्षणि' इति अस्य प्रत्यये सौ इत्वे विसर्ग 'लुब्धः' इति रूपम् । क्लिष्ट इति ।
 'स्वरविच्छिन्ने' इत्यतो वेत्यनुवर्तते । क्रिशितः । 'क्रिष्वातोः कप्रत्यये 'क्रिष्वाः कत्वानिष्ठयोः'
 इति वेटि प्रथमावे 'त्रश्' इति पाठे ऋत्वे सौ इत्वे विसर्ग 'क्लेषितः' 'क्रिष्टः' इति ।
 पूरुश्चेति । पूरुघातोः कप्रत्यये परत इट् वा स्थादित्यर्थः । पूरुः कत्वा च निष्ठा सेट् कित्त
 स्यादित्यर्थः । पवितः पूतः । पूरुघातोः कप्रत्यये 'पूरुश्' इति वेटि इट्प्रत्यये च 'पूरुः

निपातन हो, आधमण्यं (जेन-देन) अर्थमें । स्फायः स्फां—'स्फायी' पाठको 'स्फां'
 आदेश हो, निष्ठायां । इग्निष्ठा—'निर' उपसर्गक 'कुप्' धातुसे पर निष्ठाको इट्का आगम
 हो । वसति—'वस्' और 'क्षुध्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठा को नित्य इट्का आगम हो ।
 अञ्जेः पूजायाम्—'अञ्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठा को इट्का आगम हो, पूजा अर्थमें ।
 लुभो वि—(विमोहवत्प्राणकुलीकरणम्) 'लुभ्' धातुसे पर क्त्वा और निष्ठाको (नित्य) इट्का
 आगम हो, यदि गार्धे (दीर्घस्य) कर्ममान नहीं रहे । क्लिष्टाः कत्वा—'क्लिष्ट' धातुसे
 पर 'क्त्वा' और 'मिष्ट' से ऋत्वे, नित्यपते । पूरुश्—'पूरु' धातुसे पर 'क्त्वा' और
 निष्ठा, से इट् हो, क्लिष्टपते । पूरुश् इत्यच्—पूरुसे पर सेट् कत्वा और निष्ठा कित्त नहीं हो ।

‘नोपपादि’त्यत्र हि क्तव्येव संबध्यते । निष्ठा शीङ्स्वदिमिदिस्त्रियदिघुपः । १।२। १९। सेट् क्ति । शयित । (आदिकर्मणि निष्ठा यक्तव्या ।) आदिकर्मणि क्त’ कर्तरि च । ३।४।७१। चाङ्गावर्त्मणो । विभाषा भावादिकर्मणोः । ७। २।१७। आदितो निष्ठाया इङ् वा । प्रस्वेदितव्येन । प्रस्वेदित तेन । जिज्विदेति भ्वादिभ्यश्च शृङ्गते, औद्धि साहचर्यात् । स्वयतेस्तु ‘स्विदित’ इत्येव । त्रिमिदात्रिद्विदा दिवादी भ्यादो च । प्रमेदित । प्रह्वेदित । प्रघर्षित । घर्षितं तेन । सेट् किम् ? प्रस्विक्त । पस्विक्तं तेन—इत्यादि । मृपस्तितिक्षायाम् १।२।२०। सेण् निष्ठा क्ति । मर्षित । तितिक्षायाम् किम् ? अपघृषित वाक्यम्, भविस्पष्टमित्यर्थः । उदुपघान्ना-घादिकर्मणोरन्यतरस्याम् १।२।२१। उदुपघात्परा भावादिकर्मणोः सेणिनष्ठा वा क्ति । युतितम्, योतितम् । मुदितम्, मोदित साधुना । प्रयोतित, प्रदु-

क्त्वा च’ इति क्तिवनिषेधे गुणेऽवादेशे सौ क्त्ये विसर्गे च कृते ‘पषित’ ‘पूत’ इति रूपद्वयं साधु । शिष्टेति । ‘न क्त्वा सेट्’ इत्यतो वेति सेटिति चानुवर्तते । शयित इति । शीङ्वातोः क्तप्रत्यये इटि ‘निष्ठा ङीष्’ इति क्तिवनिषेधे गुणेऽवादेशे क्त्ये विसर्गे ‘शयित’ इति रूपम् । आसीति । दीर्घकालस्यासक्त्या क्त्वात्सादृशक्याया आरम्भ क्त्वादिनिष्ठाया आदिकर्म । तत्र विद्यमानादातोर्निष्ठा वैकल्प्येत्यर्थः । तत्र आघेडु द्विषाघनेषु भूतेष्वपि क्रियाया भूतावाभावाद् भूते विहितानिष्ठा न प्राप्तेत्यर्थमारम्भः । आदिकर्मणि क्त इति । ‘तपोरेष’ इत्यतो भावकर्मणोश्चकारेणानुवृत्तिः । विभाषेति । ‘आदितश्च’ इत्यत आदिन इति ‘श्वेदित’ इत्यतो निष्ठाप्रदणम् । ‘नेदवर्षा’ इत्यतो वेति चानुवर्तते । प्रस्वेदित चेन । प्रपूर्वात् स्विदृधातो ‘आदिकर्मणि निष्ठा वाभ्या’ इति क्तप्रत्यये ‘विभाषा भावादिकर्मणोः’ इति इटि ‘निष्ठा ङीष्’ इति क्तिवनिषेधे ‘पुगन्त’ इति गुणे सौ क्त्ये विसर्गे ‘प्रस्वेदित’ इति रूपं लिभ्यति । वैभक्तुंका आरम्भमाणप्रस्वेदनक्रिया इत्यर्थः । प्रस्वेदितम् । पूर्ववद्रूपसिद्धिर्वाभ्याः । त्वेदित । क्तप्रत्यये ‘विभाषा भावा’ इति इटि क्तिवनिषेधभावे सौ क्त्ये विसर्गे ‘स्विदित’ इति रूपम् । प्रमेदित-प्रह्वेदित-प्रघर्षित । प्रपूर्वेष्वो त्रिमिदा-त्रिद्विदा-ध्वषातुभ्य ‘आदिकर्मणि’ इति क्तप्रत्यये ‘विभाषा’ इति वेति ‘निष्ठा ङीष्’ इति क्तिवनिषेधे गुणे सौ क्त्ये विसर्गे च विहिते ‘प्रमेदित’ ‘प्रह्वेदितः’ ‘प्रघर्षितः’ इति रूपाण्यवसे

निष्ठा ङीष्—‘ङीष्’ आदि पाठ्ये पर सेट् क्त्वा और निष्ठा क्ति नहीं हो । आदिक-आदि कर्म (क्रिया प्रारम्भ) में भी निष्ठा हो-ऐसा कहना चाहिए । आदिकर्मणि क्तः—आदि कर्ममें जो ‘क्त’ वह कर्ता और भाव-कर्ममें हो । विभाषा भावादि—आदि कर्ममें और भावमें आदिच पाठसे विहित निष्ठाको इट् हो, विकल्पते । युपस्तिउतिङा-उतिङिष्ठा (क्षमा) लभ्यते ‘इट्’ प्रागुक्ते पर सेट् निष्ठा क्ति नहीं हो । उदुपघान्ना-उदुपघ पाठसे पर

तितः । प्रमुदितः, प्रमोदितः साधुः । उदुपधात्किम् ? विदितम् । भावेत्यादि किम् ?
 चित्तं कार्यापणम् । सेट् किम् ? कुष्टम् । (शक्तिवरणेभ्य एवेत्यते) नेह-गुच्यते-
 गुधितम् ॥ निष्ठायां सेटि । ६।४।५२। गेर्लोपः । भावितः । भावितवान् । दृढः
 स्थूलबलयोः । ७।२।२०। स्थूले बलवति च निपात्यते । दधातेर्हिः । ७।४।४२।
 तादौ किति । निहितम् । द्यो दद् घोः । ७।४।४६। घुसंज्ञस्य दा इत्यस्य दद्
 तादौ किति । चर्वम् । दत्तः । गत्यर्थकर्मकस्त्रिपशीलूस्थासबसजनक-
 हजीर्यतिभ्यश्च । ३।४।७२। एभ्यः कर्तरि क्तः स्याद्भावकर्मणोश्च । गङ्गां प्राप्तः ।
 ग्लानः सः । लक्ष्मीमाञ्छिष्टो हरिः । शेषमधिशयितः ॥ घतिस्यतिमास्थामिच्छि
 किति । ७।४।४०। एपासितादौ किति । वैकुण्ठमधिष्ठितः । शिवमुपासितः । हरि-

यानि । गत्यर्थेति । गत्यर्थ-अकर्मक-स्त्रिप-शीलू-स्था-भास-वत्-जन-रह-जीर्यति-
 पूर्वा दत्तानां हनुः । 'टः कर्मणि च भावे च' इत्यतो भावे इति कर्मणि इति च ।
 'आदिकर्मणि क्तः कर्तरि च' इत्यतः कर्तरीति चानुवर्तते । कर्तरीत्येवात्रुच्यते भाव-
 कर्मणोर्न स्यादिति तयोरपि अङ्गवृत्तिः । गङ्गां प्राप्तः । कर्तरि क्तः । आप्तु - व्याप्तौ ।
 उपसर्गवशाद्गती वर्तते । अकर्मकमुदाहरति-ग्लानः । ग्लानाघातोरकर्मकत्वात् कप्रत्यये
 'संयोगादेरातो घातोर्भवत्' इति निष्ठावस्य गत्वे लौ इत्वे विसर्गे रूपम् ।
 णाङिष्ठ इति । आङिङ्गित्यानिरययः । अत्रापि आङ्पूर्वात् कप्रत्यये रूपम् । शेषं लुक-
 रम् । ननु शीघ्रादीनामकर्मकत्वादेव सिद्धे तेषां पुनर्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह-शेषमधि-
 शयितः । शेषे शयितवान् इत्यर्थः । 'अधिशीलूस्थासां कर्म' इत्यनेन शेषस्य कर्मत्वम् ।
 तेन सकर्मकत्वावपि क्तः सिद्धः । अधिपूर्वात् शीलूघातोः कप्रत्यये चलादित्वादिवा-
 यमे गुणेऽयादेशे 'अधिश्चित्तः' इति रूपम् । घतिस्यतीति । एपासित्वादिदिक्प्र-
 त्यये परतः । अधिष्ठितः । अधिपूर्वात्स्थाघातोः कप्रत्यये 'घतिस्यति' इति स्थाघातोः
 इत्वे परत्वे ष्टुत्वे लौ इत्वे विसर्गे च कृते 'अधिष्ठितः' इति रूपम् । 'अधिशीलू' इति
 वैकुण्ठस्य कर्मत्वम् । उपासितः । उपपूर्वाद्स्यतेः कप्रत्यये 'घतिस्यति' इतीकारादेशे

भावार्थक तथा आदिकर्मार्थक सेट् निष्ठा कित् नदी हो, विकश्रुते । शक्तिवरणेभ्यः—यह
 वैकल्पिक किरवका निषेध शक्तिवरण (भवादि) घातुभांसे ही इष्ट है । निष्ठायां—सेट्
 निष्ठाके परे 'णि' का लोप हो । दृढः स्थूल—स्थूल और बलवान् अर्थमें 'दृढ' निपातन हो ।
 दधातेर्हि—'धा' घातुको 'हि' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । द्यो इद्धोः—घुसंज्ञक
 'दा' घातुको 'दद्' आदेश हो, तादि कित् प्रत्ययके परे । गत्यर्थकर्मक—गत्यर्थक
 अकर्मक, स्त्रिप्, शीलू, स्था, भास, वत्, जन, रह और जू घातुभांसे गाव, कर्म और कर्तानि,
 श्री 'क्त' प्रत्यय हो । घतिस्यति—श्री अदखण्डने, श्री अन्तकर्मणि, मा माने, माङ् माने
 मेष्ट् प्रणिधाने, ष्ठा गतिनिष्ठा—इन घातुभांको इत्थ हो, तादि कित् प्रत्ययके परे ।

दिनमुपोषित' । रासमनुभ्रत । पवडमास्त । विश्वमनुजीर्ण' । पत्ते-प्राप्ता गता तेनेत्यादि । क्तोऽधिकरणे च भ्रौग्यगतिप्रत्ययसानार्थेभ्यः । ३।५।७६। एभ्योऽधिकरणे क् वाच्यप्राप्तम् ।

मुकुन्द्स्यासितनिदमिदं यातं रमापतेः ।

मुपतमेतदनन्तस्येरयूचुर्गोप्यो दिहक्षयः ॥ १ ॥

पत्ते—यातेरभ्रमन्तान्कर्त्तरि भावे च—आसितो मुकुन्द, आसित तेन । (गत्यर्थेभ्यः कर्त्तरि कर्मणि च) रमापतिरिदं यात, तेनेदं यातम् ।

मुयादिकार्ये 'उपासितः' इति रूपम् । उपोषितः । उपपूर्वात् वसधातो कप्रत्यये 'वसदिउपोरिट्' इतीटि यजदिरवात्प्रसारणेनोकारे गुणे सस्य पत्ते मुयादिकार्ये 'उपोषितः' इति रूपम् । अनुभ्रत । अनुपूर्वाज्जाधातोः कप्रत्यये नस्यात्वे क्षीये मुयादिकार्ये रूपम् । आस्त । आहपूर्वाद्गुधातो कप्रत्यये 'हो ह' इति हस्य ढत्वे 'दापसापो' इति तस्य धात्वे ष्टुत्वेन घक्ष्य ढत्वे 'हो वे लोप' इति पूर्वढलोपे 'ढलोपे पूर्वस्य' इति ढकारस्य दीर्घत्वे मुयादिकार्ये च हूने 'आह' इति रूपं शब्दोति । अनुजीर्ण । ज् जातोः कर्त्तरि कप्रत्यये 'अन इदातोः' इतीकारान्तादेशे रगाधे 'हृष्टि च' इति दीर्घत्वे 'रदाभ्याम्' इति तस्य ढत्वे 'रवाभ्यां' इति णत्वे सुदादि कार्ये च हूने 'अनुजीर्ण' इति रसाध्यं शब्दोति । कर्त्तरि प्रत्ययान्तावपत्ते तु प्राप्ता गता तेनेति प्रतियावास्वमेवेति भावः । क्तोऽधिकरणे णि । भ्रौग्यगति प्रत्ययमानं च दुषामयं, तेषामिति भावः । भ्रौग्यार्थेभ्यः, गत्यर्थेभ्यः, प्राणधर्मानार्थेभ्यश्च इति धावन् । ह्रुवत्स्य भावः भ्रौग्य = ह्यर्थमिति धावन् । स्थिरीभवत्तम्—उपपेदानशयनाधिक्रियेति धावत् । भ्रौग्यस्योदाहरणमुदाहरति—मुकुन्दस्यासितनिदमिति । आस्यतेऽस्मिन्निति आसितनिदमर्थः । गत्यर्थमुदाहरति—इदं यात रमापते । यापते गत्यर्थेऽस्मिन्निति यात मार्गं ह्यस्यर्थः । मुपतमेतदनन्तस्येति । मुप्यतेऽस्मिन्निति मुक्तं भोजनस्थानमि त्यर्थः । 'अधिकरणवाचिनश्च' इति त्रिश्वपि कर्त्तरि षष्ठी । अधिकरणे प्रत्ययान्तावपत्ते न कर्मणि क्तः । आसित = आसितवागित्यर्थः । कर्त्तरि क्तः । आसित तेन, भावे क्तः । गत्यर्थेभ्य णि । तेषां सकर्मकतया भावेऽस्यभावाकर्त्तरि कर्मण्येव क्तः । यात कर्त्तरि क्तः ।

क्तोऽधिकरणे—भ्रौग्यादि अर्थवाचक धातुभ्रौमे अनिकरणा अर्थमे 'क्त' प्रत्यय हो-षकारात् यदाप्राप्त (भावदि) कर्मो मे 'क्त' प्रत्यय हो ।

मुकुन्द्—यस्य स्थान रमापति भगवान् मुकुन्द (इन्द्र) के बैठनेका है और वह उनके जानेका है और वह उनके भोजन करनेका है—इत गकार (कुन्दा) अन्वेषण करती हुई गोपीगण कह रही थी ।

गत्यर्थेभ्यः—गत्यर्थेभ्यः वाच्योपे कर्त्ता और कर्ममे 'क्त' प्रत्यय हो ।

(भूलेः कर्मणि) अनन्तेनेदं भुक्तम् । 'वर्तमाने' इत्यधिकृत्य। वीतः कः। ३। २। १८७।
 द्विषणः ॥ मतिबुद्धिपूजाथैभ्यश्च । ३। २। १८८। राहां मतः । इष्टः । बुद्धः ।
 विदितः । पूजितः । अर्चितः । चकारोऽनुक्तसमुच्चयार्थः । 'शीलितो रक्षितः क्षान्त
 आकुशो जुष्ट इत्यपि' इत्यादि । नपुंसके भावे कः । ३। ३। ११४। क्लीबत्व-
 विशिष्टे भावे कालसामान्ये कः । जल्पितं । हसितम् ॥ सुयजोर्ध्वनिप् । ३। २।
 १०३। भूते । सुत्वा । यज्वा । जीर्यतेरत्तन् । ३। २। १०४। जरन् । जरन्ती ।

यातम् कर्मणि कः । भुजधानोः कर्मणि कः, सुक्तम् । मण्डूकफ्लुतिमाश्रयन् वशयति-
 वर्तमाने इत्यधिकृत्येति । वीतः कः । भि इत् यस्य तस्माद्द्वर्तमानक्रियावृत्तेः कः स्यादि-
 त्यर्थः । द्विषणः । जिदिवदाघातोः 'शीतः कः' इति वर्तमाने कप्रत्यये 'रदाभ्यां' इति
 नद्ये 'आदितश्च' इति इडागमनिषेधे, णत्वे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये रूपसिद्धिः । मतिबुद्धीनि ।
 मांतिरिच्छा पृथग्रहणात् । मत्तः ॥ मनघ्रातोः वर्तमाने कप्रत्यये 'अनुदासोपदेश' इति
 नलोपे सुवादिकार्ये रूपसिद्धिः । इष्ट इति । ह्यंधातोर्वर्तमाने कप्रत्यये 'तीपसहेति'
 वेदकावादिभभावे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये रूपम् । बुद्धः । बुधधातोः कप्रत्यये 'क्षपस्तथोः'
 इति धत्वे 'क्षलां जश् क्षनि' इति दत्त्वे सुवादिकार्ये 'बुद्धः' इति रूपम् । समुच्चय-
 मुदाहरति—शीलितः । रक्षितः । शीलरक्षाभ्यां कप्रत्यये वलादित्वादिटि सुवादि-
 कार्ये रूपे राधुतः । क्षान्तः । क्षमधातोः कप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये
 'दान्तः' इति रूपम् । आकुष्टः । जुष्टः आहृपूर्वात्कृष्णधातोः लुपधातोश्च कप्रत्यये 'वक्ष'
 इति षात्वे ष्टुत्वे सुवादिकार्ये ष्टुत्वे 'आकुष्टः' 'जुष्टः' इति साध्यरूपे साधुतः ।
 नपुंसक इति । भावरत्तु क्लीबत्वविशिष्टः । जल्पितं-हसितम् कल्प-हसधातुभ्यां 'नपुंसके'
 इति कप्रत्यये वलादित्वादिटि सुवादिकार्ये रूपे भवतः । सुयनोरिति । भूदाधिकार-
 स्थत्वाद् भूते कः इत्यर्थः । इत्य । सुधातोः भूतार्थे 'सुयजोः' इति ध्वनिनि 'ह्रस्वस्य'
 इति तुकि सौ 'सर्वनामस्थाने' इति द्वौर्ध्वे ह्रस्व्यादिलोपे 'नलोपः' इति नलोपे
 'सुत्वा' इति रूपम् । यज्वा । जत्रापि ध्वनिनि सुवादिकार्ये रूपचोष्यम् । जरन् इति ।
 जृधातोः अतृन्प्रत्यये अनयोर्लोपे गुणे रपरस्वे 'जरन्' इति जाते सौ 'वगिदंचाम्' इति
 सुमि संयोगान्तलोपे तस्यासिद्धत्वेन नलोपाभावे 'जरन्' इति रूपम् । वासरूपविधि

सुजेः—'मुज' धातुसे कर्ममे 'क' प्रत्यय हो ।

शीतः कः—बोदित् धातुसे वर्तमानमे 'क' प्रत्यय हो ।

मतिबुद्धि—मति-बुद्धि-पूजाथैक धातुओंसे वर्तमान कालमे 'क' प्रत्यय हो ।

नपुंसके—नपुंसकत्व-विशिष्ट भाव और कालसामान्य अर्थमे धातुसे 'क' प्रत्यय हो ।

सुयजोर्ध्वनिप्—'सु' और 'यज्' धातुसे भूतकालमे ध्वनिप् प्रत्यय हो ।

जीर्णेशब्दन्—'जृ' धातुसे भूतसामान्यमे 'जरन्' प्रत्यय हो ।

वाचस्पत्यायेन निष्ठापि । जीर्ण । जीर्णवार । छन्दसि सिट् । ३।२।१०५।
 लिटः कानञ्जा । ३।२।१०६। कसुब्ध । ३।२।१०७। भृतसामान्ये छन्दसि
 लिट् । तस्य कानञ्कस् वा स्त । 'तजानात्मनेपदम्' । चक्राण । 'भ्रोश्' ।
 जगन्वान् । क्वयस्तु बाहुलकाद्धोकेऽपि प्रयुजते । 'त तस्थिवाचं नगरोपकण्ठे'
 'श्रेयांसि सर्वाण्यधिजम्मुपस्ते' इत्यादि । चस्वेकाजावृषसाम् । ७।२।६७।
 कृतद्विर्वचनानामेद्यामादन्ताना षसेश् वसोरिट् स्याधान्येषाम् । आदिवान् ।
 आरिवान् । ददिवान् । जक्षिवान् । एषां किम् ? धम्वान् । भाषायां सवृषस-

ना ऋकवत्सोरपि सिद्धि साधयति—जीर्ण । नृचातोः कप्रत्यये 'अत् इत्' इति इकारे
 रपरत्वे 'हृत् च' इति द्विषे 'रषाम्याम्' इति तस्य नत्वे 'रषाम्याम्' इति णत्वे सुबादि
 कार्ये रूपसिद्धिः फलति । जीर्णवान् । क्वतुप्रत्यये 'अत् इत्' इतीति रपरत्वे 'हृत् च'
 इत्युपचादीर्घे 'रषाम्यां' इति नत्वे 'रषाम्याम्' इति णत्वे सौ 'अवसम्भ' इति द्विषे
 'उगिद्वाम्' इति नुमि हृत्वादिछोपे सयोगान्त्वछोपे तस्यासिद्धत्वेन मछोपामावे
 'जीर्णवान्' इति रूपस्य सिद्धिः । गगवान् । गम् घातोः लिटि, 'कसुब्ध' इति
 छिटो छः स्थाने कसी, कस्य उकारस्य चेतसंज्ञायां छोपे च कृते 'गम् + वस्' इति भूते
 'लिटि घातोः रभ्यासस्य' इति द्वित्वे, भ्याससंज्ञायां 'हृत्वादि' षोड' इति मछोपे,
 'कृद्वत्वात्प्रतिपदिकारे तस्मात्सौ, उछोपे, 'जगिद्व' । सर्वनामस्थानेऽभावो' इति
 नुमि, उमि गते, मिवाद्भ्याद्वचः परे जाते 'अगम्बन्स्' इति भूते, 'सान्तमहत्
 संयोगस्य' इति सान्तसंयोगस्योपधाया द्विषे 'हृत्वाभ्याम्' इति सछोपे, 'संयोगान्त
 र्म छोप' इति सछोपे, संयोगान्तस्य छोपस्य असिद्धत्वात् मछोपामावे 'जगन्वान्'
 इति । क्वय — कालिदासादयः । तस्थिवाचम् । स्वाचातोः लिटः कसुब्, द्वितीयैक
 वचने उगिरवाङ्मुम् 'सान्तमहत्' इति द्विषे । अधिवम्भ इति । यधिपूर्वाद्भमेच्छितः
 ववप्सुः 'गमहन' इत्युपधाछोपः सति वसोः सम्प्रसारणम्, पूर्वरूपम्, पत्वम् ।
 वस् इति । कृतेऽपि द्वित्वे एकाच एव येऽवशिष्यन्ते तेषामिष्यथं । आदिवानिति ।
 अद्विषातोः लिटि लिटि 'कसुब्ध' इति कसुप्रत्यये द्वित्वे पूर्वोभ्यासत्वे ह्रस्वो छोपे 'अत्
 आदेः' इति द्विषे सवर्णद्विषे आद्-वस्-इति जाते 'वस्वेकाजावृषसाम्' इति इटि सौ
 उगिरवाङ्नुमि 'सान्तमहत्' इति द्विषे हृत्वादिछोपे सछोपे 'आदिवान्' इति
 रूपम् । आरिवान् । अचातोः कसुप्रत्यये द्विषादिकार्ये आद्-वस् इति जाते 'वस्वेका'

अन्वसि सिट्—देश्ये भृतसामान्ये सिट् ककार हो । लिटः कानञ् वा कसुब्-उट्
 सिट् के स्वावये 'कानञ्' और 'अट्' आदेश हो, विद्वसते । वस्वे—कृतद्विर्वचन एवान्
 आदन्त वादन्त पर और वचादेशते पर ही 'वस्' को रट् हो, वन्वको नहीं । भाषायां—सवृष-

श्रुवः । ३।२।१०८। सदादिभ्यो भूतसामान्ये भाषायां लिङ् वा स्यात्, तस्य च नित्यं कसुः । 'निपेदुपीमासनबन्धघोरः' 'अध्युपुपस्तामभवज्जनस्य' । शुश्रुवान् ॥ उपेयिवाननाश्वाननूचानश्च । ३।२।१०९। एते निपात्यन्ते । उपपूर्वादिणो लिङ् वा, तस्य कसुः । इट्, उपेयिवान् । नात्रोपसर्गस्तन्त्रम् । ईयिवान् । नवोऽ-श्रातेः कसोरिडभावश्च । अनग्वान् । अनोर्वचैः कर्तरि कानच् । वेदस्यानुवचनं कृतवाननूचानः । लट्: शत्रुशानचावप्रथमासमानाधिकरणे । ३।२।१२४। अप्रथमान्तेन रामानाधिकरण्ये लट् एतौ वा स्तः । शवादि, पचन्तं चैत्रं पश्य । आने मुक् । ७।२।८२। अङ्गस्यातः । पचमानं चैत्रं पश्य । लङित्यनुवर्तमाने पुनर्लट्प्रहणात्प्रथमासमानाधिकरण्येऽपि क्वचित् । सन्दिजः ॥ ईदासः । ७।२।८३।

इति इटि सुयादिकार्ये 'आरिवान्' इति रूपम् । ददिवान् । दाघातोर्लिटि कसुप्रत्यये-द्विस्वादिकार्ये 'ददा-वस्' इति जाते 'वस्वे' इति इटि 'आतो लोप इटि च' इति आलोपे सुयादिकार्ये कृते 'ददिवान्' रूपम् । निपेदुपीमिति । निपूर्वासदेर्लिटि कसौ द्वित्वे 'अत एकहल्' इत्येत्वेऽभ्यासलोपत्वे वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे परत्वे ङीपि अमि-पूर्वरूपे निपेदुपीमित्यस्य सिद्धिः । अध्युपुप इति । अधिपूर्वात् वसधातोः लिटि कसौ यजादिस्वात्संप्रसारणे पूर्वरूपे उस् इत्यस्य द्वित्वे हलादिशेषत्वे सवर्णदीर्घे अध्युपुवस् इति जाते शसि वसोः संप्रसारणे पूर्वरूपे सत्वे विसर्गे च कृते 'अध्युपुपः' इति सिद्धम् । शुश्रुवानिति । श्रुधातोर्लिटि कसौ द्वित्वे हलादिशेषत्वेऽसौ उगित्वान्नुमि 'सान्तमहत्' इति दीर्घे सस्य लोपे संयोगान्तलोपे 'शुश्रुवान्' इति रूपम् । उपेयिवा-निति । निपात्यन्ते । उपपूर्वादिण्घातोः लिटि कसौ निपातनसामर्थ्यात् उपेयिवा-निति रूपम् । यदोपसर्गनियन्धनं न स्यात्तदा 'ईयिवान्' इति रूपम् । सन् द्विजः । अस्-भुवि घातोः 'वर्तमाने लट्' इति लटि, 'लटः शत्रुशानचावप्रथ-मासमानाधिकरणे' इत्यनेन प्रथमासमानाधिकरण्येऽपि लटो कः स्थाने शत्रुप्रत्यये, अनुबन्धलोपे, सार्वधातुकसंज्ञायां शपि, 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' इति शपो लुकि, 'अस्-अत्' इति जाते 'सार्वधातुकमपित्' इति अतः सार्वधातुकस्य छिन्वात् 'श-सोरल्लोपः' इति असोऽकारस्य लोपे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे 'उगिदधां

वस और श्रुधातुओंसे भाषा (लोक) में भूतसामान्यमें विकल्पसे क्ति लकार हो और उस क्ति के स्थानमें नित्य 'कसु' आदेश हो ।

उपेयिवान्—उपेयिवान्, अनाश्वान् और अनुचान् शब्द निपातन हो ।

लटः शत्रु—लट्के स्थानमें शत्रु और शानच् आदेश हों, अप्रथमा—समानाधिकरणमें ।

आने मुक्—अङ्गावयव अटको 'मुक्' का आगम हो, 'आन्'के परे ।

ईदासः—'आस्' धातुसे पर 'मान' को 'ईद' हो ।

आस्य । 'आदे परस्य' आसीन ॥ त्रदे. शतुर्थसुः । ३।३।३६। नेते परस्य शतुर्वसुरादेशो वा । विद्वान्, विद्वन् । नी सत् । ३।२।२२७। तौ शतुशानचौ सत्तंसौ स्त । लृट्. सद्वा । ३।३।१४। करिष्यन्तं करिष्यमाण परस्य । ताच्छील्यघयोघचनशक्तिषु धानश् । ३।२।१२९। आनौ जुहान । वक्वं भिज्राण । शत्रु निज्जात ॥ आ ष्वेस्त्वच्छीलतद्धर्मतत्साधुकारिषु । ३।२।१३४। ऋिमभिव्याप्य वक्ष्यमाणास्तच्छील्यदिषु ष्टृषु बोध्या । टृन् । ३।२।१३५।

सर्वनामस्यान्तेष्वातो ' इति नुमि, उमि गते, मित्रावन्त्यादय पर जाते 'सन्त् स' इति भूने 'हृल्लृट्वाभ्य' इति सलोपे, 'सयोगान्तरस्य लोपः' इति सलोपे 'सन्' इति रूपम् । इदास इति । 'आने मुरु' इत्यथ आन इति । तच्च विपरिणामतेऽत आह—आनस्येति । आन परस्य आनस्य ईडादेशा न्यादित्यर्थे । आनीन इति । आङ्पूर्वात्सूत्रातो. छटि शानपि नपि 'सदिमनृतिभ्य' इति लुकि 'भाम् आन' इति जाते 'ईडाता' इति अकारस्येति सौ इत्ये विसर्गे 'आसीम' इति रूपं भवति । विद्वान् । विद्वान्तोर्छटिः शतरि ऋस्य 'त्रिदेः शतुर्वसुः' इति यसुरादेशो उगते, विद्वस् इति जाते, वृद्धन्त्यावात् सौ, उलोपे, 'उगिदन्त्याम्' इति 'नुमि' उमि गते, 'सान्त महत्त सयोगस्य' इत्युपधाया दीर्घे 'हृल्लृट्वाभ्यः' इति सलोपे 'सयोगान्तरस्य लोप' इति सलोपे 'विद्वान्' इति रूपम् । विद्वत् । विद्वो छटि, छट' शतरि, अणुबन्ध लोपे, नपि, सपो लुकि, 'विद्वत्' इति भूने तस्मात्सौ उलोपे, 'उगिदन्त्यां सर्वनाम स्यान्तेष्वातो.' इति नुमि, उमि गते, मित्रावन्त्यादय परे 'हृल्लृट्वाभ्य' इति सलोपे, 'सयोगान्तरस्य लोप' इति एकारस्य लोपे 'विद्वन्' इति रूपम् । ताच्छील्येति । तत् शीलमस्य तस्य भाषरतस्मिन् । पातो रित्यधिकृतमेव । अग्नी जुहान. वृधातोर्छटि ताच्छील्ये 'ताच्छील्यघयोघचनशक्तिषु धानश्' इति धानशि शिस्वासा- यभाक्कार्थे नपि 'श्रुहोःयादिभ्यः ऋ' इति लुकि श्लो इति द्वित्वेऽभ्यासकार्ये यणि सौ इत्ये विसर्गे 'श्रुहान.' इति रूपम् । वयोघचनमुदाहरति—भिज्राण इति । श्रुधातोः 'ताच्छील्य' इति धानशि नपि श्लो द्वित्वेऽभ्यासकार्ये यणि सौ इत्ये विसर्गे रूपम् । निज्जात इति । निपूर्वाद्धन्तेष्वानशि नपि अणुलुकि उपशालोपे 'हो हृगते।' इति कुत्वेन

त्रिदे शतु —'विद्' वातुमे पर 'शु' के स्थानमें 'वृ' आदेश हो, विकरपते ।

तौ सत्—शु और धानच् 'सत्' सशक हो ।

लृट्-सद्वा—लृट्के स्थानमें शट् और धानच् विकरपते हो । ताच्छील्य—ताच्छी- ल्यादि अर्थमें वातुते कर्त्तमें 'धानश्' प्रत्यय हो । एव छेस्त्वच्छील—वद्वनाथ 'माजमाः' सूत्रसे विद्वत् 'विद्' को भ्यात करके (इदास एव) को प्रत्यय हर्ष गये हैं, है ताच्छील्यदि कर्त्ता अर्थ में हो । टृन्—वातुते 'टृन्' प्रत्यय हो, अग्नीवादि अर्थमें ।

कर्ता कटान् ॥ स्पृहिसृष्टिपतिदयिनिद्रातन्द्राश्रद्धाभ्य आलुच् ॥३२॥१५८॥
 आद्यालयस्त्रुगदापदन्ताः । स्पृह्यालुः । (शीङो वाच्यः) । शयालुः ।
 अलंकृञ् निराकृञ्प्रजनोत्पचोत्पतोन्मवृकृच्यपत्रपवृत्तुवृधुसहचर इष्णुच्
 ॥३२॥१३६॥ अलङ्कृष्णुः । ग्लाजिस्थश्च रस्तुः ॥३२॥१३९॥ गिदयं नतु
 क्ति । तेन स्व ईत्वं न । ग्लास्तुः । गित्वाज गुणः । जिष्णुः । स्यास्तुः । चाद् भुवः ।
 'श्रुकः किती'त्यत्र गकारप्रसंख्येत् । भूष्णुः । असिगृधिघृपिक्षिपेः षनुः

षत्वे सौ ऋवे विसर्गे च कृते 'निष्पान' इति प्रसिध्यति । कर्ता कटान् । करोति
 तच्छील इत्यस्मिन्नर्थे कृषतोः 'वृन्' इति वृनि, नलोपे, 'आर्घधातुकं शेषः' इत्यार्घ-
 धातुकत्वे 'सार्वधातुकाधधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे,
 'कट्' इति भूत्वे 'कृतद्वितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ, उलोपे, 'बुहनपुंसक-
 द्य' इति सः सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'ऋदुशानस्पुरुदंस्तोऽनेहसाश्च' इत्यनङि, अङो
 लोपे, 'रिष' इत्यनेन प्रस्थाने जाते 'सर्वनामस्थाने षाऽऽत्सुद्धौ' इति उपधायाः
 दीर्घे 'हृषलदाग्न्यः' इति सलोपे, 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे 'कर्ता
 इति रूपश्च । स्पृहिसृष्टिः । एभ्य आलुच् स्यादित्यर्थः । स्पृह्यालुरिति । स्पृहिघातोः
 आलुचि गुणेऽथादेशे सौ ऋवे विसर्गे 'स्पृह्यालुः' इति रूपं भवति । शीङो
 वाच्य इति । आलुच् वाच्य इत्यर्थः । शयालुरिति । शीङ्घातोः आलुचि गुणेऽथादेशे लुवा-
 दिकायं 'शयालुः' इति राधनोति । अलंकृञ् इति । एभ्य इष्णुच् स्यादित्यर्थः । अलङ्कृ-
 ष्णुः । अलंघ्यात् इत्यत्र इष्णुचि गुणे रपरत्वे सौ ऋवे विसर्गे 'अलंकृष्णुः' इति साधनो-
 ति । ग्लाजिस्थेति । रस्तुः प्रत्ययो वाच्य एवमित्यर्थः । ग्लान्तुः, स्यास्तुः । ग्लैस्थाघातोः
 रस्तुप्रत्यये सौ ऋवे विसर्गे 'ग्लास्तुः' 'स्यास्तुः' इति रूपे भवतः । जिष्णुः । शिवातोः
 रस्तुप्रत्यये मस्य परवे ष्टुत्वे सौ ऋवे विसर्गे 'जिष्णुः' इति रूपं भवति । भूष्णुः । भूष्ण-

स्पृहिसृष्टि—एभ्यन्त स्पृहि, गृहि, णि और दयि धातुसे एर्धे निपूर्वक 'द्रा' धातुसे,
 तद् पूर्वक 'द्रा' धातुसे और 'श्रद्' इत्यव्ययपूर्वक 'धा' धातुसे 'आलुच्' प्रत्यय हो,
 तच्छीलादि अर्थमें ।

(तद्पूर्वक 'द्रा' धातुसे आलुच् और 'तद्' शब्दको नान्तात् निपातन सी समझना चाहिये)
 शीङो वाच्यः—'शीङ्' धातुसे (सी) आलुच् प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।
 अलंकृञ्—अलं पूर्वक 'कृञ्' धातु, निरात् पूर्वक 'कृञ्' धातु, प्रपूर्वक 'जन्' धातु,
 उद पूर्वक 'पच्' 'पच्' और 'मद्' धातु, अप पूर्वक 'प्रप धातु तथा इत्, पृध्, सद् और चर
 धातुओंसे 'इष्णुच्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें ।

ग्लाजिस्थश्च—ग्ला, जि, स्था और (ग्लारात्) चू धातुसे 'स्तु' प्रत्यय हो, तच्छी
 लादि अर्थमें । रस्तुः—रस्तादि धातुओंसे 'स्तु' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमें

।३२१४०। व्रत् । गृन् । क्षिन् । शमित्यष्टाम्यो धिनुण् ।
 ।३२१४१। उकार उच्चारणार्थ इति काशिका । अनुबन्ध इति भाष्यम् ।
 तेन शमिनितरा शिमिनीतरेत्यत्र 'उगितथे'ति ह्रस्वविच्छ्लेषः । न चैवं शमी शमिनावि
 त्यादौ नुम्प्रमङ्ग । अल्पप्रहणमपठ्य अल्पतानामेव तद्विधानात् । 'नोदातोपदेशस्ये'ति
 वृद्धिनियेषः । शमी । तमीयादि । सम्पृचानुरुधाड्यमाड्यसपरिसृसं
 सृजपरिदेधिसंजवरपरिक्षिपपरिरटपरिवदपरिवहपरिमुहदुपद्विषुहदु-
 ह्युजाकीडधिविचत्यजरजभजातिचरापचरामुपाभ्याहनश्च ।३२१४२।
 धिनुण् स्यात् । सम्पर्कित्यादि । घौ कपलसकस्थस्त्रम्भः ।३२१४३।
 विकारी । अपे च लपः ।३२१४४। चादौ । अपलायी । विलापी । चलन-
 शब्दार्थादकर्मकाद्युच् ।३२१४५। चलनार्थाच्छब्दार्थाद्य युच् स्यात् । चलन ।

तोः अनुप्रायये धावे ह्रस्वे सौ ऋवे विसर्गे 'भूष्णु' इति रूपम् । व्रसीति । पृष्य वनु-
 प्राययः स्यात् । व्रत् - गृन् - क्षिन् । व्रसिगृधिष्टपिष्टिपधातुभ्यः वनुप्रायये क
 लोपे सौ ऋवे विसर्गे रूपाणि प्रभवन्ति । शमित्येति । शमादिग्यो दिधादिस्थेभ्योऽष्टाम्यो
 धिनुण्स्यादित्यर्थः । शमिनीतरा । शमधातोर्धिनुणि घकारोकारणकाराणामिधे 'उगित
 थे'ति ङीपि 'शमिनीतरे'ति रूपम् । शमी । तमी । शमतमोः धिनुणि घकारोकारणकारा
 णामित्ये सौ 'सौ च' इति दीर्घत्वे नलोपे 'शमी' 'तमी' इति भवतः । सृत्तेति । पृष्यो
 धिनुण् स्यादित्यर्थः । सपर्कः । सपृच्छब्दात् धिनुणि 'चजोः' इति कृत्वे घकारोकारण
 काराणामिधे लोपे सौ 'सौ च' इति दीर्घे ह्रस्वादिलोपे 'नलोप' इति नलोपे च कृते
 'सपर्कः' इति रूपम् । वाविति । धिनुण् स्यादिति भावः । विकारो । विपूर्वात् कपधातो-

शमित्यष्टाम्यो—(दिधादिस्थ) शम्, तम्, दम्, भम्, भ्रम्, ध्रम्, ऋम्, मद्—एन
 आठ धातुभ्योसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीकादि अर्थमें ।

सम्पृचानु—सम् पूर्वक 'पृच्' धातु, अनु पूर्वक 'वृच्' धातु, आङ् पूर्वक 'यम्' और
 'यस्' धातु, परिपूर्वक 'सृ' धातु, सम् पूर्वक 'सृञ्' धातु, परिपूर्वक 'देव्' धातु, सम्पूर्वक
 'ज्वर्' धातु, परिपूर्वक क्षिप्, रट्, वद्, दद् और 'मुह्' धातु तथा दुष्, दिष्, दुह्, डह्
 और शुञ् धातु, आङ्पूर्वक 'कीड्' धातु, विपूर्वक 'विच्' धातु, तथा स्थञ्, रञ् और मञ्
 धातु, कति और अप पूर्वक 'चर्' धातु, आङ् पूर्वक 'सृष्' धातु और वमि, आङ् पूर्वक 'इन्'
 धातुसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छीकादि अर्थमें ।

घौ कृत्—'दि' पूर्वक कृष्, कृत्, कृत् और सम्भ धातुसे 'धिनुण्' प्रत्यय हो, तच्छी-
 कादि अर्थमें । अपे च कृत्—'अप्' और (चकाराद्य) 'वि'पूर्वक 'इष्' धातुसे 'धिनुण्'
 प्रत्यय हो, तच्छीकादि अर्थमें । चलनशब्दा—चलनार्थक और ह्रस्वार्थक अक्षरक धातुभ्योसे

चोपनः । कम्पनः । शब्दनः । रवणः । अकर्मकात्किम् ? पठिता विद्याम् । अनुदा-
 चेतश्च हलादेः । ३।२।१४९। अकर्मकाद्युच् । वर्तनः । वर्धनः । अनुदात्तेतः
 किम् ? भविता । हलादेः किम् ? एधिता । अकर्मकात्किम् ? वसिता वक्त्रम् ।
 निन्दहिंसफिलशब्दाद्विनाशपरिक्षिपपरिरटपरिचादिग्याभापासूत्रो बुञ्
 ३।२।१४६। एभ्यो बुञ् । निन्दकः । हिंसकः, इत्यादि । देविक्रुशोश्चोपसर्गे
 ३।२।१४७। आदेवकः । आक्रोशकः । उपसर्गे किम् ? देवयिता । क्रोश । लष-
 पतपदस्थाभूदृषहनकमगमशब्दभ्य उक्ञ् ३।२।१५४। लापुकः । पातुकः ॥
 जल्पभिक्षकुट्टलुण्टवृञ्ः पाकन् ३।२।१५५। जल्पाकः । सनाशंसभि-

घिनुणि गिन्वेन 'अत उपधायाः' इति वृद्धौ सौ 'सौ च' इति दीर्घे सलोपे मलोपे 'वि-
 कापी' इति रूपम् । अपे चेति । घिनुण् स्यादिति भावः । अपलापी-बिलापी । अपपूर्वा-
 द्विपूर्वाच्च लपधातोः 'अपे च लपः' इति घिनुणि अनुयन्भलोपे उपधावृद्धौ सुवादि-
 कार्ये 'अपलापी-बिलापी' इति भवतो रूपे इति ज्ञेयम् । चलनेति । एभ्यो युञ् । चल-
 नः-चोपनः-कम्पनः-शब्दनः-रवणः । चल लुप कम्प-शब्द-रु एभ्यो चातुभ्यः 'चलनार्थ'
 इति युधि 'युवोः' इत्येनि ह्युपभानां गुणे सौ रुवे विसर्गे च कृते 'चलनः' 'चोपनः'
 'कम्पनः' 'शब्दनः' 'रवणः' इति साधूनि साध्नुवन्ति । निन्देति । एभ्यो युञ् । निन्दकः-
 हिंसकः । निन्दहिंसयोः बुञि 'युवोः' इत्यकि लुधादिकार्ये 'निन्दकः' 'हिंसकः' इति रूपे
 साधुत्वं गच्छतः । देवोति । युञ् स्यात् । आदेवकः-आक्रोशक इति । आहपूर्वात् दिवक्रुशोः
 बुञि अकि पुगन्तगुणे सुवादिकार्ये च कृते 'आदेवकः आक्रोशकः'रूपे भवतः । लपपतेति ।
 एभ्य उक्ञ् स्यादित्यर्थः । लापुकः-पातुक इति । लषपतोरुक्ञि 'अत उपधाया' इति

'युञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमे ।

अनुदा—हलादि अनुदात्तेषु अकर्मक धातुभ्योसे 'युञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमे ।

निन्दहिंस—निन्दादि धातुभ्योसे 'युञ्' प्रत्यय हो तच्छीलादि अर्थमे ।

उदाहरण—निन्द-निन्दकः । हिंस-हिंसकः । क्रिश-केशिकः । खाद-खादकः ।

विनाश-विनाशकः । परिक्षिप परिक्षेपकः । परिरट-परिराटकः । परिवादि-परिवादकः ।

ग्याभाष-ग्याभाषकः । असूय (कण्डशादियन्त)-असूयकः ।

देविक्रुशो—सोपसर्गक 'दिक्' और 'क्रुश' धातुसे 'युञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमे ।

लपपत—लपदि धातुभ्योसे 'उक्ञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमे ।

उदाहरण—लापुकः । पातुकः । पादकः । स्यायुकः । मातुकः । वपकः । घातुकः ।

क्रामुकः । गामुकः । शारकः ।

अवपरिउ—अवपरि धातुभ्योसे 'युञ्' प्रत्यय हो, तच्छीलादि अर्थमे । अजातंस-सन्

प्रहणस्यापकर्षणालयते दीर्घः । जूः । भावस्तुत् । (क्विञ्चिप्रच्छद्य यतस्तु कटप्र-
 जुश्रीणां दीर्घोऽसंप्रसारणं च) वक्षीति वाक् । पृच्छतीति प्राट् । श्रायतं स्तौतीति
 श्रायतस्तुः । कटं प्रवते कटप्रूः । जूरुक् । श्रायति हरिमिति श्रीः । (ध्यायतेः संप्र-
 सारणं च) । धीः ॥ दाम्नीशसयुजस्तुतुदलिसिचमिहपतदशनहः करणे
 ।३।२।१८२। दावादेः प्रून् करणेऽर्थे । दान्त्यनेन दात्रम् । नेत्रम् ॥ तितुत्रतथसि
 सुसरकसेषु च । ७।२।१। एषां दशानां कृप्रत्ययानामिण् । शक्षम् । योत्रम् ।
 योत्रम् । रतोत्रम् । तोत्रम् । सेत्रम् । सेक्त्रम् । मेढ्रम् । पत्रम् । दंष्ट्रा । नद्वी ।
 हरसूरकयोः पुवः । ३।२।१८३। पूष्पूजोः करणे प्रून् । तच्चेत्करणं हलसूकरयो-
 रचयत्रः । हलस्य सूकरस्य वा-पोत्रम्, सुखमित्यर्थः । अर्तिद्धूष्खनसद्वचर
 इन्द्रः । ३।२।१८४। अरित्रम् । लत्रिन् । धनित्रम् । सवित्रम् । खनित्रम् । सदित्रम् ।

नाम् धातोः 'भ्राजभासधुविद्युतो' इत्यादिना पिवपि, क्विपः, सर्वस्पापहारे
 कृन्तः धातुप्रतिपदिकत्वे सौ, उलोपे हलङ्वादिना सलोपे भासः सस्य रुवे रेष्ठस्य
 विहर्गत्वे च 'सा' इति रूपम् । कटप्रूः । कटपूर्वकप्रधातोः 'क्विञ्चिप्रच्छद्ययतस्तु
 कटप्रू' इत्यादिना क्विपि धातोर्दीर्घत्वे च कृने क्विपो लोपे विभक्तिकार्यं च तसिद्धिः ।
 दान्नी । दाप्, नी, शस, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिञ्, मिह, पत्, दश, नह, पूर्ण
 अयोदशानां द्वन्द्वः । 'दाप् लवने' इत्यस्य प्रकारस्य स्थाने 'दरोऽनुनासिकेऽनुनासिको
 वा' इति कृतसकारस्य निर्देशः । दात्रम् । दाप्धातोः 'दाम्नीशसयुजस्तुतुदलिसिच-
 मिहपतदशनहः करणे' इति दृनि नलोपे, 'षः प्रत्ययस्य' इति पर्येत्संज्ञायात्,
 'तस्य लोपः' इति पलोपे, दात्र इत्यावशिष्टे विभक्तिकार्यं च कृते तसिद्धम् । मेढ्र् ।
 मिह शेषने धातोः 'दाम्नीशसयुजस्तुतुदलिसिचमिहपतदशनहः करणे' इति
 पृनि, अनुयन्बलोपे, 'क्षार्धवाचकं शेषः' इत्यार्धधातुत्वे 'पुगन्तलघूपधस्य ष'
 इति लघूपधगुणे 'नेह + त्र' इति भूते 'हो टः' इति हरस्य रुवे 'अपस्तयोर्षोऽधः'

क्विञ्चि—वचादि धातुओंसे 'क्विप्' प्रत्यय हो, कच्को दीर्घ हो तथा संप्रसारणका
 अभाव हो । व्याजलेः—'व्यै' धातुसे विव् और संप्रसारण हो ।

दाम्नीशस—दाप्, नी, शस्, यु, युज्, स्तु, तुद्, सि, सिञ्, मिह्, पत्, दश्,
 और नह् धातुसे करण अर्थमें 'दृन्' प्रत्यय हो ।

तितुत्रतथ—ति, तु, त्र, त, य, सि, द्र, सर, क और स इन् दशों कृप्रत्ययोंको
 इह नहीं हो ।

हलसूकरयोः—पूष् और पूष् धातुसे 'प्रून्' प्रत्यय हो, करण में, वह करण यदि हल
 और सूकरवा लवयव हो ।

अर्तिद्धू—अ, छ, पू, सू, दन्' सइ और चर् धातुओंसे 'इत्र' प्रत्यय हो, करणमें ।

चरिम् । पुषः संवायाम् । शि२।१८५। पविश्रम् ॥ इति पूर्वकृदन्तप्रकरणम् ॥

इति सस्य सस्ये 'स्युना स्युः' इति सस्य सस्ये 'दो वे लोपः' इति पूर्वस्य लोपे विभक्तिकार्यं च कृते ठसिद्धिः । इति पूर्वकृदन्तम् ।

—

पुव' सञ्ज्ञायां—पूष् और पूम् वातुमे कारणमें 'इत्' प्रत्यय हो, सहायमें ।

शब्द १—'इत्' प्रत्यय किया या वाशुके अत्रमें प्रयुक्त होते हैं और उनके योगसे बने शब्द 'कृदन्त कहलाते हैं । (कृदन्तके निम्न मुख्य पांच प्रत्ययों पर ध्यान दो)

(१) सस्य-अनीपर—इन्के प्रयोगमें कर्त्तृमे शून्या अथवा पक्षी विभक्ति होती है । सकर्मक वातुसे ये प्रत्यय होनेपर दोनों लिङ्ग और तीनों वचन होते हैं, और अकर्मक वातुसे होनेपर केवल नपुंसक लिङ्ग और एकवचन ही प्रयुक्त होते हैं । यथा—'तेन पाठः पठितस्य' । 'तेन आसितस्यम्' । 'त्वयैवं कर्त्तव्यम्, करणीय वा' प्राय 'विधि' अर्थमें ही इसका प्रयोग होता है ।

(२) क—'क' प्रत्यय भूतकालमें होता है और 'क' प्रत्ययान्त किया के साथ कर्त्तृमे पत्नीया और कर्मसे प्रथमा विभक्ति होती है तथा कर्त्तृके लिङ्गके अनुसार ही कप्रत्ययान्त पदका लिङ्ग होता है । जैसे—'तेन माया निमित्ता । मया फल सञ्चितम् । अकर्मक वातुसे 'क' प्रत्यय प्राय नपुंसक लिङ्गमें होता है (मया इतितम्) । कुछ वातुयें ऐसी भी हैं जिनसे 'क' प्रत्यय कर्त्तृमें होता है । 'गर्यार्थकर्मक' (पृ० २०० देखो) कभी कभी 'क' प्रत्ययान्त शब्द विशेषण रूपसे भी प्रयुक्त होता है । यथा—'वन गतो राम' ।

(३) क्ववतु—'क्ववतु' प्रत्यय भी भूतकालमें होता है, परन्तु यह कर्त्तृमें ही होता है और कर्त्तृवाच्यके अनुसार कर्त्ता और कर्मसे विभक्तियों भी होती हैं । जैसे—'अहं पुस्तकं पठितवान्' । 'तौ पुस्तकं पठितवन्तौ' ।

(४) क्त्वा—अब एक क्रियाके बाद दूसरी क्रिया की जाती है तब प्रथम क्रियासे 'क्त्वा' प्रत्यय किया जाता है और क्त्वा प्रत्ययान्त क्रिया अव्यय रूपसे प्रयुक्त होती है तथा कर्म आदि मुख्य (द्वितीय) क्रिया के समान ही होते हैं । यथा—'वात्रन् क्रिवा नियतते' । 'क्त्वा' प्रत्ययान्त क्रिया के पूर्व यदि कोई उपसर्ग रखा जाय तो 'क्त्वा' के स्थान पर 'य' ही जाता है । जैसे—'विक्षिप्त्य, निहस्य, आदि ।

(५) तुमुन्—(अथ कृदन्त देखो) जब एक क्रिया करनेके लिये दूसरी क्रिया की जाती है, तब प्रथम क्रियासे 'तुमुन्' प्रत्यय होता है और वह अव्यय हो जाता है । 'तुमुन्' प्रत्ययान्त क्रियाके कर्त्तृदि भी मुख्य क्रिया के समान ही होते हैं परन्तु कर्त्तृका सम्बन्ध मुख्य क्रिया से ही होता है । जैसे—'इन्द्रियाणि प्रेतुमुपस्यन्ते' ।

एक प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पूर्वकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ उणादिप्रकरणम्

कृवापाजिमिस्वदिसाध्यशूच्य उण् । करोतीति कारुः । वायुः । पायुर्गुदम् ।
 आयुरौघधम् । मायुः पित्तम् । स्वादुः । साध्नोति परकार्यमिति साधुः । अरनुते-आशु
 शीघ्रम् । हरिमितयोर्द्रुवः । हुगतौ । अस्मात् हरिमितयोरुपपदयोः कुः स च डित् ।
 हरिभिर्द्रुयते हरिर्द्रुवृक्षः । मितं द्रवतीति मितद्रुः समुद्रः । शते च । शतधा द्रवतीति
 शतहुर्नदीभेदः । अन्दूहन्मूजन्मूकफोल्कृकर्मन्धूदिधिषूः । एते कूप्रत्ययान्ता
 निपात्यन्ते । शमेढः । बाहुलकात् इत्संज्ञा ढस्य एयादेश इट् च न भवति । 'शण्डः
 स्यात्पुंसि गोपतौ' । शण्डः । कमेरठः । 'कमठः कच्छपे पुंसि भाण्डभेदे नपुंसकम्'
 इति मेदिनी । रमेर्वृद्धिश्च । रामठं हिङ् । शमेः स्वः । शरूः । कणेष्टः । कण्ठः ।

हरिद्रुः । हु गतावस्माद्भातोः 'हरिमितयोः' इति कूप्रत्यये क्लोपे ङिबसास-
 प्यादभस्य ढेलोपे सौ रुवे विसर्गे च कृते 'हरिद्रुः' इति । मितद्रुः ।
 एवं मितं द्रवति अग्रापि, द्रुधातोः कूप्रत्यये ङित्वाढेलोपे सौ रुवे विसर्गे च कृते 'मित-
 द्रुरि'ति रूपं भवति । शत शति । द्रुवः कुः स्यादित्यर्थः । ङित्त्वेति शेषः । शतद्रुः । शत-
 धा द्रवति इति धाक्ये द्रुधातोः कूप्रत्यये क्लोपे ङित्वाढिलोपे सौ रुवे विसर्गे 'पात्-
 द्रुरि'ति सिध्यति । अन्दू-इति । निपात्यन्ते कूप्रत्यान्ताः । शण्ड इति । शमे-
 ढप्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये रूपमेतद् । अन्तार्धधातुकत्वाद् बलादि-
 स्वाप् ढस्येति प्राप्ते तथा च 'आयनेयीनी' इति ढस्यैयादेशे प्राप्ते 'उणादयो बहुलम्'
 इति बाहुलकत्वाच्च भवतः इति भावः । कोपं प्रमाणयति-शण्डः स्यादिति । कमेरिति ।
 कमधातोरठप्रत्यये सुवादिकार्ये 'कमठः' इति रूपम् । कोपप्रमाणेन समर्थयति-
 'कमठः कच्छप' इति । रमेरिति । षठोऽनुवर्तते । रमेरठः स्याद् वृद्धिश्चेत्यपि । रामठ-
 मिति । रामधातोरठप्रत्यये वृद्धौ सुवादिकार्ये 'रामठस्' इति । शमेरिति । स्वः
 प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । शमधातोः सप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे सुवादिकार्ये 'शरूः' इति ।

कृवापाजि-कृ, वा पा, जि, मि, स्वद्, साध्, अशू-इन् धातुभेदे 'उण्' प्रत्यय हो ।
 हरिमितयो-हरि और मित उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह ङित् हो ।
 शते च-शत उपपदक 'द्रु' धातुसे 'कु' प्रत्यय हो और वह ङित् हो । अन्दू-अन्दू,
 इन्मू, आदि 'कू' प्रत्ययान्त शब्द निपातन हो । शमेढः-शम् धातुसे 'ढ' प्रत्यय हो ।
 और बाहुलकात् 'चुट्' से उस 'ढ' को इत्संज्ञा 'आयनेयी' से पयादेश अथवा बलाधार्थधातु-
 कत्वात् 'ढ' को इट् नहीं हो । कमेरठः-कम् धातुसे 'मठ' प्रत्यय हो । रमेर्वृद्धि-'रम'
 धातुसे 'मठ' प्रत्यय हो और चकारात् धातुको वृद्धि हो । शमेः स्वः-'शम्' धातुसे
 'स्व' प्रत्यय हो । कणेष्टः-'कण्' धातुसे 'ठ' प्रत्यय हो ।

अमन्ताद् । अमिति प्रत्याहारः । 'दण्डोऽप्री लणुडोऽपि स्यात्' इत्यमरः । 'एण्डा मूर्ध्निऽण्यो च विषयाया च योषिति' इति मेदिनी । 'खण्डोऽप्री शकले,नेक्षुविका- रगणिभेदयो' इति मेदिनी । मन ज्ञाने । 'मण्ड पचाहले शाकभेदे शीवं तु वस्तुनि' । इति मेदिनी । पतिचण्डिभ्यामालञ् । 'पातालं नागलोके स्यादिवरे वडवानले' इति मेदिनी । चण्डालो मातरः । प्रह्लादिन्वादिणि चाण्डालोऽपी युज्ज्वलदत्त । तत्र, 'कुलात्पददृक्कारनिपादचण्डालमिनाऽमिप्रेभ्यश्छन्दसि' इति चण्डालशब्दात्स्वार्थेऽणं विदधता वार्तिकेन तद्भाष्येण च सह विरोधात् । गङ्गा । अङ् पुरोदारा । मृन् किन् नुट् च । मृन् गन्त्रिस्त्यात्स्य नुट् च । 'मृत्ता पिङ्गाऽ- लिघूम्यादा' । शृणातेह्रन्वश्च । शृन् । अतिस्तुपुहुसृष्टिस्रुभायावापदि यक्षिनीभ्यो मन् । एभ्यश्चतुर्दशभ्यो मन् । अर्मथञ्चू रोग स्ताम सपात् । सोम । होम । समो गमनम् । धर्म । छेमं कुर्यात्म् । होमम् । गाम आदित्य । याम ।

अमन्तादिति । 'अमरुणनय' इति अमप्रत्याहारोऽप्येच्छते । इः स्यादित्यर्गः । दण्ड इति । दमवातोः इप्रत्यये सुधादिकार्ये 'दण्ड' इति रूपं साप्नोति । रण्डेति । इमवातोः 'अमन्तात्' इति इप्रत्ययेऽनुस्वारे परसवर्णे टादि सुधादिकार्ये च कृते 'एण्डा' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । अण्ड, मण्ड । गन्-मन्धातोः 'अमन्तात्' इति इप्रत्यये सुधादिकार्ये रूपे भवति । मेदिनीऽप्येण प्रमाणयति । पति चण्डोति । पाताल, चण्डाल । पतिचण्डिभ्यां आलप्रत्यये उपधादृद्धौ सुधादिकार्ये षडयस्वरूपतिङ् । चाण्डालमिति तु प्रह्लादित्यादिमि चोपयम् । वस्तुतस्तु चाण्डाल इति षडयस्वरूपोक्तं न साधु प्रमाणाभावात् । चण्डाल प्रमाणेन समर्थयति । गणिति । गणिषादिभ्यां गन्म यय' स्यादित्यर्थः । गङ्गा इति । गन्धातो गन्प्रत्यये मस्यानुस्वारे परसवर्णे टादि इच्छयादिलोपे 'गङ्गा' इति रूपम् भवति । अङ् इति । अद्धातोः गङ्गप्रत्यये सुधादिकार्ये 'गङ्गा' इति रूपं भवति । मृत्ता इति । मृन् धातोः किमि नुटिमस्यानुस्वारे परसवर्णे कियेन गुणाभाये सुधादिकार्ये 'मृत्ता' इति रूपम् । कोशेन प्रमाणयति । शृणातेरिति । किन् नुटावनुपसंते । शृणाते किन् स्यात् नुट् वा गम्, तस्मिन् परत् इत्यनेत्यर्गः । शृन्मिति । शृन्धातो किमि नुटि इत्वे सुधादि

अमन्ता—अमन्त वातुभौते 'ड' प्रत्यय हो ।
 पतिचण्डिभ्यां—'पट्' और 'चण्ड' वातुसे 'आलञ्' प्रत्यय हो ।
 गन्गाम्यघोः—'गम्' और 'मन्' वातुसे 'गन्' प्रत्यय हो । शृन् किन्नुट्—'शृन्' वातुसे 'गन्' प्रत्यय हो, और वह 'गन्' किट् हो तथा इस 'गन्' का नुटागम मो हो । शृणाते—'शृ' वातुसे 'गन्' प्रत्यय और नुट् हो तथा वह नुट् किट् हो और वातुको हस्व हो । अतिस्तुपु—र, स्य, घ, ङ, स, ष, छि, छ, था, वा, वा, पट्, यथ, नी—इत

'धामः शमनदुष्टयोः' । पद्यम् । यक्ष्मो रोगराजः । नेमः । अवतेष्टितोपङ्गुः । मन्प्रत्ययस्यायं टिलोपो न प्रकृतेः । अन्यथा डिदित्येव त्रयात् । ज्वरत्वरन्ध्रिव्यदिनघामुपधान्याश्च । ६।४।२०। एषामुपधावकारयोस्त्व् क्वौ इत्यादावनुनासिकादी च प्रत्यये । अत्र कृत्तीति नानुवर्तते । अवतेस्तु नि कृते श्रोत्रुरिति दर्शनात् । स्वरादिपाठादव्ययत्वम् । अवतीति ओम् । असेरा च । प्रासः ॥ अचिसिचिसिद्युचिभ्यः कित् । एभ्यो मन् । ऊर्मं नगरम् । स्पूमो रश्मिः । सिमः सर्वः । शुष्मगग्निर्गर्भरयोः । घर्मः । घृघातोर्निपातोऽयम् । ग्रीष्मः । प्रघतेर्निपातोऽयम् ॥ अशुप्रुषित्तिदिक्कण्डिविशिभ्यः क्त्वं । अश्वः । 'पुष्वः स्यादुसूर्ययोः' । लद्वा पक्षिभेदः फलं क् । कण्वं पापम् । सदा । विश्वम् । कनिन् युवृषितक्षिराजिघन्धिष्वप्रतिदिद्वः । यौति इति युवा । वृष इन्द्रः । तक्षा राजा । घन्वा मरुः । घन्व शरासनम् । युवा र्यः । प्रतिद्वौव्यत्यस्मिन् प्रतिदिवा दिवसः । उचिङ्कुपिगर्तिभ्यः स्यन् । श्रोष्ठः ।

कार्ये च कृते 'शृङ्गमि'ति । ओमिति । कघघातोः 'अदते' इति मनि तष्पात्त्वयद्व टिलोपे खवो वकारस्य 'ज्वरत्वर' इत्यृठि गुणे सान्प्रत्ययस्वास्तुलोपे 'ओम्' इति सिच्यति । प्रसेरिति । प्रसघातोर्मन्प्रत्ययः स्यात्प्रसघातोराकारान्तादेशश्चेत्यर्थः । प्रास इति । प्रसघातोर्मनि घातोराकारान्तादेशे सवर्गदीर्घे सुधादिकार्ये 'मामः' इति रूपम् । क्वीति । पृम्यो मन् स्यात्स च क्दित्यर्थः । ऊर्मं स्पूम इति । अवसिन्धोर्मन्प्रत्यये 'ज्वरत्वर' इति उपधावकारयोरुठि सुधादिकार्ये रूपे भवसः । सिमः । पिघातोर्मनि रूपमेतत् । अश्व इति । पृम्यः क्त्वं स्यादित्यर्थः । अश्वः-पुष्वः-लट्वा-कण्वं-लट्वा-विश्वम् । अशु-प्रुषि-लटि-कणि-खटि-विशिभ्यः कनि कनोर्लोपे सुधादिकार्ये च कृते रूपाव्ययसेधानि । कनीति । युवाविभ्यः कनिन् स्यादित्यर्थः । युवा-वृषा-तक्षा-घन्वा-घुवा-प्रतिदिवा । यु-पृषि-वृषि-राजि-घन्धि-घु-प्रतिदिवादिद्वः कनिभि युवातोहरुचिं, सौ 'सर्वनामस्याने' इति दीर्घे सस्य लोपे तलोपे रूपाणि भवन्ति । उपीति । पृम्वस्त्वन् द्यादित्यर्थः । ओष्ठः-कोष्ठः-गाया-स्य इति । उचि-कुदि-गा-श्वभ्यः यन्प्रत्यये

चतुर्दश धातुर्भासे 'मन्' प्रत्यय हो । अवतेष्टि—'अव्' धातुसे 'मन्' प्रत्यय हो और मन् प्रत्ययान्तकी 'टि' का लोप हो । ज्वरत्वर—'ज्वर्', 'वर', 'क्षिप्', 'अव्', 'मव्'—इन धातु-लोको लयवा और वकारको ऊट् हो 'कि' के परे और हलादि अनुनासिकादि प्रत्ययके परे । अचिसिचि—'अच्', 'सिच्', 'सि', 'शुप्'—इन धातुओंसे 'मन्' प्रत्यय हो और इह किय हो । अशुप्रुषि—'अश्', 'प्रुष्', 'लट्', 'कण्', 'खट्', 'विच्'—इन धातुओंसे 'कन्' प्रत्यय हो । उचिङ्कु—'उच्', 'ङ्कु', 'वक्ष्', 'रान्', 'धन्वि', 'सु', और प्रतिपूर्वक दिद् धातुसे 'कनिन्' प्रत्यय हो । अचिङ्कुपि—'अच्' आदि धातुओंसे 'यन्' प्रत्यय हो ।

कोष्ठम् । गाया । अर्थः 'अयोऽभिधेयरेयस्तुप्रयोजननिर्गतिषु' इत्यमरः । पाततुद्विष
 चिरिचिसिचिभ्यश्चरुः । पीथो रविर्धृत पीथम् । तीर्थे शास्त्राप्सरक्षेत्रोपायोपाया-
 यमन्त्रिषु । अवतारविषुष्टाम्भ क्षीरज सु च विश्रुतम् इति विष्व । तुत्योऽग्नि ।
 चक्रयसामभेद । रिक्थम् । बाहुलकादृचेरवि- 'रिक्थमृथय धन वधु' । सिक्थम् ।
 ग्लानुद्विभ्यां ङी । ग्लौ । नौ । च्विरव्ययम् । ङीरित्येव । ग्लौः करोति ।
 'कृन्नेजन्त' इति सिद्धे नियमार्थमिदम्-उणादिप्रत्ययान्तरच्यन्त एवेति । गमेर्ङी ।
 'गौर्नाऽऽदित्ये यलीयदं किरणक्रतुभेदयो । स्त्री तु स्याद्विनि मास्त्यां
 भूमौ च सुरमाचपि । नृस्त्रियो स्वर्गवज्राभ्युरश्मिदृग्घाणलोमसु' इति ।
 बाहुलकात् युतेरपि ङी । 'यौ स्त्री स्वर्गान्तरिक्षयो' ॥ रातेर्ङः । रा । अमेधश्च ।
 झ । चाद्रमे, अम्रम् । उन्देर्नलोपश्च । चायुच् । औदन । गमेर्गश्च । चायुच् ।
 गणनम् । कृपृवृजिमन्दिनिघाञ्ज. क्यु. । किरण । पुरण समुद्र । वृजनमन्त-

'गुगन्त' गुणे सुबादिकाय रूपाणि भवन्ति । ऐति । एभ्य धगिरायर्ष । पीथ-
 शीर्ष-तुत्य-वक्थ-रिक्थ-सिक्थमिति । पा-वृ-तुदि-वधि-रिचि-सिचिभ्य. यकि
 कक्षीये पादीनां अमदा 'घुमास्या' इति ङी 'श्चत्र इत्तातो' इतीति रपरारे
 चावै 'वधिस्त्रपि' इति सम्प्रसारणे पूर्वकृते कृते सुबादिकार्ये रूपाणि प्रभवन्ति ।
 कोदाप्रमाणै, प्रमाणयति । श्चरेरपि क्वचित् थक् । तेन श्चकथमित्यपि साधु । श्लेति ।
 एभ्यो ङी प्रत्यय । ङी-नुरिभ्यां ङीप्रत्यये ङीघातोरास्त्रे दिग्वाट्टिलोपे सुबा-
 दिकार्ये 'ग्लौ नौ' उभयरूपप्रसिद्धि । च्विरिति । बाधन्तच्चिरित्यर्थ । तेन कृयोऽ
 मुप्रयोगे 'ग्लौकरोति' इत्यस्य सिद्धि । गमेरिति । गम्घातोर्ङोपत्यये दिग्वाट्टिलोपे
 सुबादिकार्ये 'गौ' इति रूप भवति । अमेधश्चेति । अमघानोर्ङोपत्यये दिग्वाट्टिलोपे
 सुबादिकार्ये अरिति रूपम् । उन्देरिति । युधि 'ओदन' इति रूपम् । गमेरिति । गमे
 युष्स्यात् गङ्गान्तादेश इत्यर्थ । गणनमिति । गम्घातोर्गुणिस मस्य गत्वे 'युवो' इत्य
 नादेशे सुबादिकार्ये च कृते 'गगनम्' इत्यस्य सिद्धि । कृपृ इति । एभ्यः वधु स्यात् ।

पाततुदि—'पा' आदि षातुकोसे 'यक्' प्रत्यय हो ।

ग्लानुदि—'ग्ले' षातु और नुद् षातुसे 'ङी' प्रत्यय हो ।

च्विरव्य—'च्वी' प्रत्ययान्त शब्दस्वरूप यदि अन्यन्त हो तो वह अव्ययसङ्ग हो ।

गमेर्ङी—'गम्' षातुसे 'ङी' प्रत्यय हो । रातेर्ङः—'रा' षातुसे 'ङे' प्रत्यय हो ।

अमेध—'अम्' षातुसे 'हृ' प्रत्यय हो ।

उन्देर्नलो—'उन्द' षातुके नकारका ओप हो और ङ्चकारात् 'युच्' प्रत्यय हो ।

गमेर्गश्च—'गम्' षातुको गकारान्त, आदेश हो और चकारात् 'युच्' प्रत्यय भी हो ।

कृपृवृजि—'कृ, पृ, वृ', मन्द् और निपूर्वक षा षातुसे 'क्यु' प्रत्यय हो ।

रिक्त्वा । मन्दनं स्तोत्रम् । निधनं कुशानाशयोः । धृषेर्धिष् च संज्ञायाम् । धिष्णो
 गुरुः । धिष्णा धोः । तुन्तृचौ शंसिषदादिभ्यः संज्ञायां चानिटी । शंसेः
 क्षदादिभ्यश्च क्रमात्तृचौ स्तः, तौ चाऽनिटी । शंस्ता । शंस्तरौ । शंस्तरः । क्षदिः
 सौत्रो घातुः । 'क्षता स्यात्सारथी द्वाःस्ये वैश्यायामपि शूद्रजे' । बहुलामन्यत्रापि ।
 मन्, मन्ता । हन्, हन्ता । इत्यादि । नप्त् नेष्ट् त्वप्त् द्वोत् पोत् भ्रात् जामात्
 मात् पित् दुहित् । एते वृजन्ता निपात्यन्ते । नप्ता । इत्यादि । सुभ्यसेर्ऋन् ।
 स्वसा । यतेर्दृष्टिश्च । 'भार्यास्तु भ्रातृवर्गस्य यातरः स्युः परस्परम्' । नञि च
 नन्देः । न नन्दतीति ननान्दा । इह वृद्धिर्नानुवर्तत इत्येके । 'ननान्दा तु स्वसा
 पत्युर्नान्दा नन्दनी च सा' इति शब्दार्णवः । दिवेर्ऋः । देवा, देवरः । 'स्वामिनी
 देवदेवरौ' । नयतेर्ऋश्च । ना । नरौ । नरः । अर्चिश्चिहुस्त्विच्छादिच्छ-
 दिभ्य इत्सिः । अर्चिः 'अर्चिः शोचिष्ये क्लोषे प्रकारो द्योत आतपः' । हयिः सर्पिः ।
 ह्रस्मन्त्रन्स्वप्नु च । ६।४।९७। छान्देः ह्रस्वः स्यात् । छदिः पटलं । छदिः । वृद्धेर्न-

शंस्ता । शंसघातोः तृनि नलोपे सौ 'ऋद्गुशनस्' ह्रस्वनङि 'अप्त्न्' इति दीर्घत्वे
 एल्श्यादिलोपे नलोपे च कृते 'शंस्ता' इति । बहुलमिति । तुन्तृचौ स्त
 इत्यर्थः । मन्ता । हन्ता । मन्तृचोस्त्तृचौ सौ 'ऋद्गुशनस्' ह्रस्वनङि 'अप्त्न्तृत्'
 इति दीर्घं खलोपे नलोपे च कृते 'मन्ता, हन्ता' ह्रस्वनयोः संसिद्धिः । नप्त्
 इति । वृजन्ता पृते निपात्यन्ते । नप्ता ह्रस्वादिरूपाणि भवन्ति । अर्चति । एष्य
 इतिर्वाच्य इत्यर्थः । नञिः-शोचिः-हविः । ऋ-शुच-हु एष्यः इतिप्रत्यये गुणे सुधा-
 दिकार्ये रूपाणि भवन्ति । इस्मिति । एषु परेषु छादेर्द्वैस्वः स्यादित्यर्थः । छादेर्घातोः
 'अर्चिश्चि' इति इत्सि धातोर्द्वैस्वत्वे सुधादिकार्ये 'छदिः' इति रूपम् । एद्घातोरित्ति
 'पुगन्त' गुणे सुधादिकार्ये 'छदिः' इति । धुतेरिति । धुत्घातोरित्सिन् प्रत्यय आदेशश्च

छपेधिष- 'धृष्' धातुसे 'क्यु' प्रत्यय-और 'धिष्' आदेश हो, संज्ञामें । तुन्तृचौ-शंतादि-
 और क्षदादि (सौत्र) धातुओंसे 'तृन्' 'तृच्' प्रत्यय हों, संज्ञामें और वे अनिट् गी हों ।
 बहुलमन्य-बाहुलकात् अन्य धातुओंसे भी तृन्-तृच् आदि प्रत्यय हों । नप्त्-नप्त्-
 नेष्ट् आदि तुमन्त निपातन हो । सावसेर्ऋन्-'ऋ' उपपदक 'अस' धातुसे ऋन्
 प्रत्यय हो । यतेर्दृष्टिश्च-'यत्' धातुसे 'ऋन्', प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी हो ।
 नञि च नन्देः-'नञ्' उपपदक 'नन्द' धातुसे 'ऋन्' प्रत्यय हो और चकारात् वृद्धि भी
 हो । दिवेर्ऋः-'दिव्' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय हो । नयतेर्ऋश्च-'नी' धातुसे 'ऋ' प्रत्यय
 हो और चकारात् वृद्धि 'दिव' हो । अर्चि-अर्चादि धातुओंसे 'इत्सि' प्रत्यय हों । ह्रस्मन्-ह-
 सादि प्रत्ययदे परे छादि धातुकी उपपादो ह्रस्व हो । वृद्धेर्न-'वृद्' धातुसे 'इत्सि'

लोपश्च । 'वर्दिनां कुशशुष्मणो' घुतेरिसिन्नादेश्च जः । ज्योति । जनेरसिः ।
 'जनुर्जननञ्मानि' इत्यमर । अतिपृथपिपयजितनिघनितपिभ्यो नित् । अत्र ।
 पठमन्वि । षण् । यञु । तनु । धनु । धनुरक्षिपाम् । 'तपु स्यामिशानुपु' ।
 एतेर्णिष् । आयु, आयुषी । चक्षे शिष्य । चक्षु । मुद्दे, फिच । मुहु । मुहु-
 रम्ययम् । पानीविपिभ्यः, पः । पाति रक्षत्यस्मादात्मानमिति पापम् । तद्योगा-
 त्पाप । नेप' पुरोहित । वेष्प पानीयम् । स्तुवो दीर्घश्च । स्तूप, समुच्छ्राय ।
 सुशुभ्यां निष् । चान्कित् सूप । बाहुलकादुत्थम् । शूर्प । कुयुभ्यां च । उव-

य स्यादिति भाव । ज्योति । घुत्घातोऽसिन् प्रत्यये अ देर्दकारस्य जने 'पुगन्त'
 गुणे सौ हल्ङ्वादिहोपे सस्य रुवे विसर्गे 'ज्योति इति रूपम् । जनेरिति । अन्घातो
 रसिप्रत्यये सुबादिकार्ये 'अनु' इति रूपम् । अति । पृथ उतिः स्यात्त च निदिपयर्षः ।
 अरः-पठ-यणु-तनु-धनु-तपु । ऋ-पृ-यञ-तन्-रवप्-धन-तपेभ्य उतिप्रत्यये
 गुणादिसुबाहौ च कार्ये रूपाणि प्रभवन्ति । एतेरिति । इण्घातोर्लम् स्यात्त च निदि
 र्वर्षः । आयु । इमातोऽसि भिन्नेन वृत्तादायादेशे सौ सलोपे सस्य रुवे विसर्गे
 'आयु' इति रूपम् । चक्षेरिति । उस् स्यात् स च गित् । चक्षु । चघघातो उसि
 सौ सलोपे रुवे विसर्गे रूपम् । मुद्देरिति । उस् स्यात्त च कित् । मुद्घातोऽसि किन्नेन
 गुणामाये सौ हल्ङ्वादिहोपे सस्य विसर्गे 'मुद्दु' । प'नीति । पृथ्यः पप्रत्यय ।
 पापः, नेपः, वेष्प । पा, नी, विप्-घातो पप्रत्यये नीघातो विष्घातोऽस्य गुणे सुबादि
 कार्ये रूपाणि भवन्ति । स्तुव इति । पप्रत्ययः स्यात्तस्मिन्परतो भ्रातोर्दीर्घमित्यर्थः ।
 स्तूप इति । स्तुघातो पप्रत्यये दीर्घने सुबादिकार्ये च कृते 'स्तूप' इति रूपम् ।
 सुशुभ्यामिति । प' स्यात्त च नित्-किञ्च । सुघातो पप्रत्यये दीर्घने सौ रुवे विसर्गे
 सुपः इति रूपम् । शूर्प इति । सघातो पप्रत्यये बाहुलकादुत्थे रपरत्वे 'हलि च'
 इति दीर्घे सुबादिकार्ये 'शूर्प' इति रूपम् । कुयुभ्यामिति । पा स्याद्दीर्घे षेऽवर्षः ।

प्रत्यय हो और बाद नकोप भी हो । घुतेरिसिन्—'घुत्' घातसे 'सिन्' प्रत्यय हो
 और बादि दकारको अकार आदेश मो हो । जनेरसि —अन्' घातसे 'रसि' प्रत्यय हो ।
 अतिपृ—अति (ऋ)आदि घातसे 'रसि' प्रत्यय हो और वर नित्' हो । एतेर्णिष्—
 'एत्' घातसे 'रसि' प्रत्यय होऔर वह 'गित्' हो । चक्षेः शिष्य—'चक्षिञ्' घातसे 'असि'
 प्रत्यय हो और वह 'गित्' हो । मुद्देः किञ्च—'मुद्' घातसे 'असि' प्रत्यय हो और वह
 'कित्' हो । पानीवि—पा-नीआदि घातसे 'प' प्रत्यय हो । स्तुवो—'स्तु' घातसे 'प'
 प्रत्यय हो और चकारात् दीर्घ भी हो । सुशुभ्यां—'शु' और 'शु' घातसे 'प' प्रत्यय हो
 और वह नित्' हो तथा घातको दीर्घ भी हो ।

कुयुभ्यां—'कु' तथा 'कु'घातसे 'प' प्रत्यय हो और घातको दीर्घ भी हो ।

न्ति मण्डूका अस्मिन्निति कूपः । युयन्ति वध्नन्ति अस्मिन्पशुमिति यूपः । स्रष्टुशिल्पशष्पवाष्परूपपर्यंतल्पाः । सन्तैते पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्तनिहृदिपुष्पिगदिमदिभ्यो णेरित्तुच् । श्रयामन्तेति णेर्य् । स्तनयित्तुः । हर्षयित्तुः । पोषयित्तुः । गदयित्तुः वावदृक् । मदयित्तुः मदिरा । अशेः सरः । अक्षरम् । वसेश्च । वत्सरः । सपूर्वाच्चित् । संवत्सरः । परिवत्सरः । शकृशक्तिकलिगर्दिभ्योऽभच् । करमः । शरमः । शलमः । कलमः करिशावकः । गर्दमः । ऋषिदृषिभ्यां कित् । ऋषमः । दृषमः । रासिबद्धिभ्यां च । रासमः । वल्लमः । नियो मिः । नेमिः । अर्तेरुच्च । ऊर्मिः । भुक्ः कित् । भूमिः । अङ्गेर्नलोपश्च ।

कूपः, यूपः । कुयुवोः पप्रत्यये णीर्घत्वे सुवादिकार्ये च कृते 'कूपः' 'यूपः' इति रूपे भवतः । स्रष्टेति । पप्रत्ययान्ता निपात्यन्ते । स्तनयित्तुः-हर्षयित्तुः-प्रोषयित्तुः-गदयित्तुः-मदयित्तुः । स्तनि-हृदि-पुषि-गदि-मदिभ्य इत्यलुच्प्रत्यये गुणेऽयादेशे सुवादिकार्ये त्रिसिद्धिः । अक्षरन् । अक्षधातोः सरप्रत्यये 'व्रक्ष' इति शास्य पत्वे 'पढोः कः सि' इति क्तये 'आदेशः' इति सरस्य पत्वे टमयोः संयोगे चत्वे सुवादि-कार्ये 'अक्षरम्' इति रूपं साधु । वसेश्चेति । सरः प्रत्ययः स्यात् । वसधातोः सरप्रत्यये 'सः रशार्धधातुके' इति पूर्वसस्य चत्वे सुवादिकार्ये रूपं दोष्यम् । कृष्टृशब्दीति । पृम्योऽभच्प्र-त्ययः स्यात् । करनः-शरनः-शलमः-कलमः-गर्दमः । कृ-शृ-शल-कल-गर्द-धातुभ्योऽभचि गुणे स्परत्वादिकार्ये सुवादिकार्ये च कृते रूपाणि सिद्धि गच्छन्ति । ऋषीति । आभ्यामभच्स्यात्स च कित् । ऋषमः, दृषम इति । ऋषिदृ-षिभ्यामभचि क्तियेन गुणाभावे सुवादिकार्ये रूपे गजतः । रासीति । आभ्यामभच् स्यात् स च न कित् । रासमः । वल्लम इति । रासि-बद्धिभ्यामभचि सुवादिकार्ये टमयोः सिद्धिः । निय इति । मिः स्यादिति भावा । नेमिः । गीजातोर्निप्रत्यये 'लार्धधातु' इति गुणे सौ हत्वे विसर्गे 'नेमिः' इति साधु । अर्तेरिति । मिः प्रत्ययः स्याद्भातोः ङयादेशः

स्रष्टुशिल्प-शष्पादि 'प' प्रत्ययान्ता निपातन हो ।

स्तनिहृदि-पुष्पयन्त स्तनादि धातुभासे 'स्तुच्' प्रत्यय हो ।

अशेः सरः- 'अश' धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो । वसेश्- 'वस्' धातुसे सौ 'सर' प्रत्यय हो । (वत्सरः- 'सः स्वार्धधातुके' इति वत्सम्) सपूर्वाच्च- 'सम्' इत्युपसर्गापूर्वक 'वस्' धातुसे 'सर्' प्रत्यय हो और वद् 'निच्' हो । कृष्टृशब्दि- 'शृ' आदि धातुभासे 'शमन्' प्रत्यय हो । ऋषिदृषिभ्यां- 'कृष्-दृष्' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो और वद् 'दिव' हो । रासिबद्धि- 'रास्' और 'वल्' धातुसे 'अभच्' प्रत्यय हो । नियो मिः- 'नी' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो । अर्तेरुच्च- 'ऊ' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और वद् 'दिव' धातुको 'ऊ' हो । सुवः कित्- 'भू' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और वद् 'दिव' हो । अङ्गेर्नलोपश्च- 'अङ्' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो और वद् 'दिव' हो ।

अग्नि । घट्टिभिश्चयुद्गुलाहात्वरिभ्यो नित् । वट्टि । श्रेणि । श्रेणि । यो-
नि । द्रोणि । म्कानि । हानि । तूष्ण । पातेर्ङिति । पति । सूड किः ।
सुरि । अदिशदिमूशुभिम्य । किन् । अदि- । अदि शर्करा । भूरि प्रचुरम् ।
शुभि ब्रह्मा । घल्लिमलितनिभ्य ऋयन् । बल्य । मलय । तनय । माछ
सस्त्रिभ्यो यः । पाया । छाया । सस्यम् । बाहुलक्षान्मव्यं दक्षिणवामयो । ज-
नेर्यक् । 'ये विभाषा' । जन्य युद्धम् । जाया भार्या । सर्वधातुभ्य इन् ।
पविरतिन् । तुडि । तुण्डि । वलि । वट्टे । यजि । काशत इति काशि । य-
ति । मल्लि, मल्ली । केलि । 'मल्लो परिणामे'-मसि । बोधि । नन्दि । कलि ॥

स्वादिस्वर्यः । ऊमि । अघातो मिप्रत्यये घातो, लृशदेशे रपरधे सुधादिकार्ये 'ऊमि'
इति रूपम् । मुव इति । मि स्यात् स च कित् । भूमि । मूघातोर्मिप्रत्यये क्लिवेन
गुणाभावे सुधादिकार्ये 'भूमि' इति रूपम् । अद्वेरिति । अङ्घ्रातोर्नि स्यात् घातोर्न-
लोपश्चेत्पर्यः । अग्नि । अङ्घ्रातोर्निप्रत्यये घातोर्नलोपे सौ एवे विभक्तं 'अग्नि' इति ।
बह्वेति । एम्पो नि स्यात् स च नित् । वट्टि-श्रेणि-द्रोणि-यानि-द्रोणि-म्कानि-
हानि, तूष्ण । घट्टि-भि-शु-पु-दु-गै-हा-रवरिभ्यो निप्रत्यये-योस्यात्वेन गुणादिकार्ये
सुधादिषु कृतेषु रूपाणि बोध्यानि । पातेरिति । इनि स्यात् । पति । पाघातोर्ङनिप्र-
त्यये द्विवाट्टिलोपे सुधादिकार्ये 'पति' इति रूपम् । सूड । कि स्यात् । सूघातोः
क्लिप्रत्यये कलोपे सुधादिषु 'शुरि' इति । अदोति । एम्प कित् स्यात् । अदि-
अदि, भूरि-शुभि । अद्-शद्-भू शुभधातुभ्यः क्लिनि सुधादिकार्ये साधुनि ।
बलीनि । एम्पः कयन् स्यात् । बलय-मलय-तनय । घल्लिमलितनिभ्यः ऋयन्प्रत्यये
सुधादिकार्ये रूपाण्यवसेयानि । माटेति । एम्पो य स्यात् । माया-छाया । मा-घ्राधा-
त्योर्घप्रत्यये टापि सुधादिकार्ये 'माया-छाया' इति इति उभयस्वरूपतिदिः । सस्यमिति ।
सस्त्रिघातोर्घप्रत्यये सावमि पूर्वरूपे सस्यमिस्वरस्य मिद्धि जनेरिति । यक् स्यात् ।
जन्य, जाया । जनघातोर्घकि 'ये विभाषा' इति आध्याभावे सावमि पूर्वरूपे प्रथमं
रूपम् । सति आकारे टापि सुधादिकार्ये द्वितीय रूपम् । सर्वेति । इन् स्यात् ।
पवि-तुडि-तुण्डि-वलि-वट्टे-यजि-काशि-यति-मल्लि-केलि-मसि-बोधि-नन्दि-

धातुसे 'नि' प्रत्यय हो और नकारका लोप भी हो । घट्टिभि-बहादि धातुमे 'न' प्रत्यय
हो और बह्वेति हो । पातेर्ङिति-'पा' धातुमे ङिति प्रत्यय हो । सूड किः-'सूड'
धातुमे 'कि' प्रत्यय हो । अदिशदि-'अद्' आदि धातुमे 'किन्' प्रत्यय हो । घल्लिम-'वल्'
आदि धातुओंसे 'ऋयन्' प्रत्यय हो । माच्छा-'मा' आदि धातुओंसे 'य' प्रत्यय हो ।
जनेर्यक्-'जन्' धातुसे 'यक्' प्रत्यय हो । सर्वधातु-सर्वो धातुओंसे 'इन्' प्रत्यय हो ।

‘हरिर्विष्णावहाविन्द्रे मेके सिंहे हये रवा । चन्द्रे कीले प्लवङ्गे च यमे वाते च की-
र्तितः ॥’ इति । इगुपधात्कित् । ऋपिः । शुचिः । मनेरञ्च । मुनिः । जनिघ-
सिभ्यामिण् । जनिर्जननम् । घासिर्भक्ष्यमरिष्व । अच इः । रविः । तरिः ।
पविः । कविः । अरिः । कुण्डिकम्प्योर्नलोपश्च । कुडिर्देहः । कपिः । श्पेः क्सुः ।
इधुः । कृपेर्वर्णे । नक् स्यात् । कृष्णः । दाम्नाभ्यां नुः । दानुः दाता । भानुः ।
विपेः किञ्च । विष्णुः । सितनिजनिगमिमसिसच्चयविधाञ्कुशिभ्यस्तुन् ।
सेतुः । तन्तुः । जन्तुः । गन्तुः । मस्तु दधिमण्डम् । सक्तुः । श्रोतुः । धातुः ।

कलिः । पच-तुष्ट-तुष्ट-वल-वट-यज-काश-पत-मल्ल-किल्-मस्-बुध-नन्द-कल्-ए-
भ्यो धातुभ्यः ‘सर्वधातुभ्य इन्’ इति इनि सुधादिकार्ये रूपाणि राधनुवन्ति । इगुपधा-
दिति । इगुपधाद्दिहितो यः इन् स किस्पात् । ऋपिः-शुचिः । ऋप्-शुचोरिनि कित्त्वेन
गुणाभावे सुवादिकार्ये ऽभयरूपसंसिद्धिः । मनेरिति । मनेरिन् स्याद्दातोर्कारस्योदा-
देशः । मुनिः । मनघातोरिनि प्रत्ययेऽकारस्य उदादेशे सुवादिकार्ये रूपम् । वनीति ।
आभ्यामिण् स्यात् । जनिः-घासिः । जन्घसोरिणि ‘जनिवधयोश्च’ इति वृद्धिप्रतिषेधे
वसवातोर्द्वौ सुवादिकार्ये रूपयोः सिद्धिः । अच इः । अजन्ताद्दातोरिः स्यादित्यर्थः ।
रविः-तरिः-पविः-कविः-अरिः । स्-वृ-पू-कु-ऋ पृथ्प इप्रत्यये गुणे सुवादिकार्ये
रूपाणां संसिद्धिः । कुहीति । इः स्यात् ललोपश्चेत्यर्थः । कुडिः-कपिः । कुण्डि-कृपि-
भ्याश्च इप्रत्यये नलोपे सुवादिकार्ये ऽभयोर्निष्पत्तिः । श्पेरिति । इधुः । इपघातोः
पसुप्रत्यये ‘पठोः’ इति पस्य क्त्वे सस्य पत्वे सुवादिकार्ये ‘इधुः’ इति रूपम् ।
कृपेरिति । वर्णार्थं गन्धे कृपेः नक् स्यादित्यर्थः । कृष्णः । कृष्घातोर्नेकि सुवादिकार्ये
‘कृष्णः’ इत्यस्य साधुत्वम् । दातेति । नुः स्यात् । दानुः-भानुः ॥ दाम्नाभ्यां नुप्रत्यये
सुवादिकार्ये ‘दानुः-भानुः’ इत्यनयोः निष्पत्तिः । विपेरिति । विपघातोर्नुः स्यात् स च
कित् । विष्णुः । विपघातोः नुप्रत्यये ‘रपाभ्याम्’ इति णत्वे क्त्वेन गुणाभावे सुवादि-
कार्ये ‘विष्णुः’ इति रूपम् । सितेति । पृथ्पस्तुन् स्यात् । सेतुः-तन्तुः-जन्तुः-गन्तुः-
मस्तु-सक्तुः-श्रोतुः-धातुः-क्रोष्ट । सि-तनि-जनि-गमि-मसि-सचि-अवि-धाञ्-

इगुपधात्-इगुपधातुसे पर ‘इन्’ प्रत्यय ‘कित्’ हो । मनेरञ्च-‘मन्’ धातुसे इन्
प्रत्यय हो और वट ‘कित्’ हो तथा ‘मन्’ के अकारको वकार आदेश हो । जनिघसि-‘जन्’
और ‘वस्’ धातुसे ‘इण्’ प्रत्यय हो । अच इः-अजन्त धातुसे ‘इ’ प्रत्यय हो ।
कुण्डि-‘कुण्ड’ और ‘कम्प’ धातुसे ‘इ’ प्रत्यय हो और धातुके नकार-ना लोप हो ।

हृपेः क्सुः-‘इप्’ धातुसे ‘वह्’ प्रत्यय हो । कृपे-‘कृष्’ धातुसे ‘नक्’ प्रत्यय हो, वर्ण
जर्धनं । दाम्नाभ्यां-‘दा’ और ‘आ’ धातुसे ‘नु’ प्रत्यय हो । विपेः-‘विष’ धातुसे ‘नु’ प्रत्यय
हो और वह ‘कित्’ हो । सितनि-‘सि’ आदि धातुओंसे ‘तुन्’ प्रत्यय हो ।

कोश । अविस्तृप्तृत्वन्निभ्य ईः । अवीर्नारी रजस्वला । तरीः । स्तरीः । तन्त्री ।
 यापोः कित् द्वे च । यवीरव । 'यपो' स्यात्सोमसूर्ययो । घातप्रमीः । निघातोऽयम् ।
 लक्ष्मिर्मुट् च । लक्ष्मी । सर्वघातुभ्यो मनिन् । कर्म । चर्म । मस्म । जन्म ।
 शर्म । स्याम । घृंहेर्नोऽष्ट । मकारस्य अकार । 'मदा तत्त्वं तपो वेदो मद्या विप्र
 प्रजावति' । नामन् सोमन् व्योमन् रोमन् लोमन् पाप्मन् ध्यामन् । सर्वैते
 निघात्यन्ते । साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ । साम । आत्मा । हनिमशिभ्यां सि-
 कन् । 'हंसिका हंसयोपिति' । मक्षिका । गिर उह्वत् । गहड । शृद्धमसोऽ-
 दिः । शरन् । 'शरदृष्टद्वकूलधो' । मसञ्चनम् । स्पञ्जितनियञ्जिभ्यो हित् ।

इतिभ्यो घातुभ्यस्तुनि गुणादिकार्यं सुबादिकार्यं रूपानि ससिप्यन्ति । स्वीति ।
 पृथ्व ईं स्यात् । मनी -वरी -स्तरी -जन्त्री । अथ-यु-स्य-सम्भिभ्यो घातुभ्य ईं प्रत्यये
 गुणादौ सुबादौ च कार्ये रूपाण्यस्येयानि । यापोरिति । यापोरीः स्याद्यपोर्द्वित्वं
 कित् चैत्पर्यं । ददी । यपो । यापाम्यान् ईं प्रत्यये घातोर्द्विवेग्यासकार्यं ईं प्रत्ययस्य
 कित्त्वेन 'भावो लोप इति च' इत्यालोपे सुबादिकार्यं उभयव्यस्य निष्पत्तिः । वात्प्र
 मी । वातप्राम्यो वात्प्राम्योरीप्रत्ययो निघात्यन्ते । लक्ष्मिर्मुट् चेति । लक्ष्मिर्वातोरीप्रत्यये
 सुबादमे सुबादिकार्यं 'लक्ष्मी' इति रूपम् । सर्वेति । मनिन् स्यात् । कर्म-वर्म-धर्म-
 जन्-धर्म-स्याम । कृ-धर-मस्-जन-शृ-स्याभ्यो घातुभ्यो मनिनि सुबादिकार्यं
 रूपानि षोष्णानि । वृषेरिति । मनिन् स्यात् नकारस्याकारः । मद्या । घृंघातोर्मनिति
 नकारस्याकारे पनि 'मद्यान्' इति चाते सुबादिकार्यं 'मद्या' इति । नामत्रिति । एते
 निघात्यन्ते मनिचमता । साविन्मामिति । कर्मज्ञा साऽतिभ्यां मनिन्मनिणौ स्ताः ।
 साघातोर्मनिति अतघातोर्मनिति गित्वेनोपधापृद्धौ सुबादिकार्यं 'साम-ध्यामा' इति
 निष्पद्येते । इतीति । सिकन् स्यात् । हंसिका-मक्षिका । हनिमशिभ्यो सिकनि नरघातु-
 स्वारे ल्ये 'वदो' इति कत्येपरसकारस्य ल्ये शपि सुबादिकार्यं 'दसिका' 'मक्षिका'
 इत्युभयोर्निष्पत्तिः । गिर इति । गृघातोवहचि गुणे सुबादिकार्यं 'गहड' इति रूपम् ।
 शृद्धमेति । अदिः स्यादिकारोप्यारण्यं । शरद-रद-मसद । शृद्धमेभ्योऽप्रत्यये

अविष्-मवादि घातुभ्यो ईं प्रत्यय हो । यापो-—'या' और 'या' वाजुते 'ई' प्रत्यय हो तथा
 द्वित्व ही और वह 'कित्' भी हो । वातप्रमी-—'य' निघातव न हो । लक्ष्मिर्मुट्-—'लक्ष्' वाजुते 'ई'
 प्रत्यय और 'मुट्' का आगम हो । सर्वघातु-—'घातु'प्रत्यये 'मनिन्' प्रत्यय हो । घृंहेर्नो-—'वह'
 वाजुते 'मनिन्' और नकारको अकार आदेश हो । नामन्-नामन् आदि इन्द्र निघातव न हो ।

साहिभ्यां-—'सो' और 'म' वाजुते 'मनिन्' तथा मनिन् प्रत्यय हो । हनि-—'हन्'
 और 'म' वाजुते 'सिकन्' प्रत्यय हो । गिर उह्वत्-—'गृ' वाजुते 'गह' प्रत्यय हो ।
 शृद्ध-—'ह' आदि णजुभ्यो 'दरि' प्रत्यय हो । लक्ष्मिर्वा-—'लक्ष्' आदि वाजुभ्यो

त्यद् । तद् । यद् । एतेस्तुद् च । एतद् । युष्यसिभ्यां मदिक् । त्वम् ।
 अहम् । इन्देः कमिर्नलोपश्च । इदम् । कायतेर्डिमिः किम् । सर्व-
 धातुभ्यः प्रन् । वल्लम् । अल्लम् । शाल्लम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः कत्रः ।
 अन्नम् । निन्नम् । मिन्नम् । शन्नम् । पुवो ह्रस्वश्च । पुत्रः । स्त्यायतेर्ङ् ।
 स्त्री । सूचेः स्मन् । सूक्ष्मम् । पातेडुम्सुन् पुमान् । वसेस्तिः ।
 'वस्तिर्नाभेरधो द्वयोः' । सावसेः । स्वस्ति । चौ तसेः । 'वितस्तिर्द्वादिशाङ्गुलः'

गुणे सुधादिकार्ये रूपाणां सिद्धिः । त्यजति । अयिः स्यात्स च ङित् । त्यद्-तद्-यद्
 त्यजि-तनि-यजिभ्योऽदिः ङित्स्वत् तिर्याङ्ङित् लोपे सुधादिकार्ये 'त्यद्-तद्-यद्' इति
 रूपाणां संसिद्धिः । एतेरिति । शृण्वातोर्ददिः स्यात्तुटागमश्च । ह्र-अच् इत्यत्र गुणे
 तुटागमे सुधादिकार्ये 'एतद्' इति । युष्येति । मदिक्प्रत्ययः स्यात् । त्वम्-अहम् ।
 युप् अस् घात्वोः मदिकि रूपयोः सिद्धिः । इन्देरिति । कमिः स्याद्यस्य लोपश्च । इदन् ।
 इन्दधातोः कमिप्रत्यये नलोपे 'इदच्' इति रूपम् । कायतेरिति । डिमिः स्यात् ।
 कैधातोर्डिमिः ङित्वाङ्ङित् लोपे सुधादिकार्ये 'किम्' इति रूपम् । सर्वेति । प्रन् स्यात् ।
 वल्लम्-अल्लम्-शाल्लम् । वस-अल्-शास्प्रभ्यो धातुभ्यः प्रनि ङ्घः प्रत्ययस्य' इति
 लोपे नैमिचक्रापाये सुधादिकार्ये रूपाणां निष्पत्तिः । अमीति । कत्र स्यादिर्यर्थः ।
 अन्नम् चित्रम्-मित्रम् शन्नम् । अमिचिमिदिशसिभ्यः कत्रप्रत्यये सुधादिकार्ये रूपाण्य
 चधेयानि । पुव इति । वत्रः स्याद्ब्रह्मस्वश्च । पुत्रः । पूजातोः कत्रप्रत्यये ह्रस्वात्वे सुधाङ्-
 कार्ये 'पुत्र' इत्यस्य सिद्धिः इत्यायतेरिति । इट्स्यात् । जीः । स्तयैधातोः ट्प्रत्यये
 द्विर्याङ्ङित् लोपे यलोपे तिरिदान्ङीपि सुधादिकार्ये रूपस्य संसिद्धिः । सूचेरिति । स्मन् स्या-
 च् । सूक्ष्धातोः स्मन् 'वोः कुः' इति कुत्वे पत्वे चत्वे सुधादिकार्ये 'सूक्ष्मम्' इति रू-
 पम् । वसेरिति । वस् धातोः तिः स्यात् । वस्तिः । वसधातोर्दित्प्रत्यये सुधादिकार्ये

'अदि' प्रत्यय हो और वह 'वित्' भी हो । एतेस्तुट्—'शृण्'-धातुसे 'अदि' प्रत्यय हो और
 'तुट्' का आगम भी हो । युष्यसिभ्यां—'युष्' और 'अस्' धातुसे 'मदिक्' प्रत्यय हो ।

इन्देः—'इन्द्' धातुसे 'कमि' प्रत्यय हो और धातुके नकारका छेप हो ।
 कायसे—'कै' धातुसे 'डिमि' प्रत्यय हो । सर्वधातु—सभी धातुओंसे प्रन्; प्रत्यय हो ।
 अमि—'अम्' आदि धातुओंसे 'कत्र' प्रत्यय हो । पुवो—'पू' धातु से 'कत्र' प्रत्यय और
 धातुको ह्रस्व हो । स्त्यायतेर्ङ्—'स्त्यै' धातुसे 'ङ्' प्रत्यय हो । सूचेः स्मन्—'सूच्'
 धातुसे 'स्मन्' प्रत्यय हो । पातेडुम्सुन्—'पा' धातुसे डुम्सुन् प्रत्यय हो ।
 अमिचिमिदिशः—चत्त्रधातुसे 'मि' प्रत्यय हो । सावसेः—'ह्र' उपपदक 'अच्' धातुसे 'मि'
 प्रत्यय हो । चौ सल्लोः—'वि' उपपदक 'अच्' धातुसे 'मि' प्रत्यय हो ।

इत्यमर । सर्वधातुभ्योऽसुन् । चेत । सर । पय । सद । इत्यादि । अशो-
 द्वेवने युट् च । देवते-स्तुतौ । यश । उञ्जेर्यले घलोपश्च । श्रोत्रः ।
 श्रयते. स्थाङ्गे शिरः क्लिष । श्रयते शिर आदेशोऽसुन्क्व । शिर । अर्ते
 रुष । वर । मूरक्षिम्यां कित् । भुव । रज । वसेर्णिञ्च । वासो वन्नम् ।
 चन्देरादेश्च छ । छन्द । पचिवचिम्यां सुट् च । 'पक्षसी तु स्मृतौ
 पक्षौ' । वक्ष । नञि हन पक्ष च । अनेहा । अनेहसौ । विधाजो वेध च ।

रूपस्य निष्पत्तिः । चेत । सर. । पय । चित्त-स-पि इति घातुभ्य. असुनि गुणे
 सुबादिकार्ये प्रमाणां सिद्धिः । अशेरिति । असुन्स्यात् घातुर्युदागमश्च । ४८ ।
 अक्षधातोरसुनि पुटि सुबादिकार्ये 'यश' इत्यस्य सिद्धिः । उञ्जेरिति । उञ्जेरसुन्
 स्याद्बलोपश्च । उञ्जधातोरसुनि बलोपे 'पुगन्त' इति गुणे सुबादिकार्ये 'श्रोत्र'
 इति रूपसिद्धिः । श्रयतेरिति । असुन्स्यात् घातो. शिरादेशोऽसुनः क्लिषमित्यर्थः ।
 शिर श्रिधातोरसुनि शिरादेशे क्लिषेन गुणामावे सुबादिकार्ये 'शिर.' इत्यस्य
 ससिद्धिः । अर्तेरिति । असुन्स्यात् । उकारादेशश्च । वर । ऋधातोरसुनि उका
 रादेशे रपरत्वे सुबादिकार्ये 'वर' इति रूपम् । मूरञीति । असुन् स्यात् न च कित् ।
 भुव रञ । मूरक्षोरसुनि क्लिषेन गुणामावे नलोपे सुबादिकार्ये 'भुव, रज' इत्य
 नयोनिसिद्धिः । वशेरिति । असुन् स्यात्स च णित् । वास । वसधातोरसुनि 'अत
 उपधाया' इत्युपधादीर्घात्वे सुबादिकार्ये 'वास' इति रूपम् । चन्देरेरिति । असुन्
 स्यात् आदेश्च चस्य छः । छन्द । चन्दधातोरसुनि चस्य छत्वे सुबादिकार्ये 'छन्द'
 इति रूप प्रभवति । पक्षीति । असुन्स्यात्सुट् च । पक्ष । वक्ष । पक्षवचम्यामसुनि
 सुडागमे च 'वोः कु' इति चस्य कत्वे सस्य पत्वे सयोगे चत्वे सुबादिकार्ये 'पक्ष —
 वक्षः' उभयो ससिद्धिः । नञीति । हनः असुन् स्यादेहादेशश्च । अनेहा । न हन्तीति

सर्वधातुभ्यो—धातुमात्रे 'असुन्' प्रत्यय हो ।

अशोद्वने—'अश' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और 'युट्' का आगम हो, देवन
 (स्तुति) अर्थमें । उञ्जेर्यले—'उञ्ज' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वकारका जोप हो, 'यश'
 अर्थमें । श्रयते—'श्रि' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'क्लिष' हो तथा 'श्रि' का 'शिर'
 आदेश भी हो, स्वाङ्ग अर्थमें । अर्तेरक्ष्च—'ऋ' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'उट' हो ।

मूरक्षिम्यां—'मू' और 'रञ्ज' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'णित्' हो ।

वसेर्णिञ्च—'वस' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय हो और वह 'णित्' हो ।

चन्देरादेश्च—'चन्द' धातुसे 'असुन्' हो और धातुके आदिको छत्त्व हो ।

पचिवचि—'पच' और 'वच' धातुसे 'असुन्' प्रत्यय और 'सुट्' का आगम भी हो ।

नञि हन—'नञ्' उपपश्च 'हन' धातुसे 'असुन्' हो और धातुको 'वक्ष' आदेश हो ।

विधाजो—'पि' उपपश्च 'वा' धातुसे 'असुन्' हो और प्रकृतिको 'वेध' आदेश भी हो ।

वेधाः । चन्द्रे मो छित् । चन्द्रोपपदान्माहोऽसिः च च ङित् । चन्द्रमाः । उषः
 कित् । उषः । सतैरप्पूर्वाद्दसिः । अप्सराः । प्रायेणार्यः भूमि, अप्सरसः । वशोः
 कनसिः । वशना । अदि भुवो डुतच् । अद्भुतम् । गुधेरुमः । गोधूमः ।
 वृद्धेः वनो हलोपश्च । वृणम् । उदि चेडैसिः । उच्चैः । नौ दीर्घश्च । नीचैः ।
 पूजो यण्णक् ह्रस्वः । यत्प्रत्ययः । पुण्यम् । उदि दृणातेरजलौ पूर्वपदान्त्य-
 लोपश्च । उदरम् । डिङ्खनेमुट् स चोदात्तः । अच् अल् च ङित्वातोर्मुट् ।

नञ्पूर्वात् हन्धातोरेसुनि एहादेशे 'नलोपो नञः' नलोपे जुटि सुधादिकाय
 'अनेहा' इति रूपम् । वेधाः । विपूर्वाद्वाधातोरेसुनि धातोर्वेधादेशे सुधादिकार्ये
 कृते 'वेधाः' इत्यस्य निष्पत्तिः । चन्द्र इति । चन्द्रपूर्वान्माहोऽसुनि द्वित्वेन
 टिलोपे सुधादिकार्ये 'चन्द्रमाः' इति प्रभवति । उष इति । असुन्यास च
 कित् । उषः । उषधातोरेसुनि कित्वेन गुणामावे सुधादिकार्ये 'उषः' इति रूपम् ।
 सतैरिति । अप्पूर्वासुधातोरेसिः स्यात् । अप्सरसः । अप्पूर्वासुधातोरेसि गुणे बहुत्वे
 लसादिकार्ये 'अप्सरसः' इति रूपम् । वशेरिति । वशना । वशधातोः कनसि कित्वेन
 संप्रसारणे सुधादिकार्ये 'वशना' इति रूपम् । अद्भुत इति । हुतच् स्यात् । अद्पूर्वा-
 द्भुवः हुतच् प्रत्यये द्वित्राटिलोपे सुधादिकार्ये 'अद्भुतम्' इति रूपम् । गुधेरिति ।
 गुधधातोर्मुप्रत्यये 'गुगन्त' इति गुणे सुधादिकार्ये 'गोधूमः' इति रूपम् ।
 वृद्धेरिति । वनः स्यात् हलोपश्च । वृणम् । वृद्धधातोः वनप्रत्यये हलोपे 'ऋवर्णात्' इति
 णत्वे सुधादिकार्ये 'वृणम्' इति रूपम् । उदीति । उद्पूर्वाच्चिधातोर्दसिप्रत्यये द्वित्वा-
 टिलोपे सुधादिकार्ये 'उच्चैः' इति रूपम् । नौ दीर्घश्चेति । निपूर्वाच्चिधातोर्दसिः स्यात्
 नौ दीर्घश्च । नीचैः । पूजिति । यस्यात् पुगागमो ह्रस्वश्च । पुण्यम् । पुधातोर्यति
 पुगागमे पूधातोर्ह्रस्वे सुधादिकार्ये 'पुण्यम्' इत्यस्य सिद्धिः । उदीति । अच् स्यात्
 पूर्वपदान्त्यलोपश्च । उदरम् । उद्पूर्वात् इधातोरेच्प्रत्यये धातोर्जादेशे रपरत्वे

चन्द्रे मो—चन्द्रोपपदक 'माह्' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'ङित्' हो ।

उषः कित्—'उष्' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो और वह 'कित्' हो ।

सतैर—'अप्' पूर्वक 'सु' धातुसे 'असि' प्रत्यय हो । वशोः—'वश्' धातुसे 'कनसि'
 प्रत्यय हो । अदि—'अद्' पूर्वक 'भू' धातुसे 'हुतच्' प्रत्यय हो । गुधेरुमः—'गुधा'
 धातुसे 'ऊम' प्रत्यय हो । वृद्धेः वनो—'वृह्' धातुसे 'वन' प्रत्यय हो और धातुके इकारके
 लोप हो । उदि चेडैसिः—'उद्' पूर्वक 'चि' धातुसे 'डैसि' प्रत्यय हो । नौ दीर्घश्च—'नि'
 उपसर्गक 'चि' धातुसे 'डैसि' प्रत्यय और 'नि' को दीर्घ हो । पूजो यत्—'पू' धातुसे 'यत्'
 प्रत्यय और 'णक्' का आगम हो तथा धातुके अकारको ह्रस्व भी हो । उदि दृणा—'उद्'
 उपसर्गक 'कृ' धातुसे 'अच्' तथा 'अल्' प्रत्यय हो और 'उद्' के अन्त्य का लोप हो ।

डिङ्खने—'खन्' धातुसे 'अच्' और 'अल्' प्रत्यय हो तथा 'मुट्' का आगम हो और

सुखन् । अमे । सन् । अस । मुहेः खो सूचं । मूखं । नदहेर्लोपश्च ।
 नख । शीङो ह्रस्वश्च । शिखा । माळऊखो मय् च । मयूख । जनेष्ट्रलो-
 पश्च । जटा । क्षिणोरन् लो लोपश्च । केच । गलेरितजादेश्च षः । पलितम् ।
 छत्रादिभ्यः संज्ञायां युन् । करक । कटक । नरक, नरकम् । 'नरको नारको-
 ऽपि च' इति द्विरूपशेषः । चीकयतोराद्यन्तविपर्ययश्च । कीचक । जनेररश्चष्ट
 च । जठरम् । ह्यते । कन्यन् हिर च । हिरण्यम् । छत्रं । पास । कर्पास ।

सुवादिकार्ये 'उषरम्' इत्यस्य सिद्धिः । ङिदिनि । टिक्त्वे मुंदागम स्यात् । अत्र ङिति ।
 अत्रघातोर्त्तप्रत्यये टिक्त्वाटिङोपे मुंदागमे सुवादिकार्ये 'सुवम्' इति रूप भवति ।
 अनेरिति । अत्रघातो सन् स्यात् । अह । अत्रघातो, सन्प्रत्यये अनुस्वारे सुवादिकार्ये
 'अस' इति रूपसिद्धिः । अनेरिति । मुहे ख स्यात् मूखादेशश्च । नदहेरिति । ख,
 स्यात् ह्रस्वोपश्च । नख । नदघातो अत्रप्रत्यये ह्रस्वोपे सुवादिकार्ये 'नख' इति ।
 शीङ इति । ख स्यादातो ह्रस्वश्च । शिखा । शीङघातोः अत्रप्रत्यये घातोर्ह्रस्वात् ङापि
 सुखलुगादिकार्ये 'शिखा' इति रूप भवति । माळ इति । माळघातोर्त्तप्रत्यय, स्यादातोः
 मयादेशश्च । मयूख । माघातोरुक्ते मयादेशे सुवादिकार्ये 'मयूख' इत्यस्य सिद्धिः ।
 जनेरिति । टन्स्याच्छलोपश्चैवमर्थं । जटा । जनघातोर्त्तप्रत्यये नलोपे ङापि सुवादिकार्ये
 'जटा' इति रूपम् । विळशेरिति । अन् स्यात् ललोपश्च । क्षिणवातोर्नि ललोपे 'पुगन्त'
 गुणे सुवादिकार्ये 'केच' इति रूपम् । फलेरिति । इतच् स्यादादेश पकार । पलितम् ।
 फट्यातोर्नितचि फट्य पाने सुवादिकार्ये च हृत्ते 'पलितम्' इति सिद्धयति । कृषादीनि ।
 मुन्स्यात् । करक । कटक । नरक । कृ-कट-गृभ्यो बुकि अडादेशे गुणादौ सुवादिकार्ये
 च हृत्ते रुपाणां ससिद्धिः । चीकयतेरिति । पुन् स्यात्, चीकयो अत्सहितयोर्विपर्यय
 इत्यर्थः । कीचक । चीकघातोर्मुनि अडादेशे विपर्ययार्थे सुवादिकार्ये 'कीचक' इति ।
 ह्यतेरिति । कन्यन्प्रत्ययो हिरश्चादेशः । ह्यघातो ङन्यनि हिरादेशे सुवादिकार्ये 'हिरण्यम्'

वङ् उदात्त हो । अमे सन्—'अम्' वातुने 'गन्' प्रत्यय हो । मुह खो—'मुह्' वातुने 'ख'
 प्रत्यय और मुह्ङो 'यू' आदेश हो । नदहेर्लोपश्च—'नह्' वातुने 'ख' प्रत्यय और वातुके
 हकारका लोप हो । शीङो—'शीङ्' वातुने 'ख' प्रत्यय हो और ह्रस्व मी हो ।

माळ ऊखो—'माळ्' वातुने 'ऊख' प्रत्यय और 'माळ्' को 'मय' आदेश हो ।

जनेष्ट्रन्—'जन्' वातुने 'टन्' प्रत्यय और नकारका लोप हो । क्षिणोरन्—'क्षिण' वातुने 'मन्' प्रत्यय और लकारका लोप हो । फलेरितच्—'फल्' वातुने 'इतच्' प्रत्यय और
 वातुनन्तौ फकारको पकार हो । इत्यादिभ्य—'इम्' आदि वातुने 'युन्' प्रत्यय हो
 संज्ञामे । चीकयते—'चीक' वातुने 'युन्' प्रत्यय हो और वातुके आदि-अन्त अकारका
 विपर्यय भी हो । जनेरन्—'जन्' वातुने 'गन्' प्रत्यय हो और वातुके नकारको ठकार
 आदेश हो । ह्यते—'ह्य' वातुने 'कन्यन्' प्रत्यय और 'ह्य' को 'हिर' आदेश हो
 कन्यः पास—'ङ' वातुने 'पास' प्रत्यय हो ।

बिल्वादित्वात्कार्पासम् । ऊर्णोतेर्डः । ऊर्णा । दधातेर्यत् तुट् च । धान्यम् ॥
 चत्तेरन् । चत्वारः । प्राततेरन् । प्रातः । अमेस्तुट् च । अन्तः । दहेर्गो
 लोपो दश्च नः । दहेर्प्रत्ययो धातोरन्त्यस्य लोपो दस्य नः । नगः । हन्तेरच्
 घुर च । घोरम् । तस्तेर्ङिः । त्रयः । त्रीन् । ग्रहेरनिः । ग्रहणिः । प्रथेरमच् ।
 प्रथमः । चरेश्च । चरमः । मङ्गेरलच् । मङ्गलम् । इत्युणादिप्रकरणम् ।

इति रूपम् । कृज इति । कृधातोः पासः स्यात् । कर्पास इति । कृधातोः पासप्रत्यये
 गुणे रपरस्ये सुधादिकार्ये 'कर्पासः' इति भवति । ऊर्णोतेरिति । टः स्यात् ।
 ऊर्णुधातोर्डप्रत्यये टेलोपे टापि सुधादिकार्ये 'ऊर्णा' इत्यस्य सिद्धिः । दधातेरिति ।
 धाधातोर्त्यप्रत्यये नुदागमे सुधादिकार्ये 'धान्यम्' इति रूपम् । प्राततेरिति ।
 प्रपूर्वाद्गतधातोः अरनि सुधादिकार्ये 'प्रातः' इति रूपम् । अमेरिति । अमधातोः
 अरनि तुटि सुधादिकार्ये 'अन्तः' इति रूपम् । दहेरिति । दहधातोः गप्रत्यये हलोपे
 दस्य नस्ये सुधादिकार्ये 'नगः' इति रूपम् । हन्तेरिति । अच्प्रत्ययः स्यात् घुर चादेश-
 श्चेत्यर्थः । इन्धातोरचि घुरचादेशे सुधादिकार्ये 'घोरम्' इति । तस्तेरिति । ङिः स्यात् ।
 तृधातोः हिप्रत्यये डिच्वाट्टिलोपे 'त्रि' इति जाते जिति गुणेऽयादेशे ऋवे विसर्गो
 रूपम् । ग्रहेरिति । ग्रहधातोरनिप्रत्यये सुधादिकार्ये रूपम् । प्रथेरिति । अमच् स्यात् ।
 प्रथधातोरमचि सुधादिकार्ये प्रथमः इति । चरेश्चेति । अमच् स्यात् । चरधातोरमचि
 सुधादिकार्ये 'चरमः' इति रूपम् । मङ्गेरिति । अलच् । मङ्गधातोरलचि सुधादिकार्ये
 'मङ्गलम्' इति सिध्यति । इत्युणादिः ।

कृजः—'कृ' धातुसे 'पास' प्रत्यय हो । उर्णोतेर्डः—'ऊर्ण' धातुसे 'ड' प्रत्यय हो ।
 दधातेर्यत्—'धा' धातुसे 'यत्' प्रत्यय और 'तुट्' का आगम हो । चत्तेरन्—'चत्'
 धातुसे 'उरन्' प्रत्यय हो । प्राततेरन्—'प्र' उपसर्गक 'अत्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय हो ।
 अमेस्तुट् च—'अम्' धातुसे 'अरन्' प्रत्यय और 'तुट्'का आगम हो । दहेर्गो—'दह'
 धातुसे 'ग' प्रत्यय, धातुके अन्त्यका लोप और धातुके दकारको मकार आदेश भी हो ।
 हन्तेरच्—'हन्' धातुसे 'अच्' प्रत्यय और धातुको 'घुर' आदेश भी हो ।
 तस्तेर्ङिः—'त्' धातुसे 'ङि' प्रत्यय हो । ग्रहेरनिः—'ग्रह' धातुसे 'अनि' प्रत्यय हो ।
 प्रथेरमच्—'प्रथ' धातुसे 'अमच्' प्रत्यय हो ।
 चरेश्च—'चर्' धातुसे भी 'अमच्' प्रत्यय हो ।
 मङ्गेरलच्—'मङ्ग' धातुसे 'अलच्' प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें उणादिप्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ उत्तरकृषन्तप्रकरणम्

उणादयो बहुलम् ।३।३।१। एते वर्तमाने सहायां च बहुलं स्यु । केचिदवि-
हिता अप्यूषा ।

‘संज्ञासु धातुरूपाणि प्रत्ययाश्च ततः परे ।

कार्याद्विधादनूबन्धमेतच्छास्त्रमुणादिसु’ ॥

दाशगोत्रौ संप्रदाने ।३।४।७। एतौ निपात्येते । दाशन्ति तस्मै दाशः ।
गां हन्ति तस्मै गोप्नः अतिथि । तुमुन्पुलौ क्रियायां क्रियार्थायाम्
।३।३।१०। क्रियार्थायां क्रियायामुपपदे भविष्यत्यर्थे धातोरेतौ स्त । मान्तत्वाद्-
भ्ययत्वम् । कृष्ण द्रष्टुं याति । कृष्णं दरांको याति । कालसमयवेलासु
तुमुन् ।३।३।१६। कालः समयो वेला अनेहा वा भोक्तुम् ॥ भावे ।३।३।१८।
सिद्धावस्थापन्ने धात्वर्थे वाच्ये धातार्थन् । पाठ ॥ अकर्तारि च कारके

संज्ञादिति । संज्ञासु-अनादिसंज्ञासु । धातुरूपाणि उच्यन्ते इति शेषः,
यथा—‘द्वेरेकलच्’ इति विहितमुख्यप्रत्यय इहवा शक्तिः प्रकृतिरुच्यते तेन शङ्कलेति
सिद्धयति । कार्याद्विधादिति । अकिञ्च इत्यादौ गुणप्रतिषेधादिकार्यानुरोधात् अनुबन्ध
रुकारादिकं विधादिवर्धम् । एतच्छास्त्रमुणादिसिद्धिः । एतत् सर्वगुणादिसु शास्त्रासि
सम्प्रतिपर्यम् । दाशगोत्रानिति ॥ भण्यन्त निपातनमेतत् । दाशहन् धातो निपात-
नाह्नि उपधाया दीर्घलोपी चत्वे सौ रुच्ये विसर्गे ‘दाश-गोप्नः’ इति रूपे भवत ।
संप्रदानार्थे एव, तेन दाशन्ति अस्मै-गां हन्ति इति विग्रहवाक्ये भवताः । पाठ ।
पञ्चमः ‘भावे’ इति चञि, ‘अशक्यतद्धिते’ इति घस्य ‘इहन्पय्’ इति ञस्य
चेरसंज्ञायां लोपे च ‘पच्+ञ’ इति जाते, ‘अत उपधाया.’ इति अकारस्य वृद्धौ,
‘अञो क्व विण्यसो’ इति चस्य कृत्वे, कृदन्तत्वात्प्रातिपदिकत्वे, सौ, उगावे, सस्य

उणादयो—धातुसु वर्तमाने कारके ओर सहायं उणादि प्रत्यय हो, बहुल प्रकारसे
(बहुल प्रकरण कृष्ण पृ० १८७ में देखो)

संज्ञासु—संज्ञा (किरादि शब्दों) में धातु की कल्पना करनी चाहिये और फिर वससे
प्रत्ययकी कल्पना करनी चाहिये । तथा प्रयोगोंमें गुणभाव भवता वृद्धि आदि कार्योंको
इहलुत् प्रत्ययोंसे अनुबन्ध (किञ्, जिञ्, भिञ्, मिञ् आदि) की कल्पना भी करनी
चाहिये—इसी उपायमें विशेषता कही गई है ।

दाशगोत्रौ—‘दाश’ और ‘गोप्न’ निपातन हो, संप्रदानमें । तुमुन्पुलौ—क्रियार्थक
क्रिया उपपद रहने पर अनिश्चय अर्थमें धातुसे ‘तुमुन्’ और ‘पुलौ’ प्रत्यय हो ।

कालसमय—काल, समय और वेला उपपद रहने पर धातुसे ‘तुमुन्’ प्रत्यय हो ।
भावे—सिद्धावस्थापन कल्पवर्षाण्य हो धातुसे ‘वन्’ प्रत्यय हो । अकर्तारि च—अकर्तारि

संज्ञायाम् ३।३।१९। कर्तृभिधे कारके घञ् ॥ घञि च भावकरणयोः । ६।४।२७। रज्जेर्नलोपः । रागः । अनयोः किम् ? रज्यत्यस्मिन्निति रज्जः ॥ निवासचितिशरीरोपसमाधानेच्चादेश्च कः । ३।३।४१। एषु चिनोतेर्घञ्, आदेश्च कः । उपसमाधानं राशीकरणम् । निकायः । आकायम् । कायः । गोमयनिकायः ॥ परच् ३।३।५६। इवर्णान्तादच् । चयः ॥ ऋद्वोरप् ३।३।५७। ऋदन्तादुवर्णान्तादप् । करः । गरः । शरः । यवः । लयः । स्तवः । पवः । (घञर्थे कविधानम्) प्रत्ययः । विघ्नः ॥ द्वित्तः विघ्नः । ३।३।८८। भावे, स्वभावात् ॥ कत्रेर्मम् नित्यम् ॥ ४।४।२०। कित्रप्रत्ययान्तानम् निर्वृत्तेऽर्थे । पाकेननिर्वृत्तं पकित्रमम् । हुवप्-उपत्रिक्तम् ॥ द्वित्तोऽथुच् ३।३।८९। अयमपि भावे । दुवेषु कम्पने-त्रेषुः । श्वयुः । यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नष्ट् ३।३।९०। यज्ञः । याच्ना । यज्ञः । दिघ्नः । प्रघ्नः ।

इत्वे च 'पाकः' इति रूपम् । निकायः । निपूर्वकचिघातोः 'मिघास्यितिशरीरोपसमाधानेच्चादेश्च कः' इति घञि, आदेश्—चेष्टकारस्य कृत्वे, घञ्कारणकारयोर्लोपो 'नि कि + अ' इति भूते षस्य आर्धधातुकत्वात् 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे, 'एषोऽयदायावः' इति अथादेशे 'निकय + अ' इति जाते 'अत उपसमाया' इति घृष्टौ, इदन्तवाप्रातिपदिकत्वे, सौ, उलोपे, सत्वे विसर्गे च, 'निकायः' इति ङापठे । करः । कृधातोः 'ऋद्वोरप्' इत्यपि, पगते, आर्धधातुकसंज्ञायात्, 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणे अकारे, 'उरण् रपरः' इति रपरे च जाते, संयोगे कृते, विभक्तिकार्ये च 'करः' इति रूपम् । एवमेव गृधातोः 'ऋद्वोरप्' इत्यपि कृते षोष्वात् । विघ्नः । विपूर्वकहन्धातोः 'घञर्थे कविधानम्' इति के, कलोपे, आर्धधातुकसंज्ञायात्, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्लृप्ति' इत्युपधाकारस्य लोपे, 'होहन्तेऽङ्गिन्तेषु' इति हस्य कृत्वेन घत्वे, विभक्तिकार्ये च कृते, 'विघ्नः' इति रूपम् । यशः । यञ्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नष्ट्' इति नष्टि प्रत्यये, ललोपे, 'स्तोः रचुना रचुः' इति रचुत्वेन नस्य अत्वे जज्ञोः संयोगेन ज्ञे घाते, विभक्तिकार्ये च तस्मिद्धिः । याच्ना । याच्धातोः 'यजयाचयतविच्छप्रच्छरक्षो नष्ट्' इति नष्टि, ललोपे, रचुत्वे टापि, विभ-

कारकं अर्थमे धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो, संशामे । घञि क—'रञ्ज्' धातुके नकारका लोप हो, दम् प्रत्ययके परे—भाव और करणमे । निवास—निवासादि अर्थमे 'विञ्' धातुसे 'घञ्' प्रत्यय हो और धातुके आदि चकारको ककार भी हो । परच्—इवर्णान्त धातुसे 'अच्' प्रत्यय हो । ऋद्वोरप्—ऋवर्णान्त और ववर्णान्त धातुसे 'अप्' प्रत्यय हो । घञर्थे—घयर्थे मे 'क' प्रत्यय हो । द्वित्तः विघ्नः—'हु' शस्संशक धातुसे 'कित्र' प्रत्यय हो, भावमे ।

कत्रेर्मम्—'कित्र' प्रत्ययान्तसे तद्धित संज्ञक 'नप्' प्रत्यय हो, निर्वृत्त अर्थमे ।

द्वित्तोऽथुच्—'द्वित्त' धातुसे 'गञ्जुच्' प्रत्यय हो, भावमे । अङ्गमाच—यच्, याच,

रत्नः । म्यपो नन् । ३।३।११। स्वप् ॥ उपसर्गं घोः किः । ३।३।१२। प्रथि ।
 उपथि ॥ खियां किन् । ३।३।१५। स्त्रीलिङ्गे मावादी चिन् । घञोऽपयाद् ।
 हृति । स्तुति । (ऋश्वादिभ्यः क्विप्तिष्ठाघञ्कठ्यः) तेन नत्वम्,
 कीर्णि । गीर्णि । घूनि । लूनि । पूनि ॥ (संपदादिभ्यः क्विप्) । सम्पत् ।
 विपत् । आपत् । (क्विप्तिष्ठाघञ्कठ्यः) सपत्ति । विपत्ति । आपत्ति ॥ ऊतियूतिजू-
 तिसातिद्वेतिकीर्तश्च । ३।३।१७। एते निपात्यन्ते ॥ कृञ् । ३।३।१००। क्यप् ।
 कृत्या ॥ श्च । ३।३।१००। कृञ् श । चात् किन् । प्रकरणम्—प्रक्रिया ।
 हृति । इच्छा । ३।३।१०१। इयेनिपातोऽयम् ॥ अप्रत्ययात् । ३।३।१०२। प्रत्य-
 यान्तेभ्यः खियामकात्प्रत्यय । चिकीर्षा । पुत्रकाम्या ॥ गुरोश्च ह्रस्वः । ३।३।१०३।

चिकीर्षे च तसिदि । पञ्च सर्वत्र । इति । करण हृति, इत्यप्र कृधानो, 'खियां
 किन्' इति किनि, कस्य नस्य च लोपे, कित्वाद्गुणामावे, विभक्तिकार्ये च तसि-
 दि । कीर्णि । कृधातोः 'खियां किन्' इति किनि, कनघोर्लोपे, कित्वाद्गुणामावे,
 'अन इदातो' इति इत्वे, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे 'हृदि च' इति दीर्घे 'कीर्ति'
 इति जाते, 'ऋश्वादिभ्यः क्विप्तिष्ठाघञ्कठ्य' इति निष्ठाघञ्नाथेन 'रदाभ्यां निष्ठाघो
 न पूर्वस्य च द' इति तस्य नत्वे, 'रदाभ्यां णो नः समानपदे' इति नस्य णत्वे,
 विभक्तिकार्ये च कृते 'कीर्णिः' इति । चिकीर्षा । कृ धातो सनि, नगते, 'इको ह्रस्व'
 इति सनि, किरते 'अङ्गनगमा सनि' इति दीर्घे, 'अन इदातोः' इति इत्वे, 'उरण्
 रपर' इति रपरत्वे, 'हृदि च' इति दीर्घे 'सन्त्यङो' इति द्वित्वे, अस्यासत्वे, अस्या
 सकार्ये सनः सस्य पत्वे च जाते, 'चिकीर्षे' इति भूये 'सनाघञ्ठा घातवः' इति घातु
 संज्ञायाम् तस्मात् चिकीर्षधातोः 'अप्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'अतो लोप' इति

यप, विष्णु, प्रच्छ् और रश् धातुसे 'नङ्' प्रत्यय हो । स्वपो मन्—स्वप् धातुसे नन्
 प्रत्यय हो । उपसर्ग—उपसर्गं उपपदक प्रसंघक धातुसे 'किं' प्रत्यय हो । खियां किन्—
 माद और कर्तृभिन्न कारक अर्थमें धातुसे 'किन्' प्रत्यय हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओं
 तथा स्वर्गि धातुओंमें पर जो 'किन्' वह निष्ठाघ्न हो । सम्पदा—सम्पदादि धातुओं
 से स्त्रीलिङ्ग भावमें 'क्विप्' प्रत्यय हो ।

क्विप्तिष्ठाघञ्कठ्ये—सम्पदादिस 'किन्' प्रत्यय भी हो ।

ऊतियूति—ऊत, यूत, जूति, साति, हेति, कीर्ति—इन ऋश्वाका निपात्यन हो ।

कृञ्—'कृञ्' धातुसे 'क्यप्' प्रत्यय हो—कीर्तिङ्गमें । श्च—'कृञ्' धातुसे 'श्च'
 प्रत्यय हो और चकाराद् 'किन्' प्रत्यय भी हो—स्त्रीलिङ्गमें । इच्छा—'इच्छ' धातुसे 'इच्छा'
 वह निपात्यन हो । अ अप्रत्ययात्—प्रत्ययात्ते 'अ' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

गुरोश्च—गुरोश्च इच्छन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गमें 'अ' प्रत्यय हो ।

गुरुमतो हलन्तास्त्रियानप्रत्वम् । ईहा । ऊहा ॥ पिङ्गिदादिभ्योऽह् ॥३॥३॥१०४।
 जृप् 'ऋदशोऽङि गुणः' । जरा । ज्रप्, ज्रा । मिदा । विदारण एवायम् ।
 भित्तिरन्या । छिदा । मृजा । (रूपेः संप्रसारणं च) । कृपा ॥ आतश्चोपसर्गं
 ॥३॥३॥१०६। अह् स्यात् । उपदा । अन्तर्द्धा ॥ प्यासश्चन्थो युच् ॥३॥३॥१०७।
 अस्यापवादः । कारणा ॥ रोगाल्यायां ण्वुल् षडुलम् ॥३॥३॥१०८। प्रच्छदिका ।

मनोऽकारलोपे कृदन्तश्चाप्रातिपदिकत्वे टापि, अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे, तस्मात् सौ,
 उलोपे, 'ह्रल्लयाभ्यो दीर्घात्' इति सलोपे रूपे 'यिङीर्षा' इति रूपम् । पुत्रकाव्या ।
 धारमानं पुत्रमिच्छति इत्यर्थे 'काम्यञ्च' इति काम्यच्चि, चलोपे, पुत्रकाव्य इति
 श्रूते, 'सनाद्यन्ता घातवः' इति धानुसंज्ञायाम्, तस्मात् पुत्रकाव्य इति घातोः
 'अप्रत्ययात्' इति अप्रत्यये, 'आतो लोपः' इति काव्यगताकारलोपे अप्रत्ययेन
 संबन्धे कृते, कृदन्तश्चाप्रातिपदिकत्वे, टापि, अनुबन्धलोपे, सवर्णदीर्घे विभक्तिकर्म
 च तसिद्धिः । पिङ्गिदादौति ॥ प्रकार इदेषां ते पितस्तेभ्य ह्यय्यः । तथा मिदादिग-
 णपठितेभ्यश्चाह् स्यादिति स्पष्टः सूत्रार्थः । जरेति ॥ साधयति-जृप् धातोः पित्वात्
 'पिङ्गिदादिभ्योऽह्' इत्यङि 'ऋदशोऽङि गुणः' इति गुणेऽकारान्तरत्वात् 'अजाघतटाप्'
 इति टापि सवर्णदीर्घे सौ 'ह्रल्लयादिलोपे' 'जरा' इति रूपम् । एवं ऋपेत्वपि । मिदादि-
 गणमुदाहरति । एवं मिदादिष्वपि 'पिङ्गिदादिभ्योऽह्' इत्यङि टापि सौ ह्रल्लयादि-
 लोपे रूपाणि बोध्यानि । ऋपेरिति । चकारादलपि स्यादिति बोध्यम् । केवलस्य संप्र-
 सारणस्याप्रयुक्तत्वात् । कृपा । कृपधातोर्ङि मन्प्रसारणेन रेफस्य श्रव्ते, 'संप्रसार-
 णाच्च' इति पूर्वरूपे छिन्वेन गुणामावे टापि सौ ह्रल्लयादिलोपे 'कृपा' इति रूप-
 सिद्धिः । अतश्चेति । 'पिङ्गिदादिभ्यः' इत्यतो अङ्गिति अनुवर्तते । उपसर्गेण युक्तादाका-
 रान्नाङ्गातोरेह स्यादिति भावः । उपदेति । उपपूर्वाद्वाधातोः 'आतश्चोपसर्गं' इति अङ्गि
 'आतो लोप इटि च' इत्यालोपे टापि सौ 'ह्रल्लयादिलोपे' 'उपदा' इति रूपं प्रभवति ।
 अन्तर्धा । अन्तः पूर्वाद्वाधातोः 'अन्तःशब्दस्याङ्गिकविधिणाप्येवमसर्गात्वं वाच्यम्' इति
 चार्तिकेनोपसर्गत्वे 'आतश्च' इत्यङि 'आतो लोप' इत्यालोपे टापि सवर्णदीर्घे
 सौ ह्रल्लयादिलोपे 'अन्तर्धा' इति रूपं भवति । रोगाल्यायेति । रोगस्य आश्रया
 नामधेय तस्मिन् शोभ्ये धातोः ण्वुल् स्यात्, षडुलम्-कच्चिप्रवृत्तिः कच्चिदप्रवृत्तिः
 कच्चिद्विभाषा कच्चिदन्वदेव । विधेविधानं बहुधा समीक्ष्य चतुर्विधं याहुलकं वदन्ति ।'

पिङ्गिदादिभ्योऽह्—प्रकारेसंयुक्त धातु और मिदादि धातुओंसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अह्' प्रत्यय हो । रूपेः संप्रसारणं च—'कृप्' धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अह्' प्रत्यय और धातुको संप्रसारण हो । आतश्चोप—उपसर्गोपपदक आदन्त धातुसे स्त्रीलिङ्गभावमें 'अह्' प्रत्यय हो । अजासम्बन्ध—एवन्त धातु 'अत्' धातु और 'अन्व' धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्ग और वाक्यमें । रोगाल्यायो—प्रत्ययान्त समुदाह क्वि रोगविशेषक्री संज्ञा हो तो, धातुसे

प्रवाहिका । विचचिका । कचिप्र, -शिरोत्ति । (घात्वर्थनिर्देशे ण्वुत्वङ्गतव्यः)
 आमिका । (इक्श्चित्तौ घातुनिर्देशे) । पचि । पचति । (घर्णात्कारः)
 निर्देश इत्येव । अकार । ककार । (रादिफ) । रेफ ॥ नपुंसके भावे फ्त'
 ।३।३।११४। ल्युट् च । ३।३।११५। हसितम् । हसनम् ॥ करणाधिकरण-
 योश्च । ३।३।११७। ल्युट् । अनुमान । अनुमानो ॥ पुलि संज्ञायां घ प्रा-
 देण । ३।३।११८। छादेशेऽद्ध्युपसर्गस्य । ६।४।९६। द्विप्रम्युपसर्गहीनस्य छादे-
 हस्वो घे । दन्तच्छद । आनुबन्त्यस्मिन्नि याकर ॥ अवे त्स्त्रोर्घञ् । ३।३।१२०।

इति विस्तरः । प्रच्छदिका-प्रवाहिका । प्रपूर्वात् छृद्वहो, 'रोगाशयायाम्' इति
 ण्वुलि 'युवो' इत्यकि गित्त्वेन आर्घवातुकरवाच्य 'अत उपघा' इति 'पुगन्त'
 इति वृद्धिगुणौ टापि 'प्रत्ययस्यात्' इति इत्ये सौ हल्ङ्वादिद्विषे रूपे भवत ।
 विचचिका । विपूर्वात् चचं घातो 'रोगाशयायाम्' इति ण्वुलि अकि टापि इत्ये सौ
 हल्ङ्वादिद्विषे 'विचचिका' इति रूप भवति । कचिचेति यादुलकप्रवृत्ति द्वांपनि-
 शितोत्तिरिति । अत्र न ण्वुल्, यादुलकात् । भावयति । घातोर्घो घात्वर्थस्तस्मिन्निर्देशे
 घातोर्घुल् चक्ष्य इत्यर्थ । उदाहरति—प्राप्तिदेति । अस्त्वानोः 'घात्वर्थ' इति
 ण्वुलि उपघादीये 'युवो' इत्यकि टापि 'प्रत्ययस्यात्' इतीकारे सौ हल्ङ्वादिद्विषे
 'आसिका' इति रूपम् । इक्षित्गिति । केवल घातुनिर्देशेऽनुबन्धरहिते प्तौ
 स्त । पाक पचति । 'हृपचप' इति धानुस्वरूपशब्देऽपि अनुबन्धरहितात् पचस्वरू-
 पात् इति सौ रूपे विसर्गे 'पचिः' इति रूपम् । यदा रितस्यात्तदा गित्त्वेन सार्यं
 घातुकरवात् 'तुदादिम्य ण' इति शविकरणे सौ रूपे विसर्गे 'पचति' इति रूपम् ।
 वर्णादिति । घर्णात्कार अल्मात्रावच्छेदकघर्णवचनम् । तस्मिन् घोत्ये कारप्रत्ययः
 स्यादित्यर्थ । अकार — ककार । अशालमात्रावच्छेदको यो घर्ण 'अश-कार' घर्ण-
 तद्धर्मपन्तौ अक्षौ तजोघोत्ये कारप्रत्यये सौ रूपे विसर्गे 'अकार' 'ककार' इति ।
 रादिफ । रकारस्य रत्वघर्मावच्छिन्नत्वेन तद्धर्मवशात्कारप्रत्यये प्राप्ते तर्थाधिरवा
 इफप्रत्यये 'आद्गुण' इति गुणे सौ रूपे विसर्गे 'रेफ' इति रूपसिद्धि ।

'ण्वुल्' प्रत्यय हो, बहुव प्रकाशे । घात्वर्थनिर्देशे—घात्वर्थके निर्देशमें घातुसे ण्वुल् प्रत्यय
 हो । इक्श्चित्तौ—घातुके निर्देशमें घातुसे 'इक्' और 'क्षित्' प्रत्यय हों । घर्णात्कार-
 वर्णके निर्देशमें वाने 'कार' प्रत्यय हो ।

रादिफ—रकारके निर्देशमें 'र' से 'रेफ' प्रत्यय हो । नपुंसके—घातुमें 'क' प्रत्यय
 हो, नपुंसकमें और भावमें । ह्युट् च—घातुसे 'ल्युट्' प्रत्यय भी हो, नपुंसक और भावमें
 करणाधि-करण और अधिकरण अर्थमें घातुमें 'ल्युट्' प्रत्यय हो । पुलि संज्ञायां—पुलिगमें
 संज्ञामें घातुसे माय 'घ' प्रत्यय हो, करण और अधिकरण अर्थमें । छादेशे—द्विप्रम्युति उप-
 सर्गहीन अगावद्वह 'अर्' की उरवाको हस्त हो, 'पि' के परे । अवे त्स्त्रोर्घञ्—उपपूर्वक

अवतारः । अवतारो जवनिका ॥ हलश्च ॥३३१२१॥ हलन्ताद्धन् षापदाः ।
 रमन्ते योगिनोऽस्त्रिमिति रामः । अपमृज्यतेऽनेन व्याध्यादिकमित्यपामार्गः ॥
 ईषदुःसुषु कृच्छ्राकृच्छ्राय्येषु खल् ॥३३१२६॥ एषु दुःसुखाय्येषूपपदेषु ख-
 ल् । 'तयोरेवे'ति भावे कर्मणि च । कृच्छ्रे-दुष्करः कटो भवता । अकृच्छ्रे-ईषत्करः ।
 सुकरः ॥ आतो युच् ॥३३१२८॥ खलाऽपवादः । ईपत्पानः सोमो भवता ।
 दुष्पानः । सुपानः ॥ आद्यश्चक्राधमण्ययोर्णिनिः ॥३३१७०॥ अवश्यं कारी ।
 शतं दायी ॥ कृत्याश्च ॥३३१७१॥ तथा धातोः । अवश्यं हरिः सेव्यः । शतं
 देयम् ॥ क्विच्कौ च संज्ञायाम् ॥३३१७४॥ आशिपि । वातिर्वायुः । शिवो
 देयादेनं शिवदत्तः ॥ अलंखल्व्योः प्रतिषेधयोः प्राचां क्त्वा ॥३४१८॥

अवतारः । अवोपसर्गपूर्वकं तृ धातोः 'अवेस्तृद्धोर्धञ्' इति घञि, घत्स्य अस्य चेतलं-
 ज्ञायां लोपे च अस्य 'आर्धघातुलं शेषः' इत्यार्धघातुलस्ये 'साधघातुकाधघातु-
 लयोः' इति गुणे, रपरं, 'अत उपघायाः' इति वृद्धौ, विमच्छिकार्यं च 'अवतारः'
 इति सिद्धम् । अपामार्गः । अपोपसर्गकं मृज् धातोः 'हलश्च' इति घञि, अदुष्कर-
 लोपे 'मृजेर्द्धिः' इति वृद्धौ, 'उरण् रपरः' इति रपरत्वे, 'वज्रोः कृ घिण्यतोः' इति
 ळस्य कुत्वेन सत्ये, 'उपसर्गत्स घम्यमनुष्ये यहुलञ्' इति धापाकारस्य वीर्षे, ह्रस्व-
 न्तावाप्रातिपदिकस्ये, सौ, ललोपे, सस्य स्रवे, रेफस्य विसर्गे च 'अपामार्गः' इति ।
 कृत्याश्चेति । 'कृत्याः' इत्यधिकारस्याः तस्यानीयदादिप्रत्ययाः धातोः द्युरिति भावः ।
 सेव्यः । सिच् धातोर्धति 'पुगन्त्' इति गुणे सौ स्रवे विसर्गे 'सेव्यः' इति लप्म् ।
 देयमिति । द्याधातोः 'अवो यद्' इति यति 'ईषति' इतीति गुणे सौ 'धतोऽम्' इत्यमि
 'अभि पूर्वः' इति पूर्वस्ये 'देयम्' इति । क्विचित् । धातोरापोरर्थं एतौ स्तः संज्ञायाम् ।
 वातिः । धाधातोः 'क्विच् कौ' इति क्विप्रत्यये कलोपे सौ स्रवे विसर्गे 'वातिः' इति ।
 शिवदत्त इति । शिवो देयादेऽमिति आशीरर्थं शिवपूर्वाद्वाधातोः 'क्विच् कौ च संज्ञा-

'तृ' और 'स्तृ' धातुसे प्रायः 'वञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें । हलश्च—करण और
 अधिकरण अर्थमें इलन्त धातुसे 'वञ्' प्रत्यय हो, पुंलिङ्ग और संज्ञामें ।

ईषदुःसुषु—दुःखार्थक तथा सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर धातुसे 'खल्' प्रत्यय
 हो, भाव और कर्ममें । धातो युच्—दुःखार्थक और सुखार्थक ईषदादि उपपद रहनेपर
 धादन्त धातुसे 'युच्' प्रत्यय हो (यह 'खल्' का अपवादक है) आवश्यकता—आवश्यक
 और आधमण्यं (लेन-देन) अर्थ गन्धमान रहने पर धातुसे कर्ता अर्थमें 'णिनि' प्रत्यय हो ।

कृत्याश्च—आवश्यक और आधमण्यं अर्थमें धातुसे 'कृत्य' प्रत्यय हो । क्विच्कौ च—
 आशीर्वाद अर्थमें धातुसे 'क्विच्' और 'कौ' प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अलंखल्व्योः—प्रतिषेधार्थक 'अलम्' तथा 'खल्व्' उपपदक धातुसे 'क्त्वा' प्रत्यय हो,

धात्वामिति पूजार्थम् । प्रतिषेधयोरलंखत्वोरुपपदयो क्त्वा । 'दो द्घो' । अलं
 दत्त्वा । 'सुमास्या' इतीत्पम् । पीत्वा खलु । अलंखत्वो किम् ? मा कार्पी । प्रति-
 षेधयोः किम् ? अलङ्कार ॥ समानकर्तृकयोः पूर्वकाले । ३।४।२१। समानकर्-
 तृक्योर्धात्वर्थयोः, पूर्वकाले विद्यमानादातो क्त्वा । 'अव्ययकृतो भावे' । भुक्त्वा व्रज-
 ति । द्वित्वमतन्त्रम् । स्नात्वा भुक्त्वा पीत्वा व्रजति ॥ न क्त्वा सेट् । १।२।१८। सेट्
 क्त्वा किम् । शयित्वा । सेट् किम् ? कृत्वा ॥ रलो व्युपधाद्गलादेः संज्ञ ॥ १।
 २।२६। इवर्णोवर्णोपधाद्गलादेरलन्तात्परौ क्त्वासौ सेटौ वा कितौ स्त । घृतित्वा ।
 योतित्वा । लिखित्वा । लेखित्वा । व्युपधात्किम् ? वर्तित्वा । रल किम् ? सेवित्वा ।
 हलादे किम् ? एषित्वा । सेट् किम् ? भुक्त्वा ॥ उदितो घा । ७।२।५६। उदित-
 परस्य क्त्व इह वा । शमित्वा । शान्त्या । देवित्वा । 'द्यो शुद्धनुनासिके चे'ति ऊ-
 ष् । घृत्वा । दधातेर्हि । हित्वा ॥ जहातेश्च कित्वा । ७।४।४३। हित्वा । हाइस्तु-
 हात्वा ॥ समासेऽनपूर्वक्यो ल्यप् । ७।१।३७। अव्ययपूर्वपदेऽन्यत् समासे क्त्यो
 ल्यभादेश । तुक्, प्रकृत्य । अनन् किम् ? अकृत्वा । पर्युदात्ताप्रयणांश्च, -परम-

धाम्' इति कप्रत्यये 'निव-धा-त्' इति जाते 'दो द्घो' इति इवादेशे 'क्षरि च' इति
 ल्यप्ते सौ दरवे विसर्गे 'निवदक्ष' इति रूपम् । अल दारवेति । दानेन किञ्चिदपि साध्य
 भावस्तीत्यर्थः । अत्र साध्यते—अलं पूर्वकदाघातोः 'अलखत्वो प्रतिषेधयोः प्राचां
 क्त्वा' इति क्त्वाप्रत्यये कलोपे 'दो द्घो' इति दाघातोर्दवादेशे 'क्षरि च' इति
 दरव्य ल्यप्ते कृदन्तरवात्प्रातिपदिकत्वे सौ समागते 'कदातोसुनृकसु-' इति अव्यय
 सञ्ज्ञायाम् 'अव्ययादाप्सुयः' इति सोऽङ्कि च कृते 'अल दारव' इति । घृतित्वा,
 योतित्वा । घृत् घातो 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति क्त्वाप्रत्यये कलोपे, 'आर्षे
 घातुक दोष' इत्यार्थघातुकत्वे, 'आर्षघातुकत्वे इहलादे' इति इहागमे, 'न क्त्वा
 सेट्' इति डिश्वनिषेधे प्राप्ते 'रलो व्युपधाद्गलादे सञ्च' इति 'व प्रथमस्य वैक
 यिके दिादे, 'किञ्चि च' इति गुणनिषेधे च जाते, 'घृतित्वा' इति । किञ्चामावपये-

भावमें । (यदा सूत्रमें प्राचां' ग्रहण विकल्पार्थक नहीं है, मस्तुन पूं क ई)

समानकर्तृकयोः—समानकर्तृक धात्वयोः नै पूर्वकालिक ि ताव ची धातुमे 'क्त्वा'
 प्रत्यय हो, भावमें । न क्त्वा—'इट्' मदिह 'क्त्वा' 'किञ्' नहीं है । रलो व्युपधात्—इ-
 र्णोवर्णोपध्वादि रलन्तात्परौ पर सेट् 'क्त्वा' की- 'ट्' कित्वा हो, विकल्पते ।
 उदितो—उदित धातुते पर 'क्त्वा' की इट् हो, विकल्पते । उ-तेत्र—'हा' (धोहाक्)
 धातुकी 'हि' भादेश हो, 'क्त्वा' प्रत्ययके परे । सम-वेऽन-—अव्ययपूर्वपदक 'अनम्'

कृत्वा ॥ वा ल्यपि ।६।४३८। अनुदात्तोपदेशवन्तितनोत्यादीनामनुनासिकलोपः ।
स च व्यवस्थितः । (मान्तानिटां वा) । (नान्तानिटां नित्यम्) । आगम्य,
आगत्य । प्रहत्य । अदो जरिधः । प्रजग्ध्य ॥ न ल्यपि ।६।४।६९। घुमास्ये-
त्तीत्त्वम् । प्रधाय । प्रमायेत्यादि ॥ आभीक्ष्ण्ये णमुल् च ।३।४।२२। पौनः-
पुन्ये द्योत्ये क्त्वाविष्ये णमुल् क्त्वा च ॥ नित्यधीप्सयोः । ८।१।४। आभीक्ष्ण्ये
वीप्सायां च द्योत्ये पदस्य द्वित्वं ह्यात् । आभीक्ष्ण्ये तिङन्तेष्वव्ययसंज्ञकङ्दन्तेषु

‘पुगन्तलघूपधस्य च’ इति गुणे कृते ‘द्योतिष्वा’ इति । वा ल्यपीति । ‘अनुदात्तोपदेश-
वन्तितनोत्यादीनामनुनासिकलोपो ङलि ङिति’ इति सर्वमनुवर्तमाने ल्यपि पर-
तस्तु तद्विभाषया प्रवर्तते । विभाषाऽपि व्यवस्थितरूपेण गृह्यते । विभाषाया इत्य-
स्थितिं दर्शयति—मान्तानिटा वेति । मान्तधातुरनित्यस्य ल्यपि परतो वाऽनु-
नासिकलोप इत्यर्थः । नान्तानिटां नित्यमिति । ये धातवो नान्ताः अपि ङानिटाः तेषा-
मनुनासिकस्य नित्यं लोप इति भावः । आगत्येति । आङ्पूर्वाद् दाम्घातोः ‘समान’
इति क्त्वाप्रत्यये ‘समासेऽनञ्’ इति एयघादेशे ‘आगम्-य’ इति जाते ‘मान्तानिटां
वा’ इति वा सलोपे ‘इस्वस्य’ इति तुकि सौ ‘अव्ययादाप् सुपः’ इति सोर्लोपे
‘आगत्य’ इति रूपम् । यदा सलोपो न स्यात्तदा ‘आगम्य’ इत्येव रूपं भवति ।
प्रहस्येति । प्रपूर्वाद्घातोः क्त्वाप्रत्यये ‘समासे’ ल्यपि ‘नान्तानिटां नित्यम्’ इति
सलोपे ‘इस्वस्य’ इति तुकि सौ ‘अव्ययस्वास्तुलोपे ‘प्रहत्य’ इति रूपं प्रभवति ।
प्रजग्ध्य । प्रपूर्वाद्घातोः क्त्वाप्रत्यये ल्यपि ‘अदो जरिधर्कपृति किति’ इति जग्धा-
देशे सौ अव्ययस्वास्तुलोपे ‘प्रजग्ध्य’ इति रूपस्य सिद्धिः । न ल्यपीति । ‘घुमास्या’ इति
सर्वमनुवर्तते । तद्दीर्घं ल्यपि परतो नेत्यर्थः । प्रमाय । प्रपूर्वाभ्यां दामाभ्यां
क्त्वाप्रत्यये एयदि ‘घुमास्या’ इतीद्वे प्राप्ते ‘न ल्यपि’ इत्यनेन निषेधे सौ अव्ययास्त-

समासमें ‘क्त्वा’ के स्थानमें ‘ल्यप्’ आदेश हो । वा ल्यपि—अनुदात्तोपदेश धातु, वन
धातु और तनोत्यादि धातुओं के अनुनासिक का लोप हो, ‘ल्यप्’ के परे, विकल्पसे ।

स च व्यवस्थितः—‘वा ल्यपि’ से अनुनासिकका लोप व्यवस्थित (निश्चित) हो ।
उभौका निरूपण करते हैं—मान्तानिटां वा—पूर्वोक्त अनुदात्तोपदेशादि धातुगत मान्त
अनित् धातुओंके अनुनासिकका लोप विकल्पसे हो, और ‘नान्तानिटां’—नान्त अनित्
धातुओंके तथा वनादि धातुओं के अनुनासिक का लोप नित्य हो ।

न ल्यपि—‘ल्यप्’के परे घुसंशक धातु, ‘मा’ धातु और स्यादि धातुओं के आकारको
ईत्वं नहीं हो । आभीक्ष्ण्ये—पौनःपुन्य अर्थ द्योत्य हो तो धातुसे ‘णमुल्’ प्रत्यय और ‘क्त्वा’
प्रत्यय हो । नित्यधीप्सयोः—पौनःपुन्य और वीप्सा अर्थ द्योत्य हो तो पदको द्वित्व हो ।

च । पचति पचति । स्मारं स्मारं नमति गुरुम् । स्मृत्वा स्मृत्वा । पायम् २ ।
 मोत्रम् २ । भ्रावम् २ । अन्यथैवकृत्यमित्थंस्तु सिद्धाप्रयोगश्चेत् । ३।४।२७।
 एषु कृनो णमुत्स्थात् सिद्धोऽप्रयोगोऽस्य एवमूतधेत्कृत् । व्यर्थत्वात्प्रयोगानर्ह
 इत्यर्थ । अन्यथाकारम् । एवकारम् । कर्णकारम् । इत्यकारं मुञ्चते, इत्यं मुञ्च
 इत्यर्थ । सिद्धेति किम् ? शिरोऽन्यथा कृत्वा मुञ्चते ॥ यावति विन्दजीवोः । ३।४।
 ३०। यावद्देद मुञ्चते । यावत्कृते तावदित्यर्थ । यावज्जीवमधीते ॥ निमूलसमू-
 लयो कथः । ३।४।३१। कर्मण्युपपदे ॥ कथाविप् यथाविध्यनुप्रयोगः ।
 ३।४।३२। यस्मात्प्रणमुलुफ स एवानुप्रयोक्तव्य । निमूलकार्यं कथति । समूलः ।
 कथति । निमूलं-समूलं कथतीत्यर्थ ॥ शुष्कचूर्णरुक्षेषु पिपः । ३।४।३५।

लोपे प्रदाय-प्रमाय अनयोः सिद्धिः । स्मार-स्मारम् । स्मृधातोः 'आभीषण्ये णमुञ्च
 च' इति णमुञ्चि, णकारोकारलङ्कारलोपे 'स्मृ-अम्' इत्यवशिष्टे, 'अचो ङिति' इति
 ह्रस्वी, रपरे च 'स्मारश्च' इति आते, 'निरयचीप्तयो' इति द्वित्वे, कृदन्तावाप्याति-
 पदिकत्वात्सौ, 'कृन्मेजन्त' इत्यस्यपरावे, 'अभ्यधावाप्तुपः' इति तुपो लुकि,
 मस्यानुसंधारे च 'स्मार स्मार नमति शिवम्' इति सिद्धम् । अन्यथाकारम् । अन्यथा
 पूर्वकृत्धातोः 'अभ्यथैवकृत्यमित्थंस्तु सिद्धाप्रयोगश्चेत्' । इति णमुञ्चि, अनुबन्धलोपे,
 'अचो ङिति' इति ह्रस्वी, अभ्यधावाप्तुपो लुकि 'अभ्यधाकारम्' इति रूपम् ।
 एवमेव 'यवहारम्' इत्य-वि । भावति विन्दजीवो । यावद्दृग्दे उपपदे विन्दते जीव-
 सेच णमुञ्च स्यादित्यर्थः । 'कर्मण्युपपदे' इति यावत् शब्दस्य कर्मत्वाद्द्वितीया ।
 यावद्देद मुञ्चते । यावन्त कालं विन्दति तावन्त कालं मुञ्चते इत्यर्थं यावत्पूर्वात्
 विन्दधातो 'यावति विन्दजीवो' इति णमुञ्चि णमुञ्च आधंघातुकात्वात् 'पुगन्त' इति
 गुणो सौ मात्रावावृत्त्यत्वे सोऽलोपे 'यावद्देदं मुञ्चते' इत्यस्य सिद्धिः । यावज्जी-
 वमधीते । यावन्तं कालं जीवति तावन्तं कालम् 'अधीते' इत्यर्थं जीवधातोः 'यावति
 विन्दजीवो' इति णमुञ्चि 'यावज्जीवम्' इति आते सौ मान्तावावृत्त्यपरावे 'अभ्यधा-
 वाप्तुपः' इति लुक्लुकि 'यावज्जीवम्' इति रूपम् । निमूलेति । निमूले समूले च
 कर्मण्युपपदे कपरेणमुञ्च इत्यर्थं । कथादिविति । 'निमूल' इत्यतः 'उपमाने कर्मणि च'
 इत्यन्त इति भावत् । निमूलकार्य-समूलकार-कथति । निमूल समूलञ्च कथति इत्यर्थं

अभ्यथैव-अन्यथा, एवम्, कथम्, या इत्यम् अभ्यथ उपपदक 'कृन्' धातुसे 'णमुञ्च'
 प्राप्त्य हो, यदि बह 'कृन्' धातु स्वर्थे होनेसे प्रयोगानर्ह हो रहा हो तो ।

यावति-यावत् इत्यन्यथ उपपदक विन्द (विद्ल लामे) धातु औट जीव धातुसे 'णमुञ्च'
 प्राप्त्य हो । निमूलसमूलयोः-कर्मसदृक निमूल या समूल उपपदक 'कथ' धातुसे 'णमुञ्च'
 प्राप्त्य हो । कथादिवि-कथादि धातुधर्मि विज धातुसे णमुञ्च दहा गवा ई, वही धातुको
 अनुप्रयोग हो । शुष्कचूर्ण-कर्मसदृक शुष्कदि उपपदक 'पिप' धातुसे 'णमुञ्च' प्राप्त्य हो ।

एषु कर्मसु विवेर्णमुल् । शुष्कपेपं पिनष्टि । शुष्कं पिनष्टीत्यर्थः । चूर्णपेपम् ।
रूपपेपम् ॥ समूलाहृतजीवेषु इन्द्रजग्रहः । ३।४।३६। कर्मणीत्येव ।
समूलघातं हन्ति । अहृतकारं करोति । जीवप्राहं गृह्णाति, जीवन्तं गृह्णातीत्यर्थः ।
करणे हनः । ३।४।३७। पादघातं हन्ति, पादेन हन्तीत्यर्थः ॥ स्नेहने
पिषः । ३।४।३८। स्निह्यते येन तस्मिन्करणे विवेर्णमुल् । उदपेपं पिनष्टि, उदकेन
पिनष्टीत्यर्थः ॥ हस्ते वर्तिग्रहोः । ३।४।३९। हस्तार्थे करणे । हस्तवर्तं वर्तयति ।
करवर्तम्, हस्तेन गुलिकां करोतीत्यर्थः । हस्तप्राहं गृह्णाति । करप्राहम् । पाणि-
प्राहम् ॥ स्वे पुषः । ३।४।४०। करण इत्येव । 'स्वे' इत्यर्थग्रहणम् । तेन स्वरूपे
पर्याये विशेषे ष णमुल् । स्वपोषं पुष्णाति । धनपोषम् । गोपोषम् ॥

कषघातोर्णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'अत उपधायाः' उपधावृद्धौ सौ मान्त-
त्वाद्गण्ययावे सुब्लुकि 'निमूलकापन्' 'समूलकापन्' अनयोः सिद्धिः । शाब्दबोधस्तु
निमूलसमूलाऽभिधं कषणमिति स्वरूपात्मकः । शुभेति । पशु' कर्मसुपपदेषु विषधा-
तोर्णमुल् स्यात् । शुष्कपेपं-चूर्णपेपं-रूपपेपमिति । शुष्कं-चूर्णं-रूपं च पिनष्टि
इति चिग्रहे विषघातोः 'शुष्कचूर्णं' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'पुगन्त'
इति गुणे सौ अक्षयवाऽसुब्लुकि शुष्कपेपं-चूर्णपेपं-रूपपेपं पिनष्टि इति रूपाणि
भवन्ति । अर्थः शुष्कं पिनष्टि-चूर्णं पिनष्टि-रूपं पिनष्टि' इति । समूलेति ।
पशुपपदेषु हन् कृञ् प्रहेम्यो णमुल् स्यादित्यर्थः । करणे हन इति । पादेन हन्ति
इत्यर्थे पादेनेति करणोपपदात् हन् धातोर्णमुलि सुब्लुकि 'हनस्तो' इति तकारान्तादेशे
'हो हन्तेः' इत्य घञे उपधावृद्धौ सौ अक्षयवाऽसुलोपे 'पादघातं हन्ति' इति रूपम् ।
स्नेहनेपिष इति । 'करणे हनः' इत्यतः करणे ह्यनुपजयते । अत आह-त्रिह्यते येन करण-
भूतेन द्रव्येण तस्मिन्नुपपदे पिष धातोर्णमुलित्यर्थः । उदपेपम् । उदकेन पिनष्टि इत्यर्थे
करणपूर्वात् 'पिषः स्नेहने पिषः' इति णमुलि 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि सौ मान्त-
त्वाद्गण्ययावे सोर्लोपे 'उदपेपं पिनष्टि' इत्यस्य सिद्धिः । हस्ते वर्तिग्रहोरिति । 'करणे हनः'
इत्यतः करणे ह्यनुपजयते । हस्तार्थे करणे उपपदे वर्तिग्रहोर्णमुल् स्यादित्यर्थः ।
हस्तवर्तं-करवर्तं । हस्तेन-करेण वर्तयति इत्यर्थे हृतघातोर्णमुलि सुब्लुकि
'पुगन्त' इति गुणे सौ सोर्लोपे हस्तवर्तं-करवर्तम् इति । स्वपोषं पुष्णाति । स्वेन

समूला—समूलादि कर्मोपपदक इनादि धातुर्भोसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

करणे हनः—करणसंज्ञक सुबन्त उपपदक 'हन्' धातुसे 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

स्नेहने—स्नेहवाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर 'पिष' धातुसे 'णमुल्'
प्रत्यय हो । हस्ते वर्ति—हस्तार्थक करण उपपदक प्यन्त 'वृत्' धातु और 'ग्रह' धातुसे
'णमुल्' प्रत्यय हो । स्वे पुषः—स्व (हन) वाचक करणसंज्ञक सुबन्त उपपद रहने पर

समासत्तौ ।३।४।५०। तृतीयासतम्योर्गमुल् सन्निकर्षे । केशप्राहं गुप्यन्ते । हस्त-
प्राहं गुप्यन्ते ॥ स्वाङ्गे तस्प्रत्यये कृम्वो ।३।४।६१। क्त्वाणमुलो स्त ।
सुखत-कृत्य, सुखत कृत्वा, सुखत कारम्, सुखतोभूय, सुखतो भुक्त्वा, सुखतो-
भावम् ॥ इत्युत्तरकृदन्तप्रकरणम् ॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

अथ कारकप्रकरणम्

प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा ।२।३।४६। नियतोप-

पुष्पाति इत्यर्थे पुष्पघातो 'स्वे पुष्प' इति णमुलि सुम्बुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ-
मात्तावाद्यप्यथे सोर्लोपे 'स्वपोष' इत्यस्य सिद्धिः । घनेन पुष्पातीत्यर्थे । पर्वथे
वदाहरति—घनोर्घं पुष्पाति—घनेन पुष्पातीत्यर्थे करणोपपदात्पुष्पघातोः 'स्वे पुष्प'
इति णमुलि 'पुगन्त' इति गुणे सुम्बुकि सौ भव्ययथे सोर्लोपे 'घनपोष' इति
साप्नोति । विशेषमुदाहरति—गोपोषमिति । गर्वा पुष्पाति इत्यर्थे पुष्पघातोः 'स्वे पुष्प'
इति णमुलि सुम्बुकि 'पुगन्त' इति गुणे सौ भव्ययादिकायै 'गोपोष' इति रूपसिद्धिः ।
समासत्ताविति । समासत्तिपद् विवृणोति—सन्निकर्षे गम्यमाने इति । सन्निकर्षोऽभ्यवधा-
नेन सयोगः । केशप्राहमिति । सन्निकर्षपरमेतत् । अयन्त सन्निकर्षिता गुप्यन्ते
इत्यर्थे । केशौ, केशेषु वा गृहीत्वा इति सन्निकर्षितायै 'समासत्तौ' इति णमुलि सुम्बुकि
'अत उपधाया' इत्युपधादीर्घाथे सौ भव्ययत्वारमुलोपे 'केशप्राह' इति साप्नोति ।

॥ इति कृदन्तप्रक्रिया समाप्ता ॥

प्रातिपदिकार्थलिङ्गेति । पदपदमिति प्रतिपदम्, प्रतिपद् भवं प्रातिपदिकम्,
सामर्थ्यः प्रातिपदिकार्थः । स च लिङ्गपरिमाणवचनमात्रे च प्रातिपदिकार्थलि-
ङ्गपरिमाणवचनानि । ताव्येवेति प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे तस्मिन्
'इन्द्रादीं इन्द्रमध्ये इन्द्रान्ते च धूपमाण पद् प्रत्येकमभिमन्वयते' इति भाष्यो

'पुष्' धातुषु 'णमुल्' प्रत्यय हो । समासत्तौ—यदि सन्निकर्षे अर्थ गम्यमान हो तो—
तृतीयान्त और सप्तम्यन्त वचनक धातुने 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

स्वाङ्ग सप्तम्यथे—स्वांगवाचो 'तस्' प्रत्ययान्त वचनक 'कृ' धातु या 'भू' धातु से
कत्वा' और 'णमुल्' प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'इन्द्रमटी' टीकामें उत्तरकृदन्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

प्रातिपदिकार्थ—प्रातिपदिकार्थ मात्रमें, लिङ्ग मात्रकी अधिकतामें, परिमाण मात्रमें और

स्थितिकः प्रातिपदिकार्थः । मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्ग-
मात्रायाधिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा । प्रातिपदिकार्थमात्रे—उच्चैः । नीचैः । कृष्णः ।
श्रीः । ज्ञानम् । लिङ्गमात्रे—तटः । तटी । तटम् । परिमाणमात्रे—द्रोणो द्रोहिः ।
वचनं सङ्ख्या । एकः । द्वौ । बहवः ॥ सम्बोधने च । २।३।४७। प्रथमा । हे

वरदा इन्द्रान्ते श्रूयमाणमात्रपदस्य प्रत्येकमन्वयाप्रातिपदिकार्थमात्र इत्याद्यर्थः
सम्पद्यते । नियतोपस्थितिक इति । नियता-ष्पापिका उपस्थितिर्यस्य स नियतोप-
स्थितिकः । यस्मिन्प्रातिपदिके उच्चारिते सन्नि यस्यायस्य नियमेनोपस्थितिः स प्रातिप-
दिकार्थः । मात्रशब्दस्येति । 'इन्द्रान्ते श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्पद्यते' इति

संख्या मात्रमै प्रथमा विभक्ति होती है । सम्बोधने च—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो ।

नोट—'अवेष्टिभक्तिः प्रथमा कर्तृवाच्यस्य कर्तरि । सम्बद्धौ नाममात्रे च कर्मवा-
च्यस्य कर्मणि ॥ चवच्चिद्व्यययोगे च प्रथमा कल्प्यते बुधैः ।'

'कारके'—इस अधिकार सूत्रका भी पाठ है (कारकविधायक प्रत्येक सूत्रमें इसका
अधिकार जाता है । अतः सर्वत्र पहले कारक संज्ञा होकर ही कर्मादि संज्ञा होगी) ।

क्रियाका जो साक्षात् बनक हो, उसे कारक कहते हैं । (साक्षात्—'क्रियाजनकरवं
कारकावम् ।

निर्दुष्टलक्षणम्—'क्रियानिष्ठविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारतासमा-
नाधिकरणविशेष्यतानिरूपिताऽभेदसम्बन्धावच्छिन्नप्रकारताश्रयस्वम् ।

कारक छ होते हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण ।

१. क्रियानिष्पादनके विषयमें जो स्वतन्त्र (प्रधान) भावसे विवक्षित रहता है उसे
'कर्ता' कहते हैं ('क्रियासम्पादकः कर्ता') कर्ता से प्रथमा विभक्ति होती है ।

२. संज्ञाके विल रूप पर क्रियाके व्यापारका, फल पड़ता है, उसे कर्म कहते हैं
(कर्तृवृत्तिव्यापारप्रयोज्यफलवत्प्रकारकेच्छानिरूपितविषयताश्रयत्वं कर्म) कर्मसे
द्वितीया विभक्ति होती है ।

३. जो क्रियाके व्यापारमें कर्ताका सहायक हो अर्थात् क्रियासिद्धिमें जो अरयन्त उपका-
रक हो उसे 'करण' कहते हैं । करणसे तृतीया विभक्ति होती है ।

४. (क) जिसको स्वसख निवृत्तिपूर्वक कोई वस्तु दी जावे उसे 'सम्प्रदान' कहते हैं ।
सम्प्रदानमें चतुर्थी विभक्ति होती है ।

(ख) जिस आकांक्षासे कोई कार्य किया जावे अर्थात् जो क्रियाकी प्रवृत्तिका फल हो उसे
भी सम्प्रदान कहते हैं । (जैसे—मुच्छये हरिं भजति—मुक्तिके लिये हरिका भजन करता है)

५. परस्पर विद्युक्त होने वाले पदार्थोंमें जो स्थिर हो अर्थात् जिससे विश्लेष (विभाग)
अथवा दूर गमन सम्भव हो, उसे 'अपादान' कहते हैं । अपादानसे पञ्चमी विभक्ति होती है ।

६. क्रियाश्रयभूत कर्ता और कर्म जिसमें अवस्थान करे उसे 'अधिकरण' कहते हैं ।
अधिकरणमें सप्तमी विभक्ति होती है । सम्बो—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति हो ।

राम ॥ कर्तुरीप्सिततमं कर्म ।१।४।४९। कर्तुं किययाऽऽप्नुमिष्टतमं कारक
 कर्मसंज्ञं स्यात् ॥ कर्मणि द्वितीया ।२।३।२। अनुक्ते । हरिं भजति । अमिहिते तु
 कर्मादौ प्रथमैव । हरिं सेव्यते । लक्ष्म्या सेवितो हरि । शतेन क्रीत शत्य अथ ।
 प्राप्तानन्दश्चैत्र । अभिधानं च प्रायेण तिङ्कृतद्वितसमाप्तं । क्वचिधिपातेनाभिधा-
 नम् । 'कामादमु नारद इत्यबोधि स' ॥ अकथितं च ।१।४।५१। अपादानादि
 विशेषैरविवक्षित कारकं कर्मसंज्ञं स्यात् ।

दुहयाच्पचदण्डरुधिप्रच्छिचिन्नशासुजिमथमुपाम् ।

कर्मयुक्स्यादकथितं तथा स्याद्धीहृष्टञ्चदाम् ॥

गां दोग्धि पय । बलि याचते वसुधान् । तण्डुलानोदन पचति । गर्गान्
 शतं दण्डयति । प्रजभववृणद्धि गाम् । माणवक पन्यान पृच्छति । वृक्षमवचिनोति
 फलानि । माणवक धर्मं मृते शारित वा । शत जयति देवदत्तम् । सुधां क्षीर-

स्यादादिति भावः । दुहाच् पच् इति । दुह प्ररणे । दुहाच् याच्नायाम् । हृपचप् पाके ।
 दण्ड दण्डनिपातने । रुधिर् भावरणे । प्रच्छ शोप्तायाम् । चिन् चयने । मूञ् स्यक्तायां
 वाधि । शासु अनुशिष्टौ । जि जये । मन्थ विच्छेदने । मुष् स्तेये । जीञ् प्रापणे । हृञ्
 हरणे । हृप् विच्छेदने । वह प्रापणे । प्यां घातृनां कर्मणा युक्त कर्माकथित कर्म
 इत्युच्यते इत्यर्थः । गां दोग्धि पय । अत्र 'गो' पयो दोग्धि' इति अपादानस्याविष-
 चित्वात् 'अकथितञ्च' इति कर्मसंज्ञायां 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां
 कृतायां 'गां पयो दोग्धि' इति । बलिनन्दे अपादानस्याविषचित्वात् 'अकथि-
 तञ्च' इति कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायां कृतायां 'बलि याचते
 वसुधाम्' इति । तण्डुलैरोदनमपचति इत्यत्र करजस्माद्विदधित्वात् 'अकथितञ्च' इति
 कर्मसंज्ञायाम् 'कर्मणि द्वितीया' इति द्वितीयायाम् 'तण्डुलानोदन पचति' इति ।
 गर्गान् शत दण्डयति । अत्र गर्गमथ इति अपादानस्याविषचित्वात् कर्मसंज्ञायां

कर्तुरीप्सित—कर्ताको क्रियाद्वारा प्राप्त करनेमें जो इष्टतम हो, वह कारकसमक होकर
 कर्मसमक हो । कर्मणि द्वितीया—अनुक्त कर्ममें द्वितीया हो । तथायुक्त—रंप्सिततमको
 ही तरह क्रियामन्थ फलसे युक्त अनीप्सित मो कारकसमक होकर कर्मसमक हो ।

अकथित च—अपादानादि विशेषते अविवक्षित जो कारक वर कर्मसमक हो ।

दुहाच्—१ दुह प्ररणे, २ दुहाच् याच्नायाम्, ३ हृपचप् पाके, ४ दण्ड दण्डनिपा-
 तने, ५ रुधिर् भावरणे, ६ प्रच्छ शोप्तायाम्, ७ चिन् चयने, ८ मूञ् स्यक्तायां वाधि,
 ९ शासु अनुशिष्टौ, १० जि जमिजये ११ मन्थ विच्छेदने, १२, मुष् स्तेये, १३ जीञ्
 प्रापणे, १४, हृप् हरणे, १५, हृप् विच्छेदने, १६ वह प्रापणे—इन घातृगोके कर्मके साथ
 जो युक्त है वही 'अकथित कर्म' होता है ।

निधि मय्याति । देवदत्तं शतं मुष्णाति । प्राममजां नयति, हरति, कर्षति, बहति वा । अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा । बलिं भिक्षते वसुधाम् । माणवकं घर्मं भापते, अभिघत्ते, वक्ती-
त्यादि । (अकर्मकधातुभिर्योगे देशः कालो भावो गन्तव्योऽध्वा च कर्म-
संज्ञक इतिवाच्यम्) कुरुन् स्वपिति । मासमास्ते । गोदोहमास्ते । क्रोधमास्ते ॥
गतिबुद्धिप्रत्ययसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स णौ । १।४।५२
गत्याद्यर्थानां शब्दकर्मणामकर्मकाणां चाणौ यः कर्ता स णौ कर्म स्यात् ।

ज्ञानूनगमयत् स्वर्गं वेदार्थं स्वानवेदयत् ।

आशयश्चामृतं देवान् वेदमध्यापयद्विधिम् ।

आसयत् सलिले पृथ्वीं यः स मे श्रीहरिर्गतिः ॥

द्वितीया । शत्रुनिधि । शत्रवः स्वर्गमगच्छन् तान् श्रीहरिः स्वर्गमगमयत् । भ्रा-
प्यन्तावस्यायां शत्रवः कर्तास्ते प्यन्तावस्यायां कर्ताभवन् । स्वर्गकर्मकं घातुनिष्ठं
घद्गमनं तदनुकूलो यत्प्रियो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरितिवाक्यार्थः । वेदार्थमिति ।
स्वे वेदार्थमविदुरित्यप्यन्तावस्यायां कर्तुंभूतं 'स्वे' इति पदं 'स्वान् वेदार्थं अवेदयत्'
इति प्यन्तदत्तायां कर्म भवति । फलं च 'कर्मणि द्वितीये'ति । वेदार्थकर्मकं स्वनिष्ठं
यद्देदनं तदनुकूलो यत्प्रियो व्यापारः स श्रीहरिर्मे गतिरित्यन्वयः । आशयदिति । देवा
अमृतमाशनन् तान् श्रीहरिराशयत् । छात्रापि अप्यन्तदद्यायां देवाः कर्तारस्त एव
प्यन्ते कर्ममूताः । अत एव द्वितीया । अमृतकर्मकं देवनिष्ठं यददानं तदनुकूलो

अर्थनिबन्धनेयं संज्ञा—कैपटने ऐसी व्याख्या की है । अतः पूर्वोक्त दुहायर्थक घातुओं
के कर्मके साथ जो युक्त हो वह भी 'अकथित कर्म' होता है ।

अकर्मक—अकर्मक घातुओंके योगमें देश, काल, भाव (क्रिया) तथा गन्तव्य मार्ग—
इनकी कर्मसंज्ञा हो ।

गतिबुद्धि—१. गत्यर्थक, २. बुद्धयर्थक, ३. भक्षणार्थक, ४. शब्दकर्मक और ५. अकर्मक
घातुओंकी अप्यन्तावस्थाका जो कर्ता यह प्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक हो ।

ज्ञानूनगमयत् स्वर्गम्—२ का उदाहरण । शत्रवः (युद्धे मृताः) स्वर्गमगच्छन्, हरि-
स्वान् प्रैरिरदिति (हरिः) शत्रुनगमयस्वर्गम् । ('स्वर्गकर्मकं घातुनिष्ठं यद्गमनं तदनुकूलो
यत्प्रियो व्यापारः स श्रीहरिः मे गतिरस्तु') ऐसा वाक्यार्थ हुआ ।

वेदार्थं स्वानवेदयत्—३ का उदाहरण । स्वे=स्तकीयाः, वेदार्थमविदुः, तान् हरिः वेदा-
र्थमवेदयत् । आशयश्चामृतं देवान्—४ का उदाहरण । देवाः अमृतम् आशनन्, हरिः तान्
अमृतम् आशयत् । वेदमध्यापयद्विधिम्—५ का उदाहरण । विधिः वेदमध्येत, तं भक्षणं
हरिः वेदम् अध्यापयत्=अपाठयत् । आसयत् सलिले पृथ्वीम्—५ का उदाहरण । सलिले
(लके) पृथ्वीं आस्ये वां पृथ्वीं हरिः आसयत्=अस्थापयत् (स श्रीहरिः मे गतिरस्तु)

(नीचद्योर्न) नाययति बाहयति वा भार भृत्येन ॥ (नियन्तृकर्तृकस्य घट्टेरनियेष.) । बाहयति रयं बाहान्स्त । (आदिस्त्रायोर्न) आदयति खादयति वा अन्न यदुना ॥ (भक्षेरहिंसार्थस्य न) । भक्षयत्यन्नं यदुना । अहिंसार्थस्य किम् ? भक्षयति यलीवर्शनं सत्यम् ॥ (जल्पतिप्रभृतीनामुपसङ्ख्यानम्) । जल्पयति मापयति वा धर्मं पुत्र देवदत्त । (दृशेथ) ।

यधिष्ठो ष्यापार. स श्रीहरिर्मे गतिः । वेदनिति । विधिर्वेदमघ्नोतवान् त अष्यापयत् । अष्याप्यन्तदनायां कर्तुंभूतं विधिरिति यद् अघ्नते कर्मतां गतमत एव द्वितीया । वेदकर्मक विधिनिष्ठ यद्अप्यन तदनुकूलो यधिष्ठो ष्यापार. स श्रीहरिर्मे गतिरित्यर्थः । भागयदिति । सद्धिष्ठे पृथ्वी आस्ते, ता आसयत् । पृथया अष्यन्तकार्या. ष्यन्ते कर्माव द्वितीया चेत्यर्थः । सद्धिकाधिकरणक पृथ्वीनिष्ठ यदासन तदनुकूलो यधिष्ठो ष्यापार स श्रीहरिर्मे गति । नीचद्योरिति । नीचद्योरष्यन्तावस्थायां विद्यमानो यः कर्ता तस्य ष्यन्ते. प्राप्तं यत्कर्मत्वं तच्चेत्यर्थः । नाययति भारं भृत्येन । अन्नं कर्तुः । भृत्योत्पस्य ष्यन्ते कर्मावामायेन कर्तारि भृतीद्यैवेति भावः । नियन्तृ । नियन्ता कर्ता यस्य स नियन्तृकर्तृक तस्य घट्टेरष्यन्तदनायां स्थितस्य कर्तुंष्यन्ते य कर्मावनिषेध 'नीचद्योर्न' इत्यनेन प्राप्तं स न स्यात्किन्तु ष्यन्ते कर्माव स्याद्वेत्यर्थः । बाहयतीति । बाहा रयं वहन्ति तान् स्त बाहयति । अत्राष्यन्ते बाहा कर्तारस्ते ष्यन्ते कर्माभूता । रयकर्मक बाहनिष्ठ यद्बहन तदनुकूलष्यापारवान्स्त इत्यर्थः । आदीनि । ष्यन्त कर्तुंष्यन्ते कर्माव नेत्यर्थः । तेन अट्टमेत्यत्र कर्तारि भृतीद्यैव न नु कर्मणि उच्यते । अट्टेति । प्रयोज्यकर्तुंष्यन्ते कर्म व अ. प. त. । तेन अट्टनात्र कर्तारि भृतीद्यैव यदा हिंसार्थं स्यात्तदा—उलीवर्दानत्र ष्यन्ते कर्माता गतत्वाद् द्वितीया युक्तैव । न गीति । एवमपि घातनामष्यन्ते विद्यमानस्य कर्तुंष्यन्ते कर्मावमुपसख्यानमित्यर्थः । नाययतीति । 'पुत्रो धर्मं मापते' अत्राष्यन्ते धर्मं पुत्र इति नश्य ष्यन्ते कर्मावरे देवदत्तरत्त आपयति इति प्रयोगः । धर्मकर्मक पुत्रनिष्ठो यो आपयष्यापारस्त्वपयोक्ता देवदत्त ।

नीचद्योर्न—'नी' धातु और 'वह' धातुकी अष्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ष्यन्तावस्थामें कर्मसङ्क नहीं हो । नियन्तृ—नियन्तृकर्तृकका निषेध नहीं हो । अर्थात्—नियन्तृ (सूत सा रथि) कर्तृक 'वह' धातुकी अष्यन्तावस्थाका जो कर्ता, वह ष्यन्तावस्थामें कर्मसङ्क होता ही है । आदिस्त्रायोर्न—(ष्यन्त) 'मादि' और 'खादि' धातुके प्रयोज्य कर्ता कर्मसङ्क नहीं हो । भक्षेरहिंसार्थस्य न—अहिंसार्थक 'भक्ष' धातुकी अष्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ष्यन्तावस्थामें कर्मसङ्क नहीं हो ।

जल्पतिप्रभृतीनामुपसंख्यानम्—जल्पादि धातुओंके अष्यन्तावस्थाका जो कर्ता वह ष्यन्तावस्थामें कर्मसङ्क हो । इदोष्—इतिनामान्यार्थक धातुका जो अष्यन्तावस्थाका कर्ता वह ष्यन्तावस्थामें कर्मसङ्क हो ।

दर्शयति हरिं भक्तान् ॥ (शब्दायतेर्न) । शब्दाययति देवदत्तेन ॥ हृकोरन्यतर-
स्याम् । १।४।५३। हृकोरणौ यः कर्ता स णौ वा कर्म स्यात् । हारयति 'कारयति' मृत्यं
मृत्येन वा कटम् । (अभिवादिदृशोरात्मनेपदे वेति वाच्यम्) । अभिवादयते
दर्शयते देवं भक्तं भक्तेन वा ॥ अधिशीङ्स्थासां कर्म । १।४।५६। अधिपूर्वाणा-
मेपामाधारः कर्म स्यात् । अधिशेते, अधितिष्ठति, अध्यास्ते वा वैकुण्ठं हरिः ॥
अभिनिविशश्च । १।४।४७। अभिनीत्येतरसद्घातपूर्वस्य विशतेराधारः कर्म स्यात् ।
अभिनिविशते सन्मार्गम् । कनिष्ठ-पापेऽभिनिवेशः ॥ उपान्वध्याङ्त्वसः । १।४।
४८। उपादिपूर्वस्य वसतेराधारः कर्म स्यात् । उपवसति, अनुवसति, अधिवसति,
आवसति ना वैकुण्ठं हरिः । (अभुक्त्यर्थस्य न) । वने उपवसति ।

उभसर्वतसोः कार्या, विगुपर्यादिषु त्रिषु ।

द्वितीयान्नेडितान्तेषु, ततोऽन्यत्रापि दृश्यते ॥

दृशेरिति । अस्यापि कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वमित्यर्थः । भक्ता हरिं पश्यन्ति तान् दर्शयति ।
इति ष्यन्तस्त्रियायां भक्तानां कर्मत्वमिति भावः । शब्दायतेरिति । कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वं
नेत्यर्थः । तेन देवदत्तेनेति कर्तरि वृत्तीया । हृकोरिति । वा कर्तुर्ण्यन्ते कर्मत्वम् । सति
कर्मत्वे मृत्यमिति कर्मणि द्वितीया कर्तरि तु वृत्तीयैव । अभिवादीति । धात्वनेपदेश-
नयोर्ण्यन्ते कर्तुः कर्मत्वमिति भावः । तेन भक्तेत्यस्य कर्मत्वपक्षे द्वितीया, सद्भावे
कर्तरि वृत्तीया । अधीति । 'आधारोऽधिकरणम्' इत्यत आचार इति । कर्मत्वे द्वितीया
अत एव वैकुण्ठमिति साधु । उभसर्वतसोरिति । तसन्तयोरुभसर्वयोः आकारयूठञोर्द्वि-

शब्दायतेर्न—(क्यच् प्रत्ययान्त) 'शब्दाय' धातुका जो अण्यन्तावस्थाका कर्ता वह
ण्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

हृकोरन्य—'हृ' धातु और 'कु' धातुके अण्यन्तावस्थाका कर्ता ष्यन्तावस्थामें कर्मसंज्ञक
हो, विकल्पसे ।

अभिवादि—भारतनेपदपरक अभि उपसर्गक ष्यन्त 'वादि' और 'दृश' धातुके
अण्यन्तावस्थाका कर्ता ष्यन्तावस्थामें विकल्पसे कर्मसंज्ञक हो-देना कहना चाहिये ।

अधिशीङ्—अधि पूर्वक 'शीङ्' धातु, 'स्था' धातु और 'भास्' धातुका जो आधार
वह कर्मसंज्ञक हो ।

अभिनिविशश्च—'अभिनि' एतत् संघात (सम्मिलित) पूर्वक जो 'निश्' धातुका
आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । उपान्वध्याङ्त्वसः—उप, अनु, अधि और आङ् पूर्वक 'वस्'
धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक हो । अभुक्त्यर्थस्य न—अभुक्त्यर्थक अर्थात् भोजन-
निवृत्त्यर्थक 'वस्' धातुका जो आधार, वह कर्मसंज्ञक नहीं हो ।

उभसर्वतसोः—तसु प्रत्ययान्त 'उभ' (य) शब्द और 'उभ' शब्दके प्रयोगमें तब ।

उभयतः कृष्णं गोपा । सर्वतः कृष्णम् । धिक्कृष्णामक्तम् । उपर्युपरि लोकं हरिः ।
अभ्यधिलोकम् । अधोऽधोलोकम् । (अभितः परितः समयानिकपाहाप्रतियोगेऽपि
अभितः कृष्णम् । परितः कृष्णम् । प्रामं समथा । निकषा लङ्गाम् । हा कृष्णमक्तम् ।
शते कृष्णम् । युभुक्षित न प्रतिभाति क्रियित् । अन्तराऽन्तरेण युक्ते । २।३।४।
द्वितीया । अन्तरा त्वां मां वा हरिः । अन्तरेण हरिं न सुखम् ॥ कर्मप्रवचनीया-
। १।४।८३। इत्यधिक्य ॥ अनुर्लक्षणे । १।४।८४। लक्षणे चोत्थे अनु कर्मप्रवच-
नीयसंज्ञं स्यात् । गत्युपसर्गसंज्ञापवादः । कर्मप्रवचनीययुक्ते द्वितीया । २।३।८।
अदमनु प्रावर्षत । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः ॥ तृतीयार्थे । १।४।८५।
अनुहकसंज्ञः । नदीमन्ववसिता सेना । नया सह संबद्धेत्यर्थः । हीने । १।४।८६।
अनुहकसंज्ञः । अनु हरिं सुरा, हरेर्हीना इत्यर्थः ॥ उपोऽधिके च । १।४।८७।
अधिके हीने च चोत्थे उपेत्यव्यय प्राग्वत् । अधिके सप्तमी वच्यते । हीने-उप हरिं

हीना कार्ये । धिगादिषु चोपनवेत्त्वपि तथा आग्नेद्वितान्नेषु द्वितीया कार्या । कृष्णमिति
द्वितीया । कृष्णामक्त्यद्विष्वपि द्वितीयामा साधुत्वमेवेति भावः । अभिन । पृषां
प्रयोगेऽपि द्वितीया स्यात् । तेन कृष्णादीनां द्वितीयान्तरत्वम् । अन्तरेति । आऽप्रां प्रयोगे
द्वितीया स्यात् । त्वां मानादिषु द्वितीया । कर्मप्रवचनीया इति । अधिकारोऽयम् ।
अनुरिति । कर्मप्रवचनीयत्वानुपपत्तेः । गत्याहीनाप्रवाद् । कर्मेति । द्वितीयां विधत्ते ।
व्यवदु । अनोऽधिके कर्मप्रवचनीयार्थे 'कर्मप्रवचनीययुक्ते' इति द्वितीयामा प्रयोग
सिद्धिः । हेतुभूतजपोपलक्षितं वर्षणमित्यर्थः । तृतीयार्थे इति । अनोः कर्मप्रवचनी-
यत्वया, तथा सति द्वितीया । नदीमन्ववसिता इत्ययं तृतीयैर्यथा । हीन इति । हीनार्थं
गत्येऽनोः कर्मप्रवचनीयार्थं स्यात्तस्माद् द्वितीया चेत्यर्थः । अनुहरिभिति । हरिमित्यत्र
द्वितीया । उपोऽधिक इति । अकाराद्धीनेऽपि अत आह-अधिके हीने चेति । उपहरिम् । अत्र
हीनार्थं कर्मप्रवचनीयार्थे द्वितीया । लक्षण इति । गत्यादीनां लक्षणादिषु कर्मप्रवच-

'धिक' शब्दके योग और आग्नेद्वित (द्विक = द्विवचन) के योगमें द्वितीया करनी चाहिये ।
इससे श-यत्र भी प्रयोगके अनुसार कर्षां देखी जाती है (जैसे—अभित, परित ० इत्यादि)
अभित परित—भामिद, परित, पदया, निकषा, हा और प्रति शब्दोंके योगमें
यो द्वितीया हो ।

अन्तरा—अन्तरा और अन्तरेण शब्दके योगमें द्वितीया हो । कर्मप्रवचनीया—एह
अधिकार सूत्र है । अनुर्लक्षणे—'कृष्णा' चोत्थ हो तो 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।
कर्मप्रवचनीययोगे—कर्मप्रवचनीयके योगमें द्वितीया हो । तृतीयार्थे—तृतीयार्थमें 'अनु'
की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो । हीने—हीन अर्थ चोत्थ होवेपर 'अनु' की कर्मप्रवचनीयसंज्ञा हो ।
उपोऽधिके च—अधिक अर्थ चोत्थ होनेपर 'उप' इति शब्दवशी कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

सुराः ॥ लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्तासु प्रतिपर्यनवः । १ । ४ । २० ।
 उक्तसंज्ञाः स्युः । लक्षणे-वृक्षं प्रति पर्यनु वा विद्योतते विद्युत् । इत्यंभूताख्याने-
 भक्तो विष्णुं प्रति पर्यनु वा । भागे-लक्ष्मीर्हरिं ऽति पर्यनु वा, हरेर्भाग इत्यर्थः ।
 वीष्मायाम्-वृक्षं वृक्षं प्रति पर्यनु वा सिद्धति । एषु किम् परिदिशति ॥ अभिर-
 भागे । १ । ४ । २१ । खागवर्जं लक्षणादावभिरुक्तसंज्ञः स्यात् । हरिमभि वर्तते । भक्तो
 हरिमभि । देवं देवमभिसिद्धति । अभागे किम् ? यदत्र ममाभिप्यातदीयताम् ॥
 सुः पूजायाम् । १ । ४ । २४ । सुपिद्धतम् । सुस्तुतम् । अनुपसर्गत्वात् षः । पूजायां
 किम् ? सुपिद्धतं किं तवात्र । ज्ञेपोऽयम् ॥ अतिरतिक्रमणे च । १ । ४ । २५ । चात्पू-
 जायामतिरुक्तसंज्ञः । अति देवान्कृष्णः ॥ कालाध्वनोरत्यन्तसंयोगे । २ । ३ । ५ ।
 इह द्वितीया स्यात् । मासं कल्याणो । मासमधीते । मासं गुहधानाः । क्रोशं कुटिला
 नदी । क्रोशमधीते । क्रोशं गिरिः । अन्यन्तसंयोगे किम् ? मासस्य द्विरधीते । क्रोश-
 स्यैकदेशे पर्यतः । स्वतन्त्रः कर्ता । १ । ४ । ५४ । इति कर्तृसंज्ञा ॥ साधकतमं

नीवत्वं स्यादित्यर्थः । वृक्ष प्रति । भक्तो विष्णुम् । लक्ष्मीर्हरिं । वृक्षं वृक्षम् । अत्र क्रमशः
 लक्षणेत्थंभूताख्यानभागवीप्तासु गम्यमानासु प्रत्ययादीनां योगे वृक्षादीनां कर्मप्रवचनीयत्वे
 द्वितीयेत्यर्थः । अभिरिति । 'लक्षणे' इति सूत्रं भागवजंमनुवर्तते । तदेव स्मारयति—
 हरिमभि । भक्तो हरिं, देवं देवम् । अत्र क्रमशः लक्षणेत्थम्भूताख्यानवीप्तासु अमेः कर्मप्र-
 वचनीयत्वे तद्युक्तानां ह्यादीनां द्वितीयेत्यर्थः । सुः पूजायामिति । कर्मप्रवचनीयसंज्ञः
 स्यात् । सुपिद्धतम् । सुस्तुतम् । अनयोः सुधावदस्य पूजायां कर्मप्रवचनीयत्वाद् द्वितीया ।
 अतिरिति । चात्पूजायामपि । अतिक्रमणार्थं पूजायां चातिः कर्मप्रवचनीयसंज्ञकः ।
 अतिदेवानिति । अतेश्च योगे कर्मप्रवचनीययुक्त्वाद् द्वितीया । कालाध्वनोरिति । अत्यन्त-
 संयोगः—निरन्तरसंयोगः । द्वितीया स्यादित्यर्थः । तेन मासादिषु सर्वेषु द्वितीया
 सिद्धा । कालाध्वनोरगम्यमानत्वात् । अत्यन्तसंयोगाभावे एकदेशार्थे द्विरादिषु चोप-

लक्षणेत्थं—लक्षणादि अर्थोमे प्रति, परि और 'अनु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अभिरभागे—भागवर्जं लक्षणादि अर्थोमे 'अभि'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

सुः पूजायाम्—पूजा अर्थमे 'सु' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

अतिरिति—अतिक्रमण और पूजा अर्थमे 'अति'की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

कालाध्वनो—कालवाचक और अध्ववाचकके अत्यन्त संयोगमे द्वितीया हो ।

नोटः—'कर्तृत्वाच्चसंयोगे तु द्वितीया कर्तृकारके ।

धिकप्रतीत्यादिभिर्योगे क्रियायाश्च विशेषणे ॥

ऋतेषिनादिभिस्त्वैव द्वितीया समता भवा ।'

स्वतन्त्रः कर्ता—क्रियामें स्वातन्त्र्येण विवक्षित को अर्थ वह कर्तृसंज्ञक हो ।

साधकत्वम्—क्रिया ही सिद्धिमें जो अत्यन्त उपकारक हो, वह कर्तृसंज्ञक हो ।

करणम् ।१।४।४२। क्रियासिद्धौ प्रकृत्योपकारकं करणसङ्गं स्मात् ॥ कर्तृकरण
योस्तृतीया ।२।३।१८। अनभिहिते कर्तरि करणे च तृतीया स्यात् । रामेण
बाणेन हतो बाली ॥ (प्रकृत्याविभ्य उपसंख्यानम्) । प्रकृत्या चारु ।
प्रायेण याज्ञिकः । गोत्रेण गार्ग्यं । समेनैति । विषमेणैति । द्विद्वीणेन धान्य
क्रीणाति । पञ्चकेन पशून्गृह्णाति । सुखेन दुःखेन वा यातीत्यादि ॥ द्विः कर्म
घ ।१।४।४३। दिव साघकृतमं कर्मसंज्ञं स्याच्चात्करणसङ्गं च । अक्षैरक्षान्वा
दीभ्यति ॥ सहयुक्तेऽप्रधाने ।२।३।१९। सहाय्येन युक्तेऽप्रधाने तृतीया । पुत्रेण
सहागतं पिता । एवं साकृशार्धसमयोगेऽपि । विनापि तद्योगे तृतीया । शूदो
यूनेति निर्देशात् ॥ येनाङ्गधिकारः ।२।३।२०। येनाङ्गेन विकृतेनाङ्गिनो विकारो
कथ्यते ततस्तृतीया । अक्षणा काणः, अक्षिसंबन्धिकाणत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥
अपवर्गे तृतीया ।२।३।६। अपवर्गं फलप्राप्तिः, तस्यां योस्यायां कालाध्वनोरत्य-
न्तसंबोगे तृतीया स्यात् । अहा क्रोधेन बाधुवाक्रोऽर्थात् । अपवर्गे किम् ? मासः

पदेऽव द्वितीयेति स्पष्टमेव । प्रकृत्याविभ्य इति । तृतीया वाच्येति भावः । प्रकृत्या
चारु । प्रकृत्याविभ्यः तृतीया । एव प्रायेण-गोत्रेण-समेन-विषमेण-द्विद्वीणेन-पञ्चकेन
सुखेन-दुःखेन इत्यादि प्रकृत्याविगणेष्वस्तृतीयेति बोध्यम् । दिव इति । चकारा-
त्कारकमित्यदयेवम् । अक्षैरक्षान् । कर्मसंज्ञायां द्वितीया, करणत्वे तृतीयेति भावः ।
सद्येति । सहाय्येन सहाय्यं विवक्षा व्याख्यानानात् । पुत्रेणेत्यत्र सहायोगात्तृतीया ।
एवं समादिषु । सहाय्यानामयोगेऽपि तृतीया । प्रमाणवति-शूदो यूनेति । येनेति ।
येन विकारयुक्तेनापवर्गेन विकारो गम्यते । सहाचकपदात्तृतीयेति भावः । अक्षणा
काणः । अत्र विकृतमङ्ग 'अक्षि' तेनैवाङ्गेन काणत्व व्याप्येऽतोऽचिह्नम् । तृतीयेति
भावः । अपवर्गं इति । 'कालाध्वनोः' इत्यनुवर्तते । फलप्राप्तिसंज्ञायां तृतीयेत्यर्थात् ।
अहा-क्रोधेन । अहम् क्रोधायोः कालाध्वनाच्चक्रयोस्तृतीया । अत्र फलप्राप्तिरभ्यधत्-

कर्तृकरणयोः—अनुक्त कर्ता नीर करणमें तृतीया हो ।

प्रकृत्याविभ्यः—प्रकृत्यादिसे तृतीया हो ।

दिवः कर्म च—'दिव' का जो साघकृतम कारक वर कर्मसंज्ञक हो नीर (चकारात्)
करणसंज्ञक भी हो । सहयुक्ते—सहाय्यकसे युक्त अप्रधानमें तृतीया हो ।

येनाङ्गधिकार — जिस अङ्गके विकृत होने पर अङ्गीका विकार कक्षित हो उस अङ्गसे
तृतीया हो । अपवर्गे—फलकी प्राप्ति बोध हो तो कालाध्वनक नीर अपवर्गकसे
तृतीया हो ।

मधीतो नायातः ॥ हेतौ ।२।३ २३। तृतीया । दण्डेन घटः ॥ इत्यभूतलक्षणो ।
 ।२।३।२१। तृतीया । जटाभिस्तापसः, जटाशाप्यनापसत्वविशिष्ट इत्यर्थः ॥
 संज्ञोऽन्यतरस्यां कर्मणि ।२.३।२२। संपूर्वस्य जानातेः कर्मणि तृतीया । पित्रा
 पितरं वा संजानीते ॥ कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानम् ।१।४।३२। दानस्य
 कर्मणा यमभिप्रैति स संप्रदानसंज्ञः ॥ चतुर्थी संप्रदाने ।२।३।१३। अनुक्ते ।
 विप्राय गां ददाति । (क्रियया यमभिप्रैति स संप्रदानम्) पर्ये शेते । परिक्रयणे
 संप्रदानमन्यतरस्याम् ।१।४ ४४। नियतकालं श्रुत्या स्वीकरणं परिक्रयणं

लामरूपा । हेताविति । हेत्वर्थे तृतीया स्यात् । दण्डेन घटः । दण्डलक्षणात् वृत्ती-
 येति गम्यते । इत्यमिति । इत्थंभूतमेतत्प्रकारकं लक्षणं विद्धं तस्मिन्निषये तृतीये-
 स्थर्थः । जटाभिरिति । तापसस्वानुमाने जटैति लिङ्गमिति तस्मात्तृतीया । अनुमान-
 स्वरूपं तु—अयं तापसः, जटानां सत्वात् । संज्ञ इति । तृतीयेति लभ्यते । पित्रा पितरं
 वेति । पितृशब्दात् कर्मभूतात् पाञ्चिकया तृतीयायां तदभावे च द्वितीयायामुभयस्वरूप-
 सिद्धिः । परिक्रयण इति । परिक्रयणं व्याचष्टे—नियतकालं श्रुत्या स्वीकरणमिति । साध-

हेतौ—हेत्वर्थमे (हेत्वर्थवाचकते) तृतीयां हो ।

नोटः—यहां 'हेतु' परसे फल का भी ग्रहण होता है । अतः 'अध्ययनेन वसति'
 यहां पर वासरूप फल अध्ययनमें होनेसे तृतीया होती है । 'दण्डेन घटः' यहां पर करणमें
 तृतीया इसलिये नहीं होती कि 'हेतु' और 'करण' के लक्षणोंमें किञ्चित् वैषम्य है । तथाहि—
 'द्रव्य-गुण-क्रियात्मककार्यत्रयनिरूपित निर्घ्यापार-सव्यापारवृत्ति च यत् तद्वेतुत्वम्'
 और 'क्रियाजनकमात्रवृत्तिव्यापारवद्वृत्ति च यत् तत् 'करणत्वम्' । 'दण्डेन घटः'
 यहां पर जो दण्डरूप हेतु है उसमें व्यापार तो है पर क्रियाजनकरवका अभाव है । अतः वह
 करण नहीं हुआ । एवं 'पुण्येन दृष्टो हरिः' यहां पर जो पुण्यरूप हेतु है, उसमें हरिदर्शनजनक-
 त्वरूप क्रियाजनकता है, परन्तु वह व्यापारवान् नहीं है । अतः वह भी करण नहीं हो सका ।

इत्थंभूतलक्षणे—जिस लक्षण (शापक) से किसी विशेष रूपको प्राप्त हो जाय, उस
 लक्षणसे तृतीया हो ।

संज्ञोऽन्यतरस्यां—'सम्' पूर्वक 'शा' धातुके कर्मसे तृतीया हो, विकल्पसे ।

नोटः—'तृतीया करणे चैव कर्मवाच्यस्य कर्तरि । सहायैश्च तथा हेतौ प्रकृत्यादिभ्य
 दुष च । ऊनाथैर्दारणार्थैश्च सहसार्थैस्तथैव च । अङ्गिनो विकृतिर्येन तृतीया स्यात्तदङ्गतः ॥'
 कर्मणा—दानके कर्मसे जिसको सम्बन्धित करना इष्ट हो, वह सम्प्रदानसंबन्ध
 होता है । चतुर्थी—अनुक्त संप्रदानमें चतुर्थी हो । क्लिबवा—क्रियाके साथ विलको सम्बन्ध
 करना इष्ट हो, वर भी सम्प्रदानसंबन्ध होता है । परिक्रयणे—परिक्रयणमें सापकतम से
 कारक वह सम्प्रदानसंबन्ध हो ।

तस्मिन्साधकतमं कारकं संप्रदान वा । शतेन शताय वा परिकीर्त ॥ (तादर्थ्यं चतुर्थी याच्या) मुक्तये हरि भजति ॥ (उत्पातेन द्वापिते च) । वाताय कविला विद्युत् ॥ नम-स्वस्तिम्याहास्वधाऽलंबपद्योशाद्य । २ । ३ । १६ । एमियोगे चतुर्थी स्वात् । हरये नम । प्रणम्य-स्वस्ति । अग्रये स्वाहा । पितृभ्य स्वधा । अन्नमिति पर्याप्त्यर्थप्रहणम् । तेन दैत्येभ्यो हरिरल, प्रभु, समर्थ, शक इत्यादि ॥ भ्रुवमपायेऽपादानम् । १।४।२४। अपायो विश्लेष, तरिमन् साध्ये भ्रुवमपिभूतमपादानम् । अपादाने पञ्चमी । २।३।२८। प्रामादायाति । आवतो-ऽश्वात्पतति इत्यादि ॥ जनिकर्तुं प्रकृति । १।४।३०। जायमानस्य हेतुरपादान

कतमस्य कारकस्य संप्रदानस्य वेत्पर्यं । तृतीयाय चतुर्थी वा । शतेन शतायेति । वातशब्दस्य साधकतमत्वेन तृतीयायां प्राप्तायां 'परिक्रमणे' इति संप्रदानस्य चतुर्थी इति भावः । तादर्थ्ये इति । तस्य घातोर्थोऽर्थस्तस्य भावस्तस्मिन्नित्यर्थः । मुक्तये इति । मुच्छु भोषणे इति घातोर्थो दुःखोच्छेदरूपोऽर्थस्तत्र विषये चतुर्थी । मुक्तये-दुःखोच्छेदायेति भावः । उत्पातेन । आधिदैविकममङ्गलमुपात, सम्प्रापका द्वातादिशब्दापृतीयेत्यर्थः । अत आह—वाताय कविला विद्युदिति भावः । भ्रुवमपाये । भ्रुवतिर्यथैवो । अस्मात्पचापधि, कुटादिशब्दाङ्गिरे, उदङ् । भ्रुवस्यैवं इति केचित् । तत्रेगुपधेति कः । भ्रुव स्थिरम् । अपायशब्देन विदधितमाह—विश्लेष इति । एव च प्रकृतधारवर्धनाश्रयस्ये सति तज्जन्मविभागान्त्रयो भ्रुवमिति कलितम् । जनिकर्तुरिति । 'भ्रुवमपायेऽपादानम्' इत्यतोऽपादानमिति । तद्वग- प्रज प्रजायते । जायमाना प्रजा सायां हेतुप्रह्ला तस्यापादानस्ये पञ्चमी । स्वभ्योप इति । पचमी

तादर्थ्यं चतुर्थी—तादर्थ्यं (वस्तुके क्रिये) अर्थमें चतुर्थी हो ।

उत्पातेन—उत्पातने जो सूचित किया जाय, उसमें चतुर्थी हो ।

नम स्वस्ति—नम स्वस्ति आदिके योगमें चतुर्थी हो ।

उपपद्विमक्ते—उपपद्विमक्तिते कारक विमक्ति-बहुवती होती है ।

नोट :—'उदमाश्रित्योत्पन्ना या विमक्ति सा उपपद्विमक्ति' 'क्रियामाश्रित्योत्पन्ना या विमक्ति सा कारकविमक्ति' ।

अन्नमिति—'नम स्वस्ति' सूत्रमें पर्याप्त्यर्थक अर्थात् शक्ति सामर्थ्यवाची 'अन्नम्' शब्दका प्रहण है ।

नोट :—संप्रदाने चतुर्थी इत्यात् तादर्थ्यं च क्रियायुक्ते ।

इत्यर्थानां प्रीयमाणे नमोयोगे च सा भवत् ॥'

भ्रुवमपुले—अपाय (विश्लेष = विघ्न) में जो अश्विभूत (शिवर) रहे, उसकी अपा-दानसहा हो । अपादाने पञ्चमी—अपादानमें पञ्चमी हो । जनिकर्तुं—जायमानका हेतु

स्यात् । ब्रह्मणः प्रजाः प्रजायन्ते ॥ (स्वबलोपे कर्मण्यधिकरणे च) ।
 प्रासादात्प्रेक्षते । धासनात्प्रेक्षते । प्रासादमाह्य, धासने उपविश्य प्रेक्षत इत्यर्थः ।
 विभाषा गुणेऽस्त्रियाम् । २।३।२५। गुणे हेतावलीलिङ्गे पञ्चमी वा स्यात् ।
 जाड्यात् जाड्येन वा बद्धः । गुणे किम् ? धनेन ? कुलम् । अस्त्रियां किम् ? बुद्ध्या
 मुक्तः । विभाषेति योगविभाषाद्गुणे स्त्रियां च क्वचित्, धूमादग्निमान् ।
 नास्ति घटोऽनुपलब्धेः ॥ पृथग्विनानानाभिस्तृतीयाऽन्यतरस्याम् । २।३।३२।
 एभ्योऽङि तृतीया स्यात् । पञ्चमीद्वितीये च । पृथग् रामेण रामाद् रामं वा । एवं
 विना, नाना ॥ अन्यारादितरतीदिक्शब्दाञ्चूर्णरपदाजाहियुक्ते । २।३।२५।
 अन्य इत्यर्थप्रहणम् । इतरग्रहणं प्रत्ययार्थम् । अन्यो भिन्न इतरे वा कृष्णात् ।
 आराद् वनात् । ऋते कृष्णात् । पूर्वो प्रामात् । दिवि दृष्टः शब्दो दिक्शब्दः ।
 तेन सम्प्रति देशकालवृत्तिना यागेऽपि भवति । चैत्रात्पूर्वः फाल्गुनः । प्राक् प्रत्यग्वा
 प्रामात् । आच् । दक्षिणा प्रामात् । आहि, दक्षिणाहि प्रामात् ॥ अपपरी वर्जने
 । १।४।८८। एती वर्जनार्थं कर्मप्रवचनीयसंज्ञौ स्तः ॥ आङ् मर्यादावचने । १।४।

स्यात् । प्रासादात्-धासनात्-इति कर्ताधिकरणयोः पञ्चमीति भावः । विभाषेति ।
 पञ्चमी इत्यर्थः । तदभावे तृतीया । जाड्यात् जाड्येन वा । अत्र चैमापिपञ्चमीत्ये
 उभयरूपसिद्धिः । अत्र 'विभाषा' इति योगो विमज्यते तेनागुणेऽपि क्वचित् ।
 धूमादग्निमानित्यादीं प्रयोगोपलब्धेः । पृथगिति । तृतीया विधीयते पञ्चमीद्वितीये
 लभ्येते । तेन शब्दाद्वाह्मिच्छिन्नचम् । अन्येति । पृथां योगे पञ्चमी स्यात् । उदा-
 हरति-अन्यः कृष्णात्-आराहृतात्-ऋते कृष्णात्-पूर्वो प्रामात्-इत्यादिषु पञ्चम्याः
 साधुःश्रमेव । दिक्शब्दं व्याचष्टे-दिवि दृष्टः शब्दः दिक्शब्दः तेन देशकालयोर्चापौर्वा-
 पर्यमित्यादि तत्रापि पञ्चम्येदेति भावः । उदाहरति-चैत्रात्-प्रामादिति । आचमुदाह-
 रति-दक्षिणा प्रामात्, आहि दक्षिणाहि । अत्रापि ग्रामशब्दात् पञ्चमी । जपेति । कर्मप्रव-
 चनीया' इत्यधिकारस्यात्वादनयोः कर्मप्रवचनीयत्वम् । आङ् इति । अत्रमपि मर्यादायां
 कर्मप्रवचनीयसंज्ञाकर्मप्रवचनीयत्वे द्वितीया प्रासा तस्या बाधनाय पञ्चमी विपत्ते । पञ्चम्य-

मर्यादान संज्ञक हो । स्वबलोपे—'स्वप्' के लोपमें स्वबन्तार्थके प्रति कर्म या अधिकरणमें
 पञ्चमी हो । विभाषा-हेतु और शक्तीलिङ्ग जो गुणसंज्ञक शब्द, उससे पञ्चमी हो, विकल्पसे
 पृथग्विना—'पृथक्', विना और नानाके योगमें तृतीया तथा पञ्चमी और द्वितीया भी हो ।
 अन्यारादित—अन्य (अन्यार्थक शब्द), आरात्, इतर, ऋते, दिक्शब्द, अञ्चूरपद.
 आच् और आहिके योगमें पञ्चमी हो । अपपरी वर्जने—वर्जन अर्थमें अप और परिकी
 कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो । आङ् मर्यादा—मर्यादा और अभिविधि अर्थमें आङ्को कर्मप्रवच-

८९। आङ् मयादायामुक्तमङ् । वचनप्रद्वणादभिविधावपि ॥ पञ्चम्यपाङ्प-
रिमिः । २।३।१०। एतौ कर्मप्रवचनीयैर्योगे पञ्चमी । अप हरे, परि हरे संसार ।
परिरत्र वर्जने साहचर्यात् । लक्षणादौ तु-हरि परि । आ मुक्ते संसार । आ मक-
लाद् ब्रह्म ॥ प्रति. प्रतिनिधिप्रतिदानयोः १।५।९२। एतयोरर्थयो प्रतिपत्कर्मङ्
स्यात् ॥ प्रतिनिधिप्रतिदाने च यस्मात् । २।३।११। अत्र कर्मप्रवचनीयैर्योगे
पञ्चमी । प्रद्युम्न कृष्णात् प्रति । तिलेभ्यः प्रतियच्छति मायान् ॥ षष्ठी शेषे । २।३।
५०। कारकप्रातिपदिकार्थव्यतिरिक्त स्वस्वामिमावादिशेष, तत्र षष्ठी । राह पुङ्गव ।
कर्मादीनामपि सम्बन्धमात्रविवक्षायां षष्ठ्येव । सतां गतम् । सर्पियो जानीते ।
मातु स्मरति । एधो दकस्योपस्कुरुते । भजे शम्भोश्चरणयो । फलाना तुम् ॥ कर्तृ-
कर्मणोः कृति । २।३।६५। कृयोगे कर्तरि कर्मणि च षष्ठी । कृष्णस्य कृति । जगत-
कर्ता कृष्ण । गुणकर्मणि वेद्यते । नेताऽश्वस्य सृष्ण सृष्णस्य वा । कृति ष्मि ? तद्विते

पाकिति । एषां योगे पञ्चमी स्यात् । कर्मप्रवचनीयत्वेन अपहरेः परिहरे आमुक्ते इत्यादौ
पञ्चमीति ज्ञेयम् । प्रतिरिति । अनयोरर्थयो प्रते कर्मप्रवचनीयत्वं चास्वम् । प्रतिनिधि ।
पञ्चमी विधीयते । प्रद्युम्न कृष्णात्प्रति-तिलेभ्य इति । प्रतिनिधिप्रतिदानयोरर्थे पञ्चमीति
भाषाः । एधोदकस्योपस्कुरुते । एष = काष्ठ, दकस्य = उदकस्य उपस्कुरुते=गुणमाधत्ते
इति तदर्थं । एषशब्द अकारान्तः पुंल्लिङ्ग, 'कारके' इति सूत्रे 'एषा. पश्यन्ते' इति
आश्चर्यबोधात् । सान्त क्लीबोऽपि । गुणकर्मणि तु वेद्यते । नेताऽश्वस्येयत्र वा षष्ठी ।
उभयेति । 'कृति' इत्यनुकृत्यते उभयप्राप्ताविति तद्विशेषण अत स्मारयति—उभयोः

नीय सहा हो । पञ्चम्यपाङ्—कर्मप्रवचनीय सहाक अप्, आङ् और परिके योगमें पञ्चमी हो ।

प्रति-प्रतिनिधि—प्रतिनिधि और प्रतिदान अर्थमें प्रतिकी कर्मप्रवचनीय सहा हो ।

प्रतिनिधि—मिसका प्रतिनिधि हो तथा मिसका प्रतिदान हो उसने पञ्चमी हो, कर्म
प्रवचनीयसहाक (प्रति) के योगमें ।

नोट —'अपादाने ह्यर्थे च योगे पूर्वादिभिरतथा । उरुर्षे पञ्चमी ज्ञेया हेत्वर्थे
तु विभाषया ॥ ऋते विनादिभिर्योगे पञ्चमी च स्मृता बुधे ।'

षष्ठी शेषे—कारक और प्रातिपदिकार्थे मिस स्वस्वामिमावादि (ज-वचनकमावादि)
सम्बन्ध 'शेष' कहाता है, उस शेषमें षष्ठी हो ।

कर्तृकर्मणोः—'कृत्' के योगमें कर्ता और कर्ममें षष्ठी हो ।

गुणकर्मणि—गौण कर्ममें विकल्पसे षष्ठी हो ।

नोटः—'अकथित च' इस सूत्रसे मिसकी कर्मसहा होती है वह गौण कर्म कहाता है
(पृष्ठ ५२९ देखो)

मा भूत् । कृतपूर्वी कटम् । उभयप्राप्तौ कर्मणि । २।३।६६। उभयोः प्राप्त्यस्मि-
 न्कृति तत्र कर्मण्येव षष्ठी । आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपन ॥ कृत्यानां कर्तरि
 वा । २।३।७१। षष्ठी । मया मम वा सेव्यो हरिः ॥ क्तस्य च वर्तमाने । २।३।
 ६७। वर्तमानार्थस्य क्तस्य योगे षष्ठी । 'न लोके'ति वक्ष्यमाणनिषेधस्यापवादः । राज्ञां
 मतः बुद्धः पूजितो वा ॥ अधिकरणवाचिनश्च । २।३।६८। क्तस्य प्रयोगे षष्ठी ।
 न । लादेशः । कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । उः हरिं दिदृक्षुः, अलङ्करीष्णुर्वा ।
 उक्त-दैत्यान् घातुको हरिः (कमेरनिषेधः) लक्ष्म्याः कामुको हरिः । अभ्ययम्-
 जगत्सृष्ट्वा । निष्ठा-दैत्यान् हतवान् विष्णुः । विष्णुना हता दैत्याः । स्वलर्था-ईषत्करः

प्राप्त्यस्मिन् कृतीति । तत्र कर्मण्येव षष्ठी, न तु कर्तरि । आश्वर्यो गवां दोहः । अत्र
 कर्मभूतस्य गोपदस्यैव षष्ठीविभक्त्यन्तत्वम् । कृत्यानामिति । कर्तरि वा षष्ठीत्यर्थः ।
 तदभावे तृतीयैव । 'मया मम वा सेव्यो हरिः' अत्र प्रथमप्रययान्तेन कृद्न्तेन योगात्
 अहं कर्तृवाचकस्य पाश्चिमी षष्ठी तदभावे तृतीया । क्तस्येति । वर्तमानार्थं विहितस्य
 क्तप्रत्ययान्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । 'राज्ञां मतो बुद्धः पूजितो वा' अत्र वर्तमाने विहितस्य
 क्तान्तस्य 'मतः-बुद्धः-पूजितः' इत्यादीनां योगे राज्ञामिति षष्ठी । अधिकरणेति । अधि-
 करणार्थं विहितस्य क्तस्य योगे षष्ठी स्यात् । हृदमेषाम् आसितम्, शायितं वा, अत्रासित-
 शयितादीनां क्तान्तानाम् अधिकरणवाचित्वात् तेषां योगे एषामिति षष्ठीपदमिति
 भावः । न लोकेति । ल-उ-उक्त-अभ्यय-निष्ठा-स्वलर्था-तृन्-पूर्वा-योगे षष्ठी नेत्यर्थः ।
 शत्रुशानचाबुद्धाहरति—कुर्वन्-कुर्वाणो वा सृष्टिं हरिः । अनयोर्योगे हरिरिति
 प्रथमैव नापि कर्मणि षष्ठी सृष्टिमिति द्वितीयान्तस्य युक्तत्वात् । उः । लनाशंस
 इत्यादिना विहित उप्रथयः । हरिं दिदृक्षुः । अत्रापि न कर्मणि नापि कर्तरि षष्ठी । उक्त-
 दैत्यान् घातुकः अत्रापि न षष्ठी इति भावः । कमेरनिषेधः । कमेर्योगे प्राप्तः षष्ठीनिषेधो
 नेत्यर्थः । तेन लक्ष्म्याः कामुकः अत्र षष्ठी भवत्येव चार्तिकबलात् । जगत्सृष्ट्वा ।
 अत्र इत्वाप्रथयस्य 'तसिलादिषु' इति अभ्ययत्वात् षष्ठीप्रतिषेधात् । निष्ठा-दैत्या-
 न् हतवान् विष्णुः, विष्णुना हता दैत्याः । अत्र न षष्ठी, निष्ठासंज्ञत्वेन सूत्रनिषेधात् ।

उभयप्राप्तौ—जिस 'कृत्' के योगमें जहाँ कर्ता और कर्म दोनोंमें एक साथ षष्ठी प्राप्त
 हो, वहाँ कर्ममें ही षष्ठी हो ।

कृत्यानां—क्तस्य प्रथयके योगमें कर्तामें विकल्पसे षष्ठी हो । क्तस्य च वर्तमाने-वर्त-
 मानार्थक 'क्त' के योगमें षष्ठी हो । अङ्घ्रिहरण—अधिकरणवाचो 'क' के योगमें षष्ठी हो ।
 न लोका—लादेश, उ, उक्त, अभ्यय, निष्ठा, स्वलर्थ और तृन् के योगमें षष्ठी नहीं हो ।
 कमेरनिषेधः—कमु पातुके योगमें षष्ठीका निषेध नहीं हो ।

प्रपञ्चो हरिणा । तृषिति प्रत्याहार । शत्रुशान्त्वाविति तृशब्दादारभ्य आ तृनो नकारात् । शानन्-सोमं पवमान । चानश्-आत्मानं मण्डयमानः । शत्रु-वेदमधी-यन् । तृन्-कर्ता लोकात् । (द्विष. ऋतुर्वा) मुरस्य मुरः वा द्विषन् । (सर्वोऽयं कारकपट्टयाः प्रतिषेधः) । शेषे पष्ठी तु स्यादेशः । ब्राह्मणस्य कुर्वन् । नरदस्य जिष्णु । अकेनोर्भविष्यदाद्यमर्ष्ययो । २।३।७०। भविष्यत्यकस्य भविष्यदाद्यम-र्ष्यार्थेनय योगे पष्ठी न । सतः पालकोऽधतरति । वज्र गामी । शत दायी । (निमि-त्तपर्यायप्रयोगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायदर्शनम्) किं निमित्तं वसति । ३ निमित्तेन । कर्म निमित्तायेत्यादि । एवं-किं कारणं, को हेतुः, किं प्रयोजनमित्यादि प्रायप्रहणादसर्वनाम्न प्रथमाद्वितीयेनस्त । ज्ञानेन निमित्तेन हरिः सेव्य । ज्ञानाय निमि-त्तायेत्यादि ॥ पट्टयत्सर्षप्रत्ययेन । २।३।३०। ग्रामस्य दक्षिणत, पुर, पुरस्तात्, उपरि, उपरिष्ठान् ॥ एनपा द्वितीया । २।३।३१। एनपेति योगविभागात्पृथपि ।

खल्यं-ईशकर. प्रपञ्चो हरिणा । अथ 'ईषद्बु सुषु' इत्यादिना खल्यप्रत्ययस्य विहित-त्वेन पट्टया निषेधः । 'तृन्' इति प्रत्याहारामक रूप तदेष परिरक्षोरपति-शानन्-सोम पवमान-चानश्-आत्मानं मण्डयमान, शत्रु-वेदमधीयन्, तृन्-कर्ता लोकात् इत्यादीनां योगे न पष्ठीति भावः । द्विष इति । ऋतुर्वागे वा पष्ठीति भावः । मुरस्य मुर वा द्विषन्, अथ कर्मणि वा पष्ठीति भावः । अकेनोरिति । भविष्यत्पकस्य भविष्यदाद्यमर्ष्यार्थेनय योगे पष्ठी न भवति । सतः पालकोऽधतरति-वज्र गामी-शत दायी-पुषु सन्धतयोद्वितीयन्तस्त्वमेव न तु पट्टयत्सर्षमिति भावः । निमित्तेति । निमित्तपटापहानां पदानां योगे सर्वासां विभक्तीनां प्रायेण दर्शनं भवति इति भावः । किं निमित्तम्, केन निमित्तेन, कर्म निमित्ताय, कर्मात् निमित्तात्, कस्य निमित्तस्य, कस्मिन् निमित्ते, इति प्रथमादि सप्तम्यन्तानां विभक्तीनां प्रायः प्रयोगोपलब्धिः । पट्टयत्सर्षेति । अतसन्तानां योगे पष्ठी स्यात् । ग्रामस्य दक्षिणत, अत्र ग्रामपदात्पष्ठी । एव तन्निष्ठानां योगेऽपि पष्ठी । एनपेति ।

द्विष-ऋतुर्वा—'द्विष' भासते विहित 'ऋतु' प्रत्ययके योगे पष्ठीका निषेध विकल्पते हो । अकेनो—भविष्यत् अर्थक 'अक' और भविष्यत् नापमर्ष्यार्थक 'इन्' के योगमें पष्ठी नहीं हो । निमित्तपर्याय—निमित्त पर्यायके प्रयोगमें प्रायः सभी विभक्तियां देखी जाती हैं । पट्टयत्सर्षप्रत्ययेन—'अनसर्ष' प्रत्ययके योगमें पष्ठी हो । गोशः—द्विषदेशकालरूप अर्थ है निमित्तका, ऐसा जो प्रत्यय, वह 'अनसर्ष प्रत्यय' कहा जा है । वे नरपति प्रपृति पौष प्रत्यय हैं ।

(दिष्णुत्वैव्य' इत्यादि सून 'प्रागिरीष प्रकरण' में देखो)

एनपा द्वितीया—एनपन्तके योगमें द्वितीया और वष्ठी भी हो ।

दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा । एवमुत्तरेण । दूरान्तिकार्थैः पृथग्व्यतरस्याम् । १२।३।३६। एतैर्योगे पृष्ठी पञ्चमी च । दूरं, निकटं वा ग्रामस्य-ग्रामाद्वा ॥ दिवस्त-
दर्थस्य । १२।३।५८। धृतार्थस्य क्रयविक्रयरूपव्यवहारार्थस्य च दिवः कर्मणि पृष्ठी ।
शतस्य दीव्यति । तदर्थस्य भिन्नु ? द्वाद्वाणं दीव्यति, स्तौतीत्यर्थः ॥ विभाषोप-
सर्गो ॥ १२।३।५९। शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति ॥ आधारोऽधिकरणम् । १।४।४५।
कर्तृकर्मद्वारा तन्निष्ठक्रियाया आधारः कारकमधिकरणसंज्ञः स्यात् ॥ सप्तम्यधिक-
रणे च । १२।३।३६। चाद् दूरान्तिकार्थेभ्यः । औपश्लेषिको वैपयिकोऽभिव्यापकश्चेत्या-
धारत्रिधा । कटे आस्ते, स्यात्यां पचति । मोक्षे इच्छास्ति । सर्वस्मिन् आत्मास्ति ।

यहीप्राहो वचनमिदम् । योगविभागात् । पृथगपि । दक्षिणेन ग्रामं ग्रामस्य वा ।
अत्र द्वितीया, पृष्ठी पृष्ठी । एवम् उत्तरेणेति योष्यम् । दूरान्तिकार्थेति । दूरान्तिका-
र्थानां योगे पृष्ठी स्यात्पक्षे पञ्चमी । ग्रामस्य-ग्रामाद् वा दूरं निकटमित्यर्थः । दिव
इति । धृतार्थस्येत्यादिना धातोरर्थः स्फोरितः । कर्मणि पृष्ठीति स्पष्टमेव । शतस्य दी-
व्यति । अत्र शतस्येति कर्मणि पृष्ठी । विभाषेति । उपसर्गयुक्त्वात् दिवः कर्मणि वा पृष्ठी-
त्यर्थः । शतस्य शतं वा प्रतिदीव्यति । अत्र शतस्येति पृष्ठी, तदभावे द्वितीया । औपश्ले-
षिकः । उपसर्गश्लेषः—सप्तम्यध उपश्लेषः, तत् कृतमौपश्लेषिकम् । अयं प्रथम
आधारः । अस्योदाहरणम्—कटे आस्ते । वैपयिकः—त्रिपद्ये भरो वैपयिकः । अस्यो-
दाहरणम्—मोक्षे इच्छा अस्ति । अत्र कर्तृभूतेच्छागतां सत्ताक्रियां प्रति मोक्षस्य विप-
यतासप्तम्यधपुरस्कारेण इच्छाद्वाराधारत्वाद् अधिकरणम् । अभिव्यापकः—अभि—सर्वतो
भावेन श्याप्नोतीति अभिव्यापकः । य आधारः सर्वमभिव्याप्नोति सोऽभिव्यापक
इत्युच्यते । अस्योदाहरणम्—सर्वस्मिन् आत्मास्ति । सर्वस्मिन्नभिव्याप्य आत्मा वर्तत
इत्यर्थः । अत्र आत्मरूपकर्तृगतां सत्ताक्रियां प्रति कृतमभिव्याप्तिं पुरस्कृत्य आत्मद्वारा

दूरान्तिकार्थैः—दूराधिक और अन्तिकार्थिकके योगमें पृष्ठी हो, विकटपते । पञ्चमें
पञ्चमी हो ।

दिवस्तदर्थस्य—धृतार्थक और क्रय-विक्रयरूप व्यवहार के 'दिव' धातुके कर्ममें पृष्ठी
हो । विभाषोपसर्गो—धृतार्थक और क्रय विक्रय रूप व्यवहारार्थक जो उपसर्गक 'दिव'
धातु, उसके कर्ममें विकटपते पृष्ठी हो ।

नोट :—'पृष्ठी भवति सप्तम्यधे कृद्यन्ते कर्तृकर्मणोः । तृतीया स्यात् तथा पृष्ठी
कृत्वानां कर्तृकारके ॥ सुवयार्थयोगे पृष्ठी स्माद् कृटीवा च विभाषया ।'

आधारोऽधिकरणम्—कर्ता और कर्मके द्वारा जो कर्तृ-कर्मनिष्ठ 'क्रियाक', आधार वह
कारक संज्ञक दोसर अधिकरण संज्ञक हो । सप्तम्यधिकरणम्—अनुक्त अधिकरणमें सप्तमी हो ।

वनस्य दरेऽन्तिके वा । (कस्येन्विषयस्य कर्मण्युपसंख्यानम्) अधीनी
व्याकरणे । (साध्वसाधुप्रयोगे च) । साधु कृष्णो मातरि । असाधुमातुले ।
(निमित्तात्कर्मयोगे) ।

‘चर्मणि ह्रीपिनं हन्ति वन्तयोर्हन्ति कुञ्जरम् ।

केशेषु चर्मरौ हन्ति सौमि पुष्कलको हत ’ ॥

यस्य च भावेन भावलक्षणम् २।३।३७ यस्य क्रियया क्रियान्तर लक्षणे
तत सप्तमी । गोषु दुग्गमानासु गत ॥ पशुी चानादरे । २।३।३८। अनादरे । च
भावलक्षणे पशुीसप्तम्यौ स्त । रुदति—रुदतो वा प्राजाप्रीत् । रुदन्तं पुत्रादिकप्रनास्य
संन्यस्तवानित्यर्थं ॥ स्वामीश्वराधिपनिदायाद्साक्षिप्रतिभूपसूतेश्च २।३।३९।
एभिर्योगि पशुीसप्तम्यौ स्त । गवा गोषु वा स्वामी ॥ आयुक्तकुशलाभ्यां चासे-
वायाम् २।३।४०। आभ्या योगे पशुीसप्तम्यौ स्त । आयुक्तो व्यापारित । आयुक्त
कुशलो वा हरिपूजने—हरिपूजनस्य वा । आसेवाया किम् ? आयुक्तो गौ शकटे,

सत्ताभारवात्सर्वस्वाधिकरणत्वम् । कस्येति । सप्तम्या उपसख्यानमित्यर्थ । अधीनी ।
व्याकरणे । अत्र व्याकरणपदस्य सप्तमी अधीनीत्वस्येन्विहितत्वात् । साधु इति ।
अनयोर्योगे सप्तमी स्यात् । तेन मातरि—मातुले अत्र सप्तमी सिद्धा । निमित्तादिति ।
निमित्तवाचकात्पदात् सप्तमीत्यर्थ । चर्मणि—वन्तयोः—केशेषु—सौमि—इत्यादिनिमि-
त्तवाचकेभ्य पदेभ्य सप्तमीत्व सिद्धम् । यस्य चेति । भाव क्रियेति, अत आह—
क्रियया क्रियान्तर लक्षयत् इति । गमनक्रियया गोशेहनक्रियोपलक्षयते अतस्त
स्मात्पद्मात्सप्तमी, न तु पशुीति भावः । पशुी चेति । रुदति रुदतो घेत्यत्र पशुीसप्तम्यौ ।
स्वामीति । एभिर्योगे पशुीसप्तम्यौ स्त । गवां गोषु स्वामीत्यादि रूपाणि अवधेयानि ।
आशुत्तेति । अनयोर्योगे द्विभक्तिद्वय स्यात् । आयुक्त कुशलो वा हरिपूजने, अत्र

चकारात् दूरार्थक नीर अन्तिहायकसे मी सप्तमी हो । कस्येन्विषयस्य—ान्परवका
विषय (प्रकृति) मो क्त उक्तके योगमें कर्ममें मी सप्तमी हो । साध्वसाधु—साधु नीर
असाधुके प्रयोगमें सप्तमी हो । निमित्तात्कर्मयोगे—कर्मके साथ यदि ककका योग हो तो,
निमित्त (फल) वाचक से सप्तमी हो । यस्य च भावेन—जिसकी क्रियासे क्रियान्तर
लक्षित हो, उससे सप्तमी हो । पशुी चानादरे—अनादरका आविश्य गम्यमान होने पर
जिसकी क्रियासे क्रियान्तर लक्षित हो, उदाचकसे पशुी नीर सप्तमी हो ।

स्वामी—स्वामी, ईश्वर, अधिपति, दावाद, साक्षी, प्रतिभू नीर प्रसूतके योगमें पशुी
नीर सप्तमी हो ।

आयुक्त—आयुक्तके योगमें पशुी वा सप्तमी हो, आसेवा अपेमें ।

ईपद्युक्त इत्यर्थः । यतश्च निर्धारणम् । २।३।४१। जातिगुणक्रियासंज्ञाभिः समुदाया-
देकदेशस्य पृथक्करणं निर्धारणं यतस्ततः पृथोसप्तम्यौ स्तः । नृणां-नृषु वा ब्राह्मणः
श्रेष्ठः । गवां-गोषु वा कृष्णा गौर्बहुस्रीरा । गच्छतां गच्छत्षु वा धावन् शीघ्रः ।
छात्राणां-छात्रेषु वा मैत्रः पटुः ॥ पञ्चमी विभक्ते । २।३।४२। विभागो विभक्तम् ।
निर्धार्यमाणस्य यत्र भेद एव तत्र पञ्चमी । माथुराः पाटलिपुत्रेभ्य आढ्यतराः ॥
साधुनिपुणाभ्यामर्चायां सप्तम्यप्रतेः । २।६।४३। मातरि साधुनिपुणो वा ।
अर्चायां किम् ? निपुणो राज्ञो मृत्युः । इह तत्त्वकथने तात्पर्यम् ॥ (अप्रत्यादिभि-
रिति वक्तव्यम्) । साधुनिपुणो वा मातरं प्रति परि, अनु वा ॥ अधिरीश्वरे
। १।४.९७। स्वस्वामिभावसंबन्धेऽधि। कर्मप्रवचनीयः ॥ यस्मादधिकं यस्य चेश्व-
रवचनं तत्र सप्तमी । २।३।९। अत्र कर्मप्रवचनीययुक्ते सप्तमी । उप परार्धे हरे-
गुणाः, परार्धादधिका इत्यर्थः । ऐश्वर्यं तु स्वस्वामिभ्यां पर्यायेण सप्तमी । अधि भुवि
रामः । अधि रामेः भूः ॥ इति कारकप्रकरणम् ।

हरिपूजनाव पृथो वा सप्तमीति बोध्यम् । यतश्चेति । निर्धारणत्वं च जातिगुणक्रिया-
संज्ञाभिः समुदायादेकशेषस्य पृथक्करणत्वम् । तात्पदात् पृथोसप्तम्यौ । साधुनिपुणेति ।
मातरि साधुनिपुणो वा, अत्रार्चायां सप्तमी । इति विभक्त्यर्थाः ।

यतश्च—जहांसे निर्धारण (पृथक्करण) हो, तदाचकसे पृथो या सप्तमी हो ।

पञ्चमी—निर्धार्यमाण (अलग किये जाने वाले) का जिससे भेद (विभाग) हो,
तदाचकसे पञ्चमी हो । साधुनिपुणा—साधु और निपुणके योगमें सप्तमी हो, अर्चामें,
किन्तु प्रतिके योगमें नहीं हो । अप्रत्यादिभिः—प्रति (ही नहीं) परि और अनुके योग
रहनेपर (भी) साधु या निपुणके योगमें सप्तमी नहीं हो ।

अधिरीश्वरे—स्व-स्वामिभाव संबन्धमें 'अधि' की कर्मप्रवचनीय संज्ञा हो ।

यस्मादधिकं—जिससे अधिक हो तदाचक शब्दसे सप्तमी नित्य हो और जिससे
ईश्वर वचन विवक्षित हो तदाचक शब्दसे पर्यायेण सप्तमी हो ।

नोट—'आधारे च तथा भावे विभक्तिः सप्तमी भवेत् ।

अनादरे च निर्धारणेपृथी स्यात् सप्तमी तथा ॥'

शुद्ध करो—शुद्धकं वसति । स काश्यां गच्छति । पित्रुः सह गच्छति । इदं मम
रोचते । स मां क्रुष्यति । यत्नस्य विना किं स्यात् ? । मानवैर्ब्राह्मणः श्रेष्ठः । छात्रस्य पणं
यच्छति । गुरोर्नमः । स आचार्यं भिजेति ।

इतप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें कारक प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ समासप्रकरणम्

तत्र केवलसमासः

समासः पञ्चधा । तत्र समसर्गं समासः । स च विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्तः केवल-
समासः प्रथमः । प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽभ्ययीभावा द्वितीयः । प्रायेणोत्तरपदार्थ-
प्रधानस्तत्पुरुषस्त्वृतीयः । तत्पुरुषभेदः कर्मधारयः । कर्मधारयभेदो द्विगुः । प्रायेणान्य-
पदार्थप्रधानो बहुव्रीहिवर्तुयः । प्रायेणोभयपदार्थप्रधानो द्वन्द्वः पञ्चमः ॥ सामर्थ्यं,
पदविधिः । २।२।१। पदसंबन्धी यो विधिः, स समर्थाधिकृतो बोध्यः ॥ प्राकङ्कारात्
समासः । २।२।३। 'कङ्कारा कर्मधारये' इत्यतः प्राक् समास इत्यधिक्रियते ॥
सह सृपाः । २।२।४। सप् सृपा सह वा समस्यते । समासत्वात्प्रातिपदिकरूपे सुपो
सुक् । परार्थाभिधानं वृत्तिः । कृतद्वितसमासैकशेषमनाद्यन्तवापुस्त्वा पञ्च वृत्तयः ।

तत्रेति । पञ्चविधेषु समासेष्विषयः । समसतन्त्रः । इत्यस्य मिलनमित्यर्थः । तद्य
पृथगत्यपदानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वरूपमित्यर्थः । विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त इति । विशेष-
वाच्यताः सञ्ज्ञा विशेषसञ्ज्ञा अभ्ययीभावादयस्ताभिर्विनिर्मुक्तो रहितो विशेष-
सञ्ज्ञाविनिर्मुक्तः । अभ्ययीभावादिविशेषपञ्चकारहितः केवलसमास इत्यभिधीयते ।
समर्थं पदविधिः । सामर्थ्यं द्विविधम् । स्वपेक्षारूपम्, एकार्थीभावरूपम् । तत्र
स्वार्थपर्यवसायिनां पदानाम् आकाङ्क्षादिप्रकारपरस्परसंबन्धरूपं स्वपेक्षा । सा च
राजः पुरुष इत्यादि वाक्येषु । स्वार्थपर्यवसायिनां पदानां विशेषणविशेष्यभावा-
वगाद्येकोपस्थितिजनकत्वमेकार्थीभाववचनम् । मन्त्र 'राजपुरुष' इत्यादिवृत्तावेव ।
महं सृपा । 'सुवामन्त्रिते' इत्यत्र सुविरपनुवर्तते । सुवन्तं सुवन्तेन सहोच्चारित
समाससञ्ज्ञं भवतीति कथञ्चिः । परार्थाभिधानं वृत्तिरिति । प्रथयान्तमदिगाऽपरपदा

समासः पञ्चधा—समास पांच प्रकारचे होते हैं—१ केवलसमास, २ अभ्ययीभाव
समास, ३ तत्पुरुष समास ४ बहुव्रीहि समास और ५ द्वन्द्व समास ।

नोट —'एकार्थवाचकतां प्राप्तो मित्रार्थकाःनेकपदसमूहः समासः' ।

दो या अधिक पदोंके एकपदीकरणको समास कहते हैं ।

विशेष—विशेषसंज्ञाविनिर्मुक्त अर्थात् तत्पुरुष, अभ्ययीभावादि विशेषसंज्ञा रहितको
'केवल समास' कहते हैं । यथा—पूर्वं भूय—भूतपूर्व ।

समर्थं पदविधि—पदसंबन्धी जो विधि वह समर्थाधिकृत हो ।

प्राकङ्कारात्—'कङ्कारा' कर्मधारये' इस सूत्रसे पूर्व 'समास' यह अधिकार है ।

सह सृपा—(समर्थे) इत्यन्तवा इत्यन्तके साथसे समास दो ।

(इत्यन्तपर्यवसायिनां पदानाम् आकाङ्क्षादिप्रकारपरस्परसंबन्धरूपं स्वपेक्षा—सहोच्चारित समाससंज्ञं भवतीति कथञ्चिः ।

इत्यर्थावबोधकं घाक्त्यं विग्रहः । स च लौकिकोऽलौकिकश्च द्विधा । तत्र पूर्वं भूत इति लौकिकः, पूर्वं अन् भूत सु इत्यलौकिकः । भूतपूर्वः । भूतपूर्वं चरदिति निर्देशात्पूर्वनिपातः ॥ (इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च) । चागर्था इव चागर्थाविक्र ।

इति केवलसमासः ॥



अथ अव्ययीभावप्रकरणम्

अव्ययीभावः । २ । १ । ५ । अधिकारोऽयं प्राक् तत्पुरुषात् । अव्ययं

र्थान्तर्भावेण वा यो विशिष्टोऽर्थः स परार्थः, सोऽभिधीयते येन तत्परार्थाभिधान-मित्यर्थः । इत्यर्थावबोधकमिति वृत्तीनां पञ्चविधानामर्थस्यावबोधकं वाक्यं विग्रह इत्यर्थः । भूतपूर्वः । पूर्व + अन्, भूत + सु इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुधा' इति समासे षाते समासश्चात् 'कृतद्विगसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि 'पूर्व + भूत', इत्यवशिष्टे अत्र 'प्रथमानिदिष्टं गमास उपसर्जनम्' इति द्वयोरप्युपसर्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति विनिगमज्ञासमासात् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते 'भूतपूर्वं चरद्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते, 'एकदेशविकृत' न्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ, क्वे विसर्गं च तरिसिद्धिः । इति केवलसमासः ।



अव्ययीभावः । अधिकारोऽयमिति । एकसंज्ञाऽधिकारेऽपि अनया संज्ञया समास-संज्ञा न घाप्यते इति 'प्राक्शरात्' इत्यत्रोक्तम् । अव्ययं विभक्तौत्यादि । अव्ययं-

सर्थावबोधकं वाक्यं विग्रहः' इति तार्थ्यम्)

इवेन समासो—'इव' शब्दके साथ समास हो, पर विभक्तिका लोप नहीं हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें केवलसमास समास हुआ ।



अव्ययीभावः—उत्पुरुष समाससे पूर्व अव्ययीभावका अधिकार है ।

(अव्ययीभाव समास विधायक सूत्रसे अव्ययीभाव संज्ञा भी समासके साथ २ होगी)

नोटः—अव्ययीभाव समास-निष्पन्न शब्द नपुंसक लिङ्ग ही होता है और उसके उत्तर पञ्चमी विभक्तिको छोड़कर सभी त्वादि विभक्तियोंके स्थानमें 'अन्' हो जाता है । केवल अकारान्त शब्दके उत्तर तृतीया और सप्तमीके स्थानमें दिक्प्रत्यये 'अन्' होगा ।
 द्वा—अधिगोपं ह्यन्तः । अधिगोपं ह्यन्तः ॥ अधिगोपद्, अधिगोपेन वा ह्यन्तेन । अधि-
 शोर्षं ह्यन्तेन । अधिगोपाय ह्यन्तेन । अधिगोपद्, अधिगोपे वा ह्यन्तेन ।

विभक्तिसमीपसमृद्धिव्यङ्ग्यार्थाभावात्प्रतिशब्दप्रादुर्भावपश्चाद्य-
थानुपूर्व्ययोगपक्षसादृश्यसंपत्तिसाकल्यान्तवचनेषु ।२।१।६। विभक्त्य-
र्थादिषु वर्तमानमव्ययं सुबन्तेन नित्य समस्यते । प्रायेणाविप्रहो नित्यसमास ।
प्रायेणास्वपदविप्रहो वा । विभक्तौ-हरि ङि अधि इति स्थिते ॥ प्रथमा-
निर्दिष्ट समास उपसर्जनम् ।१।२।४३। समासशास्त्रे प्रथमानिर्दिष्टमुपसर्जनं
स्यात् । उपसर्जनं पूर्वम् ।२।२।३०। समासे उपसर्जनं प्राक् प्रयोगम् । इत्यधे
प्राक् प्रयोग । सुपो लुक् । एकदेशविकृतस्थानन्यत्वात् प्रातिपदिकमहाया स्थायु-
त्पत्ति । अव्ययीभावश्चेत्यव्ययत्वात्सुपो लुक् । अधिहरि ॥ अव्ययीभावश्च

मिति शब्दनिर्देश । विभक्त्यादिरर्थनिर्देश । उपपन्ते इति वचना । कमंगि वपुत् ।
विभक्ति, समीप, समृद्धि, व्युद्धि, अर्थाभाव, अव्यय, ह्रस्वप्रति, शब्दप्रादुर्भाव,
पश्चात्, यथा, आनुपूर्व्य, योगपक्ष, सादृश्य, संपत्ति, साकल्य, अन्त, एतेषां चोक्त-
शानां ह्रस्वः । ते च ते वचनाश्च इति विप्रहः । विभक्त्यर्थादिषु वाच्येस्त्वित्यर्थः ।
अव्ययीभावः, समासः, इति चाधिकृतम् । तदाह-विभक्त्यर्थादिभित्ति । प्रथमानिर्दिष्ट
मिति । अत्र समासपद लक्षणया समासविधायकशास्त्रपरम् । तथा च समासविधा-
यकशास्त्रे प्रथमास्ततयोच्चारितं यत्पद तदुपसर्जनसञ्ज्ञमिति निष्कृत्यर्थः । उपस-
र्जनं पूर्वमिति । अत्र सूत्रे लौकिकोपसर्जनं शास्त्रीयोपसर्जनं च गृह्यते । पूर्वमित्यस्य
पूर्वं प्रयोगमित्यर्थं इति भावः । अधिहरि । हरौ इत्यधिहरि, अत्र 'हरि ङि अधि'

विशेष जानकारीके क्रिये निम्न(१) टिप्पणी (समासचन्द्रिका) देखो ।

अव्ययं विभक्ति—विभक्त्यर्थादिषु वर्तमान ओ अव्यय, वह समर्प सुबन्तेके साथ
नित्य समस्त हो । (यही अव्ययीभाव कहलाता है)

प्रथमानिर्दिष्टं—समास शास्त्रमें प्रथमानिर्दिष्टको उपसर्जन संज्ञा हो ।

नोटः—समास शास्त्र याने समासविधायक सूत्र, इस सूत्रपटक ना प्रथमान्त पद,
तन्निर्दिष्ट समस्त्वान्त ओ 'प्रथमान्त' हो, इसकी उपसर्जन संज्ञा हो । वदाहरण देखो—
'अधिहरि' । यहाँ समासशास्त्र हुआ 'अव्यय विभक्ति' यह शास्त्र (सूत्र), इस सूत्रपटक
प्रथमान्त पद हुआ 'अव्ययम्' यह पद, इससे निर्दिष्ट हुआ 'अधि', इसलिये अधिकी
उपसर्जनसंज्ञा होती है—'हरि' की नहीं ।

उपसर्जनं पूर्वम्—समासमें उपसर्जनका पूर्व प्रयोग हो ।

अव्ययीभाव—अव्ययीभाव समास नपुंसक लिंग हो ।

(१) प्रायेण पूर्वपदार्थप्रधानोऽव्ययीभाव । 'वमत्तगङ्गम्' इत्यादी अव्ययीभावेऽपि
पूर्वपदार्थप्राधान्याभावात् प्रायेण वस्तुतस्तु । स दिवा नित्यानित्यभेदात् । स्वपटकान्यपद
विप्रहो नित्यसमासः । स्वपटकपदविप्रहोऽदित्यसमासः ॥ तत्र नित्ये केवलनित्यो यदा-

२।४।१८। नपुंसकं स्यात् । गाः पातीति गोपाः, तस्मिन्नत्यधिगोपम् ॥ नाव्य-
यीभावादतोऽम्वपञ्चम्याः । २।४।८३। अदन्तादव्ययीभावात्तुपो न लुक,
तस्य पञ्चमी विना अमादेशः । कृष्णस्य समीपम् उपकृष्णम् ॥ तृतीयासप्तम्योर्व-
हुलम् । २।४।८४। अदन्तादव्ययीभावात् तृतीयासप्तम्योर्वहुलमम्भावः । उपकृष्णेन-
उपकृष्णम् । बहुलप्रहणात् सुमद्रमुन्मत्तगङ्गमिन्यादौ नित्यमम्भावः । मद्राणां समृद्धिः
सुमद्रम् । यवनानां व्युद्धिर्दुर्यवनम् । मक्षिकाणामभावो निर्मक्षिकम् । हिमस्यात्ययोऽति-
हिमम् । निद्रा संप्रति न युज्यतेऽतिनिद्रम् । हरिशब्दस्य प्रकाराः इतिहरि । विष्णोः
पश्चादनुविष्णु । योग्यतावीप्सापदार्यानितिश्रुतिसादृश्यानि यथार्याः । रूपस्य योग्यमनु-
रूपम् । अर्थमर्थं प्रति प्रत्यर्थम् । शक्तिमनतिक्रम्य यथाशक्ति ॥ अव्ययीभावे

इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०' इति समासे 'प्रथमानिदिष्टं समास उपसर्जनम्'
इत्यधीत्यस्योपसर्जनसम्प्रदायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इत्यधीत्यस्य पूर्वनिपातत्वे
'अधिहरि छि' इति जाते समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः'
इति सेलुंकि, एकदेशविहितन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्समुदायात्सौ, 'अव्ययीभावश्च'
इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति सेलुंकि च कृते 'अधिहरि' इति । अधिगो-
पम् । गोपि, इत्यधिगोपम्—इत्यत्र 'गोपा छि अधि' इति स्थिते 'अव्ययं विभक्ति०'
इति समासे, सुब्लुकि 'प्रथमानिदिष्टं समास उपसर्जनम्' इति अधीत्यस्योपस-
र्जनसम्प्रदायाम्, 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते, एकदेशविहितन्यायेन
प्रातिपदिकत्वात् सौ, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेन लङीकत्वात् 'इस्यो नपुंसके
प्रातिपदिकरूप' इति गोपा इत्यस्य ह्रस्वत्वे, 'अव्ययीभावश्च' इत्यनेनाव्ययत्वात्
'अव्ययादाप्सुपः' इति सेलुंके प्राप्ते, तस्याधिरत्वा 'नाव्ययीभावादतोऽम्वपञ्चम्याः'
इति सोरमि, 'अमि पूर्वः' इति पूर्वरूपे च 'अधिगोपम्' इति रूपम् । विष्णोः पश्चादनु-
विष्णु । अनु इत्यव्ययं पश्चादर्थं वर्तते इत्यर्थः । सूत्रे यथाशब्देन तदर्थो लक्ष्यते ।
यथाथ विद्यमानमव्ययं समस्यत्वे इति लभ्यते इत्यभिप्रेत्याह—योग्यतेति । यथाशक्ति ।

नाव्ययी—अदन्त अव्ययीभावसे पर 'सुप्' का लुक नदीं हो, किन्तु पञ्चमीविभक्ति को
छोड़कर अन्य सभी विभक्तियों को 'अन्' आदेश हो जाय ।

तृतीया—अदन्त अव्ययीभावसे पर तृतीया और सप्तमीको बहुलप्रकार (विकल्प) से
अभ्यास (अन् आदेश) हो ।

अव्ययीभावे—'सह' को 'स' आदेश हो, अव्ययीभाव समासमें, किन्तु काल्पाचक्र

विशेषणम्—उपसर्जनम् । सुब्लुकि बहुलम् । अत्राणां समृद्धिः सुमद्रम् । यव-
यवानी व्युद्धिः = दुर्यवनम् । (निद्रा व्युद्धिः व्युद्धिः) । मक्षिकाणामभावः=निर्मक्षिकम् । निद्रा-

घाकाहे । ६।३।८१। सहस्य स स्यादथ्ययीभावे न तु काले । हरेः साहस्यं सहसि ।
काले तु—सहपूर्वाङ्गम् । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येणेत्यनुज्येष्ठम् । चक्रण युगपत्सञ्चकम् ॥ सहस्य-
सख्या ससखि । क्षत्राणां सशति सक्षत्रम् । तृणमध्यपरित्यज्य सतृणमति । अग्नि
ग्रन्थपर्यन्तमधीते साम्नि ॥ यथाऽसाहस्ये । २।१।७। असाहस्ये एव यथाशब्द-
समस्यते । नैह—यथा हरिस्तथा हर ॥ यावद्व्यवधारणे । २।१।८। यावन्त
रशोकास्तावन्तोऽच्युतप्रणामा इति यावच्छ्रौकम् ॥ सुप्रतिना मात्रार्थे । २।१।९।
शाकस्य लेश शाकप्रति ॥ विभाषां । २।१।११। अधिकारोऽयम् ॥ अपपरि-

अत्र यथोपपन्न पदार्थानतिक्रमे वर्तत इत्यर्थः । तेन सह 'अथ्यय विमक्तिः' इत्या
दिना समासे, प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, 'प्रथ-
मानिर्दिष्ट समास उपसर्जनम्' इति उपसर्जनसञ्ज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति पूर्व
निपाते, समुदायात् सौ, 'आथ्ययीभावत्' इत्यपवात्वात् 'अथ्ययादासुप' इति
सोऽलुकि च हरिसिद्धिः । यथाऽसाहस्य इति । साहस्यमिच्छार्थं यथाशब्दः समस्यते सो
ऽप्ययीभावः । यथा हरिरित्यत्र हरिहरयोः साहस्ययावगमात्समासः । यावदिति । अथ
धारणार्थं गम्ये यावत् शब्दः समस्यते संऽप्ययीभावः । यावच्छ्रौकम् । 'यावन्तः
रशोका तावन्तः प्रणामा' इति विग्रहे अप्ययीभावसमासे सुऽलुकि 'प्रथमानिर्दिष्टम्'
इति यावत् उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ 'नाथ्ययीभावात्' इत्यभि पूर्वरूपे यावच्छ्रौ-
कम् इत्यस्य सिद्धिः । सुप्रतिनेति । मात्रार्थं गम्ये सुबन्त प्रतिना समस्यते । शाक-
स्य लेश शाकप्रति, अत्र मात्रार्थं समासे 'प्रथमानिर्दिष्टम्' इति सुबन्तस्योपसर्ज-
नात्वे तस्य पूर्वनिपाते सौ, अप्ययीभावात् अप्ययादासुऽलुकि, 'शाकप्रति' इति
रूपम् । विभाषा । अधिकारोऽयम् । एतेन महाविभाषेति कथ्यते । अपरोति । पञ्च-
म्यन्तेन पते समस्यन्ते सोऽप्ययीभावः । विभाषाधिकारात्पक्षे पञ्चम्यन्त वाक्यम् ।

परे रद्दनेपर नहीं हो ।

यथाऽसाहस्ये—असाहस्येमें ही 'यथा' शब्द समस्त हो । यावद्व्यवधारणे—प्रवधारण
अर्थमें 'यावत्' शब्द समस्त हो । सुप्रतिना—मात्रार्थमें वर्तमान 'प्रति' के साथ समर्थ
सुबन्तज्ञा समास हो ।

विभाषा—यह अधिकार सूत्र है । अपपरिषद्दि—अप, परि, बहिस् और अच्—ये पञ्च-

स्याथ्यय = अतिहिमम् । निद्राऽसम्प्रति = अतिनिद्रम् (निद्रा न युज्यत इत्यर्थः) । हरि-
शब्दस्य प्रकाश — हरिहरि । रूपस्य योग्यम्—अनुरूपम् । हरेः साहस्यं—सहसि । सहस्य-
सख्या = ससखि । क्षत्राणां सशति = सक्षत्रम् । यावन्त रशोकास्तावन्तः = यावच्छ्रौकम्
(अथ्ययुगपत्सञ्चकः) । शाकस्य लेश = शाकप्रति । अथ्येन विपरीतं इत्यन्—अपपरि ।
—शाकस्य विपरीतं इत्यन् = असाहस्येति ।

वहिरञ्चवः पञ्चम्या ।२।१।२२ अपविष्णु संसारः-अप विष्णोः । परिविष्णु-
परि विष्णोः । वहिर्चनम्-वहिर्चनात् । प्राग्वनम्-प्राग्चनात् ॥ तिष्ठद्गुप्रभृतीनि
च ।२।१।१७ एतानि निपात्यन्ते । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन्काले स तिष्ठद्गु दोहन-
कालः ॥ पारे मध्ये पञ्चया वा ।२।१।१८। पारमव्यशब्दौ पञ्च्यन्तेन सह वा
समस्येते । एदन्तत्वं चानयोर्निपात्यते । पारेगङ्गम् । गङ्गापारम् । मध्येगङ्गम् ।
गङ्गामध्यम् । महाविकल्पेन वाक्यमपि ॥ संख्या वंशयेन ।२।१।१९। वंशो
द्विधा-विधया जन्मना च । तत्र भवो वंश्यः । तद्वाचिना सह संख्या समस्यते ।
द्वौ मुनी वंश्यौ-द्विमुनि । व्याकरणस्य त्रिमुनि । विद्यातद्वतामभेदविवक्षायां—

अपविष्णु । अप विष्णोरिति विग्रहे परि विष्णोरिति विग्रहे च 'अपपरि' इति समासे
सुब्लुकि अपपर्योरुपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ अण्ययवासुब्लुकि प्रयोगसिद्धिस्तद्-
भावे वाक्यमिति भावः । एवं वहिर्चनम्, प्राग्वनम् । अत्रापि पञ्चम्यन्तेन समस्तत्वे
पूर्वनिपाते सौ 'नाभ्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः । 'तिष्ठद्गु इति' । एतानि निपा-
त्यन्ते । तिष्ठद्गु । तिष्ठन्ति गावो यस्मिन् इति विग्रहे निपातनात्समासे सुब्लुकि
तिष्ठत् शब्दस्य पूर्वनिपाते सौ अण्ययवासुब्लुकि 'तिष्ठद्गु' इति रूपसिद्धिः । पारे
मध्ये पञ्चया वेति । पञ्च्यन्तेन वा पारमध्या समस्येते । एदन्तत्वं निपातनात् । पञ्चे
विभाषाधिकारात् पञ्च्यन्तं वाक्यमपि । पारगङ्गम्-मध्येगङ्गम् । पारमध्ययोगङ्गापदेन
समस्तत्वे सुब्लुकि 'प्रथमा०' इति उपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सौ नपुंसकत्वे इत्थे
'नाभ्ययी' इत्यमि पूर्वरूपे रूपसिद्धिः । पञ्चे गङ्गापारम्-गङ्गामध्यम् । अत्र गङ्गायाः
पारं मध्यं वा इत्यत्र 'पद्यो' इति समासे सुब्लुकि सुपि अमि रूपे भवतः । तद्भावे
विभाषाधिकारात् 'गङ्गायाः पारम्' 'गङ्गायाः मध्यम्' इति वाक्यद्वयमपि
साधु । संख्येति । वंशो भवो वंश्यः । तद्वाचिना संख्यावाचकः समस्यते ।
द्विमुनि-त्रिमुनि । अत्र द्वित्रिपदयोर्मुनिपदेन समासे सुब्लुकि संख्याबो-
धकयोः पूर्वनिपाते नपुंसकत्वे सौ सुब्लुकि 'द्विमुनि-त्रिमुनि' इति प्रयोगद्वयं साधु ।

अन्त के साथ समस्त हो । तिष्ठद्गु—तिष्ठद्गु प्रभृति निपातन हो । पारेमध्ये—पार
और मध्य शब्द पञ्च्यन्तके साथ समस्त हों, विकल्पते (समासके साथ ही साथ एदन्तत्व
भी निपातन होता है)

संख्या वंशयेन—वंश्यवाची सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समस्त हो ।

तत्र नित्ये क्रियान्वितो नित्योऽण्ययीभावो यथा-इती इति = अधिहरि (तिष्ठति
अद्वाण्डम्) । विष्णोः पश्चात् = अनुविष्णु (प्रकाशते, ज्ञाता) । शक्तिमनतिक्रम्य = यथा-
शक्ति (इच्छति देवदत्तः) । लृगमप्यपरित्यज्य = सत्तुगम् (अस्ति देवदत्तः) । अग्निप्रत्य-
पर्यन्तं = साग्नि (अधीते छात्रः) । ज्येष्ठस्यानुपूर्व्येण=अनुज्येष्ठम् (संस्कर्तव्याः पुत्राः) ।

त्रिसुनि व्याकरणम् । एकविंशतिभारद्वाजम् ॥ नदीभिश्च । २।१।२०। नदीभि-
 संख्या वा समस्यते । समाहारे चायमिष्यते । रत्नगङ्गम् । द्विसुनम् ॥ अन्य-
 पदार्थे च संख्यायाम् । २।१।२१। अन्यपदार्थे सुबन्तं नदीभि सह नित्यं समस्यते
 संख्यायाम् । विभाषाधिकारेऽपि वाक्येन सङ्गाऽनवगमादिह नित्यसमासः । उन्मत्त-
 गङ्गं नाम देशः । लोहितगङ्गम् ॥ तद्धिता । १।४।१।७६। आ पञ्चमसमाप्तेरधिकारो-
 ऽयम् ॥ अव्ययीभावे शरत्प्रभृतिभ्यः । १।५।४।१०७। शरदादिभ्यश्च स्यात्समा-
 सान्तोऽव्ययीभावे । शरद् समीपम्-उपशरदम् । प्रतिविपाराम् । शरद् । विपारम् ।
 अनसु । मनम् । उपानह् । दिव् । हिमवत् । अनड्डह् । दिश् । दृश् । विश् ।
 चेतस् । चतुर् । त्यद् । तद् । यद् । कियत् । 'जराया जरस् च' । उपजरसम् ॥
 अनश्च । १।५।४।१०८। अणन्तादव्ययीभावाद्दच् ॥ नस्तद्धिते । १।६।४।१४४।
 नात्तस्य भस्व टेलोपस्तद्धिते । उपराजम् । अप्यात्मम् ॥ नपुंसकादभ्यतरस्याम्

त्रिसुनि व्याकरणमिति । अत्र विद्याया तद्वृत्ता आभेदविषयत्वात्तमेव ताप्रयोगसिद्धिः ।
 एकविंशतिभारद्वाजम् । अत्रापि समासे सुब्लुकि सौ नपुंसकात्वे सुब्लुकि रूपसिद्धिः ।
 उपजरसमिति । जराया समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्यस्यस्य जराया इति षट्श
 ग्तेन अव्ययीभावेसमासे कृते टच्, सुब्लुक, उपेत्यस्य पूर्वनिपातः । टचो विभक्ति-
 र्वाभावात् सस्मिन् परेऽप्राप्ते जरसि, 'जराया जरस् च' अनेन जरस्, टजन्ताद्यथायर्थं
 नपुंसकभाव इति भावः । उपरानमिति । राज्ञः समीपमित्यर्थः । सामीप्ये उपेत्य-

नदीभिश्च—नदीवाचक सुबन्तके साथ संख्यावाचक समर्थ सुबन्त समरत हो, विकल्पसे ।

समाहारे—नदीवाचक का यह समास, समाहारमें ही रह दे । अन्यपदार्थे च—अन्यपदा-
 र्थमें कर्ममान को सुबन्त वह नदीवाचक समर्थ सुब तके साथ नित्य समरत हो, सधामें ।

तद्धिता—पञ्चम अव्ययकी समाप्ति पर्यन्त यह अधिकार है ।

अव्ययीभावे शरत्—शरदादिते समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, अव्ययीभावमें ।

जराया—'जरा' शब्दका 'जरम्' भावेश हो और चकारात् 'टच्' प्रत्यय भी हो, अव्य-
 यीभावमें । अनश्च—अत्र त अव्ययीभावसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो ।

नस्तद्धिते—ना त भस्वक 'टि' का लोप हो, तद्धितके परे । नपुंसकादभ्य—अत्रन्त

अनित्ये केषलोऽनित्योऽव्ययीभावे यथा—गङ्गाया अनु = अनुगङ्गम् । (गङ्गादेश्वर्ष-
 सरद्देश्वर्षोपलक्षितमित्यर्थः) । गङ्गाया पारम् = पारगङ्गम् । गङ्गाया मध्य = मध्येगङ्गम् ।
 त्रिष्ठित्त गावो यस्मिन् = त्रिष्ठित्त (दोहनकाठ) ।

अप अनित्ये त्रिष्ठित्तितोऽनित्योऽव्ययीभावे यथा—अर्थमर्थ प्रति = प्रत्ययम् (रूप-
 विच्छिन्न गुणः) । वनाद् बहिः = बहिर्नगम् (सशरन्ति वनात्) वनात् प्राक् = प्राक्

१५।४।१०९। अन्नन्तं यत् क्लीवं तदन्तादव्ययीभावाद् वा स्यात् । उपचर्मम्—
 उपचर्म ॥ झयः १५।४।१११। झयन्तादव्ययीभावाद् वा स्यात् । उपसमित्—
 उपसमित्वम् ॥ नदीपौर्णमास्याग्रहायणीभ्यः १५।४।११०। वा टच् स्यात् ।
 उपनदम् । 'यस्येति चे'ति ह्रलोपः । उपनदीत्यादि ॥ गिरेश्च सेनकस्य १५।४।११२।
 टच् वा स्यात् । उपगिरम् । उपगिरि ॥ (प्रतिपरसमनुभ्योऽङ्गणः) टच् स्यात् ।
 अद्गोऽभिमुखं प्रत्यक्षम् । अद्गः परं परोक्षम् । अत एव समाप्तः । परोक्षे लिङ्गिति
 निपातनात्परस्योकार इत्यादि ॥ इत्यव्ययीभावप्रकरणम् ॥

व्याख्ययीभावः । 'अनश्च' इति टच् । सुब्लुक्, टिलोपः, उपराजशब्दापघाययं
 सुप्, अम्भावः । टचि परे 'अध्ययानां नमात्रे टिलोपः' इत्यरथाप्रवृत्तिः, तदन्त-
 र्यैवाध्ययीभावसमाप्तत्वेन अध्ययश्चात् । अतो 'नस्तद्धिते' इत्यारम्भः । नदीपौर्ण-
 मास्येति । टच् समाप्तान्तो वेत्यर्थः । उपनदम् । नद्याः समीपमित्यर्थे समाप्ते सुब्लुकि
 उपस्य पूर्वनिपाते 'उपनदी' इति जाते टचि भसंज्ञायां 'टिः' इति ईलोपे सौ नपुंस-
 क्तत्वे 'नाध्ययी' इत्यभि पूर्वरूपे रूपम् । टजभावे ह्रस्वे सुब्लुकि 'उपनदि' इति
 द्वितीयं रूपम् । गिरेश्चेति । सेनकमहर्षमते गिर्यन्याद्वा टच् । उपगिरम्-उपगिरि ।
 पूर्ववद्रूपसिद्धिः । प्रतीति । अक्षिशब्दात् टच् स्यात् प्रत्यक्षम्-परोक्षम् । अद्गोऽभि-
 मुखं अद्गः परमित्यर्थे च समाप्तान्तविज्ञानसामर्थ्यात्समाप्ते सुब्लुकि प्रत्यक्षि-
 परोक्षि' इति जाते 'परोक्षे लिट्' इति निपातनात् ओकारे 'प्रतिपर' इति टचि यत्सं-
 ज्ञायां 'टिः' इति टेलोपे सात्रमि पूर्वरूपे सिद्धिः ॥ इत्यव्ययीभावः ॥

जो क्लीव, तदन्त जो अव्ययीभाव, उससे समाप्तान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 झयः—झयन्त अव्ययीभावसे समाप्तान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 नदीपौर्ण—नदी, पौर्णमासी और आग्रहायणी शब्दसे अव्ययीभावनै समाप्तान्त 'टच्'
 प्रत्यय हो, विकल्पसे । गिरेश्च—गिरि शब्दान्त अव्ययीभावसे समाप्तान्त 'टच्' प्रत्यय हो,
 विकल्पसे । प्रतिपर—प्रति, पर, सम् और अनुसे पर जो 'अक्षि' शब्द, उससे अव्ययीभाव
 समाप्तमें समाप्तान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 इत्प्रकार 'शुद्धमती' टीकामें अव्ययीभाव प्रकरण समाप्त हुआ ।

(चरन्ति पदात्र) । अग्नेः अभि = अन्यग्नि । अग्निं प्रात = प्रत्यग्निं (पतन्ति शलभाः) ।
 वनमनु = अनुवनं (गतोऽग्निः, वनस्य समीपं गत् इत्यर्थः) मुक्तेः आ = आमुक्ति
 (संसारः, मुक्तिं मयादीकृत्य संसारस्तिष्ठतीत्यर्थः) । कालेभ्य णा = आषाढं (हरि-
 भक्तिः, बाळानभिष्ठाप्य हरिभक्तिमुक्त्वे प्रभवतीत्यर्थः) । इत्यव्ययीभावः ।

अथ तत्पुरुषसमासप्रकरणम्

तत्पुरुष. 121122। अधिकारोऽयं प्राग्बहुव्रीहे ॥ द्विगुश्च 121123।
तत्पुरुषसह ॥ द्वितीया धितातीतपतितगततात्यस्तप्राप्तापन्नैः 121124।
द्वितीयान्त धितादिप्रवृत्तिके सुबन्तं सह वा समस्यते । कृष्णं धित-कृष्णधित ।

तत्पुरुष । प्रागिति । 'शेषो बहुव्रीहिः' इत्यत प्रागित्यर्थः । कृष्णधितः । 'कृष्ण
अम् धिस सु' इत्यलौकिकविग्रहे 'द्वितीया धितातीतपतितगतात्यस्तप्राप्तापन्नैः' इति
समासे 'कृतद्वितममासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे, 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति
सुपो लुकि, 'प्रथमानिदिष्ट समास उपसर्जनम्' इति द्वितीयान्तस्य कृष्णमित्यस्यो
पसर्जनसंज्ञायाम्, 'उपसर्जन पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते, एकदेशविकृतन्यायेन

तत्पुरुष — बहुव्रीहिके पूर्व तत्पुरुषका अधिकार है ।

नोटः—तत्पुरुषमें नितने समासविधायक सूत्र है, उन सबसे समासके साथ साथ तत्पु-
रुषसहा भी होगी ।

द्विगुश्च—द्विगु समास भी तत्पुरुषसहक हो ।

नोट — तत्पुरुषका भेद 'कर्मधारय' और कर्मधारयका भेद 'द्विगु' समास कहलाता है ।

तत्पुरुष—जिस समासमें समस्त पदका अन्तिम खण्ड प्रधान हो और सभी खण्ड
सम्बोधन तथा कर्त्ताको छोड़कर अन्य किसी भी कारककी विभक्तिका अर्थ लेकर परस्पर
सम्बद्ध हों, उसे तत्पुरुष समास कहते हैं । जैसे—शोकाकुल । मधुरमिश्र आदि ।

कर्मधारय—जिस तत्पुरुष समासमें विशेष्य-विशेषण या उपमान-उपमेयके समा-
नाधिकरण (विशेष्य-विशेषणमावापन्न) का बोध हो, उसे कर्मधारय समास कहते हैं ।
(इसमें वचर पदका अर्थ प्रधान रहता है) जैसे—दीर्घाकारः । चन्द्रमुखः, आदि ।
कर्मधारय समासमें दोनी पदोंमें सम्बन्धको व्यक्त करनेवाले शब्दके छुट रहनेपर वह
समास 'मध्यमपदकोपो' समास कहलाता है । जैसे—'पर्जन्यनिर्मिता शाला पर्णशाला'
'शाकपिप पाषिच - शाकपाषिचः' आदि । द्विगु—कर्मधारय-सामासिक शब्दका पूर्व
पद सरवावाचक होनेसे वह समास द्विगु समास कहलाता है । यह समास अधिकतर
समाहार अर्थमें और एकवचनान्त नपुंसकलिङ्ग होता है । इसके बहुतसे समस्त पद अनि-
यमितरूपमें बनते हैं । जैसे—त्रिकोकी । पञ्चमवम्, आदि । विशेष जानकारीके लिए
निम्न (१) टिप्पणीमें 'समासचन्द्रिका' देखो ।

द्वितीयाधिसा-द्वितीयान्त पद, धितादिप्रवृत्तिक सुबन्तके साथ समस्त हो, विकल्पते ।

(१) प्रायेणोत्तरपदार्थप्रधानतुत्तत्पुरुषः । (अतिमाह, निष्कीशाम्बि इत्यादावुत्तर-
पदार्थप्रधानावाभावाप्रादेगेति) स द्विधा स्वधिकरणं समानाधिकरणेष्वेति । तत्र मित्रवि-
असकदरवदितो स्वधिकरणः । सोपि द्विधा अनित्यो नित्यश्च । तत्राऽनित्य संसविष ।

इत्यादि ॥ तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन । २।१।३०। तृतीयान्तं तृतीया-
न्तार्थकृतगुणवचनेनार्थेन च सह प्राग्वत् । शङ्कुलया खण्डः-शङ्कुलाखण्डः । धान्ये-
नार्थो-धान्यार्थः । तत्कृतेति किम् ? अक्षणा काणः ॥ पूर्वसदृशसमोनार्थकलह-
निपुणमिश्रश्लक्ष्णैः । २।१।३१। तृतीयान्तमेतैः प्राग्वत् । मासपूर्वः । मातृ-
सदृशः । पितृसमः । ऊनार्थे-मापोनं कार्यापणम् । मापविकलम् । वाक्कलहः ।
आचारनिपुणः । गुडमिश्रः । आचारश्लक्ष्णः ॥ (अवरस्योपसंख्यानम्) ।
मासावरः ॥ अन्नेन व्यञ्जनम् । २।१।३४। संस्कारकद्रव्यवाचकं तृतीयान्तमन्नेन

प्रातिपदिकत्वात्सौ, रुत्वे, विसर्गं च तरित्तिद्धिः । शङ्कुलाखण्डः । 'शङ्कुला टा खण्ड
सु' अत्र 'तृतीया तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति समासे प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि,
तृतीयान्तस्य प्रथमानिर्दिष्टत्वात्पूर्वनिपाते, समुदायात्सौ, सस्य रुत्वे, रेफस्य विस
र्गत्वे च तरित्तिद्धिः । धान्यार्थः । 'धान्य टा अर्थं सु' इत्यलौकिकविग्रहत्वात्त्वे 'तृतीया
तत्कृतार्थेन गुणवचनेन' इति 'समासे प्रातिपदिकत्वे, सुपो लुकि, तृतीयान्तस्य
पूर्वनिपाते समुदायात्सौ, रुत्वे, विसर्गं च तरित्तिद्धिः । अक्षणा काण इति । नहि अक्षणा
काणत्वं कृतम्, किन्तु रोगादिनेति भावः । पूर्वसदृशेति । पूर्व-सदृश-सम-ऊनार्थ-
कलह-निपुण-मिश्र-श्लक्ष्ण-पुतैः सह तृतीयान्तं पदं समस्यते स तत्पुरुष इत्यर्थः ।
मासपूर्वः-मातृसदृशः-पितृसमः-आचारनिपुणः-मापोनम्-मापविकलम्-वाक्कलहः-
गुडमिश्रः-आचारश्लक्ष्णः । एषु मासेन पूर्वः-मात्रा सदृशः-पित्रा समः-आचारेण
निपुणः-मापेण ऊनम्-मापेण विकलम्-वाक्का कलहः-गुडेन मिश्रः-आचारेण श्लक्ष्णः
इति विग्रहेषु तृतीयान्तैः सह समासे सुब्लुकि, तृतीयान्तस्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते
समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे सुधादिकार्ये रूपाणां संसिद्धिः । अवरस्येति । तृतीयान्तेन
समसनमुपसंख्यानमित्यर्थः । मासावरः । मासेनावर इत्यर्थे चार्त्तिकशलासमासे
सुब्लुकि मासस्य पूर्वनिपाते सुधादिकार्ये रूपसिद्धिः । अन्नेनेति । संस्कारकद्रव्य
वाचकं व्यञ्जनम् । तृतीयान्तं सदृशवाचकेन समस्यते । दध्योदनम् । दध्नोपसिद्धमोद

तृतीया-तृतीयान्त पद, तृतीयान्तार्थकृत गुणवचनके साथ और अर्थ शब्दके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । पूर्वसदृश-तृतीयान्त पद, पूर्वादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । अवरस्योप-तृतीयान्त पद, अवर प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त
हो, विकल्पसे । अन्नेन-संस्कारकद्रव्य वाचक तृतीयान्त पद, समर्थ सुबन्तके साथ समस्त

तेष्वनित्येषु १. प्रथमातरपुरुषो यथा-अर्थ पिप्पल्याः = अथपिप्पली । पूर्व कायस्य =
पूर्वकायः । प्राप्नो ग्रामं = प्राप्तग्रामः । आपन्नो देवान् = आपन्नदेवः । २. द्वितीयातरपुरुषो
यथा-कृष्णं श्रितः = कृष्णश्रितः । पितरौ प्राप्तः = पितृप्राप्तः । रामान् आपन्नः = रामापन्नः ।
३. तृतीयातरपुरुषो यथा-शङ्कुलया खण्डः = शङ्कुलाखण्डः । मासेन पूर्व = मासपूर्वः । पितृभ्यां

सह प्राग्वत् । दध्ना उपसिक्तमोदन दध्मोदनम् ॥ भक्ष्येण मिथीकरणम् । २.१।
 ३५। गुडेन मिथ्वा धाना—गुडधाना ॥ कर्तृकरणे कृता बहुलम् । २।१।३२।
 कर्तरि करणे च तृतीया कृदन्तेन बहुल प्राग्वत् । हरिणा त्रातो हरित्रात ।
 नखमिञ्च ॥ (कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि ग्रहणम्) । नखनिर्मिञ्च ॥
 चतुर्थी तदर्थार्थवलिहितसुखरक्षिते । २।१।३६। चतुर्थ्यन्तार्थाय यत्तद्वाचिना-
 ऽर्थादिभिश्च चतुर्थ्यन्त वा प्राग्वत् । यूपाय दाह-यूपदाह । तदर्थेन प्रकृतिविकृति
 भाव एवेष्यते । तेनेह न—रन्धनाय न्धात्वे । अथवासादयस्तु पश्रीतत्पुष्पा ॥
 (अर्थेन नित्यसमासो विशेष्यलिङ्गता चेति यक्तव्यम्) । द्विजायार्थं

नमित्यर्थे समासे पूर्वनिपाते यणि स्र्वाधिकार्यं प्रयोगसिद्धिः । पसे वाच्यमपि ।
 नखनिर्मिञ्च । नखनिर्मिञ्च—नखनिर्मिञ्च इत्यत्र कृद्ग्रहणे गतिकारकपूर्वस्यापि
 ग्रहणात् 'कर्त्तृकरणे कृता बहुलम्' इति समासे, प्रातिपदिकसंज्ञायाम् 'सुपो
 धातुप्रातिपदिकयो' इति सुपो लुकि, नखस्य पूर्वनिपाते विभक्तिकार्ये च तद्विधिः ।
 चतुर्थी तदर्थार्थः । प्रथमग्रहणपरिमाणया चतुर्थीयनेन चतुर्थ्यन्त गृह्यते । तदर्थं, अर्थं,
 बलि, हित, सुख, रक्षित एषां द्वन्द्वः । चतुर्थ्यन्तम् एते बह्वि- समस्यते, स
 तापुरुष इति फलितम् । तदर्थेत्यत्र तद्ग्रहणेन चतुर्थ्यन्तार्थो विवक्षितः तस्मै
 चतुर्थ्यन्तार्थाय इदं तदर्थम् । 'अर्थेन नित्यसमासः' इति 'वक्ष्यमाणः समासः ।
 चतुर्थ्यन्तवाच्यप्रयोजक यत् तत् तदर्थमिति पर्यवस्यति । तदाह—चतुर्थ्यन्तार्थे-
 ष्यादिना । रन्धनायेति पाकादेश्यर्थः । रथावयाद्यत्पुष्प्यन्ववाच्यपाकार्थेष्वपि प्रकृति

हो, विकल्पते । भक्ष्येण—मिथीकरण वाचक तृतीयान्त पद, भक्ष्य वाचक समर्थ सुबन्तके
 साथ समस्त हो, विकल्पते । कर्तृकरणे—कर्ता और करणमें ओ तृतीया, वह कृदन्तके साथ
 बहुत प्रकारसे समस्त हो । कृद्ग्रहणे—कृद् ग्रहणमें गतिकारक पूर्वका ओ ग्रहण हो ।

चतुर्थी—चतुर्थ्यन्तार्थके लिये ओ है, तद्वाचक ओ समर्थ सुबन्त उसके साथ और
 अर्थादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ चतुर्थ्यन्त समस्त हो, विकल्पते ।

नोट—'यूपाय दाह यूपदाह' यहाँ पर 'यूपाय' यह चतुर्थ्यन्त है, इसका अर्थ हुआ
 'यूप' इसके लिये ओ ('दाह') है, इसवाचक समय सुबन्त हुआ 'दाह सु' इसके साथ
 चतुर्थ्यन्त 'यूपाय' का समास होता है ।

अर्थेन—अर्थ शब्दके साथ चतुर्थ्यन्तका नित्य समास हो और विशेष्यलिङ्गता भी हो ।

सदृश—वितृप्तसदृश । मधुरे मित्र = मधुरमित्र । ४ चतुर्थीतत्पुष्पको यथा—यूपाय दाह=
 यूपदाह । वितृष्वा वक्ति = वितृवक्ति । गोमधो दित्त=गोहितम् । ५ पञ्चमीतत्पुष्पको यथा=बो-
 राद्धव-बोरमवम् । वितृष्वा मोक्ष=वितृष्वात् । पापे=प्रापेत्-पापपेत् । ६ षष्ठीतत्पुष्पको
 यथा—सुवनस्य पर = सुवनपर । राह प्रकृ = राहप्रकृ । विभोमंक्त = वितृष्वात् ।

द्विजार्थः सूपः । द्विजार्था यवागूः । द्विजार्थं पयः । भूतकलिः । गोहितम् । गोसुखम् । गोरक्षितम् ॥ पञ्चमी भयेन । २।२।३।७ चोराद् भयं चोरभयम् ॥ स्तोत्रान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन । २।२।३।९। पञ्चम्याः स्तोत्रादिभ्यः । ६।३।२। अलुगुत्तरपदे । स्तोत्रान्मुक्तः । अत्रयान्मुक्तः । अन्तिकादागतः । अभ्याशादागतः । दूरादागतः । विप्रकृष्टादागतः । कृच्छ्रादागतः । पृष्ठी । २।२।८। सुवन्नेन प्राग्वत् । राज्ञः पुरुषः-राजपुरुषः । याजकादिभिश्च । २।२।९। पृष्ठयन्तं समस्यते । वक्ष्यमाणस्यापवादः । ब्राह्मणयाजकः । देवपूजकः । याजक, पूजक, परिवारक, परिवेषक, स्नातक, अध्यापक, उत्पादक, उद्दत्तक, होतृ, पातृ, भर्तृ, रथगणक,

त्रिकृतिमाचविरहान्न समासः । द्विजार्था यवागूरिति । द्विजायेगमिति विप्रहः । अर्थ-शब्दस्य निश्चयपुंल्लिङ्गत्वेऽपि 'परवक्षिणम्' इति पुंल्लिङ्गं वाधित्वा अनेन विशेष्य-लिङ्गानुसारेण स्त्रीलिङ्गता । चोरभयम् । 'चोर इति भय सु' इत्यत्र 'पञ्चमी भयेन' इति समासे सुपो लुकि, पञ्चम्यन्तस्य पूर्वनिपाते समुदायारसौ, विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । स्तोत्रान्तिक । रतोक, अन्तिक, दूर, एतदर्थकानि, कृच्छ्र एतानि पञ्चम्यन्तानि क्तप्रत्ययान्तेन समस्यन्त इत्यर्थः । अर्थप्रहणं स्तोत्रान्तिकदूरेषु सम्भव्यते । स्तोत्रान्मुक्तः । 'स्तोक इति, मुक्त सु' इत्यत्र 'स्तोत्रान्तिकदूरार्थकृच्छ्राणि क्तेन' इति समासे, प्रातिपदिकत्वात्सुपो लुकि प्राप्ते, 'पञ्चम्याः स्तोत्रादिभ्यः' इति पञ्चम्या अलुकि, 'उडसिडसामिनारस्याः' इति छेसरादादेशे सवर्णद्वन्द्वे, समुदायारसौ, रूपे विसर्गे च तत्सिद्धिः । राजपुरुषः । 'राजन् असु पुरुष स्' इत्यलौकिकदिप्रह-वाक्ये 'पृष्ठी' इत्यनेन समासे सति 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुबलुकि अन्तर्वर्तिनी विभक्तिं प्रत्ययलक्षणेनाश्रित्य 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इति नलोपे, विभक्तिकार्यं च कृते 'राजपुरुषः' इति सिद्धम् । याजकादिभ्यश्चेति । याजकादिराज-पठित्तः पृष्ठयन्तं समस्यते । ब्राह्मणयाजकः, देवपूजकः । ब्राह्मणस्य याजकः-देवस्य पूजकः इति विप्रह 'याजकादिभ्यश्च' इति समासे सुबलुकि पृष्ठयन्तस्य पूर्वनिपाते

पञ्चमी भयेन—भयप्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ पञ्चम्यन्त समस्त हो, विकरसे ।
 स्तोत्रान्तिक—कान्त प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ स्तोत्रादि समस्त हो, विकरसे ।
 पञ्चम्याः—स्तोत्रादिसे पर पञ्चमीका अलुक् हो, उत्तरपदके परे ।
 पृष्ठी—समर्थ सुबन्तके साथ पृष्ठयन्तका समास हो । याजकादिभिश्च—याजकादि-
 नराणां पतिः = नरपतिः । ७. सप्तमीतत्पुरुषो यथा—अक्षेपु शौण्डः=अक्षशौण्डः । कर्मणि कुशलः = इमंकुशलः । कपालयोः सिद्धः = कपालसिद्धः । इत्यनित्यव्यधिकरणः ।
 अथ नित्यः । स द्विविधः । सुबन्तसमासः कृदन्तसमासश्चेति । तत्र नित्ये व्यधिकरणे

पत्तिगणक, इति याजकादि । (गुणात्तरेण तरलोपश्च) । तरन्त यद्
गुणवाचि तेन समास । सर्वेषां श्वेततर सर्वश्वेत । सर्वेषां महत्तर-सर्वमहान् ॥
न निर्धारणे । २।२।१०। यद्ये न समस्यते । नृणा द्विज श्रेष्ठ ॥ पूरणगुण
सुहितार्थसद्व्ययतव्यसमानाधिकरणेन । २।२।११। पूरणार्थ- सदादिभिश्च
यद्ये न समस्यते । पूरणे-मता यद्ये । गुणे-काकस्य काण्यम् । सुहितार्थास्तु
स्यर्था फलानां सुहित । सत्-द्विजस्य कुर्वन्-कुर्वाणो वा । ब्राह्मणस्य कृष्णा ।
पूर्वोत्तरसाहचर्यात् कृदव्ययमेव गृह्यते । तेन तदुपरीत्यादि सिद्धम् । ब्राह्मणस्य कर्त-

सुवादि कार्ये 'ब्राह्मणयाजक' 'देवपूजक' इति रूपे भवतः । गुणादिति ।
गुणात् गुणवाचकात् य तरप् तेन तरयन्तेन समासस्तरपो छोपश्चेत्यर्थः ।
सर्वश्वेत । सर्वेषां श्वेततर इति विग्रहे 'गुणात्' इति समासे सुब्लुकि
तरपो छोपे सुवादि कार्ये 'सर्वश्वेत' इति रूपम् । सर्वमहान् । सर्वेषां महत्तरः
सर्वमहानिति विग्रहे समासे सुब्लुकि तरपो छोपे यद्यन्तरस्य पूर्वनिपाते सुवादि
कार्ये 'सर्वमहान्' इति रूपम् । न निर्धारणे इति । 'यद्ये' इत्यतः यद्येऽप्यनुवर्तते ।
यद्ये न समस्यते निर्धारणे । नृणा द्विज श्रेष्ठ, अत्र नृषु द्विजस्य श्रेष्ठत्वेन निर्धारण
त्वाच्च समास इत्यर्थः । पूरणेति । अत्रापि यद्येऽप्यनुवर्तते 'न निर्धारणे' इत्यतो जेति
च । क्रमशा उदाहरति । पूरणे 'सता यद्ये' अत्र यज्या पूरण यद्ये इति पूरणार्थप्रत्यय
यत्वेन न समास । गुणे 'काकस्य काण्यम्' अत्र कृष्णो गुणस्तस्य भावः काण्यम्
इति गुणेन न समास । सुहितार्थानुपपत्त्यां 'फलानां सुहित' अत्र सुहितस्य
योगे न समास । सत्-द्विजस्य कुर्वन्-कुर्वाण' अत्र कर्तृज्ञानयोः 'तौ सत्' इति
स्तरसंज्ञाविधानान्न तेन यद्यन्तरस्य समास । श्वेतयम्-ब्राह्मणस्य कृष्णा 'कृष्णातो
सुब्लुकि' इति श्रुत्याऽप्यस्याप्यये परिगणनात् न तेन समास । कृष्णयपरस्यैव
ब्राह्मण भवति न सञ्चितस्य, तेन 'तदुपरि' इत्यादीनां सिद्धिः समवस्थेवेति भावः ।
तज्य-ब्राह्मणस्य-कर्तव्यम्' इति तद्व्ययान्तेन न समास । समानाधिकरणानां समा-

प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साय यद्यन्तका समास हो, विकल्पते । गुणात्तरेण—तरन्त जो
गुणवाचो शब्द, उसके साथ बङ्घत्त समरत हो और तरप् प्रत्ययका लोप भी हो ।

न निर्धारणे—निर्धारणमें ('यन्तश्च निर्धारणे') से विहित) जो यद्ये, वह सुबन्तके साथ
समस्त नहीं हो ।।

पूरणगुण—पूरण, गुण और सुहितार्थक प्रत्यय तथा सत् (सत्-ज्ञानच्), अव्यय,
तज्य और समानाधिकरणके साथ यद्ये समरत नहीं हो ।

तत्पुरुषे सुबन्तसमासो यथा—द्विजावाऽयम् = द्विजाथो (वेदः) । पितृव्यामिव = पित्रर्थो
(पुरा) । देवस्य इदं = देवार्थम् (इन्द्रिः) । अतिक्रान्तो माताम् = अतिमातृः । अत्रकृत्-

व्यम् । तद्वक्तव्य सर्पस्य ॥ केन च पूजायाम् । २।२।२। मतिबुद्धीति सूत्रेण विहितो यः कस्तदन्तेन पृष्ठी न समस्यते । राक्षां मतो बुद्धः पूजितो वा ॥ अधिकरणवाचिना च । २।२।३। केन पृष्ठी न समस्यते । इदमेपामासितं गतं भुर्चं वा ॥ कर्मणि च । २।२।४। उभयप्राप्तौ कर्मप्रीति या पृष्ठी सा न समस्यते । आश्वर्यो गवां दोहोऽगोपेन ॥ तृजकाभ्यां कर्तरि । २।२।५। कर्त्रर्थतृजकाभ्यां पृष्ठ्या न समासः । अयां स्रष्टा । वज्रस्य भर्ता । ओदनस्य पाचकः ॥ कर्तरि च । २।२।६। कर्तरि पृष्ठ्या अकेन न समासः । भवतः शायिका ॥ पूर्वापराधरोत्तरमेकदेशिनैकाधिकरणे । २।२।१। अवयविना सह पूर्वादयः समस्यन्ते, एकत्वसंख्याविशिष्टधेदवयवी । पृष्ठीसमासापवादः । पूर्वं कायस्य-पूर्वकायः । अपरकायः । एकदेशिना किम् ? पूर्वं नामेः कायस्य । एकाधिकरणे किम् ? पूर्वस्थानाणाम् । अर्थं नपुंसकम् । २।२।२। समांशवाच्यर्थशब्दो नित्यं क्लृप्ते स प्राग्वत् । अर्थं पिप्पल्याः-

नमधिकरणं ययोर्येषां वा तैर्न समासः । अधिकरणेति । छान्तेन पृष्ठी न समस्यते । अत्र 'पृष्ठी' इत्यतः पृष्ठीति 'न निर्धारणे' इत्यतो नेति च तथा 'केन' इत्यतः केनेति च अनुवर्तनेन अधिकरणवाचिनेति च्छस्य विशेषणम् । अधिकरणार्थं विहितेन केन पृष्ठ्यन्तं न समस्यते । तेनेदमेपामासितमित्यादि न समस्यते । कर्मणि चेति । 'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति पृष्ठी न समस्यते । 'गवां दोहः' अत्र न समस्यन्मुभयप्राप्तकर्मणः पृष्ठ्या निषेधात् । तृजेति । अत्रापि 'पृष्ठी' इत्यनुवृत्तं विपरिणम्यते । अयां स्रष्टा-वज्रस्य भर्ता । अत्र तृजन्तस्य स्रष्टृपदस्य अर्तुपदस्य च 'ओदनस्य पाचकः' इत्यग्राकान्तस्य न पृष्ठ्यन्तेन समासः । कर्तरि चेति । कर्तरि पृष्ठ्या न समासः । अत्राकेति चानुवर्तते । भवतः शायिका । अत्राङ्कन्तत्वे न समासः । निषेधात् ।

केन—'गतिबुद्धिपूजार्थेभ्यः' इति सूत्रसे विहितो 'क्' तदन्तके साध पृष्ठी समस्त नहीं हो ।

अधिकरण—अधिकरणवाची जो 'क्' तदन्तके साध पृष्ठी समस्त नहीं हो ।

कर्मणि च—'उभयप्राप्तौ कर्मणि' इति सूत्रसे विहितो जो पृष्ठी, वह समस्त नहीं हो ।

तृजकाभ्यां—कर्त्रर्थक 'तृच्' और 'अक' के साथ पृष्ठी समस्त नहीं हो ।

कर्तरि च—कर्तार्थे विहितो जो पृष्ठी वह 'अक' के साथ समस्त नहीं हो ।

पूर्वापरा—यदि एकत्वसंख्याविशिष्ट अवयवी हूँ तो, अवयववाची के साथ पूर्वादि समर्थ भूवन्त समस्त हो, विकल्पसे । अर्थं नपुंसकम्—समांशवाची नित्य नपुंसक अर्थ

कौक्किलया = अवकीकिलः । परिखानोऽप्ययनाय = पर्यटयनः । निष्क्रान्तः कौशाभ्याः = निष्कौशाभिः । नित्ये ऽप्यधिकरणे तस्यरूपे कृदन्तसमासो यथा—प्रकर्षेण नीतः=प्रणीतः । सम्यक् मतः = संमतः । अनुपद्वेण गतः = अनुगतः । दुःखेन जेयः = दुर्जयः । सुखेन गम्यः =

अर्धपिप्पली ॥ (एकविमक्तावपष्ट्यन्तवचनम्) । इत्युपसर्जनसंज्ञावाधाद्ग्रन्थो
न । ऊरे किम् ? प्रामार्थ । इत्येक्य एव । अर्धं पिप्पलीनाम् । द्वितीयतृतीय-
चतुर्थतुर्याण्यन्यतरस्याम् । २।२।३। एतान्येकदेशिना सह प्राग्वद्वा । द्वितीयं
मिशान्ता - द्वितीयमिक्षा । एकदेशिना किम् ? द्वितीय मिशान्ताया मिशुकस्य । अन्यतर-
स्याप्रहणसामर्थ्यात् पूरणगुणेति निषेधं चाभित्वा पठे षष्ठीसमास । मिशान्ताद्वितीयम् ॥
प्राप्तापन्ने च द्वितीयया । २।२।४। पठे-द्वितीयाधितेति गमाम् । प्राप्तो जीवन

अर्धपिप्पली । 'अर्धं सु पिप्पली षष्ठ' इत्यत्र 'अर्धं नपुंसकम्' इति समासे समास
त्वात्प्रातिपदिकत्वेन सुपो लुकि, 'प्रथमानिर्दिष्टसमास उपसर्जनम्' इत्युपसर्जन
संज्ञायाम् 'उपसर्जनपूर्वम्' इति अर्धशब्दस्य पूर्वनिपाते समुदायासी
विभक्तिकार्यं तसिद्धि । अत्र पिप्पलीशब्दस्य विग्रहे नियतविभक्तिकत्वेऽपि
'एकविमक्तावपष्ट्यन्तवचनम्' इति निषेधाद्दुपसर्जनत्वाभावात् इत्य इति भाव ।
एकविमक्ताविनि । 'एकविमक्ति चापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनसंज्ञावाधेऽपष्ट्यन्तमिति
ज्ञेयम् । तेन षष्ठ्यन्तस्योपसर्जनत्वाभावात् इत्यादिकार्यं नेति । द्वितीयतृतीयेति ।
'पूर्वपरा' इत्यत्र एकदेशिनेति अनुवच्यते । अन्यतरस्यामिति विकल्प । द्वितीयमिक्षा ।
द्वितीय मिशान्ता इति विग्रहे 'द्वितीय' इत्यनेन समासे 'प्रथमा' इति द्वितीयस्यो
पसर्जनसंज्ञायां 'उपसर्जन पूर्वम्' इति तस्य पूर्वनिपाते सुब्लुकि सुधादिकार्यं रूपम् ।
महाविभाषयेव सिद्धेऽन्यतरस्याप्रहणसामर्थ्यात् 'पूरणगुण' इति निषेध चाभित्वा
षष्ठीसमास । मिशान्ताद्वितीयम् । मिशान्ता द्वितीयं इति विग्रहे 'पठो' इति समासे
सुब्लुकि मिशान्तादेश्योपसर्जनत्वे पूर्वनिपाते सुधादिकार्यं रूपम् । प्राप्तेति । पठे

शब्द, समर्थ सुब्लुके मास समास हो, विकल्पते । एकविमक्ताव—एकविमक्ति
चापूर्वनिपाते' इम सूत्रसे नियत विभक्त्यन्त वपष्ट्यन्तकी उपसर्जनसंज्ञा नहीं है ।

द्वितीय—द्वितीयादि सुबन्त एकदेशी (अवयवी) के साथ समास है, विकल्पते ।

नाट—'द्वितीय मिशान्ता मिशुकस्य' यहा पर 'द्वितीय' का अवयवी मिशुक नहीं है,
किन्तु 'मिशान्ता' है । अत्र मिशुकके साथ 'द्वितीय' का समास नहीं होगा । किन्तु मिशान्ताके
साथ ही संकटा है और 'द्वितीयमिक्षा मिशुकस्य' पैसा वाक्य भी बन सकता है ।

प्राप्तापन्ने च—प्राप्त और आपन्न शब्दोंका द्वितीयावन्तके साथ समास है, विकल्पते

सुगम । विद्वेषेण जेय = विजये । अधिक पाति = अधिक । परितोऽन = पर्यटनम् । अमितो
गमनम् = अमितगमनम् । आ समन्तारुर्ध्वम् = आर्कषणम् । कुम्भ करोति = कुम्भकार ।
आश्वा विपति = विपि । एहात्प्रातं = एहात्पुत्रम् । आशुवाशुत्वात् = आशुत्वम् । त्वो विह-
रति = स्वार्ष । कुम्भ परति = कुम्भकरः । दूर परति = दूरदर्शी । इति नित्यः ।

प्राप्तजीवनः । जीवनप्राप्तः । आपन्नजीवनः । जीवनापन्नः । इह सूत्रे द्वितीयया अ इति छिस्वा अकारोऽपि विधीयते । तेन जीविकां प्राप्ता स्त्री प्राप्तजीविका । आपन्न-जीविका ॥ फालः परिमाणिना । २।२।५। परिच्छेद्यवाचिना सुबन्तेन सह कालाः समस्यन्ते । मासो जातस्य यस्य स मासजातः ॥ सप्तमी शौण्डैः । २।१।४०। सप्तम्यन्तं शौण्डादिभिः प्रागपत् । अक्षेषु शौण्डः-अक्षशौण्डः । शौण्ड, धूर्त, कितव, व्याट, प्रवीण, संवीत, अन्तर, अघि, पट्ट, पण्डित, कुशल, चपल, निपुण, इति शौण्डादिः ॥ द्वितीया तृतीयेत्यादियोगविभागादन्यत्रापि द्वितीयादीनां प्रयोग-वशात्समासो ज्ञेयः ॥ दिक्संख्ये संख्यायाम् । २।१।५०। विशेषणं विशेष्येण बहुलमित्येव सिद्धे संख्यामेवेति नियमार्थं सूत्रम् । पूर्वेषु कामशमी । सप्तम्यः । तेनेह न, उत्तरा इत्याः । पद्य प्राङ्गणाः ॥ तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च

पदे द्वितीयान्तेन समस्येते पूर्वनिपातनायेष्टम् । प्राप्तजीवनः-आपन्नजीवनः । प्राप्तः आपन्नः जीवनमिति द्विमद्वे 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति समासे सुब्लुकि प्राप्ता-पन्नयोः पूर्वनिपाते सुधादिकार्ये रूपे भवतः । तदभावे 'द्वितीयाधित' इति समासे द्वितीयान्तस्य पूर्वनिपाते 'जीवनप्राप्तः-जीवनापन्नः' इति रूपे भवतः । तदभावे विभाषाधिकारात् अष्टम्यन्तं वाच्यमपि । स्त्रीत्वेषुपि उवाहरति । अत्र 'प्राप्तापन्ने च द्वितीयया' इति सूत्रे द्वितीयया-अ इति पदं छिद्यते । तेन जीविकां प्राप्ता-आपत्ता वा जीविकाप्राप्ता जीविकापत्ता इति प्रकृतं साध्यते । काण इति । परिमाणं परि-च्छेद्यकमस्यास्तीति परिमाणी-परिच्छेद्यस्तेन फालवाचकाः समस्यन्ते । मासजातः । मासो जातस्य अस्य इति विग्रहे परिच्छेद्यकं मासः परिमाणं तच्च अस्यास्ति स जातः परिच्छेद्यस्तद्वाचकपदं वाच इति तेन समासे सुब्लुकि सुधादिकार्ये 'मासजातः' इत्यस्य सिद्धिः । अक्षशौण्डः । 'अक्ष सुप् शौण्ड सु' इत्यत्र 'सप्तमी शौण्डैः' इति समासे सप्तम्यन्तस्य प्रथमानिहितत्वात्पूर्वनिपाते सुपो लुकि, विभक्ति-

और द्वितीयान्तको अकार आदेश भी हो । फालाः परिमाणिना-परिच्छेद्यवाची सुबन्तके साथ फालवाची सुबन्तका समास हो, विकल्पसे । सप्तमी शौण्डैः-शौण्डादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ सप्तम्यन्त समस्त हो, विकल्पसे । दिक्संख्ये-दिग्वाची और संख्यावाचीका संग्रामे हो समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । तद्धितार्थो-तद्धितार्थके

अथ समानाधिकरणरताशुद्धः । स द्विविधः । नित्यानित्यभेदात् । नित्योऽपि त्रैधा-द्वन्द्वसमासः, सुबन्तसमासः, संख्यापूर्वपदचेति । एतन् नित्ये समानाधिकरणे अष्टपदेषु द्वन्द्वसमासो यथा-उत्तानः श्रेते-उत्तानः । चन्द्रार्धो श्रेते-अधर्म्यशयः । (अथनद्ये

॥२१॥५१॥ तद्वितार्थे विशये उत्तरपदे च परतः समाहारे च वाच्ये दिक्संख्ये प्राग्वत् । पूर्वस्यां शालाया भव-पूर्वशाल इति समासे कृते । (सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः) ॥ दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां छ. ॥४॥२॥२०७॥ अस्माद्भववाच्ये न स्यादसंज्ञायाम् ॥ तद्वितेष्वचामादे. ॥७॥२॥११७॥ मिति मिति च तद्विते अचामादेरचो वृद्धि स्यात् । 'यस्येति च' । पूर्वशाल । पूर्वा शाला प्रिया यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ कृते प्रियाशब्दे उत्तरपदे पूर्वयास्तत्पुरुष । तेन शालाशब्दे आकार उदात्त । पूर्वशालाप्रिय । दिधु समाहारो नास्त्यनभिधानात् ॥ (संज्ञेयस्तद्वितार्थे) । पष्णां मातृणामपत्यं पाष्णातुर. । 'मातृरुत्सत्ख्यासंभद्रपूर्वांग' इति षड्यमाणोऽण् । पञ्च गात्रां धन यस्येति त्रिपदे बहुव्रीहौ अयान्तरतत्पुरुषस्य विकल्पे प्राप्ते ॥ (द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्) ॥ गोरतद्वितलुकि ॥५॥४॥९२॥ गोऽन्तात्तत्पुरुषाद्द्वि स्यात्समासान्तो न तु तद्वितलुकि । पञ्चगवधन ॥ संख्यापूर्वो द्विगु. ॥२॥१॥५२॥ तद्वितार्थेत्परोक्त्वा संख्यापूर्वो द्विगु ॥

कार्ये च कृते तद्वितद्विः । पूर्वशाल । पूर्वस्यां शालायां भव इत्यर्थे 'तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे कृते 'दिक्पूर्वपदात्' इति अपत्यये कृते 'यस्येति च' इत्याकारलोपे 'तद्वितेष्वचामादे' इति आदिबुद्धौ, 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुवद्भावः' इति 'पूर्वा' इत्यस्य पुवाये, समुदासस्य एकदेशविकृतन्यायेन प्रातिपदिकत्वात्सौ, रूपे विसर्गे च 'पूर्वशाल' इति । पञ्चगवधन । पञ्च गात्रो धनं यस्य स पञ्चगवधन—इत्यत्र 'पञ्चान्-सस्, गो-अस्, धन सु' इति त्रिपदे बहुव्रीहौ अयान्तरपञ्चगोशब्दयोः 'तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति वा समासे प्राप्ते 'द्वन्द्वतत्पुरुषयोरुत्तरपदे नित्यसमासवचनम्' इति नियमे समासे कृते 'सुपो

विषयमे उत्तर पदके परे सप्ताहार वाच्यमे दिग्वाचक और संख्यावाचकका समास हो, विकल्पसे ।

सर्वनाम्नो—सर्वनामको वृत्तिमात्रमें पुवद्भाव हो । दिक्पूर्वपदा—दिक्पूर्वपदक (समास) से भवादि बचोंमें 'अ' प्रत्यय हो, असंज्ञामें । तद्वितेष्वचामादे—बचोंके मध्यमें आदि बचकी वृद्धि हो, मित्-मित्-तद्वित प्रत्ययके परे । द्वन्द्वतत्पुरुषयो—समासवत्-माशयव उत्तरपदके परे अयान्तर द्वन्द्व और तत्पुरुषको नित्य ही समास होता है ।

गोरतद्वित—गोन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'द्वि' प्रत्यय हो, परन्तु तद्वितलुक्में नहीं हो । संख्यापूर्वो—'तद्वितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इस सूत्रसे विहित संख्यापूर्वकका समास

पूर्वा पत्य सोऽबन्धा । अथोमुख बोते इत्यर्थः) । पूर्व सरति-पूर्वत् । नित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे सुबन्तसमासो वधा—कृतिसत् पुवद्भावः-कृतिसत्पुवद्भावः । कृतिसतोऽध-कद्वय । संज्ञेय-कोष्ण, कपोष्णम् । कृतिसत्-समास-कृतिसत् । इत्यत्र आकारः-समासार्थः ।

द्विगुरेकवचनम् । २।४।१। द्विग्वर्थः समाहार एकवत्स्यात् ॥ स नपुंसकम्
 । २।४।१।७। समाहारे द्विगुर्द्वन्द्वश्च नपुंसकं स्यात् । पञ्चानां गवां समाहारः-पञ्च-
 गवम् ॥ विशेषणं विशेष्येण बहुलम् । २।१।५।७। भेदकं भेदेन समानाधिकरणेन
 बहुलं प्राग्वन् । नीलमुत्पलं-नीलोत्पलम् । बहुलप्रहणात्कचिन्नित्यम्-कृष्णसर्पः ।
 कचिन्न-रामो जामदग्न्यः ॥ (अपरस्यार्थे पञ्चभावो षक्तव्यः) । अपर-
 थासावर्धश्च पञ्चार्थः ॥ सन्महत्परमोत्तमोत्कृष्टाः पूज्यमानैः । २।१।६।१। सह
 समस्यते । सद्द्वैतः ॥ आन्महतः समानाधिकरणजातीययोः । ६।३।४।६।
 मशर्वयाकरणः ॥ तत्पुरुषः समानाधिकरणः कर्मधारयः । १।२।४।२। पुंल-
 र्कर्मधारयजातीयदेशीयेषु । ६।३।४।२। कर्मधारये जातीयदेशीययोश्च परतो

धातुप्रातिपदिकयोः' इति सुपो लुकि, पञ्चशब्दस्य नकारस्य 'नलोपः प्रातिप-
 दिकान्तस्य' इति लोपे 'पञ्चगो' इत्यस्मात् 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, अनुब-
 ष्चलोपे अवादेशे 'पञ्चगव' इति बहुव्रीहावन्तरे जाते बहुव्रीहिसमासस्यापि प्राति-
 पदिकत्वात् सोर्लोपे, समुदायात् सौ, इवे विसर्गे च तसिद्धिः । पञ्चगवम् । पञ्चानां
 गवां समाहारः इत्यत्र 'तद्धितार्थोत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि,
 पञ्चशब्दस्य नलोपे 'गोरतद्धितलुकि' इति टचि, टचयोर्लोपे, 'पञ्च गो व' इति
 भूने 'पञ्चोऽथवायावः' इत्यवादेशे, 'संख्यापूर्वो द्विगुः' इति द्विगुसंज्ञायाम्,
 'द्विगुरेकवचनम्' इति एकवचने सौ, 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वासोरमि, पूर्व-
 रूपत्वे च विहिते 'पञ्चगवम्' इति सिद्धम् । घनश्यामः । अत्र घनशब्दो घनसङ्घे
 लाघणिकः । 'घन सु श्याम सु' अत्र 'उपमानानि सामान्यवचनैः' इति समासे,
 सुपो लुकि, उपमानवाचकस्य घनशब्दस्य पूर्वनिपाते, विभक्तिकार्ये च तसिद्धिः ।

द्विगुसंज्ञक हो । द्विगुरेकवचनम्—द्विग्वर्थं समाहार एकवत् हो । स नपुंसकम्—समाहारमें
 द्विगु और द्वाद्व नपुंसक लिङ्ग हो । विशेषणं—विशेषण (भेदक) और विशेष्य (भेद),
 समानाधिकरण समर्थ सुबन्तके साथ बहुलप्रकारसे समस्त हो । अपरस्यार्थे—अपराको पक्षमाव
 (पञ्चादेश) हो, अर्द्ध शब्दके परे । सन्महत्परमो—सदादि प्रकृतिक सुबन्तका पूज्यमान
 प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकल्पसे । आन्महतः—'महत' शब्दको आकारान्त
 आदेश हो, समानाधिकरण और धातीयर् प्रत्ययके परे । तत्पुरुषः समानाधि—समानाधि-
 करण तत्पुरुष कर्मधारय संज्ञक हो । पुंलृकर्म—मापितपुंलृकसे पर ऊर्द्धा अभाव 'ई निसर्ग',

अपगतो धर्मः = अपधर्मः । परागतो जयः = पराजयः । निर्गतं बलं = निजबलम् । विगतो
 मार्गः = विमार्गः । मित्ये समानाधिकरणे तत्पुरुषे संज्ञापर्वगदो यथा—सह ऋषिसंज्ञ-
 काः = सप्तपदः ।

भाषितपुस्तकात्पर ऊढभावो यस्मिस्तथाभूतं पूर्वं पुंस्त् । पूरणीप्रियादिच्वप्राप्तः
 पुंस्कारोऽनेन विधीयते । महान्वभो । कृष्णचतुर्दशी । महाप्रिया । पून्यमाने किम् ३
 उत्कृष्टो गौ, पद्मादुद्धृत इत्यर्थ ॥ उपमानानि सामान्यवचनैः । २।१।५५।
 धनस्याग्र ॥ उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे । २।१।५६। पुरुषो
 व्याघ्र इव पुरुषव्याघ्र । सामान्याप्रयोगे किम् ? पुरुषो व्याघ्र इव शूर ॥
 (शाकपायिवादीनामुत्तरपदलोपश्च) । शाकप्रिय पायिव शाकपायिव ।
 देवमाक्षण ॥ कडारा कर्मधारये । २।२।३। कडारादय शब्दा
 धारये वा पूर्वं प्रयोज्या । कडारजैमिनि । जैमिनिकडार ॥ मयूरव्यंसकाद्-
 यश्च । २।१।७०। एते निपात्यन्ते । मयूरो व्यसको-मयूरव्यंसक । व्यंसको=धृतं ।
 उदक् च अवाक् च-उच्चावचम् । निश्चितं च प्रचित च-निश्चप्रचम् । नास्ति
 किञ्चन यस्य स-अकिञ्चन ॥ (आख्यातमाख्यातेन क्रियासातत्ये) । अशीत

शाकपायिवादीनामिति । 'वर्गो वर्णेन' इति सूत्रभाष्ये इदं वार्तिकं पठितम् ।
 शाकप्रिय-पायिव शाकपायिव । शाकः प्रियः यस्य स शाकप्रिय । 'वा प्रियस्य'
 इति प्रियशब्दस्य धरनिपात । शाकप्रियश्चासौ पायिवश्च इति विग्रहे बहुमीदृशमर्थं
 विशेषणसमाप्तं । तत्र पूर्वपदे बहुमीदृश उत्तरपदस्य प्रियाशब्दरूप लोपः ।
 कडारा इति । पूर्वनिपातनायेदम् । तच्च पूर्वनिपातन विनापयेति बोध्यम् । कडार-
 जैमिनि-जैमिनिकडारः । कडारश्चासौ जैमिनिश्चेति विग्रहे 'कडारा' इति निपात
 शाकविधानासमाप्ते कडारस्य वा पूर्वनिपाते सुबादिकार्ये उभयरूपसिद्धिः ।
 मयूरेति । निपातनमेतेषाम् । मयूरव्यंसक । निपातनासमसनम् । उच्चावचम् । उद-
 कश्चावचश्चेति विग्रहे निपातनानुच्चावचादेशे रूपम् । उच्चावचम् । निश्चितं च
 प्रचितं चेति विग्रहे निश्चप्रचादेशे सुबादिकार्ये रूपम् । आख्यातमिति । क्रियायाः

येसा नो पूर्वपद, उसको पुनर्भाव हो, कर्मधारय समाप्त और जानीपरू तथा देशीपरू
 प्रत्ययके परे । उपमानानि—उपमानवाची जो सुबन्त, वह समानाधिकरण सामान्यधर्म
 वाचक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो । उपमितं—उपमेय वाचक जो सुबन्त, वह उपमान
 वाचक व्याघ्रादि प्रकृतिक समर्थ सुबन्तके साथ समस्त हो, यदि साधारण धर्मका प्रयोग नहीं
 रहे । शाकपायिवादीनां—शाकपायिनादिकी सिद्धिके लिये उत्तर पदका कोप हो ।

कडाराः—'कडार' आदि शब्दोंका कर्मधारय समाप्तमें विकल्पसे पूर्वनिपात हो ।

मयूर—मयूरव्यंसकादि निपात्य हो । आख्यात—आख्यात (तिङन्त) का आख्यात

नच अस्मिन्ः उभयापत्तिकारणः । स हिदिक् । कन्तुपुदकः । कर्मधारयश्चेति । तत्र
 अन्तत्पुरुषो वचः—न पा-णः ७ अन्तत्पुरुषः । य कदाच अन्तत्पुरुषः ।

पिनतेत्येवं सततं यत्राभिधीयते सा-अश्नीतपिपता । पचतमृजता । खादत्सं. दता ।
 नास्ति कुतो भयं यस्य सः-अकुतोभयः । अन्यो राजा-राजान्तरम् । चिदेव-
 चिन्मात्रम् ॥ नञ् । २।२।६। हुपा प्राग्वत् । नलोपो नञः । ६।३।७३। नवो नस्य
 लोप उत्तरपदे । न भ्रामणः-अत्राक्षणः । तस्मान्नुडच्चि । ६।३।७४। लुप्तनकारान्न
 उत्तरपदस्याजादेर्नुट् । अन्तः । नैकधेत्यादौ तु न शब्देन सह सुप्पुपेति समासः ।
 हुगतिप्रादयः । २।२।६। एते समयेन नित्यं समस्यन्ते । कुत्सितः पुरुषः-कृद्-
 वपः ॥ ऊर्यादिच्चिडाचश्च । २।४।६। ऊर्यादयश्च्यवता अजन्ताश्च क्रियायोगे
 गतिसंज्ञाः स्युः । ऊरीकृत्य । लररीकृत्य । शुक्लोकृत्य । पटपटाकृत्य । (कारिकाज्ञान्य-

सातत्यं तस्मिन् । क्रियाया ददिरती आरुपातमाख्यातेन समस्यते स तस्युपय
 इत्यर्थः । अश्नीतपिपता-पचतमृजता-खादतमोदता । अत्र क्रियाया पृथ घोषा-
 चारयाश्च लोकाद्वावधिकार्ये रूपाणि । अकुतोभयः-राजान्तरम्-चिन्मात्रम्-इत्यादि-
 मयूख्यं सक्कादित्वात्ताधूनि । अनञः । 'न अश्व सु' इत्यत्र 'नञ्' इति समासे
 लुपो लुकि, नञः पूर्वनिपाते, 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'अ अश्व' इति
 जाते 'तस्मान्नुडच्चि' इति अश्वगताकारस्य नुटि, उटि गते, दिक्वादाधावचवे
 भूते 'अ न् अश्व' इति जाते, संयोगे, कृते विभक्तिकार्ये च तस्मिद्धिः । ननु 'नैकधा'
 इत्यत्रापि नञसमासे 'नलोपो नञः' इति नकारस्य लोपे 'तस्मान्नुडच्चि' इति
 नुटि, अनेकधेत्येह स्यादित्यत आह-नैकधेत्यादौ स्थिति । एतदर्थमेव 'नञ्' इति
 सूत्रे 'नलोपो नञः' इति सूत्रे च अकारानुयन्धग्रहणमिति भावः । ऊरीकृत्य ।
 ऊरीःच्यवयमर्द्धाकारे, तस्य 'ऊर्यादिच्चिडाचश्च' इति गतिसंज्ञायाम् 'हुगति-
 प्रादयः' इति 'कृत्वा' इत्यनेन सह गतिसमासे 'समासेऽनञ्पूर्वे' एवो द्यप्'
 इति 'कृत्वा' इत्यस्य स्थाने एयपि, उपयोरितिसंज्ञायाम् लोपे च 'ऊरीकृत्य'
 इति भूते 'इस्वस्य पिति कृति तुक्' इति हुगागमे उकि गते, क्वावन्त्या-
 वचवे जाते, तस्मात्सौ, 'अश्वादाप्सुपः' इति सुपो लोपे च तस्मिद्धम् ।

(तिङन्त) के साथ समास हो, क्रियाके सातत्य (नैरन्तर्य) गम्यमान रहनेपर ।

नञ्—'नञ्' का समर्थ सुबन्तके साथ समास हो, विकरपते । नलोपो—'नञ्'के नकार-
 का लोप हो, उत्तर पदके परे । तस्मान्नुडच्चि—लुप्तनकारक 'नञ्' से पर अजादि उत्तर
 पदको नूट् हो । हुगति—हु, गति और प्रादिका समर्थ सुबन्तके साथ नित्य समास हो ।

ऊर्यादि—ऊरी आदि शब्दकी तथा च्यवन्त और वाचन्तकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो ।

कारिका—कारिका दण्डकी क्रियाके योगमें गतिसंज्ञा हो ।

काश्च लर्मधारया । स देमा । देवलो द्विगुचेति । तत्र देवलो नवधा । तेषु स्वविधेषु-

स्योपसंज्ञ्यात्) । कारिका=क्रिया, कारिकाकृत्य ॥ अनुकरणं चानितिपरम् । १।४।६२। खाड्कृत्य । अनितिपरं किम् ? खाडिति कृत्वा निरणीवत् ॥ आदरा-
नादरयोः सवसती १।४।६३। सक्तृत्य । असक्तृत्य । भूपणेऽसम् १।४।६४।
अलंकृत्य । भूपणे किम् ? अल कृत्वौदन गत, पर्याप्तमित्यर्थः । अनुकरण-
मित्यादिप्रिसूत्री स्वमावाकृञ्चिपया ॥ अन्तरपरिमद्दे १।४।६५। अन्तर्हृत्य,
मध्ये हत्वेत्यर्थः । अपरिमद्दे किन् ? अन्तर्हत्वा गत हतं परिगृह्य गत इत्यर्थः ॥
कणेमनसी अच्चाप्रतीघाते १।४।६६। कणेइत्य पय पिवति । मनोहत् ।
कणेशब्दः सप्तमीप्रतिरूपको निपातोऽभिलाषातिशये वर्तते । मन शब्दोऽन्यत्रैव ॥

कारिकाकृत्य । कारिका कृत्वा इति विग्रहे 'कारिकाशब्दस्य' इति गतित्थे 'कुगतिप्राद-
च्' इति समासात्थे सुम्बुकि 'समासेऽनञ्' इति यद्यपि तुकि क्रियेन गुणामात्रे
सुबादिकार्ये 'कारिकाकृत्य' इति प्रयोगसिद्धिः । अनुकरणमिति । गतिसञ्ज्ञा स्यात् ।
खाड्कृत्य । खाड् कृत्वा इति विग्रहे 'अनुकरणम्' इति गतित्थे 'कुगति' इति समासे
सुम्बुकि 'समासे' इति यद्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'खाड्कृत्य' इति सिध्यति । आदरेति ।
सन्-असत्-एतौ गतिसञ्ज्ञौ स्तः । सक्तृत्य-असक्तृत्य । सत्-असत् कृत्वा इति विग्रहे
'आदरानादरयोः' इति गतित्थे 'कुगति' इति समासे सुम्बुकि 'समासेऽनञ्' इति
यद्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'सक्तृत्य-असक्तृत्य' इति रूपे भवति । भूपणेऽसमिति ।
गतिसञ्ज्ञं स्यात् । अलंकृत्य । अल हत्वेति विग्रहे 'कुगतिप्रादच्य' इति समासे सुम्बुकि
'समासे' इति यद्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अलंकृत्य' इति रूपं प्रभवति । अन्तरेति ।
अपरिमद्दहार्थेऽन्त गतित्थे स्यात् । 'अन्त हत्वा' इत्यर्थे 'अन्तः' इति गतित्थे 'कुगति'
इति समासे सुम्बुकि 'समासे' इति यद्यपि तुकि सुबादिकार्ये 'अन्तर्हृत्य' इति रूपं
भवति । कणेमनसीति । गतिसञ्ज्ञौ स्तः । कणेइत्य-मनोइत्य । कणे-हत्वा मनो इत्या

अनुकरण चानितिपरम्—इति परकसे भिन्न अनुकरणको क्रिया (कृष् चाटु)
के योगमे गतिसञ्ज्ञा हो ।

आदरा—आदर और अनादर अर्थमें सव और असवकी क्रिया (कृष् चाटु) के
योगमें गतिसञ्ज्ञा हो ।

भूपणे—भूपण अर्थमें क्रियाका योग रहने पर 'असम्' की गतिसञ्ज्ञा हो ।

अन्तरपरिमद्दे—अपरिमद् अर्थमें 'अन्तर' शब्दकी गतिसञ्ज्ञा हो ।

कणेमनसी—कणे और मन शब्दकी गतिसञ्ज्ञा हो, अच्चादे अप्रतीघात अर्थमें (मन.

१—विशेषणपूर्वपदो यथा—कृष्णश्चासौ सर्पश्च = कृष्णसर्पः । पीता चासौ टटा च =

पुरोऽव्ययम् । १।४।६७। पुरस्कृत्य ॥ अस्तं च । १।४।६८। अस्तमिति मान् अव्ययं गतिसंज्ञं स्यात् ॥ अस्तंगत्य ॥ अचछ गत्यर्थवद्देपु । १।४।६९। अव्ययमित्येव । अचछगत्य । अचछोद्य, अभिसुखं गत्वा उक्त्वा चेत्यर्थः । अव्ययं किम् ? जल-मच्छं गच्छति ॥ अदोऽनुपदेशे । १।४।७०। अदःकृत्य । अदःकृतम् । परं प्रत्युपदेशे प्रत्युदाहरणम् , अदःकृत्वा, अदः कुरु ॥ तिरसोऽन्तर्धौ । १।४।७१। तिरोभूय ॥ विभाषा कृञि । १।४।७२। तिरसोऽन्वतरस्याम् । ८।३।४२। सो वास्यात्कुप्नोः ।

इति विग्रहे 'कणेपनसी' इति गतिरत्वे 'कृगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति स्यपि तुकि सुवादिकार्यं च कृते 'कणेहस्य-मनोहस्य' इति रूपे भवतः । पुर इति । गतिसंज्ञं स्यादित्यर्थः । पुरस्कृत्य । पुरः कृत्वा इति विग्रहे 'पुरोऽव्ययम्' इति गतिरत्वे 'कृगति' इति समासे सुब्लुकि 'समासे' इति स्यपि तुकि सुवादिकार्यं नमस्पुरसो-र्गत्योः' इति विसर्गस्य नित्यं सकारे 'पुरस्कृत्य' इति रूपसिद्धिः । अस्तं चेति । गति संज्ञं स्यादिति भावः । अस्तंगत्य । अस्तं गत्वा इति विग्रहे 'अस्तं च' इति गतिरत्वे 'कृगति' इति समासे सुब्लुकि स्यपि तुकि सुवादिकार्यं रूपसिद्धिः । अचछगत्येति । गतिसंज्ञं स्यात् । अचछगत्य-अचछोद्य । अचछेत्यस्य 'अचछगत्यर्थ' इति गतिसंज्ञात्वे 'कृगति' इति समासे 'सुपो धातु' इति सुब्लुकि 'अचछ-गत्वा, अचछ-उक्त्वा' इति स्थिते 'समासेऽनञ्' इति स्यपि सुवादिकार्यं 'अचछगत्य' 'अचछोद्य' इति भवतो रूपे । अद इति । उपवेशनिसर्गस्यो गतिसंज्ञं स्यात् । अदःकृत्य । अदः कृत्वेति विग्रहे सुब्लुकि 'समासेऽनञ्' इति स्यपि तुकि सुवादिकार्यं भवति रूपम् । तिर इति । अन्तर्धौ तिरो गतिरत्वं स्यात् । तिरोभूय । 'तिरो भूवा' इति विग्रहे 'तिरः' इति गतिरत्वे 'कृगति' इति समासे सुब्लुकि स्यपि सुवादिकार्यं 'तिरोभूय' इति प्रभवति रूपम् । विभाषेति । तिरसः कृञि वा गतिरत्वमित्यर्थः । तिरसो । सोऽपदादावित्यतः 'स' इत्यनुव-र्तते, कुप्नोरिति, पिसर्जनीयस्येति च । हण इति निवृत्तम्, असम्भवात् । तसन्नियो-गात् च इति च । तदाह—सो वा कुप्नोरिति । एपाजेकृत्येति । गतिसंज्ञापक्षे गतिसमासे

माना कार्यं करनेपर) पुरोऽव्ययम्—'पुरः' इति अव्यय की गतिसंज्ञा हो ।

अस्तस्य—'अस्तम्' इति मान् अव्ययकी गतिसंज्ञा हो । अचछगत्यर्थ—'अचछ' इति अव्ययकी गतिसंज्ञा हो, गत्यर्थक धातु और वद् धातुके परे । अदोऽनुपदेशे—'अदस्' शब्द की गतिसंज्ञा हो, अनुपदेशमें ।

तिरोऽन्तर्धौ—'तिरस्' शब्दकी गतिसंज्ञा हो, अन्तर्धि (छिपना) अर्थमें ।

विभाषा—'कृञ्'के योगमें 'तिरस्' शब्दकी विकल्पसे गतिसंज्ञा हो ।

तिरसोऽन्व—'तिरस्' शब्द सन्धी विसर्गको सक्त हो, कृयर्ग-पवर्गके परे विकल्पसे ।

पीतलता । नीलं च तदुरगलं च=नीलोत्पलम् । २—विशेषणोत्तरपद्यो चथा-वैयाकरणशासौ

तिरङ्कृत्य, तिरस्कृत्य, तिरःकृत्वा ॥ उपाजेऽन्याजे । १।४।७३। एतौ कृषि वा गति
 संज्ञौ । उपाजेकृत्य, अन्वाजेकृत्य, उपाजे कृत्वा, अन्वाजे कृत्वा; दुर्बलस्य पल-
 मावायेत्यर्थः ॥ साक्षात्प्रभृतीनि च । १।४।७४। कृषि वा गतिसंज्ञानि स्युः ॥
 (च्छ्वयर्थ इति अकृष्यम्) । साक्षात्कृत्य, साक्षात्कृत्वा । लवणकृत्य, लवणं कृत्वा ।
 मान्तत्वं निपातजात् ॥ अनत्याधान उरसिमनसी । १।४।७५। उरसिकृत्य,
 उरसि कृत्वा, अभ्युपगम्येत्यर्थः । मनसिकृत्य, मनसि कृत्वा, निधित्येत्यर्थः । अन्या
 धानमुपरलेषणम्, तत्र न-उरसि कृत्वा पाणिं शेते ॥ मध्ये पदे निवचने च
 । १।४।७६। एते कृषि वा गतिसंज्ञा स्युरनत्याधाने । मध्येकृत्य, मध्ये कृत्वा । पदे-
 कृत्य, पदे कृत्वा । निवचनेकृत्य, निवचने कृत्वा, धाञ् नियम्येत्यर्थः ॥ नित्यं
 हस्ते पाणावुपयमने । १।४।७७। कृषि । उपयमनं विवाह । श्लोकारमात्रभिन्यन्ये ॥

कस्यो ष्यप् । अन्वाजेकृत्येति तथैव । उपाजे, अन्वाजे इत्यभ्यये दुर्बलस्य पल्लभात्ते
 वर्तते । उदाह—दुर्बलस्येति । साक्षात्प्रभृतीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—कृषि वेति ।
 साक्षादित्यभ्ययम् । अर्थ इति । अभूततद्भावे गम्ये सतीति अकृष्यमित्यर्थः ।
 साक्षात्कृत्येति । अमत्वस्य प्रायस्य कृषोऽेत्यर्थः । गतिसवपदे कस्यो ष्यप् । मुख्यकृमा
 दाह्याह—गान्तावमिति । लवणम्, उरणम्, शीतम्, उदकम्, आषणम्, इति पञ्चानां
 साक्षात्प्रभृतिगणे मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । अनत्याधाने । उरसि मनसि इति
 विभक्तिप्रतिरूपके अर्थ्ये गतिसंज्ञे वा स्तःअनत्याधाने । उरसि कृषवेति । गतिसवपदे
 कस्यो ष्यप् । इहापि अत्याधानं गम्यत इत्याह—निधित्येत्यर्थः । मध्येपदे ।
 गतित्वे लक्ष्माये च अत्याधानेवन्तस्य निपात्यते । निवचनेकृत्येति । अचनमात्र
 कृत्येत्यर्थः । उदाह—धाञ् नियम्येत्यर्थ इति । अचनस्य अन्वाधः निवचनम् । धार्पाभाये
 अम्यधीभाव इति भावः । पाणौकृत्येति । कृष्यां स्वीकृतुं पाणिं गृहीतव्येत्यर्थः । औद

उपाजेऽन्याजे—विभक्तिप्रतिरूपकं 'उपाजे' और 'अन्वाजे' निपातकी 'कृष्' के योगमें गति
 संज्ञा हो, विकल्पते । 'साक्षात्प्रभृतीनि च'-'अर्थ' इति व्याचष्टे—'कृष्'के योगमें
 साक्षात्प्रभृति गण्यतिपक्षी विकल्पते गतिमहा हो, च्छ्वयर्थ (अगूत-दन्नाव अर्थ) में ।

अनत्याधाने—'कृष्' के योगमें 'उरसि' और 'मनसि' की विकल्पते गतिसंज्ञा हो,
 अत्याधान (उपरलेषण या सम्पर्क) से भिन्न अर्थमें । मध्ये पदे—मध्ये, पदे और निवचने
 की 'कृष्'के योगमें विकल्पते गतिसंज्ञा हो, अत्याधानसे भिन्न अर्थमें ।

नित्यं हस्ते—हस्ते और पाणौ की 'कृष्' के योगमें नित्य गतिसंज्ञा हो, उपयम (विवाह

सूत्रदिश = वैशकारणसूत्रि' । मसूरो व्येत्तरु = मसूरस्यत्तरु (व्यग्रीहो धूर्त्) । ३-उप-
 मानदर्पपक्षो अया-शब्द एव पाण्ड=शब्दपाण्ड । एव एव श्याम=अनत्याधान । ४-उपमानो-

हस्तेकृत्य । पाणीकृत्य ॥ प्राध्वं वन्दने । १।४।७८। प्राध्वमित्यव्ययम् । गन्धं कृत्य,
 वन्दनेनानुसूलं कृतेत्यर्थः । आर्यनादिना त्वातुकृत्यकरणे-प्राध्वं कृत्वा ॥ जीवि-
 कोपनिषद्वाचौपश्ये । १।४।७९। जीविकामिव कृत्वा, जीविकाकृत्य । औपश्ये
 किम् ? जीविकां कृत्वा । प्रादिग्रहणगत्यर्थम् । सुसुपः ॥ (प्राद्यो गताद्यर्थे
 प्रथमया) । प्रगत आचार्यः-प्राचार्यः ॥ (अत्याद्यः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीयया) ।
 अतिक्रान्तो मालामिति विग्रहे ॥ एकविंशति चापूर्वनिपाते । १।२।४४। विग्रहे
 यन्नियतविभक्तिं तदुपसर्जनं, न तु तस्य पूर्वनिपातः ॥ शोचिष्योऽपसर्जनस्य
 । १।२।४८। उपसर्जनं यो गोशब्दः स्त्रीप्रत्ययान्तं च तदन्तस्य प्रातिपदिकस्य ह्रस्वः ।
 अतिमालः ॥ (अवाद्यः क्रुष्टाद्यर्थे तृतीयया) । अवकृष्टः कोकिल्या-अवक्रे-
 किलः ॥ (पर्याद्यो ग्लानाद्यर्थे चतुर्थ्या) । परिवलानोऽप्ययनाय-पर्यप्ययनः ॥
 (निराद्यः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या) । निष्क्रान्तः कौशाम्ब्या-निष्कौशाम्बिः ॥

स्तत्त्वं च निपात्यते प्राध्वं वन्दने । प्राध्वमित्यव्ययम् । वन्दने गत्ये प्राध्वमित्य-
 व्ययं गतिसंज्ञं स्वादित्यर्थः । जीविकोपनिष । उपसैव औपश्यं, सस्किन् विषये
 जीविकाशब्दः उपनिषत्कृष्टत्वात् क्लृप्तो योगे गतिसंज्ञौ स्तः । जीविकामिवेति । अरानपा-
 नादिजीवनोपायो जीविका, तामिव अवश्यं कृत्वेत्यर्थः । उपनिषदमिव कृतेति । उप-
 निषद् धेयान्तनामाः, तामिव शहसि प्राह्यत्वेन कृत्वेत्यर्थः । उपनियतकृत्येति । गतिदत्तासे
 श्वतो वयप् । उभयत्रापि सुब्लुक् । तदेवं 'कृगति प्राद्यः' इत्यस्य गतिसंज्ञायाः
 प्रवृत्तिताः । ननु गतिग्रहणेनैव सिद्धे प्रादिग्रहणं व्यर्थमित्यत आह-प्रादिग्रहणगत्य-
 र्थमिति । निष्कौशाम्बिः । अत्र 'निराद्यः क्रान्ताद्यर्थे पञ्चम्या' इति समासे सुषो लुङि

या स्वीकार) अर्थम् । प्राध्वं वन्दने-वन्दन अर्थम् 'कृप्' के योगम् 'प्राध्वन्' अन्वयवती
 नित्य गतिसंज्ञा हो । जीविकोप-जीविका और उपनिषद् को 'कृप्' के योगम् नित्य गति-
 संज्ञा ही, उपना अर्थम् ।

- प्राद्यो-गतापर्यम् प्रादिका प्रथमान्तके साथ नित्य समास हो ।
- अत्याद्यः-क्रान्ताद्यर्थम् अत्यादिका द्वितीयान्तके साथ नित्य समास हो ।
- एकविंशति-विग्रहम् बो नियत विभक्त्यन्त है, उसको उपसर्जन संज्ञा हो, परन्तु
 पूर्वनिपात नहीं हो । शोचिष्यो-उपसर्जन को गोशब्द और औपश्ययान्त, उदन्त प्राति-
 पादिकको ह्रस्व हो । अवाद्यः-क्रुष्टाद्यर्थम् तृतीयान्तके साथ अवादिका नित्य समास हो ।
- पर्याद्यो-ग्लानाद्यर्थम् चतुर्थ्यन्तके साथ पर्यादिका नित्य समास हो ।
- निराद्यः-क्रान्ताद्यर्थम् पञ्चम्यन्तके साथ निरादिका नित्य समास हो ।

अस्यो गद्या-गरः सिद्ध इदं-गरसिद्धः । चरणः पञ्चमि-चरणपञ्चम्या । ५-दिश्यपूर्वपदे

तत्रोपपदं सप्तमीस्थम् । ३।१।६२। उपपदमतिङ् । २।१।१९। उपपदं समर्थेन
 नित्यं समस्यते । अतिवन्तश्चायं समासः । कुम्भ करोतीति कुम्भकारः । अतिङ् किम् ?
 मा भवान् भूत् । माकि लुङिति सप्तमीनिर्देशान्माहुपपदम् ॥ (गतिकारकोपपदानां
 कृन्तिः सह समासवचनं प्राक् सुबुत्पत्तेः) । व्याघ्री । कच्छपी । अश्वक्रीतीत्यादि ॥
 अमैवाव्ययेन । २।२।२०। अमैव तुल्यविधानं यदुपपद तदेवाव्ययेन सह समस्यते ।
 स्वाडुकारम् । 'स्वादुमि णमुल्' इति णमुल् । नेह । 'कालसमयवेलासु तुमुन्' । कालः

'एकविंशतिचापूर्वनिपाते' इत्युपसर्जनमज्ञायाम्, 'गोखियोरुपसर्जनस्थ' इति
 इत्वाये विभक्तिकार्ये च कृते 'गिष्कौशागिष' इति रूपम् । कुम्भकारः । कुम्भ करोती
 त्यर्थे 'कर्मण्यल्' इत्यणि 'कुम्भ अस् कृ अण्' इत्यलौकिकविग्रहे 'अचो ण्णिति'
 इति वृद्धौ 'तत्रोपपद सप्तमीस्थम्' इति कुम्भकारदस्योपपदसज्ञायाम् 'उपपदमति-
 ङ्' इति समासे सुपो लुकि, 'कुम्भकार' इति मूले समासत्वात्प्रातिपदिकत्वे विभक्ति-
 कार्ये च कृते 'कुम्भकारः' इति रूपम् । व्याघ्री । विशेषेण आ सगन्ताच्चिप्रतीति
 'व्याघ्री' इत्यत्र 'गतिश्च' इति गतिर्यात् सुबुत्पत्ते पूर्व 'कुणनिप्रादय' इति समासे
 'व्याघ्र' इति आते 'आतेरस्त्रीविषयादयोपघात्' इति ङीप्, ल्यपोल्लोपे 'व्याघ्र ई'
 इति मूले 'यचि भम्' इति भसज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे, ल्योमे विभक्ति-
 कार्ये च कृते 'व्याघ्री' इति । अश्वक्रीती । अश्वेन क्रीता अश्वक्रीती इत्यत्र 'गतिकार-
 कोपपदानां कृन्तिः सह समासवचनम्, प्राक् सुबुत्पत्ते' इति परिभाषया सुबुत्पत्त-
 प्राक् 'कर्णकरने कृता बहुलम्' इति समासे, सुपो लुकि, 'क्रीताकरणपूर्वात्' इति
 ङीप्, ल्यपोल्लोपे 'अश्वक्रीत-ई' इति आते भसज्ञायाम् 'यस्येति लोपे विभक्तिकार्ये च
 लक्षित्वा । सुबन्तेन समासे तु टाप स्यादिति भावः । अमैवाव्ययेनेति । अमैवाव्ययान्तरं
 प्रथमविधानमित्यप्याहायम् । 'तृतीयैरनुलोपभाष्याम्' इति तृतीया । अमैव
 पुरयेति । अमव्ययमात्रविधायकशास्त्रेण अमैव सह यस्य उपपदसज्ञा विधीयते तदुप-

तत्रोपपदं—सप्तम्यन्त 'कर्मणि' इत्यादि पदों में वाच्यावेन रिधत् (पदोंका वाच्य)
 को कुम्भारि, तदाचक को पर (कुम्भ-आदि), उसकी उपपदसज्ञा हो (और उपपदसज्ञा
 होने पर ही वक्ष्यमाण अणादि प्रत्यय हों) । उपपदमतिङ्—उपपद सुबन्तका विकल्प
 भिन्न समर्थके साथ निरय समास हो ।

गतिकारकोप—गति, कारक और उपपद सशक का सुबुत्पत्ते पूर्व ही कृदन्तके
 साथ समास हो । अमैवाव्ययेन—'अम्' ही के साथ तृतीय विधान है जिसका, ऐसा जो

व्या-यट इति कृष्ण-यटश्च (यटविरयपट् शब्द इत्यर्थे) । देना इति कृन्ति-देवकृन्ति (देव-

समयो वेला वा भोक्तुम् । अमैवेति किम् ? अग्रे भोजं, अग्रे भुक्त्वा । विमाषाग्रे प्रथमपूर्वेष्विति क्त्वाणमुलौ । अमा चान्येन च तुन्यविधानमेतत् ॥ तृतीयाप्रभृ-
तीन्यन्यतरस्याम् २।२।२१। उपदंशस्तृतीयायामित्यादीन्युपपदान्यमन्तेनाव्ययेन सह वा समस्यन्ते । मूलकेनोपदंशं भुङ्क्ते—मूलकोपदंशम् । उपदंशस्तृतीयायामिति णमुल् ॥ क्त्वा च ॥ २।२।२२। तृतीयाप्रभृतीन्युपपदानि क्त्वान्तेन सह वा समस्यन्ते । उच्चैः कृत्य, उच्चैः कृत्वा ॥ अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वाणमुलौ तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याव्ययादेः ॥ १५४।८६। संख्याभ्ययादेरङ्गुल्यन्तस्य तत्पुरुषस्य समासान्तोऽच् स्यात् । द्वे अङ्गुली प्रमाणमस्य द्वयङ्गुलम् । निरङ्गु-
लम् ॥ अहःसर्वैकदेशसंख्यातपुण्याच्च रात्रेः ॥ १५४।८७। एभ्यो रात्रेरच् स्यात् । चात् संख्याव्ययादेः । अहर्ग्रहणं द्वन्द्वार्थम् ॥ रात्राह्लाहाः पुंसि ॥ २।४।२९। एते पुंस्येव । अहश्च रात्रिश्चाहोरात्रः । सर्वरात्रः । पूर्वरात्रः । संख्यातरात्रः । (संख्यापूर्व

पदमव्ययेन समस्यते । पूर्वसूत्रेणैव सिद्धे नियमार्थमिदमित्याह—तदेवेति । भोक्तु-
मिति । यद्यपि 'कालसमयवेलासु' इति [सप्तमीनिर्देशात् कालसमयवेलानामुपपद-
त्वम् । तथापि कालादीनामुपपदसंज्ञा तुमुना तुपपदिषानेनैव, न खमा । अतः
कालादीनामुपपदत्वेऽपि न समास इत्यर्थः । तृतीयाप्रभृतीनीति । तृतीयासन्त्वेन 'उप-
दंशस्तृतीयायाम्' इत्यारम्भ 'अन्वयानुलोम्ये' इत्यन्तसूत्रोपास्तान्युपपदानि दिवङ्गि-
तानि । अमेति, अव्ययेनेति चानुवर्तते, एवकारस्तु नानुवर्तते, अस्वरितत्वात् । अमे-
त्येतदव्ययविशेषणम् । तदाह—उपदंशस्तृतीयायामित्यादिना । नत्वा चेति । तृतीयाप्रभृती-
नीति पूर्वसूत्रमनुवर्तते, क्त्वेति तृतीयायै प्रथमा । तदाह—तृतीयेति । अव्ययेऽप्येति ।
'अव्ययेऽयथाभिप्रेताख्याने कृजः क्त्वाणमुलौ' इति सूत्रेणैवार्थः । सर्वरात्रः । सर्वा
चासौ रात्रिश्चेति विमहे 'दिशेऽणं विषोप्येण' इति [समासे, सुपो लुकि, 'अहस्स-
र्वैकदेशं' इत्यधि, असंज्ञायाम् यस्वेति लोपे 'रात्राह्लाहाः पुंसि' इति पुंस्ये सौ,

उपपद, उसीका अव्ययके साथ समास हो । तृतीया—तृतीया प्रभृति उपपदका अमन्त
अव्ययके साथ समास हो, विकल्पसे । क्त्वा च—तृतीया प्रभृति उपपदका क्त्वान्तके साथ
भी समास हो, विकल्पसे ।

तत्पुरुषस्या—संख्यादि और अव्ययादि अङ्गुल्यन्त तत्पुरुषसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय
हो । अहःसर्वैकदेश—अहरादि और संख्याव्ययादि पूर्वपदक रात्रि शब्दान्त तत्पुरुषसे समा-
सान्त 'अच्' प्रत्यय हो । रात्राह्लाहाः—रात्र, अह और लहः शब्दान्त जो ह्रस्व और
तत्पुरुष वद पुंसिभे ही हो । संख्यापूर्व—संख्यापूर्वक 'रात्र' ह्रस्व मनुसक हो ।

विषयिणी बुद्धिः ६—अव्ययात्पूर्वपदो यदा—विधेय एव—विषयवचनम् । ७—अव्ययकार-

रात्रं क्लीबम्) । द्विरात्रम् । अतिशान्तो रात्रिम्-अतिरात्र ॥ राजाहःसखिन्य-
 घृच् ॥१५४।९१। एतदन्तात्पुरुषाहन् । परमराज । घृञ्घृत् ॥ अहृष्टसोरि
 ॥१५४।१४५। टिलोप । परमाह ॥ अहोऽह् पतेभ्यः ॥१५४।८८। सर्वादिभ्योऽह-
 न्शब्दस्याहादेशः समासान्ते परे । अहोऽदन्तात् ॥८४।७। अदन्तपूर्वपदस्या-
 भिमित्तादहो नस्य णः । सर्वाह । पूर्वाह ॥ न संख्यादेः समाहारे ॥१५४।८९।
 अहोऽहादेशो न । द्वयह ॥ उत्तमैकाभ्यां च ॥१५४।९०। अहोऽहादेशो न ।
 उत्तमशब्दोऽन्त्यार्थः । पुण्यशब्दमाह ॥ (पुण्यसुदिनाभ्यामहः फलीयतेष्ट) ।
 पुण्याहम् । सुदिनाहम् । एकाह ॥ अग्राख्यायामुरसः ॥१५४।९३। टच् ।

एते विसर्गं च वरिसिद्धिः । परमराज । परमश्रासौ राजा देति विग्रहः । 'विशेषणं
 विशेष्येण बहुलम्' इति समासः । 'राजाह सखिभ्यघृच्' इति समासान्तघृच् ।
 'वस्तुदिते' इति टिलोपः । अहृष्टसोरिति । सेषपूरणेन सुप् श्वाचष्टे—टिलोप इति ।
 टेरिपनुवर्तते, 'अहोपोऽनः' इत्यरमात् लोप इति चेति भावः । अहोऽह् पतेभ्य इति ।
 पूर्वसूत्रे अहस्तसर्वकदेशसख्यातपुण्यशब्दा निर्दिष्टा । तत्र चकारेण सख्याभ्यये धनु-
 कृष्टे । अहन्शब्दवर्जं ते सर्वे पृथक्शब्देन परामूरयन्ते, न स्वहरशब्दं, अहरशब्दात्
 परस्य अहन्शब्दस्य तत्पुरुषे असम्मवाविरयमिषेय श्वाचष्टे—सर्वादिभ्य इति । समा-
 सान्ते पर इति । एतत् प्रकरणादहृष्टम् । अहोऽदन्तात् । 'पूर्वपदासञ्ज्ञायाम्' इत्यतः
 पूर्वपदादियपनुवर्तते । तच्च अदन्तादित्यग्रान्वेति । 'रपाम्यां ञो ण' इति पकारवर्जमनु-
 वर्तते । पूर्वपदाविरयनेन पूर्वपदस्यादिति विचक्षितम् । तथाह—अदन्तपूर्वेति । सर्वाह
 इति । सर्वमहरिति विग्रहे 'पूर्वकाह' इति समासे 'राजाहसखिभ्य' इति 'टच्'
 अहादेशः, जत्वं 'राग्राहाहा' इति पुरस्वम् । अहादेश इति । 'अहोऽहः' इत्यतस्तदङ्ग-
 वर्तते इति भावः । पुण्याहमिति । पुण्यमहरिति विग्रहे विशेषणसमासः, टच्, टिलोपः,

राजाह सखिभ्य—राजन् शब्दात् और अहन् शब्दान्त तत्पुनवर्तते समासान्त 'टच्'
 प्रत्यय हो । अहृष्ट—अहृष्ट शब्द को 'टि' का लोप 'ट' और 'स' प्रत्ययके परे हो, अन्यके
 परे नहीं । अहोऽह्—सर्व, एकदेश, सख्यात और पुण्य शब्दसे पर 'अहन्' शब्दको 'अह'
 आदेश हो, समासान्त प्रत्ययके परे । अहोऽदन्तात्—अदन्त पूर्वपदस्य निमित्तते पर 'अहन्'
 शब्दके नकारको नाश हो । न सख्यादे—समाहारमें वर्तमान सख्यादि 'अहन्' शब्दको
 अहादेश नहीं हो । उत्तमैकाभ्यां—उत्तम अर्थात् पुण्य शब्द और एक शब्दसे पर 'अहन्'
 शब्दको अहादेश नहीं हो । पुण्यसुदिना—पुण्य और सुदिन शब्दसे पर जो अहन् शब्द
 वह अनुसक्तिको हो ।

अग्राख्या—अग्राख्या में वर-शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो ।

जो चरपदो प्रथा—पुरुषः कृत् रवन्पुरुषकृत् । ८—अभिक्रोमयपदो यथा—दीतयाली

अध्वानामुर इव—अध्वोरसम्, मुख्योऽयं रत्यर्थः ॥ ग्रामकौटाभ्यां च तद्धणः
 ॥५४१५॥ ग्रामतद्धः । कौटतद्धः ॥ अतोः सुतः ॥५४१६॥ अतिवो वराहः ॥
 उपमानादभाषिषु ॥५४१७॥ अभाषिविषयोपमानवाचिनः शुनश्च । आर्कषः
 श्वेद-आर्कषश्च ॥ उत्तरसृष्टमपूर्वाच्च लक्ष्यतः ॥५४१८॥ चातुपमानात् ।
 उत्तरसक्यम् । मृगतम्यम् । पूर्वसक्यम् । फलकमिव सकथि-फलकसक्यम् ॥ जावो
 द्विगोः ॥५४१९॥ दिनावम् । त्रिनावम् ॥ अर्धाच्च ॥५४२०॥ अर्धनावम् ॥
 चार्याः ब्राह्मण्य ॥५४२१॥ द्विगोरर्धाच्च चार्याष्टत्वा । द्विचारम्,

‘पुण्यसुदिनाभ्यां’ इति वलीयत्वम् । एकाह इति । एकमहरिति विग्रहे ‘पूर्वकाल’ इति
 समासः । टच्, टिलोपः । अत्राख्यायामिति । पञ्चमर्थे सप्तमी । अग्रं प्रधानं तद्वाची
 ष उरश्चाब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाद्दृच् स्यादित्यर्थः । अध्वानामुर इव । उरो यथा प्रधानं
 तथेत्यर्थः । अध्वोरसमिति । उरस्त्वशब्देन मुख्यवाचिना षष्ठीसमासः । टच्, ‘परचक्षि-
 ङ्गम्’ इति नपुंसकत्वम् । ग्रामकौटाभ्यामिति । ग्रामकौटाभ्यां परो वस्तुशब्दः
 तदन्तात्तत्पुरुषाद्दृच् स्यादित्यर्थः । अतोः शुन इति । अतीत्यव्ययात् परो यः श्वन्-
 शब्दः तदन्तात्तत्पुरुषाद्दृच् स्यादित्यर्थः । अतिश्च इति । ध्वानमतिशान्त इति विग्रहः ।
 ‘आयादय’ इति समासः । टचि, टिलोपः । आयेत्याधिकपेगवान् वराह इत्यर्थः ।
 आर्कषः श्वेदिति । आर्कष्यते कुसुलादिगतधान्यमनेनेत्याकर्षः । पञ्चादयवदारविशो-
 षः । ‘उपमितं ध्यान्नादिभिः’ इति समासः । टच्, टिलोपः, ‘आर्कष्यः’ इति रूपम् ।
 उत्तरसृष्टेति । उत्तर-मृग-पूर्व-पशुभ्यः उपमानाच्च परो यः सकथ्यशब्दः तदन्तात्तत्पुरु-
 षाद्दृच् स्यादित्यर्थः । उत्तरसक्यमिति । उत्तरं सकथीति विग्रहः । पूर्वं सकथीति विग्रहे
 ‘पूर्वकाल’ इति समासः । फलकसक्यमिति । फलकमिव सकथीति विग्रहे ‘नयूरभ्यंसका-
 दित्वात्समासः । सर्वत्र टच्, टिलोपः । दिनावमिति । समाहारद्विगुः, टच्, आधादेशः,
 ‘स नपुंसकम्’ इति नपुंसकम् । अर्धाच्चेति । अर्धशब्दात्परो यो नौशब्दः, तदन्तात्त-
 त्पुरुषाद्दृचित्यर्थः । अर्धनावमिति । ‘अर्धं नपुंसकम्’ इति समासः । टच्, आधादेशः ।

ग्राम—ग्राम और कौटसे पर तद्धन् शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो ।
 अतोः शुनः—‘अति’ से पर ‘श्वन्’ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो
 उत्तर—उत्तर, मृग, और उपमानपूर्वक ‘सकथि’ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’
 प्रत्यय हो । जावो द्विगोः—‘नौ’ शब्दान्त द्विगुसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो, अत्रित्त
 लुक्मे ।

अर्धाच्च—‘अर्धं’ शब्दसे पर नौ शब्दान्त तत्पुरुषसे समासान्त ‘टच्’ प्रत्यय हो ।
 चार्या—द्विगु समासमें और अर्ध शब्दसे पर चारी शब्दसे समासान्त टच् प्रत्यय हो ।

प्रतिपक्ष = पीठमधिक्यः (जादौ पीठः पदाच्छिन्न इत्यर्थः ।) स्वासथासावनुक्तिश्च ॥

द्विखारि । अर्धखारम् , अर्धखारि । द्वित्रिभ्यामञ्जले । १५।४।१०२। द्वयञ्जम् ,
 द्वयञ्जलि ॥ ब्रह्मणो ज्ञानपदाख्यायाम् । १५।४।१०४। ब्रह्मान्तासत्पुत्राश्च ।
 सुराष्ट्रे ब्रह्मा सुराष्ट्रब्रह्म ॥ कुमहन्नधामन्यतरस्याम् । १५।४।१०५। कुमन्न ।
 कुमन्ना । महाब्रह्म । महाब्रह्मा । 'प्रकारवचने जातीयर्' । महाप्रकारो महाजा-
 तीय ॥ द्वयष्टन. सख्यायानयद्बुद्धीहाशीत्यो. । ६।३।४७। आत्स्यात् । द्वादश ।
 अष्टादश । अबहुमीशरीन्यो किम् ? दिना । द्वयशीति (प्राकृशतादिति
 चकथ्यम्) । नेह,—द्विरातम् ॥ त्रेख्य । ६।३।४८। त्रिशन्दस्य त्रयसादे'

कलीशय लोकात् । द्वयञ्जकमिति । द्वयोरञ्जयोः समाहार इति विग्रहे द्विगु, टच्
 'यस्येति च' 'स नपुसकम्' । द्वयञ्जलोति । समाहारे द्विगुः । टजभावे सति नपुसकह
 स्वत्वम् । ब्रह्मणो ज्ञानपदाख्यायाम् । ज्ञानपदे भवो ज्ञानपद भावप्रधानो निर्देश ।
 सुराष्ट्रब्रह्म इति । ब्रह्मा विग्रह । सप्तमीति योगविभागात् समास । टच टिलोप 'परव
 षिङ्गम्' इति पुसत्वम् । कुमन्न इति । 'कुमतिप्रादय' इति समासः । टच टिलोपः ।
 कुमन्नेति टजभावे रूपम् । महाब्रह्म इति । महाश्रयासौ ब्रह्मा चेति विग्रह 'सन्महत्'
 ह्यादिना समास । 'आन्महत्' इत्यात्वम् । सवर्णदीर्घ । 'कुमहन्नपाम्' इति
 टच् । टिलोप, 'परवयिञ्जम्' इति पुसत्वम् । महाब्रह्मेति । टजभावे रूपम् ।
 महादेशेति । अष्टौ च दश चेति द्वन्द्व । अष्टाभिका दशेति वा । दिना इति । द्वौ
 वा त्रयो वेति विग्रह । 'सख्ययाप्यया' इति बहुमीहि । घट्टुमीही सख्येये 'इच्'
 इति टच् । बहुमीहिवाद्ब्र द्विसहस्रस्य आर्यं न । द्वयशीतिरिति । द्वौ चाशीतिश्चेति
 समाहारद्वन्द्व । कौश्व लोकात् । अत्राशीतिपरकत्वात् द्विशब्दस्यार्यं न ।
 प्राकृशशक्ति । 'द्वयष्टन सख्यायाम्' इत्येतत् सप्तप्रभृतिसख्याशब्दे परे न सचतीति
 चकथ्यमित्यर्थः । दिशतमिति । द्वौ च शतं चेति समाहारद्वन्द्व । द्वयधिकं सप्त-
 मिति वा । एव द्विसहस्रमित्यत्रापि । त्रेख्य इति । प्राकृशतात् सख्याशब्दे उच्यते
 परत त्रे स्थाने त्रयस् आदेशः स्यादित्यर्थः । सन्धिषेलादिषु । त्रयोदशेति पाठात्

द्वित्रिभ्यां—'दि' और 'त्रि' शब्दों पर अञ्जलि शब्दान्त द्विगुत्वे समासान्त 'टच्' प्राक्च
 हो । ब्रह्मणो ज्ञानपदा—ब्रह्मान्त तत्पुत्रशब्दे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, समासशे यदि
 ज्ञानपदत्व (नमुकदेशवासित्व) बोध होता ही । कुमुहन्नध्या—'कु' और 'महत्' से पर
 ब्रह्मन् शब्दान्त तत्पुत्रशब्दे समासान्त 'टच्' प्रत्यय हो, विकल्पते ।

द्वयष्टन—दि और अष्टन् शब्दको आर्य हो, सख्याके परे । परन्तु बहुव्रीहिमें और
 अशीतिके परे आर्य नहीं हो । प्राकृशता—'इत्' शब्दसे पूर्व जो सख्यावाचक शब्द,
 उनके परे ही इत् (पूर्वोक्त) आर्य हो । त्रेख्यः—'त्रि' शब्दको 'त्रयस्' नामेश हो
 अत्राशीतिके (पूर्व स्थात वशात्तुल्यत्वात् इत्यर्थ) । १—मध्यमपदकोही स्या—आर्य

स्यात्पूर्वविषये । त्रयोदश । त्रयोविंशतिः ॥ विभाषा चत्वारिंशत्प्रभृतौ सर्वेषाम् । १।३।१९। द्वयष्टनोत्प्रेक्ष प्रागुक्तं वा चत्वारिंशदादौ परे । द्विचत्वारिंशत्, द्वाचत्वारिंशत् । अष्टचत्वारिंशत्, अष्टान्चत्वारिंशत् । त्रिचत्वारिंशत्, त्रयश्चत्वारिंशत् । एवं पञ्चाशत्-षष्टि-सप्तति-नवतिषु ॥ परवशिष्टं द्वन्द्वतत्पुरुषयोः । २।४।२६। कुक्कुटमयूर्याविमे । मयूरीकुक्कुटाविमी । अर्धपिप्पली ॥ (द्विगु-प्राप्तापक्षालंपूर्वगतिसमासेषु न) । पदेषु कपालेषु संस्कृतः—पद्मकपालः पुरोडाशः । प्राप्ते जीविकां—प्राप्तजीविकः । आपन्नजीविकः । अलंकुमारिः । अत एव ज्ञापकात् समासः । निष्कौशाम्बिः ॥ पूर्ववदश्ववडवौ । २।४।२७। द्वित्व-यतन्त्रम् । अश्ववडवौ । अश्ववडवान् ॥ अपथं नपुंसकम् । २।४।३०। तत्पुरुष इत्येव । अन्यत्र तु अपथो देशः । कृतसमासान्तग्रहणान्नेह—अपन्याः । (अकारान्तोत्तरपदो द्विगुः स्त्रियामिष्टः) पञ्चमूली ॥ (आवन्तो चा) ।

सकारान्तोऽप्यमादेश इति भावः । त्रयोदशेति । अथ च यज्ञ चेति, श्वषिका दशेति वा विग्रहः । सुब्लुकि त्रिषाब्दस्य त्रयस्, चयस्, उरवस्, आद्गुणः । एवं त्रयोविंशतिरित्यपि । सर्वेषामिति । द्वयष्टनोत्प्रेक्षेत्यर्थः । पूर्ववदश्ववडवौ । अथ च वडवा च इति द्वे द्वे परवशिष्टं चाधिरवा पूर्ववशिष्टार्थमिदम् । अथ वडवाविति द्वन्द्वः पूर्वपदस्य लिङ्गं कर्मते इत्यर्थे बहुवचने विभक्त्यन्तरे च न स्यादित्यलं धाह—द्वित्वमहन्त्रमिति । अपथं नपुंसकमिति । न पन्या इति विग्रहे नञ्समासे नञो नस्य लोपः 'श्रद्धपः' इत्यप्रारयये लिङ्गोपे अपचक्षव्यः, स नपुंसकमित्यर्थः । परवशिष्टतापवादः । तत्पुरुष इत्येवेति । 'परवशिष्टम्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । अकारान्तेति । अकारान्तञ् उत्तरपदं यस्येति विग्रहः । 'स नपुंसकम्' इत्यस्यापवादः । पञ्चमूलीति । समाहारद्विगुः, स्त्रीत्वं, 'द्विगोः' इति लीप् । आवन्तो वेति । स्त्रियां

पूर्व (सूत्र तथा वार्तिक) के विषयमें । विधाया—द्वि, अष्टन् और त्रि शब्दको प्रागुक्त (आत्वादि) कार्ये विकल्पसे हों, (शतसे पूर्व) चत्वारिंशत् प्रभृति संख्यावाचक शब्दके परे ।

परवशिष्टं—द्वन्द्व और तत्पुरुषमें पर पदकी तरह ही किन्तु हो ।

द्विगुप्राप्ता—द्विगु समास और प्राप्ता, आपन्न तथा पक्षन् पूर्वक समास और गति समासको पर पदकी तरह किन्तु नहीं हो । पूर्ववदश्व—अथ और वडवाको तत्पुरुष समासमें पूर्वपदके समास ही लिङ्ग हो । अपथं—'अपथ' शब्द तत्पुरुषमें नपुंसक किन्तु हो अकारान्तोत्तर—अकारान्तोत्तरपदक द्विगु, स्त्रीलिङ्ग हो । आवन्तो वा—आवन्तोत्तर द्विगु, विकल्पसे स्त्रीलिङ्ग हों ।

प्रियः पारिवः = आकपालिवः । वेदपुस्तके माह्वयः = देवमाह्वयः । इति केवदा कर्मधारयः ३

पञ्चदशम्, पञ्चदश ॥ (पात्राद्यन्तस्य न) । पञ्चपात्रम् । त्रिभुवनम् ।
 चतुर्युगम् ॥ छाया चाद्युत्पये । २।४।२२। छायान्तस्तत्पुरुषो नपुसकं स्यात् पूर्व
 पदार्थबाहुत्ये । इक्षुणा छाया-इक्षुच्छायम् ॥ समाराजाऽमनुष्यपूर्वा । २।४।२३।
 राजपर्यायपूर्वोऽमनुष्यपूर्वथ समा तस्तत्पुरुषो नपुसकं स्यात् । इनसभम् । ईश्वर-
 सभम् । अमनुष्यशब्दो ह्यत्र रक्ष'पिशाचादीनाद् । रक्ष'सभम् । पिशाचसभम् ॥
 विभाषा सेनासुराच्छायाशास्त्रानिशाजानाम् । २।४।२५। एतदन्तस्तत्पुरुष-
 ङ्गीबं वा । ब्राह्मणसेनम् । ब्राह्मणसेना, इत्यादि ॥ अशाला च । २।४।२६।
 संघातार्या या समा तदन्तस्तत्पुरुष-ङ्गीबं स्यात् । स्त्रीसभम्, स्त्रीसंघात इत्य- ।
 अशाला किम् ? धर्मसभा, धर्मशालेत्यर्थः ॥ अर्धर्चा, पुंसि च । २।४।२७।
 अर्धर्चादय पुंसि ङ्गीबे च स्यु । अर्धर्वे, अर्धर्वम् । एव च्चजतीर्यशरीरमण्डपीयूष-
 देहाङ्गुशकल्यसूत्रपात्रादय सामान्ये नपुंसकम् । मृदु पचति । प्रातः कमनीयम् ॥
 इति तत्पुरुषसमासप्रकरणम् ।

वेति वक्ष्यमित्यर्थः । पञ्चदशमिति । समाहारद्विगु । नपुंसकत्वे इत्यः । पञ्च
 दशोति । त्रयसंज्ञकस्यैव अङ्गत्वात् 'द्विगोः' इति ङीप् । पात्राद्यन्तस्य नेति ।
 पात्रादिर्गण । तदन्तस्य समाहारद्विगोः न ङीत्वमिति वक्ष्यमित्यर्थः । पञ्चपात्र
 मित्यादि । स्त्रीत्वामावे 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वमिति भावः । इति तत्पुरुष ॥

पात्राद्यन्तस्य—पात्राद्यन्त द्विगु समास ङीत्वमिति नहीं हो । छाया—छायान्त
 तत्पुरुष नपुंसक द्विगु हो, पूर्वपदार्थके बाहुत्वमे । समाराजा—राजपर्याय पूर्वक और अम-
 नुष्यपूर्वक समासात् तत्पुरुष, नपुंसकद्विगु हो । विभाषा—सेनाद्यन्त तत्पुरुष विकल्पसे
 नपुंसक द्विगु हो । अशाला च—सवागर्थक समाशब्दान्त तत्पुरुष नपुंसक द्विगु ही ।

अर्धर्चा—अर्धर्चादि गणपठित शब्द पुंसिद्विगु और नपुंसक द्विगुमें हो ।

सामान्ये—सामान्यमें नपुंसक हो । अर्थात् किसी द्विगु विशेषकी विवक्षा नहीं करके
 केवल द्विगु सामान्यकी ही विवक्षा हो तो नपुंसक द्विगु हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें तत्पुरुषसमास प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ द्विगुः । त्रयणां लोकाणां समाहारः = त्रिलोकी । त्रयणां भुवनानां समाहार =
 त्रिभुवनम् । चतुर्णां युगानां समाहारः = चतुर्युगम् । पञ्चानां गर्वां समाहारः = पञ्चगवम् ।
 षण्णां करिणां समाहारः = षट्करि । द्वायुगानां भेदनां समाहारः = द्वादशभेदु । पञ्चानां सरितां
 समाहारः = पञ्चसरित् । इति तत्पुरुषः ।

अथ बहुव्रीहिसमासप्रकरणम्

शेषो बहुव्रीहिः । २।२।२३। अधिकारोऽयं प्राग्बन्धात् ॥ अनेकमन्यपदार्थं
 २।२।२४। अनेकं प्रथमान्तमन्यपदार्थं वर्तमानं वा समस्यते स बहुव्रीहिः ॥ सप्तमी-
 विशेषणे बहुव्रीहौ । २।२।२५। सप्तम्यन्तं विशेषणं च बहुव्रीहौ पूर्वं स्यात् ॥
 हलन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् । ६।३।९। हलन्ताददन्ताच्च सप्तम्या अलुक् ।
 कण्ठेकालः । अत एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । प्राप्तमुदकं यं स ज्ञातोदको
 ग्रामः । ऊढरयोऽनन्दात् । उपहृतपशू द्रवः । उद्धृतौदना स्थाली । पीताम्बरो हरिः ।

शेषो बहुव्रीहिरिति उक्त्वादन्यः शेषः । 'द्वितीया श्रित' इत्यादिना (शास्त्रेण)
 यस्य प्रिकल्प्य (विभक्तेः) द्विसिष्य समासो नोक्तः स शेषः, प्रथमान्त इत्यर्थः ।
 कण्ठेकालः । कण्ठे कालः इत्यत्र 'अनेकमन्यपदार्थं' इत्यनेन (ज्ञापकात्) बहुव्री-
 हिसमासे, 'सप्तमीविशेषणे बहुव्रीहौ' इति सप्तम्यन्तरस्य पूर्वनिपाते, समासत्वात्प्राति-

दोषो बहुव्रीहिः—द्वन्द्व समाससे पूर्व बहुव्रीहिका अधिकार ए ।

नोटः—बहुव्रीहि समासमें जितने समास विधायक सूत्र हैं, सहीसे समासके साथ ही
 साथ बहुव्रीहिसंज्ञा भी होगी ।

अनेकमन्य—अन्य पदार्थमें वर्तमान जो अनेक प्रथमान्त वे (परस्पर) समस्त हों,
 विकल्पसे और वह समास बहुव्रीहिसंज्ञक हो ।

नोटः—जिन समस्त शब्दोंमें किसीकी प्रधानता न हो, परस्पर समस्त शब्दसे कोई
 विशेष अर्थ प्रतिभासित हो जाय, उसे बहुव्रीहि समास कहते हैं । जैसे—पीताम्बर, पीला
 हो अंबर जिसका (विष्णु भगवान्) । चन्द्रमुखी—चन्द्र—सा मुख हो जिसका (सुन्दरी स्त्री)
 इत्यादि बहुव्रीहि समाससे निष्पन्न विशेषणमें विशेषणसूचक प्रत्यय प्रायः नहीं रहता ।
 जैसे—'निर्धन' और 'निरपराध' । बहुव्रीहिमें 'निर्धनो' और 'निरपराधो' हो जाता है ।
 शब्दान्तरकी विशेषणता या विशेष अर्थ नहीं होने पर बहुव्रीहि समासके शब्द यत्र तत्र कर्म-
 धारय व दियु समासमें परिणत हो जाते हैं । जैसे—'पीताम्बर' यहाँ 'पीला बल' ऐसा अर्थ
 होने पर (पीतव्यासौ अम्बरः) कर्मधारय समास होता है । एवं 'चतुर्भुज'का अर्थ 'विष्णु'
 न होकर 'चार भुजायें' ऐसा अर्थ होने पर (चतुर्णां भुजानां समाहारः) दियु समास
 होता है । (और यहाँ समासचन्द्रिका (१) की टिप्पणीमें देखो) ।

सप्तमी विशेषणे—सप्तम्यन्त तथा विशेषणका बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो ।

हलन्तात्—संज्ञामें हलन्त और अदन्तसे पर सप्तमीका लुक् नहीं हो ।

(९) प्रायेण समासषट्कपदार्थान्यपदार्थप्रधानो बहुव्रीहिः । (दिवा इत्यादौ समा-
 सषट्कपदार्थप्राधान्यात् प्रायेण्युक्तम्) स पञ्चविधः । सामान्यलक्षणः, संस्मोद्धरपदः,
 अन्तरालविषयकः, व्यतिहारविषयकः सद्योगविषयकश्चेति । तत्र सामान्यलक्षणो द्वेषः

घोरपुरुषको प्राम ॥ (प्रादिभ्यो घातुञ्जस्य वाच्यो वा चोत्तरपदलोप) ।
प्रपतितपर्णं प्रपर्णं ॥ नभ्रोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः) । अवि-
द्यमानपुत्रोऽपुत्र । स्त्रियाः पुत्रन्नापितपुंस्कादनूट् समानाधिकरणे स्त्रिया-
मपूरणीप्रियादिषु । ६।३।३४। उक्तपुस्तकत्पर ऊरुमातो यत्र तयाभूतस्य स्त्रीवाच-
कशब्दस्य पुंवाचकशब्दस्यैव रूपं स्यात् समानाधिकरणे स्त्रीलिङ्गे उत्तरपदे, न तु पूर्णयां

पदिकसंज्ञायां 'हृत्तदन्तास्तन्मया सञ्जायाम्' इति सप्तम्या. अलुकि, सुपो लुकि,
समुदायास्तौ, रुवे विसर्गे च तत्सिद्धिः । घोरपुत्रको प्राम । घीरा पुरुषा यस्मिन्
इति विग्रहः । यत्र 'अनेकमन्वपक्षार्थे' इति समासे, सुपो लुकि, 'शेषाद्विभाषा'
इति कपि, समुदायास्तौ, रुवे, विसर्गे च तत्सिद्धिः । प्रादिभ्यः । प्रादिभ्य पर
यदानुप्रकृतिकप्रथमान्त तस्य अन्येन प्रथमान्तेन बहुव्रीहिर्वाच्यः, तत्र बहुव्रीहौ
प्रादिभ्य परस्य उत्तरपदस्य घातुञ्जस्य लोपश्च विकल्पेन वाच्य इत्यर्थः । प्रपतितपर्णे
इति । प्रकृष्ट पतित प्रपतितम् । 'प्रादयो गताद्यर्थे' इति समासः । प्रपतितपर्णे
यस्मादिति बहुव्रीहिः । प्रपर्णं इति । प्रपतितेति पूर्वपदे घातुञ्जस्य उत्तरपदस्य लोपे
रूपम् । नभोऽस्त्यर्थानाम् । नभ परेषामस्त्यर्थवाचिनां सुबन्तानां बहुव्रीहिवर्धाच्यः ।
तत्रास्त्यर्थवाचिनामुत्तरपदमूतानां लोपश्च वा दक्षय इत्यर्थः । अविद्यमानपुत्र इति ।
न विद्यमान इति नन्ममास । नभो नलोपः । अविद्यमान पुत्रो परयेति बहुव्रीहिः ।
अपुत्र इति अस्त्यर्थकविद्यमानशब्दस्य लोपे रूपम् । स्त्रिया पुत्रन्नापित पुमान्
यस्मिन्नर्थं प्रवृत्तिनिमित्तं न भाषितपुस्तकादन्वेष्यते । तस्य प्रतिपादको य. शब्द-
सोऽपि भाषितपुस्तकः । ऊरुऽभावोऽनूट् । भाषितपुस्तकादनूट् यस्मिन् स्त्रीशब्दे स
भाषितपुस्तकादनूट् स्त्रीशब्दः । स्त्रियामिति सप्तम्यन्तमपि न स्त्रीप्रत्ययपरं किन्तु
स्त्रीलिङ्गपरम् । तत्र 'अलुगुत्तरपदे' इत्यधिकृते उत्तरपदेऽन्वेति । तदाह—स्त्रीलिङ्ग

प्रादिभ्यो—प्रादिसे पर लो घातुञ्ज (पवित्रादि), तत्प्रकृतिभूत लो प्रथमान्त, तदन्त
लो प्रपतित्वादि पद, उक्तका पदान्तरके साध समास हो और प्रादिसे पर पतित्वादि उत्तर
पदका विकल्पसे लोप हो ।

नभो—'नभ' से पर अस्त्यर्थक सुबन्तोंका बहुव्रीहि समास हो, और उत्तरपदस्य अस्त्य
र्थक शब्दोंका विकल्पसे लोप हो ।

स्त्रिया पुत्रन्—भाषित पुस्तकसे पर ऊरु प्रत्ययका अभाव है जिसमें, देता लो लो
वाचक शब्द, उसका पुंवाचकसे समास हो हो, समानाधिकरण स्त्रीलिङ्ग उत्तर पदके परे ।
किन्तु पूर्ण प्रत्ययान्त और विभाषिते परे नर पुत्रन्प्रत्यय नहीं हो ।

समानाधिकरणो भवधिकरणश्च । एत समानाधिकरणोऽपि द्वेषा द्विपक्षो बहुपदश्च । स द्विदि-
भोऽपि प्रत्येकं बहुविध द्वितीयपदबहुव्रीहि, तृतीयपदबहुव्रीहि, चतुर्थपदबहुव्रीहि, पञ्चमीपदबहुव्रीहि,

प्रियादौ च परतः । गोस्त्रियोरिति ह्रस्वः । चित्रगुः । रूपवद्भार्यः । अनृद्ध-
किम् ? वामोरुभार्यः । पूरण्यां-तु ॥ अप्पूरणीप्रमाण्योः । १।५।११६। पूरणार्थ-
प्रत्ययान्तं यत्स्त्रीलिङ्गं तदन्तात्प्रमाण्यन्ताच्च बहुव्रीरहेप् स्यात् । कल्याणी पञ्चमी
यासां रात्रोणां ताः-कल्याणीपञ्चमा रात्रयः । स्त्री प्रमाणी यस्य स-स्त्रीप्रमाणः । पुंव-
द्भावप्रतिषेधोऽप्रत्ययश्च प्रधानपूरण्यामेव । रात्रिः पूरणीवाच्या चेत्युक्तोदाहरणे मुख्या ।
अन्यत्र तु—नघृतश्च १।५।१५३। नद्युत्तरपदाददन्तोत्तरपदाच्च बहुव्रीहेः कप् ।
पुंवद्भावः । केऽणः । ७।४।१३। ह्रस्वः । इति प्राप्ते ॥ न कपि । ७।४।१४। अणो ह्रस्वो
न । कल्याणपञ्चमीकः पक्षः । अत्र तिरोहितावयवभेदस्य पक्षस्यान्यपदार्थतया रात्रि-

उत्तरपदे इति । ह्रस्व इति । चित्रा गावो यस्येति विग्रहे बहुव्रीहिसमासे सुबलुकि
सति धनेकमिति प्रथमान्तनिर्दिष्टतया, विग्रहे नियतविभक्तिकृतया वा उपसर्जनवा-
सति चित्रगोशब्दे ओंकारस्य 'गोस्त्रियोः' ह्रस्वकारो ह्रस्व इत्यर्थः । चित्रगुः ।
चित्रा गौर्यस्य इति विग्रहे 'धनेकमन्यपदार्थे' इति समासे सुपो लुकि, 'स्त्रियाः
पुंवद्भाषितपुंस्कादनुल्लसमानाधिकरणे स्त्रियामपूरणीप्रियादिषु' इति 'चित्रा' इत्यस्य
पुंवद्भावे गोशब्दस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्ये च तरिसिद्धिः ।
रूपवद्भार्यः । रूपवती भार्या यस्य इति विग्रहे 'धनेकमन्यपदार्थे' इति बहुव्रीहि-
समासे सुरो लुकि, 'स्त्रियाः पुंवद्भाषितपुंस्कादनुल्ल' इति पूर्वपदस्य पुंवद्भावे, उत्तर-
पदस्य 'गोस्त्रियोरुपसर्जनस्य' इति ह्रस्वत्वे विभक्तिकार्ये च तरिसिद्धिः । नघृतश्च ।
नदी च द्यवेति समाहारद्वन्द्वारपञ्चमी । 'बहुव्रीहौ ह्रस्वस्यसगोः' इत्यतो बहुव्रीहा-
वित्यनुवृत्तं पञ्चम्या विपरिणम्यते । तद्वाचित्समुत्तरपदं नघृतस्यार्थं विशेष्यते । तदन्त-
विधिः । 'उरःप्रभृतिभ्यः' इत्यतः ऊचिश्चनुवर्तते । तदाह—नद्युत्तरपदादिति । नघ-
न्तोत्तरपदादित्यर्थः । ह्रस्वः स्यादिति । 'शृद्धप्राप्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः । न
कपि । अणो ह्रस्व इति । 'केऽणः' इत्यतः 'शृद्धप्राप्' इत्यतश्च तदनुवृत्तेरिति भावः । रात्रि-

अप्पूरणी—पूरणार्थं प्रत्ययान्त जो ओलिङ्ग, तदन्त बहुव्रीहिसे और प्रमाण्यन्त बहुव्री-
हिसे समासान्त 'अप्' प्रत्यय । नघृतश्च—नद्युत्तरपदक और ऋदन्तोत्तरपदक बहु-
व्रीहिसे समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

केऽणः—'क' प्रत्ययके परे 'धण्' को ह्रस्व हो । न कपि—'कप्' प्रत्ययके परे 'अण्'
बहुव्रीहिसिद्धि । द्वितीयाबहुव्रीहिसंज्ञा—प्राप्त उदकं चं स प्राप्तोदकः (ज्ञानः) । गतः
शुद्धः सिद्धो यं सः गतशुद्धसिद्धः (करी) ।

सुस्त्रीयाबहुव्रीहिसंज्ञा—वित्तः कामो येन सः = वित्तकामः (क्षिप्तः) । जनिता विख्याता-
संपद येन सः = शक्तिविख्यातसम्पद । अर्थुर्ध्वानुव्रीहिसंज्ञा—उपहनः पशुः यस्मै सः =

प्रधानम् । बहुकृतं । अत्रियादिषु किम् ? कल्याणप्रियः । प्रिया । मनोज्ञा । कल्याणी । सुमगा । दुर्मगा । भक्ति । सन्निवा । स्वधा । जन्ता । ज्ञान्ता । समा । चपळा । दुहिता । बाला । वामा । अरला । टनया । (सामान्ये नपुंसकम्) । एह भक्तिर्यस्य स - एहभक्ति । स्त्रीत्वविशेषाया तु - एहामचि ॥ तसिष्ठादिष्व्याकृत्य-
स्तुचः । ३।३।३। तसिलादिषु कृत्वपुञ्जन्तेषु स्त्रिया पुनत् । परिगणन कर्तव्यम् । प्रतसौ । तरप्लमपौ । चरट्जातोथरौ । ल्लपट्देशोथरौ । रूपपाणपौ । याल् । तिल्-
प्यनौ । एषु परेषु स्त्रिया पुनत् । यनीषु इति बहुत्र । दत्त इत्यादि ॥ (त्वत्तलो-
गुणध्वजनस्य) शुक्रत्वम् । शुक्रता ॥ (मरुगाऽट्टे तद्धिते) । इन्तिनीना समूहो
हास्तिकम् । अदेकिम् ? रौहिणेय । (कुक्कुट्यादीनामण्डादिषु) । कुक्कुट्याण्डम् ।

प्रधानमिति । रात्रे सत्यवेसाभावात् सामान्यमिति भावः । बहुकृतं इति । बहुवः
कर्तारो यदेति विग्रहः । कल्याणीप्रिय इति । कल्याणो मिया यस्वेति विग्रहः ।
तसिष्ठादिष्विति । 'स्त्रिया पुनत्' इत्यनुवर्तते । आ इत्यनुच इत्यस्य अभिविषयकं,
सममिष्याप्येत्यर्थः । एदाह—तसिष्ठादिषु वृत्तस्यनेति । 'पञ्चम्यास्तमित्' इत्या-
रस्य 'सवयाया' द्विषाम्यावृत्तिगमने कृत्वपुनत्' इत्येतत्पर्यन्तसूत्रद्विहितेऽपि यथैव ।
परिगणनमिति । अस्याप्यतिष्यासिपरिहागवेत्यर्थः । नटेषु पुनत् इति । वल्लीषु इत्यर्थं
बह्वीशब्दात् 'सप्तम्यास्तमित्' इति त्रिति पुनत्वे स्त्रीषो निवृत्तौ बहुत्रेति रूपमित्यर्थः ।
बहुत्र इति । 'पञ्चम्यास्तमित्' इति बह्वीशब्दात् तमित्, पुनत्वात् स्त्रीषो निवृत्ति-
रिति भावः । एतदोरिति । स्वम्यथे तल्लप्रत्यये च परे गुणोपसर्जनद्वयवाचिनः
पुनत्त्वं च लक्ष्यमित्यर्थः । मरुगाटे इति । तमित्त्वे तद्धिते परे स्त्रियाः पुनत्त्वं च लक्ष्य-
मित्यर्थः । परिगणितेष्वनन्तर्भावाद्गणनम् । हास्तिकमिति । 'सस्य समूहा' इत्यभि-
कारे 'अचित्तद्विस्तिनेनो' इति टट् । टट्येकः । पुंवाये सति नास्तल्लक्षणस्त्रीषो
निवृत्तिः । 'नस्तद्धिते' इति टिलोप इति भावः । रौहिणेय इति । 'वर्णादनुदात्तात्'
इति रोहितशब्दात् स्त्रीषु, तकारस्य नकारश्च । रौहिण्या अपत्यमित्यर्थे 'स्त्रीभ्यो
कृट्' पदादेनः । 'मरुग' इति पुनत्त्वे स्त्रीभ्यो निवृत्ति र्स्यादिति भावः । कुक्कु-

को हस्य नहीं हो ।

- सामान्ये—सामान्य लिंगकी विवक्षार्थे नपुंसक हो ।
- तसिष्ठादि—तसिष्ठादित्से कृत्वपुनत् पर्यन्त प्रत्ययके परे औभावक शब्द का पुनत्त्वं हो ।
- त्वत्तलोगुण—'त्' और 'त्' प्रत्ययके परे गुणवाचक शब्द को पुनत्त्वं हो ।
- अस्याऽन्ते—पर्यन्तकको पुनत्त्वं हो, 'ट' प्रत्ययविशिष्ट तद्धित प्रत्ययके परे ।
- कुक्कुट्यादीनां—कुक्कुटी आदि शब्दको पुनत्त्वं हो, अस्यादि कृट् पदके परे ।

उपकृतपञ्च (बद्) । प्रवृत्ताः कृत्तरा जया दस्ते सः = प्रदत्तसुन्दरायः । पञ्चमीबहुभूहि-

सृगपदम् । मृगशीरम् । काकशावः ॥ वयद्व्यमानिनोश्च । ६।३।३६। पुंवत् । एनी-
 वाचरति-एतायते । श्येनीवाचरति-श्येतायते । दर्शनीयां स्त्रियं मन्यते-दर्शनीयमा-
 निनी ॥ न कोपघायाः । ६।३।३७। स्त्रियाः पुंवत् । पाचिकामार्थः । रसिकामार्थः ।
 मद्रिकायते । मद्रिकामानिनी । (कोपघप्रतिषेधे तद्धितबुग्रहणम्) । नेह-पाकमार्थः ।

व्यादीनामिति । पुंवत्वं वक्ष्यमिति शेषः । असमानाधिकरणार्थनिर्हमिति सूचयद्
 षष्ठीसमाससुदाहरति-दुषद्वय्या अप्तमिति । पुंवत्वेन जातिलक्षणशीयो निवृत्तिरिति
 भावः । वयद्व्यमानिनोश्चेति । वयद्व्यमानिनि च उत्तरपदे परत इत्यर्थः । एनीवेति ।
 एता चिन्नघर्णा । 'वर्णादनुदात्ता' इति ङीपनकारश्च । 'उपमानादाचारै' इत्यनुब-
 त्ताने' 'कतुः वयद्व्यसलोपश्च' इति एनीवाचद्वय वयद्व्यपुंवत्वेन हीनराचयोनिवृत्तौ,
 'अकृतसार्वधातुद्वयोः' इति दीर्घे 'एतायते' इति रूपम् । श्येनीवेति । श्येतशब्दः
 श्वेतपर्यायः । वयदादि वचत् । दर्शनीयमानिनीति । दर्शनीयामिति द्वितीयान्ते उपपदे
 'सुप्रजातौ णिनि' रिपनुवर्तमाने 'मनः' इति णिनिप्रत्ययः, उपपदसमासः,
 सुब्लुक्, असमानाधिकरणोऽपि ननिनृकत्वे उपपदे परे अनेन पुंवत्त्वे तापो निवृत्तौ
 'ऋन्नेभ्यः' इति ङीपि ऋणीयमानिनीति रूपम् । पाचिकामार्थः इति । पाचिका
 मार्या चरयेति विग्रहः । एषो षुल्ल । अकादेशतायित्त्वानि, पुंवत्त्वे टाचिरवचोनि-
 वृत्तः स्यात् । रसिकेति । रसोऽरचारतीति रसिका, 'अत इतिठनौ' इति टन् ।
 ठर्येकः । टाप, पुंवत्त्वेनिषेधः । पुंवत्त्वे तु तापो निवृत्तः स्यात् । मद्रिकायते इति ।
 मद्राश्वे देकाविधौ च नवा मद्रिका, 'मद्रवृत्तोः कन्' टाप इत्त्वम् । मद्रिकेवाचरती-
 त्यर्थः । 'वयद्व्यमानिनोश्च' इति पुंवत्त्वं प्राप्तिमिह निषिध्यते । मद्रिकामानिनीति मद्रिका
 मन्यते इत्यर्थे 'मनश्च' इति णिनिः उपपदसमासः । इहापि 'वयद्व्यमानिनोश्च' इति
 पुंवत्त्वं प्राप्तिं निषिध्यते । टमचभ्रापि पुंवत्त्वे टाचिरवचोनिवृत्तिः स्यात् । तद्धितबुग्रह-
 णमिति । तद्धितसम्बन्धी सुसम्बन्धी च यः ककारः तदुपघायाः स्त्रिया न पुंवत्त्व-
 मिति फलति । मद्रिकायते । इति तद्धितकोपघोदाहरणम् । पाचिकामार्थ इति तु
 सुसम्बन्धकोपघोदाहरणम् । अर्केति । अयं तद्धितस्य बुग्रहणस्य च न ककारः

- वयद्व्यमानि—वयद्व्य धीर मानिन् प्रत्ययके परे स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव हो ।
- न कोपघायाः—कोपघ स्त्रीवाचक शब्दको पुंवद्भाव नहीं हो ।
- कोपघप्रतिषेधे—कोपघके पुंवद्भाव-प्रतिषेध में तद्धितका ओर 'वु' का ही ग्रहण हो ।

र्यथा—उद्धृत भोदनो यस्याः सा = उद्धृतीदना (स्थाळी) । सम्पादितं भूरि धनं यस्मा-
 क्तत्वं = संपादितभूरिधनम् (चासुर्गम्) । पण्डितवृद्धादिर्यथा, पुंल्लिङ्गे—पीतमन्त्रं यत्प
 तः = पीताम्बरः (विष्णुः) । एको ग्रामो यशोस्तौ = एकग्रामी (पान्थी) एको गुरुर्गैर्वा
 ते = एकगुरुयः (शिष्याः) । स्त्रीलिङ्गे—रक्तं वस्त्रं यस्याः, सा = रक्तवस्त्रा (स्त्री) । एकं

संज्ञापूरणयोश्च । ६।३।३८। न पुंवत् । दत्ताभार्य । पद्मभार्य ॥ वृद्धिनिमित्त-
स्य च तद्धितस्यारक्तविकारे । ६।३।३९ वृद्धिशब्देन विहिता या वृद्धिस्तद्धे-
यंस्तद्धितोऽरक्तविकारार्यस्तदन्ता स्त्री न पुंवत् । स्त्रीभ्योभार्य । रक्तेषु-काषायकृत्य ॥
विकारे तु-हैमगुदिक ॥ स्वाङ्गाञ्चेत् । ६।३।४० स्वाङ्गाय ईकारस्तदन्तास्त्री न
पुंवत् । सुकेशीभार्य । स्वाङ्गाङ्किम् ? पटुभार्य । ईत् किम् ? अकेशभार्य ॥

इति नाम प्रुवावनिषेध इति भावः । दत्ताभार्य इति । दत्ताशब्दस्य संज्ञात्वेन दान
क्रिया पुरस्कृत्यैव क्रिया पुलि च संज्ञामृत. प्रपृष्ठः, अतस्तस्य भाविनपुरस्कृत्वात्
पुवावे प्राप्ते निषेधोऽयमित्यर्थः । पद्मभार्य इति । पद्मभो भार्या यस्येति विग्रहः ।
अत्र 'क्रिया पुंवत्' इति प्राप्त निषेधत्वे । वृद्धिनिमित्तस्य च । वृद्धिनिमित्त हेतुरिति
विग्रहः । रक्त च विकारयेति समाहारद्वन्द्वः । ततो नञ्त्त्पुङ्गव । रक्तविकारमित्येऽर्थे
विद्यमानस्येत्यर्थः । वृद्धिशब्देन विहितैव वृद्धिरिह विवक्षिता, व्याख्यानत् । तदाह-
'वृद्धिशब्देनेत्यादिना । तदन्तेति । प्रायपमहणपरिभाषाळम्बम् । स्त्रीभ्योभार्य इति । स्त्रीभ्यो
भेदा 'तत्र भष' इत्यण्यस्येति विग्रहः । 'क्रिया. पुंवत्' इति प्राप्तमिह निषेधत्वे ।
रक्तेति । रक्तेऽर्थे विद्यमानस्य तद्धितस्य न पुवावनिषेध इत्यर्थः । काषायकृत्य इति ।
काषायो गौरिको घ्रातुविशेष, तेन रक्ता कषायी 'तेन रक्त रागात्' इत्यणि 'यस्येति
च' इति लोपा' आदिबुद्धिः, 'दिङ्ङाणञ्' इति लोप् । पुवावे लोपी निवृत्तिः । अत्राणः
तद्धितस्य रक्तार्थकत्वात् न पुवावनिषेधः । विकारे ति । विकारार्थे विद्यमानस्य
तद्धितस्य न पुवावनिषेध इत्यर्थः । हैमगुदिक इति । हैमी सुदिका यस्येति विग्रहः ।
पुवावे लोपो निवृत्तिः । अत्राणस्तद्धितस्य विकारार्थकावाधपुंवरनिषेधः । स्वाङ्गाञ्चे इति ।
ईत् इति ष्ङेदः । तदाह—स्वाङ्गाय ईकार इति । सुकेशीभार्य इति । सु शोभनाः केशाः
पस्याः सा सुकेशी, 'स्वाङ्गाङ्कोपसञ्ज्ञेनात्' इति लोप् 'क्रिया. पुंवत्' इति प्राप्तस्य
निषेधः । पटुभार्य इति । पटुभ्यो भार्या यस्येति विग्रहः । पटुत्वस्य अस्वाङ्गाञ्चात् पुंवर
निषेधः । किं तु पुवावे 'बोवो गुणवचनात्' इति लोपा निवृत्तिरिति भावः । अकेशभार्य
इति । अविद्यमाना. केशा यस्य. सा अकेशा 'नञोऽस्यर्थानाम्' इति बहुव्रीहिः, विद्य-

संज्ञापूरणयोश्च—संज्ञावाचक और पूरण प्रत्ययवाला स्त्रीलिङ्ग शब्दका पुंवत्त्वाव नहीं
हो । वृद्धिनिमित्तस्य—वृद्धिशब्देन विहित लो वृद्धि तद्धे तु लो रक्तविकारार्थक मित्र
तद्धित, तदन्त लोवाचक शब्दको पुंवत्त्वाव नहीं हो । स्वाङ्गाञ्चेत्—स्वाङ्ग वाचकते पर
लो ईकार, तदन्त लोवाचक शब्दको पुंवत्त्वाव नहीं हो ।

मन्दिर ययोः देवमन्दिर (जाये) । चारुणि भूषणानि यार्थां ता=चारुभूषणा (स्त्रिय) ।
नपुसके—चित्रा मित्तवो यस्य तत्=चित्रमित्ति (गृहम्) । अनन्यानि रक्षानि

(अमानिनीति वक्तव्यम्) । सुकेशमानिनी ॥ जातेश्च । ६।३।४१। न पुंवत् ।
 ब्राह्मणीभार्यः । शूद्राभार्यः ॥ संख्ययाऽव्ययासन्नादूराधिकसंख्याः संख्येये ।
 । २।२।२५। संख्येयार्थया संख्ययाऽव्ययादयः समस्यन्ते स बहुव्रीहिः ॥ बहुव्रीहौ
 संख्येये डजबहुगणात् । ५।१।७३। संख्येये बहुव्रीहिस्तस्माद्बच्च समासान्तः ॥
 दशानां समीपे ये सन्ति ते-उपदशाः । अपबहुगणात् किम् ? उपबहवः । उपगणाः ॥
 ति विशतेडिति । ६।४।१४२। विशतेर्भस्य टेलोपो डिति । आसन्नविशाः, विशतेरा-

मानशब्दस्य लोपश्च । स्वाङ्गत्वेऽपि न ङीप् 'सहनञ्विद्यमान' इति निषेधात् । अतष्ठा-
 वेव । स्वाङ्गत्वेऽपि ईकाराभावात् पुंवत्त्वनिषेधः । किंतु पुंवत्त्वे टापो निवृत्तिरिति भावः ।
 अमानिनीति । 'स्वाङ्गात्' इति निषेधः मानिन्शब्दे परतः न भवतीति वक्तव्यमित्यर्थः ।
 सुकेशमानिनीति । सुकेशी मन्मते हर्यर्थे 'मनश्च' इति गिनिः, उपधावृद्धिः, उपपदसमा-
 सः, सुब्लुक्, पुंवत्त्वे ङीपो निवृत्तिरिति भावः । ब्राह्मणीभार्य इति । पुंवत्त्वनिषेधात्
 शाङ्करवादिङीनो निवृत्तिः । शूद्राभार्य इति । 'शूद्रा चामहरपूर्वा' इति स्वातिलक्षण-
 ङीषोऽपवाददृष्टाप् । पुंवत्त्वनिषेधात् टापो निवृत्तिः । संख्येयेति । शेषग्रहणम्, अनेहम-
 न्यपदार्थे इति च निवृत्ते । बहुव्रीहिरित्यनुवर्तते 'सुप्पुषा' इति च । संख्येये इत्येतत्
 संख्येयस्यत्रान्वेति । संख्यया परिच्छेद्यं संख्येयम्, तत्रार्थे विद्यमानया संख्येयेति
 लभ्यते । संख्याशब्दश्चायं न स्वरूपपरः, किन्तु एकादिशतान्तशब्दपरः । तदाह—
 संख्येयार्थया संख्येयेति । अव्ययादय इति । अव्यय आसन्न अदूर अधिक संख्या पूते
 सुयन्ता हर्यर्थः । यदुवाही संख्येय इति । 'संख्ययाऽव्यय' इति विहित इति शेषः ।
 तस्मादिति । पदुवाहीविति पञ्चम्यर्थे सप्तमीति भावः । उच्येयात् इति । समासान्तस्त्र-
 द्वितश्चेति शेषम् । उपदशा इति । दशानां समीपे ये सन्तीति विग्रहः । 'संख्ययाऽव्यय'
 इति बहुव्रीहिः । सुब्लुक् उपपन्नशब्दाद्बच्चि 'नस्तदिते' इति टिलोपः ।
 उपबहवः, उपगणा इति । यदुवां समीपे ये सन्तीति, गणानां समीपे ये
 सन्तीति च विग्रहः । 'बहुगणवद्बुद्धि संख्या' इति संख्यात्वात् 'संख्ययाऽव्यय' इति
 ममासः । अषडुगणात् इति निषेधात् डच् । द्वि विशतेडिति । तीति लुप्तपठोक्तम् ।

अमानिनीति—'मानिन्' शब्दके परे पुंवद्भावका निषेध नहीं हो ।

जातेश्च—जातिवाचक शब्दके पर जो साम्प्रत्यय, तदन्तको पुंवद्भाव नहीं हो ।

संख्यया—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ अव्ययादि समस्त हो और वह बहु-
 व्रीहिसंज्ञक हो ।

बहुव्रीहौ—संख्येयार्थक संख्यावाचक शब्दके साथ निष्पन्न बहुव्रीहिसंज्ञक समासान्त 'डच्'
 प्रत्यय हा, बहु और गणशब्दान्तको छोड़कर । ति विशते-मसंज्ञक 'विशति' शब्दके 'ति' का

ययोस्ते = अनव्ययत्वे (कटके) । भूरि सत्त्वं येषां तानि = भूरिसत्त्वानि (लक्ष्मणि)

सञ्ज्ञा इत्यर्थः । अदूरत्रिंशत् । अधिकचत्वारिंशत् । द्वौ वा प्रयो वा-द्वित्रा ॥
 विद्वन्नामान्यन्तराले । २।२।२६। (द्वौ नामान्यन्तराले वाच्ये प्राग्वद् । दक्षिण-
 स्यात् पूर्वस्याथ दिशं । यदन्तराल-दक्षिणपूर्वा ॥ तत्र तेनेदमिति स्वरूपे । २।२।२७।
 सप्तम्यन्ते प्रहणविषये सत्त्वे पदे तृतीयान्ते च प्रहरणविषये इदं युद्ध प्रवृत्तमित्यर्थं
 समस्येते कर्मव्यतिहारः ॥ इच्छु कर्मव्यतिहारः । ५।४।१२७। अन्येषामपि
 दृश्यते । ६।३।१३७। दीर्घः । केशेषु केशेषु गृहीत्वा इदं युद्ध प्रवृत्तं-केशाकेशि ।

‘प्रत्य’ इत्यधिकृतम् । ‘अष्टोपोऽन’ इत्यसमासलोप इत्यनुवर्तते । आसत्रविंशति इति ।
 विद्वन्नामान्यन्तराले इत्यर्थः । अचि कृते ‘आसत्रविंशति-अ’ इति स्थिते
 तिलोपे सवर्णदीर्घं याचित्वा ‘यतो गुणे’ इति पररूपे आसत्रविंशतिशब्दः भवति ।
 अदूरत्रिंशत् इति । त्रिंशत् अदूरा इति विग्रहः । त्रिंशत्सख्याया अदूरसख्यायन्त
 इत्यर्थः । अचि तिलोपः । अधिकचत्वारिंशत् इति । चत्वारिंशतोऽधिकत्वा इति विग्रहः ।
 चत्वारिंशत्सख्याया अधिकसख्यायन्त इत्यर्थः । अचि तिलोपः । द्वित्रा इति । वाच्यं
 बहुभ्रीहिः । द्विभ्यम्यतरा इत्यर्थः । अचि तिलोपः । विद्वन्नामानि । नामान्यन्तरं
 सुवन्तानि परस्परमिति शेषः । प्राग्वदिति । सप्तम्यन्ते स च बहुभ्रीहिरित्यर्थः ।
 दक्षिणपूर्वेति । स्त्रीत्य लोकात् । तत्र तेनेति । समास इति, बहुभ्रीहिरिति चाधिकृतम् ।
 तत्र इत्यनेन सप्तम्यन्ते पदे विवक्षिते । प्रहणविषये इति प्रथमोद्दिष्टवचनान्तं तद्विशेष-
 नमस्याहायम् । सत्त्वे इति प्रथमाद्द्विवचनान्तं पदविशेषणम् । प्रहणविषये प्रहरण-
 विषये इति तु सप्तम्यन्तयोः गृहीयान्तयोश्च यथासदयमभ्येति । इत्थं इत्यर्थनिर्देशः ।
 युद्ध प्रवृत्तमिति तद्विशेषनमस्याहायम् । कर्मव्यतिहारे चोत्पद्ये इत्यन्यस्याहायम् ।
 सहाद्-सप्तम्यन्ते इति । प्रथमाद्द्विवचनमिदम् । प्रहणविषये इति । गृह्यते अस्मिन्निति
 प्रहणं केशादि, आधिकरणे क्युट्, तत्र विषयो वाच्य यथोक्ते; प्रहणविषये,
 प्रहणवाचके इति । यावत् । प्रहरणविषये इति । प्रहियते धमेनेति प्रहरण कण्ठादि, तत्र
 विषयः वाच्य यथोक्ते प्रहरणविषये, प्रहरणवाचके इति यावत् । समासन्त इति ।
 तद्विषय इत्यपि ज्ञेयम् । दीर्घ इति । ‘तिलोपे’ इत्येत अनुवर्तते इति भाषाः । केशाकेशि-
 शीति । केशेषु केशेषु गृहीत्वा इत्यन्तर्भाषनं च । तत्रैकयो समासे सति सुब्लुक्,

लोप हो, ‘द्वि’ प्रत्ययके परे । विद्वन्नामा—अन्तराल वाच्य हो तो विद्वन्नामोंका समास हो ।
 तत्र तेनेद्—सप्तम्यन्त और तृतीयान्त प्रहणविषयक जो दो सत्त्व पद, वे—इदं युद्धं प्रवृ-
 त्तम् (यह युद्ध आरम्भ हुआ) इत अर्थमें समस्त हो, कर्मव्यतिहारते । इच्छु कर्म—
 कर्मव्यतिहारमें बहुभ्रीहिते समासान्त ‘इच्छु’ प्रत्यय हो । अन्येषामपि—कर्मव्यतिहार
 बहुभ्रीहिमें ‘इच्छु’ प्रत्ययके परे पूर्वपदको दीर्घ भी हो ।

नीलमुन्मत्तं वपुरस्य स ननीलोऽन्वयवपु (हृणः) । सप्तमीबहुभ्रीहिर्घंथा—वीरा

दण्डैर्दण्डैश्च प्रहृत्येदं युद्धं प्रवृत्तं-दण्डादण्डि । मुष्टीमुष्टि ॥ तेन सहैति तुल्य-
योगे । २।२।२८। तुल्ययोगे वर्तमानं सहेत्यन्तं तृतीयान्तनेन प्राग्वत् ॥ षोडशसर्ज-
नस्य । ६।३।८२। बहुव्रीहेरव्ययस्य सहस्य सः स्याद्वा । पुत्रेण सह-सपुत्रः, सहपुत्रो
वाऽऽगतः ॥ प्रकृत्याश्लिषि । ६।३।८३। सहशब्दः । स्वस्ति राज्ञे सहपुत्राय, सहा-
मात्याय ॥ (अगोवत्सहस्येऽपि चक्रः स्यम्) । सवत्साय । सहलाय ॥ बहुव्रीहौ
सकथयक्षणोः स्वाङ्गात्षच् । ५।४।११३। स्वाङ्गवाचि सकथ्यन्ताद्बहुव्रीहेः पच् ।
दीर्घसकथः । जलजाक्षी । स्वाशात्किम् ? दीर्घसकथि शक्यम् । स्पूलाक्षा
त्रेणुयष्टिः । अङ्गोऽदर्शनादिति वक्ष्यमाणोऽच् । द्वित्रिभ्यां च मूर्धन्ः । ५।४।११५।

पूर्वपदस्य दीर्घः, इच् समासान्तः । 'यस्येति च' ह्रस्वकारलोपः । अव्ययत्वात्सुबुद्धिगिति
भावः । दण्डैरेतेति । धस्य दण्डैः सः, तस्य दण्डैरयमित्येवंपरस्परं ग्रहणं स्थितयोरेदं
युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहायः । दण्डादण्डीति । दण्डैर्दण्डैरित्यनयोः ग्रहणपादात्सर्जनेन
समासवदकयोः समासे सति सुबुद्धि, पूर्वपदस्य दीर्घः, इच्, 'यस्येति च' इष्टि
अकारलोपः । अव्ययत्वात् सुबुद्धि । मुष्टीमुष्टीति । धस्य मुष्टिभिः सः, तस्य मुष्टि-
भिश्चायमित्येवं परस्परं ग्रहणं स्थितयोरेदं युद्धं प्रवृत्तमिति विग्रहः । बुद्ध्या सुबुद्ध्या
इत्यनयोः समासे सति सुबुद्धिगादि पूर्ववत् । तुल्ययोग इति । युगपत्काठिकक्रियायोगे
इत्यर्थः । तृतीयान्तेनेति । तेनेत्यनेन तस्याभादिति भावः । प्राग्वदिति । समस्यते स
बहुव्रीहिरित्यर्थः । अस्मान्नाभिकरणार्थं कणभाषार्थं पेदम् । षोडशसर्जनस्य । षोडशपदे
इत्यविकृतम् । 'सहस्य सः संज्ञायाम्' इत्यतः सहस्य स इत्यनुवर्तते । षोडशसर्जन-
स्यास्तीत्युपसर्जनः, सत्वर्थोऽनर्थाभावात् । षोडशपदाच्छिष्टसमासोऽविशेष्यत् । उपसर्जन-
वतः समासस्येत्यर्थः । सपुत्र इति । सभाये रूपम् । पुत्रेण युगपत् भागत इत्यर्थः ।
ग्रहत्येति । स्वभावेन स्थितः स्यादित्यर्थः । सनादो नेति घायच् । अगोवत्सेति । गोदस-

तेन सहैति-तुल्ययोगमे वर्तमानं 'सह' शब्दका तृतीयान्तके साप समास हो, विकल्पते ।
षोडशसर्जनस्य-बहुव्रीहिके अव्यय 'सह' को 'स' आदेश हो विकल्पते ।
प्रकृत्याश्लिषि-आशीर्षाद अर्थमें 'सह' शब्द प्रकृतिवत् रहे-'स' आदेश नहीं हो ।
अगोवत्सह-गो-वत्सदिके परे 'सह' शब्दको प्रकृतिवत् नहीं हो अर्थात् 'सह' को 'स'
आदेश हो जाय । बहुव्रीहौ-स्वाङ्गवाची सकथ्यन्त शौर अर्थमन्ता बहुव्रीहिसे समासाम् 'वच्'
प्रत्यय हो । द्वित्रिभ्यां-'दि-नि' शब्दसे पर 'मूर्धन्' शब्दसे 'न्' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें ।

पुरुषाः यस्मिन् सः = वीरपुरुषकः (धाम्नः) । खड्गिनः कुण्डलिनः वीरा यस्मिन् तव =

आभ्यां मूर्ध्नि प स्याद्बहुव्रीहौ । द्विमूर्ध्नि । त्रिमूर्ध्नि ॥ अन्तर्वह्निर्या च लोभ्नः
 १।५।४।११४। अय् स्यात् । अन्तर्लोम । बहिर्लोम ॥ पादस्य लोपोऽहस्त्यादिभ्यः
 १।५।४।१३८। हस्त्यादिवर्जितादुपमानात्परस्य पादस्य लोपः । व्याप्रत्येव पादा-
 वस्य-भ्याप्रपात् । अहस्त्यादिभ्यः क्त्विम् ? हस्तिन इव पादौ यस्य हस्तिपादः ।
 उभूत्पादः ॥ संख्यासुपूर्वस्य १।५।४।१४०। पादशब्दस्य लोपः । द्विपात् ।
 सुपात् ॥ उद्विभ्यां काकुदस्य १।५।४।१४८। लोपः । उक्ताङ्गः । विनाङ्गः ।
 पूर्णाद्विभाषा १।५।४।१४९। पूर्णकाङ्गः, पूर्णकाङ्गः ॥ सुहृद्दुर्हृदौ मित्रामि-
 त्रयोः । १।५।४।१५०। सुहृन्मित्रम् । दुर्हृदमित्रम् ॥ (नेतुर्नक्षत्रे अव्यक्तव्यः) ।
 मृगो नेता यत्मा रात्रीणां ता मृगनेत्रा रात्रयः ॥ अञ् नासिकायाः संज्ञायां
 नसं चास्थूलात् १।५।४।१६८। नासिकान्ताद्बहुव्रीहेरच् नासिकाशब्दश्च नसः प्राप्नोति,
 न तु स्थूलपूर्वात् ॥ पूर्वपदात्संज्ञायामग १।८।४।३। पूर्वपदस्याभिमित्तात्परस्य नस्य

दलेषु परत सहस्य प्रकृतिभावो नेत्यर्थः । नेतुर्नक्षत्र इति । नक्षत्रे विद्यमानो यो नेतृ
 शब्दः तदन्ताद्बहुव्रीहेरच् अत्यर्थ इत्यर्थः । नेता नायकः । मृगो नेत्रेति । मृग-मृग
 क्षीपयः । रात्रिनेता चन्द्रः । तच्छोभाद्यग्रस्यापि योभ्यम् । मृगनेत्रा इति । मृगनेतृ
 क्षयादप्यञ्कारस्य यण् रेफः, टाप् । अञ् नासिकाया इति । अच् इति श्लेषः ।
 नासिकाया हस्तस्य बहुव्रीहेर्विशेषणत्वात् सवन्तविधिममिमेत्याह-नासिकान्तादिति ।
 नसमित्यनन्तरं प्राप्नोतीत्यभ्याहार्यम् । उपस्थितत्वाच्चासिकाशब्द इति लभ्यते ।
 तदाह-नासिकाशब्दश्च नसः प्राप्नोतीति । पूर्वपदात् । 'रथाभ्याम्' इत्यनुवृत्तम् । पूर्वपद

अन्तर्वह्नि—'अन्तर' और 'बहिस्' शब्दों से पर 'लोमन्' शब्दसे 'अप' प्रत्यय हो ।

पादस्य—हस्त्यादि मित्र उपमानवाचीसे पर 'पाद'शब्दान्त (समासगत प्रत्यय) का लोप
 हो, बहुव्रीहिमें । संख्या—'एतया' और 'सु'पूर्वक पाद शब्दका समासान्त (प्रत्यय) लोप
 हो, बहुव्रीहिमें । उद्विभ्यां—'उ' और 'वि' उपसर्गने पर 'काकुद' शब्दका समासान्त
 लोप हो, बहुव्रीहि में । पूर्णाद्विभाषा—'पूर्ण' शब्दसे 'पर' 'काकुद' शब्दका समासा न लोप
 विकल्पसे हो, बहुव्रीहिमें ।

सुहृद्दुर्हृदौ—'मित्र' और 'ममित्र' अर्थमें 'सुहृद्' और 'दुर्हृद्' ये क्रमसे निपातन हों,
 अर्थात् 'सु' तथा 'दुर्' से पर हृदयको हृदभाव निपातन हो ।

नेतुर्नक्षत्रे—नक्षत्रमें वर्तमान नेतृ शब्दसे समासान्त 'अप' प्रत्यय हो, बहुव्रीहिमें ।
 अञ् नासिकाया—स्थूलपूर्वकसे मित्र नासिकान्त बहुव्रीहिसे समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो
 तथा नासिका शब्दको 'नस्' आवेश हो, सहामें । पूर्वपदात्संज्ञायाम्—पूर्वपदस्य निमित्तसे

(विष्णु) । मनुष्याज्जन्म यस्य स मनुष्यवन्ताः । साध्याभाबदत्ते न हृत्पर्यन्त स =

णः, न तु गकारव्यवधाने । दुरिव नासिका यस्य दृणसः ॥ (खुरस्राम्यां घां नस्) । खुरणाः । खरणाः । पत्ने, -अजपीयते । खुरणसः । खरणसः ॥ उपस-
गांश्च । ५।४।११९। उन्नसः ॥ (वेप्रो वक्तव्यः) । विगता नासिकास्य विप्रः ॥
(ख्यश्च) विल्यः ॥ नञ्दुःसुभ्यो हलिसदृशोरन्यतरस्याम् । ५।४।१२१।
अहलः, अहलिः । असक्त्यः, असक्तियः । एवं दुःसुभ्याम् । शक्त्योरिति पाठान्त-

शब्देन पूर्वपदस्थं लपयते । 'इपान्याम्, ह्यनेन लघ्वो रेफः पश्च प्रायेकमन्वेति,
तदाह-पूर्वपदस्थान्निमित्तादिति । रेफकारात्मकादिसर्घः । अग इति पञ्चम्यन्तम् ।
गकारमिच्छापरस्पोयर्थः । गकारापरस्य नेति यावत् । दृणस इति । बहुव्रीहेश्च ।
नासिकाशब्दस्य नसादेशः, णत्वम् । खुरेति । खुरस्राम्यां परस्य नासिकाशब्दस्य
बहुव्रीहौ संज्ञायाम् नसादेशो वेति वक्तव्यमित्यर्थः । प्रकृतत्वादेव सिद्धे नसादेशवचनम्
अद्यप्रत्ययानुवृत्तिनिवृत्त्यर्थम् । खुरणा इति । खुराविव नासिके यस्येति विग्रहः
नसादेशः । 'पूर्वपदासंज्ञायाम्' इति णत्वम् । 'अवसन्तस्य' इति दीर्घः । खरणा इति ।
खररूपा नासिका यस्येति विग्रहः । उपसगांश्च । असंज्ञार्थमिदम् । उन्नस इति ।
उन्नता नासिका यस्येति विग्रहः । 'उपसगांश्च' इत्यच्, नासिकाया नस् । वेरिति ।
वेः-परो यो नासिकाशब्दः स आदेशं प्राप्नोतीति भावः । विप्र इति । विगता
नासिका यस्येति विग्रहः । प्रकृतत्वात्किं न नासिकाशब्दस्य प्रादेश इति भावः ।
नञ्दुःसुभ्य इति । ऐचपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे—लञ् स्यादिति । अहलः अहलिरिति ।
अविद्यमानः हलिः यस्य स इति विग्रहः । हलिशब्द इदन्तो हलपर्यायः । तदन्तावचि
'यस्येति च' इति इकारलोपे तदभावे च रूपम् । असक्त्यः, असक्तियरिति । अविद्यमानं
सक्तिय यस्येति विग्रहः । एवं दुःसुभ्यामिति । दुर्हलः, दुर्हलिः । दुस्तक्त्यः, दुस्तक्तियः ।

पर नकारको गकार हो, संज्ञामें, पर गकारके व्यवधानमें नहीं हो । खुरस्राम्यां—खुर
और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको विकल्पसे 'नस्' आदेश हो । पक्षेऽपि—पक्षमें
(पक्षार) खुर और खर शब्दसे पर नासिका शब्दको 'नस्' आदेश और समासान्त
'अच्' प्रत्यय हो और नासिका शब्दको 'नस्' आदेश हो, असंज्ञामें ।

वेप्रो वक्तव्यः । ख्यश्च—'वि' उपसर्गसे पर नासिका शब्दको 'अ' आदेश हो और 'ख्य'
आदेश भी हो । नञ्दुःसुभ्यो—नञ्, दुस् और ह् से पर जो षट् तथा सक्तिय शब्द,

साध्याभाववदवृत्तिः ॥ अथ द्विपदे बहुपदे च बहुव्रीहौ प्रत्येकं यथासंभवं नव भेदाः—
विशेषणपूर्वपदः, विशेषणोत्तरपदः, उपमानपूर्वपदः, उपमानोत्तरपदः, विषयपूर्वपदः, अ-
धारणपूर्वपदः, अधारणोत्तरपदः, क्रमिकोत्तरपदः, नवमपदलोपी चेति । विशेषणपूर्वपदो
कथा—बीठः कण्ठो यस्य सः = लीलकण्ठः (पित्तः) । विशेषणोत्तरपदो कथा—अमयः

रम् । अगक्त, अगक्ति ॥ निरयमसिच् प्रजामेत्रयोः । १५।४।१२२। नञ्दुसुभ्य
इत्येव । अप्रजा । अमेधा । दुर्मेधा । सुमेधा ॥ धर्मादनिच् केवलात् । १५।४।१२४
केवलस्यपदायो धर्मशब्दस्तदन्ताद् बहुव्रीहेरनिच् कस्याणवर्मा । केवलात् किम् ?
परम-स्वो धर्मा यस्येति निपदे बहुव्रीही मा भूत् । परमत्ववर्म ॥ (इच्छकर्मस्य-
तिहारे) । केशकेशि । सुपत्तामुसलि ॥ प्रसम्भ्यां जानुनोङ् । १५।४।१२५। प्रभुः ।
संभु ॥ ऊर्ध्वादिभाषा । १५।४।१३०। ऊर्ध्वङ् । ऊर्ध्वत्राजु ॥ ऊवसोऽनङ्
। १५।४।१३१। कुण्डोष्नी ॥ धनुषश्च । १५।४।१३२। धनुरन्ताद्बहुव्रीहेरनगदेश ।

निरयमसिचि । नञ्दुसुभ्यो हलिस्यो ' इति सूत्रात् 'नञ्दुसुभ्य' इत्यनुवर्तते ।
नञ्दुसुभ्यां पराम्भ्यां प्रजामेधाशब्दाभ्यां निरयमसिच् समासान्त स्यात्, स
तद्धित इत्यर्थः । अलिच् चकार इत्, हकार उच्चारणार्थं । अप्रजा इति । अविधमाया
प्रजा यस्येति विग्रहः । 'नजोऽस्त्यर्थानाम्' इति समास । अलिचि, 'यस्येति च'
हकारलोपात्प्रवरशब्दात् सुबुत्पत्तिः । सौ तु 'प्रवसन्त्यस्य' इति वीथं ।
'दृष्टव्यपाप्' इति सुलोप । कव्याणवर्मेति । कव्याणो धर्मो यस्येति विग्रहः । अनधि
'यस्येति च' इत्यकारलोपः । इच्छकर्मति । समासान्त स्यात् स च तद्धितः । केशके
शोति । पूर्वभ्यास्वात्सु । प्रसम्भ्यामिति । प्र-सम्-भ्यां परस्य जानुशब्दस्य श्राद्धेण
ह्यवर्धं । प्रभुः । 'प्रादिभ्यो घानुत्रस्य' इति समास । संभुरिति । संगते जानुनी
यस्येति विग्रहः । ऊर्ध्वादिभाषेति । ऊर्ध्वशब्दात् परो यो जानुशब्दः तस्य श्रा-
द्धेसो वा स्वात् बहुव्रीहावित्यर्थः । ऊवसुरिति । ऊवसो जानुनी यस्येति विग्रहः ।
ऊवसोऽनङ् । 'बहुव्रीहौ सव्यवचनो' इत्यतो बहुव्रीहावि'धनुषवर्तते, तच्च पठया विप-
रिग्रह ऊवस इत्यनेन विशेष्यते, तद्भवति । कुण्डोष्नीति । कुण्ड इत्य ऊवो परमा-

तस्य बहुव्रीहेः समासान्त 'अच्' प्रत्यय हो, विकल्पसः । निरयमसिच्—नजादिषु पर
जो प्रजा और मेधा शब्द तस्य बहुव्रीहेः निरय श समासान्त 'असिच्' प्रत्यय हो ।

धर्मादनिच्—केवळ (एक पद मात्र) पूर्वादेशे पर जो धर्म शब्द, तस्य बहुव्रीहेः
समासान्त 'अनिच्' प्रत्यय हो ।

इच्छकर्मस्यतिहारे—कर्मस्यतिहारने ('तत्र वेदेदमिति सरुणे' इत्य सूत्रे विहित)
बहुव्रीहेः समासान्त 'इच्'प्रत्यय हो । प्रसम्भ्यां—प्र और सम् उपसर्ग हे पर जानुशब्दको
समासान्त 'जु' आदेश हो, बहुव्रीहेः । ऊर्ध्वादिभाषा—ऊर्ध्व उपसर्ग पर जानु शब्दको
समासान्त 'जु' आदेश विकल्पते हो, बहुव्रीहेः । ऊवसो—ऊवोऽन्त बहुव्रीहेः समासान्त
'अनङ्' आदेश हो, लोकिहमे । धनुषश्च—धनुरन्त बहुव्रीहेः समासान्त 'अनङ्' आदेश
आदिषु देन धनुषश्च आदिषु (आहारणम्) । गत शीघ्र पश्य सः=गतशीघ्र (वायु)
उपमानपूर्वपदो वधा—पद्ये इद मेत्रे इत्य उः=पद्येव (विष्णु) । उपमानोपरपदो

शार्ङ्गवन्द्या ॥ वा संज्ञायाम् । ५।४।१३३। शतवन्त्वा। शतपनुः ॥ जायाया निह्
 ५।४।१३४। जायान्तस्य बहुव्रीहेर्निष्ठादेशः ॥ लोपो व्योर्ध्वलि । ६।१।६६। युवति-
 र्जाया यस्य युवजानिः ॥ गन्धस्येदुत्पृत्तिस्तुसुरभिभ्यः । ५।४।१३५। उद्गन्धिः ।
 पृत्तिगन्धिः । सुगन्धिः ॥ उपमानाश्च । ५।४।१३७। पद्मस्येव गन्धोऽस्य पद्मगन्धिः ॥
 चयसि दन्तस्य दत् ॥ ५।४।१४१। संख्यासुपूर्वस्येत्येव । द्विदन् । चतुर्दन् ॥
 अग्रान्तशुद्धशुभ्रवृषजराहेभ्यश्च । ५।४।१४५। एभ्यो दन्तस्य दत् वा । कुट्म-

सा इति विग्रहः । अनङ्गि कृते लोपि अफलोपोऽन इति भावः । पनुपश्चेति 'ऊचलोऽ-
 नङ्' इत्यतोऽनङ् इत्यनुवर्तते । 'यहुव्रीहौ सवध्यणोः' इत्यतो बहुव्रीहाविस्मयुवर्तते,
 तच्च पठया विपरिणम्य ऊचसः इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तविधिः । तदाह—पनु-
 न्तादिश्यादिना । शार्ङ्गवन्देति । शृङ्गस्येदं शार्ङ्गं 'तस्येदम्' इत्यण्, तत् अनुयंस्वेति
 'विग्रहः । समासे शार्ङ्गपनुशब्दे लकारस्यानङ्, ऊकार इत्, अकार उच्चारणार्थः,
 उकारस्य यण् इति भावः । वा संज्ञायाम् । 'धनुपश्च' इत्युक्तः अनङ् संज्ञायौ वा स्वा-
 दिर्यर्थः । युवजानिरिति । जायाशब्दे यकाराकारस्य निह् । उकार इत् । 'लोपो व्योः'
 इति यकारलोपः । युवतिशब्दस्य पुंस्वरश्चात् तिप्रत्ययस्य निवृत्तिः, नलोप इति भावः ।
 गन्धस्येदुत् । गन्धस्य इत् इति छेदः । उत् पृत्ति स्तु सुरभि पृतेभ्यः परस्य गन्धस्येका-
 नोऽन्तादेशः स्याद्विर्यर्थः । उद्गन्धिरिति । उद्गतो गन्धो यस्येति विग्रहः । एवं सर्वत्र ।
 उपमानाश्चेति । उपमानवाचि पूर्वपदात् परस्यापि गन्धशब्दस्य इकारोऽन्तादेशः
 स्याद् बहुव्रीहाविर्यर्थः । पद्मस्येवेति । फलितार्थकयनमिदम् । पद्मान्ध इव गन्धो
 यस्येति विग्रहः । द्विदन्ति । द्वौ दन्तौ यस्येति विग्रहः । दन्तस्य उद्गादेशः । शृङ्गार
 इत् । उगिरवान्नुत् । सुलोपः । संयोगान्तलोपः । तस्यासिद्धत्वाद्गुपधादोर्ध्वो न । चतु-
 र्दन्ति । चत्वारो दन्ता यस्येति विग्रहः । इत्यादि पूर्ववत् । अग्रान्त इति । अग्र-अग्रश-

हो । वा संज्ञायाम्—पनुन्त बहुव्रीहौ संज्ञायाम् विकल्पते समासान्त 'अनङ्' नादेश हो ।
 जायाया निह्—जायान्त बहुव्रीहिको समासान्त 'निह्' आदेश हो ।

लोपो व्योर्ध्वलि—यकार-वकारका लोप हो, 'वल्' के परे । गन्धस्येदुत्-उदादिसे पर
 वो गन्ध शब्द, तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो । उपमानाश्च-उपमानवाचो
 पूर्वपदसे पर जो गन्ध शब्द तदन्त बहुव्रीहिको समासान्त इकारान्तादेश हो ।

चयसि—चय (अवस्था) गन्धमान रहने पर संख्या तथा सु पूर्वक दन्त शब्दको
 समासान्त 'दत्' आदेश हो, बहुव्रीहिमें । अग्रान्त—अग्रदिसे पर दन्त शब्दको समासान्त
 'दत्' आदेश हो, बहुव्रीहिमें, विकल्पते ।

यथा—गतमुद्गोनेमिष यस्य सः = गनोद्गोनः (अधः) । निषयपूर्वपदो यथा—न नवेद
 इति बुद्धिः यस्य सः = ननवेदद्देः । शिब इति शब्दो यस्य सः = शिरशब्दः (तपस्वो)

काप्रदन्त । कुट्टमलाप्रदन् ॥ उरःप्रभृतिभ्यः कप् । ५।४।१५१। व्यूहोरस्कः ।
 प्रियसर्पकः ॥ (अर्थान्नञ्) । अनर्थकम् । नञ् किम् ? अपार्थम् । इगः
 स्त्रियाम् । ५।४।१५२। इधन्ताद्बहुव्रीहे कप् । बहुदण्डिका नगरी ॥ (अनिनश्म
 म्प्रहणान्यर्थवता चानर्थकेन च तदन्तविधिप्रयोजयन्ति) । बहुवाग्मिका ॥
 शेषाद्विभाषा । ५।४।१५३। अनुक्तसमासान्ताद् बहुव्रीहे क्त्वा । महायथा,
 महायशस्कः । अनुक्तेत्यादि किम् ? व्याघ्रपाद् ॥ आपोऽन्यतरस्याम् । ७।४।१५।
 कपि ह्रस्व । बहुमालकः, बहुमालकः, बहुमाल ॥ न सज्ञायाम् । ५।४।१५५।

कपोऽन्तेऽवसाने यस्य स अग्रान्त इत्यभिप्रेत्योदाहरति—कुट्टमलाप्रदन्ति । कुट्टम-
 लानां सुबुलानाम् अग्रानि तानीव वृन्ता यस्येति विग्रहः । एव शुद्धदन्-शुद्धदन्तः,
 शुद्धदन्-शुद्धदन्तः । वृषदन्-वृषदन्तः । वराहदन्-वराहदन्तः इति । अर्थान्नञ्
 इति । गणसूत्रम् । नञ्. परो योऽर्थान्नदन्तदन्ताद् बहुव्रीहे, कप् स्यादिति
 तदर्थः । अनर्थकम् । अविद्यमानोऽर्थो यस्येति विग्रहः । अपार्थम् । अपार्थोऽर्थो यस्मा
 द्विति विग्रहः । अग्र नञ्पूर्वकत्वात् न नित्यः कपिति भावः । इग स्त्रियाम् । इधन्तात्
 कप् स्यात् बहुव्रीहोदाहरणार्थः । बहुदण्डिका नगरी । इण्डोऽस्यास्तीति षण्डी 'अत्
 इनि ठमी' इति इनिः । बहुयः दण्डिनो यस्यामिति विग्रहः । बहुवाग्मिकेपि ।
 वागस्यास्तीति वाग्मी । 'वाचो गिनिनि.' इति गिनिप्रत्ययः । नकारादिकार उच्चारणा
 र्थः । तद्धितत्वात् नकारस्य नैऋत्या, चकारस्य कुत्वम्, जरादम्, चाग्मीति रूपम् ।
 बहुवो वाग्मिनो यस्यामिति विग्रहः । कपोति । 'न कपि' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।
 बहुमालक इति । बहुवो माला यस्येति विग्रहः । ह्रस्वपक्षे बहुमालक इति भवति । कपो
 वैकल्पिकात्वात् पक्षे बहुमाल । सर्वत्र 'क्षिया पुवत्' इति पुवत्प्रश्नः । न सज्ञायाम् ।

उर प्रभृतिभ्यः—उर प्रभृत्यन्त बहुव्रीहिते समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

अर्थान्नञ्—नञ्ते पर को अर्थ शब्द, तदन्त बहुव्रीहिते समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो ।

इग स्त्रियाम्—इधन्त बहुव्रीहिते समासान्त 'कप्' प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

अनिनश्मन्—अर्थवान् वा अनर्थक मी (सूत्रोक्त) अन्, इन्, अस् और मन्ते
 तदन्तविधि हो । शेषाद्विभाषा—अनुक्त समासान्त शेषाधिकारस्य बहुव्रीहिते समासान्त
 'कप्' प्रत्यय हो, विकल्पसे । आपोऽन्यतरस्यां—'कप्' प्रत्ययके परे आबन्तको ह्रस्व हो,
 विकल्पसे । न सज्ञायाम्—'शेषाद्विभाषा' इस सूत्रसे प्राप्त 'कप्' सञ्चार्थे नहीं हो ।

अह्नित्यभिमानो यस्य स = अह्नमभिमान (मूर्ख) । अवधारणात्पूर्वपक्षो यथा—यद्य
 म्ब वन यस्य सञ्चयशोवन (विद्वान्) । अवधारणोत्तरपक्षो यथा—मक्षित कण्ठेन येन
 सञ्चयशोवत् (धारुः) । कर्मिकोऽयमपक्षो यथा—गणित पराशितो वेन स —गणित
 पराशित (राक्ष) ।

शेषादिति प्राप्तः कच् न । विश्वे देवा अस्य-विश्वेदेवः । ईयसश्च । ५।४।१६६। ईय-
सन्तोत्तरपदाञ्ज कप् । बहवः श्रेयांसोऽस्य बहुश्रेयान् । गोत्रियोरिति ह्रस्वे प्राप्ते ॥
(ईयसो बहुव्रीहेर्न) । बहुश्रेयसी । बहुव्रीहेः किम् ? अतिश्रेयसिः ॥ चन्दिते
भ्रातुः । ५।४।१५७। पूजार्थभ्रात्रन्ताञ्ज कप् । प्रशस्तो भ्राताऽस्य प्रशस्तभ्राता ।
सुभ्राता । चन्दिते किम् ? मूर्खभ्रातृकः । नयृतश्चेति कप् ॥ (सर्वनामसंख्येय-
योर्बहुव्रीहौ पूर्वनिपातः) । सर्वश्वेतः । द्विशुक्रः ॥ (संख्याया अल्पीयस्याः) ।

शेषादिति प्राप्त इति । 'अनन्तरस्य' इति न्यायात् 'शेषाद्विभाषा' इति विहितस्य कप
प्रायं निषेधः, न तु व्यवहितस्य 'नयृतश्च' ह्रस्वादिक्प इति भावः । विश्वेदेवा
अस्येति । अत्र संज्ञायां समासस्य निरयत्वात् लौकिकविग्रहप्रदर्शनं चिन्त्यमेव ।
ईयसश्चेति । बहुश्रेयसीशब्दे श्रेयसीशब्दस्यैव प्रत्ययग्रहणपरिभाषया ईयसन्तावादाह-
ईयसन्तोत्तरपदादिति । बहुव्रीहिणा उत्तरपदादित्याधिप्यत इति भावः । न क्विति ।
'न संज्ञेयसोः' इति चक्षुष्ये पृथक्क्याङ्करणत्वात् निरयस्य वैकल्पिकस्य च कपोऽयं
निषेध इति भावः । श्रेयांस इति । अतिशयेन प्रशस्ता ह्यर्थः । 'द्विवचनविभज्य'
इति ईयसुच् । 'प्रशस्यस्य अः' इति अः, 'आद्गुणः' इति गुणः । बहुश्रेयानिति ।
क्षौणिकः कठिनपिच्यते । ह्रस्वे प्राप्ते इति । बहुयः श्रेयस्यः यस्येति बहुव्रीहिः । तत्र
ईयसो बहुव्रीहेरिति । ईयसन्तात् बहुव्रीहेः परस्य स्त्रीप्रत्ययस्य ह्रस्वो नेति वाच्य-
मित्यर्थः । बहुश्रेयसीति । 'नयृतश्च' इति निरयः क्विह निषिध्यते, लिङ्गविशिष्टपरि-
भाषया ईयसग्रहणेन स्त्रीप्रत्ययान्तश्रेयसीशब्दस्यापि ग्रहणादिति भावः । बहुव्रीहेः
क्विति । ईयसो बहुव्रीहेः ह्यत्रेति शेषः । अतिश्रेयसिरिति । श्रेयसीमतिक्रान्त इति
तत्पुरुषोऽयमिति भावः । प्रशस्तभ्रातेति । 'नयृतश्च' इति प्राप्तः क्विह निषिध्यते ।
सुभ्रातेति । सु क्षोभनो भ्राता यस्य स इति विग्रहः । अत्रापि 'नयृतश्च' इति प्राप्तस्य
कपो निषेधः । सर्वनामसंख्येयोरिति । बहुव्रीहौ पूर्वनिपातस्येति शेषः । सर्वश्वेत इति ।

ईयसश्च—ईयसन्तोत्तर पदके बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो ।

ईयसो—ईयसन्त बहुव्रीहिमें उपसर्जन ह्रस्व नहीं हो ।

चन्दिते—पूर्वितार्थक आनन्त बहुव्रीहिसे 'कप्' नहीं हो । सर्वनाम—सर्वनाम और

संख्यावाचकका बहुव्रीहिमें पूर्वनिपात हो । संख्याया अल्पी—अल्प (न्यून) संख्यावाचक

मध्यमपदलोपी यथा—खरस्य मुखमिव मुखं यस्य सः-खरमुखः । हरिणस्याक्षिणी इव
अक्षिणी यस्याः सा = हरिणाक्षी । न विद्यमानः पुत्रो यस्य सः = अपुत्रः, अविद्यमान-
पुत्रो वा । प्रपतितं षण्णं यस्य सः = प्रपण्डः, प्रपतितपणो वा । इति नव भेदाः ।

अथ संख्योत्तरपदो यथा—दद्यान्नां समीपे ये सन्ति ते = उपदेशः (नव पदादक

दिना । (द्वन्द्वेऽपि) । द्वादश । (वा प्रियस्य) । दुःप्रिय । प्रियगृह ॥
 (गङ्गादेः परा सप्तमी) । गङ्गकण्ठः । क्वचिन्न-वहेगङ्गः ॥ निष्ठा । २।२।३६।
 निष्ठान्तं बहुव्रीही पूर्वं स्यात् । कृतकृत्यः ॥ (जातिकालसुखादिभ्यः परा
 निष्ठा घञ्) । सारङ्गजयोः । मासत्राता । सुखत्राता ॥ घाऽऽहिताग्न्या-
 दिषु । २।२।३७। आहिताग्निः, अग्न्याहितः । आकृतिगणोऽयम् ॥
 इति बहुव्रीहिसमासप्रकरणम् ।

सर्वं श्वेतः वस्येति विग्रहः । उभयोरपि गुणवचनत्वेन विशेषाविशेष्यभावे काम-
 चारात् अन्वयतरस्य पूर्वनिपाते प्राप्ते सर्वनामावात् सर्वशब्दस्यैव पूर्वनिपातः । अ-
 सन्नस्येति भूतपूर्वगाया सर्वनामत्वञ्च । दिशुश्च ष्टी । द्वौ सुहो वस्येति विग्रहः ।
 उभयोरपि कामचारेण पूर्वनिपाते प्राप्ते संख्यात्वात् द्विसम्बन्धस्यैव र्धनिपातः ।
 संख्याया अस्तीयस्या ष्टी । न्यूनार्थिकसंख्यात्राचक्रसंख्यायां समाप्ते न्यूनसंख्यायाः
 पूर्वं प्रयोग इति वक्तव्यमित्यर्थः । दिना इति । द्वौ वा प्रयो वेति विग्रहे 'सद्यप्या-
 इयय' इति बहुव्रीहिः । द्वादशेति । द्वौ च द्वा च इति द्वन्द्वः । वा प्रियस्येति । बहुव्रीही
 पूर्वं प्रयोगो वक्तव्य इत्यर्थः । गङ्गादेः परा सप्तमीति । बहुव्रीही षोडशेति वक्तव्यमिति
 शेषः । गङ्गकण्ठः । गङ्गः कण्ठे वस्येति विग्रहः । गङ्गनाम-श्रीदादिगणो हुमांसगणः ।
 क्वचिन्नैति । अवाकमानमेवात्र चारणम् । इति बहुव्रीहिः ।

का बहुव्रीहिने पूर्वनिपात हो । द्वन्द्वेऽपि—द्वन्द्व समासमें जो अल्प संख्यावाचकका पूर्व
 निपात हो । वा प्रियस्य—बहुव्रीहिमें 'प्रिय' का पूर्व निपात हो, विकरस्ये ।
 गङ्गादे—बहुव्रीहि में समासन्तका 'गङ्ग' आदिसे पर प्रयोग हो ।
 निष्ठा—निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पूर्व प्रयोग हो । आतिहास—शक्तिवाचक, काणवाचक
 और सुखादिसे पर निष्ठान्तका बहुव्रीहिमें पर प्रयोग हो । आहिता—आहिताग्नयादि
 शब्दोंमें निष्ठान्तका पूर्वप्रयोग हो, विकरस्ये ।
 रसप्रकार 'द्वन्द्वव्री' शीकामें बहुव्रीहि प्रकरण समाप्त हुआ ।

वैयर्थ्यः) । आसत्रा विधत्ते = आसत्रविद्या । विधत्तः बहुता = बहुविद्याः । चत्वारिंशोऽ-
 षिका = अष्टादशवारिणा । द्वौ वा प्रयो बान्दिना । शिरःपृष्ठा द्वाब्दद्विद्वानः । अन्तरा-
 विषयको यथा-दक्षिणस्या पूर्वस्याश्च दिशोऽन्तरार्धं दिग् = दक्षिणपूर्वा (आग्नेदीत्यर्थः) ।
 अन्तराविषयको यथा—केषु केषु गृहोऽनेदं प्रहृषं = केनादेशि (श्रोताश्रोत्रे) ।
 दण्डेय दण्डेय प्रहृषेदं प्रहृष = दण्डारण्डि (कुसुम्) । सहपूर्वको यथा—पुत्रेय सह
 वा स = सपुत्र (आगतः पिता) । शिष्यैः सह = शिष्यः । इति बहुव्रीहि ४

चार्ये इन्द्रः । २।२।२१। अनेकं सुवन्तं चार्ये वर्तमानं वा समस्यते, स इन्द्रः । असुधयान्वाचयेतरैतरयोगसमाहाराद्यर्थः । तत्रेधरं गुदं च भजस्वेति परस्परनिरपेक्षस्यानेकस्यैकस्मिन्नन्वयः समुच्चयः । मिश्रामट गां चानयेति अन्यतरस्यानुपपत्तिकत्वेनान्वयोऽन्वाचयः । अनयोरेताभ्यां समासो न । धवस्तदिरौ छिन्धीति मिश्रितानामन्वय इतरेतरयोगः । संज्ञापरिभाषामिति । समूहः समाहारः ॥ राजदन्तादिषु परम् । २।२।२१। एषु पूर्वप्रयोगार्हे परं स्यात् । दन्तानां राजा-राजदन्तः । (धर्मादिष्वनियमः) । अर्थधर्मो-धर्मार्थो । दम्पती-जम्पती-जायापती । जायाशब्दस्य दम्भावो जम्भावश्च वा निपात्यते । आकृतिगणोऽप्यम् ॥ इन्द्रे धि । २।२।२२। इन्द्रे विसंज्ञं पूर्वं स्यात् । हरिहरौ ॥ अजाद्यदन्तम् । २।२।२३। ईशकृष्णौ । अल्पाक्षरम् । २।२।२४। शिवकेशवौ ॥ (ऋतुनक्षत्राणां समाक्षराणामानुपूर्व्येण) ।

मिथितानामिति । परस्परशपेक्षितानां समुदितानामेकस्मिन् क्रियापदेऽन्वयो यत्र, तत्रेतरैतरयोगः परस्परसाहचर्यं चार्यः प्रत्येतस्य इत्यर्थः । समूह इति । परस्परसाहित्यनिरपेक्षः । धवस्तदिरौ । धवस्तदिरस्य 'धवस्तदिरौ' इत्यत्र इतरेतरयोगत्वात् 'चार्ये इन्द्रः' इति इन्द्रसमासे सुपो लुकि, विभक्तिकार्ये च कृते 'धवस्तदिरौ' इति । अजाद्यदन्तमिति । अजाद्यदन्तं पूर्वं प्रयोक्तव्यमर्थः । ईशकृष्णाविति । अत्र कृष्णस्वादन्तत्वेऽपि अजादित्वाभावात् पूर्वनिपातः । अल्पाक्षरमिति । अक्षयः अक्षयसंख्यः अक्षयस्य तदक्षपात्, तद्वेयाक्षपात्तरश्च । अत्र निपातनात् स्वार्थेतरप्, कुत्वाभावश्च । अक्षयसंख्यावाचकं पदं इन्द्रेपूर्वं प्रयोज्यम् । शिवकेशवौ शिवस्याक्षपात्तरश्चत्वरत्वात् पूर्वनिपातः

चार्ये इन्द्रः—चार्यं (इतरेतरयोगेण चौर समाहार अर्थ) में वर्तमान अनेक सन्धे सुवन्तका समास दो, विकल्पसे और यह समास इन्द्रसंज्ञक हो ।

नोटः—जिस समासमें समी गद प्रधान हों और उनके बीचका योजक अव्यय (च) सुप्त रहे, उसे इन्द्रसमास कहते हैं । (निम्न टिप्पणी (२) देखो)

राजदन्तादिषु—राजदन्तादिमें पूर्वप्रयोगार्हेका पर प्रयोग हो । धर्माद्य—धर्मादिमें पूर्व निपातका क्रोड़ नियम नहीं है । इन्द्रेऽपि—इन्द्रमें विसंज्ञकका पूर्व निपात हो ।

अजाद्यदन्तम्—अजादि जो अदन्त, लसका इन्द्रमें पूर्व निपात हो ।

अक्षपात्तरम्—इन्द्रमें अक्ष 'अच्' का पूर्व प्रयोग (निपात) हो ।

ऋतुनक्षत्राणां—समाक्षर (ऋत्विजसंख्यक अक्षरवाले) ऋतु तथा नक्षत्रवाचक शब्दका

(१) इन्द्रो द्वित्रिधः । इतरेतरयोगेण समाहार इन्द्र इति । समासवदक्षयसंख्या-प्रमाण इतरेतरयोगेण समासवदक्षयसंख्येण समासः समाहार इन्द्रः । तत्रेतरैतरयोग-

हेमन्तशिशिरवसन्ता । कृत्तिकारोहिष्यौ । समासराणां किम् । प्रोम्पदसन्तो ॥ लब्ध-
 स्तर पूर्वम् । कुशकाराम् । (अभ्यर्हितं च) तापसपर्वतो ॥ (वर्गानामानुप-
 र्ख्येण) । प्राज्ञेण क्षत्रिय विट्शूरा ॥ (भ्रातृज्यायसः) । युधिष्ठिरानुनौ ॥ इन्द्रश्च
 प्राणितूर्यसेनाङ्गानाम् । २।४।२। एषां दन्द्र एकवत् । पाणिपादम् । मार्दङ्गिकपाण-
 विकम् । रपिकान्धारोहम् ॥ अभ्ययनतोऽधिप्ररुष्टाख्यानाम् । २।४।५। अभ्ययनेन
 प्रत्यासन्ना आख्या येषां तेषां दन्द्र एकवत् । पदककमकम् । जातिरप्राणिनाम्

अनुनङ्गानामिति । समानसवधात्कानां अनुनां नक्षत्राणां च दन्द्रे आनुपूर्वेण १ ।
 निपातो वक्तव्य इत्यर्थः । हेमन्तशिशिरवसन्ता । प्रथमास्तूनामानुपूर्व्ये लोकाप्रसिद्धे २ ।
 एव कृत्तिकादिनक्षत्राणामपि । प्रोम्पदसन्ताविति । विश्वमासराणां वसन्तस्य पूर्वनिपात-
 तः । किन्तु अक्षराक्षराद्य प्रोम्पदस्य पूर्वनिपातः । क्वयत् पूर्वमिति । छपु अक्षरमच्-
 यस्य सत् दन्द्रे पूर्व प्रयोज्यमिति वक्तव्यमित्यर्थः । कुञ्जकाशमिति । समाहारद्वन्द्वोऽ-
 यम् । अभ्यर्हितश्चेति । श्रेष्ठः पूर्वं प्रयोज्य इति । वक्तव्यमित्यर्थः । तापसपर्वताविति ।
 पर्वतस्य स्यादक्षरद्वन्द्वतया तापसस्य सवदेवमा अभ्यर्हितस्य शोच्यम् । वर्णानामिति ।
 एषां क्रमेण पूर्वनिपातः । भ्रातृज्यायस इति । उपेक्षमातुः पूर्वनिपात इत्यर्थः । इन्द्रश्च
 प्राणि । प्राणितूर्यसेनाङ्गानीति इन्द्रगर्भपत्नीसमासः । इन्द्रान्ते श्रूयमाणोऽङ्गसम्प-
 र्णत्येकं सम्पत्तये इत्यभिप्रेत्याह—एवामिति । प्राण्यङ्गानां तूर्याङ्गानां सेनाङ्गानाञ्च
 इत्यर्थः । दन्द्र इति । समाहारद्वन्द्व इत्यर्थः । पाणिपादमिति । पाणयोः पादयोश्च समाहारः
 इति विग्रहः । अत्र समाहारे एकत्वम् । 'स नपुंसकम्' इति नपुंसकत्व च । मार्दङ्गिक-
 वैगिरिकम् । मृदङ्गवैजवसन्तौ वाद्यविशेषपदौ । इह तु तद्वाग्नेऽपि वर्तते । मृदङ्गवाद्य-
 च शिवपदस्येत्यर्थं 'शिवपदम्' इति ठक् । मार्दङ्गिकपाणविक्रयो समाहार इति विग्रहः ।
 तूर्याङ्गानां च वचनम् । रपिकान्धारोहम् । रयेन चरन्तीति रमिकाः । एषांदिभ्यः छत् ।
 रपिकानामधारोहाणाञ्च समाहार इति विग्रहः । सेनाङ्गानां च वचनम् । पूर्वयत्रपुंस-
 कम् । अभ्ययनत इति । अभ्ययनत इति तुतीमार्थे तसि । पदककमकमिति । पदानि

दन्द्रे आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो । छपु अक्षर—छपु (छत्) अक्षरवाले
 पदका दन्द्रे पूर्व प्रयोग हो । अभ्यर्हित—अभ्यर्हित (पूज्य) का दन्द्रे पूर्व प्रयोग हो ।
 वर्णानामानु—प्राज्ञादि वर्णोंका दन्द्रे आनुपूर्वी (यथाक्रम) से पूर्व प्रयोग हो ।
 भ्रातृज्यायसः—दन्द्रे नके भार्गवा पूर्व प्रयोग हो ।
 इन्द्रश्च प्राणि—प्राण्यग, तूर्याङ्ग और सर्वांग वाचो दन्द्र एकवत् हो ।
 अभ्ययनतोऽधि—अभ्ययनते अिनकी आरुपा (सहा) प्रयासत्र (निहत्) हो,
 चनका दन्द्र एकवत् हो । जातिरप्राणिनाम्—प्राणिसे भिन्न जातिवाचियोंका दन्द्र एकवत्
 इन्द्रो यथा—सद्विती कश्मीथ नायायणश्चकश्मीनारायणी । सद्विती इत्य पार्वता च =

१२।४।६। प्राग्विषयज्ञातिवाचिनां द्वन्द्व एकवत् । धानाराङ्कुलि । प्राणिनां तु-विट्-
 शूदाः ॥ विशिष्टलिङ्गो नदीदेशांऽग्रामाः । १२।४।७। ग्रामवर्जनदीदेशवाचिनां
 भिन्नलिङ्गानां द्वन्द्व एकवत् । उदयश्च हरावती च उदयरावति । गङ्गाशोणम् ।
 कुरवश्च कुरुक्षेत्रं च कुरुक्षेत्रम् ॥ शुद्धजन्तवः । १२।४।८। एषां द्वन्द्व एकवत् ।
 यूकाब्जम् । आ नकुलात्पुद्गलजन्तवः ॥ येषां च विरोधः शाश्वतिकः । १२।४।९।
 एषां प्राग्वत् । अहिनकुलम् । गोव्याघ्रम् । काकोलूकमित्यादौ परत्वात् 'विभाषा वृत्ते'ति
 प्राप्तं चकारेण वाध्यते ॥ शूद्राणामनिरवसितानाम् । १२।४।१०। अबहिष्कृतानां
 शूद्राणां द्वन्द्वः प्राग्वत् । तक्षायस्कारम् । पात्राद् बहिष्कृतानां तु—चण्डालमृतपाः ॥
 गवाश्वप्रभृतीनि च । १२।४।११। ययोच्चारितानि तथैव साधूनि । दासीदास-

अधीयते पदकाः । क्रमान् अधीयते क्रमकाः । 'क्रमादिभ्यो वुन्' । पदकानां क्रमकाणा-
 म् समाहार इति विग्रहः । जातिप्राणिनामिति । जातिरिति पद्योवहुवचनस्थाने, इत्य-
 येन प्रथमा । जातिवाचिनामित्यर्थः । धानाशङ्कुलोति । धानाश्च शङ्कुवपश्च तासां
 समाहार इति विग्रहः । जातिवाचिदाश्वेकवचनम् । नपुंसकवाद्भव इति भावः ।
 विट्शूदाः । विद्याश्च शूद्राश्चेति विग्रहः । विशिष्टलिङ्ग इति । ग्रामवाचकभिन्नाः भिन्न-
 लिङ्गकाः ये नदीवाचिनः ये देशवाचिनश्च तेषां द्वन्द्वः एकवत् इत्यात् इति तात्पर्यार्थः ।
 उदयश्चेति । उदयो नाम नद्विशेषः, हरावतो नाम काचिन्नदी । तयोर्नदीवि-
 शेषवाचकत्वाद्देकत्वम् । नदीशब्देन नदस्यापि ग्रहणात्, अन्यथा भिन्नलिङ्गवासम्भ-
 वादिति भावः । यूकालिङ्गम् । यूकाश्च लिङ्गाश्चेति विग्रहः । एकत्वं नपुंसकत्वत्वञ्च ।
 आनकुलादिति । नकुलपर्यन्ताः शुद्धजन्तवः इति भाष्यादिति भावः । प्राग्वदिति ।
 समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । अहयश्च नकुलाश्चेति विग्रहः । अनयोः स्थानाविक-
 विरोधः प्रसिद्धः । नकारेणिति । येषां चेति चकारेणेत्यर्थः । अबहिष्कृतानामिति । 'यैमुक्तं
 पात्रं चारोदकप्रक्षालनेन संस्कारेणापि न शुष्यति ते निरवसिताः चण्डालादयः ।
 यैस्तु भुक्तं पात्रं संस्कारेण शुद्ध्यति तेऽनिरवसिताः' इति भाष्ये स्पष्टम् । प्राग्वदिति ।
 समाहारद्वन्द्वः एकवदित्यर्थः । तक्षायस्कारमिति । तक्षायश्च अयस्काराश्चेति विग्रहः ।
 चण्डालमृतपा इति । पुत्रदुष्पुत्रपात्रस्य संस्कारेणापि नास्ति शुद्धिरिति भावः । गवाश्व-
 प्रभृतीनि च । यथा गणे पठितानि तथैव साधूनीत्यर्थः । दासीदासमिति । अग्रैकवचनि-

हो । विशिष्टलिङ्गो—ग्रामवर्जन देशाची ओर नदीवाचीसे भिन्न लिङ्गका द्वन्द्व एकवत् हो ।
 पुद्गलजन्तवः—शुद्ध जन्तुओंका द्वन्द्व एकवत् हो । येषां च—जिनका (परस्पर) सदासे हो
 स्वभाविक वैर है, उनका द्वन्द्व एकवत् हो । शूद्राणां—मबहिष्कृत शूद्रोंका द्वन्द्व एक-
 वत् हो । गवाश्व—गवाश्व प्रभृति जैसा गणमें पठित है, वैसा ही साधु हो ।

हरपावर्षी । सहितौ रामश्च कृष्णश्च = रामकृष्णौ । सहितानि पदश्च कुट्यं च कुसुलं च =

मित्यादि ॥ विभाषा वृक्षमृगात्तृणधान्यव्यञ्जनपशुशकुन्यश्वघटघपूर्वा-
 पराधरोत्तरणाम् । २।४।१२। वृक्षादीनां सप्तानां द्वन्द्व, अश्ववटवेत्यादि द्वन्द्व-
 त्रयं च प्राग्वदा । १। वृक्षादौ विशेषणमेव ग्रहणम् । प्लक्षन्द्यमोघम्-प्लक्षन्द्यमोघा ।
 वृक्षपृषतम्-वृक्षपृषताः । कुशाकाशम्-कुशाकाशाः । म्रीहियवम्-म्रीहियवाः ।
 दधिपृतम्-दधिपृते । गोमहिषम्, गोमहिषाः । शुक्रबकम्-शुक्रबकाः । अश्व-
 वटवम्-अश्ववटवौ । पूर्वापरम्-पूर्वापरे । अधरोत्तरम्, अधरोत्तरे ॥ (फल-
 सेनाघनस्पतिमृगशकुनिधुद्रजन्तुधान्यतृणानां बाहुप्रकृतिरेव द्वन्द्व एव-
 चदिति वाच्यम्) बदराणि चामलकानि च-बदरामलकम् । नेह-बट-
 मलके । रविकाश्वारोहादित्यदि ॥ न दधिपय आदीनि । २।४।१४। नेक-
 वत्स्यु । दधिपयसौ । इम्भाबहिषी । निपातनादीर्घ-शकृष्णये । वाङ्मनसे ॥

बम् । 'प्रमान् विषा' इत्येकशेषस्तु निपातनाच्च । प्राग्भवेति । विकल्पेन एकवदित्य-
 र्थाः । वृक्षाविति । वृक्षविशेषवाचिनां वृगविशेषवाचिनां । धान्यविशेषवाचिनां पशुकि-
 शेषवाचिनां चेत्यर्थः । वृक्षद्वन्द्वमुदाहरति-प्लक्षेति । प्लक्षाम् इत्यमोघाद्येति विग्रहः ।
 मृगद्वन्द्वमुदाहरति-वृषतमिति । वृषतम् पृषताश्चेति । विग्रहः । तृणद्वन्द्वमुदाहरति-
 कुशेति । कुशाश्च काशाश्चेति विग्रहः । धान्यद्वन्द्वमुदाहरति-म्रीहोति । म्रीहयम् यवा-
 र्थेति विग्रहः । व्यञ्जनद्वन्द्वमुदाहरति-दधीति । दधि च पृत च इति विग्रहः । पशु-
 द्वन्द्वमुदाहरति-गावश्च महिषाभ्येति विग्रहः । शकुनिद्वन्द्वमुदाहरति-शकृष्येति । शकृष्य-
 कम्भेति विग्रहः । अश्ववटवादिद्वन्द्वमुदाहरति-अश्ववटवमिति । अश्वाम् वटवा-
 र्थेति विग्रहः । 'पूर्ववदश्ववटवौ' इति अश्ववटवावित्यत्र पूर्वपदवत् पुच्छिता ।
 फलसेनेति । एकवज्जावप्रकरणशेषमूलमिदं वार्तिकम् । 'द्वन्द्वम् प्राणि' इत्यादिसूत्रैः
 फलसेनादीनां द्वन्द्व एकवज्जावत् बहुवचनान्तावयवक एव एकवत् भवति, नावेक-
 द्विवचनान्तावयवक इत्यर्थः । बदराणि चेति । बदरोफलानि आमलकीफलानि चेत्यर्थः ।
 बदरामलके । बदर आमलक चेति विग्रहः । रविकाश्वारोहादिति । अत्र सेनाद्वन्द्वेऽपि
 नेकवत्त्वम् । नेकवत्त्वरिति । एषां समाहारद्वन्द्वो नास्तीत्यर्थः । दधिपयसौ । दधि च
 पयश्चेति विग्रहः । 'वातिप्रमाणानाम्' इति नित्यमेकवच्यं प्राप्तं वाचिवा इत्यमरद्व-
 न्दत्वाद्द्विवचनं प्राप्तं, सोऽपि न भवति । इम्भाबहिषी । इम्भ च बहिर्चेति विग्रहः ।

विभाषा वृक्ष-वृक्षादि शतौका तथा अश्ववटवादि शतौका द्वन्द्व एकवत् हो,
 विकल्पे । फलसेना-फलदिका बहुवचनात् प्रकृतिक द्वन्द्व एकवत् हो । न दधिपय-
 दधिपयस्यारि द्वन्द्व एकवत् नहीं हो ।

वद्वन्द्ववत्त्वमिति । सदिवा बटौ च पटौ च-वद्वन्द्वः । सदिवाणि कुम्भकानि च बटके च

आनङ् श्रुतो ह्रस्वे त्तिशुद्धेऽपि विद्योतिसम्बन्धवाचिनामृपन्तानां द्वन्द्व
 आनङ् स्यादुत्तरपदे । श्लोकद्वयोः आतापितरौ । पुत्रे इत्यनुवृत्तेः-पितापुत्री ॥
 देवताह्रस्वे च । ६।३।२८। देवताह्रस्वे पूर्वपदस्यानङ् । मित्रावरुणौ ॥ (वायुशब्द-
 प्रयोगे प्रतिषेधः) अग्निनाम्नू एतन्मयी ॥ ईदग्नेः सोमवरुणयोः । ६।३।२७।
 देवताह्रस्व इत्येव ॥ अग्नेः स्तुत्यलोमलोमाः । ८।३।८२। अग्नेः परेषामेषां वस्य
 पः समासे । अग्निष्टुत् । अग्निष्टोमः । अग्नीधोमौ । अग्नीवरुणौ ॥ इद् वृद्धौ
 । ६।३।२८। वृद्धिसत्युत्तरपदे अग्नेरिदादेशो देवताह्रस्वे । अग्रामदत्तौ देवते अस्य-

दीर्घ इति । इष्मन्वद्वस्वेति शेषः । ऋक्त्वामे । ऋक् च साम चेति विग्रहः । 'मचदुर्'
 इत्यादिभाऽच् समासान्तः । वाङ्मनसे । वाङ् च मनश्चेति विग्रहः, पूर्ववात्समासान्तः ।
 विद्योतिसम्बन्धवाचिनामिति । विद्योतिसम्बन्धवाचिनां चोदितसम्बन्धवाचिनां चेत्यर्थः ।
 ऋदन्तानाम् इति । वदुस्त्वे व्यस्येन ऋतः इत्येकवचनम् । श्रुदन्तसर्वावयवकान्ताना-
 मित्यर्थः । उत्तरपदे इति । 'अनुपुत्तरपदे' इत्यधिकारादिति आचः । शोतापोताराविति ।
 शोता च पोता चेति । विग्रहः । आतापितराविति । पितृपितामहौ इत्याद्यौ तु नानङ् ।
 ऋदन्तसर्वावयवकत्वाभावादिति आचः । मित्रावरुणाविति । इद् ऋदन्तत्वाभावात्
 पूर्वोणाप्रान्ते विचिरयम् । वायुशब्देति । वायुशब्दस्य पूर्वपदत्वेनोत्तरपदत्वेन वा प्रयोगे
 सत्यानङ् प्रतिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । ईदग्नेः । इत्येवेति । देवताह्रस्वे इत्यनुवृत्त-
 वृत्तेः । सोमशब्दे चरुणशब्दे च उत्तरपदे परे अग्नेरिदादेशः स्यात् देवताह्रस्वे
 इत्यर्थः । अग्नेः परेषामिति । पः स्यादिति 'अपदान्तस्य मूर्धन्यः' इत्यनुवृत्तेरिति भावः ।
 अग्निष्टुदिति । ऋतुदिशेषोऽयम् । अग्निष्टोम इति । ह्योमविशेषकस्य संस्थादित्येव
 च ह्यस्य । अग्नीधोमाविति । अग्निश्च सोमदोति इत्यर्थः । ईदवस्ये । अग्नीवरुणाविति ।
 अग्निष्टुत् चरुणश्चेति विग्रहः । इद् वृद्धौ । वृद्धिरिति ईद्वत्ताह्रस्वे इति पानुवर्तते, वृद्धि-
 ष्टुत्वेन वृद्धिमल्लपते, देवताह्रस्वे केवलाह्रस्वेऽप्येव स्यात्संभवात् । तदाह-वृद्धिमल्लपिः ।

आनङ् श्रुतो ह्रस्वे-विद्योतिसम्बन्धवाची पीर श्लोकित्सम्बन्धवाची ऋदन्तको द्वन्द्वमें 'आनङ्'
 आदेश हो, उत्तर पदके परे । देवताह्रस्वे-देवतावाची शब्दको द्वन्द्वमें 'आनङ्' आदेश हो,
 उत्तर पदके परे । वायुशब्दप्रयोगे-द्वन्द्वमें देवतावाची 'वायु' का प्रयोग रहनेपर 'आनङ्'
 आदेश नहीं हो । ईदग्नेः-सोम और वरुण उत्तर पदके परे अग्निके शब्दको 'ईद' आदेश
 हो, देवता द्वन्द्वमें । अग्नेः स्तुत-अग्निसे पर 'स्तुत' णादिके सकारको 'त्व' हो, समासमें ।
 इद् वृद्धौ-वृद्धिमान् उत्तर पदके परे अग्निके शब्दको शकार ही आदेश हो, देवता द्वन्द्वमें ।

तादह् च=इष्मन्वद्वस्वतादह्मनि । सद्धितौ अग्निश्च सोमश्च=अग्नीधोमौ । सद्धिते षौश्च
 मूर्धन्यश्च=आवाग्नी । सद्धितौ मित्रश्च वरुणश्च=मित्रावरुणौ । एतादह्रस्वौ इत्या-वाणी-

आग्निमासं कर्म । अग्नीवरुणो देवते अस्य—आग्निवारुणम् । 'देवताद्वन्द्वे चेत्यु-
भयपददृष्टिः' । (विष्णो न) । अग्नावैष्णवम् ॥ दिवो धावा । ६।३।२९। देव-
ताद्वन्द्वे उत्तरपदे । यावाभूमि ॥ मातरपितराबुद्धीचाम् । ६।३।३२। उदीवा
किम् ? मातापितरौ ॥ इन्द्राच्च्युदपदान्तात्समाहारे । ५।४।१०६। चवर्गान्तादप-
हान्ताच्च इन्द्राच्च समाहारे । वायस्त्वम् । त्वक्स्त्रजम् । शमीदपदम् । वाङ्त्वियम् ।
छत्रोपानहम् । समाहारे किम् ? प्राकृत्यारदौ । इति इन्द्रममासप्रकरणम् ।



अधमरुताविति । अग्निश्च मरुत्वेति विग्रहः । देवताद्वन्द्वे च' इत्यानङ्, अग्निमासत
कर्मोति । 'सास्य देवता' इत्यण् । तद्धितान्तपातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुक् ।
अग्नीवरुणाविति । 'ईदग्ने' इतीरयम् । आग्निवारुणमिति । 'सास्य देवता' इत्यण् ।
ननु 'तद्धितेष्वधामादे' इत्यादेशो वृद्धिविधानात् कथमुत्तरपदस्यावृद्धिरित्यत
आह—देवताद्वन्द्वे चेत्युभयपददृष्टिरिति । विष्णो नेति । विष्णुशब्दे परे अग्नेरिकारो नेति
वक्तव्यमित्यर्थः । अग्नावैष्णवमिति । अग्निश्च विष्णुश्च अग्नाविष्णुः । 'देवताद्वन्द्वे
च' इत्यानङ् । अग्नाविष्णु देवते अस्य इत्यर्थे 'सास्य देवता' इत्यण् । अग्नावैष्णव
इति । 'देवताद्वन्द्वे च' इत्युभयपददृष्टिः । इत्यामायादानशेव । यावाभूमि इति ।
द्यौश्च भूमिरचेति विग्रहः । मातरपितराबुद्धीचामिति । उदीवा मते 'मातरपितरा'विति
अवतीत्यर्थः । अत्र मातृशब्दस्यारुणानेशो निपात्यते । मातापितराविति । अरुणभावे
'आनङ्त्वा' इत्यानङ् । इति इन्द्रममास ।



विष्णो न—वृद्धिमत् 'विष्णु' शब्द उत्तर पदके परे अग्निको 'इत्' आदेश नही हो ।

दिवो धावा—'दिव' शब्दको 'धावा' आदेश हो, उत्तर पदके परे ।

मातरपितरौ—'मातरपितरौ' इस द्वन्द्वमें मातृशब्दको 'अरु' आदेश हो, पश्चिमी
आचार्योंके मतसे । इन्द्राच्च्युद—अवर्गान्त, वकारान्त, षकारान्त और इकारान्त द्वन्द्वसे
समासान्त 'च्यु' प्रत्यय हो, समाहारमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' शीकामें द्वन्द्व प्रकरण समाप्त हुआ ।



च पादौ च मुख च यथैवा समाहारः ॥ पाणिपादमुखम् । शब्दश्च पदद्वय अनयोः समाहारः ॥
शब्दपरम् । रविकाश्च अचारोऽश्वश्च गदायाश्च यथैवा समाहारः ॥ रविकाचारोऽश्वमत्वम् ।



अथैकशेषसंज्ञासप्रकरणम्

(विरूपाणामपि समानार्थानाम्) । वक्रदण्डश्च कुटिलदण्डश्च-वक्रदण्डौ-
कुटिलदण्डौ ॥ वृद्धो यूना तल्लक्षणश्चैदेन विशेषः । १।२।६५। यूना सहोक्ती
गोत्रं शिष्यने गोत्रयुवप्रत्ययमात्रकृतं चेतयोः कृत्स्नं वैरूप्यं स्यात् । गार्ग्यश्च
गार्ग्यायणश्च-गार्ग्यौ । वृद्धः किम् ? गर्गगार्ग्यायणौ । यूना किम् ? गर्गगार्ग्यौ ।

विरूपाणामिति । 'सरूपाणाम्' इत्यनेन सूत्रेणार्थभेदेऽपि शब्दैकरूप्ये एकशेष
उक्तः, एकार्थकत्वे विरूपाणामप्येकशेषो वक्तव्य इत्यर्थः । वक्रदण्डश्चेति । क्व
शब्दवैरूप्येऽप्यर्थशयात् अन्यतरः शिष्यत इति भावः । वृद्धो यूना । रूपतो
ऽर्थतश्च भेदेऽपि प्राप्स्यर्थमिदम् । यूनेति । 'जीवति तु वंश्ये युवा' इति वषयमाण-
युवप्रत्ययान्तेनेत्यर्थः । सहांकाविति । अध्याहारलक्षणमेतत् । गोत्रमिति । वृद्धशब्देन
'अपत्यं यौत्रप्रमृतिगोत्रम्' इति सूत्रोक्तं गोत्रं विवक्षितम् । अपत्यमन्तरितं वृद्धमिति
पूर्वाचार्यपरिभाषितत्वादिति भावः । शिष्यत इति । शेष इति कर्मणि चञन्तमनुवर्तत
इति भावः । तल्लक्षण इति । सः गोत्रप्रत्ययः युवप्रत्ययश्च लक्षणं निमित्तं चस्येति
विग्रहः । विशेषः वैरूप्यम् । तथा च गोत्रयुवप्रत्ययान्तयोर्विशेषः वैरूप्यं तल्लक्षण-
श्चेत् गोत्रयुवप्रत्ययनिमित्तकक्षेत्रित्यर्थः । अन्यनिमित्तको न चेदित्यर्थः सिद्धः । वदाह-
गोत्रयुवेति । कृत्स्नमिति । एवकारलक्षणमिदम् । गार्ग्यश्चेति । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः ।
'गर्गादिशब्दो यञ्' । गार्ग्यायण इति । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यः । तस्यापत्यं युवा गार्ग्या-
यणः । 'यजिज्ञोश्च' इति कक् । गार्ग्याविति । अत्र गार्ग्यशब्दस्य गार्ग्यायणशब्दस्य
च गोत्रयुवप्रत्ययकृतमेव वैरूप्यमिति गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दः शिष्यत इति
भावः । गर्गगार्ग्यायणाविति । गर्गश्च गार्ग्यायणश्चेति विग्रहः । अत्र गर्गशब्दस्य
गार्ग्यायणशब्दस्य च युवप्रत्ययमात्रकृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तत्वाभावात्तैकशेष
इति भावः । गर्गगार्ग्याविति । अत्र गर्गशब्दस्य गार्ग्यशब्दस्य च गोत्रप्रत्ययमात्र-
कृतवैरूप्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तो गार्ग्यशब्दो न शिष्यते यूना । सहोक्तयभावादिहि

विरूपाणामपि—समानार्थक विरूपोका सो एकशेष(१) हो, विभक्तिके परे ।

वृद्धो यूना—युवप्रत्ययान्तके साम उक्त गोत्रप्रत्ययान्तका शेष हो, यदि गोत्रप्रत्यय
और युवप्रत्ययमात्रकृत हो उनका कृत्स्न (-समी तरहका) वैरूप्य रहे तो ।

(१) इन्द्रापवाह एकशेषः । स देवा । सरूपसंबन्धो विरूपसंबन्धो चेति । अत्र
सरूपसंबन्धो वधा—रामश्च रामश्च = रामौ । विप्रश्च विप्रश्च विप्रश्च = विप्राः । यूना च
यूना च = यूने । नदी च नदी च नदी च = नद्यः । नेत्रं च नेत्रं च = नेत्रे । पत्नं च पत्नी च पत्ना

कृत्स्नं हिम् १ गार्ग्यावात्स्वायनौ ॥ ॐ पुंशश्च । १।२।६६। पूना सहोष्ठी वृद्ध
 ङी शिष्यते छदस्य पुंशत् । गार्गी च गार्ग्यायनौ च-गर्गा ॥ पुमान् स्त्रिया
 । १।२।६७। स्त्रिया सहोष्ठी पुमान् शिष्यते, तत्प्रत्यय एव शिष्यते । हंसा
 च हंसश्च-ईषी ॥ आर्षुपुत्री स्वस्तुद्विष्याम् । १।२।६८। प्राणा च स्वता च
 आतरो । पुत्रश्च दुहित्वा च-पुत्री ॥ नपुंसकमनपुंसकेनैकद्वयास्याम्यतरस्याम्

भावः । गार्ग्यावात्स्वायनौ । गार्ग्यस्य गोत्रपाद गार्ग्यं, स्वायन्त्य गोत्रपाद स्वायनं ।
 गार्गादिष्वाम् । धातुस्वायत्य पुमां स्वात्स्वायनत् । 'यन्निञ्चोश्च' इति ऋत् । गार्ग्यंश्च
 धातुस्वायत्यनेनि दिग्गहः । अथ गार्ग्यंश्चोश्च धातुस्वायनत्स्यस्य च न गोत्रप्रत्यय
 यमाहृत्य वैरूप्यम्, प्रकृतिवैरूप्यस्य गोत्रपुत्रप्रत्ययमात्रद्वयवाभावात् । अतो गोत्र
 प्रत्ययान्तो गार्ग्यंश्चोश्च न शिष्यत इति भावः । श्रीपुत्रश्च । वृद्धो यूषेत्यनुवर्तते ।
 वृद्धेति ङीतिङ्गेन निपरिगम्यते । तत्राप-यूना सहोष्ठी वृद्धा ङी शिष्यत इति । गोत्र
 प्रत्ययान्तो श्रीवाचक इत्येव शिष्यत इति भावः । श्रीवस्य वैरूप्यकारणवाचिकस्य
 छदस्य दूर्ययाप्राप्ते वचनमित्यम् । तदर्थं इति । तस्य शिष्यमागत्य ङीवाचक
 इत्येतत्प्रत्ययान्तस्यास्य पुंसनिद इत्यादिपर्यं । गर्गां चेति । गर्गास्यापाद ङीत्यर्थाः ।
 यन्निञ्चोश्च-तत्राप-यनश्च' इति ङीप् । गार्ग्यायनौ चेति । गर्गाद्यनन्त्यात् पून्यपत्ये
 'यन्निञ्चोश्च' इति ऋत् । गर्गा इति । अथ श्रीवृद्धतवैरूप्याधिक्येऽपि गोत्रप्रत्ययान्तः
 ङीवाचको गार्गाद्यंश्च शिष्यते । स पुत्रत् । पुमान्द्विष्या । वृद्धश्च पर्येत् । 'वृद्धो
 पूना' इत्यतस्तद्वृद्धचेरिति ऋत् । हंसा चेति । अत्र पुंसद्वीत्यनाश्रुतवैरूप्यात्
 पुंशित्तो हंसस्य शिष्यते । ङीत्पुंसद्वयवैरूप्यादेव 'सकृपाणाम्' इत्यस्याप्राप्तिः ।
 मात्मातरादिद्वय एकद्वीवाचकपरिणदेश्चकमात्पुनश्चोस्तु नायनेकरीष । एक
 विगच्छी सकृप्यन्निञ्चोश्चोश्च एवविगच्छी सकृपाणां श्रीवृद्धतवैरूप्यारहितान्
 नातिप्राप्तवन्तः । इह च मातरा शिष्यन्त 'अप्यम्' इति कृषितवमापान्नादि वैरु-
 प्यात् । अत एव इत्यत्र परत येयन्नापि वैरूप्यात् । आर्षुपुत्री । आर्षुपुत्री स्वस्तुद्वि-
 ष्यां सप्तोष्ठी इत्यात् आर्षुपुत्री शिष्येते । स्वस्तुपुत्रोऽपि वैरूप्यादप्राप्तो वैरूप्यश्च ।
 नपुंसकत् । अन्यतरस्यां प्रथमम् एववदित्वात्पैशान्येति, आद्यस्यर्थात्, गार्ग्येऽपि

श्रीपुंशश्च-पुत्रप्रत्ययान्तके साय लक्षि (सहविंश्या) में इस ङी (गोत्र प्रत्ययान्त
 ङीवाचक शब्द) का शेष हो, और श्रीवाचकको पुत्रत्व हो । पुमान् स्त्रिया-ङीवाचक
 के साय पुत्रवाचकको सह द्विवचनो पुंवाचकका शेष हो, यदि योत् और पुंसद्वयान्त
 ही वदद्वय वैरूप्य रहे तो । आर्षुपुत्री-स्वजाके साय आगच्छी सहविषयार्थे आगच्छा
 शेष हो और दुहित्वाके साय पुत्रकी सहविषयार्थे पुत्रका शेष हो । नपुंसक-अनपुंसकके
 च = पर्याप्त । शिष्यतान्तन्ती यत्ता-मात्मात् आगच्छी च = आगच्छी । नस्य गार्ग्यं =

११।२।१९। अकर्मिण सहोक्तौ कर्मिणो विप्रस्ये, एव वा एकत्र स्यात्कर्मण एव
 विप्रस्येवेव । शुक्लः पटः, शुक्ल शायी, शुक्लं वस्त्रं, तदिदं शुक्लम्-सानीमानि
 शुक्लानि ॥ पिता माता १।२।७०। आमा दृष्टीकौ पिता वा विप्रस्ये । आमा च
 पिता च-पितरौ-मातापितरौ ॥ भ्रातृद्वयं भ्रातृद्वयं १।२।७१। भ्रातृद्वयं
 वा शिष्यते । श्वशुरश्च श्वशुरश्च-श्वशुरौ-श्वशुरौ ॥ त्वत्पत्नीति- १।२।७२।
 १।२।७२। सर्वैः सहोक्तौ त्वदादीनि शिष्यन्ते । स च देवदत्तश्च-तौ ॥ स्वदादीनां
 मिथः सहोक्तौ यत्परं तच्छिष्यते) । स च यश्च-यौ ॥ (पूर्वोक्तेषुऽपि

त्याह-उच्येति । उच्यते इति । ननु संसृजानपुंसस्य समासस्य पूर्वोक्तं चेद्विप्रस्ये ।
 शुक्लः पटः, शुक्लं वस्त्रं, शुक्लं वस्त्रमिति । पतकान्दसमभिव्याहारात् शुक्लशब्दात् पुंसि
 शायीशब्दस्य परिभवाकारात् लोकिङ्गः, अटस्य सप्तमिभाषारं द्व ननु संसृजिङ्गः । 'पुंषे
 शुक्लापनः पुंसि शुक्तिङ्गास्तु वृद्धि' इत्यमरः । तस्य स च इदं च तत् । त्वं च ह्यं
 च इदं च इदम् । शुक्लश्च शुक्ला च शुक्लं च शुक्लम् । अत्र नपुंसत्वान्तेषु
 विप्रस्येतेषु श्वशुरश्च श्वशुरश्च इति नानीमानि शुक्लानि । नपुंसत्वेण उच्येते सति
 एवमस्याभावे नपाणि । पिता माता । 'उच्यते विप्र' । श्वशुरश्च श्वशुराणां
 निप्रसृष्टेषु प्राप्तादिदं वचनं 'विप्रस्ये' च । श्वशुरश्च श्वशुरश्च । 'विप्रस्ये' नादा
 शौचेणातिरिच्यते' इति स्मृत्या मातृश्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च । 'आनन्दस्य' इत्या-
 नन्दः । श्वशुरः श्वशुरः । श्वशुरा इति मातृश्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च । 'श्वशुरः पूर्वो-
 पत्नी च साहसुष्या प्रकीर्तिता' इति स्मृतेः । एव एव श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च । श्वशुरायां,
 'श्वशुरश्च श्वशुरा' इति शब्दप्रमाणत् । स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादिमिथिरश्च-
 स्वदादीनि । ताविति । अत्र देवदत्तस्य च नित्यं । स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादीनि ।
 न सन्ति । त्वैः स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादीनि । स्वदादीनि ।
 स्वदादीनां मिथ इति । भाष्ये विप्रस्येतेषु । यत् परमिति । स्वदादीनेषु यत् परं पठितं
 तच्छिष्यते इत्यर्थः । अन्वपरविप्रस्येतेषां यदादिति भावः । एव एव सौ । स्वदादीनेषु

साथ नपुंसकस्य उक्तिं नपुंसकस्य शेष हो तथा यह नपुंसक इत्यत्र ही, विप्रस्ये, यदि
 उच्यते नपुंसकस्य पौर नपुंसकस्य मातृ इति हो वेत्यत्र रते हो । पिता माता-माताके
 एव विप्रस्ये सहवित्तमार्गे पिताका शेष हो, विप्रस्ये । उच्यते-यद्ये साथ श्वशुरकी
 उच्यते नपुंसकस्य श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च हो, विप्रस्ये । स्वदादीनि-स्वदादिके साथ अन्य सभी
 स्वदादीनी सहवित्तमार्गे स्वदादिका निरप शेष हो । स्वदादीनां विप्रः-स्वदादिके साथ
 स्वदादिका (हो) सहवित्तमार्गे पर स्वदादिकमार्गे जो अन्व पर रते, एतौका शेष हो ।
 पूर्वोक्तेषुऽपि-उच्यते पर स्वदादिके पूर्वोक्तं श्वशुरायां शेष होता देखा गया है ।

श्वशुरः । श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च । श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च । श्वशुरश्च श्वशुरश्च श्वशुरश्च ।

दृश्यते) । इति भाम्यम् । स च यथ—तौ ॥ (त्यदादितः शेषे पुंनपुंसकतो लिङ्गस्यनानि) । सा च देवदत्तश्च—तौ । तच्च देवदत्ता च यद्देवदत्तश्च—तानि ॥ भाम्यपशुसंघेष्वतरुणेषु स्त्री । १।२।७३। एषु सहविवक्षया स्त्री शिष्यते । गाव इमा । भाम्येति किम् ? हरव इमे । पशुप्रदृशं किम् ? भाद्राणा इमे । संघेषु किम् ? एतौ गावौ । अतरुणेषु किम् ? वत्सा इमे ॥ (अनेकशफेष्विति चाच्यम्) । अथा इमे ॥ इत्येकशेषसमासप्रकरणम् ।

सम्बन्धस्य सम्बन्धादूर्ध्वं पाठात् परत्वात् स एव शिष्यते इति भावः । पूर्वशेषोऽतीति । परत्वात्स्येष्टवाचित्यात् कश्चित्पूर्वमपि शिष्यत इति भावः । अत्र 'द्विपर्यन्तानाम्' इति य भवति । अह च अर्वात्त्वामितिभाष्योक्ते । त्यदादित इति । आधावित्वात् षष्ठपर्यं ऋषिः । त्यदादीनां स्त्रीशेषेऽपि सहविवक्षितेषु यः पुमान् यश्च मपुंसकम् । तद्वरीन लिङ्ग शक्तिपट्टिकानि भवन्तीत्यर्थः । कानीत्याकारुणापामर्षात्पदावीम्येष सम्बन्धन्ते । सा च देवदत्तश्च तानिति । अत्र तत्पदम् शिष्यते, समभिध्याद्देवदत्तश्चदलिङ्गश्च । देवदत्तसम्बन्धे निवर्तत एव । भाम्यपशु । इति । सहविवक्षितेषु भाम्याणां पशूनां सर्वेष्वित्यर्थः । गौश्च गौश्च गौश्च इति पुषिकृद्गोत्रलिङ्गेषु गोत्रस्येषु सहविवक्षितेषु 'पुमान् स्त्रिया' इत्येतद्व्याख्याया स्त्री शिष्यत इति भावः । इमा इति । अनुप्रयोगो रूपशेषः फलमिति भावः ॥ इत्येकशेषः ।

त्यदादित—स्त्रीलिङ्ग त्यदादिक शेष होने पर भी, सहविवक्षित पुंलिङ्ग भवना नपुंसकलिङ्ग शब्दको तरह ही उस शिष्ट स्त्रीलिङ्ग त्यदादिका भी लिङ्ग और वचन होता है ।
 नोट—त्यदादिके शेषमें पुंलिङ्ग और नपुंसक दोनों यदि सहविवक्षित हो तो परत्वात् नपुंसकके अनुसार ही लिङ्ग-वचन होते हैं । एव इन्द्र और तरुवचके विशेषण को त्यदादि है, उनमें पूर्वोक्त धातिक मही लगता—क्योंकि वे विशेष्य लिङ्ग ही होते हैं ।
 भाम्यपशु—भतरुण (बचन) जो भाम्य पशुका तब, इनको सहविवक्षोंमें स्त्री वाचकका शेष हो । अनेक-भाम्यपशु' इस सूत्रसे वसी स्त्रीवाचकका शेष हो, जो अनेकशफ (चोरें हुए शूर) वाका हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमयी' टीकामें एकशेष प्रकरण समाप्त हुआ ।

स्त्रीलिङ्ग, नौल वा । शुद्धश्च शुक्लश्च = शुद्धे, शुक्ले वा । माता च पिता च = पितरौ, माता पितरौ, मातरपितरौ वा । श्वशुरस्य दत्तसूत्रश्च = पशुरी, श्वशुरशुरी वा । अत्रश्च अत्रा च = अत्रे ॥ इत्येकशेषः ।

अथ समासान्तप्रकरणम्

ऋक्पूरुधूःपथामानदेशे ।५।४।७। ऋगाद्यन्तस्य समासस्य अग्रप्रत्ययो-
 ऽन्तावयवः, अच्चे या धूसनदन्तस्य न । अर्धर्चः । अनृचवहुचावधेतयेषु । नेह—
 अनृक् साम । बहुक् सूक्तम् । विष्णुपुरम् । विमलापं सरः ॥ द्वयन्तरुपसर्गोऽप्योऽप
 ईत् । ६।३।९।७। द्वीपम् । अन्तरीपम् । प्रतीपम् । समीपम् । (अवर्णान्ताद्वा) । प्रेपम्—
 प्रापम् ॥ ऊदनोर्देशे । ६।४।९।८। अनुपो देशः । राजधुरा । अच्चे तु—असधूः ।
 दृढधूरसः । सखिपयः । रम्यपयो देशः ॥ अच् प्रत्यन्ववपूर्वात्सामलोमः । ५।४।
 ७। प्रतिशामम् । अनुशामम् । अवशामम् । प्रतिलोमम् । अनुलोमम् । अवलोमम् ।

द्वयन्तरुप । द्वि अन्तरु षपसग एतेभ्यः परस्य अकारप्रत्ययान्तस्यापदाब्दस्येत्यर्थः ।
 द्वीपम् । द्वयोः पार्श्वयोरगता आपः यस्मिन्निति विग्रहः । व्यधिकरणपक्षे बहुव्रीहिः ।
 अकारप्रत्ययः, ह्रस्वं, सवर्णदीर्घश्च । अन्तरीपमिति । अन्तर्गता आपो यस्मिन्निति
 विग्रहः । प्रतीपमिति । प्रतिपूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः । समीपमिति । संगता
 आपो यस्मिन्निति विग्रहः । अवर्णान्ताद्देति । अवर्णान्तादुपसर्गात् परस्य आपस्य ह्रस्वं
 वा वक्तव्यमित्यर्थः । प्रेपम्, प्रापम् । प्रगता आपो यस्वेति विग्रहः । ऊदनोर्देशे इति ।
 अनोः परस्पापस्य ऊरुपाद्देशे । अनुपो देश इति । अनुपूला आपो यस्मिन्निति विग्रहः ।
 अप्रत्ययः, ऊर्ध्वं, सवर्णदीर्घश्च । अच्प्रत्यन्वव । प्रति-अनु-अव-पुत्रपूर्वात्सामलोमन्ता-
 रसमासाद्दृष्ट्यादित्यर्थः । प्रतिशाममिति । प्रतिगतं साप्रेति विग्रहः । अच्, 'अस्तद्धित'
 इति टिलोपः । अनुशाममिति । अनुगतं सामेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । अवशाममिति ।
 अवकृष्टं सामेति विग्रहः । अच्, टिलोपः । प्रतिलोममिति । प्रतिगतं लोमेति विग्रहः ।
 अनुलोममिति । अनुगतं लोमेति विग्रहः । अवलोममिति । अवगतं लोमेति विग्रहः ।

ऋक्पूरुधूः—ऋगाद्यन्त समासका अन्तावयव 'अ' प्रत्यय हो । परन्तु अद्धक् घृी-
 वाचक जो धूः शब्द, तदन्त समासमें 'अ' प्रत्यय नहीं हो । अनृचदहृच्चा—अनृच और
 बहुक् समासमें अव्येता अर्थ गम्यमान होने पर ही समासान्त 'अ' प्रत्यय हो ।

द्वयन्तरुप—'दि' आदिसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्त्व ही ।
 अवर्णा—अवर्णान्त उपसर्गसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको ईत्त्व हो,
 विकल्पसे ।

ऊदनोर्देशे—अनु उपसर्गसे पर कृतसमासान्त 'अप' के आदि अकारको 'ऊ' हो
 देश अर्थमें ।

अच्प्रत्यन्वव—ऽत्यादि पूर्वक सामन्त और लोमन्त समाससे अन्ताव्य- 'अच्'
 प्रत्यय हो ।

(कृष्णोदकपाण्डुसंख्यापूर्वाया भूमेरजिभ्यते) कृष्णभूम । उदग्भूम । पाण्डु-
भूम । द्विभूम । त्रिभूम प्रासाद ॥ (सख्याया नदीगोदावरीभ्यां च) । पञ्च-
भद्रम् । सप्तगोदावरम् । अजितियोगविभागादन्यनापि—पद्मनाम ॥ अक्षणोऽदर्श-
णोत् ॥ ५।४।७६। अचधु पर्यायादक्षणोऽच् स्यात् । गवामक्षीव—गवाक्ष ॥ अचतुर-
विचतुरसुचतुरस्त्रीपुसधे-वनडुहर्क सामवाङ्मनसाक्षिभ्रुवदारगवोर्धष्ठी-
पपदष्ठीवनकांदिघराभिन्विघाहर्विवसरजसनि.श्रेयसपुरुषायुपद्भ्यायुप
श्यायुपग्यञ्जुपजातोक्षमहोश्रुज्जोक्षोपशुनगोष्ठ्या ॥ ५।४।७७। एते पञ्चवि-
शतिरन्ता निपात्यन्ते । आषाढयो बहुमीहय । अविशमानानि चत्वार्यस्य--अच-
तुर । विगतानि चत्वार्यस्य--विचतुरः । सुचतुर ॥ (द्र्युपाभ्यां चतुरोऽजि-
भ्यते) । त्रिचतुराः । चतुर्नां समोपे--उपचतुरा । तत एकादश द्वन्द्वा-स्त्रीपुगौ ।
पेन्वनडुहौ । ऋक्षामे । वाग्मन्ते । अक्षिणी च द्रुवी च--अक्षिभ्रुवम् । दाराध

सर्वप्राच, टिलोप । कृष्णोदगिति । नेद् व निकम् । किन्तु 'अक्षणो'स्त्रत्र 'अच्छ' इति योग
विभागाग्रेणामियुद्धेत्तिरेषा । कृष्णेति । कृष्णा.भूमिः यस्य, उदीही भूमि यस्य, पाण्डुः
भूमि यस्य, द्वे भूमी यस्य, तिष्ठो भूमयो यस्येति च विग्रहः । इत्याह. सर्वत्र विने
स्य । ससयाया इति । सख्यायाः परो योऽनदीराब्द गोदावरी कृष्णद्व साम्यामनि
प्यत इत्यर्थ । पञ्चनदमिति । पञ्चानां नदीनां समाहार इत्यर्थः । सप्तगोदावरमिति ।
सप्तानां गोदावरीणां समाहार इति विग्रहः । 'नदीमिदं' इत्याभ्यपीभावः । अचि
'यस्येति च' इति लोपः । 'नाप्ययीभावात्' इत्यम् । पञ्चनाह इति । पञ्चनाभौ
यस्येति । विग्रहः । अचतुर इति । नञोऽरभ्यर्थानामिति 'अविशमानपदलोपः । विचतुर
इति । विगतानि चत्वारि यस्येति विग्रहः । 'न पूजनात्' इति निषेधो वाच्यते ।
द्र्युपाभ्यामिति । अि उप भाभ्यां परो मन्त्रु सङ्घट्टस्मादजिभ्यते । विचतुरा इति । अयो
वा चत्वारो वेति विग्रहः । 'संखययाव्यपासन्न' इति बहुमीहि । 'बहुमीहौ सस्येये
इत्' इति इत् चत्वारिभा अच् । इत्ति तु टिलोपः इत्याह । अचतुरा इति । अय पञ्च
वेत्यर्थः । संखययाव्यप' इति बहुमीहिः । मथ । 'स्त्रीपुसाविति । स्त्री च पुगांश्चेति
विग्रहः । अच् । पेन्वनडुरौ । पेनुम अनङ्घांश्चेति विग्रहः । अच् । ऋक्षताम इति । ऋक्

कृष्णोदक—कृष्णादि पूर्वक भूमि शब्दान्त समासने समासान्त अच् प्रत्यय हो ।

संख्याया नदी—सख्यापूर्वक नद्यत् और गोदावरीसप्त समासने समासान्त अच्
प्रत्यय हो । अक्षणोऽदर्श—अक्षुःसर्नायते मित्र अक्षिभ्रुव्यान्त समासने समासान्त अच्
प्रत्यय हो । अचतुर—अचतुर, विचतुर अर्थात् अक्षय अन्त्य निराक्षय हो ।

द्र्युपाभ्यां—'त्रि' और 'उद' से पर चतुर इत्यान्त समासने अच् प्रत्यय हो ।

गावश्च—दारगवम् । ऊर्ज् च अशीवन्ती च—ऊर्ज्शीवम् । निपातनाहिलोपः । पदः
 ष्ठांशम् । निपातनात्पादशब्दस्य पद्मावः । नक्तं च दिवा च—नक्तंदिवम् । रात्रौ च
 दिवा च—रात्रिन्दिवम् । रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यते । अहनि च दिवा च—अहर्दिवम् ।
 वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यते—अद्वन्द्वहनीत्यर्थः । सरजसमिति साकल्येऽव्ययी-
 भावः । बहुव्रीहौ तु—सरजः पद्मजम् । निश्चितं श्रेयो—निःश्रेयसम् । तत्पुरुष
 एव । नेह—निःश्रेयान्पुरुषः । पुरुषस्यायुः—पुरुषायुषम् । ततो द्विगु-द्वयायुषम् ।
 व्यायुषम् । ततो द्वन्द्वः—ऋग्यजुषम् । ततजयः कर्मधारयाः—जातोक्षः । महोक्षः ।
 वृद्धोक्षः । शुनः समीपम्—उपशुनम् । टिडोपाभावः सम्प्रसारणं च निपात्यते ।

च साम शेषि विग्रहः । अच्, टिडोपः । वात्मानस इति । वाक् च मनश्चेति विग्रहः ।
 अच् । अक्षिभ्रुविति । अच्, प्राण्ब्रह्मन्वादेकवत्त्वम् । दारगवमिति । समाहारद्वन्द्वद्वयम् ।
 ऊर्ज्शीवमिति । प्राण्ब्रह्मन्वादेकवत्त्वम् । पदशीवमिति । पादौ चाशीवन्ती चेति द्वन्द्वद्वयम् ।
 प्राण्ब्रह्मन्वादेकवत्त्वम् । नक्तंदिवमिति । नक्तमिति मान्तमध्ययम् । विद्येष्वाकारान्तमध्य-
 यम् । नक्तंदिवेति द्वन्द्वद्वयम् । 'यस्येति च' ह्रस्वाकारलोपः । 'अप्ययीभावश्च' ह्रस्व-
 यत्वम्, नपुंसकत्वं च । 'नान्ययीभावात्' ह्रस्वमावः । मान्तत्वमिति । रात्रौ च दिवा
 चेति द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि कृते रात्रेर्मान्तत्वं निपात्यत इत्यर्थः । 'यस्येति च' इति आका-
 रलोपः, अन्भावश्च । अहर्दिवमिति । द्वन्द्वे कृते सुब्लुकि, 'रोऽसुपि' इति रत्वम्, अच्
 'यस्येति च' ह्रस्वाकारलोपः, अन्भावश्च । वीप्सायां द्वन्द्वो निपात्यत इति । 'नित्यवी-
 प्यथोः' इति वीप्सायां द्विवचने कृते एकदोषं चाक्षित्वा द्वन्द्वो निपात्यत इत्यर्थः ।
 सरजसमिति । रजोऽप्यपरित्यज्य ह्रस्वस्वपदविग्रहः । रजः घृतिः । साकल्ये सहशब्दस्य
 रजश्चावदेनाव्ययीभावः । 'अव्ययीभावे चाकाले' इति उद्देशवत्त्वस्य समावः । अच् ।
 अव्ययीभावः इति । आप्ये तथा वचनात् अव्ययीभावस्य ग्रहणमिति भावः । सरजः
 पद्मजमिति । रजोभिः परागैः सहेति विग्रहः । 'तेन सहेति तुष्ययोगे' इति बहुव्रीहिः ।
 'वोपसर्जनस्य' इति सहस्य सः । बहुव्रीहित्वात् नाच् । निःश्रेयसमिति । कर्मधारयादच् ।
 निःश्रेयानिति । निश्चितं श्रेयो यस्येति बहुव्रीहित्वात्तच् इति भावः । 'इयसश्च' इति
 निषेधात् कप् । पुरुषायुषमिति । एहीसमासात् अजिति भाष्यम् । दयायुषम्, अयुष-
 मिति । द्वयोरायुषोः समाहार इति, त्रयाणामायुषां समाहार इति च द्विव्रीहिः ।
 'तद्विद्यार्थे' इति द्विगोरच् । ऋग्यजुषमिति । ऋग्यजुष यजुषि च एषां समाहार इति
 समाहारद्वन्द्वः । अजोस इति । आतप्रासी उच्चा चेति विग्रहः । अचि तत्पुरुषम् कर्ता
 द्विव्रीहिः । अजोस इति । अर्क्षत्वासावुच्चा चेति विग्रहः । 'आप्ययीभावः' ह्रस्वत्वम्
 इति द्विव्रीहिः । अजोस इति । सुद्धमासावुच्चा चेति विग्रहः । अचि टिडोपः । उपशुन-

गोष्ठे वा—गोष्ठश्च ॥ ब्रह्महस्तिभ्यां वर्चसः । ५।४।७८। अच् । ब्रह्म-
 वर्चसम् । हस्तिवर्चसम् ॥ (पर्यराजभ्यां च) पर्यवर्चसम् । राजवर्चसम् ॥
 अथसमन्धेभ्यस्तमसः । ५।४।७९। अथतमसम् । मन्तमसम् । अन्धतमसम् ॥
 अन्धघतसाद्ब्रह्मसः । ५।४।८१। अनुब्रह्मसम् । अवरब्रह्मसम् । तस्रब्रह्मसम् ।
 प्रतेवरसः सप्तमीस्थात् । ५।४।८२। उरसि इति—प्रयुरसम् ॥ अनुगद्यमायामे
 ५।४।८३। एतन्निपात्यते दीर्घत्वे । अनुगद्य यानम् । 'यस्य चायाम्' इति समाप्त ॥
 उपसर्गादध्यनः । ५।४।८५। प्रगतोऽध्वानं—प्राध्वो ग्य ॥ न पूजनात् ५।४।

मिति । अध्ययीभावात् अच् । गोष्ठश्च इति । सप्तमीसमासादिति भाष्यम् । अथ एव
 भाष्यात् सप्तमीसमासः । टिलोपः । ब्रह्मवर्चसमिति । ब्रह्मणो वर्चं इति विग्रहः ।
 हस्तिवर्चसमिति । हस्तिनो वर्चं इति विग्रहः । पर्यराजभ्यामिति । आभ्यां परो यो
 वर्चराजश्च तस्मादपि अत्रिति षष्ठ्यमिदं । पर्यवर्चसमिति । पठ मांसं तद्वर्त्तति
 पश्य, मांसभोजीपश्यं । तस्य वर्चं इति विग्रहः । राजवर्चसमिति । राजो वर्चं इति
 विग्रहः । अवसमन्धेभ्यः । अव सन् अन्ध पर्य परो यस्तस्रराजश्च तस्मादप्यु
 र्वादिश्यर्थः । अथतमसमिति । अथहीन तम इति विग्रहः । प्रादिसन्नासः । सप्तमस
 मिति । सप्ततम इति विग्रहः । प्रादिसमासः । अन्धतमसमिति । कर्मधारयादच् ।
 अन्धवतसादिति । अनु-अथ-तस-पतेषां समाहारइन्द्रः । पश्य, परो यो रद्भराब्दः
 तस्मादप्यु र्वादिश्यर्थः । रद्भः—अप्रकाशाप्रवेशः । अनुब्रह्मसमिति । अनुगत रद्भ इति
 विग्रहः । अवरब्रह्मसमिति । अथहीन रद्भः इति विग्रहः । तमयश्च प्रादिसमासः । तस्रब्र-
 ह्मसमिति । सप्त रद्भः इति विग्रहः । प्रतेवरसः । सप्तम्यर्थं षोडशकृत्या वर्त्तत इति सप्त
 मीशयम् । सप्तम्यर्थं षोडशकृत्या प्रते परो य उररजश्च, तस्मादप्यु र्वादिश्यर्थः ।
 वरतीति । अनेन यदुच्यते तदेव प्रायुरसमिदं नोच्यते इत्यर्थः । सप्तम्यर्थं षोडशकः
 प्रति । तस्य विभक्त्यर्थे विद्यमानस्य 'अथथ विभक्ति' ह्यादिना अध्ययीभाव
 इति भावः । अनुगद्य यानमिति । अनुगोनाददादपि अवादेश इति भावः । गोष्ठ्यर्थं

ब्रह्महस्तिभ्यां—ब्रह्म और हस्ति से पर वर्चसु शब्दान् समाससे अच् प्रापय हो
 पर्यराजभ्याञ्च—पर्य और राजन् शब्दसे पर वर्चसु शब्दान् समाससे अच् प्रापय हो ।
 अवसमन्धेभ्यः—अवादिसे पर तमन् शब्दात् समाससे अच् प्रापय हो ।
 अन्धवतसात्—अन्वादिसे पर रद्भम् शब्दान् समासम् अच् प्रापय हो ।
 प्रतेवरसु—सप्तम्यर्थं वर्तमान प्रति से वरसु शब्दात् समाससे अच् प्रापय हो ।
 अनुगद्यमायामे—आयाम् (कर्तारं) अर्थं गम्यमान रहने पर 'अनुगद्य' निगतरत हो ।
 उपसर्गादध्यनः—उपसर्गसे पर अध्यन् शब्दान् समाससे अच् प्रापय हो ।
 न पूजनात्—पूजनाके शब्दसे पर ओ (राजादि) शब्द, उररसे समासान्त प्रापय

६९। पूजनायात्परिभ्यः समासान्ता न स्युः । सुराजा । अतिराजा । (स्वतिभ्यामेव) ।
नेह—परमराजः ॥ किमः क्षेपे । ५।४।७०। कृत्सितो राजा—किराजा । किंसखा ।
किंगौः ॥ नञस्तत्पुरुषात् ५।४।७१। अराजा । तत्पुरुषात्किम् ? अधुरं शकटम् ॥
पथो विभाषा ५।४।७२। अपथम्—अपन्याः । तत्पुरुषादित्येव—अपथो देशः ।
इति समासान्तप्रकरणम् ।

अथालुक्समासप्रकरणम्

अलुगुत्तरपदे । ६।३।१। इत्यधिकृत्य ॥ ओजःसहोऽम्भस्तमसस्त्वृतीयायाः

सद्वद्वैर्घ्यकं यानमित्यर्थः । किमः क्षेपे । किराजा किंसखेति । इह 'राजाहस्सखिभ्यः' ।
इति टच् न भवति । 'किं खेपे' इति समासः । किंगौरिति । इह 'गोरसद्वितलुकि'
इति न टच् । नञस्तत्पुरुषात् । नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात् समासान्तो नेति यावत् । अरा-
जेति । अत्र 'राजाहःसखिभ्यष्टच्' इति टच् न । 'नञ्' इति समासः । अधुरं
शकटमिति । अत्रिद्यमाना धूर्यस्येति विग्रहः । नञ्पूर्वपदात्तत्पुरुषात् । 'श्रक्पूर्ः'
इति समासान्तस्य न निषेधः । पथो विभाषेति । पथिन् शब्दात्तत्पुरुषात् टच् वा
नेत्यर्थः । अपथमिति । न पन्या इति विग्रहे नञ्स्तत्पुरुषः । 'श्रक्पूर्ः' इत्यप्रत्यये सति
'नस्तद्धिते' इति टिलोपः । 'पथः संवयाव्ययादेः' इति नपुंसकारम् । अपन्या इति ।
अप्रत्ययाभावे रूपञ् । तत्पुरुषादित्येवेति । अनुवर्तत प्वेश्यर्थः । अपथो देश इति ।
अविद्यमानः पन्या यस्येति विग्रहः । बहुव्रीहिवात् 'श्रक्पूर्ः' इत्यप्रत्ययस्य पाञ्चि-
कोऽपि न निषेधः । इति समासान्तप्रकरणम् ।

अथालुक्समासो निरूप्यते—अलुगुत्तरपदे । नायं विधिः राजपुरुष इत्यादावति-
प्रसङ्गात्, 'पञ्चम्याः स्तोकादिभ्यः' इत्याधारम्भाच्च । ओजस् । ओजस् सहस् अम्भस्
तमस् एषां समाहारद्वन्द्वः । पभ्यः परस्यास्त्वृतीयाया अलुक् स्यादुत्तरपदे इत्यर्थः ।

नहीं हो । स्वतिभ्यामेव—पूजनार्थक 'सु' और 'अति' शब्दसे पर ही राजादि शब्दान्तसे
समासान्त प्रत्यय नहीं हो—ऐसा समझना चाहिये । किमः क्षेपे—निन्दार्थक 'किम्' शब्दसे
पर राजादि शब्दान्त समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो । नञस्तत्पुरुषात्—नञ् पूर्वपदक
तत्पुरुष समाससे समासान्त प्रत्यय नहीं हो । पथो विभाषा—नञ् पूर्वक 'पथिन्' शब्दान्त
तत्पुरुषसे समासान्त प्रत्यय विकल्पसे हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासान्त प्रकरण समाप्त हुआ ।

अलुगुत्तरपदे—यह अधिकार सूत्र है (१) । ओजःसहो—(समास होनेपर भी) ओजस्

(१) वक्तव्य समाससे अलुक् समासः कथ्यते । तद्यथा—उरसि कोमानि बन्धे

।६।३।३। ओजसाकृतमित्यादि ॥ (अम्जस उपसंख्यानम्) । अत्रसाकृतम् ॥
 आत्मनश्च ।६।३।६। तृतीयाया अलुक् ॥ (पूरणे इति वक्तव्यम्) । पूरणप्रत्य-
 यान्ते उत्तरपदे इत्यर्थः । आत्मनापञ्चम ॥ वैयाकरणस्याख्यायां चतुर्थ्याः ।६।३।२।
 आत्मन इत्येव । आत्मनेपदम् । आत्मनेभाषा ॥ परस्य च ।६।३।८। परस्यैपदम् ।
 परस्मैभाषा । हलदन्तात्सप्तम्याः संज्ञायाम् ।६।३।९। हलदन्तादिति हेरलुक् ।
 त्वचिसार ॥ गवियुधिर्म्यां स्थिरः ।८।३।९। गस्य ष । गविष्ठिर' । युधिष्ठिर' ।

ओजसाकृतमिति । 'वर्णकारणे कृता बहुवचन' इति समासः । 'ओजो दीप्तौ षडे' इत्यमरा ।
 अत्रसा उपसंख्यानमिति । अक्षरसंज्ञात् । तृतीयाया अलुक् उपसंख्यानमिति अर्थः ।
 अत्रसाकृतमिति । अक्षरदात्त आर्जवे यत्तंते, यथा-वेदोऽप्यसा मघतीत्यादौ तथा
 दत्तांकात् । आत्मनश्चेति । अक्षरतृतीयाया अलुगिति आनुकूल्येन इत्याह—
 आत्मनस्तृतीयाया अलुगिति । उत्तरपदे परे इति शेषः । पूरणे इति वक्तव्यमिति । नात्र
 पूरणदात्तो गृह्यते, किन्तु स्वरितस्वयत्नेन पूरणाच्चिसारविहितमप्यपमहणात् ।
 आत्मनापञ्चम इति । आत्मा पञ्चम इत्यर्थः । वैयाकरणाख्यायात् । आत्मन इत्येवेति ।
 अनुवर्तते इत्येवमर्थः । न च 'आत्मनश्च' इत्यस्य धातुकार्ये कर्षमिह सूत्रे एतदनुवृत्ति
 रिति वाच्यम् । 'सोऽपवाही' इति । सूत्रे पठितस्य 'काम्ये रोरेवेति वाच्यम्' इति
 धातुकार्ये 'इणः ष' इति सूत्रेऽनुवृत्तिवदुपपत्तेः । वैयाकरणे भद्रा वैयाकरणी सा
 आसावाक्या च वैयाकरणाख्या तस्यां या चतुर्थी तस्या अलुगित्यर्थः । एषां
 आर्षकृतमात्मनेपदस्य सप्तान्तरमित्त्वं धातुपठे प्रतिबन्धम् । परस्य च । वैयाक-
 रणाख्यायां परशास्त्रस्यापि चतुर्थ्यां अलुगित्यर्थः । हलदन्तात् । त्वचिसार उच्यते ।
 अत एव प्रापकाहवचिष्ठापदयोः अलुगीतिः । गवियुधिर्म्यामिति । गवियुधिर्म्यां परस्य
 स्थिरस्य सार च इत्यर्थः । इति उच्यते । युष्मातोर्भावे किति, युष्मात्कारणत्वे

आदिषु पर तृतीया विपरिणाम इत्युक्तं ही, अत्र परदे परे । (अत्र पर समासके पर
 भाववचने क्त इति) । अत्रसाकृतम्—अत्रसाकृतम् पर तृतीयाया अलुक् नही हो, अत्र परदे
 परे । आत्मनश्च, पूरणे इति—अत्रसाकृतम् पर तृतीयाया अलुक् नही हो, पूरण प्रत्यय-
 अत्र परदे परे । वैयाकरणा—आत्मनश्च अत्र पर चतुर्थीका अलुक् हो, अत्र परदे परे,
 वैयाकरणी आख्या (भद्रा) में । परस्य च—पर अत्र परे पर (ओ) चतुर्थीका अलुक् हो,
 अत्र परदे पर, वैयाकरणी आख्या में । हलदन्तात्—हलन्त धोर अत्र परे पर सप्तमीका
 अलुक् हो, सप्तमी में । गवियुधिर्म्यां—गवि और युधिषु पर स्थिरके त्वकारको पाठ हो ।

वर्णकारणे । आदिषु क्तः = आदिषु क्तः । आदे क्तः = आदे क्तः । इति उच्यते = इति उच्यते ।

दारुण्यैतिकरुः । अत्र संज्ञायामिति सप्तमीसमासः ॥ (हृद्बुभ्यां च) । हृदिस्पृक् ।
 दिविस्पृक् ॥ मध्याद् गुरौ । दि३।२।१ मध्येगुवः ॥ (अन्ताच्च) । अन्तेगुवः ।
 अमूर्धमस्तकात्स्वाङ्गादकामे । दि३।२।२ कण्ठेकालः । उरसिषोमा । अमूर्ध-
 मस्तकात्किम् ? मूर्धशियाः । अकामे किम् ? सुखे कामोऽस्य—सुखकामः ॥ तत्पुरुषे
 कृति बहुलम् । दि३।२।४ स्तम्भेरमः । कर्णेजपः ॥ शयवासवासिन्वफालात्
 । दि३।२।८ वा लुक् । शयः-खरायः । ग्रामेवासः-ग्रामवासः-ग्रामेवासी-
 ग्रामवासी ॥ षष्ठ्या आक्रोशे । दि३।२।१ चौरस्य पुलम् । आक्रोशे किम् ?
 ब्राह्मणकुलम् ॥ (वाग्दिकपश्यद्भयो युक्तिदण्डहरेषु) । वाग्दिकुक्तिः । दिशो-

कवचनम् । हृद्वत्स्वापलुक्, पाठं च । पाण्डवस्य धर्मपुत्रस्य नामेदम् । हृद्बुभ्या-
 श्रेति । हृद्बुभ्याश्च दिविशब्दाच्च सप्तम्या अलुक्शब्दस्य इत्यर्थः । असंज्ञार्थमिदम् ।
 हृदिस्पृकिटि । 'हृद्' इति छौ हृदपस्य हृदादेशः, हृदयं स्पृशतीत्यर्थः । दिविरपृगिति ।
 दिवं स्पृशतीत्यर्थः । मध्याद्गुराविति । गुरुशब्दे परे मध्यशब्दात् सप्तम्या अलुक्
 स्यादित्यर्थः । अन्ताच्चेति । सप्तम्या अलुक् स्यात् गुरौ परे इत्यर्थः ।
 अमूर्धमस्तकात् । मूर्धमस्तकात्स्वाङ्गात् स्वाङ्गवाचकात् सप्तम्या अलुक् स्यात्,
 न तु कान्ताशब्दे उत्तरपदे इत्यर्थः । कण्ठेकाल इति । शिवस्य नाम । उरसिषोमिति ।
 कस्यपिज्ञान । अन् एव ज्ञापकाद् व्यधिकरणपदो बहुव्रीहिः । तत्पुरुषे कृति ।
 तत्पुरुषे सप्तम्या षष्ठ्यमलुक् स्यात् रुदन्ते उत्तरपदे संज्ञायामित्यर्थः । स्तम्भेरम इति ।
 कृणसमूहः इत्यर्थः, तस्मिन् रभते इति स्तम्भेरमो हस्ती । कर्णेजप इति । कर्णे अपसि
 परदोषकुर्वन्नु ज्ञापिषदरोति इति कर्णेजपः पिशुनः । 'स्तम्भकरणयोरभिज्ञयोः'
 इत्यच्, उत्तरपदसमासः । शयवास । शय-वास-वासिन् पतेषु परेषु कालनिष्ठात् सप्त-
 म्या अलुक् स्यादित्यर्थः । षष्ठ्या आक्रोशे । अलुगुत्तरपदे इति षोपः । आक्रोशो निन्दा ।
 वाग्दिकुक्तिः । वाग्दिकुक्तिः इत्यर्थः परस्याः षष्ठ्या अलुक् स्यात् युक्ति-दण्ड-हरे-

हृद्बुभ्यां च—हृद् और दिवसे पर सप्तमीका अलुक् हो । मध्याद् गुरौ—मध्यसे पर
 सप्तमीका अलुक् हो, गुरु उत्तर पदके परे । अन्तान्—अन्त शब्दसे पर सप्तमीका अलुक्
 हो, गुरु उत्तर पदके परे । अमूर्धमस्त—मूर्ध और मस्तकसे मित्र स्वाङ्गवाचो शब्दसे पर
 सप्तमीका अलुक् हो, काम शब्द मित्र उत्तर पदके परे । तत्पुरुषे—रुदन्त उत्तर पदके परे
 तत्पुरुष सप्तम्ये सप्तमीका षष्ठ्य प्रकारसे अलुक् हो, संज्ञार्थः । शयवास—शय, वास और
 वासिन् उत्तर पदके परे कालमित्र इत्यन्त और अदन्त शब्दसे सप्तमीका अलुक् हो, विकल्पसे ।
 षष्ठ्या आक्रोशे—षष्ठीका अलुक् हो, उत्तर पदके परे, निन्दार्थे ।
 वाग्दिकुक्पश्य—वाक् आदिते पर षष्ठीका अलुक् हो, युक्त्वादि उत्तर पदके परे ।

अन्तु कौन्तिकापसिषेत्स सा = कस्युक्तेः 'द' प्रायेः वसतीति = ग्रामेवासी, ग्रामवासी ।

दण्डः । पर्यतोहर ॥ (आमुष्यापणामुष्यपुत्रिकामुष्यकुलिकेति च) ।
 (देवानां प्रिय इति च मूर्धे) । अन्यत्र देवप्रिय ॥ (शेषपुच्छलाङ्गूलेषु
 शुनः) । शुनःशेष । पुनपुच्छ । शुनोलाङ्गूल ॥ (दिवश्च दासे) । दिवोदास ।
 ऋतो विद्यायोनिर्सम्बन्धेभ्यः । ६।३।२३। होतुरन्तेवासी ॥ विभाषा स्वसृ-
 पत्योः । ६।३।२४। ऋदन्तात्पठया वा अलुक् ॥ मातुःपितुर्म्यामन्यतरस्याम्

पतेषु ऋमापुत्रपदेषु परेणित्यर्थः । वाचोयुक्तिरिति । शब्दप्रयोग इत्यर्थः । दिशोऽप्य-
 रिति । अधिकरणस्य शेषत्वविद्वेषायां पठ्ये । पर्यतोहर इति । पर्यन्तमनाह'प' -नी-
 त्यर्थः । अमुष्येति । अमुष्यापत्यमित्यर्थे 'नडादिभ्य फक्' इति फकि आघञादेशे आदि
 वृद्धौ तद्धिताभ्यवात् प्रातिपदिकतया तदवयवत्वात् प्राप्तस्य सुब्लुको निषेधे नश्य
 णात्वे आमुष्यापण इति रूपमित्यर्थः । देवानामिति । दिवु क्रीडायाम् । देवाः क्रीडा
 युक्त्या मूर्धाः, तेषाम् प्रियोऽपि मूर्धं एव, मूर्धप्रियस्यावश्य मूर्धत्वादिति 'अज्ञेर्वा'
 इत्यत्र कैयट । शेषपुच्छेति । वार्तिकमिदम् । 'पठया अलुगिति शेष । शुनशेषे रनि ।
 शुनः शेष इव शेषो यस्येति विग्रहः । शुन'पुच्छ इति । शुन पुच्छमिव पुच्छम् यस्ये-
 ति विग्रहः । एवं शुनोलाङ्गूल इत्यपि । दिवश्च दासे इति । वार्तिकम् । पठया अलुगि-
 ति शेष । दिवोदास इति । कश्चिद्राजपरिचयम् । ऋतो विद्या । एकत्वे बहुवचनम् ।
 विद्यासम्बन्धयोनिमन्ववाचिनः ऋदन्तात् पठया अलुक्ः होतुरन्तेवासीति । ऋत्वेद्वि-
 दितकर्मविशेषकर्ता होता । अतो होतुशब्द विद्यासम्बन्धप्रवृत्तिनिमित्तक इति भावः ।
 विभाषा स्वसृपत्योः । ऋदन्तादिति । विद्यासम्बन्धयोनिमन्ववाचिनः पठया
 अलुक्त्वा स्वसृपत्योः पर्योरित्यर्थः । मातुः पितुर्म्याम् । 'मातृपितृर्म्यां स्वसा' इति
 पूर्वसूत्रात् स्वसेत्यनुवर्तते । पठयर्थे प्रथमा । 'सहे साङ् सा' इति सूत्रात् स इति

आमुष्या—(अमुष्य पुत्र) 'आमुष्यापण' यहाँ बहोका अलुक् और नडादिवात् फक
 निपातन हो एवम् (अमुष्य पुत्रस्य भाव) 'आमुष्यपुत्रिका' और (अमुष्य कुलस्य भाव)
 'आमुष्यकुलिका' यहाँ बहोका अलुक् और 'दन्द्रमनोहादिभ्यश्च'से मनोहादिवात् वुञ् निपा-
 तन भी हो । देवानां प्रियः—मूर्धं अर्धमे 'देवानांप्रिय' यहाँ बहोका अलुक् निपातन हो ।
 शेषपुच्छ—शेष, पुच्छ और आङ्गूल उत्तर पदके परे शब्दसे पर बहोका
 अलुक् हो । दिवश्च दासे—दिव शब्दस पर बहोका अलुक् हो, दास उत्तर पदके परे ।
 ऋतो विद्या—विद्यासम्बन्धवाची और योनिमन्ववाची ऋदन्तसे पर बहोका अलुक् हो,
 उत्तर पदके परे । विभाषा—स्वसृ और पति शब्द उत्तर पदके परे ऋदन्तसे पर बहोका
 अलुक् हो, विकल्पसे ।

मातुःपितुर्म्यां—'मातुः' और 'पितुः' से परे स्वसृके सकारको बरह हो, विकल्पसे,
 बने धरतीति = बनेधरः । अन्ये बसतीति = अन्येवासी । स्वसि हारं बत्स स = स्वसिहारः ॥

१८३।८५। आभ्यां परस्य स्वसुः सस्य षः समासे । मातुःष्वसा-मातुःस्वसा ।
पितुःष्वसा-पितुःस्वसा । लुक्पक्षे तु—मातृपितृभ्यां स्वसा । १८३।८६। स्वसुः
सस्य षः समासे । मातृष्वसा । पितृष्वसा । असमासे तु—मातुः स्वसा । पितुः
स्वसा ।

इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयप्रकरणम्

घरूपकल्पचेतद्ब्रुवगोत्रमतद्वतेषु लुथोऽनेकाचो ह्रस्वः । ६।३।७३।
भाषितपुंस्काद्यो षी तदन्तस्यानेकाचो ह्रस्वः स्यात्, घरूपकल्पप्रत्यये चेलडादिषु
चोत्तरपदेषु । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमा । ब्राह्मणिरूपा । ब्राह्मणिकल्पा । ब्राह्मणि-

पठ्यन्तं पदमनुवर्तते । 'अपदान्तद्वय मूर्धन्यः' इत्यधिकृतम् । तदाह—स्वसुः सस्येति ।
मातुः पितुरिति पठ्यन्ताभ्यामित्यर्थः । समासे इति । 'समासेऽङ्गुलैः सङ्गः' इत्यतस्तद-
नुवृत्तेरिति भावः । मातुःष्वसा, पितुःष्वसेति अलुकि पर्ये रूपम् । मातुःस्वसा,
पितुःस्वसेत्यलुकि षष्वाभावे रूपम् । लुक्पक्षे त्विति । विशेषो वषयत इति शेषः । मातृ-
पितृभ्यां स्वसा । स्वसरिति । सूत्रे पठ्यर्थे प्रथमेति भावः । मातृष्वसा, पितृष्वसेति । लुक्प-
क्षे नित्यमेव परम् । आदेशप्रत्ययसकारश्वाभावादप्राप्ते विधिरयम् । षत्वविधौ
समासग्रहणानुश्रुतेः फलं दर्शयति—असमासे त्विति । वाक्ये पैकक्षिकं परवमपि
नास्तीत्यर्थः ।

इत्यलुक्समासप्रकरणम् ।

अथ समासाश्रयविधिः निरूप्यते—घरूप । उत्तरपदे इत्यधिकृतं चेलडादिष्वन्वेति,
ननु घरूपकल्पेषु वशब्दभाष्यतरस्रमपोः रूपकल्पपानां प्रथयस्वात् । 'क्षियाः पुंस्व'
इत्यतो भाषितपुंस्कादिष्वनुवृत्तम् । ङ्य इति तदन्तग्रहणं केवलस्यानेकाचस्वाभावात् ।
तदाह—भाषितपुंस्काद्यो षी इति । ब्राह्मणितरा । ब्राह्मणितमेति । अतिज्ञायने तरस्रमपौ ।
न च 'तलिलादिषु' इति पुंस्वत्वेन ङीपो निवृत्तिः शङ्कया, 'जातेष्व' इति निषेधात् ।
ब्राह्मणिरूपेति । प्रशांसायां रूपम् । ब्राह्मणिकल्पेति । 'ईयदसमासौ' इति कल्पम् । ब्राह्मणि-

समासमें । मातृपितृभ्यां—'मातृ' और 'पितृ' से पर स्वसुके सकारको षत्व हो, समासमें ।

इस प्रकार 'इन्दुमतो' डीकामें अलुक्समास समास हुआ ।

घरूपकल्प—घ (तरप्-उमप्), रूप और कल्पप् प्रत्ययके परे तथा चेलडादि उत्तर-

अथ समासे किङ्कृत्ये—अथयदीभावेऽप्ययं नपुंसकम् । तस्युपे इन्द्रे च परपदार्थ-
किङ्कृतम्, षडुदीशौ धन्यपदार्थकिङ्कृतम् । षडुपे तु अविभक्तम् ।

पेली । आह्निगिमुवा । आह्निगिगोत्रेत्यादि । मू०. वचारत्वि पच्यादेशगुणयोरभावो निपात्यते । वयं किम् ? दत्तातरा । भाषितपुंस्कार्त्विम् ? आमलक्रीतरा । कुवली-तरा ॥ नद्याः शेषम्यान्यतरस्याम् । ६।३।४४। अह्यन्तनद्याः अह्यन्तैकावयवादिषु ह्रस्वो वा । मद्भवन्तुतरा-मद्भवन्तुतरा । धितरा—धीतरा ॥ (कृष्णद्या न) लक्ष्मीतरा ॥ उगितश्च । ६।३।४५। उगित परा या नदी तदन्तस्य घादिषु ह्रस्वो वा स्यात् । विदुदितरा । ह्रस्वामावपद्ये पुवत् । विदुतरा ॥ पादस्य पदाज्यातिगोपद्वतेषु । ६।३।५२। एतत्परपद्ये पादस्य पद इत्यदन्तादेश स्यात् । पादाभ्याम् अजतीति पदाजि । पदाति । ॥ (अज्यतिभ्यां पादे च) ६।५। प्रत्यय । पदग । पदोपहत ॥ पद्यत्यतदर्थे । ६।३।५३। पादस्य पत् स्यादतदर्थे

वेळोति । 'थिल वसने' तस्मादपि वेळोति । पचादौ पठितम् । टित्वात् ङीप् । ह्रस्वोति । आह्निगिमता आह्निगिहता । मू० इति । मू०धातोर्त्वि कृत् 'द्वयो वधि' इति वचनानुसृतस्य लुक्प्रथमागुणस्य च अभावो निवारयत इत्यर्थः । आमलक्रीतेति । आमलक्री सप्तस्य वृषकाचित्ये नित्यस्त्रीलिङ्गवाच्य आन्तिपुस्त्वभावात् न ह्रस्व इति भावः । कुवलीतेति । वृषविशेषे नित्यस्त्रीलिङ्गोऽप्यस्ति भावः । नद्याः शेषम्यान्यतरस्याम् । अह्यदन्त्य शेषः । अह्यन्तस्मानेकावयव इति पूर्वसूत्रे स्थितम्, तदन्त्यत्वं च अनेकावयो अह्यन्तत्वाभावे अह्यन्तस्यानेकावयवाभावेऽपि समवति । उदाह—अह्यन्तनद्याः इत्यादि । 'अह्यन्तः' इति मद्भवन्तुत्वात् लक्ष्णम् । भाषितपुंस्कार्त्विमिति तु नेहानुवर्तत इत्यमिमे लोकाद्वरति—औतरेति । कृष्णद्या नेति । कृष्णन्ता वा नदी तस्या ह्रस्वो नेति वाच्यमित्यर्थः । लक्ष्मीतेति । 'लक्ष्मींश्च' इति औणादिके ईप्रत्यये मुदागमे च लक्ष्मीशब्द इत्यन्त इति भावः । उगितम् । विदुदितरेति । 'विदे सतुर्वसु' इति वसु प्रापयः । उगितन्तमिदम् । अनेकावयवत्वं नद्याः शेषत्वस्याप्राप्तेरिदमिति भावः । विदुदितरेति । पुष्ये ङीपो निवृत्तौ विदुदितरेति रूपमित्यर्थः । पादस्य पद । पद इति लुक्-प्रथमाकम् पृथक्पदम् । पथित । आजि, स्वाति, ग, उपहत इत्येतेष्वित्यर्थः । अह्यन्त इति । सत्तरसूत्रे पदिति इत्यन्तस्य ग्रहणादिति भावः । अजतीति । 'अज यतिशेष जयो' । पदातिरिति । पादाभ्यामवतीति विग्रहः । 'अत गतौ' अज्यतिभ्यामिति । पादे उपपद्ये अजभातोर्तथातोश्च इण् स्यादिति तदर्थः । पदग इति । पादाभ्यां गच्छती

पदके परे भाषितपुंस्कार्त्वि ५२ ओ ङी, तदन्त अनेकावयवो ह्रस्वो हो । नद्याः शेषः—अह्यन्त नदीसहस्र और अह्यन्त पदावयवो हल हो, धादिके परे, विदुदितरे । कृष्णद्या न—नदी संघट कुशोकारको ह्रस्व नहीं हो । उगितश्च—उगियमे पर ओ नदीसहस्र ईकार, तदन्तश्चो ह्रस्व हो, धादिके परे, विदुदितरे । पदस्य—पादस्ये अह्यन्त 'पद' भावेऽण हो, धादादि उत्तर पदके परे । पद्यत्यतदर्थे—पादस्योऽणत्वात् 'पर' भावेऽण हो, अह्यन्तकं अण प्रापयके परे ।

यति । पादौ विध्वन्ति-पद्याः शर्कराः । 'विध्यत्यधनुषे'ति यत् । अतदर्थं किम् ? पादा-
र्थमुदकं पाद्यम् । 'पादाद्याभ्यां च'ति यत् ॥ उदकस्योदः संज्ञायाम् । ३।३।५७।
उत्तरपदे । उदमेघः ॥ (उत्तरपदस्य चेति वक्तव्यम्) क्षीरोदः ॥ पेषं-
वासवाहनघिपु श्च । ३।३।५८। उदपेषं पिनष्टि । उदवासः । उदवाहनः ।
उदधिघटः ॥ एकहलादौ पूरयितव्येऽन्यतरस्याम् । ३।३।५९। उदकुम्भः-
उदककुम्भः । एकेति किम् ? उदकस्थाली । पूरयितव्येति किम् ? उदकपर्वतः ॥
मन्थौदनसकनुविन्दुवज्रमारहारवीनघगाहेषु च । ३।३।६०। उदमन्यः-

एष्यः 'यमश्च' 'अन्तात्पन्ताध्वदूरपारसर्वानन्तेषु ऋ' इति सूत्रस्येन 'अन्येभ्योऽपि
इत्यते' इति वातिकेन गन्धातोः ङः । तदन्ते गणक्षेत्रे एते षादस्यावन्तः पद्यादेशः ।
वकारान्तादेशे तु पद्ग इति स्यात् । पदोपहत इति । पादाद्याभ्यामुपहत इति विग्रहः ।
अत्रापि वकारान्तादेशे पदुपहत इति स्यात् । पाद्यमिति । 'पादाद्याभ्यां च' इति सादृष्ये
यत् प्रत्ययः । उदकस्योदः । उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् उत्तरपदे संज्ञायामि-
त्यर्थः । उदमेघ इति । उदकपूर्णमेघसाहरयात् कस्यचिदियं संज्ञा । उत्तरपदस्य चेति ।
उत्तरपदस्य उदकशब्दस्य उद इत्यादेशः स्यात् संज्ञायामित्यर्थः । क्षीरोद इति ।
क्षीरम् उदकस्थानीयं यस्येति विग्रहः । क्षीरोदम् सरः इति त्वसाभ्येत्, असंज्ञात्वात् ।
पेषं वा । पेषमिति णमुक्त्वात् मन्थयम् । तस्मिन्वातिवाहकविष्णु ख पृथाः उदकस्युदस्य
उदः स्वाहित्यर्थः । असंज्ञायं वचनम् । उदपेषं पिनष्टि । उदकेन पिनष्टित्वर्थः ।
'स्नेहने पिपः' इति णमुक्त्वात् । कपादिषु यथाविष्णुप्रसोक्ता । उदवास इति । उदकस्य
वास इति विग्रहः । उदवाहन इति । 'करणे स्युट्' । उदकस्य वाहक इत्यर्थः । उदधि
घट इति । उदकं धीयतेऽस्मिन्निति विग्रहः । 'कर्मण्यधिकरणे च' इति किप्रत्ययाः ।
असंज्ञावस्फोरणाय घट इति निगोप्यम् । एकहलादौ । हलत्वस्य एकैकवर्णवर्गत्वादेव
सिद्धे एकप्रहणात्संयुक्तत्वं लभ्यते । पूरयितव्यं पूरणाद् कुम्भादि, असंयुक्तहलादौ
पूरयितव्यवाचके उत्तरपदे परे उदकस्य उद इत्यादेशः स्यादित्यर्थः । मन्थौदनः ।
उदकस्य उददेशो वेति शेषः । अपूरयितव्यार्थं वचनम् । उदमन्यः-उदकमन्य इति ।
उदकमिश्रो मन्य इति विग्रहः । द्रवद्रव्यसंगृह्णाः सक्तवो मन्यः । अर्हितयवपिष्टानि

उदकस्योदः—उदकको 'उद' आवेश ही, उत्तरपदके परे, संज्ञामे ।

उत्तरपदस्य च—उत्तरपदस्य उदकको मी 'उद' आदेश हो, संज्ञामे । पेषंवास—पेषम्
आदि उत्तरपदके परे मी उदकको उद आदेश हो, (असंज्ञामे) एकहलादौ—पूर्णे करने
कोउद वक (असंयुक्त) हलादि (पात्रवाची) उत्तरपदके परे उदकको 'उद' आदेश हो,
असंज्ञामे सिद्धयते । मन्थौदन—मन्थादि उत्तरपदके परे उदकको उद आदेश हो, विकल्पसे ।

उदकमन्थ । उदोदन-उदकोदन ॥ इको ह्रस्वोऽडयो गालवस्य दा३।६१।
 इगन्तस्याभ्यन्तस्य ह्रस्वो वा उत्तरपदे । प्रामणिपुत्र-प्रामणीपुत्र । इक-
 किम् ? रमापति । अभ्य इति किम् ? गौरीपति ॥ व्यङ्ग्य । संप्रसारणं
 पुत्रपत्योस्तत्पुरुषे ६।१।१३। व्यङ्ग्यस्य पूर्वपदस्य संप्रसारणं स्यात् पुत्रपत्यो-
 परतः ॥ संप्रसारणस्य ६।३।१३९। दीर्घं स्यादुत्तरपदे । कौमुदगन्ध्याया पुत्र
 कौमुदगन्धीपुत्र । कौमुदगन्धीपतिः ॥ इष्टकेपीकामासानां चित्तूलमारिषु
 ६।३।६५। इष्टकादीनां तदन्तानां च वितादिषु ह्रस्व स्यात् । इष्टकचित्तम्

सक्ये । उदोदन , उदकोदन एते । उदकमिथ इत्यर्थः । इको ह्रस्वः । अडव इति षष्ठेः ।
 प्रामणीपुत्र इति । कर्मधारय षष्ठीसमासो वा, नीषातोरीकारोऽयं न तु ङीप्रत्यय
 इति भावः । व्यङ्ग्य संप्रसारणम् । प्रामयप्रहणपरिभाषया व्यङ्ग्य इति तदन्तप्रहणम् ।
 तदाह—व्यङ्ग्यस्य पूर्वपदस्येति । तस्य सूत्रस्य उत्तरपदाधिकारस्यावेऽपि सत्पुदप्र-
 हणेन पूर्वपदकाम इति भावः । संप्रसारणस्य । दीर्घं इति । 'उलोपे' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति
 भावः । उत्तरपदे इति । 'अल्लुगुत्तरपदे' इति तदधिकारादिति भावः । कौमुदगन्ध्याया
 पुत्र इति । विग्रहवाक्यमिदम् । कुमुदगन्ध इव गन्धो यस्य स कुमुदगन्धिः । 'सप्त
 म्युपमानपूर्वपदस्य बहुमीहिर्वाच्यो वा चोत्तरपदलोप' इति बहुमीहिः । कुमुदगन्धसम्बन्धे
 पूर्वसंज्ञे उत्तरस्य गन्धस्यदस्य लोपश्च । 'उपमानाश्च' इति भावम् । कुमुदगन्धेरत्यं
 स्त्री इत्यर्थे तस्यापत्यमित्यण् । 'अग्निगोरनार्ययोः' इति तस्य व्यङ्ग्यदेशः । 'यस्येति
 च' इति यकारलोपे आदिवृद्धिः । यङ्भाष्ये । कौमुदगन्ध्या सम्बन्ध इति भावः ।
 कौमुदगन्ध्याया पुत्र इति षष्ठीसमासः । सुञ्जुकि कौमुदगन्ध्यापुत्र इति स्थिते
 व्यङ्ग्य संप्रसारणेन यकारस्य इकारः तस्य तदुत्तराकारस्य च 'संप्रसारणाच्च' इति
 पूर्वरूपेण इकारे 'संप्रसारणस्य' इति दीर्घे 'कौमुदगन्धीपुत्र' इति रूपमिति भावः ।
 'ह्रस्व' इति दीर्घस्य तु मात्र प्रसक्तिः, संप्रसारणात् पूर्वस्य इत्यः संप्रसारणनिमित्तानिरु-
 पितान्नावपवदाभावात् । कौमुदगन्धीपतिरिति । कौमुदगन्ध्याया पतिरिति विग्रहः,
 पूर्ववत् प्रक्रिया । इष्टकेपीका । उत्तरपदे इत्यधिकृतम्, तद्वन्ध पूर्वपदम् इष्टकादिर्निर्वि-
 शेष्यते । तदन्तविधिः । व्यपदेशिवन्नावात् तेषामपि प्रहणम् । उत्तरपदाधिकारस्यापि
 पदाधिकार म्युपगमात् 'पदाङ्गाधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति वधनेन वा तेषां
 प्रहणम् । 'इको ह्रस्वः' इत्यत ह्रस्व इत्यनुवर्तते । तदाह—इष्टकादीनां तदन्तानां चेति ।
 इष्टकचित्तमिति । इष्टकानिमिश्रितमिति विग्रहः । 'कर्तृकरणे कृता' इति समासः । तदन्त

इको ह्रस्वो—अडवन्त इगन्तको ह्रस्वो, उत्तर पदके परे, विकल्पते । व्यङ्ग्यः सम्प्र-व्यङ्ग्य
 पूर्वपदं संप्रसारणं हो, पुत्र और पति शब्द उत्तरपदके परे । संप्रसारणस्य—सम्प्र-
 साणाः, दीर्घं हो, उत्तरपदके परे । इष्टकेपीका—इष्टकादि और इष्टकान्यपरको पूर्व क्रमसे

पक्वैकचित्तम् । इषीकतूलम् । मुञ्जेषीकतूलम् । मालभारो । उत्पलमालभारी ॥ ज्यो-
तिर्जनपदरात्रिनाभिनामगोत्ररूपस्थानवर्णवयोवचनबन्धुषु । ६।३।८५।
समानस्य सः । सज्योतिः । चरणे ब्रह्मचारिणि । ६।३।८६। ब्रह्मचारिष्पुत्र-
पदे समानस्य सश्वरणे समानत्वेन गम्यमाने । चरणः शाखा । ब्रह्म वेदः, तद-
ध्ययनार्थं व्रतमपि ब्रह्म, तच्चरतीति ब्रह्मचारी । सत्रब्रह्मचारी इत्यादि । तीर्थे ये
। ६।३।८७। यादौ प्रत्यये विवक्षिते समानस्य सः । सतीर्थ्यः एकगुरुकः । 'समान-
तीर्थे वासी'ति यत्प्रत्ययः ॥ विभाषोदरे । ६।३।८८। सौदर्यः । समानोदर्यः ॥
दृग्दशवतुषु । ६।३।८९। सदृक् । सदृशः ॥ (दृशे च) । सदृशः ॥

विधेः । प्रयोजनमाह—पक्वैकचित्तमिति । इषीकतूलमिति । इषीकायास्तूलमिति
विग्रहः । तूलमग्रं, तण्डुलमित्यन्ते । मुञ्जेषीकतूलमिति । मुञ्जेषीकायास्तूलमिति विग्रहः ।
मालभारीति । 'सुप्यजातौ' इति णिनिः । ज्योतिर्जनपद । अषष्ठ्यन्वोर्ये वचनमिदम् ।
मज्योतिरिति । समानं ज्योतिर्यस्येति विग्रहः । एवं सजनपदः, सराग्निः, सनाग्निः,
सनामा, सगोत्रः, सरूपः, सस्यानः, सवर्णः, सवधाः, सवधनः, सवन्धुः । चरणे ब्रह्म-
चारिणि । समानस्येति स इति षानुवर्तते । उत्तरपदे इत्यधिकृतम् । तदाह—ब्रह्म-
चारिष्पुत्रपदे समानस्य सः स्यादिति । चरणे इति सप्तमी समानस्येत्यत्रान्वेति । चरणे
विद्यमानस्येत्यर्थः । फलितमाह—चरणे समानत्वेन गम्यमाने इति । तत्र चरणपदं
व्याचष्टे—चरणः शाखेति । वैदिकप्रसिद्धिरेवात्र मूलम् । ब्रह्मचारिपदं निर्वकुमाह—ब्रह्म-
वेद इति । 'वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म' इत्यमरः । तत्रचरणार्थमिति । तस्य वेदस्य चरणम्
अध्ययनं तच्चरणं व्रतमपि ब्रह्मब्रह्मदेन विवक्षितमित्यर्थः । गौण्या वृत्त्येति शेषः ।
तच्चरतीति । तत् व्रतं चरति अनुतिष्ठतीत्यर्थे ब्रह्मचारिशब्द इत्यर्थः । 'सुप्यजातौ'
इति णिनिः । तीर्थे ये । यशब्दात् अकारान्ताःसप्तम्येकवचनम्, अकारो न विवक्षितः,
प्रत्यय इति विशेष्यमध्याहार्यम् । 'यस्मिन् विविः' इति तदादिविधिः । तदाह—
यादौ प्रत्यये इति । सतीर्थ्य इति । समाने तीर्थे वासीत्यर्थः । अत्र सामीप्ये सप्तमी ।
समानदशब्दस्वेकपर्यायः । तीर्थशब्दो गुरौ । तदाह—एकगुरुक इति । तद्विधौ समास-
प्रवृत्त्ये तद्विहितं दर्शयति—समानेति । 'निपातागमयोःस्त्रीर्यमृषिजुष्टजलेगुरौ'इत्यमरः ।
विभाषोदरे । उदरशब्दे परे समानस्य सभावो वा स्यादित्यर्थः । दृग्दशवतुषु । समानस्त्व

दृश्व हो, चितादि उत्तर पदके परे । ज्योतिर्जनपद—समानको 'स' आदेश हो, 'ज्योतिस्'
आदि उत्तर पदके परे । चरणे—चरण (शाखा) को समानता गम्यमान होने पर समान को
'स' आदेश हो, ब्रह्मचारी उत्तर पदके परे । तीर्थे ये—यादि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको
'स' आदेश हो, तीर्थ उत्तर पदके परे । विभाषोदरे—यादि प्रत्ययकी विवक्षामें समानको
'स' आदेश हो, उत्तर पदके परे, विकल्पते ! दृग्दश—समानको 'स' आदेश हो
इक्, इश और वतु के परे । इहे च—दृश उत्तर पदके परे भी समानको 'स' आदेश हो ।

ईं किमोरीरकी । ६।३।१०। इहङ्—ईदशः । कीदन्—कोटरा ॥
 (एहे च) । ईदश ॥ अपष्टयतृतीयास्यस्यान्यस्य दुगाशीराशा-
 स्थास्थितोत्सुकोतिफारकरागच्छेयु । ६।३।११। अन्यशब्दस्य दुगागम स्यादा-
 शीरादिषु परेषु । अन्यदाशो । अन्यदाशा । अन्यदास्या । अन्यदास्थित । अन्यदु-
 त्सुक । अन्यदति । अन्यद्राग । अपष्टीत्यादि किम् ? अन्यन्यान्वेन वाशी-
 अन्याशी ॥ (फारके छे च नायं निषेधः) । अन्यस्य कारकोऽन्यत्कारकः ॥
 अन्यस्यायमन्यदोय ॥ अर्थे विभाषा । ६।३।१००। अन्यदर्थ -अन्यार्थ ॥
 कीः कृत्तपुरुषेऽचि । ६।३।१०१। मजादावुत्तरपदे । कुत्सितोऽथ कदम्ब ।
 कदम्बम् । तत्पुरुषे किम् ? कृद्रो राजा ॥ (औ च) । कन्वयः । रथवदयोश्च

स इति शेष । सङ्क् सङ्ग इति । सङ्गानो दश्यते इत्यर्थे 'समानाम्यथोश्च' इति इतो-
 किन् कञ् च । इहे चेति । समामस्य सावमिति शेष । सङ्ग इति । 'कञोऽपि वाच्यः'
 इति इतो षष्ठ । इह किमोरीरकी । ईङ् की इति -हे परे । ईङ् ईङ्ङ इति । इहमित्य-
 इत्यते इत्यर्थे एदादिषु इतो- किन्-कम् । ईजाऽशिर्यं सार्धैकत्वात् । इहे चेति ।
 ईङ् किमोरीरकी यष्टायो इति शेषः । अपष्टयतृतीयास्यस्य । अपष्टयात् अतृतीयां च
 परतस्तिष्ठतीति अपष्टयतृतीयास्यः, तरव, अपष्टीतृतीदान्तस्येत्यर्थः । नाशीरादिभित्ति ।
 आशी, भाषा, आस्या, आस्थित, उत्सुक, कति, फारक, राग, च इत्येतेषु इत्यर्थः । दुकि
 ककार इत्य । उकार उकारणार्थः । किंवादान्ताश्रय । अन्यवाशीरित्याद्यय कर्मभा-
 रथा । गाय निषेध इति । 'अपष्टयतृतीयास्यस्य' इति निषेधः कारकपञ्चमोर्नारतीत्यर्थः ।
 अर्थे विभाषा । भाष्योक्तमिदम् । अन्यस्य दुगिति शेष । को कृत्तपुरुषेऽचि । कत् इति
 शेषः । शेषपूर्वेण सूत्रं स्याच्छे—मजादावुत्तरपदे इति । कदम्ब कदम्बमिति । 'कुगति' इति
 उभासाः । कृद्रो राजेति । कुत्सित उद्रो यस्येति यदुमीदित्वात् न छदादेशः । औ चेति ।
 किञ्च परे कृदादेशो वक्तव्य इत्यर्थः । उत्तरपदस्याज्जादित्वाभावात् षष्ठतम् ।

इहं किमो—'इहङ्' को 'ईङ्' और 'किम्'को 'की' आदेश हो इहङ् इह और वतुके
 परे । इहे च—पूर्वक 'ईङ्' और 'की' आदेश इहङ्के परे भी हो । अपष्टय—यष्टयन्त
 और सुतोवान्तसे मिल 'अन्य' शब्दको 'इङ्' का आगम हो, 'माशी' आदिके परे ।

फारके—फारक और छ मत्पपमे पर यष्टयन्त और तृतीया न अन्य शब्दको भी इङ् का
 आगम हो—'अपष्टयतृतीयास्यस्य' यह निषेध नहीं छने । अर्थे—अर्थ शब्द उत्तर
 पदके परे अन्य शब्दको दुगागम हो, विकरपसे । की कृत्तपुरुषे—तत्पुरुष समासमें
 'कु'को 'कत्' आदेश हो, मजादि उत्तर पदके परे । औ 'च'—'कु' को 'कत्' आदेश हो,
 किञ्च उत्तर पदके परे । रथवदयोश्च—रथ और 'च' उत्तर पदके परे 'क' को 'कत्'

दा३।१०२। क्वः । क्वः ॥ कृषे च आत्तौ ।दा३।१०३। कृषे च आत्तौ ।
 का पश्यक्षयोः ।दा३।१०४। कापथम् । काशः ॥ ईषदर्थे ।दा३।१०५। ईषजलं
 काजलम् ॥ विभाषा पुरुषे ।दा३।१०६। कुपुरुषः—कापुरुषः ॥ क्वं चोष्णे
 ।दा३।१०७। उणशब्दे उत्तरपदे क्वं का च वा स्यात् । कौष्णम्—कपोष्णम् ।
 कदुष्णम् ॥ पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् ।दा३।१०८। पृषोदरप्रकाराणि शिष्टैर्य-
 थोच्चारितानि तथैव साधूनि । पृषत उदरं पृषोदरम् । तलोपः वारियाहको वता-
 हकः । पूर्वपदस्य वः उत्तरपदादेश लत्वम् ॥ 'भवेद्वर्णागमादंसः सिद्धो वर्णविपर्ययात् ।

रपदयोश्च । कौः कत्तपुरुषे इति शेषः । कदयः । कदद इति । 'कुगति'इति समासः ।
 वदतीति वदः कुरित्तो वदः कद्वदः । तृणे च जातौ । तृणशब्दे कौः कत्तयाच प्राप्तौ
 वाच्यायाम् । तृणे च जातौ । तृणजातिविशेषोऽयम् । 'अस्त्री कुशं कृषो दर्भः पवित्रमय
 कत्तृणम्' इत्यमरः । का पश्यक्षयोः । पथिन्, अथ, धनयोः परतः कौः का इत्यादेशः
 स्वादित्यर्थः । कत्तृणमिति । कुरित्तः पन्था इति विग्रहः । 'कुगतिप्रादयः' इति समासः ।
 'कृषदर्थे' इत्यमरस्य । 'पथः संख्याव्ययादेः' इति नपुंसकत्वम् । कापथ इति पाठे तु
 बहुव्रीहिः । ईषदर्थे । ईषदर्थे विद्यमानस्य कौः का इत्यादेशः स्वादित्यर्थः । ईषजलं का-
 जलमिति । ईषजलमिति विग्रहे 'कुगति' इति समासः । विभाषा पुरुषे । कौः का
 इत्यादेश इति शेषः । क्वं चोष्णे । क्वं का च वेति । विभाषेत्तुष्णैरिति भावः ।
 उभयानाम्पि क्वादेशः । क्वा च कृषकत्वम् । क्वात्—कौष्णम् कदुष्णम् ।
 पृषोदरादीनि यथोपदिष्टम् । स्वादिस्यद्गो अ प्रकृतिवाणी, पन्थात् ईषोदरादिपाठस्यापूर्वा-
 नात् । अथोपदिष्टपदस्य वैचर्यात् । क्वात् प्रकारवाची । क्वात्—पृषोदरप्रकाराणीति ।
 प्रकारः सादृश्यं, तच्च प्रालोक्तलोपागमादेवादिरहितश्चेत्, लोपवन् । व्याकरणज्ञात्वा-
 नृहीतानीति यावत् । उपपूर्वको विशिखारणार्थः । भावे कः । उपदिष्टमुपदेशः उच्चा-
 रणम् । उदरनिष्पन्न यथोपदिष्टम् । पदार्थानतिवृत्तावव्ययीभावः । शिष्टैरित्यप्याहा-
 र्यम् । तथा च फलितमाह—शिष्टैर्यथोच्चारितानि तथैव साधूनीति । शिष्टास्तु प्रकृतत्व-
 साधारणवन्तः योगिन इति भाष्यकैयटयोः स्पष्टम् । तलोप इति । एहीसन्नासे
 सुब्लुकि तलोपे 'आद्गुणः' इति भावः । पूर्वपदस्येति । वारियाहकशब्दे वारिहाहकस्य

आदेश हो, तपुरुषमे । तृणे च—जाति गन्धमान होमे पर तृण उत्तरपदके परे नी 'कु'
 कौ 'कत्' आदेश हो, तपुरुषमे । का पश्यक्षयोः—'कु' कौ 'का' आदेश हो, पथिन् और
 अथ शब्द उत्तरपदके परे । ईषदर्थे—ईषद (किञ्चित्) अर्थमे 'कु' कौ 'का' आदेश
 हो, उत्तरपदके परे । विभाषा—पुरुष उत्तरपदके परे दिग्दर्शने 'कु' कौ 'का' आदेश हो ।
 क्वं चोष्णे—उष्ण शब्द उत्तरपदके परे 'कु' कौ 'कृष' और 'क्वा' आदेश हो,
 विकल्पते । क्वात्—पृषोदरादिका उच्चारण के लिये शिष्टैरे क्वात्, ईषो ही पाठ हो ।
 अथोपदिष्ट—'इन्' पातुते (पचायित्वात्) 'अन्' प्रत्यय होमे पर 'कृष्णत्व' और

गूढोत्मा वर्णविकृतेर्बर्णनाशात्पृषोदरम् । मतौ यहचोऽनजिरादीनाम् ।
 ६।३।११७ दीर्घं स्यात् । अमरावती । अनजिरादीना किम् ? अजिरवती ।
 बहुव किम् ? अहिमती । संज्ञायामियेव । नेह,—बलयवती ॥ शरादीनां च
 ६।३।१२० शरावती ॥ उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये , यहुलम् ६।३।१२२।

षकार सर्वादेश । वाहकृदाश्च हत्तरपह तदादेवकारस्य छकारादेश इत्यर्थं । मवेदगां
 गमादक्ष इति । हमघातोः पचाद्यचि अनुस्वारागमे हस इति रूपमित्यर्थं । हमघातो
 रचि स्रगागमे 'नद्यापदान्तस्य' इति अनुस्वार इत्यन्ये । निरो वर्णविपर्ययादिति ।
 'दिसि हिंसायाम्' इत्यत पचाद्यचि इदित्वान्नुम् । 'नक्ष' इत्यनुस्वारः । हकारस्य
 सकार, मकारस्य नकारश्च । सिंह इति रूपमित्यर्थं । यद्यपि हमसिंहयोद्गादौ
 व्युत्पत्तिरक्षा । तयान्युणादिसूत्राणां दाकट्यायनप्रणीतत्वेन शास्त्रान्तरत्वादिह व्युत्पा
 दन न दोष इत्याहुः । गूढोत्मा वर्णविकृतेरिति । गूढ आत्मा यस्येति बहुव्रीही उत्तरप
 दादेशाकारस्य उकारे आद्गुणे रूपमिति भावः । वर्णनाशात् पृषोदरमिति । पृषत् उदरमि
 त्वन्न तकाराद्योपे सति आद्गुणे पृषोदरमिति भवतीत्यर्थं । मतौ । मनुष्प्रत्यये परे
 बहुचो दीर्घं स्यात् संज्ञायाम् न अनजिरादीनामित्यर्थः । अमरावतीति । इन्द्रनगर्या
 सज्ञेयम् । अमरा अस्यां सन्तीति विग्रहः । 'माडुपचायाश्च' इति, 'संज्ञायाम्' इति घा
 मस्य च । अजिरवतीति । नदीविशेषस्य सज्ञेयम् । बलयवतीति । अनजिरादिव्येऽ
 प्यसंज्ञात्वाच्च दीर्घं इति भावः । शरादीनां च । मतौ दीर्घं, संज्ञायामिति दोषः । अथह
 च्चकारपूर्वेण न प्राप्तिः । शरावतीति । शरा अस्यां सन्तीति विग्रहः । नदीविशेषस्य
 नाम । उपसर्गस्य । परीषाक इति । पचेभ्यश्चि घञ्, उपचापृदि । 'चञो' कु विष्णवती'

'नद्यापदान्तस्य हसि' से अनुस्वार होनेसे 'हस' बनता है । 'दिस' धातुसे 'अच्' प्रत्यय
 होनेपर 'वर्णविपर्यय' (सकार=सकारका, स्थान=भ्रयांस=देरफेर) होनेसे 'सिंह' बनता है ।
 'गूढ आत्मा यस्य' इस बहुव्रीहिमें 'वर्णविकार' । (उत्तरपदके आदि वर्ण आकारको उकार)
 होनेसे गुण होकर 'गूढोत्मा' बनता है । एव 'पृषत् + उदरम्' यहाँपर 'वर्णनाश' (सकारका
 नाह = दण्डनाभाव) होनेपर गुण होकर 'पृषोदरम्' बनता है । इसी प्रकार अन्यत्र भी जानना ।

नोट :—'हस' धातुमें अच् होने पर अनुस्वाररूप वर्णका आगम होनेसे 'हस' बनता
 है—ऐसा जो ठिखा है, प्रायः वह गलत है । क्योंकि अनुस्वार वर्ण नहीं कहलाता (पृ०
 १० देखो) वैयाकरण शब्दको नित्य मानते हैं अतः 'वर्णनाश' या 'वर्णकोप' की अगह
 सर्वत्र वर्णका दण्डनाभाव समझना चाहिये ।

मतौ बहुचो—अजिरादिसे मित्र बहुचो दीर्घ हो, मनुष्के परे, उक्तम् ।

शरादीनां च—शरादिको दीर्घ हो, मनुष्के परे, उक्तम् । उपसर्गस्य—उपसर्गको बहु

परीपाकः, परिपाकः । अमनुष्ये किम् ? निषादः ॥ नरे संज्ञायाम् । ६।३।१२६
विश्वानरः ॥ मित्रे चर्षो । ६।३।१३० । विश्वामित्रः ॥ (शुनो दुष्टदंष्ट्राकर्ण-
कुन्दवराहपुच्छपदेषु दीर्घो वाच्यः) श्वादन्तः ॥ अनिरन्तः शरेश्चुप्ल-
क्षाम्रकार्प्यस्त्रदिरपीयूक्षाम्योऽसंज्ञायामपि । ८।४।५। एभ्यः परस्य वनस्य नस्य
णत्वम् । प्रवणम् ॥ विभाषौपविचनरूपतिभ्यः । ८।४।६। दूर्वावणम् , दूर्वावनम् ।
शिरीषवणम् , शिरोषवनम् । (द्वयचञ्चयञ्भ्यामेव) । नेह-देवदारवनम् । (इरिका-
दिभ्यः प्रतिषेधो चक्तव्यः) इरिकावनम् । मिरिकावनम् । वाहनमाहितात् । ८।४।

इति कुसवम् । निषाद इति । पुलिन्दो नाम मनुष्यजातिविशेषः । निषीदत्यस्मिन्
पापमिति निषादः । 'हलश्च' इत्यधिङ्करणे षञ् । दौवारिके प्रतीहारशब्दे दीर्घसवप्रा-
माणिकः । यद्वा प्रतीहारो द्वारम् तरस्वशात् मनुष्ये गौणः । नरे संज्ञायाम् । विश्वस्य
दीर्घ इति विशेषः । 'विश्वस्य वसुराटोः' इति पूर्वसूत्रात् विश्वस्येऽवसुवर्त्तते । मित्रे चर्षो ।
मित्रशब्दे परे विश्वस्य दीर्घः स्यात् ऋषौ घाष्ये इत्यर्थः । शुनो दन्तेति । श्वन्शब्दस्य
दन्तादिषु परतः दीर्घ इत्यर्थः । श्वादन्त इति । शुनो दन्त इति विग्रहः । श्वादंष्ट्रः ।
पष्टीसमासः, दीर्घान्त एव दंष्ट्रा शब्दो वार्तिके पठ्यत इति केचित् । हस्वान्त इत्यग्ये ।
श्वादंष्ट्रः बहुव्रीहिरयम् । श्वाकर्णा, श्वाकुन्धः, श्वाचराहः, श्वापुच्छः, श्वापङ्कः ।
अनिरन्तः । एभ्य इति । प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्प्यं, स्त्रदिर, पीयूक्षा,
इत्येतेभ्य इत्यर्थः । वनस्येति । 'वनं पुरगा' इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रवणमिति ।
प्रकृष्टं वनमिति विग्रहः । प्रादिसमासः । विभाषौपधि । ओपविचनरूपतिभ्यः परस्य
वनस्य यो नकारस्तस्य णत्वं वेद्यर्थः । ओपधिभ्य उदाहरति—दूर्वावणमिति । वनस्प-
तिभ्य उदाहरति—शिरीषवणमिति । देवदारवनमिति । प्रयुदाहरणम् । इरिकादिभ्य इति ।
एभ्यः परस्य वनस्य णत्वप्रतिषेध इत्यर्थः । वाहनमाहितात् । याहने आधीकसे ध्वना-

प्रकारसे दीर्घ हो वनन्त उत्तरपदके परे, मनुष्यवाच्यसे मित्र अर्थमें । नरे संज्ञायाम्—
विश्वको दीर्घ हो, नर उत्तरपदके परे, संज्ञामें । मित्रे चर्षो—ऋषिकी संज्ञा वाच्य हो तो,
विश्व शब्दको दीर्घ हो, मित्र उत्तरपदके परे ।

शुनो दन्त—श्वन् शब्दको दीर्घ हो, दन्त, दंष्ट्रा, कर्ण, कुन्द, वराह, पुच्छ और पद
उत्तरपदके परे ।

अनिरन्तः—प्र, निर्, अन्तर्, शर, इक्षु, प्लक्ष, आम्र, कार्प्यं, स्त्रदिर और पीयूक्षासे
पर वनके नकारको णकार हो, असंज्ञामें ।

विभाषौपधि—ओपधि तथा वनस्पति वाचकसे पर वनके नकारको णत्व हो, विकल्पसे ।

इत्यचञ्च—इत्यचञ्च या अचञ्च जो ओपधि और वनस्पति-वाचक शब्द, उनसे पर ही
वतके नकारको णत्व हो । इरिकादिभ्यः—इरिकादिसे पर वनके नकारको णत्व नहीं हो ।

वाहन—आहित अर्थात् उठाकर जो ले जाया जावे, तबकी पूर्वपदमें स्थित रेफ या

८। आरोप्य बहुव्यते तदाचिरस्याभिमित्ताद्वाहननकारस्य णत्वम् । इधुवाहनम् । आदि-
 तास्त्रि १ इन्द्रवाहनम् ॥ पानं देशे । ८।४।१। पूर्वपदस्याभिमित्तात्परस्य पानस्य
 नत्व णः । क्षीर पान येषां ते क्षीरपाणा उशीनरा । सुरापाणा प्राच्या ॥
 वा भाषकरणयोः । ८।४।१०। क्षीरपाणम्, क्षीरपानम् ॥ प्रातिपदिकान्तनुम्बि-
 मक्तिषु च । ८।४।११। पूर्वपदस्याभिमित्तात्परस्य एषु स्थितस्य नस्य णो वा । प्राति-
 पदिकान्ते-मायवापिणौ । नुमि, ग्रहिवापेण । विमत्तौ-मायवापेण । पञ्चे-मायवा-
 पिनावित्यादि ॥ कुमति च । ८।४।१३। क्वर्गव्युत्तरपदे प्राग्वत् । हरिकामिणौ ।
 हरिकामाणि । हरिकामेण ॥ पद्व्यवायेऽपि । ८।४।३८। णत्वं न । मायकुम्भवापेन ।

य यत् न तु स्वयमेवारोहो वाक्त्रोति सदाहितम् । तदाह-आरोप्येति । निमित्तादिति ।
 रेफपकारान्यतरस्माद्विशयः । पानं देशे । पानमिति पञ्चम्ये प्रथमेत्यभिप्रेत्याह—
 पानस्येति । उशीनरा इति । देशविशेषे बहुवचनान्तोऽयम् । वा भावकरणयोः । भावे
 करणे च यः पानशब्द तस्य उत्कृष्टविषये णो वा स्याद्विशयः । आदेशार्थं वचनम् ।
 क्षीरपाणम् । क्षीरपानमिति । चोरस्य पानमिति विग्रहः । भावे करणे वा वयुट् ।
 पानक्रिया, पानपात्र धेयर्थं । प्रातिपदिकान्त इति । उदाहरण स्यपत इति
 शेष । मायवापिण्यविति । मायान् वपेत्ते इति विग्रहः । 'बहुलमाभीक्ष्ये'
 इति आतावपि सुव्युत्तरपदे णिनि । उपचङ्गमासः । वापिन् शब्दस्य कृदन्त
 स्वेन प्रातिपदिकत्वात् सङ्गतस्य णत्वमिति भावः । कुमति च । प्राग्वदिति ।
 प्रातिपदिकान्तनुम्बिमक्तिस्थस्य नस्य नित्त्वं णत्वं इत्याद्विशयः । अनेकावुत्तरपदार्थं
 मिवम् । हरिकामिण्यविति । 'बहुलमाभीक्ष्ये' इति णिनि, प्रातिपदिकान्तावाणत्वम् ।
 हरिकामाणीति । अजन्तलक्षणनुमो नित्य णत्वम् । हरिकामेणेति । विमक्तिस्थयोवाह
 रणम् । मायकुम्भवापेनेति । मायाणां कुम्भ मायकुम्भ, तस्य वापः । अथ निमित्त

एकार निमित्ते पर वाहनके नकारको णत्व हो । पानं देशे—पूर्वपदस्य निमित्तने पर पान
 के नकारको णत्व हो, देश अर्थ यदि गम्यमान रहे ।

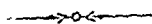
वा भाष—पूर्वपदस्य निमित्तने पर श्युदन्त भाव-करणवाची पान शब्दके नकारको
 णत्व हो, विकल्पसे । प्रातिपदि—पूर्वपदस्य निमित्तने पर प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्य
 नकार और विमक्तिस्थ नकारको णत्व हो, विकल्पसे । कुमति च—क्वर्गवत् (क्वर्गादि)
 उत्तरपदके परे प्रातिपदिकान्त नकार, नुमस्य नकार और विमक्तिस्थ नकारको णत्व हो ।

पद्व्यवायेऽपि—पूर्वपदस्य निमित्तने पर पदान्तर व्यवधान रहने पर प्रातिपदिकान्त
 नकार, नुमस्य नकार और विमक्तिस्थ नकारको णत्व नहीं हो ।

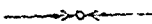
शेष—सूत्रमें 'अपि' का अर्थ है 'सति' अर्थात् 'पद्व्यवाये सति' ।

(अतद्धित इति वक्तव्यम्) । आर्द्रगोमयेण । शुष्कगोमयेण ॥ पारस्करप्रभृ-
तीनि च संज्ञायाम् । ६।१।२।३। एतानि नमूदकानि नियान्यन्ते । पारस्करः ।
किष्किन्धा ॥ (तद्बृहतोः करपत्योश्चोरदेवतयोः सुट् तलोपश्च) ।
तात्पूर्वं चत्वेन दकारोऽपि बोध्यः । तद्बृहतोर्दकारतकारौ लुप्येते, करपत्योस्तु नृत् ।
चोरदेवतयोरिति समुदायोपाधिः । तस्करः । बृहस्पतिः ॥ (प्रायस्य चित्तिचि-
त्तयोः) । प्रायश्चित्तम् । प्रायश्चित्तम् वनस्पतिरित्यादि । आकृतिगणोऽयम् ।

इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।



कारिणोः पकारनकारयोः कृष्णपदेन व्यवहानात् न जायते । शुष्कगोमयेणेति । कापर-
स्योद्गाहरणम् । पारस्करप्रभृतीनि च । पारस्कर शक्ति । पारं करोतीति द्विप्रहः । इन्द्रो देवित्ति-
टः । किष्किन्धेति । किं किमपि चानरसैन्यं तत्ते इति किष्किन्धा । जानोऽनुपसर्गे कः ।
टाप्, निपातनात् किमो द्विसवम् । मलोपः सुट् परवं च । रुद्राब्दा एते कथञ्चिद् व्यु-
त्पाद्यन्ते । एषामवपदाद्यो न विचारणीयः । तद्बृहतोरिति । पारस्करादिगणसूत्रमेव ।
तद्बृहत्ते तकारस्यान्यस्याभावादाह—तात्पूर्वमपि । तलोपश्चोयत्र तकारात्पूर्व-
मित्यर्थः । स्य और् च करोतीति विप्रहः । बृहस्पतिरिति । बृहती वाक् तस्याः पतिः
इति द्विप्रहः । कुण्डल्यादीनामण्टाद्विष्कृति पुंसवम् । तलोपः सुट् । 'वाग्नि बृहती
तस्या एव पतिः' इति ऋग्यजुर्गण्डाद्यण्ड । प्रायस्य चित्तिचित्तयोरिति । धनयुत्रमित् ।
प्रायस्य चित्तिः चित्तं वेति द्विप्रहः । 'प्रायः पापं विजानीषाचिपचं तस्य धिपोवनस्य ।'
इति स्मृतिः । वनस्पतिरिति । वनस्य पतिरिति विप्रहः । आकृतिगणोऽयमिति ।
तेन शतारपराणि परश्चवानोऽस्यादि सिद्धम् । इति समासाश्रयविधिप्रकरणम् ।



अतद्धिते—व्यवधायक पदसे परं तद्धित (प्रत्यय) रहनेसे शब्दका निषेध नहीं हो । अर्थात्
तद्धितके परे शब्द होता ही है । पारस्कर—पारस्कर प्रभृति सुट्महिन निगतन हो, संज्ञामें ।
तद्बृहतोः—कर तथा पति उत्तरपदके 'तद्' के दकारका और 'बृहत्' के तकारका
कोप हो तथा कर और पतिको सुट् हो, समुदायसे यदि चोर और देवता अर्थ गम्यमान रहे ।
प्रायस्य—'प्राय' से पर चित्ति और चित्तको सुट् का आगम हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें समासाश्रय प्रकरण समाप्त हुआ ।



तद्धितप्रकरणम्

अथापत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः

समर्थानां प्रथमाद्वा ।४।१।८२। इद पदत्रयमधिक्रियते, प्राग्दिश इति गवत् ॥ प्राग्दीव्यतोऽण् ।४।१।८३। तेन दीव्यतीत्यत प्रागणधिक्रियते ॥ अश्व-पत्यादिभ्यश्च ।४।१।८४। एभ्योऽण् स्यात्प्राग्दीव्यतीयेष्वयेषु । अश्वपतेरपत्यादि-आश्वपतम् । गणपतम् । दित्यदित्वादित्यपत्युत्तरपदाण्यः ।४।१।८५। प्राग्दी-व्यतीयेष्वयेषु । दितेरपत्यादि दित्य । अदितेरादित्यस्य वा आदित्य ॥ (यणो मयो द्वे घाच्ये ।) मय इति पञ्चमी यण इति षष्ठीति पक्षे यस्य द्वित्वम् ॥ हस्तो यमां यमि लोपः ।८।४।३४। वा स्यात् । इत्यसति लोपे द्वित्वे च सति त्रिव्यं रूपम् । असति लोपे द्वित्वलोपयोर्वा द्वियम् । द्वित्वाभावे लोपे च सति एक्यम् ।

प्राग्दीव्यतोऽण् । 'तेन दीव्यतिखनतिअपतिजितम्' इति सूत्रस्यदीव्यतिशब्देक देशस्यानुकरणमिह दीव्यत्त्वं । तेन च तद्धितं तस्मिन् लपयते । तदाह—तेन दीव्यतीत्यत प्रागणधिक्रियते इति । तथा च तस्यापत्यमित्याद्युत्तरसूत्रेषु केवलमर्थनि-र्देशपरेषु विधेयप्रायसविशेषार्थसयुक्तेषु किं भवतीत्याकाङ्क्षायामणित्युपतिष्ठन् इति लभ्यते । कस्मान्नवनीत्याकाङ्क्षायां 'समर्थोप्रथमात्' इति प्रकृतिविशेषो लभ्यते । यत्र तु विधेय प्रायसविशेषः भवति तत्रागिति नोपतिष्ठते, अणिरपत्यौत्सर्गिकतया विशेषिकेण ह्यादिना वाचात् । आश्वपतम् । 'अश्वपतेरपत्यम्' इत्यर्थे 'तस्यापत्यम्' इत्यपत्यार्थे 'अश्वपत्यादिभ्यश्च' इति अणि, 'अश्वपति लस् अण्' इति जाते 'कृत्तदि-गलमासाश्च' इति तद्धितान्तत्वात्प्रातिपदिकारथे, 'सुपो घातुप्रातिपदिकपोः' इति सुपो द्युति, गलोपे, 'पचि मम्' इति भावे, 'यस्येति च' इति इकारलोपे, 'तद्धितेष्व-चामादे' इत्यादिवृद्धौ कृत्यायाम्, 'आश्वपत' इति जाते, तत् सौ, क्षोरमि, पूर्वरूपे च 'आश्वपतम्' इति सिद्धम् । आदित्य इति । अदितिज्ञत्वात् जाताघष 'दित्यदि-त्यादियुत्तरपदाण्यः' इति ण्ये प्रत्यये, जागते आदिवृद्धौ, 'यस्येति च' इति

समर्थानां—प्राग्दिशो विभक्ति' इति सूत्र पर्यन्त 'समर्थानां, प्रथमात्, वा, इन तीनों पदोंका अधिकार है । प्राग्दीव्यतोऽण्—'तेन दीव्यतिखनतिअपतिजितम्' इति सूत्र तक 'अण्' का अधिकार है । अश्वपत्यादि—अश्वपत्यादिषु 'अण्' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीव (अपत्य, देवता, मन्त्र, आत आदि) अर्थोंमें, विकल्पते । दित्यदित्वा—दित्यादि और पत्युत्तरपदसे 'ण्य' प्रत्यय हो, प्राग्दीव्यतीव यथोक्त, विकल्पते । ययो मयो—यण्ये पर अण् और मयो पर ण्यो द्विव्यं हो । हस्तो यमां—हस्तो पर अण् का लोप हो, यण्ये पर, विकल्पते ।

प्राजापत्यः ॥ (देवाद्यजत्रौ) । दैव्यम्, दैवम् ॥ (वहिपण्डितोपो यञ्च) ।
वाह्यः ॥ (ईकक् च) ॥ किति च । ७।२।११।८। किति तद्धितेऽवामादेरचो
वृद्धिः । वाह्यिकः ॥ (गोरजादिप्रसङ्गे यत्) । गोरपत्यादि गव्यम् ॥ उत्सा-
दिभ्योऽञ् ॥ ४।१।८६। श्रौतसः ॥ इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ॥

अथापत्याधिकारप्रकरणम्

स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात् । ४।१।८७। धान्यानां भवन् इत्सतः प्राग-
यैष्वाभ्यामेतौ स्तः । स्त्रैणः । पौंसः ॥ तस्यापत्यम् ॥ ४।१।९२। पठ्यन्तात्कृतसन्धेः

इकारलोपे, ततः सौ 'आदित्या' इति रूपम् । आदित्यशब्दात् ण्ये, आदिवृद्धौ,
'यस्येति च' इति अलोपे, 'हलो यमां यमि लोपः' इति मकारस्य लोपे विभक्ति-
कार्यं च 'आदित्यः' इति रूपम् । इत्यपत्यादिविकारान्तार्थसाधारणप्रत्ययाः ।

स्त्रैणः । स्त्रिया अपत्यम्, स्त्रीषु भवः, स्त्रीणां समूहः इत्यादिविग्रहः । स्त्री
ङम् इत्यन्मात् 'स्त्रीपुंसाभ्यां नञ्स्नञौ भवनात्' इति नञि, सुपो लुकि, जगते,
'तद्धितेष्वचामादेः' इत्यादिवृद्धौ, 'अट्कुप्त्राङुनुमि'ति णत्वे विभक्तिकार्यं च
'स्त्रैणः' इति रूपम् । पौंसः । पुंसोऽपत्यम्, पुंति भवः, पुंसां समूहः, इत्यादि-
विग्रहः । पुम्शब्दात् स्नञि, 'स्वादिष्वसर्वनामस्थाने' इति पठ्यासंयोगान्तलोपः,

देवाद्यञ्—देव शब्दते 'यञ्' और 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दोष्यतीय अर्थोमें, विकल्पसे ।
वह्निपण्डि—वह्निप् शब्दसे 'यञ्' प्रत्यय और वह्निक्लो-टिका लोप भी हो, प्राग्दोष्यतीय
अर्थोमें विकल्पसे । ईकक् च—वह्निप् शब्दसे ईकक् प्रत्यय भी हो । किति च—अचोके
मध्यमें आदि अचको वृद्धि हो, कित तद्धितके परे । गोरजादि—गो शब्दसे अत्रादि
प्रत्ययके प्रसङ्गमें 'यव' प्रत्यय हो, प्राग्दोष्यतीय अर्थोमें ।

उत्सादिभ्यो—उत्सादिसे 'अञ्' प्रत्यय हो, प्राग्दोष्यतीय अर्थोमें ।

इत्सप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें अपत्यादिविकारान्तार्थसाधारण प्रत्यय समाप्त हुआ ।

स्त्रीपुंसा—'धान्यानां भवने ह्येते' इत्से पूर्व पयोमें स्त्री शब्दसे नञ् प्रत्यय और
पुंस् शब्दसे स्नञ् प्रत्यय हो- विकल्पसे ।

तस्यापत्यम्—पठ्यन्त शब्दस्थि सर्वथ इत्सतसे अपत्य अर्थमें उक्त (अण्-ण्य-नञ्-
स्नञ् आदि) प्रत्यय तथा नञ्प्रमाण (इत्यादि) प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

समर्थादपत्येऽर्थे उक्ता वक्ष्यमानाश्च प्रत्यया वा स्यु ॥ श्रीगुणः ॥ ६॥ ११४६६ ॥
 वक्ष्यन्तस्य भस्य गुणस्तद्धिते । श्रीरोदिति वक्ष्यन्ते शुणोकि 'संज्ञार्थेऽर्थो निविर
 नित्य' इति हापयितुम् । तेन स्वायभुवमित्यादि सिद्धम् । उपगोरपत्यम्-श्रीपगव ।
 आश्वपत । दैत्य । श्रीस्त । खैणः । पौस्त ॥ अपर्यं पौत्रप्रभृति गोत्रम् ।
 ॥ ११११६२ ॥ अपत्यत्वेन विवक्षितं पौत्रादि गोत्रसंज्ञं स्यात् ॥ एको गोत्रे
 ॥ ११११९३ ॥ गोत्रे एक एवापत्यप्रथय स्यात् । उपगो त्रापत्यम्-श्रीपगव ॥
 गर्गादिभ्यो यञ् ॥ ११११७५ ॥ गोत्रापत्यं । गर्गस्य गोत्रापत्यं-गार्ग्यं ।
 वास्य ॥ यञ्जोश्च ॥ १२॥ १६५ ॥ गोत्रे यञ्जन्तमयन्त च तदव्ययवयोरैतयोर्लुक् ।
 तत्कृते बहुवृत्ते, न तु द्वियाम् । गर्गा । वसा ॥ गोत्रेऽलुगचि ॥ १११८२ ॥
 अजादी प्रादीव्यतीये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययस्यालुक् स्यात् । गर्गाणा छात्रा । वक्ष्य

आदिदृष्टि । स्त्रेण । पौस्त इति । द्विया अपत्यं, पुत्रोऽपत्यमिति विग्रह । 'श्रीपु
 साम्यां नक्षत्रश्री भवनात्' इति नञ् स्तश्री, अणोऽपवाहः । अपत्यं पौत्रप्रभृति
 गोत्रम् । पौत्रप्रभृति अपत्यं गोत्रसंज्ञकमित्यर्थं । पौत्रप्रभृतिषु साक्षादपत्यस्यामा-
 यादाह—अपत्यत्वेन विवक्षितमिति । एको गोत्रे । पौत्रादी प्रत्येकपुत्रश्च अपत्यार्थमापत्या
 शतममे सन्ताने एकोनशतप्रत्ययानामापत्तिरसो नियमार्थं सूत्रम् । तदाह—एक एक
 अपत्यप्रत्यय इति । एकोनशतं प्रायथा नेहा, किम्येक एव प्रायय इष्ट इति भाष्य ।
 गोत्रेऽलुगचि । अलुगिति षट्शेड् । प्राहोश्चत हावहुवृत्तेः प्राययाधिकारात् प्राचीव्य
 तीये प्रायये इति छन्दम् । असीति तद्विसेक्यं तद्विबिधिः । विषयसङ्गमेऽत्र न तु
 परसहस्री । तदाह—अजादीव्यतीये । गोत्रप्रत्ययस्येति । गोत्रार्थं प्राहोश्चतस्तेः ।
 लुक् प्राययाक्षरानावात् प्राययस्येति छन्दम् । गर्गाणा छात्रा इति । अक्षयमाजोदाहर
 णविग्रहप्रदर्शनमिदम् । गर्गस्य गोत्रापत्यं गार्ग्यं । गर्गादिभ्यो यञ् । गर्गस्य गोत्रा
 पत्याभीति बहुव्ययविवक्षायां यानि कृते तस्य 'यञ्जोश्च' इति लुकि गर्गा इति भवति ।

श्रीगुणः—उपगो व मसङ्गको गुण हो, तद्विषयके परे । अपत्यं पौत्र—अपत्यत्वेन
 विवक्षित नो पौत्र, मपौत्रादि, वे गोत्रसङ्गक हो ।

एको गोत्रे—गोत्रमें एक ही प्रायय हो । एकार्थं गोत्रमें—पुत्रका पुत्र, वक्षका पुत्र
 इत्यादि परम्परासे अनेक अपत्य प्रायय नहीं होने है ।

गर्गादिभ्यो—वक्ष्यन्त गर्गादि समर्थसं यञ् प्रत्यय हो, लोकार्थव अर्थमें ।
 यञ्जोश्च—वक्ष्यन्त और अयन्तका अवयव को 'यञ्' और 'यञ्' लक्षणा कृत् हो,
 गोत्र प्राययवत् बहुव्यय रचनेपर । यन्तु लीङ्गिगमें लुक् नहीं हो । गोत्रेऽलुगचि—अजादि

माणो ष्टाच्छ ॥ आपत्यस्य च तद्धितेऽनाति ॥४१५१॥ इलः परस्थापत्य-
 यस्य नोपस्तद्धिते, सत्वाकारे । गार्गीयाः । अनाति किम् ? गार्गीयणः । प्राग्दीव्य-
 तीये किम् ? गर्गेभ्यो हितं गर्गीयम् । अचि किम् ? गर्गेभ्य आगतं गर्गरूप्यम् ॥
 जीवति तु वंश्ये युवा ।४११६३॥ वंश्ये पित्रादी जीवति पौत्रादेर्यदपत्यं चतु-
 र्यादि तद्युवसंज्ञमेव स्यान्न तु गोत्रसंज्ञम् ॥ गोत्राद्यन्यत्रियाम् ।४११७४॥ यूय-
 पत्ये विवक्षिते गोत्रप्रत्ययान्तादेव प्रत्ययः स्यात्, त्रियां तु म युवसंज्ञा ॥ यन्वि-
 ज्ञाश्च ।४११७०॥ गोत्रे औ यद्विभौ तदन्तात्फक् ॥ आयनेयीनीयियः फल-
 स्रच्छ्रवां प्रत्ययादीनाम् ।४११२॥ प्रत्ययादेः फस्य आयन् इवस्य एय् स्वस्य ईन् छस्य
 ईय् घस्य इय् स्युः । गर्गस्य युवापत्यं-गार्गीयणः ॥ अत इज् ।४११२५॥ अप-

ष्टाच्छ इति । गार्गीशब्दात्तुक्तेऽप्ये छ प्रत्यय इत्यर्थः । छस्य ईयादेशः तस्मिन् भवि-
 स्यति नञादौ परे 'यञजोश्च' इति प्राप्ते छुष् च भवति । तथा गार्ग्यं ईय इति
 स्थिते 'यस्येति च' इति यञोऽकारस्य लोपे छान्त् ईय इति स्थिते परिशिष्टस्य यञो
 षकारस्य लोपमाह—आपत्यस्य च । अनातीतिरुक्तेः । 'ते लोपोऽकद्रूवाः' इत्यतो लोप
 इत्यनुवर्तते । 'सूर्यतिथ्य' इत्यतो य इति षष्ठ्यन्तसमुच्चरते । 'हलस्तद्धितस्य' इत्यतो
 इल इति पञ्चम्यन्तमनुवर्तते । तदाह—इलः परस्थापत्यस्येति । अपरवार्यकयकार-
 ष्टेऽर्थः । यञो लुके तु आदिवृद्धिर्न स्यादिति भावः । गर्गीयमिति । 'तस्मै हितम्'
 इति गार्गीशब्दाच्छुः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वाज्जादात् तस्मिन् परे 'यञजोश्च' इति
 यञो लुक्प्रत्ययेति नादिवृद्धिरिति भावः । अचि इत्यिति । 'हितमनुप्येभ्यः' इति
 रूप्यप्रत्ययः । तस्य प्राग्दीव्यतीयत्वेऽप्यञादिसंज्ञात्तस्मिन् परे यञोऽलुक् न ।
 गार्गीयणः । गर्गस्य युवापत्यं, गार्गीयस्य गोत्रापत्यमित्यन्त्र 'जीवति तु वंश्ये युवा'
 इति युवसंज्ञायां 'यञजोश्च' इति यञशब्दाद् भाव्यंदात्तात्फकि, फलोपे, 'आय-
 नेयीनीयियः फलस्रच्छ्रवां प्रत्ययादीनाम्' इति फस्य स्यात्ते आयनि कृते, 'गार्गी-
 आयन् अ' इति जाते, 'अचि भस्' इति भावे, 'यस्येति च' इति गकारोत्तरात्पर्य-
 कारलोपे संयोगे, 'अट्कुष्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति नस्य ण्ये, विभक्तिकार्ये च

प्राग्दीव्यतीयको विवक्षामे गोत्र प्रत्ययका अलुक् हो । आपत्यस्य च—इल्ले पर अपत्यार्थक
 यकारका लोप हो, आकार-मिन्न तद्धित प्रत्ययके परे । जीवति तु—वंशमे पिता आदिके
 लोहित रहने पर पौत्र आदिका अपत्य जो चतुर्थ (पपौत्र) आदि, उतकी युवसंज्ञा हो हो-
 गोत्रसंज्ञा नहीं हो । गोत्राद्यन्य—युवा अपत्य विवक्षित होनेपर गोत्रप्रत्ययान्तसे ही प्रत्यय
 हो और लोपिगमे युवसंज्ञा नहीं हो । यञिजोश्च—गोत्रमे जो यञ् कौर इन्, उच्यते
 फक् प्रत्यय हो । आयनेयी—प्रत्ययके आदिभूत 'फ'. आदिको बधाकयसे वापन् आदि
 आदेश हो । अत इज्—अदन्त प्रातिपदिकसे इज् प्रत्यय हो, चरस्य कर्षे ।

त्येऽयं । दाक्षि० ॥ बाह्यादिभ्यश्च । ४।१।१६। बाहवि । औद्दलोमि । औद्दलोमी ॥
 (लोम्नोऽपत्येषु बहुष्यकारो षक्तव्यः) । बाह्यादेरपवाद । उद्दलोमा । आकृ-
 तिगणोऽयम् ॥ अनृप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ् । ४।१।१०४। ये त्वयानृषयस्ते-
 भ्योऽपत्येऽन्यत्र तु गोत्रे । विदस्य गोत्र वैद । वैदौ । विदा । पुनस्यापत्य
 पौत्र । पौत्रौ । यत्रलौथेति सूत्रे प्रवराध्यायप्रविद्धं गोत्र, तेनेह न-पौत्रा । एवं
 दौहित्रादयः । शियादिभ्योऽण् । ४।१।११२। अपत्ये, -शैव । गात्र ॥ ऋष्य
 न्वकवृष्णिक्कुरुभ्यश्च । ४।१।११४। ऋषिभ्यः—वाषिष्ठ । वैश्वामित्र । य-
 केभ्य—श्वारुक् । वृष्णिभ्य—वासुदेव । कुरुभ्य—नाकुल । साहदेव ॥
 मातृस्त्वसंख्यासंभद्रपूर्वायाः । ४।१।११५। सख्यादिपूर्वस्य मातृशब्दस्य उदादेश
 स्यादण् प्रत्ययश्च । द्वैमातुर । पाणमातुर । माद्रमातुर ॥ स्त्रीभ्यो ढक् । ४।१।१२०।

कृते 'गात्र्यावण' प्रतिरूपम् । उद्दलोमा । उद्दलोम्नोऽपत्यानि पुनसि इति विग्रहः ।
 अत्र उद्दलोमन् शब्दात् बहुष्ये 'लोम्नोऽपत्येषु बहुष्यकारो षक्तव्यः' इति अपत्यये,
 'नस्त्वित्ते' इति टिलोपे विभक्तिकार्यं च तत्सिद्धिः । अनृप्यानन्तर्ये । अनृपीति
 लुप्तपञ्चमीकम् । 'विदादिभ्योऽञ्' इति द्विरावर्तते । तथा च 'अनृप्यानन्तर्ये विदा
 दिभ्योऽञ्' इति कृत्स्नमेक वाक्यम् । 'विदादिभ्योऽञ्' इति वाक्यान्तरम् । तत्र
 द्वितीय वाक्य व्याचष्टे—अन्यत्र तु गोत्रे इति । गोत्रे विवक्षिते विदादिभ्योऽञ् स्यादि
 त्यर्थः । अत्र प्रथम वाक्य कृत्स्नसूत्र व्याचष्टे—ये स्थितिः । अनृषिभ्यो विदादिभ्यः
 अनन्तरापरये अञ् स्यादित्यर्थः । विदादौ हि अपत्यः अनृषयश्च पठिताः । तत्र ये
 अनृषयः तेभ्योऽनन्तरापरये अत्रिति फलितमिति भावः । वैद । विदस्य गोत्राप-
 त्यश्च वैद इत्यत्र 'अनृप्यानन्तर्ये विदादिभ्योऽञ्' इत्यत्रि, भव्ये, अकारलोपे,
 जायचो वृद्धौ, विभक्तिकार्यं च कृते 'वैदौ' इति । एवमेव पुत्रस्यापरयम् 'पौत्र' ।
 पुहितरपरयम् 'दौहित्र' इत्यादौ विदादिभ्योऽञ् षोडशः । द्वैमातुरः । द्वयोर्मात्रो
 रपरयम् 'द्वैमातुर' इत्यत्र 'सद्विदार्योत्तरपदसमाहारे च' इति समासे सुपो लुकि,
 'मातृस्त्वसंख्यासंभद्रपूर्वाया' इति मातृशब्दावेनो अणि च 'द्वि मातुर अ' इति
 जाते 'सद्विदेष्वर्थाभावे' इत्याद्यस्यो वृद्धौ सयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'द्वैमा-

बाह्यादिभ्यश्च—बाह्यादिते इन् प्रापय हो, अपत्य अर्थमे । लोम्नोऽपत्ये—लोमन्
 शब्दस्ते बहुष्यविशिष्ट अपत्य अर्थमे अकार प्रापय हो । अनृप्यानन्तर्ये—विदादि गणपठित
 ऋषियोंस गात्र अर्थमे और ऋषि भिन्नोस्ते अपत्य अर्थमे अन् प्रत्यय हो ।

सिदादिभ्यो—सिदादिते अण् प्रापय हो, अपत्य अर्थमे । ऋष्यण्वक—ऋष्यादिते
 अण् प्रापय हो, अपत्य अर्थमे । मातृस्त्व—उत्सदादिपूर्वक मातृ शब्दको अत्र आदेश हो,
 और अण् प्रत्यय भी हो । स्त्रीभ्यो ढक्—स्त्रीप्रत्ययान्तस्ते ढक् प्रापय हो, अपत्य अर्थमे ।

स्त्रीप्रत्ययान्तेभ्यो ढक् । वैनतेयः ॥ कन्यायाः कनीन च । ४।१।११६। चादन् ।
 कानीनो व्यासः, कर्णश्च ॥ राजश्वशुराद्यत् । ४।१।१३७। (राक्षो जातावेव) ॥
 ये चाभावकर्मणोः । ६।४।१६८। यादौ तद्धिते अन् प्रकृत्या स्यात्तु भावकर्म-
 णोः । राजन्यः । श्वशुर्यः । जातावेवेति किम् ? ॥ अन् । ६।४।१६७। प्रकृत्याऽपि
 परे । राजनः ॥ क्षत्राद्यः । ४।१।१३८। क्षत्रियः । जातादित्येव । क्षात्रिरन्यः ॥
 रेवत्यादिभ्यष्टक् । ४।१।१४६। ठस्येकः । ७।३।५०। अज्ञात्परस्य ठस्येकादेशः ।
 रैवतिकः ॥ गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफञ् । ४।१।९८। व्रातचफजोरस्त्रियाम्
 । ५।३।११३। व्रातवाचिभ्यश्चफजन्तेभ्यश्च स्वार्थे व्यप्रत्ययः स्यात् । कौञ्जायन्यः ।
 कौञ्जायन्यौ । बहुत्वे लुग्वक्ष्यते । व्राध्नायन्यः ॥ नडादिभ्यः फक् । ४।१।९९।

पुरः' इति सिद्धम् । कानीनः । कन्यायाः अपत्यम् 'कानीनः' इत्यत्र 'कन्या-
 याः कनीन च' इति अणप्रत्यये कन्यास्थाने कनीनादेशे, भवे 'यस्येति च'
 इत्यलोपे, आद्यसो वृद्धौ, विभक्तिकार्ये च 'कानीनः' इति रूपम् । गोत्रे कुञ्जा-
 दिभ्यश्चफञ् । स्पष्टम् । इजोपवादः । चफञि चजावितौ । व्रातचफजोः । व्राताश्च
 चफञ् इति इन्द्राद्वयस्येन पञ्चम्यर्थे पठ्ये । तद्वाह—व्रातवाचिभ्य इति । स्वार्थे व्यः
 स्यादिति । 'पूगाञ्च्योऽप्रामणीपूर्वात्' इत्यतः व्यः इत्यनुवर्तते । स च स्वार्थिकः,
 'व्यादयः प्राग्वुनः' इति स्वार्थिकेषु परिगणनादिति भावः । कौञ्जायन्य इति । कुञ्जस्य
 गोत्रापत्यमिति विग्रहः, चफञि चजावितौ आयच्छादेशः, आदिबुद्धिः, ततो व्यः, अकार
 इति 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । व्राध्नायन्य इति । व्रणस्य गोत्रापत्यमिति
 विग्रहः । चफञादि पूर्ववत् । नडादिभ्यः फक् । इजोऽपवादः । आश्वायन इति ।
 अश्वस्य गोत्रापत्यमिति विग्रहः । इजपवादः फण् । इतश्चानिबः । अस्त्रीप्रत्ययान्ता-

कन्यायाः—कन्या शब्दको कनीन आदेश हो और चकारात् अण् प्रत्यय भी हो,
 अपत्य अर्थमें । राजश्वशु—राजन् शब्द और श्वशुर शब्दसे यत् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

राज्ञो जाता—जातिवाच्य होने पर ही राजन् शब्दसे यत् प्रत्यय हो ।

ये चाभाव—यकारादि तद्धितके परे 'अन्' प्रकृतिवत् हो, किन्तु भाव और कर्मार्थक
 प्रत्ययके परे नहीं हो । अन्—अण् प्रत्ययके परे अन् प्रकृतिवत् हो । चक्षत्राद्य—क्षत्र शब्दसे
 'घ' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें—समुदायसे जाति यदि गन्यमान रहे । रेवत्यादिभ्यः—रेव-
 त्यादिसे 'ठक्' प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ठस्येकः—अज्ञसे पर 'ठ' को 'इक्' आदेश हो ।

गोत्रे—गोत्र अर्थमें कुञ्जादिसे 'चफञ्' प्रत्यय हो । व्रातचफजो—व्रातवाचीसे और
 चफजन्तसे स्वार्थमें 'व्य' प्रत्यय हो । नडादिभ्यश्च—नडादिसे फक् प्रत्यय हो, गोत्र

गोत्र इत्येव । नादायन् । वारायण । अनन्तरो नाटि ॥ अश्यादिभ्यः फञ्
 । ४।१।११०। गोत्रे आश्रापन ॥ इतश्चानिज । ४।१।१२२। इकारान्ताद् द्वयचाऽ-
 पत्ये ढक्, न त्तिजन्तात् । दौलेय । नैधेय । आत्रेय । आत्रेयो ॥ अग्निभृगुकु-
 रसत्रसिद्धगोत्रमाह्निरान्यथ । २।४।६५। एभ्यो गोत्रप्रत्ययस्य लुक् स्यात् तन्वृते
 षट्ठुवे, न तु त्रियाम् । अत्रय । भृगव । कुत्मा । वसिष्ठा । गोतमा । अह्निरय ।
 शुभ्रादिभ्यश्च । ४।१।१२३। शौत्रेय ॥ कस्याप्याशीनामिन्द्र । ४।१।१२६।
 एपामिन्द्र स्यात्, ढक् च । काल्याग्निनेय । गान्धकिनेय ॥ कुशटाया -
 । ४।१।१२७। इन्द्रमात्र विकल्प्यते, ढक् तु नित्य पूर्वैणैव । कौल्येय, कौल्य-
 नेय । सती भिक्षुज्यत्र वुल्टा ॥ चटकाया पेरक् । ४।१।१२८। (चटकादिति
 घाच्यम्) । प्रातिपदिकप्रद्वये लिङ्गविशिष्टस्यापि प्रहणमिति मिथ्येति । चटकस्य

धर्मित्यम् । कुलि निधिश्च ऋषिव् । आत्रेय इति । अग्नि प्रसिद्ध । परत्याद्यस्यृष्यणमपि
 वाच्य इति भावः । अग्निभृगुः । पूर्वसूत्राद्गोत्र इति, तत्र यदनुवृत्त तच्च सर्वमि
 दानुवर्तते । तदाह—एभ्यो गोत्रेति । अत्रे, भृगो, कुत्तश्च, यतिष्ठस्य, गोतमस्य,
 अह्निरसञ्च अपत्यानि कुत्तश्च इति विग्रहः । तत्र अत्रे 'इतश्चानिज' इति ढकोऽनेन
 लुक् । इतरेभ्यस्तु अत्रेण इति बोधयम् । लुकि आदिषु हेतुवृत्तिसः कस्याप्याशीनामिति ।
 इन्द्रो ढकार इव । काल्याग्निनेय इति । कस्याप्या अपत्यमिति विग्रहः । गान्धकिनेय
 इति । गन्धक्या अपत्यमिति विग्रहः । अत्र गणे शीप्रस्वभाक्ता एव पठ्यन्ते । सेभ्यो
 ढक् सिद्ध एव । इन्द्रेण तु विधीयते । कुशटाया वा । इन्द्रमात्रमिति । व्याख्यानमिति
 भावः । पूर्वैवेति । 'शौत्रेयो ढक्' इत्यनेनेत्यर्थः । कुलानि गृहाणि अटतीति कुलटा ।
 षड्भ्यादिवारपररूपम् । चटकाया पेरक् । चटकाशब्दादपत्ये पेरक् प्रात्यय स्यादिति
 त्वर्थः । चटकादिति वाच्यम् । सूत्रे चटकाया इत्यपनीय चटकादिति वाच्यमित्यर्थः ।

अर्थम् । अश्यादिभ्यः—अश्यादिते फञ् प्रत्यय हो, गोत्र अर्थम् । इतश्चानिज—इत्यन्तरे
 मित्र इकारान्त इत्यङ्कसे ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् । अग्निभृगु—अग्नि, भृगु आदिते
 पर गोत्र प्रत्ययङ्कन षट्ठुवे हो तो गोत्र प्रत्ययका लुक् हो, स्त्रीटिगमे षोडशर ।

शुभ्रादिभ्यश्च—शुभ्रादिते ढक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् । कस्याप्या—कस्याप्यादिते
 अन्तरे इत्यङ् आदेश हो और ढक् प्रत्यय भी हो, अपत्य अर्थम् । कुशटाया वा—कुशटा
 अन्तरे विकल्पसे इत्यङ् आदेश हो और पूर्वसूत्र अर्थात् 'शौत्रेयो ढक्' से नित्य ढक् प्रत्यय
 भी हो, अपत्य अर्थम् । चटकाया—चटका अन्तरे पेरक् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थम् ।

चटका—चटका अन्तरे पेरक् प्रत्यय हो—इत्य अन्तरे पारिषे । स्त्रीटि 'लिङ्गविशिष्ट'
 अर्थात् 'चटका' शब्दका भी प्रत्यय हो ही वाच्य ।

चटकाया वा अपत्यं-चाटकरः ॥ (स्त्रियामपत्ये लुग् लल्लः) । तयोरेन
 अपत्यं = चटका ॥ गोषाया ढक् ॥११२२१॥ गौधेरः । शुभादित्वाद्ढक् ।
 गौधेयः ॥ शुभाभ्यो वा ॥११२३१॥ अन्नहीनाः शीलहीनाश्च धुम्नाः, तान्यो ढक्
 वा । पक्षे-ढक् । काणेरः, क्षणेरः । दासेरः, दासेयः ॥ पितृष्वसुशब्त् ।
 ॥११२३२॥ अणोऽपवादः । पैतृष्वस्त्रीयः ॥ ढकि लोपः ॥११२३३॥ अत एव
 शापकाडढक् । पैतृष्वसेयः । मातृष्वसुश्च ॥११२३४॥ पितृष्वसुर्यदुक्तं
 तदस्यापि स्यात् । मातृष्वस्त्रीयः, मातृष्वसेयः ॥ कुलात्खः ॥११२३५॥
 कुलीनः । तदन्तादपि, उत्तरसूत्रे अपूर्वपदादिति लिप्तात् । आढयकुलीनः ॥
 अपूर्वपदादन्यतरस्यां यड्ढकञौ ॥११२४०॥ कुलादित्येव । पक्षे-खः ।
 कुल्यः, कौलेयकः, कुलीनः । महाकुलादञ्खञौ ॥११२४१॥ माहाकुलः, माहा-
 कुलीनः, महाकुलीनः ॥ दुष्कुलाड्ढक् ॥११२४२॥ वा । पक्षे-यः । दौकुलेयः,

तयोरिति । चटकस्य चटकायाश्चेत्यर्थः । गोषाया ढक् । गौधेर इति । गोषाया अपत्यमिति
 विग्रहः । ढकि ढकारस्य ष्यादेशे 'लोपो ष्योः' इति यलोपः, किञ्चादादिदृष्टिरिति भावः ।
 शुभान्भ्यो वा । अन्नहीना इति । चक्षुरादिकतिपयात्रयविश्लेषा इत्यर्थः । शीलहीना इति ।
 सद्गृह्णहीना इत्यर्थः । यथेष्टपुरुरसञ्चारिण्य इति यावत् । पितृष्वसुशब्त् । पैतृष्वस्त्रीय
 इति । पितृष्वसुरपत्यमिति विग्रहः । ङस्व ईणादेशे आदिबुद्धिः । सकाशत्कारत्वं धण् ।
 ढकि लोपः । पितृष्वसुरित्यनुवर्तते अलोभ्यपरिभाषया अन्यस्य लोपः । कुलात्खः ।
 अपत्ये इति शेषः । कुलीन इति । खस्य ईनादेशः । तदन्तादपीति । आढयकुलीन इति ।
 आढयकुलशब्दात् कर्मधारयस्यः । कुले आढयत्वप्रतीतिरत्र फलम् । कुलीनशब्देन
 कर्मधारये तु तदप्रतीतिरिति भेदः । अपूर्वपदादन्यतरस्याम् । कुलादित्येवेति । पूर्वपदरहि-
 तात् कुलादपत्ये यड्ढकञौ वा स्त इत्यर्थः । पक्षे ख इति । यड्ढकञोरभावपक्षे इत्यर्थः ।
 दुष्कुलाड्ढक् । अन्यतरस्यां ग्रहणानुवृत्तेरिति भावः । पक्षे ख इति । तथा सति धादिबुद्धि-

स्त्रियामपत्ये—स्त्री अपत्यमै-परकृत्वा लुङ् हो । गोषायाः—गोषासे अपत्य अर्थमे ढक्
 प्रत्यय हो । शुभाभ्यो—शुभाभ्योसे अपत्य अर्थमे ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे । पितृष्वसु
 पितृष्वसु शब्दसे अपत्य अर्थमे ङ् प्रत्यय हो । ढकि लोपः—पितृष्वसु शब्दके गन्त्यका
 लोप हो, प्रत्ययके परे । मातृष्वसुश्च—'पितृष्वसु' शब्दसे जो २ कार्य विधान किये
 गये हैं, वे सब कार्य 'मातृष्वसु' शब्दसे मां हो । कुलात्खः—ङ्कसे तथा कुलान्त शब्दसे
 मी ख प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमे । अपूर्वपदा—पूर्वपदरहित कुल शब्दसे अपायायर्थमे यद
 और ढकम् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

महाकुला—महाकुल शब्दसे अञ् जोर खण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमे विकल्प से ।

दुष्कुलात्—दुष्कृत् शब्दसे अपत्य अर्थमे ढक् प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

बुष्कुलीन ॥ स्वसुपृष्ठ ॥११११४३॥ स्वस्वीय ॥ क्षान्तुर्व्यञ्ज ॥११११४४॥
 चाच्छः । आतुर्व्यञ्ज, आतुर्व्यञ्ज । मनोज्ञातावन्पत्नी दुर्गु च ॥११११४५॥
 समुदायायो जाति । मानुष, मनुष्य ॥ (तद्वगोऽण उपसंख्यानम्) ॥ पपूर्व-
 हन्घृतराहामणि ॥६॥११३५॥ एवामपि तद्वितेऽनोऽकारलोप ॥ तादृश ॥
 तिकादिभ्यः क्तिञ् ॥११११५४॥ तैकायनि ॥ वृद्धिर्यस्याच्चामादिस्तद्वृद्धम्
 ॥११११७३॥ यस्य समुदायन्याचां मध्ये आदिदृष्टिस्तद्वृद्धस्यै स्यात् ॥ उदीर्णां
 वृद्धादगोत्रात् ॥११११५७॥ आत्रपुत्रायनि । प्राचा तु-आत्रपुत्रि ॥ प्राचाम
 वृद्धात्किन्व्यह्वलम् ॥११११६०॥ स्तुतुकायनि ॥ जनपदशब्दात्क्षत्रियादञ्
 ॥११११६८॥ जनपदक्षत्रिययोर्वाक्छादन् अपत्ये । पाप्राठ् ॥ (क्षत्रियसमान

नेति भावः । आतुर्व्यञ्ज । लकारः 'तिरवतिरम्' इति स्वार्थं इति बोध्यम् । मनोज्ञी ।
 मनुष्यशब्दस्य अञ् यत् पृथो प्रत्ययौ स्वस्वयो परयो मनुष्यशब्दस्य बुगागामस्य प्रकृतिप्र-
 त्ययसमुदायेन आतो गम्यायामित्यर्थः । तदाट्—मपुरायायो जातिरिति । प्राचापत्यप्र-
 हण सचक्ष्यत् इति भावः । अन्वया मानुषा इत्यत्र 'यञ्प्रोक्ष' इति लुक् स्यादिति
 बोध्यम् । तैकायनिरिति । किञ्चि आयञ्जादेशः । वृद्धिर्यस्याच्चा-
 मादिस्तद्वृद्धम्, तेषां शाब्दशब्दस्यापि वृद्धत्वं सिध्यति । स्वपदेशित्यन्तेन शाब्दश-
 ब्दस्यापि वृद्धत्वम् । उदीर्णां वृद्धादगोत्रात् । वृद्धसञ्ज्ञात् अगोत्रप्रत्ययान्तात्किञ् स्यात्
 उदीर्णां मते इत्यर्थः । प्राचामवृद्धात् । वृद्धसञ्ज्ञात् अपत्ये बहुलं किञ् स्नाहित्यर्थः ।
 प्राचां प्रहण पूज्यर्थम् । स्तुतुकायनिरिति । स्तुतुकास्यापत्यमिति विग्रहः । अष्टुकारिकम् ?

- स्वसुपृष्ठ — स्वयु शब्दसे छ प्रत्यय हो, अत्यर्थ अर्थमें ।
- आतुर्व्यञ्ज — आतुर्व्यञ्जसे न्यञ् प्रत्यय हो, और चकारान् छ प्रत्यय भी हो अपत्य अर्थमें ।
- मनोज्ञाता — मनु शब्दसे अञ् प्रत्यय तथा अञ् प्रत्यय हो और सतिषोऽणशब्देन मनुको बुद्ध्या भागम भी हो, समुदायने यदि कति वाच्य रहे । तद्वगोऽण-उपसृञ् शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अत्यर्थ अर्थमें । पपूर्वहन् — पकारपूर्वक अन्, हन् और घृतराजन् सम्बन्धी भेदक अन्के अकारका जोप हो, अन्के परे । तिकादिभ्यः-तिकादिसे किञ् प्रत्यय हो, अत्यर्थ अर्थमें । वृद्धिर्यस्याच्चा-वित्त 'यञ्' समुदायके अन्के मध्यमें आदि (अच्) को वृद्धि हो, उस समुदायको वृद्धता हो । उदीर्णां—गोत्रसे भिन्न वृद्धसञ्ज्ञक प्रतिपदिकसे अत्यर्थ अर्थमें किञ् प्रत्यय हो, उदीर्ण आचार्यके मते । प्राचाम्—वृद्ध सचकते भिन्न प्रतिपदिकसे अत्यर्थ अर्थमें बहुल प्रकारसे किञ् प्रत्यय हो, प्राचीन आचार्यके मते । जनपद—जनपद (देश) वाचक 'जनपद' शब्दके समान जो क्षत्रियवाचक शब्द, अन्ते अञ् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । ('पप्राठ्' देशक तथा राजाश भी नाम है)

क्षत्रियसमान—क्षत्रिय-समान वाचक जो जनपद शब्द, अन्के अर्थमें अत्यर्थ

शब्दाजनपदाद्यस्य राजन्यपर्यवद्) । पयान्नां राजा पाथलः ॥ (पुरोरण्
 वक्तव्यः) । पौरवः । इन्द्रमगधकलिङ्गसुरमसादण् । ४।१।१७०। इयच् ।
 आङ्गः । नाङ्गः । नागधः । (पाण्डोर्धण्) पाण्डवः ॥ वृद्धेस्त्वोसलाजाश्चव्यर्त्
 । ४।१।१७१। वृद्धात्, -आन्वत्यः । इत्, -आन्त्यः । कौसल्यः । अजापत्यापत्याम्
 अजावः । कुब्जनादिभ्यो ष्यः । ४।१।१७२। कौरव्यः । नैपथ्यः ॥ ते तद्गावः
 । ४।१।१७३। अजादवस्तद्गावसंज्ञाः स्युः ॥ तद्गावश्च बहुषु तेनैवास्त्रियाम् ।
 २।४।६२। बहुष्वर्थेषु तद्गावस्य लुक् तल्लते, बहुषु, न तु द्वियाम् । पथला
 इत्यादि ॥ कम्बोजाल्लुक् । ४।१।१७४। तद्गावस्य । कम्बोजः । कम्बोजौ । (कम्बो-
 जादिभ्य इति वक्तव्यम्) । चोलः । शकः । केरलः । यवनः ॥ अणिवोर-
 नार्जचोर्गुरुपोरुसयोः ष्यल् गोत्रे । ४।१।७८। ज्यादीनामन्त्यमुत्तमं, तस्य

राजदन्तिः । इयन्मगधकलिङ्ग । ण्योऽपवाद इति । 'जनपदशब्दा' इति विश्वित्स्याचोऽपवाद
 इत्यर्थः । दगधिति । तद्गावियते इति शेषः । अङ्ग वङ्ग सुभ्र हृद्येते हृद्यवः ऐताद्विभ्य
 वाचिनः । अङ्गस्यापत्यमिति विग्रहः । पाण्डोर्धणिति । वान्य इति शेषः । इह श्वेत-
 गुणयाचिनो युधिष्ठिरपितृवाचिनश्च पाण्डोर्न ग्रहणम् । अगपदादित्युक्तेः, तस्य च
 पाण्डुदेवादिपतिराजत्वाभावात् । पाण्डव इति । पाण्डोरपत्यं पाण्डुदेवास्य राज्ञ
 देवार्ज्यः । वृद्धेस्त्वोसलाजाश्चव्यर्त् । जनपदरत्रियोभयवाक्यात्, नृसर्वत्रयात्, इदन्त्यात्
 कोसलात्, अजादात्तापत्ये व्यस्तिसर्गः । वृद्धादिति । तद्गावियते इत्यर्थः । आन्वत्य
 इति । आम्बष्ठान्त्वः अगपदरत्रियोभयवाक्यात् । -वस्य समीपमुपोरवमिति ।
 साम्रीप्येऽण्यपीभाव इति शब्दः । गुरु उपोत्तमद्-उत्तमसमीपवर्ति पयोरिति विग्रहः ।
 प्रातिपद्विज्ञाद्विषयविभक्तं षड्विचचनेन विपरिणम्यते । उपोत्तमगुरुवर्णकयोः प्रातिप-

प्रत्यय हो । पुरोरण्—पुर शब्दसे अण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । इन्द्रमगध—जनपद
 और क्षत्रियवाचो द्रगन्क और मगधादिसे अपत्य अर्थमें अण् प्रत्यय हो ।

पाण्डोर्धण्—पाण्डुसे ढगण् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । वृद्धेस्त्वो—जनपद और
 क्षत्रियवाचो वृद्धादि शब्दसे व्यल् प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें । कुब्जनादिभ्यो—जनपद और
 क्षत्रियवाचो कुब्ज शब्द तथा नजारादि शब्दोंसे ष्य प्रत्यय हो, अपत्य अर्थमें ।

ते तद्गावः—जनपदशब्दात् क्षत्रियादभ् इत्यादि सूत्रोंसे विश्वित् जयादि प्रत्ययवाची उद्गाव
 संज्ञा हो । तद्गावस्य—बहुत्व अर्थमें तद्गावसंज्ञा प्रत्ययवाची स्त्रीलिङ्गसे विभक्तं लुक् हो, यदि
 तद्गाव प्रत्ययार्थं कृत एहस्य रहे । कम्बोजा—कम्बोजसे पर तद्गावसंज्ञात् प्रत्ययवाची लुक् हो ।

कम्बोजादिभ्यः—पूर्वात् सूत्रमें कम्बोजादिसे पर तद्गावसंज्ञात्प्रत्ययवाची लुक् हो—पेक्षा
 कृद्ना चादिये । अणिवो—गोत्र में विश्वित् चो जनार्थ अण् और ह्य्, उदन्त चो गुरुपोरुस

समीपमुपोत्तमम् । गोत्रे यावन्निजौ विदितादनाद्यौ सप्तम्योर्गुणोत्तमयो प्रातिप-
 दिभ्यो द्वियां प्यनदेशः । 'यच्छाप्' कुमुदगन्धेर्गोत्रापत्यं स्त्री-कौमुदगन्ध्या ।
 वाराद्या । अनार्ययोः किम् ? चासिष्टी । गुणोत्तमयोः किम् ? औपगवी । गोत्रे
 किम् ? चासिष्ट्यत्रे जाता-आदिच्छत्री ॥ इत्यपत्याधिकारप्रकरणम् ।

अथ रक्ताद्यर्थकप्रकरणम्

तेन रक्तं रागात् । १४।२।१। क्वाजेण रक्तं यत्नं-काषायम् । मासिष्ठम् । रागा
 किम् ? देवदत्तेन रक्तं वधम् ॥ लाक्षारोचनाट्टकम् । १४।२।२। लाक्षिक । रौच

दिकयोरिति लभ्यते । 'अग्निञीः' इत्यनेन प्रायश्चर्यहणपरिभाषया अग्निञन्तयोर्मह
 णम् । गोत्रे इत्येतत् अग्निञोरन्वति । अत्रेददिद्विः श्रमाद्यौ । हृदमपि अग्निञीर्दिनेष
 णम् । द्विमासिपथिद्वृतम् । तदाह—गोत्रे काश्चिन्नादित्यादिना । आदेश इति ।
 स्थानच्छीनिर्देशनादादेनाल्लाम । कुमुदगन्धेरेति । कुमुदगन्ध इव गन्धो यथेति
 विग्रहः । 'सप्तम्युपमानपूर्वपदस्य बहुव्रीहिस्यः उत्तरपदलोपश्च' इति बहुव्रीहिः,
 पूर्वशब्दे उत्तरपदस्य गन्धशब्दस्य लोपश्च । 'उपनानाद्य' इति इत्यम् । कुमुदग
 न्धेरपत्यं स्त्रीति विग्रहे अण् 'यस्येति च' इति इकारलोपः । आदिवृद्धिः, कौमुद
 गन्धशब्दः, तत्र अकाराद्यणोऽकार उत्तम, तत्तमीपती गुणः शकारादकार, 'मयोरी
 गुण' इत्युक्तेः । पर्यं च गुणोत्तम प्रातिपदिक 'कौमुदगन्धोत्तमन्तं, तद्वयवस्य अणः
 प्यनदेशे 'यच्छाप्' इति चादि कौमुदगन्ध्यास्यत् इत्यर्थः । इत्यन्तस्योदाहरति—
 वाराद्येति । वारादस्यापत्यं स्त्रीति विग्रहः, अत्र इत् । अकारलोपः । वारादिस्यत् । तत्र
 इकार उत्तमः । रैकावाकार उत्तमसमीपवर्ती गुणः । इमा इकारस्य प्यनदेशे चाविति
 मायः । चासिष्टीति । अन्त्यणन्ताः । औपगवीति । अणन्तत्वेऽदि गुणोत्तमत्वाभावात्
 च्छ्रुत् । आदिच्छत्रीति । जातार्थं अणय, न तु गोत्र इति च प्यत् ।

इत्यपत्याधिकारः ॥

लाक्षारोचनाट्टकम् । अणोऽपवाद् । लाक्षिक इति । पट इति शेषः । लाक्षया रक्त
 इति विग्रहः । रौचनिक इति । रोचनया रक्त इति विग्रहः । लाक्षिक इति । लाक्षत्
 प्रातिपदिक एतन्नो प्यत् नदेशे हो, स्त्रीलिङ्गने ।

इत्यन्तर 'इन्दुवती' वीकामे अरतदधिकार समाप्त इत्यम् ।

शेष रक्तं—रात्र (रक्त) वाचक स्त्रीमानसे अण् प्रात्यय हो, 'रक्त' कर्मने ।
 लाक्षारोचना—लागनाचक स्त्रीमानसे काया और रोचना अन्तसे ट्टक प्रात्यय हो,

निकः ॥ (शकलकर्ममाभ्यामुपसंख्यानम्) । शाकलिकः । कार्दमिकः ॥
 (नील्या अन्) । नील्या रक्तं नीलम् ॥ (पीतात्मन्) पीतकम् ॥
 (हरिद्रामहारजनाभ्यामन्) । हरिद्रम् । महारजनम् ॥ नक्षत्रेण युक्तः
 कालः । १२।३। (तिष्यपुण्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्) । पुष्येण
 युक्तं-पौषमहः ॥ लुबत्रिशये । १२।४। इदं विहितस्य लुप् पट्टिदण्डात्मकस्य
 कालत्यागान्तरविशेषश्चेत् गन्थते । अथ पुष्यः ॥ दृष्टं साम । १२।७। तेनेत्येव ।
 दृष्टिश्च दृष्टं-वासिष्ठं साम । वामदेवाद्दृष्ट्यद्दृष्ट्यौ । १२।९। वामदेवेन दृष्टं साम-

रागद्वयविशेषः । शाकलिक इति । शकलेन रक्तः इति विशदः । कार्दमिक इति ।
 कर्ममेव रक्त इति निग्रहः । नील्या अनिति । वक्ष्य इति दोषः । णोऽपवाहः ।
 नीली श्लेषविशेषः । पीतात्मनिति । णोऽपवाहः । पीतं हरितालकादिद्रव्यम् ।
 हरिद्रामेति । णोऽपवाहः । स्वरे विशेषः । हरिद्रा प्रतिज्ञा, महारजनं नाम रागद्व-
 यविशेषः । पौषमहः । पुष्येण युक्तं पौषम् इत्यत्र 'नक्षत्रेण युक्तः कालः'
 इत्यणि, सुपो लुकि, 'पुष्य अ' दृष्टि जाते, 'यचि नम्' इति भावे 'यस्येति च'
 इति अकारलोपे, 'तिष्यपुण्ययोर्नक्षत्राणि यलोप इति वाच्यम्' इति वार्ति-
 केन यलोपे, संयोगे, आण्यो वृद्धौ, विभक्तिद्वये च तस्मिन् । अथ पुष्य
 इति । अद्येत्यभ्ययम्, अहोरात्रवाचि नञिकरणशक्तिप्रदानम् । इह तु अलि-
 करणसिद्धिबिम्बित्तुः अहोरात्रः काञ्चो विवक्षितः । तथा च अयमहोरात्रः पुष्ययुक्त-
 ममहापुष्प इत्यर्थः । अहर्वा रात्रिर्वति विशेषानवगमाद्गो लुप् । वामदेवाद्दृष्ट्यद्दृष्ट्यौ ।
 वृत्तीयान्ताद् वामदेवशब्दात् दृष्टमिदं च्यत्, स्य एतौ प्रापदौ इवावां दृष्टं साम चेदि-
 त्यर्थः । वामदेव्यम् । वामदेवशब्दात् प्रकृतसूत्रेण च्यत् दृष्टमोर्लोपः, द्विवाहिलोपः ।

'रक्त' अर्थमें । शकलकर्म-शकल और कर्म शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

नील्या अन्--वृत्तीयान्तर 'नीली' शब्दसे अन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें ।

पीतात्मन्--पीत शब्दसे क् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । हरिद्रा--हरिद्रा और महा-
 रजन शब्दसे अन् प्रत्यय हो, रक्त अर्थमें । नक्षत्रेण युक्तः--नक्षत्रविशेषयुक्त चन्द्रवाचक
 वृत्तीयान्तर पुष्यादि शब्दांसे युक्त अर्थमें यान्निहित अगादि प्राग्दोष्यतीय प्रत्यय हो, जो
 युक्त हो वह यदि काल रहे तो । तिष्यपुण्य--तिष्य और पुण्यके वकारका लोप हो, नक्षत्र
 संबन्धी अणुके परे । लुबत्रिशये--'नक्षत्रेण युक्तः कालः' इससे विहित प्रत्ययका लुप् हो,
 यदि पट्टिदण्डात्मक (२४ घंटा) कालका कोई अवान्तर (काळ) विशेष गन्धमान नहीं
 होता रहे । दृष्टं साम--वृत्तीयान्तसे दृष्ट अर्थमें अगादि प्राग्दोष्यतीय प्रत्यय हो, जो दृष्ट
 है वह यदि साम रहे तो ।

वामदेवा--वामदेव शब्दसे च्यत् और द्य प्रत्यय हो, दृष्ट साम अर्थ में ।

वामदेव्यम् । परिष्कृतो रथः । ४।२।१०। वक्षे परिष्कृत-वाञ्चो रथः ॥ तत्रोवृष्ट-
 तममन्त्रेभ्यः । ४।२।१४। शरावे उद्धृत-शाराय ओदन ॥ संस्कृतं मन्त्राः ।
 ४।२।१६। सप्तम्यन्तादण् स्यात्संस्कृतेऽर्थे यत्संस्कृत मन्त्राश्चेते स्युः । 'घ्राष्ट्रे मं-
 स्त्रता-घ्राष्ट्रा यथा ॥ शुद्धोष्णाद्यत् ४।२।१७। अणोऽपवादः । श्लेले संस्कृत-
 श्लर्त्य माधम् ॥ वक्ष्यम् ॥ दध्नष्टक् ४।२।१८। दधि संस्कृत-दाधिकम् ॥ साऽ-
 स्मिन्पौर्णमासीति ४।२।२१। 'इति' शब्दान् 'सहायाम्' इति लभ्यते । पौषी
 पौर्णमासी अस्मिन्-पौषो माघ ॥ साऽस्य देवता ४।२।२२। इन्द्रो देवताऽस्येति-
 ऐन्द्रं हविः । पाशुपतम् । भार्हस्पत्यम् । राज्यमान्द्रव्ये उद्देश्यविशेषो देवता, मनास्तु-
 त्या च । ऐन्द्रो मन्त्रः ॥ अस्येत् ४।२।२५। कृशब्दस्य इपादेशः स्यात्प्रत्ययसंनि-
 योगेन । यस्येति षोपात्परत्वादादिषुद्धिः । को ब्रह्मा देवताऽस्य काय हविः । श्रीदेवताऽस्य-
 धामम् ॥ शुक्राद् घञ् ४।२।२६। शुक्रियम् ॥ सोमाद्दृथण् ४।२।२७। सोम्यम् ॥

श्लोकाद्यत् । समाहारद्वन्द्वान्पापञ्चमी । तत्रेति संस्कृत मया इति चाबुवर्तते । सप्तम्यन्ता
 दण्डस्यामुखाद्यन्त्रात् 'संस्कृत मन्त्रा' इत्यर्थे यत् स्यादित्यर्थः । दध्नष्टक् । सप्तम्य
 न्ताद्विष्णोश्चात् 'संस्कृत मन्त्रा' इत्यर्थे ठक् स्यादित्यर्थः । अणोऽपवादः । दाधिकमिति ।
 अकि इपादेशे 'यश्चेति च' इति हकारलोपः । इह दधि अषिकरणे मन्त्रारो लज्जा
 विना भवति । साऽस्मिन्पौर्णमासीति । तत्र इति संस्कृतं मन्त्रा इति च विपुलम् ।
 सा पौर्णमासी अस्मिन्-पौषे प्रथमान्तात्प्र-पष' समादित्यर्थः । इति शब्दादिति । दृक्च
 लभ्यो स्थितम् । पौषीति । प्रथमेण युक्त्य पौषी पौर्णमासी, सा अस्मिन् मासे च पौषे
 शक्यः । पौषीशब्दादिति 'यस्येति च' इति ईकारलोपः । एव मन्त्राभिर्युक्त
 पौर्णमासी मासी अस्मिन् स माघो मासाः । तथा फारगुण इपादि ।
 करदेव । 'साऽस्य देवता' इति त्रिभिन्ने कृशब्दाद्घञ् प्रथमे परे तामसियोगेन प्रकृतेरि

परिष्कृतो-वृषीवाचसे परिष्कृत अर्थमे प्राग्दोष्यतोय अणादि प्राथम्य हो, को परिष्कृत हे वद यदि
 एव रहे तो । सप्तोद्धृत-पाषण्वाचो सप्तम्यन्तसे यथाभिहित अणादि प्रथम्य हो उद्धृत अर्थमे ।
 संस्कृत मन्त्रा-सप्तम्यन्तसे अण् प्रत्यय हो, संस्कृत अर्थमे, को संस्कृत हो वद यदि 'मन्त्र'
 रहे तो । शुद्धोष्णाद्यत्-सप्तम्यन्त शुद्धादि शब्दोसे यत् प्राथम्य हो, 'संस्कृत मन्त्रा'
 हो वद यदि मन्त्र रहे तो । दध्नष्टक्-सप्तम्यन्त दधि शब्दसे ठक् प्रत्यय हो, 'संस्कृत मन्त्र'
 इति अर्थमे । साऽस्मिन्-अस्मिन् अर्थात् सप्तम्यन्तसे पौर्णमासीवाचक प्रथमान्तसे अणादि
 प्राथम्य हो, सप्तम्ये । साऽस्य-देवता-अस्य' षष्ठ्यर्थमे देवतावाचक प्रथमान्तसे अणादि
 प्राथम्य हो । सस्येत्-'स' इत्यर्थे इकारादेश हो, प्राथम्यसे सवियोगमे । शुक्राद्घञ्-'अस्य'
 अर्थमे देवतावाचक प्रथमान्त इत्यर्थसे घञ् प्रत्यय हो । सोमाद्दृथण्-'अस्य' अर्थमे

चाञ्चुहृपिचुपसो यत् । १।२।२१। वायव्यम् । ऋतव्यम् ॥ रीङ् ऋः ।
 ७।१।२७। अह्नयकारेऽर्वावधातुकाकारे च्वाँ व परे ऋदन्तादांस्य रीणदेशः ।
 'यस्येति व' । विष्यम् । उपस्वम् ॥ चापापृथिवीशुनासीरमस्त्वङ्नीषोम-
 वास्तोष्पतिगृहमेधाञ्छ च । १।२।२२। चावत् । चावापृथिवीयम्, चापापृथि-
 च्यम् । शुनासीरीयम्, शुनासीर्यम् ॥ अग्नेर्दक् ॥ १।२।२३। अग्नेर्दक् स्यात्
 ताडस्य देवतेत्यर्थे । आग्नेयम् । महाराजप्रोष्ठपदाङ् ॥ १।२।२५। माहा-
 राजिकम् । प्रौष्ठपदिकम् ॥ देवताहन्दे च । ७।३।२१। अत्र पूर्वोत्तरपदयोराचक्षौ
 वृद्धिर्निति णिति किति च । आग्निमासुतम् ॥ नेन्द्रस्य परस्य । ७।३।२२। सौमेन्द्रः ।

कारोऽन्तादेश इत्यर्थः । तथा च कण्वदादिणि प्रकृतेरितारे अन्तादेशे वृद्धौ आमादेशो
 धावमिति सिद्धम् । चापापृथिवी । चापापृथिवी, शुनासीर, अस्त्वत्, अग्नीषोम, वा-
 स्तोष्पति, गृहमेध, पदेभ्यः ह्यो यत् स्यादित्यर्थः । अणः पर्युत्तरपदाण्यस्य चापवादः ।
 चापापृथिवीयम् । चापापृथिवी देवता अस्येति विग्रहः । शुनासीरीयमिति ।
 शुनो-वायुः, सीरः-आदित्यः, शुनस्य सीरस्य शुनासीरौ । 'देवताहन्दे च' इत्या-
 न्तम् । शुनासीरावस्तु स्त इति शुनासीरः । शुनासीरो देवता अस्येति विग्रहः ।
 महाराजप्रोष्ठपदाङ् । मादाराजिनिति । महाराजो वैश्रवणः, सः देवता अस्येति
 विग्रहः प्रौष्ठपदिकमिति । प्रोष्ठपदो देवता अस्येति विग्रहः । देवताहन्दे च । 'हृल्लो-
 वृद्धिः' इत्यतो वृद्धिरित्यनुवर्तते । 'अचो णिति' इत्यतः । 'णिगीति' 'किति च'
 इति सूत्रं चानुवर्तते । 'तच्छिष्येष्टानाद्यैः' इत्यतः अन्तादेशेरिति 'हृङ्गसिन्धुदन्ते
 पूर्वपदस्येति' 'उत्तरपदस्य च' इति सूत्रं चानुवर्तते । तदाह—अत्रेयादिना । आग्नि-
 मासुतमिति । अग्निना अद्यञ्च धरणात्ततो 'देवताहन्दे च' इत्यानञ् । अग्नामस्तौ
 देवता अस्य आग्निमासुतम् । अग्नि अनेन सम्यपदादिवृद्धिः । अङ्गौष्ठिके विग्रहवाक्ये
 यत्रच आनञ्चं चापिवा 'हृद्वृद्धौ' इति ह्यस्यम् । नेन्द्रस्य परस्येति । 'देवताहन्दे च'
 इत्युक्ता अस्त्वत्पदवृद्धिः, उत्तरपदस्य हन्वराब्दस्य नेन्द्र्यः । सौमेन्द्र इति । अरुति

देवतावाचकं सोम शब्दसे टयण् प्रत्यय हो । चाञ्चुहृत्—'अस्य' धर्ममे देवतावाचक प्रथमान्त
 वायु आदि शब्दसे यत्प्रत्यय हो । रीङ्प्रत्ययः—ऋदन्त अंगको रीङ् आदेश हो, वृद्धि
 यकार और असावंधातुक यकारके परे तथा च्चि प्रत्ययके परे । चावापृथि—'अस्य' धर्ममे
 देवतावाचक प्रथमान्त चावापृथिवा आदि शब्दसे 'छ' और 'यत्' प्रत्यय हो । अग्नेर्दक्—
 'अस्य' धर्ममे देवतावाचक प्रथमान्त अग्नि शब्दसे दक् प्रत्यय हो । महाराज—'अस्य'
 धर्ममे देवतावाचक प्रथमान्त महाराज और प्रौष्ठपद शब्दसे ठप् प्रत्यय हो । देवता—
 देवता और हन्व धर्ममे पूर्वपद तथा उत्तर पदके आदि अन्तयो वृद्धि हो, 'णिन्, णिच और
 किति के परे । नेन्द्रस्य—परपदस्य हन्व शब्दको वृद्धि नहीं हो ।

परस्य किम् ? ऐन्द्राग्न ॥ दीर्घाच्च धरुणस्य । ७।३।२३। न वृद्धिः । ऐन्द्रावर्ध-
 कम् । दीर्घाच्चिम् ? आग्निवारुणीमनज्वाहीमालभेत ॥ पितृव्यमातुलमातामहपि
 तामहा । ४।२।३६ । एते निपात्यन्ते । पितुर्भ्राता-पितृव्य । मातुर्भ्राता-मातुल ।
 मातुः पिता-मातामह । पितुः पिता-पितामह । तस्य समूहः । ४।२।३७। काफानां
 समूह-काक्म् । बकानां समूह-बाक्म् । भिक्षादिभ्योऽण् । ४।२।३८। भैक्षम् ।
 गर्मिणीनां समूहो गर्मिणम् । इह भस्पादे इति पुवङ्गाने ऋते ॥ इनप्यनपत्ये
 । ६।४।१६४। अनपत्यार्थेऽणि इत् प्रकृत्या । तेन नस्तदिते इति टिलोपो न । युव
 तीनां समूह-यौवनम् ॥ गोत्रोक्षोष्टोरभ्रराजराजन्यराजपुत्रवत्समनुष्याजा-
 वृषुष् । ४।२।३९। ग्लुबुकायनीनां समूह-ग्लौबुकायनकम् । औक्षकमित्यादि । 'आप
 त्यस्य च' इति ग्लोपे प्राप्ते (प्रकृत्याऽकं । राजन्यमनुष्ययुवानः) । राजन्य-
 कम् । मातृव्यकम् । (वृद्धाच्चेति घक्तव्यम्) । वार्धकम् ॥ केदारायञ्च ।

शेषः । ऐतिह्ये—'स्त्रीभेदं श्यामाक चकम्' इति ज्ञान्दमम् । दीर्घाच्च धरुणस्य ।
 ऐन्द्रावर्धकमिति । इन्द्रवदगी देवता अस्तेति चित्रे इन्द्रः । आनङ् । इन्द्रावर्ध
 कम् । इन्द्रावर्धकम् । आग्निवारुणमिति । 'शुद्धदौ'
 ह्यप्यग्नेशानञ् वाधिस्या इत्ये कृते दीर्घात्परवाभावाच्चिपेष्वाभावे सति 'देवताइन्द्रे
 च' इत्युभयपदवृद्धिरिति भावः । गर्मिणम् । गर्मिणीनां समूहः । 'गार्मिणम्' इत्यत्र
 'भ्यो इक्' इति लुक् प्राप्ते च प्रवाच्य 'भिद्यादिभ्योऽण्' इत्यणि सुपो लुक्,
 भर्त्से, भर्त्सात् 'भस्पादे तदिते' इति पुवङ्गावे कृते 'गर्मिण् अ' इति ज्ञाते 'नस्त
 दिते' इति नाग्वटिछोपे प्राप्ते 'इनप्यनपत्ये' । ह्यपि इत् प्रकृतिभावे वृद्धौ विभ
 क्तिकाये च कृते तसिद्धिः । गोत्रोक्षोष्टो । गोत्र, उच्यन्, उष्ट्र, उरज, राजन्, राजन्य,
 राजपुत्र, वारस, मनुष्य, अज् पतेभ्यः इत्यर्थः । 'प्रकृत्याऽकं राजन्यमनुष्ययुवान' इति ।
 अके परे राजन्य, मनुष्य, युवन् एते प्रकृत्या इत्युपि चकृत्यनिरापर्यः । केदारायञ्च ।

दीर्घाच्च—दीर्घे पर वरुण शब्दको दीर्घ नहीं हो । पितृव्य—पितृव्य, मातुल,
 यातामह और पितामह शब्द निपातन हो ।

तस्य समूह—समूह अर्थमें यथाविहित प्राग्दीव्यतीव अणादि प्रत्यय हो । भिक्षा
 दिभ्यो—निष्ठादिसे गन्द् अर्थमें अण् प्रायस हो । इनप्यनपत्ये—अनपत्यार्थ अण्
 प्रत्ययके परे 'इत्' प्रकृतिवत् रहे । गोत्रोक्षो—गोत्र प्रत्ययान्त और लक्ष आदिसे गन्द्
 अर्थमें सुम् प्रत्यय हो ।

प्रकृत्या—(इभ्यस्त्वानिक) 'अक' के परे राधन्वादि प्रकृतिवत् रहे ।

वृद्धाच्चा—इत् शब्दसे समूह अर्थमें वृष् प्रत्यय हो । केदारा—केदार शब्दसे

।४।२।४०। चाद् युञ् । कैदार्यम्, कैदारकम् । (गणिकाया यञिति वक्तव्यम्) ।
 गणिक्यम् ॥ ठञ् कवचिनश्च ।४।२।४१। चाकैदारादपि । कवचिनां समूहः
 कावचिकम् । कैदारिकम् ॥ ग्रामजनयन्बुभ्यस्तत् ।४।२।४३। ग्रामता । जनता ।
 यन्बुता । तलन्तं त्रियाम् ॥ (गजसहायाभ्यां चैति वक्तव्यम्) । ॥ जना ।
 सहायता ॥ (अह्नः खः क्रतौ) । अहीनः क्वुरित्यर्थः । अचित्तद्वस्तित्येनो-
 ष्टक् ।४।२।४७। इत्सुसुक्तान्तात्कः ।७।३।५१। इत् उष् वृत् त एतदन्तात्परस्य
 ठस्य कः । साक्त्रुकम् । हास्तिकम् । वैसुकम् ॥ केशाभ्याभ्यां यञ्छावन्वतर-
 स्याम् ।४।२।४८। पत्ने टगणौ । कैश्यम्, कैशिकम् । श्चदीयम्, श्चाद्यम् ।
 पाशादिभ्यो यः ।४।२।४९। पारया । तुण्या । धूम्या । वन्या । यात्या ॥ खल्लो-

कैदार्यम्-कैदारकमिति । कैदाराणां समूह इति विग्रहः । गणिकाया यञ् । यञ् प्रह-
 णाद् युञो भिङ्गुपि । गणिक्यमिति । गणिकानां समूह इति विग्रहः । ठञ् कवचि-
 नश्च । कैदारादपि । कवचिन्वाद्यात् कैदारवाद्याश्च समूहे ठञ् स्यादित्यर्थः ।
 कावचिकमिति । ऊरु हृग्देशः टिलोपः । अहीनः । अह्नः समूहः 'वाहीनः' इत्यत्र
 'अह्नः खः क्रतौ' इति श्ले, सुपो लुकि, 'अहन् ख' इति जाते 'आयनेदीनीयियः
 फल्लश्चर्वा प्रथयादीनाम्' इति खरय-ईनादेशे 'अहन् ईन् छ' इति जाते भवे,
 'नस्तद्धिते' इति टिलोपे, संयोगे विलक्किकार्ये च कृते 'अहीनः' इति रूपम् ।
 केशाभ्याभ्याम् । समूह इत्येव । केशाद्यञ् वा सञ्चन्द्रो वैश्वर्थ्यः । पक्षे इति । केशा-
 द्यभवात् 'अचित्त' इति ठक् । अघात् ह्यःभावे अणित्यर्थः । कैश्यम्, कैशिकमिति ।
 केशानां समूह इति विग्रहः । क्रमेण ऋण्ठञौ । अशीयम्, शाश्वमिति । क्रमेण
 ट्गणौ । पाशादिभ्यो यः । समूह इत्येव । पारयत्वादि । पाशानां तुण्यानां धूम्यानां

यञ् प्रथय और चक्रादाव् युञ् प्रथय को हो । गणिकाया—गणिका शब्दसे समूह अर्थमें
 यञ् प्रथय हो । ठञ्—कवचिन् शब्द और कैदार शब्दसे समूह अर्थमें ठञ् प्रथय हो ।
 ग्रामजन—ग्राम, जन और यन्बु शब्दसे समूह अर्थमें तत् प्रथय हो ।

तलन्त—तलन्तशब्द खोलिगमें हो ।

गजसहाया—गज और सहाय शब्दसे भी समूह अर्थमें तत् प्रथय हो—येडा कदना
 चाहिये । अह्नः खः—कृत् अर्थ से अहन् शब्दसे ख प्रथय हो । अचित्त—अचित्त (सप्राणी)
 वाचक शब्द, इति शब्दसे और धेनु शब्दसे ठक् प्रथय हो सन्शर्ममें । इत्सुसु—इतन्त,
 तसन्त, उगन्त और तान्तसे पर 'ठ' को 'क' आदेश हो । केशाभ्या—समूह अर्थमें केश
 शब्दसे 'यम्' और अथ शब्दसे 'छ' प्रथय हो, दिङ्प्रप । विद्वद्वदे-पद्यमें कृते ठक् और
 अण् भी हो । पाशादिभ्यो—य.शादिसे 'य' प्रथय हो, समूह अर्थमें । खल्लो—खल, गो

रधात् । ४।२।५०। खल्या । गव्या । रघ्या ॥ इनित्रकटश्च । ४।२।५१। खला-
 दिभ्य क्मात्स्यु । खलिनी । गोत्रा । रयकट्या ॥ (खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः) ।
 ङकिनी । कुटुम्बिनी । आकृतिगणोऽयम् ॥ तदस्यां प्रहरणमिति क्रीडायां ङः
 । ४।२।५७। दण्ड- प्रहरणमस्या क्रीडाया-दाण्डा । मौष्टा ॥ घञः साऽस्यां क्रियेति
 ङः । ४।२।५७। घञन्तात् क्रियावाचिन प्रथमान्तादस्यामित्यर्थे स्त्रीन्विने ञप्रत्यय ॥
 श्येनतिलस्य पाते ञे । ६।३।७१। श्नयोर्मुम् स्यात् ञप्रत्यये पर पातशब्दे उत्तर-
 पदे । श्येनपाता गृग्या । तैलपाता स्वधा । श्येनतिलस्य किम् । दण्डपातोऽस्या

घञानां पातानां च समूह इति विग्रहः । स्त्रीत्वम् लोकात् । धृगोत्थात् । समूह
 इत्येव । खल, गो, रय पृथगे य स्यादित्यर्थः । खला गव्या रघ्येति । खलानां गवां रघ्यानां
 समूह इति विग्रहः । यद्यपि पाशादिष्वेव एषां पाठो युक्तस्तथापि उत्तरसूत्रे
 पृथग्वानुपपत्त्यर्थं प्रथमं पाठः । इतित्रकट्यवधः । स्युरिति । इनित्र कट्यच् पठे स्यु
 रित्यर्थः । खलिनीति । खलानां समूह इति विग्रहः । इनिप्रत्यये नकारादिकार
 उच्चारणार्थः । स्त्रीत्व लोकात् । नान्तरवान्छोप् । गोत्रेति । गवां समूह इति विग्रहः ।
 गोशब्दात् ञः । स्त्रीत्व लोकात्, टाप् । रयकट्येति । रघ्यानां समूह इति विग्रहः ।
 कट्यक् ककारस्य नैश्वम्, अतश्चित् ह्ययुक्त । स्त्रीत्वात् । खलादिभ्य इनिर्वक्तव्य
 इति । 'इनित्रकट्यावध' इति सूत्रे इनिग्रहणमकृत्वा 'गोरधात्रकट्यश्चौ' इत्येव सूत्रं कृत्वा
 खलादिभ्य इनिः इति पृथक्करणं प्रमित्यर्थं । तदस्याम् । तद् अस्यां क्रीडायां प्रहरण
 मित्यर्थे प्रथमान्तात् प्रहरणवाचकात् ञप्रत्ययः स्यात् इत्यर्थः । प्रहियते अनेन इति
 प्रहरणं आयुषम् । दाण्डेति । अग्निमु लोप स्यादिति । मोट्टेति । मुष्टिः प्रहरणमस्यां क्रीडाया
 मिति विग्रहः । घञ सास्यां । अस्यामित्यनन्तर सूगयावामित्यादि स्त्रीलिङ्ग विशेष्य
 मस्याहार्यम् । सा क्रिया अस्यां गृग्यादिक्रियायामित्यर्थे घञन्तप्रकृतिकप्रथमा
 स्ताङ्गिण्यावाचिनो ङ स्यादित्यर्थं । फलितमाह-घञन्तादित्यादिना । अत्रयोजनमनु
 पदमेव घचयते । श्येनतिलस्य पाते ञे । मुम्स्यादिति । 'अदक्षिचत्' इत्यत तदनुवृत्ते
 रिति भावः । ञप्रत्यये इति । ञप्रत्यये परे य पातशब्दः तस्मिन्नित्यर्थः ।

और रघ शब्दोंसे 'य' प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । इनित्र—खल शब्दमें इनि, गो शब्दमें ङ
 और रय शब्दमें कट्यच् प्रत्यय हो, समूह अर्थमें । खलादिभ्य—खलादि (खल-गो-
 रय) से इनि प्रत्यय हो, पैशा कइना चाहिये ।

तदस्यां—प्रहरणवाचक प्रथमान्तसे 'ण' प्रत्यय हो, 'तदस्यां प्रहरणम्' इस अर्थमें,
 जो प्रथमान्त है, यह यदि लोटा रहे तो । घञः—क्रियावाचक प्रथमान्त घञन्तसे लोकिङ्गमें
 'ण' प्रत्यय हो, 'अस्याम्' इस अर्थमें । श्येन—श्येन शब्द और तिल शब्दसे मुम्

तिथौ वर्तते-दाण्टपाता तिथिः । तदधीते तद्वेद । १४।२।५९। न यथाश्यां पदान्ताभ्यां पूर्वां तु ताभ्यामैच् । ७।३।३। पदान्ताभ्यां यकारत्तकाराभ्यां परस्याचो न वृद्धिः, किन्तु ताभ्यां पूर्वां क्रमादेचावागसौ रतः । व्याकरणमधीते वेत्ति वा-वैयाकरणः ॥ क्रमादिभ्यो जुन् । १४।२।६१। क्रमकः । पदकः । शिक्षकः । गीर्मांसकः ॥ मन्त्रार्थादिभ्यश्चान्ताद्दृक् । १४।२।६०। क्रतुविशेषवाचिनामेवेह ग्रहणम् । तेभ्यो मुह्यार्येभ्यो वेदितरि, तत्रप्रतिपादकग्रन्थदरेभ्यस्त्वच्येतरि । अग्निष्टोमिकः । वाजपेयिकः । उक्थं सामविशेषः, तद्दाणपरो ग्रन्थविशेषो लक्षणयोजनम्, तदधीते वेद वा-श्रौतियकः ॥ (मुह्यार्थाच्चूयथाल्जाड्यणौ नेष्टेते) । नैयायिकः । वार्तिकः ।

इत्येनंपातेति । पतयं पातः । आवेदुवञ् । इत्येनंपातश्चाद् अगन्ताद् । घः । यद्यपि पातशब्दो एव अन्तः तथापि इदं ग्राह्यपरिभाषया इत्येनंपातशब्दस्यापि ग्रहणं शोभ्यम् । इत्येनस्य पात इति ह्ययोगपशुषा स्यात्तः । तथा च इत्येनंपातशब्दस्यापि वृद्धिः । तैक्यता स्वयेति । स्वधाशब्दः क्लीबिः पितृभिः भाषां वर्तते, 'नमः एवमायै' इत्यादि दर्शनात् । स्वधेत्यनेन ङोटावागिति गालुवर्तते इति सूचितम्, तदस्यामिति प्रकृते पुनरस्यामिति अग्रणात् । क्रतुपदादि । 'उक्थीते तद्वेद' इत्यर्थः । क्रतु उक्थ्यादि च्प्रान्त पुन्यः उक्थ् स्वादित्यर्थः । क्रतुविशेषवाचिनामेवेति । न तु क्रतुः क्रतुइत्येवैक्यः । अन्यथा तस्यादिगण एव क्रतुनन्दमपि पठेदिति भावः । ननु क्रतुविशेषाणां कथमध्ययनम्, अक्षरग्रहणात्तत्कालाकार, इत्यत आह-तेन्य मति । अग्निष्टोमादिशब्दाः क्रतुविशेषेषु मुह्यार्याः । तत्रप्रतिपादकग्रन्थेषु तु गौणाः । तत्र क्रतुविशेषात्क्रतुमुह्यार्यैः अग्निष्टोमादिशब्देभ्यः वेदितरि प्रत्ययः । अग्निष्टोमादि-क्रतुप्रतिपादकग्रन्थेषु उच्यन्त्या विद्यमानेभ्यस्तु तेन्यः अत्येत्तरीत्यर्थः । अग्निष्टोमिक इति । अग्निष्टोमं क्रतुं वेति तत्रप्रतिपादकग्रन्थमधीते इति अर्थः । उक्थशब्दः सामस्तु मुह्यः । सामलक्षणग्रन्थे प्रातिपत्येः सु गौणः । तत्र गौणार्थकादेव उक्थशब्दात् उगित्याह-उक्थं सामविशेष इति । अग्निष्टोमस्तोत्रापरं सरस्वात्त गीचते इति वृत्तिहृद्दुर्धरेति भावः । मुह्यार्थादिति । सामवाचिनः उक्थशब्दानु न उक्थ् तस्मिन्निष्ठे 'तदधीते' इत्यण् च न भवतीत्यर्थः । उक्थमुदाहरति-नैयायिक इति ।

यागम हो 'अ' प्रत्ययके परे और 'पात' शब्द उत्तर पदके परे । तदधीते-द्वितीयान्तके 'अधीते' और 'वेद' अर्थमें अणादि प्रत्यय हों । न यथाश्यां-पदान्त गकार, वकारते पर 'अच्' हो वृद्धि नहीं हो, किन्तु यकारते पूर्व 'थि' और वकारते पूर्व 'औ' का वागम हो । क्रमादिभ्यो-क्रमादिते 'जुन्' प्रत्यय हो, अधीते और वेद अर्थमें । मन्त्रार्थादि-क्रतुविशेष-वाची शब्दोंसे वेदित्ता अर्थमें और क्रतु प्रतिपादक ग्रन्थवाची शब्दों से अत्येत्ता अर्थमें उक्थ प्रत्यय हो । मुह्यार्था-मुह्यार्थ (सामविशेष) वाची उक्थ शब्दसे उक्थ् और अण् प्रत्यय

लौकिकयतिक ॥ (सूप्रान्तात्त्रयकल्पादेभ्येऽप्यते) । सांप्रहसूत्रिक । अत्रादे
 किम् ! कापसूत्र ॥ (विद्याताज्जणकल्पान्ताच्चेति वक्तव्यम्) । वायसवि
 शिक । गौळ्शणिक । पाराशरकस्त्रिक ॥ (महादात्रघर्मत्रिपूर्वाद्द्विद्यान्ता
 चेति धक्त्वर्थम्) । आह्वविद्य । शातविद्य । धार्मविद्य । त्रिविधः विद्या
 त्रिविधा, तामसीते वेद या-त्रैविद्य ॥ रत्तार्थकप्रकरणम् ।

अथ चातुरर्थिकप्रकरणम्

तद्वस्मिन्नस्तीति देशे तन्नाम्नि ।३।२।६। उदुम्बरा सन्यस्मि-
 न्देशे-श्रौदुम्बरो देश ॥ तेन निर्वृत्तम् ।३।२।६। कुराम्भेन निर्वृत्ता-

ठकि ऐजागम । न्यायमधीते घेद वेत्त्यर्थं । वार्तिक । वृत्तिमधीते वेद वेत्त्यर्थं
 ठकि आविष्टुदौ रपरत्वम् । सांप्रहसूत्रिक इति । सप्रहाख्यं सूत्रमधीते वेत्ति वेत्त्यर्थं ।
 विद्यान्शेति । विद्या लक्षण कल्प एतदन्तादपि उक्तेऽर्थं टगित्यर्थं । अत्रेति ।
 अह, अत्र, घर्म, त्रि एतापूर्वकाद्विद्यान्तात् समासात् ठक् वेत्त्यर्थं । तत्रश्च
 अनेत् । त्रिविधा । त्रिविधा विद्या इति विग्रह, शास्त्रपायिषादित्राद्विद्याशब्दस्य'
 श्लेष इति भावः । तिस्रो विद्यास्त्रिविधा इति न विग्रह, 'त्रिकल्पे सज्ञायाम्
 इति नियमात् । भाषि तिस्रो विद्या मधीते वेद वेत्ति तद्विनार्थं द्विगु तथा सति
 तद्वित्तस्य द्विगुनिमित्ततया 'द्विगोर्लुगनणये' इति लुगापत्तेः । तिसृणां विद्यानां
 समाहार इति द्विगुरप्यत्र निर्वाच एव । रत्ताधिकार इति ।

शौदुम्बरो देश । उदुम्बराः सन्यस्यत्र देशे शौदुम्बर इत्यत्र 'तद्वस्मिन्नस्तीति देशे
 तन्नाम्नि' इत्यमि भाषे मरुताष्टोपे वृद्धौ, विमलिकायै च 'शौदुम्बरो देशः' इति ।

इष्ट नहीं है । सूत्रान्तात्—सूप्रान्तमे विहित श्लो ठक वह अक्षरादिसे है होता है ।

विद्यालक्षण—विद्यान्त, अद्यगान् और कस्ताउमे ही ठक् हो, मधीते और वेद अर्थमें ।

अत्रात्रय—अत्रादि पूर्वक विद्या उमे ठक् प्रत्यय नहीं हो ।

इमप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें रत्तावर्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।

तद्वस्मिन्नस्तीति—अस्त्युपाधिक प्रयत्नान्तमे 'अस्मिन्' अर्थमें यथाविहित अणादि
 प्रत्यय हो, यदि उम् प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो । तेन निर्वृत्तम्—श्रौदुम्बरा
 अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय हो, यदि प्रत्ययान्त नामक कोई देश हो तो ।

कौशान्धी । नगरी ॥ तस्य निवासः । १४२।६९। शिवीनां निवासी
 देशः—शैवः ॥ अदूरभवश्च । १४२।७०। विदिशाया अदूरभव-वैदिशम् ॥
 बुञ्जण्कठजिलसेनिरहवृण्यचफञ्फिअिञ्च्यककठकोऽरीहणकशाश्व-
 श्यकुमुदकाशतृणमेक्षाशमसस्त्रिर्लकाशचलपञ्जण्कठसुतंगप्रगदिन्वराह-
 कुमुदादिभ्यः । १४२।८०। एभ्यः सप्तदशभ्यः सात्तश्च कमात्त्युश्वातुरर्थ्याम् ।
 अरीहणादिभ्यो वुञ् , अरीहणेन निर्धृतम्-अरीहणकम् । कशाश्वादिभ्यश्छण्,-
 काशाश्वीयम् । ऋश्यादिभ्यः कः, ऋशयकम् । कुमुदादिभ्यश्छच्,-कुमुदिकम् ।
 काशादिभ्य इलः,-काशिलः । तृणादिभ्यः सः,-तृणसम् । प्रेक्षादिभ्य इनिः,-प्रेक्षी ।
 अश्मादिभ्यो रः,-अश्मरः । सख्यादिभ्यो ठञ्,-साखेयम् । संकाशादिभ्यो

कौशान्धी । कुशाश्वेन निर्पूर्णा 'लौघाश्वी' इत्यत्र 'तेन निर्धृतम्' इत्यणि, वृद्धौ,
 भावे अलोपे, 'कौशाश्व' इति स्त्रौ 'टिड्डाणत्' इत्याणन्तत्वाद् लोपि उपयोक्तोपे,
 भावे अलोपे 'संयोगे, विभक्तिर्लौ ए कृते 'कौशाश्वी नगरी' इति सिद्धम् । बुञ्जण् ।
 बुञ्, अण्, क, ठञ्, इल स, इनि, र, ठञ्, पय, च, अञ्, फिञ्, इञ्, ष्य, कञ्, ठक्
 एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वान् प्रथमावहुवचनम् । अरीहण, कशाश्व, ऋश्य, कुमुद, काशा,
 तृण, प्रेक्ष, अश्मन्, सस्त्रि, सप्तशत, चल, पञ्, कर्ण, सुतंगम्, प्रगदिन्, वराह, कुमुद
 एतेषां सप्तदशानां द्वन्द्वः । एते आद्यः येषामिति बहुव्रीहेः पञ्चमीवहुवचनम् । यथा-
 संख्यावगमाय कुमुदशब्दशोरेकलोपो न कृतः । प्रगदिन् शब्दे नलोपाभावस्तु इकारा-
 न्तस्यभयनिरासाय । द्वन्द्वान्ते अयमाणस्य धादिशब्दस्य अरीहणादिषु प्रत्येकमन्वयः ।
 तथा च अरीहणादिभ्यो वुञ् कशाश्वादिभ्यः छण् इत्येव सप्तदशवाक्यानि संपदानि ।
 तदाह—सप्तदशभ्य इति । अरीहणादिषु सप्तदशगणेषु च उच्चादयः प्रत्ययाः कमात्त्युश्चि-
 र्थः । चतुर्थ्यामिति । 'तदस्मिन्नस्तीति देशे तच्चास्ति । तेन निर्धृतम् । तस्य निवासः ।
 'अदूरभवश्च' इति एतुर्ध्वेषु प्रथमोपरितात्तद्व्यवधानत्वाद् वयोयोगप्रत्यया इति फलि-
 तम् । एतेषु वाक्येषु खेतजनवाचका धनैरजनवाचकाश्च सन्ति । तत्र चधानोशं चतुर्थ्याः
 अन्वयः । प्रेक्षीति । श्रेष्ठे इति प्रेक्षः तेन निर्धृतमित्यर्थः । प्रेक्षा निर्धृतमित्ये वा । पयः

तस्य निवासः—पण्यन्तसे 'निवास' अर्थमे यथाविहित ण्णादि प्रत्यय षौ, यदि
 प्रत्ययान्त क्विसी देशको संज्ञा रहे । अदूर-पण्यन्तसे 'अदूरभव' यथाविहित ण्णादि
 प्रत्यय षौ, यदि वट् प्रत्ययान्त क्विसी देशको संज्ञा रहे ।

बुञ्जण्—पूर्वाक्त चतुरर्थी (चारौ षण्णौ) में अरीहणादिसे 'बुञ्' कशाश्वदिसे छण्,
 ऋश्यादिसे क, कुमुदादिसे ठञ्, काशादिसे इल, तृणादि से स, प्रेक्षादिसे इनि, अश्मादिसे
 र, सख्यादिसे ठञ्, संकाशादिसे पय, कर्णादिसे च, पक्षादिसे फञ्, कर्णादिसे फिञ्
 कृष्णकमादिसे इञ्, प्रगदिनादिसे ष्य, वराहादिसे कञ् और कुमुदादिसे ठक् प्रत्यय षौ ।

प्य, -संकारयम् । वरणादिभ्यो य, -बल्यम् । पक्षादिभ्य फ्र्, -पाशायणः ।
 (पथ, पन्थ च) पान्थायनः । कर्णादिभ्य क्तिन्, -कर्णायनि । सुतंगमादिभ्य
 इन्, -सौतंगमि । प्रगयादिभ्यो ज्य, -प्रागयः । वराहादिभ्य कृद्, -चाराहक ।
 कुमुदादिभ्यष्ठक्, -कौमुदिक ॥ जनपदे लुप् । ४।२।८१। जनपदे वाच्ये
 चातुरधिकस्य लुप् ॥ लुपि युक्तवद्वच्यमितवचने । १।२।११। लुपि सति
 प्रकृतिवहिल्लवचने स्त । पद्यालानां निवासो-जनपद पञ्चाला । कुरयः ।
 श्रद्धा । कलिहा ॥ वरणादिभ्यश्च । ४।२।८२। अजनपदार्यं आर्यम् ।
 वरणानामदूरभय नगरं-वरणा । शर्कराया चा । ४।२।८३। अस्तान्-
 यिकस्य वा लुप्स्यात् ॥ ठक् टौ च । ४।२।८४। शर्कराया एतौ स्त । कुमुदादौ
 वराहादौ च पाठसामर्थ्यात्पचे ठक्ठकौ । वामहृणसामर्थ्यात्पचे औत्सर्गिकोऽण्,
 तस्य लुप्स्यत्स्य । ष् रूपाणि-शर्करा शार्करिकम्, शार्करम्, शर्करीयम्,
 शर्करिकम्, शार्करकम् । नद्यां मतुप् । ४।२।८५। चातुरधिक । इक्षुमती ॥ कु-
 मुदनद्वयेतसेभ्यो ङ्मतुप् । ४।२।८७। ह्यम् । ८।२।१०। मतोर्मन्थ व । कुमु-
 दान् । नद्वान् ॥ मादुपधायाश्च मतोर्घोऽयवादिभ्यः । ८।२।११। मरणायर्णा-
 न्तान्मरणावर्णोत्थाय । दिवजितात्परस्य मतोर्मन्थ व । वेतस्वान् ॥ गडसा-
 दाङ्घलच् । ४।२।८८। नद्वल । शादल । शिखाया वलच् । ४।२।८९।

पन्थ च इति । पन्थादिगणस्यमिदम् । कुमुदानिति । कुमुदा अरिमन् सन्तीति विग्रह । इम
 लुपि, द्विवात् द्विलोपः । 'कुमुदान् कुमुदपाये' इत्यमरः । नद्वानिति । नदा अरिमन्
 सन्तीति विग्रह । 'कुमुदनद्वयेतसेभ्यो ङ्मतुप्' इति ङ्मतुपि, द्विवाद्द्विलोपः । वेतस्वा
 न् । वेतसाः अरिमन् सन्ति इति विग्रह वेतसशब्दात्प्रयमात्तात् 'कुमुदनद्वयेतसेभ्यो
 ङ्मतुप्' इति ङ्मतुपि, अनुपन्धलोपे, सुब्लुकि च, 'वेतसमत्' इति रिचये, द्विवाद्द्विलोपे,
 'मादुपधायाश्च मतोर्घोऽयवादिभ्यः' इति मरथ यत्वे 'वेतस्वत्' इति जाने तस्मात्तौ

जनपदे-जनपद वाच्य हो तो चातुरधिक प्रत्ययका लुप् (लोप) हो । लुपि युक्त-लुप्
 होनेपर प्रकृतिवही तरह ही ङिग और वचन हो । वरणादिभ्य-वरणादिसे पर चातुरधिक
 प्रत्ययका लुप् हो । शर्कराया-शर्करा शब्दसे पर चातुरधिक प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पसे
 ठक्टौ च-शर्करा शब्दसे ठक् और छ प्रत्यय हो, चारो अर्थों में । नद्यां-नद्यर्थकसे
 मतुप् प्रत्यय हो, चारों अर्थों में । कुमुद-कुमुदादिसे ङ्मतुप् प्रत्यय हो चारो अर्थों में ।

ह्यम्-ह्यन्तसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो । मादुपधाया-यवादि वजिन
 मरणांत, मरणांत और मरणावर्णसे पर मतुप्के मकारको वकार आदेश हो ।

मद्वत्तादा-मद्व और दादसे द्बक्च प्रत्यय हो, चारो अर्थों में । शिखाया-शिखा

शिखावल्गुम् ॥ उत्करादिभ्यश्छः । ४।२।९०। उत्करीयः ॥ नडादीनां कुक् च । ४।२।९१। नडकीयम् ॥ (कुञ्जा ह्रस्वत्वं च) । कुञ्जायः ॥ (तक्षणलोपश्च) । तक्षणीयः ॥ इति चातुरर्थिकप्रकरणम् ।

अथ शौचिकप्रकरणम्

शेषे । ४।२।९२। अपत्यादिचतुरर्थ्यन्तादन्योऽर्थः शेषः, तत्राणादयः स्युः । चक्षुषा गृह्यते-चाक्षुषं रूपम् । श्रावणः शब्दः । श्रौपनिपदः पुरुषः । 'दृषदि पिष्टाः-दार्पदाः

उगिदृषां सर्वनामस्थाने' इति जुमि, उमि गते, मिष्वादन्यादृषा 'परे, 'ह्रस्वत्वा-ज्याः' इत्यनेन सुलोपे, 'अवसन्तस्य चाघातोः' इत्युपधादीर्वे 'लंसोर्गाभ्यस्य लोपः' इति तलोपे च कृते 'नेतस्वान्' इति रूपम् । शिखावल्गुः । शिखाऽस्यारतीभ्यश्च 'शिखा-या वल्गु' इति वल्गुचि, चलोपे, सुपो लुकि, विभक्तिकार्यं च कृते 'शिखावल्गुः' इति सिद्धम् । उत्करादिभ्यश्छः । चातुरर्थिक इति शेषः । उत्करीय इति । देवविरोधो-यम् । टाकरेण निर्वृत्तमिति वा, तस्य निवासः, तस्य अदृशभव इति वा । नडादीनां कुक्च । नडादिभ्यः छः स्याद्य चातुरर्थिकः प्रकृतेः कुक् च । कुञ्जा ह्रस्वत्वं चेति । नडा-दिगणसूत्रम् । कुञ्जाशब्दाच्छः, प्रकृतेः लुक्, आकारस्य ह्रस्वत्वम् । कुञ्जाकीय इति । कुञ्जा अस्मिन् सन्तीत्यादि विग्रहः । तक्षणलोपश्च । इदमपि गणसूत्रम् । तक्ष-णवद्वाव छः कुक्, नकारस्य लोपश्च । इति चातुरर्थिकाः ।

चाक्षुषं रूपमिति । चक्षुषा गृह्यते चाक्षुषम् इत्यत्र 'शेषे' इत्यणि, सुपो लुकि, 'तद्धितेष्वचामादेः' इत्याद्यचो वृद्धौ विभक्तिकार्यं च 'चाक्षुषञ्' इति रूपम् । श्रावणः शब्दः । अवनेन गृह्यते इति विग्रहः । अणि, 'आद्यचो वृद्धौ, अलोपे, विभक्तिकार्यं च

शब्दसे वल्गु प्रत्यय दो, चारो अर्थोमे । उत्करा-उत्करादिते छ प्रत्यय दो, चारो अर्थोमे ।

नडादीनां-नडादिते छ प्रत्यय और कुक् का धागमत्ता दो । कुञ्जा-कुञ्जा शब्दसे छ प्रत्यय दो और कुञ्जाके आकारको ह्रस्व भी दो । तक्षणलो-तक्षन् शब्दसे छ प्रत्यय और तक्षन्के नकारका लोप भी दो ।

इसप्रकार 'ह्रस्वमती' टीकामें चातुरर्थिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

शेषे-अपर्यादि चतुरर्थ्यन्त अर्थोंसे सिद्ध जो शेष (जात, भय, धागत, गृह्यते, पिष्ट आदि) अर्थ, इन अर्थोंमें तक्षण प्रकृतियोंसे पूर्वोक्त अणादि प्रत्ययोंऔर पक्ष्यमाग वादि प्रत्यय एते ।

सचव । वल्लूखले क्षुण्ण-श्रीलूखलो यावठ । अयैःस्यते-आश्वो रय । चतुर्मि-
 रयते-चातुर शश्टम् । चतुर्दश्यां दश्यते-चातुर्दश रक्ष । 'तस्य विकार' इत्यत'
 प्राक् शेषाधिकारः ॥ राधाधारपाराद् घराौ । ४।२।१३। आभ्यां घञौ स्त । राष्ट्र
 जातादि राष्ट्रिय । अवारपारीण ॥ (अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरोता
 ष्वेति वक्तव्यम्) । अवारोण । पारीण । पारावारोण । इदं प्रकृतिविशेषाद्
 घादयष्टगुद्व्युल्लता प्रत्यया उच्यन्ते, तेषा जातादयोऽर्थविशेषा समर्थविमर्कयस
 वक्ष्यन्ते ॥ ग्रामाद्यलक्ष्णौ । ४।२।१४। ग्राम्य, ग्रामीण ॥ नद्यादिव्यो ढक्
 । ४।२।१७। गादेयम् । माहेयम् । वाराणसेयम् । दक्षिणापथात्पुरस्य ष्क्
 । ४।२।१८। दक्षिणात्य । पाथात्य । पौरस्य ॥ घुप्रागपागुक्प्रत्ययो
 यत् । ४।२।१०। दिव्यम् । प्राच्यम् । अपाच्यम् । ढहीच्यम् । प्रतीच्यम् ॥
 अव्ययात्स्यप् । ४।२।१०। (अमेद्वक्तसिन्नेभ्य षट्) । अमात्य । इहत्य ।
 कत्य । ततस्य । तत्रत्य ॥ (त्यम् नेर्ध्रुव इति षाठ्यम्) नित्य ॥ (नि-
 सो गते) ह्रस्वात्तावी तद्धिते । ८।३।१०। ह्रस्वादिण सस्य पस्नादौ तद्धिते ।

तरिसिद्धि । राष्ट्रिय इति । राष्ट्र जात, राष्ट्र भव, इत्यादिरथो यथायोग बोध्यः ।
 सप्तम्यन्तात् राष्ट्रान्द्राम् घे, सुपो लुकि, 'आयनेधीनीयिग' इति घस्य इयादेशे,
 भ्राव, अलोपे, विभक्तिः कार्ये च तरिसिद्धि । अवारोण अवारो जातः 'अवारोण' इत्यत्र
 'अवारपाराद् विगृहीतादपि विपरीताच्चेति षष्ठ्ययम्' इति खे स्वस्थाने ईनादेशे
 न्तये अलोपे नस्य णत्वे विभक्तिकार्ये च तरिसिद्धि । एव पारे जात 'पारोण' इत्यत्रापि
 बोध्यम् । पारावारोण पारावारे जात 'पारावारोण' इत्यत्र विपरीतादेशे, स्वस्य
 ईनादेशे णोप पूर्ववत् । ह्रस्वात्तावी । इण्कोरित्यतः इण्प्रहणमनुवर्तते । 'सङ्घेः साङ्. स'

राधाधार—राष्ट्र शब्दसे 'घ' और अवारपार शब्दसे 'उ' प्रत्यय हो, देश
 (जागादि) अर्थमें । अवारपारा—'विगृहीत' और विपरीत अर्थात् अवार शब्दसे, पार
 शब्दसे और पारावार शब्दसे नी पूर्वोक्त 'ख' प्रत्यय हो—देश कहना चाहिये ।

ग्रामाद्यलक्ष्णौ—ग्राम शब्दसे 'य' और 'अम्' प्रत्यय हो, जागादि अर्थमें ।

नद्यादिव्यो—'चादिसे ढक् प्रत्यय हो, देश (जागादि) अर्थमें ।

दक्षिणापथात्—दक्षिणा, पथात् और पुरस् शब्दोंसे त्यक् प्रत्यय हो, जागादि अर्थमें ।

घुप्रागपा—दिव्, प्राश्, अपाश् और उदञ्च शब्दोंसे यत् प्रत्यय हो, जागादि अर्थमें ।

अव्ययात्—अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, जागादि अर्थमें । अमेद्व—अमा, इह, क, तसि,

न—इत अव्ययोंसे हो त्यप् प्रत्यय हो । त्यनेर्ध्रुव—'त्रि' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो,

गुक् अर्थमें । निसो गते—'निस' रूप अव्ययसे त्यप् प्रत्यय हो, गत अर्थमें ।

ह्रस्वात्तावी—ह्रस्व इण्मे पर घञात्को वस्य हो, तकारादि तद्धित प्रत्ययके परे ।

निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यो निष्टयः-चाण्डालादिः ॥ (अरण्याणः) । आरण्याः सुमनसः ।
 (दूरादेत्यः) दूरेत्यः ॥ (उच्चरादाहञ्) । श्रौतराहः । पेपमोहःश्वसोऽन्य-
 तरस्याम् । ४।२।१०५। एभ्यस्त्यन्वा । पक्षे वक्ष्यमाणौ टघुटयुलौ । ऐपमस्त्यम्, ऐप-
 मस्तनम् । ह्यस्त्यम्, ह्यस्तनम् । श्वस्त्यम्, श्वस्तनम् । पक्षे शौवस्तिकं वक्ष्यते ॥
 वृद्धाच्छः । ४।२।११४। शालीयः । त्वदादीनि च । १।१।७४। वृद्धसंज्ञानि स्युः । तदीयः ।
 (वा नामपेयस्य वृद्धसंज्ञा) देवदत्तोयः, देवदत्तः । भावत्कः ॥ सिति च

ह्यस्तः स इति पृष्ठधन्तमनुवर्तते । अयदान्तस्य मूर्धन्यः इति च । तदाह—हस्ता-
 दिण इति निष्टय इति । त्वपि सस्य परवे तकारस्य प्लुधेन टः । अरण्याण इति ।
 वक्ष्य इति शेषः । आरण्याः सुमनस इति । 'खियः सुमनसः पुष्पम्' इत्यमरः । अरण्या
 भवा इत्यर्थे आरण्याये टापि आरण्या इति इति रूपम् । अणि तु लोप् स्यादिति शक्यः ।
 दूरादेत्य इति । वक्ष्य इति शेषः । दूरेत्य इति । दूरादागतः, दूरे भव इति चार्थः ।
 दूरादित्यन्वात् पर्यप्रत्यये 'अभ्ययानां ममात्रे' इति टिलोपः । उच्चरादाहिति । आह्य
 इति शेषः । औचराह इति । उच्चरस्मादागतः उच्चरस्मिन् भव इति चार्थः । औचर
 इति खलाद्युः । पपमोहः । पभ्य इति । ऐपमस्, ह्यस्, श्वस् पृथेभ्य इत्यर्थः । वक्ष्यमाणा-
 विति । 'सायस्त्रिंशत्प्रोऽन्येभ्यष्टघुटयुलौ तुट् च' इत्यनेनेति शेषः । ऐपमस्त्यमि-
 ति । ऐपमस् इत्यभ्ययं वर्तमाने संवत्सरे वर्तते । तत्र भवमित्यर्थः । 'परुपरार्येपमोऽन्वे-
 पूर्वे पूर्वतरे यति । इत्यमरः । ऐपमस्तनमिति । टघुटयुलौ वा । टावितौ, उचोरनादेशः, तस्य
 मुट्, ट ह्व्, उकार उच्चारणार्थः, टिश्वादाद्यवयवः । ह्यस्त्यन् । ह्यस् इत्यभ्ययं गतेऽङ्घ्रि ।
 तत्र भवमित्यर्थः । श्वस्त्यन्-श्वस्तनमिति । श्वस् इत्यभ्ययमनागतेऽङ्घ्रि । तत्र भवमित्यर्थः ।
 'ह्यो गतेऽनागतेऽङ्घ्रि श्वः' इत्यमरः । पक्षे इति । 'श्वस्तुट् च' इति ठञि ठस्य इकादेशे
 तुकागमे 'दूरादीनां च' इत्यङ्गागमे 'शौवस्तिकम्' इत्यपि वक्ष्यमाणं रूपमित्यर्थः ।
 वृद्धाच्छः । 'वृद्धसंज्ञकात् छुः रयात् जातादिव्यर्थेषु । अणोऽपवादः । शालीय इति । आला-
 यां जात इत्यादिरर्थः । एवं तदीयः । त्वदादीनि च । शेषपूरणेन सूत्रं व्याचष्टे-वृद्धसंज्ञानि
 स्युरिति । आदेशो वृद्धिसंज्ञकत्वाभावादारम्भः । सिति च । सकारः इत् यस्य सःसित् ।

अरण्याणः—अरण्यात् 'ण' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । दूरादेत्यः—दूर शब्दसे पर्य
 प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । उच्चराद्—उच्चर शब्दसे आहञ् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।
 पेपमोहः—पेपमस्, ह्यस् और श्वस्से पर र्यप्प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें विकल्पसे ।
 वृद्धाच्छः—'वृद्ध' से छ प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । त्वदादीनि—त्वदादिको 'वृद्ध'
 संज्ञा हो । वा नाम—नामपेयको वृद्धसंज्ञा हो विकल्पसे ।
 नोटः—'भवतश्चकुलौ'—भवत् शब्दसे ठक् और छस् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।
 उदाहरण—'भावत्कः' ।

सिति च—सिद्ध प्रत्ययके परे पूर्वको पृच्छा हो ।

१।४।१६। तद्धिते पूर्वं पदं स्यात् । जश्त्वम् । भवदीय । वृद्धादित्यनुवृत्ते शनन्ताद्-
 नेव । भावत । काश्यादिभ्यश्चञ्जिठौ । ४।२।११६। इकार उच्चारणार्थः । काशिकी-
 काशिका । वैदिकी, वैदिका ॥ (आपदादिपूर्वपदात्कालान्तात्) । आपदादिराकृति-
 गणः । आपत्कालिकी । आपत्कालिका । घन्वयोपघाञ्ज् । ४।२।१२१। घन्वविशेष
 वाचिनो यकारोपघाच्च देशवाचिनो वृद्धाद् जुञ् स्यात् । ऐरावतं घन्व-ऐरावतक ।
 सांकारयकाम्पित्यशब्दौ घुञ्छणादिसूत्रेण प्यान्तौ । सांकारयक । काम्पित्यक ॥
 नगरात्कुत्सनप्राचीपययोः । ४।२।१२८। कुत्सने प्राचीप्ये च नगरशब्दाद्बुञ् स्यात् ।
 नृगरकक्षौर, शिल्पी वा । 'कुत्सन--' इति क्रिम् ? नागरा प्राङ्गणा ॥ अरण्या-
 न्मनुष्ये । ४।२।१२९। युञ् स्यात् । औपसंख्यानिरुणस्यावादः । (पठ्यध्याय-
 न्यायविहारमनुष्यहस्तिभिविति घाञ्चयम्) । आरण्यकः पन्थाः, अभ्याय,
 न्याय, विहार, मनुष्य, हस्ती वा ॥ गर्तोत्तरपदाच्छः । ४।२।१३७। देश इत्येव ।

तस्मिन् परे पूर्वं पदं स्यादित्यर्थः । काश्यादिभ्यश्चञ्जिठौ । ठञ् मिठ इति प्रापयौ इत् ।
 जिप्रत्यये जि इति 'समुदापस्थ आविर्जिद्वहव' इति इत्सञ्चार्यं प्रयोञ्जनाभावात्
 अकार एव इत् तस्य जिस्वरः प्रयोञ्जनम् । ठञ् पदं विधौ तु ङीप् स्यात् । टाप् न
 स्यात् । नन्वेव सति इठप्रत्यये ठस्य इकादेशो न स्यात् । अङ्गात् परत्वाभावादित्यत
 आह—इकार उच्चारणार्थे इति । काशिकीति । काश्यां आतादिरित्यर्थः । ठञ्मनान्ङीप् ।
 काशिकेति । जिठप्रत्यये इकादेशो टाप् । वैदिकी-वैदिकेति । वैदिद्वेषविशेषः । आप
 दादिपूर्वपदात्कालान्तादिति । गणसूत्रम् । ठञ्मिठादित्येव । आपदादिरिति । आपत् आ
 दित्यस्य इति विग्रहः । आपत्कालिकी । आपत्कालिकेति । ठञ्मि ङीप्, जिठे टाप् । घन्वो
 पघाञ्ज् । ऐरावतं वन्देति । ऐरावतात्त्वं घन्वेत्यर्थः । घन्व महप्रदेशः । 'समानौ महव-
 श्वानौ' इत्यमरः । ऐरावतक इति । ऐरावतात्त्वे महप्रदेशो भव इत्यर्थः । जुञ्, अकादेशः ।
 साङ्गाश्चक, काम्पित्यक इति । साङ्गारये काम्पित्ये च मह इत्यर्थः । नगरात्कुत्सन ।
 नागरा प्राङ्गणा इति । अभ्यायिषु साहिष्मतोसाहचर्येण सञ्जाभूतस्यैव नगरशब्दस्य
 अङ्गणम् । अतो-न इकञ् । गर्तोत्तरपदाच्छः । देशे इति । वीचपूरणम् । देशवाचि

काश्यादिभ्यः—काश्यादिषु ठञ् और मिठ प्रत्यय हो, आतात्पर्यमें । आपदादि—
 आपदादि पूर्वपदक कालान्त सुबन्तते ठञ् और मिठ प्रत्यय हो, आतादि अर्थमें ।

घन्वयोपघा—घन्व-विशेषवाची और यकारोपघ देशवाची वृद्धते जुञ् प्रत्यय हो,
 आतादि अर्थमें । नगरात्—नगर शब्दसे जुञ् प्रत्यय हो, आतादि अर्थमें—कुत्सन और
 प्राचीप्य यदि गम्यमान रहे । अरण्यान्—अरण्य शब्दसे जुञ् प्रत्यय हो, आतादि अर्थमें ।

पठ्यध्याय—पन्था, अभ्याय, न्याय, विहार, मनुष्य और हस्ती अर्थ गम्यमान रहने
 पर ही अरण्य शब्दसे जुञ् प्रत्यय हो । गर्तोत्तर—गर्तोत्तरपदक देशवाची सुबन्तते क

वृकगतीयम् । गहादिभ्यश्च । ४।२।१३८। गहीयः ॥ युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां
खञ् च । ४।३।१। चाच्छः । पक्षेऽण् । युवयोर्युष्माकं वाऽयं-युष्यदीयः । अस्म-
दीयः ॥ तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ । ४।३।२। युष्मदस्मदोरेतावादेशौ
स्तः खञि अणि च । यौष्माकीणः, आस्माकीनः । यौष्माकः, आस्माकः ॥
तवकममकावेकवचने । ४।३।३। एकार्यवाचिनोर्युष्मदस्मदोस्तवकममकौ स्तः
खञि अणि च । तावकीनः, तावकः । मामकीनः, मामकः । छे तु—। प्रत्ययोत्त-
रपदयोश्च । ७।२।९८। नपर्यन्तयोरकार्यवाचिनोस्त्वमौ स्तः प्रत्यये उत्तरपदे च ।
त्वदीयः । मदीयः । त्वत्पुत्रः । मध्यान्मः । ४।३।८। मध्यमः ॥ अ सांप्रतिके
। ४।३।९। मध्यशब्दादप्रत्ययः सांप्रतिकेऽर्थे । उन्कार्पापकर्षहीनः 'मध्यः' वैयाकरणः ।

न इति यावत् । वृकगतीयमिति । वृकगतौ नाम देशः । तत्र भव हृत्पर्यः । तावकीनः ।
तव अयं 'तावकीनः' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, सुपो लुकि,
'तवकममकावेकवचने' इति युष्मद्-स्थाने तवकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे
संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'तावकीनः' इति । अण्पक्षे 'तवकममकावेकवचने'
इति युष्मदस्तवकादेशे भाषे अलोपे वृद्धौ संयोगे विभक्तिकार्यं च 'तावकः' इति
सिद्धम् । मामकीनः । 'युष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्' इति खञि, 'तवकममकावेकव-
चने' इति अस्मदो ममकादेशे खस्य ईनादेशे भत्वे अलोपे, विभक्तिकार्यं च तस्मिन्निः ।
पक्षे अणि ममकादेशे च 'मामकः' इति । छे खिति । एकार्यवृत्तयोर्विशेषो वक्ष्यते इति
शेषः । त्वत्पुत्रः । मत्पुत्रः । तव पुत्रः स्वपुत्रः, मम पुत्रः मत्पुत्रः इति पृथीतपुरुषसमासे
कृते सुपो लुकि, अत्र 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इति त्वादेशे भादेशे च 'त्व अद् पुत्र' इति
'म अद् पुत्र' इति च जाते 'अवा गुणे' इति पररूपत्वे 'खरि च' इति दस्य तकारे
'स्वपुत्रः' 'मत्पुत्रः' इति द्वे स्तः । अ सांप्रतिके । अ-इति लुप्तप्रथमाकम् । मध्यादि-
रपनुवर्तते । तद्वाह-मध्यशब्दादित्यादि । संप्रतीत्यव्ययम् । उन्कार्पापकर्षहीनत्वात्प्रकसा-
न्ये वर्तते । तैत्तिरीये 'अनाप्तश्चतुरात्रोऽतिरिक्तः । षड्त्रोऽथवा एष संप्रति यज्ञो यस्य-

प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । गहादिभ्यः—यथासंभव देशवाची गहादिसे छ प्रत्यय हो,
जातादि अर्थमें युष्मदस्मदो—युष्मद्-अस्मद् शब्दोंसे खञ् और 'ख' प्रत्यय हो,
विकल्पसे । (विकल्प पक्षमें अण् होगा)

तस्मिन्नणि—खञ् प्रत्यय और अण् प्रत्ययके परे युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'युष्माक'
और 'अस्माक' आदेश हो । तवक—एकार्यवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दको 'तवक' 'ममक'
आदेश हो खञ् और अण् प्रत्ययके परे । प्रत्ययोत्तर—प्रत्ययके परे और उत्तर पदके परे
एकार्यवाची युष्मद्-अस्मद् शब्दके मपर्यन्त भागको 'त्व' 'म' आदेश हो । मध्यान्म—मध्य
शब्दसे 'म' प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । अ सां—मध्य शब्दसे 'अ' प्रत्यय हो, साम्प्रतिक

मर्षं दाह नातिहस्यं नातिदोषमित्यर्थः ॥ द्वीपाद्यनुसमुद्रं यन् । ७।३।१०।
 समुद्रसमीपे यो द्वीपस्तद्विषयाद् द्वीपशब्दाद्यम् स्यात् । द्वैन्यम्, द्वैप्या ॥ काला-
 ट्ठञ् । ७।३।११। नासिकम् । सावसरिकम् । (अथययानां ममात्रे टिलोपः)
 सार्यप्रातिक । पौनःपुनिक । कथं तद्धि 'शार्धरस्य तमसो' निषिद्धये' इति का-
 लिदासः, 'अनुदितौषसरागा' इति भारवि, समानकालीनं प्राक्कालीनमित्यादि च ।
 'अपभ्रंशा एषैते' इति प्रामाणिकाः । 'तत्र जात' इति यावत्कालाधिकारः ॥ आदे
 शरद् । ७।३।१२। ठञ् स्यात् । ऋत्वणोऽपवादः । शरदि भवं शारदिकं श्राद्धम् ॥
 विभाषा रोगातपयोः । ७।३।१३। शारदिकः शारदो वा रोग आतपो वा ॥
 निशाप्रदोषाभ्यां च । ७।३।१४। ठञ् वा । नैशिकम्, नैशम् । प्रादोषिकम्,
 प्रादोषम् ॥ श्वसस्तुट् च । ७।३।१५। श्वसञ् वा तुट् च ॥ द्वारादीनां
 च । ७।३।१६। एषां न वृद्धिरैजागमश्च । शौचस्तिकम् ॥ सन्धिषेलाद्यनुसमुद्रस्यो-

प्रातरः । इत्यत्र तथा दर्शनात् । संप्रतिशब्दात् श्वार्थे दिनवादिष्वाट् ठञि साम्प्रतिक
 च । द्वीपाद्यनु । अनुसमुद्रमिति । समीप्ये अभ्यधीभावः । अनुसमुद्रमिति सप्तम्यन्तम्,
 विभ्रमाभाक्षित्यप्याहार्यम् । तदाह—समुद्रस्व-समीपे इति । द्वैप्येति । 'यञञ्' इति
 लीप् तु न,=अनपत्याधिकारस्यात् नेति लक्ष्येणात् । आदे शरदः । ठञ् स्यादिति ।
 श्वसपूरणमिदम् । ननु 'कालाट्ठञ्' इत्येव सिद्धे किमर्थमिदमिष्यत आह । ऋत्वण
 इति । 'सन्धिषेलाद्यनुसमुद्रस्योऽण्' इति वक्ष्यमाणस्येत्यर्थः । विभाषा रोगातपयो ।
 ठञिति शरद इति आनुवर्तते । निशाप्रदोषाभ्यां च । ठञ् वा । शेषपूरणम् । 'कालाट्ठञ्'
 इति नित्यं प्राप्ते विकल्पोऽयम् । श्वसस्तुट् च । तुटि टकार इत् । टकार लकारणार्थः ।
 द्वारादीनां च । 'न वान्नाम्' इति सूत्रं पदोन्ताभ्यामिति वर्जमनुवर्तते, 'मृजेवृद्धिः'
 इत्यतो वृद्धिरिति च । तदाह—एषां न वृद्धिरैजागमश्चेति । द्वारादीनां नादिवृद्धिः,

(सञ्चि) अर्थम् । द्वीपाद्यनु—समुद्रके समीपस्थ द्वीपकोषक द्वीप शब्दसे 'दम्' प्रत्यय हो,
 आदि अर्थम् । कालाट्ठञ्—काळवाचकसे ठञ् प्रत्यय हो, आतादि अर्थम् । ३

अभ्यधायार्थ—दल्लक अभ्यधायो 'टि' का लोप हो । आदे शरद—आह अर्थ
 लक्ष्ये हो तो—काळवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, आतादि अर्थम् । विभाषा—रोग
 तथा आतप अर्थ अभिधेय हो तो—काळवाची शरद् शब्दसे ठञ् प्रत्यय विकल्पसे हो, आतादि
 अर्थम् । निशाप्रदोषाभ्यां—काळवाची निशा और प्रदोष शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, आतादि
 अर्थम्, विकल्पसे । श्वसस्तुट्—काळवाची श्वस् शब्दसे ठञ् प्रत्यय हो, विकल्पसे और वस
 ठञ्को तुटका आगम भी हो । द्वारादीनां—द्वारादिको आदिवृद्धि नहीं हो किन्तु पदार्-
 वकारके पूर्व देव्वा आगम हो । सन्धिषेला—काळवाची सन्धिषेलादिते तथा अट्ट और

ऽण् । ४।३।१६। सन्धिवेलायां भवं-सान्धिवेलम् । प्रथमम् । तैषम् । सन्धिवेला ।
 सन्ध्या । अमावास्या । त्रयोदशी । चतुर्दशी । पौर्णमासी । प्रतिपत् ॥ प्राच्य
 षण्यः । ४।३।१७। प्राच्येण्यः ॥ वर्षाभ्यष्टक् । ४।३।१८। वर्षासु सासु दार्षिकं
 वासः ॥ सर्वघ्राणं च तल्लोपश्च । ४।३।२२। हेमन्तादण् तलोपश्च वेदलोकोः ।
 चकारात्पक्षे ऋत्वण् । हेमन्ते भवं हेमन्तं घसतम् ॥ सायंचिरंप्राहो प्रगेऽङ्गयेभ्य-
 ष्टुट्पुलौ लुट् च । ४।३।२३। सायमित्यादिभ्यश्चतुर्भ्योऽङ्गयेभ्यश्च काल्यादिभ्य-
 ष्टुट्पुलौ स्तः, तयोस्तुट् च । सायं भवं सायंतनम् । चिरंतनम् । प्राहोप्रगयोरैवन्तार्थं

किन्तु वकाराकाराभ्यां पूर्वो ऐप्रागमौ स्तः इत्यर्थः । अत्र वकाराकारयोः पदान्तात्वात्
 'न ष्वान्गाम्' इत्यग्रान्ते वचनमिदम् । शीघ्रस्त्रिकमिति । यस्त्वं इत्यन्वयात् जाला-
 यमं ठमि इत्यादेशे तुहागमे वकारात्पूर्वमैजागमेन औकारः । अकारस्य च दृक्किः ।
 सन्धिवेला । ठञोऽपवादः । तैषमिति । तिस्ये मवादीत्यर्थः । 'तिस्येपुष्पयोर्नञ्छ्राभि' इति
 लोपः । तिस्ये सातः इत्यर्थे 'अदिहाङ्गुनी' इति लुपवत्पक्षे । सन्धिवेलादिगणं
 पठति । सन्धिवेदेत्यादि । प्राच्येण्य इति । प्राचूट् घर्तुः । तत्र अथायिरित्त्वर्थः । जाये ह्यु-
 ट्प वषपते । प्रक्षिपालाजकार्यं णकारोच्चारणम् । वर्षाभ्यष्टक् । दतीयतीं वर्षासत्यो-
 नित्यं यदुवचनान्तः, 'अष्टुमनःसमाक्षिकतावर्षाणाम् बहुत्वन्' इति किङ्गासुप्तात्त-
 न्द्वारात् । 'क्षियां प्राचूट् क्षियां भूतिन वर्षाः' इत्यन्तरः । वर्षासद्वाद्यात्तायमं ठक्षिन-
 र्थः । वर्षासु सायति । द्विहादारीत्यर्थः । सर्वघ्राणं च ।- इन्द्रसोत्पुष्टुष्टुधिमिष्टुष्टुपद्यं
 सर्वत्र प्रहणम् । लोके वेदे चेत्यर्थः । 'हेमन्तापच' इति पूर्वसुप्तात् हेमन्तादिसुप्तुवर्त-
 ते । तद्वाङ्-हेमन्तादिस्यादिना । ननु । 'सर्वघ्राणं तलोपश्च' इत्येव सिद्धः प्रथमचकारो
 ष्यर्थं इत्यत आह--चकारादिति । 'हेमन्त' इत्यत्र तकारात् प्राक् नकारस्यानुस्वारपरस-
 यर्थो स्थितौ । तत्र तकाराकारसमुदापस्य लोप इति पक्षे अत्रिति प्रकृतिनावाङ्
 टिलोपः । तकारस्यैव लोप इति पक्षे तु अकारस्य 'यस्येति च' इति लोपे तस्य आभ्य-
 ययेनासिद्धत्वात् स्यानिवन्दाद्वा न टिलोपः । हेमन्तमिति । ऋत्वणि रूपश्च । अत्र न

नक्षत्र वाचकते अण् प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें ।

प्राच्य-काठशुचि प्राचूट् शब्दसे षण्य प्रत्यय हो, जातादि अर्थमें । तयोऽङ्ग-
 युचि वर्षाशब्दसे ठक् प्रत्यय हो, शेष अर्थमें ।

सर्वघ्राण-हेमन्त शब्दसे अण् प्रत्यय और तकारका लोप हो, सर्वत्र (लोके और
 वेदमें) । चकारात् षेवळ अण् भी हो अर्थात् पक्षमें तलोप नहीं हो । सायंचिरं-सायण् ,
 चिरन् , प्राहो, प्रगे और काठवाची अर्थयोसे ट्पु और ट्पुट् इत्यन्त ही तथा तुट्का आगम
 भी हो ।

निपात्यते । प्रहेतनम् । प्रगेतनम् । दोपातनम् । दिवातनम् (चिरपहृत्परा-
 रिभ्यस्तौ यक्तव्य') । चिरलम् । पहलम् । परारिलम् । (अप्रादिपश्चाद्भि-
 मच्) । अग्रिमम् । आदिमम् । पश्चिमम् । (अन्ताच्च) । अन्तिमम् ॥ विभाषा
 पूर्वाद्धापराद्धाम्याम् ॥ १४३२२ ॥ आभ्यां टपुटपुलौ वा स्त, तयोस्तुट् च । प्ले
 ठय् । पूर्वाङ्केतनम्, पौर्वाङ्किकम् । अपराङ्केतनम्, अपराङ्किकम् ॥ तत्र जातः
 ॥ १४३२५ ॥ सप्तमीसमर्थाञ्जात इत्यर्थेऽणादयो घादयश्च स्युः । छुप्ने जात सौप्न ।
 ओरख' । राष्ट्रिय । अवारपारीण इत्यादि ॥ प्रावृषपृष्प् ॥ १४३२६ ॥ एण्यस्याप
 वादः । प्रावृषिक ॥ प्रायभव. ॥ १४३२७ ॥ तत्रेत्येव । सूप्ने प्रायेण बाहुल्येन
 भवति-सौप्न ॥ संभूते ॥ १४३२८ ॥ छुप्ने भवति छौप्न ॥ कौशाब्दम्

तलोपः, तस्य पृथक्सूत्रप्रतिपदोक्तानां सन्नियोगक्षिष्टत्वादिति भावः । चिरपहृत्
 रादिभ्य इति । चिर, पहृत्, परारि, एभ्य एभ्यस्य इत्यर्थे । चिरलमिति । टपुटपुलो-
 रेव प्राप्तयोर्वचनम् । एभ्यस्यपक्षे गान्ताच्च न भवति । टपुटपुलौ च तस्य सन्नि-
 योगक्षिष्टत्वाद् । पक्षद्विपि परारीति चाप्यय पूर्वस्मिन् पूर्वतरे च घादरे कमाङ्गते ।
 अप्रादौति । धातुिकमिदम् । अप्र आदिपश्चात् एभ्यः टिमच् ह्यादित्यर्थः । पश्चिममिति ।
 'अभ्ययानां समाप्ते' इति टिलोप । अन्ताच्च । इदमपि धातुिकम् । विभाषा पूर्वाद्धा ।
 प्ले ठयिति । तथा सति न तुट् तस्य टपुटपुलौ सन्नियोगक्षिष्टत्वादिति भावः ।
 तदेव 'राहावार' इत्यारभ्य पृथङ्स्ते. सूत्रैः राहादिपहृत्त्रिविधेशेभ्य' घादय. प्रत्यय
 विनोधाः अनुष्ठाता । अयं तेषां प्रत्ययानामर्थविनोधान् प्रकृतीनां च विभक्तिविनोधान्
 दर्शयितुमुपक्रमते—तत्र जात इति । राष्ट्रिय । अप्र 'तत्र जात' इति सूत्रोक्तार्थे
 'राहावारपाराद्धौ' इति चे 'आयनेयीनीयियाः फल्लश्चक्षुषाम्' इति घस्य
 इत्यादेशे सुपो लुकि, मये अलोपे विभक्तिकार्ये च तत्सिद्धि । अवारपारीण । अवार
 पारे जात 'अवारपारीण' इत्यत्र 'तत्र जात' इति सूत्रोक्तार्थे 'राहावारपाराद्
 चक्षु' इति चे 'आयनेयीनीयियाः' इति घस्य ईनादेशे सुपो लुकि मत्वे अलोपे

चिरपहृत्—चिरादिते 'न' प्रत्यय हो—रेषा कहना चाहिये । अप्रादि—अप्रादि
 और पक्षसे दिभच् प्रत्यय हो । अन्ताच्च—अन्तसे दिभच् प्रत्यय हो, जेव अर्थमें ।

विभाषा—पूर्वाद्ध और अपराद्ध अर्थोंस टपु और टपुल् प्रत्यय हो, तथा तुट्का
 भागमें भी हो, विकरसे । तत्र जात—तत्र (सप्तम्यन्त समर्थस) जात अर्थमें अणादि प्रत्यय
 और घादि प्रत्यय हो । प्रावृष—प्रावृष् इत्यन्तसे ठप् प्रत्यय हो, जात अर्थमें ।

प्रायभव.—प्रायभव अर्थमें सप्तम्यन्तसे यथाविहित अणादि और घादि प्रत्यय हो ।

संभूते—संभूत अर्थमें सप्तम्यन्तसे अणादि और घादि प्रत्यय हो । कौशा—सप्तम्यन्त

।४।३।४२। कौशेयं वज्रम् ॥ तत्र भवः ।४।३।५३। सुप्ते गवः—सौम्यः ।
 औत्सः । राष्ट्रियः ॥ दिगादिभ्यो यत् ।४।३।५४। दिश्यम् । वर्यम् ॥ शरी-
 रावयवाञ्च ।४।३।५५। दन्त्यम् । कण्ठवम् ॥ इतिकुक्षिकलाशियस्त्यस्त्यहे-
 र्ठञ् ।४।३।५६। दातैयम् । कलशिर्षटः, तत्र भवं कालशेयम् । वास्तेयम् ॥ ग्रीवा-
 भ्योऽण् च ।४।३।५७। चात् वञ् । प्रवेयम्, प्रैवम् ॥ गम्भीराब्ज्यः ।४।३।५८।
 गम्भीरे भवं-गाम्भीर्यम् ॥ अव्ययीभावाञ्च ।४।३।५९। परिमुखे भवं-परिमु-
 ख्यम् ॥ (परिमुखादिभ्य एवेभ्यते) नेह, औपकूलः ॥ अन्तःपूर्वपदाह-
 ङ् ।४।३।६०। अव्ययीभावादित्येव । वेरमनि इति अन्तर्वेशमम्, तत्र भवम् आन्तर्वे-
 शिमकम् । आन्तर्गणिकाम् (अध्यात्मादेष्टृञ्चिच्यते) । अध्यात्मं भवम्—आध्यात्मि-

विभक्तिकार्ये च कृते तस्मिन्निः । इतिकुक्षि । भव इत्यर्थे इति, कुक्षि, कक्षशि, परित,
 अस्ति, अहि एतेभ्यः । सप्तम्यन्तेभ्य इति शेषः । दातैयमिति । इती भवमित्यर्थः ।
 वञ् एवः आदिवृद्धिः रपरवम् । इतिधर्ममञ्जिका । ग्रीवाम्योऽण् च । 'शरीरावयव-
 वाञ्च' इति यतोऽपवादः । ग्रीवाशब्दोऽयं धमनीसंघे वर्तते । तत्र उद्भूतावयव-
 भेदसंघविवक्षायां बहुवचनान्तरप्रत्यय इति सूचयितुं बहुवचनम् । तिरोहिता-
 वयवभेदविवक्षायां तु एकवचनान्तादप्यण्डश्री स्त एव । गम्भीराब्ज्यः । गाम्भीर्यमिति ।
 एञ्चिच्यौ तु च्चिच्यौ 'प्राचां षफ सद्दितः' इति षफः स्यात् । अप्ययीभावाञ्च । भ्य इति
 शेषः । परिमुखादिभ्य इति । यद्यपिदं वार्तिकं भाष्ये न इष्टं तथापि दिगादिगणपाठानन्तरं
 परिमुखादिगणपाठसामर्थ्यादिहाभ्ययीभावपदं परिमुखादिपरिमिति गम्यते । न उदा-
 ष्याद्यर्था परिमुखादिगणस्य कार्यान्तरमस्ति, औपकूल इति । उपकूलं भव इत्यर्थः ।
 अव्ययीभावत्वेऽपि परिमुखाद्यनन्तर्भावात् न भ्यः । अन्तःपूर्वपदाहङ् । वेरमनी-
 त्यन्तर्वेशममिति । विभक्तिकार्ये अव्ययीभावः । 'अनश्च' इति टच् । आन्तर्वेशिमिति ।
 उञ् इह, सुब्बुक्, टिलोपः, आविवृद्धिः । आन्तर्गणिकमिति । गणे इत्यन्तर्गणम् । तत्र

कोश शब्दसे संभूत (संभव) अर्थमें टच् प्रत्यय हो । तत्र भवः—सप्तम्यन्तसे भवार्थमें
 अणादि प्रत्यय और वादि प्रत्यय हो । दिगादि—दिगादि सप्तम्यन्तसे यद् प्रत्यय हो,
 भवार्थमें । शरीरा—शरीरावयववाची सप्तम्यन्तसे यद् प्रत्यय हो, भवार्थमें ।

इतिकुक्षि—सप्तम्यन्त इति, कुक्षि आदि शब्दोंसे टच् प्रत्यय हो, भवार्थमें ।
 ग्रीवा—सप्तम्यन्त ग्रीवा शब्दसे अम् प्रत्यय हो, भवार्थमें । गम्भीरा—सप्तम्यन्त
 गम्भीर शब्दसे षच् प्रत्यय हो, भवार्थमें । अध्यायी—अव्ययीभावसंबन्धक सप्तम्यन्तसे च्य
 प्रत्यय हो, भव अर्थमें । परिमुखा—अप्ययीभावसंबन्धक परिमुखादि सप्तम्यन्तसे हो च्य
 प्रत्यय हो—ऐसा समासना चाहिये । अन्तः पूर्व—अन्तःपूर्वपदक अव्ययीभावसे उञ् प्रत्यय
 हो, 'तत्र भवः' इसके विषयमें । अध्यात्मादेः—अध्यात्मादिसे उञ् प्रत्यय हो, 'तत्र भवः'

कम् ॥ अनुशतिकादीनां च । ७।३।२०। एयामुमयपदवृद्धिमिति णिति किति च । आधिदैविकम् । आधिभौतिकम् । ऐहलौकिकम् । पारलौकिकम् । आकृतिगणो-
 ज्यम् ॥ जिह्वामूलाङ्गुलेश्च । ७।३।६२। जिह्वामूलीयम् । अङ्गुलीयम् ॥ वर्गा-
 न्ताच्च । ७।३।६३। कवर्गीयम् ॥ तत आगतः । ७।३।७४। घुष्णादागतः घांनः ।
 ठगायदधानेभ्यः । ७।३।७५। शौचशालिकः ॥ विद्यायोनिसङ्घेभ्यो युञ्ज्
 । ७।३।७७। औपाप्मायकः । पैतामहकः ॥ अतष्टम् । ७।३।७८। युभोऽपवादः ।
 शौचकम् । मातृकम् । प्रातृकम् ॥ पितृयंश्च । ७।३।७९। चाट्टम् । रोचूत् यस्येति
 लोपः । पित्र्यम्, पैतृकम् ॥ गोत्राद्भूयत् । ७।३।८०। विदेभ्य आगतं—बेदः ।
 गार्गम् । दाक्षम् । औपगवकम् ॥ हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां क्वप्यः । ७।३।८१।
 समादागतं—समन्वयम् । पत्ने—गहादित्वाच्छः । समीयम् । देवदतीयम् । देवदत्-

भवमित्यर्थः । आप्यायिकमिति । आभनतीत्यस्यात्मम् । अत्र भवमित्यर्थः । अतष्टम् ।
 अदस्तादिष्यायोनिस्सङ्घवाचिन इत्यर्थः । 'तत आगत' इत्येव । शौचकम्,
 प्रातृकमिति । क्व परत्वात् ठस्य कः । पितृयंश्च । यति प्रक्रियां दत्तंयति—रोचूत्
 यति गोत्राद्भूयत् । अङ्गुले ये प्रात्ययान्ते 'तत आगत' इत्यर्थोऽपि भवन्तीत्यर्थः । विदेभ्य
 आगममिति । विग्रहप्रदर्शनम् । धन् 'यजत्रोद्य' इति बहुव्री अत्रो लुकि विदेभ्य इति
 निर्देशः । वेदमिति । 'सहाङ्गुलघणेश्वभ्यजिप्राभण' इत्युक्तेरजम्तादिहाप्यर्थे अणि
 विषयिते 'गोत्रेऽनुगचि' इत्यत्रो लुचनिवृत्तौ वैदसम्भादण् । 'द्वयङ्गुलाङ्गण'
 इति द्वयङ्गुलघणस्य ठङोऽपवादः । गार्गमिति । यजन्तादण् । दाक्षमिति । इभन्तादण् ।
 औपगवकमिति । उपगोर्प्रायस्रौपगव । तस्मादागतमित्यर्थः । 'गोत्रचरणान्द युञ्ज्' इति
 युञ्ज् । यद्यपि तस्येदमित्यर्थे अय युञ्ज् विहित तथाप्यन्यभिन्नतादङ्गोऽपि स एष्ट इति
 तस्याप्यत्रार्थे अतिदेशो भवति । न हि 'सघाष्ट' इति प्रतिपञ्चोक्तस्याण एवात्राति

इसके विषयने । अनुशति—अनुशतिकादिके समद रद्वो इति हो, अिन-गिय और
 कियके परे । जिह्वा—सप्तम्यन्त जिह्वामूळ और अङ्गुलि इत्यने 'छ' प्रात्यय हो, भव अर्थने
 वर्गान्ता—सप्तम्यन्त वर्गा-उ इत्यने 'छ' प्रात्यय हो, भव अर्थने ।

तत आगत—पञ्चम्य-उत्ते आगत अर्थने यमाविहित अ-दि प्रात्यय और वादि प्रात्यय हो ।
 ठगाय—आदस्यान (चुगो-बौकी) वाची पञ्चम्यन्तसे ठक् प्रात्यय हो, आगत अर्थने ।
 विद्यायोनि—रिया और दोनि सप्तम्यन्तसे सप्तम्यन्तसे युञ् प्रत्यय हो आगत अर्थने ।
 अतष्टम्—विद्या-योनि सप्तम्यन्तसे पञ्चम्यन्तसे अन्तसे ठम् प्रात्यय हो, आगत अर्थने ।
 पितृयंश्च—पञ्चम्यन्त पितृ इत्यने यत् प्रात्यय हो, आगत अर्थने । गोत्रा—अस्य
 प्रात्ययान्त पञ्चम्यन्तसे अदवत् प्रात्यय हो, गार्गत् अर्थने । हेतुमनु—हेतु और मनुष्य वाचकसे

ह्यम् ॥ मयट् च । ४।३।८२। सममयम् ॥ प्रभवति । ४।३।८३। हिमवतः प्रभवति-हैमवती गङ्गा ॥ विदूराञ्जयः । ४।३।८४। विदूरात्प्रभवति-वैदूर्यो मणिः ॥ तद्गच्छति पथिदूतयोः ४।३।८५। सुघ्नं गच्छति-सौघ्नः पन्था दूतो वा ॥ अभिनिष्क्रामति द्वारम् । ४।३।८६। सुघ्नमभिनिष्क्रामति-सौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम् ॥ अचिकृत्य कृते प्रन्ये । ४।३।८७। शारीरकमचिकृत्य कृतो प्रन्यः-शारीरकीयः । 'शारीरकं भाष्यम्' इति त्वभेदोपनारात् ॥ सोऽस्य निवासः । ४।३।८९। सुघ्नो निवासोऽस्य-सौघ्नः । तेन प्रोक्तम् । ४।३।१०। पाणिनिना प्रोक्तं-पाणिनीयम् ॥ पाराशर्यशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः । ४।३।११०। णिनि. स्यात् । पारा-

देशः । किन्तु अष्टे षष्ठस्य सर्वस्यापि, व्याख्यानानादिति भावः । 'हैमवती गङ्गा । अत्र 'प्रभवति' इत्यणि, सुपो लुकि, 'नद्वितेष्वचामादेः' इत्याद्यथो वृद्धौ संयोगे हैमवत्त इति जाते 'विदूराणस्' इति छीपि, रूपयोर्लोपे मत्वे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्यं च कृते 'हैमवती गङ्गा' इति विद्वन् । पाराशर्यं णिनिः स्यादिति । उक्तविषये इति शेषः । मण्डूकसूत्रस्या णिनिरेवानुवर्तते इति भावः । पाराशर्येण प्रोक्तं

रूप्य प्रत्यय हो, आगत अर्थमें, विरुत्पते । मयट्—हेतुवाचक और मनुष्यवाचक पञ्चम्यन्तसे मयट् प्रत्यय हो, आगत अर्थमें । प्रभवति—'प्रभवति' अर्थमें पञ्चम्यन्तसे यथाविहित अणादि प्रत्यय और वादि प्रत्यय हो ।

विदूरा—पञ्चम्यन्त विदूर शब्दसे पय प्रत्यय हो, 'प्रभवति' अर्थमें ।

नोटः—'वैदूर्यः' अत्र भाष्यम्—वालवायो विदूरश्च प्रकृत्यन्तरनेच वा । न च तत्रेति चेद् व्याख्येयत्वेरीयदुपचारयेत् ॥ नाल्वाय शब्दसे 'व्य' प्रत्यय हो और शाल्वायको विदूरादेश हो । अथवा नगरवाची विदूर शब्दकी तरङ्ग-पर्वतवाची प्रकृत्यन्तर यो विदूर-शब्द है; उससे ही ञ्म प्रत्यय हो । 'न च तत्रेति चेद्' अगर पर्वतवाची नहीं है ऐसा कहें तो 'विश्वरीवट' अर्थात् विश्वस्तमाजमें वाराणसीका राज वैसे 'विश्वरी' शब्दसे व्यवहृत होता है, वैसा वैशाकरणोंके समाजमें विदूर शब्दका पर्वतमें व्यवहार किया जाता है—ऐसा समझना चाहिये ।

सुघ्नगच्छति—द्वितीयान्तसे गच्छति अर्थमें यथाविहित अणादि प्रत्यय और वादि प्रत्यय हो, जो व्यता है, वद् यदि मार्ग या दूत हो तो । अभिनिष्क्रामति—द्वितीयान्तसे अभिनिष्क्रामति अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हो, जो अभिनिष्क्रामति (उस और निकलता है), वद् यदि द्वार हो तो ।

अचिकृत्य—द्वितीयान्तसे 'अचिकृत्य कृतो प्रन्यः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हो । सोऽस्य—प्रथमान्तसे 'अस्य निवासः' इस अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हो । तेन प्रोक्तम्—तृतीयान्तसे प्र क्त अर्थमें यथाविहित अणादि और वादि प्रत्यय हो । पाराशर्यं—तृतीयान्तसे पराशर्ये 'प्रोक्तं भिक्षुसूत्रम्' इस अर्थमें, तथा तृतीयान्त

शय्येण प्रीकं मिधुसूत्रमधीयते-पाराशरिणो मिक्षव । शौलाकिनौ नटा । कर्मन्द्-
 कृशाध्वादिनि । ४।३।१११। कर्मन्देन प्रीक मिधुसूत्रमधीयते—कर्मन्दिनो
 मिक्षव । कृशाधिनी नटा । उपधाते । ४।३।११५। पाणिनिना उपधातं-पाणिनी-
 यम् ॥ तस्येदम् । ४।३।१२०। उपगोरिदम्-श्रौपगवम् ॥ (समिधामाधाने
 वेण्यण्) णामिधेन्यो मन्त्र ॥ रथाद्यत् । ४।३।१२१। रथ्यं चकम् ॥ पत्रपूर्वा-
 दम् । ४।३।१२२। अन्नरपस्येदम्-भात्ररपम् ॥ हलसाराट्ठक् । ४।३।१२४।
 हलिकम् । सैरिकम् ॥ गोत्रचरणाहुन् । ४।३।१२६। श्रौपगवकम् ॥ (चरणा-
 न्दमाम्नाययोरिति यक्तव्यम्) काठकम् ॥ सघाङ्कलक्षणेष्वव्यभिप्रामण्य
 । ४।३।१२७। (घोणग्रहणमपि कर्तव्यम्) । अण्, -वैद् संघोऽङ्घो घोपो
 वा । वैद् लक्षणम् । यञ्, -गार्ग, गार्गम् ; इण्, -दाक्षि, दाक्षम् । परम्परासंब
 न्धोऽङ्घ । साक्षान् लक्षणम् ॥ इति शैबिकप्रकरणम् ।



मिधुसूत्रमित्यर्थे, शिखादिना प्रीक नटसूत्रमित्यर्थे च तृतीयान्ताणिनिः स्यादिति
 यावत् । मिक्षव, सन्दासिन, तद्विकारिक सूत्रं मिधुसूत्रं स्यात्प्रणीतं पसिद्धम् ।
 पाराशर्येति । पाराशरशब्दाद् गार्गादिवाद् योत्रे ण्यञ्चि पाराशर्यं-उप्रास । इह एव न
 न्तरादाये गोत्रत्वोपाद्यत् । तेन प्रीके मिधुसूत्रे णिनि, ततोऽप्येतुप्रत्ययस्य लृक् ।
 इति शैबिकाः ।



शिखादीने 'प्रीक नटसूत्रम्' इति अर्थेने णिनि प्रत्यय हो । कर्मन्द्-तृतीयान्त कर्मन्देते
 'प्रीक मिधुसूत्रम्' अर्थेने और तृतीयान्त कृशाध्वाते 'प्रीक नटसूत्रम्' अर्थेने इति प्रत्यय हो ।

उपधाते-तृतीयान्तते उपधात (विना उपदेशेन ज्ञान) अर्थेने यथाविहित अणादि
 और वादि प्रत्यय हो । तस्येदम्-वृथयन्तते 'इदम्' इति अर्थेने यथाविहित अणादि और
 वादि प्रत्यय हो । समिधा-वृथयन्त समिध् शब्दसे व्यापान अर्थेने वेण्यण् प्रत्यय हो ।

रथाद्यत्-वृथयन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थेने यत् प्रत्यय हो । पत्रपूर्वा-पत्र (वाहन)
 पूर्वक वृथयन्त रथ शब्दसे 'इदम्' अर्थेने अण् प्रत्यय हो । हलसारा-वृथयन्त हल् और
 सीरमे 'इदम्' अर्थेने टक् प्रत्यय हो । गोत्रचरणा-गोत्र प्रत्ययान्त और चरण (शाखा
 ध्येत्) वाचक वृथयन्तसे 'इदम्' अर्थेने डुम् प्रत्यय हो । चरणात्-चरण (शाखाध्येत्)
 वाचकमे जो पूर्वक डुम् कहा गया है, वह धर्म और आम्नाय (वेदाग्वास) में ही हो ।
 संघाक, घोणग्रहणमपि-अण्, और यञ्चन और इणन्त वृथयन्तसे 'इदम्' अर्थेने अण्
 प्रत्यय हो, सघादि यदि इदन्तेन विवक्षित रहे तो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें शैबिक प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्

तस्य विकारः । ४।३।१३४। (अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः) ।

अश्मनो विकारः—आश्मः । भाश्मनः । मार्तिकः ॥ अवयवे च प्राण्योपधिवृ-
द्धेभ्यः । ४।३।१३५। चादिकारे । मयूरस्य विकारोऽवयवो वा—मायूरः । मौर्वम्
काण्डं भस्म वा । पैप्पलम् ॥ त्रपुजतुनोः पुक् । ४।३।१३८। आभ्यामण् एतयोः
षुक् च । त्रापुपम् । जातुपम् ॥ ओरञ् । ४।३।१३९। देवदारवम् ॥ अनुदात्ता-
देश्च । ४।३।१४०। अञ् । कपित्थम् । दाधित्थम् ॥ पलाशादिभ्यो वा

तस्य विकारः । विक्रियते इति विकारः, कर्मणि घञ् । प्रकृतेरवस्थान्तरात्मिका
विक्रिया, तस्याभिर्यथः । तस्येति पृथयन्तात् विकारोऽर्थे अणादयः साधारणा
वच्यमानाश्च वैशेषिका चयाविहितं स्युरिर्यथः । अश्मनो विकार इति । विकारार्थक-
प्रत्यये परे अश्मन् शब्दस्य टिलोपो वक्तव्य इत्यर्थः । 'अन्' इति प्रकृतिभावा-
पवादः । आश्मः । अश्मनो विकारः—आश्मः, इत्यत्र 'तस्य विकारः' इत्यणि
'नस्तद्धिते' इति टिलोपे प्राप्ते 'अन्' इति टिलोपाभावे 'अश्मनो विकारे टिलोपो
वक्तव्यः' इति वार्तिकेन टिलोपे संयोगे 'तद्धितेष्वच्चाभावे' इति 'दृद्धौ विभक्ति
कार्ये च कृते 'आश्मः' इति सिद्धम् । त्रपुजतुनोः पुक् । त्रापुपम् । जातुपम् । त्रपुणो
जतुनश्च विकार इत्यर्थः । ओरञ् । उवर्णान्तादञ् स्यादित्यर्थः । प्राण्योपधिवृद्धेभ्यः
अवयवे विकारे च, इतरैर्म्यस्तु विकारे । देवदारवम् । देवदारोः अवयवो विकारो वेत्यर्थः ।
अनुदात्तादेश्च । विकारे अजिति शेषः, 'अवयवे च' इति सूत्रमप्यत्र संबध्यते ।
कपित्थम् । कपित्थस्यावयवो विकारो वेत्यर्थः । कपित्थे तु 'दधित्थप्राहिमन्मथा'
इत्यमरः । पलाशादिभ्यो वा । अजिति शेषः । अवयवे चेत्येव । शन्याः षञ् । शमी
शब्दो गौरादिहीयन्तः । तस्मात्पृथयन्तादवयवे विकारे षञ् स्यादित्यर्थः । पकार-

तस्य विकारः—पृथयन्तसे विकार अर्थे अणादि प्रत्यय हो । अश्मनो—अश्मन्
शब्दकी 'टि' का छोप हो, विकारार्थक प्रत्ययके परे । अवयवे—प्राणी, ओपधि और वृक्ष-
वाचीसे अवयव और विकार अर्थमें तथा इनसे अतिरिक्त अर्थवाचीसे केवल विकार अर्थमें
अणादि प्रत्यय हो । (यह अविकार सूत्र है) ।

त्रपुजतु—त्रपु और जतु प्रकृतिक पृथयन्तसे अण् प्रत्यय हो और पुक्का आगम भी
हो, विकार अर्थमें । ओरञ्—उवर्णान्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।

अनुदात्ता—अनुदात्तादि प्रकृतिक पृथयन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।

पलाशा—पलाशादि—प्रकृतिक पृथयन्तसे अञ् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें,
विकल्पसे ।

।४।३।१४१। अन् । पालाशम् । कृदिरम् ॥ शम्भ्याः प्लव् ।४।३।१४२। शमीर्लं
 मस्य ॥ मयद्भवेतयोर्भाषायाममक्ष्याच्छादनयोः ।४।३।१४३। प्रकृतिमात्रा-
 न्मयद्वा स्वयदिकारावयवयो । अरममयम्, आरमनम् । अमदयेत्यादि किम् ! मौत्र
 सूप । कार्पासमाच्छादनम् ॥ नित्यं वृद्धशारादिभ्य ।४।३।१४४। आस्रमयम् ।
 शरमयम् । (एकात्तो नित्यम्) । वाष्मयम् ॥ गोश्च पुरीये ।४।३।१४५। गोम-
 यम् ॥ एण्या दम् ।४।३।१५१। ऐण्यम् । एणस्य तु, ऐणम् ॥ गोपयस्तोर्यत्
 ।४।३।१६०। गव्यम् । पयस्यम् । फले लुक् ।४।३।१६३। विकारावयवप्रय-
 मस्य ॥ लुक् तद्धितलुकि ।६।५।७। उपसर्जनलोप्रत्ययस्य । आमकक्या फलम्-
 आमलकम् ॥ प्लस्त्रादिभ्योऽण् ।५।३।१६४। विधानसामर्थ्यात् लुक् । प्लास्त्रम् ॥
 न्यप्रोषस्य च केवलस्य ।७।३।५। अस्य न कृदिरैत्रागमस्य । नैयप्रोधम् ॥
 जम्ब्या या ।४।३।१६५। अण् फले । जाम्बवन् । पचे-शौरम् । तस्य लुक् ।

लकारावितौ । 'अद्वासादेव' इत्यत्रोऽपवादः । शमीकमिति । शम्भ्या विकार इत्यर्थः ।
 फले लुक् । आमककमिति । फलितस्य वृद्धस्य फलमवयवो विकारश्च । तस्मिन्मवटो
 लुकि 'लुक् तद्धितलुकि' इति लोपो लुक् । प्लस्त्रादिभ्योऽण् । विकारे अवयवे चेति
 हीन । तत्र शिप्रुककम्पूराद्यद्वयोरुवर्णाभ्यावाद्भि प्राप्ते प्लक्ष्ण्यप्रोधादीनाम् अनु-
 वासादिवाद्यपि प्राप्ते भग्विधि । यथावत्स्य च केवलस्य । 'न च्यागवा' इत्युत्तरस्य
 मित्यम् । अस्वेनि । केवलस्य न्यप्रोषस्येत्परं । जम्ब्या वा । जाम्बवमिति । जम्ब्या
 फलमित्यर्थः । अणो लुकि विशेषानुसारेण नपुंसकत्वात् इत्य इति भावः ।

शम्भ्या—शमीते षम् प्रायव हो, विकार और अवयव अर्थमें । मयद्—मक्ष्य और
 माच्छादन वाच्यते मित्र प्रकृतिनाम (सर्ववक्तृक) पठयन्ते, भाषा (लोक्) में मयद्
 प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें, विकल्पसे । नित्यं—वृद्ध और दृढादित्ते नित्य हो मयद्
 प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें । एण्यत्रो—एणाकृते नित्य 'मयद् प्रायव हो, विकार
 और अवयव अर्थमें । गोश्च—गोशब्द प्रकृतक पठयन्ते मयद् प्रत्यय हो, पुरीये अर्थमें ।

एण्या—एणी प्रकृतिक पठयन्ते दम् प्रत्यय हो, विकार और अवयव अर्थमें ।

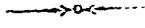
गोपट—गो और पयस् प्रकृतिक पठयन्ते यद् प्रत्यय हो, विकारादि अर्थमें ।

फले—विकारार्थक और अवयवार्थक प्रायवका लुक् हो, फलरूप अर्थ विरहित रहे तो ।

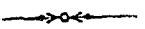
लुक् तद्धित—तद्धितका लुक् होने पर लो प्रत्ययका लुक् हो । प्लास्त्र—प्लस्त्रादि
 प्रकृतिक पठयन्ते अण् प्रायव हो, फलरूप अर्थ यदि विकारावयवत्वेन विच्छिन्न रहे ।

न्यप्रोषस्य—केवल (पदान्तर रहित) न्यप्रोषके आदि अण्को कृदि नहीं हो, किन्तु
 पकारते पूर्व ईच्चा जागम हो, मित्-मित्-कित्के परे । जम्ब्या—जम्बु शब्दसे अण्

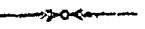
जम्बु ॥ लुप् च । १४।३।१६६। जन्वाः फलप्रत्ययस्य लुच्चा स्यात् । लुपि युक्त्वत् ।
जम्बुः ॥ (फलपाकशुषामुपसंख्यानम्) । ग्राहयः । सुद्रगाः । (पुष्पमूलेषु
बहुलम् ।) मक्षिकायाः पुष्पं-मक्षिका ! जात्याः पुष्पं-जाती । विदार्या मूलं—
विचारो । बहुलप्रहणान्नेह, -पाटलानि पुष्पाणि । साल्वानि मूलानि । बाहुलकात्कचि-
ल्लुक्-अशोकम्, करवीरम् ॥ हरीतक्यादिभ्यश्च । १४।३।१६७। फलप्रत्ययस्य
लुप् । (हरीतक्यादीनां लिङ्गमेव प्रकृतिवत्) । हरीतक्याः फलानि-हरीतक्यः ॥
इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम् ।



लुप् च । लुक्चैव तिद्धे लुक्चिधेः फलमाह—लुपि युक्त्वदिति । जम्बूरिति । जम्बुः फल-
मित्यर्थः । फलप्रत्ययस्य लुपि युक्त्वत्त्वेन विशेष्यलिङ्गवचने बाधित्वा स्त्रीत्वमेकव-
चनं चेत्यर्थः । तथा च जम्बुः फलान्यपि जम्बुरेव । फलपाकेन
शुष्यन्तीति फलपाकशुषः ओषधयः, सप्तापिम्बः परस्य फलप्रत्ययस्य लुप् उपसंख्या-
नमित्यर्थः । ग्राहय इति । ग्राह्याख्यानालोपधीर्भा फलानीत्यर्थः । एवं सुद्रगाः । शिववा-
घणो लुप् । युक्त्वत्त्वात् पुंस्यम् न तु द्विषेष्वाभिव्यक्तम् । पुष्पमूलेषु बहुलमिति ।
वार्तिकमिदम् । विकारावयवप्रत्ययस्य लुप् स्यादिति शेषः । पुष्पं मक्षिकेति । 'अथ
द्वितीयं प्राणीपात्' इत्यनुवृत्तौ 'मादीनां च' इति फिट् सूत्रेण सभ्योदात्तो मक्षिकाशब्दः ।
ततः 'अनुदात्तादेश' इत्यस्योऽनेन लुप् । युक्त्वत्त्वात्स्त्रीत्वम् । भावोति । 'लघ्वान्ते'
इत्यन्तोदात्तो जातिशब्दः । ततः 'अनुदात्तादेश' इत्यस्योऽनेन लुप्, युक्त्वत्त्वात्स्त्री-
त्वम् । विदार्येति । जातिस्त्रीपन्तमिदम् । प्रत्ययस्यद्वेणान्तोदात्तम् । अनुदात्तादिस्त्वादिति
तस्य लुप्, युक्त्वत्त्वात् स्त्रीत्वम् । पाटलानीति । दिव्यादिस्त्वादण् । एवं साल्वानि ।
हरीतक्यादीनामिति । वार्तिकमिदम् । एषा अल्लुक्लिङ्गमेव लुप्प्रत्ययार्थं अचिद्विरयत्ते,
न तु प्रकृतिवचनमपीत्यर्थः । इति प्राग्दीव्यतीयाः ।



प्रत्यय ही, फलरूप विकारावयव अर्थमे, विकल्पते । लुप् च—जम्बु शब्दत्वे विहित फलार्थे
प्रत्ययका लुप् हो, विकल्पते । लुपि युक्त्वत्—लुप् होनेपर प्रकृतिषो तरह ही फिट् और
वचन दो । फलपाक—फलके परिपाकसे सूखनेवालो ओषधि वाचकसे फलार्थक प्रत्ययका
लुप् हो । पुष्पमूलेषु—पुष्प और मूलमें विकारावयवार्थक प्रत्ययका बहुलतासे लुप् दो ।
हरीतक्या—हरीतक्यादिसे विहित फलार्थक प्रत्ययका लुप् हो ।
हरीतक्यादीनां—हरीतक्यादिका लिङ्ग ही प्रकृतिवत् हो—वचन नही ।
इस प्रकार 'हन्दुमती' टीकामें विकारार्थक प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ ठगधिकारप्रकरणम्

प्राग्बहतेष्ठक् । १४।१। तद्बहतीत्यत प्राक् ठगधिक्रियते । (तद्बाहेति
 माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्) । माशब्द कारि इति य आह स-
 माशब्दिक ॥ (आहौ प्रभूतादिभ्यः) । प्रभूनाद्-प्रभूतिक । पार्याप्तिक ॥
 (पृच्छतौ सुस्नातादिभ्य) । सुरनात पृच्छनि-सौस्नातिक । मौखशायनिक ॥
 अनुशक्तिकादि ॥ (गच्छतौ परदारादिभ्य) । पारदारिक । गौरतल्पिक ॥
 तेन दीभ्यति खनति जयति जितम् । १४।२। अर्धेर्दीभ्यति जयति जितं वा-
 आक्षिक । अग्रथा खनति-आभ्रिक ॥ संस्कृतम् । १४।३। दन्ता संस्कृत-दाधि-
 कम् । मारिचिकम् ॥ तरति । १४।५। उद्भवेन तरति-औद्भपिक ॥ गोपुच्छाट्टम् ॥

प्राग्बहतेष्ठक् । बहतीत्येकदेशेन 'तद्बहति रथयुगमासङ्गम्' इति सूत्र पराः सुरवते
 इत्यभिप्रेयाह—तद्बहतीत्यत इति । तद्बाहेति । इतिशब्दो ऋणमेव सञ्चयदानन्तरं
 वृष्टयः । तदित्यादेश्यर्थे माशब्द स्वागत इत्यादिशब्देभ्यः ठक् उपसंख्यानमित्य-
 न्त्यय । तदित्यनेन वाक्यार्थो विवक्षित । इतिशब्दस्तस्य वाक्यार्थस्य कर्मत्वं गम-
 यतीति । आहोति । आहोतिपदकदेशादिकारस्य उच्चारणार्थो निर्देशः । तदिति
 पूर्ववार्तिकादनुवर्तते । आदेश्यर्थे द्वितीयान्तेभ्यः प्रभूतादिभ्यपठवाच्य इत्यर्थः ।
 पार्याप्तिक इति । पार्याप्तमादेश्यर्थः । पृच्छनादिति । तदित्यनुवर्तते । पृच्छतीत्यर्थे द्विती-
 यान्तेभ्यः सुरनातादिभ्यः ठवाच्य इत्यर्थः । मौखशायनिक इति । मुखशायन पृच्छती-
 त्यर्थः । अनुशक्तिकादिति । अनुशयनशब्द इति शेषः । ततश्च 'अनुशक्तिकादीनां च'
 इति पूर्वोत्तरपदसोरादिबुद्धिरिति भावः । गच्छतादिति । तदित्यनुवर्तते । गच्छ-
 त्यय परदारादिभ्यो द्वितीयान्तेभ्य ठगित्यर्थः । पारदारिक इति । परदारान्
 गच्छतीत्यर्थः । गौरतल्पिक इति । गुरतल्प गच्छतीत्यर्थः । गुरतल्पो गुरतो ।
 गोपुच्छाट्टम् । तरतीत्यय तृतीयान्तादिति शेषः । नोद्भवचञ्च् । ठनिति षष्ठेर् ।
 ष्टुत्वकृतः सस्म प्रकारः । तरतीत्यर्थे औशब्दात् द्वयवध तृतीयान्तात् ठनि

प्राग्बहते—तद्बहति रथयुग' इति सूत्र तत्र 'ठक्'का अधिकार इ । तद्बाहेति—कर्म
 सङ्क 'मा' शब्दादिसे 'आह' अर्थेन ठक् प्रत्यय हो । आहौ—द्वितीयान्त प्रभूतादिसे आह
 अर्थेन ठक् प्रत्यय हो । पृच्छतौ—द्वितीयान्त सुरनातादिसे पृच्छति अर्थेन ठक् प्रत्यय हो ।
 गच्छतौ—द्वितीयान्त परदारादिसे गच्छति अर्थेन ठक् प्रत्यय हो ।
 तेन दीभ्यति—तृतीयान्तसे दीभ्यति-आदि अर्थेन ठक् प्रत्यय हो । संस्कृतम्-तृतीया-
 न्तसे संस्कृत अर्थेन ठक् प्रत्यय हो । तरति—तृतीयान्तसे तरति अर्थेन ठक् प्रत्यय हो ।
 गोपुच्छाट्टम्—गोपुच्छ प्रकृतिक तृतीयान्तसे तरति अर्थेन ठक् प्रत्यय हो ।

४।४।६। गौपुच्छिकः ॥ नौद्वयचष्टन् ४।४।७। नाविकः । घटिकः ॥ चरति । ४।४।८।
 हस्तिना चरति-हास्तिकः । दम्ना भक्षयति-दाधिकः । शकटेन चरति-शाकटिकः ॥
 पर्पादिभ्यः ष्टन् ४।४।१०। पर्पेण चरति-पर्पिकः । येन पीठेन पङ्गवध्वरन्ति सः-
 पर्पः । अक्षिकः । रथिकः ॥ श्वगणाट्टञ् च ४।४।११। चात्ष्टन् ॥ श्वादेरिञि
 ७।३।८। ऐञ् न । श्वामञ्चिः ॥ (इकारादाविति वाच्यम्) । श्वगणेन चरति-श्वा-
 गणिकः, श्वागणिकी, श्वगणिकः । श्वगणिकी ॥ वेतनादिभ्यो जीवति ४।४।१२।
 वेतनेन जीवति-वैतनिकः । धानुक्कः ॥ हरत्युत्सङ्गादिभ्यः ४।४।१५। उत्सङ्ग
 हरति-श्रौत्सङ्गिकः ॥ भस्त्रादिभ्यः ष्टन् ४।४।१६। भस्त्रया हरति-भस्त्रिकः । पित्त्वाद्

एथ्यः । नाविक इति । नावा तरतीत्यर्थः । घटिक इति । घटेन तरतीत्यर्थः । आक्षिकः ।
 अक्षशब्दात्तृतीयान्ताद् दीग्यति, खनति, जयति, जितम्, इत्येतेषु अर्थेषु 'तेन
 दीग्यतिखनतिजयतिजितम्' इति सूत्रेण ठक्कि कृते 'अप भिस् ठक्' इति जाते
 क्लोपे 'सुपो धातुप्रातिपदिकयोः' इति भिसो लुकि, 'ठस्येकः' इति ठस्य इकादेशे
 'यधि भम्' इति भसंज्ञायाम् 'यस्येति च' इति अलोपे 'किति च' इति आद्यघो
 वृद्धौ प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ, सस्य रूपे रेफस्य विसर्गत्वे च 'आक्षिकः' इति ।
 श्वगणाट्टञ् च । उक्तविषये इति शेषः । श्वगणशब्दात्तृतीयान्तात्तरतीत्यर्थे ठञ्
 ष्टन् च स्यादित्यर्थः । श्वागणिक इत्युदाहरणं वक्ष्यति । तत्र भन्तशब्दस्य द्वारादि-
 श्वादेशागमे प्राप्ते—। श्वादेरिञि । 'न कर्मण्यतिहारे' इत्यतो नेत्यनुवर्तते । अङ्गस्येत्य-
 षिकृतम् । भन्तशब्दः आदिर्यस्येति विग्रहः । भन्तशब्दपूर्वपदस्याङ्गस्य 'अभि परे नैजा-
 गम इत्यर्थः । श्वामञ्चिरिति । 'अत इज्' । इकारादाविति वाच्यमिति । इञीति परित्यज्य
 इकारादाविति वाच्यमित्यर्थः । इञि तु व्यपदेशिवत्त्वेन इकारादित्वम् । श्वगणिक
 इति । ष्टनि रूपम् । वेतनादिभ्यो जीवति । जीवतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः ठगिति शेषः ।
 वैतनिक इति । वेतनेन जीवतीत्यर्थः । धानुक्क इति धनुषा जीवतीत्यर्थः । उत्सङ्गात्प-
 रत्वाट्टस्य कः । 'हृणः चा' इति पत्वम् । हरत्युत्सङ्गादिभ्यः । हरतीत्यर्थे तृतीयान्तेभ्यः
 उत्सङ्गादिभ्यः ठक् स्यादित्यर्थः । भस्त्रादिभ्यः ष्टन् । ष्टनितिच्छेदः । हरतीत्यर्थे तृतीया-

नौद्वयचः—'नौ तथा द्वयच् प्रकृतिक तृतीयान्तसे'तरति अर्थमे ठञ् प्रत्यय हो ।

चरति—तृतीयान्तसे चरति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । पर्पादिभ्यः—पर्पादि प्रकृतिक तृती-
 यान्तसे चरति अर्थमे ष्टन् प्रत्यय हो । श्वगणात्—श्वगण प्रकृतिक तृतीयान्तसे चरति अर्थमे
 ठञ् और ष्टन् प्रत्यय हो । श्वादेरिञि—इञ् प्रत्ययके परे श्वादिते ऐच्का आगम नहीं हो ।

इकारा—इकारादि तदितके परे-श्वादिकी ऐच् नहीं हो—ऐसा कहना चाहिये ।

वेतना—वेतनादि प्रकृतिक जीवति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । हरत्युत्—उत्सङ्गादि प्रकृ-
 तिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । भस्त्रादिभ्यः—भस्त्रादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे

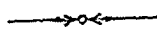
मद्विद्धी । विभाषा विवधात् । १४।४।१७। छन् । पक्षे ठक्, विवधेन हरति—
 विवधिक । एकदेशविकृतत्वाद्दीवधादपि । बोवधिक विवधविवधशब्दौ उभयतो
 नदशिकये स्कन्धवाह्ये काष्ठे वर्तते ॥ निर्घृष्टेऽक्षद्युतादिभ्यः । १४।४।१९। अक्ष
 द्युतेन निर्घृत्तम् आक्षयनिक वैरम् ॥ संसृष्टे । १४।४।२२। दम्ना संसृष्टं दाधिकम् ॥
 लवणात्लुक् । १४।४।२४। लवणेन संसृष्टो लवण सूयः ॥ मुद्गादण् । १४।४।२५।
 मोद्ग ओदन ॥ उञ्छति । १४।४।२२। बदराण्युञ्छति चादरिक ॥ रक्षति
 । १४।४।३३। समाज रक्षति—सामाजिक ॥ शब्ददुर्ं करोति । १४।४।३४। शब्द
 करोति—शाब्दिक । दार्दुरिक ॥ पश्चिमस्वमृगान् हन्ति । १४।४।३५। स्वरूपस्य
 पर्यायाणां विशेषाणां च ग्रहणम् । मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव । पक्षिणो हन्ति—
 पाक्षिक । शाकुनिक । मायूरिक । मारित्यक । मैनिक । साकुलिक । मार्गिक ।
 हारिणिक । सारङ्गिक ॥ धर्मं चरति । १४।४।४१। धार्मिक ॥ (अधर्माञ्चेति
 धक्तव्यम् । आधार्मिक ॥ तदस्य पण्यम् । १४।४।४१। अणुषां पण्यमस्य—

न्तेभ्यो मझादिभ्यः छन् स्थाहित्यर्थः । विभाषा विवधात् । इरतीत्यर्थं तृतीयान्तात्
 ह्निति शेष । निर्घृष्टेऽक्षद्युतादिभ्यः । निर्घृत्तमित्यर्थं तृतीयान्तेऽप्योऽक्षद्युतादिभ्यः
 ठगित्यर्थः । संसृष्टे । संसृष्टमित्यर्थं तृतीयान्तात् ठगित्यर्थं । लवणात्लुक् । पूर्वसूत्रविधि-
 तस्येति शेष । मुद्गादण् । तेन संसृष्टमित्यर्थं तृतीयान्तादिति शेष । मोद्ग ओदन इति ।
 मुद्गां संसृष्ट इत्यर्थः । मीनस्यैवेति । मत्स्यपर्यायेषु मीनस्यैव ग्रहणम्, न रजनिमिपादि
 शब्दानामित्यर्थः । पाक्षिक इति । स्वरूपस्योद्वाहरणम् । शाकुनिक इति । पक्षिपर्यायस्य ।
 मायूरिक इति । पक्षिविधेयस्य । तथा मारित्यक, मैनिक, साकुलिक इति क्रमेण स्वरू-
 पपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । तथा मार्गिक, हारिणिक, सारङ्गिक, इति क्रमेण

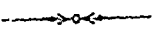
हरति अर्थमे छन् प्रत्यय हो । विभाषा—विधिक प्रकृतिक तृतीयान्तसे हरति अर्थमे छन् प्रत्यय
 हो, विकल्पते । निर्घृष्टे—अक्ष-युतादि प्रकृतिक तृतीयान्तसे निर्घृष्ट अर्थमे ठक् प्रत्यय हो ।
 संसृष्टे—तृतीयान्तसे संसृष्ट अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । लवणात्—लवणप्रकृतिक तृतीयान्-
 तसे संसृष्ट अर्थमे विहित ठक् प्रत्ययका लुक् हो । मुद्गादण्—तृतीयान्त मुद्ग शब्दसे
 संसृष्ट अर्थमे अण् फ-वय हो । उञ्छति—द्वितीयान्तसे उञ्छति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो ।

रक्षति—द्वितीयान्तसे रक्षति—अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । शब्द—शब्द और दुर्दुर प्रकृतिक
 द्वितीयान्तसे करोति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । पश्चिमस्व—पश्चि-मत्स्यादि प्रकृतिक द्वितीयान्तसे
 हन्ति अर्थमे ठक् प्रत्यय हो । धर्मं चरति—धर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे चरति अर्थमे ठक्
 प्रत्यय हो । अधर्मा—अधर्म प्रकृतिक द्वितीयान्तसे मो चरति अर्थ मे ठक् प्रत्यय हो—पक्ष
 कर्त्वा चादिने । तदस्य—‘अस्य पण्यम्’ अर्थमे प्रथमाश्रयो ठक् प्रत्यय हो ।

आपूपिकः ॥ लवणाट्टञ् ॥ १४१५२ ॥ लावणिकः ॥ शिल्पम् ॥ १४१५५ ॥ चूदा-
 वादनं शिल्पमस्य-मार्दङ्गिकः ॥ प्रहरणम् ॥ १४१५७ ॥ असिः प्रहरणमस्य—
 आशिकः । धानुकः ॥ शक्तियष्ट-चोरीकम् ॥ १४१५९ ॥ शाक्तीकः । याष्टीकः ॥
 अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः ॥ १४१६० ॥ अस्ति परलोक इत्येवं मतिर्यस्य सः—
 आस्तिकः । नास्तीति मतिर्यस्य सः—नास्तिकः । दिष्टमिति मतिर्यस्य सः—दैष्टिकः ॥
 शीलम् ॥ १४१६१ ॥ अरूपभक्षणं शीलमस्य-आपूपिकः ॥ छत्रादिभ्यो णः ।
 ॥ १४१६२ ॥ सुरोर्दोषाणामावरणं छत्रं, तच्छीलमस्य-छत्रः ॥ तत्र नियुक्तः ।
 ॥ १४१६९ ॥ आकरे नियुक्त आकरिकः ॥ निकटे वसति ॥ १४१७३ ॥ नैकटिको
 मिधुः ।
 इति ठगधिकारप्रकरणम् ।



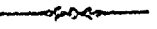
स्वरूपपर्यायविशेषाणामुदाहरणम् । प्रहरणम् । तदिति प्रथमासमर्पादरथेति पष्ठर्थे
 ठक् प्रत्ययो भवति । यत्प्रथमासमर्थं प्रहरणं वेत्तद्भवति । प्रद्वियतेऽनेनेति प्रहरण-
 मायुधम् । आतिकः । असिः प्रहरणमस्य 'आसिकः' इत्यत्र 'प्रहरणम्' इति ठकि,
 ठस्येकादेशे सुपो लुकि, 'यच्च नमि'ति ऋत्वे, अलोपे, संपोणे, वृद्धौ विभक्तिकार्ये च
 तलित्थिः । शक्तियष्टचोरीकम् । शक्तियष्टिशब्दाभ्यां प्रथमान्ताभ्यां प्रहरणवाचिभ्यामस्ये-
 थर्थे ईकच् ह्यादिभ्यर्थः । अस्ति नास्ति । अस्तीति नतिरस्यास्ति, नास्तीति मतिरस्या-
 स्ति, दिष्टमिति मतिरस्यास्तीत्यर्थेषु क्रमेण अस्तीत्यस्मात् नास्तीत्यस्मात् दिष्टमित्य-
 स्माच्च प्रथमान्ताट्टणित्यर्थः । अस्तिनास्तिशब्दौ निपातौ । यद्वा वचनादेव आख्याता-
 थप्रत्ययः । 'द्वेवं दिष्टं मागधेयम्' इत्यमरः । इति ठगधिकारः ।



लवणा—लवण शब्दते ठक् प्रत्यय हो, 'अस्य पण्यम्' इस अर्थमें । शिल्पम्—'अस्य
 शिल्पम्' इस अर्थमें प्रथमान्तते ठक् प्रत्यय हो । प्रहरणम्—'अस्य प्रहरणम्' इस अर्थमें
 प्रथमान्तते ठक् प्रत्यय हो । शक्ति—शक्ति और यटि शब्दते ईकच् प्रत्यय हो, 'अस्य प्रहर-
 णम्' इस अर्थमें । अस्तिनास्ति—अस्ति, नास्ति और दिष्ट शब्दोंसे 'इति मतिर्यस्य' इस
 अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । शीलम्—प्रथमान्तते 'अस्य शीलम्' अर्थमें ठक् प्रत्यय हो ।

छत्रादिभ्यो—छत्रादिते 'अस्य शीलम्' अर्थमें ण प्रत्यय हो । तत्र नियुक्तः—सप्तम्य-
 न्तते नियुक्त अर्थमें ठक् प्रत्यय हो । निकटे—निकटप्रकृतिक सप्तम्यन्तते 'वसति' अर्थमें
 ठक् प्रत्यय हो ।

इस प्रकार 'इन्दुमती' टीका में ठगधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ प्राग्घतीयप्रकरणम्

प्राग्घिताद्यत् ॥४॥४॥७५॥ 'तस्मै हितम्' इत्यतः प्राग् यदधिक्रियते ॥ तद्ध
इति रथयुगप्रासङ्गम् ॥४॥४॥७६॥ रथ वहति-रथ्यः । युग्म । प्रासङ्ग्य ॥
घरो यद्बद्धकी ॥४॥४॥७७॥ घुर्यं, घोर्य ॥ हलसीराट्ठक् ॥४॥४॥८१॥ हलं वहनि-
हालिक ॥ सैरिक् ॥ विध्यत्यघनुषा ॥४॥४॥८३॥ द्वितीयान्ताद्विष्यतीत्यर्थे यत्
स्यात् न चेत्य घनुः करणम् । पादौ विभ्यन्ति-पद्या शर्करा ॥ नौवयोधर्मविष
मूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यंतुल्यप्राप्यघभ्यानाभ्यसमसमितसमितेषु ॥४॥
४॥९१॥ नावा तार्यं-नाव्यं जलम् । वयसा तुल्यं-वयस्यः । धर्मेण प्राच्यं-धर्म्यम् ।
विषेण वध्यं-विध्यः । मूलेन घानाम्यं-मूलम् । मूलेन समं-मूल्यम् । सीतया
समितं-सौर्यं क्षेत्रम् । तुलया समितं-तुल्यम् ॥ तत्र साधुः ॥४॥४॥९८॥ सामधु
साधुः—सामन्य । अग्रप । कर्मण्य । शरण्य ॥ समाया यः ॥४॥४॥१०५॥ सम्य ।
इति प्राग्घतीयप्रकरणम् ॥



रथ्यः । रथं वहति 'रथ्य' इत्यत्र 'तद्धृति रथयुगप्रासङ्गम्' इति यति, तलोपे
ध्रुपो लुकि 'यचि भम्' इति भावे 'यस्येति च' इति अकारलोपे सधोमे विभक्ति
कार्यं च लृते 'रथ्या' इति सिद्धम् । हलसीराट्ठक् । आत्मा द्वितीयान्ताभ्यां
वहतीत्यर्थे ठगिरेयं । विध्यत्यघनुषा । तद्विति द्वितीयान्तमनुवर्तते । अघनुवेति
सतन्त्यर्थे एतीया । अघनुषः । अभावः अघनुः तस्मिन् सतीत्यर्थः । अर्थाभावे नञ्
तत्पुरुष, अर्थाभावे अक्षयीभावेन अयं विकल्प्यत इत्युक्तत्वात् । द्वितीयान्ताद्विष्य
सीत्यर्थं यत्साधुनूप करणस्याभावे सतीत्यर्थः । इति प्राग्घतीयः ।



प्राग्घिताद्यत्—'तस्मै हितम्' इति सूत्रे तत्र 'यत्' का अधिकारः । तद्धृति—रथादि-
प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमे यत् प्रत्ययः हो । घुरो यद्बद्धकी—ध्रु-प्रकृतिक
द्वितीयान्तसे वहति अर्थमे यत् प्रत्यय ओर ट्ठक् प्रत्ययः हो ।

हलसीराट्—हल ओर सीर-प्रकृतिक द्वितीयान्तसे 'वहति' अर्थमे ठक् प्रत्ययः हो ।

विष्यत्य—वेषमे यदि अनुषकरणं नहो हो तो—द्वितीयान्तसे 'विष्यति' अर्थमे यत्
प्रत्ययः हो । नौवयो—नावादि प्रकृतिक एतीयान्तसे तार्यादि अर्थमे यत् प्रत्ययः हो ।

तत्र साधुः—सतन्त्यन्तसे साधु अर्थमे यत् प्रत्ययः हो । समायाः—समा-प्रकृतिक सत-
न्त्यन्तसे साधु अर्थमे 'य' प्रत्ययः हो ।

इत्युक्तत्वात् 'इन्दुवर्ती' शीकामे प्राग्घतीय प्रकरणं समाप्तं इत्या ।



अथ आर्हीये छयदधिकारप्रकरणम्

प्राक् क्रीताच्छः । ५।१।१। तेन क्रीतमित्यतः प्राक् छोऽधिक्रियते ॥ उगवा-
दिभ्यो यत् । ५।१।२। प्राक् क्रीतादित्येव । उवर्णान्ताद्गवादिभ्यश्च यत् स्याच्छ-
स्यापवादः ॥ (नाभि नभं च) नभ्यः अक्षः । नभ्यम्-अञ्जनम् । रयनाभावेवे-
दम् ॥ (शुनः संप्रसारणं वा च दीर्घत्वम्) । शुन्यम् । शून्यम् ॥
(ऊवसोऽनङ् च) ऊधन्यः ॥ कम्बलाच्च संज्ञायाम् । ५।१।३। यत् ।
कम्बल्यम्-ऊर्णापलशतम् । संज्ञायां किम् ? कम्बलीया ऊर्णा ॥ विभाषा हवि-
रपूपादिभ्यः । ५।१।४। आमिक्ष्यं दधि, आमिक्षीयम् । पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरो-
डाश्याः । अपूप्यम् । अपूपीयम् ॥ तस्मै हितम् । ५।१।५। वत्सेभ्यो हितो
वत्सीयो गोधुक् । शङ्ख्यं दाह । गव्यम् । हविष्यम् ॥ शरीरावयवाद्यत् । ५।१।६।

रयनाभावेवेदमिति । शरीरावयवविशेषवाचिनाभिशब्दान्तु 'शरीरावयवाद्यत्' इति
वचनमात्रः केवलो यत्, न तु नभादेश इति भावः । शुनः संप्रसारणमिति । गवादिग-
सूत्रम् । श्वन्शब्दाद्यस्यात् प्रकृतेः संप्रसारणम्, तस्य संप्रसारणस्य पाक्षिकं दीर्घत्वमि-
त्यर्थः । शुन्यम्, शून्यमिति । शुने हिनमिरत्यर्थः । ऊवसोऽनङ् चेति । हृदमादिगण
सूत्रम् । ऊवसुशब्दात् यस्यात् प्रकृतेरनङादेशश्चेत्यर्थः । आदेशे ङकार इत् नकाराद्
कार उच्चारणार्थः । छिरवादनतादेशः । कम्बलाच्च । कम्बलशब्दात् यस्यात् प्राक्क्री-
तीयेष्वर्थेषु संज्ञायामित्यर्थः । कम्बल्यम्—ऊर्णापलशतमिति । कम्बलाया हितमित्यर्थः ।
विभाषाहविः । हविर्विशेषवाचिभ्यः अपूपादिभ्यश्च प्राक्क्रीतीयेष्वर्थेषु यद्वा स्यादित्यर्थः ।
पञ्चे छः । आमिक्ष्यं दधीति । आमिक्षायै हितमित्यर्थः । तप्ते पयसि दग्नि निक्षिप्ते सति
यदानीभूतं निष्पद्यते सा आमिक्षेऽगुच्यते । शङ्ख्यम् । शङ्खे हितं 'शङ्ख्यम्' इत्यत्र
'प्राक् क्रीताच्छः' इति छे प्राप्ते 'तं सम्वाध्य 'उगवादिभ्यो यत्' इति यति, तगते
'सुपो लुकि, 'यचि नम्' इति भवे भवात् 'ओर्गुणः' इति गुणे 'वान्ते

प्राक् क्रीतात्—'तेन क्रीतम्' इति सूत्रे तक 'छ' का 'अधिकार' है । उगवा—उवर्णान्तसे
और गवादिसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें । नाभि—नाभि शब्दसे यत् प्रत्यय हो और
नाभिको नम आदेश हो । शुनः—श्वन् शब्दसे यत् प्रत्यय और श्वन्को संप्रसारण हो तथा
संप्रसारणको विकल्पसे दीर्घ भी हो । ऊवसो—ऊवसु शब्दसे यत् प्रत्यय हो और ऊवसु को
अनङ् आदेश हो । कम्बलाच्च—संज्ञामें कम्बल शब्दसे यत् प्रत्यय हो, हितादि अर्थोंमें ।

विभाषा—हविर्विशेषवाचीसे और अपूपादिसे विकल्प करके यत् प्रत्यय हो, हितादि
अर्थोंमें । तस्मै हितम्—चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यथाविहित पूर्वोक्त और वक्ष्यमाण प्रत्यय
हो । शरीरावयव—शरीरावयववाची चतुर्थ्यन्तसे हित अर्थमें यत् प्रत्यय हो ।

दन्त्यम् । कण्ठ्यम्, नस्यम् । नाभ्यम् ॥ अज्ञाविभ्यां ध्यन् ॥५१॥८॥
 अज्ञप्या यृधि । अविप्या ॥ आत्मन्धिभ्वजनभोगोत्तरपदात्तः ॥५१॥९॥
 आत्माध्वानौ स्ते ॥६॥४॥१६९॥ प्रकृत्या स्त । आत्मने हितम्-आत्मनीनम् ।
 विभ्रजनीनम् । (फर्मधारयाद्देव्यते) । अन्यत्र-विभ्रजनीयम् । (पञ्चजनादु-
 पसंख्यानम्) । पञ्चजनीनम् । 'कुमति च' इति ण । मातृभोगीण ॥
 (आचार्यादणत्वं च) आचार्यभोगीण ॥ इति छयतो णोऽवधिः ॥

अथ आर्हाये ठञ्चधिकारप्रकरणम्

प्राद्वतेष्टव् ॥५१॥१८॥ तेन वृत्त्यमित्यत प्राक् ठञ्चधिक्रियते ॥ आर्हा-
 दगोपुच्छसख्यापरिमाणट्ठक् ॥५१॥१९॥ तदर्हतीत्येतदभिव्याप्य ठञ्चधिकार-

वि प्राद्वे' इत्यवादेशो विभक्तिकार्ये च कृते 'अङ्गव्यम्' इति । अज्ञाविभ्यां च न् ।
 अज्ञप्या अविप्येति द्वन्द्वः । अविशब्दस्य विधेऽपि 'अज्ञाद्यदन्तम्' इत्यजशब्दस्य पूर्व-
 निपातः । अज्ञप्या यृधिरिति । अज्ञेय्य- अज्ञायो वा हिमेत्यर्थः । लिङ्गविशिष्टपरिभाषया
 अज्ञागद्वाइपि ध्यन्, सतिष्ठादिस्थिति पुवरवम् । अदिध्येति । अविभ्यो द्वितेश्चर्धः ।
 स्त्रीत्व लोकात् । आचार्यादिति । आचार्यशब्दापरस्य भोगीन्शब्दस्य नस्य णत्वा
 गायो वाच्य इत्यर्थः । न च असमानपदस्यत्यावेवात्र णत्वात्प्रसक्तेश्चिपेधो म्यर्धं
 इति याच्यम्, मातृभोगीणार्थे णत्वात्प्राप्तत्वात् । इति छयदधिकार प्रकरणम् ।

आर्हादगोपुच्छसख्यापरिमाणट्ठक् । 'तदर्हती'ति सूत्रगते अर्हतिशब्दे एकदेशानु-
 करणमर्हति, तच्च तदट्ठितसूत्रपरम् । आर्हाभिव्याप्तौ, व्याख्यानत्वात् । तद्वाह-उदर्ह-
 तीति । इत्येतदभिव्याप्येति । इदमपि सूत्र प्राद्वदविशेषाश्रयणे उपविष्टते । अप्र

। अज्ञाविभ्यां—अज्ञ और अवि-प्रकृतिक चतुर्थ्य-तसे हित अर्थमें स प्रत्यय हो ।

आज्ञप्या—आज्ञादि प्रकृतिक चतुर्थ्य-तसे हित अर्थमें स प्रत्यय हो ।

आत्माध्वानौ—'अ' प्रत्ययके परे आत्मन् और अध्वन् प्रकृतियत् रहें ।

'फर्मधारया—विभ्रजनसे फर्मधारय समासमें हो स प्रत्यय हो । पञ्चजना—पञ्चजन
 प्रकृतिक चतुर्थ्य-तसे मी हित अर्थमें स प्रत्यय हो । आचार्यात्—आचार्यसे पर (भोगीनके)
 लकारको गत्य नहीं हो ।

इस प्रकार 'ट्ठुगती' श्लोकमें छयदधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

—०—

शब्दत्रे—'तेन हृष्यं दति' इस सूत्र तक 'ठञ्' का अधिकार है । आर्हात्—'तदर्हति'
 इस सूत्र तक ठञ्चधिकारमें उपन्यासक 'ठक्' का अधिकार है—गोपुच्छादिको छोड़कर ।

मध्ये ठनोऽपवादप्रगधिक्रियते । गोपुच्छादीन्वर्जयित्वा ॥ असमासे निष्का-
 दिभ्यः । ५।१।२०। आर्हादित्येतत् तेन क्रीतमिति यावदनुवर्तते । निष्कादिभ्योऽ-
 समासे ठक् आर्हायिष्वर्थेषु । निष्केण क्रीतमिति-नैष्किक्म् । समासे तु ठञ् ॥ परि-
 माणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः । ७।३।१७। उत्तरपदबुद्धिर्विदादौ । परमनैष्किः ॥
 शताब्ध ठन्यतावशते । ५।१।२१। शतेन क्रीतत्-शत्यम्, शक्तिक्म् । अशते
 क्रिम् ?—संख्याया अतिशदन्तायाः कन् । ५।१।२२। आर्हादिभ्यः । शतं परि-
 माणमस्य शतकः सङ्घः । बहुकः । त्यन्तायास्तु-साप्ततिकः । शदन्तायाः-चात्वारि-
 शत्कः ॥ वतोरिड्वा । ५।१।२३। वत्यन्तात्कन इड वा । तावत्कः, तावतिकः ॥ कंसा-
 द्दिठन् । ५।१।२५। कंसिकः ॥ (अर्थाच्चेति वक्तव्यम्) अर्थिकः ॥ अर्थाद्यु-

संख्यापरिमाणयोः प्रथमग्रहणात् संख्या न परिमाणम् । जतमास इति । वाददिति ।
 'तेन क्रीतम्' इत्येतत्पर्यन्तमित्यर्थः । ठगिति । पूर्वसुत्रात्तदनुवृत्तेरिति माधः ।
 आर्हायिष्विति । 'तद्वर्ति' इत्येतरपर्यन्तमतिक्रान्तेषु 'तेन क्रीतम्' इत्याशयेऽप्यित्यर्थः ।
 नैष्किक्मिति । निष्केण क्रीतमित्यर्थः, यथायोगं क्रीतापर्यायत्वमः । समासेऽपि ठयिति ।
 परमनिष्कादिशब्दादित्यर्थः । शेषपूरणेन तद्व्याचष्टे-उत्तरपदशक्तिः स्यादिति । उत्तर-
 पदस्य आदेरथो बुद्धिः स्यादित्यर्थः । मित्रादाविति । मिति णिति किति स्त्वर्थः ।
 परमनैष्किक् इति । परमनिष्केण क्रीतमित्यर्थः । समासत्वात्कणमात्रे औसर्गिकहम् ।
 स्वरे विशेषः । शताब्ध ठन्यतावशते । आर्हायिष्वर्थेषु शताठन्यतौ स्तः, यं तु
 शतेऽर्थे ह्यर्थः । उत्तरसूत्रप्राप्तकनोऽपवादः । संख्यायाः । तिस्र षष्ठ तिस्रदौ, तौ
 अन्ते यस्याः सा तिस्रदन्ता, न तिस्रदन्ता, अतिशदन्ता, इन्द्रहर्मयहुनीहिगर्भो नन्-
 तपुरुषः । साप्ततिक इति । सप्तम्या क्रीत इत्यर्थः । तेन क्रीतम्' इति ङ् । चत्वारि-
 शत्क इति । चात्वारिषता क्रीतमित्यर्थः । 'तेन क्रीतम्' इति ङ् । अष्टस्य तकादात्पर-
 स्वारकः । वतोरिड्वा । वतोरित्यनेन प्रथमग्रहणपरिमाणया तदन्तं गृह्यते । छदिति
 प्रथमान्तसप्तसृष्टम् । इतोः इति पञ्चमी, तस्मादित्युत्तरस्य' इति परिभाषया षष्ठ्य-
 न्तं प्रकृत्ययति, तदाह—वत्यन्तादिति । तावतिक इति । तावता क्रीत इत्यर्थः ।
 'यत्तदेतेभ्यः' इति वतुप्, 'बहुगणवतु' इति संख्यासंज्ञायां 'संख्याया अतिशदन्तायाः'
 इति कन्, तस्य इट्, टिरवाधाद्ययवः । कंसात् इत्यादि स्पष्टम् । अथपपूर्वाद् द्विगो-

असमासे—असमासमें निष्कादित्से ठक् प्रत्यय हो, आर्हाय, क्रीत आदि अर्थोंमें ।
 परिमाणा—परिमाणान्तके उत्तरपदको बुद्धि हो, मित्रादिके परे—संज्ञा और शाणको
 छोड़कर । शताब्ध—शत शब्दसे आर्हाय, क्रीत आदि अर्थोंमें ठन् प्रत्यय और षष्ठ प्रत्यय
 हो, यदि शतका अर्थिनेव नहीं रहे । संख्याया—त्यन्त, शदन्तसे विद्व संख्यायायकसे कन्
 प्रत्यय हो, अर्हायादि अर्थोंमें । वतोरिड्—वत्यन्तसे विहित ङन् प्रत्ययको हटाकर हो, तिस्रप-
 से । कंसादिति—कंस शब्दसे टिटन् प्रत्यय हो, आर्हाय अर्थोंमें । अर्थाद्यु—अर्थ सुन्दरे

घांद् द्विगोत्रुं गसङ्घायाम् । ५।१।२८। अर्ध्यर्धपूर्वाद् द्विगोष परस्वार्हीयस्य लुक् ।
 अर्ध्यर्धकंसम् । संज्ञया तु-पाञ्चकपालिकम् ॥ तेन क्रीतम् ५।१।३७। ठक्, गोपु-
 च्छेन क्रीतं गोपुच्छिकम् । साततिकम् । ठक्, नैकिङ्म् ॥ तस्येश्वरः । ५।१।४२।
 सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणयो स्त । 'अनुशतिकादोना चे'ति वृद्धि । सर्वभूमेरोश्वर'-
 सार्वभौम ॥ तदस्य परिमाणम् ५।१।५७। प्रस्य परिमाणमस्य-प्रास्थिको राशिः ।
 (स्तोमे ष्विधि) । पञ्चदश मन्त्रा परिमाणमस्य पञ्चदश । सोमयागेषु च्छन्दोमै-
 क्रियमाणा पृष्ठयादिष्विक्षास्तुति स्तोम । पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चा-
 शत्पाण्डसत्तस्यशीतिनयतिशतम् ५।१।५२। एते रुद्रिशब्दा निपात्यन्ते ॥
 तद्ब्रह्मि ५।१।६३। श्वेतच्छप्रमर्हति-श्वेतच्छत्रिक ॥ दण्डादिभ्यो यत् ।
 ५।१।६६। एभ्यो यत् । दण्डमर्हति-दण्ड्य । अर्ध्यः । वध्यः ॥ तेन निर्वृत्तम् ।
 ५।१।७५। अहा निर्वृत्तम्-आहिकम् ॥ इति ठक्ठकौरवधि ॥



रिति । आहीयस्येति । प्रत्यासत्तिलम्पम् । अस्वयंकसमिति । अर्ध्यारूढमर्धं यस्मिन् तत्
 अर्ध्यर्धम् । 'प्रादिभ्यो घातुञस्य' इति बहुव्रीहौ पूर्वज्ञप्ते उत्तरपङ्क्त्योप । सार्धं
 मित्यर्थः । अर्ध्यर्धेन कसेन क्रीतमिति विग्रहः । तद्विद्यार्थं द्विगु, 'सङ्घाया अतिशब्द
 ष्ठाधाः' इति कन् । तस्यानेन लुगिति भावः । पाञ्चकपालिकम् । पञ्च कपाला परि-
 माणमस्येति विग्रहे 'तद्विद्यार्थं' इति द्विगु, 'तदस्य' इति ठक् । तदस्य परिमाणम् ।
 अस्मिन्नर्थे प्रथमान्ताद्यपाविहितप्रत्ययाः स्युरित्यर्थः (इति प्राग्वतीया) ।

इति ठक्ठकौरवधि ।



टिक्नु प्रायश्च हो ष्क अर्थम् । अर्ध्यर्धं—अर्ध्यर्धं पूर्वकसे पर और द्विगुसे पर आहीय प्रत्यय
 का लुक् हो, मसङ्घामे । तेन क्रीतम्—तृतीयान्तसे क्रीत अर्थम् यथाविहित ठक्, ठक्
 आदि आहीय प्रत्यय हो । तस्येश्वर—सर्वभूमि और पृथिवी प्रकृतिक पङ्क्त्यन्तसे अम्
 और अम् प्रत्यय हो, ईश्वर अर्थम् । तदस्य—'अस्य परिमाणम्' इति अर्थम् प्रथमान्तसे यथा-
 विहित ठमादि प्रायश्च हो । स्तोमे—स्तोम अत्रिभेद हो तो 'अस्य परिमाणम्' इति अर्थम्
 'ह' प्रायश्च हो । पङ्क्तिविं—पङ्क्ति, विंशति आदि दश कृदि शब्द निपातन हो ।

तद्ब्रह्मि—द्वितीयान्तसे 'अर्हति' अर्थम् ठक् प्रत्यय हो । दण्डादिभ्य—दण्डादि प्रकृतिक
 द्वितीयान्तसे यद् प्रत्यय हो, अर्हति अर्थम् । तेन निर्वृत्तम्—कारुवाची तृतीयान्तसे
 निर्वृत्त अर्थम् ठक् प्रत्यय हो ।

इतिप्रकार 'शन्दुमती' टीकामे आहीयप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ भावकर्मार्थकप्रकरणम्

तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः । ५।१।११५। ब्राह्मणेन तुल्यं ब्राह्मणवत् श्रवते ।
क्रिया चेत् किम् ? गुणतुल्ये मा भूत् । पुत्रेण तुल्यः स्यूतः ॥ तत्र तस्येव ।
५।१।११६। मथुरायामिव मथुरावत्सुप्ने प्राकारः । चैत्रस्येव चैत्रवत् मैत्रस्य गावः ॥
तस्य भावस्त्वतलो । ५।१।११९। प्रकृतिजन्यबोधे प्रकारो भावः ॥ गोर्भावो गो-
त्वम्, गोता । (त्वान्तं क्लीबम्) (तलन्तं द्वियाम्) । आ च स्वात् ॥ ५।१।१२०।
'ब्रह्मणस्त्वः' इत्यतः प्राक् त्वतलावग्निक्रियेते । अपवादैः सह समावेशार्थमि-
दम् । चकारो नन्स्नन्भ्यामपि समावेशार्थः क्षिया भावः-क्षेणम्, क्षीत्वम्,
क्षीता । पाँस्नम्, पुँस्त्वम्, पुँस्ता ॥ पृथ्वादिभ्य इमनिञ्वा । ५।१।१२२। वा-
वचनमणादिसमावेशार्थम् ॥ र ऋतो हलादेशोः । ६।४।१६१। इष्टमेयस्तु ॥

ब्राह्मणवत् । ब्राह्मणेन तुल्यं 'ब्राह्मणवत्' इत्यत्र 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' इति
वर्तौ, हलोपे, सुपो लुकि, 'कृतद्वितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकत्वे सौ समासते
'तलिलादिष्वाङ्गवसुचः' इति अग्यपदे, 'अग्ययादाप्सुपः' इति सोर्लुकि च
'ब्राह्मणवत्' इति भवति । तत्र तस्येवेति । तत्रेवेति तस्येवेति चार्थं सप्तम्यन्ताद्यप्यप-
न्ताश्च वतिः स्यादित्यर्थः । प्रकृतिजन्यबोध इति । स्वतत्प्रत्ययौ चत उपस्येवे तस्मा-
त्प्रकृतिभूतशब्दात् व्यक्तबोधे जायमाने यत् आख्यादिकं विशेषणतया भासते तद्व्य-
क्तिविशेषणं भावशब्देन विवक्षितमित्यर्थः । अत्रचनमणादिसमावेशार्थमिति । पृथुसूदुप्र-
वृतिषु 'इगन्ताश्च लुपूर्वात्' इत्यणः, अण्डस्रज्जादिषु गुणवचनलक्षणान्यथा,
यालवःसादिषु चयौवचनलक्षणस्य अजरश्च औसर्गिकस्य समावेशार्थमित्यर्थः ।
प्रथिमा । अत्र 'पृथ्वादिभ्य इमनिञ्वा' इतीमनिचि, ह्रस्वो लोपे 'पृथु इमन्' इति जाते
'रऋतो हलादेशोः' इति ऋकारस्य स्थाने रेफादेशे मत्पे, अन्दात् 'दे' इति यका-
रोत्तरचयुंकारलोपे संयोगे 'प्रथिमन्' इति जाते, तद्विद्वान्तादाद्यातिपदिकत्वे सौ,
सोर्लोपे, उपधादीर्घे नलोपे च कृते 'प्रथिमा' इति रूपम् । पञ्चे-अणि सुपो लुकि,

तेन तुल्यं—तृतीयान्त से तुल्य अर्थमे वति प्रत्यय हो, जो तुल्य हो, वह यदि क्रिया
रहे तो । तत्र तस्येव—सप्तम्यन्त गौर पठयन्तसे इवार्थ में वति प्रत्यय हो ।

तस्य भावः—बहुयन्तसे भाव अर्थमें तत्र और तुल्य प्रत्यय हो । स्वान्तं क्लीबं—'स्व'
प्रत्ययान्त शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । तलन्तं—'तल्' प्रत्ययान्त शब्द खीर्लिङ्ग होते हैं ।

आ च स्वात्—'ब्रह्मणस्त्वः' इस सूत्र तक 'स्व' और 'वल्' का अधिकार है ।

पृथ्वादिभ्यः—पृथ्वादि प्रकृतिक बहुयन्तसे भाव अर्थमें 'इमनिच्' प्रत्यय हो, विकल्पसे ।

र ऋतो—हलादि लु अकारको 'र' आदेश हो, इष्टन्, इमनिच् और ईयस्तु प्रत्ययके

टैः । ६।४।१५५। लोप इत्येमेयस्य । (पृथुमृदुभृशङ्खसहस्रपरिपृदानामेय र-
 त्वम्) । पृथोर्भावं प्रथिमा, पार्यवम् । स्रदिमा, मार्दवम् ॥ वर्णहृदादिभ्यः ष्यञ्च
 । ५।१।१२३। वादिमनिच् । शौक्यम्, शुक्लिमा । दाढ्यम्, द्रढिमा ॥
 शुणवचनप्राक्षणादिभ्यः कर्मणि च । ५।१।१२४। चाद्भावे । जडस्य कर्म
 भावो वा-जाड्यम् । ब्राह्मण्यम् । आकृतिगणोऽयम् ॥ (चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे
 उपसंख्यानम्) । चातुर्वर्णम् । चातुराश्रम्यम् । त्रैस्वयम् । पाङ्गुण्यम् । सैन्यम् ।
 साविष्यम् । सामीप्यम् । औपम्यम् । त्रैलोक्यमित्यादि ॥ स्तेनाद्यल्लोपश्च
 । ५।१।१२५। नेति संपातप्रहणम् । स्तेनस्य भाव कर्म वा—स्तेयम् ॥
 सक्युर्यः । ५।१।१२६। सक्यम् ॥ कपिष्ठात्योढंक् । ५।१।१२७। कापेयम् ।
 शालेयम् ॥ पर्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् । ५।१।१२८। सैनापत्यम् । पौरोहि-
 त्यम् । (राजाऽस्ते) । राजनशब्दोऽसमासे यक् लभत इत्यर्थः । राज्ञो भाव
 कर्म वा-राज्यम् । समासे तु प्राङ्गण्यदित्वात् ष्यच्, आधिराज्यम् ॥ प्राणभृज्जाति-

जाड्यको वृद्धो, रणे च भ्रष्टात् 'भोगुंजः' इति गुणे भवादेशे विप्रकृष्टार्थे च
 'पार्यवम्' इति । चतुर्वर्णादीनामिति । चतुर्वर्णादिभ्यः स्वार्थे ष्यच् उपसंख्यानमि-
 त्यर्थः । स्तेनाद्यल्लोपश्च । यदिति च्छेदः । स्तेनशब्दात् पठ्यगतात् भावे कर्मणि
 चार्थे वास्यादित्यर्थः । नेतिसंपातप्रहणमिति । ललोपश्चोपस्य नेत्यकार उच्चारणार्थो
 न भवति । किमु नकाराकारसंघातप्रहणमित्यर्थः । स्तेयमिति । स्तेनशब्दात् यत्प्र-
 त्यये सति नेति संघातस्य लोप इति भावः । राजाऽने इति । पुरोहितादिगणसूत्र
 मिवम् । राजा भवे इति च्छेदः । स इति समासस्य भावां सञ्ज्ञा । सदाह—राज-
 न्यस्य इति । राज्यमिति । यकि टिलोप 'ये चान्नावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावस्तु न,

पर । टै—सहस्रक 'टि' का लोप हो, रहनादि परत्यये परे । वर्णहृदा—वर्णशब्दी
 और इडादि षष्ठ्यन्तसे भाव अर्थमें ष्यच् प्रत्यय और रमनिच् प्रत्यय भी हो ।
 शुणवचनप्राक्षणादिभ्यः—गुणोपसर्जन इत्यशब्दी और ष्यञ्चणादि प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे
 कर्म और भाव अर्थमें ष्यच् प्रत्यय हो । चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्—चतुर्वर्णादि
 प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे स्वार्थमें ष्यच् प्रत्यय हो । स्तेनाद्यल्लोपश्च—स्तेन प्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव
 और कर्म अर्थमें यक् प्रत्यय हो और स्तेनके सकारका लोप भी हो । सक्युर्यम्—सखि सुञ्च
 प्रकृतिक षष्ठ्यन्त से भाव और कर्म अर्थमें 'य' प्रत्यय हो । कपिष्ठापो—कपि और शक्ति
 रूप षष्ठ्यन्त प्रातिपदिकसे भाव और कर्म अर्थमें ङक् प्रत्यय हो । कापेयम्—परत्यन्त और
 पुरोहितादिप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव और कर्ममें यक् प्रत्यय हो । राजाऽस्ते—समासमें
 राजन् शब्दप्रकृतिक षष्ठ्यन्तसे भाव-कर्म अर्थमें यक् प्रत्यय हो । प्राणभृज्जाति—प्राणि

चयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽब् ॥ ५११२२९ ॥ प्राणमृजातिः—आश्वम्, औष्ट्रम् ।
 चयोवचनम्—कौमारम् । श्रौद्गात्रम् । श्रौघेत्रम् । सौष्ठवम् ॥ हायनान्तयुवा-
 दिभ्योऽण् ॥ ५११२३० ॥ द्वैहायनम् । त्रैहायनम् । यौवनम् । स्याविरम् ।
 (श्रोत्रियस्य यलोपश्च) श्रौत्रम् । कुशलचपलनिपुणपिशुनकृतहलत्रेणहा युवा-
 दिषु ब्राह्मणादिषु च पत्यन्ते । कौशल्यम्, कौशलमित्यादि ॥ इगन्ताच्च ल-
 युपूर्वात् ॥ ५११२३१ ॥ शुचेर्भावः कर्म वा-शौचम् । मौनम् । योपवाद् गुरु-
 पोत्तमाद् बुञ् ॥ ५११२३२ ॥ रामणीयकम् । आभिधानीयकम् ॥ (सहायाद्वा) ।

अभावकर्मणोरिति पर्युदासात् । प्रमासे-त्विति । अघिको राजा अघिराजा प्रादित्स-
 मासः । असे इति पर्युदासाद्यगभावे ग्राह्यणादित्वात् व्यञ्जि आघिराज्यमिति रूप-
 मित्यर्थः । यक्ष्यञोः स्वरे विशेषः । प्राणमृजाति । प्राणमृतः—प्राणिनः, पुंसज्जाति-
 वाचिभ्यो वयोविशेषवाचिभ्य उद्गात्रादिस्यश्च पठयन्तेभ्यः भावकर्मणोः अत्रित्य-
 र्थः । प्राणमृजातीति । उदाहरणसूचनम् । एवं वयोवचनेति । हायनान्त । हायना-
 न्तेभ्यः युवादिभ्यश्च पठयन्तेभ्यः भावकर्मणोः अण् स्यादित्यर्थः । द्वैहायनमिति ।
 द्वैहायनस्य भावः कर्म वेति विग्रहः । वयोवचनलक्षणस्य अणोऽपवादाद् । एवं त्रैहायन-
 मिति । यौवनमिति । अनिति प्रकृतिभावात् टिलोपः । श्रोत्रियस्येति । वार्तिकमिदम् ।
 श्रोत्रियशब्दाच्च पठयन्ताच्च भावकर्मणोः अण् प्रकृतेर्यलोपक्षेत्यर्थः । येषु संघात-
 ग्रहणम् ; श्रोत्रमिति । छन्दोऽधीते इत्यर्थे छन्दःपाठ्वात् प्रप्रत्यये तस्य छन्दादेशे
 प्रकृतेः श्रोत्र इत्यादेशे 'यस्येति च' छन्दोऽधीते श्रोत्रियशब्दः । श्रोत्रियस्य भावः
 कर्म वेत्यर्थे श्रोत्रियशब्दादि यकाराकारसंघातस्य लोपे रेफादिकारस्य 'यस्येति च'
 इति लोपे श्रौत्रमिति रूपम् । शन्ताच्च । लघुः पूर्वोऽवयवो चस्येति विग्रहः । पूर्वोऽव-
 च इगवधिकमेव गृह्यते, श्याख्यानात् । तथा च लघुः पूर्वो -य इक् तदन्तात्प्रातिप-
 दिकात् पठयन्ताच्च भावकर्मणोरण् स्यादित्यर्थः । गुणवचनेत्यादेरपवादाद् । योपवात् ।
 योपवाद् गुरुपोत्तमात् प्रातिपदिकात् पठयन्ताङ्गावकर्मणोर्बुञ्जित्यर्थः । रामणीयक-
 मिति । रामणीयशब्दाद् बुञ् । आभिधानीयकमिति । आभिधानीयशब्दाद् बुञ् । सहाया-

जातिवाची, वयोवाची नीर उद्गात्रादि प्रकृतिक पठयन्ते भाव-कर्म अर्थमे अण् प्रत्यय हो ।
 हायनान्त—हायनान्त और युवादिप्रकृतिक पठयन्ते भाव-कर्म अर्थमे अण् प्रत्यय हो ।
 श्रोत्रियस्य—श्रोत्रियप्रकृतिक पठयन्ते भाव-कर्म अर्थमे अण् प्रत्यय और श्रोत्रियके
 अञ्जिद्विष्ट 'य' का लोप भी हो । इगन्ताच्च—लघुपूर्वक शन्त पठयन्ते भाव-कर्म अर्थमे
 अण् प्रत्यय हो । योपवाद्—गुरुपोत्तम दो यकारोप, तत्प्रकृतिक पठयन्ते भाव-कर्म
 अर्थमे बुञ् प्रत्यय हो । सहाया—सहाय-प्रकृतिक पठयन्ते भाव-कर्म अर्थमे बुञ् प्रत्यय
 हो, विकल्पसे ।

माहाय्यम्, साहायकम् ॥ द्वन्द्वमतोक्षादिभ्यश्च ॥५॥१॥२३३॥ शैव्योपाध्या-
यिका । मानोङ्कम् ॥ इति भावकर्मार्यकप्रकरणम् ।

अथ पाश्चमिकप्रकरणम्

धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ् ॥५॥२॥१॥ सुदृगाना भवनं क्षेत्रं-मौदगीनम् ॥
ब्रीहिशाल्योर्ढक् ॥५॥२॥२॥ ब्रैहेयम् । शालेयम् ॥ यवयवकपष्टिकाघत् ॥५॥
२॥३॥ यव्यम् । यवक्यम् । पष्टिक्यम् ॥ विभाषा तिलमाषोमामङ्गाणुभ्यः
॥५॥२॥३॥ यत् । पचे खञ् । तिल्यम्, तैलीनम् । माप्यम्, मापीणम् । उष्यम्,
श्रीमौनम् । भङ्गपम्, भाजीनम् । अणव्यम्, आणवीनम् ॥ तत्सर्वादेः पश्यङ्ग-
कर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति ॥५॥२॥७॥ सर्वादेः पथ्याद्यन्तात् द्वितीयान्तात् । सर्वपथान्

इति । धुञिति शेष । पचे ब्राह्मणादिवात् प्यञ् । द्वन्द्वमतोक्षादिभ्यश्च । द्वन्द्वान् मतो-
क्षादिभ्यश्च पष्ठयन्तेभ्यः धुञिःपर्यः । शैव्योपाध्यायिकेति । शिष्यश्च उपाध्यायश्चेति
द्वन्द्वान् धुञ्, स्त्रीत्वं लोकात् । इति नञ्श्मञोरधिकारः ।

यवयवक । यव, यवक, पष्टिक, पृथ्व्ये पष्ठयन्तेभ्यो भवने क्षेत्रे पत्स्यादित्यर्थः ।
सप्तोऽपवाद् । धान्यानामिष्यनुसृष्टेरिहापि पष्ठयेव समर्थविभक्ति । विभाषा तिल ।
तिल, माप, उमा, भङ्ग, अणु पर्यो धान्यविशेषवाचिभ्य पष्ठयन्तेभ्यो यद्वा स्या
दित्यर्थः । 'उमा स्यादतसो घुमा' इत्यमर । अणव्यमिति । अणुर्भान्यविशेष । यति
भोगुणं 'वान्तो यि' इत्यवादेश । तामरदि । पमिन्, अङ्ग, कर्मन्, पत्र, पात्र पर्या
समाहारद्वन्द्वान् पष्ठ्यपर्ये द्वितीया । प्रातिपदिकविशेषणवाच्यत्वविधिः । ग्रहणव
त् प्रातिपदिकेन तद्वन्निविधिर्नास्तीति निषेधस्तु न, केवळानामेषां सर्वात्रित्वस्यासम
वाद् । तदिति तु द्वितीयावन्तं व्याप्नोतीत्यत्रान्वेति । ततश्च तद्व्याप्नोतीत्यर्थे सर्वं
शब्दार्थपदकेभ्यः पृथङ्कर्मपत्रपात्रांतेभ्य एव स्यादित्यर्थः फलति । तद्वाह—सर्वा-

द्वन्द्व—द्वन्द्व भोर मतोक्षादि-प्रकृतिक पष्ठयन्ते मार-कर्म अर्थमे धुञ् प्रत्यय हो ।

इसप्रकार 'द्वन्द्वमती' टीकामें भावकर्मार्यक प्रकरण समाप्त हुआ ।

धान्यानां—धान्यवाचो पष्ठयन्ते 'भवन क्षेत्रम्' इस अर्थमें खञ् प्रत्यय हो ।
ब्रीहिशाल्यो—ब्रीहि-शालि प्रकृतिक पष्ठयन्ते उक्त -(भवन क्षेत्रम्) अर्थमें ढक्
प्रत्यय हो । यवयवक—यवादि प्रकृतिके पृथ्व्ये प्रत्यय हो, उक्त अर्थमें ।

विभाषा तिल—तिलादि प्रकृतिक पष्ठयन्ते ङक् अर्थमें मत् प्रत्यय हो, निकल्पते ।

तात्सर्वादेः—पथ्याद्यन्त सर्वादि द्वितीयान्ते 'व्याप्नोति' अर्थमें 'ख' प्रत्यय हो ।

व्याप्नोति-सर्वपयीनः । सर्वाङ्गीणः । सर्वकर्मीणः सर्वपत्रीणः । सर्वपात्रीणः ॥ हैय-
 ङ्गवीनं संक्षायाम् । ५।२।२३। नवनीते निपातोऽयम् ॥ तस्य पाकमूले पील्वा-
 दिकर्णादिभ्यः कुणञ्जाहचौ । ५।२।२४। पीलूनां पाकः-पीलुकुणः । कर्णस्य मूलं
 कर्णजाहम् ॥ पक्षात्तिः । ५।२।२५। मूले इत्यनुवर्तते । पक्षस्य मूलं-पक्षात्तिः । तेन
 वित्तश्चुञ्चुपूत्रणपौ । ५।२।२६। यकारः प्रत्यययोरादौ लुप्तनिर्दिष्टः, तेन चस्य नेत्त्वम् ।
 वि प्रया वितो—विद्याञ्चुञ्चुः । विद्याचणः ॥ वेः शाल्छङ्कटचौ । ५।२।२८। क्रिया-
 विशिष्टसाधनवाचकास्वार्ये । विस्तृतम् । विशालम् । विशङ्कटम् ॥ संप्रोदश्च
 कटच् । ५।२।२९। सङ्कटम् । प्रकटम् । उत्कटम् । चाद् विकटम् ॥ (अलावूतिलो-
 माभङ्गोभ्यो रजस्युपसंख्यानम्) अलावूनां रजः-अलावूकटम् । तिलकटम् ॥

देरित्यादिना । सर्वपयानिति । 'अङ्कपूः' इति समासान्तः । तस्य पाकमूले । पाकमूले
 इति समाहारङ्गन्द्वाव सप्तमी । पाकः परिणामः । पष्टयन्तेभ्यः । पील्वादिभ्यः पाके-
 ऽयं कुणपू कर्णादिभ्यस्तु मूलेऽर्थे जाहङ्गित्यर्थः । कुणपस्तद्धितरवाः स फकारस्य नेरसंज्ञा ।
 जाहश्चतुः । जकारस्य प्रयोजनाभावात् नेरसंज्ञा । पक्षात्तिः । मूले इत्यनुवर्तते इति ।
 पूर्वसूत्रे पाकमूल इति समासनिर्दिष्टत्वेऽप्येकदेशे स्वरितत्वप्रतिज्ञानादिति भावः ।
 तप्येत्यनुवर्तते । पक्षशब्दात् पष्टयन्तात् मूलेऽर्थे तिप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । तेन वित्तः ।
 वृत्तीयान्तात् वित्त इत्यर्थे सुष्टुपण्यौ भवत इत्यर्थः । वित्तः प्रलिङ्गः । चस्य नेरवच,
 उपदेशे आदिस्वाभावादिति भावः । वेः शाल्छङ्कटचौ । क्रियाविशिष्टेति । क्रियाविशिष्ट-
 कारकवाचकास्वार्ये शाल्छ शङ्कटच् प्रत्ययौ स्त इति यावत् । इदं च भाष्ये स्पष्टम् ।
 संप्रोदश्च कटच् । सं, प्र, उच् पुंभ्यश्च क्रियाविशिष्टसाधनवाचिभ्यः स्वार्ये कटच् ।
 स्यादित्यर्थः । चाह्वेरपि । संकटं संहृतमित्यर्थः । निविहीकृतमिति यावत् । उरकटमिति ।
 उन्नतमित्यर्थः । अधिकमिति यावत् । रूढशब्दा एते कथञ्चित् व्युत्पाद्याः । अला-
 वूतिलेति । अलावू, तिल, उमा, भङ्गा, इत्येभ्यः पष्टयन्तेभ्यो रजसि अन्तिषेये कटचः

हैयङ्गवीनं—नवनीत अर्थमें 'हैयङ्गवीनम्' यह निपातन है ।

नोट—द्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनम् । यहाँ 'द्योगोदोह'को 'हैयङ्गु' आदेश और 'खञ्' प्रत्यय निपातन होता है ।

तस्य पाकमूले—पील्वादि पष्टयन्तसे पाक अर्थमें 'कुणपू' प्रत्यय हो और कर्णादि पष्टयन्तसे मूल अर्थमें 'जाहच्' प्रत्यय हो । पक्षात्तिः—पष्टयन्त्र पक्ष शब्दसे मूक अर्थमें 'ति' प्रत्यय हो । तेन वित्तः—वृत्तीयान्त से वित्त अर्थमें चुञ्चुप् और चणप् प्रत्यय हो ।

वेः शाल्छ—क्रियाविशिष्ट साधन (कारक) वाचक 'यि' शब्दसे शाल्छ प्रत्यय और शङ्कटच् प्रत्यय हो, स्वार्यमें । सङ्गोदश्च—क्रियाविशिष्ट-कारकवाचो सम्, प्र और उच् से कटच् प्रत्यय हो, स्वार्यमें । अलावू—पष्टयन्त्र अलावू आदिसे कटच् प्रत्यय हो, रज अर्थमें

(गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्य.) गदा स्थान-गोगोष्ठम् ॥ (संघाते कटच्) । अवीना संघात अविष्ट ॥ (विस्तारे पटच्) अविष्ट ॥ (द्वित्वे गीयुगच्) दावुद्री उद्वुगोयुगम् (पट्त्वे पट्गवच्) । अरवपङ्गवम् ॥ (स्नेहे तैलच्) तिलतैलम् । सर्पपतैलम् ॥ अघात्कुटारश्च । ५।२।३०। चान्द्रक । टच् । अक्कुटार । अक्कट ॥ नते नासिकायाः संज्ञायां टोटञ्जाटञ्च टचः । ५।२।३१। अवादित्येव । ननं नमनम्, नासिकाया नतम् -अवटीटम् । अवनाटम् । अवन्नटम् । तद्योगान्नासिका अवटीटा । पुरुषोऽप्यवटीट ॥ उपाधिभ्यां

उपसर्पानमित्यर्थः । विकारप्रत्ययानामपवाहोऽयम् । रज चूर्णरेणु । गोष्ठजादय इति । पशुनामभ्य स्थानादिष्वर्थेषु गोष्ठजादय प्रत्यया यक्तव्या इत्यर्थः । गोष्ठ-जादीनां प्रत्ययानां स्थानादीनां चार्थानां प्रत्ययान्तराणि (संघाते कटच्) इत्यादीनि 'शाकटशाकिना' द्विभ्यस्तानि पठ्वात्रिकानि । तेषु चतुर्षु पशुनामभ्य इत्यनु-घनन्ते । अघ्नतावयव समूह सहास, प्रसूनापयवस्तु विस्तारः । द्वित्व इति । प्रकृ-त्पदगतद्वित्व इत्यर्थः । दावुद्री उद्वुगोयुगम् इति । इपवयवकमचातामिप्रायमेक-वचनम् । द्वयं युग्ममित्यादिसत् । अवाकुटारश्च । क्रियाविशिष्टसाधनशाकटादवा-त्स्वार्थे कुटारश्च स्यादित्यर्थः । अक्कुटार इति । अवाचीने विद्यमानादवात् कुटारवि-अक्कुटार ह्युत्ति रूपम् । नते नासिकायाः । अवादित्येवेति । अवशब्दात् नासिकाया अवातेऽर्थे टोटच्, नाटच् अटच्, एते प्रत्यया द्युरित्यर्थः । 'गम प्रह्वये' इति घातोर्भावे कप्रत्यये नतशब्द इत्यभिप्रेत्याह--नम नमनमिति । प्रह्वयमित्यर्थः । ननु यदि नासिकाया नमनमवटीट तर्हि अटटीटा नासिकेति कथमित्यत आह--तद्योगा-दिति । नमनमयोगाद्य छात्रजिकमिति भावः । पुरुषोऽप्यवटीट इति । तादृशनासिका-योगादिति भावः । उपाधिभ्याम् । टच, अवि अरवो यथासंख्यमासंज्ञारूढयोर्घं-सानाम्भां स्वार्थे टचकप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । आसन्न समीपम् । आरूढम्-उत्पन्नम् ।

गोष्ठजादय --पशुनामादि प्रकृतिक वचनन्तसे स्थानादि अर्थोर्गे गोष्ठजादि प्रत्यय हो ।
संघाते--पशुनामादि प्रकृतिक वचनन्तसे संघात अर्थोर्गे कटच् प्रत्यय हो ।
विस्तारे--पशुनामादि प्रकृतिक वचनन्तसे विस्तार अर्थोर्गे पटच् प्रत्यय हो ।
द्वित्वे गीयुगच्--पशुनामादि प्रकृतिक वचनन्तसे पट्त्व अर्थोर्गे पट्गवच् प्रत्यय हो ।
स्नेहे तैलच्--वचनन्तसे स्नेह अर्थोर्गे तैलच् प्रत्यय हो । अवाकुटार--क्रियाविशिष्ट कारकभावो अक्कटसे कुटारच् प्रत्यय और कटच् प्रत्यय हो । नते नासि--नासिकाया नमन अर्थोर्गे निश्चयान अय शब्दसे टोटच्, नाटच् और अटच् प्रत्यय हो, स्वार्थोर्गे ।
उपाधिभ्यां--आसन्न (समीपवर्ती) और शाकट (उपरि वर्तमान) अर्थोर्गे उप और

त्यक्तञ्जालञ्जालद्वयोः । १।२।३४। पर्वतस्यासन्नं स्थलम्-उपत्यका । आसद्वं
 स्थलम्-अधित्यका ॥ कर्मणि घटोऽठच् ॥ १४ २।३५। कर्मणि घटते इति-कर्मठः ।
 तदस्य संजातं तारकादिभ्य इत्च् ॥ १।२।३६। तारकाः संजाता अस्य-
 तारकितं नमः । पण्डितः । आकृतिगणोऽयम् ॥ प्रमाणे द्वयसज्दन्न्मात्रचः
 ॥ १।२।३७। ऊरु प्रमाणमस्य-ऊरुद्वयसम्, ऊरुदन्न्म्, ऊरुमात्रम् ।

‘प्रथमश्च द्वितीयश्च ऊर्ध्वमाने मतौ मम ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं परिमाणं तु सर्वतः ।

आयामस्तु प्रमाणं स्यात् संख्या बाह्या तु सर्वतः ॥ ५ ॥

पुरुषहस्तिभ्यामण् च ॥ १।२।३८। पुरुषः प्रमाणमस्य-पौरुषम्, पुरुषद्वयसम् ।

उपर्यका, अधित्यकेति । स्त्रीत्वं लोकात् । अत्र ‘प्रत्ययस्थात्’ इति ह्यत्वं तु न,
 ‘ह्यकनश्च’ ह्ययुक्तेः । कर्मणि पटोऽठच् । सप्तम्यन्तात् कर्मन्शब्दात् घट ह्ययय
 अठच्हयादिर्यर्थः । घटशब्दस्य फलशपर्यायशब्दभ्रमं चारयति—कर्मण घटत इति ।
 व्यापियत् ह्यर्थः । तथा चः घटशब्दो यौगिको घटमाने वर्तते इति भावः । कर्मठ
 इति । अठच् ‘नस्तद्धिते’ इति टिळोपः । अठच् ठस्य अङ्गात्परवाभावाद्दिकादेशा-
 भाव इति भावः । उरुपहस्तिभ्यामण् च । उक्तविषये इति शेषः । चात् द्वयसजाद-

अधि शब्दसे त्यक्त् प्रत्यय हो, स्वार्थम् । कर्मणि घटो—कर्मन् शब्द-प्रकृतिक सप्तम्यन्तसे
 ‘घटते’ अर्थम् अठच् प्रत्यय हो । तदस्य—तारकादि प्रकृतिक प्रथमान्तपदसे ‘अस्य संजातम्’
 अर्थम् इत्च् प्रत्यय हो । प्रमाणे—प्रमाण अर्थम् वर्तमान प्रथमान्तपदसे ‘अस्य’ इत्
 षष्ठ्यर्थसे निर्दिष्ट प्रमेय अर्थम् द्वयसच्, दन्न्च् और मात्रच् प्रत्यय हो ।

प्रथमश्च—प्रथम (द्वयसच् प्रत्यय) और द्वितीय (दन्न्च् प्रत्यय) ऊर्ध्वमान (ऊर्ध्वार्थसे
 नापना) अर्थम् ही हो-पेता मेरा (ग्रन्थकार का) मत है ।

ऊर्ध्वमानं किलोन्मानं—‘ऊर्ध्वमान’ या ‘उन्मान’ ये दोनों नाम ऊर्ध्वार्थसे नापनेका
 है । परिमाणन्तु सर्वतः—जो सन्तो तरहसे याने पात्रादिमें भर-भर कर अथवा सेर,
 पसेरी आदिते तोषकर या लकड़ी आदिते नदी, तालाब आदिमें जलादिका थाइ-लेकर
 नापा जाय, उसे परिमाण कहते हैं । आयामस्तु प्रमाणं स्यात्—आयाम = लम्बाई-
 चौड़ाई आदि का नाप ‘प्रमाण’ कहलाता है । जैसे—एक हाथ, दो हाथ, एक ऊग्री, दो
 ऊग्री आदि । संख्या बाह्या तु सर्वतः—और इन सबसे संख्या (गिनती) भिन्न है ।

नोटः—उपर्युक्तसे सिद्ध हुआ कि ‘मात्रच्’ प्रत्यय प्रमाण अर्थम् कर्वात् परिच्छेद मात्रमें
 हो और ‘द्वयसच्’ तथा ‘दन्न्च्’ प्रत्यय ऊर्ध्वमान या उन्मान अर्थम् ही हों ।

पुरुष—प्रमाणोपाधिक पुरुष और हस्तिन् शब्दसे अस्य (षष्ठ्यर्थ) में अण् प्रत्यय ह ।

हास्तिनम्, हस्तिद्वयसम् । यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप । ५।२।३२। यत्परिमाणमस्य-
यावान् । तावान् । एतावान् ॥ किमिदंभ्यां चो घः । ५।२।४०। आभ्यां वतुन्वस्य च
य ॥ इदंकिमोरीशकी । ६।३।२०। दृग्णवतुपु । कियान् ॥ किम सख्याप
रिमाणे ङिति च । ५।२।४१। चाद्वतुपु , तस्य च घ । का संख्या येषा ते-ङिति ।
क्रियन्त ॥ सख्याया अवयवे तयप् । ५।२।४२। पञ्च अवयवा अस्य पञ्चतय दाह ॥
द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्या । ५।२।४३। द्वयम् , द्वितयम् । त्रयम् , त्रितयम् ॥ उभा
दुदात्तो नित्यम् । ५।२।४४। उभरादात्तयपोऽयन् स्यात् , स चाशुदात्त । उभ
यम् ॥ तदस्मिन्नधिकमिति दशान्ताङ्गः । ५।२।४५। एकादश अधिका अस्मिन्-
एकादशम् , (शतसहस्रयोरेष्यते) । नेह-एकादश अधिका अस्या विशती ।
(प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एष्यते) नेह-एकादश मापा अधिका
अस्मिन् सुवर्णशते ॥ शदन्तविंशतेश्च । ५।२।४६। ङ स्यादुक्तेऽर्थे । त्रिंशदधिका-

यस्य । तदस्मिन्नधिकम् । तदधिकमस्मिन् इति विग्रहे प्रथमान्तात् दशन् शब्दा
न्तात् समासात् अस्मिन्नित्यर्थे इत्यस्यः स्यादित्यर्थः । प्रत्ययविधौ तदन्तविधि
प्रतिषेधादन्तग्रहणम् । अत एव निर्देशात् पञ्चमर्थे सप्तमीत्याहु । एकादश अधिका
अस्मिन्निति । अस्मादित्यर्थः । अस्मिन् उपश्लिष्टा इति वा । शदन्तविंशतेश्च । शेष
पूर्णेन सूत्रं व्याचष्टे-ङ स्यादुक्तेऽर्थे इति । दशान्तश्चाभावात् पूर्वणाप्राप्तिः । त्रिंश-

और चकारात् द्वयसच्, दन्तच् तथा मात्रच् प्रत्यय मा हों । यत्तदेतेभ्यः-परिमाणो
पाधिक यत्, तत् और एतत् शब्दोंसे अस्य अर्थमें वतुप् प्रत्यय हो । किमिदंभ्यां-परिमा
णोपाधिक किम् शब्द और इदम् शब्दस वतुप् प्रत्यय हा और वतुप्के वकारको पकार हो ।
इदं किमो-‘इदम्’ शब्दको ‘इंश्’ आदेश और किम् शब्दको ‘की’ आदेश हो, इक्,
इश् और वतु (प्) प्रत्ययके पर । किम सख्या-संख्याका परिमाण (परिच्छेद-इयत्ता)
विषयक प्रश्न अर्थमें वर्तमान किम् शब्दसे ङिति प्रत्यय हो और चकारात् वतुप् प्रत्यय और
वतुप्के वकारको षकार भी हो । सख्याया-अवयवमें वर्तमान जो सख्या तदावक
प्रथमान्त समर्थसे षष्ठ्यर्थमें तयप् प्रत्यय हो । द्वित्रिभ्यां-द्वि और त्रि से पर तयप्को
अयच् आदेश हो, विकल्पसे । उभादुदात्तो-उभ शब्दसे पर तयप्को नितय अयच् हो
और वद् अयच् आशुदात्त हो ।

तदस्मिन्नधि-अस्मिन् अर्थमें दशन् शब्दान्त प्रकृतिक प्रथमान्तने ‘ङ’ प्रत्यय हो,
जो प्रथमान्त है, वह यदि अधिक रहे तो । शतसहस्रयोः-शत या सदस्र हो जब प्रत्ययार्थ
हो, तब ही ‘ङ’ प्रत्यय ङट होता है । प्रकृति-प्रकृत्यर्थ और प्रत्ययार्थका समानजातीय
होने पर ही यह ‘ङ’ प्रत्यय ङट होता है, अन्यत्र नहीं । चादन्त-शदन्त और विंशति प्रकृतिक

अस्मिन् त्रिंशं शतम्, विंशम् ॥ तस्य पूरणे डट् । १५२।४८। संख्याया
इत्येव । एकादशानां पूरणः—एकादशः ॥ नान्तादसंख्यादेर्मट् । १५२।४९। डटो
मडागमः । पदानां पूरणः—पदमः । नान्तादिकम् ? विंशः । असंख्यादेः किम् ?
एकादशः ॥ पट्कृतिकतिपयचतुरां शुक् । १५२।५१। डटि । पण्णां पूरणः—
पष्ठः । कतिपयः । कतिपयशब्दस्यासंख्यात्वेऽपि अतएव ज्ञापकात् डट् । कतिपययः ।
चतुर्यः ॥ (चतुरश्रयतावाद्यक्षरलोपश्च) । तुरीयः, तुर्यः ॥ बहुपूग-
गणसंघस्य तिथुक् । १५२।५२। डटि, बहुतिथयः ॥ वतोरिथुक् । १५२।५३।
डटि, यावतिथयः ॥ द्वेस्तीयः । १५२।५४। डटोऽपवादः । द्वयोः पूरणः—द्वितीयः ॥
त्रेः संप्रसारणं च । १५२।५५। तृतीयः । इह 'हल्' इति दीर्घो न । द्वितीयतृतीयेति
निर्देशात् ॥ विंशत्यादिभ्यस्तमहन्यतरस्याम् । १५२।५६। एभ्यो डटस्तमडा-
गमो वा स्यात् । विंशतितमः, विंशः । एकविंशतितमः, एकविंशः ॥ नित्यं शता-
दिमासार्धमाससंवत्सराच्च । १५२।५७। शतस्य पूरणः—शततमः । मासादेरत

मिति । डे सटि डे इति टिलोपः । विंशमिति । विंशतिः अस्मिन्नधिका इति विग्रहः ।
चतुर इति । यार्तिकमिदम् । चतुरश्रश्चात् पष्ठयन्तात् पूरणे छयतौ स्तः । आद्यक्षर-
लोपश्चेति । च इति संघातस्य लोपश्चेत्यर्थः । बहुपूगगण । बहु, पूग, गण, संघ
पूर्वां डटि तिथुगागमः स्यादित्यर्थः । ककार इत् । उकार उच्चारणार्थः । कित्वा-
दन्त्यादचः परः । वतोरिथुक् । डटीति । चतुश्चतस्य इथुगागमः स्यात् डटीत्यर्थः ।
यावतिथय इति । यावतां पूरणः इति विग्रहः । 'बहुपूगगणो'ति संख्यात्वात् 'तस्य
पूरणे' इति डटि-प्रकृतेरिथुक् । विंशत्यादिभ्यस्तमहन्य० । तमटि उकार इत्, मकारा-
दकार उच्चारणार्थः । नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च । शतादिभ्यः मासात्
अर्धमासात् संवत्सराच्च परस्य डटो नित्यं तमयागमः स्यादित्यर्थः ।

प्रथमान्तसे 'ड' प्रत्यय हो, 'अस्मिन् अधिकम्' इस अर्थमें । तस्य पूरणे—संख्येया
यंक संख्यावाचोपठयन्तसे पूरण (अदयव) अर्थमें 'डट्' प्रत्यय हो । नान्तादसं—असं-
ख्यादि जो 'नान्त संख्यावाचो, वससे पर 'डट्' को मट्का आगम हो । पट्कृति—पट्-
आदिको शुक्का आगम हो, डटके परे । चतुरश्र—चतुर प्रकृतिक पठयन्त समर्थसे 'छ'
प्रत्यय और 'यत्' प्रत्यय हो तपो चतुरके आद्यक्षर—चकारका लोप भी हो । बहुपूग—बहु
आदिको तिथुक्का आगम हो डटके परे । वतोरिथुक्—वतुप् प्रत्ययान्तको इथुक्का
आगम हो डटके परे । द्वेस्तीयः—'दि' शब्दप्रकृतिक पठयन्तसे तीय प्रत्यय हो, पूरण
अर्थमें । त्रेः संप्र—'त्रि' शब्दप्रकृतिक पठयन्तसे तीय प्रत्यय हो और 'त्रि' को संप्रसारण
भी हो, पूरण अर्थमें । विंशत्या—विंशत्यादिसे पर 'डट्' को 'तमट्' आगम हो, विकल्पसे ।

नित्यं शतादि—शतादि, मास, अर्धमास और संवत्सरसे पर डटको गित्य हो तमट्

एव ज्ञापकात् ङट् । मासतम ॥ षट्पद्यादेश्वासंख्यादेः । १।२।५८। षट्पित्तम् ।
संख्यादेस्तु 'विशात्यादिभ्यः' इति विकल्प एव । एकपद्य, एकपट्पित्तम् ॥ मती छः
सूक्तसाम्नो १।२।५९। मत्वर्थे छ । अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नास्ति-अच्छावाक्ये
सूक्तम् । वारवन्तीय साम ॥ ओत्रियंश्छन्दोऽधीते १।२।६०। ओत्रिय । 'वा' इत्यनु
वृत्ते-छान्दस ॥ ध्राद्धमनेन भुक्तमिनिटनी १।२।६१। ध्राद्धी, ध्राद्धिक ॥
पूर्वादिनि. १।२।६२। पूर्व कृतमनेन पूर्वा ॥ सपूर्वाच्च १।२।६३। कृतपूर्वा ॥
इष्टादिभ्यश्च १।२।६४। इष्टमनेन-इष्टी । अधीती ॥ अनुपचयेष्टा १।२।६५ ॥

मासतम इति । मासस्य पूरण अर्धमासादिरवयव । षट्पद्यादेश्वासंख्यादेः । अस्येषा
पूर्वात् षट्पद्यादे परस्य ङटो निश्च समदागम । स्वादिरपर्यः । 'विशात्यादिभ्यः' इति
विकृष्टरस्यापवाद् । एकपद्य-एकपट्पित्तम् । सव्यादित्वात्रित्यस्य तमटोऽभावे 'विशा
त्यादिभ्यः' इति ङट् इत्यस्य विकृष्टर । तमटुभावे ङटि 'यस्येति च' इति इकारलोपे
एकपद्य इति रूपम् । मती छ सूक्तसाम्नो । मत्वर्थे छापथमिक इत्याह—
मत्वर्थे इति । अच्छावाक्ये सूक्तम् । अच्छावाकशब्दः अस्यास्ति धर्मिष्वास्तीति वा
विग्रह । अच्छावाकशब्ददुष्कमित्यर्थः । अच्छावाकशब्दात् शब्दस्वरूपपरात् प्रथ
मान्ताच्छु । वारवन्तीय एवेति । अथ नरवा वारवन्तमित्यस्या अच्छवस्युद्धमित्यर्थः ।
एवमस्य वामीपमित्यपि । 'अस्य वामस्ये'त्यस्य एकदेशानुकरणमस्य वामेति ।
तस्माच्छुः । अस्य वामशब्दमनुष्कमित्यर्थः । प्रकृतिवदनुकरणमित्यस्यानित्यत्वात् सुपो
लुक् । ध्राद्धमनेन । प्रथमान्तात् ध्राद्धशब्दात् भुक्तमनेन-मत्वर्थे इनिटनी इत्यवयव ।
ध्राद्धसाधनद्वये-ध्राद्धशब्दो छापथमिक । इतिप्रत्यये नकारादिकार उच्चारणार्थः ।
अनुपचयेष्टा । पञ्चस्य पञ्चादनुपचयः । पञ्चादर्थे अन्वयीभाव । सप्तम्या अन्वयी ।

आगम हो । षट्पद्यादे.—मसत्यादि जो षट्पद्यादि सव्यावाचक शब्द, उनसे पर ङट् को
निय हो तमट् का आगम हो । मती छ —सूक्त और साम अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे
मत्वर्थे छ प्रत्यय हो । ओत्रिय—'छ दोऽधीते' इस अर्थमें 'ओत्रियन्' यह निपाठन हो
(यात्रियत्' का नकार स्वार्थ है) ध्राद्धमनेन—मुक्तापरिक प्रथमान्त ध्राद्ध शब्दसे
'मनेन' अर्थमें इति और ठन् प्रत्यय हो ।

पूर्वादिनि.—'मनेन कृतम्' इत्यर्थमें पूर्व शब्दसे इति प्रत्यय हो ।

सपूर्वाच्च—सपूर्वक पूर्वान्त प्रातिपदिकसे 'मनेन कृतम्' इस अर्थमें इति प्रत्यय हो ।

इष्टादिभ्यश्च—इष्टादिसे 'मनेन' अर्थमें इति प्रत्यय हो ।

अनुपचयेष्टा—अनुपचय शब्दसे 'अन्वये' अर्थमें इति प्रत्यय निपाठन हो ।

अनुपदमन्वेष्टा-अनुपदी गवाम् ॥ साक्षाद् द्रष्टरि संशायाम् । ५।२।९१।
साक्षाद् द्रष्टा—साक्षी । इति पाञ्चमिकप्रकरणम् ।

अथ मत्वर्थीयप्रकरणम्

तदस्यास्यस्मिन्निति मतुप् । ५।२।९४। गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति-गोमान् ॥
तसौ मत्वर्थे । १।४।२९। तान्तसान्तौ मसंज्ञौ स्तो मत्वर्थे प्रत्यये परे । वसोः संप्रसारणम् । विदुमान् । गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्ठः । शुक्लो गुणोऽस्यास्ति-शुक्लः पटः । कृष्णः ॥ प्राणिस्यादातो लज्जन्यतरस्याम् । ५।२।९६। चूडालः, चूडावान् ।

अनुपदमित्यस्मात् अन्वेष्टरि अर्थे हनिप्रत्ययो निपात्यते । साक्षाद् द्रष्टरि संशायान् । साक्षादित्यव्ययम्, इह षब्दस्वरूपपरम् लुप्तपञ्चमीकम् । साक्षादित्यव्ययात् द्रष्टर्यर्थं हनिः स्यादित्यर्थः । साक्षीति । यः-कर्मणि स्वयं न व्याप्रियते, किन्तु कर्म क्रियमाणं पश्यति, सोऽयं साक्षोऽयुव्यते । साक्षादित्यव्ययादिनिः प्रत्ययः 'अव्ययानां ममात्रे' इति टिलोपः । इति पाञ्चमिकाः ।

तदस्यास्यस्मिन्निति मतुप् । तदिति प्रथमासमर्षविभक्तिः । अस्यास्मिन्निति प्रत्ययार्थः । अस्तीति प्रकृतिविशेषणम् । इतिकरणो विवक्षार्थः । तद्विति प्रथमासमर्षादस्येति पञ्चम्यर्थं अस्मिन्निति सप्तम्यर्थे वा मतुप् प्रत्ययो भवति, यत्तदप्रथमासमर्षमस्ति चेत्तद्भवति । असपञ्चोपाधिकं चेत्तद्भवतीत्यर्थः । 'भूमनिन्दाप्रशंसासु श्लिष्ययोगेऽतिशयने । संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुपादयः' । भूमिनि तावत्—ओदान् । निन्दायाम्—ऊष्टी । प्रशंसार्था—रूपवती कन्या । निरत्ययोगे—छीरिणो वृक्षाः । अतिशयने-दृष्टरिणी कन्या । संसर्गे-दण्डी । अस्तिविवक्षायाम्-अस्तिमान् । गोमान् । गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति गोमान् इत्यत्र 'तदस्यास्यस्मिन्निति मतुप्' इति मतुपि, ठपो लोपे सुपो लुकि सौ च 'गोमत् सु' इति जाते 'अवसन्वस्य' इत्युपधादेशवत्त्वे 'उगिदधाम्' इति जुमि ठमो लोपे 'गोमान् व सु' इति जाते

साक्षाद्—'साक्षात्' इति अव्ययने द्रष्टा अर्थमे हनि प्रत्यय हो, संशया गम्यमान रहने पर । इति प्रकार 'शन्दुमती' टीकामें पाञ्चमिक प्रकरण समाप्त हुआ ।

तदस्यास्यस्मिन्—अस्यर्थोपाधिक प्रथमान्तसे अत्य और अस्मिन् अर्थोमें मतुप् प्रत्यय हो । तसौ—तकारान्त और सकारान्तको मसंज्ञा हो, मत्वर्थीय प्रत्ययके परे ।

गुणवचने—गुणवाचकसे पर मतुप्का लुक् हो । प्राणिस्या—प्राणित्य आदन्तसे

प्राणिस्पादिभ्यम् । शिष्यावान्दोषः । प्राण्यङ्गादेव । नेह, -मेघवान् ॥ सिष्मादिभ्यश्च । १५।२।९७। लज्वा । सिष्मल, सिष्मवान् । (घातदन्तवत्तललाटानामूङ् च) । वातूल । दन्तूल । बलूल । ललाटूल ॥ घटसांसाभ्यां कामबले । १५।२।९८। लज्वा ययासख्य कामवति बलवति चार्थे । वत्सल । असल ॥ फेनादिलश्च । १५।२।९९। चाल्लच् । अन्यतरस्या प्रहण मनुपसमुच्चयार्थमनुवर्तते । फेनिल, फेनल, फेनवान् ॥ लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यः शनेल्लचः । १५।२।१००। लोमादिभ्यः श, -लोमश, लोमवान् । रोमश, रोमवान् । पामादिभ्यो न, -पामन । (अङ्गात्कल्याणे) । अङ्गना ॥ (लक्ष्म्या अश्च) । लक्ष्मण ॥ (पिच्छादिभ्य इल्लच्) पिच्छिल, पिच्छवान् । उरसिल, उरस्वान् । प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो ण । १५।२।१०१। प्राज्ञो व्याकरणे । प्रज्ञा । श्रद्धा । अर्चा । (वृत्तेश्च) वार्ता ॥

सोर्लोपे 'सयोगान्तस्य लोप' इति तलोपे च कृते 'गामान्' इति । सिष्मादिभ्यश्च । कञ्जा इति । मत्वर्थे इति शेषः । वातदन्तवत्तललाटानामूङ् चेठि । सिष्मादिगणसूत्रमिदम् । एभ्यो लृच् प्रकृतेरुच्चादेश । लकारस्तु आदेशावसूचनायः । अन्यथा प्रत्ययावशाद्वा स्यात् । वातूल । एव दन्तूल, बलूल, ललाटूल । वत्साश्रद्धां कामबले । लृच् स्यादिति । मत्वर्थे इति शेषः । कामबलशब्दौ तद्धृति । लृच्गणिकाविरयमिष्टेऽप्याह—कामवति बलवति चेति । फेनादिलश्च । मत्वर्थे इति शेषः । चाल्लक्षितिः सतिहितवादिति भावः । नन्वेवं सति मनुप् नैव स्यादित्यत आह—अन्यतरस्यां प्रहणमिति । सिष्मादि सूत्रे स्याद्यथातमिदम् । प्रह श्रद्धार्चाभ्यो ण । प्रज्ञा, श्रद्धा, अर्चा एभ्यो मत्वर्थे णप्रत्ययाः स्यादित्यर्थः । प्राज्ञो व्याकरणे इति । प्रज्ञान प्रज्ञा । शिष्यामिष्यधिकारे प्रपूर्वकात् शिष्यातो 'आतश्चोपसर्गो' इति भावे अद् । प्रज्ञा अस्यास्तीति विग्रहः । श्रद्धा इति । श्रद्धा अस्यास्तीति विग्रहः । अर्चा इति । अर्चा अस्यास्तीति विग्रहः । वृत्तेश्चेति ।

मत्वर्थे लृच् प्रत्यय हो, विकल्पते । प्राण्यङ्गा—प्राण्यङ्गावक प्राणिस्थ आदन्तते ही पूर्वोक्त लृच् प्रत्यय हो । सिष्मा—सिष्मादिसे लृच् प्रत्यय हो, मत्वर्थे । वातदन्त—वात, दन्त आदिसे लृच् प्रत्यय और लृच् का आगम हो, विकल्पते । वत्सो—वत्स और असमे लृच् प्रत्यय हो । क्रमसे यदि कामवान् और बलवान् अर्थ गन्वमान रहे ।

फेनादि—फेनसे इलृच् प्रत्यय और चकारात् लृच् प्रत्यय भी हो, विकल्पते (विकल्प पक्षमें मनुप् ही) लोमादि—मत्वर्थे लोमादिसे 'श' प्रत्यय, पामादिसे 'न' प्रत्यय और पिच्छादिसे 'इलृच्' प्रत्यय और मनुप् भी हो । अगात्—अग शब्दसे 'न' प्रत्यय हो, कृष्ण । अर्थमें । लक्ष्म्या—कृष्मी शब्दसे 'न' प्रत्यय हो और कृष्मीको अकारान्त आदेश म् से । पिच्छा—पिच्छादिसे इलृच् प्रत्यय हो । प्रज्ञाश्रद्धा—प्रज्ञादिसे मत्वर्थे ण प्रत्यय और श्रद्धा भी हो । वृत्तेश्च—वृत्तिसे भी मत्वर्थे ण प्रत्यय और चकारात् मनुप् भी हो ।

तपःसहस्राभ्यां विनीनी । ५।२।१०२। विनीन्योरिकारो नकारपरित्राणार्थः ॥
 तपस्वी । सहस्री ॥ अण् च । ५।२।१०३। तापसः । सहस्रः ॥ (ज्योत्स्नादिभ्य
 उपसंख्यानम्) ज्योत्सः । तामिस्रः ॥ सिकताशर्कराभ्यां च । ५।२।१०४।
 सैकतो घटः । शर्करः ॥ देशे लुचिलचौ च । ५।२।१०५। चाचण् मत्तुप् च ।
 सिकताः मन्त्यस्मिन्देसे-सिकता, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान् । एवं शर्करा
 इत्यादि ॥ दन्त उन्नत उरच् । ५।२।१०६। उन्नता दन्ता अस्य-दन्तुरः ॥ ऊप-
 सुपिसुफ्कमवा रः । ५।२।१०७। ऊपरः । सुपिरः । मुक्कोऽगडः, मुक्करः । मधुरः ।

वार्तिकमिदम् । मत्वर्थे णप्रत्यय इति शेषः । वार्ते इति । वृत्तिरस्यास्तीति विग्रहः ।
 तपःसहस्राभ्यां विनीनी । विनिश्च इतिश्चेति द्वन्द्वः । मत्वर्थे इति शेषः । यथासंख्यम-
 न्वयः । विनिप्रत्यये इनि प्रत्यये च नकारादिकारौ उचारणार्थौ । ननु नकारयोः इत्संज्ञा
 कुतो न स्यात् । न च प्रयोक्तव्यमावः, निस्वरस्यैव फडत्वादित्यत्र आह—विनीन्योरि-
 कारो नकारपरित्राणार्थ इति । तथा च उपदेशे अन्यत्वाभावान्नेसंज्ञेति भावः । अण्
 च । तपससहस्राभ्यां मत्वर्थे इति शेषः । सिकताशर्कराभ्यां च । मत्वर्थे णगिति शेषः ।
 सैकतो घट इति । सिकता अस्य सन्तीति विग्रहः । देशे लुपो लचयमाणत्वात् घट इति
 विशेषणम् । 'अप्सुमनःसमासिकताचर्पाणां यदुत्वं च' इति लिङ्गानुशासनसूत्रात्
 सिकताशब्दो नित्यं यदुवचनान्तः । देशे लुपिष्ठवौ च । पूर्वसूत्रविहितेषाणो लुप्
 इल्लब्ध स्यादित्यर्थः । चाङ्गिति । संनिहितत्वादिति भावः । तर्हि क्षपवादेन मुक्क
 उरसर्गस्याप्रदुत्तेर्मत्तुप् नैव स्यादित्यत्र आह—मत्तुप् चेति । समुदायार्थकान्ततरस्यां
 प्रहणानुदुत्तेरिति भावः । सिकता इति । सिकताशब्दात् नित्यं यदुवचनान्तादुपो
 लुपि प्रातिपदिकावयवत्वात् सुपो लुकि युक्त्वद्वावाहिनोप्यस्य देशस्य एकस्येऽपि
 यदुवचनमिति भावः । ऊपसुपि । ऊप, सुपि, मुक्क, मधु एषां समाहारद्वन्द्वात् पञ्च-
 म्येकवचनम् । सौत्रं पुंसवम् । एस्या मत्वर्थे रप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । ऊपर इति । ऊपः
 पारमृत्तिकाविशेषोऽस्यास्तीति विग्रहः । सुपिर इति । सुपिः विलम् अस्यास्तीति

तपःसहस्राभ्यां—तपस् और सहस्र शब्दसे यथाक्रमेण विनि प्रत्यय और इनि प्रत्यय
 तथा मत्तुप् भी हो । अण् च—तपस् और सहस्र शब्दसे (पूर्वोक्त प्रत्यय और) अण्
 प्रत्यय भी हो । ज्योत्स्नादि—ज्योत्स्नादित्से भी अण् प्रत्यय और मत्तुप् प्रत्यय हो ।

सिकता—सिकता और शर्करा शब्दसे अण् प्रत्यय और मत्तुप् प्रत्यय भी हो ।

देशे लुचि—देश यदि अभिधेय हो तो-सिकता और शर्करा शब्दसे मत्वर्थीय प्रत्ययका
 लुप् हो और इल्लच् प्रत्यय भी हो । चकारात् अण् और मत्तुप् भी हो । दन्त उन्नत—उन्नतो-
 याधिक दन्त शब्दसे मत्वर्थमे उरच् प्रत्यय हो । ऊपसुपि—ऊपादित्से 'र' प्रत्यय और

(रप्रकरणे खमुञ्जकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्) । खर । मुखर । कुञ्जो हस्ति-
 हनुः, कुञ्जर ॥ (नगपांसुपाण्डुभ्यश्च) नगरम् । पासुर । पाण्डुरः ॥ (कच्छ्वा
 ह्रस्वत्य च) कच्छुरः ॥ घृष्टुभ्यां म् । ५।२।१०८। घुम । हुम ।, केशाद्धो
 ऽन्यतरस्याम् । ५।२।१०९। प्रकृतेनान्यतरस्यां प्रशृणेन मनुषि सिद्धे पुनर्मंडण इति
 ठनोः समावेशार्थम् । केशव , केशी, केशिक, केशवान् । (अन्येभ्योऽपि ह्रस्वते)
 मणिवो नागविशेष । हिरण्यवो निधिविशेष ॥ (अर्णसो लोपश्च) अर्णव ॥
 गाण्ड्यजगात्संज्ञायाम् । ५।२।११०। ह्रस्वदीर्घयोर्योगा तन्त्रेण निर्देशः । गाण्डि-
 त्त्वम्, गाण्डीवम्, अर्जुनस्य धनु । अजगव पिनाक ॥ काण्डाण्डादीरज्ञीरचौ
 । ५।२।१११। काण्डीर । आण्डीर ॥ रज. कृष्यासुतिपरिषदो बलच् । ५।२।११२।
 रजस्वला स्त्री । कृषीबल । 'बले' इति दीर्घ । आसुतीबल, शौण्डिक । परिव

विग्रहः । नगपास्विति । वार्तिकमिदम् । नगरमिति । जातिविशेषवाची । अत एव
 नगरीत्यत्र ङीप् । पांसुर इति । पांसु अस्यास्तीति विग्रहः । पाण्डुर इति । पाण्डु
 शुक्लवर्णा, स अस्यास्तीति विग्रह । कच्छ्वा इति । कच्छ्वाशब्दाद् रप्रत्ययः प्रकृतेर्ह्रस्वश्च
 अगतादेश इत्यर्थः । कच्छुर घुनां रोगविशेष । घृष्टुभ्यां म् । 'दिव उच्' इति कृतोऽप्य
 स्य दिव्शब्दस्य घृ इति निश्चयः । दिव्शब्दात् हुशब्दाच्च म् प्रत्यय स्यादित्यर्थः ।
 घुम, हुम इति । रुदशब्दाद्देवी । गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम् । ह्रस्वदीर्घयोरिति । गाण्डिशब्द
 स्य गाण्डीशब्दस्य च कृनयणोः गाण्ड्य इति युगपश्चिद्विज्ञाः । 'वययात् परस्य' इत्यथ
 खितिस्त्रीतीशब्दयोश्च यथेत्यर्थः । तत्रच गाण्डिशब्दात् गाण्डीशब्दात् अजगताब्दात्
 मत्वर्थे वप्रत्ययः स्यादित्यर्थः । रुदशब्दाद्वादिह न मनुष्यमुच्यते । काण्डाण्डादीरज्ञी
 रचौ । काण्ड, आण्ड आश्रयान् ईरन् ईरच् इति प्राययौ मत्वर्थे स्त इत्यर्थः । रज इति ।
 रजस्, कृषि, आसुति, परिषद् प्रत्यो मत्वर्थे घञच् स्यादित्यर्थः । आसुतीबल इति ।

मनुप् भी हो । रप्रकरणे—'र' प्रत्ययके प्रकरणमें ख, मुख और कुजते भी 'र' प्रत्ययका
 विधान हो तथा मनुप् भी हो । नगपांसु—नगादिमें भी 'र' प्रत्यय और मनुप् हो ।

कच्छ्वा—कच्छ्वे 'र' प्रत्यय और कच्छ्वो ह्रस्व भी हो । घृष्टुभ्यां—दिव् और हु
 शब्दसे 'य' प्रत्यय और मनुप् भी हो । केशाद्धो—केश शब्दसे 'व'-प्रत्यय हो, विकल्पसे ।
 पशुमें इति, ठच् और मनुप् प्रत्यय भी हो । अन्येभ्योऽपि—अय (प्रकृतयनर) से भी
 मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो । अर्णसो—अर्णम् शब्दसे 'व' प्रत्यय और अर्णम्के अन्य
 सकारका लोप हो । गाण्ड्यजगात्—गाण्डी और अजगते मत्वर्थमें 'व' प्रत्यय हो,
 रुदामें । काण्डाण्डा—काण्ड शब्दसे 'ईरन्' और आण्ड शब्दसे 'ईरच्' प्रत्यय हो ।

- रजकृ—रजसादिसे बलच् प्रत्यय और मनुप् भी हो ।

द्वलः । पर्यदिति पाठान्तरम् । पर्यद्वलम् । (अन्येभ्योऽपि दृश्यते) । भ्रातृबलः । पुत्रबलः । शत्रुबलः । दन्तशिखात्संज्ञायाम् । ५।२।११३। दन्ताबलो हस्ती । शिखाबलः । केकी ॥ अत इनिठनौ । ५।२।११५। दण्डी, दण्डिकः ॥ व्रीह्यादिभ्यश्च । ५।२।११६। व्रीहा, व्रीहिकः ॥ तुन्दादिभ्य इल्लच्च । ५।२।११७। चादिनिठनौ मनुप् च । तुदिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् । उदर पिवण्ड यत्र व्रीहि इति तुन्दादिः ॥ रूपादाहतप्रशंसयोर्यप् । ५।२।१२०। आहतं रूपमस्यास्तीति-रूप्यः कार्पापणः । प्रशस्तं रूपमस्यास्तीति-रूप्यो गौः । (अन्येभ्योऽपि दृश्यते) । हिम्याः पर्वताः । गुण्या ब्राह्मणाः ॥ अस्मायामेवात्तजो विनिः । ५।२।१२१। यशस्वी, यशस्वान् । मायावी, मायावान् । व्रीह्यादिपाठात् मायी, मायिकः । स्रवी ॥ (शृङ्गवृन्दाभ्यामारकन्) । शृङ्गारकः । वृन्दारकः ॥ (फलवर्हा-

'पुष् भमिपवे' । आह् पूर्वोत् सिषां किन् 'वले' इति दीर्घः । अन्येभ्योऽपीति । घर्ति-कमिदम् । रजाकृषि इत्यादिसुत्रोपात्तावन्येभ्योऽपि बलच् दृश्यत इत्यर्थः । भ्रातृबलः । दलोपे इत्यतः अण इत्यनुसृतेः 'वले' इति न दीर्घः । दन्तशिखात्संज्ञायाम् । समाहारद्वन्द्वत् पक्षमो । दन्तशब्दात् शिखाशब्दाच्च मत्वर्थे बलच् स्यात्संज्ञायामित्यर्थः । तुन्दादिभ्य इल्लच्च । मनुप्चेति । समुच्चयार्थकान्यतरस्यां प्रणानुसृतेरिति भावः । उदराद्यश्चावारस्तुन्दादिगणपठिताः । रूपादाहत् । आहतेति भावे कः । आहतविशेषणकात् प्रशंसाविशेषणकाच्च रूपशब्दात् मत्वर्थे यप् स्यादित्यर्थः । 'आहतं रूपमिति । आहतेन निष्पन्नं स्वरूपं भवेति विग्रहे रूपशब्द इत्यर्थः । रूप्यः कार्पापण इति । परिमाणविशिष्टः रजतसुवर्गादिर्मुद्रिकाविशेषयुक्तः कार्पापणः इत्युच्यते । तस्वरूपं च स्वर्णकारकृता हनननिष्पात्तमिति बोध्यम् । रूप्यो गौरिति । प्रशस्वरूपसंप्रसा इत्यर्थः हिम्याः पर्वता इति । भून्नि यप् बहुलं, हिममेवस्तीति विग्रहः । गुण्या ब्राह्मणा इति । प्रशंसायां यप् । प्रशस्तगुणसंप्रसा इत्यर्थः । शृङ्गवृन्दाभ्यामिति । फलवर्हान्यामिति ।

अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी बलच् प्रत्यय हो ।

दन्त—दन्त और शिखा शब्दसे बलच् प्रत्यय हो, संज्ञामें ।

अत इनि—अदन्त प्रादिपदिकसे इनि और ठन् प्रत्यय हो और पक्षमें मनुप् भी हो ।

व्रीह्या—व्रीह्यादिसे इनि, ठन् और मनुप् भी हो । तुन्दादिभ्यः—तुन्दादिसे इल्लच् प्रत्यय और चकारात् इनि, ठन्, और मनुप् भी हो । रूपादा—आहत और प्रशंस विशिष्ट अर्थमें रुर शब्दसे यप् प्रत्यय और मनुप् भी हो । अन्येभ्यो—अन्य (प्रकृत्यन्तर) से भी यप् प्रत्यय हो । अस्माया—असन्त प्रातिपदिकसे तथा माया, वेदा और जप उच्यंते विनि प्रत्यय हो (और मनुप् भी हो) शृङ्गवृन्दा—शृङ्ग और वृन्द उच्यंते शारङ्ग प्रत्यय हो (और मनुप् भी हो) फल—फल और वर्ह शब्दसे इत्यप् प्रत्यय हो ।

भ्यामिनच्) । क्लिन । बर्हिण ॥ (हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्) हृदयालु ,
 हृदयी, हृदयिक, हृदयवात् ॥ (शीतोष्णत्वप्रभ्यस्तदसहने) शीतं न सहते
 शीतालु । उष्णालु । तृप् पुरोजग, तन सहते तृपालु ॥ (तप्पर्वमरुद्भ्याम्) ।
 पर्वत । मरुत् ॥ ऊर्णाया युस् ॥ ५।२।१२३। ऊर्णायु ॥ घाचो गिमनिः ॥ ५।२।
 १२४। वाग्मी ॥ आलजाटचौ बहुभाषिणि ॥ ५।२।१२५। (कुत्सित इति
 यक्तभ्यम्) । कुत्सित बहु भाषते-वाचाल, वाचाट् । यस्तु सम्यग्बहु भाषते
 स वाग्मी इत्येव ॥ स्वामिन्नैश्वर्ये ॥ ५।२।१२६। ऐश्वर्यवाचकात् स्वशब्दान्मत्वर्थे
 आमिनच् । स्वामी ॥ अर्शावादिभ्योऽच् ॥ ५।२।१२७। अर्शासि अस्य विद्यन्ते-
 अर्शात् । आश्रुतिगणोऽयम् ॥ घातातीसाराभ्यां कुक् च ॥ ५।२।१२९। वा-

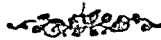
हृदयाच्चालुरन्यतरस्यामिति च । वार्तिकप्रथमिदम् । तथोक्तवात् । शुद्ध इति चकारस्वे
 रसज्ञा । अन्यतरस्यां ग्रहणाच्चाक्षोरभावे इतिठनी । समुच्चयार्थकाम्यतरस्यां ग्रहणा
 नुवृत्तेर्मनुष्यपि । तथा चात्र चाकार प्रत्यया । तदाह—हृदयालुरित्यादि । 'शीतोष्णत्व
 प्रभ्यस्तदसहने' इति वार्तिकमर्थतः सगृह्णाति—शीतेति । शीत, उष्ण, तृप् पृथ्य
 द्वितीयान्तेभ्यः न सहते, इत्यर्थे चालु स्पादिरत्यर्थः । तप्पर्वमरुद्भ्यामिति । वार्तिक
 मिदम् । पर्वमरुद्भ्यां तप् वक्तव्य इत्यर्थः । ऊर्णाया युस् । ऊर्णाशब्दात् युस्प्रत्ययः
 स्पादिरत्यर्थः । आलजाटचौ । वाच्शब्दात् आलच् आटच् एतौ मत्वर्थे बहुभाषिणीत्यर्थः ।
 गिमिनोऽपवाद । यस्तु सम्यगिति । न च अर्शु, अकुत्सित च यो वदति तत्रापि वाग्मी
 त्येव न समवतीति, भाष्यबलेन पूर्वसूत्रस्य सम्पद् बहुभाषिण्येव प्रवृत्तेरभ्युपगमादिति
 भाषः । स्वामिन्नैश्वर्ये । ऐश्वर्ये इति प्रकृतिविशेषणमित्यभिप्रेत्याह—ऐश्वर्यवाचकादिति ।
 आमिनमिति । निपात्यत इति शेषः । स्वामीति । स्वम् ऐश्वर्यं तद्वा नित्यर्थः । नियन्तेति
 यावत् । ऐश्वर्यस्युक्तेर्धनवानित्यर्थे स्वामीति न भवति । घातातीसाराभ्यां कुक् च । चादि
 निरिति । घात अतीसार आभ्यां मत्वर्थे इति स्यात् प्रकृते कुक् इत्यर्थः । कुकि ककार
 इत् । ककार उच्चारणार्थः । क्तिवाद्न्तावयवः । वातकीति । वातरोगवानित्यर्थः ।

हृदयाच्चालु—हृदय शब्दसे आलु प्रत्यय हो, विकल्पने । पक्षमें इति, ठन् और
 नतृप् भी हो । शीतोष्ण—शीतादि शब्दोंसे आलु प्रत्यय हो, असहने अर्थमें ।

तप्पर्व—पर्व और मरुत् शब्दोंसे तप् प्रत्यय हो । ऊर्णाया—ऊर्णा शब्दसे युस्
 प्रत्यय हो । वाचो—वाच् शब्दसे गिमनि प्रत्यय हो । आलजा—वाक् शब्दसे बहुभाषी
 अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हो । कुत्सिते—निन्दा गम्यमान होनेपर ही वाक् शब्दसे
 बहुभाषी अर्थमें आलच् और आटच् प्रत्यय हों—ऐसा कहना चाहिये । स्वामिन्नै—ऐश्वर्य
 अर्थमें 'स्वामिन्' यह निपातन हो अर्थात् ऐश्वर्यवाचक शब्दसे आमिनच् प्रत्यय हो ।

अर्शा आ—अर्शस् आदि प्रातिपदिकसे अच् प्रत्यय हो । घाताती—घात और अतीसार

दिनिः । वातकी । अतीसारकी ॥ (पिशाचाद्य) पिशाचकी ॥ हस्ताज्जाती
 १५२।१३३। हस्ती । वर्णाद् ब्रह्मचारिणि ॥ १५२।१३४। वर्णा । कंशंभ्यां वभयु-
 स्तितुतयसः ॥ १५२।१३८। कमित्युदकसुखयोः । शमिति सुखे । श्राम्यां सत
 प्रत्ययाः स्युः । युत्स्यसोः सकारः पदत्वार्थः । कंभः, कंभः, कंभुः, कंतिः कंतुः, कंतः,
 कंयः । एवं शंभ इत्यादि ॥ तुन्दिवलिवटैर्भः ॥ १५२।१३९। तुन्दिभः । वलिभः ।
 वटिभः ॥ अहंशुभमोर्युस् ॥ १५२।१४०। अहंयुः, अहकारवान् । शुभंयुः, शुभान्वितः ।
 इति मत्स्यर्षीयप्रकरणम् ।



अथ प्राग्दिशीयप्रकरणम्

प्राग् दिशो विभक्तिः ॥ १५३।१। 'दिक्शब्देभ्य' इत्यतः प्राग्वक्ष्यमाणाः प्रत्य-

अतीसारकीति । अतीसाररोगवानित्यर्थः । पिशाचाच्चेति । चार्तिकमिदम् । पिशा-
 चादिनिः प्रकृतेः कुक्चेत्यर्थः । हस्ताज्जाती । हस्तान्मत्स्ये इतिरेव, समुदायेन जाति-
 विशेषे गम्भे इत्यर्थः । वर्णाद् ब्रह्मचारिणि । वर्णशब्दात् मत्स्ये इतिरेव, समुदायेन
 ब्रह्मचारिणि गम्भे इत्यर्थः । वर्णाति । वर्णः ब्राह्मणादित्तत्त्वर्णोचितवसन्तादिकाळे उप-
 नयनम् । सोऽहमास्तीति विग्रहः । कंशंभ्याम् । व, म, युस्, ति, तु, त, यस् एषां
 सप्तानां ह्रन्द्वात् प्रथमावहुवचनम् । मत् प्रत्ययाः स्युरिति । मत्स्ये इति शेषः । पदत्वार्थ
 इति । अन्पया कम् इत्यस्मात् युप्रत्यये च प्रत्यये च कृते भत्वात् पदत्वामावाद्बु-
 स्वारो न स्यादिति भावः । तुन्दिवलि । तुन्दि, वलि, अटि एभ्यो मत्स्ये म प्रत्ययः
 स्यादित्यर्थः । समाहारह्रन्द्वात् पञ्चम्येकवचनम् । पुंसवमार्थम् । वटिभ इति । 'वट
 वेहने' वटनं वटिः अस्यास्तीति विग्रहः । इति मत्स्यर्षीयाः ।

प्राग्दिशो विभक्तिः । दिक्शब्देन तद्वदितं सूत्रं विवक्षितमित्यभिप्रेत्याह-दिक्शब्दे

शब्दोऽसि इति प्रत्यय और कुक् का भागम मो हो । पिशाचाच्च—पिशाच शब्दसे मो इति
 प्रत्यय और कुक्का भागम हो । हस्ताज्जा—समुदायसे जाति अभिधेय हो तो हस्त शब्दसे
 इति प्रत्यय हो मत्स्ये । वर्णाद्—मत्स्येयारी अभिधेय हो तो वर्ण शब्दसे इति प्रत्यय हो ।
 कंशंभ्यां—'कम्' और 'शम्' से व, म, युस्, ति, तु, त, यस्—ये सात प्रत्यय हो ।
 तुन्दिवलि—तुन्दि, वलि, और वटि से 'म' प्रत्यय हो । अहंशुभ—अहन् और शुभमसे
 युस् प्रत्यय हो ।

इतप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें मत्स्यर्षीय प्रकरण समाप्त हुआ ॥

प्राग्दिशो—'दिक्शब्देभ्यः सप्तमी—' इति सूत्रसे पूर्व तत्त्वज्ञो गक्ष्यमाण प्रत्यय हैं, वे

या विभक्तिसंज्ञा स्युः। अयस्वार्थिका प्रत्यया ॥ किंसर्वनामबहुभ्योऽद्वाद्यादिभ्यः
 ॥५॥३॥२॥ किम सर्वनाम्नो बहुशब्दाच्चेति प्राग्दिशोऽधिक्रियते ॥ पञ्चम्यास्तसि-
 ल् ॥५॥३॥७॥ पञ्चम्यन्तेभ्य किमादिभ्यस्तसिल् वा ॥ कुतिहोः ॥७॥२॥१०४॥ किम
 कृस्तादौ हादौ च विभक्तौ। कुन, वस्मान् ॥ इवम् इद् ॥५॥३॥३॥ प्राग्दिशीये।
 इत ॥ पतदोऽन् ॥५॥३॥५॥ एतद् प्राग्दिशीये। अनेकाल्वात्मर्वादेशः। अतः।
 इत। अमुत। यत। तत। बहुत। द्वयादेशु-द्वाभ्याम् ॥ पर्यभिभ्यां च ॥५॥
 ३॥५॥ तसिल्। परित, सर्वत इत्यर्थः। अभित, उभयत इत्यर्थः। सप्तम्याञ्छल्
 ॥५॥३॥१०॥ कुन। यत्र। तत्र। बहुत्र। इदमो द्वः ॥५॥३॥११॥ प्रलोऽपवाद।

भ्य इत्यत इति विभक्तिसंज्ञा इति। ताकल तु 'न विभक्तौ तुस्माः' इति निषेधः,
 रयदाद्यावम्, इवम् 'ऊर्द्धिदपदादि' इति स्वरश्च। स्वार्थिका इति। स्वोपप्रकृत्यर्थे
 भवा ह्यर्थः। किंसर्वनाम। अद्वाद्यादिभ्य इति ऐद्। प्राग्दिश इत्यनुवर्तते। तदाह—
 प्राग्दिशोऽधिक्रियते इति। पञ्चम्यास्तसिल्। किमादिभ्य इति। किंसर्वनामबहुभ्य इत्यर्थः।
 वा स्वादिति। 'समर्थानाम्' इत्यतो वाप्रदणस्यानुवृत्तेरिति भावः। कुतिहो। कु इति
 लुप्तप्रथमाकम्। 'किम क' इत्यस्मात् 'किम' इत्यनुवर्तते। 'अष्टम भा' इत्यतो
 विभक्ताविति। तिस्र ह च तयोरिति द्वन्द्वः, इकार उच्चारणार्थः। साम्यां विभक्तिर्वि-
 शेष्यते। तदादिविधि, तदाह—किम क् स्वादित्यादिना। कुन। कस्मादिनि कुत
 इत्यत्र 'पञ्चम्यास्तसिल्' इति तसिलि इकोपे सुपो लुकि, 'प्राग्दिशो विभक्ति' इति
 तसिलो विभक्तिये 'कु तिहो' इति किम क्वादेशे कु तस् इति जाते 'कृतद्वित
 समासाच्च' इति प्रातिपदिकान्वास्तुपत्यौ 'तद्वित्त्वात्सर्वविभक्ति' इति अभ्यपत्ये
 'अभ्यपदास्तसुपो' इति सुपो लुकि, सम्य क्त्रे रेकस्य विसर्गात्वे च 'कुन' इति
 सिद्धम्। सप्तम्याञ्छल्। किमादिभ्यः सप्तम्यन्तेभ्य अद्वाद्यादिभ्यश्छलित्यर्थः। कुन।
 कस्मिन्निति 'कुत्र' इत्यत्र 'सप्तम्याञ्छल्' इति प्रलि, ललोपे, 'कुतिहो' इति किमः
 क्वादेशे विभक्तिकार्ये च कृते 'कुत्र' इति। इदमा इ। इद् वात्वात् सप्तम्यन्तात् हप्रत्य

विभक्तिसंज्ञक हो। किंसर्व—'दिकृशब्देभ्यः सप्तमो' इत्यनुवर्तते पूर्वतः 'किम्-सर्वनाम-
 बहुभ्योऽद्वाद्यादिभ्यः' यह अधिकार है। पञ्चम्यास्तसिल्—पञ्चम्यन्त किम् आदिते तसिल्
 प्रत्यय हो, विकल्पते। कु तिहो—किम्को कु आदेश हो, तादि और हादि विभक्तिके परे।
 इवम् इद्—इदम्को इद् आदेश हो, प्राग्दिशीय प्रत्ययके परे। पतदोऽन्—पतदको
 अन् आदेश हो, प्राग्दिशीय (विभक्तिसंज्ञक) प्रत्ययके परे। पर्यभिभ्यां—सर्व और उभयके
 अर्थमें वर्तमान परे और अभिमें तसिल् प्रत्यय हो। सप्तम्याञ्छल्—सप्तम्यन्त किमादिते
 ञ्छल प्रत्यय हो, विकल्पते। इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दते 'इ' प्रत्यय हो, विकल्पते।

इह ॥ किमोऽत् ॥ ५३१२॥ वा स्यात् ॥ फवाति ॥ ७२१०५॥ किमः । क, कुत्र । इतराम्योऽपि दृश्यन्ते ॥ ५३१४॥ पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपि तसिलादयो दृश्यन्ते । रशिग्रहणाद्भवदादियोग एव । स भवान् । ततो भवान् । तत्र भवान् । तं भवन्तम् । ततो भवन्तम् । तत्र भवन्तम् । एवं दीर्घायुः । देवानां प्रियः । आयुष्मान् ॥ सर्वैकान्यकियत्तदः काले दा ॥ ५३१५॥ सप्तम्यन्तेभ्य एभ्यः । कालार्येभ्यः स्वार्थे दा स्यात् ॥ सर्वस्य सोऽन्यतरस्यां दि ॥ ५३१६॥ दादौ प्राग्दिशोये सर्वस्य सो वा । सर्वस्मिन् काले-सदा, सर्वदा । एकदा । अन्यदा । कदा । यदा । तदा । काले किम् ? सर्वत्र देशे ॥ इदमो द्वि ॥ ५३१६॥ सप्तम्यन्तात् । पतेतौ रयोः । ५३१७॥ इदम 'एत' 'इत्' एतौ स्तौ रेफादी । अस्मिन् काले एतर्हि । काले किम् ? इह देशे ॥ अधुना ॥ ५३१७॥ इदमो निपातोऽवम् ॥ दानीं च ॥ ५३१८॥ इदमो दानीं प्रत्ययः काले । इदानीम् ॥ तदो

यः स्यादित्यर्थः । इह । अस्मिन्निति 'इह' अत्र 'सप्तम्याखल्' इति श्लि प्राप्ते तस्या-धिष्ठा 'इदमो हः' इति हे कृते इदमः 'इदम इत्' इति इशादेशे शलोपे शिष्यासर्वादेशे च कृते रूपम् । कस्मिन्निति 'क' इत्यत्र 'किमोऽत्' इत्यति शलोपे सुपो लुकि 'किम् अ' इति जाते 'कालि' इति किमः फादेशे 'क अ' इति जाते भावे अलोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च तस्मिन् । इतराऽपि दृश्यन्ते । पञ्चमीसप्तमी तरविभक्तिभ्योऽपीत्यर्थः । फलितमाह—पञ्चमीसप्तमीतरविभक्त्यन्तादपीति । स भवान् ततो भवानिति । स भवानिति ततो भवान् इत्यत्र 'इतराम्योऽपि दृश्यन्ते' इति तसिलि, सुपो लुकि, तद् तस् भवान् इति जाते 'त्यदादीनामः' इत्यथे 'अतो गुणे' इति पररूपत्वे सस्य रुत्वे रोक्त्वे गुणे च कृते 'ततो भवान्' इति । अधुना । 'इदम' इति 'सप्तम्या' इति 'काले' इति चानुवर्तते । तदाह—इदम इति । तदो दा च । सप्तम्यन्तात्

किमोऽत्—सप्तम्यन्त किम् शब्दसे अव प्रत्यय हो, विकल्पसे । फाति—किम्को 'क' आदेश हो, अव प्रत्ययके परे । इतराम्यो—पञ्चमी, सप्तमी, विभक्तिसे इतर जो प्रथमादि विभक्ति, तदन्तसे भी 'त्र, तसिल्' आदि प्रत्यय होते हैं सर्वैकान्य—कर्तामें वर्तमान सप्तम्यन्त—सर्व, एक, अन्य आदिसे 'दा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । सर्वस्य—सर्वको 'स' आदेश हो, विकल्पसे, दकारादि प्राग्दिशोय प्रत्ययके परे । इदमो—सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे द्वि प्रत्यय हो, काल अर्थमें, विकल्पसे । पतेतौ—इदम्को पत और इत् आदेश हो, रेफादि और यकारादि प्राग्दिशोय प्रत्ययके परे । अधुना—कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे अधुना प्रत्यय हो, स्वार्थमें । दानीञ्च—कालवाची सप्तम्यन्त इदम् शब्दसे दानीन् प्रत्यय हो, स्वार्थमें । तदो दा—कालवाची सप्तम्यन्त तद् शब्दसे दा और दानीम् प्रत्यय हो ।

दा च ।५।३।१५। तदा, तदानीम् ॥ अनद्यतने द्विजन्यतरस्याम् ।५।३।२१।
 क्हि, कदा । य्हि, यदा । त्हि, तदा ॥ पतेतौ रथोः ।५।३।४। एत इत एतौ
 स्तो रेफादौ यकारादौ च प्राग्दिशीये । एतस्मिन्काले एतर्हि ॥ सद्य, परत्परार्थै-
 यम परेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युक्रमयेद्युक्तरे
 द्यु ।५।३।२२। एते निपात्यन्ते । (द्युश्चोभयाद्वक्तव्य) उभयद्यु । प्रकारवचने
 याल् ।५।३।२३। प्रकारवृत्तिभ्य किमादिभ्यस्याल् । तेन प्रकारेण तथा । यथा ॥
 इदमस्थमुः ।५।३।२४। यालोऽपवादः ॥ (एतदो घाच्य) अनेन एतेन वा
 प्रकारेण इत्थम् ॥ किमश्च ।५।३।२५। केन प्रकारेण कथम् ।

इति प्राग्दिशीयप्रकरणम् ।

काठवृत्ते तद्ब्रह्मात् इतिप्रत्यय, दानीं प्रत्ययश्च स्यादित्यर्थं । सद्य-पद्य । 'समानस्य
 सभावो घास् चाहनि' इति माष्यवाक्यमिदम् । अहर्द्युतेः समानशब्दात् सस्यन्तात्
 घरप्रत्यय समानस्य सभावश्च निपात्यत इत्यर्थं । सद्य । समानेऽहनि, इत्यर्थः । प्रकार-
 वचने । किं सर्वनामबहुम्बोऽभ्यादिभ्य इति वतन्ते । सद्यथा, काल, इति च निवृत्तम् ।
 सामान्यस्य विशेषो भेदक प्रकार, प्रहृत्यर्थविशेषण चेतत् । प्रकारवृत्तिश्च किंसर्वं
 नामबहुभ्य' स्वार्थे याल् प्रत्ययो भवति । तथा । तेन प्रकारेण 'तथा' इत्यत्र 'प्रकार-
 वचने याल्' इति थाळि, ललोपे सुपो लुकि, 'यदादीनाम' इत्यत्वे, 'अतो गुणे'
 इति पररूपत्वे च कृते 'तथा' इति रूपम् । एव येन प्रकारेण इति 'यथा' इत्यत्रापि
 बोध्यम् । इदमत्यम् । इदञ्चान्दाप्रकारवृत्ते यमुप्रत्यय स्यादित्यर्थं । प्रत्यये उकार
 उपधारणार्थं । मकारस्य उपदेशे अन्तर्वावामान्नेरत्वम् । इत्यम् । अनेन प्रकारेण
 'इत्यम्' इत्यत्र 'इदमस्थमु' इति यमौ, सुपो लुकि, 'इदम् यम्' इति जाते 'एतेतौ
 रथो' इति यपरत्वादिदम् इत्यादेशो च कृते 'इत्थम्' इति । इति प्राग्दिशीया ।

अनद्यतने—अनद्यतन कालत्राची सप्तम्यन्त किम् सर्वनाम आदिसे हिल् प्रत्यय हो,
 विकरसे । एतद्—एतद् शब्दको घत-इत् आदेश हो, रेफादि और यकारादि प्रत्ययके पर ।

सद्य परत्—सद्य आदि चतुर्दश शब्द निपातनसे सिद्ध हो । द्युश्चो—उभयसे यम्
 प्रत्यय भी हो, अहन् अन्विषेय रहने पर । प्रकार—प्रकारवृत्ति किमादि शब्दसे याल्
 प्रत्यय हो, स्वार्थमे ।

इदमस्थमुः—प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे यमु प्रत्यय हो, स्वार्थमे । एतदोऽपि—
 प्रकारवृत्ति इदम् शब्दसे भी यमु प्रत्यय हो, स्वार्थमे । किमश्च—प्रकारवृत्ति किम् शब्दसे
 भा यमु प्रत्यय हो, स्वार्थमे ।

प्रकार 'इन्दुमती' टीकामें प्राग्दिशीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ स्वार्थिकप्रकरणम्

दिक्छन्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः । ५।-
३।२७। सप्तम्याद्यन्तेभ्यो दिशि रुढेभ्यो दिग्देशकालवृत्तिभ्यः स्वार्थेऽस्तातिः ॥
पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम् । ५।३।३२। एभ्योऽस्तीत्यर्थेऽसिस्तथोगे
चैषां पुर् अघ् अच् इत्यादेशः स्युः ॥ अस्ताति च । ५।३।४०। पूर्वादीनां पुरादयः
स्युः । पूर्वस्यां पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्, -पुरः, पुरस्तात् । अघः, अघस्तात् । अच्,
अचस्तात् ॥ विभाषाऽवरस्य । ५।३।४१। अस्ताती अच् वा स्यात् । अचस्तात्, अवर-
स्तात् । एवं देशे काले च । दिशि रुढेभ्यः किम् ? ऐन्द्र्यां वसति । सप्तम्याद्यन्तेभ्यः
किम् ? पूर्वं प्रामं गतः । दिगादिवृत्तिभ्यः किम् ? पूर्वस्मिन् गुरौ वसति । 'अस्ताति
च' इति ज्ञापकादसिरस्ताति न वाधते ॥ दक्षिणोत्तराभ्यामतसुचु । ५।३।२८।

दिक्छन्देभ्यः । सप्तम्याद्यन्तेभ्य इति । सप्तमी पञ्चमी प्रथमान्तेभ्यः इत्यर्थः । रुढेभ्य
इति । शब्दप्रद्वणलभ्यमिदम् । अस्तातिप्रत्यये ह्कार उच्चारणार्थः । तकारान्तः
प्रत्ययः । 'संख्याया विधार्थे धा' इति सूत्रपर्यन्तमिदं सूत्रमस्तातिवर्जमनुवर्तते ।
अत्र विमत्तीनां दिगादीनां च न यथासंख्यं, स्याद्यानात् । पूर्वाधरावराणाम् । अस्तीति
लुप्तप्रथमाकम् । पुर् अघ् अच् एषां इन्द्रात् प्रथमा बहुवचनम् । अस्तीत्यर्थे इति ।
दिग्देशकालवृत्तिभ्य इत्यर्थः । अस्ताति च । अस्तातीति लुप्तसप्तमीकम् । अस्तातीति
तकारान्तात् सप्तम्येकवचनं वा । पुरस्तादिति । पूर्वशब्दात् अस्तातिप्रत्ययः प्रकृतेः पुर
आदेशः । अघः, अघस्तादिति । अघरशब्दात् असिप्रत्यये अस्तातिप्रत्यये च प्रकृतेः
अघ् आदेशो रूपम् । अच् इति । अचरशब्दात् असिप्रत्यये प्रकृतेः अच् आदेशो रूपम् ।
विभाषाऽवरस्य । 'अस्ताति च' इति पूर्वसूत्रादस्तातीत्यनुवर्तते । तदाह-अस्ताताविति ।
एवमिति । पूर्वस्मिन् पूर्वस्मात् पूर्वा वा देशः कालो वा पुरः पुरस्तादित्यादि । पूर्वस्मि-
न् गुराविति । पूर्वकालिकाध्यापनकर्तरीत्यर्थः । ननु दिक्छन्देभ्यः इति सामान्यविहितस्य
परादिशब्देषु सावकाशस्य अस्तातेः पूर्वाधरावरशब्देषु असिना विशेषविहितेन याघः
स्यादित्यत आह-अस्ताति चेतीति । दक्षिणोत्तराभ्याम् । दिग्देशकालवृत्तिभ्यामिति शेषः ।

दिक्छन्देभ्यः—दिक्, देश और कालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त
दिक् शब्दसे अस्ताति प्रत्यय हो, स्वार्थमें । पूर्वाधरा—पूर्व, अघर और अवरसे 'अस्ताति'
के अर्थमें असि प्रत्यय हो और असिके योगमें पूर्वादिको यथाक्रमसे पुर, अघ् और अच्
अ देश भी हों । अस्ताति च—'अस्ताति' प्रत्ययके परे भी पूर्वादिको पुरादि आदेश हो ।

विभाषा—अस्ताति प्रत्ययके परे 'अवर' को 'अच्' आदेश विकल्पसे हो ।

दक्षिणो—दिग्देशकालमें वर्तमान सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त और प्रथमान्त दिग्वाची दक्षिण

अस्तातेरपञ्चद. । दक्षिणत । उत्तरत. ॥ विभाषा पराधराभ्याम् । ५।३।२७।
 परत, परस्तात् । अवरत., अवरस्तात् ॥ अञ्चेर्लुक् । ५।३।३०। अस्त्यन्ता-
 दिक्शाब्दादस्तातेर्लुक् स्यात् । प्राक् । उदक् ॥ उपर्युपरिष्ठात् । ५।३।३१।
 निपातावेतौ ॥ पश्चात् । ५।३।३२। तथा ॥ उत्तराधरदक्षिणादातिः । ५।३।३४।
 उत्तरात् । अधरात् । दक्षिणात् ॥ एनयन्यतरस्यामदूरेऽपञ्चभ्याः । ५।३।३५।
 उत्तरादिभ्य एनच्वा स्यादवध्यवधिमतो सामीप्ये । पञ्चम्यन्तात् न । उत्तरेण । अध-
 रेण । दक्षिणेन । पत्ते-यथास्वं प्रत्यया । इह केचिदिक्शाब्दमात्रादेनपमाहुः । पूर्वेण
 प्रामम् ॥ दक्षिणादाच् । ५।३।३६। अस्तातेर्विषये । दक्षिणा वसति । 'अपञ्चम्या'
 इत्येव । दक्षिणादागत ॥ आहि च दूरे । ५।३।३७। चादाच् । दक्षिणाहि ।
 दक्षिणा ॥ उत्तराच्च । ५।३।३८। उत्तरादि, उत्तरा । संख्याया विधायं धा

दक्षिणत, उत्तरत इति । न धातुमुज्ज्व प्रथयोऽस्तु । द्विरवतिये तु 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे'
 इति पुषवेनैव दक्षिणत. इत्यादिसिद्धमिति वाच्यम्, स्पष्टार्थत्वात् । उत्तरादिभ्य
 इति । उत्तराधरदक्षिणादित्यनुवर्तत इति भावः । अदूरे इत्येतद्व्यापष्टे—भवत्य-
 वधिमतो सामीप्ये इति । पञ्चम्यन्तादिति । पञ्चम्यन्तात् भवतीत्यर्थः । यथास्वमिति ।
 एनवभावे पत्ते अस्ताति अति आतिशयोपर्यं । दिक्शाब्दमात्रादिति । अपञ्चम्यन्तात्
 नेदम्, इत्यवहितविभाषाश्रयणात् । तेन प्राचेन प्राममित्यादि न भवतीत्याहुः ।
 दक्षिणादाच् । अस्तातेर्विषये इति । पत्तेन अदूरे इति नानुवर्तत इति सूचितम् । एव च
 आश्चर्यये, उत्तराधरदक्षिणादिर्यादि प्रत्यये, 'दक्षिणोत्तराभ्याम्' इत्यतस्तु च प्रीणि
 रूपाणि । आहि च । दक्षिणाब्दादिति शेषः । चादानिति । तथा दूरे उक्तरूपश्रयेण
 सह आहारि रूपाणीति भावः । उत्तराच्च । आच् आहि चेति शेषः । अतस्तु धा
 आतिना च आहारि रूपाणि । संख्याया विधायं धा । विधाशब्दस्यार्थं प्रकारः

या उत्तर शब्दसे अतस्तुच् प्रत्यय हो स्वार्थमें । विभाषा परा—अस्तातिके अर्थमें दिक्वाची
 पर और अवरसे अतस्तुच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । अञ्जे—अञ्जयन्त दिक् शब्दसे पर
 अस्ताति प्रत्ययका तुक् हो । उपर्युपरि—अस्तातिके अर्थमें उपरि और उपरिष्ठात्
 निपातन हो । पश्चात्—अस्तातिके अर्थमें पश्चात् यह निपातन हो । उत्तराधर-उत्तरादिसे
 अस्तातिके अर्थमें आति प्रत्यय हो । एनयन्य—अस्तातिके अर्थमें उत्तरादिसे एनप् प्रत्यय
 हो, यदि अवधि और अवधिमात्रका सामीप्य रहे । किन्तु पञ्च यन्तसे यह एनप् नहीं हो ।

दक्षिणा—अस्ताति प्रत्ययके विषयमें पञ्चम्यन्तसे विन्न दक्षिण शब्दसे आच् प्रत्यय हो ।
 आहि च—अपञ्चम्यन्त दक्षिण शब्दसे अस्तातिके अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो,
 अवधिसे अवधिमान यदि दूर रहे तो । उत्तरा—अपञ्चम्यन्त उत्तर शब्दसे भी अस्ताति
 अर्थमें आहि और आच् प्रत्यय हो, अवधिसे अवधिमान यदि दूर हो । संख्या—क्रिया

।५३।४२। क्रियाप्रकारार्थे वर्तमानात् संख्याशब्दात्स्वार्थे वा । स्वात् । चतुर्थो ॥
एकाद्वौ ध्यमुन्वन्तरस्याम् ।५३।४४। ऐक्यम्, एकधा ॥ द्विभ्योश्च
धमुञ् ।५३।४५। आभ्यां वा इत्यस्य धमुन् वा । द्वैधम्, द्विधा । त्रैधम्,
त्रिधा ॥ एवाच्च ।५३।४६। द्वेधा । त्रेधा ॥ याप्ये पाशप् ।५३।४७। कृत्सितो
भिरक्-भिवक्पाराः ॥ (तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः) । द्वैतीयिकः,
द्वितीयः । तार्तीयिकः, तृतीयः ॥ (न विद्यायाः) । द्वितीया, तृतीया विशेषेव ॥
एकादाकिनिच्चासहाये ।५३।५२। चात्कन्लुकाँ । एकः । एकाकी । एककः ॥
भूतपूर्वे चरट् ।५३।५३। आद्वौ भूतपूर्वः-आद्व्यवरः ॥ षष्ठ्या रूप्य च ।

विधार्थः । 'विधा विधी प्रकृते च' इत्यमरः । सामान्यस्य भेदको विशेषः प्रकारः । स
चाभिधानस्वभावात् क्रियाविषयक एव गृह्यते । तदाह—क्रियाप्रकारेति । चतुर्थेति ।
नञ्छ्रुतीयादिक्रियापदमध्याहार्यम् । चतुष्प्रकारा गमनादिक्रियेति शेषः । नवधा द्व-
ष्यमिःयादावपि अचत्रीत्यादिक्रियापदमध्याहार्यम् । एकाद्वौ ध्यमुन्वन्तरस्याम् । एकात्
घः इति छेदः । धाशब्दस्य घ इति षष्ठ्येकत्रचनम् । एकशब्दात् परस्य घाप्रत्ययस्य
ध्यमुजादेशः स्यादित्यर्थः । ऐक्यमिति । न च एकशब्दात् ध्यमुञ् प्राययः स्वतन्त्रो
विधीयताम् । न तु घाप्रत्ययस्यादेश इति वाच्यम् तथा सति अधिकरणविधान पृथ
संनिहितत्वादापत्तेः । द्विभ्योश्च धमुञ् । षष्ठी पञ्चम्यर्थे । घ इति, अन्यतरस्यामिति
दानुवर्तते । तदाह—आभ्यामिति । परस्येति शेषः । एवाच्च । द्विभिन्यां परस्य घाप्र-
त्ययस्य पञ्चाजिःघादेशः स्यादित्यर्थः । पञ्चम्यास्तसि ल्ङ् इत्यारभ्य एवाच्च इत्यन्तैर्वि-
हितप्रत्ययान्तानामस्ययत्त्वम् । याप्ये पाशप् । याप्यः कृत्सितः, 'निकृष्टप्रतिकृष्टावैरफ-
याप्याचमाधमाः' इत्यमरः । कृत्सिते विद्यमानात् स्वार्थे पाशप् स्यादित्यर्थः । प्रवृत्ति-
निमित्तकुरसायामिदम् । अप्रवृत्तिनिमित्तकुरसायामपि कृत्सित इति वषयमाणं नवती-
ति आप्ये स्पष्टम् । तीयादौकगिति । वार्तिकमिदम् । न विद्याया इति । वार्तिकमिद-
मपि तत्रैव स्थितम् । विद्याश्रुतेः तीयप्रत्ययान्तादीकक् नेत्यर्थः । एकादाकिनिच्चा-
सहाये । असहायवाचकादेकशब्दात् स्वार्थे आकिनिच्प्रत्ययः स्यादित्यर्थः । भूतपूर्वे चरट् ।

प्रकारार्थे विद्यमान संख्यावाचक शब्दते 'घा' प्रत्यय हो, स्वार्थमें । एकाद्वौ—एक शब्दते पर
'घा' प्रत्ययको 'ध्यमुन्' आदेश हो, विकल्पते । द्विभ्योश्च—द्वि, त्रि शब्दते पर 'घा' को
धमुन् आदेश हो, विकल्पते । एवाच्च—द्वि, त्रि शब्दते पर 'घा' को 'एवाच्' आदेश हो,
विकल्पते । याप्ये—याप्य (कृत्सित) अर्थमें विद्यमान प्रातिपदिकते स्वार्थमें पाशप् प्रत्यय हो ।

तीयादी—तीय प्रत्ययान्तते ईकक् प्रत्यय हो, स्वार्थमें, विकल्पते । न विद्यायाः—विद्या
अर्थमें वर्तमान तीय प्रत्ययान्तते ईकक् प्रत्यय नहीं हो । एकादा—असहायवाची एक
शब्दते स्वार्थमें 'आकिनच्' प्रत्यय और चकारात् कन् और लुक् भी हो । भूतपूर्वे—भूतपूर्व
अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकते स्वार्थमें चरट् प्रत्यय हो । षष्ठ्या—षष्ठयन्त प्रातिपदिकते

।५।३।५४। पष्ठयन्ताद्भूतपूर्वेष्वे रूष्य स्वाचरट् च । कृष्णस्य भूतपूर्वो गौ—कृष्ण-
रूष्य, कृष्णचर ॥ अतिशयने तमविष्टनो ।५।३।५५। अतिशयविशिष्टार्थवृत्त
स्वार्ये एतौ स्त । अयमेवामतिशयेनाढ्य—आढ्यनम । लघुनम, लघिट् ॥ तिडश्च
।५।३।५६। निवृत्तादतिशये शोभे तमप् स्यात् ॥ तरप्तमपौ घ ।१।१।२२।
किमेत्तिडभ्ययघादाभ्यद्रव्यप्रकर्षे ।५।४।११। मिम एदन्नानिडाभ्ययच च यो
घस्तदन्तादासु स्यान्न तु द्रव्यप्रकर्षे । क्तिन्तमाम् । प्राकृतमाम् । प्रनेतमाम् । पच
तिन्तमाम् । उच्चस्तमाम् । द्रव्यप्रकर्षे तु, -उच्चैस्तमस्तह ॥ द्विवचनविभज्योपपदे
तरव्ययसुनौ ।५।३।५७। द्वयोरैकस्यातिशये विभक्त्ये चोपपदे सुप्तिवृत्तादेतौ स्त ।
पूर्वयोरपवाद । अयमनयोरतिशयेन लघु—लघुतर, लघामान् । उदाचमा प्राच्येभ्य
पटुतरा, पटीयास ॥ अजादी गुणधचनादेव ।५।३।५८। इष्टनीयसुनौ ।
नेह, -पाचकतर, पाचकतम ॥ प्रशस्यस्य श्र. ।५।३।६०। इष्टयसौ परत ॥

भूतपूर्वेषु वर्तमानात् प्रातिपदिकात् स्वार्ये चरट् स्वादिस्यर्थं । पष्ठया रूप्य
च । रूप्येतिलुप्तप्रथमाकम् । भूतपूर्वेषु इत्यनुवर्तते । पष्ठयन्ताद् भूतपूर्वेषु इति । भूतपू-
र्वेष्वे विद्यमानात् पष्ठयन्तादिस्यन्वयः । भूतपूर्वेषु इत्यनुवृत्तं हि ध्रुतत्वात् पष्ठया विशेष
णम् । भूतपूर्वेषु सम्बन्धे या पृथ्वी तदन्तात् स्वार्ये रूप्यः स्यादिति फलति । यथा
श्रुते तु स्वार्यिकप्रकरणविरोधः । कृष्णरूप्य इति । भूतपूर्वगणया कृष्णसम्बन्धी गौरि
त्यर्थः । अजादी । तरप्तमपौ इष्टनीयसुनौ चेति चत्वारः प्रथया अनुकान्ता । तेषां
मध्ये यो अजादी इष्टनीयसुनौ ताविस्यर्थः । तदाह—इष्टनीयसुनाविति । पाचकतर
पाचकतम इति । क्रियाशब्दादाभ्यामिष्टनीयसुनौ नेति भा. । गुणधचनादजादी एवेति
विपरीतनियमस्याप्यस्य एवकारः । तेन पटुतर. पटुतम इत्यादि विदम् ।

भूतपूर्वेषु अर्थे रूप्यप्रत्यय और चरट् प्रत्यय मो हो । अतिशयने—अतिशय अर्थमें
विद्यमान प्रातिपदिकसे स्वार्ये तमप् प्रत्यय और इष्टन् प्रत्यय हो । तिडश्च—अतिशय अर्थ
योरर्थमें तिडन्तसे 'तमप्' प्रत्यय हो । तरप्तमपौ—तरप् और तमप् प्रत्ययको मसहा हो ।

किमेत्तिड्—किन् शब्द और एदन् प्रातिपदिक, तिडन्त तथा अभ्ययसे पर जो घ,
तदन्तमे आसु' प्रत्यय हो द्रव्यप्रकर्षसे मित्रमे ।

द्विवचन—द्वयर्थ प्रातिपदिक और विभक्त्य (जिसका विभाग किया जाय, वह) उप
पद रहनेपर दोमेंसे एकका अतिशय बोध होतो, सुबन्त और तिडन्तसे तरप् प्रत्यय और
ईयसुन् प्रत्यय हों । अजादी—अजादि इष्टन् और ईयसुन् प्रत्यय, गुणधचनासे ही होते हैं ।
प्रशस्य—प्रशस्यको 'श' आदेश हो, इष्टन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे ।

प्रकृत्यैकाच् । ६।४।१६३। इष्ठादिष्वेकाच् प्रकृत्या स्यात् । श्रेष्ठः । श्रेयान् ॥ ज्य च । ५।३।६१। प्रशस्यस्य ज्यादेश इष्टेयसोः । ज्येष्ठः । ज्यादादीयसः । ६।४।१६०। 'आदेः परस्य' । ज्यायान् । वृद्धस्य च । ५।३।६२। ज्यादेशः अजायोः । ज्येष्ठः, ज्यायान् ॥ अन्तिकवाढयोर्नेदसाधौ । ५।३।६३। अजायोरिष्टेयसोः । नेदिष्ठः । नेदीयान् । साधिष्ठः, साधीयान् ॥ स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रभ्रुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः । ६।४।१५६। एषां यणादिपरं लुप्यते, पूर्वस्य च गुण इष्ठादिषु । स्यविष्ठः । दविष्ठः । यविष्ठः । हसिष्ठः । ज्ञेपिष्ठः । क्षोदिष्ठः । एवमीयसुन् । ह्रस्वक्षिप्र-

वृद्धस्य च । शेषपूरणं सूत्रं स्यात्—ज्यादेशः अजाधारिति ॥ इष्टघीचसुनोरित्यर्थः । ज्येष्ठ इति । अयमनयोरतिशयेन ईवृद्ध इत्यर्थः । अन्तिकवाढयोः । अजाधारिति । शेष-पूरणमिदम् । अन्तिकवाढ अनयोः इष्टेयसुनोः परतः नेद, साध पतावादेशौ स्त इत्यर्थः । साधिष्ठः साधीयानिति । अयमनयोरतिशयेन षाढ इत्यर्थः । षाढो ष्टुः । 'भृशप्रतिज्ञयोर्षाढम्' इत्यमरः । 'अतिवेलभृशात्यर्थातिमान्नोद्गाढनिर्भरम्' इति च । स्थूलदूर । यणामिति । स्थूल, दूर, युवन्, ह्रस्व, क्षिप्र, भ्रुद्, इत्येतेषामित्यर्थः । यणा-दिति । यण्-आदिर्यस्येति चिप्रहः । परमिति-यणादीत्यस्य विशेषणम्, पर-भूतं यणादीत्यर्थः । लुप्यत इति । 'अधोपोऽनः' इत्यतोऽनुवृत्तं लोपपदमिह कर्मणि वज-न्तमाश्रीयत इत्यर्थः । भावसाधनत्वे परमित्यनेन सामानाधिकरण्यसम्भवात् । पूर्व-स्येति । पूर्वत्वं यणपेक्षया घोष्यम् । इष्ठादिष्विति । तुरिष्टेमेयसु इत्यतस्तदनुवृत्त-रिति भावः । स्यविष्ठ इति । स्थूल शब्दादिष्विति लहस्यस्य लोपे ऊकारस्य गुण ओ-कारः अवादेशः इति भावः । ओर्गुणस्तु न प्रवर्तते, यणादिलोपस्याभीयत्वेनासिद्ध-त्वात् । एवमग्रेऽपि । दविष्ठ इति । दूरशब्दादिष्विति रहस्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणे अवादेशः । यविष्ठ इति । युवन् शब्दादिष्विति वक्षित्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणे अवा-देशः । परमित्यनुक्तौ यु इत्यस्यापि यणादेर्लोपः स्यात् । क्षेपिष्ठ इति । क्षिप्रशब्दा-दिष्विति रहस्यस्य लोपे ऊकारस्य गुणः । 'इको गुणवृद्धी' इत्युक्तेः न पिकारस्य गुणः । क्षोदिष्ठ इति । भ्रुद्शब्दादिष्विति रहस्यस्य लोपः उकारस्य गुणः ।

प्रकृत्यैकाच्—इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे असंशक एकाच् प्रकृतिवत् हो । ज्य च—प्रशस्यको 'ज्य' आदेश हो, इष्टन् और ईयसुन् प्रत्ययके परे । ज्यादा—'ज्य'से पर ईयस् (ईयसुन्) को आकार आदेश हो । वृद्धस्य च—वृद्धको 'ज्य' आदेश हो, अजादि (इष्टन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे । अन्तिक—अन्तिकको 'नेद' आदेश और नाढको 'साध' आदेश हो, अजादि (इष्टन्-ईयसुन्) प्रत्ययके परे । स्थूल—स्थूलादिके यणादिरूप ०-भागका लोप हो और यणादिसे पूर्वभागको गुण हो, इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन्

धुशर्णां पृष्वादित्वात्-हसिमा, चेपिमा, क्षोदिमा ॥ प्रियस्थिरस्फिरोऽयद्बहुलगुण-
 वृद्धत्वप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फथर्यद्विगर्वपिंश्रवद्राघिवृन्दाः । ६।४।१५७।
 प्रियादीनां प्रादय स्युरिष्ठादियु । प्रेष्ठः । स्फेष्ठ । वरिष्ठ । बहिष्ठ ।
 गरिष्ठ । वर्षिष्ठ । त्रिषिष्ठ । द्राघिष्ठ । वृन्दिष्ठ । एवमीयसुन् । प्रेयान् । प्रियोऽव
 हुलगुरुदीर्घाणां पृष्वादित्वादिमनिच् प्रमा' इत्यादि ॥ बहोर्लोपो भू च बहो-
 । ६।४।१५८। बहो परयोऽरिमेयसोर्लोप स्याद्बहोश्च भूरादेश । भूमा । भूयान् । इष्टस्य
 यिद् च । ६।४।१५९। बहो परस्य इष्टस्य लोपो यिडागमश्च । भूयिष्ठ । विन्मतोर्लुक्
 । ५।३।६५। इष्टेयसो परत । अतिशयेन त्वयान्, त्वचीयान् ॥ प्रशंसायां

प्रियादीनामित्ति । प्रिय, स्थिर, स्फिर, उर, बहुल, गुण, वृद्ध, तुप, दीर्घ, वृन्दारक
 एषां शृङ्गानामिष्यर्थः । प्रादय इति । प्र, स्थ, स्फ, वर, बहि, गर, वर्षि, त्रप्, द्राघि,
 वृन्द एते द्वयोऽर्थः । इष्ठादिविति । इष्टेमेयस्त्विष्यर्थः । 'सुरिष्ठेमेय सु'
 इत्यतः तदनुवृत्तेरिति भावः । प्रेष्ठ इति । प्रियशब्दादिषुनि प्रकृतेः प्रादेशः । आभी
 यत्वेनासिद्धत्वाद्कारोऽन्वारणसामर्थ्याच्च न टिलोपः । आद्गुण । स्फेष्ठ इति ।
 स्थिरशब्दादिषुनि प्रकृतेः स्यादेशः । प्रकृतिभावाच्च टिलोपः । स्फेष्ठ इति । स्फिर
 शब्दस्य इष्टनि स्फादेशः । वरिष्ठ इति । उरुशब्दात् इष्टनि वर आदेशः । बहिष्ठ इति ।
 बहुलशब्दस्य बहिइत्यादेशः । इकार उच्चारणार्थः । अन्यथा आभीयत्वेनासिद्ध
 त्वात् उच्चारणसामर्थ्याद्वा इकारस्य लोपो न स्यात् । गरिष्ठ इति । गुरुशब्दस्य
 इष्टनि गर् आदेशः । वर्षिष्ठ इति । वृद्धशब्दस्य इष्टनि वर्षिरादेशः बहिवदिकार उच्चा
 रणार्थः । त्रिषिष्ठ इति । तुपशब्दस्य इष्टनि त्रप् आदेशः । अदुपधः । तुपधातोर्तुपधस्य
 कार्दीणादिके रक्त्विष्यर्थः । द्राघिष्ठ इति । दीर्घशब्दस्य इष्टनि द्राघिरादेशः । बहि
 षदिकार उच्चारणार्थः । वृन्दिष्ठ इति । वृन्दारकशब्दस्य 'इष्टनि वृन्द आदेशः । अकार
 उच्चारणार्थः । एवमीयसुन्निति । प्रेयान्, स्थेयान्, स्फेयान्, वरीयान्, बहीयान्,
 गरीयान्, वर्षीयान्, त्रपीयान्, द्राचीयान्, वृन्दीयान् । अत्र इमनिजनुवृत्तेः प्रयोऽ-
 नमाह—प्रियोऽव इति । वृन्दारकसिद्धत्वाच्चेति । शेषपूरणमिदम् । 'तिष्ठश्च' इत्यनुवृत्तम् ।

प्रत्ययके परे । प्रियस्थिर—प्रिय, स्थिर, स्फिर, उर, बहुल, गुण, वृद्ध, तुप, दीर्घ और
 वृन्दारकको यथाक्रमसे प्र, स्थ, स्फ, वर, बहि, गर, वर्षि, त्रप्, द्राघि और वृन्द आदेश
 हो, इष्टन्, इमनिच् और ईयसुन् प्रत्ययके परे । बहोर्लोपो—बहुते पर इमनिच् और
 ईयसुन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश मो हो । इष्टस्य—बहुते
 पर इष्टन् प्रत्यय (के आदि) का लोप हो और बहुको 'भू' आदेश तथा इष्टन्को 'यिद्' का
 आगम मो हो । विन्मतो—विन् और त्रुमत्तुप् का लोप हो इष्टन् तथा ईयसुन् प्रत्ययके परे ।

प्रशंसायां—प्रशंसा अर्थमें वर्तमान सुबन्त और तिष्ठन्तसे स्वार्थमें 'रूपप्' प्रत्यय हो ।

रूपम् । १५३।६६। सुवन्तात्तिङन्ताच्च । प्रशस्तः पटुः पटुरूपः । पचतिरूपम् ॥ ईषदस्-
मासौ कल्पवृक्षदेशीयरः । १५३।६७। ईषदूनां विद्वान्-विद्वत्कल्पः । विद्वद्देश्यः ।
विद्वद्देशीयः । पचतिकल्पम् ॥ विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात् १५३।६८।
ईषदूनः पटुर्वहुपटुः । पटुकल्पः । सुपः किम् ? यजतिकल्पम् ॥

प्रागिवात्कः । १५३।७०। इवे प्रतिकृताचित्यतः प्राक्काधिकारः ॥ अव्ययसर्व-
नाम्नामकच् प्राक् टेः । १५३।७१। कापवादः । तिङ्श्वेत्यनुवर्तते ॥ कस्य च दः
। १५३।७२। कान्ताव्यस्य दादेशोऽकच ॥ अज्ञाते । १५३।७३। कस्यायमश्वः-अश्वकः ।
उचकैः । नाचकैः । सर्वकैः । पचतकि । घक्ति ॥ कुत्सिते । १५३।७४। कुत्सितोऽ-
श्वः-अश्वकः ॥ अल्पे । १५३।८५। अल्पं तैलं-तैलकम् । ह्रस्वो वृक्षः-वृक्षकः ॥ (अ-
स्मिन् प्रकरणे हलादौ प्रत्यये द्वितीयादचः परस्य लोपो वा घाच्यः) ।
देवदनकः । देवकः । (लोपः पूर्वपदस्य च) । दत्तकः । (विनापि प्रत्ययं पूर्वो-

प्रातिपदिकादिति च । 'घञाल' इत्यादिलिङ्गात् सुवन्तादिति लम्पत इति भावः ।
प्रशंसाविक्रिष्टे स्वार्थं वर्तमानात् तिङन्तात् सुवन्ताच्च रूपविति फलितम् ।

लोपः पूर्वपदस्य चेति । विभाषेति शेषः । अनजादाविति तु नात्र संघ-
ष्यते । तदाह—दणक इति । कनि देवघञ्दलोपे रूपम् । अप्रत्यये तयैवेष्ट-

ईषदसमासौ—ईषद असमाप्ति (योही-सौ कमी) अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे
करूपम् और देश्य तथा देशीयर् प्रत्यय हो । विभाषा—ईषद असमाप्ति अर्थमें वर्तमान
सुवन्तसे बहुच् प्रत्यय विकल्पसे हो और वह प्रकृतिसे पूर्व ही हो ।

प्रागिवात्कः—'इदे प्रतिकृतौ' इस सूत्रसे पूर्व तक 'क' प्रत्ययका अधिकार है ।

अप्यय—अव्यय, सर्वनाम और तिङन्तकी टि' से पूर्व ही अकच् प्रत्यय हो, प्रागिवा-
वादि अर्थमें । कस्य च—ककारान्त अप्ययको 'द' आदेश हो और उससे अकच् प्रत्यय
यो हो । अज्ञाते—अज्ञात अर्थमें वर्तमान सुवन्त और तिङन्तसे क, अकच् आदि प्रत्यय हो
स्वार्थमें । कुत्सिते—कुत्सित अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि
प्रत्यय हों । अल्पे—अल्प अर्थमें वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हों ।

नोटः—'ह्रस्वो वृक्षः-वृक्षकः' इसके लिये 'ह्रस्वे १५३।८६' (ह्रस्व अर्थमें वर्तमान प्राति-
पदिकसे स्वार्थमें यथाविहित कादि प्रत्यय हो) इस सूत्रका पाठ भी सि० कौमुदीमें है ।

अस्मिन्—इस (प्रागिवीय प्रत्ययके) प्रकरणमें हलादि प्रत्ययके परे द्वितीय अच्से
परका लोप हो, विकल्पसे । लोपः पूर्व—पूर्व पदका भी लोप प्रागिवीय हलादि प्रत्ययके
परे, विकल्पसे । विनापि—प्रत्ययके विना भी पूर्वपद तथा उत्तरपदका लोप हो, विकल्पसे ।

स्वरपद्योर्लोपो वा वाच्यः) । सत्यमामा । भामा । सत्या ॥ कुटीशमीशुण्डा-
भ्यो र् ॥ १५३॥८८॥ ह्रस्वा कुटी-कुटीर । शमीरः । शुण्डार ॥ कृत्वा कुपच् ॥ १५
३॥८९॥ ह्रस्वा कुत्-कुत्प । 'कुत् कृते स्नेहपार्श्वं ह्रस्वा सा कुत्पः पुमान्' । कास्-
गोणीभ्यां एरच् ॥ १५३॥९०॥ आद्युधविरोध कास्-ह्रस्वा सा कासूतरी । गोणी-
तरो ॥ यत्सोश्राभ्वर्षगेभ्यश्च तनुत्ये ॥ १५३॥९१॥ वत्सतरः । उशतर । अश-
तर । श्रपमतरः ॥ क्रियत्तदो निर्धारणे द्वयोरेकस्य इतरच् ॥ १५३॥९२॥
अनयो क्तरो वैभवाः ॥ यतरः । ततर ॥ वा बहुनां जातिपरिप्रश्ने इतमच्
॥ १५३॥९३॥ जातिपरिप्रश्न इति प्रत्याख्यातमाहरे । कतमो भवता कठ । यतम ।
ततम । वामहृषकमज्रयम् ॥ एकाश्च प्राचाम् ॥ १५३॥९४॥ इतरच् इतमच स्यात् ।
अनयोरेक्तरो मैत्र । एयामेकतम । इति प्राग्वीया ॥



इति वार्तिकभाग आद्यष्टे—विनापि मध्य पूर्वोत्तरपदलोपो वा वाच्य इति ।
भामा-सत्या । भामादिशब्दात् टाकादिप्रत्ययस्याभ्यसावे पूर्वोत्तरपदलोपोः क्रमेण लोपे
रूपम् । कुटीशमी । ह्रस्व इत्येव । कुटीर इति । 'स्वार्थिकाः लक्षित्यङ्गितितो
लिट्प्रवचनान्यतिवर्षंते' इति पुंस्यम् । एव शमीरः, शुण्डार इत्यपि । इहवा शमी
शुण्डा चेत्यर्थः । कृत्वा कुपच् । कुत्प इति । कुत्कम्दात् ह्रस्वसि द्विवाहिकोपः । तत्रापि
कुटीशदिदत् स्त्रीत्वमपहाय पुरात्वमेव । तत्र अमरकोशमपि प्रमाणयति—कुत्
कृतेरिति । कासूगोण्यां एरच् । इहव इत्येव । कासूतरीति । यिवात् लीपिति भावः ।
'कासूवुदे कृवाच्येऽङ्गे' इति मानार्थंरत्नमालावाम् । एवंगोणीतरीति । गणोडा । इहव
इति निवृत्तम् । वाम, वचन्, अश, श्रपम एवपरतनुत्तदिशिष्टदृष्टिभ्यः एरच् प्रत्ययः
स्वादिवाच्यः ।
इति प्राग्वीया ।



कुटीशमी—कुटी, शमी और शुण्डा शब्दों से 'र' प्रत्यय हो, इत्यत्र अर्थ पोत्य हो तो ।
कृत्वा कुपच्—कुत् शब्दसे कुपच् प्रत्यय हो, इत्यत्र अर्थ पोत्य रहने पर ।
कास्—काम् और गोणी शब्दोंसे एरच् प्रत्यय हो, इत्यत्र पोत्य रहने पर ।
यत्सोश्रा—वामादिसे एरच् प्रत्यय हो, तनुत्य (बोहापन) अर्थमें । क्रियत्तद्—दोमें
से एकका निर्धारण (निश्चय) करना हो तो— किम्, यत् और तत् शब्दोंसे इतरच्
प्रत्यय हो । वा बहुनां—बहुनोंमें से एकका निर्धारण करना हो तो—किम्, यत् और तत्
शब्दोंसे इतमच् प्रत्यय हो, विकल्पसे । एकाश्च—एक शब्दसे अपने अपने विषयमें इतरच्
और इतमच् प्रत्यय हो, प्राचीनोंके मतसे ।

यमप्रकार 'प्रत्ययती' टीकामें प्राग्वीय प्रकरण समाप्त हुआ ।

इवे प्रतिकृतौ । ५२।१६। कन् स्यात् । अथ इव प्रतिकृतिः—अशकः ॥
शाखादिभ्यो यः । ५।३।१०३। शाखेव शाख्यः । मुख्यः । जपन्यः । अग्रयः । शरण्यः ।
कुशाप्राच्छः । ५।३।१०५। कुशाप्रीया बुद्धिः ॥ तत्प्रकृतवचने मयद् । ५।४।२१।
प्राचुर्येण प्रस्तुतं प्रकृतम् , तस्य वचनं प्रतिपादनम् । भावे अधिकरणे वा स्युद् । आद्ये-
प्रकृतमन्त्रं अक्षमयम् । अक्षमयम् । द्वितीये—अक्षमयो यक्षः । अक्षमयं पर्यं ॥
संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच् । ५।४।१७। अभ्यावृत्तिर्जन्म,
क्रियाजन्मगणनवृत्तेः संख्यायाः स्वार्थं कृत्वसुच् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते । संख्यायाः किम् ?
भूरिवारान्भुङ्क्ते ॥ द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच् । ५।४।१८। कृत्वसुचोऽपवादः । द्विर्भुङ्क्ते ।

इवे प्रतिकृतौ । कन् स्यादिति । 'अवघोषणे कन्' इत्यतस्तदनुवृत्तेरिति भावः ।
इवार्थः उपमानत्वम् । तद्वृत्ति वर्तमानात्प्रातिपदिकाकन् स्यात्प्रतिकृतिभूते उपमेये
इति फलितम् । भृदादिविनिर्मिता प्रतिमा प्रतिकृतिः । अशकः । अथ इव प्रतिकृतिः
'अशकः' इत्यत्र 'इवे प्रतिकृतौ' इति कनि नलोपे विभक्तिकार्यं च कृते 'अशकः'
इति । प्रतिकृतेः स्त्रीषेऽपि 'स्वार्थिकाः प्रकृतितो लिङ्गवचनान्यनुवर्तन्ते' इति
पुंलिङ्गत्वम् । संख्यायाः । अन्यावृत्तिशब्देन यदि द्वितीयादिप्रवृत्तिर्गृह्यते तदा
चतुर्वारं पाकप्रवृत्तौ त्रिः पचतीति स्यादित्यत आह—अभ्यावृत्तिर्जन्मेति । उपसर्ग-
वशात् 'वृत्तु वर्तने' इति धातोः पत्तौ वृत्तिरिति भावः । कृत्वसुचि चकारं इत् ।
उकार उच्चारणार्थः 'तद्विदितश्चामवविभक्तिः' इत्यत्र तसिञादिषु पस्मिणनात्
कृत्वोऽर्थानामप्यस्यम् । पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते इति । पञ्चत्वसंख्याकोत्पत्तिविशिष्टा भोजन-
क्रियेत्यर्थः । संख्यायाः किमिति । गणने वृत्तिः, संख्याशब्दानामेयेति प्रश्नः । भूरिवारान्
भुङ्क्ते इति । भूरिशब्दो बहुशब्दपर्यायः, वारशब्दस्तु समभिधयाहृतक्रियापर्याप्ते काले
वर्तते 'कालाश्विनोरायन्तसंयोगे' इति द्वितीया । बहुकालेषु कारस्वयेन व्याप्ता
भोजनक्रियेत्यर्थः । भोजनबहुत्वं स्वर्थाद् गम्यते । तथा च वारशब्दोऽयं न गणज्ञाची ।

इवे प्रति—स्वार्थमे वर्तमान प्रातिपदिकसे स्वार्थमे कन् प्रत्यय हो, जो उपमेय रहे,
वह यदि प्रतिकृति (मूर्ति, तस्वीर आदि) हो तो ।

शाखादिभ्यः—शाखादिसे य प्रत्यय हो, स्वार्थमे । कुशाप्रा—कुशाग्रसे छ प्रत्यय हो,
इवार्थमे । तत्प्रकृत—'प्राचुर्येण प्रस्तुत' अर्थमे वर्तमान प्रातिपदिकसे मयद् प्रत्यय हो ।
अथवा प्रकृतिवचन अर्थात् प्राचुर्येण प्रस्तुत का अधिकरण अभिधेय हो तो, प्रातिपदिकसे मयद्
प्रत्यय हो । संख्यायाः—क्रियाजन्मके गणनमे वर्तमान संख्यावाचक शब्दसे कृत्वसुच्
प्रत्यय हो, स्वार्थमे । द्वित्रिचतुः—क्रियाजन्मके गणनमे वर्तमान दि, त्रि और चतुर् शब्दसे

त्रिभुङ्क्ते । 'दात्स्य । चतुर्भुङ्क्ते ॥ एकस्य सकृच्च ॥ १५४॥१९॥ सकृदादेश चात्सुच् ।
 सकृद् भुङ्क्ते । देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् ॥ १५४॥२४॥ तदर्थ एव तादर्थ्यम् । अत्र
 एव स्वार्थे ध्यञ् । अग्निदेवतायै इदम्—अग्निदेवन्यम् । पितृदेवत्यम् ॥ पादार्याभ्यां
 च ॥ १५४॥२५॥ पादार्यमुदकं पाद्यम् । अर्घ्यम् ॥ अतिथेर्घ्ये ॥ १५४॥२६॥ अतिथये
 इदम् आतिथ्यम् ॥ (नवस्य नू आदेश ज्ञाननपूसाध्य वक्तव्याः) । स्वार्थे ।
 नूत्नम् । नूतनम् । नवीनम् ॥ (भागरूपनामभ्यो घेय) । मागधेयम् । ह्य-
 धेयम् । नामधेयम् ॥ (आग्नीध्रसाधारणाद्भ्) । आग्नीध्रम् । साधारणम् ॥
 देवात्तल् ॥ १५४॥२७॥ देव एव देवता ॥ अवेः क ॥ १५४॥२८॥ अविरेव अविः ॥

मूर्तिस्त्वोऽपि न सवदाशब्देन गृह्यते, 'बहुगणवतुडतिसवया' इत्यत्र बहुमङ्गलेन
 तत्पर्यायस्य असवशात्प्रबोधनात् । अतोऽत्र न कृत्वसुच् । द्वित्रिचतुर्थ्यः । क्रियाभ्या
 वृत्तिगणने इत्येव । सुवि चकार इप् । उकार उच्चारणार्थः । पूर्ववदध्ययस्यम् । एकस्य
 सकृच्च । षोडशमेन सूत्रे व्याचष्टे—सकृदादेश इति । सकृदमुक्ते इति । एकशतशत
 सुच्, प्रकृतेः सकृद्विधादेशश्च । अत्र एकशब्द क्रियाविशेषणम् । एकवद्विदिष्टा
 मुञ्जिक्रियेयम् । देवतान्तात्तादर्थ्ये यत् । तदर्थे यनेति । तत्राशब्देन देवतान्तस्वार्थं
 उच्यते, तस्मै अथम् तदर्थः । तत् स्वार्थं चतुर्वर्गाद्विधात् व्यभिर्ययं । देवतान्तात्
 प्रातिपदिकान् परस्यत् प्रह्वर्ययोर्धे वस्तुनि वाच्य इत्यर्थः । रपउपमानइत्ये
 उद्देश्यविशेषो देवता मन्त्रस्तृत्या धेर्युक्त 'सास्य देवता' इत्यत्र । अतः पितृदेव
 त्यम् रषोद्देश्यमित्यादी मागधासि । तत्राह—पितृदेवत्यमिति । देवताशब्दस्य देवा
 मनुष्या पितर अमुता रषासि इत्यादि श्रुतिपुरागादिप्रसिद्धानिविशेषपरस्ये तु
 अन्तात्तासि' इत्यादिति भावः । पादार्याभ्यां च । तादर्थ्ये यदिति षोप । नवीनमिति ।
 नवशाब्दात् स्वप्रथये, तस्य ईभादेशो, प्रकृतेर्नूमावे, भोगुणाः, अत्र देवाः । मागरूपेति ।
 वार्तिकमिदम् । आग्नीध्रमिति । आग्नीध्रं सारजम् आग्नीध्रम् । तत्, स्वार्थे अग्नि
 आग्नीध्रमेव । देवात्तल् । तादर्थ्ये इति निवृत्तम् । आद्यन्तस्वार्थिकोऽयं तल् । देवतेति ।

स्वार्थमे सूच् प्रथय हो । एकस्य—क्रिया-गणन अर्थमे वर्तमान एक शब्दसे सूच् प्रथय हो
 और एकको सकृव आदेश भी हो । देवतान्ता—चतुर्थ्यन्त देवतात् प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमे
 यद् प्रथय हो । पादार्या—पाद तथा अर्थ प्रातिपदिकसे तादर्थ्यमे यद् प्रथय हो ।
 अतिथेर्घ्ये—अतिथि, प्रकृतिक चतुर्थ्यन्तसे तादर्थ्यमे व्यपत्यत हो ।

नवस्य नू—नव शब्दसे स्वार्थमे रनप्, तनप् षोप ख प्रथय हो, तथा नवको 'नू'
 आदेश भी हो । भागरूप—भाग, रूप और नाम शब्दसे घेय प्रथय हो स्वार्थमे ।

आग्नीध्र—आग्नीध्र और साधारणसे भम् प्रथय हो । देवात्तल्—देव शब्दसे
 स्वार्थमे तल् प्रथय हो । अवेः कः—अवि शब्दसे स्वार्थमे 'क' प्रथय हो ।

यावादिभ्यः कन् । ५।४।२१। याव एव यावकः । मणिकः ॥ (सर्वप्रातिपा-
दिकेभ्यः स्वार्थे कन्) । बहुतरकम् ॥ मृदस्तिकन् । ५।४।३१। मृदंश्च
चुनिका । सस्तौ प्रशंसायाम् । ५।४।४०। रूपयोऽपवादः । प्रशस्ता मृत्-मृत्ता,
मृत्ता ॥ प्रज्ञादिभ्यश्च । ५।४।३८। अण् स्यात् । प्रज्ञ एव प्राज्ञः । देवतः ।
बान्धवः ॥ पूगाब्जयोऽग्रामणीपूर्वात् । ५।३।१२२। स्वार्थे । नानाजातीया
अनियतवृत्तयोऽर्थकामप्रधानाः सङ्गाः पूगाः । लोहितध्वजः ॥ ज्यादयस्तद्वाजाः
। ५।३।१२१। तद्वाजस्येति लुक् । लोहितध्वजाः । वातेति चकन् । कापोतपाक्यः ।
कपोतपाकाः । कौशायना इत्यादि ॥ बह्वल्पार्थाब्जस्कारकादभ्यतरस्याम्
। ५।४।४२। गह्वनि ददाति गह्वराः । अल्पानि अल्पराः । बह्वल्पार्थान्मङ्गलामङ्गल-
वचनम् । गेह-बहु ददात्यनिष्ठपु । अल्पं ददात्याभ्युदधिकेषु ॥ संख्यैकवचनाच्च

स्वार्थिकत्वेन प्रकृतिलिङ्गात् क्रमात् खोवम् । अवेः कः । अयमपि केचलस्वार्थिकः ।
'अवयवः शैलमेवार्काः' ह्यपरः । यावादिभ्यः कन् । यावक इति । यवानामयं यावः'
ओदनादिः, स एव यावकः । 'याचोऽल्लो म्रुमामयः' ह्ययमरः । सर्वप्रातिपदिकेभ्यः । वार्धि-
कमिदम्, स्पष्टम् । मृदस्तिकन् । मृदश्चन्द्राव स्वार्थे तिक्कसिद्धयः । सस्तौ । प्रशस्तार्थौ
मृदि वर्तमानात् मृच्छुद्धास्वार्थे स स्त एतौ प्राययौ स्त ह्ययर्थः । लोहितध्वजा इति ।
'पूगात्' इति विहितस्य न्यस्य तद्वाजायात् गह्वरावे लुक् । कौशायना इति । घात-
स्फजोः, इति विहितस्य न्यस्य लुक् । रयाशीति । 'शौद्रव्यौ, शुद्रकाः, आयुषशीतीति
न्यटो लुक् । वार्केण्यः, वार्केण्यौ, वृकाः 'वृकाट् टेष्यणो लुक्' दामनीयः, दामनीयौ,
दामनयः, कौण्डोपरयाः इत्यादौ 'दामन्यादिप्रिगतंपठत्' इति-छुरप लुक् । पार्स्यः,
पार्स्यौ, पार्सवः, यौधेयाः इत्यत्र पश्चादियौधेयाद्यजोर्लुक् । लाघिदियः, लाघिदित्यौ,
अभिजितः, विदमृतः इत्यादौ अभिजिद्विद्विदिरयादि विहितस्य चजो लुगिति नालः ।
संख्यैकवचनाय । संख्या च एकवचनं चेति समाहारापह्नवी । पृक्तवधिकिष्टोऽर्थः ।

यावादिभ्यः—यावादिसे स्वार्थमे कन् प्रत्यय हो । सर्वप्राति—प्रातिपादक मात्रसे
स्वार्थमे कन् प्रत्यय हो ।

मृदस्तिकन्—मृद शब्दसे स्वार्थमे निकन् प्रत्यय हो । सस्तौ—प्रशंसा (प्रशस्त)
अर्थमे वर्तमान मृद शब्दसे 'स' प्रत्यय और 'स्त' प्रत्यय हो । प्रज्ञादिभ्यः—प्रज्ञादिसे
स्वार्थमे ण् प्रत्यय हो । पूगाब्जयो—ग्रामणीपूर्वकसे भिन्न पूगावकसे न्य प्रत्यय हो,
स्वार्थमे । ज्यादयः—'पूगाब्जयो' इत् सूत्रसे प्रारम्भ करके वो प्रत्यय कहे गये हैं, वज्रही
'तद्वाज' संज्ञा हो । बह्वल्पा—बह्वर्थक और अल्पार्थक जो कारकाभिधायक शब्द, उनसे मृद
प्रत्यय हो, निकलते । बह्वल्पार्थात्—बह्वर्थकसे मङ्गल अर्थमे और अल्पार्थकसे अमंगल
अर्थमे हो शब् प्रत्यय हो । संख्यैक—कारकाभिधायक संख्यावाचो एकवचनान्तसे योस्ता

धीप्सायाम् । ५।४।४३। द्वौ द्वौ ददाति--द्विश । मायं मायं--मापश । परिमाणरान्दा इत्तावेकार्या एव । संख्यैकवचनात्किम् ? षट् षटं ददाति । धीप्सायां किम् ? द्वौ ददाति । कारकादित्येव । द्वयोर्द्वयो स्वामी ॥ प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसि । ५।४।४४। प्रतिना कर्मप्रवचनीयेन योगे या पञ्चमी विहिता तदन्तात्तसि । प्रद्युम्न कृणत । प्रति ॥ (आद्यादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम्) । आदौ आदित । मध्यत । पृष्ठत । पार्श्वत । आकृतिगणोऽयम् । स्वरेण स्वरत । वर्णत ॥ कृम्यस्तियोगे संपद्यकर्तरि चि । ५।४।५०। (अभूततद्भाद्य इति यक्तव्यम्) । विकाररामतां प्राप्नुवत्यां प्रकृतौ वतमानाद्विकारशब्दात्स्वार्थे चिर्वा स्यात्करोत्यादिभिर्योगे ॥ अस्य च्चौ । ७।४।३२। अर्वाण्यस्य ईत् स्यात् च्चौ । अकृष्ण कृष्ण सपद्यते, त करोति-कृष्णीकरोति । मन्नाभवति । गन्तीस्यात् ॥ (अय्ययस्य च्चायीत्वं नेति याच्यम्) । दोषाभूतमह । दिवाभूता रात्रि ॥ अय्यययोश्च । ६।४।१५२। हल परस्थापत्यकारस्य लोप अये च्चौ च परत ।

उच्यतेऽनेनोपकवचन । एकत्वविशिष्टस्वार्थस्य वचन इति विग्रहः । सख्यावाचका च्चय्ययस्मात्स्यैकत्वविक्रियवाचकत्वात् कारकाभिधानिमा प्रातिपदिकात् धीप्सायां कस्य चोपसं । सवमावाचिन, उदाहरति--द्वौ द्वौ ददातीति । 'नित्यबीसयोः' इति द्विवचनम् । द्विस इत्यत्र तु न, दासैव धीप्साया उक्तत्वात् । मायं मायं मापश इति । माप मायमिधनन्तर ददातीति शेषः । मापशब्द परिमाणविशेषवाची । प्रतियोग-विहितेति । 'प्रति प्रतिनिधिप्रतिदानयो' इति प्रतेः कर्मप्रवचनीयत्व सयोगे 'प्रति निधि प्रतिदाने च यस्मात्' इति पञ्चमीविहितस्वैरर्थम् । प्रद्युम्न कृणत प्रतीति । कृष्णस्य प्रतिनिधिरित्यर्थः । दोषाभूतमह, । दोषेयाकारान्तमभयय रात्राशिर्यर्थे वर्तते । अदोषा दोषाभूतमह--बहुलमेघावरणान्धकारात् दोषाभूतमित्यर्थः । अथ अय्ययत्वात् ईत्त्व नेत्यर्थः । दिवाभूता रात्रिरिति । द्विषेयाकारान्तमभययम् अहनीयय । इह तु अहरित्यर्थे वर्तते । चन्द्रिकातिशयवशात् अहभूतेत्यर्थः । अय्ययोश्च । 'अश्लोपोऽन' इत्यस्मात् लोप इति 'हलस्तद्धितस्य' इत्यस्मात् हल इति 'स्यंतिस्य' इत्यतः प

अर्थेऽस्य प्रत्यय हो, विकल्पत । प्रतियोगे--कर्मप्रवचनीयसदृक प्रतिके योगमे विहित पञ्चम्यन्तसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पते । आद्यादिभ्य-आद्यादिसे तसि प्रत्यय हो, विकल्पते ।

कृम्यस्ति--विकाररूपको प्राप्त करनेवाली प्रकृतिक अर्थमे वर्तमान विकारवाचक लुब्ध से स्वार्थमे 'चि' प्रत्यय हो, क, भू और अस् वातुके योगमे, विकल्पते । अभूत--अभूत तद्भाद्य अर्थमे (अतद्भूके तद्भू होनेपर) हो चि प्रत्यय हो,--रेता कहना चाहिए ।

अय्यय च्चौ--अर्वाणका इत्य हो, चि प्रत्ययके पर । अय्ययस्य--चि प्रत्ययके परे अय्ययको ईत्त्व च्चौ हो । अय्यययोश्च--इत्से पर आपस्य यकारका लोप हो, अय और

गार्गीभवति ॥ च्चौ च ॥७॥४२६॥ दीर्घः । शुचीभवति । पदस्यात् ॥ अक्ष-
 र्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च ॥५॥४॥५१॥ चात् च्विः । अस्करोति ।
 उन्मनीकरोति । उच्चनूकरोति । उच्चेतीकरोति । विरहीकरोति । विरजी-
 करोति ॥ विभाषा साति कात्स्न्ये ॥५॥४॥५२॥ च्वेर्विषये सातिर्वा स्यात्साकत्ये ।
 'सात्पदायोः' । कृत्स्नं शस्त्रमग्निः संपद्यते-अग्निंसाद्भवति, अग्नीभवति ।
 कात्स्न्ये किम् ? एकदेशेन शुक्लीभवति पदः । अभिविधौ संपदा च ॥५॥४॥५३॥
 संपदा कृन्वस्तिभिश्च योगे सातिर्वा न्यातौ । पक्षे-कृन्वस्तियोगे च्विः, सम्पदा तु
 वाक्यमेव । अग्निंसात् संपद्यते, अग्निंसाद्भवति शस्त्रम्-अग्नीभवति । जलसात्सं-
 पद्यते, जलीभवति लवणम् ॥ तदधीनवचने ॥५॥४॥५४॥ सातिः कृन्वस्तिभिः संपदा

इति 'आपत्यस्य च' इत्यस्मात् आपत्यस्येति चानुबर्नहे । तदाह-हलः परस्वैपि । गागो-
 भवतीति । अगार्यो गार्यः संपद्यमानो भवतीत्यर्थः । नमन्तात् षी यश्चरस्य लोपः ।
 ह्रादश्च । वेर्लोपः । अक्षर्मनश्चक्षु । अहृत् मनस्, चक्षुप्, चेतस्, रहस, रशश्च,
 इत्येतेषामित्यर्थः । पूर्वैर्णैव प्रत्ययसिद्धेस्तसंनियोगेन अन्यलोप इदं विधीयते ।
 अस्करोतीति । अनरुः अरुः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । पङ्क्तोरन्त्यच्छेषे उच्चारणं 'च्यौ
 च' इति दीर्घः । उच्चेतीकरोतीति । अनुच्चेताः उच्चेताः संपद्यते, तं करोतीत्यर्थः ।
 च्यौ अन्यलोपः, ईत्वं च । विरजीकरोतीति । रङ्गः विजानप्रदेशः, विदिष्टं रङ्गः विरङ्गः ।
 अविरङ्गः विरङ्गः संपद्यते तत् करोतीत्यर्थः । च्यौ अन्यलोपः ईत्वं च । विरजीकरोतीति ।
 अविरजाः विरजाः संपद्यते तं करोतीत्यर्थः । अन्यलोपे अस्य च्यौ ईत्वं च । विभाषा
 साति । सातीति लुप्तप्रथमाकम् । च्विषिये इति । अनुत्ततद्भावे संपद्यतेति कृन्वस्ति
 योगे इत्यर्थः । अग्निंसात् भवति । कृत्स्नं शस्त्रम् अग्निः संपद्यते 'अग्निंसात्' इत्यत्र
 'कृन्वस्तियोगे' इति च्यौ, च्वेः सर्वस्य लोपे विभाषा सातिप्रत्यये, इलोपे विभक्तिकार्ये
 च कृते 'अग्निंसात्' भवति । पक्षे च्यौ, 'च्यौ च' इति दीर्घस्य अग्नीभवति इति ।
 पक्षे इति । सातिप्रत्ययान्वावपक्षे कृन्वस्तियोगे पूर्वेषु स्थिः, संपदायोगे तु सातेरभावे
 वाक्यमेव न तु च्विः, कृन्वस्तियोगे पक्षे तद्विधानादित्यर्थः । संपदायोगे उदाहरणवि-
 अग्निंसात्संपद्यते इति । कृन्वस्तियोगे उदाहरति-अग्निंसाद्भवति शस्त्रमिति । अग्निंसाः

च्वि प्रत्ययके परे । च्यौ च-च्वि प्रत्ययके परे पूर्वको दार्ढ्यो । अक्षर्मन-अक्षर आदिभ्ये
 अन्त्यका लोप हो और चकारात् अक्षर आदिभ्ये च्वि प्रथम मी स्ते । विभाषा-साकत्ये
 अर्थ गन्पमान हो तो-च्विके विषयमें साति प्रत्यय विहरणसे हो । अग्निविधौ-अभिविधि
 (अभिव्याप्ति) अर्थ गन्पमान होतो-सम्पूर्वक पद चात्, क्त्वात्, भू पाद और अस चातुके
 योगमें च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, विहरणसे । तदधीन-तदधीन पचनमें (चक्षुके अधीन
 है ऐसा कर्त्तव्य हो तो) च्विके विषयमें साति प्रत्यय हो, क्त्वात्, भू, अस् और सम्पूर्वके योगमें ।

च योगे । राजमात्करोति । राजाधीनमित्यर्थ ॥ देये प्रा च १५।४।५५। तदधीने देये प्रा स्थाभानिश्च कृष्णादियोगे । विप्रावीनं देय करोति-विप्रत्राकरोति । विप्रत्रा-संपद्यते । पचे-विप्रत्रा करोति । देये किम् ? राजसाद्भवति राष्ट्रम् ॥ देवमनुष्य-पुरुषपुरुषमर्त्येभ्यो द्विनोयासतम्योर्वहुलम् १५।४।५६। एभ्यो द्वितीयान्तेभ्य सतम्यन्तेभ्यश्च प्रा स्थान् । देवत्रा वन्दे रमे वा । बहुलोकतेरन्यत्रापि, बहुत्रा जीवतो मनः । अभ्यक्तानुकरणाद् द्वयजवराधोदितो ङाच् १५।४।५७। द्वयच्, अवर न्यूनं, न तु ततो न्यूनम्, अनेकाभिति यावत् । तादृशमर्थं यस्य तस्माद् ङाच्, कृष्णस्तिगियोगे ॥ (ङाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्) । ङाचि विवक्षिते द्वित्वम् ॥ (नित्यमात्रे द्विते ङाचीति घक्तव्यम्) । ङाचपर अदाप्रेक्षित तस्मिन्परे पूर्वपरयोर्वर्णयो परस्यं स्यात् । इति तपयो ष । षट्पटाकरोति । अभ्यक्तानु करणान्तिम् ? ईपत्करोति । द्वयजवराधोदितम् ? भ्रम्करोति । अवरनेति किम् ? सर टखरटाकरोति । अनितौ किम् ? पट्टिनिकरोति ॥ कृष्णो द्वितीयवृत्तीयशम्यधी-जात्कृषौ १५।४।५८। द्वितीयादिभ्यो ङाच् कृष्ण एव योगे कर्णेश्च । बहुलोकतेरव्य क्तानुकरणादन्यस्य ङाचि न द्वित्वम् । द्वितीय वृत्तीय कर्णं करोति, द्वितीयाकरोति ।

करोति अग्निसारस्यादित्यस्युदाहायम् । पश्य इति । देव, मनुष्य, पुरुष, पुरु, मार्यं इत्येतेभ्य इत्यर्थं । अत्यन्तस्वार्थिकोऽप्यम् । स्नातीति, कृष्णवृत्तियोगे इत्यदि निवृत्तम् । देवत्रावन्दे रमे वेति । देवान् वन्दे, देवेषु रमे वेत्यर्थं । बहुत्राजीवतो मन इति । जीवतो अन्तोर्मनः बहुषु विपद्येषु गच्छति, बहुषु व्याप्तोक्षीत्यर्थः । अभ्यक्तानुकरणात् । वय इत्यनौ धकारादयो वर्णविशेषा न व्यज्यन्ते सोऽप्यन्तो ष्वनिः । तस्यानुकरणम् अभ्यक्तानु करणात् । द्वयजवराधोदितम् व्यापष्टे-द्वयक्षिति । द्वायचौ यस्येति विग्रहः । अवरशब्दं व्यापष्टे-न्यूनमिति । इत्यत्रेव अवर न्यूनसक्यादमिति सामानाधिकरण्यात्त्वयः ।

देये प्रा च-तदधीने देये (कसके अधीन दातव्य बहु) इत्यर्थमे 'प्रा' प्रत्यय ओट 'साति' प्रत्यय मी हो, कृ, भू, अस् ओट सम्बन्धके योगमे । देवमनुष्य-द्वितीयास्त तथा सप्तम्यन्त देवादि शब्दोक्ते 'प्रा' प्रत्यय हो, षट्ठ प्रकारसे । अभ्यक्तानु-अप्यक्त (ष्वनि) का अनुकरण अनेकाचते ङाच् प्रत्यय हो, कृ-भू-अस् जातुके योगमे ।

ङाचि-ङाच् प्रत्ययको विवक्षामे हो (ङाच्ये पूर्व) द्वित्व हो, तट- ङाच् प्रत्यय हो । नित्यमा-ङाचपरक-आप्रेक्षितके परे पूर्व ओट पर वर्णके स्थानमेतिव ही परक्य हो-वेसा कहना चाहिये ।

कृष्णो-कृष् (डेरी) अर्थियेव हो तो-कृष्के योगमे द्वितीय, वृत्तीय, शम्य ओट बीज

तृतीयाकरोति । शम्वाकरोति । बीजाकरोति ॥ संख्यायाश्च गुणान्तायाः । ५।
 १४।५९। द्विगुणाकरोति क्षेत्रम् ॥ समयाश्च यापनायाम् । ५।४।६०। कृषाविति
 निवृत्तम् । समयाकरोतिः कालं यापयतीत्यर्थः ॥ सपत्ननिष्पत्त्रादतिव्ययने । ५।
 ४।६१। सपत्त्राकरोति भृगम् ; सपुङ्गुशरप्रवेशनेन सपत्रं करोतीत्यर्थः । निष्पत्त्राकरो-
 ति । सपुङ्गुस्य शरस्याऽपरपाशेन निर्गमनाजिष्पत्रं करोतीत्यर्थः । अतिव्ययने किम् ?
 सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम् ॥ निष्कुलान्निष्कोषणे । ५।४।६२। निष्कुला-
 करोति दाडिमम् । निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मादिति बहुव्रीहेर्डाच् ॥
 सुखप्रियादानुलोम्ये । ५।४।६३। सुखाकरोति, प्रियाकरोति गुरुम् ; अनुकूला-
 चरणेनानन्दयतीत्यर्थः । दुःखात्प्रातिलोम्ये । ५।४।६४। दुःखाकरोति स्वामिन-
 नम् ; पीडयतीत्यर्थः ॥ शूलात्पाके । ५।४।६५। शूलाकरोति मांसम् ; शूलेन पच-
 तीत्यर्थः ॥ सत्यादशपथे । ५।४।६६। सत्याकरोति भाण्डं वगिक् ; क्रेतव्यमिति

सपत्न । सपत्नशब्दात् निष्पत्नशब्दाच्च अतिव्ययने ङाजित्यर्थः । भूतलमिति ।
 पुङ्गुपयन्तं पुङ्गुवर्जं वा शरप्रवेशनेन सपत्रं निष्पत्रं वा भूतलं करोतीत्यर्थः ।
 निष्कुलान्निष्कोषणे । ङाजिति शेषः । निष्कोषणम् अस्तर्गताशयदानं वहिष्करणम् ।
 निष्कुलाकरोति दाडिममिति । निर्गतं कुलं यस्मादिति बहुव्रीहिः । कुलशब्दश्च अन्तरव-
 यवसमूहे वर्तते । तद्वाह-निर्गतमित्यादि । सुखप्रियादानुलोम्ये । सुखप्रियादानुलोम्ये
 धानुलोम्ये गम्ये ङाच् स्यादित्यर्थः । आराध्यगुर्वादिचित्तानुवर्तनमानुलोम्यम् । सुधा-
 करोति प्रियाकरोति गुरुमिति । चित्तानुवर्तनेन गुरुं सुखसंपदं च प्रियसंपदं च करोती-
 त्यर्थः । दुःखात् । ङाजिति शेषः । आराध्यप्रतिकूलाचरणं प्रातिलोम्यम् । धन्यद्-
 पूर्ववत् । शूलात्पाके । ङाजिति शेषः । शूलाकरोतीति । अत्र करोतिः पाके वर्तते ।
 तद्वाह-शूलेन पचतीत्यर्थे इति । सत्यादशपथे । ङाजिति शेषः । सत्याकरोति भाण्डमिति ।
 रत्नादिभ्रमज्जातमित्यर्थः । सत्यशब्दोऽत्र तस्ये वर्तते । 'सत्य तस्यसृतं सम्पद्' इत्य-
 मरः । क्रेतव्यमिति । पृतावसौ च मूषयेन इहं क्रमणाहं नातोऽधिकमूषयेनेत्येवं यथाभूताय

शब्दसे टाच् प्रत्यय हो । सख्या—संख्यावाचक गुणान्त शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय
 हो, कृषिके अमिधेयमे । समयाश्च—यापना (विताना) अर्थ गम्यमान हो तो समय
 शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । सपत्र—अत्यन्त पीडन अर्थमें सपत्र और निष्पत्र
 शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । निष्कुला—निष्कोषण (निचोड़ना) अर्थमें निष्कुल
 शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । सुखप्रिया—मानुलोम्य (अनुकूला) अर्थमें सुख
 शब्द और प्रिय शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । दुःखात्—प्रातिलोम्य (प्रातिकूल्य)
 अर्थमें दुःख शब्दसे कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । शूलात्—पाके दिव्यमें शूल् शब्दसे
 कृष्के योगमें टाच् प्रत्यय हो । सत्याद्—अप्यसे भिन्न अर्थमें कृष्के योगमें सत्य शब्दसे

तस्य करोतीत्यर्थः । शपथे तु-सत्य करोति विप्र ॥ मद्रात्परिवापणे । ५।४।६।७।
मद्राशब्दो मङ्गलार्थः । परिवापणं मुण्डनम् । मद्राकरोति कुमारम्, माङ्गल्यमुण्ड-
नेन सत्करोतीत्यर्थः ॥ (मद्राञ्चेति वक्तव्यम्) । मद्राकरोति । अर्थः प्राग्वन् ।
परिवापणे किम् ? मद्रं करोति ॥ इति स्वार्थिकप्रकरणम् ॥

इति तद्विदा ।

अथ द्विरुक्तप्रकरणम्

सर्वस्य द्वे । ८।१।१। इत्यधिकृत्य ॥ परेर्वर्जने । ८।१।५। परेर्वर्जनेऽयं द्वे
स्त्व । परिपरि वङ्गेशो वृष्टो देव ॥ उपर्यध्यधसः सामीप्ये । ८।१।७। अपर्युपरि
प्रागम्, प्रागस्योपरिष्ठात्समीपे देशे इत्यर्थः । अथ्यधि सुखम्, सुखस्योपरिष्ठात्समी-
पकाले दुःखमित्यर्थः । अपोषो लोकम्, लोकस्याधस्तात्समीपे देशे इत्यर्थः ॥ घा

वदतीत्यर्थः । सत्य करोति विप्र इति । शपथ करोतीत्यर्थः । मद्रात्परिवापणे । ङाजिति
शेषः । मद्राशब्दो मङ्गलार्थ इति । मङ्गलपर्याय इत्यर्थः । परिवापण मुण्डनमिति । 'केषा
न्वपते' इत्यादौ तथा दर्शनादिति भावः । मद्राकरोतीति । मद्र करोतीति । चेम करोती
त्यर्थः । अत्र परिवापणस्याप्रतीये न ङाजिति भावः । इति तद्विदा ।



सर्वस्य द्वे । इत्यधिकृत्येति । द्विर्यत्नविषयोऽनुकृत्यन्त इति शेषः । परेर्वर्जने । वर्जने
वर्तमानस्य परीपस्य द्वे इत्य इत्यर्थः । परिपरिवङ्गेशो वृष्टो देव इति । वर्जने इति
शेषः । 'अपवरी वर्जने' इति परिः कर्मप्रथमनीयः । 'पश्चात्परिपरिभिः' इति पञ्चमी ।
परि हरे ससार इत्यत्र तु, 'परेरसमासे इति वक्तव्यमिति' कारिकाया न द्विर्यत्नम् ।
उपर्यध्यधसः । 'उपरि-अधि-अध, एतेषां द्वे इत्य सामीप्ये गण्ये इत्यर्थः । सामीप्यत्र
उपर्युपरि प्रागमित्यत्र लघाऽद्यो लोकादित्यत्र च देशतः । अधपथि सुखमित्यत्र तु
दाच् प्रथम हो । मद्रात्परि—परिवापण (मुण्डन) अर्थमे कृष्के योगमे मद्र शब्दसे दाच्
प्रथम हो । मद्राशब्द—कृष्के योग । रहनेपर मुण्डन अर्थमे मद्र शब्दसे दाच् प्रथम हो ।

रसप्रकार 'शब्दमन्त्री', टीकायें रत्नाविक प्रकरण समाप्त हुआ ।



सर्वस्य द्वे—यह अधिकार सूत्र है । परेर्वर्जने—वर्जने अर्थमें प्रतिके-दित्व हो ।
उपर्यध्यधस—सामीप्यको विवक्षामें उपरि, अधि और अधसूको दित्व हो ।
दाच्-असूयादि गन्वमान हो तो—वाक्यादिके सामन्त्रिकको दित्व हो

क्यादेरामन्त्रितस्याख्यासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु । ८।१।८। सुन्दर सुन्दर
 वृथा ते सौन्दर्यम् । संमतौ-देवदेव वन्द्योऽसि । कोपे-दुर्विनीत दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्य-
 सि। कुम्भने-धानुष्क धानुष्क वृथा ते धनुः । भर्त्सने-चोर चोर घातयिष्यामि त्वाम् । एकं
 बहुव्रीहिवत् । ८।१।९। द्विरुक्त एकशब्दो बहुव्रीहिवत् । तेन सुब्लोपपुंवद्भावौ ।
 एकैकमक्षरम् । इह द्वयोरपि सुपोलुकि सति बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वात्समु-
 दायात्सुप् । तच्च एकवचनमेव । एकैक्या आहुत्या । आवाधे च । ८।१।१०। पीडायां
 द्वे स्तो बहुव्रीहिवश्च । गतगताः । गतगता ॥ प्रकारे गुणवचनस्य । ८।१।१२।
 सादृश्ये शीत्ये गुणवचनस्य द्वे स्तः । तच्च कर्मधारयवत् । पटुपट्टी । पटुपट्टः । पटुसदृशः,

कालत इति ज्ञेयम् । वाक्यदेः । द्वे स्तः इति शेषः । यद्यपि कोपाद्भर्त्सनम्, असूयया
 कुत्सनम्, तथापि विनापि कोपासूये भर्त्सनकुत्सनयोः सिध्यादौ संभवात्पृथक्
 ग्रहणम् इति भाष्ये स्पष्टम् । सुन्दरेति । सौन्दर्यमसहमानस्येदं वाक्यम् । देवेति । तच्च
 वन्दन संमतमित्यर्थः । दुर्विनीतेति । कोषापिष्टस्य वाक्यम् । ज्ञास्यसीति । दुर्दिनस्य
 फलमिति शेषः । पानुष्केति । युद्धासमर्थं प्रति निन्देयम् । चोरंति । चोरं प्रति अवाप्य-
 वाद्ऽयम् । एकं बहुव्रीहिवत् । द्विरुक्त इति । द्विर्वचनं प्राप्त इत्यर्थः । एतच्च प्रकरणात्प्रथ-
 मं, 'वीक्षामात्रक्षिपयमिदम्' इति भाष्याच्च । तेनेति । बहुव्रीहिवच्चेन सुब्लोपपुंवद्भावौ
 सिध्यन् इत्यर्थः । तत्र सुब्लोपमुदाहरति—एकैकमिति । इति । एकैकमित्यत्र एकमि-
 त्यस्य द्विर्वचने सति एकमेकमिति स्थिते सुपो लुकि, समुदायात् सुधित्यन्वयः ।
 ननु 'यत्र संज्ञाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेद् भवति तर्हि समासश्चैव' इति नियमेन
 समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् कपमिह सुपो लुक्, कथं वा समुदायात् सुधित्यन्त
 आह-बहुव्रीहिवद्भावादेव प्रातिपदिकत्वादिति । एतच्च सुपोलुकीत्यत्र समुदायात्सुधित्यत्र
 च मध्यमणिन्दायेनान्वेति । अथ संज्ञात्वेऽपि उदाहरति—एकैक्या आहुत्येति । एकै-
 त्यस्य द्विर्वचने सति एक्या एक्येति स्थिते बहुव्रीहिवच्चेन समुदायस्य प्रातिपदिक-
 त्वात्सुपोलुकि पूर्वखण्डस्य पुंवत्वे कृते, समुदायात्पुनस्त्वृतीयोत्पत्तौ, एकैक्येति रूपम् ।
 बहुव्रीहिवत्त्वाभावे तु इह समुदायस्य प्रातिपदिकत्वाभावात् सुपोलुक् पूर्वखण्डस्य
 पुंवत्त्वं च न स्यात्, उत्तरपदपरकत्वाभावात्, समासचरमावयवस्यैव उत्तरपदत्वादिति
 भावः । आवाधे च । आवाधः-पीडा । तदाह—पीडायामिति । गतगता इति । प्रियां
 विना काल इति शेषः । विरहापीडयमानस्येयमुक्तिः बहुव्रीहिवद्भावात्सुब्लोक् ।
 गतगता । इह पुंवद्भावः । प्रकारे गुणवचनस्येति । प्रकारशब्दः सादृश्ये, व्याख्यानत् ।
 तदाह-सादृश्ये शीत्ये इति । पटुपट्टीति पट्टीशब्दस्य द्विर्वचने कर्मधारयवत्त्वात् 'पुंवत्कर्म

एकं पट्टु—द्विरुक्त एक शब्द बहुव्रीहिवत् हो । आवाधे च—पीडायामे द्विरुक्त दो शीर
 बहुव्रीहिवद्भावो हो । प्रकारे—सादृश्य शीत्ये रक्षनेपर गुणवचनको द्विरुक्त हो शीर वदः

ईवत्पटुरिति यावत् ॥ (आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये) । मूले मूले स्थूल ॥ (संभ्रमेण प्रवृत्तौ यद्येष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः) । सर्प सर्प बुध्यस्व बुध्यस्व सर्प सर्प मर्प मर्प बुध्यन्व बुध्यस्व बुध्यस्व । (कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च बहुलम्) । बहुलप्रहणादन्यपरयोर्न समाभवत् । इतरशब्दस्य तु नित्यम् (असमासवद्भावे पूर्वपदस्यस्य सुप सुर्वकत्वम्) । अन्योन्यं विप्रा नमनि अन्योन्यौ, अन्योन्येन क्रतम्, अन्योन्यस्मै दत्तमित्यादि । (स्त्रीनपुंसकयो-

धारथ' इति पूर्वत्वण्डस्य पुषावे रूपमिति भावः । पटुपटुरिति । 'ओतो गुणवचनान्' इति ङीपभावे पुति च द्विवचने रूपम् । पटुसदृश इति । इत्यर्थं इति शेषः । कश्चित्तमाह— इवत्पटुरिति । इह गुणवचनशब्दस्य गुणोपसर्जनशब्दवाचिवाचमेवेति । आनुपूर्व्ये इति । अत्र वार्तिकं कर्मधारयपरिति न सव्यवत्ते, तद्बुद्धादरणे भाष्ये सुब्जोपादसंवादिष्यमि श्रेयोदाहरति—मूले मूले इति । पूर्वपूर्वं मूळभावा, उत्तरोत्तरमूळभावापेक्षया स्थूल इति यावत् । संभ्रमेणेति । वार्तिकमिदम् । संभ्रमः भयादिकृता त्वरा, तेन प्रवृत्तौ गम्यमानायां यद्येष्टम् इच्छानुसारेण अनेकधाशब्द प्रयोक्तव्य इति वक्ष्यमित्यर्थः । अनेकव्येपुक्तेर्द्वे इति निवर्तते । यद्येष्टमित्युक्तेरप्युक्तेरप्येकरस्य प्रयोग स्यादिति शङ्का निरस्यति—न्यायसिद्ध इति । यावद्द्वारं प्रयोगे सति बोद्धा अर्थं प्रायेति, तावद्द्वारमेव प्रयोगः । बोधात्मककल्पपर्यवसायिवाप्युद्बद्धप्रयोगस्येवार्थः । एतच्च भाष्ये स्पष्टम् । अप्यापि कर्मधारयवचनान्तिदेशात् सुसुब्ज्, भाष्ये तथैवोदाहरणात् । कर्मव्यतिहार इति । क्रियाविनिमय—कर्मव्यतिहार, तस्मिन् गम्ये सर्वनाम्नो द्वे स्त । ते च द्विरुक्ते पदे बहुल समासवदित्यर्थः । अत्र 'बहुलम्' इति समासवदित्यप्रैवाभवेति । द्विर्वचनं तु नित्यमेव । अन्यपरयोरेति । अन्यशब्दपरशान्ययोरेव बहुलं समासवत् इति । इतरशब्दस्य तु नित्यमेवेत्यर्थः । असमासवद्भावे इति । इहमन्यपरशान्ययोरेव । इतरशब्दस्य समासवदित्येवोक्तत्वात् । एव इति । सुबिति प्रायाहारः । सप्तानामपि विभक्त्यानां पूर्वपदस्थानां प्रथमकवचनं सु हायादेशो वाच्य इत्यर्थः । अन्यो य विप्रा नमन्तीत्यादि । इह अन्यम् अन्यौ इत्यादीनां द्विवावे पूर्ववत्सुपः सु । स्त्रीनपुंसकयो-

कर्मधारयवत् भी हो । आनुपूर्व्ये—आनुपूर्वी अर्थात् क्रममे गम्यमान रहे तो—द्विरव हो । संभ्रमेण—संभ्रमसे अर्थात् इतरदाष्टमे वहाँ प्रवृत्ति हो वहाँ यद्येष्ट (अनेकधा) प्रयोग करना न्यायसिद्ध है । कर्मव्यतिहार—कर्मव्यतिहार (क्रियाका विनिमय) अर्थात् सर्वनामकों द्विरव हा और वद् समासवत् हो, बहुलतासे । असमास—असमासवद्भावे पूर्वपदस्य सुप्को 'सु' आदेश हो । स्त्रीनपु—स्त्रीलिङ्ग और नपुंसकलिङ्गमें विद्यमान अन्य, इतर, पर आदिको कर्मव्यतिहारमें वहाँ द्विरव हो, वहाँ उत्तरपदस्य विपर्यायकी 'भाव' आदेश हो, बहुलतासे ।

उत्तरपदस्थाया विभक्तेराग्भाचो वाच्यः) । अ योन्याम्, अन्योन्यम्, पर-
स्परम्, परस्परम्, इतरेतरम्, इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः ॥

दत्तद्वये टावभावः क्लीबे चाद्द्विविहः स्वमोः ।

समासे सोरल्लुक् चेति सिद्धं वाहुलकात्त्वयम् ॥

रिति । स्त्रीपुंसकयोर्विद्यमानानाम् अन्यपरेतरपदानां कर्मव्यतिहारे द्वित्वे उत्तरपदस्य-
विभक्तेः आम् इत्यादेशो बहुलं वक्ष्य इत्यर्थः । अन्योन्यामिरवादि । अन्योन्याम् अन्यो-
न्यं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः, परस्परां परस्परं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा
भोजयतः, इतरेतराम् इतरेतरं वा इमे ब्राह्मण्यौ कुले वा भोजयतः इत्यन्वयः । तत्र
अन्यामित्यस्य द्वित्वे बहुद्वये टावभाव इति वच्यमाणतया पुंस्वरवात् टापो निवृत्तौ
समासवशात्तावत्सुयोरल्लुकि पूर्वपदस्यविभक्तेः सुभावेऽप्येव 'अतो रोः' इत्युक्ते गुणे
उत्तरपदस्यविभक्तेरनेन आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम् । आम्भावविरहे तु पुंस्वरवा-
द्भापो निवृत्तौ पूर्वपदस्यविभक्तेः सुभावे पुंस्त्रिह्रस्वदेव अन्योन्यमिति रूपम् । इयं
ब्राह्मणी अन्यां ब्राह्मणीं भोजयति, अन्या रिपमामित्येवं विनिमयेन ब्राह्मण्यौ भोजय-
यत इत्यर्थः । इदं कुलं कर्तुं अन्यकुलं भोजयति, अन्यकुलं कर्तुं इदं कुलमित्येवं
विनिमयेन ल्ले भोजयतः इत्यर्थः । अत्र अन्यसङ्ख्यस्य नपुंसकलिङ्गस्य द्वित्वे पूर्व-
पदस्थायाः विभक्तेः सुभावे उत्तरपदस्यविभक्तेः आम्भावे अन्योन्यामिति रूपम् ।
आम्भावविरहे तु 'स्त्रीबे चाद्द्विविहः स्वमोः' इति वच्यमाणतया पुंस्वरवात् अद्दा-
देशाभावे अन्योन्यमिति पुंस्वदेव रूपमिति बोध्यम् । एवं स्त्रीत्वे परामिति पदस्य द्वित्वे
द्वद्वयेऽपि पुंस्वरवात् टापो निवृत्तौ पुंस्त्रिह्रस्वदेवविभक्तयोः क्रमेण सुभावे आम्भावे
च परस्परामिति । आम्भावविरहे तु द्वित्वे पुंस्वरवाद्भापो निवृत्तौ पूर्वपदस्यविभक्तेः
सुभावे परस्परमिति । नपुंसकत्वे तु परमित्यस्य द्वित्वे पूर्वपदस्यविभक्तेः सुभावे
उत्तरपदस्यविभक्तेराग्भावे परस्परादिति । आम्भावे तु द्वित्वे पूर्वपदस्यविभक्तेः
सुभावे परस्परम् इति । इतरमित्यस्य द्वित्वे पुंस्वरवाद्भापो निवृत्तौ उत्तरपदस्यविभ-
क्तेराग्भावे समासवशात् पूर्वपदस्यविभक्तेर्ल्लुकि इतरेतरमिति । आम्भावविरहे
तु इतरेतरमिति । नपुंसकस्य तु इतरसङ्ख्यस्य द्वित्वे पुंस्वरवाद्द्विद्वयादेशविरहे पूर्व-
पदस्यविभक्तेर्ल्लुकि उत्तरपदस्यविभक्तेराग्भावात्सुभावाभ्यां रूपद्वयम् । दक्षइति इति ।
स्त्रीलिङ्गेषु अन्यपरेतरशब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति पूर्वोत्तरसङ्ख्ययोः पुंस्वरवाद्भावि-
वृत्तिवित्यर्थः । यद्यपि इतरेतरमित्यत्र समासवशात्सर्वनाम्नो वृत्तिभावे इति पुंस्वरवादेव
पूर्वसङ्ख्ये टावभावः सिद्धः, तथापि उत्तरसङ्ख्ये टावभावार्थं याहुलकाश्रयणमिति यावः ।
स्त्रीबे इति । अन्योन्यमित्यादौ अद्दादेशविरह इत्यर्थः । समासे सोरिति । ल्लुक्द्विवस्य

दत्तद्वये--पूर्व-उत्तर-दोनों दक्षीने टाप्का अभाव तथा नपुंसकमें सु-अम् ो अद्दा-

अन्योन्यमित्यादौ दत्तद्वये टाप् । 'अद्दत्तर-'इत्यण्ड् च प्राप्त' । 'अन्योन्य संसक्तमहन्नियामम्' । अन्योन्याश्रय । परस्परशिक्षादृश्यम् अरष्टपरस्परैरित्यादौ सोरुक् च प्राप्ता । सर्वे बाहुल्येन समाधेयम् ॥ इति द्विरुक्तप्रकरणम् ।

अथ छीप्रत्ययप्रकरणम्

त्रियाम् । ४।१।३। अधिकारोऽयम् । समर्थानामिति यावत् ॥ अजाद्यनष्टाप् । ४।१।४। अजादीनामकारान्तस्य च वाच्य यत् छीन्व तत्र द्योत्ये टाप् स्यात् । अजादिभिः छीत्वस्य विधेयगान्नेद्—पद्याजो । अत्र हि समासार्थसमाहारनिष्ठ छीत्वम् । अजा । खटवा । एडका । अथा । चटका । मूषिका । बाला । वन्सा । होदा । मन्दा । विलाता ॥ (सम्भस्त्राजिनशणविण्डेभ्यः फलात्) । संफला । भद्रफला इत्यादि ॥ (सद्च्छ्फाण्डप्रान्तशतकेभ्यः पुष्पात्) ।

अन्येन समासे पूर्वलण्डस्यस्येऽर्थः । 'बलीये चाद्द्विरद इत्यस्योदाहरति—अन्योन्यमिति । ननु समासे सोरलुक् चेति कथम् । अन्यपरशब्दयोः समासवरशामावादि स्यात्तत्र कृतद्वित्वरयान्येन समासे पूर्वलण्डस्यस्य सोरलुगिति तदर्थमभिप्रेत्य तद्ये वोदाहरति—अन्योन्यससकमिति । अन्य' अन्येन सप्तकमिति वृत्तीयासमास । अहश्च त्रियामा चेति समाहारण्ड् । अहश्च रात्रिश्च अन्योन्येन समुक्तमित्यर्थः । अन्योन्याश्रय इति । अन्योऽन्यस्य आश्रय इति पष्ठीसमास' । परस्परशिक्षे सादृश्यमिति । अथवा सादृश्यमक्षिसादृश्यम् । परस्परस्याक्षिसादृश्यमिति विग्रह । इति द्विरुक्तप्रक्रिया ।

सम्भस्त्रेति । 'पाककणं' इति सूत्रभाष्ये पठितमिदं वातिकमर्थतः समृहीतम् । सम्, भस्त्रा, अजिन, शण, विण्डे, पुसेभ्यः परो य' फलशब्दु तरमादपि 'पाककणं' इति छीप् न भवति किंतु त्रयेष्वेऽर्थः । सम्भस्त्रेति । समृद्धामि फलानि यस्या इति विग्रहः । भद्रकण्ठेति । भस्त्रा एव फलानि यस्या इति विग्रहः । 'भस्त्रा चर्मपसे देशका अमाव और समासमें सुलुक्का अभाव—ये तीनों कार्ये बाहुल्यकार (बहुक प्रकरणे) सिद्ध होते हैं ।

इस प्रकार 'अनुमती' टीकामें द्विरुक्त प्रकरणे समास हुआ ।



त्रियाम्—'समर्थानां प्रथमादा' इस सूत्र पर्यंत 'त्रियाम्' इस सूत्र का अधिकार है ।

अजाद्यत—अजादि और अकारान्त वाच्य खास्य घोस होनेपर टाप् प्रत्यय हो ।

सम्भस्त्रा—सम्, भस्त्रा, अजिन, शण और विण्डे पर फल शब्दसे छीत्व घोस होने पर टाप् प्रत्यय हो । सद्च्छ्—सदादिषु पर पुष्प शब्दसे टाप् प्रत्यय हो, छीत्व घोस

सत्पुष्पा । प्राक्पुष्पा । प्रत्यक्पुष्पा ॥ (शुद्धा चामहत्पूर्वा जातिः) । पुंयोगे तु-शुद्धो । भ्रमहत्पूर्वा किम् ? महाशुद्धो । कुष्ठा । उष्णिहा । देवदिशा । ज्येष्ठा-कनिष्ठा-मध्यमेति पुंयोगेऽपि । कोकिला जातावपि ॥ (मूलाक्षरः) । अमूला । उगितक्ष् । ४।१।१। डीप् । भवन्ती । पचन्ती । वनो र च । ४।१।७। वचन्ता-तदन्ताश्च डीप् स्यात् रथान्तादेशः । सुत्वानमतिक्रान्ता-अतिउत्तरी । अतिधीवरी ।

विका इत्यमरः । सदच् काण्ड । अयमपि 'पाककण' इति सूत्रप्रदितवाचि कार्यसंग्रहः । सत्, अच्, काण्ड, प्रान्त, दात, पूरु पृतेभ्यः परो यः पुष्पशब्दः तस्मादपि 'पाक-कण'पुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च' इति लोप् न भवति । किन्तु तावेवेत्यर्थः । सत्पुष्पेति । सन्ति पुष्पाणि यस्य इति विग्रहः । अच् इति लुप्तनकारः अञ्चुघातुः गृह्यत इत्यभिप्रेय उदाहरति—प्राक्पुष्पेति । प्राक्लि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः । प्रत्यक्पुष्पेति । प्रत्यक्लि पुष्पाणि यस्या इति विग्रहः । शुद्धा चामहत्पूर्वा जातिः । अजा-घतः इति प्रकृतसूत्रे पठितं वाचिकमेतत् । शुद्धा जातिः चाप्या चेत अमहत्पूर्वाः शुद्धशब्दः स्त्रियां टापं कस्ये । जातिलक्षणद्वेषोऽपवादः । शुद्धात् स्वभावार्थायां विधिना उदापामुत्पन्ना स्त्री शुद्धा । जातिरित्यस्य प्रयोजनमाह—पुंयोगे स्थिति । शुद्धस्य स्त्री इत्येवं पुंयोगात् स्त्रियां गृह्यते जातिवाचित्वाभावात् टाप् । किन्तु 'पुंयोगादादायाम्' इति लोपेवेत्यर्थः । महाशुद्धेति । महती च सा शुद्धा चेति विग्रहः । 'पुंवाकर्मधारय' इति पुंवरधम् । अत्र महत्पूर्वत्वात् टाप् । किन्तु जातिलक्षणो लोपेव । 'आमीरी तु महाशुद्धी जातिपुंयोगयोः समा' इत्यमरः । ज्येष्ठेति । यदा ज्येष्ठादिशब्दः प्रथमो-त्पन्नादी चर्तते तदा अदन्तत्वादेव टाप् सिद्धः । यदा तु ज्येष्ठस्य स्त्रीत्यादिविचित्रा तदापि पुंयोगलक्षणं लोपं वाधित्वा तावर्थमिह पाठ इत्यर्थः । कोकिलेति । कोकिल-शब्दस्य जातावपि जातिलक्षणं लोपं वाधित्वा तावर्थमिह पाठ इत्यर्थः । मूलाक्षर इति । 'पाककण' इति सूत्रे पठितं वाचिकमेतत् । नञः परो यः मूलशब्दः तस्मात् 'पाककण' इति लोप् न भवति किन्तु तावेवेत्यर्थः । अमूलेति । अविद्यमानं मूलं यस्या इति विग्रहः । 'नमोऽस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोपः' इति बहुव्रीहिः । वनो र च । वनः र च इति श्लेषः । र इति लुप्तप्रथमाकम्, अकार उच्चारणार्थः । चकारात् लोप् सप्तमुच्चीयते । वन इति पञ्चमन्तम् । तेन वप्रत्ययान्तं तदुक्तं च विवक्षितम् । प्राति-पदिकादित्यधिकृतम् । तदाह—वन्तादित्यादिना । अन्तादेश इति । प्रकृतेरिति दोषः ।

दोने पर । शुद्धा च—महत्पूर्वकसे भिन्न शुद्ध शब्दसे टाप् हो, जाति वाच्य रहनेपर । ज्येष्ठा—ज्येष्ठ, कनिष्ठ और मध्यमसे पुंयोगमें लो टाप् प्रत्यय हो । कोकिला-कोकिल शब्दसे जाति और पुंयोगमें लो टाप् प्रत्यय हो । मूलाक्षरः—'नञ्' से पर मूल शब्दसे टाप् प्रत्यय हो । उगितक्ष्—उगितन्त प्रातिपदिकसे लोप् हो खोलिगमें । वनो र—वन्तश्च

शर्वरी ॥ (वनो न दृश इति वक्तव्यम्) । अवावा प्राङ्गणी । राजयुष्वा ॥
 (बहुव्रीहौ वा) । बहुवीना, बहुवीवरी ॥ पादोऽन्यतरस्याम् ॥ १४।१।८।
 द्विपदी, द्विपात् ॥ टावृच्चि ॥ १४।१।९। द्विपदा ऋक् । एकपदा ॥ मनः ॥ १४।१।११।

नान्तावादेव ङीप् प्राष्ठ, तत्सन्नियोगेन रेफमात्रमिदं विधेयम् । अथ वक्षन्तान्तमुदा
 हरति—सुखानमिति । पुञ् अमिपये, सुपजोङ् वनिप्, 'इत्त्वस्य पिति कृति तुञ्' इति
 तुक् । सुखञ् शब्द । सुखानमतिङ्गान्ता इति विग्रहे 'अत्याद्य' इति समास ।
 सुख्लुकि ङीप् नकारस्य रावम्, अतिसुरयरीति रूपम् । अतिषीवरीति । ह्रस्वात्, यपोष
 णयो, 'आतो मनिन्कनिन्वनिपश्च', 'अन्येषोऽपि इरपते' इति भाषायामपि ङीप् ।
 'युमास्था' इति ईत्त्वम् । ङीवानमतिङ्गान्ता इति विग्रहे 'अत्याद्य' इति समास ।
 ङीप् रश्च, अतिषीवरीति रूपम् । शर्वरीति । 'अ हिंसायाम्' 'आतो मनिन्कनिन्वनि
 पश्च', 'अन्येषोऽपि इरपते' इति भाषायामपि वनिप्, 'सार्धंघातुसार्धंघातुकयो'
 इति गुणः, 'वनो र च' इति ङीप् रश्च । वक्षन्तस्योशाहरणमेतत् । वनो नेति । पूर्वदत्
 वक्षन्त वक्षन्तान्त च गृह्यते । इत् इति पञ्चमी, तेन आतो रिपदिङ्गुत्य विहितेन वना
 आदिष्व धातोरित्येतत् विशेष्यते, तदन्तविधि । ङीप् इति रश्चेति चानुवर्तते । अवा
 वेति । ओणृ ह्यपरमात् वनिपि 'विङ्बनोरनुनासिकरमात्' इति गकारस्य आत्वे
 ओकारस्थानादेशो अवावन् शब्दः । ङीरस्फोरणाय प्राङ्गणीति विशेष्यम् । अत्र ओणृ
 इति धातोर् ह्रस्वत्वात् वन् विहित सङ्गठरात् न ङीप्त्वे, किन्तु राजवद्रूपम् ।
 ह्रस्वत्वात् धातोः परो षो वन् इति व्याख्यानं तु आत्वे सति वनो इत् परावाभावान्
 निषेधो न स्यादिति भावः । वक्षन्तान्तमुदाहरति—राजयुष्वेति । राजानं योषितवती
 रपथ । भूते कर्मणि क्विविमनुवर्तमाने 'राजनि युधि कृञ्' इति कनिप् । कर्मोभूते
 राजनि उपपदे युधे कृञश्च कनिचिति तदर्थः । उपपदसमासे सुख्लुकि राजयुष्वन्
 शब्दः । अत्र ह्रस्वो विहितो वन्, तदन्तो दुष्यन्शब्दः, तदन्तो राजयुष्वन् शब्दः,
 अतो न ङीमादेशाविरपथं । बहुव्रीहौ । इत् वार्तिकम् । 'वनो र च' इति विधि
 बहुव्रीहौ वा स्यादित्यर्थः । 'वनो बहुव्रीहे' इति निषेधस्यापवादः । बहुवीवरीति ।
 बहुवो ङीवानो यस्या इति विग्रहः । बहुवीवेति । ङीप्रात्ययोरभावे राजवद्रूपम् ।
 परो । अन्तलोपारम्भे सनासान्ते कृते परिशिष्ट पाद शब्द इत् गृह्यत इत्यर्थः ।

और वक्षन्तान्त प्रातिपदिकमे ङीप् तथा 'र' अन्तादेशो हो, स्त्रीलिङ्गमे । वनो न—इत्त्व
 पादसे विहित ओ वन, तदन्तान्तेसे ङीप् और र अन्तादेश नही हो । बहुव्रीहौ—बहुव्रीहि
 समासमे 'वनो र च' से विहित ङीप् तथा रादेश विकल्पसे हो । पादोऽन्य—वृत्तसमासात्
 ओ पाद शब्द, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, विकल्पमे । टावृच्चि—ऋक्-शाच्यमे पादन्त
 प्रातिपदिकसे टाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिङ्गमे । ननः—छोत्र चोगद रश्नेपर मन्त्रन्ते ङीप्
 नही हो ।

मन्न्ताञ्छ लीप् । सीमा । सामानौ ॥ अनो बहुव्रीहेः । ७।१।१२। अन्नन्ताद् बहुव्रीहेर्न
 बोप् । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ ॥ डाबुभाम्यामन्यतरस्याम् । ७।१।१३। सूत्रद्व-
 योपात्ताभ्यां डाप् वा । सीमा । सीमे, सीमानौ । दामे, दामानौ ॥ अन उपधा-
 लोपिनोऽन्यतरस्याम् । ७।१।२८। अन्नन्ताद् बहुव्रीहेरुच्चारालोपिनो वा लीप् । पक्षे

द्विपदीति । द्वौ पादौ यस्या इति बहुव्रीहिः । 'मंस्त्वेषामुपूर्वस्य' इति पादशब्दान्त-
 र्द्वयाकारस्य लोपः । लीपि भावात् 'पादः पत्' द्विपदीति रूपम् । लीपभावे तु
 द्विपादिति । टःशुचि । प्रातिपदिकादिति शेषः । 'पादोऽन्यतरस्यात्' इत्यतः अनुब्रु-
 च्चेन पादशब्देन प्रातिपदिकादित्यधिकृतस्य विशेषादिति भावः । 'पादोऽन्यतरस्याम्'
 इति लीपोऽपवादोऽयम् । द्विपदा ऋगिति । द्वौ पादौ यस्या इति विग्रहः । एक-
 पदेति । एकः पादो यस्या इति विग्रहः । उभयत्रापि टापि पादः पत् । मनः । 'न पट्स्व-
 ष्वादिभ्यः' इत्यतः नेति 'ऋन्नेभ्यः' इत्यतः लोपिति चानुवर्तते । मन इति प्रत्यय-
 ग्रहणपरिभाषया तदन्तं गृह्यते । तदाह—मन्न्ताञ्छ लोपिति । सीमेति 'विज् घञ्घने'
 औणादिको मनिन् प्रकृतेर्दाघश्च । सीमन् शब्दात् लीपि निपिद्धे राजवद्रूपम् । लीपि
 सति तु अलोपे सीमनीति स्यादिति भावः । ननु वषथमाण्डापि सीमेति सौ रूप-
 सिद्धेः किं लोबिनपेधेनेत्यत आह—सीमानाविति । टापि तु सति सीमे इत्येव द्या-
 दिति भावः । अनो बहुव्रीहेः । अन इति बहुव्रीहेरित्यस्य विशेषणम्, तदन्तविधिः
 नेति लोपिति च पूर्ववदनुवर्तते । तदाह—मन्न्तादिति । बहुयज्वा । बहुयज्वानौ ।
 बहुवो यज्वानो यस्याम् इति विग्रहे नान्तलक्षणलीपः प्रतिपेधे राजवद्रूपाणि । 'न
 संयोगात्' इति निषेधास्त्रायमुपधालोपो । अतोऽत्र 'अन उपधालोपिनः' इति ।
 विकल्पो न प्रवर्तितुमर्हति । डाबुभाम्याम् । उभाभ्यामित्येतद्वाच्ये—सूत्रद्वयो-
 पात्ताभ्यामिति । 'मन' इति 'अनो बहुव्रीहेः' इति च सूत्रद्वयोपात्तात् मन्न्ताहन्मन्त-
 बहुव्रीहेश्च इत्यर्थः । सीमेति । सीमन् शब्दात् टापि टिलोपे . सीमाशब्दात् सोर्हल्-
 लोपादिलोपः । डाबभावपक्षेऽपि 'मनः' इति लोबिनपेधे सौ सीमेत्येव राजवद्रूपम् ।
 तर्हि डाबिषधेः किं फलमित्यत आह—सीमे सीमानाविति । मन्न्तविषये उदाहरणान्त-

अनो बहु—मन्न्त बहुव्रीहेस्ते लीप् नही हो, लीपिकर्म ('लियाम्' का अधिकार
 सर्वत्र जा रहा है । यह स्मरण रहे)

डाबुभाम्यां—'उपाभ्याम्' अर्थात् 'मनः' और 'अनो बहुव्रीहेः' इन दोनों सूत्रोंमें
 उपात्त हो मन्न्त प्रातिपदिक और मन्न्त बहुव्रीहि, इनसे डाप् हो, विकल्पसे ।

अन उपधा—उपाधालोपी मन्न्त बहुव्रीहेस्ते लीप् नही, विकल्पसे विकल्प पक्ष में
 डाप् और लीप् का निषेध भी हो।

डाब्निदेशी । बहुपत्नी, बहुराश्री । बहुराजे, बहुराजानौ । प्रत्ययस्थात्कार-
त्पूर्वस्यात् इदानीं सुपः । ७।३।४४। प्रत्ययस्थात्कारात्पूर्वस्यात्कारस्येकार' स्या
दापि परे, स आप् सुप परो न चेत् । सर्विका । कारिका । अत किम् ? नौका ।
प्रत्ययस्थात्किम् ? शक्नोतीति शका । अयुक् किम् ? बहुपरिभाजका नगरी ।
(मामकनरकयोरुपसंख्यानम्) । माभिका । नरिका ॥ (त्यक्त्यपोष्य) ।

रमाह-दाभेति । दाधावोरीणादिको मनिन् । पक्षे दाभिन्येधाविति । कदाचित् ङीञ्निपेक्ष
कदाचित् डाप् चोयर्थ । अन्यतरस्याप्रहणप्रयोगनमिदम् । अकृते स्वयतरस्याप्रहणे
बहुवचनविशेषे अनुपवालोपिनि सावकाशस्य 'अनो बहुमोहे' इति ङीप्रतिषेधस्य
'दाधुनाम्नाम्' इति डापञ्च बहुराजन् सन्दादाधुपवालोपिनि अनवकाशेन ङीपा
यावः स्यात् । बहुराहोति । ङीपि अङ्गोपे सोर्हृत्छादिलोप इति भावः । बहुराजेति
दापि ङीञ्निपेधे च सौ रूपम् । बहुराश्याविति । ङीञ्पञ्चे औञ्छि षण् । बहुराजे इति ।
डाप् पञ्चे औञ्छि रूपम् । बहुराजानविति । ङीञ्निपेधे औञ्छि रूपम् । प्रत्ययस्थात् ।
ककारादिति । क् इति दर्शित्वर्थः । अकार उच्चारणार्थः, वर्णाकारः इत्युक्ते । एव च
सूत्रे कादिस्यत्र अकार उच्चारणार्थ इति सूचितम् । स भाविति । इत्यवधिषे चः परनि-
मित्तत्वेनोपात्तः स भावित्वर्थः । सुप परो न चेदिति । सूत्रे अस्त्रुपाः पद्ययन्तम्, अत
मर्थसमास । आपि सुपः परस्मिन् सति इत्येव न भवतीत्यर्थो विवक्षित इति भावः ।
सर्विकेति । सर्वशब्दाहापि पूर्वसवर्णदेश्ये सर्वशब्दः । एकादेशस्य पूर्वान्तावेन प्रहणात्
सर्वनामकार्यम् । ततश्च 'अभ्ययसर्वनागताम्' इति टेः प्रागक्ष् । तत्र ककारात्कार
उच्चारणार्थः । चकार इत् । अक् इति ककारान्त प्रत्ययः टेः प्रागभवति । सर्वकाशब्दे-
स्मिन् ककारात्पूर्वस्य अत इत्ये सर्विकेति रूपम् । गङ्केति । 'दाबल् शक्ती' पञ्चाद्यत् ।
अथ ककारस्य धात्ववयवस्य प्रत्ययस्थात्वाभावात् ततः पूर्वस्य इत्यम् । बहुपरिभाजके-
ति । परिपूर्वात् अत्रे ष्युल् । बहव परिभाजकाः परयामिति बहुमोहि । सुपो लुकि
बहुपरिभाजकशब्दात् डाप् । अत्राकारस्य कात्पूर्वस्य इत्येव न, प्रायवलयणेन आप्
सुवपेक्षया परत्वात् । 'न लुमताङ्गस्य' इति निषेधस्तु न, तस्य लुमता लुपने प्रायये
यदङ्ग तस्य कार्य एव प्रवृत्ते । इत्ये तु टाभ्यनङ्गकार्यमिति नात्र तन्निषेधः । यदि तु
'असुप' इति पर्युदासात् आधीयेत्, तर्हि बहुपरिभाजक इति समुदायस्य सुञ्निभ-
रशाहाप ततः परत्वादिष्व दुर्वार स्यादिति भावः । मामकेति । मामकनरकशब्दयोः
कात्पूर्वस्य इत्येव चक्ष्म्यमित्यर्थः । माभिकेति । समेयमिति विग्रहे 'युष्मद्वस्मद्वोरभ्य

प्रत्ययस्थात्—प्रत्ययस्य ककारते पूर्व अकारको इकार हो, आप्के पर, यदि वह आप्
क्षत् पर नहीं ही । मामक—मामक और नरकके ककारके पूर्व अकारको भी इत्ये हो ।

त्यक्त्यपोष्य—ककारते पूर्व त्यक् और त्यक्के अकारको इकार हो, आप्के परे ।

दाक्षिणात्यिका । इहृत्यिका ॥ न यासयोः । ७।३।४५। यत्तदोरस्येन्न । यका । सका । यकाम् । तकाम् ॥ (रयकनश्च निषेधः) उपत्यका । अधित्यका ॥ (आशिपि वुनश्च न) । जीवका । भवका ॥ (उत्तरपदलोपे न) । देव-दत्तिका—देवका । (क्षिपकादीनां च) । क्षिपका । ध्रुवका । कन्यका ।

तरस्यां खञ्च' ह्ययणि 'तत्रकममकावेकवचने' इति ममकादेशे, आदिदृष्टिः टाप् । 'दिवृक्षाणञ्' ह्ययादिना छीप्त् न, 'देवकमामक' ह्ययादिना संश्राद्धसोरेष मामछ-शब्दात् ङीङिनयमात् । तनश्चात्र ककारस्य प्रत्ययस्यवाभावात् 'प्रत्ययस्यात्' ह्ययमासौ वचनमिदम् । रयकनश्च निषेधः । रयकन्ते रयकन्ते च प्रत्ययस्यात् कार्त्तृवस्याकारस्य ह्यर्षं बह्व-अभिपर्यः । उद्दीचामातः स्थाने इति विकल्पस्यापवादः । दाक्षिणारियकेति । दक्षिणस्यां दिशि अदूरे इति विग्रहे 'दक्षिणादाच्' ह्ययाच्, तद्धितभासर्वविभक्तिः 'ह्ययपयस्यम् । दक्षिणाशब्दात् भवापर्ये 'दक्षिणापश्चात् पुरसस्यक्' इति स्यक् 'किति च' ह्ययादिदृष्टिः, दाक्षिणारियशब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽणः' इति टापो ह्रस्वः, पुनटाप् ह्ययमिति भावः । इहरियकेति । 'अष्टपयस्यप्' इति स्यप् टाप्, स्वार्थिकः कः, डेणः इति ह्रस्वः, पुंसः टाप् । न यासयोः । नात्र ह्रतटापोः प्रथमान्तयोर्निर्द्देशः । यत्तयोरित्येव टिड्छिसत् । यत्तदोरिति । यका । सका इति । 'अष्टपयसर्वनाम्नाम्' इति पत्तश्चुद्धयोः षास्यपि सौ थ्यदाद्यत्वं, पररूपत्वं टाप्, इवद्वयादिना सुलोपः । उष्णद्वे 'उदोः सः सौ' इति तकारस्य सकारः । उमकत्रापि 'प्रत्ययस्यात्' इति प्रागुनिवमग्र सूत्रे निषिध्यते । अथ 'न यासयोः' ह्ययस्य प्रथमान्तानुकरणत्वे किं प्रादक्षिण्यत आह—यकान्, सका मिति । रयकनश्च निषेध इति । रयकन्प्रत्ययान्पठ्यापि 'ह्ययस्यस्यात्' इति ह्ययनिषेधो वक्तव्य इत्यर्थः । उपरयका, अधित्यकेति । 'उपाधिन्वय' रयकत्वात्प्राकृतयोः इति त्यकन्, टाप्, सोहृवृद्धवादिलोपः । 'उपस्यकाद्रेरासञ्च भूमिरुप्यमधिरयका' । ह्ययमरः । आशिपीति । आशिपि चो वुन् तस्य योऽयमेकादेशः तदकारस्य 'प्रत्ययस्यात्' इति इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । जीवका, भवकेति । जीवतात् भवतादित्यर्थः । जीवधातोः भूधातोश्च 'आशिपि च' इति वुन् 'युवोरनाका' इति तस्य अकादेशः 'सार्धधातुकार्धधातुकयोः' इति भूधातोरुकारस्य गुणः अवादेशश्च । उत्तरपदेति । उत्तरपदलोपेऽपि इत्वं नेति वक्तव्यमित्यर्थः । देवकेति । देवदत्तशब्दात् स्वार्थे कः । 'ठाजादावृश्च' द्वितीयादाद्यः 'अनजादौ च विभाषा लोपो वक्तव्यः' इति वृत्तशब्दलोपः । देवशब्दात् टाप् । देवदत्तिके-ति तु दत्तपदस्य लोपानिष्यक्तये उपन्यस्तम् । क्षिपकादीनां चेति । शिपकायिच्छट्शमा-

न यासयोः—यत् और तत् सम्यन्थो अकारको ह्रव नहीं हो । रयकनश्च—रयकम्के अकारको ह्रव नहीं हो । आशिपि—आशोर्येक वुन्के अकारको ह्रव नहीं हो ।

उत्तरपद—यहां उत्तरपदका छोप हुआ हो, यहां टाप्के परे लोपारसे पूर्व अकारको ह्रव नहीं हो । शिपका—शिपकादिको ह्रव नहीं हो ।

चटका (तारका ज्योतिषि) । (वर्णका तान्त्रिके) । (वर्तका शकुनी प्राचाम्) (अष्टका पितृदेवत्ये) । (सूतकापुत्रिकाबृन्दारकाणां चैति वक्तव्यम्) । एषां वा अकारो भवतीत्यर्थः । सूतका, सृष्टिकेत्यादि । उदीचामातः स्थाने यकपूर्वायाः । ७३१४६। यकपूर्वस्य स्त्रीप्रत्ययस्यान स्थाने योज्य तस्य कात्पूर्वस्येद्वाऽऽपि परे । केऽण इति ह्रस्वः । आर्यका, आर्यिका । चटकका, चटकिका । आत किम् ? सांकारये भवा-सांकारिका । यकेति किम् ? अश्लिका ।

मित्त्व नेति वक्तव्यमित्यर्थः । चिपकादिगण पठति-चिपकेति । चिप प्रेरणे । 'इगुपधञा प्रीकिरः कः' इति कः, किवात् लघूपधगुणः चिपाशब्दात् स्वार्थे क, 'केऽण' इति ह्रस्वः पुनष्टाप् । मुवकेति । 'भ्रुव स्यैयं' कुटादि चिपकेतिवद्रूपम् । यद्वा 'भ्रुव स्यैयं' पचाद्यच् 'गाङ्गुटादिभ्यः' इति हिरश्वात् गुणः, उवङ् । भ्रुवशाब्दात् टाप् ततः स्वार्थिकः कः 'केऽण' इति ह्रस्वाः, पुनष्टाप् । कन्यकेति । कन्याशाब्दात् क 'केऽण' इति ह्रस्वः, पुनष्टाप् । चटकेति । चट भेदने । पचाद्यच् टाप् स्वार्थे कः, 'केऽण' इति ह्रस्वाः, पुनष्टाप् । चिपकादिराहृतिगणः । तेन अलका, इष्टका इत्यादि । अष्टका पितृदेवत्ये । पितरश्च वा देवताश्च पितृदेवता तदर्थम् पितृदेवत्यम् । 'देवतान्तात् तदर्थं यत्' इति यत् । पिप्रथे कर्मणि वाच्ये अष्टकेति भवति । 'प्रायपरस्यात्' इति ह्रस्वः नेत्यर्थः । सूयकेति । अथ पुत्रिकाशब्द इकारमध्य नत्यकारमध्य स्त्रियां पुत्रशाब्दस्य शाङ्करवादिभिरन की भन्तावावृति कैमट । उदीचामातः । 'प्रायपरस्यात्' इति सूयमनुवर्तते । यद्य कश्च यको तो पूर्वा यस्या इति तिस्रः । यकेतिवर्णप्रदणम्, अकाराद्युच्चारणार्थं यकपूर्वाया इत्येतत् अथ ह्रस्वस्य विशेषणम् । तेन-अयोगर्त स्त्रीत्वमाकारे आरोप्य यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशः । तेन आकारस्य स्त्रीवाचकत्वं कल्पते । तदाह—यकपूर्वस्येत्यादिना । उदीचां ह्रमण विकल्पार्थमेव । न तु देशतो व्यवस्थार्थम्, इति 'न वेति विभाषा' इति सूत्रे भाष्ये स्पष्टम् । सांकारिकेति । सङ्घातेन निवृत्त नगर साङ्कारयम् । 'कुम्भञ्जकठच्' इत्यादिना सङ्घाशाविभ्यो ण्यः, आदिबुद्धिः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । साङ्कारयशाब्दात् भवार्थे 'अन्वयोपचाद् कुम्भ' अकादेशः 'यस्येति च' इत्यकारलोपः ।

तारका—ज्योति (नक्षत्र) अर्थमे 'तारका' यह रूप हो । अर्थात् नक्षत्र अर्थमें ह्रस्व नहीं हो । वर्णका—तन्त्रुके विहार अर्थमें 'वर्णका' यह रूप हो । अर्थात् तन्त्रुविहार अर्थमें ह्रस्व नहीं हो । वर्तका—शकुनि (पक्षी) अर्थमें 'वर्तका'—यद् रूप हो । अर्थात् शकुन नहीं हो—यैसा पाखीनोका मत है ।

अष्टका—पितृदेवत्य कर्मवाच्य हो तो, 'अष्टका' यह रूप हो—ह्रस्व नहीं हो ।

सूतका—सूतकादियोंके ककारसे पूर्व अकारको न हो, विकल्पते ।

उदीचामातः—यकार-ककार पूर्वक स्त्रीत्वमध्य-सम्बन्धी आकारस्थानिक ककारसे पूर्व

स्त्रीप्रत्ययेति किम् ? शुभंयिका ॥ अभाषितपुंस्काच्च । ७।३।४। एतस्माद्विहित-
 स्यातः स्यानेऽत इत्या । गङ्गाका, गङ्गिका ॥ आदाचार्याणाम् । ७।३।४५।
 पूर्वविषये । गङ्गाका ॥ अनुपसर्जनात् । ४।१।१४। अधिकारोऽयं यूनस्तिरित्य-
 मिध्याप्य ॥ टिड्ढाणञ्चूयसज्ज्द्वन्ज्मात्रचूयपठ्कठञ्क्वृकरपः । ४।१।
 १५। अनुपसर्जनं यद्विदादि तदन्तं यददन्तं प्रातिपदिकं ततो ङोप् । कुरुचरी । उपस-
 र्जनत्वान्नेह-बहुकुरुचरा । नदट्-नदी । देवट्-देवी । सौपर्ण्यी । ऐन्द्री । श्रौत्सी ।
 ऊरुद्वयसी । ऊरुदन्ती । ऊरुमात्रो । पञ्चतम्री । आक्षिकी । लावणिकी । यादृशी ।
 इश्वरी ॥ (नञ्स्नञ्जीकक्ख्युंस्तरुणतलुनानामुपसंख्यानम्) छैणी ।

टाप् 'प्रत्ययस्यात्' इति नित्यमिषम् । इह यकारादकारस्य आकारस्यानिकत्वाभावा-
 दिवविकल्पो न भवतीति भावः । अधिकेति । अन्धाशब्दात् कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः,
 पुनष्टाप्, अश्रकाशब्दः । अत्र अकारस्य आकारस्यानिकत्वेऽपि यकपूर्वकत्वाभावादि-
 वविकल्पो न, किन्तु 'प्रत्ययस्यात्' इति नित्यमिषमिति भावः । स्त्रीप्रत्ययस्य किमिति ।
 यकपूर्वाया इति स्त्रीलिङ्गनिर्देशाल्लब्धं स्त्रीप्रत्ययस्येति किमर्थमिति प्रश्नः । शुभंयिका ।
 शुभमिति मान्तमव्ययम् । तस्मिन्नुपपदे 'या प्रापणे' इति धातोः 'अन्धेभ्योऽपि इत्यते'
 इति चिच् शुभंयाशब्दात् स्वार्थे कः 'केऽणः' इति ह्रस्वः टाप्, शुभंयकाशब्दः । अत्र
 यकारादकारस्य धात्वव्ययस्य स्त्रीधातुकत्वाभावादिवविकल्पो न किन्तु 'प्रत्ययस्यात्'
 इति नित्यमेवेवमिति भावः । अभाषितपुंस्काच्च । उदीष्टामातः स्याने इत्यनुवर्तते
 अत इदिति च, अभाषितः पुमान् येन इति विग्रहः, विहितस्येत्पद्याहार्यम् । तदाह-
 प्तस्मादिति । अभाषितपुंस्कादिर्यर्थः । अपूर्वार्यं वचनम् । गङ्गाका गङ्गिकेति । गङ्गाशब्दा-
 त् कः । 'केऽणः' इति ह्रस्वः, इवविकल्पः । आदाचार्याणाम् । पूर्वविषये इति । अभा-
 षितपुंस्काद्विहितस्यातः स्याने अत इत्यर्थः । अनुपसर्जनादित्यधिकारस्य उत्तरावधि-
 साह-यूनस्तिरित्यभिध्याप्येति । यूनस्तिः इत्यत्राप्ययमधिकारः न तु ततः प्रागित्यर्थः ।

अकारको इत्ये हो, आप्के परे, विकल्पते । अभाषित—अभाषित पुंस्कते विहित स्त्रीप्रत्यय-
 सम्बन्धी आकारस्यानिक ककारके पूर्व अकारको इत्ये हो, आप्के परे, विकल्पते ।

आदाचार्या—'अभाषितपुंस्काच्च' इत्ये सूत्रे विहित आत्स्थानिक अकारको आकार
 आदेश हो, विकल्पते ।

अनुपसर्ज—'यूनस्तिः' इत्ये सूत्रे पर्वन्त इत्ये अकार है । टिड्ढाणञ्—अनुपसर्जन
 को टिट्-ड-अण्-अण्-आदि, तदन्त को अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङोप् हो, स्त्रीत्व बोध
 रहने पर । नञ्स्नञ्—अनुपसर्जन को नद्यादि, तदन्त को अदन्त प्रातिपदिक, उससे ङोप्

पौंस्त्री । शाकीकी । आञ्जहृरणी । तहणी । तलुनी ॥ यद्यश्च । ४।१।१६। यद-
 न्तात्प्रातिपदिकात् ङीप् । अकारलोपे कृते— हलस्तद्धितस्य । ६।४।१५०। हल
 उत्तरस्वोपघामूनतद्धितस्य लोप इति । गार्गी ॥ प्राचा ष्फ तद्धितः । ४।१।१७।
 यमन्ताप्लो वा ॥ पः प्रत्ययस्य । १३।६। प्रत्ययादिः प इत्यथात् । 'आयनेयीनी'
 इत्यायनादेशः । वित्त्वमामर्ष्यात्पद्गौरिति ङीप् । गार्ग्यायणी ॥ ययसि प्रथमे
 । ४।१।२०। प्रथमवयोवाचिनोऽद् तात्त्रियं ङीप् । कुमारी ॥ (ययस्यचरम इति
 पाठयम्) । षडूटी । चिरण्टी ॥ द्विगोः । ४।१।२१। अदन्तात् द्विगोर्ङीप् ।
 क्रितीक्षी । अजादित्वात् त्रिकला । म्यनीका सेना ॥ अपरिमाणयिस्ताचितक-
 म्यस्येभ्यो न तद्धितलुकि । ४।१।२२। अपरिमाणान्तादिस्ताथन्ताच्च द्विगोर्ङीप्
 तद्धितलुकि । पञ्चभिररवै ऋतेना पञ्चाश्वा । आर्हीयष्टक् । 'अभ्यर्घ-' इति लुक् ।
 ह्री षिस्त्री षण्ति द्विविस्ता । द्वयाञ्चिता । द्विकम्यस्या । परिमाणान्तात्तु द्वयाङ्की ।

यदन्त्यस्य इति । चरमम् अन्त्यम् षय', तद्धिन्नम् अचरम, प्रथमे ह्रस्वपदीष षच
 रमे इति इत्यन्त्यम् इत्यर्थः । अपरिमाण । 'द्विगो' इति ङीविति चाजुदत्तैः । अस्ति
 पदिकादिस्त्वचिद्वृत्तमपरिमाणादिनिर्विरोधेभ्येते । तदन्तविधिः । तथाह—अपरिमाणात्ता-
 दित्वादि । अथर्वेति लुगिति । पञ्चभिररवै ऋतेति विग्रहे 'तद्धितार्थ' इति द्विगुः ।
 'आर्हीयतोपुष्टसंज्ञयापरिमाणाट्ठक्' इत्यधिकारे 'तेन ऋतम्' इति टक् 'अभ्यर्घ'
 पूर्वाद्द्विगुर्लुनसञ्जायाम्' इति तस्य लुक् । अत्र 'द्विगो' इति ङीप् न भवति,
 अपरिमाणात्तद्विगुवात् । नन्वत्र 'द्विगो' इति प्रासङ्गीभिनवेऽपि 'टिड्वाणञ्' इति
 क्विभिसद्ये ङीप् पुवार । ह्रस्व्यां शताभ्यां ष्ठीता द्विद्वयेवत्र 'सहययाया भति
 अयन्ताहा' इति कन 'अभ्यर्घ' इति लुकि 'अपरिमाण' इति निवेद्यस्य चरितार्थत्वात्
 इति सैत् सत्यम्, 'टिड्वाणञ्' इत्यत्र प्रयासस्या दिड्वाणजादीनां य अकार, तद्-
 ण्यमिति विधायितम् । पञ्चाशत्तद्व्याय टात्तथाकारान्तो न भवतीति न ङीष् ।
 ह्री षिस्ताविति । 'भुवर्गविस्ती हेम्नोऽच्च' इत्यमर । 'गुञ्जाः पञ्चाशमापक । ते षोडश
 इति च । गुञ्जापञ्चक माषपरिमाणम् । माषपोडशकम् अक्षपरिमाणम्, तच्च अङ्गीति

हो, ऋश्च घोस्य रश्चे पर । यञश्च—यद्यन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, ऋङिगमे ।

हलस्त—इत्से पर षपथाभूत तद्धितसम्-पी यकारका लोप हो, र्कारके परे ।

प्राचा ष्फ—यद्यन्त प्रातिपदिकसे 'ष्फ' प्रत्यय हो, ऋत् चोरसमे, विकल्पसे भीर वह
 तद्धितसहक हो । य प्रथमस्य—प्रथमके आदि प्रकारकी शसठा हो ।

ययसि—प्रथम वयोवाची अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, ऋङिगमे ।

ययस्यचरमे—चरमवयोमिध वयोवाचीसे ङीप् हो—यथा कइना चारिये ।

द्विगो—यद्यन्त द्विगुसे ङीप् हो, ऋङिगमे । अपरिमाण—तद्धितका लुक् इमा हो

तद्वितलुकि किम् ? समाहारे पञ्चाश्वी ॥ काण्डान्तात्क्षेत्रे । ४।१।२४। क्षेत्रे यः
काण्डान्तो द्विगुस्ततो न ङीप् तद्वितलुकि । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः-द्विकाण्डा क्षेत्र-
भक्तिः । मात्रचः 'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुक् । क्षेत्रे किम् ? द्विकाण्डी रज्जुः ॥
पुरुषात्प्रमाणेऽभ्यन्तरस्याम् । ४।१।२४। प्रमाणे यः पुरुषस्तदन्ताद् द्विगोर्ङीष्वा
स्यात् तद्वितलुकि । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्याः-द्विरुषी, द्विपुरुषा वा परिखा ॥

गुञ्जाभकम् । तस्मिन् हेमविषये अपपरिमाणे सुवर्णाविस्तारवाचित्यर्थः । द्वौ विस्ती
पचतीति विग्रहे 'तद्वितार्थ' इति द्विगुः । 'समवयवहरतिपचति' इति ठक्, वस्य
'अभ्यर्थ' इति लुक् 'द्विगोः' इति ङीप् प्रतिषिद्धे सति टापि द्विपिस्ता मूढा ।
द्विपिस्तपरिमाणकद्विरण्यं द्वावयतीत्यर्थः । पचिरिह द्वावणे व्रष्टव्यः । द्वाचितेति ।
'आचितो दृष्ट भाराः' इत्यमरः । द्वावाचितौ वहीत्यर्थे 'आडकाचितपात्रात्
जोऽभ्यवस्यस्यम्,' द्विगोर्द्व' इति खठनोरभावे प्रावतीत्यणम् । 'अभ्यर्थ' इति तस्य
लुक् । अनेन 'द्विगोः' इति ङीप् निषिद्धे टापि द्वावाचिता सख्यौ द्विकाण्येति । कम्ब-
लस्य प्राप्तिभूतं द्रव्यं कम्बस्यम् ऊर्णापलगतम् । 'तदर्थं विद्वतेः प्रकृतौ' इत्यर्थे
'कम्बजाप संज्ञायाम्' इति यत्, ह्याभ्यां कम्बस्याभ्यां ङीप्तेति विग्रहः । 'तेन क्लीवम्'
इति ठप् : 'अभ्यर्थ' इति लुक् 'द्विगोः' इति ङीप् अनेन प्रतिषिद्धे टापि । काण्डान्तात्
क्षेत्रे । 'द्विगोः' इति, 'न तद्वितलुकी'ति पानुवर्तते । तदाह-क्षेत्रे य इत्यादि । द्वे काण्डे
इति । 'पोडशारविकायामो वृष्टः काण्डमिति स्मृतिः' । द्वे काण्डे प्रमाणमस्याः इति
विग्रहे 'तद्वितार्थ' इति द्विगुसमासे द्विकाण्डशब्दस्य चैत्रवर्तित्वे नपुंसकत्ववाङ्मयु-
दासाय चैत्रभक्तिरिति विशेष्योपादानम् । द्विकाण्डी रज्जुरिति । पूर्ववत् मात्रचो लुकि
'द्विगोः' इति ङीप् । क्षेत्रे कृत्स्निवाभावात् न तद्विषेध इति भावः । पुरुषात् । द्विगोरिति
तद्वितलुकीति ङीपिति पानुवर्तते । तदाह-प्रमाणे य इत्यादिना । प्रमाणमायामः
'आयामस्तु प्रमाणं स्यात्' इति घचनात् । द्वौ पुरुषाविति । पञ्चहस्तायामः पुरुष इत्यु-
च्येते, 'पञ्चारक्षिः पुरुषः' इति श्ययसूत्रात् । द्वौ पुरुषौ प्रमाणमस्या इति विग्रहे 'तद्वि-
तार्थ' इति द्विगुः समासः । 'प्रमाणे द्वयस्यद्वयमात्रचः' इति विहितस्य मात्रचः
'प्रमाणे लो द्विगोर्नित्यम्' इति लुक् । अत्र उक्तरीत्या पुरुषप्रमाणस्य आयाभारम-
कस्य 'अपरिमाणः' इति नित्यं ङीप्निषेधे विकल्पार्थमिदं वचनम् । अन्ये तु 'तदस्य
परिमाणम्' इति ठक् : ङीप् वा 'अभ्यर्थ' इति लुक् । तत्र हि उत्तरसूत्रानुरोधात् परि-
माणशब्देन परिच्छेदकमात्रं गृह्यते इत्याहुर्वित्वास्वी ङीष्वा । द्विपुरुषो द्विपुरुषा वा परि-

तो-अपरिमाणान्त और विस्तारन्त द्विगुणे ङीप् ङीष्वा ङी । काण्डान्तात्-तद्वित लुक्के
विषयमे क्षेत्रमे जो काण्डान्त द्विगु, वसते ङीष्वा ङीष्वा ङी । पुरुषात्-तद्वितलुक्के
विषयमे प्रमाणमे जो पुरुष शब्द, तदन्त द्विगुणे ङीप् ङीष्वा ङीष्वा, विकल्पते ।

ऊचसोऽनङ् । ५।४।१३१। ऊचोऽन्तस्य बहुव्रीहिरनङ् स्त्रियाम् ॥ बहुव्रीहेरुचसो
 ङीप् । ५।४।१२५। ऊचोन्ताद्बहुव्रीहे । कुण्डोष्नी । स्त्रियां किम् ? कुण्डोष्नी धेनु-
 कम् । दामहायनान्ताश्च । ५।४।१२७। संख्यादेर्बहुव्रीहेर्दामान्ताद्दामनान्ताश्च
 ङीप् । द्विदाम्नी । द्विहायनी बाला ॥ (त्रिघतुभ्यां द्वायनस्य णस्यं चाच्यम्) ।
 (धयोवाचकस्यैव द्वायनस्य ङीप् णस्यं चेष्यते) । त्रिहायणी । चतुर्हायणी ।
 वयसोऽन्यत्र-त्रिहायना, चतुर्हायना शाला ॥ अन्तर्वत्पतिघतोर्नुक् । ५।४।१३२।
 नान्तर्वाङ्गीप् । अन्तर्वन्नी, पतिवन्नी । गर्भमर्तुसंयोग पचेष्यते । अन्यत्र तु-

येति । तिर्यक् द्विपुरुषायतेत्यर्थः । दुर्गं परितः तत्पररक्षणार्थं अछासाय परिष्ठा । अत्र
 कुण्डमिव ऊचो यस्या इति बहुव्रीहौ कुण्डोचसु शाब्दः । तत्र विशेषमाह-ऊचसोऽनङ् ।
 'बहुव्रीहौ सङ्ख्यबन्धोः' इत्यसौ बहुव्रीहोर्विषयबुद्धयः पठ्या विपरिणम्यते, ऊचसा
 इत्यनेन विशेष्यते, तदन्तर्विधिः । तदाह-ऊचोऽन्तयेति । समासान्तप्रकरणस्यारवे ऽपि
 स्त्रियादस्यादेष्टव्यं लोभ्यम् । बहुव्रीहेः । ऊचस् इति बहुव्रीहेर्विशेषणम् । तदन्तर्विधिः,
 स्त्रियामित्यभिहितम् । तदाह—ऊचोऽन्तारिति । कुण्डोष्नीति । अनङ् कृते ङीप् 'अङ्गो
 योऽन' इति भावः । 'ऊचस्तु वक्षीयमायीनम्' इत्यमरः । ङीप्विधेस्तु हरे विशेषः
 कृत्स्नम् । स्त्रियां किमिति ङीप्विधौ स्त्रियामित्यनुवृत्तिः किमर्थेति प्रश्नः । कुण्डोष्नी धेनु-
 कमिति । कुण्डमिव ऊचो यस्येति विग्रहः । नपुसकवस्फोरणाय धेनुकमिति विशेष्यम् ।
 धेनुना समूह इत्यर्थः । 'अविच्छदस्तिधेनोऽङ्क', 'इत्सुसुच्छास्तात् कः' । आदिबुद्धिः
 वक्षीयाव लोकात् । अत्र चोखाभावात् ङीप्विधेः । दामहायनान्ताश्च । संख्यादेः ङीप्
 चानुवर्तते तदाह—सख्यादेरिति । अल्पप्रहण तु नागुवर्तते अस्वरितत्वादिति भावः ।
 द्विदाम्नीति । द्वे दामनी यस्याः इति विग्रहः । कापि 'अङ्गोयोऽन' इति भावः । द्विहा-
 यनी वाद्येति । द्वौ द्वायनी यस्या इति विग्रहः । एष त्रिहायणात्पत्र मन्त्रपदात्वात्
 णत्वाप्राप्तावाह—त्रिघतुभ्यामिषि । नप्येवमापे द्विहायना शाळा इत्यत्रापि काप् इत्यात्,
 त्रिहायना शाळेत्यत्र तु काप् णत्वं च स्यात्तामित्यत्र आह—वयावाचकस्यैव द्वायनत्वात् ।
 ह्यते इति । मास्यकृत्वति षोप । अन्तर्वत्पतिघतोर्नुक् । किञ्चसामर्थ्यात् अयमागमा,

ऊचसोऽनङ्—ऊचोन्त बहुव्रीहेरौ अनङ् आदेशो हो, लोडिगमे । बहुव्रीहे—ऊचोन्त
 बहुव्रीहेरौ ङीप् हो, लोडिगमे । दामहाय—दामात् और दायनान्त संख्यादि बहुव्रीहेरौ
 ङीप् हो, लोडिगमे । त्रिघतुभ्यां—त्रि और चतुर् अन्तरे पर द्वायनके नकारको
 णत्वं हो ।

धयोवाच—वयावाचक द्वायन अन्तरे ही ङीप् और णत्वं इह है । अन्तर्वत्—अन्तर्वत्
 ओर्नुक् का आगम हो, लोडिगमे । गर्भमर्तु—पूर्वोक्त ङुक्का आगम गर्भ और

अन्तरस्त्यस्यां शालायां घटः । पतिमती पृथिवी ॥ पर्युर्नो यज्ञसंयोगे । ४।१।३३।
 वसिष्ठस्य पत्नी ॥ विभाषा सपूर्वस्य । ५।१।३४। पतिशब्दान्तस्य नो वा । गृह-
 पतिः; गृहपत्नी । दृढपत्नी, दृढपतिः ॥ नित्यं सपत्न्यादिपु । ४।१।३५। सपत्नी ।
 एकपत्नी । वीरपत्नी ॥ पूतकतोरै च । ४।१।३६। पूतकतोः स्त्री-पूतकतायी ॥
 वृषाकप्यग्निकुसितकुसिदानामुदात्तः । ४।१।३७। एषामुदात्त ऐ आदेशो ङीप्
 च । वृषाकपेः-स्त्री वृषाकपायी । अग्नायी । कुसितायी । कुसिदायी ॥ मनोरी वा
 । ४।१।३८। मनुशब्दस्यौकारादेशः स्यादुदात्त एकारश्च वा, ङीप् च । मनोः स्त्री

न तु प्रत्यय इति भावः । पतिमती पृथिवीति । जीवन्मूर्क्यामेव दशनिपातनादिह
 दशभाषा इति भावः । पर्युर्नो । पर्युरिति पद्ये । न इत्यकार उच्चारणार्थः । द्विधा-
 मित्यधिकृतम् । विभाषा सपूर्वस्य । पर्युर्नोः इत्यनुबन्तत्वे, प्रातिपदिकादित्यनुवृत्तं
 षष्ठ्या विपरिणतं पर्युरित्यनेन विर्गभ्यते । तद्धन्तविधिः । सपूर्वस्येत्येतत् पतिशब्दान्त
 प्रातिपदिके अन्वेति । पूर्वावयवसहितस्येत्यर्थः । तदाह—पतिशब्दान्तस्येत्यादिना ।
 यज्ञसंयोगामावेऽपि अप्राप्तविभाषेयम् । गृहपतिः—गृहपत्नीति । नरपक्षे 'अन्नेभ्यः'
 इति ङीप् । अत्र गृहपतिशब्दः पतिशब्दान्तः गृहशब्दात्मकपूर्वावयवसहितश्चेति
 भावः । नित्यं सपत्न्यादिपु । विषयसप्तम्येपा । सपत्न्यादिविषये तस्मिन् नित्यं
 नरमित्यर्थः । सपत्नीति । अत्र समानदाब्द एकपर्यायः, पतिशब्दरूपे विवाह-
 निबन्धनमूर्तशब्दपर्यायः । वीरपत्नीति । वीरः पतिर्यस्याः इति विग्रहः । सपत्न्यादि-
 स्वाभावम् । पूतकतोरै च । ऐ इति लुप्तप्रथमाकम् । पूतकतुशब्दात् द्विधा ङीप् स्यात्
 प्रकृतेरकारोऽन्तादेशश्चेत्यर्थः । पूतकतायीति । पूतः क्तुः येन सः पूतकतुः, तस्य स्त्री-
 र्थे ङीप् । तकारात्कारस्य ऐकारः, तस्य आयादेश इति भावः । वृषाकप्यग्नि । ऐ चे-
 त्यनुवर्तते । तदाह—एषामिति । वृषाकपायीति । ङीप्, प्रकृतेरुदात्तः ऐकारोऽन्तादेशः,
 तस्य आयादेशः, तस्य ऐकारस्यानिक्रमात् तदाकारोऽप्युदात्तः 'अनुदात्तं पदमेकव-
 च्छम्' इति अवशिष्टानाम् आनुदात्तत्वम् । मनोरी वा । ऐ चेति, उदात्त इति, ङीप्-
 ति आनुवर्तते । तदाह—मनुशब्दस्येति । उदात्त ऐकारश्च वेति । औकारः उदात्त ऐकारश्च

मतांके-संयोगमें ही हो । पर्युर्नो—पति शब्दको नकारादेश हो यज्ञके संयोगमें ।
 विभाषा—पतिशब्दान्त प्रातिपदिकको नकारान्त आदेश हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे ।
 नित्यं—सपत्न्यादि स्थलमें पति शब्दको नित्य ही नकारान्त आदेश हो ।
 पूतकतो—पूतकतु शब्दको स्त्रीलिंगमें ऐकारान्त आदेश और तस्मिन्नियोगेन ङीप्
 भी हो । वृषाकप्यग्नि—वृषाकपि आदिको उदात्त ऐकारान्त आदेश और ङीप् भी हो ।
 मनोरी वा—मनु शब्दको ङीप्सन्तियोगशिष्टेन औकारान्तादेश और उदात्त ऐकारान्त
 आदेश भी हो, विकल्पसे । (मनोः स्त्री मनाषी, मनायी, मनुः)

मनावी । मनायी । मनु. ॥ घर्णादनुदात्तात्तोपधात्तो नः । ७।१।३२। घर्णवाची
 योऽनुदात्तान्तस्तोपधस्तदन्ताद्वा ङीप्, तस्य न । एनी, एता । रोहिणी, रोहिता ।
 विद्गौरादिभ्यश्च । ७।१।४१। ङीप् । नर्तकी । गौरी । अनङ्वाही, अनङ्गही ॥ (पि-
 प्लव्याद्व्यश्च) । आकृतिगणोऽयम् । (मत्स्यस्य ङ्याम्) । यलोप, मत्सी ।
 जानपदकुण्डगोणस्थलमाजनागकालनीलकुशकामुक्कषराणु सुखमभा
 वपनाकृत्रिमाश्राणास्थौल्यघर्णानाच्छादनायोयिकारमीपुनेच्छदेपवेष्टेषु
 । ७।१।४२। एभ्य एकादशभ्य क्रमाद् वृथादिव्ययेषु ङीप् । जानपदी वृत्तिपेत् । अन्वा
 तु जानपदा । अजन्तत्वात् ङीपि आद्युदात्त । कुण्डी अमत्रं चेत् । कुण्डाऽन्या ।
 गोणी आवपन चेत् । गीणाऽन्या । स्थली अकृत्रिमा चेत् । स्थलाऽन्या । भाजी श्राणा

वा स्यादित्यर्थः । मनावीति । अघ्रीकारोऽनुदात्त एव । मनायीति । 'यद्वा किं च मनुरव
 दत्' इत्यादौ मनुशब्दः । 'मिन्यादिर्निमित्तम्' इत्याद्युदात्त, 'घर्ण्ये मित्' इत्यतो निदि
 त्यनुवृत्तौ 'श्वश्चरिनिङ्' इत्यादिना मनेरुपल्ययविधे । ततश्च शिष्टशरेण नकारा
 नुकारः अनुदात्त । तस्य स्थाने उदात्त ऐकार, तस्यायादेश ङीप् चेति भावः ।
 मनुति । ऐकारस्य भौकारस्य चाभावे तत्सन्नियोगशिष्टो ङीपि नेरपुच्छमेव ।
 जानपद । जानपदेत्यादि कवरादिव्ययतमेक पदम् । समाहारद्वन्द्वत् पद्यमी । काव
 पदीति । जानपदे भवेत्यर्थः । वृत्तिश्चेदिति । जीविका गम्पा चेदित्यर्थः । कुण्डीति ।
 'विठर स्याद्युक्ता कुण्डम्' इत्यमरः । 'पात्रामये च भाजनम्' इति च । कुण्डल्लक्ष्य
 स्त्रीत्वमपि स्त्रीत्विसामर्थ्यात् । 'विठरे तु न ना कुण्डम्' इति विश्वः । कुण्डा
 भ्येति । दहनीयेत्यर्थः । आवपन चेदिति । लोप्यते निदिप्यते अस्मिन्निष्यत्वात्
 पूर्णाह्वयेषुंत् । गोणाऽयेति । कश्चाद्विदिषं नाम । अकृत्रिमा चेदिति । इष्टानीतन
 पुत्रपरिष्कृता भूमि कृत्रिमा, तन्निष्कृत्यर्थः । स्थलाऽयेति । कृत्रिमैत्यर्थः । 'स्थल
 योवकम् परिगृह्णन्ति' इति यशुर्वेदे । ज्ञायति । अजपते सेव्यते इति कर्मणि घञ्

घर्णादनु—घर्णवाची यो अनुदात्तान्त शेष, एतत्त यो प्रातिपदिक, एतसे ङीप् हो
 भीर तकारको नकार आदेश भी हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे । विद्गौरा—विद् भीर गौरादिसे
 स्त्रीलिंगमें ङीप् हो ।

नोटः—'अनुदात्तादी'में 'जानपदद्वन्द्व, शिवां वा' (अनङ्गद्वन्द्वसे ङीप् भीर आम् का
 भागम हो, स्त्रीलिंगमें, विकल्पसे) इस गणमूलसे वैकल्पिक आम् समझना चाहिये ।

विप्लव्या—'विप्लव्यादिसे ङीप् हो, स्त्रीलिंगमें ।

मत्स्यस्य—मत्स्यश्रे कपवात्स्यन्दी, यकारका लोप हो, 'दी' के परे । जानपद—
 जानपद, कुण्ड, गोण आदि पदादश प्रातिपदिकोंसे ङीप् हो, वृत्त्यादि अर्थोंमें ।

चेत् । भाजाऽन्या । 'यथागूरुणिष्ठा भ्राणा विलेपी तरला च सा' इत्यमरः । नागी
 स्थूला चेत् । नागाऽन्या । काली वर्णश्चेत् । कालाऽन्या । नीलो अनाच्छादनं
 चेत् । नीलाऽन्या, नील्या रक्ता शाटीत्यर्थः । कुशी अयोविकारश्चेत् । कुशान्या । कामुकी
 मैथुनेच्छा चेत् । कामुकाऽन्या । कवरी केशानां सन्निवेशश्चेत् । कवराऽन्या ॥
 शोणात्प्राचाम् । ४।१।४३। शोणी, शोणा ॥ वीतो गुणवचनात् । ४।१।४४।
 उदन्ताद् गुणवाचिनो वा ङीप् । मृद्धी, मृदुः । उतः किम् ? शुचिः । गुणेति
 किम् ? आशुः ॥ (खरुसंयोगोपधान्न) खरुः पतिवरा कन्या । पाण्डुः ॥
 बह्नादिभ्यश्च । ४।१।४५। वा ङीप् । बहो, बहुः ॥ (कृदिकारादक्तिः) ।
 रात्री, रात्रिः ॥ (सर्वतोऽक्तिन्नर्थादित्येके) । शक्ती, शक्तिः ॥ पुंयोगा-
 दाख्यायाम् । ४।१।४८। या पुमाख्या पुंयोगात्त्रियां पर्यते ततो ङीप् । गोपस्य स्त्री-

'घञजन्ताः पुंसि' इति प्रायिकम् । आणा चेदिति । 'यथागूरुणिष्ठा भ्राणा' इत्यमरः ।
 वर्णश्चेदिति । वर्णः प्रवृत्तिनिमित्तं चेदित्यर्थः । वर्णविशिष्टा चेदिति यावत् ।
 अन्यथा कालशब्दस्य 'गुणे शुक्लादयः पुंसि' इति पुंसवापातात् । सूत्रे वर्णा इति
 च्छेदः । अर्श आद्यजन्तात् टाप् । कालाऽन्येति । कौर्ययुक्तस्यर्थः । संज्ञाशब्दो वा ।
 अनाच्छादनं चेदिति । वक्षमिष गवादिकमित्यर्थः । नीलाऽन्येति । नन्वत्राच्छादनस्य
 विशेष्यत्वे स्त्रीत्वानुपपत्तिः । पटीत्यस्य विशेष्यत्वेऽपि लीङ्वर्णवती पटीत्यर्थे स्त्रीपः अप-
 सक्तिरेव । 'नीलादोपधौ', 'प्राणिनि च' इति विषयस्य ह्रस्वदान्तात्त्वादित्यस्य आह—
 नील्या रक्तेति । नील्या ओपध्या रागविशेषं प्राप्नोत्यर्थः । कुशाऽन्येति । कुशो गसूत्रे
 प्रस्तोता तु कुशाः कारयेद्यज्ञियस्य वृणस्य सदिश्यस्य कर्तुंशुभेभ्योऽपि प्रादेषमात्राः
 कुशपृष्ठास्यवक्तसमामञ्जते' इति प्रसिद्धा । कामुकीति । कामुकिर्लु लीङ्गमस्या इति
 विग्रहे 'उपपत्' इत्यादिना कमेकज् । मैथुनेच्छापती चेदित्यर्थः । अर्श आद्य-
 जन्ताट्टाप् । कामुकाऽन्येति । घनादीपृष्ठावतीत्यर्थः । शोणात् प्राचाम् । 'छोहितो रोहि-
 तो रक्तः शोणः कोकनदच्छविः' इत्यमरः । 'घर्णानां तु तणतिनितान्तानाम्' इति
 शोणशब्दः आद्युवाचः अनुदात्तान्तः । 'अन्यतो ङीप्' इति नित्यं ङीपि प्राप्ते विक-

शोणात्—शोण शब्दसे स्त्रीलिङ्गमे ङीप् हो, प्राचीन आचार्योके मतसे ।
 वीतो—उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमे ङीप् हो, विकल्पसे । खरुसं—खरु
 शब्दसे तथा संबोगोपस उदन्त गुणवाची प्रातिपदिकसे ङीप् ङीप् हो । बह्नादि—बह्नादिसे
 स्त्रीलिङ्गमे ङीप् हो, विकल्पसे । कृदिकारा—क्तिन्-क्तिन् कृदिकारात् प्राति-
 पदिकसे ङीप् हो विकल्पसे । सर्वतो—एके (किन्हीं कथादीं) किं नतसे कित्प्रथ-मिभ्य
 कृत-अकृत सभी कथारान्त कृदिकारोसे ङीप् हो—यैसा कथारान्त कथारिषे ।
 पुंयोगा—श्री पुंयोगसे स्त्रीलिङ्गमे प्रपुत् हो, ङीप् हो ।

गोपी ॥ (पालकान्ताद्य) । गोपालिका । अश्वपालिका ॥ (सूर्याद्देवतायां वाप् वा-
 क्यः) । सूर्यस्य स्त्री देवता-सूर्या । देवतायां किम् ? सूरि, कुन्ती, मानुषीयम् ॥ इन्द्र-
 वरुणभयशर्वरुद्रमृडहिमारण्ययवयवनमातुलाचार्याणामानुक् ॥ ४।१।४९।
 ङीप् च । इन्द्राणी ॥ (हिमारण्योर्महत्त्वे) । महद्भिर्मं हिमानी ॥ (यथा-
 होषे) । दुष्टो यवो यवानी ॥ (यथनाह्लिष्याम्) । यवनानां लिपिर्यव-
 नानी ॥ (मातुलोपाध्याययोरानुग्या) । मातुलानी, मातुली । उपाध्यायानी,
 उपाध्यायी ॥ (आचार्यादणत्वं च) । आचार्यानी ॥ (अयंक्षत्रियाम्यां वा
 स्थायं) । अर्याणी, अर्या । क्षत्रियाणी, क्षत्रिया । पुयोगे तु—अर्याः । क्षत्रियो ॥
 क्रीतात्करणपूर्वात् ॥ ४।१।५०। क्रीतान्ताददन्तात्करणदेर्ङीप् । वल्लक्रीती ।
 क्वचिन्न-धनक्रीता ॥ बहुव्रीहेश्चान्तोदात्तात् ॥ ४।१।५२। कान्तान्ङीप् । ऊव

वपार्थमिदम् । हिमारण्ययोर्महत्त्वे । इह यातिकम् । महत्त्ववित्तिष्टे हिमे अरण-
 च वर्तमानयोरानुङ्ङीपावित्पर्यं । हिमानी । महद्भिर्मं 'हिमानी' अत्र 'इन्द्रवरुण-
 भय' इत्यादिना प्राप्त्वा आनुङ्ङीपौ प्रवाच्य महत्त्वोऽर्थे 'हिमारण्ययोर्महत्त्वं'
 इति आनुगागमे, ङीपि च कृते, तद्रूपम् । क्रीतात्करणपूर्वात् । प्रातिपदिकादिर्य-
 वृत्तम् अत इत्यनुवृत्तेन क्रीतादिर्यमेन च विशेषणं, तद्वत्त्विति । तदाह-
 क्रीतान्तादित्यादिना । करणमादिर्यस्येति विग्रहः । प्रातिपदिकतादौ वित्तेष्वम्, तेन
 करणादेरिति पुरस्त्वमुपपन्नम् । वल्लक्रीती । वल्लोः क्रीता- 'वल्लक्रीती' 'अत्र 'क्रीतात्क-
 रणपूर्वात्' इति ङीपि, 'यस्येति च' इत्यकारलोपः । क्वचिन्नेति । 'कर्त्तृकरणे कृता
 बहुलम्' इति बहुलग्रहणेन 'गतिकारकोपपदानाम्' इत्यस्य क्वचिद्वप्रवृत्त्यवग-
 मादिह सुबन्तेन समास । तत्र च सुपः प्रागेवात्तरङ्गशाप् टापि सन्ति ततः सुवि-
 टावन्तप्रकृतिसुबन्तेन समासे सुबलुकि धनक्रीता इत्यस्य अदन्तावाभावात्
 ङीपिर्ययः । बहुव्रीहेश्च । आदिति अत इति आनुवर्तते । तदाह—बहुव्रीहेरिति ।

पालका—पालकान्तस्ते ङीप् नही हो । सूर्याद् देवता—देवता अर्थमें सूर्य शब्दसे
 पुयोगमें वाप् प्राप्य हो । इन्द्रवरुण—इन्द्र आदि शश्रोको आनुक्का भागम हो और
 साथ ही साथ ङीप् भी हो । हिमारण्ययो—हिम और अरण्य शश्रोसे महत्त्व अर्थमें हो
 आनुक् और ङीप् हो । यथाहोषे—यव शब्दसे दोष अर्थमें हो आनुक् और ङीप् हो ।

यवना—यवन शब्दसे लिपि अर्थमें हो आनुक और ङीप् हो । मातुलो—मातुल और
 उपाध्याय शब्दसे आनुक् हो, विकल्पसे । आचार्या—आचार्य शब्दसे पर आनुक्के नकारको
 प्राप् हो, विकल्पसे । अयंक्षत्रि—अयं और क्षत्रिय शब्दसे स्थायंमें विकल्पसे आनुक् और
 काप् हो । क्रीतात्—करणपूर्वक अदन्त क्रीतान्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो ।

बहुव्रीहेश्च—अन्तोदात्त कान्त अदन्त बहुव्रीहेश्चे ङीपिङ्गमें ङीप् हो ।

भित्री ॥ अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । ४।१।५३। पूर्वेण नित्ये प्राप्ते विकल्पोऽयम् । सुरा-
पीती, सुरापीता ॥ स्वाङ्गाच्चोपसर्जनादसंयोगोपधात् । ४।१।५४। असंयोगोप-
धमुपसर्जनं यत्स्वाङ्गं तदन्ताद्वा ङीप् । अतिकेशी, अतिकेशा । चन्द्रमुखी, चन्द्र-
मुखा । संयोगोपधात्, -सुगुल्का ॥ 'अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्यमविकारजम् ।
अतस्स्यं तत्र दृष्टं च तेन चैतत्तया युतम्' ॥ १ ॥ सुस्वेदा ; द्रवत्वात् । सुज्ञाना;

कान्तादिति । कान्तान्तादित्यर्थः । ऊरुमिन्तो । ऊरु मिथी असंयुक्ती यस्या इति
विग्रहः । 'निष्ठा' इति भिन्नशब्दस्य पूर्वनिपातस्तु न भवति 'जातिकालसुष्मादिभ्यः
परा निष्ठा वाच्या' इति वार्त्तिनात् । 'जातिकालसुष्मादिभ्यः' इत्यादिसूत्रेणान्तोदात्त-
मिदम् । अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा । स्वाङ्गच्छगमुत्तरसूत्रे वचयते । अस्वाङ्गं यत् पूर्वपदं
तस्मात् परं यत् कान्त तदन्तात् षड्दोहेः ङीप् वा स्यादिति सूत्रार्थः । पूर्वैवेति ।
'बहुदोहेश्वाप्तोदात्तात्' इति पूर्वसूत्रेण नित्यं ङीपि प्राप्ते तद्विकल्पोऽत्र विधीयत
इत्यर्थः । सुरापीती—सुगपीतेति । सुरा पीता यवेति विग्रहः । ऊरुमिथीतिवत् पूर्व-
निपातः । स्वाङ्गाच्च । उपसर्जनादिभिर्निर्भ्रमंधोगोपधादिति च स्वाङ्गादित्यत्रान्वेति ।
स्वाङ्गादित्येवत् अत इत्यनुवृत्तं च प्राणिपादिकादित्यनुवृत्तस्य विशेषणम्, तद्वत्-
विधिः । तदाह—असंयोगोपधमित्यादिना । वा ङीपिति । 'अस्वाङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो
वेति 'अन्यतो ङीप्' इत्यतो ङीपियस्य आनुवृत्तेरिति भावः । सुस्वेदेति । सु श्रोमनः

अस्वाङ्गपूर्व—अस्वाङ्ग पूर्वपदसे पर कान्त अदन्त बहुमीहिते ङीप् हो, विकल्पसे । स्वाङ्गाच्चोप-
असंयोगोपध, उपसर्जन जो स्वाङ्गवाची, तदन्त अदन्त प्रातिपदिकसे ङीप् हो, विकल्पसे ।

अद्रवं—स्वाङ्ग तीन प्रकारका है—(१) अद्रवं मूर्तिमत्स्वाङ्गं प्राणिस्यमविकारजम्—
(न विद्यते द्रवो यस्य तद् 'अद्रवम्') जो द्रववाचक नहीं हो । अतः सु = शोमनः ;
स्वेदः—घर्मजः उदकप्रक्षत्रो यस्याः सा) 'सुस्वेदा' यहाँ ङीप् नहीं हुआ ।

मूर्तिमत्—(स्पर्शवद् द्रव्यपरिमाणं मूर्तिस्तद्रत्) जो मूर्तिमान् हो । अतएव 'सुज्ञाना'
यहाँ ङीप् नहीं हुआ ।

प्राणिस्यम्—प्राणिनि = प्राणवति—बन्तौ, विद्यमानम् । जो प्राणीमें स्थित हो । अतः
'सुमुखा शाळा' यहाँ ङीप् नहीं हुआ । अविकारजम्—रोगादिविकाराजन्यम् । जो विकारसे
उत्पन्न नहीं हुआ हो । इसलिये सु = अधिकः, शोकः = शययुः यस्याः सा 'सुशोफा' यहाँ
ङीप् नहीं हुआ ।

(२) अतस्स्यं तत्र दृष्टं च—अतस्स्यं = [सम्प्रति] अप्राणिस्यम् [अपि] च = किन्तु-
तत्र = प्राणिनि, दृष्टं = दृश्यमानं, यत्तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । जो सम्प्रति प्राणीमें स्थित न भी
हो किन्तु कभी भी प्राणीमें देखा गया हो । अतः 'सुकेशी मुकेश वा रथ्या (गली)' यहाँ
ङीप् सिद्ध हुआ । क्योंकि गलीमें बिखरा हुआ कुश सम्प्रति प्राणिस्य नहीं भी है किन्तु
कभी तो वह केश प्राणिस्य (प्राणीके नस्तकादिपर) देखा गया था ।

(३) येन चैतत्तया युतम्—(येनाङ्गेन प्राणिरूपं बस्तु यथा युतं, तेन तत्सदृशेन

अमूर्तत्वात् । सुमुखा शाला, अप्रागिश्यत्वात् । सुशोका, विकाररजत्वात् । सुकेशी,
सुकेशा वा रथ्या, अप्रागिश्यस्यापि प्रागिति दृष्टत्वात् । सुस्तनी, सुस्तना वा
प्रतिमा, प्रागिवरप्रागिसदृशे स्थितत्वात् ॥ नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्ण
शृङ्गाच्च । ४।१।५५। वा ङीप् । तुङ्गनासिकी, तुङ्गनासिका ॥ (पुच्छाच्च) ।

स्वेद्. घर्मज उदकपसया यस्या इति विग्रहः । स्वेदस्य शोभनात् तु दुर्गन्धामासः ।
द्रव्यादादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अतो न ङीपित्यर्थः । मूर्तिमदिरस्यस्य प्रयोजन
माह—सुखानेति । सु शोभन ज्ञान यस्या इति विग्रहः । अमूर्तत्वादिति । न स्वाङ्गत्व
मिति शेषः । प्रागिश्यमित्यस्य प्रयोजनमाह—सुमुखा शालेति । सु शोभन सुख प्रथम
भाग यस्या इति विग्रहः । अवागिश्यत्वादिति । न स्वाङ्गत्वमिति शेषः । अविकारज
मित्यस्य प्रयोजनमाह—सुशोकिति । सु अविहः शोकः अथयुः यस्या इति विग्रहः ।
'शोफरतु अथयुः' इत्यमरः । विकाररजत्वादिति । रोगजत्वादित्यर्थः । न स्वाङ्गत्वमिति
शेषः । अतस्य तत्र दृष्ट चेति । द्वितीय स्वाङ्गलक्षणम् । सङ्घट्टेन प्राणी परामृश्यते ।
अस्यस्यम्-अप्रागिश्य, तत्र-प्रागिति, दृष्ट यत् तदपि स्वाङ्गमित्यर्थः । रथ्येति । रथ्या
स्यानां केशानां प्रागिश्यत्वाभावात् पूर्वलक्षणेन स्वाङ्गत्वासिद्धेर्लक्षणान्तरमिति
भावः । उच्छलक्षणमुदाहरणे योजयति—अप्रागिश्यत्वापीति । इदानीं प्रागिश्यत्वा
भावेऽपि कदाचित् प्रागिश्यत्वादपि स्वाङ्गत्वमित्यर्थः । सुस्तनी सुस्तना वा प्रतिमेति ।
सु शोभनो रजसो रजसाङ्गो अवयवो यस्या इति विग्रहः । प्रतिमागतयोः स्तना-
कृत्निकावयवयोः कदाचिदपि प्रागिश्यत्वाभावात् प्राप्यन्तरे अदृष्टत्वाच्च-पूर्वलक्षण-
स्यस्याप्यप्रसूतेर्लक्षणान्तरमिदम् । अथौदाहरणे लक्षण योजयति—प्रागिवदिति ।
सत्प्रयत्नादिति । प्रागिवत् प्रागिसदृशे प्रतिमादिद्रव्ये स्थितत्वात् स्वाङ्गमित्यर्थः ।
नासिकोदरोष्ठजङ्घादन्तकर्णशृङ्गाच्च । 'अस्याङ्गपूर्वपदाद्वा' इत्यतो वेति—'अस्यतो ङीप्'
इत्यतो ङीपिति चानुवर्तते । तुङ्गनासिकी—तुङ्गनासिकेति । 'न ऋडादिबहुवच'

अङ्गेन, तद्-अप्रागिरूप बहवु, तथा प्रागिवत्, सुत-युक्त, चेत-स्यात्, तदपि (प्रागिति
दृष्ट) स्वाङ्गमित्यर्थः) प्राणीको तरह ही प्राणीमें स्थित हो । अतएव 'सुस्तनी सुस्तना वा
प्रतिमा' (सुन्दर स्तनीवाकी मूर्ति) यहाँ ङीप् स्थित हुआ ।

नोट—'स्वाङ्गोपसर्जनात्' इति सूत्रमें स्वस्य = अवयवोभूतस्य, अङ्ग स्वाङ्गम्' ऐसा
स्वाङ्गता ग्रहण होगा तो 'सुमुखा शाला' यहाँ भी ङीप् ही जायगा—सुखरथ शालाङ्गत्वात् ।
किंच 'सुकेशी रथ्या' यहाँ पर ङीप् नहीं होगा—केशाङ्गानां रथ्याङ्गत्वाभावात् । सरमात्
अस्यासि-अतिभ्यासि कारणके सिद्धे कथं सूत्रमें त्रिविध स्वाङ्गोका ग्रहण किया गया है ।

नासिको—नासिकावन्त स्वाङ्गत्वाची उपसर्जनते ङीप् हो, विकल्पते ।

पुच्छाच्च—पुच्छान्त प्राद्विपदिक्ते ङीपिगमें ङीप् हो ।

सुपुच्छी, सुपुच्छा ॥ (कवरमणिविषयशरेभ्यो नित्यम्) । कवरपुच्छी ॥
 (उपमानात्पक्षाच्च पुच्छाञ्च) उल्लूकपक्षी शाला । उल्लूकपुच्छी सेना ॥
 न क्रोडादिवह्वयः । १४।१।५६। क्रोडादेर्ह्वयश्च स्वाप्राज ङीप् । कल्याणक्रोडा ।
 आकृतिगणोऽयम् । सुजघना ॥ सहनन्विद्यमानपूर्वाच्च । १४।१।५७। न ङीप् ।
 सकेशा । प्रकेशा । विद्यमाननासिका ॥ नखमुखात्संज्ञायाम् । १४।१।५८।
 ङीप् न । शूर्पगता । गौरमुखा । संज्ञायां किम् ? ताम्रमुखी ङ्या ॥
 वाहः । १४।१।६१। बाहन्तात् ङीप् । दित्यौही । दित्यवाट् च मे दित्यौही
 च मे ॥ सख्यशिथ्वीति भाषायाम् । १४।१।६२। सखी । अशिथी ॥
 जातेरस्त्रीविषयादयोपधात् । १४।१।६३। जातिवाचि यद् च जियत्
 नियतमयोपधं ततो ङीप् ॥ 'आकृतिग्रहणा जातिलिङ्गानां च न सर्वभाक् । सकृदा-
 ख्यातनिर्ग्राह्या गौत्रं च चरणैः सह' ॥१॥ तटी । घृपली । औपगवी । कठी । जातेः

इति बहुजलपणह्योत्तिपेधं चाधित्वा 'नासिकोदर' इति विद्मपः । पुच्छाञ्चेति ।
 संयोगोपधत्वेऽपि पुच्छशब्दान्तात् निरयं ङीपिति वक्तव्यमित्यर्थः । कवरमणोति । कवरा-
 दिभ्यः परो यः पुच्छशब्दः तदन्तात् निरयं ङीपिति वक्तव्यमित्यर्थः । उपमानादिति ।
 उपमानात् परौ यौ पचपुच्छशब्दौ तदन्तादपि ङीपित्यर्थः । उल्लूकपक्षी शालेति । उल्लूकः
 पक्षिर्द्वीपः, उल्लूकपक्षाविध्व पक्षी पार्वे यस्या इति विद्मह । 'सहस्युपमानपूर्वपदस्य
 बहुव्रीहिर्याप्यः उत्तरपदलोपध' इति समासः । संयोगोपधत्वात्प्राप्ते विधिः ।
 उल्लूकपुच्छी सेनेति । उल्लूकपुच्छमिव पुच्छं पक्षिमास्यः चक्ष्वा इति विद्मह । पूर्वपदेव
 बहुव्रीहिः । 'पुच्छाच्च' इति विद्मरपस्यापवादः । वाहः । षोड इति पञ्चम्यन्तं प्राति-

कवरमणि—कवर आदिके परे पुच्छान्त प्रातिपदिकसे नित्य ङीप् हो ।

उपमानात्—उपमान वाचकसे पर पक्ष और पुच्छ शब्दान्त प्रातिपदिकसे कित्य ही
 ङीप् हो । न क्रोडादि—स्वर्गावाचक जो क्रोडादि और बह्वच्, तदन्त प्रातिपदिकसे ङीप्
 नहीं हो । सहनन्—सह, नञ् और विद्यमान पूर्वक प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीप् नहीं
 हो । नखमुखात्—नख-मुखान्त प्रातिपदिकसे संज्ञामें ङीप् नहीं हो ।

वाहः—वाहन्त प्रातिपदिकसे स्त्रीलिङ्गमें ङीप् हो ।

सख्य—माया (लोक) में सखी और 'अशिथी' ये दोनों ङीपन्त निपातित हों ।

जातेरस्त्री—नित्य स्त्रीलिङ्गसे सिद्ध अयोपध आतिवाचीसे ङीप् हो, स्त्रीलिङ्गमें ।

आकृतिग्रहणा जातिः—'जातेरस्त्रीविषयादयोपधात्' इति सूत्रमें विविध आतिका
 ग्रहण होता है । उसमें प्रथम लक्षण (१) 'आकृतिग्रहणा जातिः'—आकृति (स्वरूप)
 देखनेसे ही जो जानी ना सके अर्थात् अनुगत-संस्थान (जगद्व्यवस्थितिक्रमिण्ये) से ही जो
 अभिव्यक्त हो सके, वह जाति कहलाती है । यथा—'वटी' 'वटी' आदि ।

किम् ? मुण्डा । अस्त्रीविषयात्किम् ? बलाका । अयोपधात्किम् ? क्षत्रिया ॥ (योप धप्रतिषेधे ह्यगघयमुक्यमनुष्यमत्स्थानामप्रतिषेधः) । ह्यो । गवयी । मुकयी । मनुषी । मत्सी ॥ पाककर्णपर्णपुष्पफलमूलवालोत्तरपदाच्च । ४।१।६४। पाकाद्युत्तरपदाच्चातिवाचिनः स्त्रीविषयादपि ङीप् । शोदनपात्री । शङ्कु कर्णी । शालपर्णी । शङ्कुष्पी । दासीकली । दर्ममूली । गोवाली । योपधिविशेषे रुडा एते ॥ इतो मनुष्यजातेः । ४।१।६५। ङीप् । दाक्षी ॥ ऊङ्गुतः । ४।१।६६। ऊका रान्तादयोपधान्मनुष्यजातिवाचिनः स्त्रियामूह् । कुरु ॥ पङ्गाश्च । ४।१।६८। पङ्गु ॥ (भवशूरस्योकाराकारलोपश्च) । चादूह् । पुंयोगलक्षणवीरोऽपवाद । श्वश्रू ।

पविकाक्षिपनुवृत्तस्य विशेषणम्, सङ्गतविधिः । पाककर्णे । 'भातेरस्त्रीविषयात्' इति पूर्वसूत्रेणैव निन्दे किमर्थमिदमिष्यन् आह—स्त्रीविषयात्पीति । निघन्तस्त्रीलिङ्गत्वात् पूर्वोपप्राप्तिरिति भावः । चातिवाचिन्ये दर्शयितुमाह—भोवविधिविशेषे रुडा इति । अग्व चानुत्पत्तिरहिता इत्यर्थं । श्वशूरस्येति । चकारात् ऊङ्गुतुह्यते । श्वशूरस्य स्त्री शूरय्ये

(२) 'किङ्गानां च न सर्वमाक् । सकृदावपाठनिर्माद्या' (असर्वकिङ्गत्वं सति एकस्यां व्यक्ती कथनाद् व्यक्त्यन्तरे कथनं विनापि सप्तमहा-जातिरिति) जिससे सब लिङ्ग नहीं होते और एक व्यक्तिमें कहनेपर अन्य व्यक्तियोंमें विना कहे ही जातिका ज्ञान हो सके—यह भी जाति कहलाती है । 'वृषलक्ष' जातिके सिद्ध करनेमें प्रथम कश्चन साधक नहीं हो सका क्योंकि इस्तावत्पुत्रपुत्रिवेश जैसा वृषल (शूद्र) में है, विसा हो ब्राह्मणादियोंमें भी देखा जाता है । अतः 'किङ्गानां च' इस द्वितीय कश्चन की आवश्यकता हुई । उदाहरण देखो 'वृषली' । यहाँ एक ही व्यक्तिमें 'वृषलक्ष' का ज्ञान कराने पर उसके पुत्र, भार्य आदिमें ज्ञान कराये विना ही वृषलक्ष जाति सप्तम ही जाती है ।

(३) 'गोत्रञ्च चरणैः सह' (अपत्यप्रत्ययान्त चकारात् शास्त्राप्येतृवाची च शब्दो जाति-कार्यं कथत इत्यर्थः) अपत्य प्रत्ययान्त शब्द, और शास्त्राप्येतृवाची चो शब्द, यह भी जाति-कार्यको प्राप्त हो । उदाहरण देखो 'भोपगवी' और 'कठी' । यहाँ अनुगतप्रत्ययान्तप्रत्ययका अभाव है और उभयत्र सर्वकिङ्गता भी है । अतः 'गोत्र च' इस तृतीय कश्चनकी भी आवश्यकता हुई । योपञ्च—योपञ्च (जातिकश्चन ङीप्) के प्रतिषेधमें ह्यादिका प्रतिषेध नहीं हो ।

पाककर्ण—पाक, कर्ण, पर्ण, पुष्प, फल, मूल और वालोत्तर पदवाची प्रातिपदिकसे ङीप् हो, निरय ङीलिङ्ग होने पर भी । इतो मनुष्यजाते—उकारान्त मनुष्यजातिवाचीसे ङीलिङ्गमें ङीप् हो । ऊङ्गुतः—उकारान्त अयोपञ्च मनुष्यजातिवाचीसे ङीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो । पङ्गाश्च—पङ्गु शब्दसे ङीलिङ्गमें ऊङ् प्रत्यय हो ।

श्वशूरस्य—श्वशूर शब्दके उकार और अकारका योप तथा चकारात् ऊङ् प्रत्यय भी हो, ङीलिङ्गसे । ('पुंयोगदास्यायाम्' सूत्रसे प्राप्त ङीप् का अपवादक यह जातिक है)

ऊरुत्तरपदादौपम्ये । ४।१।६९। उपमानवाचिपूर्वपदमूरुत्तरपदं यत्तस्माद् । कर-
भोहः ॥ संहितशफलक्षणवामादेश्च । ४।१।७०। संहितोहः ॥ (संहितसहाभ्यां
चेति वक्तव्यम्) । सहितोहः । सहोहः ॥ शार्ङ्गरवाद्यञो ङीन् । ४।१।७३।
शार्ङ्गरवादेरञो ङोऽकारस्तदन्ताच्च जातिवाचिनो ङीन् । शार्ङ्गरवी । वंदी ॥ (नृन-
रयोर्वृद्धिश्च) नारी ॥ यङश्चाप् । ४।१।७४। यङन्ताच्चाप् । आम्बष्ठया । कारो-
पगन्ध्या ॥ (पाद्यञश्चाप् वाच्यः) । पौतिमाप्या ॥ आवट्याच्च । ४।१।७५।
अस्माच्चाप् । 'यञश्च' इति ङीपोऽपवादः । अवटशब्दो गर्गादिः । आवट्या ॥ यूनस्तिः
। ४।१।७७। युवनशब्दात्तिः । युवतिः । अनुपसर्जनादित्येव । बहवो युवानो यस्यां
सा बहुयुवा । युवतीति तु यौतेः शत्रन्तात् ङीपि चोच्यम् । इति स्त्रीप्रत्ययप्रकरणम् ।

—ॐ—

संयोगलक्षणे स्त्रीपि प्राप्ते तदपवाद ऊङ्, तत्संनियोगेन रेफादकारस्य दाकाराबुका-
रस्य च लोप इत्यर्थः । अत्रः । अत्र अशुरशब्दात् 'अशुरस्योकाराकारलोपश्च' इत्य-
नेन ऊङि, दाकारोत्तरवर्युंकारस्य अकारस्य च लोपे संयोगे विभक्तिकार्ये च कृते
'अश्रः' इति रूपम् । ऊरुत्तर । ऊरुः उत्तरपदं यस्येति बहुव्रीहिः । प्रातिपदिकादित्य-
नुवर्तते । उत्तरपदेत्यनेन पूर्वपदमाक्षिप्तम् । औपम्ये इति तत्रान्वेति, उपमीयते अनये-
त्युपमा—उपमानम्, उपमैव औपम्यं त्वार्थं प्यञ् । तदाह—उपमानवाचीति । सहि-
नेति । सहित सह आभ्यां परो यः ऊरुशब्दस्तस्मादपि ऊङ् स्यादिति वक्तव्यमित्यर्थः ।
पौतिमाप्येति । पौतिमापस्यापत्यं स्त्रीत्यर्थः 'गर्गादिभ्यो यञ्' इति यञ् । इति स्त्रीप्रत्ययाः ।

—ॐ—

ऊरुत्तर—उपमानवाची पूर्वपदक जो ऊरुत्तरपदक प्रातिपदिक, उससे ऊङ् प्रत्यय हो स्त्री-
लिंगमें । संहितशफ-संहित, शफ, लक्षण और वाम आदिमें है जिसके पेशा जो ऊरुत्तरपदपरक
प्रातिपदिक, उससे उङ् प्रत्यय हो स्त्रीलिंगमें । संहित-संहित और सहसे पर भी ऊरुत्तर
प्रातिपदिकसे ऊङ् हो, स्त्रीलिंगमें । शार्ङ्गरवा-शार्ङ्गरवादिके और 'अम्' का जो अकार,
तदन्त जातिवाचक प्रातिपदिकसे ङीन् प्रत्यय हो, स्त्रीलिंगमें । नृनरयोः-नृ और नर शब्द
से ङीन् प्रत्यय तथा नृ और नरको वृद्धि भी हो, स्त्रीत्व धोत्यमें । यङश्चाप्—यङन्त
प्रातिपदिकसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिंगमें । पाद्यञश्चाप्—अकारसे पर यञन्त प्रातिपदिकसे
चाप् प्रत्यय हो । आवट्याच्च—आवट्यसे चाप् प्रत्यय हो, स्त्रीलिंगमें । यूनस्तिः—अनुप-
सर्जन युवन् शब्दसे स्त्रीलिंगमें 'ति' प्रत्यय हो और वह तद्धितसंज्ञक भी हो ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें स्त्रीप्रत्यय प्रकरण समाप्त हुआ ।

—ॐ—

अथ वैदिकप्रकरणम्

पृथीयुक्तरछन्दसि वा । १।४।९। पतिशब्दो विसृज्य । क्षेत्रस्य पतिना वृषम् ।
इह 'वा' इति योग विमज्ज्य 'छन्दसि' इत्यनुवर्तते । तेन सर्वे विधयश्छन्दसि वैकल्पिका ।
'बहुलं छन्दसि' इत्यादिरस्यैव प्रपद्य ॥ अयस्मयादीनि च्छन्दसि । १।४।२०।
एतानि छन्दसि साधुनि । अपदसङ्गात्रिकाराद्ययोग सङ्गाद्वय बोध्यम् । तथा च
वार्तिकम् (उभयसंज्ञान्यपीति चक्तव्यम्) । न सुष्ठुभा स ऋकंता गुणेन ।
पदत्वात्कुत्वम्, भवाच्चशब्दाभाव । नैनं हिन्वन्त्यपि वाजिनेषु । अत्र पदत्वाच्चशब्दं,
भवात्कुत्वाभाव । 'ते प्राग्घातो' ॥ छन्दसि परेऽपि । १।४।८१। व्यवहिताश्च
। १।४।८२। हरिभ्यां ज्ञाह्योक्तं शा । आ मृन्दैरिन्द्र हरिभिर्वाहि ॥ तृतीया च
होश्छन्दसि । २।३।३। जुहोते कर्मणि तृतीया स्याद् द्वितीया च । यवाग्वाऽग्निहोत्र

पृथीयुक्तरछन्दसि देति । 'पति समास एव' इत्यतः पतिरित्यनुवर्तते । 'पतिः समास
एव' इति निबन्धात्समासे न प्राप्नोतीति अत्र नमारभ्यते-पतिनेति । घिवात् 'आहो
ना' इति नाभावः । पृथीति किम् ? 'मया पर्या जरदृष्टिर्धास' । छन्दसीति किम् ?
ग्रामस्य पर्ये । अयस्मयादीनि । आनन्तर्यामिसङ्गाद्वारेणैव निपातन प्राप्तमित्याह—
सङ्गाद्वयमिति । ननु 'अनन्तरस्य' इति न्यायं बाधिरवोभयसङ्गाविधाने किं प्रमाणमि-
त्यावाह्याह—तथा च वार्तिकमिति । कुत्वमिति । 'घो कु' इत्यनेन । जशत्वाभाव इति ।
'अल्ला जशोऽन्ते' इति प्राप्तस्य । ते प्रागिति । व्याख्यातम् । अस्यापवादमाह—छन्दसी
त्यादि । गत्युपसर्गसङ्कारछन्दसि परे प्रयोक्तव्या, अपिनान्द्यात्पूर्वं । व्यव । व्यवहिता
अपि गत्युपसर्गसङ्कारा प्रयोक्तव्या । सूत्रद्वयस्योदाहरणे आह—हरिभ्यामित्यादि ।
आयाहीति प्राप्तम् । तृतीया च होश्छन्दसि । 'कर्मणि द्वितीया' इत्यतः कर्मणीति
वर्तते । अत्र द्वितीयायां प्रासायां तृतीया विधीयते, च-शब्दात्प्रापि, भवति । तदाह—
कर्मणीति । यवावेति । अत्र यवागूराभ्यास्तृतीया अग्निहोत्रशब्दाच्च द्वितीया । अग्निहोत्र
शब्दो हविर्वाचक । जुहोतिश्च प्रष्टेपणार्थं । यवाग्वाभिज हविरग्नी प्रक्षिपतीत्यर्थः ।

पृथीयुक्तः—वह्यन्तसे युक्त पति शब्द विसृज्य हो, विद्वर्यते ।

अयस्मया—अयस्मयादि वेदमें साधु हो । उभयसङ्गा—वेदमें भसदा और पदसदा
दोनों होती है । छन्दसि परेऽपि । व्यवहिताद्य—गतिमशक और उपसर्गसङ्कारका
वापुसे पर और वापुसे व्यवहित भी प्रयोग हो, वेदमें । तृतीया—'हु' वापुके कर्ममें

जुहोति ॥ मन्त्रे श्वेतवह्नोऽक्यशस्पुरोडाशो ष्विन् । ३।२।७१। (श्वेतवह्नादीनां
डस् पदस्येति वक्तव्यम्) । यत्र पदत्वं भावि तत्र ष्विनोऽपवादो उच् वक्तव्य
इत्यर्थः । श्वेतवाः, श्वेतवाहो, श्वेतवाहः । उक्यानि उक्यर्वां शंसति उक्यशा
यजमानः, उक्यशासौ । पुरो दाशयते दीयते पुरोटाः ॥ अवे यजः । ३।२।७२।
अवयाः, अवयाजौ, अवयाजः ॥ अवयाः श्वेतवाः पुरोडाश्च । ८।२।६७। एते
संबुद्धौ कृतदीर्घा निपात्यन्ते । चादुक्यशाः ॥ लिङ्गर्थे लेट् । ३।४।७। सिव्वहुलं
लेटि । ३।१।३४। इतश्च लोपः परस्मैपदेषु । ३।४।९७। लेट्स्तिवामितो लोपो
वा स्यात् परस्मैपदेषु ॥ लेटोऽडाटौ । ३।४।९४। स्तो वा । तौ च पितौ ॥
(सिव्वहुलं णिङ्गकव्यः) । वृद्धिः । प्र ण् आयूपि तारिपन् नुपेशस्करति जोपि-

मन्त्रे श्वेतवहो । श्वेतादिपूर्वभ्यो बहादिभ्यो ष्विन् स्यात् । छलाच्चणिककार्यार्थं निपा-
तनम् । श्वेतशब्दे कर्तृवाचिन्युपपदे बह्वेः कर्मणि कारके ष्विन् प्रत्ययः उक्ये कर्मणि
करणे चोपपदे शंसतेः प्रत्ययः नलोपश्च । पुरः पूर्वस्य दाश्ट दाने ह्यादेर्द्वैतं कर्मणि
च प्रत्ययः । डस् पदस्येति । प्रत्येकमभिसंबन्धते । भाविपदवाध्रयणेन चेदमुच्यते । तदाह-
यत्र पदत्वं भावोक्ति । असन्तस्योर्ययः । श्वेतवा इति । श्वेता एव यं वहन्ति श्वेतवाः
इन्द्रः । 'अत्सन्तस्य' इति दीर्घः । उक्यशासाविति । नलोपे कृते 'अत् उपधाया' इति
वृद्धिः । अवे । योगविभाग उत्तरार्थः । पुरोडाषावयजोष्विन् इत्येकयोगे श्वेतवह्नादीना-
मभ्युत्तरानुवृत्तिः स्यात् । यजेश्वावपूर्वस्यैवानुवृत्तिः स्यात्केवलस्यैवेत्यत इति ।
अवयाः श्वेतवाः । ननु मन्त्रे श्वेतवहेत्यादिना रुसि कृते सौ 'अत्सन्तस्य' इति दीर्घं
रुवे च श्वेतवा इत्यादिसिद्धे नार्थोऽनेन योगेनेत्याशङ्क्याह-एते सम्बुद्धाविति । संबुद्धौ
हि 'अत्सन्तस्य' इति न प्राप्नोति तत्रासम्बुद्धाविरयनुवर्तनात् । लिङ्गर्थे लेट् । दिव्या-
दौ हेतुहेतुमद्भावादौ च धातोर्लेट् स्यात् छन्दसि । इतश्च लोप इति । लेट्स्तिवामितो
लोपो वा स्यात्परस्मैपदेषु । लेटोऽडाटौ । लेटः अट् आट् एतावागमौ स्तस्तौ च पितौ ।

तृतीया और चकारात् द्वितीया भी हो । मन्त्रे—श्वेत उपपदक बहु धातुसे, उक्य उपपदक
शंस धातुसे तथा पुनस् उपपदक दा धातुसे ष्विन् प्रत्यय हो, मन्त्र में ।

श्वेतवह्नादीनां—श्वेतवह्नादिको जहाँ पदत्व की संभावना हो, वहाँ 'ष्विन्' का अपवादक
'डस्' प्रत्यय हो । अवे यजः—'अव' उपपदक यज् धातुसे ष्विन् प्रत्यय हो, मन्त्रमें ।

अवयाः—अवयाः, श्वेतवाः, पुरोडाः—ये तानोः कृतदीर्घं निपातन हो, वेदमें ।

लिङ्गर्थे—विध्यादि और हेतुहेतुमद्भावादि लिङ्गर्थमें धातुसे लेट् लकार हों, वेदमें ।

सिव्वहुलं—धातुसे सिप् प्रत्यय हो, लेट्के परे, बहुल प्रकारसे । इतश्च—लेट् लकार
सम्बन्धी 'तिष्' के इकारका लोप हो, परस्मैपदके परे, विकल्पसे । लेटोऽडाटौ—लेट्को अट्
तथा आट्का आगम हो, विकल्पसे और वे अट्-आट् पिय हों । सिव्वहुलं—सिप् प्रत्यय

बुद्धि । आ सविपदर्शसूनाय । सिप हलोपस्य चाभावे । पतगति दिद्युत् । प्रिय
सूर्ये प्रियो श्रुना भवाति ॥ स उत्तमस्य । ३।४।१८। लेट उत्तमस्य वा लोप ।
करवाव, करवाव । टेरत्वम् ॥ आत ऐ । ३।४।१५। लेट आकारस्य ऐ स्यात् ।
मुतेभिः सुप्रयसां मादयेते । आतामि आकारस्य ऐ ॥ वैतोऽन्यत्र । ३।४।१६। लेट
एकारस्य ऐ स्याद्वा । 'आत ऐ' इत्यस्य विषय विना । परानामीशैः । प्रहा गृह्यान्तैः ।
अन्यत्र किम् ? सुप्रयसां मादयेते ॥ उपसंवादाशङ्कयोश्च । ३।४।१८। पणबन्धे
आशङ्काया च लेट् । अहमेव परानामीशैः । नेज्जिद्वयान्तो नरकं पताम ॥ व्यत्ययो
बहुलम् । ३।१।८५। विकरणानां बहुलं व्यत्यय स्याच्छन्दसि । आण्डा शुष्मस्य
भेदति । भिनत्तीति प्राप्ते । जुरसां मरुते पति । भ्रियत इति प्राप्ते । इन्द्रो ब्रुस्तेन
नेपथु । नयतेल्लेट् । शप्तिषो द्वौ विकरणौ । इन्द्रेण युजा तर्ह्येम धृत्रम्, तरेमेत्यर्षः ।
तरतेर्विष्पादौ लिङ् । ठ शप् सिप् चेति प्रथो विकरणा ॥

सुप्तिरुपप्रहलिङ्गनराणां कालद्वलक्ष्यस्वरकर्तृयद्वा च ।

व्यत्ययमिच्छति शास्त्रकृदेषां सोऽपि च सिष्यति बाहुलकेन ॥

पतामेति । 'स उत्तमस्य' इति मलोप । भेदनीति । भिदिर्-विदारणे, रौघादिक-
रुमि प्राप्ते षप् । भ्रियत इति । मृङ्-प्राणत्यागे । 'तुदादिभ्यः' इति षो कृते 'रिङ्शाय-
गिङ्कृष्ट' इति रिङ्गादेशः, इयङ् । नेपथ्विति । नयतिव्यर्थः । द्वौ विकरणविति । अत्र षप्
न्याय्यः । सिप् तु बाहुलकात् । एतेन 'सेमामविङ्ङि' इत्यादि व्याख्यातम् । अव-
रचणे । अस्माहोति षापि प्राप्ते बाहुलकात् सिप् । हेपि परव प्ठुत्वम् । जरत्वम् ।
तर्ह्येमेति । तरुष मसिति जाते यासुट् 'लिङ्' सलोपोऽन्यस्य' 'नित्यं क्तितः' 'अतो येय'
'लोपो ष्योर्वलि' 'आद्गुणः' अप्रोप्रत्ययान्तस्य सिपं प्रत्यङ्गत्वात् 'सार्वधातुका' इति
गुणः प्राप्तेः । सिष्यन्तस्य षापि लृप्पृषगुणश्च प्राप्ते बाहुलकात् भवति । सुप्तिरिति ।

गित हो, बहुल प्रकारसे । स उत्तमस्य—लेट् लकार सबन्धी उत्तम पुरुषके सकारका लोप
हो, विकल्पसे । आत ऐ—लेट् लकारसबन्धी (आत्मनेपदके आताम् और आपाम् के आदि)
आकारको ऐकार आदेश हो । वैतोऽन्यत्र—'आत ऐ' इस सूत्रके विषयको छोड़कर लेट्
सबन्धी आकारको ऐकार आदेश हो विकल्पसे । उपसंवादा—उपसवाद, पणबन्ध (अर्पण,
बली मारना) और आशकार्मे लेट् लकार हो । व्यत्ययो—विकरणोंका व्यत्यय बहुल
प्रकारसे हो, भेदने ।

सुप्तिरुपप्रह—सुप्, लिङ्, उपमा (परस्मैपद—आत्मनेपद), रिङ्, पुषप, काङ्-

धुरि दक्षिणायाः । दक्षिणस्यामिति प्राप्ते । चूपालं ये अययुवायु तक्षति । तक्षन्तीति प्राप्ते । उपग्रहः—परस्मैपदान्मनेपदे । ब्रह्मचारिणमिच्छते । इच्छतीति प्राप्ते । प्रतीपमन्य ऊर्मिर्भ्यति । युध्यत इति प्राप्ते । मधोस्तुता इवासते । मधुन इति प्राप्ते । नरः—पुरुषः । अन्ना स वीरैर्दशभिर्विर्ष्याः । विष्यादिति प्राप्ते । कालः—कालवाची प्रत्ययः । श्लोऽग्नीनाघास्यमानेन । लुटो विषये लृट् । तमसो गा अदुक्षत् । अघुक्षदिति प्राप्ते । मित्रं वृयं च सूरयः । मित्रा वयमिति प्राप्ते । स्वरव्यत्ययस्तु वक्ष्यते, कर्तृशब्दः कारकमात्रपरः, तथा च तद्वाचिनां कृतदितानां व्यत्ययः । अन्नादाय । अण्विपये । अच् । यञो यशब्दादारभ्य 'लिङ्वाशिष्यद्' इति ङकारेण प्रत्याहारः ॥ तेषां व्यत्ययो 'भेदति' इत्यादिरुक्त इव ॥ छन्दस्युभयथा । ३।४।११।७। घात्वधिकारे उक्तः प्रत्ययः मर्वाधातुकार्धधातुकोभयसंज्ञः स्यात् ॥ वर्धन्तु त्वां सुष्टुतयः । वर्धयन्त्वित्यर्थः । आर्धधातुकत्वाण्णिलोपः ॥ विश्वंविद्रे ।

शास्त्ररूपाणिनिराचार्य एषां सुप्रभृतीनां व्यत्ययमिच्छति । सोऽपि तथाविधो बाहुलकेन सिद्धयति । बहुलस्य भावो बाहुलकम् । मनोशादिव्यायु बुभु । तत्पुनर्बहुलकवदस्य प्रवृत्तिनिमित्तं बहुर्यादानत्वं, चशब्दौ हेतौ । यस्मादेवम् प्रकारो व्यत्ययो बहुलग्रहणेनैव सिद्धयति, तस्माद्यबहुलग्रहणं कृतमित्यर्थः । विषया इति । 'यु मिश्रणे' विपूर्वः । आक्षिपि लिङ् । आयास्यमानेनेति । आङ्पूर्वाद्घातेः 'लृटः सद्वा' इत्यनेन शानजादेशः । 'स्यतासी' इति स्यः । 'आने मुक्' इति मुक् । मित्रवयमिति । दीर्घस्य ह्रस्वव्यत्ययः । स्वरव्यत्ययस्त्विति । गनामिच शिष्यसे इत्यत्र 'तुमयं' इत्यनेन वसेनि कृते 'ग्नित्यादि' इत्याद्युदात्ते प्राप्ते व्यत्ययेन भङ्योदात्तता । कृतदितानामिति । 'तेन दीर्घ्यति' इत्यादौ विधीयमानानां ठगादीनां देवनादिकर्तृत्वादेवमुक्तम् । न रिग्रहकारकवाचिरवेऽप्याग्रहः, कृतद्वितमात्रे तात्पर्यात् । तथा च किलो विहितो वृत्तिर्यच्छब्दादपि भवति । 'त्वं वेथ यति ते जातवेदः' । 'विश्वेदेवासो मरुतो वसिष्ठन' । अन्नादाय इति । अन्नमन्तीत्यन्नादस्तस्मै, अन्ने कर्मण्युपपदेऽदेः कर्मण्यणि प्राप्तेऽप्य ।

(कालवाची प्रत्यय), इल्, अच्, स्वर, कर्त् (कारकवाची कृत्—तदित) औैर 'यच्', (यच्के यकारते हेकार 'लिङ्वाशिष्यद्'के ङकार पर्यन्त 'यच्' प्रत्याहार) इनका शास्त्रकार वेदमें व्यत्यय चाहते हैं, और वह व्यत्यय बहुलप्रकारसे सिद्ध होता है ।

इन्द्रस्युभयथा—वेदमें घात्वधिकारोक्त जो ३ प्रत्यय है, वे सार्धधातुक और धात्व-धातुक उभयसंज्ञक हैं ।

सार्वधातुकत्वात् शन, श्भावश्च, हुशुबोरिति यण् ॥ तुमर्थे सेसेनसेऽसेन्कसे-
कसेनक्यैकध्वैन्कध्यैकध्वैन्शक्यैशक्यैन्तघैतघेड् तघेनः । ३।४।९। से, -वसे
राय । सेन्, ता वामेये । असे, शरदो जीवसे धा । असेन्, निस्वादाद्युदात्त ।
कसे, प्रेये । कसेन्, गंयामिच्च श्रियसे । अक्यै-अक्यैन्, जुठरं पूणध्यै । पक्षे आगु-
दात्तम् । कध्यै-कध्यैन्, आह्वध्व्यै । शक्यै, राधम, सहमाद्यध्व्यै । शक्यैन्, वायवे
पिनध्व्यै । तवै, दातुवा ड् । तवेङ्, सूतेने । तवेन्, कर्तव्ये ॥ प्रयैरोद्ध्व्यै अश्रयियैश्च
। ३।४।१०। एते निपात्यन्ते । प्रयातुं-रोद्धुम्, अव्ययितुमित्यर्थ ॥ इशे विखये च
। ३।४।११। निपातौ । द्रष्टुं, विख्यातुमित्यर्थ । कृत्यार्थे तवैकेन्केन्यत्वनः
। ३।४।१४। धातोरेते स्यु ॥ तवै । अन्वतवै । केन् । अवगाहे । केन्य । दिदृक्षेप्य ।

छन्दस्युभयभेति । लिङ्गः सार्वधातुकमज्ञाप्यस्ति, तेन पाप्मुट इत्यादेश, धलि लोप ।
तुमर्थे । तुमुनोऽर्थस्तुमर्थो भाव । ननु 'कर्तरि कृत्' इति घचनात् कर्तरि तुमुनो
विधानात् क्य भावोऽर्थ इति चेच्छृणु । 'अभ्ययकृतो भावे' इति घचनात्तुमुनो भावे
विधानात् । तुमर्थे पदार्थान् प्रत्यया भवन्ति । वसे इति । वष' से कुत्वे परत्वम् । कप
सयोगे च । एषे इति । इणो गुण । नकारो 'भिनत्यादिर्नित्यम्' इत्याद्युदात्तार्थः ।
प्रेडे इति । इण से क्तिवाद्गुणे आङ्गुण । श्रियसे इति । इयङ् तिक्वादाद्युदात्त । ईह
मन्त्रे मध्योदात्त पठ्यते । तत्र बाहुलकाग्रयणस्वरौ बोध्य । आहुवष्ये इति । लुहोते-
रुवङ् । मादस्यै इति । मदी ह्ये, ष्यन्ताच्छ्रयैप्रत्यय । तस्य भाववाचित्सार्वधातुक-
त्वमसार्वधातुके यकि प्राप्ते व्यत्ययेन दाप् गुणायादेशौ । विरयै इति । अत्रापि यवप्र-
संगे व्यत्ययेन दाप् । 'पाप्मा' इति पिक्वादेशः । दातवा उ इति । ददास्तेस्तवै आयादेते
'लोप शाकल्यस्य' इति यलोपः । सूत्रे इति । द्वित्वाच्च गुण । कर्तव इति । कृजो
गुणः । कर्तुमित्यर्थ । प्रयै । प्रपूर्वाच्चाते कैप्रत्यय । रुहेरिष्यै प्रत्यय । मन्पूर्वाङ्ग-
धेय । इशे । योगविभागश्चिन्त्यप्रयोजन । इशे क्वातेश्च कैप्रत्यय । क्तिवाद् इशेन
गुण । क्वातेरालोपश्च । कृत्यार्थे । कृत्यानामर्थो भावकर्मणी, तयोरेवेति कृत्यानां भाव-
कर्मणोर्विधानात्, तत्र एते प्रत्यया स्यु । यद्यपि कृत्यानामर्थो 'अभ्ययमे' इत्यादौ

तुमर्थे—तुमर्थे (मावार्थे) में धातुसे से, सेन्, असे, असेन्, वसे, कसेन्, कध्यै,
कष्येन्, कध्यै, कध्यैन्, शक्यै, शक्यैन्, तवै, तवेङ् और तवेन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

प्रयै रोद्ध्व्यै—प्रयै आदि तुमर्थमें भी निपातित हों, छन्दमें । इशे विखये—इशे,
विरये इन दोनों का तुमर्थमें निपातन हों, वेदमें । कृत्यार्थे—कृत्य प्रत्यय के मर्थमें धातुसे
तवै, केन्, केन्य और त्वन् प्रत्यय हों, वेदमें ।

त्वन् । कर्त्तव्यम् ॥ सृष्टिवृद्धोः कसुन् । ३।४।१७। तुमर्थे । पुरा कूरस्य ऋषो
 विरुषिन् । पुरा जनुभ्यश्चातृदः ॥ प्रकृत्यान्तःपादभ्यपरि । ६।१।११५। ऋषाद-
 मध्यस्थ एद् प्रकृत्या स्यादति परे, न तु वकारयकारपरि । उपप्रयन्तो अर्ध्रम् ।
 सुजाते अर्ध्रसृष्टे । अन्तःपादं किम् ? एताम एतेऽर्चन्ति । अव्यपरं किम् ?
 तेऽवदन् ॥ अव्यादवद्यादवक्रमुखतायमवन्त्ववस्युषु च । ६।१।११६। एद्
 व्यपरिऽप्यति एद् प्रकृत्या । वसुभिर्नो अव्यात् । मित्रमहो अव्यात् । मा शिवातो
 अवक्रमुः । ते नो अद्रत । शतधारो अयं मणिः । ते नो अयन्तु । कुशिकासो

कर्तापि यदा स्तानीयमिष्यादां करणादिरपि, तथापि न तत्र ह्यस्वेन कर्तादिष्ट
 विधानं, किं तर्हि स्वरूपेण । ह्यतया विधानंतु भावकर्मणोःरेवेति भावः । यवगादेऽति ।
 गाहू विलोडने । दिदृक्षेण्य इति । दृशेः सकृन्ताकेन्यः । अतो लोपः । कर्त्तव्यमिति ।
 ह्यः रश्नु । ह्यस्यमित्यर्थः । यद्यपि 'तुमर्थं संसेत्र' इत्यनेन तुमर्थं तवै विहितस्तथापि
 भादभिष्टेऽपि कर्मकारके तवै यथा स्यादित्येवमर्थम् । सृष्टिवृद्धोः । छुष्व्-गर्तो ।
 उत्तृदिह्-हिंसानादरयोः । भावलक्षणेऽर्ध्रं वर्तमानवोः सृष्टिवृद्धोःसुद्धं ऋषुश्च । ऋषुश्च
 इति । गमनादित्यर्थः । प्रकृत्या । पादस्य मध्ये ह्यन्तःपादमित्ययययीभावः । अन्तरि-
 त्यययनधिकरणदाकिप्रधानं मध्यमाचष्टे । पादश्चेह ऋषाद एव गृह्यते न श्लोकस्य ।
 'वा छन्दसि' इत्यतो मण्डूकप्लुत्या छन्दसीति वर्तते । तेनास्य वैदिकत्वं सम्पद्यत
 ह्यस्याशयेनाह-ऋषादमध्यस्थ इति । 'पृष्ठः पदान्तात्' इति सूत्रादेहः इति पञ्चम्यन्त-
 मनुवृत्तं प्रथमया विपरिणम्यतेऽन्यस्यः कार्यिणोऽस्मभवादिशयभिप्रेत्याह-एकः प्रकृ-
 त्येति । सन्धिरूपं विकारं न यातीत्यर्थः । उपप्रयन्तो अर्ध्वरमिति । 'पृष्ठः पदान्तादिति'
 इति प्राप्तम् । अन्तःपादं किमिति । ऋषीत्येव किं नोक्तमित्यर्थः । एतेऽर्चन्तीति । 'कना
 मती कुत एतास एतेऽर्चन्ति शुष्णं वृषणो वसूया इति । अत्र एते इति पादस्यान्ते
 पुङ्गवित्, अकारश्च परस्य पादस्यादाविति तन्निमित्तिनिमित्तयोः पादामभ्यस्वरूपमिति
 सत्यपि ऋत्वे न प्रकृतिभावः । अव्यात् । एषामनुकरणश्चासुदन्नेन समस्तः । एव
 रक्षणे, आशीर्लिङ् । अवद्यादिति पञ्चम्येकवचनान्तम् । अवक्रमुरिति । अवपूर्वस्य ऋषेर्लि-

सृष्टिवृद्धोः—तुमर्थं (भावलक्षण) में वर्तमान सृष्टि और वृद्ध धातुसे कसुन् प्रत्यय-हो,
 वेदमें । प्रकृत्यान्तः—ऋक् पाद मध्यस्थ जो एद्, वह अत्के परे प्रकृतिवत् रहे । किन्तु
 वकार-यकार परक अत्के परे यह प्रकृतिभाव नहीं हो ।

अव्यादवद्या—अव्यात्, अवद्यात्, अवक्रमु, अद्रता, अयन्, अयन्तु और षदस्य
 सम्बन्धी वकार-यकार परक अत्के परे एद् प्रकृतिवत् रहे, वेदमें ।

अवस्यर्ष ॥ सुपां सुलुक्पूर्वसवर्णाच्छेयाडाड्यायाजाल् ॥ ७।१।३९। ऋज्व
सन्तु पन्या । पन्यान इति प्राप्ते । परमे व्योमन् । व्योमनीति प्राप्ते ॥ धीती मृती
मुष्टृती । धीन्या मन्या मुष्टृत्येति प्राप्ते पूर्वसवर्ण । या सुरया रूथीर्त्तोभा । यौ
सुरयाविति प्राप्ते आ । नताद् वान्नगम् ॥ नतयिति प्राप्ते आत् । यादेव विद्यतास्वा ।
यमिति प्राप्ते । न युष्मे वाजबन्धव, अस्मे इन्द्रावृहस्पती, युष्मासु अस्मभ्यमिति
प्राप्ते शे । उरया, धृष्णया । उरया धृष्णनेति प्राप्ते या । नामा पृथिन्या । नामा-
विति प्राप्ते डा । ता अनुष्ठयोच्यावयतात् । आदो डया । साधुया, साध्विति प्राप्ते
याच् । वसन्ता यजेत । वसन्त इति प्राप्ते आल् ॥ (इयाडियाजीकाराणामुपसं-
ख्यानम्) । उर्विया । उरयोति प्राप्ते इया । सुक्षेत्रिया । सुक्षेत्रिणेति प्राप्ते डियाच् ।

व्यसि द्विवचनप्रकरणे छन्दसि वा वचनम् इति द्विवचनाभावे रूपम् । अत्रतेति ।
घृष्टृवृजो 'मन्त्रे घस-' इति श्लेर्लुक् । 'आमनेपदेषु' इति ऋस्य अदादेश । भयमिति ।
इदम् सौ 'इदोऽय् पुसि' । अवतेर्लोर्त्—अवन्तु । अवस्यव इति । अवेरसुन् औणादिक ।
तत् 'वयष्' । 'वयाच्छन्दसि' इत्यु । सुपांम् । सुपां म्यानेसुलुक्पूर्वसवर्णांआआत्तोया-
डाड्यायाच् आल प्ते आदेशा । स्युरछन्दसि । पन्या इति । 'व्यस्ययो बहुलम्' इत्येव
सिद्धमिदम् । उक्त्वा हि तत्र 'सुसिद्धवमह' इत्यादि तस्यैवाय प्रपञ्च । धीनीत्यादि ।
धीतीमृतीमुष्टृतीशाब्देभ्यस्तृतीयैकवचनस्य पूर्वसवर्ण ईकार. प्रमाणत आन्तर्यात्
सवर्णदीर्घत्वम् । यौ सुरयाविति प्राप्ते आ । अनेनादित्यत्राकारोऽपि प्रक्षिप्यत इति
दर्शितम् । नतादिति । नतशब्दादम् । नरयादादेशः । 'न विमर्क्षी तु' इतीत्सजाप्रति-
येष' । या देवेत्यादि । यश्चब्दादम् । न युष्मे इति । युष्मद् सप्तमीबहुवचनस्य शे
आदेशः । शेषे छोप । अस्ते इति । शे इति प्रगृह्यत्वाद्यादेशाभावः । नामा इति ।
दित्वाहितोप । ता अनुष्ठयेति । पद्विशतितरस्य बहुल्ये इति प्रक्रम्य इदमभ्वयुर्मैषे
पठितं, ता बहुली' अनुष्ठया अनुष्ठानेन अनुक्रमेण गणनया गणयित्वा उच्यावयतात्
भवान् विशसन करोतु । पृथक् करोतु भवानित्यर्थ । साधु इति प्राप्ते इति । सोर्लुकि
प्राप्ते इत्यर्थः । वसन्ते इति प्राप्ते आल् इति । पूर्वसवर्णे तु 'अतो गुणे' इति स्यात् ।
उर्वियेति । उरुशब्दात्तृतीयैकवचनस्येयादेशः । सुक्षेत्रियेति । सुक्षेत्रिन्सद्वात्तृतीयै-

सुपां सुलुक्—'सप्' के स्थानमें 'सु' लुक्, पूर्वसवर्ण (दीर्घ), आ, आत्, शे, या, डा,
या, आत् और आल् आदेश हो, वेदमें ।

इयाडिया—सप्के स्थानमें इया, डियाच् और ईकार आदेश हो, वेदमें ।

‘दृतिं न शुष्कं सरसी शयानम्’ । सरस्यामिति प्राप्ते ई ॥ आज्ञसेरसुक् । ७।१।
 ५०। ब्राह्मणासः ॥ (तन्वादीनां छन्दसि बहुलम्) तन्वं पुपेम, तनुवं पुपेम ।
 विध्वं परय । विधुवं परय । स्वर्गो लोकः । सुवर्गो लोकः । व्यम्बकम् ।
 त्रियम्बकम् । वरेण्यम् । वरेणिम् । ‘अतो भिस ऐम्’ ॥ बहुलं छन्दसि । ७।१।१०।
 अग्निर्देवेभिः ॥ मन्त्रेष्वाल्यादेरात्मनः । ६।४।१४१। आत्मन्शब्दस्यादेर्लोप आ-
 ट्ठि । त्मना देवेषु । अपांभि ॥ (मासश्छन्दसीति वक्तव्यम्) । माङ्गिः । शर-
 ङ्गिः ॥ प्रसमुपोदः पादपूरणे । ८।१।६। एपां द्वे स्तः पादपूरणे । प्रपायमग्निः ।
 संसमिधुवसे । उपां मे परांश्श । किं नोदुदु हर्षसे ॥ पृथ्याः पतिपुत्रपृष्टपारप-
 दपयस्पोपेषु । ८।३।५३। विसर्गस्य सः स्यात् । वाचस्पतिं विश्वकर्माणम् । दिवस्पु-
 त्रायु सूर्याय । दिवस्पृष्टं भन्दमानः । तमसस्पारमस्य । परीवीत । इलस्पदे ।
 दिवस्पयो दिधिपाणाः । रायस्पोपं यजमानेषु । इति वैदिकप्रकरणम् ।



कवचनस्य डियाजादेशः । द्वित्वाट्टिलोपः । आज्ञसेः । जसेरिति, पूर्वाचार्यानुरोधेन
 निर्देशः । ब्राह्मणासः । असुकि कृते ससः सकारस्य श्रवणम् । असुकः सकारस्य
 विसर्गः । तन्वादीनाम् । बहुलमियदुवहादेशः स्याच्छन्दसि । तनुवमिति । अधातुत्वाद्-
 प्राप्त उचळ् विधीयते । तन्वमिति । ‘वा छन्दसि’ इत्यभि पूर्वस्थाभावे यण् । व्यम्बकमि-
 ति । त्रीणि अस्यकानि नेत्राणि यस्यासौ व्यम्बको रुद्रः । माङ्गिरिति । ‘पह्लोमास’
 इति मासश्छन्दस्य मासश्चादेशः । प्रसमुपोदः पादपूरणे । सभाहारङ्गद्वैः । समासान्त-
 विधेरनिरयवाद् ‘इन्द्राच्चुवपहान्तात्’ इति न टच् । इति वैदिकप्रकरणम् ।



आज्ञसे—अवर्णान्त अङ्गसे पर जसुको असुक् का आगम हो । तन्वादीनां—तन्वादिको
 वेदमें इयच्-उवच् आदेश हो । बहुलं—वेदमें अदन्त अङ्गसे पर मिसुको ऐस् आदेश हो,
 बहुल प्रकारसे । मन्त्रेष्वाल्यादे—मन्त्रमें आत्मन् शब्दके आदिका छोप हो ।
 मासश्छन्दसि—वेदमें मास् शब्दको तकारान्त आदेश हो, मादि-प्रत्ययके परे ।
 प्रसमुपोदः—पादपूरणार्थक प्र, सम्, उप और उत्को द्वित्व हो, वेदमें । पृथ्याः—
 वेदमें पृथो संबन्धी विसर्गको सरव हो, पति, पुत्र, पृष्ट, पार, पद, पयस् और पोमके परे ।
 इत्प्रकार ‘इन्दुमती’ टीकामें वैदिकप्रकरण समाप्त हुआ ।



अथ स्वरप्रकरणम्

घातोः । ६।१।१६२। अन्त उदात्त स्यात् ॥ अनुदात्तं पदमेकवर्जम् । ६।
 १।१।५८। परिभाषेयं स्वरविधिविषया । यस्मिन्पदे यस्योदात्त स्वरितो वा विधीयते
 तमेकमत्र व्रजयित्वा शेषं तत्पदमनुदानाच्च स्यात् । गोपार्थतं न । अत्र 'सना-
 यन्ता घातव' इति घानुच्चे घानुस्वरेण यञ्चराकार उदात्त । शिष्टमनुदात्तम् ॥
 उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः । ८।४।६६। इति तकाराकार । स्वरित ॥ स्वरि-
 तात्संहितायामनुदात्तानाम् । १।२।३९। एकश्रुति स्यात् । इति नकाराकार
 प्रथय ॥ अनुदात्तस्य च यत्रोदात्तलोपः । ६।१।१६१। यस्मिन्ननुदात्ते उदात्तो

अनुदात्त पदम् । परिभाषेयमिति । नाधिकारोऽस्वरितत्वात् । 'आद्युदात्तश्च', 'समानो
 घरे शयित शो शोदात्त' इत्यादीनामसग्रहश्च स्यात् । परिभाषायालिङ्गापेक्षायामाह-
 स्वरविधीति । सूत्रे अनुदात्तशब्दोऽज्ञातजन्त, पदसामानाधिकरण्यात् । अत्रानुदात्त-
 स्य क्रियमाणत्वात् तद्विध उदात्त स्वरितो वा वज्यत इत्याह—तमेकमिति । यत्तदो-
 नित्यसम्बन्धाद्यस्योदात्तस्वरितविधानतस्यैव वर्जनम् । एकग्रहणं विधीयमानस्योपल-
 चनम् । तेन 'तवैघान्तश्च युगपत्' इति द्वयोर्वर्जनम् । इत्याद्युदस्वनी इत्यत्र 'देवताइन्द्रे-
 च' इति सूत्रेण पदद्वयस्यापि प्रकृतिस्वरे विधेये श्रवणावर्जनम् । गृहस्वपतिशब्दो द्वि-
 धनस्वपत्यादिस्वादाद्युदात्त इति स्थितम् । गोपार्थमिति । गुप इत्यस्य 'घातो' इत्यन्त
 उदात्त । तत आद्य प्रत्यय 'आद्युदात्तश्च' इति प्रत्ययस्वरेणाद्युदात्त । तत 'सना-
 यन्ता' इति घानुस्वजायो 'घातो' इति यकाराकार उदात्त । स च प्रागुपयोददात्तयो-
 सतोः पश्चात्प्रवृत्तत्वात्सन्ति शिष्ट अतो यलघान् । तस्य । 'अनुदात्तो सुप्पिती' इत्यने-
 नानुदात्तेन शबकारेण सह 'अतो गुणे' इति पररूपे कृते 'एकादेश उदात्तनोदात्त'
 इत्युदात्तः । यसस्तामादेशः । तस्य 'तास्यनुदात्तेन्द्रियुपदेशात्' इत्यनेनाद्युपदेशपर-
 त्वादनुदात्तत्वम् । तस्य 'उदात्तादनुदात्तस्य' इति स्वरितः । उदात्तादनुदात्तस्य । अत्र
 'तयोद्वर्वाववि' इत्यथ संहितायामित्यनुवर्तते, तेन पदकालेऽनुदात्तमेव । स्वरिति ।
 अनुदात्तानमिति । जातो बहुवचनम् । तैदेकस्य द्वयोर्वहूनां च भवति । एकस्य-
 पचति । द्वयो 'अग्निमीळे पुरोहितम्' इत्यादि । अनुदात्तस्य । देवशब्दोऽच्प्रत्ययान्त

घातो—घानुका अन्त उदात्त हो । अनुदात्त—जिस पदमें जिस (अच्) को उदात्त
 अथवा स्वरित विधान किया है, उस पद ही 'अच्' को छोड़कर उस पदके अवशिष्ट समो
 अच् अनुदात्त होते हैं । उदात्तादनुदात्तस्य—उदात्तसे पर जो अनुदात्त, वह स्वरित हो ।
 स्वरितात्—स्वरितमे पर अनुदात्तको एकश्रुति (प्रथय) स्वर हो, संहितामें ।
 अनुदात्तस्य च—जिस अनुदात्त अच्के परे उदात्त अच्का जोप हुआ हो, उस
 अनुदात्तको उदात्त आदेश हो ।

लुप्यते तस्योदात्तः । देवीं वाचम् । अत्र ङीबुदात्तः ॥ आद्युदात्तश्च ।३।१।३।
 प्रत्ययस्याद्युदात्तः स्यात् । कर्तव्यम् ॥ अनुदात्तौ सुप्पितौ ।३।१।४।
 पूर्वस्यापवादः । यंहस्य । न यो युच्छति । शप्तिपोरनुदात्तत्वे स्वरितप्रचयौ ॥
 चितः ।६।१।१६३। अन्त उदात्तः स्यात् ॥ (चितः सप्रकृतेर्वहकजर्थम्) ।
 चिति प्रत्यये सति प्रकृतिप्रत्ययसमुदायस्यान्त उदात्तो वाच्य इत्यर्थः । नभन्ता-
 मन्युके समे । युके सरस्वतीमुनु । तृकत्सुते ॥ तद्धितस्य ।६।१।१६४।
 चितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः । पूर्वेण सिद्धे वित्स्वरवाधनार्थम् । कौञ्जायनाः ।
 कितः ।६।१।१६५। कितस्तद्धितस्यान्त उदात्तः । यदाग्नेयः ॥ तित्स्वरितम्
 ।६।१।१८५। क नूनम् ॥ उपोत्तमं रिति ।६।१।२१७। रित्प्रत्ययान्तस्योपेतम-
 मनुदात्तं स्यात् । यदाहवनीये ॥ ङित्यादिर्नित्यम् ।६।१।२९७। ङिदन्तस्य
 निदन्तस्य चादिरुदात्तः । यस्मिन्विश्वानि पौस्या । पुंसः कर्मणि ब्राह्मणादित्वात्थ्यन् ।

त्वात् 'चितः' इत्यन्तोदात्तः । पचादिषु देवदिति पाठात् 'टिड्ढा' इति ङीप् । तस्य
 'अनुदात्तौ सुप्पितौ' इत्यनुदात्तत्वे 'यस्येति च' ह्यकारलोपः । कर्तव्यमिति । तस्यप्र-
 त्ययः । तस्यतस्तु तित्वात्स्वरितो वक्ष्यते । युच्छतीति । युच्छ प्रमादे । 'धातोः' इत्य-
 न्तोदात्तः । ततः परः शप् 'उदात्ताद्युदात्तस्य' इति स्वरितः । 'स्वरितासंहितायामनु-
 दात्तानाम्' इति तिपः प्रचयः । चितः सप्रकृतेरिति । नन्विदं कथं लभ्यमिति चेच्छृणु ।
 चित इत्यवयवादेशा पृष्ठी, न कार्थिणः । चिद्योऽवयवस्तस्य सम्यन्धी यः स कार्थी ।
 अथवा चिदस्यास्ति स चितः । अर्शभादेराकृतिगणरवाद्च् प्रत्ययः । पृष्ठथर्थे प्रथमा ।
 तेन चिद्धतः समुदायश्चेत्यर्थः । अत्र च लिङ्गमकचश्चिक्करणम् । अन्यथा तस्यैकाच्चा-
 दनर्थकं तस्यात् । अन्यके इति । 'अग्न्ययसर्वनाम्नाम्' इत्यकच् । ततः परा दिरुदात्ता ।
 एवं यके तकदित्यत्रापि यत्तच्छब्दाद्कच् । बहुच उदाहरणं तु धहुपटवः इत्यादि ।

आद्युदात्तश्च-प्रत्ययके आदि उदात्त हो । अनुदात्तौ-सुप् तथा पित् प्रत्यय अनुदात्त हो ।

चितः-चितके अन्त उदात्त हो ।

चितः सप्रकृतेः-चित् यदि प्रत्यय हो तो, प्रकृति-प्रत्यय समुदायके अन्त उदात्त को
 ऐसा (बहुच् और अकच् प्रत्ययके लिये) कहना चाहिये ।

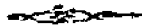
तद्धितस्य-तद्धितसम्बन्धी चित्का अन्त उदात्त हो । कितः-तद्धितसम्बन्धी कित्का
 अन्त उदात्त हो । तित्स्वरितम्-तित् स्वरित हो ।

उपोत्तमं-रित् प्रत्ययान्तका उपोत्तम (अन्त्य अच्से पूर्व अच्) अनुदात्त हो ।

ङित्यादिर्नित्यम्-ङिदन्त और निदन्तका आदि उदात्त हो ।

सुतेदधिष्व नूधन । चायेतेरसुर । चायेरजे ह्रस्वधेति चकारादमुनो नुडागम ॥
ल्लिति । ६।१।१९३। इत्यादिप्रत्ययात्पूर्वमुदात्त स्मात् । चिकीर्षक । अत्र ईकारस्थो-
दात्तता । इत्यादिप्रयोगमनुष्ठत्यान्वाख्यातव्यम् । इति स्वरप्रक्रिया ॥

एषा धरदराजेन वालानामुपकारिका ।
अकारि पाणिनीयानां मध्यसिद्धान्तकौमुदी ॥ १ ॥
कृतिर्वरदराजस्य मध्यसिद्धान्तकौमुदी ।
तस्याः संख्या तु विद्येया ऋषाणकरचक्षुभिः ॥ २ ॥
इति श्रीवरदराजकृता मध्यसिद्धान्तकौमुदी समाप्ता ॥



चिकीर्षक इति । सन्नन्ताण्युल् तस्याकादेश । सनोऽतो लोप । ककारेकार वदात्तः ।
न चाल्लोपस्य स्थानिचस्वम्, स्वरविधौ तन्निषेधात् ।

इति श्रीकौण्डिन्यकुलवत्सजोशीर्युपाह्वदामोदरात्मजपण्डितसदाशिव
शास्त्रिकृतेषु 'सुधा' टीका समाप्ता ।



निति—लित् प्राययके परे पूर्व उदात्त हो ।

ग्रन्थकार महामहोपाध्याय श्री वरदराज मट्टाचार्येने वालकोंके उपकारार्थ पाणिनीय
ध्याकरणको सरलतासे बनलनेवाली इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' को बनाया है ॥ १ ॥

वरदराज मट्टाचार्य कृत इस 'मध्यसिद्धान्तकौमुदी' की ग्रन्थसख्या अनुष्ठुप् छन्दके
मानसे ३२५० है ॥ २ ॥

चन्द्रचन्द्रमरीचिचारुवदनी विम्बोष्ठकान्तामणि
भक्तिज्ञानप्रसादितःऽऽशुगिरिजा संराजमानाऽवनिम् ।
गुच्छां स्वच्छमना निधाय हृदये पर्यु समस मुद
तीर्थद्वारप्रयागदेवसरितस्तीरे षपुर्यां जहौ ॥
सेयं स्वर्गसुधागलन्मधुरतां मन्द पिबन्तीत्यहो ?
स्वीयोत्पत्तिमुक्तीतिपूतमिथिला सीतासमा धीमती ।
नाम्ना 'चेन्दुमती' प्रसज्यदना दिव्यप्रभावा चिरं
लोकानामनुरञ्जिनी विलसतु स्वर्गे सुधावर्षिणी ॥

इति 'वरमहा' मण्डलान्तर्गत 'तरीनी' ग्रामवासिशास्त्रार्थदिवाकरपण्डितराज,
धीजयदत्तसाक्षरार्मजपण्डितमीमंशनन्तलाणसाशर्मसूनुना पाण्डितश्रीराम
चन्द्रसाग्वाकरणाचार्येण विरचिता 'चेन्दुमती' टीका समाप्ता ।



लिङ्गानुशासनम्

अथ स्त्रीलिङ्गाधिकारः

॥*॥ लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे एते ॥ ऋकारान्ता मातृदुहितृस्व-
सृयावृननान्दरः ।१। एते पञ्चैव स्त्रीलिङ्गाः ॥ अन्यूप्रत्ययान्तो धातुः ।२।
अनिप्रत्ययान्त ऊप्रत्ययान्तश्च धातुः द्वियां स्यात् । अवनिः । चमूः ॥ मिन्य-
न्तः ।३। मिनिप्रत्ययान्तः द्वियाम् । भूमिः । ग्लानिः ॥ क्तिन्नन्तः ।४। कृतिरि-
त्यादि ॥ ईकारान्तश्च ।५। लक्ष्मीः । ऊढायन्तश्च ।६। कुरुः । अजा । स्वन्त-
मेकाक्षरम् ।७। स्त्रीः । भूः ॥ विशत्यादिरा नवतेः ।८। इयं विशतिः ॥ तल-

लिङ्गम् । स्त्री । अधिकारसूत्रे इति । उभयोरधिकारसूत्रवेदपि 'लिङ्गम्' इत्याशास्र-
मातेः, द्वितीयस्तु 'ताराधारा' इति यावदिति विवेकः । 'उणादयो बहुलम्' इति संगृही-
तसाधुरवकानां व्युत्पन्नत्वं शास्त्रान्तरे प्रसिद्धमिति तदभिप्रायेणाह-अन्यु इत्यादि । अव-
निः । 'अर्तिस्तृप्त्यन्यन्यपयत्रितृभ्योऽनिः' इत्यनिः । चमूरिति । 'कृषिचमितनिधनिसर्जि-
म्य ऊः' इत्यूः । 'ः', अत्र वकारस्य 'छ्वोः' इत्यूट् । मिन्यन्तः । भूमिः । 'नियो मिः'
इत्यतो मिरित्यनुवर्त्य विहितो 'भुवः कित्' इति निः । ग्लानिः । 'बहिश्चिद्युद्युगलाहा-
त्वरिभ्यो नित्' इति निः । ईकारान्तश्च । अत्र ईकारः प्रत्यय एव पूर्वोत्तरसाहचर्यात् ।
लक्ष्मीरिति । अत्र 'लक्ष्मीट् च' इति सूत्रे 'अवितृस्तृत्तन्त्रिम्य ईः' इत्यतः ईरित्यस्यानु-
वृत्त्या ईकारः प्रत्ययः । ऊढायन्तश्च । ऊढुतः' इत्यूट् । आवग्रहणेन टाप् टाप् चार्पा
ग्रहणम् । स्वन्तमेकाक्षरम् । ईकारोऽत्रप्रत्ययः ऊकारसाहचर्यात् । विशत्यादिरानवतेरिति ।

लिङ्गम्—लिङ्गानुशासन समासिपर्यन्त इति सूत्रका अधिकार है । 'स्त्री—'ताराधारा' इति
स्त्र्यधिकारान्त सूत्र पर्यन्त इति सूत्रका अधिकार है । ऋकारान्ता—मातृ, दुहितृ, स्वसृ,
यातृ, ननान्द—ये पाँचो ऋकारान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । अन्यूप्रत्ययान्तो—'अनि' प्रत्ययान्त
और 'ऊ' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिङ्ग हैं । मिन्यन्तः—'मि' और 'नि' प्रत्ययान्त धातु
स्त्रीलिङ्ग हैं । क्तिन्नन्तः—'क्तिन्' प्रत्ययान्त धातु स्त्रीलिङ्ग हैं । ईकारान्त—'ई' प्रत्ययान्त
धातु भी स्त्रीलिङ्ग हैं । ऊढायन्त—'ऊढ्' प्रत्ययान्त और आप् (टाप् तथा चाप्)
प्रत्ययान्त स्त्रीलिङ्ग हैं । स्वन्तमेका—'ई' और 'ऊ' प्रत्ययान्त एकाक्षर शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ।
विशत्यादि—विशति (और विशत्यन्त) से लेकर नवति (और नवत्यन्त) पर्यन्त
संख्यानाचक शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं । तलन्तः—'तल्य भावस्त्वतलौ' इति सूत्र-विहित 'तल्'
प्रत्ययान्त शब्द स्त्रीलिङ्ग हैं ।

न्तः । १२। शुक्रता ॥ भाःस्रुफस्रग्दिगुष्णिगुपानद् । १३०। इय भाः ॥ स्थूणोर्णे
नपुंसके च । १२१। स्थूणा, स्थूणम् ॥ शष्कुलिराजिकुटयशनिवर्तिभुकुटि-
भुटियलिपङ्कय । १२२। एतेऽपि स्त्रियां स्यु । इय शष्कुलि ॥ अप्सुमनस्समा-
सिकतावर्षाणां बहुत्वं च । १२३। अयादीना पद्यानां स्त्रीन्व स्याद्बहुत्वं च । आप
इमा ॥ ताराधाराज्यांस्त्रादयश्च । १२४। इयं तारा ॥ इति स्यधिकार ॥

अथ पुंलिङ्गाधिकारः

पुमान् । अयमधिकार ॥ घञवन्तः । १। पाक । कर । भावार्थ एवेदम् ॥
घाञन्तश्च । २। विस्तर । चय ॥ भयलिङ्गभगपदानि नपुंसके । ३। भय-
विशयाद्य 'पङ्क्तिर्विनाति'-इति सूत्रनिर्दिष्टा । तल्लय । 'तस्य भावस्वतल्लौ' इति
सूत्रविहिततल्लप्रत्ययान्त स्त्रियां स्यात् । मा स्रुक्स्रगिति । एते स्त्रियां स्युः । इयं
मा इत्यादि । स्थूणोण इति । एते स्त्रियां क्लीबे च स्तः । इति स्यधिकार ।

भावार्थ एवेति । भावे यो घञ् स्रन्तस्य पुंस्वभावियुक्तम् । नपुंसकत्वविशिष्टे भावे
कस्ययुद्ध्या, स्त्रीस्त्वितिष्टे तु क्लिष्टादिभिर्वाधेन परिशेषात् । कर्मादौ तु घञाद्यन्तम-
पि विशेष्यलिङ्गम् । तथा च भाष्यम्—'सम्बन्धमनुवर्तिष्यत्' इति । भयलिङ्गेत्यादि ।

भास्रुक्—मास् (तेज), स्रुच् (स्रुक) स्रग् (भाला), दिश् । (विद्या), उष्णिह्
(साफा-पगड़ी) और उपानद् (जूता) शब्द क्लौगि होते हैं । स्थूणोर्णे—स्थूण-
(लौहमयी प्रतिमा) और ऊर्ण (ऊन) शब्द नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग भी होते हैं ।

शष्कुलि—शष्कुलि (पूषी), राभि (बकि), कुटी (कुटी), अशनि (बन्न),
वर्ति (बत्ती), भुकुटि (भौंहें), भुटि (कमी), बकि (पूजा), और पक्ति (खेणी),
शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं । अप्सुमनस्—अप् (जल), सुमनस् (पुष्प) समा (वर्ष) और
सिकता (बालू) शब्द स्त्रीलिङ्ग और बहुवचनान्त ही होते हैं । ताराधारा—तारा,
धारा, ज्योत्स्ना (प्रभा, बिम्बा, शोभा) आदि शब्द स्त्रीलिङ्ग होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें ङिगानुशासनका स्यधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

पुमान्—पुंलिङ्गाधिकारान्त 'इस्तकुन्ता' सूत्र प्रयेन्त इस सूत्रका अधिकार है ।

घञवन्तः—भावार्थक 'घञ्' प्रत्ययान्त और 'अप्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग हों ।

घाञन्तश्च—'घ' प्रत्ययान्त, और अच् प्रत्ययान्त शब्द पुंलिङ्ग होते हैं ।

भयलिङ्ग—भय, लिङ्ग, भग और पद शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं ।

नोट—'घाञन्तश्च' इस सूत्रका यह सूत्र अपवादक है । (इसीकिये पुंलिङ्गाधिकार में

मित्यादि ॥ नङन्तः । ४। पुंसि स्यात् । यज्ञ इत्यादि ॥ याच्ञा स्त्रियाम् । ५। पूर्व-
स्यापवादः ॥ ध्यन्तो घुः । ६। आधिः । निधिः ॥ इपुधिः स्त्री च । ७। चात्पुंसि ।
इयमयं वा इपुधिः ॥ द्यौः स्त्रियाम् । ८। क्रतुपुरुषकपोलगुल्फमेवाभिधा-
नानि । ९। क्रतुरध्वरः ॥ अभ्रं नपुंसकम् । १०। पूर्वस्यापवादः ॥ उकारान्तः
। ११। अयं पुंसि स्यात् । प्रभुः । विभुः ॥ घेत्तुरञ्जुकुहुसरयुततुरेणुप्रियङ्गवः

पूर्वस्यापवादोऽयम् । ध्यन्तो घुः । 'किप्रत्ययोऽन्तः परो यस्मात्तादृशो घुसंज्ञको धातु-
स्तद्धटितः पुमानित्यर्थः । द्यौः स्त्रियाम् । अस्य स्वर्गाभिधानरचात्पुंस्त्वस्य पूर्वेण प्राप्तेऽ-
स्वारम्भः । अभ्रं नपुंसकमिति । मेवाभिधानविषये पूर्वस्यापवाद इत्यर्थः । रुत्वन्तः ।
उकारो नेसंज्ञकः । मेरुः, सेतुरित्यत्र 'सितनिगमिससिच्यविधाञ्कुशिम्यस्तुन्'

इत सूत्रका पाठ किया गया है) अर्थात् भय, लिंग, भग और पद शब्दोंको छोडकर अन्य
'घ' और 'अच्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिंग है—ऐसा समझना चाहिये ।

नङन्तः—'नङ्' प्रत्ययान्त शब्द पुंलिंग है । याच्ञा—याच्ञा शब्द स्त्रीलिंग है ।

नोटः—पूर्व सूत्रका यह अपवादक है । अतः 'नङ्' प्रत्ययान्त होनेपर भी 'याच्ञा'
शब्द पुंलिंग नहीं हुआ ।

ध्यन्तो घुः—'कि' प्रत्यय है अन्त (पर) जिससे, तादृश जो घुसंज्ञक धातु, तद्धटित
जो शब्द, वह पुंलिंग हो । इपुधिः स्त्री च—'इपुधि' शब्द स्त्रीलिंग और पुंलिंग दोनों ही
अर्थात् पूर्व सूत्र से नित्य पुंलिंग ही नहीं हो ।

द्यौः स्त्रियाम्—'द्यौ' शब्द और दिव् शब्द स्त्रीलिंग होते हैं ।

नोटः—'देवाऽसुरात्मस्वर्गागिरिसमुद्रनक्षत्रेणन्तस्तनभुजकण्ठस्त्रज्ञरयङ्कामिधा-
नानि' (देवादिशब्दवाच्यतावच्छेदकशब्दाः पुंसि स्युः) ऐसा सूत्र 'सिद्धान्तकौमुदी' से
कहा गया है । उदाहरण—देवाः = सुराः, असुराः = दैत्याः, आत्मा = क्षेत्रज्ञः, स्वर्गः = नाकः,
गिरिः = पर्वतः, समुद्रः = अम्बिः, नखः = कररुहः, केशः = शिरोरुहः (कचः,) दन्तः =
दशनः, स्तनः = कुचः, भुजः = दोः, कण्ठः = गलः, स्त्रज्ञः = करवालः, शरः = मार्गणः, पंकः =
कर्दमः ; इत्यादि । अब देखो ? 'द्यौः स्त्रियाम्' सूत्रका पाठ अगर यहाँ (पुंसिलिङ्गाधिकार में)
नहीं होता तो उपर्युक्त 'देवाऽसुरा' सूत्रसे स्वर्गपर्यायवाचो होनेसे 'द्यौ' और 'दिव्' शब्दोंसे
भी पुंस्त्व विधान हो जाता । अतः वरदराजने उपर्युक्त सूत्रको यहाँ रखा है ।

क्रतुपुरुष—क्रतु (यज्ञ), पुरुष (नर), कपोल (गाल), गुल्फ (घुट्ठी) और
मेघ (बादल) वाचकशब्द पुं० हैं । अभ्रं नपुं—(मेघवाचो) अभ्र शब्द नपुंङ्गु है ।

उकारान्तः—(सामान्यतया) उकारान्त शब्द पुंसिलिङ्ग होते हैं ।

घेत्तुरञ्जु—(उकारान्तमें) घेत्तु (नवप्रसूता गौ), रञ्जु (डोरी), कुङ्क
(क्षमावस), सरयु (सरयु नदी), तनु (क्षीर), रेणु (धूल) और प्रियङ्गु

स्त्रियाम् । १२। इय घेनु ॥ स्वन्तः । १३। मेह । सेवृ ॥ दाहकगोचजतु-
घस्तुमस्तूनि नपुंसके च । १४। इद दाह । दाह ॥ सप्ततुर्नपुंसके च । १५।
सक्तु, सक्तु' । अदन्त इयधितृत्य ॥ क्रीपघ । १६। क्रीपधोऽकारान्त पुंसि स्यात्
स्तबक । कलक ॥ चिबुकादीनि नपुंसके । १७। चिबुक्म् ॥ टोपघ । १८।
अदन्त पुंसि । घट । पट ॥ किरौटादीनि नपुंसके च । १९। किरौटम् ।
किरौट ॥ णोपघ । २०। अदन्तः पुंसि । गण । पापाण ॥ ऋणादीनि नपुं-
सके । २१। ऋणम् ॥ कार्पापणादीनि नपुंसके च । २२। चात्पुंसि ॥ थोपघ' ।
२३। अदन्त पुंसि । रय' । यूय' नोपघ । २४। अदन्त पुंसि । इन फल ।

इति तुन् । सूर्यवाचक प्रथम । दाहकशेर । जम्बादिरवाद्गुप्राययान्ता पृथे । १५ स आमा-
गिनि । कसमिति शब्दस्य निर्देशात् 'नपुंसके च' इत्यस्य सम्यन्ध' ।

(कौगुन) शब्द खोलिङ्ग होते हैं । स्वन्त — 'र' प्रत्ययान्त और 'तुन्' प्रत्ययान्त शब्द
पुल्लिङ्ग होते हैं । दाहकशेर—दाह (छकड़ी), कशेर (कशेरू), जतु (छाह), वस्तु
(चीज—समान) और गस्तु (दही का पानी या दही की मलाई) शब्द नपुंसक लिङ्ग
होते हैं । सप्ततुर्नपु—अप्तु (सप्तुभा) शब्द नपुंसक और पुल्लिङ्ग भी होता है ।

क्रीपघ—अकारान्त क्रीपघ शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । चिबुका—अकारान्त चिबुकादि
शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं । टोपघ—अकारान्त टोपघ शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं ।

किरौटा—अकारान्त टोपघ किरौटादि शब्द पुल्लिङ्ग और नपुंसक दोनों लिङ्ग होते हैं ।

नोट—किरौटादिसे—किरौट, मुकूट (ताज), कूट (दुर्गा किला), ललाट, बट (बृच),
विट (कामी, धूर्त), शृङ्गाट (चौराहा), कराट, लोष्ठ (डेला), कूट (पर्यंत की
चोटी, मुद्गर, नगर, द्वार, भादि), कपट (घचना), कवाट (किवाड़), कर्पट (रूमाल,
पटा कपड़ा), नट, निकट (समीप), कीट (कीड़ा), और कट (चटाई) है ।

णोपघ—अकारान्त णोपघ शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं । ऋणादीनि—अकारान्त णोपघ
ऋणादि—ऋण (कर्ज), ऋवण (नमक), पर्ण (पत्ता), तोरण (मेहराब—सजावट)
और उष्ण शब्द न० होते हैं । कार्पापणा—कार्पापणादि—कार्पापण (चबुकी),
स्वर्ण, सुवर्ण (सोना), ऋण (फोड़ा—फुंसी), चरण (पैर), वृषण (अण्डकोश),
विषण (सींग), चूर्ण और तृण शब्द नपुंसक और पुल्लिङ्ग भी होते हैं ।

थोपघ—अकारान्त थोपघ शब्द पुल्लिङ्ग होते हैं ।

नोट—थोपघ शब्दोंमें—काष्ठ (छकड़ी), पृष्ठ, सिक्थ और उक्थ शब्द नपुंसक लिङ्ग
होते हैं तथा तोर्थ, प्रोथ, यूय और गाय शब्द पुल्लिङ्ग तथा न० दोनों होते हैं ।

नोपघ—अकारान्त नोपघ शब्द पु० होते हैं ।

जघनादीनि नपुंसके ।२५। जघनम् ॥ योपधः ।२६। अदन्तः पुंसि । दीपः । सर्पः ॥ पापादीनि नपुंसके ।२७। पापम् ॥ शूर्पकुतपकुणपक्षीपविटपानि नपुंसके च ।२८। चारुपुंसि ॥ भोपधः ।२९। कुम्भः । सरमः ॥ तलभं नपुंसकम् ।३०। जृम्भं नपुंसके च ।३०। भोपधः ।३२। सोमः । भीमः ॥ खड्गादीनि नपुंसके ।३३। इदं क्वममित्यादि ॥ संग्रामादीनि नपुंसके च ।३४। चाव पुंसि । संग्रामः । संग्रामम् ॥ योपधः ।३५। हयः । समयः ॥ किसलयादीनि नपुंसके ।३६। गोमयादीनि नपुंसके च ।३७। रोपधः ।३८। क्षुरः । खुरः ।

जघना—नोपध शब्दों में जघनादि—जघन, अजिन (चर्म) बुद्दिन (गुणार-पाला), कानन, वन, वृजिन (कलेश, पाप), विपिन (वन), वेतन (तनखाह), शासन, सोपान (सीटी), मिथुन, श्मशान, रक्त, निष्ठ (नीचे) और विट शब्द न० होते हैं ।

नोटः—मान (संमान), यान (सवारी), अभिधान (नाम संज्ञा), नलिन (कमल), पुलिन (नदी-तट), उधान (फुलवारी, बगीचा-मैदान), शयन, अशन (भोजन), स्थान, चन्दन, आलान (हाथी बांधने का खंटा), समान, भवन, वसन (वस्त्र), समाजन (सफ़्कार), विभावन (विचार) और विमान शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

योपधः—अदन्त प्रकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

पापादीनि—पापादि—पाप, रूप, उडुप (छोटी नाव, डोंगी), तल्प (शय्या), क्षिप्य, पुष्य, शष्प (कोमल घास) समीप और अन्तरीप (टापू) शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं ।

शूर्प—शूर्प (सूप), कुतप (श्राद्धवेला), कुणप (मुरझा, पदबंदार), क्षीप और विटप (वन), शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं । भोपधः—अदन्त प्रकारोपध शब्द पुं० होते हैं ।

तलभं—तलम शब्द न० है । जृम्भ-जृम्भ (जँभाई) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

भोपधः—मकारोपध शब्द पुं० होते हैं । खड्गा—खड्गादि—खड्ग (सुवर्ण), तिथ्य (सुहांसा-रोग), युथ्य, ईथ्य (अलाने वाली लकड़ी), गुथ्य (सेनाविशेष, छाड़ी, रोग), अध्यात्म और कुंकुम शब्द न० होते हैं । संग्रामादि—संग्रामादि—संग्राम, दाडिम (दानार), कुक्षुम, आश्रम, क्षेम (कल्याण), क्षौम (रेशमी), क्षेम और वक्षाम (उद्दण्ड) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

योपधः—योपध शब्द पुं० होते हैं ।

किसलय—किसलय (नव पक्षव), हृदय, शन्द्रिय और उत्तरीय (द्वि० चक्र) शब्द नपुंसकलिङ्ग होते हैं । गोमया—गोमय (गोबर), कपाय, गलय (चन्दन पर्वत), अन्वय (वंश), और अव्यय (विश्काररहित) शब्द पुं० न० उभय लिंग होते हैं ।

अङ्कुर ॥ द्वारादीनि नपुंसके ।३९। इदं द्वारम् ॥ शुक्रमदेवतायाम् ।४०।
 देवतायां तु शुक्र ॥ योपधः ।४१। वृष । वृक्ष ॥ शिरीषादीनि नपुंसके ।४२।
 इदं शिरीषम् ॥ सोपधः ।४३। वायस । महानस ॥ पनसविसवुससाह-
 सानि नपुंसके ।४४। चमसादीनि नपुंसके च ।४५। चात्पुंसि ॥ कंसं
 चाप्राणिनि ।४६। कस ॥ 'कसोऽस्त्री पानमाजनम्' । प्राणिनि तु कंसं औपनेति ॥

शेषध—एकारोपध शब्द पु० होते हैं । द्वारादीति—द्वार, अग्र, स्फार (विकसित),
 षक (मठा), वक्र (टेढ़ा), वप्र (चाहार दिवारी), क्षिप्र (जल्दी), क्षुद्र (नीच),
 नीर (पानी), तीर (किनारा), दूर, कृच्छ्र (कष्ट), रन्ध्र (छेद), अक्ष (छाँट),
 श्वभ्र (गड़वा), भीर (डरपोक), गभीर (गंभीर), क्रूर (कठोर), विचित्र (अजीब),
 केयूर (पात्रूपन्द, विजायठ), केदार (खेत, कियारी), उदर (पेट), अजस्र,
 शरीर, कन्दर (गुफा), मन्दार (देववृक्ष, मदार),^२पञ्जर (पिंजरा), अजर (अवि-
 नश्वर), नठर (पेट), अजिर (अँगन), वैर (विरोध), चामर, पुष्कर (कमल),
 गह्वर—कुहर (गुफा), कुटीर (कुटिया), कुलीर (कैकदा), चत्वर (चौक), काश्मीर
 (कुंकुम, देशविशेष), (रस), नीर अम्बर (आकाश, वज्र), शिशिर (ठंडा),
 सन्न (सिद्धान्त), पन्न (मन्दीन), दान्न (दानिय), क्षेत्र (स्थान, खेत), मित्र,
 कलत्र (स्त्री), चित्र, मूत्र, सूत्र, वक्त्र (मुँह), नेत्र, गोत्र, बहुलित्र (वस्ताना), मण्डन,
 शक, शाक, वक्त्र, पत्र, पात्र और छत्र आदि शब्द नपुंसक लिंग होते हैं ।

भोट—चक्र, वक्र, अन्धकार, सार, अवार, पार, क्षीर, तोमर (छोटे का दवा),
 भृङ्गार (क्षारी), मन्दार, लक्ष्मी (खस), तिमिर (अन्धकार) और शिशिर आदि
 रोपध शब्द पु० न० समय लिंग होते हैं ।

शुक्रम—देवतासे मित्र (वीर्य, अग्नि, जेठका महीना आदि) अर्थमें शुक्र शब्द न० है ।

योपध—एकारोपध शब्द पु० होते हैं । शिरीषादीनि—शिरीष (वृक्ष-विशेष),
 अजीब (सावा), अम्बरीष (भसार, कंसार), वीरूष (अमृत), पुरीष (विद्या),
 और किल्बिष—कर्मण (पाप), आदि शब्द न० होते हैं ।

भोट—शूष (घघ, मारना), करोष (सूखा गोधर, कडा, गोइटा), मिष (छुछ)
 विष और वर्ष आदि एकारोपध शब्द पु० न० समय लिंग होते हैं ।

सोपधः—एकारोपध शब्द पुल्लिंग होते हैं । पनस—पनस (कटहल), विस (कमल-
 माल), इस (भूसा) और साहस शब्द नपुंसक लिंग होते हैं । चमसादीनि—चमस
 (यज्ञपात्र, चमचा), अस (कंधा), रस, निर्वास (गोंध, छट्टा), उपवास, कापाल,
 वास, माम्, कास (खाँसी), कांस और मांस आदि सकारोपध शब्द पु० न० समय लिंग
 होते हैं । कंसं—प्राणीसे मित्र अर्थमें कंसं शब्द भी पु० और न० लिंग होता है ।

रश्मिदिवाभिधानानि ।४७। अत इति निवृत्तम् ॥ दीधितिः स्त्रियाम् ।४८।
दिनाहनी नपुंसके ।४९। दिनम् । अहः ॥ मानाभिधानानि ।५०। कुडकः ।
द्रोणाढकौ नपुंसके च ।५१। चानुंसि ॥ खारीमानिके स्त्रियाम् ।५२। इयं
खारी ॥ दाराक्षतलाजासूनां बहुत्वं च ।५३। इमे दाराः ॥ मरुत्-रुत्तर-
त्विजः ।५४। अयं मरुत् ॥ ध्वजगजमुञ्जपुञ्जाः ।५५। एते पुंसि ॥ वंशांशापुरो-
डाशाः ।५६। अयं वंशः ॥ हृदकन्दकुन्दबुद्बुदशब्दाः ।५७। अयं हृदः ॥ अर्ध-
पथिमथ्यभुक्षिस्तम्बनितम्बपूगाः ।५८। अयमर्धः ॥ सारथ्यतिथिकुक्षियस्ति-
पाण्यञ्जलयः ।५९। पल्लवपल्लवकफरेफकटाहनिर्व्यूहमठमणितरङ्गलुर-
ङ्गान्वस्कन्धमृदङ्गसङ्गसमुद्रपुञ्जाः ।६०। अयं पल्लव इत्यादि ॥ ऋषि-
राशिद्विप्रन्थिकृमिध्वनिवलिक्कौलिमौलिरविकविकपिसुनयः ।६१।

दिनाहनी । दिवसाभिधानाविमौ । खारीमानिके । मानाभिधानास्वापुंसस्वे प्राप्तेऽस्वाह-
रभः । बहुत्वञ्चेति । चकारः पुंसस्वस्य समुच्चायकः ।

रश्मि—रश्मि (किरण, मयूख) और दिवस (दिन, घट्ट) वाची शब्द पुं०
होते हैं । दीधितिः—दीधिति (किरण) शब्द स्त्रीलिङ्ग होता है । दिनाऽह—दिन और
अहन् शब्द न० होते हैं । मानाभि—मान (नाप-तौल) वाची शब्द पुं० होते हैं ।

द्रोणाढकौ—द्रोण (पसेरी), और आढक (अड़ैया) शब्द पुं० न० उभय लिङ्ग
हैं । खारी—खारी (२० सेर मानवाचक) शब्द स्त्री० होता है । दारा—दारा, अक्षत,
लाज (लावा) और अमु (प्राण) शब्द नित्य बहुवचनान्त पुं० होते हैं । मरुत्—मरुत
(वायु), गरुत् (पंख), तरद् और ऋत्विक् (पुरोहित) शब्द पुं० होते हैं ।

ध्वजगज—ध्वज, गज, मुंज और पुंज (ढेर) शब्द पुं० होते हैं । वंशांश—वंश, अंश
(हिस्सा) और पुरोडाश (हविष्) शब्द पुं० होते हैं । हृदकन्द—हृद (बड़ा तालाब)
कन्द—कुन्द (फूल विशेष) और बुद्बुद (पानी का बुलबुला) शब्द पुं० होते हैं ।

अर्धपथि—अर्ध, पथिन्, मथिन् (मथनी) ऋमुक्षिन् (इन्द्र) त्तम्ब (खंभा),
नितम्ब (चूतड़), और पूग (सुपारी) शब्द पुलिङ्ग होते हैं । सारथि—सारथि (सूत),
अतिथि, कुक्षि (पेट), वस्ति (मूत्र), पाणि और अञ्जलि शब्द पुं० हैं । पल्लव—पल्लव,
पल्लव (छोटा तालाब) कफ, रेफ (रकार, कृपण, कुस्मित), शेफ (लिङ्ग), कटाह
(कड़ाही, भैंस का बच्चा), निर्व्यूह (खंडी), मठ, मणि, तरङ्ग, तुरङ्ग (घोड़ा), गन्ध,
स्कन्ध, मृदङ्ग, सङ्ग, समुद्र और पुंज (बाणका मूल भाग) शब्द पुं० होते हैं ।

ऋषिराशि—ऋषि, राशि (ढेर), इति (मझक), ग्रन्थि, कृमि (स्त्रीबा), ध्वनि,
वलि, कौलि, मौलि (मस्तक), ऋ (नर्प) ऋषि, क्षपि (बन्दर) और मुनि शब्द

एते पुंसि स्युः । अयमृषि ॥ हस्तकुन्तान्तमातपातदूतधूर्तसूतचूतगुहृताः
॥६२॥ एते पुंसि । अयं हस्त इत्यादि । इति पुंलिङ्गाधिकार ॥

अथ नपुंसकलिङ्गाधिकारः

नपुंसकम् । अयमधिकार । भावे ल्युटन्त' ॥१॥ हानम् । हसनम् । भावे
किम् १ पवन ॥ निष्ठा च ॥२॥ भावे या निष्ठा तदन्त ङीव स्यात् । गीतम् ॥
त्वय्यज्ञौ तद्वितौ ॥३॥ शुक्लत्वम्, शौक्ल्यम् । पितृसामर्थ्यात्पक्षे स्त्रीत्वम् ।
चानुर्यम्, चानुरी ॥ कर्मणि च ब्राह्मणादिगुणवचनेभ्यः ॥४॥ प्राद्यग्यम् ॥
यद्यद्व्यगप्रणयुष्हाथ भावकर्मणि ॥५॥ एतदन्तानि क्लोचानि । स्तेयम् ।
सख्यम् । (कपिशाल्योर्दक्) कापेयम् । शैनापत्यम् । औप्यम् । द्वैहायनम् । पितापुत्रकम् ॥

भावे ल्युटन्त इति । इदं च सूत्रं यद्यपि 'नपुंसके भावे क' 'ल्युट् च' इत्यनेन
गतार्थं, तथापि स्पष्टार्थमुपास्यम् । एवमन्तग्रहणं चेति बोध्यम् । निष्ठा च । अयं
निष्ठापदं कस्य बोधकम् । इदमपि सूत्रं 'नपुंसके भावे क' इत्यनेन गतार्थम्,
'प्रत्ययग्रहणे तदन्तस्य ग्रहणम्' । त्वय्यज्ञौ तद्वितौ । 'भावे' इत्यनुवर्तते । यद्यपि
'तस्य भाव' इति सूत्रे भावशब्द 'प्रकृतिप्रन्दबोधोपप्रकारतात्पर्यमपरः । 'भावे
ल्युटन्त' इत्यत्र तु भावशब्दो भावनायोधक इति भेदस्तथापि इह भावशब्द
शब्दाधिकारेण अन्यार्थको द्रष्टव्यः । कर्मणि च । चाभावे । त्वय्यज्ञाविद्याद्यनुवर्तते ।

पुं होते हैं । हस्त—हस्त, कुन्त (परछा), अन्त, पात (समूह), दूत, धूर्त, सूत
(सारथी, सूर्य), चूत (आनका वृक्ष, योनि) और गुहृत (३ घटा) शब्द पुं होते हैं ।

इस प्रकार 'इन्दुमतो' टीकामें पुंलिङ्गाधिकार मनात हुआ ।



नपुंसकम्—यह अधिकार सूत्र है ; भावे ल्युटन्त.—भावमें विहित ल्युट प्रत्ययान्त
शब्द नपुंसक लिङ्ग होते हैं । निष्ठा च—भावमें विहित निष्ठा (क, क्तवत्) प्रत्ययान्त शब्द
भी न० होते हैं । त्वय्यज्ञौ—भावमें विहित 'त्व' प्रत्ययान्त और 'य्यम्' प्रत्ययान्त तद्वित
शब्द न० होते हैं ('य्यम्' प्रत्ययान्त शब्द पितृसामर्थ्यात् पक्षमें स्त्री० भी होंगे) ।

कर्मणि च—कर्म तथा चकारात् भावमें या विहित त्व और य्यवादि प्रत्ययान्त ब्राह्म-
णादि गुणवचन शब्द न० होते हैं । यद्यद्व्यग—भाव—कर्ममें विहित यत्, या, दक्, यक्,
अम्, अण्, वुम् और छ प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं ।

नोट—'यत्' आदि प्रत्यय विषयक सूत्र इस प्रकार हैं—१ 'रतेनाकनलोपश्च'
(स्तेयम्) । २ 'सख्यम्' (सख्यम्) । ३ 'कपिशाल्योर्दक्' (कापेयम्) । ४ 'पत्य-

अच्छावाकीयम् ॥ अन्वयीभावः । ६ । अधिहरि ॥ इन्द्रैकत्वम् । ७ । पाणि-
पादम् ॥ अनल्पे छाया । ८ । शरच्छायम् ॥ इत्सुसन्तः । ९ । हविः । सर्पिः । धनुः ॥
अर्चिः स्त्रियां च । १० । इदमियं वार्चिः ॥ छदिः स्त्रियामेव । ११ । इयं छदिः ॥
मुखनयनलोहवनमांसवधिरकार्मुकविचरजलहलधनाश्राभिधानानि । १२ ।
एषामभिधायकानि क्रीवे न्युः । गुह्रम् । श्राननम्, इत्यादि ॥ सीरार्थोपेताः पुंसि

इत्सुसन्तः । 'अर्षिष्ठपिहृषपिष्टर्दिभ्य इत्सिः' 'जनेशसिः' इतयोर्णसाधेतौ । छदिः
स्त्रियामेवेति । यद्यपि छर्दिस्त्रियस्येसन्तत्वेन नपुंसत्वे प्राप्ते विशेषोपादानेन स्त्रिणा-
मित्यनेनैव निबलीत्वलाभे सिद्धे एवकारो न्यर्थः, तथापि 'पटलं छदिः' इत्यन्वय-
प्रत्यदर्शनेन सादृश्यांशपुंसत्वमिति भ्रान्तिः स्वातन्त्र्यवर्णनाद्येवकारः । सीरार्थोपेताः

नपुरोहितादिभ्यो यक्' (सैन्यापत्यम्) । ५. 'प्राणमृजादिभ्योवचनोद्गात्रादिभ्योऽय्'
(सौष्टम्) । ६. 'हायानान्त्युवादिभ्योऽण्' (गैहायगम्) । ७. 'द्वन्द्वगोहादिभ्यो युञ्'
(पितापुत्रकम्) । ८. 'होत्राभ्यश्छः' (अच्छावाकीयम्) ।

अन्वयी—अन्वयीभाव समास निष्पन्न शब्द न० होते हैं । इन्द्रैकत्वम्—'इन्द्रश्च
प्राणित्येतेनाज्ञानाम्' इस सूत्रसे इन्द्र समासमें तिनको एकत्वज्ञाद होता है, वे इन्द्र समास
न० होते हैं । अनल्पे—बहुत अर्थमें छाया शब्द न० लिंग होता है ।

इत्सुसन्तः—रसन्त और उसन्त शब्द न० होते हैं । अर्चिः—इसन्तमें 'अर्चिद्' शब्द
कौ० न० सम्य लिंग होता है ।

छदिः स्त्रियामेव—इसन्तमें 'छदिस्' शब्द नित्य स्त्री० ही होता है ।

नोटः—सूत्रमें एवकार इतलिये दिया गया है कि 'पटलं छदिः' इस अमरश्लोशमें पटल
शब्द साहचर्यात् किसी भी शब्दतमें (वैदिकस्वरूपमें भी) 'छदिस्' को न० समझा जाय ।

मुखनयन—मुख, नयन, लोह, धन, मांस, दधिर, कार्मुक, विचर, जल, हल, रन और
अत्र शब्द तथा इन छद्म शब्दोंके पर्यायवाची शब्द न० होते हैं ।

नोटः—उपर्युक्त वारहों शब्दोंके पर्यायवाची शब्द इस प्रकार हैं । १. मुख—खानन,
लपन, आत्य, वक्त्र । २. नयन—लोचन, अक्षिन्, नेत्र, चक्षुस् । ३. लोह—कालावस्,
भ्रश्मसार । ४. धन—विपिन, अरण्य, कान्तार । ५. मांस—पिशित, तरस । ६. दधिर—
रक्त, शोणित । ७. कार्मुक—शरासन, कोदण्ड, धनुस् । ८. विचर—छिद्र, रन्ध्र, शत्रु,
निर्व्ययन, रोक, बिल । ९. जल—ज्वर, तोय, नीर, पानीय, सलिल, सरिह, सलिर,
कमल, आपस्, वार, वारि, पयस्, कीलाल, अमृत, लोवन, भुवन, वन, कदम्ब, पादस्,
पुष्कर, सर्वतोमुख, अम्भस्, अर्णस्, क्षीर, अम्बु, शंवर, भेषपुष्प । १०. हल—शांघ,
गोदारण । ११. धन—द्रव्य, वित्त, स्वापतेय, रिक्थ, शृङ्ग, वसु, हिरण्य, द्रविण, सुन्न ।
और १२. अत्र (साधारणतया नोजन)—अशन ।

सीरार्थो—इत्यपर्यायवाची 'सीर' शब्द, इनपर्यायवाची 'अर्थ' शब्द और अत्रवाची

।१३। वक्त्रनेत्रारण्यगाण्डीघानि पुंसि च ।१४। चात् ङीवे ॥ अटवी
 स्त्रियाम् ।१५। पूर्वस्य तिस्रो बाधिका ॥ लोपघः ।१६। कुशलम् ॥ शीलादीनि
 पुंसि च ।१७। चात् ङीरे । शील्म् ॥ शतादि. संख्या ।१८। शतम् । सहस्रम् ॥
 शतायुताप्रयुता पुंसि च ।१९। लक्षा कोटि. स्त्रियाम् ।२०। इय लक्षा ॥
 सहस्रः पुंसि ।२१। मन् द्व्यच्कोऽकर्तरि ।२२। मन्प्रत्ययान्तो द्व्यच् पुंसि स्यात्

पुंसि । स्त्रीराब्धो हलामिधान. । अर्थशब्दस्तु धनशब्दस्य पर्याय. । ओदनशब्दोऽत्र
 दाची. । 'मिस्ताभिस्तटाशब्दौ तु दग्धाक्षरपरिविति तयोः स्त्रीवेऽपि न चतिरिति ।
 अटवी स्त्रियामिति । अथ वनामिधान. । मन्व्येति । तदेषावाचीत्यर्थ. । लक्षाकोटिरिति ।

'ओदन' शब्द पु० होते है । वक्त्रनेत्र—मुखपर्यायवाची वक्त्र शब्द, नेत्रनवाची नेत्र शब्द,
 वनवाची वरण्य शब्द और कामुंकावाची गाण्डीव शब्द पु० न० उभय लिंग होते हैं ।

अटवी—वनपर्यायवाची अटवी शब्द स्त्री० होता है ।

लोपघ — लकारोपघ अकारान्त शब्द न० होते हैं ।

नोट — लकारोपघमें तुल (रुई), उपल (पर्यर चट्टान), ताल (सगीतकी
 क्रियाविशेष, ताली बजाना, सान्ध घुस, हथेली, ताला, तलवारकी मूठ भादि)-कुसूल
 (घासी, लक्ष्मका भटार गृह), तरल (द्वारके बीचकी मुख्य मणि, द्वार, समतल,
 सतराई, झीरा, लोहा), कमल, देवछ (मन्दिरका पुजारी—जो देवताके चढ़ावनपर
 ही अपना निर्वाह करता है), और नृपल (शूद्र, घोड़ा, गाजर, सलाम, पापी,
 पतित, दुष्टात्मा) शब्द मिल्य पु० होते हैं ।

शीलादीनि—लोपघमें शीलादि पु० न० उभय लिंग होते हैं ।

नोट — शीलादि—शाल (स्वभाव, सदाचार), मूल (जड़, आरम्भ, उत्पत्ति
 स्थान), महल (शुभ, कुशल, आराम), साल (वृक्षविशेष, चाहारदीवारी), कमल,
 ताल, (सतह, हथेरी, तलवा, बाह, थप्पड़, नीचता), मुसल (धान आदि फूटनेका
 दबा, गदाका भेद), कुण्डल, पल्ल (मांस), मृगाल (कमलके हंठल), बाल (केश),
 बाल (छोटा बच्चा, बालक, केश), निगल (निगलना, खा डालना, घोड़ेकी गर्दन),
 पलाल (पुंगल, गूमी, आमका वृक्ष), विडाल (माजारी, आखुमुक्-बिछार), खिल
 (पत्नी खमीन) -र शृ (त्रिशूल, चूमनेवाला हथियार, रोगविशेष) ।

शतादि—शत आदि सहस्रा वाचक शब्द न० होते हैं ।

शतायुत—शु (धनन्तवाची), और अयुत (१० हजार वाची) शब्द पु० न०
 उभय लिंग होते हैं ।

लक्षाकोटि—लक्ष (लाख) और कोटी शब्द स्त्री० होते हैं । सहस्र—सहस्र शब्द
 पु० होता है (बचिप न० मी देखा जाता है) मन्प्रत्ययान्तो—'सर्वेषामुभयो मनिन्' इति
 सूत्रेण मन्प्रत्ययान्तो द्व्यच् शब्द नपुंसकलिंग होते हैं ।

चात् क्लीबे, न तु कर्तरि । वर्सा, वर्म । अकर्तरि किम् ? ददातीति दामा । ग्रह-
नृपुंसि च । २३। अयं ब्रह्मा । इदं ब्रह्म ॥ सामरोमणी क्लीबे । २४। पूर्वस्या-
पवादः ॥ असन्तो द्व्यच्कः । २५। यशः । मनः । तपः । अप्सराः स्त्रियाम्
। २६। एता अप्सरंसः ॥ अन्नन्तः । २७। पत्रम् । छत्रम् ॥ यात्रामात्राभ्रान्द-
प्रावरत्राः स्त्रियामेव । २८। इति नपुंसकाधिकारः ॥

अथ स्त्रीपुंसाधिकारः

स्त्रीपुंसयोः । १। अयमधिकारः ॥ गोमणियष्टिसुष्टिपाटलिवस्तिशाल्म-
लिजटिमखिमरीचयः । २। इयमचं वा गौः ॥ अपत्यार्थतद्धिते । ३। श्रीपगवः,
श्रीपगवी । इति स्त्रीपुंसाधिकारः ।

पुल्योरपि संख्यावाचकवाचपुंसकत्वे प्राप्ते द्वयन् । अन्नन्तः । अन्प्रत्ययान्तो नपुंसकः
इत्यात् । 'सर्वधातुभ्यङ्' इति अन्प्रत्ययो नकारानुबन्धक इति । यात्रामात्रा । 'हुयामा'
इति विहितस्त्रन्प्रत्ययोऽपि अन्प्रत्ययेन गृह्यत इति नपुंसकत्वे प्राप्तेऽप्यारम्भः । एव-
कारो न्यायसिद्धवाध्यवाधकभावानुवादकः । इति नपुंसकाधिकारः ।

ग्रहान्—'वृहेर्नोच्च' इति सूत्रे विहित मनिन् प्रत्ययान्त ब्रह्मन् शब्द पुं० न० उभय
लिङ्ग होते हैं । सामरोमणी—नामन् और रोमन् शब्द न० होते हैं । असन्तो—असन्त
(अमृन् प्रत्ययान्त) द्व्यच्क शब्द न० होते हैं । अप्सरा—असन्त अप्सरस् शब्द स्त्री० होता है ।

अन्नन्त—'सर्वधातुभ्यङ्' इति सूत्रविहित 'अन्' प्रत्ययान्त शब्द न० होते हैं ।

यात्रा—'अन्' प्रत्ययान्तोर्मे यात्रा, मात्रा, मखा, दंष्ट्रा और वखा शब्द स्त्री० होते हैं ।

नोटः—'अन्' प्रत्ययान्त-मृत्र, अमित्र, छात्र, पुत्र, मन्त्र, वृत्र, मैट्र, और उष्ट्र शब्द पुं०
समझना चाहिये ।

इसप्रकार 'शुद्धमती' टीकामें नपुंसकाधिकार समाप्त हुआ ।

स्त्रीपुंसयोः—यह अधिकार सूत्र है । गोमणि-गो, मणि, यष्टि (लाठी, छड़ी), मुष्टि,
पाटलि (पाकड़ि वृक्षविशेष), वस्ति (सूत्राशय), शाल्मलि (सेमरवृक्ष), युटि, मसि
(स्याही), और मरीचि (किरण), शब्द खालिग और पुंलिङ्ग दोनों होते हैं ।

नोटः—मृत्यु, सीधु (गुड़से बनी हुई शराब), कर्कशु (बैर-फल), किंकु (हाथ
नर, वित्ताभर-प्रमाणविशेष), कण्डु (खाज या खुजलाहट) और रेणु (धूल) शब्द
पुं० स्त्री० उभय लिङ्ग होते हैं ।

अपत्यार्थः—अपत्यार्थ तद्धित प्रत्ययान्त शब्द पुं० स्त्री० दोनों होते हैं ।

इसप्रकार 'शुद्धमती' टीकामें स्त्रीपुंसाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।

अथ पुत्रपुंसकाधिकारः

पुत्रपुंसकयोः। अधिकारोऽयम् ॥ घृतभूतमुस्तक्ष्वेलितैरावतपुस्तकयु-
स्तलोहिताः। १। अथ घृत । इदं घृतम् ॥ फयन्धौपघायुघान्ताः। २। स्पष्टम् ॥
दण्डमण्डलण्डशयसैन्ववपाश्वर्काशशुशकाशाशकुशाकुलिशाः। ३। दण्ड,
दण्डम् ॥ इति पुत्रपुंसकाधिकारः ॥



अवशिष्टलिङ्गम् १। अन्ययं धातियुष्मवस्मदः। २। णान्ता संख्या ॥

अवशिष्टलिङ्गम् । अतश्चिन्नावधकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्यम् । परवदिति । विशेष-य-

पुत्रपुंसकयोः—यद् अधिकार सूत्र है । घृतभूत—घृत, भूत (मेत देवयोनि, प्राणी),
मुस्त (मोया घास), क्ष्वेलित (वीरोंका सिद्धके समान गर्जना), ऐरावत (इन्द्रका
हाथी), पुस्तक, कुल (मांसकी पूर्वा, कलिया, भूना हुआ मांस) और लोहित (लाल,
सूगविशेष), शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

नोट—गृह, अध (पाप), निराय (भीष्मशत्रु), उषम, शय (याणके नोक)
और इदं (नगवृत् स्थिर) वज्र, कुञ्ज, कुय (गलीचा, फालीन, हाथीका मूत्र), कूर्च
(गट्टर, मुट्टीमर कुग, मोरपंख, झाड़ी), प्रस्थ (पहाड़के ऊपरके समतल मैदान)
दपं (गर्व) अन्न (मेघ), अर्ध, दर्भ और पुच्छ शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

कबन्ध—कबन्ध (धड), भौषध और आयुधान् शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

दण्डराण्ड—दण्ड (दंडा, सजा), मण्ड (मांस), खण्ड (टुकड़ा), शव (मृतक),
सैयव (लवण), पार्श्व (बगल), काश, अकुरा (होथी हाँकने वाला हथियार कांटा),
और कुलिश (वज्र) शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

नोट—गृह, मेघ (प्रमेह, भगन्दर), देह, पट्ट (पट्टी, पीड़ा, लिखनेकी पट्टिया,
चौराहा), पट्ट (छोल, सद्ग, नराडा, डका, टिंडोरा पीटनेवाला, धर्ष करनेवाला),
अष्टाद (सुषर्ण), अम्बुद (मेघ) और ककुद (प्रधान, राजचिह्न, बल, साँड़के
खील, पहाड़की खोटी) शब्द पु० न० उभय लिङ्ग होते हैं ।

इसप्रकार 'इन्दुमती' टीकामें पुत्रपुंसकाधिकार प्रकरण समाप्त हुआ ।



अवशिष्ट—'अवशिष्टवाचकताप्रयुक्तकार्यविशेषशून्य' का नाम है 'अवशिष्टलिङ्ग' और
वह है—'अवध' (न ध्येति—विकारं न प्राप्नोति, इत्यव्ययश्च) १५० पु० देखो ।

धातियुष्मद—धाति, युष्मद् और अस्मद् शब्द तीनों लिङ्गोंमें समान होते हैं ।

शिष्टा परवत् ।३। एका पुरुषः । एका स्त्री । एकं कुलम् ॥ गुणवचनम् ।४।
शुक्लः पटः । शुक्ला पटी । शुक्लं वस्त्रम् ॥ कृत्याश्च ।५। करणाधिकरणयो-
र्ल्युट् च ।६। सर्वादीनि सर्वनामानि ।७। स्पष्टार्थं त्रिसूत्री ।

इति श्रीवरदराजदीक्षिताविरचितपाणिनीयलिङ्गानुशासनसारभूता
लिङ्गानुशासनसूत्रश्रुतिः समाप्ता ॥



वदित्यर्थः । गुणवचनं च । परवदित्यनुवर्तते । कृत्याश्च । कृत्यप्रत्ययान्ताः परवद्बोध्याः ।
सर्वादीनि सर्वनामानि । सर्वनामसंज्ञकानि सर्वादीनि परवद्बोध्यानि । स्पष्टार्थेति ।
लोकव्युत्पायैव तत्तद्विज्ञानभिधानसिद्धत्वात् । अतएव 'लिङ्गमधिप्यं लोकाध्रयत्वा-
स्तिन्नस्य' इति भगवता भाष्यकृतोक्तम् । तेन यौगिकेषु शब्देषु लोकव्युत्पत्तिरेव
लिङ्गभिधाने प्रमाणमिति सिद्धम् ।

इति श्रोकौण्डिन्यकुलावतंसनोशीत्युपाह्वामोदरात्मजपण्डितसदाशिव-
शास्त्रिसंकलितलिङ्गानुशासनविवरणं समाप्तम् ।



प्यान्ता—यान्त, नान्त संख्यावाचक शब्दोका लिङ्ग परवत् (विशेष्यवत्) होता है ।
गुणवचनं—गुणवाचक शब्दोका लिङ्ग भी विशेष्यवत् होता है । कृत्याश्च—कृत्यप्रत्य-
यान्त शब्दोका लिङ्ग परवत् होता है । करणाधि—करण और अधिकरणमें विहित ल्युट्
प्रत्ययान्त शब्दोका लिङ्ग परवत् होता है ।
सर्वादीनि—सर्वनामसंज्ञक सर्वादि शब्दोका लिङ्ग परवत् होता है ।

इस प्रकार पण्डित श्रीरामचन्द्रशा व्याकरणाचार्य कृत 'इन्दुमती' टीकामें
वरदराजविरचिन लिङ्गानुशासनप्रकरण समाप्त हुआ ।



श्रीजानकीचरणकलामरन्दभृङ्गः श्रीरामचन्द्रसुकृती जनतोपकृत्यै ।
टीकां विधाय कचसा सरलातिरम्यां स्वर्गश्रिताश्च मनसेन्दुमतीं सुमीद ॥

मध्यकौमुदोस्थगणपाठः

तिष्ठद्गुप्रमृतीनि च (५० ४८३) तिष्ठद्गु, आपतोगवम्, सलेयवम्, खलेहुतम्, लनयवम्, ल्यमानयवम्, पूतयवम्, पूयमानयवम्, संहतयवम्, सहिसमाणयवम्, सहनहुसम्, सहियमाणहुसम्, समभूमि, समपशति, भुषमम्, विषमम्, दुषमम्, निषमम्, अपसमम्, आपतोसमम्, पाषसमम्, पुण्यसमम्, प्राक्षम्, प्ररथम्, प्रभृगम्, प्रदक्षिणम्, सप्रति, असप्रति, इच्प्रत्यय, समासान्त । इति तिष्ठद्गुवादि ।

उपमित व्याघ्रादिभि सामान्याप्रथोते (५० ४९३) व्याघ्र, सिंह, ऋक्ष, ऋषभ, चन्दन, वृक, वृष, वराह, हस्तिन्, तरु, वुअर, रुह, वृषट, पुण्डरीक, पलाश, कितव । इति व्याघ्रादिराहृतिगण ।

मयूरभ्यसकाद्यश्च (५१ ४९३) मयूरभ्यसक, छात्रभ्यसक, कम्बोजमुण्ड, मवन मुग्ध, छन्दसि । हस्तेगुह्य, पाडेगुह्य, लाल्गुलेगुह्य, पुनर्दाय, (यहीहादयोऽन्यपदार्थे) पहीडम्, एहिपचम, एहिवणिजा क्रिया, अपेहिवणिजा, प्रेहिवणिजा, एहिस्वागता, अपेहि स्वागता, एहिद्वितीया, अपेहिद्वितीया, प्रेहिद्वितीया, एहिकटा, अपेहिकटा, प्रेहिकटा, अपहरकरटा, प्रोहिकरटा, प्रोहिकर्दमा, प्रेहिकर्दमा, विषमचूडा, उद्धमचूडा, आहरचैला, आहरवनिता, आहरवसना, कृन्धिविचक्षणा, उद्धरोसृजा, उद्धरावसृजा, उद्धमविषमा, उत्पतनिपचा, उत्पतनिपात, उच्चावचम्, उच्चनीचम्, आचोपचम्, आचपरावम्, निश्चप्रचम्, अकिचन, खास्वाकालक, धीस्वास्थिरक, भुक्त्वासुहित, प्रोष्यपापीयान्, उत्पत्यपालका, निपत्य रोहिगो, निषण्णश्यामा, अपेहिप्रपसा, एहिविषसा, इहपञ्चमी, इहद्वितीया, (जहिकर्माणा बहुलमाभीक्ष्ण्ये कर्तार चाभिदधानि) जहिकोट, जहिस्तम्ब, (आख्यातमाख्यातेन क्रिया सानत्ये) अरनीतपिबता, पचतभृज्जता, स्वाप्रतमोदता, खादतवमता, आहरनिवपा, आहर निष्करा, मिन्धिलवणा, कृन्धिविचक्षणा, पचलवणा, पचप्रकूटा । आहृतिगणोऽयम् । तेन अकुनोमय, काम्दिशीक, आहोपुरुषिक, अहमहमिका, यट्छा, एहिरिवाहिरा, वन्दृज विष्टृजा, द्रव्यान्तरम्, अवश्यकार्यम् । इत्यादि सिद्धम् ।

ऊर्धादिच्चिदाचश्च (५० ४९७) ऊरी, उररी, तर्धी, ताली, अनाली, वनाली, धली, पमी, शकला, शमपला, ध्वसकला, भसकला, गुलुगुधा, मज्जू, फल, फला, विधली, आकली, आओषी, केवाली, वेशा, लंवाला, पर्याली, शेवाली, वर्षाली, अत्यूमशा, यशमशा, मरमशा, मसमशा, लोपट्, वषट्, श्रौपट्, स्वाडा, स्वधा, पाम्भी, प्राहुस्, अट, आविस् । इत्यूर्धादि ।

साधारप्रमृतीनि च (५१ ५००) साग्न्, मिथ्या, चिन्ता, भद्रा, रोचना, आर्था, अमा, अदा, प्राङ्घ्या, प्रा १५० ५००० अजहा, सचर्वा, अर्थे, लवग्न्, उग्न्, शातम्, उदकम्, आर्दम्, (५१), वशे, इक्षमने, विहमने, प्रतपने, प्रष्टुम्, नष्टम् । आहृतिगणोऽयम् ।

अर्घर्चाः पुंसि च (पृ० ५०८) अर्घर्च, गोमय, कषाय, कार्पाषण, कुतप, कुसप, कुणप, कपाट, शङ्ख, गूय, यूय, ध्वज, कवन्ध, पञ्ज, गृह, सरक, फंस, दिवस, यूप, अन्धकार, दण्ड, कमण्डलु, मण्ड, भूत, द्वीप, धूत, चक्र, धर्म, कर्म, मोदक, शतमान, यान, नख, नखर, चरण, पुच्छ, दाडिम, छिम, रजत, सक्तु, पिधान, सार, प्राथ, घृत, सैन्धव, औषध, आढक, चपक, द्रोण, खलीन, पाश्रीय, पटिक, वारवाण, प्रोप, कपित्थ, शुष्क, शाल, शील, शुद्ध, (शुल्क) शीधु, कवच, रेणु, ऋण, कपट, शोकर, मुसल, सुवर्ण, वर्ण, पूर्व, चमस, क्षीर, कर्ष, आकाश, अष्टापद, मङ्गल, निधन, निर्यात, जृम्भ, घृत्त, पुस्त, वृत्त, स्वेदित, शृङ्ग, निगड, खलु, मधु, मूल, स्यूल, शराव, नाल, वप्र, विमान, मुख, प्रश्रीय, शूल, वज्र, कटक, कण्टक, कर्पट, शिखर, कल्क, वल्कल, नटमस्तक, नाटमस्तक, वलय, कुसुम, तृण, पद्म, कुण्डल, किरौट, (कुमुद), अर्जुद, अङ्गुश, तिभिर, आश्रय, भूपण, शकस, श्वास, मुकुल, वसन्त, तडाग, पिटक, विटङ्क, विदङ्ग, पिण्याक, माप, फीश, फलक, दिन, दैवतु, पिनाक, समर, स्थाणु, अनीक, उपवास, शाक, कर्पास, विशाल, चपाल, खण्ड, दर, विटप, रण, कल, मृणाल, हस्त, आर्द्र, इल, सूत्र, ताण्डव, गाण्डीव, मण्डप, पट्ट, सौध, बौध, पार्श्व, शरीर, देह, फल, छल, पुर, राष्ट्र, विन्ध, अम्बर, कुट्टिम, मण्डल, कुक्कुट, कुत्प, ककुद, खण्डल, नोमर, तोरण, मञ्चक, प्रक्षक, पुह, बाल, छाल, वल्मीक, वर्ष, वस्त्र, वसु, देह, उद्यान, उद्योग, स्नेह, स्तेन, सङ्गम, निष्क, धेम, शूक, क्षत्र, छत्र, पवित्र, यौवन, कलह, पालक, वल्कल, कुञ्ज, विहार, लोहित, विषाण, सक्क, अरण्य, पुलिन, इल, दृढ, व्यासन, घेरावत, शूर्प, तीर्थ, लोमश, तमाल, लोह, दण्डक, शपथ, प्रतिसर, दारु, धनुस्, मान, वर्चस्क, कूर्च, तण्डक, मठ, सहस्र, ओदन, प्रवाल, शकट, अपराह, नीट, शकल, तण्डुल, मुस्तक । इत्यर्घर्चादिः ।

कुक्कुट्यादीनामण्डादिपु । (पृ० ५१२) कुक्कुटी, नृगी, काकी । अण्ट, पद, शाव, अङ्गुस, भृकुटी । इति कुक्कुट्यादिरण्डादिश्च ।

पादस्य लोपोऽहस्यादिभ्यः (पृ० ५१८) इस्तिन्, कुडाल, अश्व, कशिक, करत, कटोलक, गण्डोल, कण्डोल, कण्डोलक, अज, कपोत, जाल, गण्ड, महेला, दासी, गणिका, कुसूल । इति हस्यादिः ।

उरःप्रभृतिभ्यः कप् (पृ० ५२२) उरस्, सर्पिस्, उपानद्, पुमान्, अनह्वान्, पयः, नौः, लक्ष्मीः, दधि, मधु, शाली, शालि, अर्थाज्जयः । इत्युरःप्रभृतयः ।

वाहिताग्न्यादिषु (पृ० ५२४) आहिताग्निः, जातपुत्रः, जातदन्तः, जातमधुः, तैलपीतः, घृतपीतः, ऊढमार्यः, गतार्थः, आकृतिगणोऽयम् । तेन गडुकण्ड, अस्युधत, दण्डपाणि, शत्यादि ज्ञेयम् । इत्याहिताग्न्यादयः ।

राजदन्तादिषु परम् (पृ० ५२५) राजदन्तः, अग्नेवणम्, लिप्तवासितम्, नद्यमुषितम्, सिकतसंभृष्टम्, मृष्टलुञ्जितम्, अवकिलन्नपकम्, अपितोतम्, उद्गगाढम्, उल्लखलमुसलम् । तण्डुलकिण्वम्, इपदुपलम्, आरह्वायनि (नी), आरवायनबन्धकी, चित्ररथवाहीकम्,

मनस्, धनञ्जय, वृक्ष, विश्वावसु, जरमाण, लोहित, शंसित, वभ्रु, वस्यु, मण्डु, गण्डु, शङ्कु, लियु, शुद्ध, मन्वु, नल्लु, आलियु, जिगीषु, ननु, तन्नु, मनायी, सूनु, कथक, कन्थक, श्दस, वृक्ष, (वृक्ष) तनु, तरुक्ष, तलुक्ष, तण्ड, वतण्ड, कपि, कत, कुरुकत, अनहुर्, कण्व, शकल, गोकक्ष, भगस्त्य, कण्डिनी, यशवल्क, पर्णवल्क, अभयजान, विरोहित, वृषगण, रङ्गगण, शण्डिल, (वणक) वर्णक, चुडुक, मुद्गल, मुसल, जमदग्नि, पराशर, जातुकर्ण, महित, मन्थित, अदमरथ, शर्कराश, पूतिमाय, शूरा, अदरक, (अररक) एलाक, पिङ्गल, कृष्ण, गोलन्द, चलक, तिनिस, मिपञ्, मिष्णञ्, भटित, भण्डित, दहम, चैकित, चिकित्सित, देवदू, इन्द्र, एकल, पिप्पल, वृद्धमि, मुलोहिन्, उक्थ, कुंटाणु । इति गर्गादिः ।

वाह्यादिभ्यश्च (५० ५५८) वाहु, उपवाहु, उपवाकु, निवाकु, शिवाकु, वटाकु, उप-
निन्द, वृषल, वृकला, चूटा, वलाका, मृषिका, कुशला, भगला, (एगला) धुवका, ध्रुवका,
सुमिशा, दुर्मिशा, पुष्करसद, अनुहरद, देवशर्मन्, अग्निशर्मन्, मद्रशर्मन्, सुशर्मन्,
कुनामन्, सुनामन्, पञ्चन्, सप्तन्, अष्टन् । अग्नितीजसः सलोपश्च । सुधावद, उदन्नु,
माय, शिरस्, शराविन्, मरीचिन्, क्षेमवृद्धिन्, श्दलतोदिन्, त्वरनादिन्, नगरमदिन्,
प्राकारमदिन्, लोमन्, अजीगत, कृष्ण, युधिष्ठिर, अर्जुन, सान्द, गद, प्रघ्न, राम, उदक ।
उदकः संशयाम् । संभूयोऽम्भसः सलोपश्च । आकृतिगणोऽयम् । तेन सात्यकिः, जाद्विः, पेन्द्र-
शमिः, अजषेनविः । इति वाह्यादिः ।

अनृष्यानन्तर्यं विदादिभ्योऽञ् (५० ५५८) विद, उवं, कश्यप, कुशिक, भरदाज,
उपमन्नु, किलात, किंदर्भ, विधानर, (ऋष्टिपेण) ऋष्टिपेण, ऋतभाग, ह्यंश्च, प्रियक,
आपस्तम्ब, कृचवार, शरद्वद, शुनक, धेनु, गोपवन, शिश्रु, विन्दु, (भोगक), मालङ्ग,
(शमिक) अथावतान, श्यामक, श्यामाक, श्यावलि, श्यापर्ण, हरित, किंदास, वक्षस्क,
अर्कजूप, बध्योग, गिष्णुवृद्ध, प्रतिघोष, (रथीतर) रचित, रथन्तर, गविष्ठिर, निपाद,
शबर, अलस, मठर, (मृडाकु) सपाकु, मृद, पुनर्गू, पुत्र, दुदित, ननान्द, परक्षी, परशुं च ।
इति विदादिः ।

शिवादिभ्योऽण् (५० ५५८) शिव, प्रोष्ठ, प्रोष्ठिक, चण्ड, जम्म, शूरि, दण्ड, कुठार,
ककुभ, अनभिम्बान, कोहित, मुख, सन्धि, मुनि, ककुत्स्थ, कहोड, कोहड, कह्य, कह्य,
रोष, कपिञ्जल, खञ्जन, वतण्ड, तृणकर्ण, क्षीरघद, जलउद, परिल, (पयक) पिष्ट, ह्यैय,
गोषिका, कपालिका, जटिलिका, वषिरिका, मञ्जिष्ठा, वृष्णिक, खञ्जर, खञ्जा, रेख, लेख,
रिख, आलेखन, विश्रवण, रवण, वर्तनाश, त्रिवाक्ष, पिटाक, ऋक्षाक, नभाक, कर्णनाभ,
जरत्कार, पुरोहितिका, सुरोहितिका, आर्यश्वेत, सुपिष्ट, मसुर, कर्ण, मयूरकर्ण, दासुरए,
तक्षन्, ऋष्टिपेण, गङ्गा, विपाश, यस्क, लक्ष, दुष्ट, अयदशूण, तृणकर्ण, पर्ण, सचम्बन,
विरुपाक्ष, भूमि, शष्वा, सपत्नी । दयचो नद्याः । शिवेणी, त्रिवर्णं च । इति शिवादिः ।

रेवत्यादिभ्यश्च (५० ५५९) रेवती, अश्वपाली, मणिपाली, द्वारपाळी, वृकवन्धिन्,
वृकदन्धु, वृकग्राह, कर्णग्राह, दण्डग्राह, ककुदाक्ष, चामरग्राह, कुक्कुटाक्ष । इति रेवत्यादिः ।

गोत्रे कुञ्जादिभ्यश्चफञ् (पृ० ५५९) कञ्, म्रप्ता, शङ्ख, मरुमक, गण, लोमन्, शठ, शाक, शुण्डा, शुभ, विपाश, स्कन्द, स्कम्भ । इति कुञ्जादि ।

नडादिभ्य फञ् (पृ० ५५९) नड, चर, यक, मुञ्ज, इतिर, इतिश, उमक, एक, लमक, शल्कु, कल्कु च, सप्तल वाजप्य, तिक, अक्षिशर्मन्, वृषगणे, प्राण, नर, सायक, दाम, मित्र, द्रोप, पिङ्गर, पिङ्गल, किङ्कर, किङ्कल, काश्यप, बानर, फानल, नादय, वाष्य, अज, अनुप्य, कुण्डरणी, ब्राह्मणवास्तिष्ठे, अमित्र, लिगु, चित्र, कुमार, क्रोष्ट, क्रोष्ट च, रोह, दुर्ग, स्तन्म, शिशपा, अमृतृण, शकट, सुमनस, सुमत, निमत, ऋज, जलधर, अच्वर, युगन्धर, हसक, दण्डिन्, हरितन्, पिण्ड, पञ्चाल, चमसिन्, सुकृत्य, स्थिरक, श्राव, चटक, बदर, अथल, सरप, लङ्क, इन्ध, अन्न, कामुक, मक्षरत्त, उदुम्बर, शोण, अलाह, दण्डय । इति नडादि ।

अश्वादिभ्य फञ् (पृ० ५६०) अश, अरमन्, शख, शूदक, विद, पट, रोहिण, खर्जूर, पिञ्जल, मविल, मण्डिल, मदिन, मण्डित, प्रकृत, रामोद, शान्न, काश, काण, गोलाह, अर्क, स्वर, वन, पाद, चक्र, कुल, पूल, मविह, वीक्ष, पविन्द, पवित्र, गोमिन्, श्याम, घूम, धूम, वाग्मिन्, विश्वानर, कुट, शप, आश्रये, जन, जड, खड, घोष्म, अर्ह, केन, विशप, विशाल, गिरि, चपल, चुप, दाम, वैर्य, प्राच्य, आनदुह्य, पुसि जाने । अर्जुन्, सुमनस्, दुर्मनस्, नर, प्रान्त, ध्वान, आश्रयमारदाजे, भारद्वाजाश्रये, उरस, आनव, कितव, शिव, खदिर । इत्यश्रादिः ।

शुभ्रादिभ्यश्च (पृ० ५६०) शुभ्र, विष्ट, पुर, मन्त्रकृत, शतदार, शलाफल, शलाकाम्, लेखाम्, विकास, रोहिणी, शक्तिमणी, धर्मिणी, दिश, शालक, अजवस्ति, शकन्धि, विमात्, विषवा, शुक, विश, देवतर, शकुनि, शुक, उग्र, शबल, बन्धकी, शुकण्डु, विश, अतिथि, गोदन्त, कुशाम्बु, मकण्डु, शान्ता, हर, पवण्डुरिक, सुनामन्, लक्षणश्यामयोर्वास्तिष्ठे, गोथा, वृकलास, अणोव, प्रवाहण, भरत, भरम, मृकण्डू, कर्पूर, शर, अन्यनर, आलीड, सुदन्न, सुदस, सुवशम्, सुदामन्, कटु, तुद, शकशाय, कुमारिका, कुठारिका, किशोरिका, अभ्यिका, जिह्वाशिन्, परिधि, वायुदत्त, शकट, शलाका, खडूर, कुवैरिका, अशोका, मधपि इला, खण्डो नत्ता, अनुवृष्टिन्, जरतिन्, बलीवर्दिन्, विग्र, बीज, जोव, श्वन्, अश्मन, अश, अजिर । इति शुभ्रादिराकृतिगणः ।

कल्याण्यादीनामिभञ् (पृ० ५६०) कल्याणी, सुमया, दुर्मया, बन्धका, अनुवृष्टि, अनुसृति, जरती, बलावर्दी, ज्येष्ठा, कनिष्ठा, मध्यमा, परखी । इति कल्याण्यादि ।

तिकादिभ्य फिञ् (पृ० ५६२) तिक, कितव, सज्ञा, बाला, शिखा, वरस्, शाध्य, सैन्धव, यमुन्द, रूप्य, ग्राम्य, नील, अमित्र, गोकक्ष, कुव, देवरथ, तैतिल, औरस, कौरव्य, मौरिकी, मौलिकी, मौलीकी, चौपयत, चैयत, शकियत, श्वेतप्रत, वाजवत, चन्द्रमस्, शुभ, गज्ञा, वरेण्य, सुपामन्, आरम्भ, बाहक, स्वहय, वृष, लोमक, उरन्ध, यव । इति तिकादिः ।

कम्बोजाक्षुक् (पृ० ५६३) कम्बोजादिभ्य इति वक्तव्यम् । कम्बोज, चोल, केरल, शक, यवन । इति कम्बोजादिः ।

मिष्ठादिभ्योऽण् (पृ० ५६८) मिष्ठा, गर्भिणी, क्षेय, करोष, अक्षार, चर्मिन्, पर्मिन्, सहस्र, सुवति, पदाति, पद्धति, अर्थवत्, दक्षिणा, भरत, विषय, शोत्र । इति मिष्ठादिः ।

पाशादिभ्यो यः (पृ० ५६९) पाश, तृण, धूप, वात, अक्षार, पाटल, पोत, गल, पिटक, पिटाक, शकट, हल, नट, वन । इति पाशादिः ।

खलादिभ्य इनिर्वक्तव्यः (पृ० ५७०) खल, टाक, कुटम्ब, शाय, कुण्डलिनी । इति खलादिराकृतिगणः ।

ऋतूदथादिसूत्रान्ताट्ठक् (पृ० ५७१) उक्थ, लोकायत, न्याय, न्यास, पुनरुक्त, निरुक्त, निमित्त, द्विपद, ज्योतिष, अनुपद, अनुकल्प, यश, धर्म, चर्चा, क्रमेतर, लक्षण, संदिता, पदक्रम, संघट्ट, परिपद, वृत्ति, संग्रह, गण, गुण, आयुर्वेद । इत्युक्थादिः ।

पुञ्छण्कठजिलसेनिरुद्धण्यय्यफूर्काफिभिन्त्यककठकोऽराहणकृशाश्वर्यकुमुदका-
क्षतृणम्रेहारमसखिसंकाशयलपक्षकर्णमुत्तङ्गमप्रगादिन्वराहकुमुदादिभ्यः (पृ० ५७३)

(१) अरोहण, द्रुषण, द्रुषण, भगल, उलन्द, किरण, सांपरायण, क्रीडायण, औट्टायण, भ्रैगतायन, भैत्रायण, भालायण, वैमतायन, गौमतायन, सौमतायन, सौसायन, धौमतायन, ऐन्द्रायण, कौन्द्रायण. ख्वाटायन, श्वाण्डित्यायन, रायस्पोष, विषय, विपाश, उडण्ड, उदन्नन, खाण्डवीरण, वीरण, काशकृत्स्न, वाम्बवत्, शिशपा, रेवत, विल्व, सुयश, शिरीष, वधिर, जम्बु, खदिर, मुशमन्, मलव, भलन्दन, खण्डु, कलन, यशदत्त । इत्यरीहणादिः ।

(२) कृशाश्व, अरिष्ट, करिडम, विशाल, लोमश, रोमश, रोमक, शबल, कूटवर्चल, वर्चल, सुकर, सूकर, प्रतर, अदृश, पुराग, पुरग, सुख, धूम, अजिन, विनत, जवनत, विकुट्यास, पराशर, अरुस्, अयस्, मौद्गल्य, युकर । इति कृशाशादिः ।

(३) ऋश्य, न्यग्रोध, शर, निलीन, निवास, निवात, विधान, निषद, विषद, परिगूढ, उपगूढ, असनि, सित, मत, वेदमन्, उच्चरादमन्, अदमन्, स्थूल, बाहु, खदिर, शर्करा, अनडुई, अरडु, परिवंश, वैणु, वीरण, खण्ड, दण्ड, परीवृत्त, कर्दम, अंश । इत्यृश्यादिः ।

(४) कुमुद, शर्करा, न्यग्रोध, शकट, कङ्कट, सहकट, गर्त, बीज, परिधाप, नियांस, शकट, कच, मधु, शिरीष, अण्य, अश्वत्थ, वल्वज, ययास, कूप, विकङ्कट, दशग्राम । इति कुमुदादिः ।

(५) काश, पाश, अश्वत्थ, पलाश, पीयूषा, चरण, वास, नड, वन, कर्दम, कच्छूल, कङ्कट, शुद्धा, विसृण, कर्पूर, ववैर, मधुर, अह, कपित्थ, जटु, सीपाल । इति काशादिः ।

(६) तृण, नड, मूल, वन, पर्ण, वराण, विल, पुल, फल, अर्जुन, अर्ण, सुवर्ण, दल, चरण, वुस । इति तृणादिः ।

(७) प्रेक्षा, हल्का, बन्धुका, ध्रुवका, क्षिपका, न्यग्रोध, शकट, कङ्कट, सहकट, कट, धूप, डुक, पुट, मह, परिधाप, दबवि, ध्रुवका, गर्त, कूपक, विरण्य । इति प्रेक्षादिः ।

(८) अश्मन्, यूथ, ऊथ, मोग, नद, दर्भ, वृ द, गुद, सण्ड, नग, शिखा, क्रीड, पान, वृ द, कान्द, कुल, गह, गुण, कुण्डल, पीन, गुह । इत्यशमादि ।

(९) सखि अग्निदत्त, वायुदत्त, सखिदत्त, गोपिल, मछ, पाल, चक्र, चक्रवाक, छगल, अशोक, करवार, वासव, वीर, पूर, वज्र, कुसीरक, सीहर, सरक, सरस, समर, ममल, घुरम, सेह, तमाल, कदल, ससल । इति सख्यादि ।

(१०) सकाश, कपिल, काश्मोर, समार, शरतेन, सरक, शूर, सुपन्थिन्, पन्थ च, यूथ, अश, शङ्ग, नामा, पलित, अनुनाश, अश्मन्, कूट, मलिन, दश, कुम्भ, शीर्ष, विकर, समल, सार, पञ्जर, मन्य, नल, रोमन्, पुलिन, सुपरि, कटिप, सकर्णक, वृष्टि, तार्ध, अगस्ति, विकर, नासिका । इति सकाशादि ।

(११) बल, चुल, नल, दल, वट, लवूल, उरल, पुस, मूल, उल, बुल, बन, कुल । इति यलादि ।

(१२) पक्ष, तुक्ष, तुप, कण्ड, अण्ड, कम्बलिवा, बलिक, विश्व, अग्नि, सुपथिन्य च, कुम्भ, सीरक, सरक, सकल, सरस, समल, अतिथन्, रोमन्, लोभन्, इस्तिन्, मकर, लोभक, शोष, निवात, पाक, सिहक, अकुश, सुवर्णक, इसक, दिसक, कुत्स, बिल, खिल यमल, इस्नकला, सवर्णक । इति पक्षादि ।

(१३) कर्ण, वसिष्ठ, अर्ध, अर्कलूष, दुपद, आनहुष, पञ्चजन्य, रिक्च, कुम्भी, कुन्ता, जिम्बन्, जीवन्त, कुलिश, आण्डीवत्, जव, जैत्र आनक । इति कर्णादि ।

(१४) सुतद्ग, मुनिचित्त, विप्रचित्त, महाचित्त, महापुत्र, स्वन, श्वेत, खटिक, शुक्र, विप्र, बीजवापिन्, अर्जुन, श्वन्, अजिर, जीव, खण्डिन्, कर्ण, विग्रह । इति सुतद्गमादि ।

(१५) प्रगदिन्, मगदिन्, मददिन्, कविल, सण्डित, गदित, चूडार, मन्दार, मजार, कोविदार । इति प्रगद्यादि ।

(१६) वराह, पलाश, शिराष, पिनक, निवद्ध, बलाह, स्थूल, विदग्ध, विजय, विमण् निमण्, बाहु, खदिर, शर्वरा । इति घराहादि ।

(१७) कुमुद, गोमथ, रयकार, दशग्राम, अथत्य, शात्मलि, शिरीष, मुनिस्थल, कुण्डल, कूट, मधुकर्ण, घार, कुन्द, शुचि, कर्ण । इति कुमुदादि ।

वरणादिभ्यश्च (पू० ५७४) वरणा, शृङ्गी, शात्मलि, गुण्डी, श्याण्डी, पर्णी, ताम्रपर्णी, गोद, आलिङ्गयायन, जानपदी, जम्बू, पुष्कर, चम्पा, पम्पा, बरगु, उज्जयिनी, गया, मथुरा, गङ्गशिला, वरमा, गोमता, बलभा । इति घरणादि ।

मातृपथायाश्च मतोर्वोऽप्यादिभ्य (पू० ५७५) यव, रक्षि, कर्मि, भूमि, इमि, बुद्धा, वशा, द्राक्षा, धाक्षा भञ्जि, ध्वञ्जि, मिञ्जि, सञ्जि, हरिच, शकुन्, मरुच, गरल, रक्षि, दुः मधु । इत्यपठित्पलोऽयम् ।

नद्यादिभ्यो षड् (पू० ५७६) नदी, मही, वाराणसी, यावसो, क्रीडास्वी,

वनकौशाम्बी, काशपरी, काशफरी, खादिरी, पूर्वचरी, पाठा, माया, शाल्वा, दावा, सेतकी, वडवाया, वृषे इति नद्यादिः ।

उत्करादिभ्यश्छः (पृ० ५७५) उत्कर, संकल, शफर, पिप्पल, पिप्पलीमूल, अशगन्, सुवर्ण, खलाजित, तिक, कितव, अणक, त्रैवण, पिप्पुक, अशथ, फाश, सुद्र, मला, शाल, जन्वा, अजिर, चर्मन्, उत्क्रोश, क्षान्त, खदिर, शर्पणाय, श्यावनाय, नैवाकव, वृण, पृष्ठ, शाक, पलाश, विजिगीषा, अनेक, आतप, फल, संपर, अर्क, गर्त, अग्नि, वैराणक, इडा, अरण्य, निशान्त, पर्ण, नीचायक, शङ्कर, अवरोहित, ह्यार, विशाल, वैत्र, अरीहण, खण्ड, वातागार, मन्त्रणाई, इन्द्रशृक्ष, नितान्तशृक्ष, आर्द्रशृक्ष, हृत्युत्करादिः ।

काश्यादिभ्यश्छजिठौ (पृ० ५७८) काशि, वेदि, चेदि, सांयाति, संवाह, अच्युत, मोदमान, शकुलाद, इस्तिकर्षु, कुनाम, विरप्य, कारण, गोवासन, मारङ्गी, अरिन्दम, अरित्र, देवदत्त, दशग्राम, शौवावतान, युवराज, उपराज, देवराज, मोदन, सिन्धुमित्र, दासमित्र, सुधामित्र, सोममित्र, छागमित्र, साधमित्र, सधमित्र, आपदादिपूर्वपदाद कालान्तात् । आपद् ऊर्ध्वं तत् । इति काश्यादिः ।

गहादिभ्यश्च (पृ० ५७९) गह, अन्तस्य, सम, विषम; मध्य, मध्यंदिन, चरण, उत्तम, अङ्ग, वक्त्र, मगध, पूर्वपक्ष, अपरपक्ष, अधमशाख, उत्तमशाख, एकशाख, समानशाख, एकग्राम, समानग्राम, एकवृक्ष, एकपलाश, इष्वम, इष्वनीक, अवस्यन्दन, कामप्रस्य, खाढायन, काठेरणि, लावेरणि, सौमित्रि, शैशिरि, आस्रत, शैवशमि. श्रौती, आहिसि, आमित्रि, न्यादि,, वैजि, आध्यन्धि, आनृशंसि, शौकि, अग्निशमि मौजि, चाराटकि, वाल्मीकि, क्षेमवृद्धि, आश्वत्थि; औद्गाहमानि, एकविन्दवि, दन्ताम, इंस, तन्वम, उत्तर, अनन्तर, मुखपर्यन्तसोर्लोपः । जनपरयोः कुक् च । देवस्य च । इति गहादिराकृतिगणः ।

द्वारादीनां च (पृ० ५८०) द्वार, स्वर, स्वग्राम, स्वाध्याय, व्यस्कश, स्वस्ति, स्वर, स्फ्यकृत, स्वादु, मृदु, अस्त, श्वन्, स्व । इति द्वारादिः ।

सन्धिवेलाघृतुनद्यत्रेभ्योऽण् (पृ० ५८०) सन्धिवेला, सन्ध्या, जमावास्या, त्रयो-दशी, चतुर्दशी, पौर्णमासी, प्रतिपत् । इति सन्धिवेलादिः ।

दिगादिभ्यो यत् (पृ० ५८३) दिश्, वर्ग, गण, पक्ष, घाय्य, मित्र, मेधा, अन्तर, पथिन्, रहस्, अलाक, उखा, साक्षिन्, देश, आदि, अन्त, मुख, जघन, मेघ, युय, उदकालंशायान्, न्याय, वंश, वेश, काल, आकाश । इति दिगादिः ।

परिमुखादिभ्य एवेप्यते (पृ० ५८३) परिमुख, परिहनु, पर्योष्ठ, पर्युल्लखल, परिसीर, उपसीर, उपस्थूण, उपकलाप, अनुपथ, अनुपद, अनुगङ्ग, अनुतिल, अनुसीत, अनुसाय, अनुसीर, अनुमाय, अनुयव, अनुयूप, अनुवंश, प्रतिशाख, इति परिमुखादिः ।

अध्यात्मादेष्टु (पृ० ५८०) अध्यात्म, अधिदेव, अविभूत, इहलोक, इत्यध्यात्मादि-राकृतिगणः ।

अनुपातिक्रादीनां च (पृ० ५८४) अनुशतिक, अनुशोड, अनुसंवरण, अनुमंत्रस्तर, ४४ म० कौ०

अशरवेणु, असिइत्य, अस्यहेति, वप्योग, पुष्करसद, अनुहरत, कुशकत, कुशपञ्चाल, उदकमुद, इहलोक, परलोक, सर्वलोक, सर्वपुरुष, सर्वभूमि, प्रयोग, परक्षा, राजपुरुषात्, अग्नि, सूत्रनद, आकृतिगणोऽयम् । तेन अभिगम, अभिभूत, अभिदेव, चतुर्विधा इत्यादि ।
 प्लस्पनुसतिकादि ।

पलाशादिभ्यो वा (५० ५८०) पलाश, कदिर, शिशपा, स्यन्दन, पुलाक, करीर, शिरीष, ववास, विककूट, इति पलाशादि ।

नित्यं ध्रुवसारादिभ्यः (५० ५८८) शर, दर्भ, मृग, कटो, लण, सोम, बह्वज, इति ध्रुवादिः ।

प्लषादिभ्योऽण् (५० ५८८) प्लष, न्यमोष, बहुदी, अश्वत्थ, शिशु, रश्, कश्यप, इरती, इति प्लषादिः ।

इरीतक्यादिभ्यश्च (५० ५८९) इरीतकी, कोशागकी, नसरकनी, शम्कण्ठी, दाढा, दोडा, श्वेतपाकी, अर्जुनपासी, दाया, काल, ध्याहा, गभीका, कण्टकारिका, पिप्पली, विष्ठा, शेफालिका, इति इरीतक्यादि ।

तदाहेति भाषाब्दादिराकृतिगणम् (५० ५९०) नाशब्द, नित्यशब्द, कार्य-
 शब्द—इति भाषाब्दादिराकृतिगणः ।

आहौ प्रभृतादिभ्यः (५० ५९०) प्रभृत, पर्याप—इति प्रभृतादिराकृतिगणः ।

पृच्छन्ती सुस्नातादिभ्यः (५० ५९०) सुस्नात, सुखरात्रि, सुखशयन—इति सुस्ना-
 तादिराकृतिगणः ।

गण्डनी परदारादिभ्यः (५० ५९०) परदार, पुरतरप, इति परदारादिराकृतिगणः ।

पर्पादिभ्यश्चण् (५० ५९१) पर्प, लथ, अण्यथ, रथ, जाले, न्यास, व्याल । शब्द-
 पथ—इति पर्पादिः ।

धेननादिभ्यो जीवति (५० ५९१) वेनन, वाहन, अथेवाहन, धनुर्दण्ड, जाल, वेण, उपवेश, प्रेषण, उपवसित, सुख, शय्या, शक्ति, उपनिषद, उपदेश, स्किज । पाद, उपस्थ, उपस्थान, उपहस्त—इति धेननादि ।

मग्नादिभ्यश्चण् (५० ५९१) मग्ना, मरट, मरण, शोर्षमार, शीर्षभार, असमार, अठेभार—इति मग्नादि ।

निर्गृहेऽद्यद्युतादिभ्यः (५० ५९२) अलक्षूत, जगुप्रहृत्, जहाप्रहृत्, अहाप्रहृत्, पादस्वेदन, अष्टकमर्दन, गतानुगत, गतागत, यात्रोपदात, अनुगत । इत्यद्यद्युतादि ।

छत्रादिभ्यो ण (५० ५९३) छत्र, शिखा, प्ररोहस्य, ब्रमुखा, चुरा, तितिक्षा, उप-
 स्थान, इदि, कामन्, विषया, तपम्, सत्य, अमृत, विशिखा, विडिखा मग्ना, उदरस्थान, पुरोभा, विद्या, चुखा, मन्त्र, इति छत्रादि ।

वगावादिभ्यो यत् (५० ५९५) गो, इवित्, अहर, विष, बहित्, अहक, रसदा,
 कुप, वेद्य, लुप् नामि जन च । घृत् संप्रसारणे वा यत् दीपस्व, तरसिचित्तौ च जन्तो-

दासत्वम् । ऊपसोऽनृत् च । क्रूर, खद, दर, खर, अमुर, अध्वर, सर, वेद, नीम, दोत, इति गवादिः ।

विभाषा छत्रिरूप्यादिभ्यः (पृ० ५९५) कूप, तण्डुलं, लम्ब्युष, अम्बोष, जवोष, अम्बेप, पृथुकं, ओदन, सूप, पूष, किण्व, प्रदीप, मुसल, कटक, कर्णवेष्टक, शाल, जर्गल । अन्नविकारेभ्यश्च । दूप, रयुणा, द्रोप, अथ, पत्र, हरयूप्यादिः ।

खसमासे निष्कादिभ्यः (पृ० ५९०) निष्क, पग, पाद, माष, वाह, द्रोण, पट्टि, इति निष्कादिः ।

दण्डादिभ्यो यद् (पृ० ५९८) दण्ट, मुसल, मधुपर्कं, कशा, मेघ, अर्धं, मेघा, सुवर्णं, उदकं, नप, युग, गुहा, माग, इच, मद्, इति दण्डादिः ।

पृष्ठादिभ्य ह्रन्निज्या (पृ० ५९९) पृथु, मृद, मरुत, पद्, तनु, लनु, वद्, साधु, आधु, उरु, गुरु, बहुल, खण्ड, दण्ड, चण्ड, अर्किचन, डाल, वास, शोट, पाक, मन्द, स्वादु, षस्त्र, दीर्घं, प्रिय, घृष, ऋजु, क्षिप्र, क्षुद्र, अणु । इति पृष्ठादिः ।

वर्णह्रडादिभ्यः व्यञ्ज (पृ० ६००) वृद, इद, परिवृद, मृश, कृश, वक, शुक्र, चुक्र, आन्न, कृष्ट, लवण, तान्न, शीत, उष्ण, जट, बधिर, पण्डित, मधुर, मूर्खं, मूक, स्थिर । वैर्षात्तलात्मतिमनःशारदानाम् । मनो गतिमनसोः । जवन । इति ह्रडादिः ।

गुणद्वन्द्वब्राह्मणादिभ्यः कर्मणि घ (पृ० ६००) ब्राह्मण, नाडव, माणव, अर्हतो नुम् च । चोर, धूर्त, आराधय, विराधय, अपराधय, नपराधय, एकभाव, द्विभाव, त्रिभाव, वन्यभाद, अक्षयश्च, संवादिन्, संवेशिन्, संभाषिन्, इदृभाषिन्, दीर्घधातिन्, विधातिन्, समस्थ, विषमस्थ, परमस्थ, मध्यमस्थ, अनीथर, कुशल, चपल, निपुण, प्रिशुन, कुतूहल, क्षेत्रश्च, विद्वन, बालिष्ठा, अलस, दुःपुरुष, कापुरुष, राजन्, गणपति, अधिपति, गडुल, दावाद, विशुक्ति, विषम, विपात, निपात । सर्ववेद्यादिभ्यः स्वार्थे । चतुर्वेदस्योभयपदमुक्तिश्च । शौटीर । इति ब्राह्मणादिराकृतिगणः ।

चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे ऽपसंख्यानम् (पृ० ६००) चतुर्वर्णं, चतुराश्रम, सर्वविष, त्रिलोक, त्रिस्वर, षड्गुण, सेना, अनन्तर, तत्रिधि, समीर, उपमा, सुख, तदर्थ, इतिह, नणिक । इति चतुर्वर्णादिः ।

पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक् (पृ० ६००) पुरोहित, राजासे, ग्रामिक, पिण्डित, सुहित, बाल, मन्द, खण्डिक, दण्डिक, वर्मिक, कर्मिक, धर्मिक, शिल्पिक, सूतिक, मूलिक, तिलक, अञ्जलिक, अञ्जनिक, रूपिक, ऋषिक, पुत्रिक, अविक, छत्रिक, पर्षिक, पषिक, चर्मिक, प्रतिक, सारथि, आस्तिक, सूचिक, संरक्षक, सूचक, नास्तिक, अजानिक, शाकर शाकर, नागर, चूडिक, इति पुरोहितादिः ।

प्राणशुभ्राशिवयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ् (पृ० ६००) उद्गात्र, उन्नेत्, प्रातिहृत्, प्रशास्त्र, ह्येत्, धोत्, ह्येत्, रयणिक, पत्तिगणिक, सुष्टु, दुष्टु, अध्वर्युं, वध, सुभग, मन्वे । ह्युद्गात्रादिः ।

हापनान्तमुवादिभ्योऽण् (पृ० ६०१) युवन्, स्वविर, होत, यजमान, पुरषीते, प्राए, कुतुक, अमण (भवा), कटुक, कमण्डल, कुली, सुखी, दुःखी, सुहृदय, दुर्हृदय, सुहृद, दुर्हृद, सुभ्रातृ, दुर्भ्रातृ, वृषल, परिमाजक, समदाचारिन्, अनुशत, हृषयासे, कुशल, चपल, निपुण, पिप्लुन, कुतूहल, क्षेत्रज्ञ । श्रोत्रियस्य यलोपश्च । इति युवादिः ।

इन्द्रमनोज्ञादिभ्यश्च (पृ० ६०२) मनोज्ञ, प्रियस्वप्न, अमिस्वप्न, कस्वप्न, मेधाविन्, आढ्य, कुलपुत्र, ध्वन्दत्, छान, श्रोत्रिय, चोर, घृह, विश्वदेव, युवन्, कुपुत्र, प्रामपुत्र, प्रामकुलात्, प्रामद, प्रामवण्ड, प्रामकुमार, सुकुमार, बहुल, अवश्यपुत्र, असुम्पुत्र, असुम्पुकुल, सारपत्र, शतपत्र, इति मनोज्ञादिः ।

तस्य पाकमूले पीडवादिकर्णादिभ्यः कुणञ्जाहर्षी (पृ० ६०३) १. पीड, कर्कन्धु, कर्कन्धु, शमी, करीर, बल, कुबल, बदर, अश्रय, खदिर । इति पीडवादिः ।

२. कर्ण, अक्षि, नख, मुख, केश, पाद, गुल्फ, भ्रू, गृह्ण, दन्त, ओष्ठ, पृष्ठ । इति कर्णादिः ।

तदस्य सजातं तारकादिभ्यः इत्थञ्च (पृ० ६०५) तारका, पुष्प, कर्णक, मञ्जरी, श्चवीष, छण, सूत्र, मूत्र, निष्कमण, पुरीष, उधार, प्रचार, विचार, कुडमल, कण्टक, मुसल, मुकुल, कुसुम, कुतूहल, स्तवक, स्तवक, दिसलय, पल्लव, खण्ड, वेग, निद्रा, सुद्रा, पुमुखा, वेनुष्या, पिपासा, अद्वा, अन्न, पुलक, अङ्गारक, वर्णक, शोह, शोह, सुख, दुःख, लकण्ठो, मर, व्याधि, वमन्, व्रण, गौरव, शाल, तरङ्ग, तिलक, चन्द्रक, अन्यकार, गर्व, कुमुद, सुकुद, हर्ष, उत्कर्ष, रण, कुवलय, गर्व, धुध्, सीमन्त, स्वर, गर, रोग, रोमाश्र, पन्था, कञ्जक, एष, कौरक, कडोच, रथपुट, फल, कद्रुक, शृङ्गार, अङ्कुर, शैवल, बकुल, शन्न, आराल, कलङ्क, कर्म, कन्दल, मूर्च्छा, अङ्गार, इलक, प्रतिविम्ब, विप्रतन्त्र, प्रत्यय दौष्ट, गर्व, गर्मादप्राणिनि । इति तारकादिः । आकृतिगणः ।

इहादिभ्यश्च (पृ० ६०८) इट, पूर्त, उपासादित, निगदित, परिगदित, परिवादित, निकषित, निषादित, निपठित, सकलित, परिकलित, सरक्षित, परिरक्षित, अक्षित, गणित, अवकीर्ण, आयुक्त, गृहीत, आम्नात छत, अवीत, अववान, आसेवित, अशवारित, अवकस्वित, निराकृत, उपकृत, उपाकृत, अनुयुक्त, अनुगणित, अनुपठित, व्याकुलित । इतीहादिः ।

सिष्मादिभ्यश्च (पृ० ६१०) सिष्म, गडु, मणि, नामि, बोज, वागा, कृष्ण, निष्पाव, पाक्षि, पार्थ, पशु, इत, सक्तु, मास, मास । पार्थिवमन्योदीर्षश्च । वातदन्तबललादानाम् च । अटापटाकटाकाला क्षेपे । पर्ण, रुदक, प्रजा, सक्थि, कर्ण, र्नेह, शीत, इयाम, विह, पिठ, पुष्क, वृष्ट, वृद्ध, मण्ड, पत्र, चट, कपि, गण्डु, मग्नि, श्री, कुश, धारा, वर्धन्, इक्ष्मन्, परमन्, पेश, निष्पाद्, कुण्ड । इन्द्रजन्तूपगपयोश्च । इति सिष्मादिः ।

ओमादिपामादिपिच्छादिभ्यः सानैलथ (पृ० ६१०) १ लोमन्, रोमन्, वधु, गिरि, कर्क, कपि, मुनि, तर । इति ओमादिः ।

२. पामन्, वामन्, वेमन्, हेमन्, इक्ष्मन्, कद्द, कद्द, बलि, सामन्, कम्पन्, कृमि ।

अद्वात्कल्याणे । शाकीपठलीदद्ग्रां षस्वत्त्वं च । विष्वगिस्तुत्तरपदलोपश्चात्कृतसन्धेः । रज्ज्या
अञ्च । इति पामादिः ।

३. पिच्छा, उरस्, ध्रुवक, ध्रुवक । जटाघटाकालाः क्षेपे । पर्ण, उदक, पङ्क, प्रघा ।
इति पिच्छादिः ।

ज्योस्नादिभ्य उपसंख्यानम् (पृ० ६११) ज्योस्ना, तमिस्रा, कुण्डल, कुत्तप, विसर्प,
विपादिका । इति ज्योस्नादिः ।

घ्नोद्यादिभ्यश्च (पृ० ६१३) घ्नोहि, माया, शाला, शिस्ता, माला, मेखला, केन्ना,
अटका, पताका, चर्मन्, कर्मन्, वर्मन्, दंष्ट्रा, संघा, बटवा, कुमारी, नौ, वीणा, बलाका,
यव, सुद । शीर्षान्नयः । इति घ्नोद्यादिः ।

अर्शभादिभ्योऽच् (पृ० ६१४) अर्शस्, उरस्, तुन्द, चतुर, पलित, जटा, पटा,
घाटा, अव, कर्दम, धम्ल, लवण । स्वाङ्गादीनाम् । वर्णाद्य, अर्शमादिराकृतिगणः ।

शास्त्रादिभ्यो यः (पृ० ६२७) शास्त्रा, मुख, भृङ्ग, जघन, मेघ, अम्र, चरण, स्कन्द,
स्कन्द, उरस्, शिरस्, अम्र, शरण । इति शास्त्रादिः ।

यावादिभ्यः कन् (पृ० ६२९) याव, मणि, अस्थि, तालु, जानु, सान्द्र, पीत, स्तम्भ ।
ऋतौ उच्यते । पशौ लज्जविपाते । अणु निपुणे । पुत्र कृत्रिमे । खाद्य वेदसमाप्तौ । प्लव
रिक्ते । दान कुत्सिते । तनु सूत्रे । ईयसश्च । घात । अघात । कुमारीकीटनकानि च । इति
यावादिः ।

प्रज्ञादिभ्यश्च (पृ० ६२९) प्रज्ञ, वणिज्, उशिज्, उष्णिज्, प्रत्यक्ष, विदस्, वेदन्,
षोडन्, विद्या, मनस्, श्रोत्र शरीरे, जुह्वद्य, कृष्ण मृगे, चिकोर्षद्य, चोर, चञ्च, योद्य,
चक्षुस्, वसु, पनस्, मरुद्य, कृन्व, सत्वद्य, दशार्ध, वयस्, व्याकृत, अमुर, रक्षस्, पिशाच,
अशनि, कर्षापण, देवता, बन्धु । इति प्रज्ञादिः ।

आघादिभ्यस्तसेरुपसंख्यानम् (पृ० ६३०) आदि, मध्य, अन्त, पृष्ठ, पार्श्व,
हृत्पादादिराकृतिगणः ।



मध्यकोमुदीस्थसूत्राणां सूची



सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अ		अच घे	७२	अतिधेर्म्वा	६२८	अदेष्टु गुण	१६
अकथित च	४६२	अच्छगत्यर्थ	४९९	अतिरतिक्रमणे	४६७	अदो जग्धित्यसि	४१५
अकर्तरि च	४५०	अच्छप्रत्यन्वव	५३५	अतिशायने तम	६२२	अदोऽनन्ने	४०८
अक सवर्णे दीर्घे	२४	अजयं सङ्गतम्	३८९	अतो शुन	५०५	अदोऽनुपदेशे	४९९
अकर्मकाश्च	३५८	अजादी गुण	६२२	अतो गुणे	१०१	अद सर्वेषां	२२८
अकृस्मावंधातु	१७३	अजाघदन्तम्	५२५	अतो दीर्घो यञि	१४५	अद्भुतरादिभ्य	९२
अकेनोर्मादिभ्यदा	४७४	अजाघतटाप्	६३८	अतो मिस ऐस्	५९	अधिकरणवाचिना	४९०
अद्योऽन्यतर	१८९	अजादेऽद्वितीयस्य	१४६	अतोऽम्	९१	अधिकरणवाचि	४७३
अङ्गोऽऽर्चनाव	५३६	अजाविभ्यां	५९६	अनो येय	१५१	अधिकरणे शेते	३९७
अङ्गे स्तुस्तोम	५२९	अङ्गनगर्मा	३२९	अनो शेरप्नुता	४७	अधिकृत्य कृते	५८५
अङ्गेर्दक्	५६७	अङ्गानि	६२५	अनो श्लोप	१६७	अधिरीश्वरे	४७७
अन्वो चै	४१६	अङ्गानासिकाया	५१८	अतो व्रान्तस्य	१७५	अधिशील्स्वासां	४६५
अग्नौ परिचाय्यो	३९१	अङ्गे पूजायां	४२१	अतो हलादेशेषो	१६०	अधुना	६१७
अग्राख्याया	५०४	अङ्गेर्लुक्	६२०	अतो हे	१४९	अध्ययनतोऽवि	५२६
अग्रान्तशुद्धशुभ्र	५२१	अङ्गोऽनपादाने	४१८	अत ह्रस्वमिक्त्	३९८	अध्ययपूर्वाद	५९७
अचतुरविचतुर	५३६	अङ्गे सिचि	३१४	अपूर्वस्य	१०६	अन उपधालो	६४१
अचस्ताप्तस्य	१७२	अट्कुप्वाङ्नुम्	५८	अत्सृदृत्वप्रथ	३१३	अनङ् स्ती	७२
अचिच्छस्ति	५६९	अट्गाग्येगालव	२५७	अत्र श्लोपोऽभ्या	३३२	अनचि च	१३
अचि र ऋत	८७	अणावकर्मकाश्च	३६८	अत्रानुनासिक	४०	अनत्याधान	५००
अचि दिमाषा	३१०	अणिभोरनार्थयो	५६३	अत्रिमृग्युक्तम्	५६०	अनघतने लङ्	१५०
अचि श्नुषातु	७७	अणुदित्सवर्णस्य	१०	अश्वमन्तस्य	१२२	अनघतने लुट्	१४७
अचोऽभिगति	७३	अणु च	६११	अदभ्यस्ताश्च	२६०	अनघतने हिङ्म्य	६१८
अचोन्वादि	२२	अश आदे	१५४	अदर्शन लोप	३	अनश्च	४८४
अचो यद्	३८७	अत इप्	५५७	अदस औ मूलो	१२७	अनाप्यक	१०२
अचो र्हाम्यां द्वे	२२	अत णिठनौ	६१३	अदसो माय	२८	अनिते	२५९
अच	१२०	अत उपधाया	२५९	अदसोऽसेर्दाडु	१२७	अनिदितां हल	१२९
अच कर्मकर्षारि	३७७	अत उस्तावंधातु	२३४	अदिप्रगृतिभ्य	२२७	अनुकरण	४९८
अच. पररिमन्	३१८	अत षकृश्चमभ्ये	१६०	अदूरमवथ	५७३	अनुगवमायामे	५३८

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अनुदात्तश्चित्	१४३	अन्तरान्तरेण	४६८	गामिनिविशक्ष	४६५	अर्वाक्षसाधन	१०८
अनुदात्तं पञ्चमेक	६६६	अन्तादिबध्	२३८	अमिनिष्कान	५८५	अर्शआदिभ्यो	६१४
अनुदात्तस्य चटु	१८८	अन्तात्यन्ता	४०४	अमिप्रत्ययिभ्यः	३३६	अर्धः	६९७
अनुदात्तस्य च	६६१	अन्तिकवाड्यो	६२३	अमिरमानो	४६७	अर्धे ऋत्भृचृचव	१८२
अनुदात्तादेश	५८७	अधेन व्यञ्ज	४८७	अमिषिषौ साम्	६३१	अलुगुत्तरपदे	५३९
अनुदात्तेश्च	४३१	अन्यपदार्थे च	४८४	अभ्यस्तस्य च	२२४	अलोऽन्यस्य	१३
अनुदात्तोपदेश	२२९	अन्यसैर्वकपमि	४५८	अभ्यास्तस्यात्	२३८	अलोऽन्यस्यपूर्वं	७२
अनुदात्तो	६६७	अन्यारादितर	४७१	अभ्यासाद्य	२३०	अलंकृञ्जिनाङ्	४२९
अनुनासिकस्य	३४९	अन्येभ्योपि वृ	४०९	अभ्यासे चर्च	१४६	अलंकारोः प्र	४९५
अनुनासिकात्परो	४०	अन्येषामपि वृ	५१६	अमनुष्यकारुंकी	४०६	अक्षेपे	६२५
अनुपद्यन्वेषा	६०८	अन्येष्वपि वृ	४१४	अमावस्यदन्य	३९१	अत्पात्तरम्	५२५
अनुपराभ्यां	३६६	अन्ववतासाद्दृ	५३८	अमि पूर्वः	५८	अहोषोऽन्तः	९५
अनुपमर्गाद्वा	३५८	अपर्यं षौत्रप्र	५५६	अमूर्धमस्तकात्	५४१	अवच्छ् स्फोटाय	२६
अनुपसर्गात्फुल्ल	४१९	अपर्यं नपुंसकं	५०७	अमैवाव्ययेन	५०२	अवघषपण्यदृषां	३८८
अनुपसर्गांश्चिम्	३९३	अपदान्तस्य मूर्द्ध	६१	अमसंगुद्धौ	९९	अवयये च प्रा	५८७
अनुपसर्जनाद्	६४५	अपपरिभदिर	४८२	अम्बान्वगोभू	३९५	अवयवः श्लेष	६५९
अनुर्लक्षणे	४६६	अपपरी कर्जने	४७१	अम्भार्धनचोर्ध	७६	अवसमन्वेष्यः	५३८
अनुविपर्यभिनि	२११	अपरिमाणवि	६४६	अयस्त्रयादीनि	६५८	अवाद्यालम्ब	१५८
अनुदात्तिकादी	५८४	अपरोक्षे च	३७९	अयच्छ्मि निष्ठ	३४२	अवाक्कुटार	६०४
अनुस्वारस्यऽपि	३६	अपवर्गे तृतीया	४६८	अयामन्तास्वा	१९७	अये तृस्रोर्ध्व	४५४
अनृप्यानन्तर्थे	५५८	अपह्वये क्षः	३५८	अरण्यान्मनुष्ये	५७८	अवे यजः	६५९
अनेकमन्यपदा	५०९	अपादाने पञ्च	४७०	अरुद्रिपदजन्त	३९९	अवेः कः	६२८
अनेकांश्चिस्तत्वं	२५	अपूर्वपदादन्य	५६१	अरुर्मनश्चक्षुश्चे	६३१	अव्यक्तानुकर	६३२
अनो बहुव्रीहेः	६४१	अपृक्त एफाल्	७२	अतिपिपत्योश्च	२७५	अव्ययीभावः	४७९
अनो कर्मणि	४१४	अपे छेऽशतम	४०५	अतिल्लघुसू	४३३	अव्ययसर्वना	६२५
अन्	५५९	अपे च लघः	४३०	अतिटोऽलीरो	३२४	अव्ययास्यप्	५७६
अन्तरपरिग्रहे	४९८	अपो मि	१३१	अर्थवदघातु	५४	अव्ययादाप्सु	१४०
अन्तःपूर्वपदा	५८३	अप्तृन्तृच्	७९	अर्थे निभाषा	५४८	अव्ययीभावश्च	१४०
अन्तर्वत्पतिव	६४८	अप्पूर्णाप्रमा	५११	अर्थेचांः पुंसि	५०८	अव्ययीभावश्च	४८०
अन्तरं षड्विंशो	६५	अप्रत्ययाद्	४५२	अर्थाच्च	५०५	अव्ययीभावमाद्य	५८३
अन्तः	४१०	अभाषितपुंस्का	६४५	अर्थे नपुंसकञ्	४९१	अव्ययीभावे चा	४८१
अन्तर्विन्द्यां	५१८	अभिहावचने	३७८	अर्थेः स्वामि	३८९	अव्ययीभावे शर	४८४

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अम्बयेऽयथा	५०३	अद्दृष्टोरेव	५०४	आतो ख्येप इति	१७६	आमन्त्रिन पूर्वं	११९
अम्बय विभक्तिः	४७९	अद्दोह एतेभ्य	५०४	आन	१७७	आमि सर्वना	६३
अभ्यादवभाद	६६३	अद्दोऽन्तात्	५०४	आत्मनश्च	५५०	आमेत	१९५
अशजाबोदन्य	३४८	आ		आत्मनेपदेभ्यन	१९६	आम.	१६७
अशला च	५०८	आ ककारादेका	७०	आत्मनेपदेभ्य	२२४	आम्प्रत्ययवत्	१९३
अशनीतिश्च	३०१	आकेस्तच्छील	४२८	" "	३६०	आयनेयीनीयि	५५७
अशश्रीरवृषल	३४८	आल् उद्गमने	३५७	आत्मन्त्रिश्च	५९६	आयादय आर्थ	१६७
अशपस्यादिभ्य	५५४	आल् मर्यादाभि	४७१	आत्ममाने ख	४११	आयुक्तकुशला	४७६
अश्यादिभ्य	५६०	आलि चाप	८४	आत्माध्वानौ	५९६	आर्थधातुक	१४७
अशशयपुती	५४८	आलि ताच्छी	३९७	आदरानादर	४९८	आर्थधातुकस्ये	१४७
अशन आ विम	१०९	आलो नाऽस्त्रिषां	७१	आदाचार्याणां	६४५	आर्थधातुके	२३१
अशाम्य औशु	१०९	आलो यमहन	३६०	आदिद्वर्मणि	४२२	आर्हादिगोपुच्छ	५९६
असगामे नि	५९७	आलो यि	३८८	आदितश्च	४१९	आलजाटचौ	६१४
असयोगाष्टिद्	१५६	आल्लमातोश्च	४५	आदिरन्त्येन	३	आवय्याश्च	६५७
असार्प्रतिके	५७९	आ च त्वात्	५९९	आदिभिदुह	१६२	आवश्यकाथम	४५५
असिद्वदत्रा	२३०	आ च शौ	२७७	आदेच उपदे	१७७	आशिते मुक्	४०३
असुयैललाटयो	४०१	आच्छेनघो	१३५	आदेशप्रत्यय	६१	आशिषि लिच्	१४८
अस्त च	४९९	आञ्जसेरसुक	६६५	आदे परस्य	३४	आशिषि च	३९५
अस्ताति च	६१९	आटश्च	७६	आद्गुण	१६	आशिषि इन	४०५
अस्तिनास्ति	५९३	आद्दजादीनाम्	१५५	आद्यन्वदेक	१०२	आशसायां भूत्	३८०
अस्तिसिचो	१५५	आहुत्तयस्य	१४९	आद्यन्तौ टकि	३८	आशसावचने	३८१
अस्तेर्मु	२३५	आह्वमुमग	४०७	आद्युदात्तश्च	६६७	आ सर्वनाम्न	१२३
अस्विदधि	९५	आपनथा	७६	आयारोऽधिक	४७५	आहरय	२७०
अस्मपुत्तम	१४४	आन दे	६६०	आनहृतो इन्द्रे	५२९	आहि च दूरे	६२०
अस्मापामेवा	६१३	आत औ गल	१७६	आनि लोट्	१४९	इ	
अस्य श्वौ	६३०	आतश्चोपसर्गे	३९३	आने मुक्	४२७	इकोऽधि विम	९२
अस्वतिवक्ति	२४०	आतश्चोपसर्गे	४५३	आन्महत् स	४९५	इको हल	३२९
अस्वतेऽसुक	२८९	आतो छिन	१९२	आपरस्य च	५५७	इको यणधि	१२
अस्वाङ्गपूर्वप	६५३	आतो वातो	७०	आपोऽन्यतर	५२२	इकोऽसवर्गे	३०
अहन्	१३३	आतोऽनुपसर्गे	३९५	आपुष्प्यधामीत्	३३२	इको हत्वो	५४६
अहश्चमोयुंस्	६१५	आतो युक् चि	३७३	आवाधे च	६३५	इगन्ताश्च रुपु	६०१
अहत्सर्वेऽदे	५०३	आतो युच्	४५५	आमीह्ये णसु	४५७	इगुपवशापी	३९३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
इयणः मंत्र	९८	इदमो हः	६१६	ईयदसमा	६२५	उदिभ्यां तपः	३५९
इहश्च	३३०	इदितो नुम्	१६२	ईपददुःसुषु	४५५	उदिभ्यां काकु	५१८
इत्कर्मव्यतिदारे	५१६	इदुदुपथस्य चा	४४	ई हृत्यपोः	२७६	उपघाते	५८६
इच एकाचो	४११	इदुद्गथाम्	८७	उ		उपदेशेऽजनु	१६०
इच्छा	४५२	इदोऽय् पुंसि	१०१	उगवादिभ्यो	५९५	उपदेशेऽत्त्वतः	१७२
इच्छार्थेषु लिङ्	३८१	इदरिद्रस्य	२६१	उगितश्च	६३९	उपधायां च	१९१
इजादेश्च गुरु	१९३	इदृष्ट्वा	५२९	उगितश्च	५४४	उपधायाश्च	३१४
इजादेः सनुमः	३८६	इनण्यनपत्ये	५६८	उगितर्चां सर्व	१०७	उपपदमतिङ्	५०२
इट ईटि	१५५	इनः स्त्रियाम्	५२२	उश्चैरुदात्तः	४	उपमानाच्च	५२१
इदोऽय्	१९६	इनिप्रकटयचश्च	५७०	उच्छ्रति	५९२	उपमानाद्	५०५
इट् सनि वा	३३५	इन्द्रवरुणम	६५२	उणादयो बहु	४५०	उपमानादाचारे	३४९
इदत्यतिष्ययती	२२३	इन्द्रे च	२६	उतश्च प्रत्ययाद्	१८६	उपमानानि सा	४९६
इणो गा लुङि	२३९	इह्नुपार्थ	१०५	उनो वृद्धिलुङि	२३२	उपमितं व्याघ्रा	४९६
इणो यण्	२३८	इरितो वा	१६१	उत्तमैकाभ्याश्च	५०४	उपर्यध्यधसः	६३४
इणः यः	४३	इवे प्रतिकृतौ	६२७	उत्करादिभ्यश्छः	५७५	उपर्युपरिटाव्	६२०
इणः धीध्वंलुङ्	१९३	इधुगमियर्मा	१८७	उत्तरमृगपूर्वाच्च	५०५	उपसर्गप्रादुभ्यामर्	३६
इणकोः	६१	इष्टकेपीकामा	५४६	उत्तराच्च	६२०	उपसर्गस्य ध्वन्य	५५०
इण् निष्ठायां	४२१	इष्टादिभ्यश्च	६०८	उत्तरापरदक्षि	६२०	उपसर्गस्थावतौ	२०८
इतराम्योऽपि	६१७	इष्टस्य यिट् च	६२४	उत्तरस्यातः	३४०	उपसर्गाच्च	५१९
इतरेतरान्यो	३५५	इसुसुक्तान्तात्	५६९	उत्सादिभ्योऽय्	५५५	उपसर्गादसमासे	१६०
इतश्च	१५०	इस्मन्त्रन्	४३९	उद ईत्	१२०	उपसर्गाद्ध्वनः	५३८
इतश्च लोपः	६५९	ई		उदकस्योदःसंशा	५४५	उपसर्गादृति धातौ	२१
इतश्चानिञः	५६०	ई प्राध्मोः	३४३	उदश्चरःसकर्म	३६४	उपसर्गाद्ध्रस्व	३६३
इतोऽत्सर्वना	१०८	ई च गणः	३१९	उदःस्थास्नम्नोः	३४	उपसर्गाः क्रिया	२१
इतो मनुष्य	६५६	ईडजनोर्ध्वे च	२६५	उदात्तादनुदात्त	६६६	उपसर्गस्मुनोति	१५७
इत्यंभूतलक्ष	४६९	ईदग्नेः सोम	५२९	उदि कूले रुङि	४००	उपसर्गे च सं	४१४
इदं किमोरी	५४८	ईदासः	४२७	उदितो वा	४५६	उपसर्गेधोः किः	४५२
इदं किमोरीश्	६०६	ईदूदेददिवचनं	२७	उदीचामातः	६४४	उपसर्जनं पूर्वम्	४८०
इदम इश्	६१६	ईपति	३८७	उदीचां वृद्धाद्	५६२	उपसर्गाकाल्या	३८९
इदमत्स्यसुः	६१८	ईयसश्च	५२३	उदुपधाद्वावादि	४२२	उपसंवाद्शङ्क	६६०
इदमो मः	१०१	ईशः से	२६५	उदोनूर्ध्वकर्मणि	३५९	उपाच्च	३६७
इदमो हिङ्	६१७	ईपदर्थे	५४९	उदोऽथपूर्वस्य	५००	उपाजेऽन्वाजे	५००

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
उपाधम	३६४	ऊर्णातेर्विभाषा	२७१	एकवचनस्य च	११४	एरनेद्वयोऽमयो	७७
उपाधप्रतिपत्त	३२०	ऊर्णातेर्विभाषा	२७२	एकवचन सञ्जु	५७	एर	१४८
उपाधप्रशमायाम्	३८८	ऊर्णादिभाषा	५२०	एकविभक्तिकाः	५०१	एरलिङि	१७६
उपाधिम्यास्यक	६०४	ऊर्णादिष्विडा	४९७	एकस्य सकृच्च	६२८	एरच्	४५१
उपाधमन्त्रकरणे	३५९	ऊर्णयुषिमुष्कम्	६११	एकह्लादी पूर	५४५	रे	
उपान्वध्याञ्	४६५	ऋ		एकाच्च उपदेशे	१६८	ऐवमोऽग्रन्थसो	५७७
उपयिवानना	४२७	ऋकपूरञ्चू	५३५	एकाचो द्वे प्रथ	१४६	ओ	
उपोऽधिके च	४६६	ऋच्छरयुताम्	२७६	एकाचो वयो	९७	ओञ्-सहो	१३९
उपोत्तम रिति	६६७	ऋणमाधम	४३०	एकाच्च प्राचाम्	६२६	ओन इयनि	२८४
उपयप्राप्तौ कर्म	४७३	ऋत उद्	८०	एकादाकिनि	६२१	ओत्	२९
उमादुदात्तो	६०६	ऋतश्च	३४६	एकादौ ध्यसु	६२१	ओनो गार्ग्यस्य	४०
उभे अभ्यस्तम्	१२३	ऋतष्टम्	५८४	एकाञ्जुत्तरपदे	१०६	ओदितश्च	४१७
उभौ माम्यासरस्य	३२६	ऋतश्च सयोगा	१८२	एकौ गोत्रे	५५६	ओमाओश्च	२४
उरारपर	१७	ऋतेरीयच्	२२७	एक पदान्ता	२५	ओरञ्	५८७
उर प्रभृतिभ्य	५२२	ऋतो द्विसर्व	७३	एच्छि पररूपम्	२२	ओरावश्यके	३९०
उरत्	११७	ऋतो भारदाज	१७२	एच्छ ह्रस्वात्सबुद्धे	५८	ओशुंण	५५६
उर्हत्	३१३	ऋतो विधायो	५४२	एच इग्रस्वादेशे	९६	ओमि च	६०
उश्च	२१६	ऋत्यक	३०	एचोऽयवायाव	१४	ओ-पुयण्यपर	३२१
उषविहजागृभ्यो	२३३	ऋत्विग्भृक्	१०९	एजे सत्	३९९	ओ छुपि	८२
उस्यपदान्तात्	१५१	ऋदुपधाक्षा	३८७	एण्या ढञ्	५८८	ओ	
"	१७७	ऋदुपधाचा	३८७	एत ईद्वु	१२८	ओत् आप	८४
"	१८७	ऋदुशनरपुण	७९	एत ऐ	१९५	ओतोऽग्रामो	८३
ऊ		ऋदुशोऽङिगु	१८५	एतत्तरो मुलौ	५२	ओत्	७३
ऊर्णाञ्ज्वरख	४	ऋदनो रये	१८३	एन्दोऽन्	६१६	क	
ऊहृन्	६५६	ऋन्नेभ्यो छीप्	९०	एतिस्तुगात्	३८९	कडारा कर्म	४९६
ऊत्तिरूत्तिजृत्ति	४५२	ऋभ्यन्थकपृणिण	५५८	एतेतो रथो	६१७	कणोमनसी	४९८
ऊदनोंदेशे	५३०	ऋह्लोर्ण्यत्	३९०	" "	६१८	कण्डवादिभ्यो	३५४
ऊधमोऽनच्	६४८	ऋ		एतेमिडि	२३८	कन्याया कनीन	५५९
"	५२०	ऋत् इदातो	३०९	एत्येवत्यूठसु	१९	कपिहात्पोर्दक्	६००
ऊरुत्तरपदादौ	६५७	ऋदोरप्	४५१	एवाप	६२१	कमेगिक्	१९७
ऊर्णाया सुम्	६१४	ए		एनपा दित्तीया	४७४	कन्ययात् सहा	५९५
		एक बहुभोदि	३३५	एनबन्वत्तरस्या	६२०	कन्धोऽन्तुक्	५१३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
कर्णाधिकरण	४५४	कत्कादिपु च	४३	कुगितते	६२५	कोः कत्तरपुरुषे	५४८
कर्णे यजः	४१२	कस्येव	५६६	कुप्योः (क) (पौ) ४२		कोशाद्वम्	५८२
कर्णे हनः	४५९	कस्य च दः	६२५	कुमति च	५५२	भिलति च	१५२
कर्णि कर्मन्त्य	३७५	काण्डाण्डादी	६१२	कुमहृत्प्रयामन्य	५०६	कक्षवत् निष्ठा	४१५
कर्णि च	४९१	काण्डान्ताक्षेत्रे	६४७	कुमारशौष्योर्णि	४०५	क्तस्य च वर्त	४७३
कर्णि क्व	३८५	कानाम्नेटिते	४४	कुमुदन्तवेतसे	५७४	किन्त्को च संज्ञा	४५५
कर्णि नृवः	४०७	कापथ्यज्ञयोः	५४०	कुरनादिभ्यो	५६६	क्तेन च पूजायां	४९१
कर्णि शप्	१४४	काम्यद्य	३४९	कुलटाया वा	५६०	कोऽधिकरणे च	४२४
कर्णरोष्मिननमं	४६२	कालसमयवेलात्	४५०	कुलात्तः	५६१	पत्रेर्मन् नित्यम्	४५१
कर्तः क्यच्च	३५०	कालाट्ठम्	५८०	कुशाग्राच्छः	६२७	क्वातोऽनुक्तसु	१४०
कर्तृकरणयोस्तु	४६८	कालाध्वनोरत्य	४६७	कुशिन्योः प्राचां	३७८	क्वा च	५०३
कर्तृकरणे कृना	४८८	कालाः परिमा	४९३	कुशोश्चुः	१५९	क्यचि च	३४७
कर्तृकर्मणोः कृति	४७२	काश्यादिभ्यष्टम्	५७८	कुञ्जो द्वितीयत्	६३२	क्यहृत्मानिनोश्च	५१३
कर्मणा यममि	४६९	कासूगोणाभ्यां	६२६	कुञ्जो हेतुताच्छी	३९८	क्यत्र्योश्च	६३०
कर्मणि षटोऽठच	६०५	कितः	६६७	कुञ्जः, श च	४५२	क्यस्य विभा	३४९
कर्मणि च	४९१	किति च	५५५	कुञ्जानुप्रयुज्यते	१६७	कत्री कुण्टपा	३९२
कर्मणि द्वितीया	४६२	किदाशिपि	१५२	कुत्तदितसमासा	५४	कङ्कपादिसू	५७१
कर्मणि हनः	४१२	किमश्च	६१८	कुत्त्यचः	३८६	कमादिभ्यो	५७
कर्मणोनि विक्रि	४१३	किमिदभ्यां	६०६	कुत्त्यस्युटो बहुलं	३८७	कमः परस्मैप	१७४
कर्मणोरोमन्यत	३५१	किमेच्छिष्य	६२२	कुत्त्यर्थे तवैके	६६२	कस्यस्तदर्थे	१६
कर्मण्यग्न्याख्या	४१३	किमोऽत्	६१७	कुत्याः	३८५	कन्ये च	४०९
कर्मण्यण्	३९५	किमः कः	१०१	कुत्यानां कर्नरि	४७३	क्रियासममिहा	३८२
कर्मन्दकृशाधा	५८६	किमः क्षेपे	५३९	कुत्याश्च	४५५	कोऽङ्जीनां णौ	३६७
कर्मप्रदचनीया	४६६	किमः संख्यापरि	६०६	कुत्तित्छु	११०	कोऽङ्कोऽनुसंपरि	३५६
कर्मप्रवचनीयाः	४६६	किरतौ लवने	३०९	कुन्मेजन्तः	१३९	कोऽतात्करण	६५२
कर्मवत्कर्मणा तु	३७५	किरश्च पञ्चम्यः	३३१	कुपो रो लः	२१२	क्यादिभ्यः शना	३०५
कल्याण्यादीना	५६०	कियत्तदोनिदां	६२६	कुम्बस्त्रियोगे	६३०	कुशः क्तवानि	४२१
कवं चोण्णे	५४९	किसर्वनामबहु	६१६	कुसम्बुश्चुत्तु	१७२	कुसुश्च	४२६
कषादिपु यथा	४५८	कुगतिप्रादयः	४९७	कुेऽणः	५११	क्वाति	६१७
कषाय क्रमणे	३५१	कुटीशमीशुण्डा	६२६	कुेदारापञ्च	५६८	किन्प्रत्ययस्य	११०
कंशंभ्यां वमयु	६१५	कुति शोः	६१६	कुेशाभ्याम्वां	५६९	किप् च	४१०
कंसाद्विठन्	५९७	कुत्वा डुपच्	६२६	कुेशादोऽन्यतर	६१२	कुवाढः	५५९

सूत्रम्	५४५	सूत्रम्	५४५	सूत्रम्	५४५	सूत्रम्	५४५
सुम्यज्यौ	१६	गवियुधियां	५४०	प्रहोऽलिति	१०८	चतुर्थी तंर्यां	४८८
द्यायो म	४१९	गस्थकम्	३९४	ग्रामकौट्यां	५०५	चतुर्थी सम्प्र	४६९
क्षिप्रवचने	३८०	गद्दिभ्यश्च	५७९	गामजनबन्धु	५६९	चरणे मद्वाचा	५४७
क्षियो द्वीर्षादि	४१५	गाङ्कुटादि	२६५	ग्रामाद्यत्तयो	५७६	चरति	५११
क्षुद्रजन्तवः	५२७	गाङ्गलिति	२६४	ग्राम्यपशुर्मथे	५३४	चरफलोश्च	३४०
क्षुद्राम्यो वा	५६१	गाण्ड्यजगात्स	६१२	द्रीवाभ्योऽण च	५८३	चरेष्ट	३९७
क्षुम्नादिषु च	३०१	गातिस्थापुषा	१५२	द्रो यङि	३४१	चलनशब्दा	४३०
क्षेमप्रियमद्रे	४०३	गापोष्टक्	३९६	ग्लाभित्स्थश्च	४२९	चादपोऽसत्वे	२८
कसत्याचि	२६८	गिरेषसेनहस्य	४८५	घ		चाय की	३४२
ख		गुणवचनमा	६००	घञ माभ्यां	५७०	चायै दन्दः	५२५
खचि हन्व	४०२	गुणोऽशुक्ते	२७२	घञि च माव	४५१	चिगो लुक्	७९३
खरवमानयो	४०	गुणं यङ् लुको	३३७	घरूपकत्पचे	५४३	चिष्णमुलोदी	३७३
खरि च	३५	गुणोनिमयो	१८३	घुमास्थागापा	२६५	चिष् त् पद	२९४
खलगोरवात्	५६९	गुपुष्पत्रिच्छि	१६६	घेङिति	७२	चिष्मावकर्म	३७०
खार्यां प्राबाम्	५०५	गुप्तिक्रन्द्य	३३६	घसोरेद्वाव	२३६	चित्वाप्रिवित्ये	३९२
खित्यनभ्ययस्य	४००	गुरोर्नृतोऽनन्त्य	२७	ङ		चित	६६७
ख्यत्यात्परस्य	७३	गुरोश्च हल	४५२	ङमो ह्रस्वादि	४०	चुद्	५७
ख		गोत्रे क	३९४	ङसिहसोश्च	७२	चो कु	१११
गतिबुद्धिप्रथय	४६३	गोत्रो णित्	८३	ङसिहघो र्मा	६२	चो	१२०
गतिश्च	७८	गोत्रचरणाद्	५८६	ङिघ	२६	ङिक् लुकि	१५२
गन्धर्षाकर्मक	४२३	गोत्राङ्कवत्	५८४	ङिति ह्रस्वश्च	८६	ङ्ले सिच्	१४२
गदमदचरयम	३८८	गोत्राद्यन्वलि	५५७	ङेप्रथमयोरम्	११२	ङ्वी च	६३१
गन्धनावक्षेपग	३६५	गोत्रे कुञ्जादि	५५९	ङेराशपाश्रौभ्य	७७	ङ	
गन्धस्येदुत्पृति	५२१	गोत्रेऽलुगचि	५५६	ङेर्यं	५९	ङन्दसि ङिट्	४२६
गमश्च	४०४	गोत्रोऽशोष्टोरम्	५६८	ङणो कुङ्कुक्	३८	ङन्दस्युमथथा	६५१
गमहनजनखन	१८७	गोत्राया ङक्	५६१	ङथाप्राति	५५	ङन्दसि परेऽपि	६५८
गमेरिट् परस्मै	१८८	गोत्रयसोर्षत्	५८८	च		ङनादिभ्यो	५९३
गम ङी	४२०	गोत्रुच्छाट्ठम्	५९०	चक्षिष्ठ स्या	२६६	ङोदेर्षेऽद्गुपत्	४५४
गम्भीरान्ध	५५६	गोरतक्षित्तु	४९४	चक्षि	१७८	ङाया बाहुस्ये	५०८
गर्गादिभ्यो	५५६	गोश्च पुरीषे	५८८	चञो कुषिण्य	३९०	छे च	४४
गर्गात्परपदा	५७८	गोक्षियोरुष	५०१	चटकाया वैरक्	५६०	छ्वो. शङ्गुना	३३१
गवायमशुद्धी	५२७	गदिस्यावधि	३२२	चतुरण्डुहो	९९		

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
ज		ज्य च	५२३	ठगायस्थानेभ्यः	५८४	तत्पुरुषे कृति	४१४
जक्षित्यादयः	१२३	ज्यादादीयसः	६२३	ठञ्कवचिनश्च	५६९	तत्पुरुषः	४८६
जनपदशब्दात्	५६२	ज्योतिर्जनपद	५४७	ठस्येकः	५५९	तत्पुरुषः समा	४९५
जनपदे लुप्	५७४	ज्वरत्वरक्षिण्य	४३७	ड		तत्प्रकृतवचने	६२७
जनसनखना	३१८	ज्वलितिकसन्ते	३९३	टति च	७४	तत्प्रयोजको	३२०
जनिकर्तुः प्रकृ	४७०	झ		टः सि धुट्	३८	तत्र जातः	५८२
जनिवध्वोश्च	२९४	झयः	४६५	डाडुमान्यामन्य	६४१	तत्र तस्येव	५१९
जपजमदादश	३४०	"	५७४	ड्वितः क्विः	४५१	तत्र तेनेदमिति	५१६
जम्भवावः	५८८	झयो होज्य	३५	ढ		तत्र नियुक्तः	५९३
जराया जरस	६७	झरो झरि सवर्णे	३५	दकि लोपः	५६१	तत्र भवः	५८३
जत्वमिषुकुट्ट	४३१	झलां जश	१३	ढो ढे लोपः	५१	तत्र साधुः	५९४
जदशतोः शिः	९१	झलां जशोऽन्ते	३३	"	२२०	तत्रोद्भूतममत्रे	५६६
जसि च	७१	झलो झलि	१७१	ढ्रलोपे पूर्वस्य	५१	तत्रोपपदं	५०२
जशः शो	६२	शपस्तथो	१८९	ण		"	३९५
जहातेश्च	२७६	"	२२०	णलुत्तनो वा	१५९	तत्सर्वादिः पथ्य	६०२
जहातेश्च कित्	४५६	झस्य रन्	१९६	णिवश्च	३११	तदर्धति तद्देद	५७१
जाप्रोऽविचिण्	२६०	झेजुंस्	१५१	णिविद्रुमुभ्यः	२००	तदधीनवचने	६३१
जातिरप्राणिना	५२६	झेन्तः	१४४	णेरनिटि	२००	तदर्हति	५९८
जातेरप्रीविपया	६५५	ञ		णेर्विभाषा	३८६	तदस्मिन्नधिक	६०६
जातेश्च	५१५	जीतः क्तः	४२५	णो नः	१६०	तदस्मिन्नस्तौति	५७२
जानपदकुण्डगा	६५०	जिनस्यादिनित्यं	६६७	णी गमिरबोधने	३२६	तदस्य पण्यम्	५९२
जायाया निच्	५२१	ज्यादयस्तत्राजाः	६२९	णी चछयुपभायाः	२०१	तदस्य परिमाणं	५९८
जिप्रतेर्वा	३२४	ट		णी च संक्ष	३२३	तदस्य सत्पातं	६०५
जिहामूलाङ्गुले	५८४	टाठसिहसा	५९	"	३६७	तदस्यास्त्यस्मि	६०९
जीर्धतेरवृग्	४२५	टाश्चि	६४०	ण्यासश्चनो युच्	४२३	तदस्यां प्रहरण	५७०
जीवति तु वंक्ष्ये	५५७	टिटढाणभृदय	६४५	ण्युट् च	३९४	तदोः सः साव	११२
जीवितोपनिष	५०१	टित आत्मने	१९२	ण्वुलृच्	३९२	तदो दा च	६१७
जुसि च	२६१	टेः	९२	त		तद्गच्छति पथि	५८५
जुहोत्यादिभ्यः	२७२	टेः	६००	तडानावारमने	१४३	तद्राजस्य बहुषु	५६३
जुस्तम्भुचुञ्जु	३०७	ट्वितोऽयुच्	४५१	तत आगतः	५८४	तद्दहति रययुग	५९४
जाजनीर्जा	२९३	ठ		तत्पुरुषः		तद्वितथासर्ववि	१३९
जाह्वस्तृष्टशा	३६४	ठङ्गौ च	५७४	तत्पुरुषः		तद्वितस्य	६६७

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
तद्धिता	४८४	तस्य पूरणे षट्	६०७	सुन्दिरबलिबटे	६१५	तोर्लि	३४
तद्धितार्थोत्तरपद	४९३	तस्य भावस्य	५९९	सुभ्यमश्री	११४	तो वि	३३
तद्धितेष्वचामा	४९४	तस्य लोप	३	सुमर्थे सेतेन	६६२	तो सय	४२८
तनादिकृष्ण्य	२३४	तस्य विकार	५८७	सुमुण्डुली क्रिया	४५०	त्यदादियु द्वयो	१२३
"	३१७	तस्य सम्पूह	५६८	सुहस्तुशम्यम	२३७	त्यदादीनाम	७५
तनादिभ्यस्तथा	३१७	तस्यापरयम्	५५५	सुव्यास्यप्रयत्न	६	त्यदादीनि च	५३३
तनूकारणे तश्च	१९०	तस्यैवम्	५८६	सुद्योस्तान्	१४८	त्यदादीनि च	० ७
तनोतेर्देकि	३७२	तस्येश्वर	५९८	सुष्काभ्यां क	४९१	त्रसिगृधिधृषि	४०९
तनोतेर्दिभाषा	३३४	ताच्छ्रीस्यवयो	४२८	सुज्वत्क्रोष्ट	७८	त्रपुजतुनो	५८७
तप सहस्राभ्यां	६११	तान्येकवचन	१४३	सुणह इम्	३१३	त्रिचतुरो लि	८७
तपरस्तत्कालस्य	१६	तामस्त्योलोप	१४७	सुणे च जातो	५४०	त्रेखय	५७
तपरस्तपकर्मक	३७६	तासि च क्ल	२१२	सुनाया च हो	६५८	त्रेखय	५०६
तपोऽनुतापे च	३७२	तिकादिभ्य	५६२	सुनीयान्क्	४८७	त्रे समसारण	६०७
तयोरेव कृत्यक्त	३८५	तिष्ठथ	६२२	सुनीयादिपुमा	०३	त्वमावेकवच	११३
तरति	५९०	तिष्ठस्त्रीणित्री	१४३	सुनीयाप्रभृती	५०३	त्वामो द्विती	११६
तरसमपौ ष	६२२	तिष्ठनिरसार्व	१४४	सुनीया सप्तम्यो	४८०	त्वाहो सौ	११२
तद्वकममकावेक	५७९	ति च	४१९	सुनीया समासे	६६	थ	
त्रवममौ छसि	११५	तितुव्रतयसिञ्ज	४३३	सुनायायै	४१६	थलि च सेष्टि	१६१
तस्यस्य्यानीय	३८५	तित्स्वरितम्	६६७	सुन्	४२८	थाम मे	१९२
तसिन्नादिष्वा	५१२	तिसन्धिस्तिप्	१४३	सुफलमगत्रपथ	२११	थो न्य	१०८
तमौ मत्वर्थे	६०९	तिष्यारस्ते	२६२	से तद्राजा	५६३	थ	
तम्यस्यमिर्षा	१४९	निरसस्तिर्वलो	१२१	तेन क्रीतम्	५९८	दक्षिणादाच्	६२०
तस्माच्छतो न	५८	निरसोऽन्यतर	४०९	तेन तुल्यक्रिया	५९०	दक्षिणोत्तरा	६१९
तस्मादित्युत्तरस्य	३४	निरोऽन्तर्नी	४९९	तेन दीन्यनि	५९०	दक्षिणापथा	५७६
तस्मान्नुदचि	४९७	तिविज्ञेनेष्टि	५१५	तेन निर्वृत्त	५९८	दण्डादिभ्यो	५९८
तस्मान्नुद्विह	१६४	निष्ठतेरिय	३२४	तेन निर्वृत्त	५७२	ददादिदधारयो	३९३
तरिमन्नमि च	५७९	निष्ठदगुप्रभृती	४८३	तेा प्रोक्तम्	५८५	दधस्तयोश्च	२८०
तरिमन्निति निर्दि	१२	तीर्थे ये	५४७	तेन रक्त रागात्	५६४	दधातेर्हि	४२३
तस्मै हितम्	५९५	तीषसङ्गुम	१९१	तेन विचक्षुञ्जुप्	६०३	दन्त वज्रत	६११
तस्य निवास	५७३	तुदादिभ्य च	३०२	तेन सहैति तु	५१७	दन्तशित्वात्स	२११
तस्य परमावेष्टित	४४	सुन्दशोकयो	३९६	ते प्राग्घातो	१४९	दध्नङक्	५६६
तस्यपाकमूले	६०३	सुन्दादिभ्य इण	६१३	तेमावेकव	११६	दम्प इच्च	३३३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
दयापासश्च	२०८	दोर्ष च	२७	दन्दाच्चुदपक्ष	५३०	पातोरेकाचो	३३७
दक्ष	१०२	दुःखात्प्रातिलो	६३३	दन्द्र धि	५२५	पातोस्तत्रिमिच्छ	१५
दक्ष	२३५	दुःकुलावृढक्	५६१	दन्द्रे च	६६	पातोः	१४१
दागश्च सा	३६४	दुहः कश्चश्च	४००	दारादीनां च	५८०	"	३८५
दादिर्पातोर्धः	९७	दुहश्च	३७७	दिगुरंरुवचनम्	४९५	"	६६६
दाधाच्चवदाम्	१७८	दुरान्तिर्दायैः	४७५	दिगुश्च	४८६	पातोः कर्मणः	३२८
दानो च	६१७	दुराद्धते च	२६	दिगीः	६४६	पात्वादेः पः सः	९८
दामहायनान्ता	६४८	दृग्दृशवतुषु	५४७	दितोयतृतीय	४९२	पान्यानां भवने	६०२
दात्रीशसुयु	४३३	दृढः स्थूलवल्	४२३	दितोयाद्यौश्चे	१०४	धि च	१९४
दाशगोप्त्री सम्प्र	४५०	इतिकुक्षिकल	५८३	दितोयायां च	११३	धुरो वद्धकी	५९४
दिकपूर्वपदाद्	४९४	पृशेः कनिष्	४१४	दितोयाधित्ताती	४८६	ध्रुवमपायेपादा	४७०
दिकशब्देभ्यः	६१९	पृशो विख्ये च	६६२	दित्रिचतुर्भ्याः	६२७	न	
दिकसंख्ये सं	४९३	दृष्टं साम	५६५	दित्रिभ्यां तय	६०६	न कधि	५११
दिगादिभ्यो	५८३	देवे प्रा च	६३२	दित्रिभ्यां प मू	५१७	न क्वतेर्यदि	३४०
दिङ्नामान्य	५१६	देवतादन्द्रे च	५२९	दित्रिभ्यामललेः	५०६	न कोपधायाः	५१३
दित्यदित्वा	५५४	देवतादन्द्रे च	५६७	दित्र्योश्च धमुञ्च	६२१	न क्त्वा सेट्	४५६
दिव चत्	१००	देवात्तल्	६२८	द्विर्वचनेऽचि	१६७	न कोडादिषु	६५५
दिव औत्	१००	देविकुशोक्षोप	४३१	द्विवचनविमञ्चो	६२२	नक्षत्रेण युक्तः	५६५
दिवस्तदर्थस्य	४७५	देशे लुपिलचौ	६११	द्विपक्ष	२६७	नखमुखात्संज्ञा	६५५
दिवः कर्म च	४६८	देवनान्तात्ता	६२८	द्विपत्परयोत्ता	४०२	न गतिर्दिसार्ये	३५५
दिवादिभ्यः	२८३	देवमनुष्यपुरु	६३२	द्विपादनुसमुदां	५८०	नगरात्कुरसनप्रा	५७८
दिवाविमानि	३९८	दोदहोः	४२३	द्वेस्तांयः	६०७	न डिंसंयुद्धयोः	१०४
दिवो धावा	५३०	दोषो णौ	३२६	द्वयन्मगभकलि	५६३	न चवाशर्षेव	११७
दिवोऽविजिगी	४१८	यतिस्यतिमा	४२३	द्वयष्टनः संख्या	५०६	नञ	४९७
दीहो युटचि	२९२	धावापृथिवी	५६७	द्वयन्तरुपसर्गे	५३५	नभृस्तःपुरुपाव	५३९
दीपजनशुभ	२९३	धृतिस्त्वाप्योः	२०९	द्वयैकयोर्दिवचने	५५	नद्धःसुभ्योऽहलि	५१९
दीर्घ इणः कि	२३८	ध्रुवभ्यां मः	६१२	घ		नडशादाट्	५७४
दीर्घाच्च वरुण	५६८	ध्रुवयो लुङि	२०९	घनुपक्ष	५२०	नडादिभ्यःकङ्	५५९
दीर्घान्ति च	६९	ध्रुवमपागुदक्	५७६	घन्वयोगपाद्वृञ्	५७८	नकादीनां कुक्	५७५
दीर्घाव	४५	द्रवमूर्तिस्पर्शयोः	४१७	घर्मादिनिष्केव	५२०	न तिस्रचतस्र	८८
दीर्घाऽकितः	३६८	द्वन्द्वमचोशादि	६०२	घर्म चरति	५९२	न तेनासिकायाः	६०४
दीर्घां लघोः	२०१	द्वन्द्वश्च प्राणित्	५२६	घातुसखन्ने प्र	३८२	न दधिबन्वदादी	५२८

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
नदीपौर्णमास्या	४८५	न स्वाभ्यां पदा	५७१	नानोर्ध	३६५	निष्ठा	५२४
नदीमिश्र	४८४	नरे सञ्जायाम्	५५१	नान्तादसख्या	६०७	निष्ठायामण्यद	४१५
न दुहस्तुनमा	३७७	न लिङि	३००	नाभ्यस्तस्या	२८२	निष्ठाशोक्तस्त्रि	४२२
न दृश	१८५	न लुगताङ्गस्य	७४	नाभ्यस्ताच्छ	१२३	निष्ठायां सेटि	४२३
नद्यादिभ्यो ढक्	५७६	न लोकाभ्ययनि	४७३	नामत्रित्ते स	११९	निसमुपविभ्यो	३६३
नद्या शेषस्या	५४४	नलोपो नञ	४९७	नामि	६१	निसस्तपताव	१७४
नद्यां मत्पु	५७४	नलोप प्रातिप	७३	नावो दिगो	५०५	नोग्वञ्चस्य	३४३
नद्युश्च	५११	नलोप सुप्स्वर	१०५	नाभ्ययीभावा	४८१	नीचैरनुदा	५
नध्याख्यापूमूर्च्छि	४२०	न ह्यपि	४५७	नासिक्तास्तन	४००	नुगणोऽनु	३४२
न निर्धारणे	४९०	न वञ्च	३४२	नामिकोदरोष्ठ	६५४	नुदविदोन्द	४१९
ननौ पृष्ठप्रतिव	३७९	न विमक्तौ	५७	निकटे वमति	५९४	नुभिसञ्जनीध	१२५
नन्दिप्रदिपचा	३९२	न वृद्ध्यश्चतु	२१०	निगरणचञ्चना	३६८	नृ च	८३
नन्दा सयोगा	२७१	नभ्योलिति	२२३	निजां त्रयाणां	२८१	नृत्ये	४२
नन्वोविभाषा	३७९	न शब्दश्लोककल	३९९	नित्य करोति	३१९	नेटि	१७०
न पदान्तदिर्व	४३२	न शसददवादि	१६५	नित्य कौटिख्ये	३३८	नेट्यालितिथे	२८३
न पदान्ताष्टोर	३०	नशेर्वा	१२४	नित्य छित	१५०	नेट्वशि कृति	४०९
नपरे न	३८	नशेषान्तस्य	२८६	नित्यमसिञ्च	५२०	नेदमदसोरको	१०२
नपादभ्याश्च	३६८	नश्च	३९	नित्यवोप्सयो	४५७	नेन्द्रस्य परस्य	५६७
नपुसकमनपुस	५३२	नश्चापदान्तस्य	३६	नित्य वृद्धश	५८८	नेयञ्चवक्ष्याना	८९
नपुसकस्य क्षलच	१२	नशसद्व्यप्रशान्	४२	नित्य शता	६०७	नेगंदनदपतपद	१५९
नपुसकाश्च	९१	नशट्स्वसादिस्य	९०	नित्य सपत्न्या	६४९	नेर्विद्य	३५५
नपुमवादन्यत	४८४	नसख्यादे समा	५०४	नित्य हरतेपा	५००	नोदाशोपदेश	३७३
नपुमके मावे	४२५	न सख्यायाम्	५२२	निन्दित्तङ्गि	४३१	नोपयाया	१०९
"	४५४	न सप्रमारणे	१०८	निपात एकाज	२८	नौदयचञ्चन्	५९१
न पूजनाथ	५३८	न सयोगाङ्गम	१०५	निमूलसमूल	४५८	नौबयोधर्मविष	५९४
न मकुर्चुराम्	३१०	नस्तङ्गिते	४८४	निर कृष	३०९	न न्ये	३४८
न माभूमूर्द्धमि	३८७	नदिवृत्तिवृत्तिस्य	१२९	निर्वाणोऽवाते	४१८	न्यग्रोधस्य च	५८८
न मूसुधियो	७८	नहो ध	१२९	निर्वृत्तेऽशुष्य	५९२	प	
न माह्वयोगे	१५३	नाग्लोपिशा	३१५	निवासच्चिति	४५१	पद्यासि	६०३
न मुने	१२८	नाग्ने पूजया	१२१	निशाप्रदोषा	५८०	पश्चिमस्त्यमृगा	५९२
नम स्वस्तिस्वा	४७०	नाडीमुष्टयोश्च	४००	निष्कुलात्रि	३३३	पङ्कोश्च	६५६
न ददि	३७८	नादिचि	५८	निष्ठा	५१५	पङ्क्तिविशति	५९८
न वासथो	६४३						

सूत्रवर्णक्रमसूची ।

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
पचो वः	४१९	परैर्वर्जने	६३४	पुरुपात्प्रमाणे	६४७	प्रकारे गुणत्रु	६३५
पञ्चमी विभक्ते	४७७	परोक्षे लिट्	१४५	पुरोऽव्ययम्	४९९	प्रकाशनस्येया	३५८
पञ्चमी भयेन	४८९	पर्पादिभ्यः	५९१	पुंवत्कर्मधारय	४९५	प्रकृत्यान्तःपाद	६६३
पञ्चम्यपाङ्परि	४७२	पर्यभिभ्यां च	६१६	पुवः संशायाम्	४३४	प्रकृत्यैकाच्	६२३
पञ्चम्या ञत्	११४	पलाशादिभ्यो	५८७	पुदादिद्युता	१८८	प्रकृत्याशिपि	५१७
पञ्चम्यामजातौ	४१५	पश्यायैश्चाना	११८	पुप्यसिद्धयो	३९१	प्रशादिभ्यश्च	६२९
पञ्चम्यास्तसिद्धे	६१६	पश्चात्	६२०	पुंसि संघार्या	४५४	प्रह्लाथदाडार्चा	६१०
पञ्चम्याः स्तो	४८९	पाककर्णपर्णपु	६५६	पुंसोऽसुक्	१२६	प्रतिः प्रतिनिधि	४७२
पतिः समास	७३	पाघ्राध्माधेट्ट्	३९३	पूगाव्युऽय्या	६२९	प्रतिनिधिप्रति	४७२
पत्यन्तपुरोहि	६००	पाघ्राध्मास्या	१७६	पूछश्च	४२१	प्रतियोगे पश्च	६३०
पत्युर्नो यक्षसं	६४९	पाणिघताडधौ	४०७	पूछः क्त्वा च	४२१	प्रतेक्ष	४१८
पत्रपूर्वादिभ्	५८६	पादस्य पदा	५४४	पूतकतोरै च	६४९	प्रतेहरसः सप्त	५३८
पथिमय्यूष्ठा	१०८	पादस्य लोपो	५१८	पूरणगुणसुहि	४९०	प्रत्यपिभ्यां ग्रहेः	३९१
पथो विभाषा	५३९	पादः पत्	११९	पूर्णादिमाषा	५१८	प्रत्ययलोपे प्रत्यय	७३
पदव्यवयेऽपि	५५२	पादार्थभ्यां च	६२८	पूर्वत्रासिद्धम्	१८	प्रत्ययः	५५
पदान्तस्य	५९	पादोऽन्यतर	६४०	पूर्वपदात्संघा	५१८	प्रत्ययस्यात्	६४२
पदान्ताद्वा	४५	पानं देशे	५५२	पूर्वपरावरदक्षि	६४	प्रत्ययस्य लुक्	७४
पदास्त्रैरिवा	३९१	पारस्करप्रभृती	५५३	पूर्ववरसनः	३३१	प्रत्ययोत्तरपद	५७९
पद्मोमाससुद्धिश्च	६९	पाराशर्यशिला	५८५	पूर्ववदश्वबडवौ	५०७	प्रथमचरमतया	६७
पद्यत्यतदर्थे	५४४	पारेमध्ये षष्ठा	४८३	पूर्वसदृशसमो	४८७	प्रथमयोः पूर्वस	५७
परवल्लिङ्गं हन्द्र	५०७	पाशादिभ्यो यः	५६९	पूर्वादिनिः	६०८	प्रथमानिर्दिष्ट	४८०
परश्च	५५	पिता मात्रा	५३३	पूर्वाषारावराणा	६१९	प्रथमायाश्च द्विव	११२
परस्मैपदानां	१४६	पितुर्यञ्च	५८४	पूर्वापराधरोत्तर	४९१	प्रनिरन्तःशरेणु	५५१
परस्य च	५४०	पितृव्यमातु	५६८	पूर्वादिभ्यो नव	६५	प्रभवति	५८५
परः सन्निकर्षः	११	पितृव्यसुशृणु	५६१	पूर्वोऽन्यासः	१४६	प्रमाणे द्वयस	६०५
परिक्रयणे संप्र	४६९	पुगन्तलधूपप	१५६	पूःसर्वयोर्दोरि	४०२	प्रथेरोहिष्ये	६६२
परिनिविभ्यः	१५८	पुच्छमाण्डची	३५२	पृथग्विनानाना	४७१	प्रशस्यस्य ऋः	६२२
परिमाणान्त	५९७	पुमः खव्यम्परे	४१	पृथ्वादिभ्य इम	५९९	प्रशंसायां रूप	६२४
परिमाणे पचः	४००	पुमान्छिया	५३२	पृषोदरादीनि	५४९	प्रश्ने चासन्न	३७९
परिवृत्तो रथः	५६६	पुंयोगादाख्या	६५१	पेषंवासवाहन	५४५	प्रसंभ्यां जानु	५३०
परिव्यवेभ्यः	३५५	पुरि लुच् चाऽ	३८०	पोरट्टुपधात्	३८८	प्रसमुपोषः पा	६६५
परैर्भूषः	३७६	पुरुषइस्तिभ्या	६०५	प्रकारवचने या	६१८	प्रस्त्योऽन्यतर	४१९

पुत्रम्	पुत्रम्	सुभम्	पुत्रम्	सुभम्	पुत्रम्	सुभम्	पुत्रम्
अङ्गराम्	५३३	प्रादीना हत्व	३०७	मञ्जो णिष	४०८	म	
प्राक्कीताम्	५९५	फ		मञ्जेश् मिणि	३७४	मज्ञात्परिदापणे	६३४
प्राक्कारासि	४७८	फलां च तपा	२१५	मवतेर	१४६	मघवा बहुलन्	१०७
प्राक्कितादृ	१५८	फटेमहिराम्	३०९	मय्येवप्रबन्ध	३९०	मघर्षन्तस्य च	११२
प्राग्गिवाक	६२५	फने ह्यन्	१८८	मस्य टेर्लोव	१०८	मतिबुद्धिपूर्वाद्ये	४२५
प्राग्गनेष्ठ	५९६	फनादिरुच	६१०	मष्ठादिभ्यः	४५९	मती बहुचोऽन	५५०
प्राग्गद्वेष्टम्	५९०	य		मादकर्मणो	३६९	मती छ सुकसा	६०८
प्राग्गिताघव	५९४	बभूयाततन्य	३००	भावे	४५०	मथ्यादगुरो	५४१
प्राग्गिद्वो विम	६२५	बभ्रुगणवज्जति	७४	भाषायां सदन	४०६	मथ्यान्म.	५७९
प्राग्गोम्बतोऽम्	५५४	बभ्रुप्रागागतन	६०७	मिष्ठादिभ्योऽण्	५६८	मथ्ये पदे निबन्ध	५००
प्राग्गमभ्रुवाय	५५२	बभ्रुल ह्यन्ति	६६-	मिष्ठातेनादाये	३९७	मनोरो वा	६४०
प्राग्गो च तदि	६४६	बभ्रुवचने क्षय्ये	६०	मिष्ठा शकलम्	४२०	मनोर्जाजघ्न्य	५२०
प्राग्गुच्छातिव	६००	बभ्रुवचनस्य बभ्रु	१२६	मिष्ठाद्यो नदे	३९१	मन	६४०
प्राग्गिम्बवाणो	६०९	उडुमीहेरुषतो	६४८	मिनोऽन्यतर	२७३	मन	४११
प्राग्गिपरिकान्त	५५२	उडुमीहेरुषान्तो	६५०	मीडाभ्रुवदा	"	मन्त्रेऽवसथादे	६६५
प्राग्गिपरिकार्ये	४६०	उडुमीदी मन्म्य	५१७	मुजोऽनरने	३१६	मन्त्रेऽवसथादे	६५९
प्राग्गय	२८	उडुमीदी सन्म्ये	५१५	मुडो नावे	३८९	मन्त्रोऽनसक्त	५४५
प्राग्गह	३६७	उडुमु बभ्रुवचनम्	५७	मुडो मुष्णुर्कलि	१४६	मय उणो वी वा	३०
प्राग्ग बन्धने	५०१	उडुलोपो भू च	६२८	मुतापूर्वे चट्	६२१	मयट् च	५८५
प्राग्गपत्रे च	४९२	उडुन्वाधार्थ्यस्त	६२९	मुते	४१२	नयट् वैतयोर्मा	५८८
प्राग्गमव	५८२	उडुदिभ्यश्च	६५१	मुवाद्यो घातय	२१	मयूरभ्यसकारय	४९६
प्राग्गव वय	५८१	वाणोऽभ्यस्याम्	३५१	मुवणेऽकल	४१८	मञ्जिनशोर्धालि	२८५
प्राग्गवडुपु	५८२	वाहादिभ्यश्च	५५८	मुसुतोऽलि	१८२	महाकुलादम्ब	५६१
प्राग्गवथे वः	४०१	मुषमुषनशुभने	३६७	पृथामित	२७८	महाराजप्रोऽपदा	५६७
प्राग्गिपरिस्त्रिरो	६२४	मृगणो जान	५०६	मोश्च मन्म्ये	३९०	मालि मुक्	१५२
प्राग्गस्व हस्मि	३०८	मृगणपुत्रेषु	४२२	मोमणोऽवधोऽपु	४०	माहरपिवाडु	५३०
प्राग्गदा	३९६	मृगणस्त्रिभ्यां	५३८	म्यमोऽम्भ	११४	माहुरात्मस्वार्थ	५५८
प्राग्गामिस्त्रोऽगम	३८१	मुव वट्	२७०	भरथो रोषवथो	३०२	माहुर पित्रुभ्यां	५४१
प्राग्गोऽर्था ताम	३५७	मुवो यचि	२७०	भ्राजनासमाय	३११	माहुरात्मस्वार्थ	५५८
प्राग्गोपादा सुजेर	३६५	मुव वडुनामा	२६९	भ्राजभासपुर्ति	४३१	माहुर पित्रुभ्यां	५४१
प्राग्गदिभ्योऽण्	५८८	म		भ्राजुर्भ्यच	५६०	माहुरात्मस्वार्थ	५५८
प्राग्गमगृह्या भवि	२७	मय्येण मिमी	४८८	भ्राजुपुत्रो स्वसु	५३२	माहुरात्मस्वार्थ	५५८

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
मितनखे च	४०१	यपादिष्यनुप्र	३८३	व्यूयवयी जसि	११३	राष्ट्राकारचारा	५७६
मितां इरवः	३२७	यथासंख्यमनुदेशः	१४	वृत्त्यास्यौ नदी	७६	रिच्छयन्मिच्छ	१८४
मिथे चर्षा	५५१	यथासादृश्ये	४८२	वे च	३१९	रि च	१४८
मिदचोऽन्वहारः	९१	यगरमनमातां	१७७	वे चामावकर्म	५५९	रोग्युपपत्त्य	३१९
मिदेर्गुणः	२९२	यमोगन्धने	३६०	येनाहविकारः	४६८	रोहृतः	३३८
मीनातिमिनोति	२९३	यरोऽनुनासिके	३३	ये विमाषा	१६६	"	५६७
मुखनासिकावचनो	५	यवयवकथकिष्ठा	६०२	येषां च विरोधः	५२७	रघिकौ च तु	३४६
मुखोऽहर्मकृत्य	३३५	यश्च यश्च	४३२	योऽचि	११४	रुदविदमुपम	३३०
मुष्मिदगच्छ	३५३	यसोऽनुपसर्गात्	२९०	योपधाद् गुरूपो	६०१	रुदश्च पञ्चम्यः	२५७
मुद्रागण्	५९२	यस्याप्रत्ययविधि	५७	यः सी	१३०	रुदादिभ्यः सा	२५७
मृजेर्विधाषा	३९०	यस्माद्भिर्हं	४७७			रुपादिभ्यः शम्	३१२
मृजेर्द्विः	२४०	यस्य च नाबेन	४७८	रुद्रतोद्ग्रादेर्ल	५९९	रुद्रः षोऽन्यत्	३२६
मृदस्तिङ्गल्	६२९	यस्य विमाषा	४१८	रुक्षति	५९२	रूपादादत्प्रशं	६१३
मृदन्तिङ्गिदावां	४२२	यस्य दलः	३३८	रुजःरूप्यामृति	६१२	रेवत्यादिभ्यश्च	५५९
मैषतिमथेपु	४०१	यत्येति च	९१	रुजवश्चोश्च	५४८	रोगाख्यायां षु	४५३
मैभिः	१४९	यावद्वादिनिश्च	४८९	रुयाष्व	५८६	रोऽनुधि	५०
मोऽनुस्वारः	३६	याटापः	८४	रुदाभ्यां निष्ठा	४१६	रो रि	५१
मो नो पातोः	१०१	याच्चे पाशम्	६२१	रुपादिभ्यश्च	२८५	रोः झुधि	१०१
मो रात्रिस्तमः	३७	यावतिदिन्दर्जी	४५८	रुधिजनोरवि	२१५	वोरुपधाया दी	१२५
त्रियतेल्लुङ्गिहो	३११	यावरप्ररानिषा	३८०	"	२८६		
म्योः	२०२	यायद्वंधारणे	४८२	रुधेरशुभिल्लोः	३२७		
		यायादिभ्यः कन्	६२९	रुलो ज्युपधाद्	४५६		
य		यास्तु परस्मैप	१५१	रुपाभ्यां नो णः	१०१	लक्षणे जाया	४०६
यच्छाप्	६५७	युग्यं च पथे	३९१	राजदन्तादिपु	५२५	लक्षणेत्वंभूता	४६७
यछि च	३४१	युग्मेरसन्नासे	११०	राजनि युधि	४१४	लक्षः शाकटावन्	२३२
यसोऽचि च	३४३	युवानौ द्विचने	११२	राजश्वशुराद्य	५५९	लटः शकृशान	४२७
यसो वा	३४४	युदोरनाकी	३९२	राजसूपसूर्यमृषो	३९०	लट् स्ते	३७९
यचि भम्	७०	युष्मदस्मदोः	११५	राजाहः सस्त्रिभ्य	५०४	लभेश्च	३२७
यजयाचयत	४५१	युष्मदस्मदोःना	११४	राजाहाःपुंसि	५०३	लवणाहृन्	५९३
यजन्लोक्ष	५५६	युष्मदस्मदोरन्य	५७९	रास्तस्य	८०	लवणाहृक्	५९२
यजश्च	६४६	युष्मदुपपदे	१४१	रापो हिंसायाम्	३०१	लक्षणाद्विधे	५८
यजिन्लोक्ष	५५७	युष्मदस्मदोः	११५	रापो हलि	८४	लपपत्रपद्मनाम्	४३१
यजश्च निर्वारिणं	४७७	युष्मदस्मदोः	११५	राडोपः	४२०	लस्य	१४२
यजश्चेतेभ्यः परि	६०६	युष्मदस्मदोः	६५७			लाह्यारोपना	५६४

मन्त्रसिद्धान्तकौमुदीस्य—

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
लिङाशिषि	१५२	लोटोऽडाटौ	६५९	पर्गान्ताच्च	५८४	वा आशम्लाद्य	१७४
लिङ सलोपो	१५२	लोटो लृक्वत्	१४९	वर्णोऽदादिभ्य	६००	वामदेवाह्ल्व्यह	५६१
लिङ् सीयुट्	१५६	लोट् च	१४८	वर्णादनुदात्ता	६५०	वामि	८९
लिङ्निमित्ते	१५३	लोपश्चास्यान्य	१८६	वर्णाद् अङ्गवा	६१५	वामश्चसौ	"
लिङ् च	३८१	लोपो यि	२७७	वर्त्तमानसानी	३८०	वाग्बुत्तुपिनुपु	५६७
लिङ्घं छेट्	६५९	लोपो व्योर्व	५२१	वर्त्तमाने लट्	१४२	वा ल्यपि	४५७
लिङ्सिचावा	२१३	"	१९६	वर्षान्यघक्	५८१	वावसाने	६०
लिङ्सिचोरा	३००	लोप पिबतेरी	३२५	वर्षाम्बश्च	८२	वा लिटि	२६६
लिङ्स्तक्षयोरे	१९३	लोप शाक्यस्य	१८	वदचास्यान्यतर	२२२	वा शरि	४६
लिटि वातोरोन	१४६	लोमादिपामा	६१०	वसतिशुभोरि	४२१	वाऽमरूपोऽलि	३८५
लिटि वयो य	२२२	लोहितादिडा	३५०	वसन्तसुध्वश्चन	१००	वा सुप्यापिशले	२१
लिटः कानज्वा	४२६	लृ कर्मणि च	१५१	वसो सप्रसार	१२६	वा सन्नायाम्	५२१
लिट् च	१४७	लृ परस्मैपदम्	१४३	वस्वेकाज्ज	४२६	वाह कट्	९८
लिट्यन्यतर	२२८	ल्युट् च	४५४	वहाभ्रे लिङ्	४००	वाहनमाहिता	५५१
लिट्यन्यासस्यो	०१८	स्वादिभ्य	४१६	वहा करणम्	३८८	वाहितान्यादि	५२४
लिति	६६८	घ		वा क्यच्	३५१	वाह	६५५
तिपिसिचिङ्घ	२२४	वच उम्	२४०	वाक्यादेराम	६४४	विज इट्	३११
लृक्वा इहदिह	२६८	वचिस्वपिदजा	२१८	वा गम	३६१	विङ्वनोरनुजा	४०९
लृक्चदितलुकि	५८८	वचोऽशब्दस	३९०	वा चित्तविरागे	३२६	विशो भोगप्रत्य	४२०
लृक् च	२३१	वचोरिङ्वा	०९७	वाचि यमो व्रते	४००	विदाङ्घ्रिन्तिव	२३४
लृक्	१५२	वचोरिङ्गुक्	६०७	वाचो गिमनि	६१४	विदूराज्य	५८५
लृक्लृक्लृक्लृक्	१५०	वस्तोऽश्वर्थ	६२६	वाचयमपुरदरौ	४०२	विदे रातुर्वंस	४२८
लृक्सनोर्घस्त	२२९	वत्सासाम्यां का	६१२	वाङ्मममुरसाम्	२८४	विदो लटो वा	२३३
लृट् प्रथमस्य	१४७	वद सुपि क्यप्	३८९	वातातीसारा	६१४	विद्यायोनिस	५८४
लृटि च कल्प	२१२	वदमजङ्कल	३६६	वा हृहृनुदङ्गुह	०९७	विधिनिमन्त्र	१५०
लृपसदचरजप	३३९	वनो र च	६३९	वा नपुसकरय	२३५	विध्यत्यधनुषा	५५४
लृपि सुकव	५७४	वन्दिते भ्रातु	५२३	वा निसनिद्य	३८७	विध्वरुषीस्तुद	४०१
लृप् च	५८९	वमोर्वा	२३०	वान्तो यि प्रत्यये	१४	विन्मतोलुक्	६२४
लृष्विशेषे	५६५	वयसि च	३९७	वाऽन्यस्य सयो	१७७	निपराम्यां जे	३५५
लृमोऽविमोहने	४२१	वयसि प्रथमे	६४६	वा पदान्तस्य	३६	विप्यविनीच	३९१
लृटः लृटः	४२८	वयसि दन्तस्य	५२१	वा बहुर्वा वा	६२६	विपतिदिषे परं	५९
लृट् द्वे च	३५८	वर्णादिभ्यञ्च	५७४	वा माक्करा	५५१	विमक्तिरय	५९

सूत्रम्	शृङ्गम्	सूत्रम्	शृङ्गम्	सूत्रम्	शृङ्गम्	सूत्रम्	शृङ्गम्
विभाषा	४८२	विभाषा सृजिह्व	१८५	वेमः	२२२	शब्दद्वन्द्वं क्तो	५९२
विभाषा कदा	३८०	विभाषा सुपो	६२५	वेतनादिभ्यो	५९१	शब्दवेरकलदा	६५२
विभाषाऽकर्म	३६७	विभाषा खेना	५०८	वेत्तेर्विभाषा	४६१	शमानथानां	२८८
विभाषा कृञि	४९९	विभाषा स्वसृप	५४२	वेरपृक्तस्य	११०	शम्याः प्लब्	५८८
विभाषाकृष्टपोः	३९१	विभाषा हविर	५४५	वेश्च स्वन्तो भो	१५८	शमित्यष्टम्यो	४३०
विभाषा गुणेऽ	४७१	विभाषेटः	२०९	वेः पादविहरणे	३५७	शपसासवासि	५४१
विभाषा ग्रहः	३९४	विभाषेपोः	२७१	वेः शालच्छंक्त	६०३	शरादीनां च	५५०
विभाषा प्राषेट	१७९	विभाषोदरे	५४७	वेतोऽन्यत्र	६६०	शरीरावयवा	५९५
विभाषा छिद्योः	९५	विभाषोपयमने	३६४	वैयाकरणाख्या	५४०	शरीरावयवाच्च	५६३
विभाषा चत्वा	५०७	विभाषोपसर्गे	४७५	वीतो गुणवच	६५१	शरोऽग्नि	२२
विभाषा चिण्ण	३७४	विभाषोपधिवन	५५१	वोपसर्जनस्य	५१७	शकराया वा	५७४
विभाषा चेः	२९८	विरामोऽवसानम्	५५	वो विद्युन्ने जु	३२५	शपर्दे विसर्जनी	४६
विभाषा नसि	६६	विजिह्वलिङ्गो	५२७	वो कषण	४३०	शपूर्वाः खयः	१६१
विभाषा तिल	६०२	विशेषणं विशे	४९५	व्यत्ययो बहुलम्	६६०	शठ इगुपधाद	१९१
विभाषा तुलीया	७९	विषयस्य वसुरा	१११	व्ययो लिटि	२१४	शश्लोऽटि	३५
विभाषा दिक्त	८५	विशत्यादिभ्य	६०७	व्ययश्चिन्ताश्च	६५८	शसो न	११३
विभाषा धेट्	१७८	विसर्जनीयस्य	४२	व्याहृ परिभ्यो	३६७	शाखादिभ्यो	६२७
विभाषापरव	६२०	"	४६	व्योर्लङ्मुप्रयस्यतः	४९	शाच्छासाहा	३२४
विभाषा पुरुषे	५४९	सुप्छण्कठलि	५७३	व्रश्चभ्रस्जसुनम्	१११	शाघ	३२
विभाषा पूर्वाङ्ग	५८२	श्रुत्सिर्गतायने	३५७	व्रातक्फजोरश्चि	५५९	शाङ्करवाचमो	६५७
विभाषा भावा	४२२	श्रुद्धस्य च	६२३	व्रीहिशाल्योर्दक्	६०२	शास श्दल्ल्	२६२
विभाषाम्यवप्	४१८	श्रुडाच्छः	५७७	व्रीह्यादिभ्यश्च	६१३	शासिवासिपसो	२२८
विभाषा रोगात्	५८०	श्रुदिनिमित्तस्य	५१४	शा		शा शौ	२६२
विभाषा लीय	२९६	श्रुदिरादैच्	१९	शक्तिपद्यथोरी	५९३	शिखाया वल्लच्	५७४
विभाषा लुङ्	२६५	श्रुदिरेचि	"	शक्ति लिङ् च	३८२	शि लुक्	३९
विभाषाऽवर	६१९	श्रुदियंस्या	५६२	शक्तिसदोश्च	३८८	शिल्पम्	५९३
विभाषा विवधा	५९२	श्रुद्धेस्कोसलाजा	५६३	शक्तौ श्स्तिक	४०६	शिल्पिनि ध्नुन्	३९४
विभाषा वृक्षमृग	५२८	श्रुद्धो यूना तल्लस्य	५३१	शताच्छ्रुन्त्यताप	५९७	शिवादिभ्योऽम्	५५८
विभाषा खेः	३६६	श्रुद्धः स्यस	२१०	शदन्तविशतेश्च	६०६	शि 'सर्वनाम	९१
विभाषा सपूर्व	६४९	श्रुष्वाकप्यभिक्रु	६४९	शदेरगतौ तः	३२६	शीघो ऋट्	२६३
विभाषा साकां	३७८	श्रुतो वा	२७६	शदेः श्रितः	३०९	शौढः सार्ववा	"
विभाषा साति	६३१	श्रुतो वायिः	२२१	शप्स्वन्तोर्नि	११५	शीष्च्	५९३

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
ससजुषो रः	४७	सिपि धातोश्चां	२६२	संश्रयदात्म्यगत	५१५	संहितश्रुत्वात्	६५७
सस्त्री प्रशंसा	६२९	सिम्बुलं केटि	६५९	संश्रयाया षय	६०६	स्त्रोः संयोगलो	१११
सःत्यादावर्षाधु	३२९	सिवादानो वा	२८३	संश्रयावंशयेन	४८३	स्त्रग्नेः	१५८
सश्नञ्चिचयना	६५५	सुकरंषा वमन्	४१३	संश्रयापूर्वोद्दिशुः	४९४	रामकर्मणोर	१९७
सह्युक्तेऽप्रधाने	४६८	सुहृप्रियादातु	६३३	संश्रयायाः क्रिया	६२७	रामकर्मणोरिन्	६९९
सह श्रुपा	४७८	सुट्टितियोः	१९६	संश्रयायाः भावि	५९७	रामानुक्तिमुत्तरां	६२६
सहस्य सप्रिः	१२१	सुहृणपुंसकस्य	७	संश्रयायादिधार्मि	६२०	रामानुस्तुन्मुक्ते	१०६
सधिवहोरोच	२२०	सुनोठेःस्पसन्नो	२९८	संश्रयायाश्च गुणा	६३२	सुहृत्प्रधूष्यः	२९७
सदे च	४१४	सुन जात्मनः	३४७	संश्रयाद्यु पूर्वस्य	५१८	स्त्रीजाष्मन्लोपश्च	६००
सहेः साठः सः	१००	सुपां सुल्लकपूर्व	६६४	संश्रयैकवचनात्	६२९	स्त्रीकान्तिकादूरा	४८९
साज्ञाप्रशृतीनि	५००	सुपि च	५९	संश्रयाद्युत्तमेषु	५८६	स्त्रीः स्तुगाश्चुः	६१
साक्षात् ब्रह्मि	६०९	सुपि स्वः	३९५	संश्रयायां श्रुत्	४०३	स्त्रीतिप्पोरेव	३३९
सात्यदापोः	१५७	सुपो धातुप्राप्ति	६४७	संश्रयोऽन्यतरस्यां	४६९	सदः प्रपूर्वत्वा	४१९
साधकद्वन्द्वं करणं	४६७	सुपः	५५	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय	६६८
साधुनिपुणान्यां	४७७	सुसिउन्तो पदन्	१२	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सान्द्रमदतः	१२२	सुप्रतिन्वा सादा	४८२	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
साम भाकम्	११५	सुप्यमातौ गिनि	४११	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सामन्यितम्	११९	सुप्यजोर्द्वन्दिप्	४२५	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सावचिर्नप्राप्ते	५८१	सुविस्तिर्द्वन्द्वैः	२५८	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सावर्षातुकमपि	१८६	सुहृददृष्टेर्दी	५१८	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सावर्षातुकार्थ	१४४	सुः पूजायाश्च	४६७	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सावर्षातुकेयम्	३६९	सुविदुशोद्भव्य	१८५	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सावनहुहः	९९	सुपितुदोः कसन्	६६३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सास्त्रिमन्तीर्णमा	५६६	सुषत्तंगती	१५९	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सास्य देवता	५६६	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिकृताशकंटा	६२१	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिद्धि च परस्मै	२७६	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिद्धि वृद्धिः पर	१७३	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिन्नो यद्धि	३४१	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिन्धुत्तचिद्धि	१५५	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिद्धि च	५७७	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०
सिन्धादिभ्यश्च	६१०	सुषत्तचिह्नत	२८३	संश्रयापूरणयोश्च	५१४	सिधाय च	९०

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
सृष्टिगृह्यतिद	४२९	स्वादिभ्यः स्तु	२९७	इलदन्ता०	५०९	डुञ्जरभ्यो देधि	२२८
स्फाय स्फी	४२९	स्वादिभ्यसर्वनाम	७०	"	५४०	डुभ्तुवो. सार्धं	१८६
स्फुरतिस्फुरत्यो	३०७	स्वापेक्षक्ति	३२४	इल	४१६	डक्रोरन्यतर	४६५
स्मिपूष्पस्त्वदा	३३६	स्वामिन्नेष्ये	६१४	इल इन शा	३०६	हेतुमति च	३२१
स्मोचरे लृच् च	१५२	स्वामीश्वराधिष	४७६	इलसीराट्क	५९४	हेतुमनुभ्येभ्यो	५८४
स्वतासील्लुटो	१४७	स्वे पुष	४५९	"	५८६	हेतुहेतुमतो	३८१
स्वसिञ्सीयुट्	३७०	स्वौषतमौट्	५४	इलसूकरयो	४३१	हेतो	४६९
स्ववक्ति शृगोकि	३२२	हु		इलस्ताद्वितस्य	६४६	हेमपरे वा	३७
स्वतन्त्रः	३२०	इ घति	१९४	इलादि शेष	१४२	हेरचळि	३०१
"	४६७	इमस्त च	३८९	इळि च	२७५	हैयगवीन स	६०३
स्वपिस्वमिभ्यो	३४२	इनस्तोऽचिष्ण	३२४	इळि लोप	१०२	हो ट	९७
स्वपो नन्	४५२	इनो वव लिङि	२३१	इळि सर्वेषाम्	५०	हो इन्तेर्धिण्ये	१०६
स्वमहाविषना	६४	इन सिच्	३६०	इलन्त्याच	३३०	धान्ताक्षणाक्षस	१६६
स्वमोर्नपुसकाय	९२	इन्ते	१०६	इलोऽनन्तरा	११	हरयनघापो नुट्	६१
स्वरतिस्त्वित्स्य	१६९	इन्तेर्ज	२३०	इलो यना यमि	५५४	ह्रस्वस्य गुण	७१
स्वरादिनिपात	१३७	हरतेरमनुषमने	३९६	इल्ल्याभ्यो दी	७२	ह्रस्वस्य पिनि	३८९
स्वरितमित	१४३	हरतेर्द्वितीयाध	३९९	इशि च	४८	ह्रस्वासाधौ	५७३
स्वरितास्ताहिता	६६६	हरत्युस्तङ्गादि	५९१	इस्ताऽजाती	६१५	ह्रस्वादङ्गाय	२१७
स्वद्वरल	५६२	हारीतक्यादिभ्यः	५८९	इस्ते वृत्तिमहो	४५९	ह्रस्वो नपुसके	९२
स्वाङ्गाद्येत्	५१४	इलन्त्यम्	३	हापनान्वयुवा	६०१	ह्रस्व लुटु	२७
स्वाङ्गाद्योपसर्ज	६५३	इलश्च	४५५	हिनुमाना	३००	ह्रस्व.	१४६
स्वाङ्गे तद्प्रत्यये	४६०	इलश्चेर्जाभाय	३८६	हिंसार्या प्रत्येक्ष	३१०	ह्रस्वस्यसारणम्	३२५
				हीने	४६६		

उणादिसूत्रसूची



सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
अनेनलोपश्च	४४१	रुणोत्तेरः	४४९	चक्षेः शिच	४४०	नामन्तीमन्त्यो	४४४
अच इः	४४२	ऋपिष्विभ्यां	४४१	चतेररन्	४४९	नियो मिः	४४१
अदिभुवो जुञ्ज	४४७	एतेणिव	४४७	चन्देरादेश्च एः	४४६	नो दीपेश्च	४४७
अदिशुदिन्	४४२	एतेस्तुट् च	४४५	चन्द्रे मो दिष्ट	४४७	पणिवचिभ्यां	४४६
अन्तुडम्भू	४३५	कणोष्ठः	४३५	चरेथ	४४९	पतिचण्डिभ्या	४३६
अभिचिमिदिश	४४५	कनिन्नुष्वित	४३७	चीकयतेराष	४४८	पावुसुदियदि	४३८
अभेस्तुट् च	४४९	कनेरठः	४३५	चिवरभ्ययम्	४३८	प्रतिचण्टिः	४४२
अभेत्सन्	४४८	कायतेहिमिः	४४५	अनिपसिभ्या	४४३	पातेडुन्नुन्	४४५
अचिभुचिभुद	४३९	कुम्भिकम्प्यो	४४३	अनेररठ च	४४८	पानोविभिम्यः	४४०
अतिप्रवपियलि	४४०	कुसुभ्यां च	४४०	अनेरसिः	४४०	पुवो हस्त्वश्च	४४५
अतिस्तुष्टु	४३६	इभः पासः	४४८	अनेयैक	४४२	पूवो यणुगु	४४७
अवेरश्च	४४६	कृमादिभ्यः सं	४४८	अनेष्टन् नलो	४४८	प्रथेरसच्	४४९
अवेरुश्च	४४१	कृवापाजि	४३५	अमन्ताट्टः	४३६	प्रागवेररन्	४४९
अवतेष्टिलोपश्च	४३७	कृपेवैषो	४४३	दित्तवनेसुट् स	४४७	फलेरितनादेश्च	४४८
अवितस्तुत्	४४४	कृपृषुलिमन्दि	४३८	तरतेडिः	४४९	शङ्कमन्यप्रापि	४३९
अविसिपिसिश्च	४३७	कृश्यासिककलि	४४१	वृन्तुचो शंसि	४३९	शृहेनलोपश्च	४३९
अशुभूपिलाटिक	४३७	किलशेरन्लो	४४८	वृष्टेः कनो हलो	४४७	शृहेनोऽप्य	४४४
अशोः सरः	४४१	खण्पाशिरुप	४४१	त्यजितनियदि	४४४	भुवः किय	४४१
अशोदैवने सुट्	४४६	गन्गान्दशोः	४३६	दशतेर्यन्नुट् च	४४९	भूरञ्जिभ्यां	४४६
अयुपपाए कित	४४३	गमेगैश्च	४३८	दशेगोलोपो	४४९	भृजः किन्नुट्	४३६
अन्देः कभिने	४४५	गमेहोः	४३८	दाभाभ्यां नुः	४४३	अनेश्च कृः	४३८
अपेः कनुः	४४३	गिर उठच्	४४४	दिवेऋः	४३९	मश्लरलच्	४४९
अदि चेहैसिः	४४७	गुषेरुमः	४४७	घतेरिसिवादेश्च	४४०	मनेरुश्च	४४१
अदि दृणातेर	४४७	असेरा च	४३७	धृपेपिष् च	४३९	मांउल्लो मय	४४८
अन्देनलोपश्च	४३८	अशेरसिः	४४९	नाभि, च नन्देः	४३९	नाछाससिभ्यो	४४३
अञ्जेवैले	४४६	अशेःसिः	४४९	नाभि इन एह	४४६	मुष्टेः किञ्च	४४०
अवः कित्	४४७	अशेःसिः	४३७	नपुनेष्टृत्सष्टृ	४३९	मुष्टेः सो पूर्व	४४८
अभिकुषिगति	४३७	अशेःसिः	४३८	नयतेरिश्च	४३९	पतेरुडिश्च	४३९
		अशेःसिः	४३७	नदेरुडिश्च	४४८		

सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्	सूत्रम्	पृष्ठम्
यापो किद्	४४४	वहिसिञ्च	४४२	श्रयते स्वज्ञे	४४५	सुसुभ्यां निष्च	४४०
सुयसिभ्यां	२४५	वानपमी	४४४	सपूर्वाच्चिच	४४१	सूष्ठु कि	४४२
रमेवृद्धिश्च	४३३	विषाणो वेध च	४४६	सत्तेरप्पूर्वा	४४७	सूचे रमन्	४४५
रातेडं	४३८	दिवे किञ्च	४४३	सर्वधातुभ्यः	४४८	स्तनिष्पिपुषि	४४१
रासिवाङ्गिभ्यां	४४१	वौ तसे	४४५	सर्वधातुभ्य इन्	४४२	सुवोदीर्घश्च	४४०
लक्षेमुट् च	४४४	शने च	४३५	सर्वधातुभ्यो म	४४४	मपायतेड्	४४५
बलिमलितनि	४४२	शमेडं	४३५	सर्वधातुभ्योऽसु	४४३	हनिमशिभ्यां	४४४
बटो वनसि	४४७	शमे ल	४३५	सातिभ्यां म०	४४४	हन्तेरन् घुर् च	४४५
बसेणित्	४४६	शीलो हरवश्च	४४८	सावसे	४४५	हरिमितयोर्द्व	४३५
बसेश्च	४४१	शृगातेर्ह्रस्वश्च	४३६	सिठसिचनिग	४४६	इयते कन्यन्दि	४४५
बसेरिति	४४५	शुद्धमसोऽदि	४३४	सुभ्यतेऽन्	४३९		

इत्युणादिसूत्रसूची ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्यवार्तिकदिसूची

वार्तिकदि	पृष्ठम्	वार्तिकदि	पृष्ठम्	वार्तिकदि	पृष्ठम्	वार्तिकदि	पृष्ठम्
अ		सर्वादय का	५०१	अन्ताच्च	५८२	अमेइङ्गनित्रे	५७६
अकर्मकथानुमि	४६३	अधर्माच्चेति	५९२	अञ्जनापि द्वय	४०४	अभ्यार्ये	८६
अकारान्तोत्तर	५०७	अभ्यारमादेष्ट्वि	५८३	अन्येभ्योऽपि	६१२	अयोगमादानाम्	५६
अष्टाद्विभ्यासु	२०	अच्चपरिमाणे च	१५	अन्येभ्योऽपि	६१३	अरण्याण	५७७
अणोवत्सद्वे	५१७	अनभ्ययरयेति	४३	अन्येभ्योऽपिद्व	६१३	अत्रिष्टुष्टि	३६२
अप्रमागम्या	४०८	अनाचमिकमिव	३७४	अन्वादेशे नपुस	१३२	अर्धात्रय [ग]	५२२
अप्रादिपश्चाद्धि	५८२	अनाक्षवतिनगरी	३३	अपरस्यार्ष पश्च	४९५	अर्थेन निस्पृह	४८८
अङ्गान्नधर्मात्त्रि	५७२	अनिनस्मन्ग्रह	५२२	अप्रत्यादिमिति	४७७	अर्षाञ्च	५९७
अङ्गाकहयाणे[ग]	६१०	अनुदात्ताहल्	१६९	अभित परित	४२६	अर्थश्चि वाभ्यां	६५२
अङ्गान्तोऽन्वारवा	१७३	अनेकशफे	५३४	अभिवादिद्वयो	४६५	अलाद्विकोमा	६०३
अङ्गवतिभ्यां	५४४	अन्तरं इहि[ग]	६२	अमुस्त्यर्षेयसु	४६५	अहरस्पोषत	४८७
अङ्गस्य उपस	५४०	अन्तरभित्तिग	६६	अभूतपद्मान	६३०	अवर्णान्वादा	५३५
अङ्गभ्यासम्बन्धा	३१०	अन्तःशब्दस्य	१५०	अभ्यहितं च	५२६	अवादय. लुटा	५०१
अङ्गमित् इति	५५६	अन्ताच्च	५४६	अगानिनीति च	५१५	अदारपराद्	५७६

अव्ययस्व ६३०
 अव्ययानां भेदात् ५८०
 अव्ययानो विकारे ५८७
 अव्ययवृषदोर्मैशुने ३४८
 अष्टका पितृदेव ६४४
 अक्षि अके अने ३९४
 असंयुक्ता ये ८६
 अस्य सम्बुद्धौ १२७
 अस्मिन् प्रकरणे ६२५
 अहरादीनां ५१
 आहः सः क्तौ ५६९
 आ
 आख्यातमाख्या ४९६
 आगमेः क्षमा ३५६
 आग्नीध्रसाधार ६२८
 आद्यः प्रतिज्ञा ३५८
 आच्छि चम इति १७५
 आचारेऽवगच्छ ३५०
 आचार्याऽणत्वं ५९६
 आचार्यादिण[ग] ६५२
 आदिकर्मणि ४२२
 आदित्राजोर्न ४६४
 आषादिभ्यः ६३०
 आभूषाद्वा ३१६
 आनुपूर्व्ये ह्ये ६३६
 आपदादिपूर्व(ग) ५७८
 आवन्तो वा ५०७
 आमुष्यायणामु ५४२
 आलस्यसुखाद् ३९६
 आशक्षायां सन्व ३३४
 आसासः क्वाडुप ४१०
 आशिषि नाभ २०२
 आशिषि शुनश्च ६४३

आहौ प्रभूतादि ५९०
 इ
 इकारादाविति ५९१
 इक्षुतिपी धातु ४५४
 इणवदिक इति २३९
 इत्त्वोत्वाभ्यां ३०९
 इत्याडियाजी ६६४
 इर इत्तंज्ञा १६१
 इरिकादिभ्यः ५५१
 इवेन समासो ४७९
 ई
 ईकच् च ५५५
 ईयसो बहुव्रीहे ५२३
 ईर्धतेत्स्त्रुतीय ३२७
 उ
 उत्तरपदलोपे न ६४३
 उत्तरपदस्य ५४५
 उत्तरादाइच् ५७३
 उवातेन ज्ञा ४७०
 उक्कृत्संक्कृतयो ४१९
 उपमानात्पक्षा ६५५
 उपसर्गणि १३८
 उपसर्गण १५४
 उपसर्गादस्य ३६३
 उपादेवपूर्वा ३५९
 उभयसंघान्यपा ६५८
 उभयसर्वतसोः ४६५
 उरसो लोपश्च ४०४
 ऊ
 ऊहचगमादीनां ४१०
 ऊर्णोत्तरान् २७१
 ऊर्णोत्तंजुंवाङ्गावो ४१६
 ऊधसोऽनच् च ५२५

ऊट्टदन्तौथौति १६८
 ऊ
 ऊति सर्वणं ऊ २४
 ऊतुनस्यनाणां ५२५
 ऊते च तृतीया २०
 ऊट्टुपधेभ्यो १८४
 ऊट्टवर्णयोर्निधः ६
 ऊट्टवाटिभ्यः ४५२
 ऊट्टवर्णात्स्य ण ८३
 ए
 एकतरात्प्रतिपेधः ९२
 एकसिद्धवाक्यम् ११७
 एकदेश [प०] ९६
 एकवाक्ये निघा ११७
 एकविभक्तावप ४९२
 एकाचो नित्यम् ५८८
 एतदोऽपि वा ६१८
 एते धानावादय ११७
 एवेचानियोगे २३
 ओ
 ओजसोऽप्सर ३५०
 ओत्वोष्ठयोः स २४
 औ
 औह् इयां प्रति ९१
 औत्वप्रतिपेधः १२७
 क
 कच्छाडस्वत्वं ६१२
 कन्दरमणिनिघण्ट ६५५
 कमेरनिषेधः ४७३
 कमेरुलेश्च २०१
 कम्बोजादिभ्य ५६३
 कर्माधारयादेवे ५९६

कर्मव्यतिहारे स ६३६
 काण्वादीनां वा ३२५
 कामप्रवेदन ३८१
 काम्ये रोरेवेति ४३
 कारके छे च ५४८
 कारिकाशब्द ४९७
 कास्यनेकाञ्च १६७
 कुक्कुट्यादीनां ५१२
 कुत्सितप्ररणं ४१४
 कुत्सित इति ६१४
 कुट्टिकाराद (ग) ६५१
 कुट्टग्रहणे (ग) ४८८
 कुत्रया न ५४४
 कुत्सपीप्यते ४५२
 कुण्णोदक्याण्डु ५३६
 कैलिमर उपसं ३८५
 जोपधप्रतिपेधे ५१३
 क्विचित् रिगागम ३०३
 क्विद्वत्यजादौ २४०
 क्तस्येन्विपयस्य ४७६
 क्तपेः संप्र (ग) ४५३
 क्रियया यमनि ४६९
 क्रियासमभिहा ३८३
 क्रुद्धा ह्रस्व(ग) ५७५
 क्वचित्प्रवृत्तिः ३८७
 क्वत्रियसमान ५६२
 क्विच्चिप्रच्छि ४३३
 क्षिपकादीनां ६४३
 क्षीरलवणयोर्ला ३४८
 ख
 खरुसंयोगोपधा ६५१
 खर्पर शरि वा ४७
 खलादिभ्य इ ५७०

सुरसराभ्यां ५१९	० चर्मणि द्विषि ४७३	तिव्यपुंश्च ५३५	द्विपर्यन्तानामे ४५
रुचश्च ५१९	चारौ वा ४०५	तीदस्य लिप्सु ६७	द्वित्वे गोयुगञ् ६०४
भ्याभ्रादेशे न ४२	चित् सप्रकृते ६६७	तोवादीकक् ६२१	द्विप शतुर्वा ४७४
ग ५१०	चिरपरुत्परारि ५८२	स्यक्त्यपोश्च ६४२	द्वयचम्ब्रम्बामे ५५१
गच्छती परदा ५१०	चोवरादर्जने ३५३	त्यक् भञ्च ६४३	घ
गञ्जसङ्गायाम्भा ५६९	च्यर्थे इति वक्त ५००	त्यदादित ५१४	घर्मादिष्वनिष ५२५
गह्वादेः पा ५२४	छ	त्यदादीनां ५२३	घान्बर्धनिर्देशे ४५४
गणिकाया ५६०	छत्रवममीति ३६	त्यक्नेर्भुव इति ५७६	० घातोर्घान्तरे ३६२
गतिकारकेनर ७८	छन्दसीति ३९१	स्वतल्लोर्गुण ५१२	भूष्नीभोर्गुण् ३१७
गतिकारकोप ५०२	ज	त्रिचतुर्भ्यां ६४८	० भून्ोति चम्प ३१७
गत्यर्थेभ्य ४०४	० जक्षिजाग १०३	प्रौ च ५४८	भेद उपसर्क्या ३६९
गमादीनामिति ४१०	जरूपतिप्रभृतीनां ४६४	भ्युपाभ्यां चतु ५३६	भ्यायते ४३३
० गवाक् शब्द २३४	जातिकाभूसूत्रा ५२४	त्वान्त क्लीब ५९९	न
गमे सुपि वा० ४०१	ज्योतिरुद्रमन ३५७	द	० नकारभावानु १८२
गवादिपु ३९३	ज्योतिस्नादिभ्य ६११	दन्मेश ३०१	नगर्पाद्गुपाण्डु ६२२
गुणाचरेण तर ४९०	जवभङ्गल ३२७	दरिद्रानेरार्थ २६२	नभोऽस्त्यर्थानां ५१०
गौरजादिप्रसङ्गे ५०५	झ	दारवाहनो ४०५	नभूस्तभीकक् ६४५
गोष्ठजादय ६०४	झाचिबहुल ६३२	दिवश्च दासे ५४२	नवस्य नू आदे ६२८
घ	झे च विहायसो ४०५	दुग्धोर्ध्वश्च ४१६	न विषाया ६२१
घटाश्रयो ३२७	ण	दुरा वरुणत्वयो १४९	न समामे ३०
घोषप्रद्वणमपि ५८६	ण्वन्तमादीनां ३८७	दुहिपच्योर्बहुल ३७७	नानर्थके [प०] १०२
घमर्थे कविषा ४५१	त	० दुष्टाच् ४६२	नान्तानिटां ४५७
ड	तद्व्येज्जुप ५६२	दूरादेश्च ५७७	नामिनम (ग) ५९५
डावृक्षरपदे १०४	तक्षप्रलोपश्च ५७५	दुन्करपुन ८२	नित्यमात्रेदिते ६३२
घ	तदाहेति माशु ५९०	दुशेश्च ४६४	निमित्तपर्याय ४७४
घटकादिति वा ५६०	तद्दृष्टतो ५५३	दुक्षे च ५४७	निमित्तात्कर्म ४७६
चतुरदृष्टकता ६०७	तनिपतित्तर ३३४	दुक्षे च ५४८	नियन्तृकर्तृक ४६४
चतुर्वर्णादीनां ६००	तन्वादीनां ६६५	देवाप्यनभौ ५५५	निरादयः का ५०१
चचो द्वितीया ३८	तपसः पररमे ३५१	देवानां प्रिय ५४२	निर्दिश्यमा (घ) ६८
चर्याद्वर्माभ्यां ५८६	तर्प्यसक ६१४	दुशोमयाइक्त ६१८	निर्विण्णस्थो ३८६
चरेटाश्चि वापु ३८८	तर्क्यं क्रियाम् ५९९	दन्तत्युक्त्वयो ४९४	निष्ठावामनिट ३९०
चर्हरीतञ्च २७१	तार्यर्थे ४७०	दन्देऽपि ५२४	निष्ठी गति ५७६
	तारका ज्योति ६४४	दिगुप्रासादजा ५०७	नीरवा भञ् ५६५

नीवक्षोर्न ४६४
 नुमचिरवृज्व ८०
 नृतिखनिरक्षि ३९४
 नृनरयोर्वृद्धि(ग) ६५७
 नेतुर्नक्षत्रे ५१८

प

पञ्चजनादुप ५९६
 पयः पन्य (ग) ५७४
 पथ्यध्याय ५७८
 पदाङ्गाधिकारे(प) ६८
 परस्परौपप ३५५
 परिमुखादिभ्य ५८३
 परी ब्रजेः पः १११
 पर्यादयोरलाना ५७१
 पत्यराजन्यां ५३८
 पाण्डोर्ह्यङ्गु ५६३
 पातेर्णौ लुग्व ३२५
 पात्राद्यन्तत्य न ५०८
 पार्थादिषूप ३९७
 पालकान्ताङ्ग ६५२
 पिच्छादिभ्य ६१०
 पिप्पल्याद (ग) ६५०
 पिबतेः सुराशी ३९६
 पिदाचाच्च ६१५
 पीतात्कन् ५६५
 पुच्छाच्च ६५४
 पुच्छादुदसने ३५२
 पुण्यसुदिनाभ्या ५०४
 पुरीमवृत्तन्द ३८४
 पुष्पमूलेषु बहु ५८९
 पूवो विनाशे ४१६
 पूरणे इति वक्त ५४०
 पूरोरण् ५६३
 पूर्वशेषोऽपि ५३३

पूर्वपरावर (ग) ६२
 पृथुमृदुशुद्ध ६००
 पृच्छतीस्रलाता ५१०
 प्रकृतिप्रत्ययार्थ ६०६
 प्रकृत्यादिभ्यः ४६८
 प्रतिपरसमनु(ग) ४८५
 प्रत्यये भाषायां ३४
 प्रत्ययग्रह (प०) ६३
 प्रथमलिङ्गग्रहणं ७६
 प्रथमश्च ६०५
 प्रवत्सतरकम्बल २१
 प्राक्शताद् २०६
 प्रातिपदि (ग) ३५२
 प्रादयो गत्याप ५०१
 प्रादिभ्यो पातु ५१०
 प्रादूहोढोढयेर्ष २०
 प्रायस्य चित्ति ५५३

फ

फलपाकशुपा ५८९
 फलवर्षाभ्यां ६१३
 फलसेनावन ५२८
 फेनाच्चेति वक्त ३५२

घ

वह्निषष्टिलोपो ५५५
 बहुव्रीहौ वा ६४०

भ

भक्षेराहिसार्थ ४६४
 भद्राच्चेति ६३४
 भस्याढे तद्धिते ५१२
 भागरूपनाम ६२८
 भाण्हात्समाच ३५०
 भुजेः कर्मणि ४२५
 भूषामाचिनां ३७६

भ्रातृज्यायसः ५२६
म

मत्स्यस्य ङया ६५०
 मस्जेरन्त्याद् ३०७
 मातुलोपाध्या ६५२
 मान्तानिटां वा ४५७
 मान्तप्रकृति ३४७
 मामकनरकयोर्द ६४२
 मासच्छन्दसि ६६५
 मुकुन्दस्यासित ४२४
 मुख्यायां चतुर्थ ५७१
 मूलविभुंजादि ३९५
 मूलाङ्गप्रः ६३९

य

यजिर्वपिर्वहि २१९
 यणः प्रतिषेधो १३
 यणो मवो ५५४
 यवनाह्रिप्याम् ६५२
 यवलपरे यवला ३७
 यवाहोषे ६२५
 योषथप्रतिषेधे ६५६

र

रप्रकरणे ६१२
 राजव उपसं ४०७
 राजसे (ग) ६००
 राशो जातावेव ५५९
 रादिकः ४५४
 रीगृत्वत इति ३३९
 रूपरात्रिरथन्त ५१

ल

लक्ष्या ६१०
 लघ्वक्षरं ५२६
 लुडि वा २६२

लुन्पेदवश्यमः ३९०
 लोपः पूर्वपद ६२५
 लोन्तोऽपत्येषु ५५८
 ल्यब्लोपे कर्म ४७१

व

वनो न इश ६४०
 वयस्यचरम ६४६
 वयोवाचक ६४७
 वरे लुप्तं न ४३२
 वर्जने लृशान् २६७
 वर्णका तान्तवे ६४४
 वर्णात्कारः ४५४
 वर्णानामानु ५२६
 वर्तका शकुनौ ६४४
 वसेस्तव्यत्क ३८६
 वाग्दिकपश्य ५४१
 वातदन्तवल ६१०
 वातशुनीतिल ४००
 वा नामधेयस्य ५७७
 वा प्रियस्य ५२४
 वायुशब्दप्रयोगे ५२९
 वा लिप्तायाम् ३५९
 विदिप्रच्छि ३६१
 विघालक्षण ५७२
 विनापि प्रत्ययं ६२५
 विरूपाणामपि ५३१
 विष्णौ न ५३०
 विस्तारे पटच् ६०४
 विहायसो ४०१
 युगयुटावुवर्त्से २९२
 वृत्तेश्च ६१०
 वृद्धाच्चेति वक्त ५६८
 वृद्धयोऽन्वृच् ९३

धेप्रो वक्तव्य	५१९	धपतेऽङ्गव्या	१६६	सभभेग प्रवृत्तौ	६३६	सूत्रा तात्तु	५७२
धनाद्गोचनत	३५३	भञ्जुरस्योकारा	६५६	समिधामाधाने	३५६	सूर्याइवतापी	६५२
धोहिवरसयो	३०९	धेनुवहादीनां	६५९	सर्वतोऽपक्रियर्था	३५१	सुदितैकपदे	१५३
धा		ध		सर्वत्राग्नौ	४०४	सुखसुप्	१५६
धाकन्यादिषु	२३	धट्ठवे षड्वच	६०४	सर्वनाम्नो	४९४	स्तनेधेटोनासि	४००
धाकलनर्दमा	५६४	धाद्यप्रधाव्या	६५७	सर्वनामसाख्येय	५२३	स्तोमे ऋषिषि	५९८
धाकिलाङ्गला	३९७	धा		सर्वप्रातिपदिके	३८०	श्रियामपत्ये छ	५६१
धातसहस्रयो	६०६	सकर्मकाणां प्र	३७७	सर्वप्रातिपदिके	६२९	श्रीनपुंसकयोः	६३६
धात्रनगमयत्	४६३	सलथापूर्वं	५०३	सर्वप्रातिपदिका	३४८	स्नेहे तैलच्	३५४
धाञ्चिकरणे	४०३	सख्यायास्त	४९४	सर्वोऽय कारक	४७४	सुशुभ्रशुभ्रपुत्र	२८६
धाञ्चायतेर्न	४६-	सख्यायां क्षत्री	५०३	सहायादा	६०१	स्वगच्छाति (ग)	६२
धाकपाधिवादा	४९६	सख्ययां नदी	५३६	सहितसाम्यां	६५७	स्वरापन्तोप	३६५
शिशोविज्ञास	३५६	सप्तमि ष्टन्	६०४	साभ्यसाधुप्रयोगे	६०६	स्वाङ्कर्मदान्धे	३५९
श्रीतो वाच्य	४२९	महाभुजा	४५०	सामान्ये नपुंसक	५१२	स्वानीरेरिणो	२०
श्रीतोभ्याद्	६१४	सर्वाथवेदानां	३५३	सारङ्ग पशु (ग)	२३	धा	
शून सप्रसारण	५०१	सान्वयश्चकृच्छ	३५१	सिञ्जोप वकादे	१५५	इनुचलन इति	३५१
शुनो दन्त	५५१	मञ्जुकागदप्रा	६३८	तिनीदेर्मासकर्म	६१७	इन्तेहिमायां	३४२
शुदा चामह	६३९	सनिष्पुम्बिल्युति	२६२	सिम्बहुल पिद्म	६५९	इरतेरप्रतिषेध	३५५
शुभ्रशुन्दाम्वा	६१३	सद्व्य	१४०	सोमन्त केश (ग)	२३	इरिद्रामहागज	५६५
शुशुष्कादीनां	३०१	सत्त्वयच्	१६७	शुदिनशुदिनगो	३५०	इरीतक्या	५८९
शुशुष्काल्गु	५४२	सपदादिभ्य	४५२	शुदुरोरविचरगो	४०४	इस्यादिभ्योप्र	३५३
शुशुष्कान्	३२९	सपुधानां लो व	४१	शुसिद्ध	६९०	इन्तिमूपकयो	२९७
शुननाशया	३४५	सम्प्रसारण (ग)	३२३	शुष्पागुष्ठिवृक्ष	२०६	इमारण्यभोर्म	६५०
शुन्यप्रन्धि	३०१	सद्बुद्धौ नपुंस	१३३	शुचिमूर्त्रिम्य	३४१	इदयाद्याङ्गुरन्य	३२४
शुशुभ्रियस्य मलो	६०१	सम्प्रसारण	६३८	शुकापुत्रिका	६४४	इरपुन्दां च	५४१

इति वातिक्राविसूची ।

मध्यसिद्धान्तकौमुदीस्थधातुसूची

धातुः	पृष्ठम्	धातुः	पृष्ठम्	धातुः	पृष्ठम्
अ		हृण् गतौ	२३८	पृष धृष्टौ	२९२
अकि लङ्गणे	२०५	(ञि) हृन्धि वीती	३१६	क	
अलु व्याप्तौ	१८९	हृष इच्छायाम्	३०७	ककि गत्यर्थे	२०५
अलु गतौ०	२२५	ई		कटे वपावरणयोः	२६६
अङ् व्यक्तिसंज्ञ०	३१४	ईठ स्तुतौ	२६५	कत्य श्वाषायाम्	२०५
अस्त सावत्यगमने	१५४	ईर गतौ कम्पने च	"	कय धाम्यप्रथम्ये	३१८
अस्ति भन्वने	१६५	ईदा ऐश्वर्ये	२६६	कदि आह्वाने०	३६३
अद् अङ्गणे	२२७	ईह चेष्टायाम्	२०७	कमि चलने	२०७
अदि भन्वने	१६५	उ		कमु कान्तौ	१९७
अङ् प्राणने	१५९	उच समवाये	२९२	कळ गतौ संग्रहाने	३१९
अथ गतौ	२०८	उशि उच्छे	३०६	कटा गतिशासनयोः	२६५
अर्ध पूजायाम्	१६४	उज्ज उत्सर्गे	"	कय हिंसार्थे	१९१
अर्ध पूजायाम्	३१६	उन्दी कलेदने	३१३	काशि कांशायाम्	२९०
अर्द्ध गतौ वाचने	१६४	उर्द माने प्रोचयार्थे	२०४	काश्ट दीप्तौ	२०७
अर्द्ध पूजायाम्	३१७	ऊ		कृ शब्दे	२३८
अव रक्षण०	१५३	ऊच परिषागे	३१९	कृष्ट कौटिल्ये	३०७
अरु ओचने	३०९	ऊर्णञ् भाञ्जदने	२७१	कृषि हिंसासंकलेश०	१६२
अरु व्याप्तौ	३०१	ऊह वितर्के	२०७	कृषि पनृषमावणे	३१२
अरु मुदि	२२६	ऊ		कृष मापार्थे	२९१
अरु गतिदोष्या०	२३५	ऊ गतौ	२७७	कुर क्रोधे	३१५
अरु क्षेपणे	२८९	ऊच्छ गतौन्द्रिय०	२०६	कुमार क्रीडायाम्	३१९
आ		ऊज गतित्वाना०	२०६	कुर्व क्रीडायाम्	२०४
आप्ञ् व्याप्तौ	३०१	ऊजि मञ्जने	"	कुषि मापार्थे	२१५
आस उपवेशने	३६६	ऊति जुगुप्सायां०	२२७	कुष निष्कर्षे	३०६
इ		ऊलु वृद्धौ	२९२	कुस संश्लेषणे	२९०
इक् स्मरणे	२३९	इ		कुषि यावार्थे	२१५
इट् धाव्यपदे	२६४	इत् वीप्सौ	२०६	कुम् हिंसायाम्	२९६

(इ) कृञ् करणे	३१८	(मि) चिददा स्नेहन०	१८९	घ	
कृती छेदने	३१५	" " ख	२१०	घट चेष्टायाम्	२१४
कृती वेष्टने	३१३	खनु अवदारणे	२२५	घट भाषार्थ०	३१५
कृप् सामर्थ्ये	२१२	खप हिसार्थ	२९१	घटि भाषार्थ.	"
कृश तनूकारणे	२९१	खिद परिदेवने	२९४	घुट परिवर्तने	२१०
कृप बिलेखने	३०३	" "	३०५	घुपिर् विशब्दने	३१५
कृ विक्षेपे	३०९	खिद देन्ये	३१६	घृ सेचने	८४
कृञ् हिसायाम्	३०७	खुदं क्रीडायाम्	२०४	घृणु दीप्ती	२२८
कत सशब्दने	३१४	खै खदने	१८१	घ्रा गन्धोपादाने	१८१
कै शब्दे	३८१	खया प्रकथने	२१३	घ्र	
कन्ञ् शब्दे	३०७	ख ग		घक्राय दीप्ती	२६२
कदि आह्वाने०	३६३	खटि बदनैकदेशे	१६३	घसिर् व्यक्ताया०	२६६
कप कृपायां गती	२१४	खण सख्याने	३१९	घदि आह्लादने	१६३
कमु पादविक्षेपे	१७४	खद व्यक्तायां वाचि	१५९	घमु अदने	१७४
(इ) क्रीञ् द्रव्य०	३०५	खञ्चु गती	१८७	घर्ष अदने	१९१
कृघ क्रोधे	२८८	खर्ष माने	३२०	घप मक्षणे	२२६
कलदि आह्वाने	१६३	खहं कुरसायाम्	२०७	घाय पूजानिशा०	२२५
कलमु ह्यन्तौ	२८९	खवह कुरसायाम्	"	घिञ् चयने	२९८
किलदि परिदेवने	१६३	खाष्ट प्रतिष्ठा०	२०२	घिति स्मृत्याम्	३११
किलदू आर्दीमावे	२९१	खुद क्रीडायां	२०४	घिती सञ्चाने	१५९
किलशू विवायने	३१०	खुप व्याकुलत्वे	२९१	घीव भाषार्थ	३१५
कणु हिसायाम्	३१८	खुप भाषार्थ	३१५	घीवृ आदान०	२२५
कमूप सहने	२०१	खुपू रक्षणे	१६६	खुद सचोदने	३१४
कमू सहने	३८९	खुदं क्रीडायां	२०४	खुर स्तेये	३१०
कि क्षये	१७१	खृ सेचने	१८४	खूप पाने	१९०
किणु हिसायाम्	३१८	खृषु अभिकाङ्क्षायां	२९२	खेष्ट चेष्टायाम्	२०७
(उ) कु शब्दे	२३७	खृह ग्रहणे	३२०	ख्युतिर् आसेचने	१६२
कुशिर संपेपणे	३१३	खृ निगारणे	३१०	खृ	
कुघ इमुषायाम्	२८८	खौ शब्दे	३८१	खद अपवारणे	३१७
कुम सचलने	२१०	प्रथि कीटिव्ये	२०४	खमु अदने	१७४
कुम सचलने	२९१	प्रह उपादाने	३०८	खयं वमने	३१४
कै क्षये	१८१	ख्ख हरक्षणे	१७७	खिदिर् द्वेषीकरणे	३१२
क्यु तेजने	२६७			(व) कृदिर् दीप्ति०	३१३

छो छेदने	२८४	गभ हिसायाम्	२१०	गुभ हिसायाम्	२१०
ज		गभ हिसायाम्	२९१	गुळ उन्माने	३१५
जस मसइसनयोः	२६०	गम प्रहृत्वे०	१८९	गुप तुष्टी	२८७
जनी प्रादुर्भावे	२९३	गश अदर्शने	२८५	गुप गुष्टी	१९०
जभी गात्रविनामे	२१५	गह वन्धने	२९६	गृणु अदने	३१८
जसु अदने	१७४	गिष् चुम्बने	१९०	(व) वृदिर् हिंसा०	३१३
जसु मोक्षणे	२९०	गिजि शुद्धौ	२६६	वृष प्रीणने	२८६
जागृ निद्राक्षये	२६०	गिजिर् शौच०	२८१	वृष प्रीणने	३०१
जि जये	१९१	गिसि चुम्बने	२६६	वृष वृत्तौ	३०६
जीव प्राणधारणे	"	गीम् प्रापणे	२१७	वृष वृत्तौ	३१७
जुगि वर्जने	१६३	गीव स्थौल्ये	१९१	वृम्फ वृत्तौ	३०६
जुर्था प्रीतिसेवनयोः	३११	णु स्तुतौ	२३७	(वि) वृषा पिपा०	२९१
जूष हिसायाम्	१९१	णुद् प्रेरणे	३०२	वृह हिसायाम्	३१३
जृभि गात्रविनामे	२१५	णू त्तवने	३०७	त्यज हानौ	१८९
जू वयोक्षानी	३०९			त्रकि गत्यर्थः	२०५
जू वयोक्षानी	३१६	त		त्रदि चेष्टायाम्	१६३
जे क्षये	१८१	तकि कृच्छ्रजीवने	१६३	त्रपूप् लज्जायाम्	२१३
ज्ञा अवबोधने	१०९	तक्ष त्वचने	१९०	त्रसि मापार्थः	३१५
झ		तच्छ तनूकरणे	"	प्रसी उद्देगे	२८४
झसु अदने	१७४	तढ आवाते	३१४	त्रौकृ गत्यर्थः	२०५
झप हिसार्थः	१९१	तत्रि कुटुम्बधारणे	३१२	त्वच्छ तनूकरणे	१९०
झप आदनसंवरण०	२२६	तनु विस्तारे	३१७	(वि) स्वरा सम्भ्रमे	२१४
ञ		तञ्चू नंकोचने	३१४	त्सर छधगतौ	१७६
ञिकृ गतौ	२०५	तप सन्तापे	१७३		
ञीकृ गतौ	"	तप दाहे	३१७	द	
ञीह् विहायसा गतौ	२९३	तसु काउक्षायाम्	२८९	दद दाने	२१३
ढ		तर्क मापार्थः	३१५	दध धारणे	२०२
ढीकृ गतौ;	२०५	तसु उपक्षये	२९०	दसु उपशमे	२८९
ढ		तिक्क गतौ	२०५	दम्भु दम्भने	३०१
ढौकृ गतौ;	२०५	तीकृ गतौ	२०६	दरिद्रा दुर्गतौ	२६१
ण		तीव स्थौल्ये	१९१	दसि मापार्थः	२९०
णद् अन्यक्ते शब्दे	१६०	तु गतिवृद्धि० (सौप्रः)	२३७	दसु उपक्षये	३१५
णद् मापायाम्	५	तुजि मापार्थः	३१५	(इ) दाम् दाने	२७९
		तुद् व्ययने	३०२	दाण् दाने	१८२

वाप लवने	१३३	घळ् अवस्थाने	१११	पिंज्लु संभूर्णने	११५
वाश्ट दाने	२२६	घञ् भारणे	२१७	पिसि माभार्य	"
वासु दाने	"	घष प्रहसने	११८	पीळ् पाने	२९१
विबु क्रीडा०	२८३	(वि) घृथा प्रागरुभ्ये	१०१	पीड अवगाहे	११२
विह सपत्रये	२६९	घेट् पाने	१७८	पीव स्थीस्ये	१९१
वीच मौण्ड्यादिषु	२०७	घ्मा शब्दाभि०	१८१	पुट सश्लेषणे	१०७
वीङ् क्षये	२९२	घ्यै विन्तायाम्	१८०	पुट भाभार्य-	११५
वीपी दीप्तौ	२९४	घ्राचि घोरवा०	१९०	पुथ भाभार्य	"
(ड) दु सपतापे	३००	घ्रै तुप्तौ	१८०	पुथि हिसासंभले०	१६२
दुप वैहस्ये	२८७	घ्वम शब्दने	३२०	पुप पुष्टौ	१९२
दुह प्रपूरणे	२६७	घ्वंसु अवस्रसने	२१०	पुप पुष्टौ	२८५
द्व परितापे	२९२	घ्वाचि घोरवा०	१९०	पुप पुष्टौ	३०९
द्व भादरे	३११	घ्यू हृच्छने	१८४	पूज पूजायाम्	३१४
द्व इर्मोहनयो	३२७	न		पूज् पवने	३०७
द्विचिर् प्रेक्षणे	३८४	(ड) भवि समृद्धौ	१६२	पूर्व पूरणे	१९१
द्व विदारणे	३०९	भाय् वाग्भोपता०	२०२	पूप वृद्धौ	१९०
द्वैप् शोषने	१८१	भासु "	"	पूळ न्यायामे	३११
द्वो अवस्रण्डने	२८४	भृती गात्रविक्षेपे	२८२	पूच सयमने	३१६
द्वस दीप्तौ	२०९	घ		पूची सपचने	२६६
द्वै न्यहरणे	१७९	पच परिग्रहे	१९०	पूळ स्रवने	३०७
द्रा कुत्सायां गतौ	२६३	(ड) पचय् पाके	२१७	पूथ प्रक्षेपे	३१३
द्राचि घोरवाशिते	१९०	पचि व्यक्तीकरणे	२०६	पू पाकनपूरणयो.	२७५
द्रुह निषायायाम्	२८७	पट् भाभार्य	३१५	पू "	३०९
द्रै स्वप्ने	१८०	पद गतौ	२९४	पै शोषणे	१८१
द्विप मप्रीप्तौ	२९७	पद गतौ	३२०	प्रच्छ क्षीन्तायाम्	३१०
घ		पदं कृत्सिते शब्दे	२०४	प्रथ प्रख्याने	२१४
(ड) घाञ् भारण०	२८०	पधं पूरणे	१९१	प्रथ प्रख्याने	३१३
धातु गतिशुद्धयो	२२७	पा पाने	१७६	प्रस विस्तारे	२१४
धुञ् कम्पने	२९९	पा रक्षणे	२२३	प्रीञ् तर्पणे०	३०५
धुल कम्पने	"	पाळ रक्षणे	३१४	प्रीञ् तर्पणे	३१८
धुञ् कम्पने	३०८	पिमि भाषार्या	३१५	प्रधु दाहे	१९२
धुञ् कम्पने	३१७	पिठि स्वाते	"	प्लुधु दाहे	"
धुप भाभार्य	३१५	पिष्ठ भवयधे	३०५	प्सा मक्षणे	२६३

ब	मेपृ भये	२२६	(वि) मिदा स्नेहने	२९२
बन्ध बन्धने	अंसु अवसंसने	२९१	मिल सङ्गमने	३०४
बहं भाषार्थः	अंशु अधःपतने	२१०	मीङ् हिंसायाम्	२९५
बखह् "	अमु अनवस्थाने	२८९	मीञ् हिंसायाम्	३०५
घाट लोढने	अस्ज पाके	३०२	मीव स्वौत्ये	१९१
बिदि अवयवे	आजू दीप्तौ	२०६	मुच्छृ मोक्षणे	३०४
बुध अवगमने	(ङ) आजू दीप्तौ	२१४	मुद् हर्षे	२०३
बुधिर बोधने	(ङ) आशु दीप्तौ	"	मुर्वी बन्धने	१९१
बृहि भाषार्थः	अैजू "	२०६	मुषे स्तेये	३०९
भूष् व्यक्तायां०	(ङ) भ्लाशु दीप्तौ	२१४	मुस खण्डने	२९०
भ	म		मुष वैचित्ये	२८७
भज सेवायाम्	मघ सङ्घाते	१९०	मूत्र प्रस्रवणे	३२०
भजि भाषार्थः	मघि मण्डने	१६३	मूप स्तेये	१९०
भट्टि कल्याणे	मट्टि भूषायां हर्षे च	३१४	मृष संवाते	"
भदि " सुखे च	मग्नि गुप्तभाषणे	३१२	मृग भन्वेषणे	३२०
भञ्जो आमर्दने	मयि हिंसासंक्ले	१६२	मृङ् प्राणत्यागे	३११
भष मत्सने	मदि स्तुतिमोद०	२०३	मृजू शुद्धौ	२४०
भा दीप्तौ	मदी हर्षे	२८९	मृह सुखने	३०७
भाम क्रोधे	मनु अवबोधने	३२०	मृश धामर्दने	३०८
भाष व्यक्तायां०	मन्य विलोढने	१६४	मृप तितिक्षायाम्	२९६
भिच्च भिक्षायाम्०	मव पूरणे	१९१	म्ना अभ्यासे	१८२
भिदि अवयवे	मघ हिंसार्थः	"	म्रद मर्दने	२१४
भिदिर् विदारणे	मसी परिणामे	२९०	म्लेच्छु अव्यक्तायां०	३१४
(वि) भी भये	मस्क गत्यर्थः	२०५	म्लै हर्षक्षये	१७७
भुज पालनाऽन्य	(ङ) मरुजो शुद्धौ	३०७	य	
भुजो कौटिल्ये	मह पूजायाम्	३१९	यज देवपूजादिषु	२१८
भू सत्तायाम्	माक्षि काङ्क्षायाम्	१९०	यती प्रयत्ने	२०४
भू प्राप्ता	माह् माने शब्दे च	२७८	यग्नि संकोचे	३१२
भूपःअलङ्कारे	माह् माने	२९३	यम मैत्रुने	१८९
भृजी मर्जने	मान पूजायाम्	३१८	यसु प्रयत्ने	२९०
भृजू मरणे	मार्गं भन्वेषणे	"	या प्रापणे	२३२
(ङ) भृष् धारण०	मिजि भाषार्थः	३१५	(ङ) याचु याच्मा०	२५५
भृशु अधःपतने	(वि) मिदा स्नेहने	२१०	यु मिश्रणामिश्र०	१३१

युगि वर्जने	१६३	(ओ) लजी मी०	३११	घस्क गत्यर्थ	२०५
युज समयने	३१६	छप कान्तौ	२२४	घह प्रापणे	२१९
युजिर् योगे	३१३	(ओ) छरजी मीढा०	३११	घा गतिगन्धनयो	२३२
युज् बन्धने	६०७	छा आदाने	२३३	घाच्चि काछ्छायाम	१९०
युध सप्रहारे	२९४	छिप उपदेहे	३०५	विच्चिर् पृथग्भावे	३१३
यूप हिसायाम्	१९१	छिह भास्वादाने	२६९	विच्छ् माषार्थ	३१५
र		छीछ् इलेषणे	२९५	विजिर् पृथग्भावे	२८०
रक्ष पाठने	१९०	छुजि भाषार्थ	३१५	(ओ) विजी मय०	३११
रवि गत्यर्थ	२०६	छुट भाषार्थ	"	(ओ) विजी "	३१५
रक्ष प्रतियरने	३१९	छुठ विलोडने	२९०	विद् ज्ञाने	२३३
रक्ष रागे	२९६	छुण्ट रतेये	३१४	विद् सत्तायाम्	२९४
रध हिसासराध्यो	२८६	छुधि हिसासकले०	१६२	विद् विचारणे	३१६
रमु क्रीडायाम्	२१५	छुप्ल् छेदने	३०४	विद्ग्ल् लभे	३१४
रा दाने	२३३	छुम गाध्यं	२९१	विद्ग प्रवेशने	३०८
राजू दीती	२२४	छुम विमोडने	३०६	विप्ल् व्याप्तौ	२८२
राध ससिद्धौ	३०१	छुम् छेदने	३०७	विस प्रेरणे	२९०
रिचिर् विरेचने	३१३	छुप भाषायाम्	१९०	वी गुत्यादिपु	०४०
रिष हिसार्थ	१९१	छोछ् भाषार्थ	३१५	वीर विकान्तौ	३००
रिष हिसायाम्	२९१	छोच् "	"	युगि वर्जने	१६३
रीछ् श्रवणे	२९५	घ		युस उत्सर्गे	२९०
रु शब्दे	२३७	घकि गत्यर्थ	००५	युछ समत्तौ	३१०
रुष दीप्तावमि०	२१०	घज रोये	१९०	युभि वर्जने	२६६
रुमो मजे	३०८	घच परिभाषणे	२४०	युजी वर्जने	"
रुदिर् अश्रुविमो०	२५७	घच् "	३१८	युञ् वरणे	२९९
रुधिर् आवरणे	३१२	घज गतौ	१६६	युञ् वरणे	३१६
रुव हिसायाम्	१९१	घच्चि अभिवाद०	२०३	युत्त वर्तने	२१०
रुप रोये	२९१	घन सम्मत्तौ	१६५	युत्त भाषार्थ	३१५
रुप हिसार्थ	३१५	घनु याचने	२२०	युधु वृद्धौ	२११
रुप भूषायाम्	१९१	(ङ) घप् बीजसन्ताने	२२१	युधु भाषार्थ	३१५
रु शब्दे	१८०	घर्ष र्नेहने	२०७	युध् वरणे	२९१
रु		घष हिसायाम्	१९१	घञ् वरणे	३०८
रुचि गत्यर्थ-	२०६	घस भाच्छादाने	२६६	वेञ् सन्तुसन्ताने	२२१
रुचि	३१५	घस स्तम्भे	२९०	(ङ) वेपू कल्पने	२०७

षेष्ट वेष्टने	२०७	शूप प्रसवे	१९१	पिडु तन्तुसन्ताने,	२८३
(ओ) वै शोषणे	१८१	शुधु शब्दकुत्सायाम्	२११	पु प्रसवैश्वर्ययोः	२३७
व्यञ्च व्यापीकरणे	३०६	शुर् हिंसायाम्	३०९	पुञ् अमिपवे	२९७
व्यथ भयसंभ्रलनयोः	२१४	श्रै पाके	१८१	घृष्ट प्राणिगर्भवि०	२६६
व्यथ तादने	२८४	शो तनूकरणे	२८४	घृष्ट प्राणिप्रसवे	२९२
व्यय गतौ	२२६	शुभ्युत्तिर् क्षरणे	१६१	पूष क्षरणे	२०४
व्युप विभागे	२९०	श्रयि शैथिल्ये	२०४	पै क्षये	१८१
व्येञ् संवरणे	२२३	श्रमु तपसि खेदे	२८९	श्रो अन्तकर्मणि	२८४
व्रज गतौ	१६६	श्रमु विश्वासे	२१०	ष्टै वेष्टने	१८१
(ओ) व्रश्च छेदने	३०५	श्रा पाके	२३३	ञ्चै शब्दसंवातयोः	१८०
वीङ् शृणोत्यर्थे	२९६	श्रिञ् सेवायाम्	२१५	छा गतिनिङ्क्षौ	१८२
श		श्रिषु दाहे	१९२	ष्णा शौचे	२३३
शक विमापितो०	२९६	श्रीञ् पाके	३०५	ष्णिह प्रीतौ	२८७
शकि शङ्कायाम्	२०५	श्रु श्रवणे	१८६	ष्णु प्रस्रवणे	२३७
शकल् शक्तौ	३०१	श्रै पाके	१८८	प्युह उद्गिरणे	२८७
शद्ल् शातने	३०९	श्राष्ट कथने	२०६	प्वष्क गत्यर्थः	२०५
शप आक्रोशे	२९६	श्लिपु आलिङ्गने	२८८	(प्लि) श्वप् शये	२५८
शसु संपशमे	२८८	श्लिपु दाहे	१९२	(प्लि) प्लिहा स्नेह०	२१०
शप हिंसार्थः	१९१	श्लोक् संवाते	२०५		
(आ) शासु दृच्छार्था	२६६	श्वक गत्यर्थः	"	स	
शासु अनुशिद्यौ	२६२	श्वस प्राणने	२५९	साञ् संसिद्धौ	३०१
शिपि आघ्राणे	१६३	श्विता वर्णे	२०९	सृञ् पैशुन्ये	३१९
शिप असर्वापयोगे	१९१	श्विदि शैत्ये	२०६	सृञ् वेष्टने	३२०
शिव हिंसार्थः	३१७	प		सृञ् भादरे	१९०
शिष्लु विशेषणे	३१५	पण संमत्तौ	१६५	सृ गतौ	१८४
शीङ् स्वप्ने	२६३	पणु दाने	३१७	सृञ् विसर्गे	२९५
शुच शोके	१५९	षद्ल् विशरणग०	३०८	सृप्लु गतौ	१८७
शुध शौचे	२८८	पह मर्पणे	३१६	स्कम्भु रोधने (सौ)	३०६
शुन गतौ	३०७	पिच क्षरणे	३०४	स्कृञ् आप्रवणे	"
शुभ दौतौ	२१०	पिञ् बन्धने	२९८	स्कृदि आप्रवणे	२०२
शुष्व माने	३१५	पिम् बन्धने	३०६	स्कम्भु रोधने (सौ)	३०६
शुष शोषणे	२८५	षिष गत्याम्	१५६	स्वद स्वदने	२१४
शूर विक्रान्तौ	३२०	पिधु संराद्धौ	२८८	स्वल संवलने	१७५

स्तम्भु रोपने (सौ)	३०६	स्फुल्ल सचलने	३०७	द्विक्क अभ्यक्ते शब्दे	२२४
स्तम्भु " "	"	स्मृ चिन्तायाम्	३०८	द्विसि द्विसायाम्	३१३
स्तम्भु आच्छादने	२९८	स्यन्दु मन्त्रवणे	२११	द्विसि द्विसायाम्	३१७
स्तम्भु आच्छादने	३०७	संसु अवलसने	२१०	दु दानादनयो	२७२
स्त्यै शब्दसंशालयो	१८०	सम्भु विश्वासे	"	दुम् इरणे	२१७
स्त्यै वेदने	१८१	स्मृ शब्दोपसापयो	१८३	दुप दुष्टौ	२९१
स्पदि किञ्चिद्वचने	२०३	स्वाद् आस्वादाने	२२४	द्वाद् अभ्यक्ते शब्दे	२०४
स्पदा बाधनस्पदायो	२२६	द्व		द्वी लज्जायाम्	२७४
स्फुट विकसने	२०७	द्वम द्विसागत्यो	२२९	द्वार्थी सुद्धे	२०४
स्फुट विकसने	३०७	(ओ) हाक् स्यागे	२७६	द्वृष्ट कौटिल्ये	१८९
स्फुटि परिधासे	३१२	(ओ) हाक् गतौ	२७८	द्वृष्ट सवरणे	१८४
स्फुर सचलने	३०७	द्वि गतौ वृद्धौ च	३००	द्वेम् स्वर्णाय शब्दे च	२२४

धातुसूची समाप्ता



प्रश्नोत्तरलेखनप्रकारः



विष्णो इह—

विष्णो इह इति स्थिते 'सम्बुद्धौ शाकण्यस्येतावनापे' इति प्रगृह्यसंज्ञानां प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्' इति प्रकृतिभावे 'विष्णो इह' इति । प्रगृह्यत्वाऽभावे 'पृचोऽयवायाव।' इत्यनेन शोकारस्य यथासंख्येन अचादेशे 'विष्ण् अच् इह' इति जाते 'लोपः शाकण्यस्य' इत्यनेन अवर्णपूर्वस्य चकारस्य लोपे 'विष्ण इह' इति जाते 'पूर्वात्रासिद्धम्' इत्यनेन 'लोपः शाकण्यस्य' इति सूत्रस्याऽसिद्धत्वात् चकारस्य विद्यमानत्वेन गुणाप्राप्तौ 'विष्ण इह' इति । लोपाभावपक्षे 'विष्णविह' इति ।

लक्ष्मीच्छाया—

लक्ष्मी छाया इति स्थिते 'छे च' इत्यनेन तुकि (उकाधितौ) 'लक्ष्मी च छाया इत्यत्र 'झलां जसोऽन्ते' इत्यनेन तकारस्य 'दकारे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति दकारस्य जकारे 'स्वरि चे'ति जकारस्य चकारे परसंयोगे 'लक्ष्मीच्छाया' इति सिद्धम् ।

सम्बुद्धम्—

सन् शम्भुः इति स्थिते 'शि तुक्' इत्यनेन तुगागमे ककारस्य 'हलन्त्यम्' इत्यनेन, उकारस्य 'उपदेशेऽजनुनासिक इत्' इत्यनेन च इत्संज्ञायां 'तस्य लोपः' इति लोपे च 'सन् च शम्भुः' इति जाते 'शरद्धोऽटि' इत्यनेन विकल्पेन शस्य इत्वे 'स्तोः श्चुना श्चुः' इत्यनेन तकारस्य चकारे पुनः 'स्तोः श्चुना श्चुः' इति नस्य जकारे 'सम्बुद्धम्' इति । 'शरो शरि-' इति चकारलोपपक्षे 'सम्बुद्धम्' इति । छत्राभावे लोपे चाकृते लुत्वे च कृते 'सम्बुद्धम्' इति तुकोऽभावे छत्राभावे च नकारस्य श्चुत्वेन जकारे च कृते 'सम्बुद्धम्' इति च सिद्धम् ।

तदुक्तम्—'अच्छौ जच्छा जच्छा जशाधिति च्चुद्धम् ।

रूपाणामिह तुक्छत्वच्छोपानां विकल्पनात् ॥'

उत्थानम्—

उद् स्थानम् इति स्थिते 'उद्ः स्यारतम्भोः 'पूर्वस्य' इत्यनेन प्राप्तः पूर्वसवर्णः कस्य स्याद् इति शङ्कायां 'तस्मादित्युत्तरस्य' इत्यनेन वर्णान्तराप्यवहितस्य परस्य 'स्था' इत्यस्य प्राप्ते सति 'आदेः परस्य' इत्यनेन परस्य 'स्था' इत्यस्य आदिभूतस्य सकारस्य स्थाने पूर्वसवर्णे निश्चिते तत्स्थाने अधोऽधमहाभागप्रयत्नसाम्यात् धादत्ते यकारे जाते 'उद्दुत्थानम् इति' शङ्कायां 'शरो शरि' सवर्णे' इत्यनेन पूर्वयकारस्य

लोपे 'खरि च' इत्यनेन ङकारस्य चार्धे 'उत्थानम्' इति । पक्षे 'शरो हरि सवर्णे' इत्यस्य वैकल्पिकत्वात् लोपामावे—'उत्थानम्' इति च सिद्धम् ।

मनोरथ—

मनस् रथः इत्यत्र 'ससन्नुपो रु' इति सस्य रुवे कृते 'रो रि' 'दशि च' इत्युभयोः प्राप्ते 'विप्रनियेधे पर कार्यम्' इति सूत्रेण परत्वात् 'रो रि' इत्यस्यैव प्राप्ते 'पूर्वप्रागसिद्धम्' इति सूत्रेण 'रो रि' इत्यस्य त्रिपादित्वात्वेन असिद्धत्वात् 'दशि च' इति उावे 'आद्गुण' इति गुणे 'मनोरथ' इति सिद्धम् ।

संस्कर्ता—

सम् कर्ता इत्यत्र 'सम्परिम्वा करोती भूयणे' इति सूत्रेण सुहागमे अनुबन्ध लोपे 'सम् स्कर्ता' इति जाते 'समः सुटि' इत्यनेन अन्यस्य मस्य इत्ये अनुबन्ध लोपे 'स्रस्कर्ता' इति जाते 'अत्रानुनासिक पूर्वस्य तु वा' इत्यनेन रोः पूर्वमनुनासिके 'स्रस्कर्ता' इति जाते 'स्रवसानयोर्विसर्जनीयः' इति सूत्रेण रेफस्यामे विसर्गे 'सं पुंकारां सो वक्तव्य' इति धातुिकेन विसर्गस्य सकारे च कृते 'संस्कर्ता' इति । पक्षेऽनुनासिकाभावे 'अनुनासिकात्परोऽनुस्वारः' इति सूत्रेण अनुस्वारे जाते 'संस्कर्ता' इति च सिद्धम् ।

विश्वपः—

विश्वं पातीति विश्वपा क्तिन्ता, तस्मात् धासि अनुबन्धलोपे विश्वपा+अस् इत्यवस्थायां 'यच्चि भम्' इत्यनेन भसञ्जा तत्तच्च 'क्तिन्ता क्तिन्ता क्तिन्ता क्तिन्ता चातुर्वं न जहतीति' सिद्धान्तानुसारं क्तिन्तस्य चातुर्वेन 'आतो चातोः' इति-आकारस्य लोपे परसवर्णे 'विश्वपस्' इति, तत्तच्च सस्य रुवे 'स्रवसानयोर्विसर्जनीयः' इति विसर्गे 'विश्वप' इति सिद्धम् ।

क्रोष्टुः—

क्रोष्टुशब्दात् ङसि विभक्तौ ङकारेकारपो इत्यंशायां लोपे च कृते 'विभाषा वृतीयादिष्वधि' इत्यनेन वृज्ज्भावे 'क्रोष्टु अस्' इति स्थिते 'अत उच्' इति सूत्रेण पूर्वपरयो ङकाराकारयो स्थाने उच्चादेशे रपरस्ये 'क्रोष्टुस्' इति जाते 'रासस्य' इति सलोपे रेफस्य विसर्गे 'क्रोष्टुः' इति जातम् ।

निर्जरसौ—

निर्जरशब्दात् प्रथमाद्विवचने औ समागते 'जराया जरसन्वतरस्याम्' इत्यनेन जरसादेशे 'निर्जरसौ' इति । नच सूत्रे जराशब्दस्यैव जरसादेशः श्रोक्तो न तु निर्जरशब्दस्य, इति कममत्र जरसादेश इति धाष्यम्, 'पदाङ्गधिकारे तस्य च तदन्तस्य च' इति परिभाषया तदन्तस्यापि तादृशृतेः । नन्वेमपि 'निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्ति'

इति परिभाषया निर्दिश्यमानस्य जराशब्दस्यैव जरसादेशप्रवृत्तिरिति चेन्मैधम्, 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया जरशब्दस्याऽपि जरसादेशविधानात् ।

प्रारभ्याम्—

प्रकृष्टो रा=धनं यस्येति बहुव्रीहौ प्ररेशब्दः । तस्य नपुंसकद्वस्वत्ये इकारे 'प्ररि' इति । तस्माद् प्ररिशब्दात् भ्यामि 'एकदेशविकृतमनन्यवत्' इति परिभाषया लोपः 'रापो हलि' इत्यनेन आत्वे 'प्रारभ्याम्' इति सिद्धम् ।

सर्वस्याम्—

सर्वाशब्दाद् हे, विभक्तौ 'हेराम्नघाम्नीभ्यः' इत्यनेन हेरामि 'सर्वा भाम्' इति स्थिते 'सर्वनाम्नः स्याद्द्वस्वत्व' इत्यनेन स्याटि आबन्तस्य द्वस्वत्ये च जाते 'सर्वस्या भाम्' इति जाते 'अकः सवर्णे दीर्घः' इत्यनेन दीर्घे 'सर्वस्याम्' इति सिद्धम् ।

आभ्याम्—

इवम् शब्दात् भ्यामि विभक्तौ 'इयदादीनामः' इति आत्वे 'अतो गुणे' इति ऋरूपे 'इदभ्याम्' इति जाते 'हलि लोपः' इत्यनेन इद्भागस्य लोपे प्राप्ते 'अलोऽन्यस्य' इत्यनेनान्यस्य दस्य लोपे प्राप्ते 'नानर्थकेऽलोन्यविधिरनभ्यासविकारे' इति परिभाषया अलोन्यविध्यभावे इद्भागस्यैव लोपे अ+भ्याम् इति जाते 'मुपि च' इति दीर्घत्वे प्राप्ते परन्त्वप्र विद्यमानस्याकारस्यादन्तरत्वं वर्तते न वेति दाङ्गायाञ्च 'आधन्तवदेकस्मिन्' इति एकस्मिन्नेवाकारे अन्तवद्भावेन अदन्तरत्वं मर्यादा दीर्घे कृते 'आभ्याम्' इति सिद्धम् ।

चतसृणाम्—

'चतसृ भाम्' इति स्थिते 'त्रिचतुरोः त्रियां तिसृचतसृ' इत्यनेन चतस्रादेशे 'चतसृ भाम्' इति जाते 'अचि र् शतः' इति ऋकारस्य रेफादेशे प्राप्ते 'नुमच्चिर-वृज्वद्भावेभ्यो नुट् पूर्वविप्रतिषेधेन' इति पूर्वविप्रतिषेधेन तं याञ्चिरात् 'इस्वन्थापो-नुट्' इति नुटि जाते 'चतसृ नाम्' इति स्थिते 'नामि' इत्यनेन दीर्घे प्राप्ते 'न तिसृ-चतसृ' इति निषेधे 'ऋवर्णाक्षस्य णत्वं वाच्यम्' इति वार्तिकेन णत्वे 'चतसृणाम्' इति सिद्धम् ।

ज्ञानानि—

ज्ञानशब्दाद् जरशोर्विषये 'जरशशोः शिः' इत्यनेन अनेकाल्पवाज्जरशशोः शित्वे कृते 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन 'शि' इत्यस्य सर्वनामस्थानसंज्ञायाम् 'नपुंस-कस्य झलच्चः' इति नुमि 'मिद्वचोऽन्यारपरः' इति योगेनान्ययाज्झरूपस्य नस्यान्या-वयवीभूते उकारमकारयोरिसंज्ञायां लोपे च 'ज्ञानम् शि' इति स्थिते शकारस्ये-त्संज्ञालोपयोः 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इत्यनेन नान्तोपभायाः दीर्घे 'ज्ञानानि' इति सिद्धम् ।

सुधिना—

शोभना धीर्यस्य सुधि-कुलम् 'इत्थो नपुसके' इति इत्थ', तस्मात् टाविभक्तौ अनुबन्धलोपे शोभनधीर्विशिष्टस्वरूपप्रवृत्तिनिमित्तक्याद् भाषितनपुस्कारवेन वृत्तीयादियु वैकल्पिके पुवज्ञावे, पुवख्ये 'सुधिया' इति । पदे-असति 'पुवज्ञावे, आहो नाऽद्वियामि'ति नादेशे सुधिना इति च सिद्धम् ।

प्रतीच.—

प्रति—उपपदात् 'अद् धातो ऋत्विग्वृत्त्रिगुण्णिगन्धुयुञ्जिक्ञा च' इति किन्ति तस्य सर्वापहारे प्रत्ययलक्षणेन 'अनिदितां हल उपधायाः क्विति' इति उपधानकारलोपे 'प्रति अच्' इति स्थिते 'इको षणचि' इत्यनेन षणि 'प्रत्यच्' इति । तस्मात् शसि षकारस्येत्सज्ञायां लोपे च कृते । 'प्रत्यच् अस्' इति स्थिते 'यचि अम्' इत्यनेन 'मसंज्ञायाम्' 'अचः' इत्यनेन अलोपे 'चौ' इत्यनेन पूर्वस्याणो दीर्घे सस्य श्वे विसर्गे 'प्रतीच' इति सिद्धम् ।

अमुना—

अदस्—शब्दात् टाविभक्तौ 'त्यदादीनाम' इत्यनेन अत्वे 'यतो गुणे' इत्यनेन पररूपे 'अदसोऽस्तेर्दादुवो मः' इत्यनेन अकारस्य उत्त्वे दस्य च मत्वे 'अमु+आ' इति जावे नामावे कर्त्तव्ये 'न मुने' इत्यनेन मुखस्यासिद्धत्वाभावबोधनात् 'क्षीपो ष्यन्त्रि' इत्यनेन घिसज्ञायाम् 'आहो नाऽद्वियाम्' इत्यनेन टा—इत्यस्य नादेशे 'अमुना' इति सिद्धम् । नच मुखस्यासिद्धत्वात् 'सुपि च' इति दीर्घः स्यादिति वाच्यम् 'न मुने' इत्यनेन कृते च नामावो नासिद्धत्वमित्यस्यापि बोधनात् ।

धनूपि—

धनुष् शब्दात् जरशसोर्विषये 'धनुष् अस्' इति स्थिते 'जरशसोः शि' इति शौ कृते अनुबन्धलोपे 'शि सर्वनामस्थानम्' इत्यनेन सर्वनामस्थानसज्ञायां 'नपुसकस्य शलच' इति नुमि अनुबन्धलोपे 'सान्तमहत संयोगस्य' इत्यनेन सान्तसयोगस्य उपधायाः दीर्घे 'नधापदान्तस्य शलि' इत्यनुस्वारे 'मुग्धिसर्जनीयशब्दवायेऽपि' इति सस्य पात्रे संयोगे च कृते 'धनूपि' इति जातम् ।

भवति—

भूत्सज्ञायां धातु अकर्मकः । तस्मात् 'ल' कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्य' इति सूत्रेण 'खले कपोत्पन्यायेन' कर्त्तरि दशमु लकारेषु प्राप्तेषु 'वर्तमाने छट्' इत्यनेन भूपातोर्वर्तमानक्रियावृत्तिवात् छटि अनुबन्धलोपे 'भू ल' इति स्थिते 'छस्य' इत्यचिहृत्य 'तिससिष्ठि०' इत्यनेन पूते अष्टादश छादेशाः प्राप्ता 'लः परस्मैपदम्' इत्यनेन अष्टादशानामप्येषां परस्मैपदसज्ञा सजाता, 'तृकानावात्तनेपदम्' इत्यनेन लक्ष्मत्याहारात्पतितानां भवानामाप्यनेपदसज्ञा जाता, एवं तिबादया परस्मैपद-

संज्ञा, तादृशश्च आत्मनेपदसंज्ञा, येषां मध्ये अत्र परस्मैपदसंज्ञिनः प्रत्ययाः स्युः ? किमुतामनेपदसंज्ञिनः ? इत्याकाङ्क्षनायां 'शीपात्कर्त्तरि परस्मैपदम्' इत्यनेन अस्य ('मू धातोः') आत्मनेपदनिमित्तहीनत्वात् कर्त्तरि परस्मैपदं प्राप्तं, परस्मैपदसंज्ञिनां नवानां मध्यात् क्तमेन भाष्यमित्याकाङ्क्षायाम्—'तिङ्छोणि त्रीणि प्रथममध्यमोचमाः' इति क्रमात् त्रयाणां त्रिकाणां प्रथममध्यमोत्तमसंज्ञासु जातासु लब्धप्रथमादि-संज्ञानां तिङ्छयाणां यचनानां प्रत्येकमेकवचन-द्विवचन-बहुवचनसंज्ञासु अत्र प्रथमेन भाष्यम्, उत मध्यमेन, उत उत्तमेन ? इति शङ्कायां 'शेषे प्रथमः' इति प्रथमपुरुषो भवितुं युक्तस्तथापि त्रीणि वचनानि । एषां मध्यात् क्तमेन भाष्यमित्याकाङ्क्षायां 'द्वयेकयो-द्विवचनैकवचने' इत्यनेन अत्र एकवचनस्य विवक्षायां प्रथमपुरुषैकवचने तिपि, तिपः पकारस्य ह्रसंज्ञायां लोपे च तिङ् शिःसार्वधातुकम्' इत्यनेन तिपः सार्व-धातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन गुणे प्राप्ते 'नृसुवोस्तिङि' इत्यनेन गुणनिषेधे 'कर्त्तरि षप्' इत्यनेन षपि अनुबन्धलोपे, शिःधात् 'तिङ्शिःसार्वधातुकम्' इत्यनेन सार्वधातुकसंज्ञायां 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इत्यनेन उकारस्य गुणे 'पृषोऽपचायावः' इत्यनेन ओकारस्य अवादेशे 'भवति' इति सिद्धम् ।

पधाञ्चरूपे—

पृधधातोर्लिटि 'इजादेश्च गुरुमतो नृच्छः' इत्यासि 'आमः' इति लिटो लोपे 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परके कृञ्नुप्रयोगे 'पृध् आम् कृ लिट्' इति जाते लिटः स्थाने थासि 'लिटि धातोर्नभ्यासस्य' इति द्वित्वे 'पृध् आम् कृ कृ थास्' इति जाते 'पूर्वोऽभ्यासः' इति अभ्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यनेन अभ्यासऋवर्णस्य भावे रपरत्वे 'पृध् आम् कृ कृ थास्' इति स्थिते 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोश्चुः' इत्यनेन कस्य चत्वे मकारस्य अनुस्वारे परसवर्णे च कृते 'पधाञ्च कृ थास्' इति स्थिते 'थासः से' इत्यनेन थासः स्थाने से आदेशे 'लिट् च' इति आर्धधातुकत्वे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति इटि प्राप्ते 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति निषेधे 'आदेशप्रत्यययोः' इति परत्वे 'पधाञ्चरूपे' इति । अत्र 'असंयोगाद्भित् कित्' इति किरवात् 'क्षिति च' इति गुणनिषेधो बोध्यः ।

आतीत्—

अत्धातोर्लुङि अजादिरवात् 'आडजादीनाम्' इत्यनेन आडागमे 'धादश्च' इति वृद्धौ कृतायां लुङ्स्तिपि 'इत्तश्च' इतीकारलोपे मध्ये च्लौ तस्य सिचि अनुबन्धलोपे 'आत् सूत्' इति स्थिते 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' इतीडागमे 'आर्धधातुकस्येड्वल्लादेः' इति सिचः इटि 'इट ईटि' इति सिचो लोपे तस्याऽसिद्धत्वात् सवर्णदीर्घाप्राप्तावपि 'सिचलोप एकदेशे सिद्धो वाच्यः' इति लोपस्यासिद्धत्वात् सवर्णदीर्घे 'आतीत्' इति ।

जघान—

इन्धातोर्लिटि तिपो णलादेशे द्वित्वे हलादि शेषे च 'हहन् अ' इति स्थिते 'कुहोश्च' इत्यनेन अस्यास-हकारस्य शकारे 'अस्यासे चर्च' इति जरत्वेन अकारे 'हो इन्तेष्मिन्नेषु' इति हस्य घकारे 'अत उपधाया' इति उपधावृद्धौ 'जघान' इति ।

गोपायाञ्चकार—

गुप् घातोः 'परोचे लिट्' इति लिटि प्राप्ते तस्याधित्वा 'गुप्धूपविच्छिद्यणिप निभ्य आय' इति नित्यमाधप्रत्यये प्राप्ते 'आयादय आर्धधातुके वा' इति विकल्पेन आयप्रत्यये कृते तस्यार्धधातुसंज्ञायां लिटि 'कास्यनेकाच आम् वक्तव्य' इत्याग्रस्यये तस्यार्धधातुसंज्ञायाम् 'अतो लोप.' इत्यलोपे 'आम्.' इति लिटो मुक्ति लिटः कृत्वाग्रस्ययलक्षणोऽन्तर्गोपायामित्यस्य कृदन्तत्वात् प्रातिपदिकत्वेन सुबुत्पत्तौ 'कृन्मे जन्तः' इत्यग्रस्यत्वात् 'अभ्यचादीप्सुप' इति तस्यापि लुकि गोपायामित्यवशिष्टे 'कृद्धानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परककृत्रि अनुप्रयुज्यमाने 'गोपायाम् कृ लिट्' इति स्थिते अप्र लिट्स्तिपि तिपो णलादेशे अनुबन्धलोपे द्वित्वे अस्याससंज्ञायाम् 'उरत्' इत्यस्यासञ्चरणस्य अकारे तस्य रपरत्वे च जाते गोपायाम् 'कृ कृ अ' इति 'मृते' 'हलादिः शेष' इति रलोपे 'कुहोश्च' इत्यस्यासककारस्य सुत्वे मस्यापदान्तत्वाद्नुस्वारे परसञ्चरणे अकारे 'अचो ष्मिति' इति वृद्धि परत्वाद्वाङ्मिथ्या 'सार्वधातुकार्धधातुकयो' इति गुणे 'उरण् रपर' इति रपरे च जाते 'अत उपधाया' इति वृद्धौ 'गोपायाञ्चकार' इति सिद्धम् ।

अतृणेट्—

वृद्धधातोर्लृटि तिपि अनुबन्धलोपे 'रुदादिभ्य रनम्' इत्यनेन रनमि शकारमकारयोरित्संज्ञायां लोपे च कृते 'अट्कुप्वाङ्नुम्व्यवायेऽपि' इति णत्वे 'वृणहत्' इति जाते 'लुङ्लृङ्' इत्यनेन अटि 'वृणह इम्' इत्यनेन इमागमे 'अ लृ ण हत्' इति जाते 'आद्गुण' इत्यनेन गुणे 'हो ष' इति षत्वे हल्लृट्यादिना लृलोपे 'अलां अशोऽन्ते' इत्यनेन पदान्तत्वात् षत्वे षत्वे 'वाऽवसाने' इति चार्त्वे 'अतृणेट्' इति ।

अचूचुरत्—

स्तेयार्थक 'चुर' घातोः 'सत्यापपाक्षरूपधीणात्लृङ्कसेनालोमत्वचवर्मवर्णचूर्णचुरादिभ्यो णिच्' इति सूत्रेण णिचि अनुबन्धलोपे 'पदान्तलृङ्पधस्य च' इति गुणे 'चोरि' इति जाते 'सनाद्यन्ता धातव' इति धातुसंज्ञायां धातुत्वात्लृङ् तिपि अडागमे 'च्छि लृङ्' इति लृङ् 'णिध्रिद्रुस्रग्भ्यः कर्त्तरि चङ्' इति च्लेञ्चङि चङ्यो रेसंज्ञायां लोपे च 'इतश्च' इति तिपि इकारलोपे 'अचोरि अत्' इति जाते 'जेर-नेदि' इति ञेङोपे 'णौ चङ्' उपधाया हस्य 'इत्युपधाइत्वे' 'अचुर् अत्' इति

जाते 'चङि' इत्यनेन द्वित्वे 'हलादिः शेषः' इति रलोपे 'दीर्घो लघोः' इति अभ्यासस्य दीर्घत्वे 'अचञ्चुरत्' इति सिद्धम् ।

भावयति—

भवनन्तं प्रेरयति 'भावयति' । अयम्भावः—देववृत्तो यज्वा भवति, तं याजकः प्रेरयति, इत्याद्यर्थे भूधात्वर्थस्य मुख्यकर्त्ता यज्वा तस्य यज्वभवने प्रवर्तयिता योजकादिः प्रयोजकः, तन्निष्ठायां प्रेरणायां भूधातोः 'हेतुमति च' इति णिचि वृद्धौ अयादेशे, 'भावि' इति णिजन्तम् । तस्य 'सनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायां लटि निषिद्धपाथितौ शपि गुणे अयादेशे 'भावयति' इति सिद्धम् ।

अचोकमत—

उकारेऽसंज्ञकात् 'कम्' धातोः 'कमेणिङ्' इति सूत्रेण णिङि अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः इत्यनेन वृद्धौ 'सनाद्यन्ता धातवः' इत्यनेन ण्यन्तस्य धातुसंज्ञायां लुङि तत्स्थाने आत्मनेपदस्य प्रथमपुरुषैकविवक्षायां तप्रत्यये 'काम् इ त' इति जाते 'एरु लुङि' इति ष्टौ तस्य 'णिध्रिद्रुस्त्र्यः कर्त्तरि चङ्' इत्यनेन चङि अनुबन्धलोपे 'काम् इ अ त' इति स्थिते 'णेरनिटि' इत्यनेन गेर्लोपे 'काम् अ त' इति स्थिते 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' इति प्रत्ययलक्षणेन णेश्चङ्परत्वाद् उपधाया ह्रस्वत्वे 'कम् अ त' इति जाते 'चङि' इत्यनेन कम् द्वित्वे 'पूर्वोऽभ्यासः' इत्यनेन अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन मलोपे 'क कम् अ त' इति जाते 'कुहोश्रुः' इत्यनेन कस्य चत्वे 'सन्वल्छुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इत्यनेन सन्वद्धाये कृते 'सन्वतः' इत्यनेन अभ्यासाकारस्य इत्वे 'चि कम अ त' इति जाते 'दीर्घो लघोः' इत्यनेन अभ्यासेकारस्य 'चि' इत्यम्य दीर्घं 'लुङ्लङ्ङुङ्पवहुदात्त' इत्यनेन अङ्गस्य अहागमे टित्त्रादाद्यावयवे जाते 'अचोकमत' इति सिद्धम् ।

शिण्डि—

शिप्धातोर्लोङि मध्यमपुरुषैकवचने सिपि 'रुधादिभ्यः शनम्' इति शनमि शमयोः रिसंज्ञायां लोपे च 'सेह्यपिच्च' इति सेह्रित्वे 'हुक्ष्भ्यो हेधिः' इति हेधिर्त्वे 'शनसोरह्योपः' इत्यह्योपे 'सिन् प् धि' इति जाते 'जलां जध् क्षसि' इति पस्य जश्रत्वेन ढकारे 'प्टुना प्टुः' इति धस्य ढत्वे 'नश्चापदान्तस्य झलि' इति नस्यानुस्वारे 'अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः' इति परसवर्णे 'शिण् ङ् ङि' इति जाते 'क्षरो क्षरि सवर्णे' इति ढस्य लोपे 'शिण्डि' इति । पक्षे 'क्षरो क्षरी'ति 'ढलोपाभावे शिण्डि' इति ।

अतिष्ठिपत्—

'छा गतिनिवृत्तौ' इति धातुः । अत्र 'धात्वादेः पः सः' इति पस्य सत्वे 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' इति परिभाषया निमित्तस्य पत्वस्य अपाये (नाशे) नैमित्तिकस्य प्त्वस्याप्यपाये 'स्था' इति । तस्मात् 'हेतुमति च' इति णिचि ण्यन्त

त्वात् 'सनाद्यन्ता घातव' इति धातुसंज्ञायां लुटि तिपि इपावितौ 'सुहलङ्' इत्यदागमे मध्ये च्छौ 'गिञ्चिद्गुण्यः कर्तरि चङ्' इति चङि अनुबन्धलोपे 'गिञ्चिच्च आदेशो न स्यात्, 'द्वित्वे कर्तव्ये' इति नियेधात् इत्वापेक्षया पूर्वं 'चङि' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'शार्धं स्यात्' इति सलोपे अभ्यासह्रस्वे चायं 'चङ्युपधाया ह्रस्व' इत्युपधाया ह्रस्वे 'गेरानिटि' इति गिलोपे 'सन्वञ्चुनि चङ्परेऽनारलोपे' इति ह्रस्वे पाठे 'दुरवे' 'तिष्ठतेरिव' इति ह्रस्वे 'अतिष्ठिपत्' इति ।

चिकीर्षति—

कर्तुमिच्छति 'चिकीर्षति' । कृधातो 'घातो कर्मण' समानकर्तृकादिच्छायां वा' इति सति अनुबन्धलोपे सनाः आर्धधातुकरत्वेन 'आर्धधातुकरत्वेद्वलादे' इति इडागमे प्राप्ते 'पकाच्च उपदेशेऽनुदात्तात्' इति नियेधे 'अप्रनारमां सनि' इति दीर्घ 'इको स्रज्' इति किरात् गुणाभावे 'श्रुत इडातो' इति ह्रस्वे रपरत्वे 'किर् स' इति मूले 'सन्वञ्चो' इति द्वित्वे अभ्यासकार्यं 'हलि च' इति दीर्घे पाठे 'चिकीर्ष' इति 'सनाद्यन्ता घातव' इति धातुसंज्ञायां लटि तिपि षापि अनुबन्धलोपे 'अतो गुणे' इति पररूपे च कृते 'चिकीर्षति' इति सिद्धम् ।

बोमवाञ्चकार—

भूधातोः 'घातोरेकाचो हलादेः क्रियासमभिहारे यङ्' इति यङि 'यञोऽचि च' इति लोपे प्रत्ययलक्षणैः यञन्तत्वात् 'सन्वञ्चोः' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे अभ्यासकार्यं 'गुणो यङ्लुकोः' इत्यभ्यासस्याचो गुणे 'बोमू' इति जाते प्रत्ययलक्षणेन यञन्तत्वात् 'सनाद्यन्ता घातव' इति धातुत्वात् 'परोचे लिट्' इति लिटि 'कास्यनेकाच्च आम्बच्छभ्य' इत्यामि तस्य 'आर्धधातुकरत्वे' इत्यार्धधातुकरत्वे 'सार्धधातुकार्धधातुकरयोः' इत्यनेन उकारस्य गुणे अवादेशे च कृते 'आम' इति लिटो लुकि 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इति लिट्परकस्य कृजोऽनुप्रयोगे 'बोमवाम् कृ लिट्' इति स्थिते लिटः स्थाने तिपि तिप. स्थाने 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलधुसणञ्वमा' इति णञि अनुबन्धलोपे 'लिटि घातोरेकभ्यासस्य' इति द्वित्वे अभ्यासत्वे 'उरत्' इति डा स्थाने थावे पररूपे 'हलादि षोप' इत्यादिहल षोपे 'कुहोक्षु' इत्यभ्यासस्य सुत्वे 'बोमवाम् च कृ ष' इति जाते 'अचो ङिति' इति 'कृ' इत्यस्य कृदौ रपरे मस्थानुस्वारे परसर्षणे च कृते 'बोमवाञ्चकार' इति सिद्धम् ।

घरीवृत्त्यते—

पुन पुनरतिशयेन वा वर्तते इति विग्रहः । 'घातोरेकाचो हलादेः' रित्यादिना वृत्-घातोर्षञि 'सन्वञ्चोः' इति द्वित्वे 'उरत्' इत्यभ्यासञ्चकारस्यात्वे, रपरे, हलादि-षोपे 'रीवृत्त्यते' इति अभ्यासस्य रीगागमे सति 'घरीवृत्त्य' इत्यस्य 'सनाद्यन्ता' इति अन्त्ये लटि आत्मनेपदे स-प्रत्यये षापि पररूपे डेरत्वे 'घरीवृत्त्यते' इति ।

भूयते—

खया, यया, अन्यैश्च 'भूयते' । खर्कर्वृकं, मस्कर्कृकम्, अन्यकर्कृकं भवनमित्यर्थः ।
अत्र भूधातोः 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' इत्यनेन भावरूपार्थं 'वर्तमाने लट्'
इति लटि 'भावकर्मणोः' इत्यनेन आत्मनेपदे तप्रत्यये 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' इति
सार्वधातुकसंज्ञया 'सार्वधातुके यक्' इति यकि अनुबन्धलोपे किंवाद्गुणाभाये
टेरेत्वे 'भूयते' इति सिद्धम् ।

घटयति—

घटं करोति आचष्टे वा इति विग्रहे घट-शब्दाद् 'तत्करोति तदाचष्टे, इत्यनेन
णिचि 'अतो लोपः' इति अलोपे तस्य स्थानिवद्भावादत् उपधाया इति घृद्यभावे
घातुत्वाद्दृष्टि तिपि 'सर्वधातुकार्धधातुकयोः' इति गुणेऽयादेशे 'घटयति' इति ।

चिकीर्षा—

कृधातोः सनि अनुबन्धलोपे 'इको झल्' इति सनः किरवे 'अञ्जनगमां सनि'
इति धातोर्दीर्घे 'श्चत इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे 'किर्स्' इति वृथायां 'सन्त्यङोः'
इति द्वित्वे अभ्याससंज्ञायां 'हलादिः शेषः' इत्यनेन रेफस्य लोपे 'कुहोष्णः' इति
सुत्वे 'इलि च' इति दीर्घे सनः सस्य षत्वे 'चिकीर्षं' इति भूते 'सनाद्यन्ता घातयः'
इत्यनेन सञ्चन्तस्य घातुसंज्ञायाम्, 'अप्रत्ययात्' इत्यनेन अप्रत्यये 'अतो लोपः' इति
सनोऽकारलोपे कृदन्तत्वाद् प्रातिपदिकत्वे स्त्रीत्वाद् टापि अनुबन्धलोपे सवर्णदीर्घे
तस्मात् सौ 'हल्ङ्याभ्यः' इति तस्य लोपे 'चिकीर्षा' इति सिद्धम् ।

जीर्णः—

जृ चयोहानौ इत्यस्माद् धातोः ऋप्रत्यये ककारस्य इत्संज्ञालोपयोः, 'श्चत
इद्धातोः' इति इत्वे रपरत्वे दीर्घे च 'रदाभ्यां निष्ठातो नः पूर्वस्य च दः' इति सूत्रेण
नत्वे तस्य णत्वे स्वादिकार्ये 'जीर्णः' इति सिद्धम् ।

जग्धम्—

अद्-मक्षणे धातोः 'निष्ठा' इति सूत्रेण कर्मणि ऋप्रत्यये 'अदो जग्धिष्यसि किति'
इति जग्धादेशे, 'क्षप्रस्तयोर्धोऽधः' इति तकारस्य धत्वे, 'जग्ध्' इत्यत्र 'क्षरो क्षरि
सवर्णे' इति पूर्वधकारलोपे नपुंसके सौ स्वरमि 'जग्धम्' इति रूपम् ।

शान्ता—

उपशमनार्थकात् 'शाम्' धातोः ऋप्रत्यये 'वा दान्त-शान्त-पूर्ण-शस्त-स्पष्ट-श्र-
शसाः' इति निपातनादित्येऽभावे 'अनुनासिकस्य किञ्चलोः क्विति' इति दीर्घे-मस्याः
नुस्वारे परसवर्णे स्वादिकार्ये च हृते 'शान्ता' इति सिद्धम् ।

उच्छृणु—

'दुभोक्षिगतिवृद्धयो' इति घातु । अत्र दुरोकारश्लेषः । तत्तत्र उदुपसर्गक विधातोः
 घृद्धयर्थे 'निष्ठा' इति सूत्रेण तिष्ठाप्रत्यये प्राप्ते, का नाम निष्ठा इति जिज्ञासायाः
 'कृद्धवत् निष्ठा' इति निष्ठासञ्ज्ञा कृद्धवतोरिति उभयोः प्राप्त्तौ, 'तयोरेव कृद्धवत्कृ-
 ल्यां' इति कृद्धप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'उत्थि त' इति स्थिते 'ओदित्तश्च' इत्यनेन
 तकारस्य नाथे 'पूर्वप्राऽसिद्धम्' इति तस्यासिद्धत्वात् 'धचिस्वपिपञ्जादीनां किति'
 इति सम्प्रसारणे 'सम्प्रसारणाच्च' इति पूर्वरूपे 'उत्थु न' इति जाते 'हल' इत्यनेन
 दीर्घे 'स्वदितो निष्ठावाम्' इति ह्रस्वभावे 'गार्होऽटि' इति ह्रस्वे उद् तकारस्त 'भ्रुयेन
 चकारे कृद्धन्तत्वात् सौ अनुबन्धलोपे तकारस्य ह्रस्वे विसर्गे 'उच्छृणु' इति ।

सुध्यां क्षीरनिधिं मयूनाति—

अत्र सम्प्रदानत्वाविवक्षायाम् 'अकथितं च' इत्यनेन सुधायाः कर्मत्वे 'कर्मणि
 द्वितीया' इति द्वितीया । क्षीरनिधिस्तु मुख्यं कर्मस्त्वेष इति तत्रापि द्वितीया ।

शत्रून् स्वर्गं गमयति—

शत्रवः स्वर्गं गच्छन्ति, तांश्च कश्चित् प्रेरयति इति शत्रून् स्वर्गं गमयति, अत्र
 'गतिवृद्धिप्रत्ययवसानार्थशब्दकर्मकर्मकाणामणि कर्ता स णी' इत्यनेन अप्यन्ताव
 स्थायां कर्तार शत्रवः प्यन्तावस्थायां कर्मत्व भजन्ते । अत्र 'कर्मणि द्वितीया' इति
 द्वितीया । स्वर्गरस्तु मुप्यमेव कर्म इति तत्रापि द्वितीया ।

उपराजम्—

राज्ञः समीपमिति विग्रहे सामीप्यवाचिनोपशब्देन 'अभ्यय विभक्ति' इत्या
 दिना समासे 'प्रथमानिर्दिष्ट समास उपसर्जनम्' इत्युपशब्दस्योपसर्जनत्वे 'उप-
 सर्जनं पूर्वम्' इति पूर्वनिपाते 'उपराजन् हल्' इति जाते 'सुपो घातुप्रातिपदिकयो
 र्दान हसो लुकि 'अनश्च' इति टचि अनुबन्धलोपे भसञ्ज्ञायां 'मस्तदिते' इति
 टिलोपे समासत्वात् सौ 'नाभ्ययीभावादतोऽस्त्वपश्चम्या' इति सोरमि पूर्वरूपे
 'उपराजम्' इति ।

भूतपूर्व—

'पूर्वं भूतं, भूतं सु इत्यलौकिकविग्रहे 'सह सुपा' इत्यनेन समासे समासत्वात्
 'कृतद्वितसमासाश्च' इति प्रातिपदिकसंज्ञायां 'सुपो घातुप्रातिपदिकयो' इति सुपो
 लुकि 'पूर्वभूत' इति स्थिते 'प्रथमानिर्दिष्ट समास उपसर्जनम्' इत्यनेन ह्यदोरप्युपस-
 र्जनसंज्ञायाम् 'उपसर्जनं पूर्वम्' इति विनिगमकामावाद् उभयोरपि पूर्वनिपाते प्राप्ते
 'भूतपूर्वं चरट्' इति निर्देशात् भूतशब्दस्य पूर्वनिपाते 'एकदेशविहित' न्यायेन
 प्रातिपदिकत्वात् सौ ह्रस्वे विसर्गे च हरिसिद्धिः ।

सोमयाजी—

सोमेनेष्टवान्=सोमाएयलताधिज्ञेपरसेन यागं कृतवान्—सोमयाजी । सोमेनेति करणे उपपदे भूतार्थे कर्तर्यर्थे यजधातोः 'करणे यजः' इति सूत्रेण गिनिप्रत्यये अनुबन्धलोपे 'अत उपधायाः' इति ष्टुद्धौ उपपदसमासे सुपो लुकि 'सोमयाजिम्' इति, तस्मात्सौ अनुबन्धलोपे 'सौ च' इत्यनेन नान्तस्योपधाया दीर्घे हृष्ट्वादिना सुलोपे 'सोमयाजी' इति ।

प्रकृत्य—

कृधातोः 'समानकर्तृकयोः पूर्वकाले' इति पत्याप्रत्यये अनुबन्धलोपे किरिषाद् गुणाभावे 'हृत्वा' इति, ततः प्रकर्षार्थकस्य प्रशब्दस्य 'कुगतिप्रादयः' इति षष्ठाग्नौ न नित्यसमासे 'समासेऽनन्पूर्वे षत्वो व्यप्' इति व्यपि अनुबन्धलोपे कृन्तात्वात् सौ 'कवातोऽसुन्कसुनः' इत्यव्ययत्वात् 'अव्ययादाप्सुपः' इति तस्य लुकि 'प्रहृत्वा' इति ।

राजानति—

राजवाचरतीति विग्रहे 'राजन्' इति प्रातिपदिकात् 'सर्वप्रातिपदिकेभ्यः ऋद्धा वक्तव्यः' इति क्विपि क्विपो लुकि, प्रत्ययलक्षणेन क्विबन्तत्वात् 'मनाद्यन्ता धातवः' इति धातुसंज्ञायाम् 'अनुनासिकस्य क्विल्लोः क्विति' इत्यनेन उपधादीर्घे 'राजान्' इति जाते तस्माद्भट्स्तिपि षपि अनुबन्धलोपे 'राजानति' इति सिद्धम् ।

द्वयङ्गुलम्—

द्वे अङ्गुलीप्रमाणमस्येति विग्रहे 'तद्धिताथं द्विगुसमासे 'प्रमाणे लः' 'द्विगोर्बिङ्गम्' इति लुकि यणि 'द्वयङ्गुलि' इति, तस्मात् 'तत्पुरुषस्याङ्गुलेः संख्याभ्यगादेः' इति समासान्ते अचि तस्मिन्परे 'दस्येति च' इति इकारलोपे समासत्वात् सौ धमादेशे 'द्वयङ्गुलम्' इति ।

राजन्यः—

राज्ञोऽपत्यमिति विग्रहे 'राजश्वशुराद्यत्' इति जातिवाचिनो राजन्शब्दात् यत् प्रत्यये भसंज्ञायां 'नस्तद्धिते' इति प्राप्तस्य टिलोपस्य 'ये चाभावकर्मणोः' इति प्रकृतिभावे तद्धितान्तत्वात् सौ विभक्तिकार्ये 'राजन्यः' इति सिद्धम् ।

पटपटाकरोति—

'पट्' शब्दात् ङाचिविवक्षिते 'ङाचि बहुलं द्वे भवतः' इति द्वित्वे 'अव्यक्ताद्-करणाद् हुगजवराधोदमितौ ङाच्' इति ङाचि प्रादये 'नित्यमात्रेक्षिते ङाचीति वक्तव्यम्' इति वार्तिकेन पूर्वपट्त्वसम्बन्धिनस्तकारस्य पररूपत्वं विधाय 'पट पट् ङा' इति जाते सिद्धत्वेऽपि प्रातिपदिकसंज्ञायां सौ विभक्तिकार्ये 'पटपटाकरोति' इति ।

मदीय.—

मम अय 'मदीय' इत्यत्र 'युष्मदस्मदोरन्यतस्यां खञ्' इति सूत्रेण चार्द्धे सुपो लुकि ह्रस्व ईयादेशे 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' इत्यनेन अस्मदोर्मपयन्तस्य मादेशे 'म अद् ईय' इति जाते 'अतो गुणे' इति पररूपे विभक्तिकार्ये च कृते 'मदीय.' इति ।

अदिमा—

मृदोर्भावि अदिमेत्यत्र 'गृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' इति इमनिच्प्रत्यये इकारचकार्योर्लोपे 'मृद् इमन्' इति जाते 'रश्चतो हलादेशे' इति ऋकारस्थाने रकारे 'यच्चिभम्' इति भसज्ञायां 'टि' इति दकारोत्तरवसि-उकारस्य लोपे 'अदिन्' इति जाते प्रादिपदिभ्रवात् सौ 'सर्वनामस्थाने चाऽसम्बुद्धौ' इति उपधादीर्घे हल्ह्रवादिलोपे नलोपे 'अदिमा' इति जातम् ।

सर्विका—

सर्वनाम्न सर्वनाम्नात् अकच्प्रत्यये 'सर्वक' इत्यस्मात् स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'अजापतष्टाप' इति टापि 'सर्वका' इति जाते 'प्रत्ययस्यात्कारपूर्वस्यात् इदाप्यसुप' इति सूत्रेण चकाराकारस्य इत्वे आद्यन्तत्वात् स्वाद्युत्पत्तौ सुलोपे 'सर्विका' इति सिद्धम् ।

पचन्ती—

पचन्त्यातो शवृप्रत्यये 'पचत्' इति स्त्रीत्वविवक्षायाम् 'उंगतथ' इति ङीपि रूपावितौ लुत्तौ च 'आर्द्धीनद्योनुम्' इति नुमि सौ 'पृहृथावि'ति सुलोपे 'पचन्ती' इति ।

यादशी—

'थदादिषु ह्योऽनालोचने कञ् च' इति कञ्प्रत्यये 'यादश' इति, तत स्त्रीत्वे 'टिङ्गान्नि'त्यादिना ङीपि 'यस्येति च' इत्यनेन अस्याऽकारस्य लोपे विभक्त्यादिकार्ये 'यादशी' इति ।

कुमारी—

बादयवाचकात् कुमारशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'वयसि प्रथमे' इति ङीपि 'व्यपप्रातिपदिके'ति स्वाद्युत्पत्तौ हल्ह्रवाविति तस्य लोपे कुमारीति ।

वामोरू—

वामो उरू यस्या, इति विग्रहे वामोरूशब्दात् स्त्रीत्वविवक्षायां 'सहितशफलक्षण-वामादेश' इति ङङ्प्रत्यये सवर्णादीर्घे विभक्तिकार्ये 'वामोरू' इति रूपम् । अत्र भातिप्रदिकग्रहणे टिङ्गविशिष्टस्यापि ग्रहणम्, इति स्वाद्युत्पत्तिर्वाप्या ।

इति श्रीरामचन्द्रज्ञाकृतप्ररनोत्तरखेखनप्रकार समाप्तः ।

प्रश्नपत्राणि

—००२५००—

- मध्यकौमुद्या भ्वाद्यन्तभागे कारकसमासप्रकरणयोश्च प्रश्नाः ।
- १ ह, ए, स, वर्णेषु कयोरपि द्वयोः स्थानमाभ्यन्तरबाह्यप्रयत्नौ च प्रदर्श्य-
धात्रंशः । हरइह । गवाप्रम् । तन्मात्रम् । सञ्च्युतः । हरिस्फुरति ।
भो ! अच्युत । एष विष्णुः । एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगान् ससूत्रं साधयत । १०
- २ रामाणाम् । पूर्वस्मात् । पदा । नृणाम् । द्वितीयस्यै । स्त्रियम् । दक्षि ।
प्रराम्याम् एषु यथेच्छं पञ्च प्रयोगाः । साधनीयाः । ८
- ३ विश्वौहः । प्रशान् । यञ्जनः । युष्मभ्यम् । तास्क् । अमी । तुदन्ती ।
एषु पञ्च प्रयोगान् विलिख्य मघवन् शब्दस्य द्वितीयापष्टीविभक्तयोः सम-
प्राणि रूपाणि प्रदर्शयत । ९
- ४ भविता । निषेधति । अगौप्सीत् । अदधत् । स्रप्ता । पृथिताहे । अद्युतत् ।
कलसासि । उवाह । एषु केचन पञ्चैव लेख्याः । १०
- ५ वलि याचते वसुधाम् । अतिदेवान् कृष्णः । अक्षणा काणः । विप्राय गां
ददाति । गोषु दुह्यमानासु गतः । यथेच्छं केष्वपि चतुर्षु ससूत्रं विशेष-
कार्याणि लिखत । ५
- ६ भूतपूर्वः उन्मत्तगह्वम् । मासपूर्वः । रूपवद्भार्यः । पाणिपादम् । पितरौ ।
आत्मनेपदम् । परीपाकः । एषु यथेच्छं पञ्चसु प्रयोगेषु ससूत्रं विशेष-
कार्याणि लेखनीयानि । ८

(२)

मध्यकौमुद्याः नियतभागे प्रश्नाः ।

- १ जत्तुः, ईयतुः, पिपूर्तः, अव्याप्सीत्, चिकाय, रुन्धः, अलुलोकत्—
केऽपि पञ्च प्रयोगाः, साधु साधनीयाः । १०
- अथवा
अद्धि, अभीयात्, अहासीत्, दिदीये, आनूशे, अतत्, अशान—एषु
पञ्च साध्याः ।
- २ णिजन्तस्य दुप्यतेः, सञ्जन्तस्य हन्तेः, यरुन्तस्य चरतेः,—तुळि प्रथम-
पुरुषकवचने रूपाणि शास्त्रविशेषनिर्देशेन साध्यानि । १०

द्वयस्यनि, इदामति, मुक्तावुत्तिष्ठते, अभ्यापयति, अशामि । एषु कानपि
 १०
 चतुर्षु प्रयोगान् समाभ्य, 'अयन्तापह्वे लिट्त्वक्तव्य' 'आशतावचने
 -लिट्' इत्यनयोस्ताहरणे लेखये ।

घास्तष्ये, ननुके, विहङ्गम्, दून, वैकुण्ठमधिष्ठित, कृपा भवताद् भूति
 १०
 एतेषु केषामपि पद्यानां साधुष्व गद्यास्तोपन्यास दर्शयत ।

अधिय', 'मातामही, नद्वान्, वाराणसेयम्, आपुपम्, नस्यम्—एषु चतुर्णां
 १०
 यद्युष्य, 'नू मास्यो', 'पर्युर्नो यज्ञस्योगे'—इत्यनयोस्ताहरणे च
 लिखितम् ।

Hege.

अथवा

शतधा, तारिपत्, वसुभिर्नो अभ्यात्—अत्र वैदिककार्याणि प्रदर्श्य,
 कौजायना, क, नृजम्—इत्येतेषु शास्त्रनिर्देशेन शशान् निरूपयत ।

(३)

उ, ज, ह, वर्णेषु यथेच्छ कथोरपि द्वयोर्वर्णयोर्बाह्याभ्यन्तरप्रयत्नान्
 ९
 विलिख्य गण्यम् । ऋष्यम् । सत्राग्रम् । पत्नमुत्तरि । पयस्पाताम् । हरि
 दोते । शिवोऽर्घ्यं । एषु केचन पञ्चैव प्रयोगाः साभ्या ।

सर्वस्मात् । पूर्वं । विश्वप । प्रयाणाम् । तिष्ठणाम् । स्वसारी । अनादये ।
 ८
 दग्धि । एषु पञ्च प्रयोगान् साधयत ।

अनद्वान् । एषाम् । ग्रहण्यात् । युष्मान् । चेतसा त्वां समीचते । उपा-
 नत् । तुदन्ती । यथेच्छ पञ्च प्रयोगान् ससाभ्य अस्मच्छन्दस्य पञ्चमीपष्टी-
 ९
 विभक्तयो रूपाणि लिखत ।

वभूविष । गङ्गां विसेवति । अगादीत् । वचनतु । जुगोपिय । अधुतत् ।
 ११
 श्रेपे । वनतु । केषाञ्चित् पद्यानां सिद्धिं विलिख्य वह धातोर्लिटि मन्व्यमै-
 क्यचने रूपाणि प्रदर्शयत ।

हरिं भजति । अधिशोते वैकुण्ठ हरि पुत्रेण सहागत पिता । हरये नम ।
 ५
 मज्जगामी । मोषे इच्छास्ति । सूत्रनिर्देशपुर सर केवपि चतुर्षु विदोष-
 कार्याणि प्रदर्शयत ।

अधिहरि । उपममिधम् । शङ्कलाखण्ड । सतां पष्ट । पूर्वकाय । पाचि-
 ८
 काभार्यं । अहिनकुलम् । अर्घ्यं । यथेच्छ केवपि पञ्चसु सूत्रोपन्यास
 पुर सर विदोषकार्याणि लिखत ।

